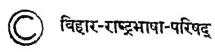
प्रकाशकः विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् सैवपुर विस्तार पथ, पटना-४



द्विवीय संस्करण : २,०००

शकाब्द १८६२, विक्रमाब्द २०२८, खृब्टाब्द १६७१

मूल्य: २५.०० रुपये

मुद्रक श्रीमोहनलाल विश्नोई, बी॰ ए॰ मोरन प्रेस, पटना-४

#### वक्तव्य

### [ द्वितीय संस्करण ]

'बौद्ध-धर्म-दर्शन' बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के पुरस्कृत गौरवपूर्ण प्रकाशनो मे मूर्द्धन्य किया है ग्रीर ग्राचार्य नरेन्द्रदेव की ग्रनन्य सामान्य विद्वता का शिखरभाग है। म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज ने इस ग्रन्थ की भूमिका मे उचित ही लिखा है कि 'ऐसा ग्रन्थ हिन्दी-भाषा मे तो नहीं ही है, किसी ग्रन्य भारतीय भाषा ग्रीर विदेशी भाषा मे भी बौद्ध-दर्शन पर कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है।'

यह ग्रन्थ पाँच खण्डों में विभाजित है, जिनमें कुल मिलाकर वीस ग्रध्याय है। इन ग्रध्यायों के ग्रितिरिक्त 'ग्रिभिधर्मकोश' के सारसक्षेप 'विज्ञिष्तिमात्रा-सिद्धि' के विस्तृत विवेचन ग्रीर 'माध्यिमक कारिका' तथा 'प्रसन्नपदावृत्ति' के मुख्य कथ्य से संयुज रहने के कारण इस ग्रन्थ की उपादेयता ग्रीर भी बढ़ गई है। यह नि.सकोच कहा जा सकता है कि 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' ग्रपने विषय का एक ऐसा ग्रग्रगु ग्रन्थ है, जिसका कालातीत महत्त्व इस विषय के जिज्ञासुओं को सदीव ग्राकृष्ट करता रहेगा।

यद्यपि 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' पर वैभाषिक नय के अनुसार सूर्वास्तिवाद के प्रधान ग्रन्थ 'ग्रिभिधर्मकोश' का प्रचुर प्रभाव है, तथापि इसमे लेखक के मौलिक चिन्तन की विरल छटा भ्रनेकन्न मिलती है । जैसे, बौद्ध-दर्शन के सन्दर्भ मे नास्तिकता की वारीक विवेचना करते हुए लेखक ने प्रतिपादित किया है कि बौद्ध-दर्शन की नास्तिकता म्राजितकेशकम्बली नास्तिकता से नितान्त भिन्न है। कारण, त्राजितकेशकम्बली मत रिवर ग्रीर परलोक--साथ ही, कर्म-विपाक मे भी ग्रविश्वास करता है, जबिक बौद्धमत मुख्यत ईश्वर मे अविश्वास करता है। इसी तरह लेखक के आधारभूत परिप्रेक्ष्य नी नवीनता इसमे है कि उसने एक प्रगतिशील सामाजिक चिन्तक के रूप मे वौद्ध अर्म को ब्राह्मण-संस्कृति और श्रमण-संस्कृति की दो विरोधी धाराओं के बीच पटपर पर उगे प्रच्छाय-वृक्ष की तरह स्वीकार किया है । यह निश्चित है कि बौद्ध-धर्म भीर दर्शन ने म्राचार्य नरन्द्रदेव जैसे समाजवादी विचारक को इसलिए भी म्राक्नुब्ट किया होगा कि वुद्ध के व्यक्तित्व श्रीर उनके धर्म-दर्शन की श्रनेक सार्थकताएँ श्राज तक समय के सन्दर्भ से जुड़ी हुई है। सबसे बड़ी बात यह है कि वृद्ध ने धर्म भीर दर्शन के क्षेत्र मे लोकमानस को 'स्वावलम्बन' का पाठ पढाया तथा प्रत्येक ब्यक्ति को ग्रपने लिए स्वय दीपक बनने को कहा-- 'श्रत्तदीपा विहर्स्य'। इतना ही नही, पारम्परिक कुलशील श्रीर विभेदमयी वर्ण-व्यवस्था को उदूल कर प्रत्येक ष्यक्ति को समभाव से प्रबुद्ध बनाने के लिए बुद्ध की देशनाएँ कुलीन भाषा को छोडकर जन-जिह्ना पर थिरकने =वाली लोकभाषा मे स्रिभव्यत हुई। यह सच है कि महायान के श्रनेक ग्रन्थ, विशेषकर 'वैपुल्यसूत्र' तथा 'प्रज्ञापारिमता-सूत्र' ग्रीर हीनयान के मन्तर्गत सर्वास्तिवाद के भ्रागम-ग्रन्थ सस्कृत-भाषा मे मिलते हैं, किन्तु वुद्ध-वचन की जन-सम्पर्क-भाषा भ्रानिवार्य रूप से लोकभाषा ही थी । समय-सन्दर्भ से जुड़ी हुई सार्थकता का

दूसरा पहलू यह है कि वृद्ध पूर्णतः कल्याण-मित्र थे । वे सबका कल्याण चाहते थे श्रीर केवल व्यक्तिगत नि श्रेयस के लाभ के श्रिभलापी नही थे । परवर्त्ती काल मे वौद्धधर्म श्रीर दर्शन का लोकम्गलकारी तेज मन्द हो गया, क्योंकि तव वृद्ध-यान केवल दो प्रसिद्ध यानो—हीनयान श्रीर महायान—मे ही नही, विल्क तन्त्र से प्रभावित श्रन्य कई निकाय-विधिष्ट यानो—पारमिता यान, प्रज्ञायान, मन्त्रयान, वज्ययान, तन्त्रयान इत्यादि मे विभक्त होकर संकीर्ण श्रीर गृह्यसाधनात्मक प्रवृतियो के कारण लोक-विमुख हो गया ।

कुल मिलाकर अपनी सार्थकताओं के कारण वीद्धधर्म और दर्शन ने न केवल मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य, सन्त-माहित्य, तान्त्रिक साहित्य या छायावादी विपची की कोमलतम रागिनी 'महादेवी' के गीति-काव्य को प्रभावित किया, विल्क उसने ग्रभी-ग्रभी पश्चिम की नई पीढ़ी को भी प्रभावित किया है। पश्चिम की यह नई पीढ़ी इन दिनो बौद्ध-दर्णंन के उस परवर्त्ती रूप के प्रति अधिक श्राकृष्ट हुई है, जिसके श्रन्तर्गत क्रियातन्त्र, चर्या-तन्त्र, योगतन्त्र, भ्रनत्तर-तन्त्र, कमलक्लिश-योग इत्यादि का निरूपण किया गया है तथा वोधिमत्व की प्राप्ति या क्लेगापगम के माध्यम से चित्त-विश्वद्धि के लिए विभिन्न चर्याग्रो. भूमियो ग्रौर पारमिताग्रो का साधन-रूप मे उल्लेख किया गया है। मानो, पिषचम के दिग्भ्रम से अवे ये युवजन इन साधनों से परिचित होकर श्रपने सवृत चित्त को बोधि-चित्त या 'जेन ल्यूनैटिक' वनाना चाहते हो । विश्वेपकर वीद्धधर्म के उस ध्यान सम्प्रदाय (जेन-शू) ने इन्हें ग्रधिक प्रभावित किया है, जो महायानी विनय-निकाय की शास्त्रा का अनुगन्ता तथा योगी वोधि धर्म द्वारा सम्थापित या । इस मुखर प्रभाव की दृष्टि में वीट-कवि Gray Snyder की 'Twentyfour Poems by Han-Shan' शीपंक कविता विशेष उल्लेखनीय है । इस कविता मे मजुश्री, वोधिसत्व, स्रपरोक्षानुभूति श्रीर महाप्रज्ञा के प्रति प्रच्छन्न जिज्ञासा है तथा ध्यान (Zazen, पालि झान) के प्रति ग्राकर्षण। मेरी दृष्टि मे 'जेन वृद्धिज्म' की ग्रोर पश्चिम की नई पीढी के ग्राकर्पण का मुख्य कारण यह है कि 'जेन वृद्धिज्म' मे प्रवृत्ति-मार्ग स्वीकृत है श्रीर इसमे मनुष्य की सहज वृत्तियो या 'उजूवाट' (ऋजुमार्ग) को ही ज्ञानोपलिव्ध के साधनो के बीच प्राथमिकता दी गई है। बौद्ध-दर्शन के 'ध्यान' ने जैन दर्शन की दार्शनिक शब्दावली को भी प्रभावित किया था। जैन-दर्शन मे ध्यान के चार मुख्य प्रकार माने गये है-ग्रार्त्त घ्यान, रुद्रघ्यान, धर्मध्यान श्रीर शुक्लध्यान ।

इस प्रकार प्रभाव, प्रसार, तत्त्व-निरूपण एव समय-सन्दर्भ से जुढी हुई श्रनेक सार्थकताभ्रो के कारण वौद्धधर्म श्रीर दर्णन का विपुल महत्त्व है। ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर श्राचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा लिखित इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का द्विनीय सस्करण प्रस्तुत करते समय हमे श्रवार हुएं का श्रनुभव हो रहा है। श्राणा है, यह ग्रन्थ पाठको को श्रहकार श्रीर ममकार की क्षुद्र मीमाओं से ऊपर उठने के लिए श्रवश्य ही प्रेरित करेगा।

पटना, २४-५-७१ ई० (डॉ०) कुमार विमल निदेशक

### वक्तव्य

### [प्रथम संस्करण]

'बौद्ध-धर्म-दर्शन' ग्रौर उसके यशस्वी लेखक के सम्बन्ध में कई ग्रधिकारी विद्वानों ने पर्याप्त रीति से लिखा है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ में यथास्थान प्रकाशित है। ग्रब उससे ग्रधिक कुछ लिखना ग्रनावश्यक है।

सन् १९५४ ई० में, २१ अप्रैल (बुधवार) को, आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तृतीय वार्षिकोत्सव का सभापतित्व किया था। सभापति-पद से भाषण करते हुए उन्होने निम्नाकित मन्तव्य प्रकट किये थे—

'सम्प्रदायवाद इस युग में पनप नही सकता। हमारे राष्ट्रीय साहित्य को राष्ट्रीयता श्रौर जनतन्त्र की शक्तियो का प्रतिनिधित्व करना पडेगा। किन्तु, उसमे यह सामर्थ्य तभी श्रा सकता है, जब हिन्दी-भाषाभाषियो की चिन्ताधारा उदार श्रौर व्यापक हो श्रौर जब हिन्दी-साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यो को श्रपने मे श्रात्मसात् करे।

"यह सत्य है कि सिनेमा, रेडियो ग्रोर टेलीविजन ने साहित्य के क्षेत्र पर ग्राक्रमण कर उसके महत्त्व को घटा दिया है। विज्ञान ग्रोर टेकनॉलोजी के ग्राधिपत्य ने भी साहित्य की मर्यादा को घटाया है। किन्तु, ग्रसन्दिग्ध है कि साहित्य ग्राज भी जो कार्य कर सकता है, वह कार्य कोई दूसरी प्रक्रिया नहीं कर सकती।

''ग्रतीत के ग्रनुभव के ग्रालोक में वर्त्तमान को देखना तथा ग्राज के समाज में जो शक्तियाँ काम कर रही है, उनको समझना तथा मानव-समाज के हित की दृष्टि से उनक सचालन करना एक सच्चे कलाकार का काम है।

"भारत के विभिन्न साहित्यों की आराधना कर, उनकी उत्कृष्टता को हिन्दी में उत्पन्न कर, हिन्दी-साहित्य को सचमुच राष्ट्रीय और सफल राष्ट्र के विकास का एक समर्थ उपकरण बनाना हमारा-आपका काम है। इस दायित्व को हम दूसरो पर नहीं छोड सकते।"

उनके इन मन्तव्यों के प्रकाश में इस ग्रन्थ का ग्रवलोकन करने से प्रतीत होगा कि उन्होंने भारतीय बौद्ध-साहित्य को कहाँतक ग्रात्मसात् करके एक सच्चे कलाकार के दायित्व का निर्वाह किया है। बौद्ध-धर्म ग्रीर बौद्ध-दर्शन का मार्मिक विवेचन करने में उन्होंने ग्राभूतपूर्व पाण्डित्य ग्रीर कौशल प्रदिशत किया है, उससे यह ग्रन्थ निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य में ग्रपने ढग का श्रकेला प्रमाणित होकर रहेगा।

ग्रत्यन्त दुख का विषय है कि यह ग्रन्थ ग्राचार्यजी के जीवनकाल में प्रकाशित न हो सका। ग्रन्थ की छपाई के समाप्त होते ही उनकी इहलोक-लीला समाप्त हो गई। निरन्तर ग्रस्वस्य रहते हुए भी वे इस ग्रन्थ के निर्माण में सदैव दत्तचित्त रहें। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या लिखने की मूचना भी उन्होंने दी थी ग्रौर उनका विचार था कि वह पारिभाषिक शब्दकोप भी साथ-ही-साथ प्रकाशित हो। किन्तु, नियित के विपरीत विधान ने वैसा न होने दिया। वे लगभग चार-पांच सौ शब्दों का ही भाष्य तैयार कर सके थे कि ग्रचानक साकेतवासी हो गये। ग्रव यह कहना कठिन है कि यह कोष-ग्रन्थ कब ग्रौर कैसे पूरा होकर प्रकाश में ग्रा सकेगा।

महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाय कविराज ने इस ग्रन्थ की गवेषणापूर्ण भूमिका तथा माननीय श्रीप्रकाशजी ने प्रस्तावना और डॉक्टर वासुदेवशरण श्रग्रवाल ने ग्रन्थकार-प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ को सुशोभित एवं पाठको को उपकृत करने की जो महती कृपा की है, उसके लिए परिषव् उन विद्वद्दरों का सादर श्राभार श्रगीकार करती है।

काशी-निवासी पण्डित जगन्नाय उपाध्याय भी हमारे धन्यवाद-भाजन हैं, जिन्होने ग्राचार्यजी की प्रेरणा श्रोर श्रनुमित से इस ग्रन्थ के मुद्रण-सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करने मे श्रनवरत परिश्रम किया तथा श्राचार्यजी के सींपे हुए काम को वडी निष्ठा से निवाहा है। उनकी लिखी हुई ग्रन्थकर्त्ता-प्रशस्ति भी इसमे प्रकाशित है। उनका सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

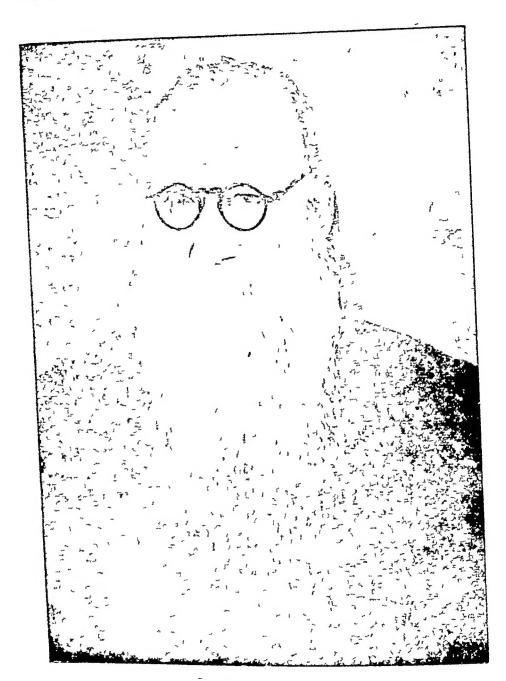
काशी के सह्दय साहित्यसेवी श्रीवंजनाय सिंह 'विनोद' के भी हम वहुत कृतज्ञ हैं, जिन्होंने परिषद् के साथ श्राचार्यजी का साहित्यिक सम्बन्ध स्थापित कराया, जिसके परिणाम-स्वरूप श्राचार्यजी का यह श्रन्तिम सद्ग्रन्य, परिषद् द्वारा, हिन्दी-ससार की सेवा में उपस्थित किया जा सका। 'विनोद' जी के सौजन्य एव सत्परामर्श से ही श्राचार्यजी की सिक्षप्त श्रात्मकया इस ग्रन्य में प्रकाशित हो सकी।

विहार श्रौर हिन्दी के नाते परिपद् के परम हितंषी श्रीगंगाशरण सिंह (ससद्-सदस्य) ने श्राचार्यजी की रुग्णावस्था में भी उनसे साग्रह ग्रन्थ तैयार कराने का जो सतत प्रयास किया, उसीके फलस्वरूप यह श्रमूल्य ग्रन्थ हिन्दी-जगत् को सुलभ हो सका। उन्होंने भाचार्यजी के निधन के वाद भी इस ग्रन्थ को सागोपाग प्रकाशित कराने के लिए वड़ी श्रात्मीयता के साम काशी श्रौर मद्रास तक की दौड लगाई। श्राणा है कि वे इस ग्रन्थ को श्रपने मन के श्रनुकूल मर्वाञ्जपूर्ण रूप में प्रकाशित देखकर सन्तुष्ट होंगे।

प्रत्यकार के श्रभाव का विपाद अनुभव करते हुए भी हमें यही मान्त्वना मिली है कि भगवान् वुद्ध की पचीम-मौवी जयन्ती के गुभ श्रवसर पर यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया। विश्वास है कि विहार-राज्य के शिक्षा-विभागान्तर्गत राष्ट्रभाषा-परिषद् की यह श्रद्धाजिल भगवान् तथागत को स्वीकृत होगी।

ग्रसप तृतीया (वैशाप ) } यित्रम-सवत् २०१३ शिवपूजन सहाय ( परिपद्-मन्त्री )

# बौद्ध-धर्म-दर्शन



डॉ॰ भगवान् दास

# भारतरस्म **ब्र**द्धेप डॉक्टर भगवानुदासची को सादर सस्नेह समर्पित

-नरेन्द्रवेव



# विषय-सूची

लेखक के दो शब्द

3

### भूमिका [म० म० ं० गोपीनाथ कविराज-लिखित]

88

ग्राचार्यजी का अनुरोध—ग्रन्थ की विशेषता—बौद्धेतरो मे बौद्ध-दर्शन के सम्यक् ग्रालोचन का ग्रभाव—बौद्ध तथा ग्रन्य भारतीय साधन-धाराग्रो मे साम्य—ग्रन्थ के विषय—बौद्ध-धर्म एव जीवन में ग्रादर्शन वासनाक्षय ग्रौर वासना-शोधन का सिद्धान्तं—सम्यक्-सम्बुद्धत्व का परम ग्रादर्श—ग्राध्यात्मिक जीवन में करुणा तथा सेवा का स्थान—करुणा की लोकोत्तरता—महायान ही योगपथ है—करुणा की साधनावस्था ग्रौर साध्यावस्था—श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध से बोधिसत्त्व के सम्यक्-सम्बुद्धत्व-रूप ग्रादर्श का भद—पारमिता-नय तथा मन्त्र-नय का स्वरूप ग्रौर उद्देश्य—मन्त्रमार्ग के ग्रवान्तर भेद (वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान) चार वज्रयोग—ग्रभसम्बोधि का उत्पत्ति-कम तथा उत्पन्न-कम—उत्पत्ति-कम की चार ग्रभिसम्बोधियाँ—काय, वाक्, चित्त ग्रौर ज्ञानवज्रयोग—क्षणभेद के ग्रनुसार ग्रानन्द के चार भेद—तान्त्रिको की विकोण-उपासना—चार मुद्राएँ—१२ ग्रभिषेक (७ पूर्वाभिषेक, ३ उत्तराभिषेक, २ ग्रनुत्तरा-भिषेक)—षडग योगसाधन का विस्तार—कालचक्र—शून्यता-बिम्ब का साधन—तान्त्रिक साधन मे दो प्रकार के योगाभ्यास—बौद्ध-तन्त्र के प्रवर्त्तक ग्राचार्य — तन्त्र-शास्त्रो के ग्रवत्तरण का ग्रन्तरग रहस्य—बौद्ध-तन्त्र के प्रवर्त्तक ग्राचार्य का साहित्य—तन्त्र के मुल ग्रादर्श का महत्त्व।

लेखक की जीवनी

38

## प्रथम खएड (१-१००)

[प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म तथा दशेन]

प्रथम अध्याय . बुद्ध का जीवन

१-१३

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ—बुद्ध का प्रादुर्भाव—बुद्ध के समसामियक, बुद्धत्व-प्राप्ति—धर्मप्रसार-चारिका, वर्षावास और प्रवारणा—निर्वाण—प्रनेक प्रकार के भिक्षु—भगवान् का परिनिर्वाण—वैदिक धर्म का प्रभाव—प्रथम धर्म-सगीति।

द्वितीय ग्रच्याय :: बुद्ध का मूल उपदेश

88-58

बुद्ध की शिक्षा में सार्वभौमिकता—मध्यम-मार्ग—शिक्षात्रय—प्रतीत्यसमुत्पाद—
ग्रष्टागिक-मार्ग—पचशील।

तुतीय मध्याय : पालि-बौद्धागम

**२**५-३४

वृद्ध-देशना की भाषा तथा उसका विस्तार—पालि-साहित्य का रचना-प्रकार एव विकास—विविदक तथा अनुपटिको का सक्षिप्त परिचय—पिटकेतर पालिग्रन्थ।

चतुर्यं मध्याय :: निकाय-विस्तार

34-35

निकायो का विकास।

पचम अध्याय: स्यविरवाद की साधना

36-800

शमय-यान—किसण-निर्देश—दस अशुभ-कर्मस्थान—दस अनुस्मृतियाँ—आनापान-स्मृति—चार ब्रह्मविहार—चार अरूपध्यान—आहार में प्रतिकूल संज्ञा—चतुर्धातु-व्यवस्थान—विषश्यना ।

## द्वितीय खएड (१•१—२१८)

[महायान-धर्म और दर्शन, उसकी उत्पत्ति तथा विकास, साहित्य और साधना]
पष्ठ श्रध्याय . महायान का उद्भव भ्रोर उसकी विशेषता १०३-१२२

महायान-धर्म की उत्पत्ति—महायान-धर्म की विशेषता—त्रिकायवाद।

सप्तम ग्रम्याय विद्व-संस्कृत-साहित्य श्रीर उसका परिचय

१२३-१६३

वोद्ध-मस्कृत-माहित्य का ग्रर्वाचीन भ्रष्ययन—वौद्ध-सकर-सस्कृत का विकास—
महावस्तु—निवतिवस्तर—भ्रश्वघोप-साहित्य—ग्रवदान-साहित्य—महायान-सूत्र—
सद्धमंपुण्डरीक —कारण्डव्यूह—ग्रक्षोभ्यव्यूह एव करुणापुण्डरीक—सुखावतीव्यूह—
ग्रार्य-बुद्धावतसक—गण्डव्यूह—दशभूमीश्वर—प्रज्ञापारिमतासूत्र—लकावतारसूत ।

प्रयत्म प्रयाय : महायान के प्रधान श्राचार्य

१६४–१७५

महायान-दर्शन की उत्पत्ति ग्रौर उसके प्रधान ग्राचार्ये।

नवम श्रघ्याय . महायान के तन्त्रादि साहित्य

१७६–१७८

माहातम्य, स्तोव, धारणी श्रौर तन्त्रो का सक्षिप्न परिचय।

दशम श्रव्याय महायान की साधना तथा चर्या

१७६-२१=

महायान में नाघना की नई दिमा--वृद्ध के पूर्वजनम - वृद्धत्व-वोधि-चित्त तथा वोधि-चर्या--पारमिताम्रो की साधना ।

## वृतीय खग्ड (२१६—३०८)

## [बौद्ध-दर्शन के सामान्य सिद्धान्त]

एकादश अध्याय : भूमिका

· २२१-२२३

बौद्ध-दर्शन की भूमिका।

द्वादश ग्रध्याय :: कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धान्त

385-586

प्रतीत्यसमुत्पादवाद - क्षणभंगवाद - म्रानीश्वरवाद - म्रानीश्वरवाद ।

त्रयोवश प्रध्याय " कर्मफल के सिद्धान्त

२५०-२७७

कर्मवाद ( शुद्ध मानसिक-कर्म--काय-कर्म--वाक्कर्म--कर्म की परिपूर्णता--प्र गेग ग्रीर मौलकर्म--प्राणातिपात की ग्राज्ञापनविज्ञप्ति--पुण्यक्षेत्र--ग्रविज्ञप्ति कर्म-- दैव ग्रीर पुरातन कर्म--बुद्धि ग्रीर चेतना--कुशल ग्रीर श्रकुशल मूल--शीलव्रत-परामर्श--कर्मफल--कर्मविपाक के सम्बन्ध में विभिन्न मत )।

चतुर्वश अध्याय:: विभिन्न बौद्ध-सिद्धान्तों में निर्वाण का रूप्र

२७५-३०५

निर्वाण (पाश्चात्य विद्वानो के मत—पूसें का मत—योग श्रौर बौद्ध-धर्म—निर्वाण की कल्पना—दृष्टधर्म-निर्वाण—निर्वाण का परम्परानुसार स्वरूप—वैभाषिक श्रौर सौद्रान्तिक मत—श्रसस्कृत के सम्बन्ध में वचन—निर्वाण का मुख्य श्राकार—निर्वाण के श्रन्य प्रकार—शरवात्स्की का मत—हीनयान के परवर्त्ती निकायो का मत—निर्वाण का नया स्वरूप, निर्वाण के भेद )।

# चतुर्थं लगह (३०६—५६२)

[ बौद्ध-दर्शन के चार प्रस्थान विषय-परिचय और तुलना ]

पंचदश श्रध्याय . वैभाषिक नय

३११-३७१

सर्वास्तिवाद—सर्वास्तिवाद की श्राख्या पर विचार—सर्वास्तिवादी निकाय के भेद—धर्म-प्रविचय—संस्कृत (स्कन्ध—श्रायतन—धातु) धर्म—श्रात्मा श्रौर ईश्वर का प्रतिषेध—परमाणुवाद—चक्षुरादि विज्ञान के विषय श्रौर श्राश्रय—इन्द्रिय—चित्त-चेत्त का सामान्य विचार—चित्त-विप्रयुक्त धर्म—निकाय-सभाग—दो समापत्तियाँ—सस्कृत-धर्म के लक्षण—नाम, पद, व्यजन-काय—न्याय-वैशेषिक से वैभाषिको की तुलना—हेतु-फल-प्रत्ययता का वाद (प्रत्यय—प्रत्ययो का श्रध्वगत एव धर्मगत कारित्र—स्थिवरवाद के श्रनुसार प्रत्यय—हेतु—हेतुश्रो पर सौद्रान्तिक श्रौर

सर्वास्तिवाद का मतभेद-फल ) लोक-धातु-ग्रनुशय-क्षान्ति, ज्ञान तथा दर्णन-दृष्टि ।

षोडश श्रव्यायः सौत्रान्तिक-नय

キャギートロチ

मीव्रान्तिक ग्राख्या पर विचार—वैभाषिक से मीव्रान्तिक का मतभेद श्रीर मीव्रान्तिक सिद्धान्त ।

सप्तदश श्रध्याय श्रार्थ श्रसग का विज्ञानवाद

358-888

महायान का बुद्ध-वचनत्व—महायान की उत्कृष्टता—श्रावकयान से विरोध—वोधि-मत्त्व के गोन्न—वोधिचित्तोत्पाद—वोधिसत्त्व का सम्भार—ग्रसग के दार्शनिक विचार—वोधिचर्या—बुद्धत्व (वोधि) का लक्षण—बुद्धत्व का परमात्मभाव—शकर के ग्रात्मभाव से तुलना—ग्रसग का ग्रद्धैतवाद—निर्वाण—ित्रकायवाद—बुद्ध की एकता ग्रनेकता—उपनिपटो के ग्रात्मवाद से तुलना—धर्म के तीन स्वभाव—ग्रात्मा ग्रीर लोक की मायोपमता—धर्मों की तथता—लीकिक-ग्रलीकिक समाधि—वोधिचर्या का कम एव न्वरूप—ित्रविव गून्यता—वोधिपाक्षिक धर्म—पुद्गलने रात्म्य—वोधिसत्त्व की दशम्मियां।

त्रष्टादश श्रध्यात वसुबन्धु का विज्ञानवाद (१) [विश्वतिका के द्याधार पर] ४१५-४२१ वास्पार्थ का प्रतिपेध—विज्ञप्तिमातता—परमाणुवाद का खण्डन ।

वनुवन्तु का विज्ञानवाद (२) [ज्ञुप्रान-च्यांग को 'सिद्धि' के आधार पर] ४२२-४६७ 'निद्धि' का प्रतिपाद्य—विज्ञान-परिणाम के विविध मतवाद—आत्मग्राह की परीक्षा—
ग्रारमग्राह की उत्पत्ति—ग्रारमवाद का निराकरण ग्रीर मूल-विज्ञान—धर्मग्राह की परीक्षा—हीनग्रान क मग्रतिष रूपों के द्रव्यत्व का निपेध—परमाण पर विज्ञानवादी सिद्धान्त—ग्रग्रतिय रूपा के द्रव्यत्व का निपेध—ग्रसस्कृतों के द्रव्य-सत्त्व का निपेध—ग्राप्त-ग्राहक विचार—ग्रारमद्यमींपचार पर ग्राक्षेप, समाधान—विज्ञान के विविध परिणाम—ग्रारपिवान—ग्रानयकी नर्ववीजकता—ग्रालय से लोक की उत्पत्ति—ग्रानम्बनगर—ग्रानय का चैनों से सम्प्रयोग—ग्रालयविज्ञान की वेदना—ग्रालय ग्रीर उनके चैतों रा प्रकार—प्रनीन्ग्रामुत्याद—ग्रालय की व्यावृत्ति—ग्रप्टम विज्ञान पर गृग्रान-व्यांग का मन—ग्रप्टम विज्ञान के पक्ष में ग्रागम के प्रमाण ग्रीर युक्तियाँ—गीजधारक नित्त—विष्याचित्त—गित ग्रीर योनि—उपादान—जीवित, उप्म ग्रीर विज्ञान—ग्रतिनिद्ध-चित्त ग्रीर मरण-चित्त—विज्ञान ग्रीर नामरूप—ग्राहार—

निरोध-समापत्ति—सक्लेश-व्यवदान—विज्ञान का द्वितीय परिणाम 'मन'—मन के स्राश्रय—मन का स्रालम्बन—मन के सम्प्रयोग—स्रिक्षण्ट मन—मन की सज्ञा—विज्ञान का तृतीय परिणाम, षड्विज्ञान—विज्ञिष्तमावता—विज्ञिष्तमात्रता की विभिन्न व्याख्याएँ—विज्ञिष्तमावता पर कुछ स्राक्षेप स्रीर उसके उत्तर—त्रिस्वभाववाद—स्वभावत्रय का चित्त से स्रभेद—स्रसंस्कृत धर्मों की विस्वभावता—विज्ञिष्तमावता—विज्ञिष्तमावता—विस्वभाववाद।

#### **अनविंश श्रध्याय :: माध्ययिक नय**

**४८५-**१६२

माध्यमिक दर्शन का महत्त्व--माध्यमिक दर्शन का प्रतिपाद्य--स्वतः उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन--माध्यमिक की पक्षहीनता--माध्यमिक की दोषोद्भावन-प्रणाली--माध्यमिक स्वतन्त्र श्रनुमानवादी नही--परत उत्पादवाद का खण्डन -प्रतीत्य-समुत्पाद-बुद्ध-देशना की नेयार्थता स्रीर नीतार्थता-सवृति की व्यवस्था-प्रमाण-द्वयता का खण्डन--लक्ष्य-लक्षण का खण्डन--प्रमाणो की श्रपरमार्थता--हेतुवाद का खण्डन--गति, गन्ता श्रौर गन्तव्य का निषेध---श्रध्वत्नय का निषेध---द्रष्टा, द्रष्ट्रव्य श्रीर दर्शन का निषेध-रूपादि स्कन्धो का निषेध-पड्धातुश्रो का निषेध-रागादि क्लेशो का निषेध-सस्कृत धर्मों का निषेध ( सस्कृत पदार्थों के लक्षण का निषेध-सस्कृत-लक्षण के लक्षण का निषेध--उत्पाद की उत्पाद-स्वभावता का निषेध)--कर्म-कारक म्रादि का निषेध--पुद्गल के म्रस्तित्व का खण्डन--उपादाता श्रौर उपादान के श्रभाव से पुद्गल का श्रभाव—पदार्थों की पूर्वापर-कोटिशून्यता— दुःख की ग्रसत्ता—सस्कारो की नि स्वभावता—माध्यमिक ग्रभाववादी नही—ससर्गवाद का खण्डन---नि स्वभावता की सिद्धि ( स्वभाव का लक्षण--- शून्यवाद उच्छेदवाद या शाश्वतवाद नही ) ससार की सत्ता का निषेध—कर्म, फल ग्रीर उसके सम्बन्ध का निषेध-क्षणिकवाद में कर्मफल की व्यवस्था-ग्रविप्रणाश से कर्मफल की व्यवस्था-कर्मफल की नि स्वभावता--- ग्रनात्मवाद ( ग्रात्मा स्कन्ध से भिन्न या ग्रभिन्न नही---ग्रनात्मसिद्धि में ग्रागम बाधक नही )—तथागत के प्रवचन का प्रकार (माध्यमिक नास्तिक नही हैं—तत्त्वामृतावतार की देशना)—तत्त्व का लक्षण—काल का निषेध— हेतु-सामग्रीवाद का निषेध---उत्पाद-विनाश का निषेध---तथागत के ग्रस्तित्व का निषेध—विपर्यास का निषेध—चार भ्रार्य-सत्यो का निषेध—(लोकसवृति-सत्य— परमार्थ-सत्य-सत्य-द्वय का प्रयोजन )---निर्वाण ( निर्वाण की स्कन्ध-निवृत्तिता---निर्वाण की कल्पना-क्षयता--निर्वाण से ससार का अभेद--तथागत के प्रवचन का रहस्य )।

## पंचम खराडं ( ४६३—६१६ )

### [ बौद्ध-न्याय ]

विश प्रध्याय . काल, दिक्, स्राकाश और प्रमाण

५६५–६१६

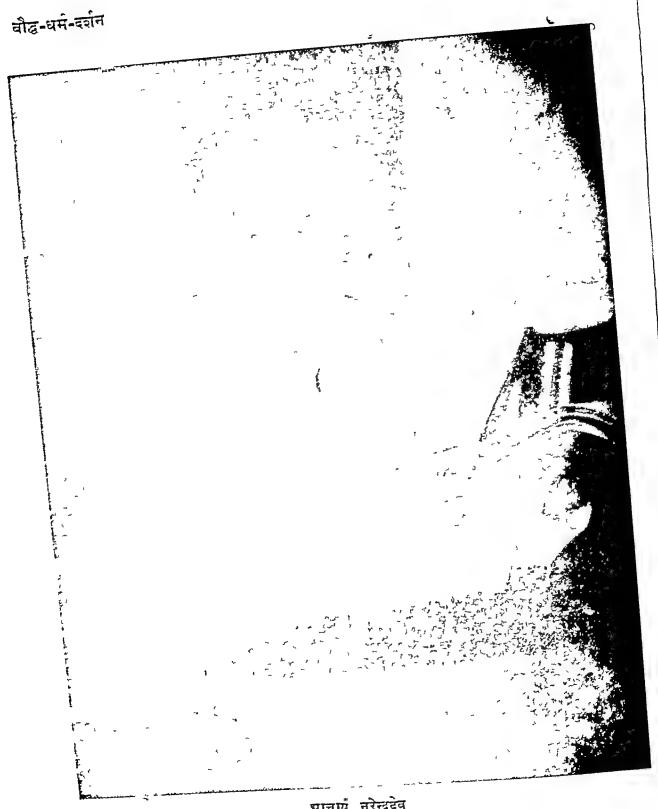
विषय-प्रवेश—कालवाद (काल का उद्गम—काल का ग्राधार—काल ग्रीर ग्राकाश की समानता, उसके लक्षण—विभाषा में कालवाद—वैभाषिक नय में कालवाद—उत्तरवर्ती वैभाषिक मत—कारित्र का सिद्धान्त—फलाक्षेप-शक्ति ग्रीर कारित्र ) दिग्-ग्राकाशवाद—प्रमाण (प्रमाणशास्त्र का प्रयोजन—प्रमाण-फल तथा प्रमाण का लक्षण—प्रमाणों की सत्यता की परीक्षा—वस्तु-सत्ता का द्वैविघ्य—प्रमाण का द्वैविघ्य)—प्रत्यक्ष (मानस-प्रत्यक्ष—योगिप्रत्यक्ष—स्वसवेदन)—प्रत्यक्ष पर ग्रन्य भारतीय दर्शनों के विचार—ग्रनुमान (स्वार्थानुमान—लिंग की त्रिरूपता—त्रिरूप लिंग के तीन प्रकार—ग्रनुपलिंध के प्रकार-भेद—परार्थानुमान—ग्रनुमान-प्रयोग के ग्रग—हत्वाभास )।

शन्दानुक्रमणी

६१७–६८७

सहायक प्रन्यसूची

६८८–६६०



श्राचार्यं नरेन्द्रदेव

# लेखक के दो शब्द

जब मैं ग्रहमदनगर किले में नजरबन्द था, तब मैंने ग्रिभिधर्मकोश का फेच से भाषानुवाद किया था। यह ग्रन्थ बडे महत्त्व का है। मेरा विचार है कि इसका अध्ययन किये विना बौद्ध-दर्शन के ऋमिक विकास का अच्छा ज्ञान नहीं होता। यह वैभाषिक-नय के अनुसार सर्वास्तिवाद का प्रधान ग्रन्थ है। इस कार्य को समाप्त कर मैंने विज्ञानवाद के ग्रध्ययन के लिए महायानसूत्रालकार, विशिका, विशिका तथा विशिका पर लिखी गई चीनी-पर्यटक शुम्रान-च्वाग की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का सक्षेप तैयार किया। स्राचार्य वसुवन्धु की विशिका पर अनेक टीकाएँ थी, जिनमें से केवल स्थिरमित की टीका उपलब्ध है। शुग्रान-च्वाँग की विज्ञिप्तिमात्रतासिद्धि चीनी-भाषा में है । यह ग्रन्थ किसी सस्कृत-ग्रन्थ का चीनी-ग्रनुवाद नही है, किन्तु एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। तिशिका पर जो अनेक टीकाएँ लिखी गई थी, उनके आधार पर यह ग्रन्थ तैयार हुम्रा था, इसलिए यह ग्रन्थ वडे महत्त्व का है। इसका फ्रेच-म्रनुवाद पूसे नामक विद्वान् ने किया है। इस ग्रन्थ का किसी अन्य भाषा मे अनुवाद नही हुआ है। मैंने अभि-धम्मत्यसगहो, विसुद्धिमग्गो, उसकी धर्मपाल-लिखित टीका (परमत्यमजूसा) का भी अध्ययन किया। यह सब सामग्री ग्रहमदनगर मे ही एकत्र की गई। किन्तु, बौद्धधर्म तथा दुर्शन पर किसी विस्तृत ग्रन्थ के लिखने की योजना मैंने नहीं तैयार की थीं। अपने एक मित्र के कहने पर उनकी पुस्तक के लिए मैंने एक विस्तृत भूमिका लिखी थी, जिसमें बौद्धधर्म का सिंहावलोकन किया था। छूटने के कई वर्ष पश्चात् मेरे कुछ मित्रो ने इस सामग्री को देखकर मुझे एक विस्तृत ग्रन्थ लिखने का परामर्श दिया। समय-समय पर हिन्दी की विभिन्न पत्रिकाम्रो मे मेने बौद्धधर्म के विविध विषयो पर लेख लिखे थे। बौद्ध साहित्य का इतिहास, सौत्रान्तिकवाद, माध्यमिक-दर्शन तथा बौद्धन्याय के ग्रध्याय पीछे से लिखे गये।

इस ग्रन्थ के तैयार करने में मुझे बनारस सस्कृत-कॉलेज के श्रध्यापक प० जगन्नाथ उपाध्याय, वेदान्ताचार्य तथा 'सारस्वती सुषमा' के सम्पादक पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी, दर्शनाचार्य की विशेष सहायता मिली है। उपाध्यायजी ने निबन्धो को ग्रन्थ का रूप देने में बडी सहायता की है। प्रूफ देखने का सारा काम इन्ही दो मिल्रो ने किया है। में गत वर्ष योरप चला गया था श्रौर लौटने के बाद से निरन्तर वीमार चला जाता हूँ। सच तो यह है कि यदि इन मिल्रो की सहायता प्राप्त न होती तो, पुस्तक के प्रकाशित होने में श्रभी बहुत बिलम्ब होता। में इन मिल्रो के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। में अपने सहपाठी तथा भारतीय दर्शनो के प्रकाण्ड विद्वान् प० गोपीनाथजी कविराज का विशेष रूप से आभारी हूँ कि उन्होंने ग्रन्थ की भूमिका लिखने की मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया। अपनी विस्तृत भूमिका में उन्होंने बौद्धतन्त का प्रामाणिक विवरण दिया है। इस प्रकार, पाठक देखेंगे कि भूमिका ग्रन्थ की एक कमी को भी पूरा करती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भगवान् वृद्ध का जीवनचरित, उनकी शिक्षा, उसका विस्तार, विभिन्न निकायों की उत्पत्ति तथा विकास, महायान की उत्पत्ति तथा उसकी साधना, स्थविरवाद का समाधिमार्ग तथा प्रज्ञामार्ग, कर्मवाद, निर्वाण, ग्रनात्मवाद, ग्रनीश्वरवाद, क्षणभगवाद, बौद्ध साहित्य (पालि तथा संस्कृत ) के विविध दर्शन—सर्वास्तिवाद, सौद्रान्तिकवाद, विज्ञानवाद, तथा माध्यमिक—तथा वौद्धन्याय का सविस्तर वर्णन है। मैने इस ग्रन्थ की रचना में यथा-सम्भव मौत्तिक ग्रन्थों का ग्राध्यय लिया है। प्रत्येक दर्शन के लिए कुछ मुख्य ग्रन्थ चुन लिये गये हैं भीर उनका सक्षेप देकर उसके मूल मिद्धान्त वताने की चेष्टा की गई है। यह प्रकार मुझको पसन्द है। ग्राशा है, पाठक भी इस प्रकार को पसन्द करेंगे। सुहृद्वर किवराजजी का सुझाव था कि ग्रन्थ के ग्रन्त में पारिभाषिक शब्दों का एक कोश दिया जाय। इससे ग्रन्थ की उपादेयता बहुत वढ गई है।

में विहार-राष्ट्रभाषा-परिपद् का भी कृतज्ञ हूँ कि उसने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना स्वीकार किया। में समझता हूँ कि यह ग्रन्थ युनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूपसे उपयोगी सिद्ध होगा।

3१-१२-५५

नरेन्द्रदेव

# मूमिका

मित्रचर श्राचार्य नरेन्द्रदेवजी बहुत दिनो से बौद्ध-दर्शन की श्रालोचना कर रहे है। काशी-विद्यापीठ श्रादि पत्रिकाश्रो मे समय-समय पर बहुत ही तथ्यपूर्ण एव मूल्यवान् निबन्ध लिखे हैं। वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश का पूसें ने जो फ्रेच-श्रनुवाद किया था, उसका श्राचार्यजीकृत हिन्दी-श्रनुवाद-सिहत प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ हो गया है। बौद्ध-धर्म श्रौर दर्शन के विषय में राष्ट्रभाषाभाषी जनता के ज्ञान के लिए यह एक उत्कृष्ट देन है। राजनीति-क्षत्र में सदा व्यस्त रहने पर तथा शारीरिक अस्वस्थता से खिन्न रहते हुए भी उन्होने बौद्ध-धर्म श्रौर दर्शन-सम्बन्धी विभिन्न श्रगो के परिश्रीलन में अपने समय का बहुत-सा श्रश विनियुक्त किया है। इसके फलस्वरूप बहुत दिनो के परिश्रम से उनके अनेक सारगर्भ निबन्ध श्रौर लेख सचित हुए हैं। यह श्रत्यन्त श्रानन्द का विषय है कि ये समस्त लेख एव निबन्ध यथाप्रयोजन सशोधित श्रौर परिवर्धित होकर एक सर्वा गसुन्दर ग्रन्थ के रूप में विद्वत्समाज के समक्ष उपस्थित है। श्राचार्यजी के बहुत दिनो के सनिर्वन्ध श्रमुरोध की उपेक्षा करने में श्रसमर्थ होने के कारण श्राज में इस ग्रन्थ के उपोद्घात के रूप में चार बातें कहने के लिए उद्यत हुश्रा हूँ। इस कार्य से में श्रपने को सम्मानित समझता हूँ। समय के श्रभाव श्रौर स्थान के सकोच के कारण यथासम्भव सक्षेप में ही ग्रालोचना करनी पडेगी।

यह कहना ही चाहिए कि ऐसा ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में तो नही है, किसी भारतीय भाषा में भी नही है। में समझता हूँ कि किसी विदेशी भाषा में भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है। वौद्ध-दर्शन के मूल दिशानिक ग्रन्थ ग्रत्यन्त किंठन एव दुरूह है। ग्राचार्यजी ने घोर परिश्रम करके उसकी विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थों का ग्राद्योपान्त ग्रध्ययन कर इस ग्रन्थ में मुख्य-मुख्य विषयों का ग्राक्षेप-समाधानपूर्वक विस्तृत विवेचन किया है। किसी टीकाकार की प्रसिद्ध उक्ति के ग्रनुसार ग्राचार्यजी ने कुछ भी ग्रनपेक्षित एव ग्रमूल नहीं लिखा है। उन्होंने ग्रन्थ की प्रामाणिकता के रक्षार्थ मूल ग्रन्थों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखा है। पाठक को बौद्ध-धर्म ग्रीर दर्शन की मूल भावनाग्रो एव वातावरण से परिचित कराने के लिए उन्होंने बौद्धों के शब्द तथा शैली को भी इस ग्रन्थ में पूर्ण सुरक्षित रखा है। विभिन्न प्रस्थानों के कुछ विशिष्ट मूल ग्रन्थों का सक्षेप दे देने से इस ग्रन्थ की उपादेयता ग्रीर बढ़ गई है। दर्शन के प्रामाणिक ग्रध्ययन के लिए इस प्रणाली को में सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। इस प्रकार, यह ग्रन्थ इस विषय की उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए ही उपादेय नहीं है, प्रत्युत इससे इतर भारतीय दर्शन के विद्यानों को भी प्रचुर सहायता मिलेगी। बौद्ध-दर्शन के उपलब्ध सस्कृत-ग्रन्थों में भी कोई एक ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसके द्वारा बौद्धों की समस्त शाखाग्रों के सिद्धान्त का जान हो। ऐसे ग्रन्थ

की ग्रत्यन्त ग्रपेक्षा थी। ग्राचार्यजी ने यह ग्रन्थ लिखकर इस ग्रभाव की उचित पूर्ति की है।

यह सर्वंत्र प्रसिद्ध है कि प्राचीन भारतीय पण्डितगण अपना मत स्थापित करने के लए परमत की पूर्वपक्ष के रूप में आलोचना करते थे। विरुद्ध मतो में प्राचीन काल में, अर्थात् खीष्ट द्वितीय शतक से द्वादण शतक तक, वौद्धमत का ही मुख्य स्थान रहा, इनमें कुछ भी मन्देह नहीं है। न्याय, वैशेषिक, पातजलयोग, पूर्वमीमासा तथा वेदान्त-प्रस्थान की समकालीन दार्शनिक विचारद्वाराग्रो की श्रालोचना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वसुवन्ध, दिखनाग, धमंकीत्तिं ग्रादि मुप्रसिद्ध ग्राचार्यों का नाम कौन नहीं जानता? सीगत दर्शन के चार मुख्य प्रस्थानों का परिचय किसे नहीं है? यह बात मत्य है, किन्तु माथ ही यह भी सत्य है कि बौद्ध-दर्शन एवं धमं का परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। पूर्वकाल में भी इसका ज्ञान सव लोगों को नहीं था। साधारण जनता की नात दूर रहीं, बढ़े-बड़े पण्डित भी इससे बचित थे। इमलिए, प्राचीन समय में भी कोई-कोई श्राचार्य बौद्धमत के पूर्वपक्ष के स्थापन के प्रसग में निरसनीय मत से सम्यक् प्रभिज न थे। अवश्य उदयनाचार्य या वाचस्पितिमिश्रादि इसके श्रपवाद है। इस दृष्टि से वर्त्तमान समय की स्थिति श्रीर भी जोचनीय है। इसका प्रधान कारण बौद्धों के प्रामाणिक ग्रन्थों का श्रमाव है। दूसरा कारण है ग्रन्थों के उपलब्ध होने पर भी व्यक्तिगत कुसस्कारों के कारण महदय श्रालोचन का ग्रभाव।

वर्त्तमान समय में बहुत-से दुर्लंभ ग्रन्थों का श्रभाव कुछ कम हुग्रा है। यह सत्य है कि ग्राज मी बहुत-से श्रमूल्य ग्रन्थ ग्रप्राप्त हैं, ग्रीर प्राप्त ग्रन्थों में भी सबका प्रकाशन नहीं हुआ है। परन्तु, श्रव ग्राशा हो चली है कि श्रनुसन्धान की क्रिमक वृद्धि के फलस्वरूप बहुत-से ग्रज्ञात ग्रन्थों का परिचय प्राप्त होगा ग्रीर ग्रप्राप्त ग्रन्थ प्राप्त होगे। यह भी श्राशा है कि दार्णनिकों का चित्तगत सकोच दूर होगा ग्रीर रुचि परिवर्त्तित होगी। इससे प्राचीन एव ग्रिभनच ग्रन्थों के तथ्य-निर्माण की ग्रीर दृष्टि ग्राकपित होगी। इससे वौद्ध-धर्म ग्रीर दर्शन-सम्बन्धी मिथ्याज्ञान ग्रनेक ग्रशों में दूर होगा। ग्राचार्यजी का प्रस्तुत ग्रन्थ इस कार्य में विशेष रूप सेम हायक होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

( 7 )

प्राचार्यजी ने ग्रन्य का नाम 'वीद्ध-धर्म-दर्णन' रखा है। वस्तुत ध में श्रीर दर्णनसम्बन्धों प्रचुर सामग्री इसमें सचित है। वर्त्तमान युग की विभिन्न भाषाश्रों में इस सम्बन्ध में
जो विचार प्रकाणित हुए हैं, उनका सार-सकलन देने के लिए ग्रन्थकार ने प्रयत्न किया है।
यौद्ध-धर्म का उद्भव, उसका भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में तथा भारत से वाहर के देशों में
प्रमार एक ऐनिहासिक व्यापार है। एक ही मूल उपदेश श्रोताश्रों और विचारकों के श्राशयभेद ने नाना रूप में विभिन्न निकायों में विकसित हुआ है। यह ऐतिहासिक घटना है, इसलिए
पर्न तथा दर्गन की कमश विकसित धाराएँ इसमें प्रदर्शित हैं। जो लोग भारतीय साधना-

धारा से सुपरिचित है, वे इस ग्रन्थ के उपासना-सम्बन्धी ग्रध्यायों को पढ़कर देखेंगे कि बृद्धि उपासना-पद्धित भी ग्रन्य भारतीय साधना-धारा के ग्रनुरूप भारतीय ही है। प्रस्थान-भेद के कारण ग्रवान्तर भेद के होते हुए भी सर्वव निग्ढ साम्य लक्षित होता है। वर्त्तमान समय में यह साम्यबोध ग्रत्यन्त ग्रावझ्यक है। वृष्य जगत का स्वभाव है, किन्तु इसके हृदय में साम्य प्रतिष्ठित रहता है। बहु में एक, विभक्त में ग्रविभक्त तथा भेद में ग्रभेद का साक्षात्कार होना चाहिए, इसी के लिए ज्ञानी का सम्पूर्ण प्रयत्न है। साथ-ही-साथ, इस प्रयत्न के फलस्वरूप एक में बहु, ग्रविभक्त में विभक्त तथा ग्रभेद में भी भेद दृष्टिगोचर होता है। ऐसी ग्रवस्था में ग्रवश्य ही भेदाभेद से ग्रतीत, वाक् ग्रीर मनस् से ग्रगोवर, निर्विकल्पक परमसत्य का दर्शन होता है। प्रति व्यक्ति के जीवन में जो सत्य है, जातीय जीवन में भी वही सत्य है। यही बात समग्र मानव के लिए भी सत्य है। विरोध से ग्रविरोध की ग्रोर गित ही सर्वव उद्देश्य रहना चाहिए।

( 3 )

म्राचार्यजी का यह ग्रन्थ १ खण्डो भौर २० ग्रध्यायो में विभक्त है। पहले खण्ड के पाँच ग्रध्यायो में बौद्ध-धर्म का उद्भव भौर स्थिवरो की साधना विणत है। प्रथम श्रध्याय में भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ, बुद्ध का प्रादुर्भाव, उनके समसामियक ग्राचार्य, धर्मप्रसार, भगवान् का परिनिर्वाण श्रादि विषय विणत हैं। द्वितीय श्रध्याय में बुद्ध की शिक्षा की सार्व-भौमिकता, उनका मध्यम-मार्ग, शिक्षात्रय, पचशील ग्रादि प्रदर्शित है। तृतीय श्रध्याय में बुद्धदेशना की भाषा श्रीर उसका विस्तार बताया गया है। चतुर्थ में निकायों का विकास वर्णित है। पाँचवें में समाधि का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

दितीय खण्ड के पाँच श्रध्यायों का विषय महायान-धर्म श्रौर उसके दर्शन की उत्पत्ति श्रौर विकास, उसका साहित्य श्रौर साधना है। इस प्रकार, छठे श्रध्याय में महायान-धर्म की उत्पत्ति श्रौर उसका विकायवाद है। सातवे में वौद्ध संस्कृत-साहित्य का श्रौर सकर-संस्कृत का परिचय देकर पूरे महायान-सूत्रों का विषय-परिचय कराया गया है। श्राठवे में महायान-दर्शन की उत्पत्ति श्रौर उसके प्रधान ग्राचार्यों की कृतियों का परिचय है। नवे में माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी श्रौर तन्त्रों का सक्षिप्त परिचय है। दसवें में विस्तार से महायान की बोधिचर्या श्रौर पारमिता श्रो की साधना वर्णित है।

तृतीय खण्ड मे बौद्ध-दर्शन के सामान्य सिद्धान्तो का विस्तार से वर्णन है। इसमें एकादश से चतुर्देश तक चार अध्याय है। एकादश में बौद्ध दर्शन के सामान्य ज्ञान के लिए एक भूमिका है। द्वादश में प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभगवाद, अनीश्वरवाद तथा अनात्मवाद का तर्कपूर्ण सुन्दर परिचय है। त्वयोदश और चतुर्देश में क्रमश बौद्धों के कर्मवाद और निर्वाण का महत्त्वपूर्ण आलोचन किया गया है।

चतुर्थ खण्ड पचदश से ऊर्निवश तक ५ अध्यायो में विभक्त है। इस खण्ड में बौद्ध दर्शन के चार प्रस्थानों का विशिष्ट ग्रन्थों के ग्राधार पर विषय-परिचय ग्रीर ग्रन्य दर्शनों से उनकी तुलना दी गई है। पचदण अध्याय में वैभाषिक-नय, षोडश में सौत्रान्तिक-नय, सप्तदश में असग का विज्ञानवाद, अध्यादश में वसुवन्ध्व का विज्ञानवाद, ऊनविश में शून्यवाद का विस्तार पूर्वक प्रामाणिक परिचय दिया गया है।

पचम खण्ड बौद्ध-न्याय का है। इस खण्ड के एकमाल वीसवे ग्रध्याय में आकाशवाद भीर कालवाद पर महत्त्वपूर्ण विचार करके न्याय के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार, पाँच खण्डो में पालि ग्रौर सस्कृत में वर्णित वौद्धधमें ग्रौर दर्शन का सागोपाग वर्णन है।

### ( 8)

वीद्ध-धर्म में जीवन के ग्रादर्ण के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही दो मत हैं। ये दोनो मृत उत्तरोत्तर ग्रधिक पुष्ट होने गये। प्रथम—मिलन वासना के क्षय का मिद्धान्त है। इसका स्वाभाविक फल मुक्ति या निर्वाण है। दूसरा—वासना का जोधन है। इससे जुद्ध वासना का म्राविमीव होता है और देह-शुद्धि होती है। देह-शुद्धि के द्वारा विश्व-कल्याण या लोक-कल्याण का सम्पाटन किया जा संकता है। अन्त में शुद्ध वासना भी नहीं रहती। उसका क्षय हो जाता है और उससे पूर्णत्व-लाभ होता है। इसे ये लोग वुद्धत्व कहते हैं। इसे भ्रापेक्षिक दृष्टि से परा-मुक्ति कह सकते हैं। उप्यूक्त दोनों स्थितियो में काफी मतभेद है। सक्षेप में कह मकते हैं कि पहला ग्रादर्श हीनयान का श्रीर दूसरा महायान का है। किन्तु, यह भी सत्य है कि हीनयान में भी महायान का सूक्ष्म बीज निहित था। श्रावकगण अपने व्यक्तिगत दुख का नाण या निर्वाण चाहते थे। प्रत्येक-वृद्ध का लक्ष्य दु खनाश तथा व्यक्तिगत वृद्धत्व था। इसका अर्थ है स्वय वुद्धत्व-लाभ कर विश्व की दुख निवृत्ति में सहायता करना। प्राचीन नमय में दस सयोजनो का नाश करके अर्हत्त्व की प्राप्ति करना लक्ष्य था। प्रचलित भाषा में इसे जीवन्मुक्ति का ग्रादर्श कह सकते हैं। वौद्धमत में यह भी एक प्रकार का निर्वाण है। इसे मोपधिशेष निर्वाण कहते हैं। इसके वाद स्कन्ध-निवृत्ति, अर्थात् देहपात होने पर अनुपधि-शेप निर्वाण या विदेह-कैवल्य प्राप्त होता है। इस मार्ग में क्लेश ही प्रज्ञान का स्वरूप है। पातजल योग-दर्गन मे जैसे अविद्या को मूलक्लेश माना गया है, उसी प्रकार प्रोचीन बौद्धो में क्लेश-निवृत्ति को ही मनुष्य-जीवन का परम पुरुपार्थ समझा जाता था। वस्तुत , क्लेश-निवृत्त हो जाने पर भी किसी-किमी क्षेत्र में वासना की सर्वथा निवृत्ति नही होती; क्यों कि मलिन वासना का नाज होने पर भी मुद्ध वामना की मम्भावना रहती ही है। इसमें सन्देह नही कि जिसमें शुद्ध वामना नहीं है, उसके लिए क्लेश-निवृत्ति ही चरम लक्ष्य है। परन्तु, पूर्णत्व या बुद्धत्व का भ्रादर्श इससे बहुत उच्च है। बोधिमत्व से मिन्न दूसरा कोई बुद्धत्व-लाभ नहीं कर सकता। शुद्ध वासना वस्तुनः परायं-वानना है। वोधिमत्त्व इस वासना से अनुप्राणित होकर कमश बुद्धत्व प्राप्त करने का अधिकारी होता है। वोधिमत्त्व की अवस्था भी एक प्रकार की अज्ञान की अवस्था है। परन्तु यह क्लिप्ट नहीं, श्रक्लिप्ट हैं। बोधिनत्त्व की भिन्न-मिन्न भूमियों को क्रमण. भेद करके आगे

यलना पडता है। इस प्रकार, कमशः शुद्ध वासना निवृत्त हो जाती है। वोधिसत्त्व की ग्रन्तिम ग्रवस्था में बुद्धत्व का विकास होता है, जैसे शुद्ध ग्रध्वा में सचरण करते हुए जीव को कमश शिवत्व की ग्रिभिव्यक्ति होती है। परन्तु, जबतक चिद्रूपा शिवत की ग्रिभिव्यक्ति नही होती, तब-तक शिवत्व का ग्राभास होने पर भी शिवत्व की सम्यक् ग्रिभिव्यक्ति नही होती। यहाँतक कि विशुद्ध-विज्ञान-कैवल्य-रूप स्थिति में ग्रवस्थित होने पर भी पूर्ण शिवत्व का लाभ नही होता। ठीक इसी प्रकार बोधिसत्त्व की ग्रवस्था दस या ततोऽधिक भूमियो में विभक्त है। 'भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा' का विकास होते-होते ग्रविलष्ट ग्रज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, ग्रौर ग्रव्तिम ग्रवस्था में पूर्णिभिषेक की प्राप्ति होती है। उस समय बोधिसत्त्व बुद्ध पद पर ग्रधिरूढ होते हैं। बुद्धत्व ग्रद्धय स्थिति का वाचक है। पुद्गल-नैरात्म्य सिद्ध होने पर समझना चाहिए कि क्लेश-निवृत्ति हो गई है, किन्तु द्वैत का भान नही छूटता। इसके लिए धर्म-नैरात्म्य का होना ग्रावश्यक भी है। ग्रुद्ध वासना के निवृत्त होने पर धर्म-नैरात्म्य की भी सिद्धि हो जाती है। उस समय नैरात्म्य-दृष्टि से ज्ञाता ग्रौर ज्ञेय समरस हो जाते है। यही पूर्ण नैरात्म्य है। वैद्विक तथा ग्रागिसक ग्रादर्श में बाह्य दृष्टि से किचित् भेद ग्रतीत होता है। यह वैसा ही भेद है, जैसा कि ग्रोल्ड टेस्टामेण्ट ग्रौर न्यू टेस्टामेण्ट में लॉ (विधि) तथा लव (प्रेम) इन लक्ष्यो के ग्राधार पर किचित् भेद प्रतीत होता है।

बुद्धत्व का ग्रादर्श प्राचीन समय में भी था। जनता के लिए बुद्ध होना ग्रापातत शक्य नहीं था, परन्तु ग्रहेंत-पद में उत्थित होकर निर्वाण-लाभ करना, ग्रर्थात् दुख का उपशम करना, सभी को इष्ट था। किन्तु, जिस स्थिति में ग्रपना ग्रीर दूसरे का दुख समान प्रतीत होता है ग्रीर ग्रपनी सत्ता का बोध विश्वव्यापी हो जाता है, ग्रर्थात् जब समस्त विश्व में ग्रपनत्व ग्रा जाता है, उस समय सबकी दुःख-निवृत्ति ही ग्रपने दुख की निवृत्ति में परिणत हो जाती है। क्लिष्ट वासना के उपशम से जो निर्वाण प्राप्त होता है, वह यथार्थ नहीं है। महानिर्वाण की प्राप्ति के पहले साधक को बोधिसत्त्व ग्रवस्था में ग्रारूढ होकर कमश उच्चतर भूमियों का ग्रतिक्रम करना पडता है। कम-विकास के इस मार्ग में किसी-किसी का शत-शत जन्म बीत जाता है।

साख्य-योग के मार्ग में जै से विवेकख्याति से विवेकज-ज्ञान का भेद दृष्टिगत होता है, ठीक उसी प्रकार श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा से भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा का भी भेद है। विवेक-ख्याति कैवल्य का हेतु है, परन्तु विवेकज-ज्ञान कैवल्य के श्रविरोधी ईश्वरत्व का साधक है। ईश्वरत्व की भूमि तक साधारण लोग उठ नहीं सकते, किन्तु विवेकज-ज्ञान प्राप्त करने पर कैवल्य-प्राप्ति का श्रधिकार सबको मिल सकता है। विवेकज-ज्ञान तारक, श्रक्रम, सर्वविषयक, सर्वशाविषयक तथा श्रुनौपदेशिक है। श्रर्थात्, यह प्रातिभ ज्ञान है या स्वयसिद्ध महाज्ञान है। यह सर्वज्ञत्व है, किन्तु कैवल्य-स्थिति नहीं है। योगभाष्य में लिखा है कि सत्त्व श्रीर पुरुष के समरूप से शुद्ध हो जाने पर कैवल्य-लाभ होता है, परन्तु विवेक-ज्ञान की प्राप्ति या ईश्वरत्व-लाभ हो या न हो, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैनमत में भी केवल-ज्ञान सभी को प्राप्त हो सकता है, किन्तु

तीर्थंकरत्त्व सवके लिए नही है। तीर्थं कर गुरु तथा दैशिक है। इस पद पर व्यक्ति-विशेष ही जा सकते हैं, सब नही । तीर्थंकरत्व तयोदश गुणस्थान में प्रकट होता है, परन्तु सिद्धावस्था की , प्राप्ति चतुर्दण भूमि में होती है। द्वैत शैवागम में योगी के शुद्ध श्रध्वा में प्रविष्ट होने पर इसकी क्रमण शुद्ध अधिकार-वासना और शुद्ध भोग-वासना निवृत्त हो जाती है। ये दोनो ही गुद्ध ग्रवस्या के द्योतक है। इसके वाद लयावस्था में गृद्ध भावों के भी ग्रभाव से शिवत्व का उदय होता है। ग्रधिकार-वामना तथा भोग-वासना ग्रशुद्ध नहीं है, परन्तू इसकी भी निवत्ति ग्रावश्यक है । ग्रधिकारावस्था ही णास्ता का पद है । णृद्ध विद्या का ग्रधिष्ठाता होकर द खपक-मग्न जगत में ज्ञान-दान करना तथा जीव श्रीर जगत् को शुद्ध श्रध्वा में श्राकपित करना; यही विद्येश्वरगण का कार्य है। यह विणुद्ध परोपकार है। इस वासना का क्षय होने पर णुद्ध भोग हो सकता है, किन्तु इसके लिए वासना का रहना ग्रावश्यक है। इस प्रकार, ईश्वर-तत्त्व से मदाशिव-तत्त्व तक का ग्रारोहण होता है। जव शुद्ध ग्रानन्द से भी वैराय होगा, तब ग्रन्तर्लीन ग्रवस्थाभूत शिवत्व का स्फुरण होगा। किन्तु, इसमें उपाधि रहती है। इसके वाद निरुपाधिक शिवत्व का लाभ होता है। उसमें व्यक्तित्व नही होता, क्योंकि शुद्धवासना का क्षय होने पर व्यक्तित्व नही रह सकता। उस ममय महामाया से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है। श्रद्धैत शैवागम में भी भगवदनुग्रह के प्रभाव से शुद्ध मार्ग में प्रवेश होता है, पश्चात् परमिशवत्व की स्थित का कमश विकास होता है। दीक्षा का भी यथार्थ रहस्य यही है कि इससे पाश-क्षय और शिवत्व-योजन दोनो का लाभ होता है।

प्राचीन काल में बुद्धत्व का ग्रादर्श प्रत्येक जीव का नही था। यह किसी-किसी उच्चाधिकारी का था। उसके लिए उसे विभिन्न जन्मों से विभिन्न प्रकार के सघर्षण के प्रभाव से
, जीवन का उत्कर्प-माधन करना पडता था। इस साधना को पारिमता की साधना कहते हैं।
पुण्य-सम्भार तथा ज्ञान-सम्भार दोनों से बुद्धत्व निष्पन्न होता है। पुण्य-सम्भार कर्मात्मक, ज्ञानसम्भार प्रज्ञात्मक है। इन दोनों की उपयोगिता थी। ग्रद्धत्तमाव के विस्तार के साथ-साथ
बुद्धत्व का ग्रादर्श व्याप्त हो गया था। पहले गोव्य-भेद का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता था,
किन्तु लक्ष्य वडा होने के कारण यह कमश उपेक्षित होने लगा। ग्रिभनव दृष्टि के श्रनुसार
बुद्ध-वीज सभी के भीतर है। परन्तु, एकमाव मनुष्य-देह का ही यह वैशिष्ट्य है कि यहाँ यह
ग्रकुरित होकर विकसित हो सकता है। तभी बुद्धत्व-लाभ हो सकता है। जिस समय से बुद्धत्व
के ग्रादर्श का प्रसार हुग्रा, उस समय से वीधिसत्त्व की चर्या ग्रावश्यक प्रतीत होने लगी। इस
ग्रवस्था में निर्वाण का प्राचीन ग्रादर्श मिलन हो गया ग्रीर इमका ग्रादर्श महानिर्वाण या महापरिनिर्वाण के रूप में परिणत हो गया।

( x )

माधक तथा योगी के जीवन में अन्य धर्मी के विकास के सदृश करुणा का विकास भी
श्रावश्यक है। जगत् के विभिन्न श्राध्यात्मिक प्रस्थानो में इस धर्म का विशेष महत्त्व स्वीकार
किया गया है। करुणा ही सेवा का मूल है। यह प्रसिद्धि ठीक है—'सेवाधर्म परमगहनो

योगिनामप्यगम्यः । जिनके चित्त में सेवावृत्ति का उन्मेष नहीं होता और जिनका हृदय करुणीं से प्रमावित नहीं होता, ऐसे पुरुषों का हृदय अवश्य ही सकुचित है। सब प्रकार से अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि ही इनका लक्ष्य होता है। जब इनका अधिकार स्वल्प होता है, तब ये अपने लिए ऐहिक या पारित्रक अभ्युदय चाहते हैं—वह या तो जागितिक ऐश्वर्य चाहने या पारलौकिक स्वर्गादि का आनन्द-लाभ । जब अधिकार का उत्कर्ष होता है, तब इनका लक्ष्य होता है—व्यक्तिगत जीवन के दु.खों की निवृत्ति, अर्थात् मुक्ति । यदि किसी क्षेत्र में इनका लक्ष्य आनन्द का अभिव्यजन भी हो, तो भी ये व्यक्ति-जीवन की सीमाओं से आबद्ध ही रहते हैं । विश्व-कल्याण या परार्थ-सम्पादन इनके जीवन का ध्येय नहीं होता । कभी किसी क्षेत्र में किंचित् परार्थपरता का भी आभास मिलता है, किन्तु वह वस्तुत स्वार्थसिद्धि का उपायरूप ही होता है। इसके उदाहरण में दया-वृत्ति का नाम लिया जा सकता हे। इस वृत्ति को कार्य-रूप में परिणत करने पर या भावना के रूप में ग्रहण करने पर उससे कार्यकर्त्ती या भावक का चित्त शुद्ध होता है। उससे ज्ञान-प्राप्ति तथा मुक्ति में सहायता मिलती है। इस स्थल में दया दूसरे के लिए मालूम होती है, किन्तु वस्तुत वह अपने कल्याण की ही साधक है।

भिनत तथा प्रेम-साधन के क्षेत्र में जैसे साधनरूप भिनत और साध्यरूप प्रेमा भिन्त में अन्तर है, ठीक उसी प्रकार करुणा-सम्बन्धी अनुशीलन के क्षेत्र में साधन तथा साध्य करुणा में अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है।

योग-दर्शन मे चित्त के परिकर्म के रूप में मैंत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा के नियमित परिशीलन की उपयोगिता दिखाई गई है। प्राचीन पालि-साहित्य में भी ब्रह्मविहार नाम से इन्ही वृत्तियो का निर्देश है । योग-दर्शन मे करुणा का जो परिचय दिया गया है, उससे सर्वांशत भिन्न एक अन्य रूप भी है। इसी के अवलम्ब से, अर्थात् उसे ही जीवन का साध्य बनाने से, महायानी अध्यात्म-साधना का मार्ग प्रवित्तत हुआ है। इस प्रकार की करुणा का अन्तराय व्यक्तिगत मुक्ति है, इसीलिए ऐसी मुक्ति उपादेय नहीं मानी जाती । उपनिषत्-कालीन प्राचीन साधना में जीवनमुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है। ज्ञानी तथा योगी का परार्थ-सम्पादन इस महान् क्षेत्र के ग्रन्तर्भूत है। जीवन्मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव-दुख की निवृत्ति के लिए उपायरूप में ज्ञान-दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी। करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालियाँ गौण समझी जाती थी । जीवन्मुक्त महापुरुष ही ससार-ताप से पीडित जीवो के उद्धार के लिए श्रधिकारी थे। वर्त्तमान जगत् में करुणा के जितने भी स्राकार दिखाई पडते हैं, ये ग्रावश्यक होने पर भी मुख्य करुणा के निदर्शन नहीं हैं। हाँ, दोनो ही सेवाधर्म हैं, इसमें सन्देह नहीं। जबतक भोग से प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं होता, तबतक देह रहता है। इसलिए जीवन्म् क्ति ही सेवा के लिए योग्य समय है। किन्तु, यह परिमित है, क्यों कि देहान्त होने पर सेवा का अवसर नही रहता । यही कारण है कि जीवन्मुक्तिविवेक में विद्यारण्य स्वामी ने ज्ञान-तन्तु के सरक्षण को ही जीवन्मुक्ति का मुख्य प्रयोजन बताया है।

जीवन्मुक्ति मे ज्ञान की श्रावरण-शक्ति नही रहती, इसलिए स्वरूप-ज्ञान श्रनावृत रहता है। परन्तु, विक्षेपशक्ति के कारण उपाधि रहती है। इसीलिए, इस समय में जीव तथा जगत् की सेवा हो सकती है। जीवन्मुक्त ही यथार्थ गुरु है। एकमान्न यह गुरु ही तारक-ज्ञान का सचारक एव यथार्थ रूप में दुखमोचक तथा सेवावती है।

परन्तु, इस सेवा का क्षेत्र देशगत दृष्टि से परिमित है ग्रौर कालगत दृष्टि से भी सकुचित है। परिमित इसलिए कि एक व्यक्ति का कर्म-क्षेत्र विशाल होने पर भी सीमावद्ध है। सेवक के लिए सेवा का ग्रवसर तभी तक रहता है, जबतक वह देह से सम्बद्ध रहता है। देह छूटने पर या कैवल्य-लाभ करने पर सेवा करने की सम्भावना ही नही रहती। उसका प्रयोजन भी नही रहता, क्योंकि व्यष्टि-चित्त की शुद्धि ही तो उसका प्रयोजन है। उसके लिए सेवावृत सर्वथा ग्रनावश्यक हो जाता है। उस समय ग्रपने-ग्राप कैवल्य प्राप्त हो जाता है। उस समय जीवन्मुक्त गुरु परम्परा-क्रम से सेवावृत का भार ग्रपने योग्य शिष्य को देकर परम-धाम में प्रयाण करते हैं। यह स्वाभाविक ही है।

जिसके चित्त में परदु ख की प्रहाणेच्छा अत्यन्त प्रवल है, वह ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे भी झ स्कन्ध-निवृत्ति न हो। उसका यह प्रयत्न भोग या विलास के लिए नहीं, विलक्ष जीव-सेवा का अवसर वढाने के लिए है। जिनके चित्त में स्वल्पभाव या सकोच नहीं है, उसमें इस प्रकार की इच्छा का उदय होना स्वाभाविक है। सभी चित्तो में इस प्रकार की इच्छा नहीं होती, यह सत्य है, परन्तु किसी-किसी में अवश्य होती है, यह भी सत्य है। यही उसके महत्त्व का निदर्शन है। गोल-भेद माननेवालो की यही मूल युक्ति है। भिन्त-साधना के मार्ग में भी ठीक इसी प्रकार के विचार देखने में आते है। इसीलिए, किसी-किसी के मत से आवश्यक होने पर भी भिन्त चिरस्थायी नहीं है, क्योंकि अभेद-ज्ञान या मोक्ष-लाभ करने पर उसका अवकाश नहीं रहता। यह भिन्त उपाय या साधनरूप है, यहाँ उपेय (साध्य) ज्ञान या मुक्ति है। जिनके चित्त में सकोच कम है, उन्हें नित्यभिन्त की आकाक्षा होती है। वह फलरूपा भिन्त है। वह या तो मुक्ति से अभिन्न है, या उध्वे। इस प्रकार की भिन्त ही पचम पुरुषार्थ है। कितने मुन्त पुरुष भी इसके लिए लालायित रहते हैं। यह अत्यन्त दुर्लभ है।

किन्तु नश्वर, परिणामी एव मिलन देह में इस प्रकार के महान् श्रादर्श की प्राप्ति श्रसम्भव है। इसिलए, मर्त्यदेह को स्थिर तथा निर्मल करने के लिए प्रयत्न श्रावश्यक है। वैज्या का भाव-देह, प्रेम-देह तथा रस-देह इसी प्रकार के सिद्ध-देह हैं। ये जरा-मृत्यु से श्रतीत हैं। इसी का नामान्तर पार्षद-तनु है। इसके द्वारा नित्यद्याम में नित्यभिक्त का याजन होता है। ज्ञानी के विषय में भी इसी प्रकार की वात है। साधारण दृष्टि से ज्ञान श्रज्ञान का निवर्त्तक है, किन्तु वह श्रज्ञान के श्रावरणाश का ही निवर्त्तक है, विक्षेपाश का नही। इसीलिए, कहा जाता है कि ज्ञान के उदय होने पर भी प्रारब्ध का नाश नही होता। परन्तु, ऐसा भी विशिष्ट ज्ञान है, जिससे विक्षेप की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार के ज्ञान के उदय हो साथ-ही-साथ देहपात हो जाता है। एक ऐसा भी ज्ञान है, जिसके प्रभाव से

इस कर्मजन्य मिलन देह का नाश नहीं होता, बिल्क रूपान्तर की प्राप्ति होती है। इससे देह चिन्मय हो जाता है। पहले वह विशुद्ध सत्त्वमय होता है। उस समय उसकी जरा-मृत्यु से निवृत्ति हो जाती है। उसके बाद साक्षात् चिन्मयत्व का लाभ हो जाता है। ग्रागम की परिभाषा में पहले देह का नाम 'बैन्दव' ग्रौर द्वितीय का 'शाक्त' है। शाक्त देह वस्तुत चित्-शिक्तमय देह है। उसमें बिन्दु या महामाया का लेश भी नहीं रहता। इस बैन्दव देह का नाम ही सिद्ध देह है। बौद्ध, शैव तथा शाक्त सिद्धाचार्य इस बैन्दव या सिद्ध देह को प्राप्त कर ग्रपनी इच्ला के ग्रनुसार विचरण करते हैं। यह प्राकृतिक नियमों की शृखला से बद्ध नहीं है। वे इस देह में ग्रवस्थान करते हुए जीव-सेवा करते हैं। इस देह में मृत्यु का भय नहीं है। इसीलिए, सुदीर्घ काल तक इस देह में रहकर जगत् के कल्याण की चेष्टा की जा सकती है। किन्तु, ग्रत्यन्त दीर्घ काल के बाद इसकी भी एक सीमा ग्राती है। यह तो ठीक है कि इस समय भी देह का पात नहीं होता, परन्तु प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर योगी उसे सकुचित करके परमधाम में प्रवेश करता है। कोई-कोई इस देह का दिव्य-तनु नाम से भी वर्णन करते है। नाथ-सम्प्रदाय, रसेश्वर योगी-सम्प्रदाय तथा महेश्वर-सम्प्रदाय में इस विषय में वस्तृत ग्रालोचना है। सेण्ट जॉन के एपोकलिप्स में भी इस विषय में बहुत कुछ इगित है। खीष्ट्रीय मत के रिसरेक्शन बॉडी तथा एसेसन बॉडी का भेद इस प्रसग में ग्रालोच्य है।

### ( & )

बौद्ध योगियो के म्राघ्यात्मिक जीवन में करुणा का क्या स्थान है, इस विषय की म्रालोचना के लिए पूर्वोक्त विवरण का उपयोग प्रतीत होता है। श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्धयान में सर्व सत्त्वो का दु.ख-दर्शन ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम सत्त्वावलम्बन करुणा है। मृदु तथा मध्य कोटि के महायान-मत में, ग्रर्थात् सौत्रान्तिक तथा योगाचार-सम्प्रदाय में जगत् का नश्वरत्व या क्षणिकत्व ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम धर्मावलम्बन करुणा है। उत्तम महायान, म्रर्थात् माध्यमिक मत में करुणा का मूल कुछ नही हैं, ग्रर्थात् उसकी पृथक् सत्ता नही है। इस मत में शून्यता से ग्रिभन्न करुणा ही बोधि का ग्रग है। एक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि शून्यता जैसे लोकोत्तर है, वैसे ही करुणा भी लोकोत्तर है। यह ग्रहेतुक करुणा है। ग्रनगवस्त्र कहते हैं कि करुणावान् कभी किसी सत्त्व को निराश (विमुख) नही करते—

### सत्त्रानामस्ति नास्तीति न चैव सविकल्पकम्।

स्वरूप निष्प्रपच है, इसलिए प्रज्ञारस चिन्तामणि के सदृश श्रशेष सत्त्वो का, श्रर्थात् निखिल जीवो का श्रर्थकरण या श्रर्थित्रयाकारित्व है। इसी का नामान्तर कृपा है—

> निरालम्बपदे प्रज्ञा निरालम्बा महाकृपा । एकीभूता धिया सार्धं गगने गगनं यथा ।।

मनोरथनन्दि ने प्रमाणवात्तिक की वृत्ति में कहा है--

दुःखाद् दु खहेतोश्च समुद्धरणकामता करुणा ।

वात्तिककार धर्मकीति ने करुणा को भगवान् वुद्ध के प्रामाण्य के लिए साधन माना है, और कहा है कि यह श्रभ्यास से सम्पन्न होती है।

साघनं करुणाभ्यासात् सा बुद्धेर्देहसंश्रयात् । श्रसिद्धोऽभ्यास इति चेन्नाश्रयप्रतिषेघत ॥

'ग्रभ्यासात् सा' इसकी व्याख्या में मनोरथनन्दि ने कहा है---

गोत्रविशेषात् कल्याणमित्रसंसर्गांदनुशयदर्शनाच्च कश्चिन्महासत्त्व कृपायामृपजातस्पृह सादरनिरन्तरानेकजन्मपरम्पराप्रभवाभ्यासेन सात्मीभूतकृपया प्रेर्यमाण
सर्वसत्त्वानां समुदयहान्या दु खहानाय मार्गभावनया निरोधप्रापणाय च देशना कर्त्तुकामः स्वयमसाक्षात्कृतस्य देशनायां विप्रलम्भसम्भावनाच्चतुरार्यसत्यानि साक्षात्करोतीति
भगवति साधनं कृपा प्रामाण्यस्य । [१।३६]

श्रावक तथा प्रत्येक-वुद्ध से वुद्धों का यही वैशिष्टच है। धर्मकीर्त्ति ने लिखा है--

परार्थवृत्तेः खड्गादेविंशेषोऽय महामुनेः। उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम् ॥ [१।१७६]

प्रत्येक-वुद्ध, श्रावक प्रभृति का लक्षण वासना-हानि है। परन्तु, सम्यक्-सम्बुद्ध परार्थवृत्ति होने के कारण सर्वोत्तम है।

यह दया सत्त्वदृष्टिमूलक नही है, किन्तु वस्तुधर्म है। इसीलिए, यह दोपावह नही है। वात्तिककार ने कहा है—

> दुःखज्ञानेऽविरुद्धस्य पूर्वसंस्कारवाहिनी । वस्तुधर्मा दयोत्पत्तिर्न सा सस्वानुरोधिनी ॥ [१।१७६]

दु ख का ज्ञान होने पर पूर्व सस्कार के प्रभाव से दया स्वभावत ही उत्पन्न होती है।
यह सर्वन्न अप्रतिहत है। पूर्व सस्कार का अर्थ प्राक्तन अभ्यास की प्रवृत्ति है। वस्तुधर्म का
तात्पर्य वस्तु का, अर्थात् कृपाविषयीभूत दु ख का धर्म है। यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट शब्दो में कहा
है कि जिनकी आत्मदृष्टि मर्वथा उन्मूलित है, ऐसे महापुरुषो को दु ख के सम्मुखीन होते ही
दया उत्पन्न हो जाती है, क्यों कि उन्होंने दु ख को कृपा के विषयरूप में ग्रहण करने का
अभ्यास कर लिया है। सब दु खो का मूल कारण मोह है। वौद्धमत में सत्त्वग्राह या आत्मग्राह
ही मोह का मूल है। जब इसका उन्मूलन हो जाता है, तब किसी के प्रति द्वेप नही होता,
क्यों कि जिसे आत्मदर्शन नही है उसे किसी के द्वारा अपकार-प्राप्ति की प्रान्ति नही होगी।
अतः, वह किसी से द्वेप क्यों करेगा? इस प्रकार, यह कृपा दोपों के मूलमूत आत्मग्राह के
अभाव से ही उत्पन्न होती है, इसलिए वह दूपणीय नही है। धर्मकीर्त्तिने कहा है—

दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैवं दयोदय । [१।१७८]

पूर्व कर्मों के आवेश के क्षीण हो जाने से श्रीर दु खजनक श्रन्य कारणो के श्रत्यन्त नव्ट हो जाने से अप्रतिसन्धि के कारण मुक्ति अवश्य होती है। किन्तु, जो महाकृपा से सम्पन्न हैं, उनका जन्माक्षेपक कर्म प्रणिधान-परिपुष्ट है, ग्रत उनके सस्कार की शक्ति क्षीण नहीं होती, इसीलिए वह सम्यक्-सम्बुद्ध है। ये यावत् ग्राकाश चिरस्थायी है। परन्तु, श्रावकों का कर्म ऐसे देह का ग्राक्षेपक है, जिसकी स्थित का काल नियत है। उनमें करुणा ग्रत्यन्त मृदु है, ग्रतः देहस्थापन के लिए उनमें ग्रपेक्षित महान् यत्न भी नहीं है। इसीलिए उनकी सदा स्थित नहीं है। परन्तु, इसके विपरीत वे महामुनि जो दूसरों के उपकार-साधन के लिए ही हैं, ग्रौर ग्रकारण-वत्सल है, वे वस्तुत कृपामय है। इस ग्रथं में ये पराधीन है। इस विशिष्ट पराधीनता के कारण ये लोग चिरस्थितिक हैं। धर्मकीर्त्त ने कहा है—

### तिष्ठन्त्येव पराधीना येषा तु महती कृपा । [१।२०१]

श्रद्धयवज्र न 'तत्त्वरत्नावली' में कहा है कि श्रावक श्रौर प्रत्येक-बुद्ध की करुणा सत्त्वा-वलम्बन है। सत्त्वों के दुखदु खत्व तथा परिणामदु खत्व का अवलम्बन करके इनकी करुणा उत्पन्न होती है। श्रावक की देशना वाचिकी है, किन्तु प्रत्येक-बुद्ध की देशना कायिकी है। सम्बुद्धों के श्रनुत्पाद से श्रौर श्रावकों के परिक्षय से प्रत्येक-बुद्धों का ज्ञान श्रससर्ग से ही उत्पन्न होता है। यहाँ श्रससर्ग से श्रिभप्राय श्रपने में ऐसी विशिष्ट पात्रता के सम्पादन से है, जिसमें सूर्यज्योति के समान स्वभावकाय या धर्मकाय के स्वभावतः प्रसरणशील रिष्मयों का स्वत ही श्राधान होता है। श्रौर, सम्यक्-सम्बुद्धों से प्रत्येक-बुद्ध की यही भिन्नता है। बौद्ध साधन का प्रत्येक श्रश ही प्रज्ञा तथा करुणा की दृष्टि से ही विचारणीय है। देशना भी इसी के श्रनुरूप है।

( 9 )

श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध ग्रीर सम्यक्-सम्बद्ध इन तीन प्रकार के साधकों के बीच महायान ही योगपथ है। यद्यपि उसमें ग्रवान्तर भेद हैं, फिर भी मुख्यत दो ही धाराएँ हैं—

१. पारमिता-नय ग्रीर २. मन्त्र-नय। सभी सौवान्तिक मृदुपारमिता-नय स्वीकार करते हैं। योगाचार ग्रीर माध्यमिकों में कोई पारमिता-नय ग्रीर कोई मन्त्र-नय ग्रहण करते है। ज्ञान के साकार या निराकार मानने के कारण योगाचार दो प्रकार के हैं। साकारवाद में परमाणु को पडश नहीं माना जाता। इस मत में सभी चित्त-मात्र हैं। इसमें ग्राह्म ग्रीर ग्राहकभाव नहीं हैं। कामधातु, रूपधातु ग्रीर ग्ररूपधातु तीनो चित्तमात्र हैं। ये चित्तनिरपेक्ष विचित्र प्रकाशात्मक है। चित्त जब विकल्पशून्य होता है, तब उसे ही ग्रवैत-साक्षात्कार कहते हैं। निराकारवाद में चित्त ग्रनाकार सवेदनरूप है। वासनायुक्त चित्त ग्रर्थाभास के रूप में प्रवृत्त होता है। ग्राभासमात्र ही माया है। जो तत्त्व है, वह निराभास है। वह शुद्ध ग्रनन्त ग्राकाशवत् है। बुद्धकाय या धर्मकाय निष्प्रपच तथा निराभास है। उससे दो रूपकायों (सम्भोगकाय तथा निर्माणकाय) का उद्भव होता है। दोनो ही मायिक है।

श्रन्य मत में किसी-किसी का लक्ष्य मायोपम श्रद्धयवाद है। कोई आचार्य इस प्रकार का श्रद्धयवाद नहीं मानते। उनके मत में सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद ही युक्तिसिद्ध है। मायोपम समाधि, महाकरुणा तथा श्रनाभोग चर्या के द्वारा बोधिसत्त्व सर्व का दर्शन श्रोर ज्ञान करते हैं।

किन्तु, इस ज्ञान तथा दर्शन को मायावत् या छायावत् माना जाता है। चित्त के वाहर जगत् नहीं है। उनका जीवन विना किसी निमित्त के कमश. उच्च-उच्च भूमियो का लाभमात है। ग्रन्त में विधातु की चित्तमात्रता प्रतीत होने लगती है। यही मायोपम समाधि है। परन्तु, जो लोग सब धर्मों का अप्रतिष्ठान मानते हैं, उनके सिद्धान्त में विश्व न सत् है, न ग्रसत् है, न उभयात्मक है, न भ्रनुभयात्मक है। इसीलिए, इस मत में ससार को सत्, ग्रसत्, सदसत्, तथा सदसद्-भिन्न चार कोटियो से विनिर्मु क्त माना जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से साधन-जीवन की दो ग्रवस्थाएँ हैं--- १ हेतु-रूप या साधन-रूप तथा २ फल-रूप या साध्य-रूप। ज्ञान तथा भक्ति-मार्ग में जैसे साधनरूप ज्ञानभक्ति या साध्य रूप ज्ञानभक्ति दोनो का परिचय मिलता है, उसी प्रकार वौद्धों के साधन की चरमदृष्टि से भी साधन-रूप करुणा ग्रीर साध्य-रूप करुणा में भेद है। साधनावस्था में भगवान् के चित्तीत्पाद से लेकर वोधिमण्ड-उपऋमण, मार-विध्वसन तथा वज्रोपम समाधि-पर्यन्त मार्गस्वरूप है। यह मार्ग पारिमता-नय है। फलावस्था में एकादश भूमि का ग्राविभीव माना जाता है। ग्राशय तथा प्रयोग के भेद से हेतू भी दो प्रकार के हैं। सर्वसत्त्वो का वाण ग्राशय है तथा क्षयानुत्पाद ज्ञानरूप वोधि का अवलम्बन प्रयोग है। प्रयोग के भी दो प्रकार हैं। एक का विमुक्तिचर्या से सम्बन्ध है, दूसरे का भूमि से। पहला दानादि-विमुक्ति में प्रायोगिक है, दूसरा पारमिता-विमुक्ति में वैपाकिक है। द्वितीय के भी दो श्रवान्तर भेद हैं। एक में श्रभिनस्कार है, द्वितीय में श्रिमिसस्कार नही है। प्रथम में सात भूमियां हैं, क्यों कि ग्राभोग तथा निमित्त के प्रभाव से , समाधि की प्रवृत्ति होती है। सप्तम भूमि में निमित्त नहीं रहता, किन्तु आभोग रहता है। ग्रष्टम में ग्रामोग भी नही रहता । शुद्धभूमि की प्राप्ति होने पर निमित्त ग्रीर ग्राभोग दोनो का अभाव होता है। इसीलिए, इसमें स्वभावसिद्ध ममाधि का उदय होता है। इसी के प्रभाव से निखिल जगत् के यावत् अर्थों का सम्पादन हो जाता है। उस समय परार्थ-सम्पादन होता है श्रीर सर्वसवित के लाभार्थ सर्वानुगासन हो सकता है।

एक दृष्टि से देखा जाय, तो यह भी साधकावस्था ही है। इसमें चार सम्पत् का उदय होता है। चारो ग्रम्यास-रूप ही हैं—१ ग्रशोप पुण्य तथा ज्ञान-सम्भार का ग्रम्याम, २ नैरन्तर्य का ग्रम्याम, ३ दीर्घकाल का ग्रम्यास ग्रीर ४ सत्कार का ग्रम्यास। पतजिल के योगसूव— स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि में ग्रन्तिम तीनों का उल्लेख है।

सिद्धावस्या दशम भूमि के वाद होती है। उसमें भी चार सम्पदो का उल्लेख मिलता है— १. प्रहाण, २ ज्ञान, ३ रूपकाय ग्रीर ४ प्रभाव। प्रत्येक के ग्रवान्तर भेद है, जिनका वर्णन यहाँ ग्रनावश्यक है। प्रकृत मे वही ग्रपेक्षित है, जो रूपकाय मे सम्पत्-चतुष्क के नाम से निर्दिष्ट है। उसके ग्रन्तर्गत महापुरुप के वत्तीस लक्षण, ग्रशीति ग्रनुव्यजन, वल तथा वज्ञाग ग्रथवा स्थिरदेह है। पातंजल-योगसूत्र में कायसम्पत् के नाम से पचरूप-विशिष्ट पचमूत-जय का जो फल उनत है, वही यहां सिद्धपुरुप के रूपकाय को स्वामाविक सम्पत् कहकर माना गया है। इसमें जो प्रभाव शब्द उल्लिखित है, उमका तात्पर्य है, विशिष्ट ऐश्वर्य श्रथवा ईश्वरत्व।

किसी-किसी म्राचार्य के मनुसार इसमे बाह्य विषयो का निर्माण, परिणाम-सम्पादन तथा विशासकरी सम्पत् तथा भिन्न-भिन्न विभूतियो का म्रन्तर्भाव है।

कोई-कोई परवर्त्ती ग्राचार्य पूर्वविणत हेतु भ्रौर फल की भ्रवस्थाभ्रो के भ्रतिरिक्त सत्त्वार्थ-त्रिया नाम की पृथक् ग्रवस्था भी मानते है। इससे एक महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है कि म्राध्यात्मिक जीवन में मनुष्य का मुख्य लक्ष्य केवल फल-प्राप्ति या सिद्धावस्था का लाभ ही नही है। इस प्राप्ति को सर्व-साधारण के लिए सुलभ करने का प्रयत्न ही सर्वोत्तम लक्ष्य है। इसी का नाम जीव सेवा है। बौद्ध दार्शनिक इसी को सत्त्वार्थिकिया नाम से विणित करते हैं। इस मत के श्रनुसार बोधिचित्तोत्पाद से बोधिमण्ड-निवेदन-पर्यन्त जितनी अवस्थाएँ है, वे सब साधन या हेतु के ग्रन्तंगत है। सम्यक्-सम्बोधि की उत्पत्ति से सर्व-क्लेशो के प्रहाण-पर्यन्त फलावस्था है। इसके बाद प्रथम धर्मचक्रप्रवर्त्तन से शासन के प्रन्तर्धान-पर्यन्त तृतीय प्रवस्था है। इससे यह प्रतीत होता है कि जीव या जगत् की सत्त्वार्थित्रियारूप सेवा यावत् जीवन का लक्ष्य है, अर्थात् यह सृष्टि-पर्यन्त रहेगा । यदि सर्व की मुक्ति हो जाय, तो शासन, शास्ता श्रीर शिष्य कोई नही रहेगा। उस समय प्रयोजन का भी स्रभाव हो जायगा। किन्तु, जब-तक सबकी मुक्ति नहीं होती, तबतक जीवसेवा अवश्य रहेगी । इस मत के अनुसार हेतु-अवस्था, आशय, प्रयोग श्रीर विशता के भेद से तीन प्रकार की है। सत्त्वानिर्मोक्ष प्रणिधान श्राशय है। प्रयोग दो प्रकार के हैं -- १. सप्तपारमितामय, श्रौर २. दशपारमितामय। सप्तपारमिता में दान, शील, झान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा तथा उपाय हैं। ये लोग भूमिप्राप्त चतुर्विध सम्पत् से सम्पन्न है। इन सम्पदो का नाम---म्राशय, प्रयोग, प्रतिग्राहक तथा देह-सम्पत् है। साधनावस्था मे सभी प्रकार के 'म्रादि-कर्म' करने पडते हैं। किन्तु, सत्त्वार्थिकियारूप फलावस्था मे ग्रनाभोग से ही प्रवृत्ति होती है, ग्रर्थात् इस ग्रवस्था में ग्रपने-ग्राप ही कर्म निष्पन्न होते हैं, ग्रभिमानमूलक कर्म की श्रावश्यकता नही रहती । दशपारमितावादी सात के बाद प्रणिधान, वल श्रीर ज्ञान अन्य तीन पारमिताग्रो को भी स्वीकार करते हैं।

( 5 )

वौद्धों के धार्मिक जीवन के उद्देश्य का पर्यालोचन पहले किया गया है, उसका सक्षेप में पुन स्पष्टीकरण किया जाता है। चीन बौद्ध-धर्म के मुमुक्षुग्रों में तीन ग्रादर्श प्रधानरूप से प्रचलित थे—श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध ग्रौर सम्यक्-सम्बुद्ध । पूर्विपक्षया पर पद श्रेष्ठ है। श्रावक का ग्रादर्श ग्रेपेक्षाकृत न्यून होने पर भी पृथग्जन से उत्कृष्ट था। यद्यपि श्रावक ग्रौर पृथग्जन दोनों का समान लक्ष्य व्यक्तिगत दुख-निवृत्ति था, तथापि पृथग्जन को उपायज्ञान नहीं था, श्रावक उपायज्ञ थे। श्रावक दुख-निवृत्ति के माग से परिचित थे। यह मार्ग वोधि ग्रथवा ज्ञान है। चार ग्रार्य-सत्य में यह मार्ग-सत्य है। वोधि या ज्ञान उन्हें स्वतः प्राप्त नहीं होता था, उसके उदय के लिए बुद्धादि शास्ताग्रों की देशना ग्रपेक्षित थी। इसलिए, इसे ग्रौपदेशिक ज्ञान कहते हैं। पृथग्-जन धर्म, ग्रथं, काम इस श्रवर्ग की सिद्धिंमें व्यापृत रहते थे, किन्तु श्रावक इससे ग्रतीत थे।

श्रावको में किसी का दु ख-निरोध पुद्गल-नैरात्म्य के ज्ञान से ग्रीर किसी-किसी का प्रतीत्य-समुत्पाद के ज्ञान से होता था। धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान किसी श्रावक को नहीं होना था। इसी लिए उन्हें श्रेष्ठ निर्वाण का लाभ नहीं होता था। फिर भी, इतना तो सत्य है कि ये लोग ग्रध-पात की ग्रामका से मुक्त हो जाते थे। क्योंकि, ज्ञानाग्नि के द्वारा इनके क्लेश या ग्रमुद्ध वासनात्मक ग्रावरण दग्ध हो जाते थे। इसलिए, त्रिधातु में इनके जन्म लेने की सम्भावना नहीं रहती थी। ये जन्म-मृत्यु के प्रवाहरूप प्रत्यभाव से मुक्त हो जाते थे।

प्रत्येक-बुद्ध का ग्रादर्श श्रावक से श्रेष्ठ है। यद्यपि इनका साधन-जीवन वैयक्तिक स्वार्थ से ही प्रेरित है, फिर भी ग्राधार ग्रधिक गुद्ध है। ग्राधार-शुद्धि के कारण इन्हें स्वदु.खिनवृत्ति के उपाय या ज्ञान के लिए दूसरे से उपदेश प्राप्त करने की, ग्रावश्यकता नहीं होती। ये लोग पूर्वश्रुतादि ग्रिभसस्कारों के द्वारा स्वय ही वोधि-लाभ करते थे। वोधि का लाभ बुद्धत्व की प्राप्ति है। योगशास्त्र जिसे ग्रनौपदेशिक या प्रातिभ ज्ञान कहता है, उससे प्रत्येक-बुद्धों का ज्ञान प्राय समान है। किसी ग्रश में यह विवेकोत्य प्रातिभ ज्ञान का ही एक रूप है। यह लौकिक शाब्द ज्ञान नहीं है। प्रत्येक-बुद्ध ग्रपने बुद्धत्व के लिए प्रार्थी होते हैं, उसे प्राप्त भी करते है, किन्तु सर्व के बुद्धत्व के लिए उनकी प्रार्थना नहीं है।

श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध के ज्ञान में भी भिन्नता है। श्रावको का ज्ञान पुद्गल-नैरात्म्य का अववोध-रूप है, अत पुद्गलवादियों के अगोचर है। प्रत्येक-बुद्धों का ज्ञान मृदु इन्द्रिय है, इसलिए वह श्रावकों के भी अगोचर है। श्रावकों को क्लेशावरण नहीं होता, इसलिए इनका ज्ञान सूक्ष्म है। प्रत्येक-बुद्ध में ज्ञेयावरण का एकदेश, अर्थात् ग्राह्यावरण भी नहीं रहता, इसलिए वह और भी अधिक सूक्ष्म है। श्रावक का ज्ञान परोपदेशहेतुक है, अतः पोडशाकार से प्रभावित है, इमीलिए वह गम्भीर है। परन्तु, प्रत्येक-बुद्ध का ज्ञान स्वयवोध रूप है और तन्मयतामात्र से उद्भूत है, अत पूर्व से अधिक गम्भीर है। एक वात और भी है। प्रत्येक-बुद्ध का ग्राह्य-विकल्प परिहृत है, अत वह शब्द-उच्चारण किये विना ही धर्म का उपदेश देते हैं। प्रत्येक-बुद्ध अपने अधिगत ज्ञानादि के सामर्थ्य से दूसरों को कुशलादि में प्रवृत्त करते हैं। उनके साधन को इसलिए अति गम्भीर कहा जाता है कि वह उच्चार-रहित है, अत दूसरे में उसका प्रतिघात सम्भव नहीं है।

तीमरा मम्यक्-सम्बृद्ध का श्रादर्श है। यह श्रव्य श्रादर्श है। इसका भी प्रकार-भेद है। सम्यक्-सम्बृद्ध को ही बृद्ध भगवान् कहते हैं। यह अनुत्तर सम्यक्-सम्बोध-प्राप्त हैं। इनका लक्ष्य ग्रत्यन्त उदार है। कोटि-कोटि जन्मो की तपस्या ग्रीर ग्रशोप विश्व की कल्याण-भावना ही इनका मूलाधार है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के निवृत्त होने से ही बृद्धत्व का लाभ नहीं हो जाता। यह ठीक है कि श्रावक का द्वैत-वोध नहीं छूटता ग्रीर प्रत्येक-बृद्ध का भी पूरा द्वैत-बोध नहीं छूटता, केवल सम्यक्-सम्बृद्ध ही ग्रद्धय-भूमि मे प्रतिष्ठित होते हैं ग्रीर द्वैतभाव से निवृत्त होते हैं। यह भी ठीक है कि ज्ञेयावरण के निवृत्त न होने पर ग्रद्धैतभाव का उदय नहीं होना। पतंजिल ने भी कहा है—ज्ञानस्यानन्त्याम् ज्ञेयमल्पम्, ज्ञान ग्रनन्त होने से ज्ञेय नहीं होना। पतंजिल ने भी कहा है—ज्ञानस्यानन्त्याम् ज्ञेयमल्पम्, ज्ञान ग्रनन्त होने से ज्ञेय

ग्रत्प है। बुद्धावस्था श्रनन्त ज्ञान की श्रवस्था है, इसीलिए श्राचार्यों ने इस ज्ञान को बोधि न कहकर महाबोधि कहा है। इस श्रनन्त ज्ञान के साथ श्रनन्त करुणा भी रहती है। सत्त्वार्थ- किया या परार्थापादन का भाव, यही बुद्धों का बीज है। यही बुद्धत्व-लाभ का प्रधान कारण है। निर्वाण या स्वदु ख-निवृत्ति में लीन न होकर निरन्तर जीव-सेवा में निरत रहना बोधिसत्त्व के जीवन का श्रादर्श है। इसी श्रादर्श को लेकर बोधिसत्त्व बुद्धत्व का लाभ कर सकते है।

महाश्रावक सोपिंध तथा निरुपिंध बोधि का लाभ कर सकते हैं, किन्तु प्रज्ञा में तीव करणा का समावेश नहीं है। इसी से वह ससार से तस्त होते हैं। जो यथार्थ कारुणिक है, वह दु ख-भोग करते घबराते नहीं, क्यों कि उनके दु ख-भोग से दूसरों के दु खो का उपशम होता है। ये महाश्रावक अपने-प्रपने आयुष्य-सस्कार के क्षीण होने के कारण निर्वाण न पाने पर भी प्रदीप-निर्वाणवत् तैं धातुक जन्मों से मुक्त हो जाते हैं, और मरणोत्तर परिशुद्ध बुद्ध-क्षेत्र में, अर्थात् अनास्रव धातु में समाहित होकर कमल के पुट में जन्म लेते हैं। मातृगर्भ में उनका पुन प्रवेश नहीं होता। अमिताभ प्रभृति सम्बुद्ध-सूर्य इस कमलयोनि में समाधिस्थ सत्त्वों को अपनी किरण से अक्लिष्ट तम के नाश के लिए प्रवोधित करते हैं। इस समय यह गतिशील होते हैं और क्रमश बोधि-सम्भार (पुण्य तथा ज्ञान) का सचय करते हुए जगद्गुरु का पद प्राप्त करते हैं। यह सब आगम की बात है।

श्रावक-यान में मुख्य मोक्ष नहीं होता। इसका सद्धमंपुण्डरीक, लकावतार, धर्ममेघसूत्र, नागार्जु न के उपदेश स्रादि में सर्वत्र प्रतिपादन है। इसके लिए ये लोग क्रमश. महायान में स्राकृष्ट होते हैं स्रीर उसमें स्राकर मुक्त हो जाते हैं। श्रावकों का यह विश्वास स्रवश्य है कि उनके सम्प्रदाय में ही बोधि-लाभ करने से निर्वाण प्राप्त हो जाता है, किन्तु, वस्तुत वह निर्वाण नहीं है, विलोक से निर्गम-मात्र होता है। किसी का यह भी कहना है कि एकयान का उपदेश नियत-गोत्र के लिए है। किसी का स्राकर्षण किया जाता है स्रीर किसी का धारण। जो यथार्थ महायानी हैं, वह पहले ही प्रमुदिता भूमि को प्राप्त कर क्रम से अनुत्तर बोधि का साभ करता है।

केवल शुद्ध बोधि से महाबोधि का लाभ नहीं होता, उसके लिए भगवता से योग होना आवश्यक है। पारिमता-सम्भार के पूर्ण न होने तक भगवता का उदय नहीं होता। बोधिसत्त्व चरमजन्म में पारिमता पूर्ण करके भगवान् हो जाते हैं, किन्तु, बुद्ध नहीं होते। कोई भगवता के साथ बुद्ध भी होते है। यही भगवान् बुद्ध हैं। बोधि और भगवता की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ हैं। बोधि की धारा में बुद्धत्व हैं, किन्तु, सम्बुद्धत्व नहीं हैं, क्योंकि दूसरे के प्रति करुणा नहीं हैं, इसलिए महाबोधि भी नहीं हैं। महाबोधि का लाभ तबतक नहीं होगा, जबतक निखिल विश्व को अपना समझकर करुणा-विगलित-भाव से उनकी सेवा न की जाय। सेवाकमं चर्या है, बोधिभाव प्रज्ञा है। एक आश्रय में दोनों के युगपत् अवस्थान से बुद्धत्व और भगवत्ता का अभेद से प्रकाश होता है। यही मानव-जीवन का चरम आदर्श है, यही बुद्ध की भगवत्ता है।

भारतीय संस्कृति का रहस्य यही है। श्रीमद्भागवत में इसी को ब्रह्मत्व एव भगवत्ता कहा गया है—

### वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्त्व तज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

ग्रयांत्, एक ग्रद्धय ज्ञानात्मक तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् कहा जाता है। एक तत्त्व को ही ज्ञान-दृष्टि से ब्रह्म, योग-दृष्टि से परमात्मा, भिवत-दृष्टि से भगवान् कहते हैं। योग कर्मात्मक है—योग कमसु कौशलम्। अत, ज्ञान, कर्म तथा भिवत या भाव इन तीनो का एक में महासमन्वय है। ब्रह्म निर्णुण, नि शक्ति तथा निराकार है। परमात्मा सगुण, सशवित एव ज्ञानाकार है। भगवान् सगुण, सशवित ग्रीर माकार है। तीनो का यह लक्षण-भेद है, किन्तु तीनो एक ही तत्त्व है। भागवत में जो श्रद्धय-ज्ञान उल्लिखित है, उसका विवरण वज्रयान-सम्प्रदाय के श्रद्धयवज्रसिद्धि नामक ग्रन्थ में भी है—

यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाञ्चो नैव दृश्यते । तज्ज्ञानमद्वय नाम सर्वसङ्कलपवर्जितम् ।।

[ चर्चाचर्यविनिश्चय की मस्कृत-टीका मे उद्धृत ]

भागवत में भिक्त का जो स्थान है, वौद्धागम मे करुणा का वही स्थान है। प्रज्ञापार-मिता तथा करुणा के सामरस्य का तात्पर्य यह है—प्रज्ञा के प्रभाव से सास्रव धातुम्रो का म्रातिक्रम है, तथा करुणा के प्रभाव से इनका निर्वाण में प्रवेश नहीं होता, प्रत्युत जगत्-कल्याण के निमित्त ग्रनास्रव धातु में स्थित होती है।

#### प्रज्ञया न भवे स्थान कृपया न शमे स्थिति।

श्रयीत्, प्रज्ञा से ससार का दर्शन नहीं होता श्रीर कृपा में निर्वाण नहीं होता, सत्त्वार्थ-करणरूप पारतन्त्र्य के प्रभाव से वोधिसत्त्व-गण भव या गम किसी में अवस्थान नहीं करते।

#### (3)

पहले पारिमता-नय तथा मन्त्र-नय का उल्लेख किया गया है। बुद्ध से ही दोनो नय प्रवित्तत हुए थे। दोनो का प्रयोजन भी ग्रिभिन्न है। फिर भी, विभिन्न दृष्टिकोणो से मन्त्रशात का प्राधान्य माना जाता है। श्रद्धयवच्च ने लिखा है—

### एकार्थत्वेऽप्यसमोहाद् वहूपायाददुष्करात् । तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्र विशिष्यते ।।

मन्त-नय ग्रत्यन्त गम्भीर एव विशिष्ट है। उच्च कोटि के ग्रधिकार प्राप्त न हो जाने तक इसमे प्रवेश नहीं होता। मृन्त-विज्ञान ग्रतिप्राचीन काल में भारत में प्रचलित था। उमकी तीव्र शक्तिमत्ता के कारण दुरुपयोग की ग्राशका से ग्राचार्यगण मन्त्रमूलक साधना को जनमाधारण के समक्ष प्रकाशित नहीं करते थे। गुप्तभाव से ही इसका ग्रनुष्ठान होता था। प्रथम धर्मचक्रप्रवर्त्तन की वात सर्वप्रसिद्ध है। द्वितीय तथा तृतीय धर्मचक्रप्रवर्त्तन के अधिक प्रसिद्ध न होने पर भी वह अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होता; जैसे आगम के गम्भीर तत्त्वो का उपदेशों, कैलास भ्रादि के शिखर पर या मेरुशृ गादि के उच्च प्रदेश पर शकरादि ग्रुम्ति ने शिष्यरूपा पार्वती आदि को किया था, ठीक उसी प्रकार राजगृह के निकटस्थ गृध्रकूट पर्वत पर बुद्धदेव ने ग्रपने जिज्ञासु भक्तो के समक्ष पारिमता-मार्ग का प्रकाशन किया। गृधिकृट में जिस समय बुद्ध ने समाधि ली, उस उसय उनके देह से दसो दिशायों में तेज नि स्त हुआ और सर्व प्रदेश आलोकित हो उठा। मुँह खोलते ही देखा गया कि उसमें अगणित सुवर्णमय सहस्रदल कमल प्रकाशित हुए है। उनके देह के प्रभाव से लोक के विभिन्न दु.खो का उपशम हो गया। इस उपदेश का विवरण महाप्रज्ञापारिमताशास्त्र मे निबद्ध है। कहा जाता है कि नागार्जुन ने इसकी एक टीका भी लिखी थी। इस ग्रन्थ के विभिन्न सस्करण विभिन्न समय में सकलित हुए थे। कुछ सस्करणो के कुछ श्रशो का भाषान्तर र्भः हुम्रा था । म्रतिप्राचीन काल से ही सर्वदेश मे इसका प्रचार हुम्रा । महायान में शून्यता, करुणा, परार्थ-सेवा प्रभृति विषयों का तथा योगादि का सविशेष वर्णन उपलब्ध होता है। यह प्रज्ञापारिमता वस्तुत. जगन्माता महाशक्तिरूपा महामाया है। महायान-धर्म बोधिसत्त्वो की जननी तो है ही, बुद्धों की भी जननी है। शिव तथा शक्ति में चन्द्र श्रीर चन्द्रिका के समान म्रभेद मम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार बुद्ध भीर प्रज्ञापारमिता का सम्बन्ध है। विश्व के दुख के निर्मोचन-कर्म में वोधिसत्त्वगण इसी जननी की प्रेरणा मे और सामर्थ्य से अग्रसर होते है। पारमिता तथा मन्त्र का यह नय सर्वत्र ही स्वीकृत है। इस महाशक्ति के अनुग्रह के विना लोकार्थ-सम्पादन का कार्य नहीं किया जा सकता।

पारिमता-नय का लक्ष्य बुद्धत्व-लाभ है, श्रौर वही मन्त्र-नय का भी। पारिमता-नय में यवान्तर भेद भी है। इसका यहाँ विशेष वर्णन नही हो सकता। फिर भी, इतना कहा जा सकता है कि घ्यान, घ्यान-फल, वृष्टि, करुणा का स्वरूप तथा विकायविषयक विचारों में दोनों में कही-कही मतभेद है। मायोपम श्रद्धयवाद का लक्ष्य एक विशेष प्रकार का है, किन्तु सर्वधर्मा-प्रतिष्ठानवाद का लक्ष्य उससे कुछ भिन्न है। उभयव पारिमताश्रो की पूर्ति श्रावश्यक है। दोनों ही नयों में साधना के क्षेत्र में योगाचार, श्रर्थात् योगचर्या का प्राधान्य है। किन्तु, दोनों के योग में परस्पर भेद हैं। दोनों यान वोधसत्त्व-यान है। पारिमता-नय में करुणा, मैत्री श्रादि की चर्या प्रधान है। माध्यमिक तथा योगाचार दोनों सम्प्रदायों में पारिमता-नय का समादर था। नागार्जुन का प्रवर्त्तित माध्यमिक-मत कालिक दृष्टि से कुछ प्राचीन है। इसका उद्भव-क्षेत्र वही है, जहाँ मन्त्र-नय का उद्भव माना जाता है। श्रीधान्यकटक नामक यह स्थान दक्षिण में श्रमरावती के निकट है। तान्त्रिक साधना के इतिहास में श्रीशं ल या श्रीपर्वत का नाम ग्रत्यन्त प्रसिद्ध है। यह ज्योतिर्लिंग मिल्लकार्जुन का क्षेत्र है। बौद्ध तान्त्रिक-सम्प्रदाय के विश्वास के श्रन्मार भगवान् बुद्ध ने घान्यकटक में मन्त्र-नय का तृतीय धर्मचक-प्रवर्त्तन किया था। नागार्जुन के कुछ समय वाद श्रसग का काल है। योगाचार-सम्प्रदाय के इतिहास-प्रसिद्ध प्रवर्त्तक ग्रसग ही हैं। यह श्राचार्य वसुवन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। उस समय के महायोगियो में यह प्रसिद्ध थे।

इनके महायानसूत्रालकार में तान्त्रिक प्रभाव प्रतीत होता है। प्रसिद्धि है कि मैत्रेय के उपदेश से असंग का धार्मिक जीवन आमूल परिवर्त्तित हुआ था। वर्त्तमान अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि मैत्रेय एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनका नाम मैत्रेयनाथ था। वस्तुतः, महायान-सूत्रालकार की मूलकारिका इन्हीं की रचित है। वस्तुत , वौद्ध-धर्म पर तन्त्र का प्रभाव ग्रसग से पहले ही पड चुका था। मंजुश्रीमूलकल्प नामक ग्रन्थ का परिचय प्राय सभी को है। इसके श्रतिरिक्त उस समय श्रष्टादश पटलात्मक गुह्यसमाज की भी वहुत प्रसिद्धि थी। परवर्त्ती वौद्ध तान्त्रिक साधना के विकास में गुह्यसमाज का प्रभाव अतुलनीय था। इसपर नागार्जुन, कृष्णा-चार्य लीलावज्र, शान्तिदेव प्रभृति विशिष्ट ग्राचार्यों का भाष्य था। इतना ही नही, परवर्त्ती काल के दीपकर श्रीज्ञान, कुमारकलश, ज्ञानकीर्त्ति, श्रानन्दगर्भ, चन्द्रकीर्त्ति, मन्त्रकलश, ज्ञान-गर्भ तथा दीपकरभद्र प्रभृति वहुसख्यक सिद्ध ग्रीर विद्वान् वौद्ध पण्डितो ने इस ग्रन्थ में उक्त तत्त्वों के विषय में महत्त्वपूर्ण नाना ग्रन्थों की रचना की थी। ग्रसग के छोटे भाई पहले वैभाषिक थे । वाद में ग्रसग के प्रभाव से परिपक्व योगाचारी वन गये थे । ग्रसग गुह्यसमाज के रचयिता थे या नहीं, कहना कठिन है। किन्तु, दोनों में घनिष्ठ सम्वन्द्य श्रवश्य था। प्राचीन शैव तथा शाक्त श्रागमों के सूक्ष्म तथा व्यापक श्रालीचन से ज्ञात होता है कि ग्रसग, नागार्जुन श्रादि श्राचार्य उनके प्रभाव से मुक्त नहीं थे। कामाख्या, जालन्धर, पूर्णगिरि, उड्डीयान, श्रीपर्वत, व्याघ्रपुर प्रभति स्थान तान्त्रिक विद्या के साधन-केन्द्र थे। मातृका-साधन के उपयोगी क्षेत्र भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में फैले हुए थे। मन्त्र-साधन प्राचीन वाग्योग का ही एक विशिष्ट प्रकार-मान्न है।

पहले कहा जा चुका है कि वौद्ध-मत में पारिमता-नय के सदृश मन्त्र-नय के भी प्रवर्त्तक वृद्ध ही है। क्रमण, मन्त्रमार्ग में अवान्तर भेद—वज्यान, कालचक्रयान तथा सहजयान आविर्भूत हुए। इनमें किचित् भेद है, किन्तु वहुत अशो में सादृश्य है। वस्तुतः, सभी मन्त्रमार्ग के ही प्रकार-भेद है। इस दृष्टि में भेद नहीं है। मालूम होता है, एक ही साधन-धारा विभक्त होकर भाव के गुण-प्रधानभाव से विभिन्न रूप में व्याप्त हो गई। पारिमता-नय का प्राय: ममस्त माहित्य विशुद्ध सस्कृत में है, किन्तु मन्त्र-नय का मूल कुछ सस्कृत, कुछ प्राकृत और कुछ अपभ्रश में है। शावर आदि म्लेच्छ भाषाओं में भी मन्त्ररहस्य का व्याख्यान होता है। यह लघुतन्त्रराजटीका विमलप्रभा में है। मन्त्र-नय की तीनो धाराएँ परस्पर मिलती है। वस्तुत, यही वौद्ध-तान्त्रिक धर्म है। यदि महाशक्ति की आराधना ही तान्त्रिक साधना का वैशिष्ट्य माना जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि पारिमता-नय भी तान्त्रिक कोटि में गिना जायगा।

वज्रयान की साधना में मन्त्र का प्राघान्य रहता है। इसी कारण कभी-कभी वज्रयान को मन्त्रयान भी कहते हैं। सहज्यान में मन्त्र के ऊपर जोर नहीं दिया गया है। परन्तु, वज्रयान तथा कालचक्रयान की योग-साधना में मन्त्र का ही प्राधान्य माना जाता है। प्रसिद्धि है कि गीतम वृद्ध के पूर्ववर्ती वृद्ध दीपकर इस मार्ग के त्रादि उपदेष्टा थे। किन्तु, वज्रमार्ग काल-क्रम से लुप्त हो गया, जैसे सुना जाता है कि साख्य 'कालाकं' भक्षित हुआ था, और गीतोक्त योग

दीर्घकाल से लुप्त हो गया था (योगो नष्टः परन्तप)। बाद में कृष्ण ने गीतोक्त योग का पुन प्रवर्तन किया। इसी प्रकार ,वज्रयान का भी प्रवाह विच्छिन्न हो गया था। यह ठीक है कि किसी-किसी स्थान में यह विद्यमान था, इसका ग्राभास मिलता है। किन्तु, जन-चित्त पर उसका प्रभाव नहीं था। उत्तर काल में वज्रयोग के रूप में प्रकट हुग्रा। उसके प्रवंत्तक राजा सुचन्द्र थे। यह एक विशाल राज्य के स्वामी थे। इनकी राजधानी सम्भल-नगरी थी। यह सीता नदी के तट पर थी। कालतन्त्र में इसका विवरण मिलता है। यह राजा सुचन्द्र वज्रपाणि बुद्ध के निर्माण-काय थे। इन्होंने ऊर्ध्व-लोक में जाकर सम्बुद्ध गौतम से ग्रिभिषेक-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये थे। उनके प्रश्न से प्रसन्न होकर गौतम ने श्रीधान्यकटक में एक सभा का ग्राह्मान किया। जगत् में किसी नवीन मत के प्रचार के लिए प्राय ऐसा ही हुग्रा करता है। इसके पहले गृधकट पर सभा हुई थी ग्रीर उस समय मन्त्रमार्ग का उपदेश हुग्रा था।

अधिकार-सम्पत्ति ग्रन्छी न रहने पर वज्जयान में प्रवेश नहीं होता। पारिमता-नय का साधन नीति तथा चर्या की शुद्धि पर प्रतिष्ठित हुग्रा था, किन्तु मन्त्र-नय की साधना ग्राध्यारिमक योग्यता पर निर्भर थी।

पारिमता-नय का विश्लेषण सौद्रान्तिक दृष्टि से होता है, किन्तु मन्द्र-नय का व्याख्यान योगाचार तथा माध्यमिक दृष्टि से ही हो सकता है। सौद्रान्तिक बाह्यार्थ को ग्रनुमेय मानते हैं, उनके मत में उसका कभी प्रत्यक्ष नही हो सकता है। माध्यमिक विज्ञान को भी नही मानते। इसी से समझ मे ग्राता है कि मन्द्र-साधना का ग्रिधकार प्राप्त करने के लिए दृष्टि का कितना प्रसार तथा उत्कर्ष होना चाहिए।

( q• )

मन्त्र-यान का लक्ष्य वज्रयोग-सिद्धि है। जवनक साधक का ग्राधार या क्षेत्र योग्य नहीं होता, तबतक इसका साधन नहीं किया जा सकता। पूर्णता के मार्ग में ग्रागे बढ़ने के लिए यहीं योग श्रेष्ठ है। इस महामार्ग के चार स्तर हैं। एक स्तर में पूर्ण योग का एक-एक रूप ग्रावरण से उन्मुक्त होता है। चारो स्तर के साधन में पूर्णता-लाभ करने पर योग पूर्ण हो जाता है। प्रत्येक स्तर में योग-लाभ से पहले विमोक्ष-लाभ करना पड़ता है। विमोक्ष-लाभ का उद्देश्य कल्पनादिक से तथा ग्रावर्जनाग्रो से मुक्त होना है। ध्यान से विमोक्ष की प्राप्ति होती है, ग्रौर विमोक्ष से योग सिद्ध होता है। चार स्तरों के कारण विमोक्ष भी चार प्रकार के हैं— गून्यता, ग्रानिमत्त, ग्राप्रणिहित ग्रौर ग्रानिभसस्कार। प्रत्येक योग में विमोक्ष के प्रभाव से एक-एक ग्रावत का विकास होता है, ग्रार्थात एक-एक वज्रयोग से एक-एक प्रकार की शक्ति पूर्ण होती है। शक्ति के पूर्ण विकास हो जाने पर वज्रभाव का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से ग्राप्ती सत्ता का चार भागों में विभाग किया जाता है—काय, वाक्, चित्त ग्रौर ज्ञान। प्रथम वज्रयोग में 'कायवज्रभाव' का उदय होता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ ग्रवस्थाग्रो का भी उदय होता है। जिसे कायवज्र कहा गया है, वह एक दृष्टि से स्थूल जगत् की पूर्णता है। श्रीप तीन भी इसी प्रकार के हैं। ये चारो समष्टि-रूप हैं।

पहले वज्रयोग का नाम विशुद्ध-योग है। इसके लिए णून्यता नाम का विमोक्ष प्राप्त करना पडता है। शून्यता शब्द से स्वभावहीनता समझनी चाहिए। शून्यता अतीत और अनागत ज्ञेयो से शून्य है। इसका दर्शन शून्यता है। यह गम्भीर और उदार है। गम्भीर इस लिए कि अतीत और अनागत नही है। उदार इसलिए कि अतीत और अनागत का दर्शन है। जिम ज्ञान में इम शून्यता का ग्रहण होता है, वही शून्यता-विमोक्ष है। इसे प्राप्त करने पर तुरीय अवस्था का क्षय हो जाता है, और अक्षर महासुख का उदय होता है। करणा का लक्षण ज्ञानवज्र है। इसी का नामान्तर सहजकाय है, जो प्रज्ञा और उपाय की साम्यावस्था है। इसी का नामान्तर विशुद्ध योग है।

द्वितीय योग का नाम धर्मयोग है। इसके लिए जिस विमोक्ष की अपेक्षा है, उसे अनिमिन्न कहा जाता है। वुद्ध, बोधि प्रभृति विकल्पमय चित्त ही निमित्त है। जिस ज्ञान में इस प्रकार का विकल्प-चित्त नही होता, उसे ही अनिमित्त-विमोक्ष कहते हैं। इसे प्राप्त कर लेने पर मृपुप्ति-दशा का क्षय हो जाता है। नित्य-अनित्यादि द्वय से रहित मैत्रीरूप चित्त उदित होता है। यह चित्त-वज्य-धर्मकाय नाम में प्रमिद्ध है। यह दो कार्यों का स्फुरण है। वस्तुतः, यह जगत् के कल्याण-साधक निविकल्पक चित्त से भिन्न और कुछ नहीं है। यह योग भी प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य है। चित्त-वज्य ही ज्ञानकाय नाम से प्रसिद्ध है।

तृतीय योग का नाम मन्त्रयोग है। इसके लिए ग्रप्रणिहित नाम का विमोक्ष ग्रावश्यक है। निमित्त के ग्रभाव में तर्क का ग्रभाव होता है। वितर्क-चित्त के ग्रभाव से प्रणिधान का उदय नहीं होता, इसलिए यह ग्रप्रणिहित है। ग्रप्रणिधान शब्द से 'मैं सम्बुद्ध हूँ' ग्रादि ग्राकार का भाव समझा जाता है। इस प्रकार के विमोक्ष से स्वप्न-क्षय होता है ग्रीर भीतर से ग्रनाहत ध्विन सुन पड़ती है। यही मन्त्र या सर्वत्त्वभूतरुत नाम से प्रमिद्ध है। मृदिता इसी का नामान्तर है। सर्वसत्त्वरुत से तात्पर्य मन्त्र द्वारा सर्वसत्त्वों में मोदन (ग्रानन्द) का सचार करना है। यही मृदिता का तात्पर्य है। मन का वाण हो जाता है, यही मन्त्र का उपयोग है। यही वाग्वज्ञ या सम्भोग-काय है। प्रज्ञा ग्रीर उपाय का सामरस्य ही मन्त्रयोग है। यह सूर्य-स्वरूप है।

चतुर्य योग का नाम सस्यान-योग है। इसके लिए श्रनिभसस्कार नाम का विमोक्ष स्रिपेक्षित है। प्रणिद्यान न रहने से अभिसस्कार नही रहता। श्वेत-रक्त-प्राणायाम, विज्ञान से श्रिभसस्कार हैं। इस विमोक्ष के प्रभाव से विशुद्धि होती हैं। उससे जाग्रत् श्रवस्था का क्षय होता है, श्रौर श्रनन्त-श्रनन्त निर्माण-कायो का स्फुरण होता है। इससे उपेक्षारूप कायवज्य का लाभ होता है। रौद्र, शान्तादि रूपो से इसका साकर्य नही है। निर्माण-काय या प्रज्ञोपाय का सामरस्य ही सस्थान-योग का रूप है। यह 'कमल-नयन' नाम से प्रमिद्ध है।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि चार योगों से चार अवस्थाओं का अतिक्रम होता है। वज्योग का मुख्य फल पूर्ण निर्मलत्त्व स्वच्छत्व या आयत्त करना है। तुरीय प्रभृति चार अवस्थाओं में किसी-न-किसी प्रकार का मल है। जवतक इन मलों का सशोधन न हो, तवतक पूर्णत्व-लाभ नहीं हो सकता। तुरीय के मल से अभिप्राय रागविशिष्ट इन्द्रिय-द्वय से है। सुपुष्ति

का मल तम ग्रीर स्वप्न का मल श्वास-प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास का ग्रभिप्राय प्राणोत्पादादि तथा सत्, ग्रसत् ग्रीर विकल्प से है। जाग्रत् का मल है सज्ञा, ग्रर्थात् देह-बोध।

तान्त्रिक योगियो का कहना है कि वैदिक योग से मलो की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती। किन्तु, तान्त्रिक किया के प्रभाव से मल रह ही नहीं सकता। इस मत में वस्तुमात्र ही शून्य, अर्थात् नि स्वभाव है। श्रतीत नहीं है श्रौर ग्रनागत भी नहीं है, यह जानकर ध्यान करने से मनोभाव शून्यात्मक होता है। यह ग्रत्यन्त गम्भीर है, श्रौर देशकालादि से श्रपरिच्छिन्न है। इसके श्राधार पर जिस ज्ञान की प्रतिष्ठा है, उसी का नाम शून्यता-विमोक्ष है। इसके प्रभाव से मोहनाशक निविकार ग्रानन्द की ग्रभिच्यक्ति होती है। विश्व-करुणा से युक्त ज्ञान शुद्ध होता है। इसी का नाम सहज-काय है ग्रौर इसी का नामान्तर विशुद्ध-काय भी है।

ऊपर चार वज्रयोगों का जो सिक्षप्त विवरण दिया गया है, वह गुह्यसमाज ग्रीर विमल-प्रभादि ग्रन्थों के ग्राधार पर है। चैतन्य को ग्रावर ग से मुक्त करणा ही योग का उद्देश्य है। एक-एक वज्रयोगरूप चैतन्य से एक-एक ग्रावरण का उन्मीलन होता है। इससे समग्र विश्व-दर्शन का एक-एक ग्रग खुल जाता है। इसका परिभाषिक नाम ग्रिभसम्बोधि है। चार योगों से चार प्रकार की ग्रिभसम्बोधि उदित होती है, ग्रीर पूर्णता की प्राप्ति के श्रन्तराय दूर हो जाते है।

इस सम्बोधि का श्रालोचन दो तरह से किया जा सकता है——१ उत्पत्ति-ऋम तथा २. उत्पन्त-ऋम। वैदिक धारा की साधना मे भी इन दोनो का परिचय मिलता है किन्तु, दोनो के प्रकार भिन्न है। सृष्टि-ऋम और सहार-ऋम अथवा अवरोह-ऋम और आरोह-ऋम का अवलम्बन किये विना सम्यक् रूपेण विश्वदर्शन नहीं किया जा सकता। श्रीचऋ-लेखन की प्रणाली मे केन्द्र से परिधि की तरफ या परिधि से केन्द्र की तरफ जैसे गति हो सकती है, अथ च दोनो मे तत्त्व-दृष्टि तथा कार्य-दृष्टि से भेद है, ठीक उसी प्रकार उत्पत्ति-ऋम से उत्पन्न-ऋम का भी भेद है।

उत्पत्ति-क्रम में चार सम्बोधियों को इस क्रम से समझना चाहिए। सबसे पहले है, एक-क्षण-अभिसम्बोधि। यह स्वामाविक या सहजकाय से सिक्लिंग्ट है। जन्मोन्मुख ग्रालयविज्ञान जिस समय मातृगर्भ में माता और पिता के समरसीभृत बिन्दु-द्वय के साथ एकत्व-लाभ करता है, वह एक महाक्षण है। इस क्षण में जो सुख-सिवित्त होती है, उसका नाम एकक्षण-सम्बोधि है। उस समय गर्भस्थ काया रोहित मत्स्य के सदृश एकाकार रहती है। उसमे ग्रग-प्रत्यंग का विभाग नहीं रहता।

इसके वाद पचाकार-सम्बोधि होती है। पहले की काया सहज-काय से सिक्लिष्ट थी, किन्तु यह काया धर्म-काय से सिक्लिष्ट है। मातृगर्भ में जब रूपादि वासनात्मक पाँच सिवित्तियाँ होती हैं, तव वह ग्राकारकूर्मवत् पचस्फोटक से विशिष्ट होती है। यह पचाकार-महासम्बोधि की प्रवस्था है।

तदनन्तर, उक्त पचज्ञान में से प्रत्येक ज्ञान पचधातु, पच इन्द्रिय तथा पच आयतनो के वासना-भेद से वीस प्रकार का है। काय भी वीस अगुलियो से परिपूर्ण होता है। वह विशत्याकार-सम्बोधि है। इसका सम्बन्ध सम्भोग-काय के साथ है। यहाँतक का विकास मातृगर्भ में होता है।

इसके वाद गर्भ से निष्क्रमण, अर्थात् प्रसव होता है। उसी समय मायाजाल के सदृश श्रनन्त भावो की सवित्तियाँ होती हैं। ज्ञान में विशति भेदो के स्थान पर श्रनन्त प्रकार के भेदो का स्फुरण होता है। इसका नाम मायाजाल-श्रभिसम्बोधि है। यह निर्माण-काय से सिश्लिष्ट है।

सायाजाल के ज्ञान के उदय होने पर ही समझ लेना चाहिए कि उत्पत्ति-क्रम समाप्त हो गया। परमशुद्ध सत्ता से मायाराज्य में अवतरण का यही इतिहास है। वस्तुत, माया-गर्भ में ही रचना होती है। काल-तत्त्व का भी यही रहस्य है। शुक्ल-विन्दु तथा रक्त-विन्दु नाम के दो कारण-विन्दु कार्य-विन्दु के रूप में परिणत होते हैं। ग्रागे की सृष्टि इस कार्य-विन्दु का ही क्रम-विकास है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आनन्द-ही-आनन्द है। इसका नाम केवल सुखसवित्ति है। उपनिषद् में भी आनन्दाव्घ्येव खिल्वमानि भूतानि जायन्ते के द्वारा यही कहा गया है। वह वस्तुत महाक्षण की स्थिति है। सृष्टि में मायाजाल के अनन्त नाग-पाश का विस्तार है। आनन्द टूटता है, और नाना प्रकार के दुखों का आविर्माव होता है। इस प्रत्यावर्त्तन-काल में माया को छिन्न कर पुन. उस एक महाक्षण में लौटना पडता है। निर्माण-काय से सहज-काय तक का आरोहण होता है। प्रत्यावर्त्तन की घारा में एकक्षण-सम्वोधि को अन्तिम विकास माना जाता है। वस्तुत, इसी क्षण में विश्वातीत महाशक्ति अवतीर्ण होती है, और लौटती भी है। योमी गर्भाघान-क्षण को ही उत्पत्ति-क्षण मानते हैं, परन्तु, अयोगी की दृष्टि में गर्भ से निष्क्रमण-क्षण या नाडीच्छेद-क्षण ही उत्पत्ति-क्षण है। उसी क्षण में माया, अर्थात् वैष्णवी माया का स्पर्ण होता है।

इसके वाद ही म्वास-प्रश्वास की किया प्रारंभ होती है। देहरचना के मूल में है क्षर-विन्दु ग्रथवा ग्रालय-विज्ञान। यह ग्रशुद्ध विज्ञान है। यही जन्म लेता है। दो कार्य-विन्दु एक साथ रहकर देह-रचना करते हैं।

उत्पन्न-क्रम वस्तुत. ग्रारोह-क्रम है। एक दृष्टि से इसे सहार-क्रम कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से इसे ही सृष्टि-क्रम भी कह सकते हैं। जैसे माया से ब्रह्म में स्थिति-लाभ करना एक घारा है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मावस्था का भी एक विकास-व्यापार है। इससे परमात्मा तथा भगवान्-पर्यन्त भावो की व्यजना होती है। प्रकृत में भी प्राय ऐमा ही समझना चाहिए। माया के प्रभाव से प्रति दिन २१ हजार ६ सौ श्वाम-प्रश्वासो की क्रिया होती है। प्रत्यावर्त्तन की ग्रवस्था में भी ठीक उसी प्रकार एकक्षण-ग्रिमसम्बोधि की ग्रवस्था होती है। इस ग्रवस्था में प्राणवायु शान्त होती है। इसीलिए, चित्त महाप्राण में स्थिर होता है, ग्रीर स्यूल इन्द्रियो की क्रिया नहीं रहती। इस ग्रवस्था में दिव्य इन्द्रियो का उदय होता है। स्यूल-

देहाभिमान नही रहता। दिव्य देह का ग्राविर्भाव होता है। इस समय एक ही क्षण में विश्व-दर्शन हो जाता है—ददर्श निखिल लोकमादर्श इव निर्मले। यह ज्ञान वज्रयोग है, ग्रीर स्वभाव-काय की भ्रवस्था है।

क्षरिबन्दु की देहरचनात्मक सृष्टि बताई गई है। ग्रक्षर या ग्रच्युतिबन्दु की सृष्टि विशुद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक है। यह एकक्षणाभिसम्बुद्ध स्थिति ही सर्वार्थदर्शी वज्रसत्त्व की स्थिति समझनी चाहिए। इस स्थिति में श्वास-चक्र की क्रिया नही रहती। इस महाक्षण को ही बुद्ध का जन्म-क्षण कहा जाता है। मनुष्यमात्र ही बुद्धत्व या प्णंत्व का लाभ इसी महाक्षण में करते हैं। इसी का नाम दितीय जन्म है। मूलतन्त्र में कहा गया है—जन्मस्थानं जिनेन्द्राणा-मेकस्मिन् समयेऽक्षरे। यह स्वभाव-काय की ग्रवस्था है।

इसके बाद चित्तव जयोग होता है। पहले जो व ज्यसत्त्व थे, वही महासत्त्व के रूप में प्रकट होते हैं। उस समय परम अक्षर-सुख का अनुभव होता है। इसका नाम पचाकार अभि-सम्बोधि है। आदर्श-ज्ञान, समता-ज्ञान, प्रत्यवेक्षण-ज्ञान, कृत्यानुष्ठान-ज्ञान और पूर्ण विशुद्ध धर्मधातु का ज्ञान ये ही मुख्य ज्ञान हैं। द्रव्यादि पचधातु और रूपादि पचस्कन्ध ये दोनो प्रज्ञा और उपायात्मक हैं। ये पचमण्डल निरोध-स्वभाव हैं। यह धर्म और काल की अवस्था है। इस समय ख्वास-चक्र पुन कर्म मे प्रवित्तित होता है।

जब सम्भोग-काय की ग्रिभ व्यक्ति होती है, तब वाग्वज्ररूप से उसका निरूपण किया जा सकता है। यह महासत्त्व है, इसी का परिणाम है बोधिसत्त्व। यह द्वादशाकार सत्त्वार्थ बोधिसत्त्वो का ग्रनुग्राहक है। यह सर्वसत्त्वरूत के द्वारा धर्म-देशना करते हैं। यह विशत्याकार ग्रिभस्कार की दशा है। इसमें ५ इन्द्रिय, ५ विषय, ५ कर्मेन्द्रिय ग्रीर निरावरण लक्षण द्वादश सक्रान्तियां है।

मबके अन्त में कायवज्र-योग का निरूपण होता है। यह निर्माण-काय है। समय-सत्त्व षोडशाकार तत्त्ववेदनों के कारण अनुग्राहक है। अनन्त मायाजालों से काय का स्फुरण होता है। यहाँ की समाधि भी मायाजाल अभिसम्बोधि है। इस अवस्था में एक ही समय में अनन्त तथा अपर्यन्त नाना प्रकार की माया के निर्माणलक्षण षोडश आनन्दमय विन्दु का निरोध है।

इस समय प्रसगत. ग्रानन्द के रहस्य के सम्बन्ध में दो-चार बार्ते कहना ग्रावश्यक है। स्थूल दृष्टि से ग्रानन्द के चार भेद हैं—१. ग्रानन्द, २. परमानन्द, ३. विरमानन्द, ४. सहजानन्द। जिस समय काम के द्वारा मन में क्षोभ होता है, वही समय ग्रानन्द के उद्गम का है। वस्तुत, यह भाव का ही विकास है। शक्ति की ग्राभिव्यक्ति से इसका ग्राविर्भाव होता है। इसके बाद जब ग्राभिब्यक्ति-शक्ति के साथ मिलन का पूर्णत्व सिद्ध होता है, तव वोधि-चित्त भी पूर्ण ो जाता है। इस पूर्णत्व का स्थान ललाट है। इस ग्रानन्द का नाम परमानन्द है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि वौद्ध तान्त्रिक परिभाषा में शरीर का साराश विन्दु ही वोधि-चित्त नाम से अभिहित होता है। उत्तमाग से वोधि-विन्दु का क्षरण होता है। यही अमृत-क्षरण है। उस अवस्था को ज्वाला-अवस्था कहते हैं। यह विरमानन्द है। इसके बाद वाक् तथा चित्त-विन्दु के अवसान में जब चतुर्विन्दु का निर्गम होता है, उस काल में सहजानन्द का आविर्माव होता है।

योगी कहते हैं कि प्रत्येक पक्ष मे प्रतिपत् मे पचमी-पर्यन्त तिथियाँ जो चन्द्रमा की कलाएँ है, वे आकाशादि पचभूत के स्वरूप हैं। इन्ही का नाम नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता तथा पूर्णा है। इनके प्रतीक स्वरादि वर्ण है। इन पाँचो मे आनन्द पूर्ण होता है। पष्ठी से दशमी तक की तिथियाँ भी पूर्ववत् आकाशादि पचभूत के स्वरूप हैं। इनमें परमानन्द पूर्ण रहता है। एकादशी से पूर्णिमा तक भी आकाशादि पचभूत रूप ही हैं। ये विरमानन्द से पूर्ण रहती हैं। इस प्रकार, आनन्द, परमानन्द तथा विरमानन्द की साम्यावस्था पोडशी कला है। इसी का नाम महजानन्द है। इसमें सब धातुओं का समाहार होता है। प्रत्येक आनन्द में जायत्, स्वदन, सुपुष्ति और तुरीय के भेद से काय, वाक्, चित्त तथा ज्ञान के योग से चार प्रकार के योग उदित होते हैं। कायानन्द, वागानन्दादि प्रत्येक आनन्द से सिक्षण्ट योग भी चार प्रकार के हैं। इस प्रकार, चार वज्ययोग ही पोडश योग में परिणत होते हैं। इन सोलहो के नाम पृथक्-पृथक् हैं। पहले का नाम काम है। अन्तिम का नाम नाद है।

#### (99)

तान्त्रिक उपासना शक्ति की उपासना है। वौद्धो की दृष्टि से प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इसी का प्रतीक विकोण है। इसमें विशुद्ध छ धातु विद्यमान हैं। इसीलिए इनके छ गुण प्रसिद्ध हैं—ऐश्वर्य, समग्रत्व, रूप, यश, श्री, ज्ञान तथा अर्थवत्ता। यथा वैष्णव चतुव्यू ह के प्रसग मे भगवत्-स्वरूप, अर्थात् वासुदेव का पाड्गुण्य विग्रह मानते है, श्रीर सकर्षणादि तीन व्यूह मे प्रत्येक का द्विगुण विग्रह मानते है। वही प्रकार वौद्धागम एव वौद्धेतर शैन, शाक्तागम मे भी है। शक्ति के प्रतीक त्रिकोण के तीन कोणो मे तीन विन्दु हैं। केन्द्र मे मध्यविन्दु हैं, जिसमे तीनो का समाहार होता है। कोण के प्रतिविन्दु मे दो गुण माने जाते है। इसीलिए, समिट पड्गुण होता है। शाक्तों के चतुष्पीठ का मूल भी यही है। ग्रस्तु, यह त्रिकोण क्लेश, मार प्रभृति का भजन करनेवाला है, ग्रत 'भग' नाम से प्रसिद्ध है। हेवच्यतन्त्र मे प्रज्ञा को भग कहा गया है। इसका नाम वच्चधर-धातु महामण्डल है। यह महासुख का ग्रावास है। यह एकार' या धर्म-धातु पदवाच्य है। यह ग्रजड, स्वच्छ ग्राकाश के सदृश है और ग्रनवकाश एव प्रकाश-मय है। वज्ञालय या वच्चासन इसी का नामान्तर है। यह ग्रखण्ड, ग्रपरिमित, ग्रनन्त प्रकाशमय है। इसको सिहासन वनाकर जो ग्रामीन होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है। उन्हें ही महाशक्ति का ग्राधिष्ठाता कहते हैं।

वीद्धेतर ग्रागम-शास्त्रों में 'ए' कार शक्ति का प्रतीक है। यह विकोण है। ग्रनुत्तर पर स्पन्द 'ग्र' है, उच्छिलित ग्रानन्द 'ग्रा' ग्रनुत्तर है, चित् तथा ग्रानन्द-चित् इच्छा-रूप 'इ' में नियोजित होकर त्रिकोण की रचना करते हैं। इसी का नाम 'ए' कार है। यह विसर्गानन्दमय सुन्दर रूप मे वर्णित होता है (स्मरण रहे कि अशोक की ब्राह्मी लिपि मे भी 'ए' कार त्रिकोणा-कार ही है)।

# त्रिकोणमेकादशक विह्निगेहं च योनिकम् । शृंङ्गाटं चैव 'ए'कारनामभि परिकीर्त्तितम् ।।

इच्छा, ज्ञान तथा किया ये तीनो त्रिकोण के रूप मे परिणत होते है। विसर्गरूप परशक्ति के ग्रानन्दोदय-क्रम से लेकर क्रियाशक्ति-पर्यन्त रूप ये त्रिकोण ही उल्लिसित होते हैं। यहाँ की शक्ति नित्योदिता है, इसीलिए यह परमानन्दमय है। इस योगिनी जन्माधार क्रिकोण से कुटिलरूपा कुण्डलिनी शक्ति प्रकट होती है —

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्यं गुप्तमण्डलम्। इच्छा-ज्ञान-त्रिया-कोण तन्मध्ये चिञ्चनीत्रमम्।।

बौद्धो का सिद्धान्त भी ऐसा ही है ---

'ए'काराकृति यद्दिव्य मध्ये 'वं'कारभूषितम् । स्रालय सर्वसौख्याना वोधरत्नकरण्डकम् ।।

बाहर दिव्य 'ए'कार है। त्रिकोण के मध्य मे 'व'कार है। इसके मध्य बिन्दु मे सर्वसुख का ग्रालय बुद्धरत्न निहित रहता है। यह प्रज्ञा ही रत्नत्रय के ग्रन्तर्गत धर्म है। इसलिए, 'ए'कार को धर्म-धातु कहते हैं। बुद्धरत्न इस त्रिकोण के भीतर या षट्कोए। के भी मध्य-बिन्दु मे प्रच्छन्न है।

तान्त्रिक-बौद्ध जिसे मुद्रा कहते हैं, वह शक्ति की ही अभिव्यक्ति या बाह्य रूप है।
मुद्रा के चार प्रकार हैं— कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा। गुरुकरण के बाद
माधना के लिए शिष्य को प्रज्ञा ग्रहण करनी पड़ती है। प्रज्ञा ही मुद्रा या नायिका है। यह
एक प्रकार से विवाह का ही व्यापार है। इसके बाद अभिषेक की किया होती है। तदनन्तर,
माधक तथा मुद्रा दोनों का मण्डल में प्रवेश होता है तथा योगिकिया का ग्रनुष्ठान होता है। इस
समय ग्रान्तर तथा बाह्य विक्षेप दूर करने के लिए समन्त्रक किया की जाती है। इसके बाद वोधिचित्त का उत्पाद ग्रावश्यक होता है। प्रज्ञा तथा उपाय के योग से, ग्रर्थात् साधक तथा मुद्रा के
सम्बन्ध से बोधिचित्त का उद्भव होता है। इस उत्पन्न बोधिचित्त को निर्माणचक्र मे, ग्रर्थात्
नाभिप्रदेश में धारण करना पड़ता है। यह किया ग्रत्यन्त कठिन है, क्योंकि स्खलन होने पर
योगप्रष्ठट होने की सम्भावना है ग्रीर नरक-गित निश्चित है। नाभि में इस बिन्दु को स्थिर न कर
मकने से सदसदात्मक द्वन्द्व का बन्धन ग्रनिवार्य है। मन की चचलता तथा प्राण की चचलता
विन्दु की चचलता के ग्रधीन है। चचल बिन्दु ही सवृति वोधिचित्त है। बिन्दु स्थिर हो
जाने पर उसकी ठर्ध्वंगित हो सकती है, ग्रन्त में उष्णीष-कमल मे, ग्रर्थात् सहस्रदल कमल मे
महाबिन्दुस्थान में जाने पर मुक्ति या नित्य ग्रानन्द का ग्राविर्माव होता है। बिन्दु की स्थिरता

ही ब्रह्मचर्यानुष्ठान का फल है। बिन्दु के स्थिर हो जाने पर योग-किया के द्वारा क्षीभण उसमें स्पन्दन कराया जाता है। वैदिक सिद्धि के बाद विवाहोत्तर गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' का भी यही ग्रिभिप्राय है। उसके बाद उममे क्रमण ऊर्घ्वगित होती है। इस गित की निवृत्ति ही महासुख का श्रिभव्यजक है।

कर्ममुद्रा प्रारम्भिक है। कर्मपद का वाच्य है काय, वाक् तथा चित्त की चिन्तादिरूप किया। इस मुद्रा के अधिकार मे क्षण के भेद से चार प्रकार के आनन्दो की अभिव्यक्ति होती है। इनके कम के विषय मे अद्वयवच्च के अनुसार तृतीय का नाम सहजानन्द और चतुर्थ का विरमा-नन्द है। यह कम इसलिए है कि परम और विराम के मध्य मे लक्ष्य-दर्शन होता है। चार क्षणो के नाम हैं---विचित्र, विपाक, विलक्षण ग्रीर विमर्द । धर्ममुद्रा धर्मधातु-स्वरूप है । यह निष्प्रपच, निर्विकल्प, अकृतिम, अनादि अथ च करुणास्वभाव है। यह प्रवाहेण नित्य है, इसलिए सहज स्वभाव है । धर्ममुद्रा की स्थिति मे अज्ञान या भ्रान्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है । साधारण योग-साहित्य मे देहस्थित वाम नाडी तथा दक्षिण नाडी को ग्रावर्त्तमय मानकर सरल मध्य नाडी को, अर्थात स्प्रणा या ब्रह्मनाडी को योग या ज्ञान का मार्ग माना जाता है। आगमिक बौद्ध साहित्य मे ठीक इसी प्रकार ललना तथा रसना नाम से पार्श्ववर्ती नाडीद्वय को प्रज्ञा श्रौर उगायरूप माना है, श्रीर मध्य नाडी को अवधूती कहा है। अवधूती का नामान्तर धर्ममुद्रा है। तथता के अवतरण के लिए यही सनिकृष्ट कारण है, अतः यही मार्ग है। मध्यमा प्रतिपत् यही है। श्रादर के सहित निरन्तर इसके श्रभ्यास से निरोध का साक्षात्कार होता है। हान श्रीर उपादान-वर्जित जो स्वरूपदर्शन है, वही सत्य-दर्शन है । इस मध्यमार्ग मे ज्ञनान्तर्वर्ती ग्राह्म तथा ग्राहक-विकल्प छूट जाते हैं। तृतीय मुद्रा का नाम महामुद्रा है। यह नि स्वभाव है, श्रीर सर्व प्रकार के ग्रावरणो से वर्जित है मध्याह्न गगन के सदृश निर्मल ग्रौर ग्रत्यन्त स्वच्छ है। सर्वसम्पत् का आधार है। एक प्रकार से यह निर्वाण-स्वरूप ही है। यहाँ ग्रकन्पित संकल्प का उदय होता है । यह अप्रतिष्ठित मानस की स्थिति है। यह पूर्ण निरालम्ब अवस्था है। इसे ग्रस्मृत्यमनसिकार नाम से वर्णन करते हैं। इसका फल समय-मुद्रा या चतुर्थ मुद्रा है। यह समय अचिन्त्य-स्वरूप है। इस अवस्था मे जगत्-कल्याण के लिए स्वच्छ एवं विशिष्ट सम्भोग-काय तथा निर्माणकाय-स्वभाव होकर वज्रधर के रूप में इसका स्फुरण होता है। इस विद्व-कल्याणकारी रूप को तिव्वती बौद्ध 'हेरक' नाम देते हैं। आचार्यगण इस मुद्रा को ग्रहण कर चक्राकार मे पाँच प्रकार के ज्ञान की पाँच प्रकार से परिकल्पना करके भ्रादर्श-ज्ञान, समता-ज्ञान म्रादि का प्रकाश करते हैं।

( 97 )

श्रिभिषेक के विषय में कुछ न कहने से योग-साधन का विवरण श्रसम्पूर्ण ही रहेगा। श्रतः, इस विषय में भी सक्षेप से कुछ कहा जा रहा है। वज्ययान के अनुसार श्रिभिषेक सात प्रकार के हैं। यथा उदकाभिषेक, मुकुटाभिषेक, पट्टाभिषेक, वज्रघण्टाभिषेक, वज्रव्रताभिषेक, नामा-

भिषेक भ्रौर मनुज्ञाभिषेक। इसमें पहले दो देह-शुद्धि के लिए हैं। तृतीय भ्रौर चतुर्थ से वाक्-शुद्धि होती हैं। पचम ग्रौर पष्ठ से चित्त-शुद्धि होती है। सप्तम से ज्ञान-शुद्धि होती है। अभिषेक के सम्बन्ध मे बाह्य विवरण वज्जयान के बहुत-से ग्रन्थों में है। उसकी यहाँ चर्चा ग्रना-वर्यक है। देह पचधातुमय है। उष्णीष से लेकर कटिसन्धि तक पच जन्म-स्थानो मे यथाविधि समन्त्रक स्रभिषेक के द्वारा पचधातुत्रों की शुद्धि की जाती है। इससे काय शुद्ध हो जाता है। इसी का नाम उदकाभिषेक है। मुकुटाभिषेक से पचस्कन्ध या पचतथागत की शुद्धि होती है। इस प्रकार, प्रथम तथा द्वितीय से धातु तथा स्कन्धो के निर्मल हो जाने के कारण काय की सम्यक् शुद्धि हो जाती है। पट्टाभिषेक स्रौर वज्रघण्टाभिषेक के द्वारा दस पारमितास्रो की पूर्ति होती है। इससे चन्द्र श्रीर सूर्य का शोधन होता है। पचम से रूपादि विषय तथा चक्षुराद्रि इन्द्रियो का शोधन होता है। इससे प्राकृत विषयो के नियन्त्रण तथा महामुद्रा की सिद्धि मे सहायता मिलती है। षष्ठ से राग-द्वेष का शोधन होता है श्रीर मैंती म्रादि ब्रह्मविहारो की पूर्त्ति होती हैं। षण्ठाभिषेक के बाद की म्रवस्था का 'वज्न' शब्द से अभिधान होता है। सप्तम अभिषेक धर्मचक्रप्रवर्त्तन के लिए या बुद्धत्व-लाभ के लिए है। अपरिमित सत्त्वो के भ्राशय के भ्रनुसार परमगुह्य वज्जयान के रहस्य का उपदेश करने के लिए सवृतिसत्य तथा परमार्थसत्य का विभाग किया जाता है। इस प्रकार से बुद्धत्व के निष्पादन के लिए सप्तम अभिषेक का उपयोग है। इन सात अभिषेको से शिष्य के कायादि चार वज्र शुद्ध हो जाते हैं। उस समय उनके हाथ मे धारण करने के लिए वज्र या वज्रघण्टा होता है। स्रिभिषेक के सवृति तथा परमार्थ दो रूप है। सवृति भी दो प्रकार की है—लोक-सवृति तथा योगी-सवृति । लोक-सवृति को अधर-सवृति तथा योगी-सवृति को उत्तर-संवृति कहा जाता है। पहले उदकादि सप्त सेको का नाम कहा गया है। ये लौकिक सिद्धि के सोपान हैं। ये सब पूर्वसेक हैं, उत्तरसेक नही। योगी-सवृतिरूप सेक कुम्भादि तीन प्रकार के है--कुम्भाभिषेक या कलशाभिषेक, गृह्याभिषेक ग्रीर प्रज्ञाभिषेक। ये उत्तरसेक लोकोत्तर सिद्धियों के मूल हैं। यद्यपि ये सावृत है, फिर भी परमार्थ के अनुकूल हैं। परमार्थ सेक ही श्रनुत्तर सेक है। पूर्वसेक के लिए मुद्रा आवश्यक नही है। उत्तरसेक के लिए मुद्रा श्रावश्यक है। श्रनुत्तर के लिए कुछ कहना ही नहीं है।

( 93 )

श्रव तान्तिक बौद्धो के षडग योग के सम्बन्ध मे दो-चार बातें कही जायेंगी। हठयोग तथा राजयोग मे षडग या श्रष्टाग दोनो ही प्रसिद्ध हैं। बौद्धो का षडग योग इससे विलक्षण है। इसका प्राचीन विवरण गृह्यसमाज मे तथा मजुश्रीकृत कालचक्रोत्तर मे पाया जाता है। परवर्त्ती साहित्य मे, विशेषत. नडपाद की सेकोद्देशटीका मे तथा मर्मकिलकातन्त्र मे इसका वर्णन है। बहुत-से लोग इसे बौद्धयोग के नाम से भी वर्णन करते है। यह सत्य भी है। परन्तु, ब्रह्मसूत्र के भाष्य-कार भास्कराचार्य भी श्रपनी गीताटीका मे ठीक इसी कम से षडग योग का उल्लेख करते हैं। यह टीका श्रभी तक प्रकाशित नहीं है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, श्रनुस्मृति, संमाधि

ये पड़ग योग हैं। सिद्धि दो प्रकार की है— १. मामान्य ग्रीर २ उत्तम। योगिक विभूतियाँ सामान्य मिद्धि के ग्रन्तगंत हैं। सम्यक्सम्बोधि या वृद्धत्व उत्तमा सिद्धि है। समाजोत्तर-तन्त्र के ग्रनुसार पड़गयोग से ही वृद्धत्व या मम्यक्सम्बोधि प्राप्त हो मकती है। इसके चार उपाय हैं— १ सेवाविधान, २ उपमाधन, ३. साधन, ४ महासाधन। महोष्णीविम्व की भावना सेवाविधान के ग्रन्तगंत है। यह ग्रग्रेष वैधातुक वृद्ध-विम्व है। ग्रमृत कुण्डिलिनी रूप से विम्व की भावना उपसाधन है। वेवताविम्व की भावना साधन है। वृद्धाधिप तथा विभू एप से विम्व की भावना महासाधना है। दस इन्द्रियो की ग्रपने-ग्रपने विपय के प्रति वृत्ति ग्राहरण है। इन इन्द्रियो का ग्रन्तमु ख हाकर ग्रपने स्वरूपमात्र मे ग्रनुवर्त्तन प्रत्याहार है। प्रत्याहार के समय इन्द्रियो की विपय-मावापित या विपय-ग्रहण नही रहता। प्रत्याहार का फल वैराग्य, त्रिकाल-दर्णन, ग्र्मादि दस निमित्तो के दर्णन की मिद्धि है। ग्रुद्ध ग्राकाण मे श्रूम, मरीचि, खद्योत, दीपकिलका,चन्द्र सूर्य या विन्दु का दर्शन निमित्त-दर्शन है। इस दर्शन के स्थिर होने पर मन्त्र साधक के ग्रधीन हो जाता है। उसे वाक्-मिद्धि होती है।

प्रत्याहार से विम्व-दर्शन होने पर ध्यान का प्रारम्भ होता है। यह योग का द्वितीय ग्रग है। स्थिर तथा चर, ग्रर्थात् यावत् चराचर भाव को पचकाम कहा जाता है। पचवुद्ध के प्रयोग से सब भावों में यह कल्पना करना कि सभी वृद्ध हैं, ध्यान है।

ध्यान के बाद तृतीय ग्रग प्राणायाम है। मनुष्य का श्वास पचज्ञानमय है, ग्रौर पचभूत-स्वभाव है। इसको पिण्डल्प में निश्चल करके नासिका के ग्रग्रदेश में कल्पना करनी चाहिए। यह ग्रवस्या महारत्न नाम से प्रभिद्ध है। ग्रक्षोभ्य प्रभृति पचवुद्ध पचज्ञानस्वभाव हैं। विज्ञानादि पचस्कन्ध ही इनका स्वरूप है। वाम तथा दक्षिण नासापुट में श्वास का प्रवाह होता है। इन दोनो प्रवाहों के एकीभूत होने पर वह पिण्डाकार हो जाते हैं। इमी पिण्ड को नासाग्र पर स्थिर करना पडता है। पहले प्राणवायु को मध्य मार्ग में निश्चल करना चाहिए, उसके बाद नासिकाग्र में। इसे नाभि, हदय, कण्ठ, ललाट तथा उष्णीय-कमल की कीणका में स्थिर करना चाहिए, क्योंकि नासाग्र ग्रौर कमल का विन्दु समसूत्र है। महारत्न पचवर्ण कहा जाता है। वाम तथा दक्षिण प्रवाह का निरोध करके केवल मध्यमा में उसे प्रवाहित करना चाहिए। इस प्रकार, निरुद्ध प्राणवायु पंचवर्ण महारत्न कहा जाता है। वज्यानी इस प्राणायाम को 'वज्रजाप' कहते हैं। दो विश्व धाराग्रो को सम्मिलत करके मध्यनाढी का ग्रवलम्व लते हुए उत्यान करना चाहिए ग्रौर नासाग्र में स्थिर करना चाहिए। साधारण मनुष्यो का प्राणवायु ग्रशुद्ध प्रवृत्तियों का वाहन है। यह ससार का कारण है। यही पचकम का रहस्य भी है।

चतुर्यं ग्रग धारणा है। ग्रपने इष्ट मन्त्र प्राण का हृदय मे ध्यान करते हुए उसे ललाट मे निरुद्ध करना चाहिए। (मन का त्राणभूत होने के कारण प्राण ही मन्त्रपद का वाच्य है।) हदय से, ग्रयात् काणका से हटाकर काणका के मध्य मे स्थापित करना चाहिए। इसके बाद विन्दु-स्थान ललाट मे उसका निरोध किया जाता है। इसी का नाम धारणा है। उस समय प्राण का सचरण, अर्थात् श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। प्राण एकलोल हो ललाटस्थ बिन्दु में प्रवेश करते हैं। निरुद्ध इन्द्रिय 'रत्न' पद का वाच्य है। चित्त के अवधूती मार्ग में प्रविष्ट होने पर पूर्वविणत धूमादि निमित्तों का प्रतिभास होता है। धारणा का फल वज्रसत्त्व में समावेश है। इसके प्रभाव से स्थिरीभूत महारत्न या प्राणवायु नाभिचक से चाण्डाली को, अर्थात् कुण्डिलनी शक्ति को उठाता है। वज्रमार्ग से मध्यधारा का अवलम्ब करते हुए कमशाः यह उष्णीषचक तक पहुँचता है। यह उष्णीष-कमल की किणका तक पहुँचकर कायादि-स्वभाव चार बिन्दुओं को उस निर्दिष्ट स्थान-विशेष में ले जाता है, जिसका निर्देश गुरु ने पहले ही किया है। धारणा सिद्ध होने पर चाण्डाली शक्ति स्वभावत उज्ज्वल हो जाती है।

पचम अग अनुस्मृति है। प्रत्याहार तथा ध्यान से त्रिधातु को प्रतिभासित करनेवाले सवृति-सत्य की भावना निश्चल की जाती है। अनुस्मृति का उद्देश्य है, सवृति-सत्य की भावना का स्फुरण करना। इसके प्रभाव से एकदेशवृत्तिक आकार, जो सवृति-सत्याकार है, समग्र आकाशव्यापीरूप से परिदृष्ट होने लगता है। उससे विकालस्थ समग्र भवन का दर्शन होता है। यही अनुस्मृति है। अनुस्मृति का फल प्रभामण्डल का आविर्भाव है। चित्त के विकल्पहीन होने से इस विमल प्रभामण्डल का आविर्भाव होता है। इस समय रोमकूप से पंचरिंग्यों का निर्गम होता है।

इस योग का षष्ठ अग समाधि है। प्रज्ञोपाय-समापित्त के द्वारा सर्वभावों का समाहार करके पिण्डयोग से विम्ब के भीतर भावना करनी पड़ती है। ठीक-ठीक भावना करने पर अकस्मात् एक महाक्षण में महाज्ञान की निष्पित्त हो जाती है। यही समाधि है। निष्पन्नादि कम से व्योमकमल का उद्गम होने पर अक्षर-सुख का उदय होता है। ज्ञेय और ज्ञान के एकलाली-भूत होने से विमल अवस्था का आविर्भाव होता है। उस समय प्रतिभासस्वरूप स्थावर-जगम यावत् भावों को उपसहृत, अर्थात् सकुचित करके पिण्डयोग से, अर्थात् परम अनास्त्रव महासुखात्मक प्रभास्वर रूप से विम्व के भीतर भावना करनी पड़ती है। जैसे लौहादि सब रसो को भक्षण करने पर एकमात्र सिद्ध रस रहता है, इसे भी ठीक उसी प्रकार का समझना चाहिए। इस परम अनास्रव महासुखमय प्रभास्वर के भीतर सवृति-सत्यरूप विम्ब की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार की भावना या साक्षात्कार का फल परम महाज्ञान का आविर्भाव है। इसमे संवृति-सत्य तथा परमार्थ-सत्य का द्वैधीभाव छूट जाता है, और दोनो अद्वयरूप मे प्रकाशमान होते है। युगनद्ध विज्ञान का यही रहस्य है। यही बुद्ध का परम स्वरूप है, अर्थात् प्रत्येक आत्मा का परम स्वरूप है। समाधिविश्रता से निरावरण-भाव उदित होता है।

मजुश्री ने कहा है—प्रत्याहारादि छ श्रगो से वस्तुत शून्यता-भावना ही उक्त है। धूमादि निमित्तो के कम से श्राकाश में वैधातुक विम्वदर्शन को प्रत्याहार के श्रगरूप में स्थिर करके जब विम्बदर्शन की स्थिति सिद्ध की जाती है, तब योगी सब मन्त्रो का श्रिधिष्ठाता होता है। ध्यान के प्रभाव से बाह्यभाव छूट जाते हैं, चित्त दृढ होता है, श्रौर विम्ब-लग्न चित्त होने

पर ग्रिनिमेप या दिन्य चक्षु का उदय होता है। इसी प्रकार, दिन्य श्रोद्वादि तथा पच ग्रिभिज्ञाग्रो का लाभ होता है। जब योगी चन्द्र-सूर्य के मार्ग से मध्यमा मे प्रवेश करते हैं, ग्रीर प्राणायाम से शुद्ध होते हैं, तब वोधिसत्त्वगण उनका निरीक्षण करते हैं। धारणा के प्रभाव से ग्राहक-चित्त या वज्रसत्त्व शून्यता-विम्वरूप ग्राह्म का समावेश करते हैं। विन्दु मे धारणा का फल प्राण गतिशून्य हो एकाग्र होता है। तब विमल प्रभामण्डल प्रकाशित होता है। रोमकूप से पचरिश्ययो का नि.सरण होता है। यह महारिश्म-रूप है। ग्राह्म तथा ग्राहक चित्त एक होने पर ग्रज्जर-सुख होता है, यही समाधि है। समाधि के ग्रायत्त होने पर ग्रचल या निरावरणभाव ग्राता है। इस परमाक्षर ज्ञान को प्रभास्वर ज्ञान कहा जाता है। इसके द्वारा ग्रावरण के सर्वथा नि शेप होने से सत्य-द्वय के एकीभाव होने पर ग्रद्धय-भाव की प्रतिष्ठा होती है।

साधक पूर्ववणित पडंगयोग के प्रथम अग प्रत्याहार से धूमादि निमित्त आदि दस ज्ञानो का लाभ करता है। यह स्रकल्पित विज्ञान-स्कन्ध है। इस स्रवस्था मे विज्ञान-शून्यताविम्व मे प्रवृत्ति होती है। घ्यान मे ये दस विज्ञान-विश्वविम्व दस प्रकार के विषय-विषयी के साथ एकीभूत होते हैं। इसे श्रक्षोभ्य-भाव कहा जाता है। इस समय शून्यता-विम्व का भवलोकन होता है। यही प्रज्ञा है। भाव-ग्रहण तर्क है। उसका निश्चय विचार है। विम्व मे श्रासिक्त प्रीति है। विम्व के माथ चित्त का एकीकरण सुख है। ये पाँच प्रग हैं। पाँच प्रकार के प्राणायाम सस्कार-स्कन्ध हैं। इस समय वाम तथा दक्षिण मण्डल समरस हो जाते हैं। यह खण्डभाव है। इस स्थिति मे उभय मार्ग का परिहार होता है, ग्रौर मध्य मार्ग मे प्रवेश होता है। यही से निरोध का सूत्रपात होता है। दस प्रकार की धारणाएँ वेदना-स्कन्ध हैं। नाभि से उष्णीय-कमल-पर्यन्त प्राण की गतियाँ और उष्णीय से नाभि तक पाँच आगतियाँ हैं। इस प्रकार, धारणा दस हैं। इन्हें रत्नपाणि कहा जाता है। मध्यनाडी में काम की चिन्तादि दस श्रवस्थाएँ श्रनुस्मृति कही जाती हैं। चिन्ता से लेकर तीव्र मूच्छी-पर्यन्त दस दशाएँ श्रालकारिक तथा वैष्णव साहित्यों में सुप्रसिद्ध हैं। वहाँ दशम दशा की मृत्यु नाम दिया गया है। यह भावों के विकास की दस ग्रवस्थाएँ है। वौद्धमत मे ये ग्रवस्थाएँ वज्रसत्त्वावथा-प्राप्त योगी के सत्त्व-विकास की द्योतक हैं । अनुस्मृति के प्रभाव से आकाश में चाण्डाली का दर्शन होता है। दस प्रकार की वायुत्रों के निरोध से समाधि भी दस प्रकार की है। समाधि से ज्ञेय तथा ज्ञान के भेद होने पर श्रक्षर-सुख का उदय होता है, श्रीर उसी से ज्ञान-विम्ब मे पूर्ण समाधान हो जाता है। यह पड़ग योग ही विश्वभर्ता कालचक का साधन है। मन्त्र-मार्ग के अनुमार वुद्धत्व-प्राप्ति के लिए यही मुख्य द्वार है।

( 98 )

कालचक क्या है ? कालचक ग्रद्धय, ग्रक्षर परमतत्त्व का नामान्तर है। काल करुणा से ग्रिभिन्न शून्यता की मूर्ति है। सवृतिरूप शून्यता चक्रपद का ग्रर्थ है। प्रकारान्तर से कहा गया है---

# काकारात् कारणे शान्ते लकाराल्लयोऽत्र व । चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात् क्रमबग्धनैः।।

ग्रर्थात्, जाग्रत् प्रवस्था के क्षीण होने के कारण बोधि-चित्तकाय शान्त या विकल्प-हीन होता है, यही 'का' से अभिप्राय है। काय-बिन्दु के निरोध से ललाट में निर्माण-काय नाम का बुद्ध-काय प्रकट होता है। स्वप्नावस्था का जो क्षय होता है, वही प्राण का लय है। इस प्रवस्था में वाग्-बिन्दु का निरोध होता है। इससे कण्ठ में सम्भोग-काय का उदय होता है, जो 'ल' से म्रभिप्रेत है। सुषुप्ति के क्षय होने पर चित्त-बिन्दु का निरोध होता है। उस समय हृदय में धर्मकाय का उदय होता है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में चित्त शब्दादि विषयो में विचरण करता है, इसीलिए चचल रहता है श्रीर तम से श्रिभमूत रहता है। भद्रारह प्रकार के धातु-विकारों से वह विकृत होता है। इनके शपसारण से हृदय में चित्त निरुद्ध हो जाता है। यही 'च' का अभिप्राय है। इसके बाद तुरीयावस्था का भी क्षय हो जाता है। तब कायादि सब बिन्दु सहज सुख के द्वारा अच्युत हो जाते हैं। उसी समय तुरीयावस्था का नाश होता है। स्वरगत ज्ञानबिम्दु के निरोध से नाभि में सहज-काय का आविर्भाव होता है। यही 'ऋ' का अभिप्राय है। प्रतएव, कालचक चार बुद्धकायो का समाहार है। यह प्रजा तथा उपाय का सामरस्य है। एकाधार में यही ज्ञान है, श्रीर यही ज्ञेय भी है। ज्ञान का तात्पर्य है, प्रक्षर-सुख का बोध। इससे सब प्रावरणों का क्षय होता है। ज्ञेय से प्रिप्राय है, प्रनन्त भावमय तैधातुक जगत्-चक्र, प्रथति समग्र विश्व । प्रज्ञा शून्यात्मक है, श्रौर उपाय करुणात्मक तथा षडभिज्ञात्मक है । प्रज्ञा शून्याकार है, परन्तु करुणा सर्वीकार है । दोनो का एकत्व ही काल-चक है। यही यथार्थ युगनद है। कालचकतन्त्र में लिखा है कि शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से अनन्त विश्व ही चकस्वरूप है। किन्तु, अनन्त होकर भी यह एक ही है। बुद्ध या शम्भु जैसे एक हैं, उनका चक्र भी वैसे ही एक है। वस्तुत, बुद्ध और चक्र प्रभिन्न है। प्रनन्त बुद्ध-क्षेत्र, धनन्त गुण, आकोशादि सर्वधातु, उत्पत्ति-स्थिति-विनाशात्मक तीन प्रकार के भव, छ गतियो में विद्यमान सकल सत्त्व, बुद्धगण, कोधगण, सुरादिवर्ग, करुणा, बोधिसत्त्वगण ये सभी इस अखण्ड महाचक्र के अन्तर्भूत है। यह कालचक्र ही आदि-बुद्ध है। नामसगीतितन्त्र में कहा है--

### धनाविनिधनो मुद्ध धाविबुद्धो निरन्वयः।

ऐतिहासिक बुद्धगण इन्ही के बहि:प्रकाश है।

साधक के दृष्टिकोण से देखने पर इस काल-चक्र में तीन माताएँ तथा तीन मुद्राएँ लक्षित होती है। बोधिचित्त की क्षरगति मृदुमात्रा है। स्पन्दगति है मध्यमात्रा, निष्यन्दगति है प्रधिमात्रा। जिससे सक्षर-सुख का उदय होता है, वह कर्म-मुद्रा है। जिससे स्पन्द-सुख का उदय होता है, वह ज्ञान-मुद्रा है। जिससे निष्यन्द-सुख का उदय होता है, वह महामुद्रा है। षडग योग के द्वारा इन तीन मुद्राक्षों की भावना बौद्ध-तन्त्रों में उपदिष्ट हुई है। भून्यता-विम्ब साधन की अनुकूल दृष्टि के साधन के रहस्य से प्राचीन लोग परिचित थे। सेवा ही इसका मुख्य उपाय है। धूमादि दस निमित्तों की भावना ही सेवा है। इस अवस्था में चित्त आकाश में निमित्तदर्शन करता है। यह उष्णीय की क्रोध-दृष्टि या कर्ष्व-दृष्टि से होता है। यह अनिमेप-दृष्टि है। राित में चार प्रकार की और दिन में छ प्रकार की सेवा का विधान है। जवतक विम्ब का साक्षात्कार नहीं होता, तवतक सेवा करनी चाहिए। यह ज्ञान साधन का प्रथम अग है। क्रोध-दृष्टि के वाद ही अमृत-दृष्टि का अवसर आता है। यह ललाट की दृष्टि है। इसी का नाम अमृतपद है। यह अमृतकुण्डली नामक विन्ध्नेश्वर की दृष्टि है। इसके प्रभाव से प्राण-विम्ब का दर्शन होता है।

प्राणिवम्व-दर्शन के अनन्तर प्राणायाम तथा धारणा की आवश्यकता पहती है। श्रद्धा-राग से सृष्ट वोधि-चित्तरूप विन्दु इस समय श्रक्षर-योग का लाभ करता है। गृह्य, नाभि तथा हृदय में कमश. यह योग प्रतिष्ठित होता है। ज्ञान-साधन का यह तृतीय ग्रंग है। अनष्ट सौक्य के साथ वोधिचित्त का एकक्षणत्व—यही शान्त या सहज स्मिति है। इस समय चित्त श्रक्षर-सुख के साथ एक हो जाता है। यह ज्ञान-साधन का चतुर्थ श्रंग है।

तान्त्रिक वौद्ध-साधना में दो प्रकार का योगाभ्याम होता है। मन्त्र-यान में श्राकाश में तथा पारिमता-यान में अभ्यवकाण में। प्रथम मार्ग में आवश्यक है कि साधक रात्ति में छिद्रहीन तथा अन्यकारपूर्ण गृह में आकाश की तरफ दृष्टि लगातार और सर्व चिन्ताओं से मुक्त होकर एक दिन परीक्षा के लिए वैठे। यहाँ देखना चाहिए कि धूमादि निमित्तों का दर्शन हो रहा है या नही ? नयन को अनिमिष रखना चाहिए, और वज्यमार्ग में या मध्यमा-मार्ग में प्रविष्ट होना चाहिए। तब शून्य से पूर्वोक्त धूम, मरीचि, खद्योत तथा प्रदीप दृष्टिगोचर होगे। जवतक यह न हो, तबतक रात्ति में इम अभ्यास को चलाना चाहिए। उसके वाद मेघहीन निर्मल आकाश में गगनोद्भूत महाप्रज्ञा का दर्शन होगा। यह दीप्त अगिन की शिखा के समान होगा। इस ज्ञान-ज्योति का नाम वैरोचन है। चन्द्र और सूर्य का दर्शन भी होगा। प्रभास्वर विद्युत् तथा परम-कमल का दर्शन भी होगा। अन्त में विन्दु का साक्षात्कार होगा। ये सव निमित्त किसी सम्प्रदाय के अनुसार रात्ति में और किसी के अनुसार दिन में दर्शनीय है। अन्त में, सर्वाकार घटपटादि विम्त्र का दर्शन होता है। इस विम्त्र के भीतर वृद्ध-विम्त्र का दर्शन होता है। इस अवस्था में विषय नही रहता, दृश्य नही रहता, और कल्पना भी शून्य हो जाती है। यहाँ अनेक सम्भोग-काय है। इस विम्त्र के माय योग होने पर यथार्थ अनाहत ध्विन का श्रवण होता है।

इससे प्रतीत होता है कि रूपाभास से निर्माण-काय तथा शन्दावभास से सम्भोग-काय होता है।

दिन के समय योगी को स्तन्त्र दृष्टि से पूर्वा तथा अपरा में मेघ-हीन आकाश को देखना चाहिए। सूर्य की तरफ पृष्ठ रखना चाहिए, अन्यथा सूर्य-रिश्म से तिमिर होने की आश्राका रहेगी। तवतक प्रतिदिन इसका अभ्यास होना चाहिए, जवतक विन्दु के भीतर काल-

नाडी मे भ्रवधूती के अन्दर कृष्ण-रेखा दृष्टिगोचर न हो। इससे अमल किरणो का स्फुरण होता है। यह रेखा केशप्रमाण है, परन्तु इसमे अशेष तैधातुक सर्वज्ञ-बिम्ब दीख पडता है। यह जल मे सूर्य-प्रतिबिम्ब के समान है। यह बिम्ब वस्तुत स्वचित्त है, अर्थात् अनाविल, अनन्तवर्ण-विशिष्ट, सर्वाकार, विषयहीन स्वचित्त । यह परिचित्त नही है। यह स्वचित्ताभास पहले स्थूलदृष्टि से, अर्थात् मासचक्षु से दृष्ट होता है, बाद मे दिव्य-चक्षु, बुद्ध-चक्षु, प्रज्ञा-चक्षु, ज्ञान-चक्षु प्रभृति का विकास होता है। भावना के प्रभाव से सूक्ष्म चक्षुओ के द्वारा ही परिचत्त का साक्षात्कार होता है।

प्रसिद्धि है कि वज्रपाणि ने भी अपने दृष्टिकोण से षडग योग का उपदेश दिया था। उसमें किसी-किसी अश मे वैलक्षण्य भी हैं।

जब प्रत्याहारादि ग्रगो से बिम्ब-दर्शन का प्रभावहेतुक ग्रक्षर-क्षण का उदय होता है, तब नाद के ग्रभ्यास से बलपूर्वक प्राण को मध्य नाड़ी मे गतिशील करके प्रज्ञाकमल-स्थित वज्रमणि मे बोधिचित्त-बिन्दु को निरुद्ध करके निष्यन्द भाव से साधन करना पड़ता है। इसी का नाम तान्त्रिक हठयोग है। यह योग मार्कण्डेय-प्रवर्तित हठयोग से भिन्न है, तथा मत्स्येन्द्रनाथ ग्रौर गोरक्षनाथ प्रभृति सिद्धो द्वारा प्रचारित नवीन हठयोग से भी भिन्न है।

जो शक्ति नाभि के भीतर द्वादशान्त नामक परमपद-पर्यन्त चलती है, उसे निरुद्ध करने पर वह वैद्युतिक श्रग्नि के सदृश दण्डवत् उपस्थित होती है, श्रीर मध्य नाडी मे मुद्रगति से चालित होकर चक्र से चक्रान्तर में गमन करती है। इस प्रकार, जब उष्णीष-रन्ध्र का स्पर्श होता है, तब श्रपानवायु को ऊर्ध्व-मार्ग मे प्रेरित करना पंडता है। इसके प्रभाव से उष्णीष-कमल का भेद हो जाता है, श्रौर पर-पुर मे गित होती है। दोनो वायुश्रो का निरोध ग्रावश्यक है। इसी का नाम वज्र-प्रबोध है। इससे विषय-सहित मन खेचरत्व-लाभ करता है। इतना होने पर योगियो की विश्वमाता पच-ग्रिभज्ञा स्वभाव धारण करती है। चित्त-प्रज्ञा ज्ञानरूप होती है, उसका आभास दस प्रकार से होता है। यही सेक का रहस्य है। इसे विमल-चन्द्र के सदृश या ग्रादर्श-बिम्ब के सदृश समझना चाहिए। इसमे मज्जन होता है। इसका फल होता है निर्वाण-सुख मे अच्युत सहज चतुर्थ अक्षर। प्रज्ञा ग्राहक-चित्त है, ग्रीर ज्ञान ग्राह्य-चित्त है। ग्राहक-चित्त के दस ग्राह्य श्रादर्श श्राभास-ज्ञान या ग्राह्य-चित्त है। दर्पण मे जैसे अपने चक्षु का प्रतिबिम्ब दीख पडता है, यह भी उसी प्रकार है। ग्राह्म-चित्त मे ग्राहक-चित्त का प्रवेश ही सेक है। उसमे मज्जन करना चाहिए। इससे ग्राह्य विषय मे ग्रप्रवृत्ति होती है। षडग योग मे इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। ध्यान, प्राणायाम श्रीर घारणा इन तीनो का नाम , मज्जन है। इस मज्जन से निर्वाण-सुख का उदय होता है। यह ग्रच्युत होने पर भी सहज है, भीर प्रक्षर या चतुर्थ सुख है। यह शून्यताकार सर्वाकार प्रतिभास लक्षण है। इसमे कर्म-मुद्रा या ज्ञान-मुद्रारूप हेतु नहीं है। इसमे किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। यह बाल-प्रौढादि स्पन्द के म्रतीत है। यह बुद्ध-वक्त्र या ज्ञान-वक्त्र है। यह जिस म्राचार्य को हृदयगत होता

है, वही यथार्थ वज्रधर गुरु नाम से अभिहित होने के योग्य है। मध्य नाडी मे प्राण के प्रवेश से निमित्त-दर्शनादि बुद्ध-वक्त्र का प्रथम रूप है। इसका नाम कायवज्ञ-वक्त्र है। नाडी ह्रय की गित के रुद्ध होने पर प्राण बद्ध होता है। उस समय के बुद्ध-वक्त्र का नाम वाग्-वज्ञ-वक्त्र है। वज्ञ-सम्बोधन और बोधिचित्त के द्रुतिकाल मे बुद्ध-वक्त्र का नाम चित्त-वज्ञ-वक्त्र है। अन्त मे ज्ञान-वज्ञ-वक्त्र का आविर्माव होता है।

## ( 94 )

वौद्धयोग वाग्योग का ही प्रकारभेद है, यह कहा गया है। प्राकृतिक शक्तियो को जगाने का श्रेष्ठ उपाय शब्द-वीज है। वर्णमातृका या कुण्डलिनी शक्ति प्रति श्राघार से सुप्त है। इसे प्रवृद्ध करने से जाप्रत्-शक्ति साधक की श्रन्तः प्रकृति के गुण के साथ वैचित्य-लाभ करती है। इसलिए, साधक के भेद से मन्त्र का भी भेद होता है। जैसे वीज श्रकुरित श्रीर विकसित होकर वृक्ष, पुष्प, फलादि रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार शब्दवीज भी मूर्त होने से ही देव-देवियों के आकार का परिग्रह करता है। मीमासा के मत मे मन्त्रात्मिका देवता है। वेदान्त के मत मे देवता विग्रहवती है। दोनो मत मत्य हैं। वाचक तथा वाच्य के अभिन्न होने से तथा नाम या रूप के अभिन्न होने के कारण मन्त्र और दिव्यविग्रह तात्विक दृष्टि से अभिन्न ही हैं। निरुक्त के दैवत-काण्ड मे देवता की साकारता और निराकारता का कुछ सकेत है। सर्वेत्र ही ऐसा देखा जाता है। साधक की प्रकृति के विचार के ग्राधार पर ही मन्त्र-विचार प्रतिष्ठित हैं। रोग का निर्णय किये विना भेषज का निर्णय नहीं होता। पचस्कन्ध पचभूतमूलक हैं। इसीलिए, मूल मे पाँच प्रकारभेद लक्षित होते है। पारिभाषिक नाम 'कुल' है। हेवज्रतन्त्र मे कुल-विवरण है। देवता के प्रकट होने पर उसका ग्रावाहन करना होता है। श्रव्यक्त श्रग्नि से जैसे प्रदीप जलाया नही जाता, वैसे ही अप्रकट देवता का आवाहन नहीं होता। आवाहन का करण और माधन ही मुद्रा है। एक-एक प्रकार के आकर्षण के लिए एक-एक प्रकार की मुद्रा की आवश्यकता होती है। देवता प्रकट होकर, आकृष्ट होकर अपने-अपने गुणानुसार निविष्ट स्थान ले लेती हैं। इसी का नाम मण्डल है। मण्डल के केन्द्र मे अधिष्ठात्री देवता रहती है। चारो श्रोर वत्ताकार श्रसख्य देवी-देव निवास करते हैं।

#### ( 98 )

वौद्धधमं का ज्ञान, योग श्रीर चर्या श्रादि मे श्रागम का प्रभाव कव श्रीर किस रूप मे पडने लगा, इसे कहना किठन है। विश्वास है कि वीजरूप से यह प्राचीन काल मे भी था श्रीर कुछ विशिष्ट अधिकारी अतिप्राचीन काल मे भी इसका अनुशीलन करते थे। किसी-किसी का इतना निश्चय है कि यह गुप्त साधना है, श्रीर इसकी धारा प्राक्-ऐतिहासिक काल से ही प्रचित्त थी। भारतवर्ष श्रीर इसके वाहर, मिस्न, एशियामाइनर, श्रीट, मध्य एशिया प्रभृति देशों में इसका प्रादुर्भीव पहले हो चुका था। वैदिक साहित्य तथा उपनिषदादि में भी इसका इगित मिलता है। वज्यान के विषय मे वौद्ध समाज मे जो किवदन्ती प्रचित्त है, उसका उल्लेख पहले किया गया है। ऐतिहासिक विद्वान् तारानाथ का विश्वास था कि तन्त्रों के प्रथम प्रकाशन के बाद दीर्घकाल तक गुरु-परम्परा के क्रम से यह साधन गुप्त रूप से प्रचलित था। इसके बाद सिद्ध श्रीर वज्राचार्यों ने इसे प्रकाशित किया । चौरासी सिद्धों के नाम, उनके मत तथा उनका म्रन्यान्य परिचय भी कुछ-कुछ प्राप्त है। नाम-सूची मे मतभेद है। रससिद्ध, महेश्वरसिद्ध, नाथसिद्ध प्रभृति विभिन्न श्रेणियो के सिद्धो का परिचय मिलता है। सिद्धो की सख्या केवल प्र ही नहीं है, प्रत्युत इससे बहुत अधिक है। किन्ही सिद्धो की पदाविलयाँ प्राचीन भाषा मे ग्रथित मिलती हैं। इनमे से बहुत-से लोग वज्रयान या कालचक्रयान मानते थे। सहजयान माननेवाले भी कुछ थे। प्रायः सभी श्रद्धैतवादी थे। तिब्बत तथा चीन मे प्रसिद्धि है कि भ्राचार्य ग्रसंग ने तुषित-स्वर्ग से तन्त्र की भ्रवतारणा की। उन्होने मैं त्रेय से तन्त्रविद्या का अधिकार प्राप्त किया था। यह मैतेय भावी बुद्ध हैं या मैतेयनाथ नाम के कोई सिद्ध पुरुष है, यह गवेषणीय है। बहुत लोग मैत्नेय को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते है। इसमे सन्देह नहीं कि वे सिद्ध थे। इस प्रसंग मे नागार्जुन की भी चर्चा होती है। यह स्मरणीय है कि उनका वासस्थान श्रीपर्वत श्रीर धान्यकटक तान्त्रिक साधना के प्रधान केन्द्र थे। त्रागमीय गुरुमण्डली के भीतर श्रोघत्रय मे मानवौघ से ऊपर दिव्य तथा सिद्ध श्रोघ का परिचय मिलता है। यह माना जा सकता है कि मैं लेयनाथ उस प्रकार के सिद्धों में थे, या उसी कोटि के कोई भ्रन्य महापुरुष थे। ऐतिहासिक पण्डितो के भ्रनुसार बौद्ध-साहित्य मे गुह्यसमाज मे ही सर्व-प्रथम शक्ति-उपासना का मूल लक्षित होता है। ग्रतएव, ग्रसग से भी पहले शक्ति-उपासना की धारा सुदृढ हो चुकी थी। मातृरूप मे कुमारी शक्ति की उपासना उस समय चारो स्रोर प्रचलित थी।

इन बहिरग आलोचनाओं का कोई विशेष फल नहीं है। वस्तुतः, तन्त्र का अवतरण एक गम्भीर रहस्य है।

शैवागमों के अवतरण के विषय में तात्त्विक दृष्टि से आचार्यगण ने जो कहा है, उससे यह समझ में आता है कि यह रहस्य सर्वत्र उद्घाटित करने योग्य नहीं है। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने कहा है कि परावाक् परम परामर्शमय बोधरूप है। इसमें सभी भावों का पूर्णत्व है। इसमें अनन्त शास्त्र या ज्ञान-विज्ञान पर-बोध रूप में विद्यमान है। पश्यन्ती अवस्था परा वाक् की बिहर्मुं खी अवस्था है। इस दशा में पूर्वोक्त परबोधात्मक शास्त्र 'अहपरामर्श' रूप से अन्तर में उदित होता है। इसमें विमर्श के स्वभाव से वाच्यवाचकभाव नहीं रहता। यह आन्तर प्रत्यवमर्श है। यह असाधारण रूप में होता है। इसलिए, इस अवस्था में प्रत्यवमर्शक प्रमाता के द्वारा परामृश्यमान वाच्यार्थ अहन्ता से आच्छादित होकर स्फुरित होता है। वस्तु-निरपेक्ष व्यक्तिगत बोध के उद्भव की प्रणाली यही है। इसलिए, भर्त्तृ हिर ने 'वाक्यपदीय' में कहा है—

## ऋषीणामि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् ।

श्रार्य-ज्ञान या प्रातिभ-ज्ञान के मूल में भी आगम विद्यमान है। जिसको हृदय का स्वतःस्फूर्त प्रकाश समझा जाता है, वह भी वस्तुत स्वत स्फूर्त्त नहीं है। उसके मूल मे

भी आगम है। मध्यमा भूमि मे आन्तर परामर्श अन्तर मे ही विभक्त हो जाता है। उस समय वह वेद्यवेदक प्रपचोदय से भिन्न वाच्य-वाचक स्वभाव मे उल्लिसित हो जाता है। इस मध्यमा भूमि मे ही परमेश्वर चित्, आनन्द, इच्छा, जान और क्रिया से अपने पचमुखत्व का अभि-व्यजन करते हैं, सदाशिव और ईश्वरदशा का आश्रय लेते हैं, और गुरु-शिष्य-भाव का परिग्रह करते हैं। इस पचमुख के मेलन मे ही वह पचस्रोतोमय निखिल शास्त्रों की अवतरणा करते हैं। यही शास्त्र का अवतरण है। अस्फुट होने के कारण यह इन्द्रिय का अगोचर है। किन्तु, वैखरी भूमि मे यह इन्द्रिय-गोचर होता है और परिस्फुट होता है।

नागार्जुन, ग्रसग या अन्य किसी भी आचार्य से किसी भी शास्त्र के अवतरण की एकमात्र प्रणाली यही है। ऋष्यों के मन्त्रसाक्षात्कार की प्रणाली भी यही थी। यहाँ ध्यान देने की वात यह है कि धारक पुरुष के व्यक्तिगत मानस सस्कार उस अवतीण ज्ञान-शक्ति के साथ सिक्लिंग्ट न हो जायें। यदि ऐसा हो जाय, तो श्रुति स्मृति मे परिणत हो जाती है, तथा प्रत्यक्ष परोक्ष मे परिणत हो जाता है। ऐसी दशा मे अवतीण ज्ञान का प्रामाण्य कम हो जाता है। मानव के दुर्भाग्य से कभी-कभी अनिच्छ्या भी ऐसा हो जाता है।

इस विषय मे एक-दो वार्ते और भी कहनी हैं। माधक वर्ग आध्यात्मिक उत्कर्ष की किसी-िकसी भूमि मे व्यक्तिगत भाव से दिव्यवाणी प्राप्त करते हैं। इन सभी वाणियों का मूल्य समान नहीं है। इनके उद्गम के स्थान भी एक नहीं होते। स्पेन देश की सुप्रसिद्ध ईसाई साधिका सन्त टेरेसा नामक महिला ने अपनी जीवनव्यापी अनुभूतियों के श्राधार पर जो सिद्धान्त प्रकट किये हैं, उनके अनुसार अलौकिक श्रवण के तीन विभाग किये जा सकते हैं।

- १ स्यूल श्रवण । स्यूल होने पर भी साधारण श्रवण से यह विलक्षण है; क्यों कि यह ध्यानावस्था मे होता है। लौकिक श्रवण से ध्यानज क्षुव्ध इन्द्रियज बाह्य श्रवण भिन्न है, क्यों कि वह बाहरी शब्द का नहीं है। वह प्रतिभामिक-मात्र है। प्रतीत तो यह होता है कि यह शब्द कण्ठोच्चारित है श्रीर स्पष्ट है, फिर भी यह अवास्तव एव विकल्पजन्य है।
- २ द्वितीय श्रवण इन्द्रिय-सम्बन्धहीन कल्पनामात्न प्रसूत शब्द है। इन्द्रिय की श्रिया से कल्पनाशक्ति में जैसी छाप लगती है, यहाँ श्रिया न रहने पर भी वहीं प्रकार है। किन्तु, यह श्रम का विकार है धातु-वैषम्य-जनित दैहिक विकार से यह विकार उत्पन्न होता है। पहले स्मृति-णक्ति में विकार होता है, पश्चात् पूर्व सस्कारों में विकार होता है।
- ३ प्रामाणिक श्रवण । इसका टेरिस ने 'इण्टिलेक्च्युग्रल लाक्यूणन' नाम से वर्णन किया है। यह चिन्मय शब्द है। इसमे न वृद्धि का, न इन्द्रियों का श्रौर न कल्पनाणिक्त का प्रभाव है। यह सत्य का साक्षात् प्रकाणक है, श्रौर सग्नय का निवर्त्तक। यह भगवत्-शक्ति के प्रभाव से हृदय में चिंदत होता है, सग्नय विकारादि से यह मर्वथा मुक्त है।

ग्रब अन्त मे बौद्धतन्त्र तथा योग-विषयक साहित्य का किंचित् परिचय देना उचित प्रतीत होता है। इस विषय के बहुत-से ग्रन्थ तिब्बत तथा चीन में विद्यमान हैं। कुछ इस देश में भी हैं। सभी ग्रन्थों का प्रकाशन ग्रभी तक नहीं हुआ और निकट भविष्य में भी होने की सम्भावना नहीं है। किन्तु, विशिष्ट ग्रन्थों में कुछ का प्रकाशन हुआ है, और किसी-किसी का हो भा रहा है। भारतीय पुस्तक-सग्रहों में अप्रकाशित हस्ति खित ग्रन्थों की सख्या भी उल्लेख-योग्य है। गृह्य-समाज, उसकी टीका और भाष्यों के कुछ नाम पहले दिये गये हैं। मजुश्रीमूलकल्प का नाम भी दिया गया है। उसके अतिरिक्त ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—

- १. कालचऋतन्त्र श्रीर उसकी विमलप्रभा टीका।
- २. श्रीसम्पुट-यह योगिनी तन्त्र है।
- ३ समाजोत्तर तन्त्र।
- ४. मूलतन्त्र ।
- ५. नामसगीति ।
- ६. पंचक्रम।
  - ७. सेकोइश--तिलोपा-कृत।
  - ८. सेकोहेशटीका--नरोपा-कृत।
  - गृह्यसिद्धि—पद्मवज श्रथवा सरोहहवज-कृत ।

प्रसिद्धि है कि ये ग्राचार्य हेवज साधन के प्रवर्त्तक थे। सरोरुहवज के शिष्य ग्रनग-वज्र थे। ग्रनंगवज्र के प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि प्रभृति ग्रन्थप्रसिद्ध हैं। हेवज्र-साधन विषय के भी ग्रन्थ इन्होंने लिखे हैं। ग्रनगवज्र के शिष्य इन्द्रभूति थे। इन्होंने श्रीसम्पुट की टीका लिखी थी। इनके ग्रतिरिक्त ज्ञानसिद्धि, सहजसिद्धि प्रभृति ग्रन्थ ग्रन्थ भी इनके नाम से उपलब्ध होते हैं। यह उड्डियान-सिद्ध ग्रवधूत थे। इनकी छोटी भगिनी तथा शिष्या लक्ष्मी-करा ने इनके साहित्य के प्रचार करने में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। ग्रद्धयवज्र ने तत्त्वरत्नावली प्रभृति ग्रनेक ग्रन्थो की रचना की। डाकार्णव एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन हो चुका है। वर्त्तमान समय में विनयतोष भट्टाचार्य, शिषाभूषणदास गुप्त, प्रबोधचन्द्र बागची, ग्रध्यापक तुच्ची, मेरियो करेली, डाँ० गुन्थर प्रभृति कई विद्वान् इस कार्य मे दत्तिचत्त हैं। सिलवाँ लेवी प्रभृति ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया था, जिससे तन्त्रशास्त्र के ग्रध्ययन मे बडी सुविधा मिल रही है।

( ৭দ )

भूमिका सक्षेप करते-करते भी विस्तृत हो गई। अधिक लिखने का स्थान नही। मैं समझता हूँ कि इससे अधिक लिखने का प्रयोजन भी नही है। मित्रवर आचार्यजी के अनुरोध से में इस भूमिका में बौद्ध-तन्त्र की सक्षेप में श्रालोचना करने में लगा। किन्तु, श्रालोच्य विषय इतना जिटल एव विषाल है कि छोटे कलेवर में श्रावश्यक सभी विषयों का सिन्नवेश करना सम्भव नहीं है। केवल कुछ मुख्य विषयों की चर्चा करने की चेष्टा की गई है। योग-विज्ञान का गम्भीर रहस्य श्रागम-साधना में ही निहित है। एक समय था, जब भारत की यह गुप्तविद्या चीन, तिव्वत, जापान श्रादि वहु प्रदेशों में समादर के साथ गृहीत होती थी। इसी प्रकार इसका धीरे-धीरे नाना स्थानों में प्रसार हुश्रा था। एक तरफ जैसा बुद्धि के विकास का क्षेत्र गम्भीर दार्शनिक एवं न्यायशास्त्र के श्रालोचन से माजित होता था, श्रीर उत्तरोत्तर दिग्गज विद्वानों के उद्भव से दर्शनशास्त्र की पृष्टि होती थी, तो दूसरी तरफ उसी प्रकार योग-मार्ग में भी बोधि के क्षेत्र में वडे-बडे सिद्ध एवं महापुरुषों का उद्भव होता था। ये लोग प्राकृतिक तथा श्रति-प्राकृत शवितपु जो को श्रपने वश में करके लोकोत्तर सिद्धि-सम्पत्तियों से श्रपने को मण्डित करते थे। यदि किसी समय इनका प्रामाणिक इतिहास लिपिवद्ध होना सम्भव हुश्रा, तो श्रवश्य ही वर्त्तमान युग भी उन विद्वान् सिद्धों के गौरवपूर्ण जीवन का श्राभास पा सकेंगा।

तान्तिक योग के मार्ग में अयोग्य व्यक्तियों का प्रवेश जब अवारित हो गया, तव स्वभावत नागार्जु न या असग का महान् श्रादशं सव लोग समान रूप से सरक्षित नहीं रख सके। इसीलिए, अन्यान्य धार्मिक प्रस्थानों के सदृश वौद्ध-प्रस्थान में भी नीति-लघन श्रीर आचारगत शिथिलता की क्रमश वृद्धि हुई। वौद्धधर्म के अवसाद के कारणों में यह एक मुख्य है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि नीति-धर्म के ऊपर ही जगत् के सामाजिक प्रतिष्ठान विश्वत हैं। किन्तु, व्यक्तिगत और सामूहिक स्खलन देखकर मूल श्रादशं के महत्त्व की विस्मृति नहीं होनी चाहिए।

सिगरा, बनारस २**५**–१२–५५ गोपीनाथक विराज

# बोधिसत्त्व की साचात् प्रतिमा

श्राचार्य नरेन्द्रदेवजी १६-२-५६ को शरीर के जीर्ण वस्त्र को त्याग कर उस लोक मे चले गये, जहाँ सबको जाना है। उसके लिए मानवीय धरातल पर हमारा शोकाकुल होना स्वाभाविक है, किन्तु वे जिस धरातल पर जीवित थे, उसे पहचान लेने पर शोक करना व्यर्थ है । प्रत्येक मानव जन्म ग्रौर मृत्यु के छन्द से छन्दित है । जीवन ग्रौर मृत्यु कभी समाप्त न होने वाली सकोच-प्रसार-परिपाटी के रूप हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति इसी स्पन्दन के नियम से भ्रपने-श्रपने कर्मक्षेत्र में जीवित है। स्राचार्यजी ने प्राण के इस सनातन स्पन्दन को मानवीय धरातल पर मानव के दुख-सुख को अपना बनाकर जितना निकट कर लिया था, वैसा कम देखने मे आता है। अपने चारो ओर दुखो से टूटे हुए अभावग्रस्त मानवो को हम सभी देखते हैं। म्राचार्यजी ने भी उन्हें देखा था। उनका चित्त करुणा से पसीजकर स्वय उस दु:ख मे सन गया। उनका वह चित्त जितना उदार था, उतना ही दृढ था; इसीलिए वे दु.ख के इतने बोझ को वहन कर सके। दु खियो का दु.ख दूर करने के लिए दिन-रात दहकनेवाली भ्रग्नि उनके भीतर प्रज्वलित रहती थी। निर्वल देह में बहुत सबल मन वे धारण किये हुए थे। ऐसे करुणा-विगलित चित्त को ही 'बोधिचित्त' यह पारिभाषिक नाम दिया जाता है। महाकरुणा, महामैत्री जिनके चित्त में स्वत अकुरित होती हैं और जीवन-पर्यन्त पुष्पित और फिलत होकर बढती रहती है, वे ही सचमुच बोधिचित्त के गुणो से धनी होते हैं। श्राचार्यजी को ग्रपने पास स्थूल धन रखते हुए जैसे किसी भारी ठोस का ग्रनुभव होता था। लखनऊ-विश्वविद्यालय एव काशी-विश्वविद्यालय मे पाँच-छ वर्ष तक कुलपति-पद पर रहते हुए उन्हें जो वेतन मिलता था, उसका लगभग ग्राधा भाग वे निर्धन छात्रो के लिए दे डालते थे। तब दूसरा आधा भाग-वह भी दबे हुए ग्रात्मसन्तोष से वे स्वीकार कर पाते थे। ग्रपने समय, शारीरिक शक्ति तथा बुद्धि का भ्रजस्र दान तो वे करते ही रहते थे। जबसे उन्होने सोचना शुरू किया था, तबसे लेकर उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक करुणा से प्रेरित उनके महादान का यह सत्र चलता ही रहा।

यह दान किसलिए था ? महायान बौद्ध-धर्म के शब्दो में, जिसके आदर्श का उनके जीवन मे प्रत्यक्ष हुआ था, उनका यह दान 'न स्वर्ग के लिए, न इन्द्रपद के लिए, न भोगों के लिए और न राज्य के लिए था। उनके जीवन का सत्य इसलिए था कि जो अमुक्त हैं, उन्हें मुक्त करें, जो विना आशा के है, उन्हें आशा दे, जो विना अवलम्ब के हैं, उन्हें धैर्य और दिलासा दें और जो दु:खी हैं, उनके दु ख की ज्वाला कम करें।' आचार्यजी कुछ इस प्रकार सोचते थे—'दूसरे प्राणियो का दु:ख दूर करने मे जो आनन्द के लहराते हुए समुद्र का अनुभव है, मुझे उसी का एक कण चाहिए। मैं पृथिवी के भोग, राज्य अथवा नीरस मोक्ष को

भी लेकर क्या करूँगा?' आजकल के युग में इस प्रकार का महान् सकल्प श्रति दुष्कर है ग्रीर विरल भी, किन्तु वे स्वभाव से जिस पथ के पिथक थे, उस मार्ग पर इसी प्रकार के 'वहुजनहिताय वहुजनसुखाय' वाले सुरिभत पुष्प विखरे रहते हैं। वह मार्ग वोधिसत्त्वों के ऊँचे आदशों से बना हुआ है। सब सत्त्वों के लिए, प्राणिमान के लिए जिसके हृदय में अनुकम्पा है, वही उस पथ पर चलने का आवाहन सुन सकता है। अपने राष्ट्र में जिस समय राष्ट्रिपता ने रिवारों में लालित-पालित कुलपुनों को इस प्रकार के करुणामय जीवन के लिए पुकारा, आचार्य रेन्द्रदेव अपने पूर्वसंचित सस्कारों के वेग-वल से उस पिनत में आकर मिल गये। उन्होंने ससार के अनेक प्रलोभनों की भोर मुड़कर नहीं देखा। जिद्यर पाँव रखा, उधर ही पैर बढ़ाते हुए महायाना के द्वार तक चले गये। एक वार जो चले, फिर पश्चात्पद नहीं हुए। शरीर साथ नहीं देता था, दूसरों के सचित दु ख को मानों वह उन्हीं पर वार-वार उँडेल रहा था, किन्तु मन की शक्ति को शरीर की अशक्ति कहीं डाँवाडोल कर सकती है? उनके निजी मिन्न और हितू जब उन्हें श्वास की पीडा से हाय-हाय करते हुए और कर्त्तव्यवध कागज-पन्नों पर हस्ताक्षर करते हुए या समाज और राष्ट्र की समस्या पर परामर्श देते हुए देखते थे, तो वे अधीर होकर आचार्यजी की उस एकनिष्ठा पर खीझ उठते थे और आचार्यजी उस खीझ को ही अपने लिए शीतल बनाकर आगे वढ जाते थे।

वे त्यागी और साहसी नेता थे। भारतीय संस्कृति, इतिहास, संस्कृत-भाषा, महायान, बौद्ध-धर्म-दर्शन श्रौर पालि-साहित्य के उद्भट विद्वान् थे। पर जो गुण उनका निजी था, जो उनमें ही अनन्य-सामान्य था, वह उनकी ऐसी मानवता थी, जो एक क्षण के लिए भी उन्हें न भुलती थी। यद्यपि लखनक-विश्वविद्यालय में जब वे कुलपित थे, तभी भे उनसे परिचित हो गया था, तथापि उनके वहुमुखी व्यक्तित्व के पहलुक्षों को निकट से देखने का भीर उनके प्रगाढ गुणो को पहचानने का अवसर मुझे काशी-विश्वविद्यालय में मिला। मै नवम्बर सन्, १९५१ ई० में ग्रीर वे एक मास वाद दिसम्बर, सन् १९५१ ई० में विश्वविद्यालय में ग्राये। तबसे उनका साम्निघ्य निरन्तर वढता गया । चरित्र श्रीर व्यक्तित्व के श्रनेक गुणो में जिस ऊँचे धरातल पर वे थे, उसे मन-ही-मन पहचानकर मुझे ग्रान्तरिक प्रसन्नता हुई। ग्रन्त करण स्वीकार करता था-- 'यह एक व्यक्ति है, जो इतना निरिभमान है, जिसके व्यक्तित्व को पद का गौरव कभी छू नहीं पाता, जो अपने गील से स्वय इतना महान् है कि उसे और किसी प्रकार के कृतिम गौरव की ग्रावश्यकृता नही ।' वे विश्वविद्यालय के कुलपित थे, तो क्या हुग्रा ? स्वच्छन्द भाव से ऋघ्यापको के घर पर स्वय चले श्राते । पूर्वसूचना की भी श्रावश्यकता नहीं समझते थे। साथ बैठकर वार्ते करते, अपनी कहते और दूसरे की सुनते थे। वे श्रीरो को भी मानव समझते थे स्रोर सम्भवत विश्वविद्यालय में कोई ऐसा व्यक्ति न था, जिसे उनके साथ इसी स्रात्मीयता का ग्रनुभव न होता हो । कहाँ है ऐसा मानव ? उसे दीपक लेकर ढूँढना होगा । छात्र विषव-विद्यालय के भृत्य, शहर के मेहनती मजदूर और कहाँ-कहाँ के लोग उनके पास नदी के प्रवाह की तरह वरावर भ्राते रहते थे। प्रात काल से रात के १० वजे तक यह ताँता समाप्त न होता था। उनके रोपणशील मिल्न कहते कि श्राचार्यजी ग्राप स्वय ग्रपने ऊपर ग्रत्याचार कर रहे हैं।

ग्रापके स्वास्थ्य का ग्रीषध स्वयं ग्रापके हाथ मे हैं। पर, सम्भवतः यही एक ऐसी चिकित्साविधि थी, जिसका आचार्य जी ने कभी उपयोग नहीं किया। वे जिस प्रकृति के बने थे, उसके रहते हुए ऐसा करना सम्भव भी नही था। यदि दर्शन की परिभाषा का उपयोग करने की अनुमति हो, तो प्रज्ञानघन के स्थान पर उन्हें सौजन्यघन कहना उपयुक्त होगा। दूसरो के प्रति सज्जनता, ग्रीर दूसरों का सम्मान यही उनका भारी गुण था। कह सकते हैं कि शासक के पद से यही सम्भवत उनकी तृटि थी, क्योंकि वे उस लोक के लिए बने थे, जहाँ सज्जनता का साम्राज्य हो, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति भ्रपनी बुद्धि से स्वय विचार करता हो, श्रीर जिस सम्मान का उसे पात समझा गया है, उसी के अनुरूप ऋजुता के धरातल पर वह भी व्यवहार करता हो । आचार्यजी के लिए यह समझना कठिन था कि सौजन्य ग्रौर विश्वास का व्यवहार पाकर कोई व्यक्ति उनके साथ दूसरी तरह का बरताव क्यो करेगा । श्रस्तु, जीवन की सफलताएँ श्रीर श्रसफलताएँ नश्वर हैं, संसार अपने पथ पर थपेडे खाता हुआ चला जाता है एव सज्जन और असज्जन दोनो ही अपनी-अपनी सीमाओ से परिवेष्टित आगे बढने के लिए मजबूर होते है। किन्तु, एक तत्त्व जिसका केवल सौजन्य द्वारा ही जीवन मे साक्षात् किया जा सकता है, वह प्राणिमाल के प्रति ग्रनुकम्पा श्रौर करुणा का भाव है। श्रौरो के दु:ख से दु:खी होने की क्षमता भी प्रकृति सबको नहीं देती। जिसमें इस प्रकार की क्षमता है, जिसके केन्द्र में इस प्रकार का कोई एक गुण-लवलेश है, उसे ही हम बोधिचित्तवाला व्यक्ति कहते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति समाज के सीरभ हैं, वे देवपूजा मे समर्पित होने योग्य पुष्पों के समान है। यह क्या कम सीभाग्य है कि श्राचार्यजी का जीवन मात्भूमि के लिए समर्पित हुआ श्रीर राष्ट्र के श्रधिदेवता ने उनकी उस पूजा को स्वीकार किया। ग्राज महामन्त्री से लेकर साधारण किसान तक उनके शोक से श्राकुल है। ईश्वर करे, इस प्रकार के बोधिसत्त्व व्यक्ति समाज में जन्म लेते रहें, जिससे मानवता का श्रादर्श राष्ट्र मे श्रोझल न होने पावे।

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

वासुदेवशरण श्रग्नवाल

# म्राचार्यजी स्रीर बौद्ध-दर्शन

श्राचार्य नरेन्द्रदेव को राजनीति, समाजनीति और भारतीय संस्कृति एव इतिहास के क्षेत्र मे जो नेतृत्व, प्रकाण्ड विद्वत्ता एव अपूर्व कल्पनाशक्ति प्राप्त थी, उससे देश पूर्ण परिचित है, किन्तु दर्शन के क्षेत्र मे विशेषत पालि तथा वौद्ध-दर्शन के क्षेत्र मे उन्होने जो कष्टसाध्य विद्वता अजित की थी, उससे कम लोग परिचित्त हैं। इतिहास और सस्कृति के अध्ययन ने ही उन्हें वौद्ध-धर्म ग्रौर दर्शन की ग्रोर त्राकृष्ट किया। उन्होने पालि के विशाल वाडमय का उस समय अध्ययन किया, जब अध्ययन की अपेक्षित सामग्री उपलब्ध नहीं थी और पूरे भारत मे इने-गिने विद्वान् ही इस दिशा मे प्रयास करते थे। अध्ययन की इस अपरिचित दिशा की श्रोर वह ग्रकेले वढे थे, फिर भी उन्होने पूरे त्रिपटक ग्रीर श्रनुपिटक-साहित्य का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। आचार्यजी के गम्भीर निवन्ध इसके प्रमाण हैं कि उन्होने 'स्रिमधर्म-पिटक' के उन अशो का भी गम्भीर अध्ययन किया था, जिसका अध्ययन पूरी सामग्री प्राप्त होने पर भी ग्राज देश मे नहीं हो रहा है। स्थिवरवाद के शमथयान ( समाधि ) का श्रध्ययन अपनी दुरूहता के कारण विदेश के बौद्ध मठों में भी उपेक्षित-सा रहा है। आचार्यजी ने इस विषय के मूल प्रन्यों के ग्रतिरिक्त अट्ठकथाग्रो (भाष्य-व्याख्याग्रो) तक का सागोपाग श्रघ्ययन किया और इन विषयो पर गम्भीर निवन्ध भी लिखे। इसके लिए उन्हें सिंघली और वर्मी ग्रन्थो की सहायता लेनी पड़ी। वौद्ध-धर्म श्रीर दर्शन की दिशा में ग्राचार्यजी की श्रप्रतिम विशेषता यह यी कि उन्होने स्यविरवाद और हीनयान के दर्शन और धर्म के दुरूह अध्ययन के साय-साय सस्कृत के महायानी दर्शनों का भी मूल ग्रन्थों से ग्रध्ययन किया था। सम्भवत , इस उभयज्ञता के ग्राप एकमात उदाहरण हैं। महायानी दर्शनो का भ्रष्ट्ययन उन्होने मूल संस्कृत से किया था और फेंच, ग्रेंगरेजी-कृतियों का भी ग्राधार लिया। वीद्ध-धर्म ग्रीर दर्शन की इन समस्त शाखा-प्रशाखात्रो का ग्रध्ययन उन्होंने सन् १६३३-३४ ई० तक पूरा कर लिया था।

यह मत्य है कि श्राचार्यंजी के जीवन के परवर्ती २०-२२ वर्ष समाजवाद श्रीर मार्क्सं के जीवन-दर्शन से श्रत्यधिक प्रभावित हुए, किन्तु इतने से ही उनके जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती। उनके पूर्वंजीवन से परजीवन का जो सहज एवं समन्वित श्रगागी भाव या, उसे भी देखना होगा। श्रवश्य ही सन् १६३३-३४ ई० तक उनके जीवन में एक ऐसी सास्कृतिक उसे भी देखना होगा। श्रवश्य ही तन् १६३३-३४ ई० तक उनके जीवन में एक ऐसी सास्कृतिक भूमि तैयार हो चुकी थी, जिसकी नैतिकता श्रीर उदारता श्रीद-दर्शन के तर्क-कर्मश तेज में भूमि तैयार हो चुकी थी श्रीर जिसकी हृदयग्राहिता तथागत की करुणा के अजल प्रवाह से श्रिम-परीक्षित हो चुकी थी।

उनके बाल्यकाल पर उनके पिता के सनातनधर्मी भावनात्रो एवं कर्मकाण्ड का प्रभाव पड़ा। उनके पिता के कारण उन दिनो फैजाबाद सनातनधर्म का गढ था। श्रपने पिता के साथ-साथ उन्होने बाल्यकाल में सनातनधर्म और आर्यसमाज के अनेकानेक विराट् अधिवेशनो को देखा था ग्रीर उनमे धुर्ग्रांधार खण्डन-मण्डनात्मक शास्त्रार्थं ग्रीर भाषण भी सुने थे। उन्ही दिनो 'रुद्राष्टाध्यायी' ग्रौर 'ग्रष्टाध्यायी' के माध्यम से उन्हें सस्कृत एव सस्कृति की शिक्षा मिली। विकाल नही, तो द्विकाल सन्ध्या उनके लिए अनिवार्य थी। इस प्रकार, उनके प्रारम्भिक निर्माण में धार्मिक प्रभावो का प्राधान्य था। उन्ही दिनो ग्रपने घर मे स्वामी रामतीर्थं की प्रखर तेजस्विता का उन्हें भ्रनेक बार साक्षात्कार हुआ था। इसका भी उनपर स्थायी प्रभाव पडा। कॉलेज मे स्राते ही बगाल की राष्ट्रीय चेतना की लहर ने उनके विद्यार्थी-जीवन को नया सन्देश दिया। भ्रब जीवन की चेतना भ्रौर अध्ययन मे परस्पर भ्रादान-प्रदान प्रारम्भ हुआ भ्रौर उसमे धीरे-धीरे समरसता भी त्राने लगी। जीवन की इसी चेतना ने भारतीय संस्कृति ग्रीर इतिहास के प्रति उनमें विशेष भ्राकर्षण उत्पन्न किया। डॉक्टर वेनिस भ्रीर प्रोफेसर नार्मन ने उनके ब्रध्ययन को विकसित किया और विशेष प्रकार से सजाया। डॉक्टर वैनिस ने उन्हें दर्शन भी पढ़ाया ग्रौर उसके प्रति उनमे ग्रभिरुचि उत्पन्न की। दर्शन के विभिन्न सूत्रग्रन्थ एव भाष्यो का ग्रध्ययन उन्होने बनारस सस्कृत-कॉलेज के ग्रध्यापक पण्डित जीवनाथ मिश्र ग्रादि से किया था।

श्रवतक पाश्चात्य दर्शनो से वे परिचित हो चुके थे, किन्तु जीवन-सम्बन्धी दर्शन की जिज्ञासा उत्तरोत्तर प्रवल होती जा रही थी। पालि और बौद्ध-दर्शन के श्रध्ययन ने उन्हें नैतिक एव श्राध्यात्मिक मान्यताश्रों की चमत्कारपूर्ण व्याख्या दी। इससे उन्हें मानवीय मूल्यों के तर्कसगत एव हृदयग्राही स्वरूप का प्रत्यक्ष हुआ। बौद्धों का गतिशील दर्शन, मानव-मन के भेंद श्रीर उसकी किया-प्रतिक्रियाश्रों का विस्तृत विश्लेषण, व्यक्ति के द्वारा सर्व (समाज) के उद्धार का सकल्प श्रीर बुद्धिवादिता, इसके श्रितिरक्त जातिवाद, शास्त्रवाद श्रीर देवाधिदेववाद श्रादि का विरोध, ये तत्त्व ऐसे मानवीय एवं सामाजिक हैं, जो पुरानी मान्यताश्रों को नवीन दृष्टि से देखने की शक्ति प्रदान करते हैं। श्राचार्यजी ने इसी प्रस्थान-विन्दु से समस्त भारतीय संस्कृति का पर्यवेक्षण किया था। भारतीय संस्कृति के पर्यवेक्षण की यह नवीन शक्ति इन्ही दिनो उनमें प्रादुर्भ्त हुई। समाजवाद के श्रध्ययन से तो उसपर एक नई चमक श्रा गई।

श्राचार्यजी का जीवन बौद्धों की नैतिक दृष्टि से बडा ही प्रभावित था। ग्रार्य शान्तिदेव के 'बोधिचर्यावतार' के हृदयग्राही पद्य उन्हें बड़े ही प्रिय थे। प्राय ग्रपने मित्रों को इसके पद्य सुनाया करते थे ग्रीर पढ़ने के लिए प्रेरित करते थे। काल का व्यग्य कि जो ग्रन्थ उनके पूरे जीवन मे प्रिय था, उसे जब पेरुन्दुराई के विश्राम-काल में पढ़ने के लिए ग्रपने मित्र श्री श्रीप्रकाशजी के द्वारा मद्रास-विश्वविद्यालय-पुस्तकालय से उन्होंने मँगाया, तब उसकी एक पित्त भी पढ़ने के पहले ही इस लोक से चले गये।

जो पद्य उनको बहुत प्रिय थे, उनमें शान्तिदेव के वे पद्य थे, जिनका साराश है कि 'जब समस्त लोक दुःख से आत्तं और दीन है, तब में ही इस रसहीन मोक्ष को प्राप्त कर क्या करूँगा। 'प्राणियों के सैंकडो दु'खों को स्वयं भीग करके उनके दु खों को हरण करने की कामना करनेवाले और उसे ही अपना सुख-सौख्य समझानवाले को वोधिचित्त का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। 'वोधिचित्त' चित्त का वह सकल्प है, जिससे ससार के समस्त आत्तं प्राणियों का उद्धार होगा। 'कण्टकाटि से रक्षा करने के लिए पृथ्वी को चर्म से आच्छादित करना उचित है, परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उतना चर्म कहाँ मिलेगा, यदि मिले भी, तो आच्छादन असम्भव है, किन्तु उपाय के द्वारा कण्टकादि से रक्षा हो सकती है, क्योंकि जूते के चमडे से सव भूमि आच्छादित हो जाती है। 'इसी प्रकार, व्यक्ति अनन्त बाह्य भावों का निवारण एक चित्त के निवारण से कर सकता है। शील का 'करुणा' में विकास, कुशल बुद्धि का 'प्रज्ञा' में विकास और उन दोनों के अभेद से व्यक्तित्व का निर्माण, वौद्धों की इस जीवन-दृष्टि से आचार्यजी बहुत ही प्रभावित थे। व्यक्तित्व की शून्यता और समाज की सत्ता का बौद्ध सिद्धान्त भी उनके चिन्तन का विषय सदा वना रहा।

याचार्यजी कहा करते थे कि नैतिकता और प्राध्यात्मिकता की जो तर्कसम्मत और हृदयग्राही व्याख्या वौद्धो ने की है, उससे व्यक्ति में ग्रन्ध-परम्परा से विमुक्त निरीक्षण की शक्ति ग्राती है। ग्राचार्यजी की नैतिकता इसी सुदृढ दार्शनिक व्याख्या के ग्राधार पर सुपुष्ट हुई। इसी के ग्रालोक में उन्होंने प्राच्य, प्रतीच्य विभिन्न नैतिक व्याख्याग्रो का पर्यालोचन किया था और उनके मस्तिष्क में भारतीय सस्कृति का एक ग्रपूर्व चित्र वना था। इस सास्कृतिक ग्राधार पर ममाजवाद के ग्रध्ययन ने ग्राचार्य नरेन्द्रदेव को समाजवाद की नैतिक व्याख्या करने के लिए वाध्य किया। ग्राचार्यजी की वह सास्कृतिक प्रतिभा भारतीय समाजवाद में भी प्रतिफलित हुई। यही कारण है कि वह समाजवाद ग्रीर भारतीय सस्कृति दोनों के समान रूप से मूर्द्धन्य व्याख्याकार हुए। उन्होंने मार्क्सवाद से भारतीय सस्कृति या नैतिकता का ग्रविरोध नहीं, ग्रनिवार्य समन्वय स्थापित किया। इसीलिए, इन्हें सर्वोदय या भूदान की नैतिकता मार्क्सवाद से डिगा नहीं सकी ग्रीर न सर्वोद्य को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकृति दिला सकी। इन समस्त दार्शनिक एवं मास्कृतिक ग्रध्ययनों का पर्यवसान एक नई संस्कृति के निर्माण में है, ग्राचार्यजी के 'नवसस्कृति-संघ' की कल्पना उसका फलितार्य था।

घोर राजनीतिक ग्रस्तव्यस्तता के बीच ग्रीर रोगो के मार्मिक शहारों के बीच भी उन्हें जब-जब समय मिला, वीद्धदर्शन का ग्रपना प्रिय ग्रध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वे चाहते ये कि हिन्दी में वौद्ध-दर्शन के ग्रध्ययन की ग्रपेक्षित सामग्री शीघ्र-से-शीघ्र प्रस्तुत कर दें। इसके लिए गवेपणात्मक निवन्धों के ग्रतिरिक्त कुछ प्रामाणिक ग्रन्थों का सिक्षप्त ग्रनुवाद भी ग्रावण्यक समझते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने हिन्दी में 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' नाम से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। पाँच खण्डो ग्रीर २० ग्रध्यायों के इस ग्रन्थ में स्थविरवाद की साधना, धर्म ग्रीर दर्शन, महायान-धर्म ग्रीर दर्शन, महायान की उत्पत्ति ग्रीर विकास, उसका साहित्य ग्रीर साधन, बौद्ध-दर्शन की सामान्य मान्यताएँ, प्रतीत्यसमुत्पादवाद, क्षणभंगवाद, ग्रनीश्वरवाद, कर्मवाद, निर्वाण, बौद्ध-दर्शन के वैभाषिक,

सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद का विषय-परिचय और तुलना आदि विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन है।

इसके म्रितिरिक्त, म्राचार्य वसुबन्धु के 'म्रिभिधर्मकोश' का सक्षेप, 'म्रायं भ्रसग के महायानसूत्रालकार' का भाषानुवाद, ह्वेनसाग की 'विज्ञिष्तिमात्रतासिद्धि' के म्राधार पर विस्तृत निबन्ध, म्राचार्य नागार्जु न की 'माध्यमिककारिका' भ्रौर म्राचार्य चन्द्रकीत्ति की 'प्रसन्नपदा वृत्ति' का सिक्षप्त म्रनुवाद इस ग्रन्थ मे समाविष्ट है। इस ग्रन्थ का पाँचवाँ खण्ड बौद्धन्याय पर लिखा गया है, जिसमे म्राकाश-दिक् भ्रौर काल पर एक महत्त्वपूण भ्रध्याय है। दूसरे भ्रध्याय मे बौद्ध प्रमाणो का भ्रौर उसके भ्रवान्तर भेदो का जैसा विवेचनापूर्ण भ्रौर स्पष्ट निर्वचन किया गया है, वह भ्रन्यत्र दुलेंभ है। ग्राचार्यजी के परमिम्न महामहोपाध्याय डॉक्टर गोपीनाय किवराज ने भ्रपनी भूमिका मे बौद्धतन्त्र पर लिखकर इस ग्रन्थ को बौद्धतन्त्र से भी पूर्ण कर दिया। इस प्रकार, यह एकमात्र ग्रन्थ वौद्ध-दर्शन के श्रध्ययन के लिए समस्त द्वार खोल देता है। भ्रौगरेजी या फेंच मे इस विषय की कोई ऐसी पुस्तक नहीं है, जिसमे इतनी सामग्री एकत्र उपलब्ध हो। सस्कृत के भ्रबतक के प्राप्त ग्रन्थों मे भी इस प्रकार का कोई ग्रन्थ नहीं, जिससे समस्त बौद्ध-धाराभों का परिचय प्राप्त हो।

म्राचार्यजी ने कुछ विशिष्ट बौद्ध-ग्रन्थो का म्रविकल म्रनुवाद भी किया है। उसमे सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ वसुबन्धु-रचित 'ग्रभिधर्मकोश' है। यह ग्रन्थ ६०० कारिकाम्रो का है। वसुवन्धु ने ही इन कारिकाओं पर ग्रपना भाष्य लिखा था। यह ग्रन्थ बडे महत्त्व का इसलिए हुआ कि भाष्य मे वसुबन्धु ने जगह-जगह पर श्रपने पूर्ववर्ती विभिन्न आचार्यों का मत दे दिया है। बौद्ध-ससार पर इस ग्रन्थ का बडा प्रभाव है। इसके चीनी ग्रीर तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है, किन्तु मूल सस्कृत लुप्त हो गया था। लुई द ला वली पूसें ने चीनी से फ्रेंच-ग्रनुवाद किया। अपने अनुवाद मे पूर्से ने घोर परिश्रम करके अपनी टिप्पणियो मे समस्त त्रिपिटक, स्थविरवाद तथा श्रन्य बौद्ध-दार्शनिको का तुलनार्थ उद्धरण दे दिया है। इन टिप्पणियो ने 'स्रिभिधर्मकोश' को बौद्ध-दर्शन का स्रौर भी बृहत्तर कोश बना दिया है। भ्राचार्यंजी ने १० जिल्दों के इस ग्रन्थ का अविकल भ्रनुवाद किया है। इस ग्रन्थ के भ्रनुवाद की सबसे बड़ी विशेषता बौद्ध-दर्शन के भाषा-सम्बन्धी वातावरण की सुरक्षा है। इस हिन्दी-ग्रन्थ का अपने मूल संस्कृत की ही भाँति अशिथिल वाक्याविलयों में धाराप्रवाह पाठ किया जा सकता है। भाषा के कारण यह वौद्ध-वातावरण से कही भी च्युत नही हुग्रा है। इस ग्रन्थ का म्रनुवाद म्राचार्य नरेन्द्रदेव के बौद्ध-दर्शन के पाण्डित्य का ज्वलन्त प्रमाण है। इस मन्य के ग्रध्ययन के विना बौद्ध-दर्शन का ग्रध्ययन ग्रत्यन्त अपूर्ण रहता है । ग्राचार्यजी ने इसका अनुवाद कर बौद्ध-दर्शन के प्रौढ श्रध्ययन का द्वार खोल दिया है। महापण्डित श्रीराहुल साकृत्यायन के प्रयास से इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत-भाग भी उपलब्ध हो गया है। ग्राचार्यजी उस मूल से इस ग्रन्थ को मिलाकर चीनी-अनुवाद ग्रौर फेंच-श्रनुवाद की सम्भावित बुटियो का निराकरण कर लेना चाहते थे श्रौर श्रपनी विस्तृत भूमिका मे पूसें के बाद इस क्षेत्र मे हुए कार्यों

का साराश भी दे देना चाहते थे, किन्तु श्रस्वस्थता श्रीर काल ने इसे सम्भव नही होने दिया। इस ग्रन्थ का ग्रँगरेजी-श्रनुवाद भी श्राचार्यजी ने किया है।

ग्राचार्यजी ने विज्ञानवाद के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी-श्रनुवाद किया है। वसुवन्धु ने 'विशिका' नामक ग्रन्थ लिखा। ह्वेनसाग ने 'विशिका' पर 'विज्ञिप्तमावतासिद्धि' नामक टीका चीनी-भाषा मे लिखी है। पूर्से ने इस ग्रन्थ का फेंच मे श्रनुवाद प्रकाणित किया था। इस बढे ग्रन्थ का महत्त्व इसमें है कि विशिका के पूववर्ती दस टीकाकारो का मत दिया गया है। इस एक ग्रन्थ के श्रद्ध्ययन से ही समस्त श्राचार्यों के मतो का कथितार्थ ज्ञात हो जाता है। श्राचार्यजी ने इसका हिन्दी-श्रनुवाद करके विज्ञानवाद के श्रद्ध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इसके श्रतिरिक्त, पालिग्रन्थ 'ग्रिमधम्मत्यसगही' का भी श्रनुवाद किया था। उन्होने क्षेमेन्द्र के प्राक्तन-व्याकरण का भी श्रनुवाद किया श्रौर उसपर श्रपनी खोजपूर्ण टिप्पणी भी लिखी। पालि-व्याकरण के ज्ञान के लिए भी एक सुन्दर नोट तैयार किया था, किन्तु उनके ये दोनो कार्य कुछ दिन पहले ही लापता हो गये थे।

प्राचार्यजी की यह प्रवल ग्रिभलाषा थी कि वौद्ध-दर्शन की फोंच-कृतियो का मनुवाद करके वौद्ध-दर्शन के ग्रध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया जाय । उनके निधन से राजनीति के क्षेत्र मे चाहे जितनी बडी क्षित हुई हो, किन्तु वौद्ध-दर्शन के विषय की निश्चय ही अपूरणीय क्षित हुई है। देश-विदेश मे पालि ग्रौर वौद्ध-दर्शन के सम्वन्ध मे शिक्षा-सस्थाग्रो या विद्वानो द्वारा जो-जो कार्य होते थे, उन सबसे वे सदा परिचित रहते थे। बौद्ध-न्याय का श्रध्ययन उन्होने नहीं किया था। 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' नामक ग्रपने ग्रन्थ मे न्याय का श्रध्ययन देने से श्रपूर्णता आ रही थी। इधर वर्षों से लगातार रोगाकान्त थे, फिर भी उन्होने वौद्ध-न्याय के मूल ग्रन्थों को ग्रीर श्चेरवात्स्की के 'बुद्धिस्ट लॉजिक' तथा श्रनेक फोंच-ग्रन्थों का घोर श्रध्ययन कर उस श्रध्याय को लिखकर ग्रन्थ पूर्ण किया। बौद्ध-त्याय के इस श्रध्याय ने श्चाचार्यजी पर श्रवश्य ही निर्मम प्रहार किया। जव-जव इस कार्य मे उन्होने श्रपने को लगाया, तब-तव रोगो के बड़े-बड़ श्राक्रमण हुए। मृत्युशय्या पर लेटे-लेटे ही उन्होने 'बौद्ध-दर्शन' के एक हजार पारि-भाषिक शब्दों के कोश के निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ किया था। पेरुन्दुराई के विश्वामकाल मे उन्होने चार सौ शब्दों का व्याख्यात्मक कोश लिखा। मृत्यु ने इस महत्त्वपूर्ण सकल्प को पूरा नहीं होने दिया।

जो कुछ हो, श्राचार्यजी ने श्रपने ग्रन्थो एव निवन्धो से वौद्ध-दर्शन के श्रध्ययन का मार्ग वहुत कुछ प्रशस्त कर दिया है। इस क्षेत्र के विद्वान् उनके सदा ऋणी रहेंगे।

जगन्नाथ उपाध्याय

# मेरे संस्मरण

[ श्राचार्यंजी के जीवन का सिक्षप्त विवरण, उन्हीं के शब्दों में लिखा हुआ ]

मेरा जन्म सवत् १६४६ मे कार्तिक शुक्ल-श्रष्टमी को सीतापुर मे हुआ था। हमलोगों का पैतृक घर फैजाबाद मे है, किन्तु उस समय मेरे पिता श्रीबलदेवप्रसादणी सीतापुर में वकालत करते थे। हमारे खानदान में सबसे पहले अग्रेजी-शिक्षा प्राप्त करनेवाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। श्रवध में अग्रेजी-हुकूमत सन १८५६ ई० में कायम हुई। इस कारण श्रवध में अग्रेजी-शिक्षा का आरम्भ देर से हुआ। मेरे बाबा का नाम बाबू सोहनलाल था। वे पुराने कैनिंग कॉलेज में मध्यापक का कार्य करते थे। उन्होंने मेरे पिता और ताऊ को अग्रेजी की शिक्षा दी। पिताजी ने कैनिंग कॉलेज से एफ्० ए० कर वकालत की परीक्षा पास की थी। आखों की बीमारी के कारण वे बी० ए० नहीं कर सके। मेरे बाबा उनको कानून की पुस्तकों सुनाया करते थे और सुन-सुनकर ही उन्होंने परीक्षा की तैयारी की थी। वकालत पास करने पर वे सीतापुर में बाबा के शिष्य मु शी मुरलीधरजी के साथ वकालत करने लगे। दोनो सगे माई की तरह रहते थे। दोनो की आमदनी और खर्च एक ही जगह से होते थे। मु शीजी के कोई सन्तान न थी। वे अपने भतीजे और बडे भाई को पुत्र के समान मानते थे। मेरे जन्म के लगभग दो वर्ष बाद मेरे दादा की मृत्य हो जाने के कारण पिताजी को सीतापुर छोडेना पड़ा और वे फैजाबाद में वकालत करने लगे।

जब वे सीतापुर मे थे, तभी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। किसी सन्यासी के प्रभाव मे ग्राने से ऐसा हुआ था। वे बडे दानशील ग्रीर सात्त्विक वृत्ति के थे। वेदान्त मे उनकी बडी श्रिभिरुचि थी ग्रीर इस शास्त्र का उनको ग्रच्छा ज्ञान था। वे सन्यासियो का सत्सग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी, उस समय फारसी का प्रचलन था। किन्तु, ग्रपनी सस्कृति ग्रीर धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने सस्कृत का ग्रभ्यास किया था। वे एक नामी वकील थे, किन्तु वकालत के ग्रतिरिक्त भी उनकी ग्रनेक दिलचिर्पयां थी। बालको के लिए उन्होंने ग्रग्नेजी, हिन्दी ग्रीर फारसी मे पाठ्य-पुस्तकों लिखी थी। इनके ग्रतिरिक्त उन्होंने कई सग्रह-ग्रन्थ भी प्रकाशित किये थे। ग्रग्नेजी की प्राइमर तो उन्होंने मेरे बडे भाई को पढाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारम्भ इन्ही पुस्तको से हुग्ना था। उनको मकान बनाने ग्रीर बाग लगाने का बडा शौक था। हमारे घरपर एक छोटा-सा पुस्तकालय भी था। जब में बड़ा हुग्ना, तो गर्मी की छुट्टियों मे इनकी देखभाल भी किया करता था। में ऊपैर कह चुका हूँ कि मेरे पिताजी धार्मिक थे। ग्रीर, इस नाते सनातन धर्म के उपदेशक, सन्यासी ग्रीर पण्डित मेरे घर पर प्राय. ग्राया करते थे, किन्तु पिताजी काग्रेस ग्रीर सोग्नेर सोग्न

कान्फरेन्स के कामो मे थोडी बहुत दिलचस्पी लेते थे। मेरे प्रथम गुरु थे पण्डित कालीदीन स्रवस्थी। वे हम भाई-वहनो को हिन्दी, गणित और भूगोल पढाया करते थे। पिताजी मृझसे विशेष रूप से स्नेह करते थे। वे भी मुझे नित्य ग्राध घण्टा पढाया करते थे। मैं उनके साथ प्राय कचहरी जाया करता था। मुझे याद है कि वे मुझे ग्रपने साथ एक बार दिल्ली ले गये थे। वहाँ भारत धर्ममहामण्डल का ग्रधिवेशन हुग्रा था। उस ग्रवसर पर पण्डित दीनदयालु शर्मा का भाषण सुनने को मिला था। उस समय उसके मूल्य को ग्राँकने की मुझमे वृद्धि न थी। केवल इतना याद है कि शर्माजी की उस समय वडी प्रसिद्ध थी।

मेंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी-महाभारत पढा। इनके अतिरिक्त वैतालपच्चीसी, सिहासनवत्तीसी, सूरसागर ग्रादि पुस्तके भी पढी । उस समय चन्द्रकान्ता की वृडी शोहरत थी। मैने इस उपन्यास को १६ वार पढा होगा। चन्द्रकान्ता-सन्तित को, जो २४ भाग में है, एक बार पढ़ा था। न मॉलूम, कितने लोगों ने चन्द्रकाम्ता पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी होगी। उस समय कदाचित् इन्ही पुस्तको का पठन-पाठन हुग्रा करता था। १० वर्ष की उम्र मे मेरा यज्ञोपवीत-सस्कार हुआ। पिता के साथ नित्य में सन्ध्या-वन्दन और भगवद्गीता का पाठ करता था । एक महाराष्ट्री ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे श्रीर मुझको एक समय रुद्री श्रौर सम्पूर्ण गीता कण्ठस्थ थी । मैने श्रमरकोश श्रौर लघुकौमुदी भी पढी थी। जव मैं १० वर्ष का था, ग्रर्थात् सन् १८६६ ई० मे लखनऊ मे काग्रेस का प्रधिवेशन हुआ था । पिताजी डेलीगेट थे । मैं भी उनके साथ गया था । उस समय डेलीगेट का 'बैज' होता था कपडे का फूल । मैंने भी दरजी से वैसा ही एक फूल वनवा लिया और उसको लगा-कर अपने चचाजाद भाई के माथ 'विजिटर्स गैलरी' मे जा वैठा। उस जमाने मे प्राय भाषण भ्रग्नेजी मे ही होते ये भ्रौर यदि हिन्दी मे होते, तव भी कुछ ज्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था में सिवा शोरगुल मचाने के मैं कर ही क्या सकता था। दर्शको ने तग भ्राकर मुझे डाँटा भीर पण्डाल से भागकर में वाहर चला श्राया। उस समय मैं काग्रेस के महत्त्व को क्या समझ सकता था। किन्तु, इतना में जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्रीरमेशचन्द्र दत्त श्रीर जस्टिस रानाडे देश के बडे नेताओं में से हैं। इनका दर्शन मैंने प्रथम बार वहीं किया। रानाडे महाशय की तो सन् १६०१ ई० मे मृत्यु हो गई। दत्त महाशय का दर्शन दोवारा सन् १६०६ ई० मे कलकत्ता-काग्रेस के अवसर पर हुन्ना।

मैं सन् १६०२ ई० में स्कूल में भरती हुन्ना। सन् १६०४ या १६०५ ई० में मैंनें थोडी वैगला सीखी और मेरे ग्रध्यापक मुझको कृत्तिवास की रामायण सुनाया करते थे। पिताजी का मेरे जीवन पर वडा गहरा ग्रसर पडा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरों के साथ ग्रच्छा व्यवहार किया करों, उनको गाली-गलौज न दो। मैंने इस शिक्षा का सदा पालन किया। विद्यार्थियोमें सिगरेट पीने की बुरी प्रथा उस समय भी थी। एक वार मुझे याद है कि ग्रयोध्या में कोई मेला था। मैंने शौकिया मिगरेट की डिविया खरीदी। सिगरेट जलाकर जो पहला कश खीचा, तो सिर घूमने लगा। इलायची-पान खाने पर तबीयत सँगली। मुझे ग्राध्चर्य हुग्ना कि लोग क्यो सिगरेट पीते हैं। मने उस दिन से आजतक सिगरेट नही छुआ। हाँ, श्वास के कष्ट को कम करने के लिए कभी-कभी स्ट्रैमोनियम के सिगरेट पीने पड़े है। मेरे पिता सदा ग्रादेश दिया करते थे कि कभी झूठ न बोलना चाहिए। मुझे इस सम्बन्ध मे एक घटना याद श्राती है। मैं बहुत छोटा था। कोई सज्जन मेरे मामू को पूछते हुए श्राये। मैं घर के श्रन्दर गया । मामू से कहा कि आपको कोई बाहर बुला रहा है। उन्होने कहा कि जाकर कह दो कि घर मे नही हैं। मैंने उनसे यह सन्देश ज्यो-का-त्यो कह दिया। मेरे मामू बहुत नाराज हुए। में श्रपनी सिधाई मे यह भी न समझ सका कि मैने कोई अनुचित काम किया है। इससे कोई यह नतीजा न निकाले कि मैं बडा सत्यवादी हूँ। किन्तु, इतना सच है कि मैं झूठ कम बोलता हूँ। ऐसा जब कभी होता है, तो लिज्जित होता हूँ ग्रौर बहुत देर तक सन्ताप बना रहता है। पिताजी की शिक्षा चतावनी का काम करती है। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे यहाँ अनसर साधु-सन्यासी ग्रौर उपदेशक ग्राया करते थे। मेरे पिता के एक स्नेही थे। उनका नाम था पण्डित माधवप्रसाद मिश्र । वे महीनो हमारे घर पर रहा करते थे। वे बँगला-भाषा ग्रच्छी तरह जानते थे। उन्होने 'देशेर कथा' का हिन्दी में अनुवाद किया था। यह पुस्तक जब्त कर ली गई थी। वे हिन्दी के बड़े श्रच्छे लेखक थे। वे राष्ट्रीय विचार के थे। मैं इनके निकट स्म्पर्क मे ग्राया । मेरा घर का नाम 'ग्रविनाशीलाल' था । पुराने परिचित ग्राज भी इसी नाम से पुकारते हैं। मिश्रजी पर बँगला-भाषा का अच्छा प्रभाव पडा था। उन्होने हम सब भाइयो के नाम बदल दिये। उन्होने ही मेरा नाम 'नरेन्द्रदेव' रखा। सनातन धर्म पर प्राय व्याख्यान मेरे घर पर हुन्ना करते थे। सन् १९०६ ई० मे जब मैं एण्ट्रेंस मे पढता था, स्वामी रामतीर्थ का फैजाबाद भ्राना हुमा भीर वे हमारे अतिथि हुए। उस समय वे केवल दूध पर रहते थे। शहर मे जनका एक व्याख्यान ब्रह्मचर्य पर हुआ था और दूसरा व्याख्यान वेदान्त पर मेरे घर पर हुआ था। उनके चेहरेपर बडा तेज था। उनके व्यक्तित्व का मुझपर बड़ा प्रभाव पडा और बाद को मैने उनके प्रन्थो का श्रध्ययन किया। वे हिमालय की यात्रा करने जा रहे थे। मिश्रजी ने उनसे कहा कि सन्यासी को किसी सामग्री की क्या ग्रावश्यकता, इतना कहना था कि वे अपना सारा सामान छोड़कर चले गये और पहाड़ से उनकी चिट्ठी आई कि 'राम खुश है'।

हमारे स्कूल मे एक बडे योग्य शिक्षक थे। उनका नाम था—श्रीदत्तात्रेय भीकाजी रानाडे। उनका मुझपर बडा प्रभाव पड़ा। उनके पढाने का ढग निराला था। उस समय में द्वी कक्षा मे था। किन्तु, ग्रंग्रेजी-व्याकरण में हमारे दर्जे के विद्यार्थी १०वी कक्षा के विद्यार्थियों के कान काटते थे। में श्रपनी कक्षा में सर्वप्रथम हुग्रा करता था। मेरे गुरुजन भी मुझसे प्रसन्न रहा करते थे। किन्तु, सस्कृत के पण्डित महाशय ग्रकारण मुझसे ग्रीर मेरे सहपाठियों से नाराज हो गये ग्रीर उन्होंने वार्षिक परीक्षा में हम लोगों को फेल करने का इरादा कर लिया। हम लोग वडे परेशान हुए। उस समय मेरी कक्षा के श्रष्ट्यापक मास्टर राघेरमणलाल स्कूल-लाइब्रेरियन थे। इनका भी हम लोगों पर बहुत ग्रच्छा प्रभाव पडा था। ग्रपने जीवन में एक वार यह विरक्त हो गये थे। इनके घर पर हमलोग प्रायः जायां

करते थे। यह ग्रपने विद्याणियों को बहुत मानते थे। लाइब्रेरी की कुंजी मेरे सुपुर्द थी ग्रीर में ही पुस्तकें निकालकर दिया करता था। मुझे याद ग्राया कि पण्डितजी दो वर्ष के कैलेण्डर ग्रपने नाम ले गये हैं। खयाल ग्राया, कही इन्ही वर्षों के एण्ट्रेस के प्रश्नपत्र से प्रश्न न पूझ वैठें। मैने ग्रपने सहपाठियों के साथ वैठकर उन प्रश्नपत्नों को हल किया। देखागया कि उन्ही प्रश्नपत्नों से सब प्रश्न पूछे गये हैं। परीक्षा-भवन में पण्डितजी ने मुझसे पूछा कि कहो कैसा कर रहे हो ? मैने उत्तेजित होकर कहा कि जीवन में ऐसा ग्रच्छा परचा कभी नही किया। उन्होंने कोसं के बाहर के भी प्रश्न पूछे थे। मुझे विवश होकर ५० में से ४६ ग्रक देने पडे ग्रीर कोई भी विद्यार्थी फेल नहीं हुग्रा। यदि में लाइब्रेरियन महाशय का सहायक न होता, तो ग्रवस्य फेल हो गया होता।

सन् १६०५ ई० मे पिताजी के साथ में वनारस-काग्रेस मे गया। पिताजी के सम्पर्क में ग्राने से मुझे भारतीय सस्कृति से प्रेम हो गया था। यह मौखिक प्रेम था। उसका ज्ञान तो कुछ था नहीं, किन्तु, इसी कारण ग्रागे चलकर मेंने एम्० ए० में संस्कृत ली। सन् १६०४ ई० में पूज्य मालवीयजी फैजावाद ग्राये थे। भारत धर्ममहामण्डल से सम्बन्ध होने के नाते वह मेरे पिनाजी में मिलने घर पर ग्राये। गीता के एकाध ग्रध्याय सुने। वे मेरे शुद्ध उच्चारण से बहु । प्रमन्न हुए ग्रीर कहा कि एण्ट्रेंस पास कर प्रयाग ग्राना ग्रीर मेरे हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहना। पूज्य मालवीयजी के दर्शन प्रथम वार हुए थे। उनका सीम्य चेहरा ग्रीर मधुर भाषण ग्रपना प्रभाव डाले विना रहता नहीं था। यद्यपि मैंने सेण्ट्रल हिन्दू-कॉलेज में नाम लिखाने का विचार किया था, किन्तु साथियों के कारण उस विचार को छोडना पडा। एण्ट्रेंस पास कर मैं इलाहावाद पढने गया ग्रीर हिन्दू वोर्डिंग हाउस में रहने लगा। मेरे ३-४ सहपाठी थे। हमकी एक बड़े कमरे में रखा गया। छात्रावास में रहने का यह पहला ग्रवसर था।

वग-भग के कारण काग्रेम मे एक नये दल का जन्म हुग्रा था, जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्रीविपिनचन्द्र पाल श्रादि थे। उम ममय तक मेरे कोई खास राजनीतिक विचार न थे, किन्तु काग्रेस के प्रति श्रादर श्रीग श्रद्धा का भाव था। मैं सन् १६०५ ई० में दर्शक के रूप में काग्रेस में भरीक हुग्रा था। प्रिस ग्राँव वेल्स भारत श्रानेवाले थे श्रोर उनका स्वागत करने के लिए एक प्रस्ताव गोखले ने काग्रेस के सम्मुख रखा था। तिलक ने उसका घोर विरोध किया। श्रन्त मे, दवाव में उसे वापिस ले लिया, किन्तु उस समय पण्डाल से वाहर चले श्राये। विरोध की यह पहली ध्विन सुनाई पडी। सन् १६०६ ई० में कलकत्ते में काग्रेस का श्रिविमान हुग्रा। प्रयाग श्राने पर मेरे विचार तेजी से वदलने लगे। हिन्दू वोडिंग हाउस उग्र विचारों का केन्द्र था। पण्डिन सुन्दरलालजी उस समय विद्याधियों के श्रगुवा थे। श्रपन राजनीतिक विचारों के कारण वे विश्वविद्यालय से निकाले गये। उस समय वोडिंग हाउम में रात-दिन राजनीतिक चर्चा हुग्रा करती थी। में बहुत जल्दी गरम दल के विचार का हो गया। हममें से कुछ लोग कलकत्ते के श्रिधवेगन में गरीक हुए। रिपन कॉलेज में हमलोग ठहराये गये। नरम-गरम दल का सपर्य चल रहा था श्रीर यदि श्रीदादाभाई

नौरोजी सभापित न होते, तो वही दो टुकडे हो गये होते। उनके कारण यह सकट टला। इस नवीन दल के कार्यक्रम के प्रधान थ्रंग थे स्वदेशी-विदेशी माल का बहिष्कार श्रीर राष्ट्रीय शिक्षा। काग्रेस का लक्ष्य बदलने की भी बातचीत थी। दादाभाई नौरोजी ने अपने भाषण में 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया श्रीर इस शब्द को लेकर दोनो दलो में विवाद खडा हो गया। यद्यपि पुराने नेता बहिष्कार के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इससे विद्धेष श्रीर धर्मों का भेद-भाव फैलता है, तथापि बगाल के लिए उनको भी इसे स्वीकार करना पडा।

जापान की विजय से एशिया में जन-जागृति का ग्रारम्भ हुग्रा। एशियावासियो ने म्रपने खोये हुए म्रात्मविश्वास को फिर से पाया मौर भ्रम्नेजो की ईमानदारी पर जो बालोचित विश्वास था, वह उठने लगा। इस पीढी का अग्रेजी-शिक्षितवर्ग समझता था कि अग्रेज हमारे कल्याण के लिए भारत आया है और जब हमको शासन के कार्य मे दक्ष बना देगा, तब वह स्वेच्छा से राज्य सींपकर चला जायगा । विना इस विश्वास को दूर किये राजनीति मे प्रगति आ नही सकती थी। लोकमान्य ने यही काम किया। इस नये दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ते में की गई। इसकी श्रोर से कलकत्ते मे दो सभाएँ हुई। एक सभा बडाबाजार मे हुई थी। उसमें भी मैं मौजूद था। इस सभा की विशेषता यह थी कि इसमे सब भाषण हिन्दी में हुए थे। श्रीविपिनचन्द्रपाल श्रीर लोकमान्य तिलक भी हिन्दी में बोले थे। श्रीपाल को हिन्दी बोलने मे कोई विशेष कठिनाई नही प्रतीत हुई, किन्तु लोकमान्य की हिन्दी टूटी-फूटी थी। बडाबाजार में उत्तर भारत के लोग भ्रधिकतर रहते हैं। उन्हीं की स्विधा के लिए हिन्दी मे ही भाषण कराये गये थे। बगाल मे इस नये दल का श्रच्छा प्रभाव था। कलकत्ते की काग्रेस के बाद सयुक्तप्रान्त को सर करने के लिए दोनो दलो मे होड लग गई। प्रयाग मे दोनो दलो के बड़े नेता श्राये श्रीर उनके व्याख्यानो को सुनने का मुझे ग्रवसर मिला। सबसे पहले लोकमान्य श्राये। उनके स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पर गये। उनकी सभा का आयोजन थोडे-से विद्यार्थियो ने किया था। शहर के नेतास्रो मे से कोई उनके स्वागत के लिए नहीं गया। उनकी सवारी के लिए एक सज्जन घोडागाडी लाये थे। हम लोगो ने घोडा खोलकर स्वय गाडी खीचने का श्राग्रह किया, किन्तु उन्होने स्वीकार नहीं किया। लोकमान्य के शब्द थे-- 'इस उत्साह को किसी भ्रौर श्रच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिए।' एक वकील साहब के श्रहाते मे उनका व्याख्यान हुआ था। वकील साहब इलाहाबाद से बाहर गये हुए थे। उनकी पत्नी ने इजाजत दे दी थी। हम लोगो ने दरी बिछाई। विद्यार्थी ने 'वन्दे मातरम्' गाना गाया श्रीर अग्रेजी मे भाषण शुरू हुआ। लोकमान्य तर्क श्रीर युक्ति से काम लेते थे। उनके भाषण में हास्य-रस का भी पुट रहता था। किन्तु, वह भावुकता से बहुत दूर थे। उन्होने कहा कि अग्रेजी मसल है कि ईश्वर उसी की सहायता करता है, जो अपनी सहायता करता है। तो क्या तुम समझते हो कि अग्रेज ईश्वर से भी बडा है ? इसके कुछ दिनो बाद श्रीगोखले श्राये श्रौर उनके कई व्याख्यान कायस्थ पाठशाला मे हए। एक व्याख्यान मे उन्होने कहा कि भ्रावश्यकता पडने पर हम भ्रौर टैक्स देना भी बन्द

कर सकते हैं। इसके वाद श्रीविपिनचन्द्र पाल श्राये श्रीर उनके ४ श्रीजस्त्री व्याख्यान हुए। इस तरह समय-समय पर किसी-न-किसी दल के नेता प्रयाग आते रहते थे। लाला लाजपतराय ग्रीर हैदर रजा भी ग्राय । नरम दल के नेताग्रों में केवल श्रीगोखले का कुछ प्रभाव हम विद्या-थियो पर पडा। हमलोगो ने स्वदेशी का व्रत लिया श्रीर गरम दल के श्रखवार मँगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'वन्दे मातरम्' श्राता था, जिसे हम वडे चाव से पढा करते थे। इसके लेख वडे प्रभावणाली होते थे। श्रीग्रग्विन्द घोप इसमे प्राय लिखा करने थे। उनके लेखों ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद ही उनका कोई लेख होगा, जो मैने न पढा हो ग्रीर जिसे दूसरो को न पढाया हो । पाण्डिचेरी जाने के वाद भी उनका प्रमाव कायम रहा ग्रीर में 'ग्रायं' का वर्षों ग्राहक रहा। वहुत दिनो तक यह ग्राशा थी कि वह साधना पूर्ण करके बगाल लीटेंगे श्रीर राजनीति मे पुन प्रवेश करेंगे। सन् १६२१ ई० मे उनसे ऐसी प्रार्थना भी की गई थी, किन्तू उन्होने ग्रपने भाई वीरेन्द्र को लिखा कि मन् १६०८ ई० के ग्ररविन्द की वगाल चाहना है, किन्तु में सन् १६०८ ई० का ग्ररिवन्द नही रहा। यदि मेरे ढग के ६६ भी कभी तैयार हो जाये, तो मै श्रा सकता हूँ। वहुत दिनो तक मुझे यह धाणा वनी रही, किन्तु श्रन्त मे जब मैं निराश हो गया, तो उधर से मुँह मोड लिया। उनके विचारो मे श्रोज के साथ-साथ मचाई थी। प्राचीन मस्कृति के भक्त होने के कारण भी उनके लेख मुझे विशेष रूप से पसन्द श्राते थे। उनका जीवन वडा सादा था। जिन्होंने श्रपनी पत्नी को लिखे उनके पत्र पढे हैं, वे इसको जानते हैं। उनके मादे जीवन ने मुझको वहुत प्रभावित किया। उस समय लाला हरदयाल श्रपनी छात्रवृत्ति छोडकर विलायत से लौट श्राये थे। उन्होने सरकारी विद्यालयो मे दी जानेवाली शिक्षा-प्रणाली का विरोध किया था और 'हमारी शिक्षा-समस्या' पर १४ लेख पजावी मे लिखे। उनके प्रभाव मे त्राकर पजाव के कुछ विद्यार्थियों ने पढना छोड दिया था। उनके पढाने का भार उन्होने स्वय लिया था। ऐसे विद्यार्थियो की सख्या वहुत थोडी थी। हरदयालजी वडे प्रतिभाषाली थे श्रीर उनका विचार था कि कोई वढा काम विना कठोर साधना के नहीं होता। एडविन ग्रारनोल्ड की 'लाइट श्राफ एशिया' को पढकर वह विलक्त वदल गये थे। विलायत मे श्रीश्यामजी कृष्ण वर्मा का उनपर प्रभाव पडा था। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए दो पाठ्यक्रम तैयार किये थे। इन सूचियों की पुस्तकों को पढना मैने म्रारम्म किया। उग्र विचार के विद्यार्थी उस ममय रूप-जापान-युद्ध, गैरीवाल्डी म्रीर भैजनी पर पुस्तकें ग्रीर रूस के ग्रातकवादियों के उपन्याम पढ़ा करते थे। मन् १६०७ ई० मे प्रयाग से रामानन्द वावू का 'मॉडर्न रिव्यू' भी निकलने लगा। इसका वडा ग्रादर था। उस समय हम लोग प्रत्येक वगाली नवयुवक को क्रान्तिकारी समझते थे। वैंगला-साहित्य मे इस कारण भीर भी रुचि उत्पन्न हो गई। मैने रमेशचन्द्रदत्त ग्रीर विकम के उपन्यास पढे ग्रीर वैंगला-साहित्य थोडा वहुत समझने लगा। स्वदेशी के व्रत मे हम पूरे उतरे। उस समय हम कोई भी विदेशी वस्तु नहीं खरीदते थे। माघ मेला के अवसर पर हम स्वदेशी पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उस समय म्योर कॉलेज के प्रिमिपल केनिंग्स साहव थे। वह कट्टर एंग्लो-इण्डियन थे। हमारे छात्रावास मे एक विद्यार्थी के कमरे मे खुदीराम वसु की तसवीर थी। किसी ने प्रिमिपल

को इसकी सूचना दे दी। एक दिन शाम को वह आये और सीधे मेरे मित्र के कमरे मे गये। मेरे मित्र कॉलेज से निकाल दिये गये, किन्तु श्रीमती एनी बेसेण्ट ने उनको हिन्दू-कॉलेज मे भरती कर लिया।

धीरे-धीरे हममे से कुछ का क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध होने लगा। उस समय कुछ क्रान्तिकारियों का विचार था कि ग्राइ ० सी० एस्० में शामिल होना चाहिए, ताकि क्रान्ति के समय हम जिले का शासन सभाल सके । इस विचार से मेरे ४ साथी इंगलैण्ड गये। मै भी सन् १९११ ई० मे जाना चाहता था, किन्तु माताजी की श्राज्ञा न मिलने के कारण न जा सका। इधर सन् १६०७ ई० मे सूरत मे फूट पड चुकी थी और काग्रेस के गरम दल के लोग निकल श्रायेथे। कर्वेन्शन बुलाकर काग्रेस का विधान वदला गया। इसे गरम दल के लोग कन्वर्शन काग्रेस कहते थे। गवर्नमेण्ट ने इस फूट से लाभ उठाकर गरम दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। कई नेता जेल मे डाल दिये गये। कुछ समय को प्रतिकूल देख भारत से बाहर चले गये और लन्दन, पेरिस, जिनेवा और वर्लिन मे कान्ति के केन्द्र बनाने लगे और वहाँ से ही साहित्य प्रकाशित होता था ! मेरे जो साथी विलायत पढने गये थे, वह इस साहित्य को मेरे पास भेजा करते थे। भीसावरकर की 'वार आव इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स' की एक प्रति भी मेरे पास म्राई थी। म्रीर, मुझे बराबर हरदयाल का 'वन्द्रे मात्रम्', वर्लिन का 'तलवार' ग्रीर पेरिस का 'इण्डियन सोशलाजिस्ट' मिला करता था। मेरे दोस्तो मे से एक सन् १६० द ई० की लडाई मे जेल मे बन्द कर दिये गये थे तथा अन्य दोस्त केवल वैरिस्टर होकर लौट आये। मैंने सन् १६० प ई० के बाद से काग्रेस के अधिवेशनों में जाना छोड़ दिया, क्योंकि हमलोग गरम दल के साथ थे। यहाँतक कि जब काग्रेस का अधिवेशन प्रयाग मे हन्ना, तब भी हम उसमे नही गये। सन् १९१६ ई० मे जब काग्रेस मे दोनो दलो का मेल हुआ, तब हम फिर काग्रेस मे स्रागये।

बी० ए० पास करने के वाद मेरे सामने यह प्रश्न श्राया कि मैं क्या करूँ। मैं कानून पढ़ना नहीं चाहता था, में प्राचीन इतिहास में गवेषणा करना चाहता था। म्योर कॉलेज में भी अच्छे-अच्छे अध्यापकों के सम्पर्क में श्राया। डॉक्टर गंगानाथ झा की मुझपर बड़ी कृपा थी। बी० ए० में प्रोफेसर ब्राउन से इतिहास पढ़ा। भारत के मध्ययुग का इतिहास वह बहुत अच्छा जानते थे। पढ़ाते भी अच्छा थे। उन्हीं के कारण मैंने इतिहास का विषय लिया। बी० ए० पास कर में पुरातत्त्व पढ़ने काशी चला गया। वहाँ डॉक्टर वेनिस और नारमन ऐसे सुयोग्य अध्यापक मिले। क्वींस कॉलेज से जो अग्रेज-अध्यापक ग्राते थे, वह संस्कृत सीखने का प्रयत्न करते थे। डॉक्टर वेनिस ऐसा पढ़ानेवाला कम होगा। नारमन साहब के प्रति भी मेरी बड़ी श्रद्धा थी। जब में क्वींस कॉलेज में था, तब वहाँ श्रीशचीन्द्रनाथ सान्याल से परिचय हुग्रा। विदेश से श्रानेवाला साहित्य वह मुझसे ले जाया करते थे। उनके द्वारा मुझे क्रान्तिकारियों के समाचार मिलते रहते थे। मेरी इन लोगों के साथ बड़ी सहानुभूति थी। किन्तु, मैं डकैनी ग्रादि के सदा विरुद्ध था। मैं किसी भी क्रान्तिकारी दल का सदस्य न था। किन्तु, उनके कई नेताग्रो

से परिचय था। वे मुझपर विश्वास करते थ ग्रीर समय-ममय पर मेरी सहायता भी लेते रहते थे। सन् १९१३ ई० मे जब मैंने एम्० ए० पास किया, तब मेरे घरवालो ने वकालत पढने का ग्राग्रह किया। मैं इस पेशे को पसन्द नहीं करता था, किन्तु जब पुरातत्त्व-विभाग में स्थान न मिला, तब इस विचार से कि वकालत करते हुए मैं राजनीति मे भाग ले सकूँगा, मैंने कानून पढा।

सन् १६१५ ई० मे मै एल्०-एल्० बी० पास कर वकालत करने फैंजाबाद आया। मेरे विचार प्रयाग मे परिपक्व हुए और वही मुझको एक नया जीवन मिला। इस नात मेरा प्रयाग मे एक प्रकार का आध्यात्मिक सम्बन्ध है। मेरे जीवन में सदा दो प्रवृत्तियाँ रही हैं--एक पढने-लिखने की ओर, दूसरी राजनीति की ओर। इन दोनों में मधर्प रहता है। यदि दोनों की मुविद्या एक साथ मिल जाती है, तो मुझे वडा परितोष रहता है और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ में मिली। इसी कारण वह मेरे जीवन का सबसे अच्छा हिस्सा है, जो विद्यापीठ की सेवा में व्यवन्त हुआ और आज भी उसे में अपना कुटुम्ब समझता हूँ।

सन् १६ १४ ई० में लोकमान्य मण्डले जेल से रिहा होकर आये और अपने सहयोगियों को फिर से एकद करने लगे। श्रीमती वेसेण्ट का उनको सहयोग प्राप्त हु आ और होमरूल लीग की स्थापना हुई। मन् १६ १६ ई० में हमारे प्रान्त में श्रीमती वेसेण्ट की लीग की स्थापना हुई। मैंने इस सम्बन्ध में लोकमान्य से वार्तें की और उनकी लीग की एक जाखा फैंजाबाद में खोलना चाहा, किन्तु उन्होंने यह कहकर मना किया कि दोनों के उद्देश्य एक हैं, दो होने का कारण केवल इतना है कि कुछ लोग मेरे द्वारा कायम की गई किसी सस्था में शरीक नहीं होना चाहते और कुछ लोग श्रीमती वेसेण्ट द्वारा स्थापित किसी सस्थान में नहीं रहना चाहते। मैंने लीग की शाखा फैंजाबाद में खोली और उसका मन्त्री चुना गया। इसकी और में प्रचार का कार्य होता था, और समय-समय पर सभाओं का आयोजन होता था। मेरा सबसे पहला भाषण अली-वन्धुओं की नजरवन्दी का विरोध करने के लिए आमन्त्रित सभा में हुआ था। मैं वोलते हुए बहुत डरता था, किन्तु किसी प्रकार वोल गया और कुछ सज्जनों ने मेरे भाषण की प्रणता की। इससे मेरा उत्साह बढा और फिर धीरे-धीरे सकोच दूर हो गया। मैं सोचता हूँ कि यदि मेरा पहला भाषण विगड गया होता, तो शायद मैं भाषण देने का फिर साहस न करता।

में लीग के साथ-साथ काग्रेस में भी था श्रीर वहुत जल्दी उसकी सव कमेंटियों में विना प्रयत्न के पहुँच गया। महात्माजी के राजनीतिक क्षेत्र में ग्राने से घीरे-घीरे काग्रेस का रूप वदलने लगा। ग्रारम्भ में वह कोई ऐसा हिम्सा नहीं लेते थे, किन्तु सन् १६१६ ई० से वह प्रमुख भाग लेने लगे। खिलाफत के प्रश्न को लेकर जब महात्माजी ने ग्रसहयोग-ग्रान्दोलन चलाना चाहा, तो ग्रमहयोग के कार्यक्रम के सम्बन्ध में लोकमान्य से उनका मतभेद हो गया। जून, १६२० ई० में काशी में ए० श्राई०सी० सी० की बैठक के ममय में इन सम्बन्ध में लोकमान्य से

बातें की। उन्होंने कहा कि मैंने अपने जीवन मे सरकार के साथ सहयोग नही किया; प्रश्न असहयोग के कार्यक्रम का है। जेल से लौटने के बाद जनता पर उनका वह पुराना विश्वास नही रह गया था और उनका खयाल था कि प्रोग्राम ऐसा हो, जिसपर जनता चल सके। वह कौन्सिलो के बहिष्कार के खिलाफ थे। उनका कहना था कि यदि ग्राधी भी जगहें खाली रहें, तो यह ठीक है; किन्तु यदि वहाँ जगहें भर जायेंगी, तो श्रपने को प्रतिनिधि कहकर सरकार-परस्त लोग देश का श्रहित करेंगे।

उनका एक सिद्धान्त यह भी था कि काग्रेस मे अपनी वात रखो और अन्त मे जो उसका निर्णय हो, उसे स्वीकार करो। मैं तिलक का श्रनुयायी था, इसलिए मैने काग्रेस में कौन्सिल-बहिष्कार के विरुद्ध वोट दिया, किन्तु जव एक बार निर्णय हो गया, तव उसे शिरोधार्य किया। वकालत के पेशे मे मेरा मन न था। नागपुर के अधिवेशन मे जब असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया, तो उसके अनुसार मैंने तुरन्त वकालत छोड दी। इस निश्चय में मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। मैंने किसी से परामर्श भी नहीं किया; क्यों कि में काग्रेस के निर्णय से अपने को बँधा हुआ मानता था। मैने अपने भविष्य का भी खयाल नही किया। पिताजी से एक बार पूछना चाहा, किन्तु, यह सोचकर कि यदि उन्होने विरोध किया, तब मै उनकी भ्राज्ञा का उल्लघन न कर सक्रूँगा, मैने उनसे भी श्रनुमित नही माँगी। किन्तु, पिताजी को जब पता चला, तब उन्होने कुछ ग्रापत्ति न की। केवल इतना कहा कि तुमको ग्रपनी स्वतन्त्र जीविका की कुछ फिक करनी चाहिए और जबतक जीवित रहें, मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होने दो । असहयोग-म्रान्दोलन के शुरू होने के बाद एक वार पण्डित जवाहरलाल फैजाबाद भ्रायें भ्रौर उन्होने मुझसे कहा कि बनारस मे विद्यापीठ खुलने जा रहा है। वहाँ लोग तुम्हें चाहते हैं। मैने श्रपने प्रिय मित्र श्रीशिवप्रसादजी को पत्र लिखा। उन्होने मुझे तुरन्त बुला लिया। शिवप्रसादजी मेरे सहपाठी थे श्रीर विचार-साम्य होने के कारण मेरी उनकी मित्रता हो गई। वह वडे उदार हृदय के व्यक्ति थे। दानियो में मैने उन्ही को पाया, जो नाम नहीं चाहते थे। क्रान्तिकारियों की भी वह धन से सहायता करते थे। विद्यापीठ के काम में मरा मन लग गया। श्रद्धेय डॉक्टर भगवान्दास जी ने मुझपर विश्वास कर मुझे उपाध्यक्ष बना दिया। उन्ही की देखरेख में मैं काम करने लगा। मैं दो वर्षों तक छात्रावास में ही विद्यार्थियो के साथ रहा था। एक कुटुम्ब-सा था। साथ-साथ, हम लोग राजनीतिक कार्य भी करते थे। कराची में जब अली-बन्ध्यो को सजा हुई थी, तब हम सब बनारस के गाँवो में प्रचार के लिए गये थे। अपना-अपना विस्तर वगल में दवाये, नित्य पैदल घूमते थे। सन् १९२६ ई० में डॉक्टर साहव ने अध्यक्ष के पद से त्यागपत्न दे दिया ग्रीर मुझे अध्यक्ष वना दिया। बनारस में मुझे कई नये मिल मिले। विद्यापीठ के अध्यापको से मेरा वड़ा मीठा सम्बन्ध रहा। श्री श्रीप्रकाशजी से मेरा विशेष स्नेह हो गया। यह श्रत्युक्ति न होगी कि वह स्नेहवश मेरे प्रचारक हो गये। उन्होने मुझे श्राचार्य कहना शुरू किया, यहाँतक कि वह मेरे नाम का एक श्रग वन गया है। सबसे वह मेरी प्रशासा करते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहरलालजी से होमरूल श्रान्दोलन के समय से था, तथापि श्री श्रीप्रकाशजी द्वारा उनसे तथा गणेशजी से मेरी घनिष्ठता

हुई। में उनके घर मे महीनो रहा हूँ। वह मेरी सदा फिक उसी तरह किया करते हैं, जैसे माता अपने वालक की। मेरे वारे मे उनकी राय है कि अपनी फिक नहीं करता हूँ, शरीर के प्रति वड़ा लापरवाह हूँ। मेरे विचार चाहे उनसे मिले या न मिलें उनका स्नेह घटता नहीं। रियासती दोस्ती पायदार नहीं होती, किन्तु विचारों में अन्तर होते हुए भी हमलोगों के स्नेह में फर्क नहीं पढ़ा है। पुराने मिलो से वियोग दु खदायी है। किन्तु, शिष्टता वनी रहे, तो सम्बन्ध में वहुत अन्तर नहीं पढ़ता। ऐसी मिसाले हैं, किन्तु वहुत कम।

नेता का मुझमें कोई भी गुण नही है। महत्त्वाकाक्षा भी नही है। यह वडी कमी है। मेरी बनावट कुछ ऐसी हुई है कि मैं न नेता हो सकता हूँ और न अन्धमक्त अनुयायी। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं अनुशासन में नहीं रहना चाहता। मैं व्यक्तिवादी नहीं हूँ। नेताओं की दूर से आराधना करता रहा हूँ। उनके पास बहुत कम जाता रहा हूँ। यह मेरा स्वाभाविक सकोच है। आत्मप्रशासा सुनकर कौन खुश नहीं होता, अच्छा पद पाकर किसको प्रसन्नता नहीं होती, किन्तु मैंने कभी इसके लिए प्रयत्न नहीं किया। प्रान्तीय काग्रेस कमेटी के सभापित होने के लिए मैंने अनिच्छा प्रकट की, किन्तु अपने मान्य नेताओं के अनुरोध पर खडा होना पडा। इसी प्रकार, जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुझसे कार्यसमिति में आने को कहा, मैंने इनकार कर दिया, किन्तु उनके आग्रह करने पर मुझे निमन्त्रण स्वीकार करना पडा।

में ऊपर कह चुका हूँ कि मैं नेता नहीं हूँ। इसलिए, किसी नये श्रान्दोलन या पार्टी का श्रारम्भ नहीं कर सकता। सन् १६३४ ई० में जब जयप्रकाशजी ने समाजवादी पार्टी वनाने का प्रस्ताव रखा श्रीर मुझे सम्मेलन का सभापित वनाना चाहा, तव मैंने इनकार कर दिया। इसलिए नहीं कि समाजवाद को नहीं मानता था, किन्तु इसलिए कि में किसी वडी जिम्मेदारी को उठाना नहीं चाहता था। उनसे मेरा काफी स्नेह था श्रीर इसी कारण मुझे श्रन्त में उनकी वात माननी पडी। सम्मेलन मई, सन् १६३४ ई० में हुश्रा था। विहार में भूकम्प हो गया था। उसी सिलसिले में विद्यार्थियों को लेकर काम करने गया था। वहाँ पहली वार डॉक्टर लोहिया से परिचय हुआ। मुझ यह कहने में प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विद्यान बना, तो केवल डॉक्टर लोहिया श्रीर हम इस पक्ष में थे कि उद्देश्य के भन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिए। श्रन्त में, हमलोगों की विजय हुई। श्रीमेहर श्रली से एक वार सन् १६२८ ई० में मुलाकात हुई थी। वम्बई के श्रीर मित्रों को में उस समय तक नहीं जानता था। अपरिचित व्यक्तियों के साथ काम करते मुझको घवराहट होती है, किन्तु प्रसन्नता की वात है कि सोशलिस्ट पार्टी के सभी प्रमुख कार्यकर्त्ता शीन्न ही एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह हो गये।

यो तो मैं अपने सूबे मे वरावर भाषण किया करता था, किन्तु अखिलभारतीय काग्रेस कमेटी में पहली वार पटने में वोला। मौलाना मुहम्मद अली ने एक वार कहा था कि बंगाली और मद्रासी काग्रेस में बहुत वोला करते हैं, विहार के लोग जब औरो को बोलते देखते हैं, तब खिसककर राजेन्द्रवावू के पास जाते है और कहते हैं कि 'रौवां वोली न', ग्रीर यू० पी० के लोग खुद नही बोलते ग्रीर जब कोई बोलता है, तो कहते हैं, 'क्या बेवकूफ बोलता है!' हमारे प्रान्त के बहे-बहे नेताग्रो के ग्रागे हमलोगो को कभी बोलने की जरूरत नहीं पड़ती थी। एक समय पण्डित जवाहरलाल भी बहुत कम बोलते थे। किन्तु, सन् १९३४ ई० में मुझे पार्टी की ग्रोर से बोलना पड़ा। यदि पार्टी बनी न होती, तो शायद मैं काग्रेस में बोलने का साहस भी नहीं करता।

पण्डित जवाहरलालजी से मेरी विचारधारा बहुत मिलती-जुलती थी। इस कारण तथा उनके व्यक्तित्व के कारण मेरा उनके प्रति सदा ग्राकर्षण रहा। उनके सम्बन्ध में कई कोमल स्मृतियाँ हैं। यहाँ केवल एक वात का उल्लेख करता हूँ। हमलोग भ्रहमदनगर के किले में एक साथ थे। एक वार टहलते हुए कुछ पुरानी वातो की चर्च चल पड़ी। उन्होंने कहा—'नरेन्द्रदेव! यदि में कांग्रेस के भ्रान्दोलन में न भ्राता और उसके लिए कई वार जेल की यात्रा न करता, तो में इन्सान न बनता।' उनकी बहन कृष्णा ने भ्रपनी पुस्तक में जवाहरलालजी का एक पन्न उद्घृत किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। पण्डित मोतीलालजी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने भ्रपनी वहिनों को लिखा कि पिता की सम्पत्ति मेरी नहीं है, मैं तो सबके लिए उसका ट्रस्टीमात्र हूँ। उस पत्र को पढ़कर मेरी भ्रांखों में भ्रांसू भ्रा गये और मेने जवाहरलालजी की महत्ता को समझा। उनको भ्रपने साथियों का वडा खयाल रहता है भीर बीमार साथियों की वडी शुश्रूषा करते है।

महात्माजी के ब्राश्रम में चार महीने रहने का मौका मुझे सन् १६४२ ई० में मिला । मैंने देखा कि वे कैसे अपने प्रत्येक क्षण का उपयोग करते हैं। वह रोज आश्रम के प्रत्येक रोगी की पूछताछ करते थे। प्रत्येक छोटे-वड़े कार्यंकर्ता का खयाल रखते थे। ग्राश्रमवासी म्रपनी छोटी-छोटी समस्याग्रो को लेकर उनके पास जाते थे ग्रीर वह सबका समाधान करते थे। ग्राश्रम में रोग-शय्या पर पडे-पडे में विचार करता था कि वह पुरुष जो आज के हिन्दू-धर्म के किसी नियम को नहीं मानता, वह क्यो असंख्य सनातनी हिन्दुओं का आराष्य देवता बना हुआ है। पण्डित-समाज चाहे उनका भले ही विरोध करे, किन्तु ग्रपढ जनता उनकी पूजा करती है। इस रहस्य को हम तभी समझ सकते हैं, जब हम जानें कि भारतीय जनता पर श्रमण-संस्कृति का कही ग्रधिक प्रभाव पडा है। जो व्यक्ति घर-बार छोड़कर नि स्वार्थ सेवा करता है, उसके श्राचार की श्रोर हिन्दू-जनता ध्यान नही देती । पण्डितजन भले ही उसकी निन्दा करें, किन्तु सामान्य जनता उसका सदा सम्मान करती है। अक्टूबर, सन् १६४१ ई० में जब मै जेल से छटा, तब महात्माजी ने मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में मुझसे पूछा और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए आश्रम में वुनाया। मैं महात्माजी पर वोझ नही डालना चाहता था। इसलिए, कुछ वहाना कर दिया। पर जब मैं ए० आइ० सी० सी० की बैठक में शरीक होने वर्धा गया और वहाँ वीमार पड गया, तब उन्होने रहने के लिए आग्रह किया। मेरी चिकित्सा होने लगी। महात्माजी मेरी वडी फिक रहते थे। एक रात मेरी तवियत वहुत खराव हो गई। जो चिकित्सक नियुक्त थे, घवरा गये, यद्यपि इसके लिए कोई कारण न था। रात को १ वजे विना मुझे वताये

महात्माजी जगाये गये ग्रीर वह मुझे देखने ग्राये । वह उनका मीन का दिन या । उन्होने मेरे लिए मीन तोडा। उसी समय मोटर भेजकर वर्घा से डॉक्टर बुलाये गये। सबह तक तिवयत सँभल गई थी। दिल्ली में स्टैफर्ड किप्स वार्तालाप के लिए श्राये थे। महात्माजी दिल्ली जाना नहीं चाहते थे, किन्तु आग्रह होने पर गये। जाने के पहले मुझसे कहा कि वह हिन्दुस्तान के वंटवारे का सवाल किसी-न-किसी रूप में लायेंगे, इसलिए उनकी दिल्ली जाने की इच्छा न थी। दिल्ली से वरावर फोन से मेरी तिवयत का हाल पूछा करते थे। वा भी उस समय वीमार थी। इस कारण वे जल्दी लीट ग्राये। जिनके विचार उनसे नही मिलते थे, यदि वे ईमान-दार होते थे, तो वह उनको अपने निकट लाने की चेष्टा करते थे। उस समय महात्माजी सोच रहे थे कि जेल में वह इस वार भोजन नहीं करेंगे। उनके इस विचार को जानकर महादेव भाई वडे चिन्तित हुए । उन्होने मुझसे कहा कि तुम भी इस सम्बन्ध में महात्माजी से वातें करो । डॉक्टर लोहिया भी सेवाग्राम उसी दिन ग्रा गये थे। उनसे भी यही प्रार्थना की गई। हम ोनो ने बहुत देर तक वार्तें की । महात्माजी ने हमारी वात शान्तिपूर्वक सुनी, किन्तु उस दिन ग्रन्तिम निर्णय न कर सके। वम्बई में जब हमलोग ध ग्रगस्त को गिरफ्तार हो गये, तव स्पेशल ट्रेन में अहमदनगर ले जाये गये। उनमें महात्माजी, उनकी पार्टी भीर वम्बई के कई प्रमुख लोग थे। नैतास्रो ने उस समय भी महात्माजी से श्रन्तिम वार प्रार्थेना की कि वह ऐसा काम न करें। किले में भी हमलोगो की सदा इसका भय लगा रहता था।

सन् ४५ में हमलोग छूटे। मैं जवाहरलालजी के साथ श्रलमोडा जेल से १४ जून को रिहा हुआ। कुछ दिनों के बाद मैं पूना में महात्माजी से मिला। उन्होंने पूछा कि सत्य और श्राहंसा के बारे में श्रव तुम्हारे क्या विचार हैं ? मैंने उत्तर दिया कि मैं सत्य की तो सदा से श्राराधना किया करता हूँ, किन्तु इसमें मुझको सन्देह है कि विना कुछ हिंसा के राज्य की शक्ति हम अग्रेजों से छीन सकेंगे। महात्माजी के सम्बन्ध में श्रनेक सस्मरण हैं, विन्तु समयाभाव से हम इससे श्रिधक कुछ नहीं कहते।

इधर कई वर्ष से काग्रेस में यह चर्चा चल रही थी कि काग्रेस में कोई पार्टी नही रहनी चाहिए। महात्माजी इसके विरुद्ध थे। देश के स्वतन्त्र होने के वाद भी मेरी राय थी कि ग्रभी काग्रेस से श्रलग होने का समय नही है; क्योंकि देश सकट से गुजर रहा है। सोशलिस्ट पार्टी में इस सम्बन्ध में मतभेद था, किन्तु मेरे मिन्नो ने मेरी सलाह मानकर निर्णय को टाल दिया। मैंने यह भी साफ कर दिया था कि यदि काग्रेस ने कोई ऐसा नियम बना दिया, जिससे हमलोगो का काग्रेस में रहना असम्भव हो गया, तब में सबसे पहले काग्रेस छोड दूँगा। कोई भी व्यक्ति, जिसको श्रात्मसम्मान का खयाल है, ऐसा नियम बनाने पर नही रह सकता। यदि ऐसा नियम न बनता और पार्टी काग्रेस छोडने का निर्णय करती, तो यह तो ठीक है कि में श्रादेश का पालन करता, किन्तु मैं यह नही कह सकता कि मैं कहाँतक उसके पक्ष में होता। काग्रेस के निर्णय के बाद मेरे सब सन्देह मिट गये और ग्रपना निर्णय करने में मुझे एक झण भी न लगा। मेरे जीवन के कठिन श्रवसर, जिनका मेरे भविष्य पर गहरा श्रसर पडा है, ऐसे

ही हुए हैं। इन मौको पर घटनाएँ ऐसी हुईं कि मुझे अपना फसला करने में कुछ देर न लगी। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

मेरे जीवन के कुछ ही वर्ष रह गये हैं। शारीर-सम्पत्ति अच्छी नही है, किन्तु मन में अब भी उत्साह है। सदा अन्याय से लड़ते ही बीता। यह कोई छोटा काम नही है। स्वतन्त्र भारत में इसकी और भी आवश्यकता है। अपनी जिन्दगी पर एक निगाह डालने से मालूम होता है कि ज़ब मेरी आँखे मुँदेंगी, मुझे एक परितोष होगा कि जो काम मैने विद्यापीठ में किया है, वह स्थायी है। मै कहा करता हूँ कि यही मेरी पूँजी है और इसी के आधार पर मेरा राजनीतिक कारीबार चलता है। यह सबंधा सत्य है।\*

<sup>&</sup>lt;sup>\*</sup>"जनवार्यी", मर्रः, सन् **१९४**७ ईसवी ।

## प्रस्तावना

श्रीगगाणरण सिंहजी का श्राग्रह है कि मैं प्रस्तावना के रूप में श्राचार्य नरेन्द्रदेवजी की इम श्रप्त पुस्तक पर दो-चार शब्द लिख हूँ। इस स्थिति में तो मुझे 'कहाँ राजा भोज श्रीर कहाँ गाँगू तेली' वाली कहायत याद श्राती है। एक तरफ श्राचार्य नरेन्द्रदेवजी ऐसे प्रकाण्ड विद्वान्, विविध विपयों के साधिकार ज्ञाता, सज्जनता के प्रतीक, श्रद्धितीय लेखक श्रीर वक्ता, राष्ट्रनेता, शिक्षक, कहाँ मेरे ऐसा साधारण व्यावहारिक छोटी-छोटी वात की उलझनों में सदा पड़ा रहनेवाला साधारण पुरुष। हाँ, मुझे इस बात का श्रवश्य श्रीममान हो सकता है श्रीर है कि मुझे नरेन्द्रदेवजी ने श्रपनी मित्रता, श्रपनी सहयोगिता, श्रपना स्नेह देकर सम्मानित किया श्रीर मेरे सामने श्रपने व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों को सरलता श्रीर स्वच्छता से व्यक्त कर मुझे यह श्रवसर प्रदान किया कि में प्रत्यक्ष देख सक् कि ऐसे विलक्षण जीव के लिए भी मनुष्य का शरीर धारण करना सम्भव है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने ठीक ही कहा है—

यव्यव्विभूतिमत्सत्तवं श्रीमद्जितमेव था। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम।।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नरेन्द्रदेवजी में इस दैवी तेजस् का ग्रश प्रचुरता से विद्यमान था। इनके उठ जाने से वास्तव में ससार से एक नर-रत्न खो गया।

नरेन्द्रदेवजी ने मुझसे यह कई वार कहा कि उनकी प्रवृत्ति दो ही तरफ रहती है— एक तो दर्शन की तरफ श्रीर दूसरी राजनीति की तरफ। इन दोनों को वे छोड नहीं सकते। इन्हीं की सेवा, ध्यान, साधना, श्रध्ययन, व्यवहार में उनका जीवन व्यतीत हुआ। सदा इतने श्रस्वस्थ रहते हुए, राजनीतिक कार्य में सदा लगे रहते हुए, सदा लोगों से मिलते रहते हुए, उन्होंने कहाँ से समय श्रीर शक्ति पाई कि श्रपने में विद्या की इतनी बृहत् राशि एकत्र कर ली, यह सबके ही लिए सदा श्राश्चर्य की बात बनी रहेगी। मेरा यह उनको समझाना व्यर्थ होता था कि श्रापको श्रपने स्वास्थ्य की चिन्ता करनी चाहिए। श्रापका जीवन हम सबके लिए है, केवल श्रापके ही लिए नहीं है। यदि श्राप चले जायेंगे, तो दर्शन श्रीर राजनीति तो चलती ही रहेगी, पर श्रापके ऐसा पुरुष हमलोगों को नही मिलगा। वे कहाँ माननेवाले थे, श्रीर दर्शन का श्रध्ययन श्रीर राजनीति के कार्य में उन्होंने श्रपना समय लगाया श्रीर श्रपना प्राण भी दे हाला।

वे सभी प्रकार के दर्शन के विशेषज्ञ थे। किसी भी युग के विचारो के सम्बन्ध में उनसे . वातें की जा सकती थी ग्रीर जो कोई उनसे मिलता था, वह कुछ ग्रधिक ज्ञान ही लेकर लौटता था। दर्शनो मे उनको बौद्ध-दर्शन से विशेष प्रेम था। ग्राज यदि बुद्धदेव का व्यक्तित्व, बौद्ध-धर्म के ग्राराध्य पुरुष ग्रौर बौद्ध-विचार हमारे देश की राजनीति मे विशेष स्थान पा रहे हैं ग्रौर यदि इस कारण इसका ग्रन्तरराष्ट्रीय प्रभाव भी पड रहा है, तो इसका श्रेय नरेन्द्रदेवजी को ही है, यद्यपि उन्होंने स्वय इसका ग्रनुभव न भी किया हो।

इन्होने ही प्रथम बार राजनीतिक क्षेत्रों में बौद्ध-धर्म ग्रौर बौद्ध-विचारों की चर्चा की, जिसका प्रभाव सब पर ही पड़ा, क्यों कि उनका ग्रादर ग्रौर सम्मान महात्मा गान्धीजों से लेकर सभी राष्ट्रनेता ग्रौर राजनीतिज्ञ करते थे। काशी-विद्यापीठ जो कि उनका सबसे बड़ा कार्य क्षेत्र रहा है, उसके तो सम्पूर्ण वातावरण में नरेन्द्रदेवजी का व्यक्तित्व, इनकी विचार- ग्रौली, इनकी कार्य-प्रणाली, फैली रहती थी। ये जहाँ ही जाते थे, सबको ग्रपनी तरफ चुम्बक की तरह ग्राकर्षित कर लेते थे, सभी इनका सम्मान करते थे, सभी इनकी बातों को सुनने लगते थे। यदि उनका प्रभाव सार्वदेशिक हुग्रा, तो कोई ग्राइचर्य की बात नहीं।

मेरी समझ में इनके ऐसा वक्ता अपने देश में कोई दूसरा नहीं था। कैसी सुन्दर इनकी भाषा थी, कैसे धारांप्रवाह ये बोलते थे, किस प्रकार से इनके एक वाक्य, दूसरे वाक्य से शृखलावद्ध रहते थे, यह तो सभी लोग जानते हैं, जो उन्हें किसी भी विषय पर कभी भी सुन सके हैं। व्यावहारिक राजनीति लिखने की वस्तु नहीं है, बोलने की ही वस्तु है। इस कारण मेरे हृदय में बड़ा दुख रह गया कि उनके भाषणों का कोई सग्रह नहीं किया जा सका। यदि वह होता, तो राजनीति में वह उत्तमोत्तम साहित्य का स्थान ग्रहण करता और बहुतों को अपने विचारों को शुद्ध करने में सहायक होता और उन्हें समुचित व्यवहार के मार्ग पर चलने को प्रेरित करता। यह बात तो रह गई। जो उनके भाषणों को सुनते थे, वे ऐसे मुख हो जाते थे कि किसी के लिए उनके शब्दों को लिपवद्ध करना कठिन होता था। राजनीतिक सम्मेलनों में अध्यक्ष आदि के पद से जो भाषण देने के लिए वे लिख भी रखते थे, उसे भी वे बोलते समय फेंक देते थे और बोलते ही जाते थे। इन भाषणों को एकन्न न कर ससार ने एक बहुत बड़ी निधि खो दी।

पर, दर्शन लिखने की भी चीज है, और मुझे हर्ष है और सन्तोष है कि कम-से-कम उसपर तो वे ग्रन्थ लिख ही गये। में अपने को और ग्रनेको को ग्राज वधाई देता हूँ कि बौद्ध-दर्शन पर उनका यह अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है और वुद्ध भगवान् की २५वी शताब्दी की जयन्ती के शुभ अवसर पर हमें उसे देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हो रहा है। दु ख इसका अवश्य है कि वे इसका प्रकाशन स्वय न देख सके। उनके जीवन के अन्तिम दिन में प्रात काल से सायकाल तक उनके शान्त होने तक उनके साथ था। कई बार उन्होंने इस ग्रन्थ की चर्चा की ग्रीर सन्तोष प्रकट किया कि इसका प्रकाशन ऐसे शुभ अवसर पर होने जा रहा है।

ऐसी श्रवस्था में मुझे भी सन्तोष है कि इस सुन्दर श्रीर श्रपूर्व रचना की प्रस्तावना लिखने का मुझे निमन्त्रण दिया गया है, श्रीर मेरी यही शुभकामना है श्रीर हो सकती है कि

हमारे देश के बहुत-से लोग इससे आकर्षित हो, इसका मनन करें, इसका पठन-पाठन करें, ग्रीर देश के पुरातन समय की एक महान् विभूति ने जो गुछ विचार प्रकट किये हैं श्रीर जिन्हें वर्तमान काल की दूसरी विभूति ने लिपिवद्ध किया है, उन्हें समझें ग्रीर श्रपने देश की परम्परा का गर्व करें ग्रीर उसके योग्य ग्रपने को बनावें। मेरी यह भी हार्दिक ग्रिभलापा है कि इसके द्वारा पण्डितप्रवर लेखक की भी स्मृति सदा जाग्रत् रहे ग्रीर वुद्ध भगवान् ग्रीर ग्राचार्य नरेन्द्र-देवजी के ग्रन्तर के लम्बे श्रवसर की हमारी राजनीतिक ग्रीर सास्कृतिक कहानी हमारे हृदयो को सदा वल ग्रीर उत्साह देती रहे।

राजभवन, मद्रास १४ मार्च, १६५६ ई० श्रीप्रकाश

राज्यपाल, मद्रास

# बोद्ध-धर्म-दर्शन

## प्रथम अध्याय

## भारतीय संस्कृति की दो घाराएँ

जिस समय भगवान् बुद्ध का लोक मे जन्म हुआ, उस समय देश मे अनेक वाद प्रचलित थे। विचार-जगत् मे उथल-पुथल हो रहा था। लोगो की जिज्ञासा जग उठी थी। परलोक है या नही, मरण के अनन्तर जीव का अस्तित्व होता है या नही, कर्म है या नही, कर्म-विपाक है या नही, इस प्रकार के अनेक प्रश्नो में लोगों का कुतूहल था। इन प्रश्चों का उत्तर पाने के लिए लोग उत्सुक थे। ब्राह्मण-श्रमण दोनों में ही विचार-चर्चा होती थी। श्रमण ग्रवैदिक थे। ये वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते थे। ये यज्ञ-यागादि किया-कलाप को महत्त्व न्ही देते थे। इनकी दृष्टि में या तो इनका क्षुद्र फल है या ये निरर्थक और निष्प्रयोजनीय है। श्रमण श्रास्तिक श्रीर नास्तिक दोनो प्रकार के थे। इनके कई सम्प्रदाय तपस्या को विशेष महत्त्व देते थे। जो ग्रास्तिक थे, वे भी जगत् का कोई स्रष्टा, कर्ता नही मानते थे। 'पालिनिकाय' मे जिन श्रमणो का उल्लेख है, उनमें प्राय नास्तिक ही है। ब्राह्मण श्रीर श्रमण-ये दो संस्कृति-पुरम्पराएँ प्राचीन काल से चली ग्राती है। ये एक दूसरे से प्रभावित हुए है। इनमे नैसर्गिक वैर था। ब्राह्मण मुण्डदर्शन की अशुभ मानते थे। ब्राह्मण सासोरिक थे। श्रमण म्रनागारिक होते थे भीर ब्रह्मचर्य का पालन करते थे । ये सत्यान्वेषण के लिए किसी शास्ता के श्रधीन होते थे, उसके गण या सघ में प्रवेश करते थे। बाह्मण वैदिकधर्म के अनुसार मन्त्र, जप, दान, होम, मगल, प्रायश्चित्तादि ग्रनुष्ठान का विधान करते थे। धर्म का यह रूप बाह्य था। स्वर्ग की कामना से या अन्य लौकिक भोग की कामना से ये विविध अनुष्ठान होते थे। यज्ञो मे पशुवध भी होता था। कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। ब्राह्मण-धर्म श्रास्तिक था। ब्राह्मण सुकृत-दुष्कृत के फलविपाक में विश्वास करते थे। इनमें सत्य, ग्रहिसा, ग्रस्तेय ग्रादि के लिए पक्षपात था। किन्तु, वैदिकी हिसा हिसा नही समझी जाती थी। ये नि स्पृह ग्रीर सरल हृदय के होते थे और इनको विद्या का व्यसन था, इमलिए समाज मे इनका आदर था। धीरे-धीरे उनका प्राधान्य हो गया, क्योंकि वेद-विहित ग्रनुष्ठानो की विधि इन्ही को मालूम थी। पुरोहित सकीर्ण-ह्दय और स्वार्थी होने लगे और वे अपने को सबसे ऊँचा ममझने लगे। ब्राह्मण-काल मे पुरोहित मानुषी देवता हो गये। इस काल में वेद को शब्द-प्रमाण मानते थे। वणाश्रमधर्म की व्यवस्था इसी काल मे प्रौढ हुई। तपस्या का भी माहीतम्य समझा जीता था, वयोकि उनका

विचार था कि देवों ने अपने उच्च पद को तपस्या से प्राप्त किया था। धीरे-धीरे कोरे कर्मकाण्ड के विरुद्ध आयों में विद्रोह होने लगा, पणु-वध के विरुद्ध आवाज उठने लगी। यह कहा जाने लगा कि यज्ञ-गगिदि हीन है, प्रह्म-जान सर्वश्रेष्ठ है। यह उपनिषत्-काल था। इस काल में ब्रह्मविद्या की चर्चा वढने लगी। ऋषि आश्रमों में निवास करते थे, ग्रीर ब्रह्म-चिन्तन में रत रहते थे। जिज्ञासु शिक्षा के लिए उनके पास जाने थे ग्रीर जिनको यह पात्र समझते थे, उनको शिक्षा देते थे। ब्राह्मण-धर्म थे अन्तर्गत तापस भी होते थे, जिनको 'वैद्यानम' कहते थे। इनके लिए जो ग्राचार विहित था, उसका वर्णन 'वैद्यानससूत्र' में मिलता है। बौद्ध मिलुग्रो में भी ऐसे भिक्षु होते थे, जो वैद्यानसो के नियमो का पालन करते थे। इन नियमों को 'धुतग' कहते है। वृक्षमूल-निकेतन, ग्ररण्यनिवास, ग्रम्भानवास, ग्रम्थवकासवास, पागुकूल-धारण ग्रादि 'धुतग' है। (क्लेशो के ग्रपगम से भिक्षु विशुद्ध होता है। वह 'धुत' कहलाता है। उसके ग्रग 'धुतग' है।)

वैखानसो से प्रभावित होकर वौद्धो में भी इस प्रकार के यित होने लगे। कुछ विद्वानों का कहना है कि जब बौद्ध धर्म पूर्व से पश्चिम की ओर गया, तब यह परिवर्त्त न हुआ। पश्चिम देश में पूर्व देश की अपेक्षा ब्राह्मणों का कही अधिक प्रभाव था। इन विद्वानों के अनुसार बौद्ध धर्म का पूर्व रूप अत्यन्त मरल था। पश्चिम देश के ब्राह्मणों में वौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने के उपरान्त उनके प्रभाव से यह परिवर्त्त न घटित हुआ और 'धुतग' का समादान लेनेवाला भिक्ष अधिक आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा।

यह वात ध्यान में रखने की है कि बुद्ध के समय में ग्रास्तिक का ग्रथं ईश्वर में प्रति-पन्न नहीं था ग्रीर न वेद-निन्दक को ही नास्तिक कहते थे। पाणिनि के निर्वचन के ग्रनुसार नास्तिक वह है, जो परलोक में विश्वास नहीं करता (नान्ति परलोको यस्य स)। इस निर्वचन के ग्रनुसार वौद्ध ग्रीर जैन नास्तिक नहीं हैं। बुद्ध ने ग्रपने मूत्रान्तो (सवादो) में नास्तिक-वाद को मिथ्यादृष्टि कहकर गहिंत किया है। बुद्ध के ममकालीन 'ग्रजितकेशकम्बल' जो स्वय एक गण के ग्राचार्य थे, नास्तिकवादी थे। प्राचीन काल के लिए यह गौरव का विषय है कि भारतीय कर्म-फल के महत्त्व पर जोर देने थे, ईश्वर के ग्रस्तित्व पर नहीं। मानव-समाज की स्थिति ग्रीर उन्नति के लिए समाज में व्यवस्था को होना ग्रावश्यक है ग्रीर यह तभी हो सकती है, जब मब लोग इसमें प्रतिपन्न हो कि ग्रग्श कर्म का श्रग्भ , ग्रुभ का ग्रुभ ग्रीर व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होना है। यह सदाचार तथा नैतिकता की भित्ति है।

## वुद्ध का प्रादुर्भाव

ऐसे काल में जिय इन दार्श निक प्रश्नो पर विचार-विमर्श होता था ग्रौर सद्गृहस्थ भी सत्यान्वेषण में घर-वार छोडकर भिक्षु या वनस्थ होते थे चुद्ध का शाक्य-वश में जन्म हुआ। इनका कुल क्षतिय ग्रौर गोत गौतम था। इनका नाम मिद्धार्थ था। ये राजा शुद्धोदन के पुत थे। उम समय पूर्व के देशों में क्षतियों का प्राधान्य था। ब्रह्मज्ञानी राजा जनक, जो ब्राह्मणों को भी ब्रह्मविद्या का उपदेश करते थे, मिथिला के थे। बौद्धर्म ग्रौर जैनधर्म के प्रतिष्ठापक

भी क्षतिय थे। ये धर्म वैदिक धर्म के विरोधी थे, यद्यपि बुद्ध ने सद्ब्राह्मणो के लिए भएशब्द कहना तो दूर रहा, उनकी प्रशसा ही की है। क्षत्रिय ब्राह्मण-पुरोहितो के प्रतिपक्षी ये। वे उनको प्रपने से ऊँचा मानने को तैयार नहीं थे। ब्राह्मण-प्रन्थों में प्रतिवादी के वचन को ब्राह्मण 'क्षत्रिय के शब्द' कहते थे । इससे जापित होता है कि वे क्षत्रियों को ग्रपना प्रतिद्वन्द्वी मानते थे। 'पालिनिकाय' मे क्षित्रयो को वर्णों की गणना मे प्रथम स्थान दिया है।

भाक्य-वश की राजधानी क<u>पिलवस्तु</u> थी। इनका राज्य छोटा-सा राज्य था। उस समय भारत में एक सुदृढ़ विशाल राज्य न था, जैसा कि ग्रागे चलकर नन्दो ने सगठित किया ग्रीर जिसमें चन्द्रगुप्त मौर्य ने वृद्धि की। जातको से मालूम होता है कि वृद्ध के पूर्व १६ महाराष्ट्र ये। बुद्ध-काल में चार प्रधान राज्य सगठित हो रहे थे। इन १६ में से कुछ राष्ट्र ग्रन्य राष्ट्रों में सम्मिलित कर लिये गये। इस कारण महाराष्ट्रो की सख्या घटने लगी। चार प्रधान राष्ट्र येथे— (१) मगध, जिसमे अग शामिल या और जिसका राजा विम्विसार था, (२) कोशल, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जिसमें काशी सम्मिलित थी श्रीर जिसका राजा प्रसेनजित था, (३) कौशाम्त्री, जिसका राजा वत्सराज उदयन था ग्रौर (४) ग्रवन्ती, जिसका राजा चण्डप्रद्योत था। इन चार राज्यो की राजधानियाँ ग्रागे चलकर वौद्धर्म का केन्द्र हो गई।

सिद्धार्थ ने राजकुमारो की भाँति शिक्षा प्राप्त की। इनके पिता वैदिक धर्म के अनुयायी थे। सिद्धार्थ विचारशील थे और इसलिए इनकी उत्सुकता जीवन के रहस्यों को जानने के लिए बढ़ने लगी। सासारिक सुखो से ये विरक्त हो गये। समार से इनको उद्देग उत्पन्न हुन्ना ग्रीर परमार्थ-सत्य की खोज में एक दिन इन्होने घर से अभिनिष्कमण किया और काषाय-वस्त्र धारण कर भिक्ष-भाव ग्रहण किया। उस समय तापसो की विशेष प्रसिद्धि थी। सिद्धार्थ के पिता के यहाँ काल-देवल म्रादि तापस माया करते थे। एक तेपोवन में उनको मालूम हुम्रा कि विम्ब-प्रकोष्ठ में 'प्रराड-कालाम' नामक तापस रहते हैं, जो नि श्रेयस का ज्ञान रखते हैं। यह सुनकर सिद्धार्थं स्रराड के तपोवन में गये। वहाँ उनका स्वागत हुन्ना। सिद्धार्थं ने पूछा कि जरा-मरग्ग-रोग से सत्त्व (जीव) कैसे विमुक्त होता है ? 'ग्रराडं' ने सक्षेप मे ग्रपने शास्त्र के निश्चय को बताया। उन्होने ससार की उत्पत्ति ग्रीर विवर्त्तन को समझाया। तत्त्वो की शिक्षा देकर उन्होने नैष्ठिक-पद की प्राप्ति का उपाय भी वताया । किन्तु सिद्धार्थ को 'ग्रराड' की शिक्षा से सन्तोष मही हुआ। विशेष जानने के लिए वे 'उद्रक-रामपुत' के आश्रम को गये, किन्तु इनके भी दर्शन को सिद्धार्थं ने स्वीकार नही किया। इनकी शिक्षा साख्य-योग की थी। जब इनसे परितोष न हुआ, तब ये भनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) णान्तिवर-पद की गवेपएगा मे 'उच्वेला' श्राये श्रीर 'नेरजना' (या नैरजरा) नदी के तट पर आवास किया। इन्होने विचार किया कि मुझमें भी श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति, समाधि श्रीर प्रजा है, मैं स्वय धर्म का मोझात्कार करूँगा।

बुद्ध के समसाभियिक हमने ऊपर कहा है कि वुद्ध के समय में अनेक वाद प्रचलित थे। 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजाल-सुत्त मे इन वादों का उल्लेख है। इनका वर्णन यहाँ देना आवश्यक है, किन्तु बुद्ध के समसामियक जो ६ शास्ता—सधी, गणी, गणाचार्य भीर तीर्थ कर थे, उनका सक्षेप मे हम

वर्णन देंगे। उनके नाम ये हैं--- प्रजितकेशकम्बल, पूरणकस्सप, पकुद्यकच्चायन, मक्खलि-गोसाल, सजयवेल हिपुत्त, निगठनातपुत्त । इनमे 'निगठनातपुत्त' जैनधर्म के श्रन्तिम तीर्थ कर महावीर हैं। इनमें केवल यही ग्रास्तिक थे। श्राजितकेशकम्बल के मत से न दान है, न इप्टि, न हुत, न मुकृत श्रौर न दुष्कृत कर्म का फल-विपाक है, न इहलोक है, न परलोक, न श्रमण-ब्राह्मण हैं, जिन्होने ग्रभिज्ञावल मे इहलोक-परलोक का साक्षात्कार किया है। मनुष्य चातु-र्महाभूतिक है। जब वह काल (मृत्यु) करता है, तब पृथिवी पृथिवी-काय को अनुपगमन करती है इत्यादि। इन्द्रियाँ श्राकाण में सक्रमण करती है। वाल श्रीर पण्डित काय-भेद से विनष्ट होते हैं, मरणानन्तर वे नही होते। 'मजय' का कहना या कि प्राणातिपात (वध), श्रदत्ता-दान (स्तेय), मृपावाद ग्रीर परदार-गमन से पाप नहीं होता ग्रीर दान-यज्ञ ग्रादि से पुण्य का ग्रागम नही होता। मक्खलिगोसाल नियतिवादी थे। वे मानते थे कि सव सत्त्व (जीव) भ्रवश है, भ्रवीर्य है। उनमें न वल है, न वीर्य है, न पुरुष-पराक्रम। उनके अनुसार हेतु नही है, सत्त्वों के सक्लेश का प्रत्यय (हेतु) नहीं है, मत्त्व ग्रहेतुक क्लेश भोगते हैं ग्रीर विना हेतु-प्रत्यय के विणुद्ध होते हैं। गोसाल ग्राजीवक-मम्प्रदाय के सस्यापक थे। वे कहने थे कि वाल ग्रीर पण्डित सब सत्त्व-समरण कर दुख का श्रन्त करने हैं। इसे समार-शुद्धि कहने हैं। ये भ्रवेलक थे भ्रीर ग्रनेक प्रकार के कप्ट-तप करते थे। जेतवन के पीछे उनका एक स्थान था। ये पचाग्नि तापते थे, उत्कृटिक थे ग्रौर चमगाटड की भाँति हवा में झूलते थे। 'पालिनिकाय' में इनको 'मुक्ताचार' कहा है। एक सूत्रान्त में इनको 'पुत्तमनाय पुत्ता कहा है, अर्थात् यह उम माता के पुत्र हैं, जिसके पुत्र मर जाते हैं। वृद्धघोष के अनुसार 'पूरण' आत्मा को निष्क्रिय कहते ग्रीर कर्म को नही मानते थे। 'ग्रजित' नास्तिक थे ग्रीर कर्म-विपाक को नही मानते थे। 'गोमाल' नियतिवादी थे, ये कर्म और कर्मफल दोनो का प्रतिपेध करते थे।

वृद्ध श्राजीवको को सबसे वृरा समझते थे। तापस होने के कारण इनका समाज में आदर था। लोग निमित्त, शाकुन, स्वप्न श्रादि का फल इनसे पूछते थे। प्रशोक और उनके पौत्र 'दणरथ' के लेखो में आजीवको का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त और भी तापस थे, जो शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देते थे। कोई सन का कपडा पहनता था, कोई कुण-चीर, कोई केण-कम्बल धारण करता था, कोई उलूक-पक्ष धारण करता था, कोई केश-जु चन करता था, कोई कण्टक पर शयन करता था (कण्टकापाश्रय), कोई गोव्रतिक, कोई मृगव्रतिक होता था, किसी की उञ्छवृत्ति थी। ये हिम-वात-सूर्यादि दुख को महन कर अनेक प्रकार से शरीर का आतापन-परितापन करते थे। इनका विश्वास था कि दुख से सुख की प्राप्ति होती है। इमी कारण उस युग में तापसो का वडा आदर था। उनका कष्टमय जीवन को म्बीकार करना एक बडी बात समझी जाती थी। आक्चर्य होता है कि 'अजितकेणकम्बल', जैसे लोगो के लिए समाज में आदर था। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि ये तापस थे। ये तपस्या किस उद्देश्य से करते थे, यह भी जात नहीं है। ये लोग अद्भुत कर्म दिखाने थे, यह दावा करते थे कि इन्होने ऋदियाँ प्राप्त की है। ये लोग अद्भुत कर्म दिखाने थे, यह दावा करते थे कि इन्होने ऋदियाँ प्राप्त की है। ये लोग अद्भुत कर्म दिखाने थे, यह दावा करते थे कि इन्होने ऋदियाँ प्राप्त की है। अत, इसमें कोई आएचर्य नहीं है कि बुद्ध ने भी 'नेरजना' के तट पर रहकर ६ वर्ष

कठोर तपस्या की; क्योंकि उस समय नैष्ठिक-पद की प्राप्ति के लिए तप श्रावश्यक समझा जाता था।

## बुद्धत्व-प्राप्ति

बुद्ध के साथ पाँच ग्रन्य भिक्षु भी थे। उन्होंने ग्रनशन-त्रत यह समझकर किया कि इससे वह जन्म-मरण पर विजय करेंगे। वे एक तिल-तण्डुल पर रहने लगे। इसका परिमाण यह हुग्रा कि वे ग्रत्यन्त कृश हो गये ग्रौर त्वगस्थिशेष रह गये। 'बुद्धचरित' के शब्दो में, तब उनको मालूम हुग्रा कि यह धर्म विराग, बोध, मुक्ति के लिए नहीं हैं, दुर्बल इस पद को नहीं पा सकता। ऐसा विचार करके बुद्ध पुन भोजन करने लगे। जब उनका शरीर ग्रौर मन स्वस्थ हुग्रा, तब उन्होंने समाधि लगाई। उन पाँच भिक्षुग्रों ने ग्रसन्तुष्ट होकर उनका साथ छोड दिया। सिद्धार्थ बोध के लिए कृतसकल्प हो ग्रश्वत्थमूल में पर्यंकबद्ध हुए ग्रौर यह प्रतिज्ञा की कि जबतक मैं कृत त्य नहीं होता, तबतक इसी ग्रासन में बैठा रहूँगा। रावि के प्रथम याम में उनको पूर्वजन्मों का ज्ञान हुग्रा, दूसरे याम में दिव्य-चक्षु विशुद्ध हुग्रा, ग्रन्तिग याम में द्वादश प्रतीत्य-समुत्पाद का साक्षात्कार हुग्रा ग्रौर ग्रहणोदय में उनको सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष हुग्रा। यह उनका बुद्धत्व है। उस दिन से वे बुद्ध कहलाने लगे। सर्वज्ञता का साक्षात्कार कर भगवान् ने जो प्रीतिवचन (उदान) कहे, उनको हम यहाँ उद्धृत करते हैं—"कष्टमय जन्म बार-वार केना पडा। मैं गृहकारक की खोज में ससार में व्यर्थ भटकता रहा। किन्तु गृहकारक! ग्रब मैंने तुझे देख लिया। ग्रब तू फिर गृह-निर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कडियाँ टूट गई, गृह-शिखर ढह गया। चित्त-निर्वाण का लाभ हुग्रा, तृष्णा का क्षय देख लिया।"

सात सप्ताह तक वे विविध वृक्षो के तले बैठकर विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते रहे। भगवान् को बुद्ध, तथागत, सुगत आदि कहते हैं। भगवान् के श्रावक सौगत, शाक्यपुत्रीय, बौद्ध कहलाते हैं। ऐसी कथा है कि बुद्धत्व प्राप्त कर भगवान् को धर्मोपदेश में ग्रनिच्छा हुई, किन्तु ब्रह्मासहम्पित की प्रार्थना पर वे धर्मोपदेश के लिए राजी हुए। पहले उनका विचार 'ग्रराड-कालाम' और 'उद्दक-रामपुत्न' को धर्म का उपदेश (देशना) देने का हुआ, किन्तु यह जानकर कि वे अब जीवित नहीं हैं, उन्होंने उन पाँच भिक्षुओं को धर्म का उपदेश करने का निश्चय किया, जो उनका साथ छोडकर 'ऋषिपत्तन' मृगदाव (सारनाथ, काशी के पास) चले गये थे। आषाढ-पूर्णिमा के दिन उनका पहला उपदेश 'सारनाथ' में हुआ। यह उपदेश धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-सूत्र है। यही धर्मचक्र का प्रथम बार प्रवर्त्तन हुआ। इसलिए, सारनाथ भिक्षुओं का एक तीर्थ हो गया। पाँचो भिक्षु प्रथम शिष्य हुए। वाराणसी का एक विणक्-पुत्न 'यश' भी ससार से विरक्त हो ऋषिपत्तन आया। वह भी भगवान् से उपदेश पाकर भिक्षु हो गया। यह सवाद पाकर उसके ५४ मित्र भी भिक्षु हो गये। इस प्रकार, इन ६० भिक्षुओं को लेकर बुद्ध-शासन का आरम्भ हुआ। भगवान् ने एक सघ की प्रतिष्ठा की। आगे चलकर जब सघ के नियम बने, तब सघ की सदस्यता के लिए एक विधि रखी गई। इसे 'उपसम्पदा' कहते हैं। मध्यदेश में १० भिक्षुओं के स्रीर प्रत्यन्तिक जनपदो में पाँच भिक्षुओं के सघ के मम्मुख 'उपसम्पदा' होती थी।

भारम्भ में जब संघ नहीं था, तब पहले शिष्यों की उपसम्पदा 'एहि भिक्षी' इस वाक्य से हुई। पचवर्गीय भिक्षुत्रों की उपसम्पदा इसी प्रकार हुई। इसी प्रकार, जब भगवान् ने भानन्द के भाग्रह पर स्त्रियों को सघ में प्रवेश करने की श्राज्ञा दी, तब महाप्रजापती गौतमी की (जो पहली भिक्षुणी थी) उपसम्पदा भिक्षुत्रों के गुरुधमीं को स्वीकार करने से हुई।

#### धर्म-प्रसार

भगवान् ने धर्म-प्रचार के लिए इन ६० भिक्षुग्रो को भिन्न-भिन्न दिशाग्रो में भेजा ग्रीर स्वय 'उरुवेला' की ग्रोर गये। वहाँ 'उरुवेल-काण्यप' ग्रीर उनके दो भाई एक वृहत् सम के साथ निवास करते थे। ये जटिल थे। इनको भी उपदेण देकर भगवान् ने शासन में दीक्षित किया। इन जटिलो की ग्रामपास बहुत ख्याति थी। मगध के महाराज विस्विसार भी इनका बहुत ग्रादर करते थे। यह जानकर कि वे बुद्ध के शासन में प्रवेश कर गये, उनको वडा ग्राण्वर्य हुग्रा। इससे बुद्ध की ख्याति फैली ग्रीर स्वय विस्विसार उपासक हो गये। गृहस्थ णिष्य उपासक-उपासिका कहलाते थे। भगवान् चारिका (भ्रमण) करते हुए किपलबस्तु पहुँचे ग्रीर वहाँ कई दिन ठहरकर उन्होने धर्म का उपदेश किया। शाक्य-कुल के ग्रनेक युवक भिक्षु हो गये। बुद्ध के पुत्र राहुल भी मिक्षु हुए। यहाँ से भगवान् राजगृह ग्राये। उस समय वहाँ श्रमण 'सजय' ग्रपने मच के साथ रहते थे। इस सम में 'शारिपुत्र' ग्रीर 'मौद्गन्यायन' थे। ये भी बौद्धभिक्षु हो गये। इन्होने भिक्षु 'ग्रश्विजत्' से श्रमण गौतम की शिक्षा का सार स्ना था। यह शिक्षा इस गाथा में उपनिबद्ध है। यह भ्रमेक स्थानो पर उत्कीर्ण पार्ड गई है—

#### ये घम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतुं तथागतो झाह। तेस च यो निरोधो एवं घादी महासमणो।।

ये दो प्रग्रश्रावक कहलाते हैं। इस प्रकार, धीरे-धीरे वौद्धधमं फैलने लगा। हम इस धमं के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख आगे करेंगे और वुद्ध की बताई निर्वाण की साधना का भी दिग्दशंन करायेंगे तथा विकास-ऋम से वौद्धदर्शन के विभिन्न वादों का भी धालीचन करेंगे। यहाँ आयंदेव के गव्दों में इतना कहना पर्याप्त होगा—

> धर्म समासतोऽहिंसां धर्णयन्ति तथागता । शुन्यतामेव निर्वाणं केवल तदिहोभयम् ॥

महिंसा भौर निर्वाण ये दो धर्म जो स्वगं-विमुक्ति-प्रापक है, तथागत द्वारा हाँगत है। यह ज्ञान श्रीर योग का मार्ग है। भगवान् ने स्वय कहा है कि जिस प्रकार समुद्र का एक रस लवण-रस है, उसी प्रकार मेरी शिक्षा का एक रस विमुक्ति-रस है। भायुर्वेदशास्त्र के श्रनुसार भगवान् की भी चनु सूत्री है—दु ख है, दु ख का हेतु है, दु ख का निरोध है, दु खिनरोधगामिनी प्रतिपत्ति (मार्ग) है। भगवान् यद्यपि ब्रह्मया ईश्वर श्रीर ग्रात्मा की सत्ता को नहीं मानते थे, तथापि पुनर्जन्म, परलोक में प्रतिपन्न थे। वे ब्राह्मणों के लोकवाद श्रीर देववाद को मानते थे। वे देव, यक्ष, किन्नर, ग्रसुर, प्रेत की मत्ता श्रीर स्वर्ग-नरक की कल्पना को मानते थे। इस अपर कह चुके हैं कि वे नास्तिक नहीं थे। वे कर्म श्रीर कर्म का फल मानने थे।

षौद्धमं के प्रसार का यह फल हुआ कि तापसो और नास्तिको का प्रभाव बहुत कम हो गया। इसी कारण निर्गन्थ और आजीवक बौद्ध-िक्षक्षुओं की हँसी उड़ाया करते थे कि ये जब तपस्या नहीं करते, तब निर्वाण का लाभ क्या करेगें वौद्ध-िक्षक्षुओं ने एक प्रवल मध स्थापित किया, जो राजाओं का, विशेष कर अशोक का प्रश्रय पाकर उन्नत अवस्था को पहुँचा।

## चारिका, वर्षावास श्रौर प्रवारणा

बुद्ध भिक्षुत्रों के साथ चारिका करते थ, भिक्षुत्रों के सन्देहों का निराकरण करते थे, उनको धर्म-विनय ( भिक्षु यो के नियम ) की शिक्षा देते थे, जो तीर्थिक उनसे प्रश्न करने धाते थे, उनसे सलाप करते थे भ्रौर गृहस्थो को धर्म का उपदेश देते थे। वर्षा ऋतु में चारिका बन्द हो जाती थी, भिक्षु एकस्थ होते थे। उपासक उनको वर्षावास का निमन्द्रण देते थे। उपासक उनकी भिक्षा की व्यवस्था करते ये भीर भिक्षु उनको धर्मोपदेश देते थे। इस प्रकार, उनमें भादान भीर प्रतिदान होता था और सघ की एकता सिद्ध होती थी। वृष् के अन्त में एक उत्सव होता था, जिसे प्रवारणा (पवारणा) कहते थे। इस उत्सव मे भिक्षु भ्रौर उपासक सव सम्मिलित होते ये भीर एक भिक्षु सभी भिक्षुग्रो श्रीर उपासको को धर्मोपदेश देता या। वे दिन में उपोसय (दत) रखते थे भ्रोर सायकां की सम्मेलन होता था। एक भिक्षु दूसरे के पाप को भाविष्कृत करता था भीर वह पाप स्वीकार करता था। भ्रन्त मे, उपासको द्वारा लाई हुई दान की वस्तुएँ भिक्षुत्रों में बाँट दी जाती थी। हर पाँचवे वर्ष प्रवारणा का उत्सव विशेष समारोह से होता था । यह पचवार्षिक परिषद् कहलाती थी । यद्यपि 'पालि निकाय' मे इसका उल्लेख नही है, तथापि स्रशोकावदान, दीपवश, महावश श्रीर चीनी यात्रियो के विवरण से इसके स्रस्तित्व का पता चलता है। फाहियान की यात्रा के विवरण से मालूम होता है कि 'खाश' के राजा ने पचवार्षिक परिषद् को बुलाया था, जिसमें उन्होने ग्रपना सर्वस्व दान में दिया । ह्वेनत्साग ने भी कूचा श्रौर वामियान में इस उत्सव को देखा था। व दिक विश्वजित् यज्ञ में भी सर्वसम्पत्ति का दान होता था। सन् ५२६ ई० में चीन के महाराज ने भी पचवार्षिक परिषद् को मामन्त्रित किया था। इससे मालूम होता है कि बौद्धों के जीवन में इस उत्सव का विशेष स्थान था।

माश्चयं है कि 'विनयपिटक' में इसका उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि विनय में केवल भिक्षुत्रों के सम्बन्ध में बातें कही गई है और उपासकों की उपेक्षा की गई है। वर्षा के उत्सव के वर्णन में भी उपासकों का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से आता है। जब इम 'चुल्लवग्ग' के ११ वें खन्धक का पाठ करते हैं, तब हम देखते हैं कि केवल भिक्षु और उनमें भी विशेषकर अर्हत् (अर्हत् वह है, जिसने निर्वाण का लाभ किया है) का ही उल्लेख होता है। इन्हीं का प्राधान्य है। प्रथम धर्म-सगीति में, जो वर्षावास के समय हुई, केवल अर्हत् ही रहे, उपासक नहीं। ह्वेनत्साग मगध देश के वर्णन में लिखते हैं कि उस स्थान के पिण्चम जहाँ आनन्द ने अर्हत्-पद प्राप्त किया, अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप था। इसी स्थान में महासघ-निकाय ने धर्म का सग्रह किया था। जो श्रीक्ष की अवस्था में थे, या उस अवस्था को पार कर

चुके थे, किन्तु महाकाश्यप की धर्म-सगीति में शरीक नही किये गये थे, वे वहाँ एक त हुए। उन्होने कहा कि जबतक णाम्ता (बुद्ध) थे, हम सबको उपदेण देने थे, किन्तु धर्मराज के परिनिर्वृत (निर्वाण में प्रविष्ट) होने के बाद से अब चुनाव होता है। उन्होंने आपम में निण्चय किया कि हमको भी धर्म का सग्रह करना चाहिए। उस सगीति में भिक्षु ग्रीर उपासक दोनो वडे समूह में सम्मिलित हुए थे। उन्होनें भी सूत्र, विनय, ग्रिभधर्म, सयुक्तिपटक ग्रीर धारणीपिटक का मग्रह किया। इस निकाय को 'महासाधिक' इसलिए कहते हैं, क्यों कि इसमें उपासक ग्रीर भिक्षु दोनो का एक वडा समुदाय गरीक हुग्रा था। इसमें नन्देह नही कि इस वृत्तान्त से ग्रौर दितीय सगीति के अवमर के सघभेद के वृत्तान्त में विरोध है, किन्तु जैसा कि 'श्रोल्डेनवर्ग' ने कहा है, इस दितीय संगीति के विवरण राजगृह की संगीति से पहले के हैं। महासाधिको का पृथक् होना भी दोनो धर्म-सगीतियो के कुछ विवरणो से पुराना हो सकता है। चीनी यात्री के इस कथन का समर्थन प्रथम सगीति के उन विवरणी से होता है, जो दो परि-निर्वाणमूत्र के परिशिष्ट हैं। इनके अनुसार परिषद् में कम-से-कम सब प्रकार के भिक्षु थे, केवल ग्रर्हत् ही न थे। एक विवरण के अनुसार उनके ग्रतिरिक्त देव, यक्ष, नाग, उपासक श्रीर उपामिका भी ये। इन मूलो को सम्बन्ध महासाधिक विनय से है। यह सम्भव है कि ये दो परिनिर्वाणनुत 'महासाधिक'-निकाय के है। यह परम्परा युक्त प्रतीत होती है और प्रथम महासगीति के जो विवरण उपलब्ध है, वे प्राय सघ के इतिहास मे एक विशेष परिवर्त्तन की सूचना देते हैं। ग्रत, हमको मानना होगा कि ग्रारम्म मे वर्षा में जिस परिषद् का सम्मेलन होता था, वह महासघ था। उसमे सब प्रकार के बौद्ध सम्मिलित होते थे। उपासको का उसमें सम्मिलित होना श्रावण्यक था।

#### निर्वाण

वृद्ध के जीवन-काल में भिक्षु श्रो का गृहस्थो से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उस समय वृद्ध की शिक्षा भी बहुत मरल थी। मर्वभूत-मैं ती इसका विशेष गुण था। उद्देश्य स्वर्ग या ब्रह्म-लोक प्राप्त करना था। प्रतिमोक्षमवर-ममादान, शृभक में ग्रीर भावना से उद्देश्य की सिद्धि होती थी। कुछ विद्वानो का मत है कि उस ममय निर्वाण की कल्पना ग्रभाव, ग्रांकिचन की न होकर ग्रमृत-पद की थी। निर्वाण ग्रच्युत स्थान है। यह ग्रचल, ग्रजर, ग्रमर, क्षेमपद, ग्रमृतपद है। यह ग्रनुत्तर योगक्षेम है। स्वय वृद्ध कहते हैं कि इस ग्रवस्था को व्यक्त करने के लिए कोई शव्द नही है। यह ग्रनिर्वचनीय, ग्रवाच्य, ग्रवक्तव्य है। "जो निर्वाण को प्राप्त होता है, उसका प्रमाण नही है, जिससे कह मर्के कि यह क्या है।" यह एकान्त सुख है, यह ग्रप्रतिभाग है। निर्वाण को मुख, शान्त, प्रणीत कहा है। भगवान् ग्रज्ञातसूत्र में कहते हैं—"हे भिक्षुग्रो। यह ग्रजात, ग्रभूत, ग्रकृत, ग्रसस्कृत है। हे भिक्षुग्रो। यदि यह ग्रजात, ग्रभूत, ग्रकृत, ग्रमस्कृत न होता, तो जान, भूत, कृत, गर्मकृत का नि मरण न होता।" भगवान् पुन कहते हैं—"उसका ध्रुव नि सरण ग्रतक्यं है, वह ग्रजात, ग्रमपुत्यन्न, ग्रशोक विरजपद है। वह दुख धर्मों का निरोध है। वह सम्कारो का उपराम है।"

उत्पर दिये हुए उद्धरणों में निर्वाण के लिए 'ग्रमृतपद' शब्द का प्रयोग होने से कुछ विद्वानों का कहना है कि वुद्ध ने जिस निर्वाण की शिक्षा दी थी, वह ग्रात्मा के ग्रमरत्व का ग्रौर मोक्ष में नित्य-सुख का द्योतक था। इन विद्वानों का कथन है कि ग्रागे चलकर बौद्धधर्म का रूप विकृत हो गया ग्रौर वह निर्वाण को सर्वदु ख का ग्रभाव-मान्न मानने लगे। शरवात्स्की ने इस मत का खण्डन किया है ग्रौर उन्होंने इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि बुद्ध की शिक्षा के ग्रनुसार निर्वाण नित्य-सुख की ग्रभिव्यक्ति नहीं है। यह ग्रमिताभ का सुखावतीं-लोक नहीं है, जहाँ नित्य-सुख की कल्पना की गई है। उनका कहना है कि निर्वाण लोकोत्तर है ग्रौर ग्रमृत-शब्द का ग्रथं केवल इतना है कि वह ग्रमृत्यु-पद है। निर्वाण में न जन्म हैं, न मृत्यु। ग्रागे चलकर हम बौद्धों के विभिन्न प्रस्थानों के ग्राधार पर निर्वाण का विस्तृत विवेचन करेंगे।

म्रानेक प्रकार के भिक्षु

बुद्धोपदिष्ट निर्वाण के स्वरूप की जो भी व्याख्या की जाय, बौद्धशासन मे भिन्न रुचि श्रीर प्रकृति के अनुसार कई प्रकार के भिक्षु थे। मिष्डिमिनिकाय के महागोसिगसूत्त में इन विविध प्रकार के भिक्षुश्रो का परिचय मिलता है। एक समय भगवान् गोसिग-शालवन में विहार करते थे। उनके साथ श्रानन्द, शारिपुत, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, रैवत, श्रनिरुद्ध श्रादि भिक्षु थे। धर्म-श्रवण के लिए ये लोग शारिपुत्न के पास गये (शारिपुत्न को धर्म-सेनापित भी कहते हैं)। भगवान् के परिचारक ग्रानन्द को ग्राते देख शारिपुत्न ने उनका स्वागत किया श्रीर कहा कि गोसिग-शालवन रमणीय है, शालवन फूले हुए हैं, दिव्य गन्ध वह रही है, राित्र निर्मल है। हे श्रानन्द । किस प्रकार के भिक्षु से इस वन की शोभा होगी? ग्रानन्द ने उत्तर दिया कि हे शारिपुत्न । जो वहुश्रुत है, जो चारो परिषदो (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक ग्रीर उपासिका) को कल्याण-धर्म की देशना (उपदेश) देता है, ऐसे भिक्षु से यह वन शोभित होगा। शारिपुत्न ने यही प्रश्न ग्रीरो से किया। महाकश्यप ने प्रश्न के उत्तर में कहा कि जो भिक्षु प्ररुप्य में निवास करता है, ग्रीर जो १३ धुतगो की प्रशसा करता है ग्रीर उसका ग्रहण करता है, वह इस वन की शोभा बढायगा। पुन किसी ने शारिपुत्न के उत्तर में वनय की प्रशसा की ग्रीर किसी ने श्रभिधर्म के महत्त्व का वर्णन किया।

इस सवाद मे जिन विविध प्रकार के भिक्षुश्रो का वर्णन किया गया है, उनमे श्रानन्द ही उस प्रकार के भिक्षु हैं, जिनके द्वारा बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। श्रानन्द, वन मे एकान्त-वास कर समाधि में निमग्न नही रहते थे। यही कारण है कि श्रानन्द लोकप्रिय थे। भगवान् के वे उपस्थापक थे। पच्चीस वर्ष तक उन्होने भगवान् की परिचर्या की। वे उनकी गन्धकुटी मे नित्य झाडू देते थे, उनका बिछौना बिछाते थे, स्नान के लिए पानी रखते थे और उनका शरीर दवाते थे। इतना ही नहीं, श्रानन्द बहुश्रुत थे। वे बड़े अच्छे वक्ता थे। भगवान् के सब सूत्रान्त उनको कण्ठस्थ थे। उनकी स्मृति-शक्ति प्रबल थी। बहुत-से सवाद उनके समक्ष दिये गये थे। जिन सवादो मे वे उपस्थित नहीं होते थे, उन्हें वे बुद्ध से पीछे सुन लेते थे। उपस्थापक होने

के पहले जो शर्त उन्होंने की, उनमें से एक यह भी शर्त थी। यही कारण है कि प्रथम महा-संगीति में ग्रानन्द ने धर्म (सूद्रान्त) का पाठ किया। यही कारण है कि सूद्रान्त इस वाक्य से ग्रारम्भ होते हैं—"एव में सुत" (मैंने ऐसा मुना है) 'मैंने' से ग्रानन्द इण्ट है। वुद्ध कहते है कि ग्रानन्द बहुश्रुत, श्रुतधर है। वह ग्रादि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण धर्म का चार परिपदों को (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक ग्रीर उपासिका) उपदेश देते हैं। इन्होंने सम्यग् दृष्टि से धर्मों का सुप्रतिवेध किया है।

ग्रानन्द बुद्ध को बहुत प्रिय थे। ग्रानन्द के ग्राग्रह पर ही बुद्ध ने स्तियों को सघ में प्रवेश की ग्रनुमित दी थी। भगवान् की माता की विहन महाप्रजापनी गौतमी ने, जिन्होंने महामाया की मृत्यु के पश्चात् भगवान् का पालन-पोपण किया था, भिक्षुणी होने की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने निपेध किया। ग्रानन्द ने गौतमी का पक्ष लेकर भगवान् में तक किया ग्रौर कहा कि क्या स्तियों को निर्वाण का ग्रधिकार नहीं है। भगवान् को स्वीकार करना पड़ा कि है। तव ग्रानन्द ने कहा कि क्या भगवान् की विमाता ही, जिन्होंने भगवान् का लालन-पालन किया, इस उच्च पद से विचत रह जायेगी। इस तक के ग्रागे भगवान् ग्रवाक् हो गये ग्रौर उन्हें ग्रीनच्छा से इसकी ग्रनुमित देनी पड़ी। इस कारण ग्रानन्द भिक्षुणियों में वड़े प्रिय थे। भिक्षुणियां उनका सदा पक्ष लिया करती थी ग्रौर यदि कोई उनको कुछ कहता था, तो वे उनकी ग्रोर से लडती थी। ग्रानन्द मुवक्ता थे। धर्मोपदेश के लिए उनकी ख्याति थी, हर जगह उनकी माँग थी। वे वड़े ही दयालु थे ग्रौर लोगो को दु खी देखकर उनका हृदय द्वित हो जाता था। वे सरल हृदय ग्रौर नि स्वार्थ थे। शारिपुत्र से इनकी विशेष मित्रता थी। ग्रच्छी-से-श्रच्छी वस्तु जो इनको दान में मिलती थी, उमे ये शारिपुत्र को दे दिया करते थे। शारिपुत्र की मृत्यु पर इनको वहुत दु ख हुग्रा था।

हम देख चुके हैं कि ग्रानन्द स्तियों के ग्रधिकार के लिए लडे थे। एक वार उन्होंने बुद्ध से पूछा था कि स्तियाँ परिपदों की सदस्या क्यों नहीं होती, व्यापार क्यों नहीं करती विचारताल के लिए भी उनके मन में घृणा नहीं थी। वे रोगियों को सान्त्वना देने जाया करते थे। दोपहर को जब भगवान् विश्वाम करते थे, तब वे रोगियों की शुश्रूपा में लग जाते थे। वे धर्मभण्डागारिक कहलाते थे। उनकी मृत्यु पर यह श्लोक उनकी प्रशमा में कहे गये थे—

वहुस्मुतो घम्मघरो कोसारक्खो महेसिनो। चक्खु सव्यस्स लोकस्म श्रानन्दो परिनिट्युतो॥ वहुस्सुतो धम्मघरो-व-श्रन्धकारे तमोनुदो। गतिमन्तो सतीमन्तो धितिमन्तो च यो इसि।। सद्धम्माधारको थेरो श्रानन्दो रतनाकरो।

(थेरगाथा १०४७-४६)

## भगवान् का परिनिर्वाण

जब भगवान् का कुसिनारा (कसिया) के शालवन में परिनिर्वाण हुया, तब श्रानन्द उनके साथ थे। भगवान् ने ग्रानन्द में कहा कि मैं वहुत थका हूँ, ग्रीर लेटना चाहता हूँ, दो शाल-

वृक्षों के बीच मेरा बिछीना कर दो। भगवान् लेट गये और एक परिचारक उनको पखा करने लगा। भगवान् ने कहा कि मेरे परिनिर्वाण का समय आ गया है। यह सुनकर आनन्द को बहुत शोक हुआ और वे विहार में जाकर द्वार के सहारे बैठ गये और विलाप करने लगे। भगवान् ने भिक्षुओं से पूछा कि आनन्द कहाँ है शिक्षुओं ने उत्तर दिया कि वे विहार में रो रहे हैं। भगवान् ने उनको बुलाने के लिए एक भिक्षु को भेजा। जब आनन्द आये, तब भगवान् ने कहा है आनन्द शोक मत करो। क्या मैं ने तुमसे नहीं कहा है कि प्रिय वस्तु से वियोग स्वाभाविक और अनिवार्य है। यह कै से सम्भव है कि जिसकी उत्पत्ति हुई है, जो सस्कृत और विनश्वर है, उसकी च्यृति न हो ऐसा स्थान नही। तुमने मनसा, वाचा, कर्मणा श्रद्धा के साथ मेरी सेवा की है। तुम अनन्त पुण्य के भागी हो। यह कहकर भगवान् ने भिक्षुओं से आनन्द की प्रशसा की। भगवान् न आनन्द से कहा कि मेरे पश्चात् यदि सघ चाहे, तो विनय के क्षुद्ध नियमों को रद्द कर दे। भगवान् भिक्षुओं से विदा हुए। भगवान् के अन्तिम शब्द ये थे—

"सब सस्कार अनित्य है। अपने निर्वाण के लिए विना प्रमाद के यत्नशील हो। तुम अपने लिए स्वय दीपक हो 'अत्तदीपा विहरथ' — दूसरे का सहारा न ढूँढो।"

बौद्धशासन में ऐसे भी भिक्षु थे, जिनको भ्ररण्य में खड्ग-विषाण (गैडा) के तुल्य एकान्तवास ग्रधिक प्रिय था। ऐसे भी भिक्षु थे, जो विनय के नियमों के पालन को भ्रधिक महत्त्व देते थे। विनयधर कहाते थे। इसमें 'उपालि' सबसे श्रेष्ठ था। प्रथम धर्म-सगीति में उपालि ने ही विनय का सग्रह किया था। ऐसे भी भिक्षु थे, जो अभिधर्म-कथा में रस लेते थे; दो भिक्षु एक साथ बैठकर एक दूसरे से प्रश्न पूछते और उत्तर देते थे। ये 'धर्मकथिक' होते थे। इस प्रकार के भिक्षु ग्रग्रश्रावक मीद्गल्यायन थे। किन्तु, जिस प्रकार के भिक्षुग्रो के कारण बौद्धधर्म दूर-दूर तक फैला ग्रौर लोकप्रिय हुग्रा,वे ग्रानन्द की भौति के थे।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, बुद्ध की दिनचर्या इसी प्रकार की थी। किन्तु, धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो बौद्धधर्म पश्चिम की ग्रोर बढा, त्यो-त्यो उसकी मूल भावना में परिवर्त्त न होने लगा। बुद्ध द० वर्ष तक जीवित रहे, २६ वर्ष की श्रवस्था में उन्होने निष्क्रमण किया था। उनके जीवन-काल में बौद्धधर्म कोशल, मगध, कौशाम्बी ग्रौर पाचाल-कुरु देश में फैला था, पश्चिम में उज्जैन तक गया था। मध्यदेश में बाह्मणधर्म का ग्रिधिक प्रभाव था। चुल्लवग्ग के बारहवें खन्धक से मालूम होता है कि द्वितीय धर्म-महासंगीति के समय पश्चिम के सघ में ग्रारण्यको की सख्या प्रचुर थी; किन्तु पूर्व में वैशाली के प्रदेश में नहीं थी।

#### वैदिक धर्म का प्रभाव

कई ब्राह्मण बौद्धशासन में प्रविष्ट हुए। उनके प्रभाव से ब्राह्मणधर्म का प्रभाव बौद्ध-धर्म पर पड़ा। जसे वैदिकधर्म मे चार ब्राश्रम है, उसी प्रकार बौद्धो मे गृहपित, श्रामणेर (जिसका उद्देश्य श्रमण होना है), भिक्षु ग्रौर ग्रारण्यक यह चार परिषदे हुई। इसी प्रभाव के कारण बौद्धो मे भी वैद्धानस-व्रत के माननेवाले धृतवादी हो गये। यह धृतगो का समादान करते थे। हम ऊपर कह चुके हैं कि ये 'धृतग' वैद्धानस के व्रत ह। इनका प्राधान्य हो गया। भिक्षु ग्रौर उपासक का ग्रन्तर बढ़ने लगा। ये ग्रारण्यक ऋषि ग्रौर योगी के स्थान मे थे। वुद्ध मध्यम मार्ग का उपदेश करते थे। उनका भ्रादर्श दूसरा था। ये भ्रारण्यक ससार से विरक्त हो एकान्तवास करते थे भ्रीर श्रपनी उन्नित के लिए मचेष्ट रहते थे। इनकी तुलना खड्ग-विपाण से देते हैं, जो वर्गचारी (झुण्ड में) नहीं होता, वन में एकाकी रहता है।

यह विचारणीय है कि विनय में धुतगुणो का उल्लेख नहीं है। 'परिवार' में इन वर्तों की निन्दा की गई है। पीछे के अभिधमं-ग्रन्थ जै से 'विमुद्धिमग्गो' में इनका उल्लेख है। 'मिलिन्द-प्रक्न' में भी 93 धुतगो की प्रणसा की गई है। धुतवादियों के प्रभाव के वढ़ने से उन उत्सवों का महत्त्व घटने लगा, जिनमें उपासकों का विशेष भाग था। यह परिवर्त्त न प्रथम संगीति के विवरणों से उपलक्षित होता है। कथा है कि वृद्ध-परिनिर्वाण पर धर्म-विनय के मग्रह के लिए संगीति हुई। यह वर्षाकाल में हुई। ५०० अर्हत् मिम्मिलित हुए। इनके प्रमुख ग्राचार्य महाकाण्यप थे। दीपवश में इस संगीति का वर्णन देते हुए महाकाण्यप के लिए लिखा है कि वे धुतवादियों के ग्रगुग्रा थे—-धुतवादान श्रग्गों सो कस्सपों जिनसासने। वे संगीति के प्रधान हुए।

#### प्रथम घर्म-संगीति

वर्षाकाल में जो उत्मव होता था, उममें सव प्रकार के भिक्षु ग्रौर उपामक सम्मिलित होते थे, किन्तु पालिकथा के अनुसार इस सगीति में उपामको का मिम्मिलित होना तो दूर रहा, केवल वही भिंसु मम्मिलित किये गये, जो ग्रहंत् हो चुके थे। यह भी विचिन्न बात है कि यद्यपि ग्रानन्द ने ही सूत्रो का सग्रह किया, तथापि इस हेतु को देकर कि वे ग्रभी ग्रर्हत् नही हुए है, वे सगीति से पृथक् किये गये और जव उन्होने ग्रर्हत्-फल की प्राप्ति की, तभी सम्मिलित किये गये। भगवान् ने जब धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया तब ६० भिक्षु एक उपदेश से ही ग्रर्हत् हो गये । परिनिर्वाण के पहले जो ग्राखिरी भिक्षु हुग्रा, वह 'सुभद्र' भी ग्रह्त् हो गया । किन्तु, ग्रानन्द, जो भगवान् को इतने प्रिय थे, जिन्होने २५ वर्ष भगवान् की परिचर्या की, जिनकी बहुश्रुत, धर्म-धर कहकर भगवान् ने भूरि-भूरि प्रशसा की, वह अर्हत्-पद को न पा सके। यह बात विश्वास के योग्य नहीं । उनपर संगीति में यह आरोप भी लगाया गया कि उन्होंने स्त्रियों को सघ में प्रवेश करने के लिए भगवान् से ग्रभ्यर्थना की थी ग्रीर भगवान् से परिनिर्वाण के समय यह नहीं पूछा कि कौन-कौन क्षुद्र नियम हटाये जा सकते हैं। उस समय भिक्षुग्रों में जो ज्येष्ठ स्थविर होता था, वह प्रमुख होता था। उस ममय सबसे ज्येष्ठ, ग्राज्ञात-कौण्डिन्य थे। यह पचवर्गीय भिक्षुग्रो में से थे। दीपवश के ग्रनुसार उस समय ग्राठ प्रमुख थे। महाकाश्यप का स्थान ग्रन्तिम था। उसपर भी प्रथम सगीति के वही प्रधान वनाये गये। फिर, हम देखते हैं कि प्रमुख के अधिकार वढ गये थे। जहाँ पहले सघ का पूर्ण अधिकार था, वहाँ ग्रव प्रमुख का ग्रधिकार हो गया। सघ विरत्नो में में एक था। भिक्षु ग्रीर उपासक सघ में शरण छेते थे, न कि किसी ग्राचाय या प्रमुख मे । प्रमुख को सघ के निर्णयो को कार्यान्वित करना पडता था, वह अपने मन्तव्यो को सघ पर लाद नहीं सकता था। अत, दीपवश में सघ स्वय सगीति के सदस्यों को चुनता है। किन्तु, दीपवण भ्रौर चुल्लवग्ग के भ्रनुसार महाकाश्यप ने ५०० भ्रहेंतो

को प्रवचन का सग्रह करने के लिए चुना । श्रशोकावदान में भी प्रमुख श्राचार्यो का चुनाव सघ नहीं करता है; किन्तु एक ग्राचार्य से दूसरे ग्राचार्य को ग्रिधिकार हस्तान्तरित होते हैं। पुराने समय में सघ का जो ग्राधिपत्य था, वह जाता रहा ग्रीर प्रमुखो का ग्रधिकार कायम हो गया।

प्राचीन काल में सघ का अध्यक्ष स्थिवर होता था और उसकी व्यवस्था शिथिल थी। पीछे तीन, चार या आठ स्थिवरों की परिषद् होती थी, जिसके हाथ में समस्त अधिकार होते थे। तत्पश्चात् यह परिषद् भी नहीं रही और एक प्रमुख हो गया। इन परिवर्त्तनों का शिक्षा पर भी अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ा। सघ के स्थान में एक व्यक्ति के प्रतिष्ठित होने से और उपासकों का प्रभाव घट जाने से अर्हत् का आदर्श सर्वोच्च हो गया।

हम देख चुके हैं कि दीपवश के श्रनुसार महाकाश्यप धुतवादी थे। इसका समर्थन 'मज्झिमनिकाय' के महागोसिंगसुत्त से भी होता है।

जिस समय प्रथम संगीति का प्रचिलत विवरण लिपिबद्ध हुन्ना, उस समय ऐसा मालूम होता है, न्नारण्यक का बड़ा प्रभाव था। इसिलए, न्नानन्द या अन्य स्थिवर को संगीति का प्रमुख न बनाकर महाकाश्यप को प्रमुख बनाया भ्रौर उन्होंने केवल अर्हतो को सग्रह के काम के लिए चुना। क्योंकि, धर्म का सग्रह म्नानन्द के विना न हो सकता था, इसिलए वे उद्योग करके शीध्र अर्हत् हो गये और उसके पश्चात् संगीति में सिम्मिलित किये गये।

त्रागे चलकर जब भिक्षु विहार, सघाराम मे रहने लगे, तब धुतवाद का ह्रास होने लगा, किन्तु नियमों का पालन कठोरता के साथ होने लगा श्रौर एकाधिकार वढने लगा।

## द्वितीय अध्याय

## बुद्ध की शिक्षा में सार्वभौमिकता

स्रव हम बुद्ध की शिक्षा पर विचार करेंगे। बुद्ध का उपदेश लोकभाषा में होना था, क्यों कि उनकी शिक्षा सर्वसाधारण के लिए थी। बुद्ध के उपदेश उपनिषद् के वाक्यों का स्मरण दिलाते हैं। उनकी शिक्षा की एक वड़ी विशेषता सार्वभौमिकता थी। इसी कारण एक ममय बौद्ध धर्म का प्रचार एक बहुत वड़े भूभाग में हो सका। उन्होंने मोक्ष के मार्ग का स्माविष्कार किया, किन्तु वह मार्ग प्राणिमात के लिए खुला था। जन्म से कोई वडा होता है या छोटा—इसे वे नहीं मानते थे। वृपलस्त्र (सुत्तनिपात) में वे कहते हैं—

"जन्म से कोई वृपल नहीं होता, जन्म से कोई बाह्मण नहीं होता। कर्म से वृपल होता है, कर्म से बाह्मण होता है। हे ब्राह्मण । इस इतिहास को जानो कि यह विश्रुत है कि चाण्डाल-पुत्त (श्वपाक) मातग ने परम यश को प्राप्त किया। यहाँतक कि ग्रनेक क्षत्रिय ग्रीर बाह्मण उमके स्थान पर जाते थे। ग्रन्त में वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुग्रा। ब्रह्मलोक की उपपत्ति में जाति वाधक नहीं हुई।"

'ग्राश्वलायन-सूत' में भगवान् से ग्राश्वलायन ब्राह्मण माणवक ने कहा कि "हे गौतम । ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, ग्रन्य वर्ण हीन है, ब्राह्मण ही शुद्ध होते हें, ग्रन्य वर्ण हीन है, ब्राह्मण नही, ब्राह्मण ही ब्रह्मा के ग्रौरम पुत्र है, उनके मुख से उत्पन्न हुए हैं—ग्राप इस विषय में क्या कहते हैं ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"हे ग्राश्वलायन । क्या तुमने सुना है कि यवन कम्बोज में ग्रीर ग्रन्य प्रत्यन्तिक जनपदो में दो वर्ण हैं—ग्रार्य ग्रीर दास । ग्रार्य से दास होता है, दास से ग्रार्य होता है।"

"हाँ, मैने ऐसा सुना है।"

"नही गौतम।"

1 .

"क्या तुम मानते हो कि व्राह्मण ही मैंत्र-चित्त की भावना में समर्थ है, व्राह्मण ही नदी में स्नान कर शरीरमल को क्षालित कर सकते हैं ? इस विषय में क्या कहते हो ? यदि क्षत्रिय-कुमार ब्राह्मण-कन्या के साथ सवास करे श्रीर उसके पुत्र उपन्न हो, तो वह पुत्र पिता के भी सदृश है, माता के भी सदृश है। उसे क्षत्रिय भी कहना चाहिए, उसे ब्राह्मण भी कहना

"हाँ, कहेंगे, गौतम ।"

"हे आश्वलायन । मैं चारो वर्णो को शुद्ध मानता हूँ।"

'सुन्दरिक-भार द्वाज-सूत' में भगवान् कहते हैं कि जाति मत पूछो, आचरण पूछो——(मा जाति पुच्छ चरण च पुच्छ)। हवन के लिए लाये हुए काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है। नीच और अकुलीन भी धृतिमान् और श्रेष्ठ होता है। वासेहुपुत्त-सुत्त में वासिष्ठ और भारद्वाज दो माणवक भगवान् के समीप आते हैं और कहते हैं कि हममें जातिवाद के सम्बन्ध में विवाद है। भारद्वाज कहता है कि जन्म से बाह्मण होता है और वासिष्ठ कहता है कि कमें से होता है। बताइए, हममें से कौन ठीक है विद्व कहते हैं कि जिस प्रकार कीट-पतग, चतुष्पद, मत्स्य, पक्षी आदि जातियों में जातिमय पृथक्-पृथक् लिग होता है, उम प्रकार मनुष्यों में नहीं होता।

मनुष्यो में जिस किसी की जीविका गो-रक्षा है, वह कृषक है, वह बाह्मण नहीं है, जिसकी जीविका व्यहार है, वह विणक् है। जिसकी जीविका पौरोहित्य है, वह याजक है और जो राष्ट्र का भोग करता है, वह राजा है। किन्तु तप ब्रह्मचर्य, सयम ग्रीर दम से ब्राह्मण होता है, जटा से, गोव से, जन्म से ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य ग्रीर धर्म है, वह शुचि है, वह ब्राह्मण हैं (धम्मपद ब्राह्मणवर्ग)। हे दुर्मेंध गुम्हारी जटा ग्रीर ग्रजिन-शाटी से क्या होता है? तुम्हारा ग्राभ्यन्तर तो गहन है ग्रीर तुम बाह्मका परिमार्जन करते हो। भगवान कहते हैं कि लोक में जो नाना सज्ञाएँ प्रचलित हैं, वे भिक्षुभाव ग्रहण करने पर लुप्त हो जाती हैं, जैसे विभिन्न निर्या समुद्र में मिलकर ग्रपने नाम-रूप को खी देती है। वौद्ध-संघु में सबके लिए स्थान था। उस समय शूद्रो को तप करने का ग्रधिकार न था, वे वेदाध्ययन भी नहीं कर सकते थे। श्रमणों ने सबके लिए नि श्रेयस् का मार्ग खोल दिया। बौद्धधर्म के प्रभाव से ग्रागे चलकर ग्रनेक ग्रन्य सम्प्रदाय हुए, जिन्होंने सबको समान रूप से यह ग्रधिकार दिया।

भगवान् की शिक्षा व्यावहारिक थी। वे दु ख के ग्रत्यन्त निरोध का उपाय वताते थे। लोक शाश्वत है ग्रथवा ग्रशाश्वत, लोक ग्रन्तवान् है या ग्रनन्त, जीव ग्रीर शरीर एक है या भिन्न, तथागत मरण के पश्चात् होता है या नहीं—इत्यादि दृष्टियों का व्याकरण (व्याख्या) बुद्ध ने नहीं किया है, क्योंकि उन्हीं के शब्दों में यह ग्रर्थंसहित नहीं है ग्रीर ये ब्रह्मचर्य-प्रवण नहीं हैं। ये विराग, विरोध, उपशम, सम्बोध, निर्वाण सवर्त्तनीय नहीं हैं। ब्रह्मचर्य-वास इन दृष्टियों में से किसी पर ग्राश्रित नहीं है। इन दृष्टियों के होते हुए भी, जन्म, जरा, मरण शोक, दु ख होते ही हैं, जिनका विधात इसी जन्म में हो सकता है। वुद्ध ने श्रावकों से पूछे जाने पर इन प्रश्नों का उत्तर देने से इनकार किया। भगवान् 'ग्रप्निवच्छगोत्त-सुत्त' में पुन कहते हैं कि ये दृष्टियाँ कान्तार, गहन, सयोजन (वन्धन) ग्रादि हैं। ये दु ख-परिदाह में हेतु हैं, ये निर्वाण-सवर्त्तनीय नहीं हैं। इसलिए, मैं इन दृष्टियों में दोष देखता हूँ ग्रीर इनका उपगम नहीं करता। तथागत सब दृष्टियों से ग्रपनीत हैं। इसलिए, बुद्ध ऐसे प्रश्नों की गुरिथयों को

मुलझाने में नहीं लगे थे। यह तो दर्शनणास्त्र का विषय था। कुछ ने मोक्ष का उपाय वताया। इमसे इन प्रण्नों का क्या सम्बन्ध है ? आगे चलकर जब बौद्ध-दर्शनणास्त्र सगिठत हुए, तब उन्होंने इन प्रण्नों का उत्तर दिया। अन्य सम्प्रदायों से जब बाद-विवाद होता था, तब बौद्ध इन प्रण्नों का उत्तर देने के लोभ का सवरण न कर सके और बुद्ध की इस णिक्षा को वे भूल गये कि ये दृष्टियाँ अर्थ-सहित नहीं।

#### मध्यम मार्ग

भगवान् बुद्ध का वताया मार्ग मध्यम मार्ग कहलाता है, क्योंकि यह दोनो अन्तों का परिहार करता है। जो कहता है कि आत्मा है, वह णाज्वत दृष्टि के पूर्वान्त में अनुपतित होता है, जो कहता है कि ग्रात्मा नही है, वह उच्छेद-दृष्टि के दूसरे ग्रन्त में ग्रनुपतित होता है। उच्छेद ग्रीर णाण्वत दोनो ग्रन्तो का परिहार कर भगवान् मध्यमा प्रतिपत्ति (मार्ग) का उपदेश करते हैं। एक ग्रन्त काममुखानुयोग है, दूसरा ग्रन्त ग्रात्मक्लमथानुयोग है। भगवान् दोनो का परिहार करते हैं। भगवान् कहते हैं कि देव ग्रौर मनुष्य दो दृष्टिगतो से परिपुष्ट होते हैं। केवल चक्षुष्मान् ययाभूत देखता है। एक भव मे रत होते हैं। जव भवनिरोध के लिए धर्म की देशना होती है, तव उनका चित्त प्रसन्न नही होता । इस प्रकार वह इसी स्रोर रह जाते हैं । एक भव से जुगुप्सा कर विभव का ग्रिभनन्दन करते है। वे मानते है कि उच्छेद ही शास्वत ग्रीर प्रणीत है। वे अतिधावन करते हैं। चक्षुप्मान् भूत को भूतत देखता है, भूत को भूतत देखकर वह भूत के विराग, निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है। यह मध्यममार्ग ग्रज्टागिक मार्ग है। भगवान् यह नहीं कहते कि मुझपर श्रद्धा रखकर विना समझे ही मेरे धर्म को मानो। भगवान् कहते हैं कि यह 'एहि पस्मिक', 'पच्चत वेदितव्व' धर्म है। भगवान् सवको निमन्त्रण देते हैं कि ग्राग्रो ग्रौर देखो, इस धर्म की परीक्षा करो। प्रत्येक को इसका ग्रपने चित्त मे श्रन्भव करना होगा । यह ऐमा धर्म नही है कि एक मार्ग की भावना करे और दूसरा फल का अधिगम करे। दूसरे के साक्षात्कार करने से इसका साक्षात्कार अपने को नही होता। इसलिए भगवान् कहते हैं कि है भिक्षुग्री । तुम ग्रपने लिए स्वय दीपक हो, दूसरे की शरण न जाग्री । धम्मपद में भगवान् कहते हैं — श्रता हि श्रत्तनो नायो श्रता हि श्रत्तनो गती । भगवान् एक सूब में कहते हैं कि धर्म प्रतिसरण हैं, पुद्गल (जीव) नहीं। प्रतिसरण का अर्थ है 'प्रमाण'। णास्ता भी प्रतिसरण नही है। एक ब्राह्मण श्रानन्द से पूछता है कि भगवान् ने या सघ ने किसी भिक्षु को नियत किया है, जो उनके पीछे प्रतिसरण होगा ? आनन्द ने उत्तर दिया, नहीं। ब्राह्मण ने कहा कि विना प्रतिसरण के सघ की मामग्री (साकल्य) कैसे रहेगी ? ग्रानन्द ने कहा कि हम विना प्रतिसरण के नहीं है। धर्म हमारा प्रतिसरण है।

लोग आत्मकल्याण के लिए अनेक मगल-कृत्य करते हैं, तिथि, मुहूर्त्त, नक्षत्नादि का फल विचरवाते हैं, नाना प्रकार के जतादि करते हैं और उनकी यह दृष्टि होती है कि यह पर्याप्त है। उन्हें 'शीलअत-परामर्ण' कहते हैं। इनमें अभिनिवेश होने से आत्मोन्नित का मार्ग बन्द हो जाता है। गृही के लिए दृष्टि का शोध किंठन होता है, क्योंकि उनकी विविध दृष्टि होती है। इसलिए एक श्लोक में कहा है—

## दु शोधा दृष्टिर्गृ हि णा नित्यं विविधदृष्टिना । भिक्षुणा त्वाजीव एव परे स्वायत्तवृत्तिना ॥

इसी प्रकार भिक्षु के लिए ग्राजीव-परिशुद्धि कठिन है, क्योकि उसको ग्रपनी वृत्ति के लिए दूसरो पर ग्राश्रित होना होता है। भगवान् महामगल-सुत्त में कहते हैं कि माता-पिता की सेवा, पुत्र-दार का सग्रह, दान, धर्मचर्या, ग्रनवद्य कर्म-ये उत्तम मगल है। तप, ब्रह्मचर्य, ग्रार्य-सत्यो का दर्शन, निर्वाण का साक्षात्कार, ये उत्तम मगल है।

भगवान् कहते हैं कि वही सुखी है, जो जय-पराजय का त्याग करता है। जय वैर को उत्पन्न करता है, पराज्य दु ख का प्रसर्व करता है। अत , दोनो का परित्याग कर, उपशान्त हो, सुख का आसेवन करना चाहिए। राग, द्वेष और मोह—ये तीन अकुशल मूल है; इनका प्रहाण होना चाहिए। "राग के समान कोई अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कोई किल नहीं है, शान्ति के समान कोई सुख नहीं।", "अकोध से कोध को जीते, साधुता से असाधुता को जीते, कदर्य को दान से और मृषावादी को सत्य से जीते।"

इसलिए, भगवान् मैन्नी-भावना की महिमा का वर्णन करते हैं। यह चार ब्रह्मविहारों में से एक है।

मेत्तभाव-सुत्त मे भगवान् कहते हैं – जितनी पुण्य कियावस्तु है, वे सब मैं ती-भाव की पृद्वी कला के भी बराबर नहीं हैं। एक भी प्राणी में दुष्टिचित्त न होना चाहिए। सबके लिए मैं ती का भाव होना चाहिए। इस प्रकार, श्रायं प्रभूत पुण्य करता है। जिसका किसी से वैर नहीं है, जो सब भूतों से मैं ती करता है, वह सुखी होता है। रतन-सुत्त में सब भूतों के कल्याण की प्रार्थना है। भगवान् इद्रिय-स्यम का महत्त्व वताते हैं। वे कहते हैं कि जिसके इन्द्रिय-द्वार अगुप्त है, जो भोजन में मात्रा का विचार नहीं करता, उसका चित्त और उसका काय दोनों दु खी होते हैं। स्मृति और सम्प्रजन्य से श्रात्मरक्षा होती है। ये द्वारपाल है, जो चित्तपथ की पाप, अकुशल से रक्षा करते हैं। तीन श्रकुशल वितर्क हैं—काम, व्यापाद और विहिंसा। इनका परित्याग करना चाहिए। तीन कुशल वितर्क का—नैष्क्रम्य, श्रव्यापाद श्रौर श्रविहिंसा का सग्रह करना चाहिए।

इसलिए, भिक्षु की ग्राजीव-शुद्धि होनी चाहिए। उसे मैंद्री-विहारी ग्रीर मन कायवाक् से सयत होना चाहिए। जो यथार्थ भिक्षु नही है, जो याचनक-माद्र है, जो दुशील है, उसके लिए भगवान् कहते हैं कि यह ग्रच्छा है कि वह तप्त लोहे के गोले को खाये, इसकी ग्रयेक्षा कि वह ग्रसयत राष्ट्रपिण्ड का भोग करे। पुन कहते हैं कि इस कारण्डक (यव की ग्राकृति का तृण-विशेष, जो यवदूषी कहलाता है) को विनप्ट करों, इस कशम्वक (पूर्तिकाष्ठ) को ग्रयकुष्ट करों, इस तण्डुल-विहीन त्रीहि को निष्कान्त करों (सुत्तिनपात, पृ० २८१)। यह ग्रश्रमण है, किन्तु श्रमण होने का मान करता है।

जो भिक्ष पतनीय का ग्रापन्न होता है, उसको भगवान् ने भिक्षु ग्रो के साथ मव प्रकार का सयोग करने से वहिष्कृत किया है। ग्राहार के एक ग्रास का भी परिभोग उसके लिए मना

है, विहार के पार्ष्णप्रदेश का परिभोग भी उसके लिए वर्जित है। भगवत्-ग्रापन्न मिक्षु की उपमा मस्तकच्छिन्न तालवृक्ष से देते हैं जो विरुद्धि, वृद्धि, उपचय, विस्तार के लिए ग्रभव्य हो जाता है। यथार्थ भिक्षु वह है, जिसने क्लेशो का भेद किया।

#### शिक्ष ।त्रय

निर्वाण के लिए उद्योग करनेवाले भिक्षु को मव प्रकार के श्रिभिनवेश का परित्याग करना चाहिए। रित-श्ररित, जय-पराजय, पाप-पुण्य मवसे उसे परे होना चाहिए। जिस मार्ग से दुःख का निरोध होता है, उसमें श्रिभिष्वग नहीं होना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि धर्म कोलोपम है। यह निस्तार के लिए है, ग्रहण के लिए नहीं। इसलिए जो ज्ञानी है, उनकों धर्म का परित्याग करना चाहिए, श्रधमं का भी।

हम ऊपर कह चुके है कि भगवत् की चतु सूत्री है। यह चार ग्रार्थ-सत्य कहलाते है। दुख क्यो होता है ग्रौर दुख के निरोध का उपाय क्या है, यह वुद्ध ने बताया है। बौद्धो की साधना निशिक्षा कहलाती है-<u>शील-शिक्षा ( ग्रिधिशील</u> ), समाधि-शिक्षा ( ग्रिधिनित्त ), प्रज्ञा (प्रधिप्रज्ञा) । यही विमुद्धि का मार्ग है । सभी जीव तृष्णारूपी जटा मे विजटित है । जिस प्रकार वेणुवृक्ष गुल्मादि लुता से भीतर-वाहर सब ग्रोर ग्राच्छादित ग्रीर विनद्ध होता है, उसी प्रकार सब जीव तृष्णा से ग्राच्छादित होते हैं। तृष्णा रूपादि ग्रालम्वनवश वार-वार उत्पन्न होती है। तृष्णा का विनाश किये विना दुख का ऋत्यन्त निरोध नही होता। विगततृष्ण ही निर्वाण-पद का लाभ करता है। इस तृष्णा-जटा का विनाश करने से ही विशुद्धि होती है। इस विशुद्धि के श्रविगम का क्या उपाय है ? सयुत्तनिकाय में भगवान् कहते है कि जो मनुष्य शील में प्रतिष्ठित है, समाधि श्रीर विपश्यना (प्रज्ञा) की भावना करना है, वह प्रज्ञावान् श्रीर वीर्यवान् भिक्षु इस तृष्णा-जटा का नाश करता है। शील शासन की मूल भित्ति, ग्राधार है। इसैंलिए शील शासन का ग्रादि हैं, यही शामन की ग्रादि-कल्याणता हैं। सर्वपाप से विरित ही शील है (सन्वपापस्म श्रकरण)। कुणल (शुभ) मे चित्त की एकाग्रता समाधि है। यह शासन का मध्य है। प्रज्ञा, विपक्ष्यना शासन का पर्यवसान है। जब योगी प्रज्ञा से देखता है। कि सस्कार ग्रनित्य है, सब सस्कार दुख है, सब धर्म ग्रनात्म है, तब निरोध होता है। यह प्रज्ञा इण्ट-ग्रनिष्ट में तादि-भाव (समभाव) का ग्रावाहन करती है।

जैसे भौल वात से ईरित नहीं होता, वैसे ही पण्डित निन्दा भौर प्रशसा से विचलित नहीं होता।

शील से अपाय (माप) का अतिक्रम होता है, समाधि से कामधातु का और प्रज्ञा से सर्वमव का समितिकम होता है । समाधि क्लेशों का निष्कम्भन करती है, अर्थात् उनको अभिभूत करती है श्रीर प्रज्ञा उनका समुच्छेद करती हैं। एक दूसरी दृष्टि से शील से दृश्चरित्र का, समाधि से तृष्णा-मक्लेश का श्रीर प्रज्ञा से दृष्टि-सक्लेश का विशोधन होता है।

१ पालि - कुल्ला, संस्कृत - कौल । तृण, काष्ठ, शाखा श्रीर पलाश को लाकर बाँधते हैं भौर उसके सहारे नदी पार करते हैं।

प्राणातिपातादि वधादिविरमन और भिक्षुग्रो के लिए उपदिष्ट वर्त्त-प्रतिपत्ति (कर्त्तव्य-ग्राचार) की, सवर ग्रादि की पूर्त्ति शील है। दो शुक्ल धर्मों के होने से शील की उत्पत्ति, स्थिति होती है। यह ही ग्रीर ग्रवपा है। ये दो शुक्ल धर्म लोक का पालन करते हैं। शील-सम्पन्न पुद्गल की तीन शुच्याँ होती है—काय, वाक, चेतस्। उपासक के लिए पाँच विरति है ग्रीर भिक्षुग्रो के लिए दस। ये पन्न-शील-ग्रीर-दश-शील कहलाती है।

(१) प्राणातिपात-विरित, (२) श्रदत्तादान॰, (३) श्रब्रह्मचर्यं॰, (४) मृषावाद॰; (५) सुरामद्यमेंरेय॰, (६) श्रकालभोजन॰, (७) नृत्यगीत-वादित्त॰, (८) माल्य-गन्ध-विलेपन॰, (६) उच्चासनशयन॰तथा (१०) जातरूप-रजत-प्रतिग्रह॰।

जो भिक्ष शिक्षापदो की रक्षा करता है, जो श्राचार-गोचर-सम्पन्न है, श्रर्थात् जो मनसा, वाचा, कर्मणा श्रनाचार नही करता श्रौर योगक्षेम चाहनेवाले कुलो का श्रासेवन करता है, जो श्रणुमात्न भी पाप से डरता है, जिसकी इन्द्रियां सवृत है, जो श्राजीव के लिए पाप धर्मों का श्राश्रय नहीं लेता, श्रर्थात् जिसका श्राजीव परिशुद्ध है, जो भिक्षु परिष्कारों का उपयोग प्रयोजनानुसार करता है, जो शीतोष्ण से शरीर-रक्षा के लिए श्रौर लज्जा के लिए चीवर धारण करता है, शरीर को विभूषित करने के लिए नहीं, जो शरीर की स्थित के लिए श्राहार करता है—इत्यादि, उस भिक्षु का शील परिपूर्ण होता है।

इन प्रकार, शीलसम्पन्न होकर समाधि की भावना करनी चाहिए। कुशल चित्त की एकाग्रता समाधि है। जबतक चित्त सुभावित नहीं होता, तबतक राग से उसकी रक्षा नहीं होती। जैसे ग्रच्छी तरह छाये हुए घर की वृष्टि से हानि नहीं होती, उसी प्रकार सुभावित चित्त में राग को ग्रवकाश नहीं मिलता (धम्मपद)।

प्रनेक प्रयोगों से चित्त को समाहित करते हैं। यहाँ सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है।

प्रागे समाधि-प्रकरण में इसका विस्तार से वर्णन करेगे। यहाँ केवल दिखमात का निद्यांन करते हैं। कल्याणिमत से चर्यान कूल कोई कर्मस्थान (योगानुयोग की निष्पत्ति में हेतु) का प्रहण करना चाहिए। उदाहरण के लिए, मृत्पिण्ड, नीलपीतादि पुष्प या वस्त्र का ध्यान करते हैं। चार या पाँच ध्यान है। जब अभ्यासवश ध्यान विशद होते हैं, तब समापत्ति (समाधि)-कौशल प्राप्त होता है। अन्य भी कर्मस्थान है, किन्तु अशुभ, आनापान-स्मृति और मैती-भावना का विशेष महत्त्व है। रागान्ति के उपराम के लिए अशुभ सज्ञा है। 'काय को अशुभ, अशुचि समझना' यह अशुभ-सज्ञा है। इससे रागानुशय प्रहीण होता है। आनापान-स्मृति प्राणायाम का प्रयोग है। इससे काम और चित्त की प्रश्रविध होती है। इस कर्मस्थान की भावना से भगवान् कहते हैं कि पाप, अकुशल-धर्म ज्यो ही उत्पन्न होते हैं, त्यो ही अन्तिहंत हो जाते है। इसकी भगवान् ने बहुत प्रशसा की है। यह स्वभाव से ही शान्त और प्रणीत है। द्वेषान्ति के उपशम के लिए मैती-भावना है, इससे शान्ति का अधिगम होता है। वृद्ध कहते हैं कि स्नान्ति परम तप है, क्षान्ति का वल वडा है। मैती-भावना करनेवाला प्रार्थना करता है कि सव सत्त्व सुखी हो, सवका क्षेम-कल्याण हो। वह सव दिशाओं को मैती-सहगत-चित्त से व्याप्त करता है। मैती-भावना चार स्नान्त चार स्नान्त से द्वाप्त करता है।

इनका उल्लेख योगसूत में है। इस प्रकार, समाधि द्वारा चित्त को कुशल, शुभ धर्मों में समाहित कर क्लेशो को ग्रभिभूत करते है। किन्तु, इससे क्लेश निर्मूल नही होते। इसके लिए प्रज्ञा की भावना करनी होती है। 'इतिवृत्तक' में कहा है कि मोहाग्नि के उपशम के लिए निर्वेधगामिनी प्रज्ञा की ग्रावण्यकता है। 'प्रज्ञा' कुशल (शुभ)-चित्त, सप्रयुक्त-विपण्यना, ज्ञान है। धर्मों के स्वभाव का प्रतिवेध करना प्रज्ञा का लक्षण है। समाधि इसका ग्रासन्न कारण है; क्योंकि ममाहित चित्त हो। यथाभूतदर्शी होता है। सब सस्कार ग्रनित्य ग्रीर दुख है, मब सस्कार ग्रनात्म है। लोक शाश्वत है, इत्यादि मिथ्यादृष्टि का प्रहाण प्रज्ञा से होता है।

## प्रतीत्य-समुत्पाद

दु ख का ममुदय, हेतु,—दु ख की उत्पत्ति कैसे होती है, इमका यथाभूत ज्ञान दु ख-निरोध के लिए ग्रावश्यक है। इस कम को प्रतीत्य-समुत्पाद (हेतु-फलपरम्परा) कहते है। वुद्ध की देशना में इसका ऊँचा स्थान है। इमलिए, हम मक्षेप में इसका निर्देश करेंगे। इसके वारह ग्रा है—ग्रविद्या, सस्कार, विज्ञान, नामरूप, पडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरामरण। इस प्रक्रिया मे केवल दु ख-स्कन्ध (राशि) का समुदय होता है।

हेतु-प्रत्ययवश धर्मों की उत्पत्ति होती है। ग्रविद्या-प्रत्ययवश सकार होते हैं, सस्कार-प्रत्ययवश विज्ञान होता है एवमादि। ग्रत, प्रतीत्य-ममुत्पाद प्रत्यय-धर्म हैं ग्रौर प्रतीत्य-समुत्पन्न उन-उन प्रत्ययों से ग्रिभिनिवृंत्त, उत्पन्न धर्म हैं। द्वादश प्रतीत्य-समुत्पाद को तीन काण्डो में विभक्त करते हैं—ग्रविद्या ग्रौर सस्कार ग्रतीत में, पूर्व-भव में, जाति ग्रौर जरामरण ग्रपर-भव में, शेप ग्राठ ग्रग वर्तमान-भव में। हमारा यह ग्राशय नहीं है कि मध्य के ग्राठ ग्रग सव जीवों के प्रत्युत्पन्न (वर्त्त मान) भव में नित्य पाये जाते हैं। यहाँ हम उस सन्तित का विचार करते हैं, जो सर्वा ग है। प्रतीत्य-समुत्पाद की इस कल्पना में जो विविध ग्रग है, हम उनका यहाँ सक्षेप में वर्णन करते हैं। ग्रागे चलकर प्रतीत्य-समुत्पाद-वाद के प्रसग में विस्तृत विवेचन करेंगे।

- १. भ्रविद्या--पूर्वजन्म की क्लेश-दशा है। यहाँ पूर्वजन्म की सन्तति, जो क्लेशावस्था में होती है, भ्रभिप्रेत है।
- २. सस्कार--पूर्वजन्म की कर्मावस्था है। पूर्वभव की सन्तित पुण्य-ग्रपुण्यादि कर्म करती हैं। यह पुण्यादि कर्मावस्था 'सस्कार' है।
- ३ विज्ञान-प्रतिसन्धि-स्कन्ध है। प्रतिसन्धि-क्षण (उपपत्ति-क्षण) में कुक्षि के जो पच-स्कन्ध होते हैं, वह विज्ञान हैं।
  - ४ नामरूप इस क्षण से लेकर पढायतन की उत्पत्ति तक 'नामरूप' है।
- ५ षडायतन—डिन्द्रियो के प्रादुर्भाव-काल से डिन्द्रिय, विषय ग्रीर विज्ञान के सिन्निपात-काल तक 'पडायतन' है।
  - ६ स्पर्श-मुख-दुःखादि के कारण ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व स्पर्श है।

ज्वतक वालक सुख-दु खादि के कारण को समझने में समर्थ नहीं होता, तवतक की अवस्था 'स्पर्श' है।

- र्ख वेदना-मैथुन से पूर्व, यावत् मैथुन-राग का समुदाचार नही होता, तवतक की स्रवस्था 'वेदना' है।
- द तृष्णा—भोग ग्रीर मैथुन की कामना करनेवाले जीव की ग्रवस्था तृष्णा है। ह्रपादि कामगुण ग्रीर मैथुन के प्रति राग का समुदाचार 'तृष्णा' की ग्रवस्था है। इसका ग्रन्त तब होता है, जब इसके प्रभाव से जीव भोगो की पर्येष्टि ग्रारम्भ करता है।
- ह उपादान-'उपादान' का तृष्णा से विवेचन करते हैं। यह उस जीव की अवस्था है, जो भोगो की पर्येष्टि में दौड-धूप करता है। वह भोगो की प्राप्ति के लिए सब ग्रोर प्रधावित होता है।
- १० भव--उपादानवश सत्त्व कर्म करता है, जिसका फल अनागत-भव है। 'भव' क्म है, जिसके कारण जन्म होता है। यह 'कर्मभव' है। जिस अवस्था में जीव कर्म करता है, वह 'भव' है।
- ११. जाति—यह पुनः प्रतिसन्धि है। मरणानन्तर प्रतिमन्धि-काल के पच स्कन्ध 'जाति' है। प्रत्युत्पन्न-भव की समीक्षा में जिस अग को 'विज्ञान' का नाम देते हैं, उसे अनागत भव की समीक्षा में 'जाति' की सज्ञा मिलती है।
- १२ जरामरण—वेदनाग तक जरामरण है। प्रत्युत्पन्न-भव के चार अग---नामरूप, पडायतन, स्पर्श, वेदना---अनागत-भव के सम्बन्ध में जरामरण कहलाते हैं।

ग्रगो का नाम-सकीर्त्त न उस धर्म के नाम से होता है, जिसका वहाँ प्राधान्य है। प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना पूर्वान्त, ग्रपरान्त ग्रीर मध्य के समोह की विनिवृत्ति के लिए है। इसी हेतु से प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना निकाण्ड में है। यह समोह कि मैं ग्रतीत ग्रध्व में था या नही, यह समोह कि मैं ग्रनागत ग्रध्व में हूँगा या नही, यह समोह कि हम कौन है, यह क्या है, इत्यादि ग्रविद्या—जरामरण के यथाक्रम उपदेश से विनष्ट होता है। प्रतीत्य-समुत्पाद के तीन ग्रग क्लेश हैं, दो ग्रग कर्म है; सात वस्तु ग्रीर फल है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब प्रतीत्य-समुत्पाद के बारह अग है, तो समरण की आदि कोटि होगी; क्यों कि अविद्या का हेतु निर्दिष्ट है। ससरण की अन्त कोटि भी होगी, क्यों कि जरामरण का फल निर्दिष्ट नही है ? ऐसा नहीं है। क्लेश से क्लेश और कर्म की उत्पत्ति होती है। इनसे वस्तु की, वस्तु से पुन वस्तु और क्लेश की उत्पत्ति होती है। भवागों का यह नय है। अविद्या जो शीर्ष स्थान में है, अहैतुकी नहीं है। वह भी प्रत्ययवश उत्पन्न होती है। वह प्रकृतिवादियों की प्रकृति के तुल्य अकारण नहीं है। यह लोक का मूल कारण नहीं है। उसका भी कारण है। इस प्रकार भवचक अनादि है। कर्मक्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्मक्लेश, कर्मक्लेश-प्रत्ययवश पुनरुत्पत्ति होती है। किन्तु, यदि हेतु-प्रत्यय का विनाश हो तो, हेतु-प्रत्यय से अभिनिर्वृत्त की उत्पत्ति नहीं होगी—यथा दग्ध-बीज से अकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

#### श्रव्हांगिक मार्ग

वह कौन-मा उपाय है, जिससे कर्म-क्लेश का श्रत्यन्त निरोध होता है ? यह श्रार्य श्रष्टागिक मार्ग है । इसे उत्तम मार्ग कहा है । इसके श्राठ श्रग इस प्रकार है—

सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सकल्प, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्समृति, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव तथा सम्यक्समाधि ।

इसमें शील, समाधि ग्रीर प्रज्ञा का समावेश है। सम्यग्दृष्टि का शीर्ष स्थान है; क्यों कि सम्यग्दृष्टि से विशोधित शील ग्रीर समाधि इष्ट है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि क्लेश-कर्मवश दुख की उत्पत्ति होती है। श्रत, दुख के निरोध के लिए क्लेश-बीज को दग्ध करना चाहिए। क्लेश-बीज 'श्रनुशय' है, जो श्रणु होते है। इनका सूक्ष्म प्रचार होता है, ये दुर्विजेय है, ये पुष्टि-लाभ करते है। विना प्रयोग के ही श्रीर निवारण करने पर भी इनका पुन -पुन सम्मुखीभाव होता है। श्रनुशय सात है—कामराग, भवराग, प्रतिघ, मान, श्रविद्या, दृष्टि तथा विचिकित्सा। इनमें से कोई दर्शन-हेय है श्रीर कोई भावना-हेय है। भावना पुन -पुन सत्यदर्शन है। यह समाहित-कुशल चित्त है। चित्त-सन्तित को समाहित-कुशल श्रत्यन्त वामित करता है, गुणो से तन्मय करता है, जैसे फूल से तिल को वासित किया जाता है।

शील श्रीर चित्त को विशुद्ध कर चार स्मृत्युपस्थान की भावना करते हैं। इन्हें भगवान् ने कुशल-राशि कहा है। इस श्रभ्यास में काम, वेदना, चित्त श्रौर धर्मों के स्वलक्षण श्रौर सामान्यलक्षराो की परीक्षा करते हैं। योगी विचार करता है कि सब सस्कृत ग्रनित्य हैं, सब सास्रव-धर्म दु ख है, सव धर्म शून्य ग्रौर ग्रनात्मक है, काम का स्वभाव चार महाभूत ग्रौर भौतिक रूप है। इस अभ्यास मे चार निर्वेधभागियो का लाभ होता है। ये चार कुशल-मूल है--उष्मगत, मूर्धन्, क्षान्ति श्रौर श्रग्रधमं । ये लौकिक सम्यग् दृष्टि की चार उत्कृष्ट श्रवस्थाएँ है। जब धर्म-स्मृत्युपस्थान में स्थित हो, योगी समस्त ग्रालम्बन को श्रनित्यत, दुःखत, शून्यत श्रीर निरात्मत देखता हो, तव 'उष्मगत' (एक प्रकार का कुशल-मूल) की उत्पत्ति होती है। यह भ्रार्यमार्ग का पूर्व निमित्त है। यह वह उष्म (ग्रग्नि) है, जो क्लेशरूपी ईन्धन को दग्ध करता है। चतु सत्य इमका गोचर है भीर इसके १६ भ्राकार है। उष्मगत से 'क्रमेण' की उत्पत्ति होती है। ये तत्सम होते हैं, किन्तु प्रणीत होने के कारण इनको दूसरा नाम देते है। 'मूर्व' शब्द प्रकर्ष पर्यन्तवाची है। चार कुशल मूलो का यह शीर्ष है, क्योंकि इससे परिहाणि हो सकती है। मूर्धन् से 'क्षान्ति' उत्पन्न होती है। 'क्षान्ति' सज्ञा इसलिए है, क्योकि इस भवस्था में भार्य-सत्यो में अत्यन्त रुचि होती है। 'क्षान्ति' के तीन प्रकार है---मूदु, मध्य भीर मधिमात । मृदु ग्रौर मध्य तढन् है । श्रधिमात्र 'क्षान्ति' का विषय कामाप्त दु ख है । इनसे लौकिक ग्रग्रधर्म उत्पन्न होते हैं। ये सास्रव होने से लौकिक हैं। ये भी ग्रिधमान्न झान्ति के तूल्य कामाप्त दुख को भ्रालम्बन बनाते है भौर एक-क्षणिक है। इस प्रकार, स्मृत्युपस्थान प्रणीततम् होते है श्रीर सत्यों के अनास्त्रव-दर्शन (श्रिभममय) का आवाहन करते हैं।

इन्हें निर्वेष्ठभागीय कहते हैं; क्यों कि ये निश्चित-वेध हैं। इनसे विचिकित्सा का प्रहाण श्रीर सत्यों का वेध (विभजन) होता है, "यह दुख है, यह दुख-समुदय है, यह निरोध है, यह मार्ग है।" यह प्रयोग-मार्ग है। श्रब प्रहाण-मार्ग श्राता है, जिससे क्लेगों का प्रहाण होता है। श्रव सत्यों के श्रनास्रव-दर्शन (सत्याभिसमय) का श्रारम्भ होता है। यह श्रनास्रव प्रज्ञा है, यह सर्व-विपर्यास से विनिर्म कत, रागादि सर्वक्लेश-रिहत है। यह मत्यों के सामान्य लक्षणों का ग्रहण करती है। योगी पहले कामधातु के दुख-सत्य का दर्शन करता है। पहले क्षण में वह सकल विचिकित्सा का श्रन्त करता है। यह प्रमाण-मार्ग है, यह श्रानन्तर्य-मार्ग है। यह प्रथम क्षण 'सम्यक्त्विनयमावकान्ति' कहलाता है, इस समय से योगी श्रार्य कहलाता है। वह श्रामण्य के प्रथम फल में प्रतिपन्न हो जाता है।

जब विचिकित्सा का नाश होता है, तब दूसरे क्षण में वह एक क्लेश-प्रकार से विमुक्त होता है। यह विमुक्ति-मार्ग है। इसी प्रकार अन्य क्षणों में वह रूप और आरूप्य-धातु के दु'ख-सत्य का दर्शन करता है। इसी प्रकार, वह अन्य सत्यों का दर्शन करता है और अमुक-अमुक क्लेश-प्रकार से विमुक्त होता है। इस प्रक्रिया के समाप्त होने पर भावना-मार्ग का आरम्भ होता है। उस समय योगी स्रोत-आपन्न-फल का अधिगम करता है। उसकी विमुक्ति निश्चित हो जाती है और आशु होती है। वह अधिक-से-अधिक सात या चौदह जन्मों में निर्वाण का लाभ करेगा।

दर्शन-मार्ग केवल दृष्टियों का समुच्छेद करता है। यह राग-द्वेष का उपच्छेद नहीं करता, जो केवल भावना-हेय हैं। यह ग्रभ्यास का, पुन-पुन भामुखीकरण का मार्ग हैं। योगी दर्शन-मार्ग से व्युत्थान कर ग्रनास्रव भावना-मार्ग में प्रवेश करता हैं। इसमें सत्य का पुन-पुन दर्शन करना होता हैं। इस भावना से योगी नौ प्रकार के क्लेशों का क्रम से प्रहाण करता हैं। जो छठे प्रकार के कामावचर-क्लेशों का प्रहाण करता है, वह सक्दागामी होता हैं। वह केवल एक बार ग्रौर काम-धातु में उपन्न होगा। जो नौ प्रकार के इन क्लेशों का प्रहाण करता है, वह ग्रनागामी होता हैं। वह कामधातु में पुनक्त्यन्न न होगा। जिस प्रहाण न्मार्ग से योगी भवाग्र के क्लेशों के नव प्रकार का प्रहाण करता है, उसे वज्ञोपम-समाधि कहते हैं। इसके श्रनन्तर विमुक्ति-मार्ग है। तब योगी ग्रह्त, ग्रशैक्ष हो जाता हैं। वह क्षय-ज्ञान ग्रौर ग्रनुत्पाद-ज्ञान से समन्वागत होता है।

सक्षेप में यह मोक्ष की साधना है। स्रागे इसका विस्तार से वर्णन होगा।
पंचशील

मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर हैं। गृहस्थ के लिए अनेक विघ्न हैं। उसके लिए यह साधना सुलभ नहीं हैं। साधारणत, वे स्वर्गोपपत्ति चाहते हैं। उनके लिए शील की शिक्षा हैं। उपासक होने के लिए विशरण-गमन की विधि हैं। जो उपासक होना चाहता हैं, वृह बुद्ध, धर्म और सघ की शरण में जाता हैं। "बुद्ध शरण गच्छामि, धर्म अरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि" ये विरत्त हैं। बुद्ध की शरण में जाने का अर्थ हैं बुद्धकारक धर्मों की शरण में जाना।

उपामको के पचणील ये हैं--

प्राणातिपात-विरति, २ ग्रदत्तादान-विरति, ३ काम-मिथ्याचार-विरित,
 पृपावाद-विरित तथा ५ मुरा-मैरेय-प्रमाद-स्थान-विरित ।

उपासक धर्म-श्रवण करते हैं, उपवास-व्रत रखते हैं, भिक्षुग्रो को दान देते हैं, चार तीथों की याद्रा करते हैं। चार तीथं ये हैं—किपलवस्तु, वोधिगया, सारनाथ, कुसिनारा। उपासक को भद्रक-शील ग्रीर भद्रक-दृष्टि में समन्वागत होना चाहिए। उसको मानसिक, कायिक तथा वाचिक दुश्चरित से वचना चाहिए। उसको सुचरित करना चाहिए। इस प्रकार, वह ग्रपाय-गति से यचता है ग्रीर स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

बृद्ध स्वर्ग-नरकादि मानते थे। उनका लोकवाद वही था, जो कि उस समय के वैदिकों का था। केवल ग्रह्तं को वे मवसे ऊँचा ग्रीर उत्तम पद समझते थे। वास्तव में दीर्घायु देव की ग्रवस्था ग्रक्षणावस्था है, क्योंकि इसमें धर्म-प्रविचय ग्रणक्य है।

उस काल में ऋदि-प्रातिहायं का वडा प्रभाव था। सब धर्मों में ग्रद्भृत कर्मों का प्रभाव रहा है। वीद्ध-धर्म भी इससे न वच सका। किन्तु, वृद्ध ने भिक्षुग्रों को 'उत्तरि मनुस्मधम्म' दिखाने से मना किया और ग्रनुशासनी-प्रातिहार्य (उपदेश) का सबसे ग्रधिक महत्त्व बताया, ग्रयीत् धर्मीपदेश ही सबसे बढ़ा ग्रद्भृत कर्म है।

## तृतीय अध्याय

## बुद्ध-देशना की भाषा तथा उसका विस्तार

भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में धर्म का उपदेश दिया था, यह जानने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं है। बुद्धघोष का कहना है कि यह भाषा मागधी थी और उनके अनुसार पालि-भाषा की प्रकृति मागधी-भाषा है। रीस डेविड्स का कहना है कि बुद्ध की मातृभाषा को शल की भाषा थी और इसी भाषा में बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया, क्यों कि कोशल के राजनीतिक प्रभाव के कारण यह भाषा उस समय दिल्ली से पटना तक और श्रावस्ती से श्रवन्ती तक बोली जाती थी। उसका यह भी मत है कि पालि-भाषा को शल की बोलचाल की भाषा से निकली थी। पालि-भाषा की बनावट पर यदि दृष्टि डाली जाय और उसकी तुलना श्रशोक के शिलालेखों की भाषा से की जाय, तो मालूम पड़ेगा कि पालि गिरनार-लेख की भाषा से मिलती-जुलती है। इस कारण वेस्टरगार्ड और ई० कुह्त ने पालि को उज्जैन की भाषा से सम्बद्ध बताया। उनका कहना है कि श्रशोक के पृत्र (या भाई) महेन्द्र का जन्म उज्जैन में हुआ था और उन्होंने ही लका-द्वीप में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। उनका कहना है कि यह स्वाभाविक है कि महेन्द्र ने श्रपनी मातृभाषा का प्रयोग धर्मप्रचार के कार्य में अवश्य किया होगा। इस कारण उसके मत में पालि उज्जैन की भाषा से सम्बन्ध रखती है। जो कुछ हो, भाषा की बनावट को देखते हुए हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते है कि पालि भारत के पश्चिम प्रदेश की कोई भाषा मालूम पडती है और इसके विकास में सस्कृत का श्रन्छा खासा हाथ है।

यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में धर्म का प्रचार किया, पर चुल्लवग्ग से हमको यह मालूम है कि भगवान् बुद्ध किसी भाषा-विशेष पर जोर नहीं देते थे। चुल्लवग्ग (५।३३।१) में लिखा है कि किसी समय दो भिक्षुओं ने भगवान् से शिकायत की कि भिक्षु बुद्ध-वचन को प्रपनी-श्रपनी बोली में (सकाय-निरुत्तिया) परिवर्त्तित कर रहे हैं। इसलिए, उन्होंने भगवान् से निवेदन किया कि सस्कृत (=छन्दस्) के प्रयोग की श्राज्ञा प्रदान की जाय, जिसमें एक भाषा में सारे बुद्ध-वचन सुरक्षित रहें श्रीर भिन्न-भिन्न प्रदेश के भिक्षु अपनी इच्छा के श्रनुसार बुद्धवचन को भिन्न-भिन्न रूप न दे सकें। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मैं भिक्षुश्रो को श्रपनी-श्रपनी भाषा के प्रयोग करने की श्राज्ञा देता हूँ (श्रनुजानामि भिक्खवे सकाय-निरुत्तिया बुद्ध-वचन परियापुणितु) श्रीर उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। बुद्ध शब्द-विशेष के प्रयोग का महत्त्व नहीं मानते थे। उनकी केवल यही इच्छा थी कि लोग 'धर्म' को जाने श्रीर उसका श्रनुसरण करे। इस श्राज्ञा के श्रनुसार भिक्षु बुद्ध शिक्षा को पैशाची, श्रपभ्रण, सस्कृत, मागधी या श्रन्य किसी भाषा में उपनिवद्ध कर सकते

थे। हमारे पास इमका पर्याप्त प्रमाण है कि भिक्षुग्रो ने इस ग्रादेश के ग्रनुसार कार्य भी किया। विनीतदेव (प्वी शताब्दी ई०) का कहना है कि मर्वास्तिवादी संस्कृत, महासाधिक प्राकृत, मिम्मतीय ग्रपन्नण ग्रीर स्थिवरवादी पैशाची भाषा का प्रयोग करते थे। वासिलीफ का कहना है कि पूर्व-शैल ग्रीर ग्रपर-शैल के प्रज्ञा-ग्रन्थ प्राकृत में थे। बीद्धो के धार्निक ग्रन्थ, पालि, गाथा, संस्कृत, चीनी ग्रीर तिब्बती भाषाग्रो में पाये जाते हैं। मध्य-एशिया की खोज में वीद्धिनकाय के कुछ ग्रन्थों के ग्रनुवाद मंगोल, निगूर, सोग्डियन, कुचनी ग्रीर नार्डर भाषा में पाये गये हैं।

्मवसे प्राचीन ग्रन्थ जो उपलब्ध है, पालि-भाषा मे है। पालिनिकाय को त्रिपिटक कहते है। सूत्र, विनय ग्रौर ग्रिभिधर्म -- ये निकाय के तीन विभाग (पिटक) है। तिपिटक के सब ग्रन्थ एक समय में नहीं लिखे गये। इनमें सूत्र ग्रीर विनय ग्रपेक्षया प्राचीन है। दीपवंश के ग्रनुसार पहलीधर्म-सगीति में धर्म (सूत्र) ग्रीर विनय का पाठ हुग्रा । ग्रिमधर्म का इस सम्बन्ध में उल्लेख नहीं मिलता। वैशाली की धर्म-सगीति में चुटलवग्ग के अनुसार केवल विनय के ग्रन्यों का पाठ हुन्ना था। वैशाली की सगीति के समय सघ में भेद हुन्ना। इस भेद का फल यह हुग्रा कि भिक्ष-सर्घ दो भागो में विभक्त हो गया—स्थ्विरवाद ग्रीर महासाधिकवाद। दीपवश ग्रीर महावश के श्रनुसार विनय के दस नियमो को लेकर ही सघ में भेद हुन्ना था। महासाधिको को परिवार-पाठ (विनय का एक ग्रन्थ ) नही मान्य था। ग्रिभिधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्य 'कथावत्य'की रचना त्रशोक के समय मे हुई। सुत्रपिटक के कुछ ग्रन्थ वाद के मालूम पडते है। पेतवत्यु, विमानवत्यु, बुद्धवश, श्रवदान, चरियापिटक ग्रीर जातक में दस पारमिता, बुद्धपूजा, चैरयपूजा, स्तूपपूजा, भिक्षादान, विहारदान, श्राराम-श्रारोपण की महिमा वर्णित है। वुद्धवण में 'प्रणिघान' ग्रीर विमानवत्यु मे 'ुण्यानुमोदन' का उल्लेख पाया जाता है। इनकी चर्चा महायान के ग्रन्थों में प्रायः मिलती हैं। इस कारण यह ग्रन्थ पीछे के मालूम होते हैं। पालिनिकाय के ममय के मम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। मामान्यत , विद्वानो का मत है कि इसका ग्रधिकाण दूसरी धर्म-सगीति के पूर्व प्रस्तुत हो चुका था जब बीद्ध-धर्म का सिहलद्वीप में प्रवेश श्रीर प्रसार हुशा, तब दक्षिण के प्रदेशों के लिए यह द्वीप एक श्रच्छा केन्द्र बन गया। यहाँ पालिनिकाय का विशोप आदर हुआ । निकाय-ग्रन्थो पर सिहल की भाषा में टीकाएँ भी लिखी गई, जिनको ग्रागे चलकर प्रसिद्ध टीकाकार बुद्धघोप ने पालि-रूप दिया । बुद्धघोष का जन्म ३६० ई० के लगमग गया में हुआ। यह रेवत का-शिप्य था। अनुराधपुर (लका) के महाविहार में रहकर उन्होंने सघपाल से णिक्षा पाई ग्रीर सिहली भाषा में लिखी हुई टीकाग्रो का पानि में श्रनुवाद किया। इन्होंने 'विमुद्धिमगो' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा। पाँचवी शतान्दी में मिहलद्वीप में पालि में दीपवण श्रीर महावण लिखे गये। पाँचवी शताब्दी के

२ बासिलीक वृद्धिजुम्स, पु० २६१.।

१. श्रीग्राद्युतोष मुखर्जी, सिलवर जुबली, भाग ३; श्रोरियण्टेलिया, भाग ३, पृ० ८७ में 'हिस्ट्री श्राव ग्रली बुढिस्ट स्कूल्स' नामक रैयूकन कीमुरा-विरचित निबन्ध देखिए।

दूसरे भाग में काचीपुर में घर्मपाल नाम के एक स्थविर हुए। इन्होने ने भी पालि में टीकाएँ लिखी। लका, बर्मा ग्रौर ध्याम में जो पालि-ग्रन्थ लिखे गये हैं, वे चौथी शताब्दी से पूर्व के नहीं हैं। यह पालिनिकाय स्थविरवाद का निकाय है ग्रौर लका, बर्मा, स्याम ग्रौर कम्बोज में इसकी मान्यता है। इस प्रकार, पालि-साहित्य का प्रसार होने लगा।

### पालि-साहित्य का रचनाप्रकार एवं विकास

हम कह चुके है कि बुद्ध के समय में इसके प्रचार का क्या क्षेत्र था। यह भ्रवन्ति तक पहुँचा था। 'उदान' से ज्ञात होता है कि भ्रवन्ति-दक्षिणापथ में भिक्षुग्रो की सख्या ग्रल्प थी। महाकात्यायन ग्रवन्ति-राष्ट्र मे विहार करते थे। तीन वर्ष में ये कठिनता से १० भिक्षु बना सके। बुद्ध के निर्वाण पर प्रथम धर्म-सगीति, धर्म-सभा राजगृह में हुई, जिसमें धर्म ग्रौर विनय का सग्रह हुआ। धर्म सूत्रान्त है, जिनमें बुद्ध के उपदेश हैं। 'धर्म' अभिधर्म नहीं है। विनय में भिक्षु आदि के नियम हैं। विपिटक पीछे के हैं। चुल्लग्ग (११ खन्धक) ग्रागम को दो भागो में विभक्त करता है-धर्म ग्रीर विनय। इसमें 'पिटक' शब्द का उल्लेख नहीं है। 'पिटक' का अर्थ है 'पिटारा'। तीन पिटक है-सूत्र, विनय तथा अभिधर्म । 'तिपिटक' शब्द प्राचीन है। प्रथम शताब्दी के शिलालेखों में 'तिपिटक' शब्द का प्रयोग है। अभिधर्म-पिटक के पहले श्रागम के दो ही विभाग थे। चुल्लवग्ग, १२ खन्धक मे रेवत के सम्बन्ध में कहा है कि उसको 'धर्म' विनय ग्रीर मातृका (पालि-मातिका) कण्ठस्य है। यहाँ आगम तिविध है, किन्तु अभी अभिधर्म नहीं है। प्रथम धर्म-सगीति के विवरणो में भी मातृका का उल्लेख मिलता है। 'ए यू मेंग किंग' मे कहा है कि महाकाश्यप ने स्वय मातृका का व्याख्यान किया। एक दूसरे विवरण मे मातृका-पिटक का उल्लेख है। 'दिव्यावदान' में ये शब्द है सूत्रस्य विनयस्य मातृकायाः। मातृका शब्द का क्या ग्रर्थ है ? धर्मगुप्तो के विनय में विनय-मातृका है। इसमें विनय के विषयों की विस्तृत तालिका है। मालूम होता है कि इसी को परिवर्धित कर विनय की रचना हुई है। श्रतः, यह तालिका एक प्रकार से उसकी माता है। इसीलिए इसे मातुका कहते है।

विनय-मातृका में पिण्डपात, चीवर, शयनासन श्रादि के नियमों की तालिका थी। पालि-विनय में प्राचीन मातृका का स्थान 'खन्धक' ने लिया। इसको दो भागों में विभक्त किया—महावग्ग श्रीर चुल्लवग्ग। किन्तु, हैमवतों के विनय में मातृका सुरक्षित है। इसी प्रकार, एक धर्म-मातृका रही होगी। सून्नान्तों की बहुत सख्या थी। उनके विषय विविध थे। इसलिए, उनके सिक्षप्त विवरण की श्रावश्यकता थी, जिसमें देशना का सार सक्षेप में मालूम हो जाय। यह एक प्रकार की श्रनुक्रमणिका थी। इसका नमूना सगीति-सुत्तन्त है। यह 'दीघनिकाय' में है। सर्वास्तिवाद के श्रिभधर्मों में सगीति-पर्याय के नाम से यह मातृका पाई जाती है। इसी धर्म-मातृका की वृद्धि होने से श्रिभधर्म-पिटक की रचना हुई। सून्न-पिटक के पाँच निकाय या श्रागम है। प्राय. पाँच निकाय है, किन्तु मर्वास्तिवाद में चार श्रागम ही सुरक्षित है।

माँची के लेखो में एक भिक्षु को 'पचनेकायिक' (पञ्चनैकायिक) कहा है। यह शब्द भरहूत के लेख में (द्वतीय शताब्दी ईसा-पूर्व) भी पाया जाता है। ये पाँच निकाय या स्नागम इस प्रकार है—दीर्घ, मध्यम, सयुक्त, एकोत्तर तथा क्षुद्रक।

सूतों की लम्बाई के अनुसार यदि उनकी व्यवस्था की जाय, तो सब सूत्रों का समावेश केवल तीन आगमों में ही—दीर्घ, मध्यम और क्षुद्रक में—हो सकता था। शेष दो निर्थंक प्रतीत होते हैं। सयुक्त और एकोत्तर में क्षुद्र-सूत्र ही हैं। सयुक्त में विषय के अनुसार सूत्रों का कम है, एकोत्तर में धर्मों की सख्या के अनुसार कम है। ऐसा मालूम होता है कि ये दो पीछे से जोड़े गये हैं। यह भी मालूम होता है कि दीर्घ सूत्रों से पहले छोटे-छोटे सूत्र थे।

हमने ऊपर कहा है कि सूत्रपिटक के लिए पहले 'धमं' शब्द का प्रयोग होता था। धमं के नौ अग भी वर्णित है। पालि के अनुसार ये इस प्रकार है—सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाया, उदान, इतिवृत्तक, जातक, अव्मृत-धम्म तथा वेदल्ल। जिस प्रकार वेद के अग है, जैन आगम के अग है, उसी प्रकार आरम्भ में वौद्धों में भी प्रवचन के अग थे। हम देखते हैं कि पहला अग मूद्ध है। सूद्ध के अतिरिक्त अन्य कई अग है। उस समय 'सूद्ध' एक प्रकार की देणना को कहते थे, जिसका आरम्भ इन शब्दों से होता था—पांच स्कन्ध है। ये पांच स्कन्ध कौन है ? पून १८ आयतन है। ये १८ क्या है ? इत्यादि। आकार में ये छोटे होते थे। इनमें धमों के नाम और उनके लक्षण होते थे। जिस प्रकार माला में दाने पिरोये जाते है, उमी प्रकार ये विविध धमं एक सूत्र में ग्रथित होते थे। इम अवस्था में दीर्घ सूत्र नहीं हो सकते थे। आगे चलकर जब मूत्रों की सख्या में वृद्ध हुई, और उनके कलेवर की वृद्ध हुई, तब सब प्रकार के उपदेशों को 'सूत्र' कहने लगे। इससे ज्ञात होता है कि व्रिपटक-विभाग की भपेक्षा श्रगों का विभाग प्राचीन है।

यव हम श्रन्य श्रगो का विचार करेंगे। दूसरा 'गेय्य' (सस्कृत 'गेय') है। इसका धर्य है 'छन्दोबद्ध ग्रन्य'। 'गेय' श्रौर 'गोति' एक ही है। 'गोति' एक प्रकार का छन्द भी है; यह श्रायों जानि का है। हो सकता है कि 'गेय' एक प्रकार का गान हो, जो भायां जाति के छन्द में लिखा गया हो। 'गाथा' भी एक प्रकार का क्लोक है, जो गाया जाना है। ऐसा झान होना है कि 'गेय' श्रौर 'गाथा' भारम्भ में भिन्न-भिन्न छन्दों के क्लोक थे। हलायुध के छन्द गाम्त्र के श्रनुसार सस्कृत में जो 'श्रायांगीति' है, वह प्राकृत में 'स्कन्धक' है। सस्कृत में जो 'श्रायांगेहै, वह प्राकृत में 'गाथा' है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के दो भग—गेय घौर गाया—किमी छन्द-विजेष के क्लोक नहीं, किन्तु ऐसे क्लोकों के सग्रह है। 'गेय्य' श्रायांगीति है, गाथा श्रायां है। पालि का 'वेदल्ल' मम्कृत का 'वैतालीय' मालूम होता है। हलायुध में श्रनुसार नम्कृत का वैतालीय प्राकृत की 'मागधिका' है। जैन धागम का एक भाग 'वेतालीय' महलाना है। मिज्ञमनिकाय के ४३ श्रौर ४४ का शीपंक 'वेदल्ल' है, किन्तु इनमें स्लोक महीं, मुत्तन हैं। हो सबना है कि यह भाग निकाल दिया गया हो, जैसा कि प्राय. देखा जाता है। 'मागधिवना' शब्द इप्टब्य है, क्योंक मवसे पहले सूत्र पालि में लिखे गये। वीद

बुद्ध की भाषा को मागधी मानते है, यद्यपि पालि मे वैयाकरणो की मागधी के विशेष चिह्न नही मिलते। श्रीरीस् डेविड्स पालि के मूल को कोशल की भाषा मानते है।

सक्षेप में यह सिद्ध होता है कि गेय्य, गाथा ग्रीर वेदल्ल—ये सग्रह उस-उस छन्द के नाम पर है, जिसमें ये लिखे गये हैं। उदान ग्रीर इतिवृत्तक भी छन्दोबद्ध हूँ। जातक (जन्मकथा) भी श्लोको का सग्रह हैं। जातक का वर्गीकरण श्लोको की सख्या के ग्रनुसार हैं। इसमें बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बन्ध रखनेवाले श्लोक-मात्र हैं। जातकहुकथा (जातक की ग्रर्थकथा-टीका) में कथाभाग हैं। इस प्रकार, ग्रारम्भ में, ग्रागम में पद्य का प्राधान्य था। उसका यह धर्य नहीं कि गद्य का ग्रभाव था। साथ-साथ सरल ग्रथं-कथा (व्याख्या) रही होगी, जिसके विना श्लोको को समझना सम्भव नही था, किन्तु श्लोको के समान उनका प्रामाण्य न था। जबतक बुद्ध-वचन लिपिबद्ध न हुग्रा था, तबतक धर्म, बुद्धवचन का रूप ऐसा रहा होगा, जिसके पाठ में सुविधा हो ग्रीर जो सुगमता से कण्ठस्थ हो सके। उस समय ग्रार्या ग्रीर वैतालीय छन्द सामान्य व्यवहार में ग्राते रहे होगे। धम्मपद से मालूम होता है कि श्लोक का भी व्यवहार होता था। बुद्धवचन का ग्रथं बताने के लिए धर्मधरों को एक मौखिक टीका की ग्रावश्यकता पडी। यह 'ग्रर्थ' था। जब बौद्धधर्म का प्रचार मगध के बाहर हुग्रा, तव इन टीकाग्रो की ग्रीर भी ग्रावश्यकता ग्रनुभूत हुई होगी; क्योंकि मूल को ठीक से समझने में ग्रन्य जनपदो के लोगो को कठिनाई होती होगी।

श्रारम्भ में ये टीकाएँ विभिन्न रही होगी। पीछे से इनका रूप स्थिर हो गया होगा श्रीर यह भी शिक्षा का अग हो गया होगा। इस प्रकार, प्रवचन की समृद्धि हुई। नये आचार्यों का मत कुछ वस्तुस्रो पर प्राचीनो से भिन्न था। जो इन परिवर्त्त नो के विरुद्ध थे, वे बुद्ध बचन के श्राधार पर इनका विरोध करना चाहते थे । इस प्रकार, ग्रर्थं को धर्म की प्रामाणिकता प्रदान करने की भ्रावश्यकता हुई। स्राम्नाय के अनुसार प्रथम महासगीति ने भागम का सग्रह किया। इस प्रकार, भ्रागम में गद्य की प्रधानता हो गई भौर धीरे-धीरे गेय्य, गाथा, वेदल्ल जो पृथक् अग थे, विलुप्त हो गये। संस्कृत-आगम में 'वेदल्ल' का वैपुल्य हो गया। लोग 'वेदल्ल' के मूल अर्थ को मूल गये और वडे आकार के सूत्रों को वैपुल्य कहने लगे। धीरे-धीरे अगो का विभाजन भी लुप्त हो गया ग्रीर इसका स्थान सूतो के ग्राकार के ग्रनुसार वर्गीकरण ने लिया। 'सूत' एक ग्रग-मात्र न रहा । इसका एक पिटक ही हो गया ग्रीर ग्रगो के स्थान में निकाय या आगम हो गये। खुद्दकनिकाय में ही कुछ पुराने अग रह गये, यथा जातक, उदान, इतिवुत्तक। यह पालि-श्रागम की कथा है। यह सग्रह प्राचीन है। पीछे जब बौद्ध-धर्म मध्यदेश में फैला, जहाँ सस्कृत का प्राधान्य था, प्रवचन का सग्रह सस्कृत में हुआ। सर्वास्ति-वादियों का भपना सूर्विपटक था। यह पालि-पिटक से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इसके श्रण ही पाये गये हैं। सर्वास्तिवादी चार भागम मानते थे-दीर्घ, मध्यम, सयुक्त तथा एकोत्तर। सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म-पिटक में सात ग्रन्थ है। ये ज्ञानप्रस्थान और उसके छह पाद है। कात्यायनीपुत्र का ज्ञानप्रस्थान, धर्मस्कन्धपाद, सगीतिपर्यायपाद, प्रज्ञप्तिपाद, विज्ञानकायपाद, प्रकरणपाद तथा धातुकायपाद। भागे चलकर ज्ञानप्रस्थान की एक टीका लिखी गई, जिसे

महाविभाषा कहते हैं। एक ग्राभिधार्मिक है, जो—'पट्पादाभिधर्ममात्रपाठी', है, ये विभाषा को नहीं मानते। एक है, जो ' भाषिक' है। सर्वास्तिवादी ग्रौर वैभाषिक ग्रभिधर्म को वुद्धवचन मानते है। मौतान्तिक ग्रभिधर्म-पिटक को वुद्धवचन नहीं मानते। उनका कहना है कि सूत्र में ही वुद्ध ने ग्रभिधर्म की शिक्षा दी है। इसलिए, उन्हों सौतान्तिक कहते हैं। महाविभाषा की रचना के १५० वर्ष वाद ग्राचार्य वसुवन्ध ग्रौर सघभद्र का समय है (५ वी शताब्दी)। वसुवन्धु के रचे ग्रन्य ये हैं—ग्रभिधर्मकोश, पचस्कन्ध, तिशिका ग्रौर विशिका। सघभद्र का न्यायानुसार ग्रभिधर्मकोश की टीका है। इनका दूसरा ग्रन्थ ग्रभिधर्म-प्रकरण (?) है।

# त्रिपिटक तथा श्रनुपिटको का संक्षिप्त परिचय

वितय-पिटक—भिक्षुयों के याचरण का नियमन करने के लिए भगवान् वृद्ध ने जो नियम वनाये, वे 'प्रातिमोक्ष' (पातिमोक्ख) कहे जाते हैं। इन्हीं नियमों की चर्चा विनय-पिटक में हैं। पिटकों में विनय-पिटक का स्थान मर्वप्रथम हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसकी रचना मर्वप्रथम हुई थी। प्रातिमोक्ष की महत्ता इसी से मिद्ध है, कि भगवान् ने स्वय कहा था कि उनके न रहने पर भी प्रातिमोक्ष और शिक्षापदों के कारण भिक्षुयों को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता रहेगा और इन प्रकार सघ स्यायी होगा।

प्रारम्भ में केवल १५२ नियम वने होगे, किन्तु विनय-पिटक की रचना के समय उनकी सख्या २२७ हो गई थी। मुत्तविभग, जो विनय-पिटक का प्रथम भाग है, वस्तुत इन्ही २२७ नियमों का विधान करनेवाले मुत्तों की व्याख्या है।

विनय-पिटक का दूसरा भाग 'खन्धक' कहा जाता है। महावग्ग और चुल्लवग्ग ये दोनो खन्धक में समाविष्ट है। महावग्ग में प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा ग्रादि से सम्बन्ध रखने-वाले नियमो का मग्रह है ग्रीर चुल्लवग्ग में भिक्षु के पारस्पिक व्यवहार ग्रीर सघाराम-मम्बन्धी तथा भिक्षणियों, के विशेष ग्राचार का सग्रह है।

भगवान् बुद्ध की साधना का रोचक वर्णन महावग्ग में ब्राता है श्रीर उनकी जीवन-कया का यह भाग ही प्राचीनतम प्रतीत होता है। 'महावस्तु' श्रीर 'लिलतिवस्तर' में इसी प्रकार का वर्णन पाया जाता है।

विनयपिटक का श्रन्तिम श्रण परिवार है। सम्भव है, यह भाग बहुत बाद में बना हो श्रीर उसे सिहल के किसी भिक्षु ने बनाया हो। इसमें वैदिक श्रनुक्रमणिकाश्रो की तरह कई प्रकार की सूचियों का समावेण हैं।

मुत्त-पिटक—भगवान् के लोकोपकारी उपदेशो और सवादो का सम्रह मुत्त-पिटक में हैं। इन पिटक में १ दीघनिकाय, २ मिष्टिमनिकाय, ३. सयुत्तिनिकाय, ४ अगुत्तिनिकाय और ४ युद्दकनिकाय—इन पाँच निकायो का नमावेण हैं।

दीघनिकायादि ग्रन्यों में किम प्रमग में कहाँ भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिया, यह व्रताकर उपदेश या किमी के माय होनेवाले वार्ना लाप—मवाद का रोचक ढग से मग्रह किया गया है। मामान्य रूप ने इन ग्रन्यों में जो मुत्त हैं, वे गद्य में हैं। दीघितकाय में ३४ सुत्त हैं। ये सुत्त लम्बे हें, ग्रतएव दीघ या दीर्घ कहे गये हें। इनमें शील, समाधि ग्रीर प्रज्ञा का विस्तृत रोचक वर्णन है। दीघितकाय के प्रथम ब्रह्मजाल-सुत्त में तत्कालीन धार्मिक ग्रीर दार्शितक मन्तव्यो का जो सग्रह है, वह भारतीय दर्शनों के प्राचीन इतिहास की सामग्री की दृष्टि से ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दूसरे सामञ्जाफल-सुत्त में भगवान् बुद्ध के समकालीन धर्मीपदेशकों के मन्तव्यों का वर्णन है। वर्ण-धर्म-व्यवस्था के विषय में बुद्ध का मन्तव्य तीसरे ग्रम्बट्ट-सुत्त में सगृहीत है, जो प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था का ग्रन्छा चित्र खड़ा करता है। पाचवे तेविज्ज-सुत्त में वैदिक धर्म के विषय में बुद्ध ने जो कटाक्ष किया है ग्रीर यज्ञों का जो विरोध किया है, उसका सग्रह करके बुद्ध की दृष्टि में यज्ञ कैसे करना चाहिए, उसका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार के कई सुत्त दीधिनकाय में हैं, जो तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक ग्रीर दार्शिनक परिस्थित के हमारे ज्ञान में वृद्धि करने के साथ ही तत्तिद्विषय में बौद्ध मन्तव्य को भी स्पष्ट करते हैं।

मिज्झमिनकाय में मध्यम आकार के १५२ सुत्तों का सग्रह है। दीघनिकाय की तरह इन सुत्तों में भी बुद्ध के उपदेश के ऊपर सवादों का सग्रह है। इसमें चार आर्य-सत्य, निर्वाण, कर्म, सत्कायदृष्टि, आत्मवाद, ध्यान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा है और बौद्धधर्म के मन्तव्य का स्पष्टीकरण है। इसमें भी अस्सलायन-सुत्त में वर्णव्यवस्था के दोष वताये गये हैं और तत्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थिति का सुन्दर चित्रण किया गया है। दृष्टान्त, कथा और उपमा के द्वारा वक्तव्य को हृदयगम करने की शैंली इस निकाय-ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। आख्यान की शैंली में अगुलिमाल की कथा दिवे सुत्त में रोचक ढग से कही गई है। वह एक भयकर डाकू था, किन्तु वह भिक्षु वन गया और निर्वाण को भी प्राप्त हुआ। जातक की शैंली की भी कई कथाएँ इस सुत्त में सगृहीत है, जैसे सुत्त दर और दर में। इसके अति-रिक्त बुद्ध के कई प्रधान शिष्यों के बारे में भी ज्ञातव्य सामग्री सगृहीत है। प्रसिद्ध महापरिनिब्बान-सुत्त, जिसमें बुद्ध के निर्वाण-काल का चित्र खडा किया गया है, वह भी इसी निकाय में है। इस निकाय के अध्ययन से हमारे समक्ष बुद्धकालीन भारत का स्पष्ट चित्र खडा होता है।

तीसरे सयुत्तिनिकाय में ५६ सयुत्ती का सग्रह है। जैसे देवता-सयुत्त में देवताग्री के वचनो का सग्रह किया गया है। मार-सयुत्त में बुद्ध को चिलत करने के लिए किये गये मार के प्रयत्नो का सग्रह है। भिक्खुणी-सयुत्त में भी भिक्षुणियों को चिलत करने के लिए किये गये मार के प्रयत्नों का वर्णन है। ग्रनतमग्ग-सयुत्त में ससार की ग्रनादिता ग्रौर उसके भयकर दुखों का वर्णन है। ध्यान-सयुत्त में ध्यान का वर्णन है। मातुगाम-सयुत्त में नारी के गुण ग्रौर दोष तथा उसके फल का वर्णन है। सक्क-सयुत्त में बुद्ध के प्रति इन्द्र की भिक्त का निदर्शन है। ग्रन्तिम सच्च-सयुत्त में चतुरार्यसत्य की विवेचना की गई है।

इस ग्रन्थ में काव्य की दृष्टि से भी पर्याप्त सामग्री है। महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद की तरह इसमें भी यक्ष-युद्ध का रोचक सवाद है (१०-१२)। लोक-कविता का ग्रच्छा सग्रह मार ग्रौर भिक्खुणी-सयुत्त में मिलता है। चौथे ग्रगुत्तरिकाय मे २३० म् सुत्त है ग्रौर उनमें एक वस्तु से लेकर ग्यारह वस्तुग्रों का समावेश क्रमश किया गया है। प्रथम निपात मे एक क्या-क्या है, वह सब गिनाया गया है ग्रौर इसी प्रकार ग्यारहवे निपात मे ग्यारह-ग्यारह वस्तुग्रो का सग्रह किया गया है। इसमें विषय-वैविध्य होना स्वाभाविक है।

खुद्दकनिकाय में क्षुद्र, श्रर्थात् छोटे-छोटे उपदेशो का सग्रह है। इस निकाय में निम्नािकत ग्रन्थो का समावेश है

- १ खुद्दकपाठ इसमें वौद्धधर्म में प्रवेश पानेवाले के लिए जो सर्वप्रथम जानना ग्रावण्यक होता है, उसका सग्रह है। जै से—ित्रशरण, दश शिक्षापद, उर-शरीर के भ्रवयवो का सग्रह, एक से दस तक की ज्ञेय वस्तुग्रो का सग्रह ग्रादि।
- २ धम्मपद--वीद्ध-ग्रन्थो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध यह ग्रन्थ है। इसमे नैतिक उपदेशो का मग्रह है।
- 3 उदान—धम्मपद में एक विषय की निरूपक ग्रनेक गाथाग्रो का सग्रह वग्गों में किया गया है, जब कि उदान में एक ही विषय का निरूपण करनेवाली ग्रन्पसख्यक गाथाग्रों का सग्रह है। प्रामिंगक दो-चार गाथाग्रों में ग्रपने मन्तन्य को बुद्ध ने यहाँ न्यक्त किया है।
- ४ इतिवृत्तक--- मगवान् ने ऐसा कहा, इस मन्तर्व्य से जिन गाथात्रो श्रीर गद्याशो का सग्रह किया गया, वह इतिवृत्तक-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में उपमा का सौन्दर्य श्रीर कथन की सरलता द्रष्टव्य है।
  - ५ सुत्तनिपात- गगवान् वृद्ध के प्राचीनतम उपदेशो का मग्रह है।
- ६-७ विमानवत्यु भीर पेतवत्यु —ये दो ग्रन्य क्रमण देवयोनि भीर प्रेतयोनि का वर्णन करते है।
- प-६ थरगाया श्रीर थरीगाया—इन दो ग्रन्थों में बौद्ध-भिक्षु श्रौर भिक्षुणियों ने श्रपने-भपने श्रनुभवों को काव्य में व्यक्त किया है। लोक-कविता के ये दोनो ग्रन्थ सुन्दर नमूने हैं।
- 9० जातक—मगवान् वुद्ध के पूर्वजन्म के सदाचारों को व्यक्त करनेवाली ५४७ कयाग्रों का मग्रह् जातक-ग्रन्य में है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास इन कथाग्रों में सुरक्षित है। ग्रतएव, इम दृष्टि में उसका महत्त्व हमारे लिए ग्रत्यधिक है। नीति-शिक्षण की दृष्टि से इन कथाग्रों की वरावरी करनेवाला ग्रन्थ ग्रन्यत्न दुर्लंग है।
  - ११ निदेश--यह ग्रन्थ मुत्तनिपात के ग्रटुकवग्ग ग्रीर खग्गविमाण-मुत्त की व्याख्या है।
- १२ पटिस भिदामग्ग--मे प्राणायाम, ध्यान, कर्म, आर्यमत्य, मैं ती आदि विषयो का निरुपण है।
- १३. भवदान—जातक में भगवान् बुद्ध के पूर्वभवों के मुचरितों का वर्णन है, तो भ्रायदान में अर्ह्तों के पूर्वभवों के मुचरितों का वर्णन है।

१५. चरियापिटक—यह खुद्दकनिकाय का अन्तिम ग्रन्थ है। इसमे ३५ जातको का सग्रह है, ग्रीर बुद्ध ने अपने पूर्वभव मे कौन-सी पारिमता किस भव मे किस प्रकार पूर्ण की, इसका वर्णन है।

श्रिभवम्म-पिटक—भगवान् बुद्ध के उपदेशो के श्राधार पर बौद्ध दार्शनिक विचारो की व्यवस्था इस पिटक में की गई है। इसमें १ धम्मसगणि, २. विभग, ३. धातु-कथा, ४ पुग्गल-पञ्जत्ति, ५ कथावत्थु, ६ यमक श्रौर ७. पट्टान—इन सात ग्रन्थों का समावेश हैं।

धम्मसगणि मे धर्मो का वर्गीकरण स्रौर व्याख्या की गई है।

विभग में उन्हीं धर्मों के वर्गीकरण को आगे बढाया है और भगजाल खडा किया गया है।

धातुम्रो का प्रश्नोत्तर रूप में व्याख्यान धातु-कथा में है।

पुग्गलपञ्ञात्ति मे मनुष्यो का विविध ग्रगो मे वर्गीकरण किया गया है। इसका ग्रगुत्तरिनकाय के ३-५ निपात के साथ ग्रधिक साम्य है। मनुष्यो का वर्गीकरण गुणो के ग्राधार पर विविध रीति से इसमे किया गया है।

कथावत्थु का महत्त्व बौद्धधमं के विकास के इतिहास के लिए सर्वाधिक है। पिटकान्तर्गत होने पर भी इसके लेखक तिस्ट-मोग्गलिपुत्त है, जो तीसरी सगीति के अध्यक्ष थे। यद्यपि यह ग्रन्थ ई० पू० तीसरी शताब्दी में उक्त ग्राचार्य ने बनाया था, फिर भी उसमें क्रमश बौद्धधमं में जो मतभेद हुए, उनका भी सग्रह बाद में होता रहा है। प्रश्नोत्तर-शैली में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। मतान्तरों का पूर्वपक्ष-रूप में समर्थन करके फिर उनका खण्डन किया गया है। खास करके ग्रात्मा है या नहीं, ऐसे प्रश्न उठाकर बौद्ध-मन्तव्य की स्थापना की गई है।

यमक में प्रश्नों का उत्तर दो प्रकार से दिया गया है ग्रौर कथावत्यु तक के ग्रन्थों से जिन शकाग्रों का समाधान नहीं हुग्रा, उनका विवरण इसमें किया गया है।

पट्ठान को महापकरण भी कहते ह। इसमे नाम और रूप के २४ प्रकार के कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध की चर्चा है और बताया गया है कि केवल निर्वाण ही असस्कृत है, बाकी सब धर्म संस्कृत है।

#### पिटकेतर पालिग्रन्थ

पिटकबाह्य पालिग्रन्थों के निर्माण का श्रेय सिलोन के बौद्ध भिक्षुग्रों को है, किन्तु इसमें मिलिन्दप्रश्न ग्रपवाद हैं। इतना ही नहीं, किन्तु समस्त पालि-वाड मय में शैंली की दृष्टि से भी यह वेंजोड हैं। इसके लेखक का पता नहीं, किन्तु यह उत्तर-पश्चिम भारत में बना होगा, ऐसा ग्रनुमान किया जाता हैं। ग्रीक-सम्राट् मिनेण्डर (ई० पू० प्रथम श०) को ही मिलिन्द कहा गया हैं ग्रीर ग्राचार्य नागसेन के साथ उनके सवाद की योजना इस ग्रन्थ में होने से इसका सार्थक नाम 'मिलिन्दप्रश्न' हैं। इस ग्रन्थ की प्राचीनता ग्रीर प्रामाणिकता इसी से मिद्ध होती हैं कि ग्राचार्य बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को पिटक के समान प्रामाणिकता दी हैं। मूल मिलिन्दप्रश्न के कलेवर में बाद में ग्राचार्यों ने समय-समय पर वृद्धि भी की हैं।

इस ग्रन्थ में वौद्ध-दर्शन के जटिल प्रश्नो को, जैसे ग्रनात्मवाद, क्षणभगवाद के साथ-साथ कमें, पुनर्जन्म, निर्वाण ग्रादि को सरल उपमाएँ देकर तार्किक दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

'मिलिन्दप्रश्न' के समान ही 'नेत्तिपकरण' भी प्राचीन ग्रन्थ है, जो कि महाकच्चान की कृति मानी जाती है। बुद्ध के उपदेशो का व्यवस्थित सार इसमें दिया गया है। इसी कोटि का एक ग्रन्य प्रकरण 'पेटकोपदेश' महाकच्चान ने वनाया, ऐसा माना जाता है। पिटको में प्रवेशक ग्रन्थ के रूप में यह एक ग्रच्छा प्रकरण है।

प्राचीन सिलोनी ग्रहकथाग्रो के ग्राधार पर वृद्धघोष (चौथी-पाँचवी शताब्दी) ने विनयपिटक दीघ, मिन्झिम, ग्रगुत्तर ग्रौर सयुत्तिनकायो की टीका की। इन्होने ही सम्पूर्ण प्रिभिधम्मिपटक की भी व्याख्याएँ लिखी। ये व्याख्याएँ ग्रहकथा कही जाती है। धम्मपद भीर जातक की ग्रहकथाएँ भी वृद्धघोष-कृत हैं, ऐसी परम्परागत मान्यता है।

इन्होने ही अनुराधपुर के महाविहार के स्थितरों के आज्ञानुसार 'विसुद्धिमग्गो' नामक प्रन्थ की रचना की । यह ग्रन्थ एक तरह से समस्त पिटक-ग्रन्थों की कुजी के समान है, धत-एव उसे 'तिपिटक-ग्रहकथा' भी कहा जाता हैं। इसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का २३ मध्यायों में विस्तार से वर्णन हैं। इस ग्रन्थ की धम्मपाल-स्थिवर ने पाँचवी शती में 'परमत्थमजूषा' टीका की हैं। इसी धर्मपाल ने थेरगाथा, थेरीगाथा, विमानवत्यु ग्रादि खुइकिनकाय के ग्रन्थों की टीका की हैं। धम्मपाल के ग्रन्तर दसवी और वारहवी शती के बीच में ग्रिनिक्द ग्राचार्य ने 'श्रिमधम्मत्य-सगहों' नामक एक ग्रन्थ लिखा। अभिधम्म-पिटक में प्रवेशक ग्रन्थ के इप में यह ग्रन्थ वेजोड़ हैं। इसकी ग्रनेक टीकाएँ वनी हैं।

# चतुर्थ अध्याय

# निकायों का विकास

बुद्ध के निर्वाण के।पश्चात् शासन निकायो ( सम्प्रदाय ) में विभक्त होने लगा। चुल्लवग्ग के ग्रनुसार निर्वाण के १०० वर्ष के पश्चात् सघ में भेद हुन्रा। वैशाली के भिक्ष नियमो के पालन मे शिथिल थे। कुछ वस्तुग्रो पर उनका मतभेद था। इन मतभेदो को लेकर पश्चिम और पूर्व के भिक्षुत्रों के दो पक्ष हो गये। झगडें को शान्त करने के लिए ७०० भिक्षुग्रो की सभा हुई ग्रौर इन्होने प स्थिवरो की एक परिषद् चुनी, जिसमे चार पूर्व के सघ के भीर चार पश्चिम के सघ के प्रतिनिधि रखे गये । उस समय पूर्वसघ का प्रधान स्थान वैशाली था । यही ७०० भिक्षुस्रो की सभा हुई थी। इस सभा के पूर्व स्रौर पश्चिम के भिक्षुस्रो ने भ्रपनी एक सभा मथुरा के पास श्रहोगग में की थी। यश पहले कीशाम्बी गये श्रीर वहाँ से जन्होने भिक्षुग्रो को **त्रामन्त्रित करने के लिए सन्देश भे**जे थे । ६६ के लगभग पश्चिम के भिक्षु, जो सब श्रारण्यक धुतगवादी थे, यश के निमन्त्रण पर श्राये श्रौर श्रवन्ती के ८८ भिक्षु भी श्राये, जिनमें थोडे ही धुतगवादी थे,। इस वृत्तान्त से मालूम होता है कि उस समय बुद्ध-शासन के तीन केन्द्र थे-वैशाली, जहाँ ७६० भिक्षुग्रो की ग्रपनी सभा हुई, कौशाम्बी, जहाँ से यश ने सन्देश भेजा था ग्रौर मथुरा, जहाँ पश्चिम के भिक्षुग्रो की ग्रपनी सभा हुई थी। इस बृहत् क्षेत में तीन प्रवृत्तियाँ मालूम होती है - वैशाली ( पूर्व ) में विनय के पालन मे शिथिलता थी; मथुरा के प्रदेश (पश्चिम) में विनय की कठोरता थी तथा अवन्ति और दक्षिणापथ में मध्यम-वत्ति थी। अवन्ति ग्रीर दक्षिणापय का भौगोलिक सम्वन्घ कौशाम्बी से था। गगा से भरुकच्छ जानेवाले राजपथ इनको जोडते थे । दक्षिणापथ के भिक्षुग्रो की सभा करने की स्रावक्यकता यश ने न समझी । कौशाम्बी के प्रमुख भिक्षुग्रो का मत ही जानना उन्होने पर्याप्त समझा। ऐसा प्रतीत होता है कि शाली, कौशाम्बी ग्रौर मथुरा तीन निकायों के केन्द्र वन गये। पूर्व-भारत बौद्ध-धर्म के प्राचीन रूप का प्रदेश था। मध्यदेश में ब्राह्मणो के प्रभाव से रूप में परिवत्तं न होने लगा। यहाँ दो निकाय हो गये। एक कौशाम्बी का, जो दक्षिणापथ की श्रोर झुकता था भ्रौर जिससे स्थविर-निकाय निकला हुम्रा प्रतीत होता है, दूसरा मथुरा का निकाय, ओ उत्तर-पश्चिम की ग्रोर बढा श्रौर जिससे सर्वास्तिवादी निकायो की उत्पत्ति हुई। ग्रव हमको यह देखना है कि पूर्व में किन निकायो की उत्पत्ति हुई।

श्राम्नाय के अनुसार अष्टादश निकाय (सम्प्रदाय) हो गये, जो दो प्रधान निकायों में विभक्त होते है—महासाधिक और स्थविर । महासाधिक निकाय-के अन्तर्गत श्राठ श्रोर स्थितिर से सम्भूत सर्वास्तिवादादि दस निकाय थे। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भिक्षु-सघ महासघ से पृथक् होता गया। अत, स्थिवरों का निकाय महासघ के विरुद्ध था। प्रथम का सचालन स्थिवरों की परिपद् करती थी, दूसरे में पुरानी प्रवृत्ति अभी विद्यमान थी। यह सम्भव है कि दूसरी संगीति के समय स्थिवर-मर्वास्तिवादी पश्चिम के प्रतिनिधि थे और महासाधिक पूर्व के।

इस दृष्टि से यदि हम ग्राम्नाय का ग्रध्ययन करें, तो उनपर काफी प्रकाश पडता है। वसुमित्र के ग्रनुसार स्थिवर ग्रीर महासाधिक का भेद ग्रशोक के राज्यकाल में पाटिलपुत्र में हुग्रा था। उनके ग्रनुसार महादेव की पाँच वस्तुएँ विवाद की विषय थी। सगीति के सदस्य चार समह में वँटे थे। वसुमित्र के ग्रन्थ के चीनी ग्रीर तिव्वती भाषान्तरों में इन समूहों के नाम के वारे में एकमत्य नहीं है। भेद दो समूहों में हुग्रा था। इमलिए, ग्रनुमान किया जाता है कि इनमें से प्रत्येक समूह के दो नाम रहे होंगे। इन चार समूहों के ये नाम है—स्थिवर या भदन्त, नाग या महाजनपद, प्राच्य या प्रत्यन्तक ग्रीर वहुश्रुत। टीकाकार कहते हैं कि नाग विनयधर उपालि के जिप्यों को कहते हैं। ग्रत, नाग वहुश्रुत (ग्रानन्द) के विपक्षी है। इसी प्रकार स्थिवर प्राच्य के विपक्षी हो सकते हैं, यदि यह ठीक है कि स्थिवर पश्चिम के प्रतिनिधि थे। परमार्थ के ग्रनुसार महाजनपद ग्रीर प्रत्यन्तक एक दूसरे के विपक्षी है। मध्यदेश के ब्राह्मण ग्रपने राष्ट्र के प्रत्यन्त में रहनेवालों को ग्रनार्य मानते थे। स्मृतियों में मगध में जाना मना किया है। मध्यदेश उनके लिए महाजनपद होगा। महासाधिक पूर्व के थे, इसकी पुष्टि फाहियान के विवरण से भी होती है। फाहियान ने पाटिलपुत में महासाधिकों के विनय की पोथी देखी थी।

चीनी यात्री डिल्मग (६६२ ई०) के विवरण के अनुसार अट्ठारह निकाय चार प्रधान निकायों में विभक्त है—आयं-महामाधिक, आर्य-स्थिवर, आर्य-मूलसर्वास्तिवादिन् और आर्य-सिम्मितीय। डिल्मग के अनुमार महामाधिक के सात, स्थिवर के तीन, मूल सर्वास्तिवाद के चार और मिम्मिनीय के चार विभाग है। मूल मर्वास्तिवाद के चार विभाग ये हैं मूल-०; धर्मगुप्त, महीणामक, और काश्यपीय। इिल्मग ने अन्य निकायों के विभागों के नाम नहीं दिये हैं। यद्यपि इिल्मग के अनुसार चारों निकाय मंगध में पाये जाते थे, तथापि हर एक का एक नियत स्थान था। महानाधिक मंगध में और अन्य पूर्व जनपदों में, स्थिवर दक्षिणापथ में, मर्वास्तिवादी उत्तर भारत में और गिम्मिनीय लाट और सिन्धु में प्रधानन थे। मूल- के अन्य तीन विभाग भारत में नहीं थे। ये चीन, मध्य-एणिया और ओट्ठियान में पाये जाते थे।

हमको यह निश्चित रूप से मालूम है कि मर्वास्तिवाद का उत्तर में ग्रीर स्थिवरवाद का दक्षिण में प्राधान्य था। ह्वेनत्साग के सस्मरणों से मालूम होता है कि सम्मितीय विखर

१ प रिकारं भांत दि पुढिस्ट रिलीजन |

गये थे। इत्सिंग स्वयं मूल-सर्वास्तिवादी थे। इससे सम्भव है कि उसने अपने निकाय के महत्त्व को अतिरजित कर वर्णित किया है। वह धर्म गुप्त, महीशासक और काश्यपीय को आर्यमूल सर्वास्तिवाद का विभाग बताता है, किन्तु दीपवश और महावश के अनुसार धम्मगुत्त सब्बित्यवाद और कस्सिपक महिसासक-निकाय से अलग हुए थे और महिसासक थेर की शाखा थे। दोनो विवरणों में इन चारों को एक समूह में रखा है। अन्तर इतना ही है कि इत्सिंग इनको मूल सर्वास्तिवाद के अन्तर्गत बताता है, जब कि दीपवश और महावश में इनकी उत्पत्ति स्थिवरवाद से बताई गई है!

प्रथम महासगीति के विवरणों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि स्थविर, महीशासक, धर्मंगुप्तक ग्रीर हैं मवत का एक समूह हैं। दूसरी ग्रीर सिंहलद्वीप के ग्रन्थ ग्रीर ग्रंशत इतिंग से स्थिवर, महीशासक, सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक ग्रीर काश्यपीय का एक समूह में होना मालूम होता हैं। दीपवश ( 5190) से मालूम होता हैं कि हिमवत्-प्रदेश के निवासियों को मौग्गलिपुत्त के भेजें हुए कस्सपगोत्त, दुन्दुभि-स्वर ग्रादि ने शासन में प्रवेश कराया। महावश ( 9२१४९ ) के ग्रनुसार मिन्झम ने चार स्थिवरों के साथ हिमवत्-प्रदेश जाकर धर्मचक का प्रवर्त्तन किया। 'समन्तपासादिका' के ग्रनुसार यह काम मिन्झम ने किया। सोनरी ग्रीर साँची के स्तूपों के लेखों में कस्सपगोत्त को हिमवत्-प्रदेश का ग्राचार्य बताया है। ग्रन्य लेखों में मिन्झम ग्रीर दुदुभिर के नाम है। इन सव प्रमाणों को मिलाकर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कश्यपगोत्न स्थिवर के नेतृत्व में हिमवत्-प्रदेश को विनीत करने का काम हुग्रा था। इसीलिए, लेखों में काश्यपगोत्न को सर्वत्न हैं मवताचार्य कहा है। ग्रत, यह ज्ञात होता हैं कि हैमवत ग्रीर काश्यपीय एक ही निकाय के विभाग है। वसुमित्न इन दोनो पृथक्-पृथक् गिनाते हैं। ग्रत, यह एक नहीं हैं, किन्तु एक ही निकाय के विभाग है।

स्थिवर-निकाय दक्षिण की ग्रोर बढ रहा था। पीछे वह सिंहलद्वीप गया। महीशासक भी सिंहल में थे ग्रौर फाहियान ने वहाँ उनका विनय पाया था। सिंहल के ग्राम्नाय के ग्रनुसार सबसे पहले यही स्थिवरवाद से ग्रलग हुए। कुछ विद्वानो का विचार है कि महीशासको का पूर्वस्थान माहिष्मती था। इसका नाम महिष-मण्डल (पालि = महिसक-मण्डल) है। द्वितीय सगीति के वर्णनो से मालूम होता है कि यहाँ एक प्रसिद्ध बौद्ध-सघ था। इन विद्वानो का कहना है कि इसी नाम पर निकाय का नाम 'महीशासक' पडा। धर्मगुप्तक नाम कदाचित् काश्यपीय की तरह निकाय के ग्राचार्य के नाम पर पडा। दीपवश ग्रौर महावश के ग्रनुसार धम्मरिखत ग्रपरान्तक भेजे गये थे ग्रौर मध्यन्दिन कश्मीर। सर्वास्तिवाद के ग्रागम मे इन्हें मध्यन्तिक कहा है। क्या धम्मरिखत ग्रौर धर्मगुप्त एक तो नही है?

कश्मीर के निकाय को मूल सर्वास्तिवादी निकाय कहते थे। यह वहुत प्रसिद्ध निकाय था। इसमें कई प्रसिद्ध ग्राचार्य हुए, जिन्होने ग्रनेक ग्रन्थो की संस्कृत में रचना की।

इस निकाय का क्षेत्र ग्रत्यन्त विस्तृत था। यह गगा-यमुना की घाटी से पश्चिम की ग्रोर फैलकर मध्य एशिया मे भी गया। स्थविर-निकाय का भी विस्तृत क्षेत्र था। यह कौशाम्बी,

विदिशा तथा उज्जियनी के मार्ग से दक्षिणापथ को गया। महीशासक महिष-मण्डल के थे। वत्सपुत्र या वात्सीपुत्रीय कौशाम्बी के थे। कौशाम्बी वत्सो की राजधानी थी। स्थिवर ग्रीर महीशासक लका में प्रतिष्ठित हुए ग्रीर ग्रन्त में धर्मगुप्तक चीन में फैल गये।

विनय के नियमों को लेकर सघ-भेद हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि इसी तरह विवाद आरम्भ हुआ और निकाय बने। अभिधर्म के प्रश्नों को लेकर विवाद पहले-पहल तृतीय सगीति (अशोक के समय) में ही हुआ। अशोक के समय में, कहा जाता है, 'कथावत्यु' की रचना हुई। इस ग्रन्थ में सब निकायों के भेद दिये गये हैं।

### पंचम अध्याय

#### शमथ-यान

'विसुद्धिमग्गो' नामक ग्रन्थ में विशुद्धि के मार्गं का निरूपणा किया गया है, अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश में कही विपश्यना दिया, कही ध्यान और प्रज्ञा द्वारा, कही शुभ तर्को द्वारा, कही कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम आजीविका द्वारा और कही शील, प्रज्ञा और समाधि द्वारा निर्वाण की प्राप्ति बतलाई है, जैसा नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट है—

सब्बे सखारा म्ननिच्चाति यदा पञ्जाय पस्सति । म्रथ निब्बन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥

(धम्मपद, २।५)

श्रर्थात्, जब मनुष्य प्रज्ञा द्वारा देखता है, तब सब सस्कार श्रनित्य प्रतीत होते हैं। तब वह क्लेशो से विरक्त होता है श्रौर ससार में उसकी श्रासक्ति नही रहती। यह विशुद्धि का मार्ग है।

यिन्ह झानं च पञ्जा च स वे निक्वानसन्तिके । (धम्मपद, ३।७२)

प्रयात्, जिसने ध्यानों का लाभ किया है, श्रीर जो प्रज्ञावान् है, वह निर्वाण के समीप है।

सव्वदा सीलसंपन्नो पञ्जावा सुसमाहितो । ग्रारद्वविरियो पहित्ततो ग्रोघं तरित दुत्तरिन्त ॥ (संयुत्तिकाय, १।५३)

श्रर्थात्, जो सदा शील-सम्पन्न है, जो प्रज्ञावान् है, जो सुब्ठु प्रकार से समाहित, श्रर्थात् समाधिस्य है, जो श्रशुभ के नाश के लिए ग्रीर शुभ की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है ग्रीर जो दृढं सकल्पवाला है, वह ससार-रूपी दुस्तर ग्रोघ को पार करता है।

<sup>9. &#</sup>x27;विषश्यना' उस विशिष्ट श्वान श्रीर दर्शन को कहते हैं, जिनके द्वारा धर्मों की श्रनित्यता, दु'खिता श्रीर ध्रमारमता प्रकट होती है। ''श्रमिष्म्मत्य विविधाकारेन परसत्तीति विषस्सना।'' (श्रमिषम्मत्य सगह-टीका), ''विषस्सनाति सङ्घारपिरगाहकञाण। (श्रगुत्तरिनकायट्ठिकया, धालवग्ग, सुत्त ३), ''सङ्कारे श्रमिच्चतो दुक्खतो श्रनत्ततो विषस्सिति।'' (विसुद्धिमगो, पृ० ७०५)

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं । एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा ति ॥ (मज्झिमनिकाय, ३।२६२)

ग्रर्थात्, कमं, सम्यग्दृष्टि, धमं, शील ग्रौर उत्तम ग्राजीविका द्वारा, न कि गोत ग्रौर धन द्वारा, जीवो की शुद्धि होती है।

> सीले पतिठ्टाय नरो सपञ्जो चित्त पञ्जाञ्च भावयं । ग्रातापी निपको भिक्खु सो इम विजटमे जटं ।। (सयुत्तनिकाय, १।१३)

ग्रर्थात्, जो मनुप्य शील मे प्रतिष्ठित है ग्रीर जो समाधि ग्रीर विपश्यना की भावना करता है, वह तृष्णा-रूपी जटासमूह का सछेद करता है।

इस ग्रन्तिम उपदेश के अनुसार श्राचार्य बुद्धघोप ने विशुद्धि के मार्ग का निरूपण किया है। शील, समाधि श्रौर प्रज्ञा द्वारा मर्व मल का निरमन तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। बुद्ध-श्रासन की यही तीन शिक्षाएँ हैं। शील से श्रासन की ग्रादिकल्याणता प्रकाशित होती है, समाधि शासन के मध्य में है श्रौर प्रज्ञा पर्यवसान में। शील से ग्रपाय (दुर्गति, विनिपात) का ग्रतिक्रमण, समाधि से कामधातु का ग्रौर प्रज्ञा से सर्वभव का ग्रतिक्रमण होता है। जो व्यक्ति निर्वाण के लिए यत्नशील होता है, उसे पहले शील में प्रतिष्ठित होना चाहिए। जब शील ग्रल्पेच्छता, सन्तुष्टि, प्रविवेक (एकान्त-सेवन) श्रादि गुणो द्वारा सुविशुद्ध हो जाता है, तब समाधि की भावना का ग्रारम्भ होता है। समाधि किसे कहते हैं, समाधि की भावना किस प्रकार होती है ग्रौर नमाधि-भावना का क्या फल है है इन वातो पर यहाँ विस्तार से विचार किया जायगा। समाधि शब्द का ग्रयं है—समाधान, ग्रयांत् एक ग्रालम्बन में समान तथा सम्यग् रूप से चित्त ग्रौर चैतसिक धर्मों की प्रतिष्ठा। इसलिए 'समाधि' उस धर्म को कहते हैं, जिसके प्रभाव से चित्त तथा चैतसिक धर्मों की एक ग्रालम्बन में विना किसी विक्षेप के सम्यक् स्थिति हो। समाधि में विक्षेप का विध्वस होता है ग्रौर चित्त-चैतिक विप्रकीण न

श्रापाय—दुर्गति, विनिपात को कहते हैं । शीलअ श मे पुद्गल दुर्गति को प्राप्त होता है। दुर्गति चार हैं—निरय (नरक), तिरश्चान-योनि (तिर्यग्-योनि), प्रेतिविपय श्रीर श्रमुरनिकाय।
 "गतय पट्। तथया—नरकस्तिर्यक् प्रेती श्रमुरो मनुष्यो देवश्चेति। (धर्मसंग्रट, ५७) पटले चार श्रपाय है।

२ कामधातु—कामप्रतिसयुक्त मध्या सकत्प को कहते हैं। अथवा अवीचि निरय से आरम्म कर परिनिर्भत वराप्तर्जी देवताओं तक जो अवचर हैं, उनमें सम्मिलित रूप, वेटना, सड़ा, सस्कार और विज्ञान को 'कामधातु' कहते हैं।

होकर एक ग्रालम्बन मे पिण्ड-रूप से ग्रवस्थित होते हैं। समाधि बहुविध हैं। पर, यदि सव प्रकार की समाधियों का वर्णन किया जाय, तो ग्रिभप्रेत ग्रर्थ की सिद्धि नहीं होती ग्रीर यह भी सम्भव है कि इस प्रकार विक्षेप उपस्थित हो। इसलिए, यहाँ केवल ग्रिभप्रेत ग्रर्थ का ही उल्लेख किया जायगा। हमको यहाँ लौकिक समाधि ही ग्रिभप्रेत है। काम, रूप ग्रीर ग्ररूप भूमियों की कुशल-चित्त काग्रता को लौकिक समाधि कहते हैं। जो एकाग्रता ग्रार्थमार्ग से सम्प्रयुक्त होती है, उसे लोकोत्तर समाधि कहते हैं, क्योंकि वह लोक को उत्तीर्ण कर स्थित है। लोकोत्तर समाधि का भावना-प्रकार प्रज्ञा के भावना-प्रकार मे सगृहीत है। प्रज्ञा के सुभावित होने से लोकोत्तर समाधि की भावना होती है। इसलिए, लोकोत्तर की भावना के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा जायगा। यह प्रज्ञा-स्कन्ध का विषय है। यहाँ हम केवल लौकिक समाधि का ही सविस्तर वर्णन करेगे। हमारे ग्रभिप्रेत ग्रर्थ में 'समाधि' 'कुशलचित्त की एकाग्रता' को कहते हैं। ग्रर्थात्, चित्त की वह एकाग्रता, जो दोष-रहित है ग्रीर जिसका विपाक सुखमय है। इस लौकिक समाधि के मार्ग को शमथ-यान कहते हैं। लोकोत्तर समाधि का मार्ग विपश्यना-यान कहलाता है।

पूर्व इसके कि हम लौकिक समाधि के भावना-प्रकार का विस्तार से वर्णन करे, हम इस स्थान पर शमथ-यान ( = मार्ग ) का सक्षेप में निरूपण करना श्रावश्यक समझते हैं।

शमथ का अर्थ है—-पाँच नीवरणो (स० निवारण) अर्थात् विघ्नो का उपशम। 'पञ्च नीवरणान समनट्टोन समथ', विघ्नो के शमन से चित्त की एकाग्रता होती है। इसलिए शमथ का अर्थ 'चित्त की एकाग्रता' भी है। ('समथो हि चित्तेकग्गता'—-ग्रगुत्तरनिकायट्टकथा, वालवग्ग, सुत्त ३) शमथ का मार्ग लौकिक समाधि का मार्ग है। दूसरा मार्ग विपश्यना का मार्ग है। इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं। विघ्नो के, अर्थात् अन्तरायो के नाश से ही लौकिक समाधि मे प्रथम ध्यान का लाभ होता है। प्रथम ध्यान मे पाँच अगो का प्रादुर्भाव होता है। दूसरे-तीसरे ध्यान मे पाँच अगो का अतिक्रमण होता है। नीवरण इस प्रकार है—कामछन्द, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्या। कामछन्द 'विषयो में अनुराग' को कहते हैं। जब चित्त नाना विषयो से प्रलोभित होता है, तब एक ग्रालम्बन मे समाहित नहीं होता।

'व्यापाद' हिसा को कहते हैं। यह प्रीति का प्रतिपक्ष है। 'स्त्यान' चित्त की ग्रकर्मण्यता ग्रीर 'मिद्ध' ग्रालस्य को कहते हैं। वितर्क स्त्यान-मिद्ध का प्रतिपक्ष है। ग्रीद्धत्य का ग्रर्थ है

१ पातजल योगदर्शन में योग के श्रन्तरायों का वर्णन निम्निलिखित सूत्र में पाया जाता है—
''व्याधिस्त्यानसशयप्रमादालस्याविरितिश्रान्तिदर्शनालव्यभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया ।'' (समाधिपाद, सूत्र ३०)

इनमें से अविरित (= कामछन्द), आलस्य (= मिद्ध), अनवस्थितस्व (= श्रोद्धत्य) सशय (= विचिकित्सा) श्रीर स्त्यान पाँच नीवरणों में भी पाये जाते हैं।

'श्रव्यवस्थित-चित्तता' श्रीर कौकृत्य 'खेद-पण्चात्ताप' को कहते हैं। सुख श्रौद्धन्य-कौकृत्य का प्रतिपक्ष है। विचिकित्सा सणय को कहते हैं। विचार विचिकित्सा का प्रतिपक्ष है। विपयों में लीन होने के कारण समाधि में चित्त की प्रतिष्ठा नहीं होनी। हिंसाभाव से श्रिभिमून चित्त की निरन्तर प्रवृत्ति नहीं होती। स्त्यान-मिद्ध से श्रीभभूत चित्त श्रकमंण्य होता है। चित्त के श्रनवस्थित होने से श्रीर खेद से शान्ति नहीं मिलती श्रौर चित्त श्रान्त रहता है। विचिकित्सा से उपहत चित्त ध्यान का लाभ करानेवाले मार्ग में श्रारोहण नहीं करता। इसलिए, इन विघ्नों का नाण करना चाहिए। नीवरणों के नाण से ध्यान का लाभ श्रौर ध्यान के पाँच श्रग वितर्क, विचार, प्रीति, मुख श्रौर एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता है।

वितकं आलम्बन में चित्त का आरोप करना है। आलम्बन के पाम चित्त का आनयन 'वितकं' कहलाता है। आलम्बन का यह स्थूल आभोग है। वितकं की प्रथमोत्पित के समय चित्त का परिस्पन्दन होता है। वितकं विचार का पूर्वगामी है। विचार मूक्ष्म है। विचार की वृत्ति शान्त होती है और इसमें चित्त का अधिक परिस्पन्दन नहीं होता। जब प्रीति उत्पन्न होती है, तब सबसे पहले गरीर में रोमाच होता है। धीरे-धीरे यह प्रीति वारम्बार गरीर को अबकान्त करती है। जब प्रीति का बलवान् उद्देग होता है, तब प्रीति शरीर को कर्ष्व उत्किष्त कर आकाश-लघन के लिए समयं करती है, धीरे-धीरे सकल गरीर प्रीति से सर्वरूपेण ब्याप्त हो जाता है, मानो पर्वत-गुहा से एक महान् जलप्रपात परिस्फुट हो तीव वेग से प्रवाहित हो रहा है। प्रीति के परिपाक से काय-प्रथिव्ध और चित्त-प्रथव्धि होती है। प्रथव्धि के परिपाक से काय और चित्त-मुख होता है। मुख के परिपाक से क्षणिक, उपचार और प्रपंणा इस विविध समाधि का परिपूरण होना है। इष्ट आलम्बन के प्रतिलाभ से जो तुष्टि होती है, उसे प्रीति कहते है। प्रतिलब्ध रम के अनुभव को मुख कहते है। जहाँ प्रीति है, वहाँ मुख है; पर

<sup>े</sup> योगदर्शन के निम्नाकित सूत्र से तुलना कीजिए — ''नितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमारसम्प्रशात ।'' (समाधिपाद, १७)। आनन्द हाद है। यही प्रीति है। श्रम्मिता सूख के स्थान में है।

२ ''वितर्कोश्चित्तस्यालम्यने स्यूल श्रामोग । सूक्ष्मो विचार ।'' (योगदर्शन, समाधिपाद, १७ पर व्यासमान्य), ''वितर्कोविचारवीदार्यस्क्ष्मते ।'' (श्रमिधर्मकोश, २।३३) ''श्रोलारिकट्टेन । सुखुमट्टेन ।'' (विसुद्धिमगो, पृ० १४२)

३ प्रश्नि सम्बोधि के सात अगों में से एक है। प्रामोध और प्रीति के साथ इसका प्रयोग प्राय' देखा जाता है। प्रश्निध शान्ति को कहते हैं।

४ उपचार श्रर्पणा-समाधि के प्रकार हैं। जिस प्रकार श्राम श्रादि का समीपवर्ता प्रदेश श्रामोपचार कहलाता है, उसी प्रकार श्रर्पणा के समीप का स्थान उपचार-समाधि कहलाता है। उपचार समाधि में ध्यान श्रल प्रमाण का होता है और चित्त श्रानम्बन में थोड़े काल तक श्रावद रहता है। फिर, भवाग में श्रवतरण करता है। उपचार-भृमि में नीवरणों का नाश होता है, पर अगों का प्रादुर्माव नहीं होता। जब श्रपणा (एकाश्रचित्ते ध्यालम्बन श्रप्यति) समाधि का उत्पाद होता है, तम ध्यान के पाँच श्रग सुदृढ हो जाते हैं। श्रपणा ध्यान की प्रतिलाम-भृमि है।

जहाँ सुख है, वहाँ नियम से प्रीति नही है। प्रथम ध्यान में उक्त पाँच अगो का प्रादुर्भाव होता है। धीरे-धीरे अगो का अतिक्रमण होता है और अन्तिम ध्यान में समाधि उपेक्षा-सहित होती है। लौकिक समाधि के द्वारा ऋद्धि-बल की प्राप्ति होती है। पर, निर्वाण की प्राप्ति के लिए विपश्यना के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। निर्वाण के प्रार्थी को शमथ की भावना के उपरान्त विपश्यना की वृद्धि करनी पडती है और तभी अर्हत्पद में प्रतिष्ठा होती है, अन्यथा नहीं।

जिसको लौकिक समाधि श्रभीष्ट हो, उसको सुपरिशुद्ध शील में प्रतिष्ठित हो सबसे पहिले विघ्नो (पालि = 'पलिबोध') का नाश करना चाहिए।

श्रावास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग जाति, श्रावाध, ग्रन्थ ग्रीर ऋदि—ये दस 'पिलबीध' कहलाते हैं। जो भिक्षु ग्रभी नया-नया किसी काम में उत्सुकता रखता है या बहुविध सामग्री का सग्रह करता है या जिसका चित्त किसी दूसरे कारणवश ग्रपने ग्रावास में प्रतिबद्ध है श्रावास उसके लिए ग्रन्तराय (=विघ्न) है। 'कुल' से तात्पर्य ज्ञाति-कुल या सेवक के कुल से है। साधारणतया दोनो विघ्नकारी है। ग्रपने तथा सेवक के 'कुल' से विशेष संसगं होने से भावना में विघ्न उपस्थित होता है। कुछ ऐसे भिक्षु होते है, जो कुल के मनुष्यो के विना धर्म-श्रवण के लिए भी पास के विहार में नहीं जाते। वह उन श्रद्धालु उपासको के सुख में सुखी ग्रीर दुख में दुखी होते हैं, जिनसे उनको लाभ-सत्कार मिलता है। ऐसे भिक्षुग्रो के लिए कुल ग्रन्तराय है, दूसरो के लिए नहीं।

'लाभ' चार प्रत्ययों को कहते हैं। प्रत्यय (पालिरूप=पच्चय) ये है—चीवर, पिण्डपात, शयनासन ग्रौर ग्लानप्रत्ययभेषज। भिक्षु को इन चार वस्तुग्रों की ग्रावश्यकता रहती है। कभी-कभी ये भी ग्रन्तराय हो जाते हैं। पुण्यवान् भिक्षु का लाभ-सत्कार प्रचुर परिमाण में होता है। उसको सदा लोग घरे रहते हैं। जगह-जगह से उसको निमन्त्रण ग्राता है। उसको निरन्तर दान का ग्रनुमोदन करना पडता है ग्रौर दाताग्रों को धमंं का उपदेश देना पडता है। श्रमण-धमंं के लिए उसको ग्रवकाश नही मिलता। ऐसे भिक्षुक को ऐसे स्थान में जाकर रहना चाहिए, जहाँ उसे कोई नही जानता हो ग्रौर जहाँ वह एकान्तसेवी हो सके।

'गण' में रहने से लोग उससे अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते हैं या उसके पास पाठ के लिए आते हैं। इस प्रकार, श्रमण-धमंं के लिए अवकाश नहीं मिलता। इस अन्तराय का उपच्छेद इस प्रकार होना चाहिए। यदि थोडा ही पाठ रह गया हो, तो उसे समाप्त कर अरण्य में प्रवेश करना चाहिए। यदि पाठ बहुत बाकी हो, तो अपने शिष्यों को समीपवर्त्ती किसी दूसरे गणवाचक के सपुर्द करना चाहिए। यदि दूसरा गणवाचक पास में न मिले, तो शिष्यों से छुट्टी ले श्रमण-धमंं में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

'कर्म' का श्रर्थ है 'नवकर्म', श्रर्थात् विहार का श्रिभसस्कार । जो नवकर्म कराता है, इसे मजदूरों के कार्य का निरीक्षण करना पडता है। उसके लिए सर्वदा श्रन्तराय है। इस

अन्तराय का नाश करना चाहिए। यदि थोडा ही काम अविशिष्ट रह गया हो, तो काम को समाप्त कर श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। यदि अधिक काम वाकी हो, तो सधभार- हारक भिक्षुओं के सुपुर्द करना चाहिए। यदि ऐसा कोई प्रवन्ध न हो सके, तो सध का परित्याग कर श्रन्यव चला जाना चाहिए।

'मार्ग-गमन' भी कभी-कभी अन्तराय होता है। जिसे कही किसी की प्रव्या के लिए जाना है या जिसे कही से लाभ-मत्कार मिलना है, यदि वह अपनी इच्छा को पूरा किये विना अपने चित्त को स्थिर नहीं रख सकता, तो उमसे श्रमण-धमं सम्यक् रीति से सम्पादित नहीं हो सकता। इमलिए, उसे गन्तव्य स्थान पर जाकर अपना मनोरथ पूर्ण करना चाहिए। तदनन्तर, श्रमण-धमं में उत्साह के माथ प्रवृत्त होना चाहिए।

'शाति' भी कभी-कभी अन्तराय हो जाते हैं। विहार में आचायं, उपाध्याय अन्तेवासिक, समानोपाध्यायक और समानाचायंक तथा गृह में माता, पिता, भ्राता आदि जाति होते हैं। जब ये वीमार पडते हैं, तब ये अन्तराय होते हैं, क्योंकि भिक्षु को इनकी सेवा-शुश्रूपा करनी पडती है। उपाध्याय, प्रवज्याचायं, उपसम्पदाचायं, ऐसे अन्तेवासिक, जिनकी उसने प्रवज्या या उपसम्पदा की है, तथा एक ही उपाध्याय के अन्तेवासी के वीमार पडने पर उनकी सेवा उस समय तक करना उसका कर्ताव्य है, जबतक वह नीरोग न हो। निश्रयाचार्य, उद्देशाचार्य आदि की सेवा अध्ययन-काल में ही कर्ताव्य है। माता-पिता उपाध्याय के समान है। यदि उनके पाम औपध न हो, तो अपने पाम से देना चाहिए, यदि अपने पास भी न हो, तो भिक्षा माँगकर देना चाहिए।

'श्रावाध' भी श्रन्तराय है। यदि भिक्षु को कोई रोग हुश्रा, तो श्रमण-धर्म के पालन में श्रन्तराय होता है। चिकित्सा द्वारा रोग का उपणम करने से यह अन्तराय नष्ट होता है। यदि कुछ दिनो तक चिकित्सा करने से भी रोग शान्त न हो, तो उसे यह कहकर आत्मगर्ही करनी चाहिए कि मै तेरा न दाम हूँ, न भृत्य, तेरा पोषण कर मैने इस श्रनादि-श्रनन्त समार-मार्ग में दुख ही प्राप्त किया है श्रीर श्रमण-धर्म मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

'ग्रन्य' भी ग्रन्तराय होता है। जो सदा स्वाघ्याय में व्यापृत रहता है, उसी के लिए ग्रन्य ग्रन्तराय है, दूसरो के लिए नही।

'ऋद्वि' से पृथग्जन की ऋद्वि से अभिप्राय है। यह ऋद्वि विपश्यना (प्रज्ञा) में अन्तराय है, समाधि में नहीं, क्यों कि जब समाधि की प्राप्ति होती है, तब ऋद्वि-वल की प्राप्ति होती है। इसलिए जो विपश्यना का अर्थी है, उसे ऋद्वि-अन्तराय का उपच्छेद करना चाहिए, किन्तु जो समाधि का लाभी होना चाहता है, उसे नौ अन्तरायों का नाश करना चाहिए।

इन विघ्नो का उपच्छेद कर भिक्षु को 'कर्मस्थान' ग्रहण के लिए कल्याणिमत्न के पास जाना चाहिए। 'कर्मस्थान' योग के साधन को कहते है। योगानुयोग ही कर्म है। इसका स्थान, ग्रर्यात् 'निप्पत्ति-हेतु' कर्मस्थान है। इसीलिए, कर्मस्थान उसे कहते है, जिसके द्वारा योग-भावना की निष्पत्ति होती हैं। कर्मस्थान, ग्रर्थात् समाधि के साधन चालीस है। इन चालीस साधनों में से किसी एक का, जो अपनी चर्या के अनुकूल हो, ग्रहण करना पडता है। कर्मस्थान का दायक कल्याणिमत्न कहलाता है। क्योंकि, वह उसका एकान्त हितेषी है। कल्याणिमत्न गम्भीर कथा का कहनेवाला होता है तथा अनेक गुणों से समन्वागत होता है। बुद्ध से बढकर कोई दूसरा कल्याणिमत्न नहीं है। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि जीव मुझ कल्याणिमत्न की भारण में आकर जन्म के बन्धन से मुक्त होते हैं मम हि आनन्द कल्याणिमत्तमाणम्म जाति- अस्मा सत्ता जातिया परिमुच्चन्ति। (सयुत्त ० १।८८)

इसलिए, बुद्ध के रहते उनके समीप ग्रहण करने से कमंस्थान सुगृहीत होता है।
महापरिनिर्वाण के अनन्तर ५० महाश्रावकों में से जो वर्त्तमान हो, उससे कमंस्थान का ग्रहण
उचित है। यदि महाश्रावक नहों, तो ऐसे पुरुष के समीप कमंस्थान का ग्रहण करना चाहिए,
जिसने उस विशेष कमंस्थान द्वारा ध्यानों का उत्पाद कर विपश्यना की वृद्धि की हो और
आश्रवों (पालि = 'श्रासव') का क्षय किया हो, जिस कमंस्थान के ग्रहण की वह इच्छा रखता
है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति न मिले, तो कम से श्रनागामी, सकुदागामी, स्रोतापन्न, ध्यानलाभी,
पृथाजन, विपिटकधर, दिपिटकधर, एकपिटकधर से कमंस्थान ग्रहण करना चाहिए। यदि इनमें
से भी कोई उपलब्ध न हो, तो ऐसे व्यक्ति के समीप ग्रहण करना चाहिए, जिसने एक निकाय
का अर्थकथा (टीका)-सहित अध्ययन किया हो और जो श्राचार्य-मत का वक्ता हो। क्षीणाश्रव,
श्रनागामी श्रादि श्रपने श्रधिगत मार्ग का श्राख्यान करते हैं। पर, जो बहुश्रुत है, वे विविध
श्राचार्यों से पाठ तथा परिष्ठक द्वारा श्रपने ज्ञान का परिष्कार कर पाँच निकायों से श्रमुक-श्रमुक

<sup>9.</sup> आसन (सस्कृत = 'आश्रन')। लोक में बहुत काल की रखी हुई मदिरा को 'आसन' कहते। इस अर्थ में जो ज्ञान का निपर्यय करे, वह आसन है। दूसरे अर्थ में, जो संसार-दु ख़ का प्रसन करते हैं, उन्हें आसन कहते हैं। 'आसन' क्लेश हैं। कर्मक्लेश तथा नाना प्रकार के उपद्रन भी आसन कहलाते हैं। बडायतन में आसन तीन बताये गये हैं--काम, भन और अनिधा। पर, अन्य सूत्रों में तथा अभिधर्म में आसन चार बताये गये हैं--काम, भन, अनिधा और दृष्टि। जो आश्रनों का क्षय करता है, वह अहुँत्पद को पाता है।

<sup>&#</sup>x27;'चिरपरिवासियहेन मदिरादयो आसवा वियातिषि आसवा • वृत्तं हेतं। पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्जायित अविज्जाय इतो पुन्वे आविज्जा नाभोसीति । आदि आयत्तं वा ससारदुक्खं सविन्ति पसवन्तीति पि आसवा। . सलायतने 'तयो ये आवुसो आसवा कामासवो भवासवो अविञ्जासवो ति तिथा आगता। अञ्जे सु च सुत्तन्ते सु अभिथम्मे च ते एव दिष्टुसवेन सह चतुथा आगता।' (मिज्मिमिनकायदुक्या, सञ्चासवसुत्त)

२ स्रोतापन्न, सक्ट्वागामी, अनागामी स्रोतापन्न—'स्रोत' श्रार्य अष्टागिक मार्ग को कहते हैं। जो इस मार्ग में प्रवेश करे, वह स्रोतापन्न है। स्रोतापन्न का विनिपात नहीं होता। वह नियत रूप से सम्बोधि की प्राप्ति करता है (नियतो सम्बोधिपारायनो )। सक्ट्वागामी—जो एक बार से अधिक पृथ्वी पर जन्म नहीं छेता। यह दूसरी अवस्था है। अनागामी—जो दोबारा पृथ्वी पर नहीं आता, जिसका यह अन्तिम मानव-जन्म है। यह तीसरी अवस्था है। बीधी अवस्था अर्ह्त की है।

कर्मस्थान के श्रनु रूप सूत्रपद ग्रौर सूत्रानुगत युवित हूँ ह निकालते हैं ग्रौर श्रमण-धर्म के करने-वाले को उससे उपयुक्त कर्मस्थान का ग्रहण कराते है।

इन चालीम कर्मस्यानो को पालि में 'परिहारिय-कम्मट्टान' कहते है। क्योकि, इनमें से जो चर्या के अनुकूल होता है, उसका नित्य परिहरण, अर्यात् अनुयोग करना पडता है। पारि-हारिक कर्मस्यान के अतिरिक्त 'सव्वत्यक-कम्मद्वान' (अर्यात्, सर्वार्थक कर्मस्यान) भी है। इसे सर्वार्थक इमलिए कहते हैं, क्योंकि यह सबको लाभ पहुँचाता है। भिक्षुसघ श्रादि के प्रति मैती-भावना, मरण-स्मृति ग्रौर कुछ ग्राचार्यों के मतानुमार श्रशुभ सज्ञा भी मर्वार्थक कर्मस्यान कहलाते हैं। जो भिक्षु कर्मस्यान में नियुक्त होते हैं, उसे पहिले सीमा में रहनेवाले भिक्षुसघ के प्रति मैं ती प्रदर्शित करनी चाहिए। उसे मैं ती-भावना इस प्रकार करनी चाहिए—सीमा में रहनेवाले भिक्षु सुखी हो, उनका कोई व्यापाद न करे। धीरे-धीरे उसे इस भावना का इस प्रकार विस्तार करना चाहिए। मीमा के भीतर वर्त्तमान देवतात्रों के प्रति, तदनन्तर उस ग्राम के निवासियों के प्रति, जहाँ वह भिक्षाचर्या करता है, तदनन्तर राजा तथा अधिकारी-वर्ग के प्रति, तदनन्तर सब सत्त्वो के प्रति मैनी-भावना का अनुयोग करना चाहिए। ऐसा करने से उसके सहवासी उसके साथ मुखपूर्वक निवास करते हैं। देवता तथा ग्रधिकारी उसकी रक्षा करते है तथा उनकी आवण्यकताओं को पूरा करते हैं, लोगों का वह प्रियपात होता है और सर्वत्न निर्भय होकर विचरता है। मरण-स्मृति द्वारा वह निरन्तर इम वात की चिन्तना करता रहता है कि मुझे मरना ग्रवश्यमेव है। इमलिए, वह कुपथ का गामी नहीं होता तथा वह ससार में लीन भ्रीर ग्रासक्त नहीं होता। जब चित्त ग्रशुभ सज्ञा से परिचित होता है, ग्रर्थात् जब चित्त यह देखता है कि चाहे मृत हो या जीवमान, शरीर शुभ भाव से वर्जित है और इसका स्वभाव श्रम्चि है तब दिव्य श्रालम्बन का लोभ भी चित्त को ग्रस्त नहीं करता। वह उपकार करने से सवको यह अभिप्रेत है। इसलिए, इन्हें मर्वार्थक कर्मस्थान कहते हैं।

इन दो प्रकार के कर्मस्थानों के ग्रहण के लिए कल्याणिमत के समीप जाना चाहिए।
यदि एक ही विहार में कल्याणिमत का वास हो, तो ग्रित उत्तम है। नहीं तो जहाँ कल्याणिमत का ग्रावास हो, वहाँ जाना चाहिए। ग्रापना पात ग्रीर चीवर स्वय लेकर प्रस्थान करना चाहिए। मार्ग में जो विहार पड़े, वहाँ वर्त-प्रतिवर्त्त (कर्त्त व्य-सेवा-ग्राचार) सम्पादित करना चाहिए। ग्राचार्य का वासम्थान पूछकर सीधे ग्राचार्य के पाम जाना चाहिए। यदि श्राचार्य ग्रावस्था में छोटा हो, तो उसे ग्रपना पात चीवर ग्रहण न करने देना चाहिए। यदि श्रवस्था में श्रिष्ठक हो, तो ग्राचार्य की वन्दना कर खड़े रहना चाहिए। जब ग्राचार्य कहे कि पात-चीवर मूमि पर रख दो, तब उन्हें भूमि पर रख देना चाहिए। जब ग्राचार्य कहे कि पात-चीवर मूमि पर रख दो, तब उन्हें भूमि पर रख देना चाहिए ग्रीर यदि वह पानी पीने के लिए पूछे, तो इच्छा रहते जल पीना चाहिए। यदि पर धोने को कहें, तो पर न घोना चाहिए, क्योंक यदि जल ग्राचार्य द्वारा ग्राहत हो, तो वह पादक्षालन के लिए ग्रनुपयुक्त होगा। यदि ग्राचार्य कहें कि जल दूसरे द्वारा लाया गया है, तो उसको ऐसे स्थान में वैठकर पर धोना चाहिए, जहाँ

श्राचार्य उसे न देख सके। यदि श्राचार्य तेल दे, तो उठकर दोनो हाथो से श्रादरपूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिए। पर, पहिले पैरो न मे मलना चाहिए, क्योकि यदि स्राचार्य के गासा-भ्यजन के लिए तेल हो, तो पैर में मलने के लिए अनुपयुक्त होगा। इसलिए, पहिले सिर ग्रीर कन्धों में तेल लगाना चाहिए। जब ग्राचार्य कहें कि सब ग्रगों में लगाने का यह तेल हैं, तो थोडा सिर में लगाकर पैर मे लगाना चाहिए। पहिले ही दिन कर्मस्थान की याचना न करनी चाहिए। दूसरे दिन से ग्राचार्य की सेवा करनी चाहिए। जिस प्रकार ग्रन्तेवासी ग्राचार्य की सेवा करता है, उसी प्रकार भिक्षु को कर्मस्थानदायक की सेवा करनी चाहिए। समय से उठकर श्राचार्य को दन्तकाष्ठ देना चाहिए, मुँह धोने के लिए तथा स्नान के लिए जल देना चाहिए। स्रीर वरतन साफ करके प्रातराण के लिए यवागू देना चाहिए। इसी प्रकार, अन्य जो कर्त्तव्य निर्दिष्ट है, उनको पूरा करना चाहिए। इस प्रकार, अपनी सेवा से आचार्य को प्रसन्न कर जब वह भ्राने का कारण पूछे, तव वताना चाहिए, यदि म्राचार्य म्राने का कारण न पूछें भौर सेवा लें, तो एक दिन अवसर पाकर आने का कारण स्वय वताना चाहिए। यदि वह प्रात काल बुलावे, तो प्रातःकाल जाना चाहिए। यदि उस समय किसी रोग की वाधा हो, तो निवेदन कर दूसरा उपयुक्त समय नियत करना चाहिए। याचना के पूर्व ग्राचार्य के समीप ग्रात्मभाव का विसर्जन करना चाहिए। श्राचार्य की श्राज्ञा में सदा रहना चाहिए, स्वेच्छाचारी न होना चाहिए, यदि ग्राचार्य बुरा-भला कहें, तो कोप नही करना चाहिए। यदि भिक्षु ग्राचार्य के समीप म्रात्मभाव का परित्याग नहीं करता भीर विना पूछे जहाँ कही इच्छा होती है, चला जाता है तो म्राचार्य रुष्ट होकर धर्म का उपदेश नही करता ग्रीर गम्भीर कर्मस्थान-ग्रन्थ की शिक्षा नहीं देता। इस प्रकार, भिक्षु शासन में प्रतिष्ठा नहीं पाता। इसके विपरीत, यदि वह ग्राचार्य के वशवर्ती और अधीन रहता है, तो शासन मे उसकी वृद्धि होनी है। भिक्षु को अलोभादि छः सम्पन्न ग्रध्याशयो से भी सयुक्त होना चाहिए। सम्यक् सम्वुद्ध, प्रत्येकवुद्ध ग्रादि जिस किसी ने विशेषता प्राप्त की है, उसने इन्ही छ. सम्पन्न ग्रध्याशयो द्वारा प्राप्त की है। 'ग्रध्याशय' भ्रभिनिवेश को कहते हैं। 'ग्रध्याशय' दो प्रकार के है-विपन्न, सम्पन्न। रुष्यता ग्रादि जो मिथ्याभिनिवेश-निश्रित है, विपन्न अध्याशय कहलाते हैं। सम्पन्न अध्याशय दो प्रकार के है-वर्त्त, अर्थात् ससारनिश्रित और विवर्त्तनिश्रित । यहाँ विवर्त्तनिश्रित अध्याणय से अभिप्राय है।

सम्पन्न श्रध्याशय छः श्राकार के हैं—श्रलोभ, श्रद्धेष, श्रमोह, नैंप्क्रम्य, प्रविवेक श्रौर निस्सरण। इन छः श्रध्याशयो से बोधि का परिपाक होता है। इसलिए, इनका श्रासेवन श्रावश्यकीय है। इसके श्रतिरिक्त योगी का सकल्प समाधि तथा निर्वाण के लाभ के लिए दृढ होना चाहिए। जब विशेष गुणो से सम्पन्न योगी कर्मस्थान की याचना करता है, तब तो श्राचार्य चर्या की परीक्षा करता है। जो श्राचार्य परिचत-ज्ञानलाभी है, वह चित्ताचार का सूक्ष्म निरीक्षण कर श्राप-ही-श्राप योगी के चरित का परिचय प्राप्त कर लेता है, पर जो इस ऋद्धि-बल से समन्वागत नहीं है, वह विविध प्रश्नो द्वारा योगी की चर्या जानने की चेप्टा करता है।

भाचार्य योगी से पूछता है कि वह कीन-से धर्म है, जिनका तुम प्रायः ग्राचरण करते ही ? क्या करने से तुम सुखी होते हो ? किस कर्मस्थान में तुम्हारा चित्त लगता है ? इस प्रकार, चर्या का विनिण्चय कर ग्राचार्य चर्या के ग्रनुकूल कर्मस्थान का वर्णन करता है। योगी कर्म-स्थान का ग्रर्थ ग्रीर ग्राभिप्राय भली भौति जानने की चेण्टा करता है। वह ग्राचार्य के व्याख्यान को मनोयोग देकर ग्रादरपूर्वक सुनता है। ऐसे ही योगी का कर्मस्थान सुगृहीत होता है।

चर्या के कितने प्रभेद है, किस चर्या का क्या निदान है, कैसे जाना जाय कि श्रमुक मनुष्य ग्रमुक चरितवाला है ग्रीर किस चरित के लिए कौन-से शयनासन ग्रादि उपयुक्त है, इन विषयो पर यहाँ विस्तार से विचार किया जायगा। चर्या का श्रयं है प्रकृति, श्रन्य धर्मों की श्रपेक्षा किसी विशेष धर्म की उत्सन्नता, श्रयति श्रधिकता। चर्या छ है—रागचर्या, द्वेपचर्या, मोहचर्या, श्रद्धाचर्या, बुद्धिचर्या श्रीर वितर्कचर्या। मन्तान मे जब श्रधिक भाव से राग की प्रवृत्ति होती है, तब रागचर्या कही जाती है। कुछ लोग सम्प्रयोग श्रीर मिन्नपातवश रागादि की चार श्रीर चर्याएँ मानते है, जैसे राग-मोहचर्या, राग-द्वेपचर्या, द्वेप-मोहचर्या श्रीर राग-द्वेष-मोहचर्या। इसी प्रकार श्रद्धादि चर्याग्रो के परस्पर सम्प्रयोग ग्रौर मन्निपातवश श्रद्धा-वृद्धिचर्या, श्रद्धा-वितर्क-पर्या, वृद्धि-वितर्कचर्या, श्रद्धा-वृद्धि-वितर्कंचर्या इन चार ग्रपर चर्याग्रो को भी मानते हैं। इस प्रकार, इनके मत मे कुल चौदह चर्याएँ है। यदि हम रागादि का श्रद्धादि चर्याग्रो से सम्प्रयोग करें, तो अनेक चर्याएँ होती हैं। इस प्रकार, चर्याओं की तिरसठ श्रीर इससे भी श्रधिक सख्या हो सकती है। इसलिए, सक्षेप से छ ही मूलचर्या जानना चाहिए। मूलचर्याग्रो के प्रभेद से छ प्रकार के पुद्गल होते है-रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित, वितर्कचरित। जिस समय रागचरित पुरुष की कुशल में, अर्थात् शुभकर्मों मे प्रवृत्ति होती है, उस समय श्रद्धा वलवती होती है। क्योकि, श्रद्धा-गुण राग-गुण का समीपवर्त्ती है। जिस प्रकार श्रकुशल पक्ष में राग की स्निग्धता श्रीर श्ररूक्षता पाई जाती है, उसी प्रकार कुशलपक्ष मे श्रद्धा की स्निग्धता ग्रीर ग्ररूक्षता पाई जाती है। श्रद्धा प्रसाद गुणवण स्निग्ध है भ्रीर राग रजन-गुणवण स्निग्ध है। जिस प्रकार राग काम्य वस्तुक्रो का पर्येषण करता है, उसी प्रकार श्रद्धा शीलादि गुणो का पर्येपण करती है। यथा राग ग्रहित का परित्याग नहीं करता उसी प्रक'र श्रद्धा हित का परित्याग नहीं करती। इस प्रकार, हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न स्वभाव के होते हुए भी रागचरित ग्रीर श्रद्धाचरित की सभागता है।

इसी तरह द्वेपचरित ग्रीर वृद्धिचरित की तथा मोहचरित ग्रीर वितर्कचरित की सभागता है। जिस समय द्वेपचरित पुरुप की कुशल में प्रवृत्ति होती है, उस समय प्रज्ञा वलवती होती है, क्योंकि प्रज्ञा-गुण द्वेप का समीपवर्त्ती है। जिस प्रकार ग्रकुशल पक्ष में द्वप व्यापादवश स्नेहरिहत होता है, ग्रालम्बन में उसकी ग्रामक्ति नहीं होती, उसी प्रकार यथाभूत स्वभाव के ग्रववोध के कारण कुशलपक्ष में प्रज्ञा की ग्रासक्ति नहीं होती। यथा द्वेप ग्रमूत दोष की भी पर्येपणा करती है, उसी प्रकार प्रज्ञा यथाभूत दोष का प्रविचय करती है। यथा द्वेपचरित पुरुष

सत्त्वों का परित्याग करता है, उसी प्रकार बुद्धिचरित पुरुष सस्कारों का परित्याग करता है। इस लिए स्वभाव की विभिन्नता होते हुए भी द्वेषचरित और बुद्धिचरित की सभागता है। जब मोहचरित पुरुष कुशल कर्मों के उत्पाद के लिए यत्नवान् होता है, तब नाना प्रकार के वितर्क और मिथ्या सकल्प उत्पन्न होते हैं, क्यों कि वितर्क-गुण मोह-गुग का समीपवर्त्ती है। जिस प्रकार व्याकुलता के कारण मोह अनवस्थित है, उसी प्रकार नाना प्रकार के विकल्प-परिकल्प के कारण वितर्क अनवस्थित है। जिस प्रकार मोह चचल है, उसी प्रकार वितर्क में चपलता है। इस प्रकार, स्वभाव की विभिन्नता होते हुए भी मोहचरित और वितर्कचरित की सभागता है।

कुछ लोग इन छ चर्याभ्रो के म्रतिरिक्त तृष्णा, मान भ्रौर दृष्टि को भी चर्या मे परिगणित कहते हैं। पर, तृष्णा भ्रौर मान राग के भ्रन्तर्गत हैं भ्रौर दृष्टि मोह के भ्रन्तर्गत है।

इत छ चर्याग्रो का क्या निदान है ? कुछ का कहना है कि पूर्वजन्मो का ग्राचरण श्रीर धातु-दोष की उत्सन्नता पहली तीन चर्याश्रो का नियामक है। इनका कहना है कि जिसने पूर्वजन्मो मे अनेक शुभ कर्म किये है और जो इष्ट-प्रयोग-बहुल रहा है या जो स्वर्ग से च्युत हो इस लोक में जन्म लेता है, वह रागचरित होता है। जिसने पूर्वजन्मों में छेदन, वध, बन्धन म्रादि श्रनेक वैरकर्म किये है या जो निरय या नाग-योनि से च्युत हो इस लोक मे उत्पन्न होता है, वह द्वेषचरित होता है ग्रौर जिसने पूर्वजन्मो में ग्रधिक परिमाण से निरन्तर मद्यपान किया है भीर जो श्रुतविहीन है या जो निकृष्ट पशुयोनि से च्युत हो इस लोक मे उत्पन्न होता है, वह मोहचरित होता है। पृथिवी तथा जलधातु की उत्सन्नता से पुद्गल मोहचरित होता है। तेज और वायुधातु की उत्सन्नता से पुद्गल द्वेषचरित होता है। चारो धातुस्रो के समान भाग में रहने से पुद्गल रागचरित होता है। दोषों में श्लेष्म की अधिकता से पुद्गल रागचरित या मोहचरित होता है, वात की अधिकता से मोहचरित या रागचरित होता है। इन वचनो मे श्रद्धाचर्या श्रादि में से एक का भी निदान नहीं कहा गया है। दोष-नियम में केवल राग श्रीर मोह का ही निदर्शन किया गया है, इनमे भी पूर्वापरिवरोध देखा जाता है। इसी प्रकार, धातुम्रो में उक्त पद्धति से उत्सन्नता का नियम नही पाया जाता । पूर्वीचरण के म्राधार पर जो चर्या का नियमन बताया गया है, उसमे भी ऐसा नहीं है कि सब केवल रागचरित हो या' द्वेष-मोहचरित हो । इसलिए, यह वचन अपरिछिन्न है । अर्थकथाचार्यी के मतानुसार चर्या-विनिश्चय 'उस्सद कित्तन' में इस प्रकार वर्णित है। पूर्वजन्मो मे प्रवृत्त लोभ-ग्रलोभ, द्वेष-श्रद्धेष, मोह-श्रमोह, हेतुवश प्रतिनियत रूप में सत्त्वों में लोभ श्रादि की श्रधिकता पाई जाती है। कर्म करने के समय जिस मनुष्य में लोभ बलवान् होता है श्रीर श्रलोभ मन्द होता है, श्रद्धेष श्रीर श्रमीह बलवान् होते है श्रीर द्वेष-मोह मन्द होते है, उसका मन्द श्रलोभ लोभ को ग्रभिभूत नहीं कर सकता, पर श्रद्धेष-श्रमोह बलवान् होने के कारण, द्वेष-मोह को श्रिभूत करते हैं। इसलिए, जब वह मनुष्य इन कर्मों के वश प्रतिसन्धि का लाभ करता है, तब वह लुब्ध, सुखशील, कोधरहित ग्रीर प्रज्ञावान् होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-द्वेप वलवान् होते है,

श्रलोभ-श्रद्वेप मन्द होते हैं, श्रमोह बलवान् होता है श्रौर मोह मन्द होता है, वह लुच्ध श्रौर दुष्ट, पर प्रज्ञावान् होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-मोह-श्रद्वेप बलवान् होते हैं श्रौर इतर मन्द होते हैं, वह लुच्ध, मन्द बृद्धिवाला, सुखशील श्रौर कोधरिहत होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-द्वेष-मोह बलवान् होते हैं, श्रलोभादि मन्द होते हैं, वह लुच्ध, दुष्ट श्रौर मूढ होता है। कर्म करने के समय जिसके ग्रलोभ-द्वेष-मोह बलवान् होते हैं, इतर मन्द होते हैं, वह श्रलुच्ध, दुष्ट श्रौर मन्द वृद्धिवाला होता है। कर्म करने के समय जिस सत्त्व के श्रलोभ-श्रद्वेष-मोह बलवान् होते हैं, इतर मन्द होते हैं, वह श्रलुच्ध, प्रज्ञवान् होते हैं, इतर मन्द होते हैं, वह श्रलुच्ध, प्रज्ञवान् होते हैं, इतर मन्द होते हैं, वह श्रलुच्ध, प्रज्ञावान् श्रौर दुष्ट होता है। कर्म करने के समय जिसके श्रलोभ, श्रद्वेप श्रौर श्रमोह तीनो बलवान् होते हैं श्रौर लोभ श्रादि मन्द होते हैं वह श्रलुच्ध, श्रदुष्ट श्रौर प्रज्ञावान् होता है।

यहाँ जिसे लुब्ध कहा है, वह रागचरित है, जिसे दुष्ट या मन्द वृद्धिवाला कहा है, वह यथाक्रम द्वेपचरित या मोहचरित है, प्रज्ञावान् बृद्धिचरित है, धलुब्ध, श्रदुष्ट, प्रसन्न प्रकृति-वाला होने के कारण श्रद्धाचरित है। इस प्रकार, लोभादि में से जिस किसी द्वारा धिमसस्कृत कर्मवश प्रतिसन्धि होती है, उसे चर्या का निदान समझना चाहिए।

ग्रव प्रश्न यह है कि किस प्रकार जाना जाय कि यह पुद्गल रागचरित है इत्यादि। इसका निश्चय ईर्यापथ १ (वृत्ति), कृत्य, भोजन दशाँन ग्रादि तथा धर्म-प्रवृत्ति (चित्त की विविध ग्रवस्थाग्रो की प्रवृत्ति) द्वारा होता है।

ईर्यापथ—जो रागचरित होता है, उसकी गित श्रकृतिम, स्वाभाविक होती है, वह चतुरभाव से धीरे-धीरे पद-निक्षेप करता है। वह समभाव से पर रखता है और उठाता है, उसके पादतल का मध्यभाग भूमि का स्पर्भ नहीं करता। जो द्वेपचरित है, वह जब चलता है, तब मालूम होता है, मानो भूमि को खोद रहा है, वह सहसा पर रखता है श्रीर उठाता है। पाद-निक्षेप के समय ऐसा मालूम होता है, मानो पर पीछे की श्रीर खीचता है। मोहचरित की गित व्याकुल होती है। वह भीत पुरुप की तरह पर रखता है श्रीर उठाता है। वह श्रग्रपाद तथा पार्ष्णि से गित को सहसा सन्निरुद्ध करता है। रागचरित पुरुप जब खडा होता है या बैठता है, तब उसका श्राकार प्रमादावह श्रीर मघुर होता है। है पचिरत पुरुप का श्राकार स्तव्ध होता है श्रीर मोहचरित का श्राकुल होता है। रागचरित पुरुप विना त्वरा के श्रपना विछीना ठीक तरह से विछाता है श्रीर धीरे से श्रयन करता है। श्रयन करते समय वह श्रपने ग्रग-प्रत्यग का विक्षेप नहीं करता श्रीर उसका श्राकार प्रामादिक होता है। उठाये जाने पर वह चौंककर नहीं उठता, किन्तु शिकत पुरुप की तरह मृदु उत्तर देता है। ग्रेपचरित पुरुप जल्दी से किमी-न-किमी प्रकार श्रपने विछीने को विछाता है श्रीर श्रवण की तरह श्रपन विक्षेप कर

१. ईर्यापय (पालि = इरियापथ) = चर्या, बृत्ति, विहार । ईर्यापय चार है - गमन, स्थान, निपद्या, श्रीर शयन । (वि० ५)

भृकुटि चढाकर सोता है। उठाये जाने पर सहसा उठता है ग्रीर कुद्ध होकर उत्तर देता है। मोहचरित पुरुष का बिछौना बेतरतीब होता है। वह हाथ-पैर फैलाकर प्राय मुँह नीचा कर सोता है। उठाये जाने पर हुकार करते हुए मन्दभाव से उठता है। श्रद्धाचरितादि पुरुष की वृत्ति रागचरितादि पुरुष के समान होती है, क्यों कि इनकी सभागता है।

कृत्य — कृत्य से भी चर्या का निश्चय होता है। जैसे झाड देते समय रागचरित पुरुष विना जल्दबाजी के झाडू को अच्छी तरह पकड़कर समान रूप से झाड देता है और स्थान को अच्छी तरह साफ करता है। द्वेषचरित पुरुष झाडू को कसकर पकड़ता है और जल्दी-जल्दी दोनों और बालू उड़ाता हुआ साफ करता है और स्थान भी साफ नहीं होता। मोह-चरित पुरुष झाडू को शिथिलता के साथ पकड़कर इधर-उधर चलाता है, स्थान भी साफ नहीं होता। इसी प्रकार अन्य कियाओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। रागचरित पुरुष कार्य में कुशल होता है, सुन्दर तथा समरूप से सावधानता के साथ कार्य करता है। द्वेषचरित पुरुष का कार्य स्थिर, स्तब्ध और विषम होता है और मोहचरित पुरुष कार्य में अनिपुण, व्याकुल, विषम और अयथार्थ होता है। सभागता होने के कारण श्रद्धाचरितादि पुरुषों की वृत्ति भी इसी प्रकार की होती है।

भोजन — रागचरित पुरुष को स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय होता है; वह धीरे-धीरे विविध रसो का ग्रास्वाद लेते हुए भोजन करता है, श्रच्छा भोजन करके उसको प्रसन्नता होती है। द्वेषचरित पुरुष को रूखा श्रीर श्रम्ल भोजन प्रिय होता है, वह विना रसो का स्वाद लिये जल्दी-जल्दी भोजन करता है, यदि वह कोई बुरे स्वाद का पदार्थ खाता है, तो उसे भ्रप्रसन्नता होती है। मोहचरित पुरुष की रुचि ग्रनियत होती है, वह विक्षिप्तचित्त पुरुष की तरह नाना प्रकार के वितर्क करते हुए भोजन करता है। इसी प्रकार, श्रद्धाचरितादि पुरुष की वृत्ति होती है।

दर्शन—रागचरित पुरुष थोडा मनोरम रूप देखकर विस्मित भाव से चिरकाल तक उसका ग्रवलोकन करता है, थोडा भी गुण हो, तो वह उसमें ग्रनुरक्त हो जाता है, वह यथायं दोष का भी ग्रहण नहीं करता। उस मनोरम रूप के पास से हटने की उसकी इच्छा नहीं होती। देषचरित पुरुष थोडा भी भमनोरम रूप देखकर खेद को प्राप्त होता है। वह उसकी ग्रोर देर तक देख नहीं सकता। थोडा भी दोष उसकी निगाह से बचकर नहीं जा सकता। यथायं गुण का भी वह ग्रहण नहीं करता। मोहचरित पुरुष जब कोई रूप देखता है, तब वह उसके विषय में उपेक्षाभाव रखता है, दूसरों को निन्दा करते देखकर निन्दा ग्रीर प्रशसा करते देखकर प्रशसा करता है। श्रद्धाचरितादि पुरुषों की वृत्ति भी इसी प्रकार की होती है।

धर्म-प्रवृत्ति—रागचरित पुरुष मे माया, शाठ्य, मान, पापेच्छा, असन्तोष, चपलता, लोभ, श्रृ गारभाव आदि धर्मों की वहुलता होती है। द्वेपचरित पुरुप मे क्रोध, द्वेष ईर्प्या, मात्सर्य, दम्भ आदि धर्मों की बहुलता होती है। मोहचरित पुरुष में विचिकित्सा, आलस्य, चित्तविक्षेप, चित्त की अकर्मण्यता, पश्चात्ताप, प्रतिनिविष्टता, दृढग्राइ आदि धर्मों की पहुलता होती है। श्रद्धाचरित पुरुष का परित्याग नि सङ्ग होता है; वह ग्रायों के दर्शन की तथा सद्धर्म-श्रवण की इच्छा रखता है, उसमें प्रीति की वहुलता है, वह शठता ग्रीर माया से रहित है, उचित स्थान में वह श्रद्धाभाव रखता है। वृद्धिचरित पुरुष स्निग्धभाषी, मितभोजी ग्रीर कल्याणिमत्र होता है। वह स्मृति-सम्प्रजन्य की रक्षा करता है; सदा जाग्रत् रहता है। ससार का दुख देखकर उसमें सवेग उत्पन्न होता है ग्रीर वह उद्योग करता है। वितर्कचरित पुरुष की कुशलधर्मों में ग्ररित होती है। वह इधर से उधर ग्रालम्बनो के पीछे दौडता है।

चर्या की विभावना का उक्त प्रकार पालि और अर्थकथाओं में विणित नहीं है। यह केवल ग्राचार्य वृद्धघोष के मतानुसार कहा गया है। इसलिए, इसपर पूर्ण रूप से विश्वास नहीं करना चाहिए। द्वेषचिरत पुरुष भी यदि प्रमाद से रहित हो उद्योग करे, तो रागचरित पुरुष की गित ग्रादि का श्रनुकरण कर सकता है। जो पुरुष समृष्टंचरित का है, उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की गित ग्रादि नहीं घटती, किन्तु जो प्रकार श्रथंकथाओं में विणित है, उसका सार रूप से ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार, ग्राचार्य योगी की चर्या को जानकर निश्चय करता है कि वह पुरुष रागचरित है या द्वेप-मोह-चरित है। किस चरित के पुरुष के लिए क्या उपयुक्त है? इस प्रश्न पर हम विचार करेगे। रागचरित पुरुष को तृणकुटी मे, पर्णशाला में, एक ग्रोर ग्रवनत पर्वतपाद के ग्रघोभाग में या वेदिका से घिरे हुए ग्रपरिशुद्ध भूमितल पर निवास करना चाहिए। उसका आवास रज से आकीर्ण, छिन्त-भिन्त, अति उच्च या अति नीच, अपरिशुद्ध, चमगादडों से परिपूर्ण, छायोदकरहित, सिंह-व्याघ्रादि के भय से युक्त, देखने में विरूप ग्रीर दुर्वर्ण होना चाहिए। ऐसा भ्रावास रागचरित पुरुष के उपयुक्त है। रागचरित पुरुष के लिए ऐसा चीवर उपयुक्त होगा, जो किनारो पर फटा हो, जिसके धागे चारो श्रोर से लटकते हो, जो देखने में जालाकार पूए के समान हो जो छूने मे खुरखुरा ग्रीर देखने में भद्दा, मैला श्रीर भारी हो। उसका पान मृत्तिका या लोहे का होना चाहिए। देखने में वदस्रत श्रीर भारी हो, कपाल की तरह, जिसको देखकर घृणा उत्पन्न हो। उसका भिक्षाचर्यों का मार्गे विषम, ग्रमनोरम ग्रौर ग्राम से दूर होना चाहिए। भिक्षाचार के लिए उमे ऐसे ग्राम में जाना चाहिए, जहाँ के लोग उसकी उपेक्षा करे, जहाँ एक कुल से भी जब उसे भिक्षा न मिले. तब लोग ग्रासन-शाला में वुलाकर उमे यवागू भोजन के लिए दें ग्रीर विना पुछे चलते वनें। परोसनेवाले भी दास या भृत्य हो, जिनके वस्त्र मेले भीर वदव्दार हो, जो देखने में द्वंण हो श्रीर जो वेमन से परोसता हो। उसका भोजन रूक्ष, दुवंर्ण श्रीर नीरस होना चाहिए। भोजन के लिए सावाँ, कोदो, चावल के कण, सडा हुआ तक और जीर्ण शाक का सूप होना चाहिए । उसका ईर्यापय स्थान या चक्रमण होना चाहिए, ग्रयीत् उसे या तो खडे रहना चाहिए या टहलना चाहिए। नीलादि वर्ण-क्रमिणो भें जिस मालम्बन का वर्ण श्रपरिणुद्ध हो, वह उमके उपयुक्त हैं।

१ किमण (संस्कृत=क्रस्त=समस्त), किसणदसहैं । ये ध्यान के लाभ में सहायक होते हैं।

द्वेषचिरत पुरुष के शयनासन को न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना चाहिए, उसे छाया और जल से सम्पन्न तथा सुवासित होना चाहिए। उसका भूमि-तल समुज्ज्वल, मृदु, सम और स्निग्ध हो, ब्रह्मविमान के तुल्य सुन्दर तथा कुसुममाला और नानावर्ण के चैल-वितानो से समलकृत हो और जिसके दर्शनमात्न से चित्त को श्राह्लाद प्राप्त हो। उसको श्रमण के अनुरूप हलका सुरक्त और शुद्ध वर्ण का रेशमी या सुक्ष्म क्षौमवस्त्र धारण करना चाहिए। उसका पात्र मणि की तरह चमकता हुआ और लोहे का होना चाहिए। भिक्षाचार का मार्ग भयरहित, सम, सुन्दर तथा ग्राम से न बहुत दूर और न बहुत निकट ही होना चाहिए। जिस ग्राम में वह भिक्षाचर्या के लिए जाय, वहाँ के लोग ग्रादरपूर्वक उसको भोजन के लिए ग्रपने घर पर निमन्त्रित करे और ग्रासन पर बँठाकर ग्रपने हाथ से भोजन करायें। परोसनेवाले पवित्र और मनोज वस्त्र धारण कर, ग्राभरणो से प्रतिमण्डित हो ग्रादर के साथ भोजन परोसे। भोजन वर्ण, गन्ध और रस से सम्पन्न हो और हर प्रकार से उत्कृष्ट हो। ईर्यापथ मे उसके लिए शय्या या निषदा उपयुक्त है, ग्रर्थात् उसे लेटना या वैठना चाहिए। नीलादि वर्ण किसणो मे जो ग्रालम्बन सुपरिशुद्ध वर्ण का हो, वह उसके लिए उपयुक्त है।

मोहचिरत पुरुष का आवास खुले हुए स्थान मे होना चाहिए, जहाँ बैठकर वह सब दिशाओं को विवृत रूप से देख सके। चार ईर्यापयों में से इसके लिए चक्रमण (टहलना) उपयुक्त है, आलम्बनों में शराव-मान या शूर्य-मान क्षुद्व आलम्बन इसके लिए उपयुक्त नहीं है, क्यों कि घिरी जगह में चित्त और भी मोह को प्राप्त होता है। इसलिए, मोहचिरत पुरुष को किसण-मण्डल विपुल होना चाहिए। शोष बातों में मोहचिरत पुरुष, द्वेषचिरत पुरुष के समान है, जो कुछ द्वेषचिरत पुरुष के उपयुक्त बताया गया है, वह सब श्रद्धाचिरत पुरुष के लिए भी उपयुक्त है। आलम्बनों में श्रद्धाचिरत पुरुष के लिए आनुस्मृति-स्थान भी उपयुक्त है। बृद्धिचिरत पुरुष के लिए आवासादि के विषय में कुछ भी अनुपयुक्त नहीं है। वितर्कचिरत पुरुष के लिए दिशाभिमुख, खुला हुआ आवास उपयुक्त नहीं है। क्योंकि, ऐसे स्थान से उसको आराम, वन, पुष्किरणी आदि दिखलाई देगी, जिससे चित्त का विक्षेप होगा और वितर्क की वृद्धि होगी। इसलिए, उसे गम्भीर पर्वत-विवर में रहना चाहिए। इसके लिए विपुल आलम्बन भी उपयुक्त न होगा, क्योंकि यह भी वितर्क की वृद्धि में हेतु होगा। उसका आलम्बन क्षुद्व होना चाहिए। शोष बातों में वितर्कचरित पुष्ठष रागचरित पुष्ठ के समान है।

श्राचार्य को चर्या के श्रनुकूल कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में ऊपर सक्षेप में ही कहा गया है। श्रब विस्तार से कहा जायगा।

श्र अनुस्मृति-स्थान — 'श्र नुस्मृति' का श्रथ हैं 'वार-बार स्मरण' श्रथवा 'श्र नुरूप स्मृति'। जो स्मृति उचित स्थान में प्रवित्ति होती है, वह योगी के श्र नुरूप होती है। श्र नुरमृति
 के दस विषय हैं। इन्हें श्र नुस्मृति-स्थान कहते हैं।

कर्मस्थान चालीस है। वह इस प्रकार है--दम 'किमण', दस प्रशुभ, दस प्रनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, चार श्रारूप्य, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान।

'किसण' योग-कर्म के सहायक ग्रालम्बनो में से है। श्रावक 'किसण' मालम्बनो की भावना करते हैं। 'किसणो' (= कृत्स्न) पर चित्त को एकाग्र करने से ध्यान की समाप्ति होती है। इस अभ्यास को 'किसण कम्म' कहते हैं। 'किसण' दस है। विशुद्धिमार्ग के मनुसार 'किसण' इस प्रकार है—पृथ्वीकिसण, ग्रप्क॰, तेजक॰, वायुक॰, नीलक॰ पीतक॰, लोहितक॰, ग्रावतक॰, ग्रालोकक॰, परिच्छन्नाकाशक॰। मिण्झम तथा दीघनिकाय की सूची में ग्रालोक ग्रीर परिच्छन्नाकाश के स्थान में ग्राकाश ग्रीर विज्ञान परिगणित है।

ग्रशुभ दस है— उद्धुमातक (भायी की तरह फूला हुग्रा मृत शरीर), विनीलक (मृत शरीर सामान्यतः नीला हो जाता है), विपुव्वक (जिसके भिन्न स्थानो से पीप विस्यन्दमान होती है), विच्छिद्दक (द्विधा छिन्न शवशरीर), विक्खायितक (वह शव, जिसे कुत्ते ग्रीर शृगालो ने स्थान-स्थान पर विविध रूप से खाया हो), विक्खित्तक (वह शव, जिसके ग्रग इधर-उधर छितरें पडे हो), हतविक्खित्तक (वह शव, जिसके ग्रग -प्रत्यग शस्त्र से काटकर इधर-उधर छितरा दिये गये हो), लोहितक (रक्त से सनी लाश), पुलुवक (कृमियो से परिपूर्ण शव) ग्रीर प्रद्विक (ग्रस्थिपजर-मात्र)।

श्चनुस्मृति दस है—वुद्धानु॰, धर्मानु॰, सघानु॰, शीलानु॰, त्यागानु॰, देवतानु॰, कायगतास्मृति, मरणानुस्मृति, श्चानापानस्मृति, उपशमानुस्मृति । मैत्नी, करुणा, उपेक्षा ये चार ब्रह्मविहार है । श्चाकाशानन्त्यायन, विज्ञानानन्त्यायतन, श्चाकिचन्यायतन, नैवसज्ञाना-सज्ञायतन ये चार श्चारूप्य है । श्वाहार में प्रतिकूल सज्ञा एक सज्ञा है । चार धातुग्रो का व्यवस्थान एक व्यवस्थान है ।

समाधि के दो प्रकार है— उपचार श्रीर श्रवंणा<sup>3</sup>। जवतक ध्यान क्षीण रहता है भौर स्रवंणा की उत्पत्ति नहीं होती, तवतक उपचार-समाधि का व्यवहार होता है। उपचार-भूमि में नीवरणों का प्रहाण होकर चित्त समाहित होता है। पर वितर्क, विचार श्रादि पांच श्रगों का प्रादुर्भाव नरी होता। जिस प्रकार ग्राम का समीपवर्ती प्रदेश ग्रामोपचार कहलाता है, उसी प्रकार श्रवंणा-समाधि के समीपवर्ती होने के कारण उपचार सज्ञा पड़ी। उपचार-भूमि में भग मजबूत

१ तुलना कीजिए- प्रच्छदंनिवधारणाभ्या वा प्रायस्य।" (योगदर्शन, समाविषाद, मू० ३४)

२ तुलना कीजिए—मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां मुखदु-खपुग्यापुग्यविषयाणां भावनातिश्वतः प्रसादनम् ।'' (योगदरांन, समाधिपाद, स्० ३३)

अप्रेणा (पालि = 'अप्पना') ' सम्पयुत्तवम्मे आरम्मणे अप्पेन्तो विय पवत्ततीति वितवको अप्पना ।' (परमत्यमञ्जूसाटीका )

नहीं होते; पर अर्पणा में अगो का प्रादुर्भाव होता है और वे सुदृढ हो जाते हैं। इसलिए, यह समाधि की प्रतिलाभ-भूमि है। जिस प्रकार बालक जब खडे होकर चलने की कोशिश करता है, तब म्रारम्भ में भ्रभ्यास न होने के कारण खडा होता है भ्रौर फिर बार-बार गिर पडता है, उसी प्रकार उपचार-समाधि के उत्पन्न होने पर चित्त कभी निमित्त को श्रालम्बन बनाता है, तो कभी भवाग मे अवतीर्ण हो जाता है। पर, अर्पणा मे अग सुदृढ हो जाते है , सारा दिन, सारी रात, चित्त स्थिर रहता है। चालीस कर्मस्थानो में से दस कर्मस्थान- -बुद्ध-धर्म-सघ-शील-त्याग-देवता ये छ अनुस्मृतियाँ मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार के विषय मे प्रतिकूल सज्ञा और चतुर्धातु -व्यवस्थान--उपचार-समाधि का और बाकी तीस अर्पणा-समाधि का श्रानयन करते है । जो कर्मस्यान अर्पणा-समाधि का श्रानयन करते है , उनमे से दस 'किसण' ग्रौर ग्राना-पानस्मृति चार ध्यानो के ग्रालम्बन होते है, दस ग्रशुभ ग्रौर कायगतास्मृति प्रथम ध्यान के म्रालम्बन है। पहले तीन ब्रह्म-विहार तीन ध्यानो के भीर चौथा ब्रह्म-विहार भीर चार ग्रारूप्य चार ध्यानो के ग्रालम्बन है। पहले ध्यान के पाँच ग्रग होते हैं — वितर्क, विचार प्रीति, सुख, एकाग्रता (समाधि)। इसे सवितर्क-सविचार कहते है। ध्यानो की परिगणना दो प्रकार से है। चार ध्यान या पाँच ध्यान माने जाते हैं। पाँच की परिगणना के दूसरे ध्यान में वितर्क का श्रतिक्रम होता है, पर विचार रह जाता है। इसे श्रवितर्क-विचार-मात्र कहते हैं। पर चार की परिगणना के द्वितीय ध्यान में श्रौर पाँच की परिगणना के तृतीय ध्यान में वितर्क श्रीर विचार दोनो का श्रतिक्रम होता है, केवल प्रीति, सुख श्रीर समाधि सव-शिष्ट रह जाते हैं। पाँच की परिगणना के चतुर्थ ध्यान में श्रीर चार की परिगणना के तृतीय ध्यान में प्रीति का स्रतिक्रमण होता है, केवल सुख स्रौर समाधि अवशिष्ट रह जाते हैं। दोनो प्रकार के श्रन्तिम ध्यान में सुख का श्रतिकम होता है। श्रन्तिम ध्यान की समाधि उपेक्षा-सहगत होती है।

इस प्रकार, तीन ग्रौर चार ध्यानो के ग्रालम्बन-स्वरूप कर्मस्थानो में ही ग्रग का समित-कम होता है, क्यों कि वितर्क-विचारादि ध्यान के ग्रगो का ग्रितिकम कर उन्ही ग्रालम्बनो में द्वितीयादि ध्यानो की प्राप्ति होती है। यही कथा चतुर्थ ब्रह्म-विहार की है। मैं त्री ग्रादि ग्राल-म्बनो में सौमनस्य का ग्रितिकमण कर चतुर्थ ब्रह्म-विहार में उपेक्षा की प्राप्ति होती है। चार ग्रारूप्यो में ग्रालम्बन का समितिकम होता है। पहले नौ किसणो में से किसी-किसी का ग्रितिकमण करने से ही ग्राकाशानन्त्यायतन की प्राप्ति होती है। ग्राकाश ग्रादि का ग्रितिकमण कर विज्ञानानन्त्यायतन ग्रादि की प्राप्ति होती है। शेष, ग्रर्थात् इक्कीस कर्मस्थानो में समितिकम नहीं होता। इस प्रकार, कुछ में ग्रग का ग्रितिकमण ग्रौर कुछ में ग्रालम्बन का ग्रितिकमण होता है।

इन चालीस कर्मस्थानों में से केवल दस किसणों की वृद्धि करनी चाहिए। क्योंकि जितना स्थान किसण द्वारा व्याप्त होता है, उतने ही अवकाश में दिव्य श्रोत्न से शब्द मुना जाता है, दिव्य चक्षु से रूप देखें जा सकते हैं और परिचत्त का ज्ञान हो सकता है। पर, कायगता स्मृति और दस अशुभों की वृद्धि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि, इससे कोई लाभ नहीं है। यह परिच्छिन्नाकार में ही उपस्थित होते हैं। इसलिए इनकी वृद्धि से कोई अर्थं नहीं निकलता। इनकी वृद्धि किये विना भी काम-राग का ध्वस होता है। शेप कर्मस्थानों की भी वृद्धि नहीं करनी चाहिए। उदाहरण के लिए, जो आनापान-निमित्त की वृद्धि करता है, वह वातराशि की ही वृद्धि करता है. और अवकाश भी परिच्छिन्न होता है। चार ब्रह्म-विहारों के आलम्बन सत्त्व हैं। इनमें निमित्त की वृद्धि करने से मत्त्व-राशि की वृद्धि होती है और उससे कोई उपकार नहीं होता। कोई प्रतिभाग-निमित्त नहीं है, जिसकी वृद्धि की जाय। आरूप्य आलम्बनों में भी आकाश की वृद्धि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि किसण के अपगम से ही आरूप्य की प्राप्ति होती है। विज्ञान और नैवसज्ञानासज्ञायतन स्वभाव-धर्म है, इसलिए इनकी वृद्धि सम्भव नहीं है। शेप की वृद्धि इसलिए नहीं हो सकती, क्योंकि यह अनिमित्त है। वृद्धानुस्मृति आदि का आलम्बन प्रतिभाग-निमित्त नहीं है। इसलिए, इनकी वृद्धि नहीं करनी चाहिए।

दम किसण, दस श्रशुभ, श्रानापान-स्मृति, कायगतास्मृति, केवल इन वाईस कर्मस्थानो के श्रालम्बन प्रतिभाग-निमित्त होते हैं। शेष श्राठ स्मृतियाँ, श्राहार के विषय में प्रतिकूल-सज्ञा श्रीर चतुर्घातु-व्यवस्थान, विज्ञानानन्त्यायतन, नैवसज्ञानासज्ञायतन इन वारह कर्मस्थानों के श्रालम्बन स्वभाव-धर्म हैं। उक्त दम किसण श्रादि वाइस कर्मस्थानों के श्रालम्बन-निमित्त हैं। शेष छ — चार ब्रह्म-विचार, श्राकाशानन्त्यायतन श्रीर श्राकिञ्चन्यायतन के सम्बन्ध में न यही कहा जा सकता है कि वह स्वभाव-धर्म हैं।

विपुल्वक, लोहितक, पुलवक, ग्रानापान-म्मृति, ग्रप्किसण, तेजकिसण, वायुकिसण ग्रीर ग्रालोककिसणो में मूर्यादि से जो ग्रवभास-मण्डल ग्राता है—इन ग्राठ कर्मस्थानो के ग्रालम्बन चिलत है, पर प्रतिभाग-निमित्त स्थिर है। ग्रेष कर्मस्थानो के ग्रालम्बन स्थिर है।

मनुष्यो में सब श्रालम्बनो की प्रवृत्ति होती है। देवताश्रो मे दस श्रशुभ कायगता-स्मृति श्रौर श्राहार के विषय मे प्रतिकूल-सज्ञा इन वारह श्रालम्बनो की प्रवृत्ति नही होती। ब्रह्मलोक में वारह उक्त श्रालम्बन तथा श्रानापान-स्मृति की प्रवृत्ति नही होती।

वायु-किसण को छोडकर वाकी नौ किसण और दस अशुभ का ग्रहण दृष्टि द्वारा होता है। इसका अर्थ यह है कि पहले चक्षु से वार-वार देखने से निमित्त का ग्रहण होता है। कायगतास्मृति के आलम्बन का ग्रहण दृष्टि-श्रवण से होता है, क्योंकि त्वक्पच का ग्रहण दृष्टि से और शेप का श्रवण से होता है। आनापान-स्मृति स्पर्ण से, वायु-किसण दर्शन-स्पर्ण से, शेप ग्रहारह श्रवण से गृहीत होते है। भावना के आरम्भ मे योगी उपेक्षा, ब्रह्म-विहार और चार श्रारूप्यों का ग्रहण नहीं कर सकता, पर शेप चौतीस आलम्बनों का ग्रहण कर सकता है।

ग्राकाश-किमण को छोडकर णेप नौ किसण ग्रारूप्यों में हेतु है, दण किसण ग्रिभिज्ञा में हेतु है, पहले तीन ब्रह्म-विहार चतुर्थ ब्रह्म-विहार में हेतु है, नीचे का ग्रारूप्य ऊपर के

 <sup>(</sup>धर्मसग्रह)—''पन्चामित्रा दिन्यचक्षु दिन्ययोत्र परचित्तदान पूर्वनिवासानुस्मृतिक ढिरचेित'।'
— 'श्रमित्रा' श्रिषक ज्ञान को कहते हैं।

ग्रारूप्य में हेतु है, नैवसज्ञानासज्ञायतन निरोध-समापत्ति मे हेतु है, ग्रीर सव कर्मस्थान सुख-विहार, विपश्यना ग्रीर भव-सम्पत्ति में हेतु है।

रागचरित पुरुष के ग्यारह कर्मस्थान—दस अशुभ और कायगता स्मृति—अनुकूल है, हेषचरित पुरुष के आठ कर्मस्थान—चार ब्रह्म-विहार और चार वर्ण-किसण—अनुकूल है, मोह और वितर्कचरित पुरुष के लिए एक आनापान-स्मृति ही अनुकूल है, श्रद्धाचरित पुरुष के लिए पहली छः अनुस्मृतियाँ, बुद्धिचरित पुरुष के लिए यरण-स्मृति, उपशमानुस्मृति, चतु-धातु-व्यवस्थान और आहार के विषय मे प्रतिकूल-सज्ञा यह कर्मस्थान अनुकृल है। शेष किसण और चार आरूप्य सब चरित के पुरुषों के लिए अनुकृल है। किसणों में जो क्षुद्र है, वह वितर्कचरित पुरुष के लिए और जो अप्रमाण है, वह मोहचरित पुरुष के अनुकूल है। जिसके लिए जो कर्मस्थान अत्यन्त उपयुक्त है, उसका उल्लेख अपर किया गया है। ऐसी कोई कुशलभावना नही है, जिसमे रागादि का परित्याग न हो और जो श्रद्धादि की उपकर्ज्ञी न हो।

भगवान् मेधिय-सुत्त मे कहते हैं कि इन चार धर्मों की भावना करनी चाहिए—राग के नाश के लिए अशुभ-भावना, व्यापाद के नाश के लिए मैती-भावना, वितर्क के उपच्छेद के लिए आनापान-स्मृति की भावना और अहकार-ममकार के समुद्धात के लिए अनित्य-सज्ञा की भावना। भगवान् ने राहुल-सुत्त मे एक के लिए सात कर्मस्थानों का उपदेश किया है। इमलिए, वचन-मात्र मे अभिनिवेश न रखकर सब जगह अभिप्राय की खोज होनी चाहिए।

दस किसणों का ग्रहण कर भावना किस प्रकार की जाती है ग्रीर ध्यानों का उत्पाद कैसे होता है, इसपर ग्रव विस्तार से विचार करेंगे।

#### कसिण-निर्देश

पृथ्वी-कसिण—योगी को कल्याणिमत्न के समीप श्रपनी चर्या के श्रनुकूल किसी कर्मस्थान का ग्रहण कर समाधि-भावना के श्रनुपयुक्त विहार का परित्याग कर श्रनुरूप विहार में वास करना चाहिये श्रीर भावना-विधान का किसी श्रश में भी परित्याग न कर कर्मस्थान का श्रासेवन करना चाहिए।

जिस विहार में ग्राचार्य निवास करते हो, यदि वहाँ समाधि-भावना की सुविधा हो, तो वही रहकर कर्मस्थान का सशोधन करना चाहिए। यदि ग्रसुविधा हो, तो ग्राचार्य के विहार से ग्रिधक-से-ग्रिधक एक योजन की दूरी पर निवास करना चाहिए। यदि किसी विषय में सन्देह उपस्थित हो, या स्मृति-समोष हो, तो विहार का दंनिक कृत्य सम्पादन कर ग्राचार्य के समीप जाकर गृहीत कर्मस्थान का सणोधन करना चाहिए। यदि एक योजन के भीतर भी कोई उपयुक्त विहार न मिले, तो सब प्रकार के सन्देहों का निराकरण कर कर्मरथान के ग्रथं ग्रीर ग्रिभप्राय को भलीभाँति प्रकार चित्त में प्रतिष्ठत कर कर्मस्थान को सुविगुद्ध करना चाहिए। तदनन्तर, दूर भी जाकर समाधि-भावना के ग्रनुरूप स्थान में निवास करना चाहिए। ग्रहारह दोषों में से किसी एक से भी समन्वागत विहार समाधि-भावना के ग्रनुरूप नहीं होता।

सामान्यत , योगी को महाविहार, नवविहार, जीर्णविहार, राजपथ-समीपवर्ती विहार ग्रादि में निवास नहीं करना चाहिए।

महाविहार में नाना प्रकार के भिक्षु निवास करते हैं। ग्रापस के विरोध के कारण विहार का दैनिक कृत्य भली भाँति मम्पादित नहीं होता। जब योगी भिक्षा के लिए वाहर जाता है ग्रीर यदि वह देखता है कि कोई काम करने से रह गया है, तो उसे उस काम को स्वय करना पडता है। न करने से वह दोप का भागी होता है ग्रीर यदि करे, तो ममय नष्ट होता है, विलम्ब हो जाने से उसको भिक्षा भी नहीं मिलती। यदि वह किसी एकान्त स्थान में बैठकर समाधि की भावना करना चाहता है, तो श्रामणेर ग्रीर तरुण भिक्षुग्रों के शोर के कारण विक्षेप उपस्थित होता है।

जीर्णविहार में अभिसस्कार का काम वरावर लगा रहता है। राजपथ के समीपवर्ती विहार में दिनरात आगन्तुक आया करते हैं। यदि विकाल में कोई आया, तो अपना शयनासन भी देना पडता है। इसलिए वहाँ कर्मस्थान का अवकाश नहीं मिलता। यदि विहार के समीप पुष्किरणी हुई, तो वहाँ निरन्तर लोगों का जमघट रहा करता है। कोई पानी भरने आता है तो कोई चीवर धोने और रँगने आता है। इस प्रकार, निरन्तर विक्षेप हुआ करता है। ऐमा विहार भी अनुपयुक्त है, जहाँ नाना प्रकार के शाक, पर्ण, फल या फूल के वृक्ष हो, वहाँ भी निवाम नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे स्थानों पर फल-फूलों के अर्थी निरन्तर आया-जाया करते हैं, न देने पर कुपित होते हैं, कभी-कभी जवरदस्ती भी करते हैं, और समझाने-वृझाने पर नाराज होते हैं और उस भिक्षु को विहार से निकालने की चेष्टा करते हैं।

किसी लोक-सम्मत स्थान में भी निवाम न करना चाहिए। क्योंकि, ऐसे प्रमिद्ध स्थान में यह समझकर कि यहाँ ग्रहंत् निवाम करते हैं, लोग दूर-दूर से दर्शनार्थ ग्राया करते हैं। इससे विक्षेप होता है। जो विहार नगर के समीप हो, वह भी ग्रनुरूप नहीं है, क्योंकि वहाँ निवाम करने से कामगुणोपमहित हीन शब्द कर्णगोचर होने रहते हैं ग्रौर ग्रमदश ग्रालम्बन दृष्टिपय में ग्रापितत होने हैं। जिम विहार में वृक्ष होते हैं, वहाँ काष्ठहारक लकड़ी काटने ग्राते हैं, जिमसे घ्यान में विक्षेप होता है। जिम विहार के चारों ग्रोर खेत हो, वहाँ भी निवास न करना चाहिए। क्योंकि, विहार के मध्य में किमान खिनहान बनाते हैं, धान पीटते हैं ग्रौर तरह-तरह के विघ्न उपस्थित करते हैं। जिस विहार में वड़ी जायदाद लगी हो, वहाँ भी विक्षेप हुग्रा करता है। लोग तरह-तरह की शिकायतें लाते हैं ग्रौर समय-ममय पर राजद्वार पर जाना पडता है। जिम विहार में ऐसे भिक्षु निवाम करते हो, जिनके विचार परम्पर न मिलते हो ग्रौर जो एक दूमरे के प्रति वैरमाव रखने हो, वहाँ सदा विघ्न उपस्थित रहता है, वहाँ भी नही रहना चाहिए।

योगी को दोपों से युक्त विहार का परित्याग कर ऐसे विहार में निवास करना चाहिए, जो भिक्षाग्राम से न बहुत दूर हो, न बहुत समीप, जहाँ ग्राने-जाने की सुविधा हो, जहाँ दिन में लोगों का सघट्ट न हो, जहाँ राित में बहुत शब्द न हो ग्रार जहाँ हवा, धूप, मच्छड, खटमल, साँप ग्रादि रेंगनेवाले जानवरों की वाधा न हो, ऐसे विहार में सूब ग्रीर विनय के जाननेवाले भिक्षु निवास करते हैं। योगी उनसे प्रश्न करता है श्रीर वह उसके सन्देहों को दूर करते हैं।

ग्रनुरूप विहार में निवास करते हुए योगी को पहले क्षुद्र ग्रन्तरायों का उपच्छेद करना चाहिए। ग्रर्थात्, यदि चीवर मैला हो, तो उसे फिर से रँगवाना चाहिए, यदि पात मैला हो, तो उसे शुद्ध करना चाहिए, यदि केश ग्रीर नख बढ गये हो, तो उनको कटवाना चाहिए ग्रीर यदि चीवर जीर्ण हो गया हो, तो उसको सिलवाना चाहिए। इस प्रकार, क्षुद्र ग्रन्तरायों का उपच्छेद करना चाहिए।

भोजन के उपरान्त थोड़ा विश्राम कर एकान्त स्थान में पर्य कबद्ध हो सुखपूर्वक बैठकर प्राकृतिक ग्रथवा कृतिम पृथ्वी-मण्डल में भावना-ज्ञान द्वारा पृथ्वी-निमित्त का ग्रहण करना चाहिए, ग्रथीत् पृथ्वी-मण्डल की ग्रोर बार-बार देखकर चक्षुनिमीलन के द्वारा पृथ्वी-निमित्त को मन में ग्रच्छी तरह धारण करना चाहिए, जिसमें पुनरवलोकन के क्षण में ही वह निमित्त उपस्थित हो जाय।

जो पुण्यवान् है श्रीर जिसने पूर्वजन्म मे श्रमण-धर्म का पालन करते हुए पृथ्वीकिसण नामक कर्मस्थान की भावना कर ध्यानो का उत्पाद किया है, उसके लिए कृतिम
पृथ्वी-मण्डल के उत्पादन की श्रावश्यकता नहीं है। वह खलमण्डलादिक प्राकृतिक पृथ्वीमण्डल में ही निमित्त का ग्रहण कर लेता है। पर जिसको ऐसा ग्रधिकार प्राप्त नहीं है
उसे चार किसण-दोपो का परिहार करते हुए कृतिम पृथ्वी-मण्डल बनाना चाहिए। नील,
पीत, लोहित श्रीर श्रवदात (श्वेत) के ससर्गवश पृथ्वी-किसण में दोष प्राप्त हो जाते हैं।
नीलादि वर्ण दस किसणों में परिगणित हैं। इनके ससर्ग से शुद्ध पृथ्वी-किसण का उत्पाद नहीं
होता। इसीलिए इन वर्णों की मृत्तिका का परित्याग बताया गया है। श्रत, पृथ्वी-मण्डल
बनाते समय नीलादि वर्ण की मृत्तिका का ग्रहण न कर गगा नदी की श्ररुण वर्ण की मृत्तिका
काम में लानी चाहिए।

विहार में जहाँ श्रामणेर ग्रादि श्राते-जाते हो, वहाँ मण्डल न बनाना चाहिए। विहार के प्रत्यन्त में, प्रच्छन्न स्थान मे, गुहा या पर्णशाला मे, पृथ्वी-मण्डल बनाना चाहिए। यह मण्डल दो प्रकार का होता है—१ चल (पालि सहारिम = चलनयोग्यम्) ग्रीर २ ग्रचल (पालि = तबहुक)। चार दण्डो में कपडा, चमडा या चटाई बाँधकर उसमे साफ की हुई मिट्टी का नियत प्रमाण का वृत्त (वर्त्तुल) लीप देने से चल-मण्डल बनता है। भावना के समय यह भूमि पर फैला दिया जाता है। पद्मकर्णिका के ग्राकार में स्थाणु गाडकर लताग्रो से उसे वेष्टित कर देने से ग्रचल-मण्डल बनता है। यदि ग्रक्ण वर्ण की मृत्तिका पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो सके, तो श्रधोभाग में एक दूसरे तरह की मिट्टी डालकर ऊपर के हिस्से में सुपरिशुद्ध ग्रक्ण वर्ण की मृत्तिका का एक बालिश्त चार ग्रगुल के विस्तार का वत्त बनाना चाहिए।

प्रमाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि वृत्त शूर्पमाल हो ग्रथवा भरावमाल। कुछ लोगों के मत में इन दोनों का सम-प्रमाण है, पर कुछ का कहना है कि शराव ( = प्याला ) एक वालिश्त चार अगुल का होता है और शूर्ण का प्रमाण इससे अधिक है। इनके मत में वृत्त को णराव से कम और शूर्ण से अधिक प्रमाण का न होना चाहिए। इस वृत्त को पत्यर से धिसकर मेरि-तल के सदृश सम करना चाहिए। स्थान साफ कर और स्नान कर मण्डल से ढाई हाथ के फासले पर एक वालिश्त चार अगुल ऊँचे पैरोवाले पीढे पर वैठना चाहिए। इससे अधिक फासले पर बैठने से मण्डल नही दिखलाई देगा अौर यदि इससे नजदीक बैठा जाय, तो मण्डल के दोष देखने में आयेगे। यदि उक्त प्रमाण से अधिक ऊँचे आसन पर वैठा जाय, तो गरदन झकाकर देखना पड़ेगा और यदि इससे भी नीचे आसन पर बैठा जाय, तो घूटने दर्द करने लगेंगे। इसलिए उक्त प्रकार के आसन पर ही बैठना चाहिए।

काम का दोष देखकर ग्रौर ध्यान के लाभ को ही सब दु खो के ग्रतिक्रमण का उपाय निश्चित कर नैष्क्रम्य के लिए प्रीति उत्पन्न करनी चाहिए। बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध ग्रौर ग्रार्यश्रावको ने इसी मार्ग का ग्रनुगरण किया है। में भी इसी मार्ग का ग्रनुगामी हो एकान्त-सेवन के सुख का ग्रास्वाद करूँगा, ऐसा विचार कर उसे योग-साधन के लिए उत्साह पैदा करना चाहिए। ग्रीर सम ग्राकार से चक्षु का उन्मीलन कर निमित्त-ग्रहण (पालि=उग्गहनिमित्त²) की भावना करनी चाहिए। जिस प्रकार ग्रतिस्थम ग्रौर ग्रतिभास्वर रूप के ध्यान से ग्रौंखे थक जाती है, उसी प्रकार ग्रति उन्मीलन से ग्रौंखे थक जाती है, उसी प्रकार ग्रति उन्मीलन से ग्रौंखे थक जाती है ग्रौर मण्डल का रूप भी ग्रत्यन्त प्रकट हो जाता है, ग्रयात् उसके स्वभाव का ग्रत्यन्त ग्राविभाव होता है तथा उमके वर्ण ग्रौर लक्षण ग्रधिक स्पष्ट हो जाते हैं ग्रौर इस प्रकार निमित्त का ग्रहण नही होता। मन्द उन्मीलन से मण्डल का रूप दिखाई नही देता ग्रौर दर्णन के कार्य में चित्त का व्यापार मन्द हो जाता है; इसलिए निमित्त का ग्रहण नही होता। ग्रत, सम ग्राकार से ही चक्षु का उन्मीलन करना चाहिए।

पृथ्वी-किसण के अरुण वर्ण का चिन्तन और पृथ्वी-धातु के लक्षण का ग्रहण न करना चाहिए। यद्यपि वर्ण का चिन्तन मना है, तथापि पृथ्वी-धातु की उत्सन्ततावश वर्ण-सहित पृथ्वी की भावना एक प्रज्ञप्ति के रूप में करनी चाहिए। इस प्रकार, प्रज्ञप्तिमात्र में चित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। लोक में सम्भार-महित पृथ्वी को 'पृथ्वी' कहने है। पृथ्वी, मर्री, मेदिनी, भूमि, वसुधा, वसुन्धरा आदि पृथ्वी के नामों में से जो नाम योगी को पसन्द हो, उस नाम का उच्चारण

( अभिधम्मत्य संगत्तो, ६।१७ )

९ "मुण्यसरावानि समण्यमायानि इच्छितानि, केचि पन बदन्ति—सरावमत्त विद्रियचतुरग्ल होति, मुण्यमत्त ततो अधिकष्पमायान्ति । कित्तिम किस्यमण्डल हेटि्रमपरिच्छेटेन सरावमत्तं उपरिम-परिच्छेदेन मुण्यमत्त , न ततो अधो उद्ध वाति परितह्यमाणामेदसग्राण्यस्यं 'मुण्यमत्ते वा सगवमत्ते वा' ति वृत्तन्ति । यथांपटि्रते आरम्मणे ण्कगुलमत्तिम् षष्ट्रित अष्पमाणमेवाति । वृत्तो वायमस्यो केचि पन छत्तमत्तिम्प किस्णमण्डल कालच्यन्ति वटन्ति ।" (परमत्यमञ्जूसा टीका)

२ ''यदा पन न निमित्त चित्तोन समुगाहित होति, चनयुना पस्सन्तरसेव मनोद्वारस्स भाषायमागत, तदा तमेव श्रारममण् उगहनिमित्तं नाम । साच भावना समाधियति ।

करना चाहिए। पर पृथ्वी नाम ही प्रसिद्ध हैं, इसलिए पृथ्वी नाम का ही उच्चारण कर भावना करनी अच्छी है। कभी आँख खोलकर, कभी आँख मूँ दकर, निमित्त का ध्यान करना चाहिए। जबतक निमित्त का उत्पादन नहीं होता, तबतक इसी प्रकार भावना करनी चाहिए। जब भावना-वश आँखें मूँ दने पर उसी तरह जैसा आँखें खोलने पर निमित्त का दर्शन हो, तब समझना चाहिए कि निमित्त का उत्पाद हुआ है। निमित्तोत्पाद के बाद उस स्थान पर न वैठना चाहिए। अपने निवास-स्थान में बैठकर भावना करनी चाहिए। यदि किसी अनुपयुक्त कारण-वश इस तरुण समाधि का नाश हो जाय, तो शोघ्र उस स्थान पर जाकर निमित्त का ग्रहण कर अपने वास-स्थान पर लौट आना चाहिए और बहुलता के साथ इस भावना का आसेवन और बार-बार चित्त में निमित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। ऐसा करने से कमपूर्वंक नीवरण, अर्थात् अन्तरायों का नाश और क्लेशों का उपशम होता है।

भावना-क्रम से जब श्रद्धा ग्रादि इन्द्रियाँ भुविशद ग्रौर तीक्ष्ण हो जाती है, तब कामादि दोष का लोप होता है ग्रौर उपचार-समाधि में चित्त समाहित हो प्रतिभाग-निमित्त का प्रादुर्भाव होता है। प्रतिभाग-निमित्त, उद्ग्रह-निमित्त (पाली = उग्गहनिमित्त ) में से कई-गुना ग्रधिक सुपरिशुद्ध होता है। उद्ग्रह-निमित्त में किसण-दोष (जैसे उँगली की छाप) दिखलाई पडते है, पर प्रतिभाग-निमित्त भास्वर ग्रौर स्वच्छ होकर निकलता है। प्रतिभाग-निमित्त कास्वर ग्रौर स्वच्छ होकर निकलता है। प्रतिभाग-निमित्त वर्ण ग्रौर ग्राकार (सस्थान) से रिहत होता है। यह चक्षु द्वारा ज्ञेय नही है, यह स्थूल पदार्थं नही है ग्रौर ग्रनित्यता ग्रादि लक्षणों से ग्रकित नहीं है। केवल समाधि-लाभी को यह उपस्थित होता है ग्रौर भावना-सज्ञा से इसका उत्पाद होता है। इसकी उत्पत्ति के

१ इन्द्रिय पाँच हैं—समाधि, वीर्य, श्रद्धां, प्रद्धा श्रीर स्मृति । क्लेश के उपराम में इनका श्राधिपत्य होने के कारण इनकी इन्द्रिय सन्ना है.

वास्तव में २२ इन्द्रियों हैं । इनमें से पाँच का यह सम्रह प्रसिद्ध है—"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक-मितरेषाम् ।" (योगस्त्र, १।२०)। विशुद्धिमार्गं में इन पाँच इन्द्रियों का इत्य इस प्रकार दिखाया गया है—"सद्धादीन पटिपक्खामिभवन सम्पयुत्तधम्मानन्च पसन्नाकारादिभावसम्पापन ।" (पृ० ४६३)।

<sup>&#</sup>x27;श्रद्धा' 'चित्त के सम्प्रसाद' को कहते हैं, 'वीर्य' का श्रर्घ 'उत्साह' है श्रनुभूत विषय के भ्रसम्प्रमीय को 'स्मृति' कहते हैं, 'समाधि' चित्त की एकाग्रता को कहते हैं श्रीर 'प्रशा' उसे कहते हैं, जिसके द्वारा यथाभूत वस्तु का शान होता है।

२ ''तया समाहितस्स पनेतस्स ततो पदं तिस उग्गहिनिमित्तो परिकम्मसमाधिना भावनमनुयुजन्तस्स यदा तप्पिट्टिमागं वत्थुधम्मिवमुच्चित पत्तिसखातं भावनाभयमारम्मणं चित्तो सिनिसिन्न समिवि होति, तदा तं पिट्टिमागिनिमित्तं समुप्पन्नं ति पबुच्चित । ततो पद्ठाय पिटिष्वथिष्पहीना कामावचर-समाधि-संखाव- उपचारभावनानिष्कत्रा नाम होति ।" (श्रिभिपम्मत्यसगरो, ६।१८)।

समय से ही ग्रन्तरायों का नाण ग्रौर क्लेशों का उपणम होता है तथा चित्त उपचार-समाधि । द्वारा समाहित होता है।

प्रतिभाग-निमित्त का उत्पाद ग्रादि दुष्कर है। इस निमित्त की रक्षा वडे प्रयत्न के साथ करनी चाहिए। क्योंकि, ध्यान का यही ग्रालम्बन है। निमित्त के विनष्ट होने से लब्ध-ध्यान भी नष्ट हो जाता है। उपचार-ममाधि के बलवान् होने से ध्यान के ग्रधिगम की ग्रवस्या, ग्र्यान् ग्रपंणा-ममाधि उत्पन्न होती है। उस ग्रवस्या में ध्यान के ग्राधिगम की ग्रवस्या, ग्रयान् ग्रपंणा-ममाधि उत्पन्न होती है। उस ग्रवस्या में ध्यान के ग्रगो का प्रादुर्भाव होता है। उपयुक्त के ग्रान्यक्त के परित्याग से निमित्त की रक्षा ग्रीर ग्रपंणा-ममाधि का लाम होता है। जिम ग्रावास में निमित्त उत्पन्न ग्रीर स्थिर होता है, जहाँ स्मृति का मम्प्रमोप नहीं होना ग्रीर चित्त एकाग्र होता है, उमी ग्रावास में ग्रोगी को निवास करना चाहिए। जो गोचर, ग्राम, ग्रावाम के ममीप हो ग्रीर जहाँ भिक्षा मुलभ हो, वही उपयुक्त है। ग्रोगी के लिए लौकिक कया ग्रनुपयुक्त है। इससे निमित्त का लोप होता है। ग्रोगी को ऐसे पुरुप का सग न करना चाहिए, जो लौकिक कया कहे, क्योंकि इससे ममाधि में वाधा उपस्थित होनी है ग्रीर जो प्राप्त किया है, वह भी खो जाता है। उपयुक्त भोजन, ऋतु ग्रीर ईर्यापय (चवृत्ति) का ग्रासेवन करना चाहिए, ऐसा करने से तथा वहुलता के साथ निमित्त का ग्रासेवन करने से जीघ्र ही ग्रपंणा-ममाधि का लाभ होता है। पर यदि इस विधि से भी ग्रपंणा का उत्पाद न हो, तो निम्नलिखिन दम प्रकार से ग्रपंणा में कुश्वता प्राप्त होती है—

१ गरीर तया चीवर ग्रादि की शुद्धता से।

यदि केण-नख वढे हो, णरीर से दुर्गन्ध ग्राती हो, चीवर जीर्ण तथा क्लिप्ट ग्रीर ग्रासन मैला हो, तो चित्त तया चैतसिक धर्म भी अपरिशुद्ध होते है, ज्ञान भी अपरिशुद्ध होता है, समाधि-भावना दुर्वल ग्रीर क्षीण हो जाती है, कर्मस्थान भी प्रगुण भाव को नही प्राप्त होता ग्रीर इस प्रकार ग्रगो का प्रादुर्भाव नही होता । इसलिए, गरीर तथा चीवर ग्रादि को विगद तथा परिशुद्ध रखना चाहिए, जिनमे चित्त सुखी हो ग्रीर एकाग्र हो ।

२ श्रद्धादि इन्द्रियों के नमभाव प्रतिपादन से ।

श्रद्धादि इन्द्रियों में से (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा) यदि कोई एक इन्द्रिय वलवान् हो, तो इतर इन्द्रियाँ अपने कृत्य मे अनमर्य हो जाती है। जिसमे श्रद्धा का आधिक्य होता है और जिसकी प्रज्ञा मन्द होती है, वह अवस्तु में श्रद्धा करता है, जिसकी प्रज्ञा वलवती होती है और श्रद्धा मन्द होती है। वह शठना का पक्ष ग्रहण करता है और उसका चित्त शुक्क तर्क में विलुप्त होता है। श्रद्धा और प्रज्ञा का अन्योत्यविरह अनर्थावह है। इसलिए, इन दोनो इन्द्रियों का सममाव इप्ट है। दोनों की समना से ही अर्थणा होती है। इसी प्रकार वीर्य और समाधि का भी समभाव इप्ट है। समाधि यदि प्रवल हो और वीर्य मन्द हो, तो आलस्य अभिभूत करता है, क्योंकि समाधि आलस्य-पाक्षिक है। यदि वीर्य प्रवल हो और समाधि

श्रिमिवर्नकोरा (८१२०) में इसे 'सामन्तक कहा है। यह ध्यान का पृत्राग है। अर्थगा संमानि को सील-ध्यान कहते हैं। प्रत्येक मोल-ध्यान का एक-एक सामन्तक होता है। मौल-ध्यान आठ ई--चार रूप, चार आरूप्य: "एव मौलसमापित्र ग्यमण्टिवयं जिता।" (अपि० ८१४)।

मन्द हो, तो चित्त की भ्रान्तता या विक्षेप ग्रिम भूत करता है, क्यों विक्षेप-पाक्षिक है। किसी एक इन्द्रिय की सातिशय प्रवृत्ति होने से ग्रन्य इन्द्रियों का व्यापार मन्द हो जाता है। इसिलए, ग्रपंणा की सिद्धि के लिए इन्द्रियों की एकरसता ग्रभीष्ट है। किन्तु, शमथ-यानिक को बलवती श्रद्धा भी चाहिए। विना श्रद्धा के ग्रपंणा का लाभ नहीं हो सकता। यदि वह यह सोचे कि केवल पृथ्वी-पृथ्वी इस प्रकार चिन्तन करने से कैसे ध्यान की उत्पत्ति होगी, तो ग्रपंणा-समाधि का लाभ नहीं हो सकता। उसको भगवान् वृद्ध की वताई हुई विधि की सफलता पर विश्वास होना चाहिए। बलवती स्मृति तो सर्वत्र ग्रभीष्ट है, क्योंकि चित्त स्मृति-परायण है ग्रीर इसलिए विना स्मृति के चित्त का निग्रह नहीं होता।

३ निमित्त-कौशल से, श्रर्थात् लब्ध-निमित्त की रक्षा मे कुशल श्रौर दक्ष होने से।

४ जिस समय चित्त का प्रग्रह (= उत्यान) करना हो, उस समय चित्त का प्रग्रह करने से।

जिस समय वीर्यं, प्रामोद्य ग्रादि की ग्रति शिथिलता से भावना-चित्त सकुचित होता है, उस समय प्रश्नब्ध (=काय ग्रोर चित्त की शान्ति), समाधि ग्रोर उपेक्षा इन बोध्यगो की भावना उपयुक्त नहीं है, क्यों इनसे सकुचित चित्त का उत्थान नहीं होता। जिस समय चित्त सकुचित हो, उस समय धर्म-विनय (=प्रज्ञा), वीर्यं (=उत्साह) ग्रोर प्रीति इन बोध्यगों की भावना करनी चाहिए। इनसे मन्द-चित्त का उत्थान होता है। कुशल (=पुण्य) ग्रीर ग्रकुशल (=ग्रपुण्य) के स्वभाव तथा सामान्य लक्षणों के यथार्थं ग्रवबोध से धर्मविचय की भावना होती है। ग्रालस्य के परित्याग से ग्रभ्यासवश कुशल-किया का ग्रारम्भ, वीर्य-सचय ग्रीर प्रतिपक्ष धर्मों के विध्वसन की पट्ता प्राप्त होती है। प्रीतिसम्प्रयुक्त धर्मों का निरन्तर चिन्तन करने से प्रीति का उत्पाद ग्रीर वृद्धि होती है।

परिप्रश्न, शरीरादि की शुद्धता, इन्द्रिय-समभाव-करण, मन्दबुद्धिवालो के परिवर्जन, प्रज्ञावान् के ग्रासेवन, स्कन्ध, श्रायतन, धातु, चार श्रायंसत्य, प्रतीत्य-समुत्पाद श्रादि गम्भीर ज्ञानकथा की प्रत्यवेक्षा तथा प्रज्ञापरायणता से धर्मविचय का उत्पाद होता है।

दुर्गति म्रादि दु खावस्था की भीषणता का विचार करने से, इस विचार से कि लौकिक प्रथवा लोकोत्तर जो कुछ विशेषता है, उसकी प्रीति वीर्य के म्रधीन है, इस विचार से कि म्रालसी पुरुष बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध मौर महाश्रावकों के मार्ग का म्रनुगामी नहीं हो सकता, शास्ता के महत्त्व का चिन्तन करने से [शास्ता ने हमारे साथ बहुत उपकार किया है, शास्ता के शासन का म्रतिक्रमण नहीं हो सकता, वीर्यारम्भ (= कुशलोत्साह) की शास्ता ने प्रशसा की है], धर्मदाय के महत्त्व का चिन्तन करने से (मुझे धर्म का दायाद होना चाहिए, म्रालसी

१ वोधि के सात अग हैं—१ स्मृति, २ धर्मविचय, ३ वीर्य, ४ प्रीति, ५ प्रश्रव्धि, ७ समाधि श्रौर ७ उपेक्षा।

पुरुष धर्म का दायाद नहीं हो सकता), आनोक-मज्ञा के चिन्तन से, ईर्यापथ के परिवर्त्तन स्रोर खुली जगह में रहने से, आलस्य श्रीर प्रकर्मण्यता का परित्याग करने से, आलस्यों के परिवर्जन श्रीर वीर्यवान् के श्रासेवन में, व्यायाम (=उद्योग) के चिन्तन से तथा वीर्यपरायण होने से वीर्य का उत्पाद होता है।

बुद्ध, धर्म, सघ, शील, त्याग (=दान), देवता श्रीर उपशम के निरन्तर स्मरण से, बुद्धादि में जो स्नेह श्रीर प्रसाद नहीं रखता, उसके परिवर्जन तथा बुद्ध में जो स्निग्ध है, उसके श्रासेवन से, सम्पसादनीय-सुत्त न्त के चिन्तन तथा श्रीति-परायण होने से श्रीति का उत्पाद होता है।

५ जिस समय चित्त का निग्रह करना हो, उस समय चित्त का निग्रह करने से।

जिस समय वीयं, सवेग ( = वैराग्य), प्रामोद्य के भ्रतिरेक से चित्त उद्धत भीर अन-निस्यत होता है, उस समय धमंविचय, वीयं भीर प्रीति की भावना अनुपयक्त है, क्योंकि इनसे उद्धत चित्त का समाधान नहीं हो सकता। ऐसे समय प्रश्नव्धि, समाधि भीर उपेक्षा इन वोध्यगों की भावना करनी नाहिए।

काय ग्रौर चित्त की शान्ति का निरन्तर चिन्तन करने से प्रश्वविध की भावना, अभय ग्रौर ग्रव्यग्रता का निरन्तर चिन्तन करने से समाधि की भावना ग्रौर उपेक्षा-सम्प्रयुक्त धर्मों का निरन्तर चिन्तन करने से उपेक्षा की भावना होती है।

प्रणित-भोजनः अञ्छी ऋतु, उपयुक्त ईर्यापय के भासेवन से, उदासीन वृत्ति से, कोधी पुरुष के परित्याग और शान्त-चित्त पुरुष के भासेवन तथा प्रश्नब्धि-परायण होने से प्रश्नब्धि का उत्पाद होता है।

शरीरादि की गुद्धना से, निमित्त कुशलता से, इन्द्रिय-समभाव-करण से, समय-समय पर चित्त का प्रग्रह (=लीन चित्त का उत्यान) ग्रीर निग्रह (उद्धत चित्त का समाधान) करने से श्रद्धा ग्रीर सवेग (=वैराग्य) द्वारा उपशम-सुख-रहित चित्त का सन्तर्पण करने से, प्रग्रह-निग्रह-सन्तर्पण के विषय में सम्यक्-प्रवृत्त भावना-चित्त की विरक्तता से, ग्रसमाहित पुरुष के परित्याग ग्रीर समाहित पुरुष के ग्रासेवन से, व्यानो की भावना, उत्पाद, ग्रधिष्ठान (=ग्रवस्थित) व्युत्यान, सक्लेश ग्रीर व्यवदान (=विश्रुद्धता) के चिन्तन से तथा समाधि-परायण होने से ममाधि का उत्पाद होता है।

जीवो ग्रीर सस्कारों के प्रति उपेक्षा-भाव, ऐसे लोगों का परित्याग, जिनको जीव ग्रीर सस्कार प्रिय हैं, ऐसे लोगों का ग्रासेवन, जो जीव ग्रीर सस्कारों के प्रति उपेक्षा-भाव रखते हैं, तथा उपेक्षा-परायणता से उपेक्षा का उत्पाद करते हैं।

६ जिस ममय चित्त का मम्प्रहर्पण (=सन्तर्पण) करना चाहिये, उस समय चित्त के सम्प्रहर्पण से।

<sup>9.</sup> दीविनकाय, ३।६६।११६, इस सूत्र में बुद्धादिकों का गुण-परदीपन है।

. 3

जब प्रज्ञा-व्यापार के ग्रल्पभाव के कारण या उपशम-सुख के ग्रलाभ के कारण चित्त का तर्पण नहीं होता, तब ग्राठ सवेगों द्वारा सवेग उत्पन्न करना चाहिए। जन्म, जरा, व्याधि, मरण, ग्रपाय दु:ख, ग्रतीत में जिस दु ख का मूल हो, ग्रनागत में जिस दु.ख का मूल हो ग्रौर वर्त्तमान में ग्राहारपर्येषण का दु:ख—यह ग्राठ सवेग-वस्तु है। बुद्ध, धर्म श्रौर सघ के गुणों के ग्रनुस्मरण से चित्त का सम्प्रसाद होता है।

७ जिस समय चित्त का उपेक्षाभाव होना चाहिए, उस समय चित्त की उदासीन वृत्ति से।

जब भावना करते हुए योगी के चित्त का व्यापार मन्द नहीं होता, चित्त का विक्षेप नहीं होता, चित्त को उपशम-सुख का लाभ होता है, ग्रालम्बन में चित्त की सम-प्रवृत्ति होती है ग्रीर शमथ के मार्ग म चित्त का ग्रारोहण होता है, तब प्रग्रह, निग्रह ग्रीर सम्प्रहर्षण के विषय में चित्त की उदासीन वृत्ति होती है।

प्रेसे लोगो के परित्याग से जो अनेक कार्यों में व्यापृत रहते है, जिनका हृदय विक्षिप्त है और जो ध्यान के मार्ग में कभी प्रवृत्त नहीं हुए हैं।

६ समाधि-लाभी पुरुषो के आसेवन से।

१०. समाधि-परायण होने से।

उक्त दस प्रकार से अर्पणा में कुशलता प्राप्त की जाती है।

श्रालस्य श्रौर चित्त-विक्षेप का निवारण कर जो योगी सम-प्रयोग से भावना-चित्त को 'प्रतिभाग-निमित्त में स्थित करता है, वह श्रपंणा-समाधि का लाभ करता है। चित्त के जीन श्रौर उद्धत भावो का परित्यांग कर निमित्त की श्रोर चित्त को प्रवृत्त करना चीहिए।

जब योगी चित्त को निमित्त की ग्रीर प्रेरित करता है, तब चित्त-द्वार भावना के वल से उपस्थित उसी पृथ्वी-मण्डल-रूपी ग्रालम्बन को ग्रपनी ग्रोर ग्राकृष्ट करता है। उस समय उस ग्रालम्बन में चार या पाँच चेतनाएँ (पालि = जवन ) उत्पन्न होती है इनमें से ग्रान्तिम रूपावचर-भूमि की है, शेष तीन या चार चेतनाएँ काम-धातु की है। प्राकृतिक चित्त की ग्रपेक्षा इन तीन या चार चेतनाग्रों के वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता ग्रादि भावना के बल से पटुतर होते हैं। इन्हें 'परिकर्म' (पालिरूप= परिकम्म ) कहते हैं। क्योंकि, ये चेतनाएँ ग्रपंणा की प्रति-सस्कारक है। ग्रपंणा के समीपवर्त्ती होने से इन्हें 'उपचार' भी कहते हैं। ग्रपंणा के ग्रनुलोम होने से इनकी 'ग्रनुलोम' सज्ञा भी है। तीसरी या चौथी चेतना

१ ''जनतीति जननम् ।'' बीथ-चित्त के १४ कृत्यों के सग्रह में इसको धारहवाँ स्थान है । ''किच्चसगहें किच्चानि नाम पटिसन्धि-भनगावज्जन दस्सन-सनन-धायन-सायन-फुसने-संपटि-छन-सतीरण-बोट्ठपन-जन-तदारम्मण-चुतिनसेन चुद्दसविधानि भननित ।''

<sup>[</sup> श्रभिधंग्मत्यसगहो, शह ]

२ भूमियाँ चार हैं--श्रपाय-भूमि, काम-सुगति-भूमि, रूपावचर-भूमि, श्रीर श्ररूपावचरभूमि।

'गोतभू' कहलाती है। यह चेतना (=जवन) काम-तृष्णा के विषयो के विशेष रूप और अनुत्तरधर्मों के साम्परायिक रूप की सीमा पर स्थित है। इस प्रकार में ये सव सज्ञाएँ सामान्य रूप से सव जवनो की है। यदि विशेषता के साथ कहा जाय, तो पहला जवन 'परिकर्म', दूसरा 'उपचार', तीसरा 'अनुलोम', चौथा 'गोत्नभू', या पहला 'उपचार', दूसरा 'अनुलोम', तीसरा 'गोत्नभू', और चौथा या पाँचवां 'अर्पणा' है। जिसकी वृद्धि प्रखर है, उसकी चौथे जवन में अर्पणा की सिद्धि होती है, पर जिसकी वृद्धि मन्द है, उसकी पाँचवें जवन में अर्पणा की सिद्धि होती है। चौथे या पाँचवें जवन में ही अर्पणा की सिद्धि होती है। तत्पश्चात् चेतना भवाग में अवतीर्ण होती है। अर्पणा का कालपरिच्छेद एक चित्त-क्षण है, तदनन्तर भवाग में पात होता है। पीछे भवाग का उपच्छेद कर ध्यान की प्रत्यवेक्षा के लिए चित्तावर्जन होता है, तत्पश्चात् ध्यान की परीक्षा होती है।

काम और अकुणल के परित्याग से ही प्रथम ध्यान का लाभ होता है, यह प्रथम ध्यान के प्रतिपक्ष है। प्रथम ध्यान में विशेष कर कामधातु का अतिक्रमण होता है। काम 'वस्तु-काम' का आश्य है। जो वस्तु (जैसे, प्रिय-मनोरम-रूप) काम का उद्दीपन करे, वह वस्तुकाम है, किसी वस्तु के लिए अभिलाष, 'राग तथा लीभ के प्रभेद 'क्लेशकाम' कहलाते हैं। अकुशल से क्लेशकाम तथा अन्य अकुशल का आश्य है। काम के परित्याग से काय-विवेक और अकुशल के विवर्जन से चित्त-विवेक सूचित होता है। पहले से तृष्णा आदि क्लेश के विषय का परित्याग और दूसरे से क्लेश का परित्याग सूचित होता है। पहले से काम-सुख का परित्याग और दूसरे से ध्यान-सुख का परित्याग सूचित होता है। पहले से चपल भाव के हेतु का परित्याग और दूसरे से अविद्या का परित्याग, पहले से प्रयोग-शुद्ध (प्राणातिपातादि अशुद्ध प्रयोग का परित्याग) और दूसरे से अविद्या का परित्याग, पहले से प्रयोग-शुद्ध (प्राणातिपातादि अशुद्ध प्रयोग का परित्याग) और दूसरे से अविद्या का परित्याग की शुद्ध सूचित होती है।

अपाय (= दुर्गित )-भूमि चतुर्विध है-निरय (=नरक), तिर्येक्-योनि, प्रे तिवधम, और

भमुरकाय।
- काम-सुगित-भृमि सप्तिविध है—मनुष्य, छ देवलोक (चातुर्माहाराजिक, त्रयस्त्रिश, याम, तुिष्त, निर्माण-रित, परिनिर्मित-वशावत्तीं)। अपायभूमि और काम-सुगत-भूमि मिलकर कामावचर-भूमि (=कामधातु) कहलाते हैं। इस प्रकार, ग्यारह लोक काम-धातु के अन्तर्गत है।

काम-धातु के ऊपर रूपधातु है। रूप-धातु में सील है स्थान है। पहले ध्यान में अध-पारिषद्य, ब्रह्म-पुरोहित और महाब्रह्मा, दूसरे ध्यान में परीत्ताम, अप्रमाणाय और आमस्वरय, तीसरे ध्यान में परीत्त-शुम, अप्रमाण-शुम और शुमक्तरस्न, चौथे ध्यान में बृहरफल, असिंग्न-सत्त्व, शुद्धावास (शुद्धावास पाँच हैं—अविह, अतप्य, सुदर्श, सुद्दशी, अकिनिष्ठ) है।

अरूप-भूमि चार है—आकशानन्त्यायतन-भूमि, निज्ञानानन्त्यायतन-भूमि, आकिन्तन्या-यतन-भूमि और नैवसञ्चानासज्ञायतन-भूमि।

स्वान-गाम कार पारिकार का कि । यह भावना-मय, अपेंगा-प्राप्त और ध्यान के अंगों के मेद से पाँच प्रकार का है।

यद्यपि अकुशल धर्मों में दृष्टि, मान आदि पाप भी सगृहीत है, तथापि यहाँ केवल उन्ही अकुशल धर्मों से तात्पर्य है, जो ध्यान के अगो के विरोधी है। यहाँ अकुशल धर्मों से पाँच नीवरणों से ही आशय है। ध्यान के अग इनके प्रतिपक्ष है और इनका विघात करते है। समाधि कामच्छन्द (= श्रिभलाष, लोभ, तृष्णा) का प्रतिपक्ष है, प्रीति व्यापाद (= हिंसा) का प्रतिपक्ष है, वितर्क का स्त्यान (आलस्य-अकर्मण्यता) प्रतिपक्ष है, सुख का श्रीद्धत्य-कौकृत्य (=अनवस्थितता, खेद) और विचार का विचिकित्सा प्रतिपक्ष है, इस प्रकार कामविवेक से कामच्छन्द का विष्कम्भन और अकुशल धर्मों के विवेक से शेष चार नीवरणों का विष्कम्भन होता है। पहले से लोभ (अकुशल-मूल) और दूसरे से द्वेष-मोह, पहले से तृष्णा तथा तत्सम्प्रयुक्त अवस्था, दूसरे से अविद्या तथा तत्सम्प्रयुक्त अवस्था का परित्याग सूचित होता है।

यह पाँच नीवरण प्रथम ध्यान के प्रहाण-ग्रग है। जबतक इनका विष्कभन नहीं होता, तबतक ध्यान का उत्पाद नहीं होता। ध्यान के क्षण में श्रन्य श्रकुशल धर्मों का भी प्रहाण होता है, तथापि पूर्वोक्त नीवरण ध्यान में विशेष रूप से श्रन्तराय उपस्थित करते हैं। इन पाँच नीवरणों का परित्याग कर प्रथम वितर्क, विचार, प्रीति, सुख श्रीर समाधि इन पाँच ग्रगों से समन्वागत होता है।

श्रालम्बन के विषय में यह कल्पना कि यह ऐसा है, 'वितर्क' कहलाता है, श्रथवा श्रालम्बन के समीप चित्त का भानयन श्रालम्बन म चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है। श्रालम्बन में चित्त की अविच्छित्र प्रवृत्ति 'विचार' है, वितर्क विचार का पूर्वगामी है। वितर्क चित्त का प्रथम श्रिमिनपात है। घण्टे के श्रिमघात से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह वितर्क के समान है। इसका जो अनुरव होता है, वह विचार के समान है। जिस प्रकार श्राकाश में उड़ने की इच्छा करनेवाला पक्षी पक्ष-विक्षेप करता है, उसी प्रकार वितर्क की प्रथमोत्पत्ति के काल में विचार की वृत्ति शान्त होती है, उसमे चित्त का श्रधिक परिस्पन्दन नही होता। विचार श्राकाश में उड़ते हुए पक्षी के पक्ष-प्रसारण या कमल के ऊपरी भाग पर भ्रमर के परिभ्रमण के समान है।

प्रीति, काय ग्रीर चित्त के तर्पण, परितोषण को कहते हैं। प्रीति प्रणीत रूप से काम में व्याप्त होती है ग्रीर इसका उत्कृष्ट भाव होता है। 'प्रीति' पाँच प्रकार की है— १ क्षुद्रिका-प्रीति, २ क्षणिका-प्रीति, ३ ग्रवकान्तिका-प्रीति, ४ उद्देगा-प्रीति, ५ स्फरणा-प्रीति। क्षुद्रिका-प्रीति शरीर को केवल रोमाचित कर सकती है। क्षणिका-प्रीति क्षण-क्षण पर होनेवाल विद्युत्पात के समान होती है। जिस प्रकार समुद्रतट पर लहरे टकराती है, उसी प्रकार ग्रवक्रान्तिका-प्रीति शरीर को ग्रवक्रान्त कर भिन्न हो जाती है। उद्देगा-प्रीति वलवती होती है। स्फरणा-प्रीति निश्चला ग्रीर चिरस्थायिनी होती है।

१ ''तिमद नितनकनं ईदिसमिदन्ति श्रारम्मणस्स परिकप्पनन्ति ।'' (परमत्यमजूसे। टीका)

यह पाँच प्रकार की प्रीति परिपक्व हो, काय ग्रौर चित्त-प्रश्नव्ध (= ग्रान्ति) को सम्पन्न करती है। प्रश्नविध परिपाक को प्राप्त हो कायिक ग्रौर चैतिसक सुख को सम्पन्न करती है। सुख परिवक्व हो समाधि का परिपूरण करता है। स्फरणा-प्रीति ही ग्रपंणा-समाधि का मूल है। यह प्रीति ग्रनुकम से वृद्धि को पाकर अपंणा-समाधि से सम्प्रयुक्त होती है। यहाँ यही प्रीति ग्रभिप्रेत है। 'सुख' काय श्रौर चित्त की बाधा को नष्ट करता है। सुख से सम्प्रयुक्त धर्मों की श्रभिवृद्धि होती है।

वितर्क चित्त को श्रालम्बन के समीप ले जाता है। विचार से श्रालम्बन में चित्त की श्रुविच्छिन्न प्रवृत्ति होती है। वितर्क-विचार से चित्त-समाधान के लिए भावना-प्रयोग सम्पादित होता है। प्रीति से चित्त का तर्पण श्रीर सुख से चित्त की वृद्धि होती है। तदनन्तर एकाग्रता, श्रविषण्ट स्पर्शादि धर्मों-सिहत चित्त को एक श्रालम्बन में सम्यक् श्रीर समरूप से प्रतिष्ठित करती है। प्रतिपक्ष धर्मों के परित्याग से चित्त का लीन श्रीर उद्धत भाव दूर हो जाता है। इस प्रकार, चित्त का सम्यक् श्रीर सम श्राधान होता है। ध्यान के क्षण में एकाग्रता-वश चित्त सातिश्य समाहित होता है।

इन पाँच अगो का जवतक प्रादुर्भाव नहीं होता, तवतक प्रथम ध्यान का लाभ नहीं होता। यह पाँच अग उपचार-क्षण में भी रहते हैं, पर अपंणा-समाधि में पटुतर हो जाते हैं। क्यों कि, उस क्षण में यह रूप-धातु के लक्षण प्राप्त करते हैं। प्रथम ध्यान की विविध-कल्याणता है। इसके आदि, मध्य और अन्त तीनों कल्याण के करनेवाले हैं। प्रथम ध्यान दस लक्षणों से सम्पन्न, है। ध्यान के उत्पाद-क्षण में भावना-कम के पूर्वभाग की (अर्थात्, गोत्नभू तक) विशुद्धि होती है। यह ध्यान की आदि-कल्याणता है। इसके तीन लक्षण है—नीवरणों के विष्कम्भन से चित्त की विशुद्धि, चित्त की विशुद्धि से मध्यम शमथ-निमित्त का अभ्यास और इस अभ्यासवश उक्त निमित्त में चित्त का अनुप्रवेश। स्थिति-क्षण में उपेक्षा की अभिवृद्धि विशेष रूप से होती है। यह ध्यान की मध्य-कल्याणता है, यह तीनों लक्षणों से समन्वागत है—विशुद्ध चित्त की उपेक्षा, शमथ की भावना में रत चित्त की उपेक्षा और एक आलम्बन में सम्यक् समाहित चित्त की उपेक्षा। ध्यान के अवसान में प्रीति का लाभ होता है, अवसान-क्षण में कार्य निष्पन्न होने से धर्मों के अनितवर्त्तनादि-साधक-ज्ञान की परिशुद्धि प्रकट होती है। इसके चार लक्षण है— जातधर्म एक दूसरे को अतिकान्त नहीं करते, २ इन्द्रियों की (पाँच मानसिक शिक्तयों की) एक-एक सत्ता होती है, ३ योगी इनके उपकारक वीर्य धारण करता है, ४ और योगी इनका आसेवन करता है।

जिस क्षण में अर्पणा का उत्पाद होता है, उसी क्षण में अन्तराय उपस्थित करनेवाले क्लेशों से चित्त विशुद्ध होता है। 'परिकर्म' की विशुद्धि से अर्पणा की सातिशय विशुद्धि होती है, जबतक चित्त का आवरण दूर नहीं होता, तबतक मध्यम शमथ-निमित्त का अभ्यास नहीं हो सकता। लीन और उद्धत भाव इन दो अन्तों का परित्याग करने से इसे मध्यम कहते हैं। विरोधी धर्मी का विशेष रूप से उपशम करने से शमथ और योगी के सुखविशेष का कारण

होने से यह निमित्त कहलाता है। यह मध्यम शमथ-निमित्त लीन और उद्धत भाव से रहित भ्रपंणा-समाधि ही है। तदनन्तर, गोत्नभू-चित्त एकत्व-नय से अर्पणा-समाधि-वश समाहित भाव को प्राप्त होता है, और इस निमित्त का अभ्यास करता है। अभ्यास-वश समाहित-भाव की प्राप्ति से निमित्त में चित्त अनुप्रविष्ट होता। इस प्रकार, प्रतिपद्धिशुद्धि ोत्नभू-चित्त में इन तीन लक्षणों को निष्पन्न करती है। एक बार विशुद्ध हो जाने से योगी फिर विशोधन की चेष्टा नहीं करता और इस प्रकार यह विशुद्ध चित्त को उपेक्षा-भाव से देखता है।

शमथ के अभ्यास-वश शमथ-भाव को प्राप्त होने के कारण योगी समाधान की चेष्टा नहीं करता और शमथ की भावना में रत चित्त की उपेक्षा करता है। शमथ के अभ्यास और क्लेश के प्रहाण से चित्त सम्यक् रूप से एक आलम्बन में समाहित होता है। योगी समाहित चित्त की उपेक्षा करता है। इस प्रकार उपेक्षा की वृद्धि होती है। उपेक्षा की वृद्धि से ध्यान-चित्त में उत्पन्न एकाग्रता और प्रज्ञा विना एक दूसरे को आतिकान्त किये प्रवृत्त होती है, श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ (=मानसिक शक्ति) नाना क्लेशो से विनिर्मुक्त हो विमुक्ति-रस से एकरसता को प्राप्त होती है, योगी इन अवस्थाओं के अनुकूल वीर्य प्रवृत्त करता है। स्थिति-क्षण से श्रारम्भ कर ध्यान-चित्त की आसेवना प्रवृत्त होती है। यह सब अवस्थाएँ इस कारण निष्पन्न होती है, क्योंकि ज्ञान द्वारा इस बात की प्रतीति होती है कि समाधि और प्रज्ञा की समरसता न होने से भावना सक्लिष्ट होती है और इनकी समरसता से विशुद्ध होती है।

इस विशोधक ज्ञान के कार्य के निष्पन्त होने से चित्त का परितोष होता है। उपेक्षा-वश ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, प्रज्ञा द्वारा अपंणा-प्रज्ञा की व्यापार-बहुलता होती है। उपेक्षा-वश नीवरण आदि नाना क्लेशो से चित्त विमुक्त होता है। इस विशुद्धि से और पूर्व-प्रवृत्त प्रज्ञा-वश प्रज्ञा की बहुलता होती है और श्रद्धा आदि धर्मों का व्यापार समान हो जाता है। इस एकरसता से भावना निष्पन्त होती है। यह ज्ञान का व्यापार है। इसलिए, ज्ञान के व्यापार से चित्त-परितोषण की सिद्धि होती है।

प्रथम ध्यान के ग्रिधिगत होने पर यह देखना चाहिए कि किस प्रकार के ग्रावास में रह-कर किस प्रकार का भोजन कर ग्रीर किस ईर्यापथ में विहार कर चित्त समाहित हुग्रा था। समाधि के नष्ट होने पर उपयुक्त अवस्थाग्रों को सम्पन्न करने से योगी वार-वार ग्रर्पणा का लाभी हो सकता है। इससे ग्रर्भणा का लाभमाव होता है, पर वह चिरस्थायिनी नहीं होती।

समाधि के अन्तरायो और विरोधी धर्मों के सम्यक्-प्रहाण से ही अर्पणा की चिर-स्थिति होती है। उपचार-क्षण में इनका प्रहाण होता है, पर अर्पणा की चिर-स्थिति के लिए अत्यन्त प्रहाण की आवश्यकता है। कामादि का दोष और नैष्कम्य का गुण देखकर लोभ-राग का

१ ''एकरसट्ठेन भावनाति''। (विसुद्धिमगो, पृ० १४६) । ''भावना चित्तवासनात् ।'' ( अभिधर्मकोश, ४।१२३ )। ''तद्धि समाहितं कुशलं चित्तमत्यर्थं वासयित, गुर्णे स्तन्मयीकरणात् सन्ततेः। पुर्णेस्तिलवासनवत् ।'' ( यशोभित्रन्याख्या )।

भली भाँति प्रहाण किये विना, काय-प्रश्नविध द्वारा कायक्लम को ग्रच्छी तरह भान्त किये विना, वीर्य द्वारा ग्रालस्य ग्रीर श्रकमंण्यता का ग्रच्छी तरह परित्याग किये विना, श्रमथ-निमित्त की भावना द्वारा खेद ग्रीर चित्त की ग्रनवस्थितता का उन्मूलन किये विना तथा समाधि के ग्रन्य श्रन्तरायों का श्रच्छी तरह उपश्म किये विना जो योगी ध्यान सम्पादित करता है, उसका ध्यान शीघ्र ही भिन्न हो जाता है। पर, जो योगी समाधि के ग्रन्तरायों का ग्रत्यन्त प्रहाण कर ध्यान सम्पादित करता है, वह दिन-भर समाधि में रत रह सकता है। इसलिए, जो योगी ग्रपंणा की चिर-स्थित चाहता है, उसे ग्रन्तरायों का ग्रत्यन्त प्रहाण करके ही ध्यान सम्पन्न करना चाहिए। समाधि-भावना के विपुलभाव के लिए लब्ध-प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि करनी चाहिए। जिस प्रकार भावना द्वारा ही निमित्त की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार भावना द्वारा उसकी वृद्धि भी होती है। इस प्रकार, ध्यान-भावना भी वृद्धि को प्राप्त होती है। प्रतिभागनिमित्त की वृद्धि के लिए दो भूमियाँ हैं—१ उपचार ग्रीर २. ग्रपंणा, इन दो स्थानों में से एक में तो ग्रवण्य ही इसकी वृद्धि करनी चाहिए।

प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि परिच्छिन्त रूप से ही करनी चाहिए। क्योंकि विना परिच्छेद के भावना की प्रवृत्ति नहीं होती। इसकी वृद्धि कम से चक्रवाल-पर्यन्त की जा सकती है। जिम योगी ने पहले ध्यान का लाभ किया है, उसे प्रतिभाग-निमित्त का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, पर अधिक प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिए। क्योंकि, प्रत्यवेक्षा के आधिक्य से ध्यान के अग अतिविभूत मालूम होते हैं और प्रगुण-भाव को नहीं प्राप्त होते। इस प्रकार वे स्थूल और दुर्वल ध्यान के अग उत्तर-ध्यान के लिए उत्सुकता उत्पन्न नहीं करते। उद्योग करने पर भी योगी प्रथम ध्यान से च्युत होता है और दूसरे ध्यान का लाभ नहीं करता। योगी को इसलिए पाँच प्रकार से प्रथम ध्यान पर आधिपत्य प्राप्त करना चाहिए। तभी द्वितीय ध्यान की प्राप्ति हो सकती है। पाँच प्रकार यह है—— प्रावर्जन, २. सम, ३ अधिष्ठान, ४ व्युत्थान और प्र प्रत्यवेक्षण।

इष्ट देश और काल में ध्यान के प्रत्येक अग को इष्ट समय के लिए शीध्र यथारित प्रवृत्त करने की सामर्थ्य आवर्जन-विशता कहलाती है। जिसकी आवर्जन-विशता सिद्ध हो चुकी है, वह जहाँ चाहे, जब चाहे और जितनी देर तक चाहे, प्रथम ध्यान के किसी अग को तुरत्त प्रवृत्त कर सकता है। आवर्जन-विशता प्राप्त करने के लिए योगी को कम से ध्यान के अगो का आवर्जन करना चाहिए। जो योगी प्रथम ध्यान से उठकर पहले वितर्क का आवर्जन करता है और भवाग का उपच्छेद करता है, उसमें उत्पन्न आवर्जन के बाद ही वितर्क को आलम्बन बना चार या पाँच जवन (चेतनाएँ) उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर, दो क्षण के लिए भवाग में पात होता है। तब विचार को आलम्बन बना उक्त प्रकार से फिर जवन उत्पन्न होते है। इस प्रकार, ध्यान के पाँचो अगो में चित्त को निरन्तर प्रेषित करने की शवित योगी को प्राप्त होती है।

१ "श्रिधगमेन सम्, ससम्पयुत्तरस भान्तरस सम्माश्राप्तव्जन पटिपव्जनं समापव्जनं भानसमङ्गिता।" (परमत्यमञ्जूसाटीका)

, , ,

अगवर्जन के साथ ही शीघ्र ध्यान-समगी होने की योग्यता एक या दस अगुलि-स्फोट के काल तक वेग को रोककर ध्यान की प्रतिष्ठा करने की शक्ति अधिष्ठान-विश्ता है। ध्यानसमगी होकर ध्यान से उठने की सामर्थ्य व्युत्थान-विश्ता है। यह व्युत्थान भवाग-चित्त की उत्पत्ति ही है। पूर्व परिकर्म-वश इस प्रकार की शक्ति सम्पन्न करना कि, में इतने क्षण ध्यान-समगी होकर ध्यान से व्युत्थान कर्ष्या, व्युत्थान-विश्ता है। वितर्क आदि ध्यान के अगो के यथाक्रम आवर्जन के अनन्तर जो जवन प्रवृत्त होते हैं वे, प्रत्यवेक्षण के जवन हैं। इनके प्रत्यवेक्षण की शक्ति प्रत्यवेक्षण-विश्वता है।

जो इन पाँच प्रकारों से प्रथम ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है, वह परिचित प्रथम ध्यान से उठकर यह विचारता है कि प्रथम ध्यान सदोष है। क्योंकि, इसके वितर्क-विचार स्थूल हैं और इसलिए इसके अग दुवंल और परिक्षीण (= अोडारिक) हैं। यह देखकर कि द्वितीयध्यान की वृत्ति शान्त है और उसके प्रीति, सुख ग्रादि शान्ततर और प्रणीततर हैं, उसे द्वितीयध्यान के श्रिधगम के लिए यत्नशील होना चाहिए और प्रथम ध्यान की ग्रपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जब स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक वह ध्यान के अगो की प्रत्यवेक्षा करता है, तब उसे मालूम होता है कि वितर्क-विचार स्थूल हें और प्रीति, सुख और एकाग्रता शान्त हैं। वह स्थूल अगो के प्रहाण तथा शान्त ग्रगों के प्रतिलाभ के लिए उसी पृथ्वी-निमित्त का वारम्वार ध्यान करता है। तब भवाग का उपच्छेद हो चित्त का आवर्जन होता है। इससे यह सूचित होता है कि ग्रव द्वितीय ध्यान सम्पादित होगा। उसी पृथ्वी-किसण में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। केवल अन्तिम जवन रूपावचर दूसरे ध्यान का है।

द्वितीय ध्यान के पक्ष मे नितर्क और निचार का अनुत्पाद होता है। इसलिए, द्वितीय ध्यान नितर्क और निचार से रहित है। नितर्क-सम्अयुक्त स्पर्श आदि धर्म द्वितीय ध्यान में रहते हैं, पर प्रथम ध्यान के स्पर्श आदि से भिन्न प्रकार के होते हैं। द्वितीय ध्यान के केनल तीन अग है— प्रिति, २ सुख और ३ एकाग्रता। द्वितीय-ध्यान 'सम्प्रसादन' है। अर्थात्, श्रद्धायुक्त होने के कारण तथा नितर्क-निचार के क्षोभ के व्युपशम के कारण यह चित्त को सुप्रसन्न करता है। सम्प्रसाद इस ध्यान का परिष्कार है। यह ध्यान नितर्क-निचार से अध्यारुढ न होने के कारण अग्र और श्रेष्ठ हो ऊपर उठता है, अर्थात् समाधि की वृद्धि करता है। इसलिए, इसे 'एकोदिभान' कहते है।

१ काय और चित्त की अवस्थाओं की प्रत्यवेक्षा 'सम्प्रजन्य' कहलाती है।

२ "प्रीत्यादय प्रसादश्च द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम्। तृतीये पञ्च तूपेक्षा स्मृतिज्ञान सुख् स्थिति ॥' (श्रमिधम्मकोश =।७, ==)।

३. ''एको उदेतीति एकोदि। वितक्तविचारे हि अन्उमारूठता अगो मेट्ठो हुत्वा उदेतीति अत्थो । सेट्ठोपि हि लोके एकोति वुच्चित । वितक्किवचारिवरिहितो वा एको असहायो हुत्वा इति पि वत्तु वट्ठित । अथवा सम्पयुत्तथम्मे उदायतीति उदि उट्ठियेतीति अत्थो सेट्ठिट्ठेन एको च सो उदि चाति एकोदि समाधिस्तेत अधिवचनं, इति इमं एकोदिं

पहला ध्यान वितर्क-विचार के कारण क्षुच्ध और समाकुल होता है। इसलिए, उसमें यथार्थ श्रद्धा होती है, तथापि वह 'सम्प्रसादन' नहीं कहलाता। सुप्रसन्न न होने के प्रथम ध्यान की समाधि भी अच्छी तरह आविर्भूत नहीं होती। इसलिए, उसका एकोदिभाव नहीं होता। किन्तु दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार के अभाव से श्रद्धा अवकाण पाकर वलवती होती है और वलवती श्रद्धा की महायता से ममाधि भी अच्छी तरह आविर्भूत होती है।

द्वितीय ध्यान का भी उक्त पाँच प्रकार से अभ्याम करना चाहिए। द्वितीय ध्यान से उठकर योगी विचार करता है कि द्वितीय ध्यान भी सदोप है। क्योंकि, इमकी प्रीति स्यूल है और इसलिए इसके अग दुवंल है। इस प्रीति के वारे में कहा है कि इसने परिग्रह में प्रेम का परित्याग नहीं किया और यह तृष्णा-सहगत होती है। क्योंकि, इस प्रीति की प्रवृत्ति का ग्राकार उद्देगपूर्ण होता है। यह देखकर कि तृतीय ध्यान की वृत्ति शान्त है, तृतीय ध्यान के लिए यत्नशील होना चाहिए। जब वह ध्यान के अगो की प्रत्यवेक्षा करता है, तव उसे प्रीति स्यूल और सुख-एकाग्रता शान्त मालूम होते हैं। वह स्थूल अग के प्रहाण के लिए पृथ्वी-निमित्त का वारम्वार चिन्तन करता है। तव भवाग का उपच्छेद हो चित्त का ग्रावर्जन होता है। तवनन्तर, उसी पृथ्वी-किसण ग्रालम्बन में चार या पाँच जवन उत्पन्त होते हैं। इनमें केवल ग्रन्तिम जवन रूपावचर तृतीय ध्यान का है। तृतीय-ध्यान के क्षण में प्रीति का ग्रनुत्पाद होता है। इस ध्यान के दो अग है— १ मुख और २ एकाग्रता। उपेक्षा, स्मृति और सम्प्रजन्य इमके परिष्कार है।

प्रीति का ग्रतिक्रमण करने से ग्राँर वितर्क-विचार के उपशम से तृतीय ध्यान का लाभी उपेक्षाभाव रखता है, वह समदर्शी होता है, ग्रर्थात् पक्षापात-रहित हो देखता है। इसकी सम-दर्शिता विशद, विपुल ग्राँर स्थिर होती है। इस कारण तृतीय ध्यान का लाभी उपेक्षक कहलाता है।

उपेक्षा दस प्रकार की होती है—- १ पडगोपेक्षा, २ ब्रह्मविहारोपेक्षा, ३ बोध्यगो-पेक्षा, ४ वीर्योपेक्षा, ५ सस्कारोपेक्षा, ६ वेदनोपेक्षा, ७. विपश्यनोपेक्षा, ८ तत्रमध्यत्वोपेक्षा, ६ ध्यानोपेक्षा और १० परिशद्धयुपेक्षा।

छः इन्द्रियों के छ इष्ट-ग्रनिष्ट विषयों से क्लिप्ट न होना ग्रौर ग्रपनी शुद्ध-प्रकृति को निश्चल रखना 'पडगोपेक्षा' है। सब प्राणियों के प्रति समभाव रखना ब्रह्मविहारोपेक्षा कहलाती है। ग्रालम्बन में चित्त की ममप्रवृत्ति से ग्रौर प्रग्रह-निग्रह-मम्प्रहर्षण के विषय में व्यापार का ग्रभाव होने से मम्प्रयुक्त धर्मों में उदासीन वृत्ति को बोध्यगोपेक्षा कहते हैं। जो वीर्य लीन ग्रौर उद्धत भाव से रहित है, उसे वीर्योपिक्षा कहते हैं। भावना की समप्रवृत्ति के समय जो उपेक्षाभाव होता है, उसे वीर्योपेक्षा कहते हैं। प्रथम ध्यान ग्रादि से नीवरण ग्रादि का प्रहाण होता है, यह निश्चय कर ग्रौर नीवरणादि धर्मों के स्वभाव की परीक्षा कर सस्कारों के

मावेति वब्हेतीति इद दुतियल्मान एकोदिमाव। (विसुद्धिमगो, पृ०१५६) यहाँ ज्ञान 'सम्प्रज्ञान' = 'सम्प्रजन्य' है। 'स्थिति' 'समाधि' है।

7

ग्रहण में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है, वह सस्कारोपेक्षा है। यह उपेक्षा समाधिवश ग्राठ ग्रीर विपश्यनावश दस प्रकार की है। जो उपेक्षा दुख ग्रीर सुख से रहित है, वह वेदनोपेक्षा कहलाती है। ग्रिनत्यादि लक्षणो पर विचार करने से पचस्कन्ध के विषय मे जो उपेक्षा उत्पन्न होती है, वह 'विपश्यनोपेक्षा' है। जो उपेक्षा सम्प्रयुक्त धर्मों की समप्रवृत्ति में हेतु होती है, वह 'तत्मध्यत्वोपेक्षा' है। जो उपेक्षा तृतीय ध्यान के ग्रग्रसुख के विषय मे भी पक्षपात-रहित है, वह 'ध्यानोपेक्षा' कहलाती है। जो उपेक्षा नीवरण, वितर्क, विचारादि ग्रन्तरायो से विमुक्त है ग्रीर जो उनके उपशम के व्यापार मे प्रवृत्त नहीं है, वह 'पारिगुद्ध्युपेक्षा' कहलाती है।

इन दस प्रकार की उपेक्षाग्रो में पडगोपेक्षा, ब्रह्मविचारोपेक्षा, बोध्यगोपेक्षा, तत्नमध्यत्वो-पेक्षा, ध्यानोपेक्षा ग्रीर पारिशुद्ध्युपेक्षा ग्रर्थ में एक है, केवल अवस्था-भेद से सज्ञा में भेद किया गया है। इसी प्रकार, सस्कारोपेक्षा ग्रीर विपश्यनोपेक्षा का ग्रर्थत एकीभाव है। यथार्थ में दोनो प्रज्ञा के कार्य है। केवल कार्य के भेद से सज्ञा-भेद किया गया है। विपश्यना-ज्ञान द्वारा लक्षण-त्रय का ज्ञान होने से सस्कारों के अनित्यभावादि के विचार में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है, वह विपश्यनोपेक्षा है। लक्षण-त्रय के ज्ञान से तीन भवी को ग्रादीप्त देखनेवाले योगी को सस्कारों के ग्रहण में जो उपेक्षा होती है, वह सस्कारोपेक्षा है। किन्तु वीर्योपेक्षा ग्रीर वेदनोपेक्षा, एक दूसरे से, तथा अन्य उपेक्षाग्रो से, ग्रर्थ में भिन्न है। इन दस उपेक्षाग्रो में से यहाँ ध्यानो-पेक्षा ग्रिभेग्रत है। उपेक्षा-भाव इसका लक्षण है, प्रणीत सुख का भी यह ग्रास्वाद नहीं करती, प्रीति से यह विरक्त है ग्रीर व्यापार-रहित है।

यह उपेक्षा-भाव प्रथम तथा द्वितीय घ्यान में भी पाया जाता है। पर, वहाँ वितर्क ग्रादि से अभिभूत होने के कारण इसका कार्य अव्यक्त रहता है, तृतीय घ्यान में वितर्क, विचार ग्रीर प्रीति से अनिभभूत होने के कारण इसका कार्य परिव्यक्त होता है, इसलिए इसी घ्यान के सम्बन्ध में कहा गया है कि योगी तृतीय घ्यान का लाभ कर उपेक्षा-भाव से विहार करता है। तृतीय घ्यान का लाभी सदा जागरूक रहता है ग्रीर इस बात का घ्यान रखता है कि प्रीति से ग्रपनीत तृतीय घ्यान का सुख प्रीति से फिर सम्प्रयुक्त न हो जाय। तृतीय घ्यान का सुख ग्रीति से फिर सम्प्रयुक्त न हो जाय। तृतीय घ्यान का सुख ग्रीति मधुर है। इससे बढ़कर कोई दूसरा सुख नहीं है ग्रीर जीव स्वभाव से ही सुख में अनुरक्त होते हैं। इसी लिए योगी इस घ्यान में स्मृति ग्रीर सम्प्रजन्य द्वारा सुख में ग्रामक्त नहीं होता ग्रीर प्रीति को उत्पन्त नहीं होने देता। जिस प्रकार छुरे की धार पर बहुत सँभालकर चलना होता है, उसी प्रकार इस घ्यान में चित्त की गित का भली भाँति निरूपण करना पडता है ग्रीर मदा सतर्क एव जागरूक रहना पडता है।

योगी इस ध्यान मे चैतिसक सुख का लाभ करता है और ध्यान से उठकर कायिक सुख का भी अनुभव करता है, क्योंकि उसका शरीर अति प्रणीत रूप से व्याप्त हो जाता है।

१ चार ध्यान श्रीर चार श्रारूप ।

२ चार मार्ग, चार फल, शुन्यता-विहार श्रीर श्रनिमित्त का विहार।

३ कामभव, रूपमव श्रीर श्ररूपमव।

जव तीमरे ध्यान का पाँच प्रकार से अच्छी तरह अभ्यास हो जाता है, तव तृतीय ध्यान से उठकर योगी विचारता है कि तृतीय ध्यान मदोप है, क्योंकि इनका सुख स्यून है और इमलिए इसके अग दुर्वल हैं। यह देखकर कि चतुर्थ ध्यान णान्त है, उसे चतुर्थ ध्यान के श्रधिगम के लिए यत्नशील होना चाहिए।

जव स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक वह ध्यान के ग्रगो की प्रत्यवेक्षा करता है, तव उसे मानूम होता है कि चैतिमक सुख स्थूल है ग्रौर उपेक्षा, वेदना तथा चित्तैकाग्रता शान्त है। तब स्थूल ग्रग के प्रहाण तथा शान्त ग्रगो के प्रतिलाभ के लिए वह उसी पृथ्वीनिमित्त का वार-वार ध्यान करता है। भवाग का उपच्छेद कर चित्त का ग्रावर्जन होता है, जिमसे यह सूचित होता है कि ग्रव चतुर्य ध्यान सम्पादित होगा, उसी पृथ्वी-किसण में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते है, केवल भन्तिम जवन रूपावचर चौथे ध्यान का है।

चतुर्यं ध्यान के दो ग्रग है—१ उपेक्षा-वेदना ग्रौर २ एकाग्रता। चतुर्यं ध्यान के उपचार-क्षण में चैतिसक सुख का प्रहाण होता है। कायिक दु ख का प्रथम ध्यान के उपचार-क्षण में, चैतिसक दु ख का द्वितीय ग्रौर कायिक सुख का तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण में निरोध होता है; पर ग्रतिशय निरोध उस ध्यान की ग्रपंणा में ही होता है। प्रथम ध्यान के उपचार-क्षण में जो निरोध होता है, वह ग्रत्यन्त निरोध नहीं है, पर ग्रपंणा में प्रीति के स्फुरण से सारा शरीर सुख से ग्रवकान्त होता है। इस प्रकार, प्रतिपक्षी सुख द्वारा दु खेन्द्रिय का ग्रत्यन्त निरोध होता है। इसी प्रकार, यद्यपि द्वितीय ध्यान के उपचार-क्षण में चैतिसक दु ख का प्रहाण होता है, तथापि वितक ग्रौर विचार के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर ग्रपंणा में वितक ग्रौर विचार के ग्रभाव से इसकी कोई मम्मावना नहीं है। इसी प्रकार, यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण में कायिक सुख का निरोध होता है, तथापि सुख के प्रत्यय (=हेतु) प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है। पर ग्रपंणा में प्रीति के ग्रत्यन्त निरोध से इसकी सम्भावना नहीं रह जाती। इसी तरह चतुर्थं ध्यान के उपचार-क्षण में ग्रपंणा-प्राप्त उपेक्षा के ग्रभाव तथा भली भाँति चैतिसक सुख का ग्रतिकम न होने से चैतिसक सुख की उत्पत्ति सम्भव है, पर ग्रपंणा मे इसकी सम्भावना नहीं है।

यह दु ख ग्रौर सुख-रहित वेदना ग्रितिमूक्ष्म ग्रौर दुविंज्ञेय है, मुगमता से इसका ग्रहण नहीं हो सकता । यह न कायिक सुख है, न कायिक दु ख, न चैतिसक सुख है, न चैतिसक दु ख। यह सुख, दु ख, मौमनस्य (चवैतिसक मुख) ग्रौर दौर्मनस्य (चवैतिसक दु ख) का ग्रभाव-मात्र नहीं है। यह तीमरी वेदना है। इसे उपेक्षा भी कहते हैं। यही उपेक्षा चित्त की विमुक्ति (पालि = चेतोविमुत्ति) है। सुख-दु खादि के प्रहाण से इसका ग्रिधिंगम होता है।

मुख ग्रादि के घात से राग-द्वेप-प्रत्यय (=हेतु)-सहित नष्ट हो जाते हैं, ग्रर्थात् उनका दूरीभाव हो जाता है। चतुर्थ ध्यान में स्मृति परिशुद्ध होती है। यह परिशुद्धि उपेक्षा के द्वारा होती है, ग्रन्थया नही है। केवल स्मृति ही परिशुद्ध नहीं होती, किन्तु सब सम्प्रयुक्त

१ "चत्नार्यन्त्ये स्मृत्युपेक्षाऽनुखाऽदु खसमाध्य ।" ( श्रमिधर्मेकोश, ८।८ )

धर्म भी परिणुद्ध हो जाते हैं। यद्यपि पहले तीन ध्यानो में भी उपेक्षा विद्यमान है, तथापि उनमें वितर्क ग्रादि विरोधी धर्मों द्वारा श्रिभभूत होने से तथा सहायक प्रत्ययों की विकलता से उनकी श्रपेक्षा श्रपरिणुद्ध होती है श्रीर उसके अपरिणुद्ध होने से सहजात धर्म, स्मृति श्रादि भी श्रपरिणुद्ध होते हैं। पर, चतुर्थ ध्यान में वितर्क ग्रादि विरोधी धर्मों के उपणम से तथा उपेक्षा-वेदना के प्रतिलाभ से उपेक्षा श्रत्यन्त परिणुद्ध होती है श्रीर साथ ही स्मृति श्रादि भी परिणुद्ध होती है।

ध्यान-पचक के द्वितीय ध्यान भे केवल वितर्क नही होता श्रीर विचार, प्रीति, सुख, श्रीर एकाग्रता यह चार श्रग होते हैं। तृतीय ध्यान में विचार का परित्याग होता है श्रीर प्रीति, सुख श्रीर एकाग्रता यह तीन श्रग होते हैं; श्रन्तिम दो ध्यान ध्यान-चतुष्क के तृतीय श्रीर चतुर्थ हैं। ध्यान-चतुष्क के द्वितीय ध्यान को ध्यान-पचक में दो ध्यानों में विभक्त करते हैं।

ग्रापो-कसिण—सुखपूर्वक वैठकर जल मे निमित्त का ग्रहण करना चाहिए। नील, पीत, लोहित ग्रोर श्रवदात वर्णों में किसी वर्ण का जल ग्रहण न करना चाहिए। पूर्व इसके कि श्राकाश का जल भूमि पर प्राप्त हो, उसे शुद्ध वस्त्र में ग्रहण कर किसी पात्र मे रखना चाहिए। इस जल का या किसी दूसरे शुद्ध जल का व्यवहार करना चाहिए। जल से भरे मात्र को (विदित्य चतुरगुल-वत्तुंल) विहार के प्रत्यन्त में किसी ढके स्थान मे रखना चाहिए। भावना करते हुए वर्ण ग्रोर लक्षण की प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिए। भावना करते-करते कम से पूर्वोक्त प्रकार से निमित्तद्वय की उत्पत्ति होती है, पर इसका उद्ग्रह-निमित्त चिलत प्रतीत होता है। यदि जल मे फेन ग्रोर बुद्बुद् उठता हो, तो किसण-दोष प्रकट हो जाता है। प्रतिभाग-निमित्त स्थिर है। उक्तरीत्या योगी 'ग्रापो-किसण' का ग्रालम्बन कर ध्यानो का उत्पाद करता है।

तेजो-कसिण—तेजो-कसिण की भावना करने की इच्छा रखनेवाले योगी को श्रग्नि में निमित्त का ग्रहण करना चाहिए। जो ग्रधिकारी है, वह श्रकृत ग्रग्नि में भी—जैसे दावाग्नि-निमित्त का उत्पाद कर सकता है, पर जो ग्रधिकारी नहीं है, उसे सूखी लकडी लेकर ग्राग जलाना पडता है। चटाई, चमडे या कपडे के टुकडे में एक वालिण्त चार श्रगुल का छेद कर उसे ग्रपने सामने रख लेना चाहिए, जिसमें नीचे का तृण-काष्ठ श्रीर ऊपर की धूमिशिखा न दिखाई देकर केवल मध्यवर्ती श्राग्नि की घनी ज्वाला ही दिखलाई दे। इसी घनी ज्वाला में निमित्त का ग्रहण करना चाहिए। नील, पीत श्रादि वर्ण तथा उष्णता श्रादि लक्षण की प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिए। केवल प्रज्ञप्तिमात्र में चित्त को प्रतिष्ठित कर भावना करनी चाहिए। उक्त प्रकार से भावना करने पर कमपूर्वक दोनो निमित्त उत्पन्न होते हैं। उद्ग्रह-निमित्त में ग्रग्निज्वाला खण्ड-खण्ड होकर गिरती हुई मालूम होती है। प्रतिभाग-निमित्त निश्चल

ध्यान-पचक के द्वितीय ध्यान को श्रिभिधर्म कोश में 'ध्यानान्तर' कहा है - 'श्रतर्क ध्यानमन्तरम् ।'त्रावर)

होता है। उक्तरीत्या योगी उपचार-ध्यान का लाभी हो, क्रमपूर्वक ध्यानो का उत्पाद करता है।

वायो-कसिण-योगी को वायु में निमित्त का ग्रहण करना होता है। दृष्टि या स्पर्श द्वारा इस निमित्त का ग्रहण होता है।

घने पत्तो-सहित गन्ना, वाँस या किसी दूसरे वृक्ष के ग्रग्रभाग को वायु से सचालित होते देखकर चलनाकार से निमित्त का ग्रहण कर प्रहारक-वायु-सघात में स्मृति की प्रतिष्ठा करनी चाहिए या शरीर के किसी प्रदेश में वायु का स्पर्ग ग्रनुभव कर सघट्टनाकार में निमित्त का ग्रहण कर वायु-सघात में स्मृति की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। इसका उद्ग्रह-निमित्त चल श्रीर प्रतिभाग-निमित्त निश्चल श्रीर स्थिर होता है। ध्यानोत्पाद की प्रणाली वही है जो पृथ्वी-किसण के सम्बन्ध में वनाई गई है।

नील-फिसण—जो श्रधिकारी है, उसे नील-पुष्प-सस्तर, नील-वस्त्र या नीलमणि देखकर निमित्त का उत्पाद होता है। पर जो श्रधिकारी नहीं है, उसे नीले रंग के फूल लेकर उन्हें टोकरी में फैला देना चाहिए श्रौर ऊपर तक फूल की पित्तयों को इस तरह भर देना चाहिए, जिसमें केसर या वृन्त न दिखलाई पड़े या टोकरी को नीले कपड़े से इस तरह बांधना चाहिए, जिसमें वह नील-मण्डल की तरह मालूम पड़े, या नील वर्ण के किसी धातु को लेकर चल-मण्डल बनावे या दीवार पर उसी धातु से किसण-मण्डल बनावे ग्रौर उसे किसी श्रमदृश वर्ण से परिच्छिन्न कर दे। फिर उसपर भावना करे। श्रेप किया पृथ्वी-किसण के समान है।

पीत-कसिण-पीतवर्ण के पुष्प, वस्त्र या धातु में निमित्त का ग्रहण करना पडता है।

लोहित-कसिण — रक्तवर्ण के पुष्प, वस्त्र या धातु में नील-किमण की तरह भावना करनी होती है।

ग्रालोक-कसिण--जो ग्रधिकारी है, वह प्राकृतिक ग्रालोक-मण्डल मे निमित्त का ग्रहण करता है। सूर्य या चन्द्र का जो ग्रालोक खिडकी या छेद के रास्ते प्रवेश कर दीवार या जमीन पर ग्रालोक-मण्डल वनाता है या घने वृक्ष की शाखाग्रो से निकलकर जो ग्रालोक जमीन पर ग्रालोक-मण्डल वनाता है, उसमें भावना द्वारा योगी निमित्त का उत्पाद करता है। पर यह ग्रवभास-मण्डल चिरकाल तक नहीं रहता। इसलिए, साधारण-जन इसके द्वारा निमित्त का उत्पाद करने में ग्रसमर्थ भी होते हैं। ऐसे लोगों को घट में दीपक जलाकर घट के मुख को ढक देना चाहिए, ग्रीर घट में छेदकर घट को दीवार के सामने रख देना चाहिए। छेद से दीप का जो ग्रालोक निकलता है, वह दीवार पर मण्डल बनाता है। उसी ग्रालोक-मण्डल

में भावना करनी चाहिए। उद्ग्रह-निमित्त दीवार या जमीन पर बने आलोक-मण्डल की तरह होता है। प्रतिभाग-निमित्त बहल ग्रौर शुभ्र ग्रालोक-पुज की तरह होता है।

परिच्छिन्नाकाञ्च-कसिण — जो ग्रिधकारी है, वह किसी छिद्र में निमित्त का उत्पाद कर लेता है। सामान्य योगी सुच्छन्न मण्डल मे या चमडे की चटाई में एक वालिश्त चार ग्रगुल का छेद बनाकर उसी छेद मे भावना द्वारा निमित्त का ग्रहण करता है। उद्ग्रह-निमित्त दीवार के कोनो के साथ छेद की तरह होता है। उसकी वृद्धि नहीं होती। प्रतिभाग-निमित्त श्राकाश-मण्डल की तरह उपस्थित होता है। उसकी वृद्धि हो सकती है।

## दस ग्रशुभ कर्मस्थान

कर्मंस्थानो का सक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है। उद्धुमातक ग्रादि इन दस कर्मस्थानो का ग्रहण ग्राचार्य के पास ही करना चाहिए। कर्मस्थान सभाग है या विसभाग, इसकी परीक्षा करनी चाहिए। पुरुष के लिए स्त्री-शरीर विसभाग है और स्त्री के लिए पुरुष-शरीर। इमलिए, श्रशुभ कर्मस्थान श्रमुक जगह पर है, ऐसा जानने पर भी उसको ठीक जाँच करके ही उस स्थान पर जाना चाहिए। जाने के पहले सघस्यविर या ग्रन्य किसी स्थविर-भिक्षु को कहकर ही जाना चाहिए। ऐसे कर्मस्थान प्राय श्मशान पर ही मिलते हैं, जहाँ वन्य पणु, भूत-प्रेत ग्रीर चोरो का भय रहता है। सघस्यविर को कहकर जाने से योगावचर-भिक्षु की पूर्ण व्यवस्था की जा सकती है। योगी को ऐसे कर्मस्थान के पास ग्रकेला जाना चाहिए। उपस्थित स्मृति से, सवृत इन्द्रियो से, एकाग्रचित्त से, जिस प्रकार क्षत्रिय ग्रभिषेक-स्थान पर, या यजमान यज्ञशाला पर, या निर्धन निधि-स्थान की स्रोर सौमनस्यचित्त से जाता है, उसी प्रकार योगी को स्रशुभ-कर्मस्थान के पास जाना चाहिए। वही जाकर ग्रशुभ निमित्त को सहज भाव से देखना चाहिए। उसको वर्ण, लिंग, सस्थान, दिशा, अवकाण, परिच्छेद, सन्धि, विवर आदि निमित्तो को सुगृहीत करना चाहिए। ग्रशुभ ध्यान के गुणो का दर्शन करके ग्रशुभ कर्मस्थान को ग्रमूल्य रत के समान देखकर उसे चित्ता को उस ग्रालम्बन पर एकाग्र करना चाहिए ग्रौर सोचना चाहिए कि ---"मै इस प्रतिपदा के कारण जरा-मरण से मुक्त होऊँ।" चित्त की एकाग्रता के साथ ही वह वह कामो से विविक्त होता है, अकुशल धर्मों से विविक्त होता है श्रीर विवेकज प्रीति के साथ प्रथम ध्यान को प्राप्त करता है। इस कर्मस्थान मे प्रथम ध्यान को ग्रागे वढाया नहीं जाता, क्योंकि यह ग्रालम्बन दुर्बल होने से वितर्क के विना चित्त उसमें स्थिर नहीं रहता। इसी कारण प्रथम ध्यान के बाद इसी ग्रालम्बन को लेकर द्वितीय ध्यान ग्रसम्भव है।

## दस अनुस्मृतियाँ

दस किसण और दस अशुभ कर्मस्थान के वाद दस अनुस्मृति-कर्मस्थान उद्दिप्ट है। पुन -पुन उत्पन्न होनेवाली स्मृति ही अनुस्मृति है। प्रवर्त्तन के योग्य स्थान मे ही प्रवृत्त होने के कारण अनुरूप स्मृति को भी अनुस्मृति कहते हैं। दस अनुस्मृतियाँ इस प्रकार है:

बुद्धानुस्मृति—बुद्ध की अनुस्मृति, जो योगी इस अनुस्मृति को प्राप्त करना चाहता है, उसे प्रसादयुक्त चित्त से एकान्त मे वैठकर "भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध है, विद्याचरण- सम्पन्न हैं, सुगत हैं, लोकविद् हैं, णास्ता है" इत्यादि प्रकार से भगवान् घुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करते समय योगी के चित्त में न राग पर्युं त्यित होता है, न द्वेष पर्युं त्यित होता है, न मोह पर्युं त्यित होता है। तथागत के चित्त का आलम्बन करने से उसका चित्त ऋजु होता है, नीवरण विष्कम्भित होते हैं, श्रीर बुद्ध के गुणों का ही चिन्तन करनेवाले वितर्क श्रीर विचार उत्पन्न होते हैं। बुद्धगुणों के वितर्क-विचार से प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से प्रश्रव्धि पैदा होती हैं, जो काय श्रीर चित्त को प्रभान्त करती है। प्रभान्त भाव से सुख श्रीर सुख से समाधि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अनुक्रम से एक क्षण में ध्यान के ग्रग उत्पन्न होते हैं। बुद्ध-गुणों की गम्भीरता के कारण श्रीर नाना प्रकार के गुणों की स्मृति होने के कारण यह चित्त श्रव्णां को प्राप्त नहीं होता, केवल उपचार-समाधि ही प्राप्त होती है। यह समाधि बुद्धगुणों के अनुस्मरण से उत्पन्न होती है, इसलिए इसे बुद्धानुस्मृति कहते हैं।

इस वुद्धानुस्मृति से अनुयुक्त भिक्षु शास्ता में सगौरव होता है, प्रसन्त होता है, श्रद्धा, स्मृति, प्रज्ञा और पुण्य-वैपुल्य को प्राप्त करता है, भव-भैरव को सहन करता है। वुद्धानुस्मृति के कारण उसका शरीर भी चैत्यगृह के समान पूजाई ोता है, उसका चित्त वुद्धभूमि में प्रतिष्ठित होता है।

धर्मानुस्मृति—धर्मानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक योगी को विचार करना चाहिए कि भगवान् से धर्म स्वाख्यात है। यह धर्म सदृष्टिक, प्रकालिक, एहिपस्सिक, ग्रोपने ियक ग्रौर विज्ञो से प्रत्यक्ष जानने योग्य है। इस प्रकार धर्म की स्मृति करने से वह धर्म में सगौरव होता है। ग्रनुत्तर धर्म के अधिगम में उसका चित्त प्रवृत्त होता है। इसमें भी ग्रपंणा प्राप्त नही होती। केवल उपचार-समाधि प्राप्त होती है।

सघानुस्मृति—सघानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक योगी को विचार करना चाहिए कि भगवान् का श्रावक-सघ सुप्रतिपन्न है, ऋजुप्रतिपन्न, श्रायंधर्मप्रतिपन्न है, सम्यक्त-प्रतिपन्न है। भगवान् का श्रावक-सघ श्रोतापन्न ग्रावि ग्रप्ट पुरुषो का वना हुग्रा है। वह दिक्षणेय है, ग्रजलिकरणीय है, ग्रौर लोक के लिए ग्रनुत्तर पुण्य-क्षेत्र है। इस प्रकार की सघानु-स्मृति से योगी सघ में सगौरव होता है, ग्रन्तर मार्ग की प्राप्ति में उसका चित्त दृढ होता है। यहाँ पर भी केवल उपचार-समाधि होती है।

शीलानुस्मृति—शीलानृस्मृति में योगी एकान्त स्थान में श्रपने शीलो पर विचार करता है कि "श्रहो । मेरे शील श्रखण्ड, श्रन्छिद्र, श्रश्वल, श्रिकिल्वप, स्वतन्त्र विज्ञो से प्रशस्त, श्रपरामृष्ट श्रौर समाधि—सवर्त्तनिक है।" यदि योगी गृहस्थ हो, तो गृहस्थ-शील का, प्रश्नित हो, तो प्रव्रजितशील का, स्मरण करना चाहिए। इस श्रनुस्मृति से योगी शिक्षा में सगौरव होता है। श्रणुमाल दोप में भी भयका दर्शन करता है, श्रौर श्रनुत्तर शील को प्राप्त करता है। इस श्रनुस्मृति में भी श्रपंणा नही होती। उपचार-ध्यान-माल होता है।

त्यागानुस्मृति—त्यागानुस्मृति को प्राप्त करने से इच्छुक योगी को चाहिए कि वह इस स्मृति को करने के पहले कुछ-न-कुछ दान दे। ऐसा निश्चय भी करे कि विना कुछ दान दिये में ग्रन्न-ग्रहण न करूँगा। ग्रपने दिये दान को ही ग्रालम्बन वनाकर वह सोचता है कि "ग्रहो! लाभ है मुझे, जो मत्मरमलो से युक्त प्रजा के वीच में भी विगत-मत्मर हो विहार करता हूँ। मुक्तत्याग, प्रयतपाणि, व्युत्मर्गरत, याचयोग ग्रीर दान-सविभागरत हूँ।" इस विचार के कारण चित्त प्रीति-बहुल होता है ग्रीर उसे उपचार-समाधि प्राप्त होती है।

देवतानुस्मृति—देवतानुस्मृति मे योगी आर्यमार्ग में स्थिर रहकर चातुर्महाराजिक आदि देवो को साक्षी वनाकर अपने श्रद्धादि गुणो का तथा देवताओं के पुण्य-सम्भार का ध्यान करता है। इस अनस्मृति से योगी देवताओं का प्रिय होता है। इसमें भी वह उपचार-ममाधि को प्राप्त करता है।

मरणानुस्मृति—एक भव-पर्यापन्न जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद को मरण कहते हैं। श्रहेंतों का वत्तंदुःख-समुच्छेद-मरण या सस्कारों का क्षणभग-मरण, यहाँ श्रिभिन्नेत नहीं है। जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद से जो मरण होता है, वहीं यहाँ श्रिभिन्नेत हैं। उसकी भावना करने के इच्छुक योगी एकान्त स्थान में जाकर 'मरण होगा, जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा', ऐसा विचार करता है। मरण-मरण' इस प्रकार वार-वार चित्त में विचार करता है। मरणानुस्मृति में योग्य श्रालम्बन को चुनना चाहिए। इष्टजनों के मरणानुस्मरण से शोक होता है, श्रिनष्ट-जनों के मरणानुस्मरण से प्रामोद्य होता है, मध्यस्थ जनों के मरणानुस्मरण से सवेग नहीं होता। श्रपने ही मरण के विचार से सन्त्रास उत्पन्न होता है। इसलिए जिनकी पूर्व सम्पत्ति श्रौर वैभव को देखा हो, ऐसे सत्त्वों के मरण का विचार करना चाहिए, जिससे स्मृति, सवेग श्रौर ज्ञान उपस्थित होता है। इस चिन्तन से उपचार-समाधि की प्राप्त होती है। मरणानुस्मृति में उपयुक्त योगी सतत श्रप्रमत्त रहता है, सर्व भवों से श्रनिभरित-सज्ञा को प्राप्त करता है जीवित की तृष्णा को छोडता है श्रौर निर्वाण को प्राप्त करता है।

कायगतानुस्मृति—यह ग्रनुस्मृति वहुत महत्त्व की है। वृद्धघोष के ग्रनुमार यह केवल वृद्धों से ही प्रवर्त्तित ग्रीर सर्वतीर्थिको का ग्रविषयभूत है। भगवान् ने भी कहा है—"भिक्षुग्रो। एक धर्म यदि भावित, वहुलीकृत है, तो महान् सवेग को प्राप्त करता है, महान् ग्रर्थ को, योगक्षेम को, स्मृति-सम्प्रजन्य को, ज्ञान-दर्शन-प्रतिलाभ को, दृष्ट-धर्म-मुख-विहार को, विद्या-विभुक्त-फल-साक्षात्करण को प्राप्त करता है। कौन है वह एक धर्म ? कायगता स्मृति ही वह धर्म है। जो कायगता स्मृति को प्राप्त करता है, वह ग्रमृत को प्राप्त करता है।

कायगता स्मृति को प्राप्त करने का इच्छुक योगी इस गरीर को पादतल से केण-मन्तक तक ग्रीर त्वचा से ग्रस्थियो तक देखता है। इस गरीर में केण, लोम, नख, दन्न, त्वचा, मास, न्हाक, ग्रस्थि, ग्रस्थिमज्ज, वृक्क, हृदय ग्रादि वत्तीय कर्मस्थानों को देखकर ग्रणुचि-मावना को प्राप्त करता है। ये कर्मस्थान ग्राचार्य के पान ग्रहण करके इन चौतीय कर्मन्थानों का श्रनुलोम-प्रतिलोम कम से वार-वार मन-वचन में स्वाध्याय करता है। फिर, उन कर्मन्थानों के वर्ण-सस्थान, परिच्छेद ग्रादि का चिन्तन करता है। इन कर्मस्थानों का श्रनुपूर्व में नातिर्णाध्य श्रीर नातिमन्द गित से, श्रविक्षिप्तिचित्त से चिन्तन करता है। इस प्रकार इन, वत्तीस कर्मस्थानों में से एक-एक कर्मस्थान में वह अर्पणासमाधि को प्राप्त करता है। कायगता स्मृति के पूर्व की सात अनुस्मृतियों में अर्पणा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वहाँ आलम्बन गम्भीर है और अनेक है। यहाँ पर योगी सतत अभ्यास से एक-एक कोट्ठास को लेकर प्रथम ध्यान को प्राप्त करता है। इस कायगता स्मृति में अनुयुक्त योगी अरित-रित-सह होता है। उत्पन्नरित और अरित को अभिभूत करता है, भव-भैरव को महन करता है, णीतोष्ण को सहन करता है, चार ध्यानों को प्राप्त करता है और पडिभन्न भी होता है।

श्रानापान-स्मृति—स्मृतिपूर्वक श्राश्वास-प्रश्वास की किया द्वारा जो समाधि प्राप्त होती है, उसे श्रानापान-स्मृति कहते हैं। यह णान्त, प्रणीत, श्रव्यवकीर्ण, श्रोजस्वी श्रौर सुख-विहार है।

इसका विशेष वर्णन ग्रागे किया जा रहा है।

उपशमानुस्मृति—इस श्रनुस्मृति मे योगी निर्वाण का चिन्तन करता है। बह एकान्त मे समाहित चित्त मे मोचता है कि जितने सस्कृत या श्रसस्कृत धर्म है, उन धर्मों में श्रग्र-धर्म निर्वाण है। वह मद का निर्मर्दन है, पिपासा का विनयन है, श्रालय का समुद्घात है, वर्त्त का उपच्छेद हैं, तृष्णा का क्षय है, विराग है, निरोध है। इस प्रकार, सर्वदुःखोपशम-स्वरूप निर्वाण का चिन्तन ही उपणमानुस्मृति है। भगवान् ने इसी के बारे में कहा है कि यह निर्वाण ही सत्य है, पार है, सुदुर्दण है, श्रजर, ध्रुव, निष्प्रपच, श्रमृत, शिव, क्षेम, श्रन्यापाद्य श्रीर विणुद्ध है। निर्वाण ही दीप है, निर्वाण ही ताण है।

इस उपशमानुम्मृति से अनुयुक्त योगी मुख से सोता है, सुख से प्रतिवृद्ध होता है। इसके इन्द्रिय और मन शान्त होते है। वह प्रामादिक होता है और अनुक्रम से निर्वाण को प्राप्त करता है।

उपशम-ग्णो की गम्भीरता के कारण और अनेक गुणो का अनुस्मरण करने के हेतु से इस अनुस्मृति में अर्पणाध्यान की प्राप्ति नहीं होती । केवल उपचार-ध्यान की ही प्राप्ति होती है।

म्रानापान-स्मृति

चित्त के एकाग्र करने के लिए पातजल-दर्शन में कई उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। योग के ये विविध साधन 'परिकर्म' कहलाते हैं। वौद्ध-साहित्य में इन्हें कर्मस्थान कहा है। ये विविध प्रकार के चित्त-संस्कार है, जिनसे चित्त एकाग्र होता है। योगशास्त्र का रेचन-पूर्वक कुम्भक इसी प्रकार का एक साधन है। इसका उल्लेख ममाधि-पाद के चौतीसवे सूत्र में किया गया है—'प्रच्छईनविधारणाभ्या वा प्राणस्य'। योगशास्त्रोक्त प्रयत्न-विशेष द्वारा भीतर की वायु को वाहर निकालना ही प्रच्छईन या रेचन कहलाता है।

<sup>9 &#</sup>x27;कम' का श्रर्य है 'योगानुयोग', स्थान का श्रर्य है निष्पत्ति-हेतु । इमलिए, 'कर्मस्थान' उसे कहते है, जिसके द्वारा योग-भावना की निष्पत्ति होती है। कर्मस्थान चालीम है।

रेचित वायु का बहिःस्थापन कर प्राणरोध करना ही विधारण या कुम्भक है। इस क्रिया में भीतर की वायु को बाहर निकालकर फिर श्वास का ग्रहण नही होता। इससे शरीर हल्का श्रीर चित्त एकाग्र होता है। यह एक प्रकार का प्राणायाम है। प्राणायाम के प्रसग में इसे बाह्य-वृत्तिक प्राणायाम कहा है। योगदर्शन में चार प्रकार के प्राणायाम वर्णित है (देखिए साधनपाद, सूत्र ५०-५१) । बाह्य-वृत्तिक, ग्राभ्यन्तर-वृत्तिक, स्तम्भ-वृत्तिक ग्रौर बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी । प्राणायाम का ऋर्य है श्वास-प्रश्वास का ऋभाव, ऋर्यात् श्वासरोध । बाह्य-वृत्तिक रेचक-पूर्वक कूम्भक है। ग्राभ्यन्तर-वृत्तिक पूरक-पूर्वक कुम्भक है। इस प्राणायाम मे बाह्य वायु को नासिका-पट से भीतर खीचकर फिर श्वास का परित्याग नही किया जाता है। स्तम्भ-वृत्तिक प्राणायाम ु केवल कुम्भक है। इसमें रेचक या पूरक की क्रिया के विना ही सक़त्प्रयत्न द्वारा वायु की बहिर्गति और आभ्यन्तर गति का एक साथ अभाव होता है। चौथा प्राणायाम एक प्रकार का स्तम्भ-वृत्तिक प्राणायाम है। भेद इतना ही है कि स्तम्भ-वृत्तिक प्राणायाम सक्तत्प्रयत्न द्वारा साध्य है, किन्तु चौथा प्राणायाम बहु-प्रयत्न द्वारा साध्य है । श्रभ्यास करते-करते श्रनुक्रम से चतुर्थ प्राणा-याम सिद्ध होता है, अन्यथा नही । तृतीय प्राणायाम मे पूरक और रेचक के देशादि विषय की भ्रालोचना नही की जाती। केवल देश, काल भ्रौर सख्या-परिदर्शन-पूर्वक स्तम्भ-वृत्तिक की म्रालोचना होती है। किन्तु, चतुर्थ प्राणायाम मे पहले देशादि परिदर्शन-पूर्वक बाह्य वृत्ति स्रौर भ्राभ्यन्तर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। चिरकाल के अभ्यास से जब ये दो वृत्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है, तब साधक इनका अतिक्रम कर श्वास का रोध करता है। यही चतुर्थ प्राणायाम है । तृतीय ग्रौर चतुर्थ प्राणायाम में बाह्य ग्रौर ग्राभ्यन्तर वृत्तियो का ग्रतिक्रम होता है, अन्तर इतना ही है कि तृतीय प्राणायाम मे यह अतिक्रम एक बार मे ही हो जाता है। किन्त, चतुर्थ प्राणायाम में चिरकालीन अभ्यासवश ही अनुक्रम से यह अतिक्रम सिद्ध होता है। बाह्य स्रोर स्राभ्यन्तर वृत्तियो का स्रभ्यास करते-करते पूरण श्रोर रेचन का प्रयत्न इतना सूक्ष्म हो जाता है कि वह विधारण मे मिल जाता है।

प्राणायाम योग का एक उत्कृष्ट साधन है। बौद्धागम में इसे श्रानापान-स्मृति-कर्मस्थान कहा है। 'ग्रान' का ग्रर्थ है 'साँस लेना' श्रौर 'ग्रपान' का ग्रर्थ है 'साँस छोडना'। इन्हे श्राक्ष्वास-प्रक्वास भी कहते हैं। स्मृति-पूर्वक ग्राक्ष्वास-प्रक्वास की किया द्वारा जो समाधि मे

१. विनय की अर्थकथा (टीका) के अनुसार आश्वास' सांस छोड़ने को और 'प्रश्वास' सांस छेने को कहते हैं। छेकिन, सन्न की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ इसका ठीक उलटा है। आचार्य बुद्ध प विनय की अर्थकथा का अनुसरण करते हैं। उनका कहना है कि जब बालक माता की कोख से बाहर आता है, तब पहले भीतर की हवा बाहर जाती है, और पीछे बाहर की हवा भीतर प्रवेश करती है। इस प्रवृत्ति-क्रम से आश्वास वह वायु है, जिसका निःसारण होता है। सन्न की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ पातजल योगसन्न के व्यास-भाष्य के अनुसार हैं (२१४६ पर व्यास भाष्य 'बाह्यस्थवायोरानयन श्वासः, कोष्ठ्यस्य वायोः नि सारण प्रश्वासः ।')

निष्पन्न की जाती है, वह ग्रानापान-स्मृति-समाधि कहलाती है। भगवान् वृद्ध ने १६ प्रकार से इस समाधि की भावना करने की विधि निर्दिष्ट की है। वृद्ध-शासन में इस समाधि की विधि का ग्रहण सर्वप्रकार से किया गया है। परमार्थमजूपा टीका (विशुद्धिमार्ग की एक टीका) के ग्रनुसार ग्रन्य शासनो के श्रमण भावना के प्रथम चार प्रकार ही जानते है। १

यह एक प्रकृष्ट कर्मस्थान समझा जाता है। ग्राचार्य वुद्धघोप का कहना है कि ४० कर्मस्थानों में इसका शीर्पस्थान है ग्रीर इसी कर्मस्थान की भावना कर सब बुद्ध, प्रत्येकवृद्ध ग्रीर वुद्ध-श्रावको ने विशेष फल प्राप्त किया है। र नाना प्रकार के वितर्कों के उपशम के लिए भगवान् ने इस कर्मस्थान को विशोप रूप से उपयुक्त वताया है। 3 दस अशुभ कर्मस्थानी के श्रालम्बनो की तरह (मृत शरीर के भिन्न-भिन्न प्रकार की भावना) इसका श्रालम्बन वीमत्स श्रीर जुगुप्सा-भाव उत्पन्न करनेवाला नहीं है। यह कर्मस्थान किसी दृष्टि से भी श्रशान्त श्रीर श्रप्रणीत नहीं है। श्रन्य कर्मस्थानों में शान्तभाव उत्पादित करने के लिए पृथ्वी-मण्डलादि वनाना पडता है श्रीर भावना द्वारा निमित्त का उत्पादन करना पडता है। पर, इस कर्मस्थान में किसी विशेष किया की ग्रावश्यकता नही है। ग्रन्य कर्मस्थानो में उपचार-क्षण में विघ्नो के विष्कम्भन श्रीर श्रगो के प्रादुर्भाव के कारण ही शान्ति होती है। पर, यह समाधि तो स्वभाव-वश ग्रारम्भ से ही शान्त ग्रौर प्रणीत है। इसलिए, यह ग्रसाधारण है। जव-जव इस समाधि की भावना होती है, तव-तव चैतसिक सुख प्राप्त होता है और ध्यान से उठने के समय प्रणीत रूप से शरीर व्याप्त हो जाता है ग्रीर इस प्रकार कायिक सुख का भी लाभ होता है। इस श्रसाधारण समाधि की वार-वार भावना करने से उदय होने के साथ ही पाप क्षणमात में सम्यक् रूप से विलीन होते है। जिनकी प्रज्ञा तीक्ष्ण है ग्रीर जो उत्तरज्ञान की प्राप्ति चाहते हैं, उनके लिए यह कर्मस्थान विशेष रूप से उपयोगी है। क्योंकि, यह समाधि भ्रार्य-मार्ग की भी समाधि है। क्रमपूर्वक इसकी वृद्धि करने से भ्रार्य-सार्ग की प्राप्ति होती है ग्रीर क्लेशो का सातिशय विनाश होता है। किन्तु, इस कर्मस्थान की भावना सुगम नही है। क्षुद्र जीव इसकी भावना करने में समर्थ नहीं होते। यह कर्मस्थान बुद्धादि महापुरुषो द्वारा ही ग्रासेवित होता है। ४ यह स्वभाव से ही शान्त ग्रीर सूक्ष्म है। भावना-वल से उत्तरोत्तर अधिकाधिक शान्त और सूक्ष्म होता जाता है। यहाँतक कि यह दुर्लक्ष्य हो जाता है। इसीलिए इस कर्मस्थान में वलवती ग्रीर सुविशवा स्मृति ग्रीर प्रज्ञा की ग्रावश्यकता है।

 <sup>&#</sup>x27;शाहिरका हि जानन्ता श्रादितो चतुप्पकारमेव जानन्ति।'' (पृ० २५७, परमत्यमजूसा टीका)

२. ''भ्रयवा यस्मा इद कम्मट्टानप्पमेदे मुद्दभूत सव्वन्जु वुद्ध पच्चेकतुद्ध वुद्धसावकानां विसेसाधिगम-दिद्वधम्मसुख विहार पदट्ठान श्रानापानसति कम्मट्ठानं ।'' (विसुद्धिमग्गो, पृ० २६६)

३. ''श्रानापानसित भावेतव्या वितवकुपच्छे दायातिः ।'' (श्रपुत्तरनिकाय, ४।३५३), ''तत्राऽतरन्त्य शुभयाऽनापानस्मृतेन च । रागवितकंषहुला शृह्लला सर्परागिषु ।'' (श्रमिधर्मकोश, ६।६)

४. "इद पन श्रानापान सित कम्मट्ठानं गरुकं गरुकमात्रन वुद्धपच्चेक-बुद्ध-बुद्धपुत्तानं महापुरिसानमेव मनसिकारभृमिभृतं न चेव इत्तर, न इत्तरसत्तसमासेवित ।" (विसुद्धिमग्गो, पृ० २८४)

सूक्ष्म ग्रर्थ का साधन भी सूक्ष्म ही होता है। इसीलिए, भगवान् कहते है कि जिसकी स्मृति विनष्ट हो गई है और जो सम्प्रजन्य से रहित है, उसके लिए ग्रानापान-स्मृति की शिक्षा नहीं है। श्रन्य कर्मस्थान भावना से विभूत हो जाते है, पर यह कर्मस्थान विना स्मृति-सम्प्रजन्य के सुगृहीत नहीं होता।

जो योगी इस समाधि की भावना करना चाहता है, उसे एकान्त-सेवन करना चाहिए। शब्द घ्यान में कण्टक होता है। वहाँ दिन-रात रूपादि इन्द्रिय-विषयों की ग्रोर भिक्ष का चित्त प्रधावित होता रहता है ग्रौर इसीलिए इस समाधि में चित्त ग्रारोहण करना नहीं चाहता। श्रत , जन-समाकुल स्थान में भावना करना दुष्कर है। उसे ग्रपने चित्त का दमन करने के लिए विषयों से दूर किसी निर्जन स्थान में रहना चाहिए। वहाँ पर्य कबद्ध होकर सुख-पूर्वक ग्रासन पर बैठना चाहिए ग्रौर शरीर के ऊपरी भाग को सीधा रखना चाहिए। इससे चित्त लीन ग्रौर उद्धत भाव का परित्याग करता है। इस तरह ग्रासन स्थिर होता है ग्रौर सुखपूर्वक ग्राश्वास-प्रश्वास का प्रवर्त्तन होता है। इस ग्रासन में बैठने से चमडा, मास ग्रौर स्नायु नहीं नमते ग्रौर जो वेदना इनके नमने से क्षण-क्षण पर उत्पन्न होती, वह नहीं होती है। इसलिए चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है। ग्रौर, कर्मस्थान वीथि का उल्लंघन न कर वृद्धि को प्राप्त होता है।

योगसूल में भी श्रासन की स्थिरता प्राप्त करने के अनन्तर ही प्राणायाम की विधि हैं (२।४६)। वहाँ भी आसन के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसे स्थिर और सुखावह होना चाहिए ('स्थिरसुखमासनम्', २।४६)। इस सूल्ल के भाष्य में कई आसनो का उल्लेख हैं। इनमें पर्यं क-आसन भी है। पर इसका जो वर्णन वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या में मिलता है, वह पालि-साहित्य में वर्णित पर्यं क-आसन में नही घटता। पालि के अनुसार पर्यं क-श्रासन में बाई जाँघ पर दाहिना पर श्रीर दाहिनी जाँघ पर वायाँ पर खना होता है। यह पद्मासन का लक्षण है। प्राय योगी इसी आसन का अनुष्ठान करते हैं। इसी पद्मासन को पालि-साहित्य में पर्यं क-श्रासन कहा है।

योगी पर्य क-वद्ध हो ग्रासन की स्थिरता को प्राप्त कर विरोधी ग्रालम्बनो का चित्त-द्वार से निवारण करता है ग्रीर इसी कर्मस्थान को ग्रपने सम्मुख रखता है। वह स्मृति का भी समोष नही होने देता। वह स्मृति-परायण हो श्वास छोडता ग्रीर श्वास लेता है। ग्राश्वास या प्रश्वास की एक भी प्रवृत्ति स्मृति-रहित नही होती, ग्रर्थात् यह समस्त किया उसकी जानकारी में होती है। जब वह दीर्घ श्वास छोडता है या दीर्घ श्वास लेता है, तब वह ग्रच्छी तरह जानता

र. ''गाइ भिक्खवे मुट्ठस्सितस्स असम्पजानस्स आनापान सितभावन वदामीति।'' (सयुत्त-निकाय, १।३।३७)

काय श्रीर चित्त की श्रवस्थाश्रों की प्रत्यवेक्षा सम्प्रजन्य' है।

**१** ''पल्लद्गन्ति समन्ततो करूषद्धासनम्।''

है कि मै दीर्ष श्वास छोड रहा हूँ या दीर्घ श्वास ले रहा हूँ। स्मृति ग्रालम्बन के समीप सदा उपस्थित रहती है ग्रीर प्रत्येक किया की प्रत्यवेक्षा करती है।

निम्नलिखित १६ प्रकार से ग्राम्वास-प्रम्वास की किया के करने का विधान है ---

9 यदि वह दीर्घ श्वास छोडता है, तो जानता है कि मै दीर्घ श्वास छोड़ता हूँ, यदि वह दीर्घ श्वास लेता है, तो जानता है कि मै दीर्घ श्वास लेता हूँ।

२ यदि वह हस्व म्वाम छोडता या हम्ब म्वास लेता है, तो जानता है कि मैं हस्व म्वास छोडता या हस्व म्वाम लेता हैं।

श्राश्वास-प्रश्वास की दीर्घ-ह्रस्वता काल-निमित्त मानी जाती है। कुछ लोग धीरे-धीरे म्वास लेते ग्रीर धीरे-धीरे म्वास छोडते है, इनका श्राम्वास-प्रम्वास दीर्घ-काल-व्यापी होता है। कुछ लोग जल्दी-जल्दी श्वास लेते ग्रौर जल्दी-जल्दी श्वास छोडते है। श्राण्वास-प्रश्वास ग्रल्प-कालव्यापी होता है । यह विभिन्नता शरीर-स्वभाव-वश देखी जाती है। भिक्षु नौ प्रकार से ग्राश्वास-प्रश्वास की किया को ज्ञान-पूर्वक करता है। इस प्रकार, भावना की निरन्तर प्रवृत्ति होती रहती है। जब वह धीरे-धीरे ख्वास छोडता है, तव जानता है कि मैं दीर्घ ख्वास छोडता हूँ। जव वह धीरे-धीरे श्वास लेता है, तो जानता है कि में दीर्घ श्वास लेता हूँ। श्रीर, जब धीरे-धीरे श्राश्वास-प्रश्वास दोनो कियात्रो को करता है, तो जानता है कि मै ब्राण्वास-प्रश्वास दोनो कियात्रो को दीर्घकाल में करता हैं। यह तीन प्रकार केवल काल-निमित्त है। इनमें पूर्व की अपेक्षा विशेषता प्राप्त करने की कोई चेप्टा नही पाई जाती। भावना करते-करते योगी को यह गुभडच्छा (= छन्द) उत्पन्न होती है कि मैं इस भावना में विशेष निपुणता प्राप्त करूँ। इस प्रवृत्ति से प्रेरित हो वह विशेष रूप से भावना करता है ग्रौर कर्मस्थान की वृद्धि करता है। भावना के वल से भय ग्रौर परिताप दूर हो जाते हैं और शरीर के ग्राक्वास-प्रक्वास पहले की ग्रपेक्षा ग्रधिक सूक्ष्म हो जाते है। इस प्रकार इस गुभ इच्छा के कारण वह पहले से ग्रधिक सूक्ष्म ग्राम्वास, ग्रधिक सूक्ष्म प्रम्वास भीर अधिक सुक्ष्म आध्वास-प्रश्वास की कियाओं को दीर्घकाल में करता है। आश्वास-प्रश्वास के सूक्ष्मतर भाव के कारण ग्रालम्बन के ग्रधिक शान्त होने से तथा कर्मस्थान की वीथि में प्रतिपत्ति होने से भावना-चित्त के साथ 'प्रामोद्य', ग्रर्थात् तरुण प्रीति उत्पन्न होती है। प्रामोद्य-वश वह ग्रौर भी सूक्ष्म क्वास दीर्घकाल में लेता है ग्रौर भी सूक्ष्म क्वास दीर्घकाल में छोडता है तथा ग्रौर भी सूक्ष्म आण्वास-प्रश्वास की कियाग्रो को दीर्घकाल में करता है। जब भावना के उत्कर्प से ऋम-पूर्वक ग्राश्वास-प्रश्वास ग्रत्यन्त सूक्ष्मभाव को प्राप्त हो जाते है, तव चित्त उत्पन्न प्रतिभाग-निमित्त की श्रोर ध्यान देता है। ग्रौर, इंसलिए वह प्राकृतिक दीर्घ श्राश्वास-

<sup>?</sup> उदाहरण के लिए—यदि पृथ्वी-मण्डल को निमित्त मानकर उसका ध्यान किया जाय, तो मानना के वल से आरम्भ में उद्ग्रह-निमित्त का स्ताद होता है, श्रयांत् श्रांख मूँ दने या श्रांख खोलने पर हच्छानुसार ानामत्त का दर्शन होता है। पीछे पहुसता के साय

प्रश्वास से विमुख हो जाता है। प्रतिभाग-निमित्त के उत्पाद से समाधि की उत्पत्ति होती है भौर इस प्रकार ध्यान के निष्पन्न होने से व्यापार का ग्रभाव होता है श्रौर उपेक्षा उत्पन्न होती है।

इन नौ प्रकारो से दीर्घ श्वास लेता हुआ या दीर्घ श्वास छोडता हुआ या दोनो कियाओ को करता हुआ योगी जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ या दीर्घ श्वास छोडता हूँ या दीनो कियास्रो को करता हुँ। ऐसा योगी इनमे से किसी एक प्रकार से कायानुपश्यना १ नामक स्मृत्युपस्थान की भावना सम्पन्न करता है। नौ प्रकार से जो आश्वास-प्रश्वास होते है, उनको 'काय' कहते हैं । यहाँ 'काय' समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । आश्वास-प्रश्वास का आश्रयभूत शरीर भी 'काय' कहलाता है और यहाँ वह भी सगृहीत है। 'अनुपश्यना' ज्ञान को कहते हैं। यह ज्ञान शमथ-वश निमित्त-ज्ञान है भ्रौर विपश्यना-वश नाम-रूप की व्यवस्था के भ्रनन्तर काम-विषयक यथाभूत ज्ञान है। इसलिए, 'कायानुपश्यना' वह ज्ञान है, जिसके द्वारा काम के यथाभूत स्वमाव की प्रतीति होती है, जिसके द्वारा श्वास-प्रश्वास भ्रादि शरीर की समस्त भ्राभ्यन्तरिक श्रीर बाह्य कियाएँ तथा चेष्टाएँ ज्ञान श्रीर स्मृतिपूर्वक होती है, जिसके द्वारा शरीर का म्रनित्य-भाव म्रनात्म-भाव, दुख-भाव **म्रौर म्रणुचि-भाव जाना जाता है।** इस ज्ञान के द्वारा यह विदित होता है कि समस्त 'काय' पैर के तलुवे से ऊपर ग्रीर केशाग्र से नीचे केवल नाना प्रकार के मलो से परिपूर्ण है। इस काय के केश, लोम आदि ३२ आकार अपवित्र और जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाले है। वह इस काय को रचना के अनुसार देखता है कि इस काय में पृथ्वी-धातु है, तेजोधातु है, जल-धातु है ग्रौर वायु-धातु है, वह काय मे श्रहभाव ग्रौर ममभाव नही देखता तथा काय को कायमात्र ही समझता है।

इसी प्रकार, जब वह जल्दी-जल्दी श्वास छोडता है या लेता है, तव जानता है कि मैं अल्पकाल में श्वास छोडता या लेता हूँ। इस ह्रस्व आश्वास-प्रश्वास की किया भी दीर्घ आश्वास-प्रश्वास की किया के समान ही नौ प्रकार से की जाती है, यहाँतक कि पूर्ववत् योगी कायानु-पश्यना नामक स्मृत्युपत्थान की भावना सम्पन्न करता है।

३. योगी सकल ग्राश्वास-काय के ग्रादि, मध्य ग्रौर ग्रवसान इन सब भागो का ग्रवरोध कर, ग्रर्थात् उन्हें विशद ग्रौर विभूत कर श्वास-परित्याग करने का श्रभ्यास करता है।

भावना करने से प्रतिभाग-निमित्त का प्रादुर्भाव होता है। यह उद्ग्रह-निमित्त की अपेक्षा कहीं अधिक सुपरिशुद्ध होता है। प्रतिभाग-निमित्त वर्ण और आकार से रहित होता है, यह स्यूल पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है।

९. स्मृत्युपस्थान चार हैं — कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना श्रीर धर्मानुपश्यना। श्रीर का यथाभूत श्रवधोध कायानुपश्यना है। सुखवेदना, दु खवेदना, श्रदु खवेदना का यथार्ष ज्ञान वेदनानुपश्यना है। चित्तज्ञान चित्तानुपश्यना है। पाँच नीवरण, पाँच उपादान-स्कन्ध, छ श्रायतन, दस सयोजन, सात बोध्यग तथा चार श्रार्यंसत्य का यथार्य ज्ञान धर्मानुपश्यना है। 'सितपट्ठानस्त्त' में इन चार समृत्युपस्थानों का विस्तार से वर्णन है।

इसी तरह सकल प्रश्वास-काय के ग्रादि, मध्य ग्रीर ग्रवसान इन सब भागो का ग्रववीध कर श्वास ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। उसके ग्राश्वास-प्रश्वास का प्रवर्त्तन ज्ञान-युक्त चित्त से होता है, किसी को केवल ग्रादि स्थान, किसी को केवल मध्य, किसी को केवल ग्रवसानस्थान ग्रीर किसी को तीनो स्थान विभूत होते है। योगी को स्मृति ग्रीर ज्ञान को प्रतिष्ठित कर तीनो स्थानो में ज्ञान-युक्त चित्त को प्रेरित करना चाहिए। इस प्रकार, ग्रानापान-स्मृति की भावना करते हुए योगी स्मृति-पूर्वक भावना-चित्त के साथ उच्चकोटि के ग्रील, समाधि ग्रीर प्रज्ञा का ग्रासेवन करता है।

पहले दो प्रकार मे आश्वास-प्रश्वास के ग्रतिरिक्त ग्रीर कुछ नही करना होता है। किन्तु, इनके ग्रागे ज्ञानोत्पादनादि के लिए सातिशय उद्योग करना होता है।

४ योगी स्थूल काय-संस्कार का उपशम करते हुए स्वास छोडने ग्रीर स्वास ग्रहण करने का श्रभ्यास करता है।

कर्मस्थान का ग्रारम्भ करने के पूर्व शारीर ग्रौर चित्त दोनो क्लेश-युक्त होते हैं। उनका गुक्भाव होता है। शारीर ग्रौर चित्त की गुक्ता के कारण ग्राश्वास-प्रश्वास प्रवल ग्रौर स्यूल होते हैं, नाक के नथुने भी उनके वेग को नहीं रोक सकते। ग्रौर भिक्षु को मुँह से भी साँस लेना पडता है। किन्तु, जब योगी पृष्ठवश को सीधा कर पर्य क-ग्रासन से वैठता है ग्रौर स्मृति को सम्मुख उपस्थापित करता है, तब योगी के शारीर ग्रौर चित्त का परिग्रह होता है। इससे बाह्य विक्षेप का उपशम होता है, चित्त एकाग्र होता है ग्रौर कर्मस्थान में चित्त की प्रवृत्ति होती है। चित्त के शान्त होने से चित्त-समृत्थित रूपधर्म लघु ग्रौर मृदुभाव को प्राप्त होते है। ग्राश्वास-प्रश्वास का भी स्वभाव शान्त हो जाता है ग्रौर वह धीरे-धीरे इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि यह जानना भी कठिन हो जाता है कि वास्तव में उनका श्रस्तित्व भी है या नहीं।

यह काय-सस्कार कमपूर्वक स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम हो जाता है, यहाँतक कि चतुर्थ ध्यान के क्षण में यह परम सूक्ष्मता की कोटि को प्राप्त हो दुर्लक्ष्य हो जाता है। जो काय-सस्कार कर्मस्थान के ग्रारम्भ करने के पूर्व प्रवृत्त था, वह चित्त-परिग्रह के समय शान्त हो जाता है। जो काय-सस्कार चित्त-परिग्रह के पूर्व प्रवृत्त था, वह प्रथम ध्यान के उपचार-क्षण में शान्त हो जाता है। इसी प्रकार पूर्व काय-सस्कार उत्तरीत्तर काय-सस्कार

<sup>9</sup> काय-सस्कार 'श्राश्वास-प्रश्वास' को कहते हैं, यद्यपि श्राश्वास-प्रश्वास चित्त-समुतिथत धर्म है, तथापि शरीर से प्रतिषद्ध होने के कारण इन्हें 'काय' कहते हैं। शरीर के होने पर ही श्राश्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्मव है, श्रान्यथा नहीं। ''कतने कायसखारा १ दीव श्रास्तास परस्सासा काथिता एते धम्मा कायपटिषद्धा कायसखारा पटिसमिदा।

२ उपचार और अर्पणा समाधि के प्रकार है। अर्पणा का अर्थ है—आलम्बन में एकाय चित्त का अर्पण । अर्पणा ध्यान की प्रतिलाम-भूमि है। अर्पणा के उत्पाद से ही ध्यान के पाँच अग सुदृढ होते हैं। अर्पणा का समीपनत्तीं प्रदेश उपचार है। उपचार-समाधि का ध्यान अल्प-प्रमाण का होता है।

द्वारा शान्त हो जाता है। काय-सस्कार के शान्त होने से शरीर का कम्पन, चलन, स्पन्दन श्रीर नमन भी शान्त हो जाता है।

श्रानापान-स्मृति-भावना के ये चार प्रकार प्रारम्भिक श्रवस्था के साधक के लिए बताये गये हैं, इन चार प्रकारों से भावना कर जो योगी ध्यानों का उत्पाद करता है, वह यदि विपश्यना द्वारा श्रह्त्-पद पाने की श्रिभ लाषा रखता है, तो उसे शील को विशुद्ध कर श्राचायं के समीप कर्म-स्थान को पाँच श्राकार से ग्रहण करना चाहिए। यह पाँच श्राकार कर्म-स्थान की सन्धि (=पर्व=भाग) कहलाते हैं। यह इस प्रकार हैं—

उद्ग्रह, परिपृच्छा, उपस्थान, ग्रपंणा ग्रीर लक्षण। कर्मस्थान-ग्रन्थ का स्वाध्याय 'उद्ग्रह' कहलाता है। कर्मस्थान के ग्रथं का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रश्न पूछना 'परि-पृच्छा' है। भावनानुयोगवश निमित्त के उपधारण को 'उपस्थान' कहते है। चित्त को एकाग्र कर भावना-बल से ध्यानो का प्रतिलाभ 'ग्रपंणा' है। कर्मस्थान के स्वभाव का उपधारण 'लक्षण' कहलाता है। योगी दीर्घकाल तक स्वाध्याय करता है, उपयुक्त ग्रावास में निवास करते हुए ग्रानापान-स्मृति-कर्मस्थान की ग्रीर चित्तावर्जन करता है ग्रीर ग्राश्वास-प्रश्वास पर चित्त को स्थिर करता है। कर्मस्थान ग्रभ्यास की विधि इस प्रकार है —

गणना-योगी पहिले श्राश्वास-प्रश्वास की गणना द्वारा चित्त को स्थिर करता है। एक बार में एक से ग्रारम्भ कर कम-से-कम पाँच तक ग्रीर श्रधिक-से-ग्रधिक दस तक गिनती गिननी चाहिए। गणना-विधि को खण्डित भी न करना चाहिए। श्रर्थात् एक, तीन, पाँच इस प्रकार बीच-बीच में छोड ते हुए गिनती न गिननी चाहिए। पाँच से नीचे रुकने पर चित्त का स्पन्दन होता है और दस से प्रधिक गिनती गिनने पर चित्त कर्मस्थान का प्राष्ट्रय छोड गणना का श्राश्रय लेता है। गणना-विधि के खण्डन होने से चित्त में कम्पन होता है श्रीर कर्मस्थान की सिद्धि के विषय में चित्त सभायान्वित हो जाता है। इसलिए, इन दोषो का परित्याग करते हुए गणना करनी चाहिए। पहले धीरे-धीरे गिनती करनी चाहिए। जिस प्रकार धान का तौलने-वाला गिनती करता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे पहले गिनती करनी चाहिए । धान का तौलने-वाला तराजू के एक पलडे में धान भरता है स्रौर उसे तौलकर 'एक' कहकर जमीन पर उँडेल देता है । फिर, पलडे में धान भरता है भ्रीर जवतक दूसरी बार नहीं उँडेलता, तवतक वरावर 'एक'-'एक' कहता जाता है। ग्राश्वास-प्रश्वासो में जो विशद ग्रौर विभूत होता है, उसी का ग्रहण कर गणना स्रारम्भ होती है ग्रौर जवतक दूसरा विशद ग्रौर विभूत नहीं होता, तवतक निरन्तर भ्राश्वास-प्रश्वास की ग्रोर 'एक'-'एक' कहता रहता है, दृष्टि रखते हुए दस तक गणना की जाती है। तदनन्तर, फिर से उसी प्रकार गणना शुरू होती है। इस प्रकार, गणना करने से जब श्राश्वास-प्रश्वास विशद और विभूत हो जाय, तव जल्दी-जल्दी गणना करनी चाहिए । पूर्व प्रकार की गणना से श्राण्वास-प्रण्वास विशद हो जल्दी-जल्दी वार-वार निष्क्रमण ग्रीर प्रवेश करते हैं। ऐसा जानकर योगी आभ्यन्तर और वाह्य प्रदेश में आश्वास-प्रश्वास का ग्रहण नहीं

करता। वह द्वार पर (नासिका-पुट ही निष्क्रमण-द्वार ग्रीर प्रवेश-द्वार है) ही ग्राते-जाते उनका ग्रहण करता है। ग्रीर 'एक-दो-तीन-चार-पांच' में 'एक-दो-तीन-चार-पांच-छ ..' इस प्रकार एक वार में दस तक जल्दी-जल्दी गिनता है। इस प्रकार, जल्दी-जल्दी गिनती करने से ग्राश्वास-प्रश्वास का निरन्तर प्रवर्त्तन उपस्थित होता है। ग्राश्वास-प्रश्वास की निरन्तर प्रवृत्ति जानकर ग्रम्यन्तर-गत ग्रीर वहिगंत वात का ग्रहण न कर जल्दी-जल्दी गिनती करनी चाहिए। क्योंकि, ग्रम्यन्तर-गत वात को गति की ग्रोर ध्यान देने से चित्त उस स्थान पर वात से ग्राहत मालूम पडता है, ग्रीर वहिगंत वात की गित का ग्रन्वेषण करते समय नाना प्रकार के बाह्य ग्रालम्बनों की ग्रोर चित्त विधावित होता है ग्रीर इस प्रकार विक्षेप उपस्थित होता है। इसलिए, स्पृष्ट-स्पृष्ट स्थान पर ही स्मृति उपस्थापित कर भावना करने से भावना की मिद्धि होती है। जवतक गणना के विना ही चित्त ग्राश्वास-प्रश्वास-स्थी ग्रालम्बन में स्थिर न हो जाय, तवतक गणना की किया करनी चाहिए। वाह्य-वितर्क का उपच्छेद कर ग्राश्वास-प्रश्वास में चित्त की प्रतिष्ठा करने के लिए ही गणना की किया की जाती है।

श्रनुबन्धना का गणना का कार्य निष्पन्न हो जाता है, तब गणना का परित्याग कर श्रनुबन्धना की किया का श्रारम्भ होता है। इस किया के द्वारा विना गिनती के ही चित्त श्राध्वास-प्रध्वास-प्र्यो श्रालम्बन में ग्रावद्व हो जाता है। गणना का परित्याग कर स्मृति श्राध्वास-प्रध्वास का निरन्तर ग्रनुगमन करती है। इस किया को श्रनुबन्धना कहते हैं। श्रिधिमंकोश में इसे 'श्रनुगमन' कहा है। ग्रादि, मध्य और श्रवसान का श्रनुगमन करने से श्रनुबन्धना नहीं होती। श्राध्वासवाय की उत्पत्ति पहले नाभि में होती है, हृदय मध्य है ग्रीर नासिकाग्र पर्यवसान है। इनका श्रनुगमन करने से चित्त श्रसमाहित होता है ग्रीर काम तथा चित्त का कम्पन ग्रीर स्पन्दन होता है। इसिलिए, श्रनुबन्धना की किया करते समय श्रादि, मध्य श्रीर श्रवसान-कम से कर्मस्थान का चिन्तन न करना चाहिए।

स्पर्श ग्रीर स्थापना—जिस प्रकार गणना ग्रीर श्रनुवन्धना द्वारा श्रनुक्रम से ग्रलग-ग्रलग कर्मस्थान की भावना की जाती है, उस प्रकार केवल स्पर्श या स्थापना द्वारा पृथक् रूप से भावना नहीं होती। गणना कर्मस्थान-भावना का मूल है, ग्रनुबन्धना स्थापना का मूल है। क्योंकि, श्रनुबन्धना के विना स्थापना (= ग्रपंणा) ग्रसम्भव है।

इसलिए, इन दोनो (गणना ग्रीर ग्रनुबन्धना) का प्रधान रूप से ग्रहण किया गया है।
स्पर्श ग्रीर स्थापना की प्रधानता नहीं है। स्पर्श गणना का ग्रग है। स्पर्श का ग्रथं है
'स्पृष्ट स्थान'। श्रिभधर्मकोश में इसे स्थान कहा है। स्पर्श-स्थान नासिकाग्र है। स्पर्श-स्थान
के समीप स्मृति को उपस्थापित कर गणना का कार्य करना चाहिए। इस प्रकार, गणना ग्रीर
स्पर्श द्वारा एक साथ ग्रभ्यास किया जाता है। जब गणना का परित्याग कर स्मृति स्पर्श-स्थान
में ही ग्राश्वास-प्रश्वास का निरन्तर ग्रनुगमन करती है ग्रीर ग्रनुबन्धना के निरन्तर ग्रभ्यास से
ग्रपंणा-समाधि के लिए चित्त एकाग्र होता है, तब ग्रनुबन्धना, स्पर्श ग्रीर स्थापना तीनो द्वारा

एक साथ कर्मस्थान का चिन्तन होता है। इसकें अर्थह्र को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ अर्थ-कथा-वर्णित पगुल और द्वारपाल की उपमा का उल्लेख करेगे।

जिस प्रकार पगुल खम्भे के पास बैंठकर जिस समय बच्चो को झूला झुलाता है, उस समय झूले के पटरे का अगला भाग ( आते समय ), पिछला भाग ( जाते समय ) और मध्यभाग अनायास ही उसको दृष्टिगोचर होता है और इसके लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पडता, उसी प्रकार स्पर्श-स्थान (= नासिकाय ) में स्मृति को उपस्थापित कर योगी का चित्त आते-जाते आश्वास-प्रश्वास के आदि, मध्य और अवसान का अनायास ही अनुगमन करता है।

जिस प्रकार नगर का द्वारपाल नगर के भीतर श्रौर बाहर लोगों की पूछताछ नहीं करता फिरता, किन्तु जो मनुष्य नगर के द्वार पर श्राता है, उसकी जाँच करता है, उसी प्रकार योगी का चित्त श्रन्त प्रविष्ट वायु श्रौर बहिनिंष्क्रान्त वायु की उपेक्षा कर केवल द्वार-प्राप्त श्राश्वास-प्रश्वास का श्रनुगमन करता है। स्थान-विशेष पर स्मृति को उपस्थापित करने से किया सुलभ हो जाती है, कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पडना।

'पिटसिमिदा' में ग्रारे की उपमा दी गई है। जिस प्रकार ग्रारे से काटते समय वृक्ष को समतल भूमि पर रखकर किया की जाती है ग्रीर ग्राते-जाते ग्रारे के दाँतों की ग्रोर ध्यान न देकर जहाँ-जहाँ ग्रारे के दाँत वृक्ष का स्पर्श करते हैं, वहाँ-वहाँ ही स्मृति उपस्थापित कर ग्राते-जाते ग्रारे के दाँत जाने जाते हैं ग्रीर प्रयत्न-वश छेदन की किया निष्पन्न होती है ग्रीर यदि कोई विशेष प्रयोजन हो, तो वह भी सम्पादित होता है, उसी प्रकार योगी नासिकाग्र या उत्तरोष्ठ मे स्मृति को उपस्थापित कर सुखासीन होता है। ग्राते-जाते ग्राश्वास-प्रश्वास की ग्रोर ध्यान नहीं देता। किन्तु, यह बात नहीं है कि वे उसको ग्रविदित हो, भावना को निष्पन्न करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है, विघ्नो ( =नीवरण ) का नाश कर भावनानुयोग साधित करता है ग्रीर उत्तरोत्तर लौकिक तथा लोकोत्तर-समाधि का प्रतिलाभ करता है।

काय और चित्त वीर्यारम्भ से भावना-कर्म में समर्थ होता है, विघ्नो का नाश श्रीर वितर्क का उपशम होता है, दस सयोजनो का परित्याग होता है, इसलिए श्रनुशयो का लेश-मात्र भी नही रह जाता।

इस कर्मस्थान की भावना करने से थोडे ही समय मे प्रतिभाग-निमित्त का उत्पाद होता है श्रीर ध्यान के ग्रन्य ग्रगो के साथ ग्रर्पणा-समाधि का लाभ होता है। जब गणना-क्रिया-वण स्थूल श्राश्वास-प्रश्वास का क्रमण निरोध होता है ग्रीर शरीर का क्लेश दूर हो जाता है, तव शरीर श्रीर चित्त दोनो बहुत हल्के हो जाते हैं।

ग्रन्य कर्मस्थान भावना के बल से उत्तरोत्तर विभ्त होते जाते है। किन्तु, यह कर्मस्थान ग्रिधकाधिक सूक्ष्म होता जाता है। यहाँतक कि यह उपस्थित भी नहीं होता। जब कर्मरथान की उपलिद्ध नहीं होती, तब योगी को ग्रामन से उठ जाना चाहिए। पर, यह विचार कर ने उठना चाहिए कि ग्राचार्य से पूछना है कि —क्या मेरा कर्मस्थान नष्ट हो गया है। ऐसा विचार करने से कर्मस्थान नवीन हो जाता है। इसलिए, ग्रनुपलब्ध ग्राश्वास-प्रश्वास को पर्येषण प्रकृत स्पर्श-स्थानवश करना चाहिए। जिसकी नाक वडी होती है, उमके ग्राश्वास-प्रश्वास-प्रवर्त्तन के समय नासिकाग्र का स्पर्श करते हैं ग्रीर जिसकी नाक छोटी होती है, उसके ग्राश्वास-प्रश्वास उत्तरोष्ठ का स्पर्श कर प्रवर्त्ति होते हैं। स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक योगी को प्रकृत स्पर्श-स्थान में स्मृति प्रतिष्ठित करनी चाहिए। प्रकृत स्पर्श-स्थान को छोडकर ग्रन्यत पर्येपण न करना चाहिए। इस उपाय से ग्रनुपस्थित ग्राइवास-प्रश्वास की सम्यक् उपलिद्ध में योगी समर्थ होता है।

भावना करते-करते प्रतिभाग-निमित्त उत्पन्न होता है। यह किसी को मणि के सदृश, किसी को मुक्ता, कुसुममाला, धूमशिखा, पद्मपुष्प, चन्द्र-मण्डल या सूये-मण्डल के सदृश उपस्थित होता है। प्रतिभाग-निमित्त की उत्पत्ति सज्ञा से ही होती है। इसलिए, सज्ञा की विविधता के कारण कर्मस्थान के एक होते हुए भी प्रतिभाग-निमित्त नाना रूप से प्रकट होता है। जो यह जानता है कि ग्राश्चास-प्रश्वास ग्रीर निमित्त एक चित्त के ग्रालम्बन नहीं है, उसी का कर्मस्थान उपचार ग्रीर अपणा-समाधि का लाभ करता है। प्रतिभाग-निमित्त के इस प्रकार उपस्थित होने पर योगी को इसकी सूचना ग्राचार्य को देनी चाहिए। ग्राचार्य, भिक्षु के उत्साह को वढाते हुए वार-वार भावना करने का उपदेश करता है। उक्त प्रकार के प्रतिभाग-निमित्त में ही ग्रनुबन्धना ग्रीर स्पर्श का परित्याग कर भावना-चित्त की स्थापना की जाती है। इस भावना से कमपूर्वक ग्रपंणा होती है। प्रतिभाग-निमित्त को उत्पत्ति के समय से विघ्न ग्रीर क्लेश दूर हो जाते हैं, स्मृति उपस्थित होती है ग्रीर चित्त उपचार-समाधि द्वारा समाहित होता है।

योगी को उक्त प्रतिभाग-निमित्त के वर्ण ग्रीर लक्षण का ग्रहण न करना चाहिए। निमित्त की ग्रच्छी तरह रक्षा करनी चाहिए। इसिलए ग्रनुपयुक्त ग्रावास ग्रादि का परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार, निमित्त की रक्षा कर निरन्तर भावना द्वारा कर्मस्थान की वृद्धि करनी चाहिए। ग्रपंणा में कुशलता प्राप्त कर, वीर्य का सम-भाव प्रतिपादित करना चाहिए। तदनन्तर, ध्यानो का उत्पाद करना चाहिए।

इस प्रकार, ध्यानो का उत्पाद कर जो योगी सलक्षणा (= विपश्यना, इसे अभिधर्मकोश यें 'उपलक्षण' कहा है) और विवर्त्तना (= मार्ग) द्वारा कर्मस्थान की वृद्धि करना चाहता है और परिशृद्धि(= मार्गफल) प्राप्त करना चाहता है, उसे पाँच प्रकार से (ग्रावर्जन, समगी होना, ग्रिधण्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण) ध्यानो का अभ्यास करना चाहिए और नाम-रूप की व्यवस्था कर विपश्यना का आरम्भ करना चाहिए। योगी सोचता है कि शरीर और चित्त के कारण ग्राध्वास-प्रश्वास होता है, चित्त इनका समुत्थापक है और गरीर के विना इनका प्रवर्त्तन सम्भव नही है। वह स्थिर करता है कि ग्राश्वास-प्रश्वास ग्रीर शरीर रूप हैं और

चित्त तथा चैतिसक धर्म ग्ररूप (=नाम) है। इस प्रकार, नाम-रूप की व्यवस्था कर वह इनके हेतु का पर्येषण करता है, वह ग्रानित्यादि लक्षणों का विचार करता है, निमित्त का निर्वर्त्तन कर ग्रार्थ-मार्ग में प्रवेश करता है, ग्रीर सकल क्लेश का ध्वस कर श्राह्त कले में प्रतिष्ठित हो विवर्त्त ना ग्रीर परिशुद्धि की प्रत्यवेक्षा-ज्ञान की कोटि को प्राप्त होता है। इस प्रत्यवेक्षा को पालि में 'परिपस्सना' कहा है।

श्रानापान-स्मृति समाधि की प्रथम चार प्रकार की भावना का विवेचन सर्वरूप से किया। जा चुका है। ग्रब हम शेष बारह प्रकार की भावना का विचार करेगे।

यह बारह प्रकार भी तीन वर्गों मे विभक्त किये जाते हैं। एक-एक वर्ग में चार प्रकार सम्मिलित है। इनमें से पहिला वर्ग वेदनानुपश्यना-वश चार प्रकार का है।

प्रह्म वर्ग के पहिले प्रकार में योगी प्रीति का अनुभव करते हुए श्वास का परित्याग भीर ग्रहण करना सीखता है। दो तरह से प्रीति का अनुभव किया जाता है—शमथ-मार्ग (=लीकिक-समाधि) में आलम्बन-वश और विपश्यना-मार्ग में असमोह-वश। प्रीति-सहगत प्रथम और द्वितीय ध्यान सम्पादित कर ध्यान-क्षण में योगी प्रीति का अनुभव करता है। प्रीति के आश्रयभूत आलम्बन का सवेदन होने से प्रीति का अनुभव होता है। इसलिए, यह सवेदन आलम्बन-वश होता है। योगी प्रीति-सहगत प्रथम और द्वितीय ध्यानों को सम्पादित कर ध्यान से व्युत्थान करता है शौर ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति के क्षय-कर्म का ग्रहण करता है। विपश्यना-प्रज्ञा द्वारा प्रीति के विशेष और सामान्य लक्षणों के यथावत् ज्ञान से दर्शन-क्षण में प्रीति का अनुभव होता है। यह सवेदन असमोह-वश होता है।

'पटिसमिदा' में कहा है-जब योगी दीर्घ श्वास लेता है ग्रीर स्मृति को ध्यान के सम्मुख उपस्थापित करता है, तब इस स्मृति के कारण तथा इस ज्ञान के कारण कि चित्त एकाग्र होता है, योगी प्रीति का श्रनुभव करता है। इसी प्रकार, जब योगी दीर्घश्वास छोडता है, ह्रस्व श्वास लेता है, ह्रस्व श्वास छोडता है, सकल श्वास-काय सकल प्रश्वास-काय के ग्रादि, मध्य ग्रीर श्रवसान सब भागो का श्रववोध कर तथा उन्हे विशद श्रौर विभक्त कर खास छोडता श्रौर खास लेता है, काय-सस्कार ( श्वास-प्रश्वास ) का उपशम करते हुए श्वास छोडता है श्रीर श्वास लेता है, तब उसका चित्त एकाग्रहोता है ग्रीर इस ज्ञान द्वारा वह प्रीति का ग्रनुभव करता है। यह प्रीति-सवेदन भ्रालम्बनवश होता है। जो ध्यान की श्रोर चित्त का श्रावर्जन करता है, जो ध्यान-समापत्ति के क्षण में भ्रालम्बन को जानता है, ध्यान से उठकर ज्ञान-चक्षु से देखता है, जो ध्यान की प्रत्यवेक्षा करता है, जो यह विचार कर ध्यानचित्त का श्रवस्थान करता है कि 'में इतने काल तक ध्यान-समर्जन रहूँगा', वह ग्रालम्बन-वश प्रीति का ग्रनुभव करता है। जिन धर्मो द्वारा शमथ ग्रौर विपश्यना की सिद्धि होती है, उनके द्वारा भी योगी प्रीति का अनुभव करता ई। यह धर्म श्रद्धा श्रादि पाँच इन्द्रिय है (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि भ्रीर प्रज्ञा। क्लेश के उपशम में इनका ग्राधिपत्य होने से 'इन्द्रिय' सज्ञा पडी )। जो शमथ भ्रौर विपश्यना में दृढ श्रद्धा रखता है, जो कुशलोत्साह करता है, जो स्मृति उपस्थापित करता है, जो चित्त समाहित करता है और जो प्रज्ञा द्वारा यथाभूत दर्शन करता है, वह प्रीति का

भ्रमुभव करता है। यह सर्वेदन ग्रालम्बन-वश ग्रीर ग्रसमोह-वश होता है। जिसने छ ग्रभिज्ञा का ग्रिधिगम किया है, जिसने हेय दुख को जान लिया है ग्रीर जिसकी तिद्वप्यक जिज्ञासा निवृत्त हो गई है, जिसने दुख के कारण क्लेशो का परित्याग (हेय-हेतु या दु.ख-समुदय) किया है, जिसके लिए ग्रीर कुछ हेय नही है, जिसने मार्ग की भावना की है (हानोपाय) तथा जिसके लिए ग्रीर कुछ कर्त्त व्य नहीं है तथा जिसने निरोध का साक्षात्कार किया है ग्रीर जिसके लिए ग्रव ग्रीर कुछ प्राप्य नहीं है, उसको प्रीति का ग्रनुभव होता है। यह प्रीति ग्रसमोहवश होती है।

६ इस वर्ग के दूसरे प्रकार में योगी सुख का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। सुख का अनुभव भी आलम्बन-वश और असमोह-वश होता है। सुख-सहगत प्रथम तीन ध्यान सम्पादित कर ध्यान-क्षण में योगी सुख का अनुभव करता है, और ध्यान से व्युत्थान कर ध्यान-सयुक्त सुख के क्षयधर्म का ग्रहण करता है। विपश्यना द्वारा सुख के सामान्य और विशेष लक्षणों को यथावत् जानने से दर्शन-क्षण में असमोह-वश सुख का अनुभव होता है। विपश्यना-भूमि में योगी कायिक और चैतिसक दोनो प्रकार के सुख का अनुभव करता है।

इस वर्ग के तीसरे प्रकार में योगी चारो ध्यान द्वारा चित्त-सस्कार (=सज्ञायुक्त
 वेदना। सज्ञा ग्रौर वेदना चैतसिक धर्म है। चित्त ही इनका समुत्थापक है।) का ग्रनुभव

करते हुए क्वास छोडता ग्रौर क्वास लेता है।

द इस वर्ग के चौथे प्रकार में स्थूल चित्त-सस्कार का निरोध करते हुए श्वास छोडता स्त्रीर श्वास लेता है। इसका क्रम वही है, जो काय-सस्कार के उपशम का है। दूसरा वर्ग चित्तानुपश्यना-वश चार प्रकार का है।

पहले प्रकार में योगी चारो घ्यान द्वारा चित्त का श्रनुभव करते हुए ख्वास छोडना

ग्रीर लेना सीखता है।

१०. दूसरे प्रकार में योगी चित्त को प्रमुदित करते हुए श्वास छोडना या लेना सीखता है। समाधि श्रीर विपश्यना द्वारा चित्त प्रमुदित होता है। योगी प्रीति-सहगत प्रथम श्रीर द्वितीय ध्यान को सम्पादित कर ध्यान-क्षण में सम्प्रयुक्त प्रीति से चित्त को प्रमुदित करता है। यह समाधि-वश चित्त-प्रमोद है। प्रथम श्रीर द्वितीय ध्यान से उठकर योगी ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति के क्षय-धर्म का ग्रहण करता है। इस प्रकार, योगी विपश्यना-क्षण में ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति को श्रालम्बन बना, चित्त को प्रमुदित करता है। यह विपश्यना-वश चित्त-प्रमोद है।

११ तीसरे प्रकार में योगी प्रथम ध्यानादि द्वारा चित्त को ग्रालम्बन में समरूप से ग्रवस्थित करते हुए श्वास छोडना ग्रीर श्वास लेना सीखता है। ग्रपंणा-क्षण में समाधि के ग्रवस्थित करते हुए श्वास छोडना ग्रीर श्वास लेना सीखता है। ग्रपंणा-क्षण में समाधि के चरम उत्कर्प के कारण चित्त किचिन्मात भी लीन ग्रीर उद्धत भाव को नही प्राप्त होता तथा स्थिर ग्रीर समाहित होता है। ध्यान से उठकर योगी ध्यान-सम्प्रयुक्त चित के क्षय-धर्म को स्थिर ग्रीर उसे विपश्यना-क्षण में चित की भ्रनित्यता भ्रादि लक्षणों का क्षण-क्षण देखता है ग्रीर उसे विपश्यना-क्षण में चित की भ्रनित्यता भ्रादि लक्षणों का क्षण-क्षण

पर अवबोध होता है। इससे क्षणमात्र स्थायी समाधि उत्पन्न होती है। यह समाधि आलम्बन में एकाकार से निरन्तर प्रवृत्त होती मालूम पडती है और चित्त को निश्चल रखती है।

१२ चौथे प्रकार मे प्रथम ध्यान द्वारा विघ्नो ( =नीवरण) से चित्त को मुक्त कर, द्वितीय द्वारा वितर्क-विचार से मुक्त कर, तृतीय द्वारा प्रीति से मुक्त कर चतुर्थ ध्यान द्वारा सुख-दु ख से चित्त को मुक्त कर, योगी भ्वास छोडने ग्रीर भ्वास लेने का ग्रभ्यास करता है भ्रथवा ध्यान से व्युत्थान कर ध्यान-सम्प्रयुक्त चित्त के क्षय-धर्म का ग्रहण करता है ग्रीर विपश्यना-क्षण मे भ्रनित्य-भावदर्शी हो चित्त को नित्य-सज्ञा से विमुक्त करता है, ग्रर्थात् योगी ग्रनित्यता की परमकोटि 'भग' का दर्शन कर सस्कार की ग्रनित्यता का साक्षात्कार करता है। इसलिए, सस्कृत-धर्मों के सम्बन्ध में उसकी जो मिथ्या-सज्ञा है, वह दूर हो जाती है। जिसका स्रनित्य भाव है, वह दुख है, सुख कदापि नहीं है, जो दुख है, वह अनात्मा है, आत्मा कभी नहीं है। इस ज्ञान द्वारा वह चित्त को सुख-सज्ञा स्रीर स्रात्म-सज्ञा से विमुक्त करता है। वह देखता है कि जो म्रनित्य, दु ख भौर म्रनात्मा है, उसमे म्रभिरित भौर राग न होना चाहिए । उसके प्रति योगी को निर्वेद और वैराग्य उत्पन्न होता है। वह चित्त को प्रीति भीर राग से विमुक्त करता है। जब योगी का चित्त सस्कृत-धर्मों से विरक्त होता है, तब वह सस्कारो का निरोध करता है, उन्हें उत्पन्न होने नही देता । इस प्रकार, निरोध-ज्ञान द्वारा वह चित्त को उत्पत्ति-धर्मसमुदय से विमुक्त करता है । सस्कारो का निरोध कर वह नित्य ग्रादि त्राकार से उनका ग्रहण नहीं करता, वह उनका परित्याग करता है, वह क्लेशो का परित्याग करता है स्रौर सस्कृत-धर्मों का दोष देखकर तद्विपरीत ग्रसस्कृत-धर्म निर्वाण में चित्त का प्रवेश करता है ।

तीसरा वर्ग भी चार प्रकार का है।

१३ पहले प्रकार में योगी अनित्य-ज्ञान के साथ श्वास छोडना और श्वास लेना सीखता है। पहले यह जानना चाहिए कि अनित्य क्या है श्रीनत्यता क्या है श्रीनत्य-दर्शन किसे कहते हैं श्रीर, अनित्यदर्शी कौन है पचस्कन्ध अनित्य है, क्योंकि इनके उत्पत्ति, विनाश और अन्यथाभाव है। पचस्कन्धो का उत्पत्ति-विनाश ही अनित्यता है। यह उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होते हैं। उस आकार में उनकी अवस्थिति नही होती। उनका क्षण-भग होता है। रूप आदि को अनित्य देखना अनित्यानुपश्यना है। इस ज्ञान से जो समन्वागत है, वह अनित्यदर्शी है।

१४. दूसरे प्रकार में योगी विराग-ज्ञान के साथ श्वास छोड़ना ग्रौर श्वास लेना सीखता है। विराग दो है—१ क्षय-विराग ग्रौर २ ग्रत्यन्त-विराग। सस्कारो का क्षण-भग क्षय-विराग है। यह क्षणिक निरोध है। ग्रत्यन्त विराग, निर्वाण के श्रिधिगम से सस्कारो का ग्रत्यन्त, न कि क्षणिक, निरोध होता है। क्षय-विराग के ज्ञान से विपश्यना ग्रौर ग्रत्यन्त विराग के ज्ञान से मार्ग की प्रवृत्ति होती है।

१५ तीसरे प्रकार मे योगी निरोधानुपण्यना से समन्वागत हो श्वास छोडना और श्वास लेना सीखता है। निरोध भी दो प्रकार का है—१ क्षय-निरोध और २ अत्यन्त-निरोध। १६ चौथे प्रकार में योगी प्रतिनिसर्गानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोडना श्रौर श्वास लेना सीखता है। प्रतिनिसर्ग (= त्याग) भी दो प्रकार का है—१ परित्याग-प्रतिनिसर्ग श्रौर २ प्रस्कन्दन-प्रतिनिसर्ग । विपश्यना श्रौर मार्ग को प्रतिनिसर्गानुपश्यना कहते हैं। विपश्यना द्वारा योगी श्रिभसस्कारक स्कन्धो-सिहत क्लेशो का परित्याग करता है तथा संस्कृत-धर्मों का दोप देखकर तिद्वपरीत श्रसस्कृत-निर्वाण में प्रस्कन्दन, श्रर्थात् प्रवेश करता है।

इस तरह १६ प्रकार से आनापान-स्मृति-समाधि की भावना की जाती है। चार-चार प्रकार का एक-एक वर्ग हैं। श्रन्तिम वर्ग शुद्ध उपासना की रीति से उपदिष्ट हुआ हैं; शेष वर्ग शमय तथा विपश्यना, दोनो रीतियो से उपदिष्ट हुए हैं। (शमय लौकिक समाधि को कहते हैं, विपश्यना एक प्रकार का विशिष्ट ज्ञान हैं, इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं)

आनापान-स्मृति-भावना का जब परमोत्कर्ष होता है, तब चार स्मृत्युपस्थापन का परिपूरण होता है। स्मृत्युपस्थापन को सुभावित होने से सात बोध्यगो (स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रविध, समाधि, उपेक्षा) का पूरण होता है और इनके पूरण से मार्ग और फल का अधिगम होता है।

इस भावना की विशेषता यह है कि मृत्यु के समय जब श्वास-प्रश्वास निरुद्ध होते है, तब योगी मोह को प्राप्त नहीं होता। मरण-समय के अन्तिम श्राश्वास-प्रश्वास उसको विशद श्रीर विभूत होते हैं। जो योगी श्रानापान-स्मृति की भावना भली भाँति करता है, उसको मालूभ पडता है कि मेरा श्रायुसस्कार अब इतना अविशष्ट रह गया है। यह जानकर वह श्रपना कृत्य सम्पादित करता है श्रीर शान्तिपूर्वक शरीर का परित्याग करता है।

## चार ब्रह्म-विहार

मैंती, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यह चार चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ हैं। इनको 'व्रह्म-विहार' कहते हैं। चित्त-विशुद्धि के ये उत्तम साधन हैं। जीवो के प्रति किस प्रकार सम्यक् व्यवहार करना चाहिए, इसका भी यह निदर्शन हैं। जो थोगी इन चार ब्रह्म-विहारों की भावना करते हैं, उनकी सम्यक् प्रतिपत्ति होती है। वह सब प्राणियों के हित-सुख की कामना करता हैं। वह दूसरों के दु खों को दूर करने की चेष्टा करता है। जो सम्पन्न सम-भाव होता है, किसी के साथ वह पक्षपात नहीं करता।

सक्षेप में—इन चार भावनाओ द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त के मलो का क्षालन होता है। योग के अन्य परिकर्म केवल आत्महित के साधन है, किन्तु यह चार ब्रह्म-विहार परहित के भी साधन है।

श्रार्य-धर्म के ग्रन्थों में इन्हें 'श्रप्रामाण्य' या 'श्रप्रमाण' भी कहा है। क्योंकि, इनकी इयत्ता नहीं हैं। श्रपरिमाण जीव इन भावनाश्रों के श्रालम्बन होते हैं।

जीवो के प्रति स्नेह ग्रीर सुहृद्भाव प्रवर्त्तित करना मैंत्री हैं। मैंत्री की प्रवृत्ति परिहत-साधन के लिए हैं। जीवो का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना, द्वेष ग्रीर झोहका पिरत्याग; इसके लक्षण है। मैंती-भावना की सम्यक् निष्पत्ति से द्वेष का उपशम होता है। राग इसका ग्रासन्न शलु है। राग के उत्पन्न होने से इस भावना का नाश होता है। मैंती की प्रवृत्ति जीवों के शील ग्रादि गुण-ग्रहण-वश होती है। राग भी गुण देखकर प्रलोभित होता है। इस प्रकार, राग ग्रीर मैंती की समान शीलता है। इसलिए, कभी-कभी राग मैंती को ग्रपनीत कर मान हो प्रवन्नना करता है। स्मृति का किचिन्माल भी लोप होने से राग मैंती को ग्रपनीत कर ग्रालम्बन में प्रवेश करता है। इसलिए, यदि विवेक ग्रीर सावधानी से भावना न की जाय, तो चित्त के रागारूढ होने का भय रहता है। हमको सदा स्मरण रखना चाहिए कि मैंती का सौहार्द तृष्णा-वश नही होता, किन्तु जीवों की हित-साधना के लिए होता है। राग लोभ, ग्रीर मोह के वश होता है, किन्तु मैंती का स्नेह मोह-वश नही होता, किन्तु जानपूर्वक होता है। मैंती का स्वभाव ग्रदेष है ग्रीर यह ग्रलोभ-युक्त होता है।

पराये दु ख को देखकर सत्पुरुषों के हृदय का जो कम्पन होता है, उसे 'करुणा' कहते हैं। करुणा की प्रवृत्ति जीवो के दु ख का ग्रपनय करने के लिए होती है, दूसरों के दु ख को देखकर साधु-पुरुष का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है। वह दूसरों के दु ख को सहन नहीं कर सकता, जो करुणाशील पुरुष है, वह दूसरों की विहिसा नहीं करता। करुण-भावना की सम्यक् निष्पत्ति से विहिसा का उपशम होता है। शोक की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है। शोक, दौर्मनस्य इस भावना का निकट शबु है।

'मुदिता' का लक्षण 'हर्ष' है। जो मुदिता की भावना करता है, वह दूसरो को सम्पन्न देखकर हर्ष करता है, उनसे ईर्ष्या या द्वेष नहीं, करता। दूसरो की सम्पत्ति, पुण्य और गुणो-त्कर्ष को देखकर उसको असूया और अप्रीति नहीं उत्पन्न होतीं। मृदिता की भावना की निष्पत्ति से अरित का उपश्रम होता है, पर यह प्रीति ससारी पुरुप की प्रीति नहीं है। पृथ्यजनोचित प्रीति-वश जो हर्ष का उद्देग होता है, उससे इस भावना का नाश होता है। मृदिता-भावना में हर्ष का जो उत्पाद होता है, उसका शान्त प्रवाह होता है। वह उद्देग और क्षोभ से रहित होता है।

जीवों के प्रति उदासीन भाव 'उपेक्षा' है। 'उपेक्षा' की भावना करनेवाला योगी जीवों के प्रति सम-भाव रखता है, वह प्रिय-अप्रिय में कोई भेद नहीं करता। सबके प्रति उसकी उदासीन वृत्ति होती हैं। वह प्रतिकूल और अप्रतिकूल इन दोनों ग्राकारों को ग्रहण नहीं करता, इसीलिए उपेक्षा-भावना की निष्पत्ति होने से विहिसा और अनुनय दोनों का उपशम होता हैं। उपेक्षा-भावना द्वारा इस ज्ञान का उदय होता हैं कि 'मनुष्य कर्म के अधीन हैं, कर्मानुसार ही सुख से सम्पन्न होता है या दु ख से मुक्त होता हैं या प्राप्त सम्पत्ति से च्चुत नहीं होता।' यहीं ज्ञान इस भावना का ग्रासन्नकारण है। मैंनी ग्रादि प्रथम तीन भावनात्रों द्वारा जो विविध प्रवृत्ति होती थी, उसका ज्ञान द्वारा प्रतिषेध होता है। पृथक्-जनोचित ग्रज्ञान-वश उपेक्षा की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है।

ये चारो ब्रह्म-विहार समान रूप से ज्ञान और सुगति को देनेवाले है।

मैती-भाव-भावना का विशेष कार्य द्वेष (=व्यापाद) का प्रतिघात करना है। करणा-भावना का विशेष कार्य विहिसा का प्रतिघात करना है। मुदिता-भावना का विशेष कार्य ग्ररित, ग्रप्रीति का नाश करना है ग्रीर उपेक्षा-भावना का विशेष कार्य राग का प्रतिघात करना है।

प्रत्येक भावना के दो शतु है—१ समीपवर्ती ग्रीर रे. दूरवर्ती। मैती-भावना का समीपवर्ती शतु राग है। राग की मैती से समानता है। व्यापाद उमका दूरवर्ती शतु है। दोनो एक दूमरे के प्रतिकूल है। दोनो एक साथ नहीं रह सकते। व्यापाद का नाश करके ही मैती की प्रवृत्ति होती है। करुणा-भावना का समीपवर्त्ती शतु गोक, दौर्मनस्य है। जिन जीवों की मोगादि-विपत्ति देखकर चित्त करुणा से ग्राई हो जाता है, उन्हीं के विषय में तिन्निमत्तिशोक भी उत्पन्न हो सकता है। यह शोक, दौर्मनस्य पृथाजनोचित है, जो ससारी पुरुप है, वह इष्ट, प्रिय, मनोरम ग्रीर कमनीय रूप की ग्रप्राप्त से ग्रीर प्राप्त सम्पत्ति के नाश से उद्दिग्न ग्रीर शोकाकुल हो जाने हैं। जिस प्रकार दुख के दर्शन से करुणा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शोक भी उत्पन्न होता है। गोक करुणा-भावना का ग्रासन्न शतु है। विहिसा दूरवर्त्ती शतु है। दोनो से भावना की रक्षा करनी चाहिए।

पृथाजनोचित सौमनस्य मुदिता-भावना का समीपवर्त्ती शतु है। जिन जीवो की भोग-सम्पत्ति देखकर मुदिता की प्रवृत्ति होती है, उन्हीं के विषय में तिन्निमित्त पृथाजनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न हो सकता है। वह इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूपों के लाभ से ससारी पुरुपों की तरह प्रसन्न हो जाता है। जिम प्रकार सम्पत्ति-दर्शन से मुदिता की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पृथाजनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न होता है। यह सौमनस्य मुदिता का आसन्न शतु है। अरित, अप्रीति दूरवर्त्ती शतु है। दोनो से भावना को सुरक्षित रखना चाहिए।

यज्ञान-सम्मोह-प्रवर्त्तित उपेक्षा उपेक्षा-भावना का ग्रासन्न शतु है। मूढ ग्रीर श्रज्ञ पुरुप, जिसने क्लेशो को नहीं जीता है, जिसने सब क्लेशो के मूलभूत सम्मोह के दोप को नहीं जाना है ग्रीर जिसने शास्त्र का मनन नहीं किया है, वह रूपों को देखकर उपेक्षा-भाव प्रदर्शित कर सकता है, पर इस सम्मोहपूर्वक उपेक्षा द्वारा क्लेशो का ग्रतिक्रमण नहीं कर सकता। जिस प्रकार उपेक्षा-भावना गुण-दोप का विचार न कर केवल उदासीन वृत्ति का ग्रालम्बन करती है, उसी प्रकार ग्रज्ञानोपेक्षा जीवों के गुण-दोप का विचार न कर केवल उपेक्षावश प्रवृत्त होती है। यही दोनों की समानता है। इसलिए, यह ग्रज्ञानोपेक्षा उपेक्षा-भावना का ग्रासन्न शतु है। यह ग्रज्ञानोपेक्षा पृथाजनोचित है। राग ग्रीर द्वेप इस भावना के दूरवर्त्ती शतु है। दोनों से भावना चित्त की रक्षा करनी चौहिए।

मव कुशल कर्म इच्छामूलक है। इसलिए, चारो ब्रह्म-विहार के ग्रादि में इच्छा हैं, नीवरण (=योग के ग्रन्तराय) ग्रादि क्लेशो का परित्याग मध्य में हैं ग्रीर ग्रपंणा-समाधि पर्यवसान में हैं। एक जीव या ग्रनेक प्रज्ञप्ति रूप में इन भावनाग्रो के ग्रालम्बन हैं। ग्रालम्बन की वृद्धि कमश होती हैं। पहले एक ग्रावास के जीवो के प्रति भावना की जाती हैं। ग्रनुक्रम से ग्रालम्बन की वृद्धि कर एक ग्राम, एक जनपद, एक राज्य, एक दिशा, एक चक्रवाल के जीवो के प्रति भावना होती हैं।

सब क्लेश, द्वेष, मोह, राग पाक्षिक हैं। इनसे चित्त को विशुद्ध करने के लिए ये चार ब्रह्म-विहार उत्तम उपाय है। जीवो के प्रति कुशल-चित्त की चार ही वृत्तियाँ है—दूमरों का हित-साधन करना, उनके दुख का अपनयन करना, उनकी सम्पन्न अवस्था देखकर प्रसन्न होना और सब प्राणियों के प्रति पक्षपात-रहित और समदर्शी होना। इसलिए, ब्रह्म-विहारों की सख्या चार है। जो योगी इन चारों की भावना चाहता है, उसे पहले मैं ती-भावना द्वारा जीवों का हित करना चाहिए। तदनन्तर, दुख से अभिभूत जीवों की प्रार्थना सुनकर करणा-भावना द्वारा उनके दुख का अपनयन करना चाहिए। तदनन्तर, दुखी लोगों की सम्पन्न अवस्था देखकर मुदिता-भावना द्वारा प्रमुदित होना चाहिए और तत्पश्चात् कर्त्तव्य के अभाव में उपेक्षा-भावना द्वारा उदासीन वृत्ति का अवलम्ब करना चाहिए। इसी कम से इन भावनाओं की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

यद्यपि चारो ब्रह्म-विहार अप्रमाण है, तथापि पहले तीन केवल प्रथम तीन ध्यानो का उत्पाद करते हैं और चौथा ब्रह्म-विहार अन्तिम ध्यान का ही उत्पाद करता है। इसका कारण यह है कि मैंती, करुणा और मुदिता, दौर्मनस्य-सम्भूत, व्यापाद, विहिंसा और अरित के प्रतिपक्ष होने के कारण सौमनस्य-रिहत नहीं होती। सौमनस्य-सिहत होने के कारण इनमें सौमनस्य-विरिहत उपेक्षा-सहगत चतुर्थ ध्यान का उत्पाद नहीं हो सकता। उपेक्षा-वेदना से सयुक्त होने के कारण केवल उपेक्षा-ब्रह्म-विहार में अन्तिम-ध्यान का लाभ होता है।

## चार ग्ररूप-ध्यान

चार ब्रह्म-विहारो के पश्चात् चार अरूप-कर्मस्थान उद्दिष्ट है । अरूप-आयतन चार है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आर्किचन्यायतन और नैवसज्ञानासज्ञायतन ।

चार रूपध्यानो की प्राप्ति होने पर ही अरूप-ध्यान की प्राप्ति होती है, करजरूप काय में और इन्द्रिय तथा उनके विषय मे दोष देखकर रूप का समितिकम करने के हेतु से यह ध्यान किया जाता है। चौथे ध्यान मे किसण -रूप रहता है। उस किसण -रूप का समितिकम इस ध्यान में होता है। जिस प्रकार कोई पुरुप सर्प को देखकर भयभीत हो भाग जाता है, और सर्प के समान दिखाई देनेवाले रज्जु ग्रादि का भी निवारण चाहता है, उसी प्रकार योगी करजरूप से भयभीत हो चतुर्य ध्यान प्राप्त करता है, जहाँ करजरूप से समितिकम होता है, लेकिन उमके प्रतिभाग-रूप में किसण-रूप स्थित होता है। उस किसण -रूप का निवारण करने की इच्छा से योगी अरूप-ध्यान को प्राप्त करता है, जहाँ सभी प्रकार के रूप का समितिकम सम्भव है।

श्राकाशानन्त्यायतन—में तीन सज्ञाश्रो का निवारण होता है रूप-सज्ञा, ग्रर्थात् जडमृष्टि-सम्बन्धी विचार, प्रतिघ-सज्ञा, ग्रर्थात् इन्द्रिय ग्रीर विषयो का प्रत्याधात-मूलक विचार; नानात्व-सज्ञा, ग्रर्थात् ग्रनेकविध रूप-शब्दादि-ग्रालम्बनो का विचार। इन तीनो सज्ञाश्रो का ग्रनुक्रम से समितिक्रम, ग्रस्तगम ग्रीर श्रमनिसकार होने पर 'ग्राकाश ग्रनन्त है' ऐसी सज्ञा उत्पन्न होती है। इसे ग्राकाशानन्त्यायतन-ध्यान कहते है।

परिच्छित्र स्राकाश-किसण को छोड़कर स्रन्य किसी किसण को स्रालम्बन कर चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करने पर ही यह भावना की जाती है। किसण पर चतुर्थ ध्यान साध्य करने

के पूर्व ही उम किसण की मर्यादा अनन्त की जानी चाहिए। किसण प्रथम छोटे आकार का होता है, जिसे अनुक्रम से वढाकर समस्त विश्वाकार किया जाता है, उस विश्वाकार आकृति पर चतुर्थ ध्यान साध्य करने के पश्चात् योगी अपने ध्यान-वल से उस आकृति को दूर करके 'विश्व मे केवल एक आकाश ही भरा हुआ है', ऐसा देखता है। चतुर्थ ध्यान तक रूपात्मक आलम्बन था, अब अरूपात्मक आलम्बन है। इसलिए 'आकाश अनन्त है', ऐसी सज्ञा होने से इसे आकाशानन्त्यायतन कहा है।

विज्ञानानन्त्यायतन—इस घ्यान मे योगी श्राकाश-सज्ञा का समितिक्रम करता है। श्राकाश की श्रनन्त मर्यादा ही विज्ञान की मर्यादा है। ऐसी सज्ञा उत्पन्न करने पर वह विज्ञान का श्रानन्त्य जिसका श्रालम्बन है, ऐसे ध्यान को प्राप्त करता है।

श्राकिञ्चन्यायतन—इस घ्यान में योगी विज्ञान में भी दोष देखता है ग्रीर उसका समितिकम करने के लिए विज्ञान के ग्रभाव की सज्ञा प्राप्त करता है। "ग्रभाव भी ग्रनन्त है, कुछ भी नहीं है, सब कुछ शान्त है", इस प्रकार की भावना करने पर योगी इस तृतीय श्ररूप-ध्यान को प्राप्त होता है।

नैवसज्ञानासज्ञायतन—ग्रभाव की सज्ञा भी वडी स्थूल है। ग्रभाव की सज्ञा का भी ग्रभाव जिसमें है, ऐसा ग्रति शान्त, सूक्ष्म यह चौथा ग्रायतन है। इस ध्यान में सज्ञा ग्रति सूक्ष्मरूप में रहती है, इसलिए उसे ग्रसज्ञा नहीं कह सकते, ग्रौर स्थूलरूप में न होने के कारण उसे सज्ञा भी नहीं कहते हैं। पालि में एक उपमा देकर इसे समझाया है। गुरु ग्रौर शिष्य प्रवास में थे। रास्ते में थोडा पानी था। शिष्य ने कहा—'ग्राचार्य मार्ग में पानी है, इसलिए जूता निकाल लीजिए।' गुरु ने कहा—'ग्रच्छा तो स्नान कर लूँ, लोटा दो।' शिष्य ने कहा—'गुरु जी। स्नान करने योग्य पानी नहीं हैं।' जिस प्रकार उपानह को भिगाने के लिए पर्याप्त पानी हैं किन्तु स्नान के लिए पर्याप्त नहीं, इसी प्रकार इस ग्रायतन में सज्ञा का ग्रतिसूक्ष्म ग्रग्न विद्यमान है, किन्तु सज्ञा का कार्य हो, इतना स्थूल भी वह नहीं हैं, इसीलिए ग्रायतन को नैवसज्ञानासज्ञायतन कहा है।

इस ग्रायतन को प्राप्त करने पर ही योगी निरोध-समापत्ति को प्राप्त कर सकता है, जिसमें ग्रमुक काल (= सात दिन) तक योगी की मनोवृत्तियों का ग्रात्यन्तिक निरोध होता है।

इन चार ग्ररूप-ध्यानो में केवल दो ही ध्यानाग रहते हैं — उपेक्षा ग्रीर चित्तैकाग्रता । ये चार ध्यान ग्रनुक्रम से शान्ततर, प्रणीततर ग्रीर सूक्ष्मतर होते हैं।

## श्राह।र में प्रतिकूल संज्ञा

श्रारूप्य के श्रनन्तर ग्राहार में प्रतिकूल-मज्ञा नामक कर्मस्थान निर्दिष्ट है। ग्राहरण करने के कारण 'ग्राहार' कहते हैं। यह चतुर्विध हैं—कवलीकार (= खाद्य पदार्थ), स्पर्धाहार, मनोसचेतनाहार ग्रीर विज्ञानाहार। इनमें से कवलीकार ग्राहार ग्रोजयुक्त-रूप का ग्राहरण करता है, स्पर्शाहार सुख, दु ख, उपेक्षा, इन तीन वेदनाग्रो का ग्राहरण करता है, मनोसचेत-नाहार काम, रूप, ग्ररूप भवो में प्रतिसन्धि का ग्राहरण करत है, विज्ञानाहार प्रतिसन्धि के क्षण

मैं नाम-रूप का ग्राहरण करता है। ये चारो ग्राहार भयस्थान है, किन्तु यहाँ केवल कवलीकार श्राहार ही ग्रिभिप्रेत है। उस ग्राहार में जो प्रतिकूल-सज्ञा उत्पन्न होती है, वही यह कर्मस्थान है। इस कर्मस्थान की भावना करने का इच्छुक योगी श्रसित, पीत, खायित, सायित, प्रभेद का जो कवलीकार श्राहार है, उसके गमन, पर्येषण, परिभोग, श्राशय, निधान, ग्रपरिपक्वता, परिपक्वता, फल, निष्यन्द श्रीर सम्रक्षण, रूप से जो ग्रश्चिमाव का विचार करता है, उस विचार से उसे ग्राहार में प्रतिकूल-सज्ञा उत्पन्न होती है, ग्रीर कवलीकार-श्राहार उसी प्रकार प्रकट होता है। वह उस प्रतिकूल भावना को बढाता है। उसके नीवरणो का विष्कम्भन होता है ग्रीर चित्त उपचार-समाधि को प्राप्त होता है, ग्रापणा नहीं होती है।

इस सज्ञा से योगी की रसतृष्णा-नष्ट होती है। वह केवल दुख-निस्सरण के लिए ही म्नाहार का सेवन करता है, पच काम-गुण में राग उत्पन्न नही होता श्रीर कायगता स्मृति उत्पन्न होती है।

# चतुर्धातु-व्यवस्थान

चालीस कर्मस्थानो मे यह म्रान्तिम कर्मस्थान है। स्वभाव-निरूपण द्वारा विनिश्चय को 'व्यवस्थान' कहते हैं। महासितपट्ठान, महाहित्थपादोपम, राहुलोवाद म्रादि सूतो में इसका विशेष वर्णोन म्राता है। महासितपट्ठान-सुत्त मे कहा है—"भिक्षुम्रो जिस प्रकार कोई दक्ष गोघातक बैल को मारकर चौराहे पर खण्ड-खण्ड कर रख दे-ग्रौर उसे उन खण्डो को देखकर 'यह बैल है', ऐसी सज्ञा नहीं उत्पन्न होती, उसी प्रकार भिक्षु इसी काय को धातु द्वारा घ्यवस्थित करता है कि—इस काय में पृथिवी-धातु है, म्रापोधातु है, तेजोधातु है, वायु-धातु है। इस प्रकार के व्यवस्थान से काय में "यह सत्त्व है, यह पुद्गल है, यह म्रात्मा है", ऐसी संज्ञा मध्द होकर धातु-सज्ञा ही उत्पन्न होती है।

भिक्षु इस सज्ञा को उत्पन्न कर अपने आध्यात्मिक और बाह्य रूप का चिन्तन करता है। वह आचार्य के पास ही केशा लोमा-नखा-दन्ता आदि कर्मस्थान को ग्रहण कर उनमें भी चतुर्धातु का व्यवस्थान करता है, फिर पृथिवी-आदि महाभूतो के लक्षण, समुत्थान, नानात्व, एकत्व, प्रादुर्भाव, सज्ञा, पारिहार और विकार का चिन्तन करता है। उनमें अनात्म-सज्ञा, दुःख-सज्ञा, और अनित्य-सज्ञा को उत्पन्न करता है और उपचार-समाधि को प्राप्त करता है। अपंणा प्राप्त नही होती।

चतुर्घातु-व्यवस्थान में अनुयुक्त योगी शून्यता मे अवगाह करता है, सत्त्वसज्ञा का समुद्घात करता है श्रीर महाप्रज्ञा को प्राप्त करता है।

#### विपश्यना

समाधि-मार्गं का विस्तृत वर्णन हमने ऊपर दिया है। किन्तु, निर्वाण के प्रार्थी को शमथ की भावना के पश्चात् विपश्यना की वृद्धि करना आवश्यक है। इसके विना अर्हत्पर्द में प्रतिष्ठा नहीं होती। विपश्यना एक प्रकार का विशेष दर्शन है। जिस समय इस ज्ञान का उदय होता है कि—सब धर्म ग्रनित्य हैं, दु खमय है तथा श्रनात्म है—उस समय विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है।

वीद्वागम में पुद्गल (जीव) सस्कार-समूह है। यह एक सन्तान है। ग्रात्मा नाम का नित्य, घ्रुव ग्रीर स्वरूप से श्रविपरिणाम-धर्मवाला कोई पदार्थ नहीं हैं, पच-स्कन्ध-मात्न है। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार ग्रीर विज्ञान यह स्कन्ध-पचक क्षण-क्षण में उत्पद्यमान ग्रीर विनश्य-मान हैं। यह साश्रव धर्म 'दुःख' है; क्यों कि क्लेश-हेतु-वश इनकी उत्पत्ति होती हैं। क्लेश सन्तान को दूपित करते हैं। दु ख का ग्रन्त करने में प्रज्ञा की प्रधानता है। पहले इसका ज्ञान होना चाहिए कि न ग्रात्मा है, न ग्रात्मीय, सब सस्कृत-धर्म ग्रनित्य हैं। जो सब धर्मों को श्रनित्यता, दु खता ग्रीर ग्रनात्मता के रूप में देखता है, वह यथाभूतदर्शी हैं। उसको विपश्यना-ज्ञान प्राप्त हैं। इसीलिए, धर्मपद की ग्रर्थकथा में ग्रात्मभाव के क्षय-व्यय की प्रतिष्ठा कर सतत ग्रम्यास से ग्रह्त्यद के ग्रहण को विपश्यना कहा है।

विषयमा प्रज्ञा का मार्ग हैं। इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं। इस मार्ग का अनु-गामी 'विषयमायानिक' कहलाता है। सप्त विशुद्धियो द्वारा विषयमा-मार्ग के फल की प्राप्ति होती हैं। यह सात विशुद्धियाँ इस प्रकार हैं—

१ शील-विशुद्धि, २. चित्त-विशुद्धि, ३ दृष्टि-विशुद्धि (=नामरूप का यथावद्दर्शन), ४ कांक्षा-वितरण-विशुद्धि (=सशयो को उत्तीर्ण कर नाम-रूप के हेतु का परिग्रह), ५ मार्गा-मार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि (=मार्ग ग्रीर ग्रमार्ग का ज्ञान ग्रीर दर्शन), ६ प्रतिपत्तिज्ञानदर्शन-विशुद्धि (=ग्रष्टागिक मार्ग का ज्ञान तथा प्रत्यक्ष-साक्षात्कार),७ ज्ञानदर्शन-विशुद्धि (=स्रोता-पत्ति-मार्ग, सक्नदागामि-मार्ग ग्रनागामि-मार्ग, ग्रह्निमार्ग, इन चार मार्गो का ज्ञान ग्रीर प्रत्यक्ष दर्शन)।

१ इमस्सि सासने कित धुरानीति १ गन्यधुरं विपस्सना धुरन्ति हे येव धुरानि मिक्ख्ति। . कतमं 'विपस्सना धुरन्ति १ सल्लहुक बुत्तिनो पन पन्य सेनासनामिरतस्स अत्तमावे खयवयं पट्ठपेत्वा सातन्विकिरियवसेन विपस्सनं वङ्देत्वा अरहत्तगह्णन्ति इदं विपक्सनाधुर नामाति। ( घन्मपद्द्ठक्या, १११)

# द्वितीय खण्ड

[ महायान-धर्म श्रौर दर्शन, उसकी उत्पत्ति तथा विकास-साहित्य श्रौर साधना ]

#### षष्ठ अध्याय

### महायान-धर्म की उत्पत्ति

जब महाराज श्रशोक बौद्ध हो गये, तब उनका प्रश्रय पाकर बौद्ध-धर्म वहुत फैला। उनका विस्तृत साम्राज्य था। उन्होने धर्म का प्रचार करने के लिए दूर-दूर उपदेशक भेजे। भारत के बाहर भी उनके भेजे उपदेशक गये थे। उन्होने श्रनेक स्तूप श्रीर विहार बनवाये। श्रशोक के कौशाम्बी के लेख से मालूम होता है कि यहाँ एक भिक्षु-सघ था। एक सघ का पता सारनाथ के लेख से चलता है। भाबू-लेख में श्रशोक कहते हैं कि सब बुद्ध-वचन सुभाषित हैं, किन्तु में कुछ वचनो की विशेष रूप से सिफारिश करता हूँ। उन्ही के समय में 'खुतन' में भारतीयों का उपनिवेश हुश्रा। वहाँ से ही पहले-पहल बौद्ध-धर्म चीन गया।

श्रशोक के समय में बौद्धो में मूर्तिपूजा न थी। बुद्ध का प्रतीक रिक्त-श्रासन, चक्र, कमल-पुष्प या चरणपादुका था। स्तूप में बुद्ध का धातु-मार्ग रखकर पूजा करते थे। कथा है कि श्रशोक ने बुद्ध की श्रस्थियों को प्राचीन स्तूपों से निकालकर ६४,००० स्तूपों में बाँट दिया। चैत्य की पूजा भी प्राचीन थी। श्रारम्भ में बुद्ध यद्यपि श्रन्य ग्रह्तेतों की श्रपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे, यद्यपि उनका जन्म, उनके लक्षण, मार-धर्षण, जन्म के पूर्व तुषितलोंक में निवास उनकी मृत्यु, सभी श्रद्भुत थे; तथापि प्राचीन निकायों के श्रनुसार बुद्ध का निर्वाण श्रन्य श्रह्तेतों के निर्वाण से भिन्न न था। उनका यह विश्वास न था कि परिनिवृत बुद्ध इस लोक में हस्तक्षेप कर सकते हैं। यद्यपि ये बुद्ध के निर्वाण को महाशून्य मानते थे, तथापि उनके लिए बुद्ध ताता नहीं थे, जैसे ईसाईयों के लिए ईसामसीह ताता है। शास्ता ने कहा है कि तुम्ही अपने लिए दीपक हो, दूसरे का श्राश्रय मत लो, धर्म ही एकमात्र तुम्हारा दीप, शरण, सहाय हो। बुद्ध का कहना था कि निर्वाण का साक्षात्कार प्रत्येक को स्वय करना होता है। उनके लिए वे संघ के गणाचार्य थे, शास्ता थे। वे उनके लिए मैं त्री ग्रीर ज्ञान की मूर्ति थे। उनको बुद्ध की शरण में जाना पडता था। बुद्ध की श्रनुस्मृति एक कर्मस्थान था, किन्तु जब शास्ता का परिनिर्वाण हो गया, तव पूजा का विषय ग्रतीन्द्रिय हो गया। ग्रव प्रक्ष यह हुग्रा कि पूजा से क्या फल होगा?

कर्मवाद के अनुसार वौद्ध यह नहीं मानते थे कि पूजा करने से बुद्ध वरदान देंगे। किन्तु वे मानते थे कि बुद्ध का घ्यान करने से चित्त समाहित और विशुद्ध होगा, और पूजक अपने को निर्वाण के लिए तैयार करेगा। सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक अपने किये कमों का फल भोगता है। बुद्ध की शिक्षा में प्रसाद (ग्रेस) और प्रार्थना को स्थान नहीं दिया गया है। इसके लिए कोई उचित शब्द भी नहीं है। मिलता-जुलता एक शब्द प्रणिधि, प्रणिधान है,

किन्तु उसका अर्थ 'प्रतिज्ञा' है। कभी-कभी यह पुण्य-विपरिणामना (=सत्य-वचन) है। किन्तु, ईसवी-सदी के कुछ पहले से वौद्धों में करुणामय देवों की पूजा प्रारम्भ हुई, जिनकी प्रतिमा या प्रतीक की वे पूजा करने लगे और जिनसे सुख और मोक्ष की प्राप्ति के लिए वे प्रार्थना करने लगे। ये देव शाक्यमुनि, पूर्व-वृद्ध, अनागत-वृद्ध, मैंत्रेय, वोधिसत्त्व है। भिक्त का प्रभाव वढने लगा। निर्वाण का स्वरूप भी बदलने लगा। सुखभूमि की प्राप्ति इसका उद्देश्य होने लगा। वृद्ध लोकोत्तर हो गये। यद्यपि पालिनिकाय में वृद्ध को लोकोत्तर कहा है, किन्तु वहाँ इसका अर्थ केवल इतना है कि वृद्ध पद्म-पत्न की तरह लोक से ऊपर है। उनका विशेषत्व केवल यही है कि उन्होंने निर्वाण के मार्ग का आविष्कार किया है। वृद्ध को लक्षण और अनुव्यजनों से युक्त महापुरुप भी कहा है, वह भी इसी अर्थ में है। जैसे—नारायण को 'महापुरुप' कहते है, जो एक, अद्वितीय, शाश्वत है, वै से पालि-आगम के वृद्ध नही है।

किन्तु, कुछ बौद्ध उनको विशेष ग्रर्थ में लोकोत्तर मानने लगे। कुछ ग्रन्धक ग्रीर उत्तरापथक मानते थे कि भगवान् के उच्चार-प्रस्नाव (=मल-मूत्र) की गन्ध स्रन्य गन्धो से विशिष्ट हैं। कथावत्यु के १५वें वर्ग के अनुसार भगवान् ने एक शब्द भी नही कहा है। आनन्द ने ही उपदेश दिया है। इस मत के बौद्ध लोकोत्तरवादी कहलाते थे। उनके अनुसार निर्वाण का श्रर्थं बुद्ध-श्रवस्था का शाश्वतत्व है । गान्धार-रीति की जो बुद्ध की मूर्त्तियाँ है, उनमें शाक्यमुनि, पूर्ववृद्ध तथा अन्यवृद्धो को ध्यान की अवस्था में दिखाया है। चरम-भविक ( = अन्तिम जन्मवाला) बोधिसत्त्व तुषित-लोक से वृद्ध होने के लिए अवतीर्ण होता है। वह लोकोत्तर पुरुष है। उसका जन्म ग्रद्भुत है, भौर वह लक्षणों से संयुक्त है। स्थिविरों का कहना है कि बोधि के अनन्तर वह लोकोत्तर होते हैं, किन्तु वह लोकानुवर्त्तन करते हैं। अनेक कल्प हुए कि हमारे शाक्यमुनि ने पूर्वबुद्ध के सम्मुख यह प्रणिधान किया कि 'मै बुद्ध हूँ गा'। उन्होने अनेक जन्मों में १० पारमिताओं की साधना की। उन्होंने अन्तिम जन्म में कुमारी-माया के गर्भ में मनोमय-शरीर धारण किया। उनकी पत्नी भी कुमारी थी, क्योंकि अन्तिम जन्म में बुद्ध काम-राग में अभिनिविष्ट नहीं होते। भूतदया से प्रेरित हो वे मानव-जन्म ले लोगों को उपदेश देते हैं। 'वेतुल्लक' कहते हैं कि- शाक्यमुनि ने मनुष्य-लोक में कभी श्रवस्थान नहीं किया, वे वास्तव में तुषित-लोक में रहते है। मनुष्यो श्रीर देवताश्रो ने केवल उनकी छाया देखी है। 'सद्धर्म-पुण्डरीक' में यह वाद सुपल्लवित हुन्ना है। इस ग्रन्थ में शाक्यमुनि का माहात्म्य वर्णित है। जनका यथार्थ-काय सम्भोगकाय है। ये धमदेशना के लिए समय-समय पर लोक में प्रादुर्भ्त होते हैं। यह उनका निर्माणकाय हैं। इसी की स्तूप-पूजा होती हैं। पाँचवी-छठी शताब्दी में कुछ वौद्ध आदिवुद्ध (= ग्रादि कल्पिक बुद्ध) भी मानन लगे, जिनसे ग्रन्य वुद्धो का प्रांदुर्भाव हो सकता था। किन्तु, यह विचार तीर्थंक (हेरिटिक) विचार माना जाता था।

सूत्रालकार (६।७७) में इसका प्रतिषेध यह कहकर है कि कोई पुरुष भ्रादि से बुद्ध नहीं होता, क्योंकि बुद्धत्व की प्राप्त के लिए पुण्य ग्रीर ज्ञान-सम्भार की भ्रावण्यकता है। धीरे-धीरे बुद्धों की सख्या बढ़ने लगी। पूर्वविश्वास के अनुसार एक काल में एक साथ दो बुद्ध नहीं होते थे। महायान में एक काल में भ्रनेक

नहीं हो सकते । पहले ७ मानुषी बुद्धों का उल्लेख मिलता है, धीरे-धीरे यह मख्या २४ हो जाती है । इनके ग्रलग-ग्रलग बुद्ध-क्षेत्र हैं, जहाँ इनका ग्राधिपत्य है । इसी प्रकार का एक बुद्ध-क्षेत्र सुखावती-व्यूह है, जहाँ ग्रमिताभ या ग्रमितायु-बुद्ध शासन करते हैं । यहाँ दुख का लब-लेश भी नहीं है । यह विशुद्ध-मत्त्व से निर्मित है । वहाँ ग्रमिताभ के भक्त मरणानन्तर निवास करते हैं । मुखावती-च्यूह में नाम-जप, नाम-धोप, नाम-सकीर्नन का वड़ा माहात्म्य है । जो सुशील-पुरुप सच्चे हृदय से ग्रमिताभ का नाम एक वार भी लेते हैं , वे मुखावती में जन्म लेते हैं । इम निकाय का प्रचार जापान में विशेष रूप से हुग्रा । यहाँ एक मन्दिर में ही यह ग्रन्थ मिला था ।

इस प्रकार धीरे-धीरे बुद्धवाद विकसित हुआ । यह वाँद्ध-शामन मे एक नूतन परि-वर्त्तन है। यह लोकोत्तरवाद महामाधिको में उत्पन्न हुआ । हम महासाधिको का स्थविरो से पृथक् होना वता चुके है। विकसित होने-होते इस निकाय से महायान की उत्पत्ति हुई। वौद्ध-सघ दो प्रधान यानो ( =मार्ग ) मे विभक्त हो गया — हीनयान और महायान।

हमने देखा कि किस प्रकार महायान ने बुद्ध को एक विशेष ग्रर्थ में लोकोत्तर वना दिया। इससे बुद्ध-भिक्त वढने लगी। जब यूनानियों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया, तब बुद्ध की मूर्त्तियाँ बनने लगी। भिक्त के कारण मूर्त्तिकला में भी उन्नित हुई। प्रसिद्ध रूपकारों ने प्रस्तर में भगवान् के कुशल-समाहित-चित्त, उनकी मैंत्री-भावना ग्रौर करुणा, उनके पुण्य ग्रौर ज्ञान के सम्भार का उद्ग्रहण करने की सफल चेण्टा की। यह व्यक्त है कि मूर्त्ति-कला पर इसका बडा प्रभाव पडा। गुप्तकाल इसका समृद्धिकाल है।

# महायान-धर्म की विशेषता

स्थिवरवाद का ग्रादर्श ग्रहंत्त्व ग्रीर उसका लक्ष्य निर्वाण था। ग्रहंत् रागादि-मलो का उच्छेद कर क्लेग-वन्धन-विनिर्मु क्त होता था। उसका चित्त ससार से विमुक्त ग्रीर मन निर्विषय होता था। ग्रहंत् ग्रपनी ही उन्नति के लिए यत्नवान् होता था। उसकी साधना ग्रप्टागिक मार्ग की थी। स्थिवरवादियों के मत में बुद्ध यद्य पि लोक-ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ हैं, तथापि बुद्ध-काय जरा-व्याधि-मरण इत्यादि दु खो से विमुक्त न था। महासाधिकों के विचार में बुद्ध एक विशेष ग्रथं में लोकोत्तर थे। महासाधिक-वाद के ग्रन्तर्गत लोकोत्तरवाद एक ग्रवान्तर शाखा थी। इसके विनय का प्रधानग्रन्थ 'महावस्तु' हैं। इनके मत में बुद्ध को विश्वाम ग्रथवा निद्रा की ग्रावण्यकता नहीं हैं, ग्रौर जितने समय तक वह जीवित रहना चाहें, उतने समय तक जीवित रह सकते हैं। स्थिवरवादियों के ग्रनुमार यदि नियम-पूर्वक ग्रच्छा ग्रम्याम किया जाय, तो इस दृष्ट-धर्म में ही निर्वाण-फल का ग्रधिगम होता हैं। मोक्ष के इन मार्ग का ग्रनुसरण वह करता हैं, जो शील-प्रतिष्ठित हैं, ग्रौर ब्रह्मचर्य का पालन करता है। बुद्ध ग्रन्य ग्रहंतों में मिलते हैं, क्योंकि उन्होंने मत्य का उद्घाटन किया ग्रौर उन मार्ग का निर्देश किया, जिसपर चलकर लोग समार से विमुक्त होते हैं। इन विशेषता का कारण है कि बुद्ध ने पूर्व-जन्मों में पुण्य-राणि का मचय ग्रौर ग्रनन्त ज्ञान प्राप्त किया था।

चरियापिटक मे वृद्ध के पूर्वजन्मों की कथा विणत है। इस ग्रन्थ में भी पारिमता का उल्लेख मिलता है। ग्रर्हत् का ग्रादर्ण परम कारुणिक वृद्ध के ग्रादर्भ की ग्रपेक्षा तुच्छ मालूम पडने लगा। वुद्धचरित के अनुशीलन से वुद्ध के अनुकरण करने की इच्छा प्रकट हुई। भगवान् सर्वज्ञ थे। वह जानते थे कि जीव दुख से ग्रार्त्त है। जीवो के प्रति उनको महा-करुणा उत्पन्न हुई ग्रौर इसी करुणा से प्रेरित होकर भगवान् वुद्ध ने जीवो के कल्याण के लिए ही धर्मीपदेश करना स्वीकार किया । वुद्धचरित से प्रभावित होकर वौद्धों में एक नवीन विचार-पद्धति का उदय हुग्रा। ग्रष्टागिकमार्ग की जगह पर वोधिसत्त्व-चर्या का विकास हुआ और इस समुदाय का आदर्श अर्हत्त्व न होकर वोधिसत्त्व हुग्रा, क्योकि भगवान् वुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व तक 'वोधिसत्त्व' थे। 'वोधिसत्त्व' उसे कहते हैं, जो मस्यक् ज्ञान की प्राप्ति चाहता है। जिसमें मस्यक् ज्ञान है, उसी के चित्त में जीवलोक के प्रति करुणा का प्रादुर्माव हो सकता है। इस नवीन धर्म का नाम महायान पडा। महायानवादी प्राचीन विचारवालो को हीनयान-वादी कहते थे। हीनयान का दूसरा नाम श्रावक-यान है। इसका प्रतिपक्ष महायान या वोधिमत्त्वयान है, इसको ग्रग्रयान भी कहा है। र्वुद्ध-वश से श्रावक ग्रीर प्रत्येक-वृद्ध मम्यक्-सम्बुद्ध के प्रतिपक्षी है। श्रावकयान ग्रीर प्रत्येक-वुद्धयान में ऐसा अन्तर नहीं है, दोनो एक ही वोधि और निर्वाण को पाते हैं। प्रत्येक-बुद्ध सद्धर्म के लोप हो जाने पर अपने उद्योग से वोधि प्राप्त करते हैं। प्रत्येक-वुद्ध उपदेश से विरत है, केवल प्रातिहार्य द्वारा अन्यधर्मावलम्वियो (तीर्थियो) को वौद्धर्म की शिक्षा देते है।

सद्धमंपुण्डरीक, तथा भ्रन्य कई सूत्रों का स्पष्ट कहना है कि एक ही यान है—बुद्धयान। पर इमकी साधना में बहुत ममय लगता है, इसलिए बुद्ध ने भ्रहेत् के निर्वाण का निर्देश किया है। एक प्रश्न यह उठता है कि—क्या महायान के भ्राचार्यों के मत मे महायान ही मोक्ष-दायक है है इतिसा का कहना है कि दोनों यान बुद्ध की भ्रार्य-शिक्षा के भ्रन्कूल हैं। दोनों समान रूप से सत्य भ्रोर निर्वाणगामी हैं। इतिसा स्वय हीनयान-वादी था। वह कहता है कि यह बताना कठिन है कि हीनयानान्तर्गत भ्रष्टारह वादों में से किसकी गणना महायान या हीनयान में की जाय। युग्रान-च्वाग (ह्वेनत्सग) ऐसे भिक्षुग्रों का उल्लेख करता है, जो स्थविरवादी होकर भी महायान के भ्रन्यायों थे भीर विनय में पूर्ण थे। ऐसा मालूम पडता है कि कुछ हीनयान के भिक्षु भी महायान-सवर का ग्रहण श्रीर पालन करते थे। महायान के विनय का प्राचीनतम रूप ज्ञात नहीं है। यह सम्भव है कि ग्रादि में महायान-वाद के निज के विनय नहीं थे। पीछे से साधक के लिए न्थों की रचना की गई। इतिमा के भ्रन्यार महायान की विभेपता केवल वोधिसत्त्वों की पूजा में यो। महायान के भ्रन्यार भी हीनयान के समान भ्रनेक वाद थे। इनमें पारमिता-यान या वोधिसत्त्व-यान या वुद्ध-यान, प्रज्ञायान (—ज्ञानमार्ग) ग्रीर भित्त-मार्ग प्रधान है। ग्रागे चलकर तन्त्व के प्रभाव से मन्त्रयान, वज्ज्यान, श्रीर तन्त्रयान का विकास हुग्रा। प्रधान है। ग्रागे चलकर तन्त्व के प्रभाव से मन्त्रयान, वज्ज्यान, श्रीर तन्त्रयान का विकास हुग्रा।

प्राय महायानवादी हीनयान की माधना को तुच्छ समझते हैं। कुछ का यहाँतक कहना है कि श्रावकयान द्वारा निर्वाण नहीं मिल सकता। शान्तिदेव का कहना है कि श्रावक-यना की कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए, न उसको सुने, न उसको पढे, क्योंकि इससे क्लेशो का ग्रन्त न हो सकेगा। हम ग्रागे चलकर महायान के दर्शन एव साधना का विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रज्ञा-यान के ग्रन्तर्गत दो दार्शनिक विचार-पद्धितयों का उदय हुग्रा—मध्यमक ग्रौर विज्ञानवाद। मध्यमक-वादी मानते थे कि सव वस्तु स्वभाव-शून्य है ग्रौर विज्ञानवादी बाह्य वस्तु-जात को ग्रसत् ग्रौर विज्ञान को सत् मानते थे ग्रौर यह विश्वास रखते थे कि बोधिसत्त्व सहायता करते हैं। महायान-वादियों को प्राचीन निकाय मान्य है, पर हीनयान के ग्रन्यायी महायान के ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते। महायान-वादियों का कहना है कि महायान नवीन नहीं है ग्रौर हीनयान के ग्रागम-ग्रन्थ ही महायान की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। मध्यमक-कारिका के वृत्तिकार चन्द्रकीर्त्त का कहना है कि हीनयान के ग्रन्थों में महावस्तु में दशभूमि ग्रौर पारमिता का भी वर्णन है। महायान के ग्रन्थ गाथा ग्रौर सस्कृत में हैं।

हीनयान के वैभाषिक-प्रस्थान के ग्रन्थ संस्कृत में हैं। उनका विवरण 'वौद्ध-संस्कृत-साहित्य के श्रध्ययन' के प्रकरण में देगे।

लोकोत्तरवाद का पर्यवसान विकायवाद में हुआ, जो महायान की विशेषता है, इसलिए श्रव विकायवाद का उल्लेख करेगे।

#### त्रिकायदाद

पालिनिकाय मे व्रिकायवाद नही है, किन्तु उसमे बुद्ध के तीन कायो मे विशेष किया गया है--चातुर्महाभौतिक काय, मनोमय काय ग्रौर धर्मकाय । प्रथम काय पूर्तिकाय है। यह जरायुज-काय है। शाक्यम् नि ने माता की कुक्षि में इसी काय को धारण किया या। पालि में बुद्ध के निर्माण-काय का उल्लेख नही है। किन्तु चातुर्महाभौतिक काय के विपक्ष में एक मनी-मय काय का भी उल्लेख हैं (सयुत्त, पृ० २८२, दीघ, २, पृ० १०६)। सर्वास्ति-वाद की परिभाषा में बुद्ध में नैर्माणिकी स्रीर पारिणामिकी ऋद्धि थी। वह स्रपने सदृश स्रन्य रूप निर्मित कर सकते थे भ्रौर अपने काय का पारिदापत भी कर सकते थे। यथा ब्रह्मा का काय भ्रधर देवों के असद्श हैं, वह अभिनिर्मित शरीर से उनको दर्शन देते हैं (दीघ २, पृ०२१२, कोश, ३, पू० २६६) । इसलिए , प्रवतसक में बुद्ध की तुलना ब्रह्मा से करते हैं । पालिनिकाय में रूपी देव को मनोमय कहा है। मज्झिम, १, ४१०, विनय, २, १८५ में कहा है कि कोलियपुत्त कालकर मनोमय काय में उपन्न हुम्रा है। बाह्य प्रत्यय के विना मनस् से निष्पन्न, निर्वृत-काय मनोमय काय है। विशुद्धिमार्ग के अनुसार (पृ० ४०५) यह अधिष्ठान मन से निर्मित है। यह श्ररूपी का सज्ञामय काय नहीं हैं। सर्वास्तिवादी भी मनोमय काय के देवों का रूपावचर मानता है। सौतान्तिक के मत से यह रूप ग्रौर ग्रारूप्य दोनों के हैं। ग्रन्तराभव भी मनोमय कहलाता है, क्योकि यह केवल मन से निर्मित है श्रीर शुक्र-शोणितादि किंचित् वाह्य का उपादान न लेकर इसका भाव होता है। योगाचार के अनुसार---आठवी भूमि में कार्य मनोमय होता है, इसमे मन का वेग होता है, यह मन की तरह शीघ्र गमन करता है ग्रौर इसकी गति स्रप्रतिहत होनी हैं। सब श्रावक मनोमयकाय धारण कर सकते हैं (योगशास्त्र, ५०)।

मनोमय काय के १० प्रकौर हैं। कुछ के ग्रनुसार यह काय मन स्वभाव है, दूसरो के ग्रनुसार इस काय की उत्पत्ति इच्छानुसार होती है, पूर्वकाय का परिणाम-मात है। श्रिभनव काय की उत्पत्ति नही होती ।

वृद्ध का यथार्थ-काय रूप-काय नहीं है, जिसके धातु-गर्भ की पूजा-उपासना करते हैं, किन्तु धर्म ( = धर्म-विनय) यथार्य-काय है। धर्म-काय प्रवचन-काय है। शाक्य-पुत्रीय भिक्ष् इसी घर्म-काय से उत्पन्न हुए हैं "मै भगवत् का श्रीरस पुत्र हूँ, धर्म मे उत्पन्न हूँ, धर्म का दायाद हूँ" (दीघ, ३, पृ० ८४, इतिवुत्तक, पृ० १०१) । दूसरा कारण यह है कि भगवान् धर्म-भूत है, ब्रह्म-भूत है, धर्म-काय भी है (दीघ, ३, ८४, मिजझम, ३, पृ० १६५)। इसी प्रकार कहते हैं, प्रज्ञा-पारमिता धर्म-काय है, तथागत-काय है। जो प्रतीत्यममुत्पाद का दर्शन करता है, वह धर्म-काय का दर्शन करता है। प्रज्ञापारिमतास्तोत्र में नागाजुंन कहते हैं - जो तुझे भाव से देखता है, वह तथागत को देखता है। शान्तिदेव वोधिचर्यावतार के ग्रारम्भ में सुगतात्मज ग्रौर धर्म-काय की भी वन्दना करते हैं (पृ०३)।

स्यविरवाद से महायान में श्राते-श्राते वृद्ध में पूर्ण श्रलीकिक गुण श्रा जाते हैं। वृद्ध को केवल अलौकिक गुण-व्यूह-सम्पत्ति से समन्वागत ही नही किया गया, पर उनका व्यक्तित्व ही नष्ट कर दिया गया । वृद्ध ग्रजन्मा, प्रपच-विमुक्त, ग्रव्यय ग्रौर श्राकाश-प्रतिसम हो गये ।

स्यविरवादियो के ग्रनुमार भगवान् वृद्ध लोकोत्तर थे। वृद्ध ने स्वय कहा था कि मै लोक में ज्येष्ठ ग्रौर श्रेष्ठ हूँ ग्रौर सब सत्त्वो में ग्रनुत्तर हूँ। एक बार द्रोण ब्राह्मण वुद्ध के पादो में सर्वाकार-परिपूर्ण चक्रो को देखकर चिकत हुआ। उसने वृद्ध से पूछा कि श्राप देव है, यक्ष हैं, गन्धर्व हैं, वया है ? भगवान् ने कहा--मैं इनमें से कोई नही हूँ। द्रोण वोला-फिर क्या म्राप मनुष्य है ? बुद्ध ने उत्तर दिया—मैं मनुष्य भी नहीं हूँ, मैं बुद्ध हूँ, जिससे देवोत्पत्ति होती है, जिससे यक्षत्व या गन्धर्वत्व की प्राप्ति होती है। सब ग्रासवो का मैने नाश किया है। हे ब्राह्मण । जिस प्रकार पुण्डरीक जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मैं लोक से उपलिप्त नहीं होता। वीधनिकाय के अनुसार वोधिसत्त्व की यह धर्मता है कि जब वह तुपितकाय से च्युत हो माता की कुक्षि में अवकान्त होते है, तब सब लोको में अप्रमाण-अवभास का प्रादुर्भाव होता है। यह ग्रवभास देवताग्रों के तेज को भी ग्रिभभूत कर देता है। लोकों के वीच जहाँ ग्रन्धकार-ही-ग्रन्धकार है, जहाँ चन्द्रमा ग्रीर सूर्य ऐसे महानुभावो की भी ग्राभा नहीं पहुँचती, वहाँ भी ग्रप्रमाण-ग्रवभास का प्रादुर्भाव होता है। वोधिसत्त्व महापुरुषो के वत्तीस लक्षणो से ग्रीर ग्रस्सी ग्रनुव्यजनो से समन्वागत होता है। उएक स्थल पर भगवान् ग्रानन्द से कहते हैं कि दो काल में तथागत का छवि-वर्ण परिशुद्ध होता है---

ग्रगुत्तरनिकाय, भाग २, चतुक्कतिपात, चक्कत्रगा, पृ० ३८ | ٦

माग २, प० १२, महापदानमुत्तन्त । ર

दीघनिकाय, भाग २, पृ० १६।

दीवनिकाय, भाग रे, पृ० १३४।

- १ जिस रावि को भगवान् सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं।
- २ जिस रात्रि को भगवान् अनुपधि-शेष-निर्वाण मे प्रवेश करते हैं।

पालिनिकाय के अनुसार जब बोधिसत्त्व ने गर्भावकान्ति की, तब मानुष श्रीर श्रमानुष परस्पर हिसा का भाव नही रखते थे ग्रीर सब सत्त्व हुष्ट ग्रीर तुष्ट थे। भगवान् के यह सब श्रद्भुत धर्म त्रिपिटक मे वर्णित है। इन सब ग्रद्भुत धर्मी से समन्वागत होते हुए भी स्थविरवादी बुद्ध को इसी ग्रर्थ में लोकत्तर मानते थे कि वह लोक को ग्रिभभूत कर स्थित है, ग्रर्थात् लोक से श्रनुपलिप्त होकर विहार करते हैं। जहाँ दूसरे बुद्ध के बताये हुए मार्ग का श्रनुसरण कर श्रर्हत भवस्था को प्राप्त करते है और उनको मार्ग का अन्वेषण नही करना पडता, वहाँ बुद्ध स्वय श्रपने उद्योग से निर्वाण-मार्ग का उद्घाटन करते है। यही उनकी विशेषता है। पर स्थविरवादी मनुष्य-लोक मे बुद्ध की स्थिति को स्वीकार करते थे। वे उनके जीवन की घटनाओं को सत्य मानते थे। इसपर उनका पूरा विश्वास था कि बुद्ध लोक मे उत्पन्न हुए, लोक मे ही उन्होने सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति की लोक भ्रीर में ही उन्होने धर्म का उपदेश किया। स्थविरवादी बुद्ध के व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए उनकी शिक्षा पर अधिक जोर देते थे। परिनिर्वाण के पूर्व स्वय बुद्ध ने अपने शिष्य ग्रानन्द से कहा था "-"हे ग्रानन्द ! तुममे से किसी का विचार यह हो सकता है कि शास्ता का प्रवचन अतीत हो गया, अब हमारा कोई शास्ता नही है। पर ऐसा विचार उचित नहीं है। जिस धर्म ग्रीर विनय का मैंने तुमको उपदेश किया है, मेरेपीछे वह तुम्हारा शास्ता हो।" बुद्ध ने यह भी कहार है कि जो धर्म को देखता है वह मुझको देखता है ग्रौर जो मुझको देखता है, वह धर्म को देखता है। इसका यही ग्रर्थ है कि जिसने धर्म का तत्त्व समझ लिया है, उसी ने वास्तव में बुद्ध का दर्शन किया है। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् यही धर्म शास्ता का कार्य करता है। बुद्ध का वुद्धत्व इसी में है कि उन्होने दुख की अत्यन्त-निवृत्ति के लिए धर्म का उपदेश किया। वुद्ध केवल पथ-प्रदर्शक है, उनके बताये हुए धर्म की शरण मे जाने से ही निर्वाण का ग्रधिगम होता है। बुद्ध कहते हैं — 'हे आनन्द! तुम अपने लिए स्वय दीपक हो, धर्म की शरण में जाओ, किसी दूसरे का श्राश्रय न खोजो।" धर्म की प्रधानता को मानते हुए भी स्थविरवादी बुद्ध के व्यक्तित्व को स्वीकार करते थे, पर वुद्ध के निर्वाण के पश्चात् श्रद्धालु-श्रावक वुद्ध को देवातिदेव मानने लगे ग्रौर यह मानने लगे कि बुद्ध सहस्र-कोटि-कल्प से है ग्रौर उनका न्रायु प्रमाण भ्रनन्त कल्प का है। बुद्ध लोक के पिता और स्वयम्भू हो गये, जो सदा गृध्नकूट-पर्वत पर निवास

१. दीवनिकाय, भाग २, पृ० १५४, महापरिनिन्वान-सुत्त ।

२ ''धम्म हि सो मिक्ख़वे भिक्ख़ु पस्सति, धम्म पस्सन्तो मं पस्सिति' ति ।''—इतिबुत्तक, वग्ग ४, सृत्त ३, पृ० ६९ । ''यो रवो वक्तिल धम्म परसित सो म पस्सिति । यो म पस्सित सो धम्म पस्सिति''—संयुत्तनिकाय, भाग ३, पृ० ९२०।''

करते हैं १, श्रीर जब धर्म का उपदेश करना चाहते हैं, तब श्रूमध्य के ऊर्णाकोश से एक रिशम प्रस्तुत करते हैं जिससे ग्रहारह सहस्र बुद्धक्षेत्र ग्रवभासित होते हैं। बुद्धों की सख्या भी श्रमन्त हो गई। महायान-मूलों में इस प्रकार के विचार प्राय पाये जाते हैं। 'सद्धमं पुण्डरीक' वैपुल्य-सूलों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसमें तथागतायुष्प्रमाण पर एक ग्रध्याय है। इस ग्रध्याय में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि सहस्र-कोटि-कल्प व्यतीत हुए, जिसका कि प्रमाण नहीं है, जब मैंने सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया, ग्रीर में नित्य-धर्म का उपदेश करता हूँ। भगवान् कहते हैं कि ''में सत्त्वों की शिक्षा के लिए उपाय का निदर्शन करता हूँ ग्रीर उनको निर्वाण-भूमि का दर्शन कराता हूँ। में स्वय निर्वाण में प्रवेश नहीं करता श्रीर निरन्तर धर्म का प्रकाश करता रहता हूँ। पर विमूद-चित्त पुरुप मुझकों नहीं देखते। यह समझकर कि मेरा परिनिर्वाण हो गया है, वह मेरे धातु की विविध प्रकार से पूजा करते हैं, पर मुझकों नहीं देखते। उनमे एक प्रकार की स्पृहा उत्पन्न होती है, जिसमे उनका चित्त सरल हो जाता है। जब ऐसे सरल श्रीर मृदु सत्त्व शरीर का उत्सर्ग करते हैं, तब मैं श्रावक-सध को एकत्र कर गृधकूट-पर्वत पर उनको ग्रपना दर्शन कराता हूँ, श्रीर उनसे कहता हूँ, कि मेरा उस समय निर्वाण नहीं हुग्रा था, यह मेरा केवल उपाय-कांणल था, मैं जीवलोक में वार-वार ग्राता हूँ।''3

(सद्धर्मपुरस्टरीक, पृ• ३२६)

( सडमीपुरहरीक, पृ• ३२३ )

विर्वाणभूमिं चुपदर्शयामि विनयार्थमत्तान वदाग्युपायम् ।

न चापि निर्वाग्यह् तिरेग काले इहैव चो धमु प्रकाशयामि ॥३॥

तत्रापि चारमानमधिष्ठहामि सर्वा श्व सत्त्वान तथैव चाहम् ।

विषरीतगुद्धी च नरा विमृद्धा तत्रैत तिष्ठन्तु न पश्यिष् माम् ॥४॥

परिनिकृत दृष्ट्व ममात्ममाय धात्पु पृजा विविधा करोन्ति ।

मा च अपश्यन्ति जनेन्ति तृष्णा ततोर्जुक चित्त प्रमोति तथाम् ॥४॥

श्व.न् यदा ते मृद्धमार्दवाश्च उत्सष्टकामाश्च मवन्ति सत्त्वा ।

ततो श्वह श्रावकसव इत्वा श्वात्मान दशे म्यहु गृष्ठकृटे ॥६॥

एय च ह तेप वदामि पश्चात् इहैवनाह तद श्वासि निकृत ।

उपायकीशाल्य ममेति भिक्षव पुन पुनो मोभ्यहु जीवलोके ॥७॥

(सङ्धमेषुयहरीक, पृ० १२३-१२४)

१ एवेम इ लोकपिता स्वयम् चिकित्सक सर्व-प्रजान-नाय । विपरीत मुदाश्च विदित्व पालान् श्रनिवृ तो निष्ठ त दर्शयामि ॥२१॥

२ श्रिचिन्तिया कल्पसहस्रकोट्यो यासा प्रमाण न कदाचि विद्यते । प्राप्ता मया एप तदास्रवोधिर्धर्मं च देशोम्यह नित्यकालम् ॥१॥

प्रज्ञापारिमिता-सून्न के भाष्य मे नागार्जुन कहते है कि तथागत सदा धर्म का उपदेश करते रहते हैं, पर सत्त्व ग्रपने पाप-कर्म के कारण उनके उपदेश को नहीं सुनते ग्रीर न उनकी ग्राभा को देखते हैं, जैसे बहरे वज्र के निनाद को नहीं मुनते ग्रीर ग्रन्धे सूर्य की ज्योति को नहीं देखते। 'लिलितविस्तर' में एक स्थल पर ग्रानन्द ग्रीर बुद्ध का सवाद है। भगवान् ग्रानन्द से कहते हैं कि—"भविष्य-काल में कुछ भिक्षु ग्रिभमानी ग्रीर उद्धत होगे। वे वोधिसत्त्व की गर्भावकान्ति-परिशुद्धि में विश्वास न करेगे। वे कहेगे कि यह किस प्रकार सम्भव है कि वोधिस्त माता की कुक्षि से बाहर ग्राते हुए गर्भमल से उपलिप्त नहीं हुए। वे नहीं जानते कि तथागत देवतुल्य है ग्रीर हम मनुष्य-मात्र है, ग्रीर उनके स्थान की पूर्त्त करने में समर्थ नहीं हैं। उनको समझना चाहिए कि हमलोग भगवान् की इयत्ता या प्रमाण को नहीं जान सकते, वह ग्राचन्त्य है।" 'करण्डक-व्यूह' में भ्रवलोकितेश्वर के गुणो का वर्णन है। इस ग्रन्थ में लिखा है कि ग्रारम्भ में ग्रादिबुद्ध का उदय हुग्रा। इनको स्वयम्भू ग्रीर ग्रादिनाथ भी कहा है। इन्होने ध्यान द्वारा ससार की सृष्टि की। ग्रवलोकितेश्वर की उत्पत्ति ग्रादिबुद्ध से हुई है ग्रीर उन्होने सृष्टि की रचना में ग्रादिबुद्ध की सहायता की। ग्रवलोकितेश्वर की ग्राखों से सूर्य ग्रीर चन्द्रमा की सृष्टि हुई, मस्तक से महेश्वर, स्कन्ध से ब्रह्मा ग्रीर हृदय से नारायण उत्पन्न हुए।

सुखावती-च्यूह में लिखा है कि यदि तथागत चाहे, तो एक पिण्डपात कर कल्पण्ञत-सहस्र तक ग्रोर इससे भी ग्रधिक काल तक रह सकते हैं, ग्रोर तिस पर भी उनकी इन्द्रियाँ नष्ट न होगी, उनका मुख विवर्ण न होगा, ग्रीर उनके छिववर्ण में परिवर्त्तन न होगा। यह बुद्ध का लोकोत्तर भाव है। पुखावती-लोक में श्रमिताभ-तथागत निवास करते हैं, ग्रमिताभ की प्रतिभा अनुपम है, उसका प्रमाण नही है। इसी कारण उनको 'ग्रमिताभ', 'ग्रमितप्रभ' ग्रादि नाम से सकीर्त्तित करते हैं। यदि तथागत कल्प-भर ग्रमिताभ के कर्म का प्रभा से ग्रारम्भ कर वर्णन करे, तो उनकी प्रभा का गुण-पर्यन्त ग्रधिगत न कर सके, क्योंकि ग्रमिताभ की प्रभा-गुण-विभूति ग्रप्रमेय, ग्रसख्येय, ग्रचिन्त्य ग्रीर ग्रपर्यन्त है। ग्रमिताभ का श्रावकसघ भी ग्रनन्त ग्रौर ग्रपर्यन्त है। ग्रमिताभ की ग्रायू ग्रपरिमित है। इसीलिए, इन्हें 'ग्रमितायु' भी कहते हैं। साम्प्रत कल्पगणना के ग्रनुसार इस लोकधातु में ग्रमितायु को सम्वीध प्राप्त किये दस कल्प व्यतीत हो चुके हैं। समाधिराज में लिखा है कि बुद्ध का धर्म-शरीर है, बुद्ध की उत्पत्ति नही होती, वह विना कारण के ही कार्य है, वह सबके ग्रादिकारण है, उनका ग्रारम्भ नही है। सुवर्णप्रभाससूत्र में भी बतलाया है कि बुद्ध का जन्म नही होता। उनका सच्चा शरीर 'धर्म-काय' या धर्म-धातु है। इसीलिए, सुखावतीच्यूह में बुद्ध को 'धर्मस्वामी' ग्रीर बुद्धचरित में धर्मराज' कहा है।

१ 'त्राकाक्षन्नानन्द तयागत एकपिरुद्धपातेन कल्प वा तिष्ठेत् कल्पशतं वा कल्पसहस्त्र वा कल्पशतसहस्त्रं वा यावत् कल्पकोटीन्यय्तशतसहस्त्र वा ततो वोत्तरि तिष्ठेत् न च तथागतस्येन्द्रियारयुपनश्येयु- ने मुख्यवर्णस्यान्यघात्व भवेन्नापि च्छविवर्ण उपहन्येत । (सुख्यावतीन्यृष्ट्, पृ० ४)

महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र का कहना है कि बुद्ध ने निर्वाण में प्रवेश नहीं किया, उनका काय शाश्वत है।

स्थिवरवादियों ने महायानियों के लोकोत्तरवाद का विरोध किया, जैसा कथावत्यु से स्पष्ट हैं। कथावत्यु के अट्टारहवें वर्ग में इसकी स्थापना की गई है कि बुद्ध मनुष्य-लोक में ये और इस पूर्व-पक्ष का खण्डन किया गया है कि उनकी स्थित मनुष्य-लोक में न थी। पूर्व-पक्ष का खण्डन करते हुए पिटक-ग्रन्थों से वुद्ध-वचन उद्धृत कर यह दिखाया गया है कि बुद्ध के सवादों से ही यह सिद्ध है कि बुद्ध की स्थिति मनुष्यलोक में थी। बुद्ध लोक में उत्पन्न हुए थे, सम्यक्मम्बोधि प्राप्त कर उन्होंने धर्म-चक्र का प्रवर्त्तन किया था और उनका परिनिर्वाण हुग्रा था। इसी वर्ग में इस पूर्व-पक्ष का भी खण्डन किया गया है कि बुद्ध ने धर्म का उपदेश नहीं किया। स्थिवरवादी पूछता है कि यदि बुद्ध ने धर्म का उपदेश नहीं किया, तो फिर किसने किया। पूर्व-पक्ष इसका उत्तर देता है कि 'अभिनिर्मित' ने धर्म-देशना की, और यह अभिनिर्मित 'आनन्द' था। सिद्धान्त बताते हुए सूनों से उद्धरण दिये गये हैं, जिनसे मालूम होता है कि बुद्ध ने स्वय शारिपुत से कहा था कि में सक्षेप में भी और विस्तार से भी धर्म का उपदेश करता हूँ, इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान् बुद्ध ने स्वय धर्मदेशना की थी।

यह हम ऊपर कह चुके हैं कि वििषटक में ही, बुद्ध के धर्म-काय की सूचना मिलती है। बुद्ध ने स्वय कहा है कि जो धर्म को देखता है, वह मुझको देखता है और जो मुझको देखता है, वह धर्म को देखता है।

धर्मकाय—यह उन धर्मों का समुदाय है, जिनके प्रतिलाभ से एक स्राश्रय-विशेष सर्वधर्म का ज्ञान प्राप्त कर वृद्ध कहलाता है। वृद्ध कारकधर्म-क्षयज्ञान, श्रनुत्पादज्ञान, सम्यक्दृष्टि है। इन ज्ञानों के परिवार श्रनास्त्रव पच-स्कन्ध है। धर्मकाय श्रनास्रव धर्मों की सन्तित है या स्राश्रयपरिनिर्वृति है। यह पचभाग या पचाग धर्मकाय कहलाता है। धर्म-सग्रह (पृ० २३) में इन्हें लोकोत्तर-स्कन्ध कहा है, महाव्युत्पत्ति में स्रसमसमस्कन्ध है, इन्हें जिन-स्कन्ध भी कहते है। यह दीघनिकाय (३,२२६, ४,२७६) के धर्ममक्खन्ध है। यह इस प्रकार है—शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुनित, विमुनित-ज्ञान-दर्शन। वृद्ध की शरण में जाने का अर्थ है, धर्मकाय की शरण में जाना नहीं है। धर्मकाय की शरण में जाना नहीं है। भिक्षु की भिक्षुता, उसका सवरशील उसका धर्मकाय है। इसी प्रकार, वृद्ध का बृद्धत्व, वृद्ध के स्नास्रव-धर्म, उनके धर्मकाय है। दीघनिकाय (३,५४) में कहा है कि तथागत का यह धर्मकाय श्रेष्ठ ग्रधिवचन है। धर्मकाय ब्रह्मकाय है। यह धर्मभूत, ब्रह्मभूत भी है। भगवत् के फलसम्पत् का लक्षण धर्मकाय है। फलसम्पत् चतुर्विध है। धर्मकाय की परिनित्पत्ति से इनकी फलसम्पत् का लक्षण धर्मकाय है। फलसम्पत् चतुर्विध है। धर्मकाय की परिनित्पत्ति से इनकी

<sup>? &#</sup>x27;'न वत्तव्य बुद्धो भगवा मनुस्सलोके श्रायानि । श्रायन्ता - हिन्च भगवा लोके जातो लोके सम्बुद्धो लोक श्रायानिक श्राय

प्राप्ति होती है। चार सम्पत्तियाँ ये हैं—ज्ञानसम्पत्, प्रहाणसम्पत्, प्रभावसम्पत्, रूपकायसम्पत्। प्रभावसम्पत् बाह्य विषय के निर्माण, परिणाम और अधिष्ठानविषाता की सम्पत् है। अपूर्व-वाह्य सम्पत् का उत्पादन निर्माण है। पत्थर का सोना बना देना आदि परिणाम है। किसी विषय को दीर्घ काल तक अवस्थान कराने की सामर्थ्य अधिष्ठानविषाता है। प्रभावसम्पत् के अन्तर्गत आयु के उत्सर्ग और अधिष्ठानविषाता की सम्पत् आवृत्त-गमन, आकाश-गमन, सुदूर-क्षिप्र-गमन, अल्प मे बहु का प्रवेश, विविध और स्वाभाविक आष्चर्य-धर्मों की सम्पत् भी है। यह अन्तिम भगवत् का सहज प्रभाव है। बुद्धों की यह धर्मता है कि उनके चलने पर निम्नस्थल समतल हो जाता है, जो ऊँचा है, वह नीचा हो जाता है, जो नीचा है, वह ऊँचा हो जाता है। अन्धे दृष्टि का, बहरे श्रोद्ध का, उन्मत्त स्मृति का प्रतिलाभ करते हैं।

यह धर्मकाय श्रचिन्त्य है श्रौर सब तथागतो द्वारा समान रूप से श्रिधकृत है। श्रष्टमाहस्रिका-प्रज्ञापारिमिता के श्रनुसार वास्तव मे बुद्ध का यही शरीर है। रूपकाय सत्काय नही
है। धर्मशरीर ही भूतार्थिक शरीर है। श्रीयंशालिस्तम्बसूब के श्रनुसार धर्मशरीर श्रनुत्तर है।
'वज्जच्छेदिका' का कहना है कि बुद्ध का ज्ञान धर्म द्वारा होता है, क्यों कि बुद्ध धर्मकाय है,
पर धर्मता श्रविज्ञेय है। धर्म क्या है श्रीयंशालिस्तम्बसूब के श्रनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद ही
धर्म है। जो इस प्रतीत्यसमुत्पाद को यथावत् श्रविपरीत देखता है श्रीर जानता है कि यह श्रजात,
श्रव्युपशम-स्वभाव है, वह धर्म को देखता है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध के नमध्यम मार्ग का
सार है। इसको भगवान् ने गम्भीर-नय कहा है। 'तत्त्वज्ञान'-श्रधिगम धर्म के कार ण ही बुद्धत्व
की प्राप्ति होती है। 'तत्त्वज्ञान' को 'धर्म' श्रौर 'प्रज्ञा' कहा गया है। इसलिए, कोई श्राष्ट्यम्
की वात नहीं है, जो बुद्ध-स्वभाव को 'धर्म' श्रौर 'प्रज्ञा' कहा गया है। श्रष्टसाहस्त्रिका मे प्रज्ञापारमिता को बुद्ध का धर्मकाय वताया है। प्रज्ञा को एक स्थान पर तथागतो की माता भी
कहा है। यह धर्मकाय के श्रसदृश सर्वप्रप च-व्यतिरिक्त है। यह 'शुद्धकाय' है, क्योंकि यह

१ "तथापि नाम तथागतनेत्रीचित्रीकारेण पति तथागताना भूतार्थिकशरीरम् । तत्कस्य हेतो १ उक्त ह्यां तद्भगवता धमकाया गुद्धा भगवन्त । मा खलु पुनिरम भिक्षव सरकाय काय मन्यध्वम् । धर्मकायपिरिनिष्पत्तितो मा भिक्षवो द्रक्ष्यन्त्येष च तथागतकायो भूतकोटि-प्रमावितो द्रष्टव्यो यद्त प्रज्ञापारिमता । श्रिष नु खलु पुनर्भगवित्तत प्रज्ञापारिमतातो निर्जातानि तथागतशरीराणि पूर्णा लभन्ते ।" (श्रष्टसाहिस्रकाप्रज्ञापारिमता, प्० ६४)

२ ''धर्मतो वुद्धा द्रष्टच्या धर्मकाया हि नायका । धर्मता चाप्यविश्वेया न सा शक्या विजानितुम् ॥ं'' (वज्रच्छेदिकाम्, पु० ४३)

र यदुक्त भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन यो भिक्षव प्रतीत्यसमुत्पाद पश्यति सं धर्म पश्यति यो धर्म पश्यति स गुद्ध पश्यति - य इमं प्रतीत्यसमुत्पाद सततसमित निजीव ययावदविपरीतमजातमभूतमसस्कृत प्रतिधमनालम्बन शिवमभयमहार्यमन्युपशमस्वभाव पश्यति स धर्म पश्यति । सोऽनुत्तर धर्मशारीर बुद्ध पश्यति ।''

<sup>(</sup>धोधिचर्यावतारपव्जिका, प्० ३८६)

प्रपच या ग्रावरण से रिहन ग्रीर प्रभास्वर है। इसको 'स्वभावकाय' भी कहा है। ' 'क्सोमा' के ग्रनुसार चार काय है ग्रीर 'स्वभावकाय' धर्मकाय से भिन्न तथा ग्रन्य भी ग्रनुत र शरीर है। 'ग्रमृतकणिका' का भी यही मत है कि धर्मकाय स्वाभाविक काय से मिन्न है। तत्त्वज्ञान से ही निर्वाण का ग्रधिगम होता है। इसलिए, कही-कही धर्मकाय को 'समाधि-काय' भी कहा है। यह तत्त्वज्ञान या वोधि ही परमार्थ- सत्य है। सवृतिमत्य की दृष्टि से उसको शून्यता, तथता भूतकोटि ग्रीर धर्मधातु कहते हैं। सब पदार्थ नि स्वभाव, ग्रर्थात् शून्य है; न उन्की उत्पत्ति है ग्रीर न निरोध। यही परमार्थसत्य है। नागार्जुन 'माध्यमिकसूत्र' में कहते हैं —

श्रप्रतीत्यसमुत्पन्नो धर्म कश्चिन्न विद्यते । यस्मात्तस्मादशून्यो हि धर्मः कश्चिन्न विद्यते ।।

(प्रकरण २४, श्लोक १६)

श्रयात्, कोई ऐसा धर्म नही है, जिसका उत्पाद हेतु-प्रत्यय-वश्च न हो। इसलिए, श्रशून्य धर्म कोई नहीं है। सब धर्म शून्य है, श्रयात् नि स्वभाव है, क्योंकि यदि भावो की उत्पत्ति स्वभाव से हो, तो स्वभाव हेतु-प्रत्यय-निरपेक्ष होने के कारण न उत्पन्न होता है श्रौर न उसका उच्छेद होता है, यदि भावो की उत्पत्ति हेतु-प्रत्यय-वश्च होती है, तो उनका स्वभाव नहीं होता। इसलिए, स्वभाव की कल्पना में श्रहेतुकत्व का श्रागम होता है श्रौर इससे कार्य, कारण, कर्ता, करण, क्रिया, उत्पाद, निरोध श्रौर फल की वाधा होती है। पर जो स्वभाव-शून्यतावादी है, उनके लिए किसी कार्य को वाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि जो प्रनीत्य-समुत्पाद है, वही शून्यता है श्रयांत् स्वभाव से भावो का श्रनुत्पाद है। भगवान् कहते हैं—

यः प्रत्ययंजीयति सह्यजातो न तस्य उत्पादु स्वभावतोऽस्ति । य प्रत्ययाचीनु स शून्य उक्तो य शून्यतो जानति सोऽप्रमत्तः।।

(मध्यमकवृत्ति, पृ० ५०४)

श्रयात्, जिसकी उत्पत्ति प्रत्ययवश है, वह श्रजात है, उसका उत्पाद स्वभाव से नहीं है। जो प्रत्यय के ग्रधीन है, वह शून्य है। जो शून्यता को जानता है, वह प्रमाद नहीं करता।

माध्यमिकसूत के अट्ठारहवे प्रकरण में नागार्जु न कहते हैं कि शून्यता, अर्थात् धर्मता चित्त और वाणी का विषय नहीं है। यह निर्वाण-सदृश अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है। अशून्यता

( माध्यमिकधृत्ति, पृ० ३६४ )

९ ''सर्वप्रपञ्चन्यतिरिक्तो भगवतः स्वामाविको धर्मकाय त एव चाधिगमस्वभावो धर्म ।" (वोधिचर्यावतारपव्जिकाः पृ०३)

२ ''शोधिवु दृत्वमेनानेकस्त्रमाविविवनतमनुत्पन्नानिरुद्धमनुच्छेद्रमशास्त्रतं सर्वप्रपञ्चविनिर्मु वत-माकाशप्रतिसमं धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते । एतदेव च प्रशापार्मिता-शून्यता-तथता भृत-कोटि-धर्मधात्वादिशब्देन सवृतिमुपादायामिधीयते ।" (वोधिचर्यावतारपञ्जिका, आ० ६, श्लो० ३८)

३ ''निवृत्तमिधातव्यं निवृत्ते चित्तगोचर । श्रनुरपन्ना निरुद्धा हि निर्वाणिमव धर्मना ॥''

एक प्रकार से सब दृष्टियो का नि सरण है। माध्यमिक की कोई प्रतिज्ञा नही है। जो शून्यता की दृष्टि रखते है, ग्रर्थात् जिनका शून्यता मे अभिनिवेश है, उनको वृद्ध ने ग्रमाध्य वताया है। श्रे ग्रव शुन्यतावादी के ग्रनुसार वृद्धकाय की परीक्षा करनी चाहिए।

माध्यमिकसूत्र में 'तथागतपरीक्षा' नाम का एक प्रकरण है। नागार्जुन कहते हैं कि निष्प्रपच-तथागत के सम्बन्ध में कोई भी कल्पना सम्भव नहीं है। तथागत न शून्य है, न अ्रशून्य, न उभय और न न-उभय। जो प्रपचातीत तथागत के सम्बन्ध में विविध प्रकार के परिकल्प करते हैं, वे मूढ पुरुष तथागत को नहीं जानते, अर्यात् तथागत की गुण-समृद्धि के अत्यन्त परोक्षवर्त्ती है। जिस प्रकार से जन्मान्ध सूर्य को नहीं देखता, उसी प्रकार वे बुद्ध को नहीं देखते। नागार्जुन ग्रागे चलकर कहते हैं कि तथागत का जो स्वभाव है, वहीं स्वभाव इस जगत् का है, जैसे तथागत नि स्वभाव है, उसी प्रकार यह जगत् भी नि स्वभाव है। अज्ञा-पारिमता में कहा है कि सब धर्म मायोपम है, सम्यक् सम्बुद्ध भी मायोपम है, निर्वाण भी मायोपम है, जौर निर्वाण से भी विशिष्टतर यदि कोई धर्म हो, तो वह भी मायोपम है। माया ग्रौर निर्वाण ग्रद्धय है। एक मूल में कहा है कि तथागत ग्रनान्नव-कुशल धर्म के प्रतिविम्ब हैं, न तथता है, न तथागत, सब लोकों में विम्ब ही दृश्यमान है। इन सबका ग्राश्य यही है कि शून्यतावादी के मत में बुद्ध नि स्वभाव हैं, ग्रर्यात् वस्तुनिवन्धन से मुक्त है ग्रौर परमार्थ सत्य की दृष्टि से तथागत ग्रौर जगत् का यही यथार्थ रूप है।

ग्रव विज्ञानवाद के ग्रनुसार बुद्धकाय की परीक्षा करनी है।

विज्ञानवादी का कहना है कि——शून्यता लक्षणों का अभाव है और तत्त्वत यह एक अलक्षण 'वस्तु' है। क्योंकि, शून्यता की सम्भावना के लिए दो वातों का मानना परमावश्यक है—-१. उस आश्रय का ग्रस्तित्व, जो शून्य है और २. किसी वस्तु का अभाव, जिसके कारण हम कह सकते हैं कि यह शून्य है, पर यदि इन दोनों का ग्रस्तित्व न माना जाय, तो शून्यता ग्रसम्भव

(माध्यमिकस्त्र, १३।८)

(माध्यमिकस्त्र, २२।१५)

(माध्यमिकस्त्र, २२।१६)

( माध्यमिक्षमृत्ति, पृ० ४४६ )

 <sup>&</sup>quot;श्न्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता नि सरण् जिनै ।
 येपां तु श्न्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् वभाषिरे ॥"

र 'प्रपञ्चयन्ति ये बुद्धं प्रपञ्चातीतमन्ययम्। ते प्रपञ्च हता सर्वे न पश्यन्ति तथागतम्॥''

विश्वागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभाविभद्द जगत्।
 तथागतो नि स्वभावो नि स्वभाविभदं जगत्।।

४ "तथागतो हि प्रतिविन्वभृत' कुशलस्य धर्मस्य अनाश्रवस्य । नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति विम्य च सद्स्यित स्वेलोके ॥"

हो जायगी। शून्यता को विज्ञानवादी 'वस्तुमात्न' मानते है ग्रीर यह वस्तुमात्न 'चित्तविज्ञान' या 'ग्रालप-विज्ञान' है, जिनमें सास्रव ग्रौर ग्रनास्रव वीज का सग्रह रहता है। सास्रव-वीज प्रवृत्ति-धर्मों का ग्रौर ग्रनास्रव-बीज निवृत्ति-धर्मों का हेतु है। जो कुछ है, वह चित्त का ही श्राकार है। जगत् चित्तमाव है। चित्त के व्यतिरिक्त श्रन्य का श्रम्युपगम विज्ञानवादी को नहीं मान्य है। इस चित्त के दो प्रभास है--- १. रागादि प्राभास, श्रीर २ श्रद्धादि श्राभास । चित्त से पृथक् धर्म श्रीर श्रधमं नहीं है। सब कुछ मनोमय है। ससार श्रीर निर्वाण दोनो चित्त के धर्म है। परमार्थत , चित्त का स्वभाव प्रभास्वर श्रीर श्रद्वय है तथा वह श्रागन्तुक दोष से विनिर्मु क्त है। पर, रागादि-मल से भ्रावृत होने के कारण चित्त सक्लिष्ट हो जाता है, जिससे श्रागन्तुक धर्मों का प्रवर्त्तन होता है ग्रीर संसार की उत्पत्ति होती है। यही प्रवृत्ति धर्म या विज्ञान का सक्लेश-ससार कहलाता है और विज्ञान का व्यवदान ही निर्वाण है। यही शून्यता है। विज्ञानवादी के अनुसार तथता, भूततथता, धर्मकाय, सत्यस्वभाव है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव शाश्वत और लक्षण-रहित है। जब लक्षण-युवत हो जाता है, तव उसे माया कहते है और जव वह ग्रलक्षण है तव वह शून्य के ममान है। वुद्धत्व ही धर्मकाय है। क्योंकि, बुद्धत्व विज्ञान की परिशाबि है श्रीर यदि विज्ञान वास्तव में सक्लिष्ट होता, तो वह शुद्ध न हो सकता। इस दृष्टि में बुद्धत्व प्रत्येक वस्तु का शाण्वत और ग्रपरिवर्त्तित स्वभाव है। 'त्रिकायस्तव' नाम का एक छोटा मा स्तोत्र-प्रन्थ है। इसमें स्नग्धरा छन्द के सोलह श्लोक है। नालन्दा के किसी भिक्षु ने सन् १००० ईसवी ( = विक्रम-स० १०५७) के लगभग इस स्तोत्न को चीनी स्रक्षरो में लिपिवद्ध किया था। फाहियान ने चीनी-लिपि में उसे लिखा था। तिब्बती-भाषा मे इसका अनुवाद पाया जाता है और पहले वारह श्लोको का सस्कृत-पाठ भी वही सुरक्षित है। धर्मकाय के सम्बन्ध का श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है। इस श्लोक में धर्मकाय की बडी सुन्दर व्याख्या की गई है। कुछ लोगों का अनुमान है कि 'त्रिकायस्तव' नागार्जु न का है

> यो नैको नाथनेको स्वपरिहतमहासम्पदाधारभूतो नैवाभावो न भाव खिमव समरसो निर्विभावस्वभावः। निर्लेप निर्विकार शिवमसमसम व्यापिन निष्प्रपञ्च वन्दे प्रत्यात्मवेद्य तमहमनुषम घर्मकाय जिनानान्।।

"धर्मकाय एक नहीं है, क्योंकि वह सबको व्याप्त करता है ग्रीर सबका ग्राश्रय है, धर्मकाय ग्रनेक भी नहीं है, क्योंकि वह समरत है। यह बुद्धत्व का ग्राश्रय है। यह ग्ररूप है। न इसका भाव है, न ग्रभाव। ग्राकाण के समान यह एकरस है, इसका स्वभाव ग्रव्यक्त है; यह निलेंप, निविकार, ग्रतुल्य, सर्वव्यापी ग्रीर प्रपचरहित है। यह स्वसवेद्य है। बुद्धों का ऐसा धर्मकाय ग्रनुपम है।"

ताविक ग्रन्थों में धर्मकाय को वैरोचन, वज्रसत्त्व या श्रादिवृद्ध कहा है। यह धर्मकाय वृद्ध का सर्वश्रेष्ठ काय है। रूपकाय या निर्माण-काय—भगवान् का जन्म लुम्बिनी वन में हुआ था। उनका जन्म जरायुज है, श्रीपपादुक नहीं। वह गर्भ में सम्प्रजन्य के साथ निवास करते हैं श्रीर सम्प्रजन्य के सिहत गर्भ से बाहर आते हैं। श्रीपपादुक योनि श्रेष्ठ समझी जाती है, किन्तु बोधिसत्त्व जरायुज योनि पसन्द करते हैं। मरण पर श्रीपपादुक श्रीच के सदृश विनष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर उपासक धातुगर्भ की पूजा न कर सकते। इसलिए, बोधिसत्त्व ने जरायुज योनि पसन्द की। महावस्तु के अनुसार यद्यपि बोधिसत्त्व की गर्भावकान्ति होती है, तथापि वह श्रीपपादुक है।

मर्वास्तिवादियों के अनुसार रूपकाय सास्रव है, किन्तु महासाधिक और सौद्रान्तिकों का मत है कि बुद्ध का रूपकाय अनास्रव है। महासाधिक इस सूत्र का प्रमाण देते हैं। "तथा-गत लोक में समृद्ध होते हैं, वह लोक को अभिभूत कर विहार करते हैं, वह लोक से उपलिप्त नहीं होते (सयुत्त, ३। १४०)। विभाषाकार इस मत का निराकरण करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि जन्मकाय सास्रव है। यदि अनास्रव होता, तो अनुपमा में बुद्ध के प्रति कामराग उत्पन्न नहीं होता, अगुलिमाल में द्वेष-भाव उत्पन्न नहीं होता इत्यादि। वह कहते हैं कि सूत्र के पहले भाग में जन्मकाय का उल्लेख है और जब सूत्र कहता है कि यह काय लौकिक धर्मों से उपलिप्त नहीं होता है, तो उसकी अभिसन्धि धर्मकाय से है। भगवान् का रूपकाय अविद्या-तृष्णा से निवृत्त है, अत वह सास्रव है। किन्तु, हम रूपकाय के लिए भी यह कह सकते हैं कि यह लाभादि द लौकिक धर्मों से प्रभावित नहीं है।

बुद्ध का रूपकाय निर्माण-काय या निर्मित-काय कहलाता है। सुवर्णप्रभास में कहा है कि भगवान् न कृतिम है और न उत्पन्न होते हैं। केवल सत्त्वों के परिपाक के लिए निर्मित-काय का दर्शन करने हैं। ग्रस्थि ग्रीर रुधिर-रिहत काय में धातु (= ग्रस्थि) की कहाँ सम्भावना है ? भगवान् में सर्षप-मात्र भी धातु नहीं है। केवल सत्त्वों का हित करने के लिए वह उपाय-कौशल द्वारा धातु का निर्माण करते हैं। वेतुल्यकों का यह विचार था कि वृद्ध ससार में जन्म नहीं लेते, वह सदा तुषित-लोक में निवास करते हैं, पर ससार के हित के लिए निर्मित रूप-मात्र लोक में भेजते हैं। 'सर्द्धमंपुण्डरोक' में एक स्थल पर तथागत-मैंत्रेय का सवाद है, जिसमें मैंत्रेय पूछते हैं कि इन ग्रसख्य-वोधिसत्त्वों का, जो पृथ्वी-विवर से निकले हैं, समुद्गम कहाँ से हुग्रा। उस समय जो सम्यक् सम्बुद्ध ग्रन्य ग्रसख्य लोक-धातुग्रों से ग्राये हुए थे, ग्रीर शाक्य-मुनि तथागत के निर्मित थे, श्रीर ग्रन्य लोकधातुग्रों में धर्म का उपदेश करते थे, शाक्य-मुनि तथागत के निर्मित कहा है गे, ग्रर्थात् वह उनकी लीला या माया-मात्र हे। 'कथावत्थु' में भी इम मत का उल्लेख पाया जाता है। 'दिव्यावदान' में हम 'वृद्ध-निर्माण' ग्रीर निर्मित का प्रयोग पाते हैं। 'प्रातिहार्य-सूत्रावदान' में यह कथा वर्णित है कि एक समय भगवान् राजगृह में विहार

(सदर्मपुरस्रीक, पृ० ३०७)

<sup>9 &#</sup>x27;तेन खलु पुन समयेन ये ते तथागता ऋहूंन्त सम्यक्सम्हद्धा ऋन्येग्यो लोकधातुकोटीन युतरात-सहस्त्रेग्योऽन्यागता भगवत शाक्यमुनेस्तथागतस्य निर्मिता येऽन्येषु लोकधातुषु सत्त्वानां धर्म देशयन्ति स्म।'

करते थे। उस समय पूरणकण्यप ग्रादि छ तीर्थिक राजगृह मे एकत्र हुए ग्रौर कहने लगे कि जब से श्रमण गौतम का लोक में उत्पाद हुग्रा है तबसे हम लोगो का लाभ-सत्कार सर्वथा समुच्छित्र हो गया है। हम लोग ऋद्विमान् श्रौर ज्ञानवादी है, श्रमण-गौतम श्रपने को ऐसा समझते हैं, उनको चाहिए कि हमारे साथ ऋदि-प्रातिहार्य दिखलावे । जितने ऋदिप्रातिहार्य वह दिखलायेंगे, उसके दुगुने हम दिखलायेंगे। भगवान् ने विचारा कि ग्रतीत वृद्धों ने किस स्थान पर प्राणियो के हित के लिए महाप्रातिहार्य दिखलाया था। उनको ज्ञात हुग्रा कि श्रावस्ती में । तव वह भिक्षु-सघ के साथ श्रावस्ती गये। तीर्थिको ने राजा प्रसेनजित् से प्रार्थना की कि स्राप श्रमण-गौतम से प्रातिहार्य दिखलाने को कहे। राजा ने वृद्ध से निवेदन किया। वुद्ध ने कहा-मेरी तो णिक्षा यह है कि कल्याण को छिपात्रो और पाप को प्रकट करो । राजा ने कहा कि स्राप ऋद्धिप्रातिहार्य दिखलावें स्रौर तीर्थिको की निर्मर्त्सना करें। बुद्ध ने प्रसेनजित् से कहा कि-ग्याज से मातवें दिन तथागत सबके समक्ष महाप्रातिहार्य दिखलायेंगे। जेतवन में एक मण्डप वनाया गया श्रोर तीर्थिको को सूचना दी गई। सातवे दिन तीर्थिक एकत्र हुए। भगवान् मण्डप में ग्राये। भगवान् के काय से रिंमयाँ निकली ग्रीर उन्होने समस्त मण्डप की सुवर्ण-वर्ण की कान्ति से ग्रवभामित किया। भगवान् ने ग्रनेक प्रातिहार्य दिखलाकर महाप्राति-हार्य दिखलाया । ब्रह्मादि देवता भगवान् की तीन वार प्रदक्षिणा कर भगवान् के दक्षिण श्रोर तथा शकाादि देवता वाई ग्रोर बैठ गये। नन्द, उपनन्द, नाग-राजाग्री ने शकट-चक्र के परिमाण का सहस्रदल सुवर्ण-कमल निर्मित किया । भगवान् पद्मकर्णिका में पर्य क-बद्ध हो बैठ गये श्रौर पद्म के ऊपर दूसरा पद्म निर्मित किया। उमपर भी भगवान् पर्य क-बद्ध हो बैठे दिखाई पडे। इस प्रकार, भगवान् ने वुद्ध-पिण्डी ग्रकनिष्ठ-भवन-पयन्त निर्मित की । कुछ वुद्ध-निर्माण शय्यासीन थे, कुछ खडे थे, कुछ प्रातिहार्य करते थे ग्रौर कुछ प्रश्न पूछते थे। राजा ने तीर्थिको से कहा कि तुम भी ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखलाग्रो। पर वे चुप रह गये ग्रौर एक दूसरे से कहने लगे कि तुम उठो, तुम उठो, पर कोई भी नही उठा। पूरणकण्यप को इतना दुख हुग्रा कि वह गले मे वालुकाघट वाँधकर शीत-पुष्करिणी में कूद पडा ग्रीर मर गया । इस कथा से ज्ञात होता है कि वृद्ध प्रातिहार्य द्वारा भ्रनेक वृद्धो की सृष्टि कर लेते थे। इनको 'वृद्ध-निर्माण' कहा है। तथागत की यह धर्मता है कि महाप्रातिहायं करने के पश्चात् वह ग्रपनी माता माया को ग्रभि-धर्म का उपदेश करने के लिए स्वर्गलोक को जाते हैं। उनको प्रतिदिन भिक्षा के लिए मर्त्यलोक में जाना पडता था। इसलिए, ग्रपनी ग्रनुपस्थिति में शिक्षा देने के लिए उन्होने ग्रपना प्रतिरूप निर्मित किया था। वर्षा में भगवान् स्वर्ग में रहे। जब वह उतरनेवाले थे, तब शक्र ने विश्वकर्मा से विपद सोपान वनवाया, जिसका अधोपाद साकाश्य नगर के समीप रखा गया। भगवान् का साकाश्य के समीप स्वर्गलोक से अवतरण हुआ। यहाँ सव वुद्ध स्वर्ग से उतरे हैं। वुद्ध अनेक प्रकार का रूप मर्वेत धारण कर सकते हैं। इसलिए, निर्माण-काय को 'मर्वेत्नग' कहा है। 'त्रिकायस्तव' में कहा है कि तत्त्वो के परिपाक के लिए बुद्ध भ्रनेक रूप धारण करते हैं। विज्ञान-वादियों के अनुसार वृद्ध के अनेक निर्मित रूप ही निर्माण-काय नहीं है, किन्तु समस्त जगत् वृद्ध

का निर्माण-काय कहा जा सकता है। शून्य और प्रकृति-प्रभास्वर विज्ञान धर्म-काय है। निर्माण-काय इस धर्म-काय के ग्रसत्-रूप है। जब विज्ञान वासना से सक्लिष्ट होता है, तब वह रूपलोक ग्रीर कामलोक का निर्माण करता है।

सम्भोग-काय--धर्मकाय ग्रीर निर्माण-काय के ग्रतिरिक्त एक ग्रीर काय की कल्पना की गई है, यह है 'सम्भोग-काय। इसे 'विपाक-काय' भी कहते हैं। स्थविरवादियो के ग्रन्थों में सम्भोग-काय की कोई सूचना नही मिलती। वैसिलीफ का कहना है कि साँवान्तिक धर्मकाय ग्रीर सम्भोग-काय दोनो को मानते थे। सम्भोग-काय वह काय है, जिसको बुद्ध दूसरो के कल्याण के लिए बोधिसत्त्व के रूप में ग्रपने पुण्य-सम्भार के फल-स्वरूप तवतक धारण करते हैं, जवतक निर्वाण में प्रवेश नहीं करते । महायान-ग्रन्थों में हम वार-वार इस विचार का उल्लेख पाते हैं कि बुद्धत्व ज्ञान-सम्भार श्रोर पुण्य-सम्भार का फल है। महायान-ग्रन्थो मे ऐसे बुद्धो की सूचना मिलती है, जो णून्यता में प्रवेश नही करते, जो दूसरो का कल्याण चाहते है ग्रीर जो सवको सुखी करने के लिए ही बुद्धत्व की ग्राकाक्षा करते हैं। वह एक उत्कृष्ट प्रणिधान की रचना करते है, जो प्रणिधान अन्त में सफल होता है। वह फल-स्वरूप एक बुद्ध-क्षेत्र के अधिकारी हो जाते है, जो नाना-प्रकार की प्रचुर दिव्य-सम्पन् के समन्वागत होता है। उस वुद्ध-क्षेत्र में म्रपने पार्षदो के साथ वह सुशोभित होते हैं। सुखावती-व्यूह में वर्णित है कि धर्माकार भिक्षु ने ऐसे ही प्राणिधान का अनुष्ठान किया था और सुखावती-लोक उनका वुद्ध-क्षेत्र हुआ। वहाँ श्रमिताभ नाम के बुद्ध निवास करते हैं। भगवान् के मुख से धर्माकार भिक्षु की प्रणिधान-सम्पत्ति को सुनकर ग्रानन्द बोले-क्या धर्माकार भिक्षु सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर परिनिर्वाण मे प्रवेश कर गये अथवा अभी सम्बोधि को प्राप्त नहीं हुए अथवा अभी वर्त्तमान है और धर्म-देशना करते हैं ? भगवान् बोले—वह न ग्रतीत ग्रीर न ग्रनागत-वृद्ध है। वह इस समय वर्त्तमान है। सुखावती-लोकधातु मे श्रमिताभ नाम के तथागत धर्म-देशना करते हैं। उनके वुद्ध-क्षेत्र की सम्पत्ति ग्रनन्त है। उनकी प्रतिभा ग्रमित है, उनकी इयत्ता का प्रमाण नहीं है। अनेक वोधिसत्त्व अमिताभ का दर्शन करने, उनसे परिप्रज्न करने तथा वहाँ के वोधिमत्त्वगण श्रीर बुद्ध-क्षेत्र के गुणालकार-व्यूह को देखने सुखावती जाते है। वुद्ध ग्रपनी पुण्य-राशि से यहाँ शोभित है। श्रमिताभ के पार्षद अवलोकिते वर और महास्थाम-प्राप्त है। अमिताभ के नाम-श्रवण से ही जिनको चित्तप्रसाद उत्पन्न होता है, जो श्रद्धावान् है, जिनमे सणय ग्रीर विचिकित्सा नहीं है। जो ग्रमिताभ का नाम-कीर्त्तन करते है, वह सुखावती मे जन्म लेते है। ग्रमिताभ बुद्ध का सम्भोग-काय है। यह सुकृत का फल है जैसा 'विकायस्तव' मे कहा है ---

लोकातीतामचिन्त्या सुकृतशतफलामात्मनो यो विभूति
पर्षन्मध्ये विचित्रा प्रथयित महतीं धीमतीं प्रीतिहेतो ।
बुद्धानां सर्वलोकप्रसृतमिवरतोदारसद्धर्मघोष
वन्दे सम्भोगकाय तमहिमह महाधर्मराज्यप्रतिष्ठम् ।।

भगवान् इस काय के द्वारा प्रपनी विभूति को प्रकट करते हैं। धर्मकाय के ग्रसदृश यह काय रूपवान् है, पर यह रूप ग्रपार्थिव है। चन्द्रकीर्त्ति सम्भोग-काय के लिए 'रूपकाय' का प्रयोग करते हैं ग्रीर उसकी तुलना धर्मकाय से करते हैं। मध्यमकावतार की टीका में वह कहते हैं। कि ज्ञान-सम्भार, ग्रर्थात् ध्यान ग्रीर प्रज्ञा से धर्मकाय होता है, जिसका लक्षण 'ग्रनु-रपाद' है ग्रीर पुण्य-सम्भार रूपकाय का हेतु है। इस 'रूपकाय' को 'नाना-रूप-वाला' कहा है, क्योंकि सम्भोग-काय प्रपने को ग्रनेक रूपो (निर्माण-काय) में प्रकट करने की शक्ति रखता है। वोधिचर्यावतार (पृ० ३२३) में सम्भोग-काय को 'लोकोत्तर काय' कहा है।

चीन के वीद-साहित्य में भी हम विकाय का उल्लेख पाते हैं। इस साहित्य के अनुसार 'विकाय' युद्ध के इन तीन रूपों का भी सूचक है —

- 9 शाक्यमुनि (मानुपी युद्ध), जिनका इस लोक में उत्पाद हुश्रा। यह कामधातु में निवास करते हैं। यही निर्माणकाय है।
- २ लोचन, यह ध्यानी बोधिसत्त्व हैं। यह रूपधातु में निवास करते हैं। यह सम्भोग-काय है।
- 3 वैरोचन (या ध्यानी युद्ध), यह धर्मकाय है। यह ग्ररूप-धातु मे निवास करते हैं। ध्यानी वुद्ध की स्थिति से वह चतुर्य बुद्ध-क्षेत्र का ग्राधिपत्य करते हैं। इस बुद्ध-क्षेत्र में मव सत्त्व मान्ति ग्रीर प्रकाण की शाक्ष्वत ग्रवस्था में रहते हैं। ध्यानी बोधिसत्त्व की स्थिति से वह तृतीय बुद्ध-क्षेत्र के ग्रिधकारी हैं, जहाँ भगवान् का धर्म सहज ही स्वीकृत होता है भीर जहाँ मत्त्व डम धर्म के ग्रनुसार ग्रनायास ही पूर्ण रूपेण ग्राचरण करते हैं। मानुपी बुद्ध की स्थिति से बुद्ध द्वितीय ग्रीर प्रथम क्षेत्र के ग्रिधकारी हैं। द्वितीय क्षेत्र में ग्रकुणन नहीं हैं, यहाँ सब मत्त्व श्रावक ग्रीर ग्रनागामिन् की ग्रवस्था को प्राप्त होते हैं। प्रथम क्षेत्र में ग्रुम ग्रीर ग्रणुभ, कुशल ग्रीर ग्रकुणन दोनो पाये जाते हैं।

सक्षेप में यदि कहा जाय, तो बुद्धत्व की दृष्टि से विकाय की व्याख्या इस प्रकार होगी। बुद्ध का स्वभाव, वोधि या प्रज्ञा-पारिमता या धर्म है। यही परमार्थ सत्य है। इस ज्ञान-सम्भार के लाभ से निर्वाण का ग्रिधिगम होता है। इसीलिए, धर्मकाय निर्वाण-स्थित या निर्वाण-सदृश समाधि की ग्रवस्था में स्थित बुद्ध हैं। बुद्ध जवतक निर्वाण में प्रवेश नहीं करते, तवतक लोक-कल्याण के लिए वह पुण्य-सम्भार के फलस्वरूप ग्रपना दिव्य रूप मुखावती या तुपित-लोक में वोधिसत्त्वों को दिखलाते हैं। यह सम्भोग-काय है। मानुपी बुद्ध इनके निर्माण-काय है जो ममय-समय पर समार में धर्म की प्रतिष्ठा के लिए ग्राते हैं।

१ ''तत्र य पुरवसम्भार म भगउती सम्यक्सगुद्धानी रातपुर्व्यलक्षर्णवनोऽद् भुताचिन्त्यस्य नानारूपस्य रूपकायस्य हेतु , धर्मात्मकस्य कायस्य अनुत्पादलक्षरणस्य ज्ञानसम्भारो हेतु ।'' ( मध्यमावतारटीका, पृ० ६२-६३ )

२ हैराडवुक ग्रॉव चाइनीज उद्धिएम अनेंस्ट जे॰ एरिटेल । पृ॰ ३ ग्रीर १७८ ।

दार्शनिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय, तो धर्मकाय शून्यता है या ग्रलक्षण-विज्ञान है। सम्भोग-काय धर्मकाय का सत्, चित्, ग्रानन्द या करुणा के रूप में विकास-मान्न है। यही चित् जब दूषित होकर पृथग्-जन के रूप में विकसित होता है, तब वह निर्माण-काय कहलाता है।

विकाय की कल्पना हिन्दू-धर्म मे नहीं पाई जाती। पर, यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय, तो विदित होगा कि वेदान्त का परब्रह्म, विष्णु और विष्णु के मानुपी अवतार (जैसे राम, कृष्ण) कमश धर्म-काय, सम्भोग-काय और निर्माण-काय के समान है। जिस प्रकार बौद्ध-ग्रन्थों में धर्मकाय को निर्लेप, निर्विकार, ग्रनुल्य, सर्वव्यापी और प्रपच-रहित कहा है, उसी प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म को अग्राह्म, श्रनक्षण, श्रचिन्त्य, शान्त, शिव, प्रपचोपशम, निर्णुण, निष्क्रिय, सूक्ष्म, निर्विकल्प और निरजन कहा है। दोनो मन और वाणी के विषय नहीं हैं और दोनों के स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता। जिस प्रकार विष्णु करुणा के रूप हैं उसी प्रकार बुद्ध भी करुणा के रूप हैं। पुराणों में तथा श्रीरामानुजाचार्य-रचित 'श्रीवैकुण्ठ-गद्य' में विष्णु-लोक का जो वर्णन हमको मिलता है, उसकी तुलना मुखावती-लोक के वर्णन से करने पर कई बातों में समानता पाई जाती है। दोनों लोक दिव्य हैं और प्रचुर दिव्य-सम्पत्ति से समन्वागत हैं। दोनों लोकों में सब वस्तु इच्छामाल से ही सुलभ हैं। दोनों का तेज श्रनन्त है। विष्णु और श्रमिताभ परिजनों से परिवृत हैं। विष्णु के शेष, शेषाशनादि पार्षद हैं। ये नित्य-मुक्त हैं। लोग दोनों का स्तुति-पाठ करते हैं। दोनों लोकों में श्राय हुए जीव सुखपद को प्राप्त करते हैं और वहाँ से फिर नहीं लौटते। अनन्य-भिक्त द्वारा ही दोनों लोकों की प्राप्त होती है। दोनों लोकों की श्राप्त करते हैं और वहाँ से फिर नहीं लौटते। इसीलिए, दोनों ज्ञान और श्रानन्द के वर्धक

( पद्मपुरास, उत्तरखरड, ब्रध्याय २६ )

<sup>9 &#</sup>x27;'अदृष्टमन्यवहार्यमञ्चाद्यमलक्षणमिनन्त्यमन्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशमं शान्त शिवमद्देत चतुर्य मन्यन्ते स आरमा स विद्वेच ।'' (माण्ड्क्योपनिषत्) ''अहेयमनुपादेयमनाध्यमनाश्रयम् । निर्गुण् निष्क्रिय सक्ष्म निर्विकल्प निरञ्जनम्। अनिरूप्यस्वरूप यन्मनो वाचामगोचरम्॥'' (अध्यात्मोपनिषत्) ''निष्करे निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने। अदितीये परे तत्त्वे न्योमवत् कल्पना कुत ॥ न विरोधो न चोत्पत्तिनं बद्धो न च साधक । न मुमुक्षनं वे मुक्त इत्येषा परमार्थता॥'' (आत्मोपनिषत्) माध्यमिक सिद्धान्त से इसकी तुलना कीजिए।

२ ''तिस्मन् वन्धविनिर्मुक्ताः प्राप्यन्ते सुसुस्त पदम्। य प्राप्य न निवर्त्यन्ते तस्मात् मोक्ष उदाहृतः॥''

३ ''एकेन द्वयमन्त्रेण तथा भवत्या त्वनन्यया। तदगम्य शाश्वत दिव्य प्रपद्ये वे सनातनम्॥'' (श्रध्याय ३०)

है। दोनो ग्रत्यद्भुत वस्तु है। विष्णु ग्रीर ग्रमिताभ की प्रभा से समस्त जगत् उद्भासित हो जाता है। जिस प्रकार वौद्धागम में प्रादिवृद्ध शब्द का व्यवहार पाया जाता है उसी प्रकार 'तिपादिभूतिमहान रायणोपनिषत्' में 'ग्रादिनारायण' का प्रयोग मिलता है। जिस प्रकार मानुपी वृद्ध सम्भोग-काय के निर्माण-काय है, उसी प्रकार राम, कृष्ण ग्रादि विष्णु के अवतार है। यह धर्म की स्थापना के लिए ससार में समय-समय पर ग्राते हैं।

ईसाई-धर्म में भी ईसा के व्यक्तित्व के बारे में कुछ इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं। ईसाईयों में भी कुछ मत ऐसे प्रकट हुए, जो यह शिक्षा देते थे कि ईसा का पार्थिव शरीर न था, वह माता के गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए थे, देखने में ही वह मनुष्य मालूम होते थे, यह उनका माया-निर्मित शरीर था। वे उनके लोक में उत्पाद को तथा उनकी मृत्यु को एक सत्य घटना नहीं मानते थे। इनमें से कुछ ऐसे भी थे, जो ईसा के शरीर का श्रस्तित्व तो मानते थे, पर उसको पार्थिव न मानकर दिव्य मानते थे और उनका यह विश्वास था कि ईसा सुख और दु ख के प्रधीन न थे। इस प्रकार के विचारों को 'डोसेटिज्म' कहते हैं।

पारिसयों के अवेस्ता में जिन चार स्वर्गों का उल्लेख मिलता है, उनमें से एक का नाम 'अनन्त प्रभावाला' है। इससे इिलयट महाशय अनुमान करते हैं कि अमिताभ की पूजा बाहर से भारत में आई। ' जैंगो का सत्पुर भी सु खावती-लोक से मिलता-जुलता है। र

१ इलियट हिन्दुइच्म ऐग्ड बुद्धिचम, भा० २, पृ॰ २५-२६ ।

२ टबमितभनप्रपञ्चा कथा, पृ० ६७७ म्रादि ।

## सप्तम अध्याय

# बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का अर्वाचीन श्रध्ययन

महायान के ग्रन्थ गाथा ग्रीर सस्कृत में है। महायान के ग्रन्थो की भाषा सस्कृत होने के कारण प्राय लोग ग्राजकल महायान को सस्कृत-वौद्ध-धर्म कहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि हीनयान के ग्रन्तर्गत सर्वास्तिवाद के ग्रागम-ग्रन्थ भी सस्कृत में हैं। हम महायान के ग्रन्थों का विवरण उसके प्रधान ग्राचार्यों के परिचय के साथ देगे, यहाँ हीनयान के सस्कृत-ग्रन्थों का थोड़ा परिचय देना ग्रावश्यक है।

पालिनिकाय का अध्ययन यूरोप में अट्ठारहवी शताव्दी में ही आरम्भ हो गया था, पर बौद्धधर्म के सस्कृत-साहित्य से यूरोपीय विद्वान् अपरिचित थे। सन् १८१६ ई० में जब नेपाल-युद्ध का अन्त हुआ और अँगरेजो से नेपाल-दरवार की मैत्री स्थापित हुई, तव से सिगौली के सुलहनामे के अनुसार काठमाण्डू में अँगरेज-रेजिडेण्ट रहने लगे। जब पहले-पहल रेजिडेसी कायम हुई, तब ब्रायन् हाजसन् रेजिडेण्ट के सहायक नियुक्त हुए । यह वडे विद्याव्यसनी थे। रेजिडेसी में ग्रमृतानन्द नाम के एक बौद्ध-पण्डित मुन्शी का काम करते थे। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि नेपाल मे इस समय भी बौद्धधर्म जीवित था। जब मुसलमानो के श्राक्रमण ग्रौर श्रत्याचारो के कारण बौद्धधर्म भारत से लुप्त हो गया, तव बौद्ध-भिक्षुग्रो को नेपाल स्रौर तिब्बत में ही शरण मिली। पहाडी प्रदेश होने के कारण नेपाल मुसलमानो के त्राक्रमण से भी सुरक्षित रहा । अमृतानन्द एक अच्छे विद्वान् थे । इन्होने कई सस्कृत-ग्रन्थो की रचना की थी। बुद्धचरित की जो पोथी उस समय नेपाल मे प्राप्य थी, वह ग्रधूरी थी। ग्रमृतानन्द ने इस कमी को पूरा किया ग्रीर चार सर्ग ग्रपने रचे जोड दिये । हाजसन् का ध्यान वौद्धधर्म की ग्रोर ग्राकृष्ट हुग्रा ग्रौर ग्रमृतानन्द की सहायता से वह हस्ति खित पोथियो का सग्रह करने लगे। हाजसन् का सग्रह बगाल की एशियाटिक सोसायटी, पेरिस के विव्लिग्रोय क नाश्लाल ग्रौर इण्डिया ग्रॉफिम के पुस्तकालय में वेंट गया। वर्नूफ ने पेरिस के ग्रन्थों के श्राधार पर वौद्धधर्म का इतिहास फ्रेंच-भाषा में लिखा और 'सद्धर्मपुण्डरीक' का ग्रनुवाद किया।

इधर नेपाल के राजमन्त्री राणा जगवहादुर ने एक वौद्ध-विहार पर कव्जा कर उसके ग्रन्थ सडक पर फेंक दिये थे। रेजिडेसी के डॉक्टर राइट ने इनको मांग लिया ग्रीर केम्ब्रिज की युनिवर्सिटी को दान दे दिया। बगाल की एशियाटिक सोसायटी को हाजमन् का जो सग्रह मिला था, उसकी सूची डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने तैयार की, जो सन् १८८२ ई० मे 'नेपालीज् वृद्धिस्ट लिटरेचर' के नाम से प्रकाशित हुई। केम्ब्रिज के सग्रह का सूची-पत्न प्रोफेसर सी० सी० वेण्डल

ने सन् १८८३ ई० मे प्रकाशित किया । इन मूचीपत्नो के प्रकाशित होने से महायान-धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तथा उनके विकास के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी वातें माल्म हुई ग्रीर विद्वानो का ध्यान वीद्ध-संस्कृत-साहित्य की ग्रीर गया । राजेन्द्रलाल मित्र ने 'ललितविस्तर' ग्रीर 'ग्रप्टसाहस्निकाप्रज्ञापारमिता'ग्रन्थो को 'विव्लिग्रीथिका इण्डिका' में प्रकाशित किया ग्रीर वेण्डल महाशय ने 'शिक्षासमुच्चय' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। फ्रासीसी विद्वान् सेनार्ट ने 'महावस्तु-ग्रवदान' तीन खण्डो में श्रीर महामहीपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'स्वयमभू-पुराण' प्रकाशित किया। हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज में वेण्डल सन् १८८४ ई० में नेपाल गये। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने १८७ में नेपाल की यात्रा की। सिलवां लेवी भी नेपाल गये और 'ग्रमग'-रचित मूबालकार' की एक प्रति उनके हाथ लगी, जिसको फ्रेच-श्रनुवाद के साथ उन्होने प्रकाणित किया। सन् १८८६ ई० में वेण्डल के साथ हरप्रसाद शास्त्रीजी फिर नेपाल गये और इस समय शास्त्रीजी ने दरवार के पुस्तकालय की पीथियो का मूचीपन तैयार किया, जो १६०५ में प्रकाणित हुआ। इसका दूसरा भाग १६१५ में प्रकाशित हुआ । वगाल की एशियाटिक सोमायटी में जो वौद्ध-सस्कृत-साहित्य का सग्रह सन् १८९७ ई० के वाद से हुन्ना था, उसका सूचीपत्र शास्त्रीजी ने मन् १६१६ ई० में प्रकाशित किया। शास्त्रीजी का खयाल था कि तिव्वत और चीन के पूर्व-भाग में सस्कृत के ग्रनेक ग्रन्थ खोजने से मिल सकते हैं। इधर मध्य एणिया में तुरफान, काशगर, खुतन, तोखारा और कूचा में खोज में वहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ तथा लेख ग्रौर चित्र मिले हैं। युग्रान-च्वाग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि ७वी शताब्दी से इस प्रदेश में वौद्धधर्म का प्रचुरता से प्रसार था। यार्कन्द और खुतन में महायान-धर्म और उत्तरी भाग में सर्वास्तिवाद प्रचलित था। लेफ्टिनेण्ट वावर को ई॰ १८० में भूर्जपत्न पर लिखी हुई एक प्राचीन पोथी मिली थी। डॉक्टर होग्रर्नले ने इस पोथी को पढा। यह गुप्तलेख में लिखी हुई थी और इसका समय पाँचवी शताब्दी के लगभग था। इस ग्रन्वेपण का फल यह हुआ कि कश्मीर, लद्दाख ग्रीर काशगर के पोलिटिकल एजेण्टो को ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट ने पुरानी पोथियो की खोज का ग्रादेश किया। ई० १८६२ में द्मृत्यूपल-द-री ने खुतन मे तीन पोथियाँ पाई । इनमें एक ग्रन्य खुरोष्ठी लिपि में है। यह पालि-धम्मपद का प्राकृत-रूपान्तर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राकृत में भी वौद्धों के धार्मिक ग्रन्य लिखे जाते थे। सर ग्रारेल स्टाइन ने खुतन के चारो ग्रोर सन् १६०१ ई० मे खोज करना श्रारम्भ किया। स्टाइन की देखादेखी जर्मनी के विद्वानो ने सन् १६०२ ई० में ग्रुन वेण्डल ग्रीर हुथ को तुरफान भेजा। पिशेल के उद्योग से जर्मनी में खोज की एक कमेटी वनाई गई ग्रीर इस कमेटी की ग्रोर से सन् १६०४ ग्रीर १६०७ ई० में ल कौक<sup>र</sup> ग्रीर ग्रनवेण्डल की ग्रध्यक्षता में तुर्किस्तान को मिशन भेजे गये। इन लोगो ने कूचा ग्रौर तुरफान का कोना-कोना ढूँढ डाला । सन् १६०६–१६०८ ई० में स्टाइन ने तुनहुत्राग में पुस्तको का एक वहुत वडा हेर पाया।

<sup>9</sup> Dutrevil be Rheidns

<sup>7.</sup> Le Coq

इस खोज से कई नई भाषाग्रो तथा लिपियो के ग्रस्तित्व का पता चला है। मगोल, तोखारी इत्यादि भाषाग्रो मे वौद्ध-ग्रन्यों के अनुवाद मिले हैं। सबसे बड़ी वात यह मालूम हुई है कि सस्कृत मे भी एक निकाय था। इस निकाय के कुछ ग्रश ही प्राप्त हुए है। यह निकाय सर्वास्तिवाद का निकाय था। उदानवर्ग, एकोत्तरागम ग्रीर मध्यमागम के ग्रश प्राप्त हुए हैं। जो सग्रह इन खोजों से प्राप्त हुग्रा है, उसका ग्रध्ययन किया जा रहा है। ग्रनुमान किया जाता है कि कई वर्षों के निरन्तर परिश्रम के उपरान्त ही प्राप्त ग्रन्थों का पूरा विवरण प्रकाशित हो सकेगा। ग्रभी तक इस निकाय के विनय ग्रीर धर्मग्रन्थों के ग्रश ही मिले हैं।

यहाँ सर्वोस्तिवाद का सक्षेप मे विवरण देना आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है। वौद्ध-धर्म के अट्ठारह निकायो मे सर्वास्तिवाद की भी गणना है। एक समय इसका सबसे अधिक प्रसार और प्रभाव था। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, सर्वास्तिवादियों के मत में वाह्य वस्तुजात और आध्यात्मिक वस्तुजात दोनों का अस्तित्व है। यह निकाय स्थविरवाद से बहुत पहले पृथक् हो गया था। दीपवश से मालूम होता है कि वैशाली की धर्म-सगीति के अनन्तर महीशासक स्थविरवाद से और महीशासक से 'सव्वित्यवाद' और धर्मगुप्त पृथक् हो गये। चीनी याती इत्सिग के विवरण भे से ज्ञात होता है कि उसके समय में चार प्रधान निकाय थे, जिनमें से एक आर्यमूल-सर्वोस्तिवाद-निकाय था। इसके अन्तर्गत मूलसर्वास्तिवाद, धर्मगुप्त, महीशासक और काश्यपीय निकाय थे। इससे यह स्पष्ट है कि इन अन्तिम तीन वादों में और मूल-सर्वोस्तिवाद में विशेष अन्तर न था। अन्यथा, वह सब एक निकाय के विभिन्न अग न समझे जाते।

इस निकाय का इतिहास वास्तव में अशोक के समय की धर्म-सगीति से आरम्भ होता है। इसी सगीति में मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्यु का संग्रह किया था। इस ग्रन्य का उद्देश्य अपने समय के उन वादो का खण्डन करना था, जो स्थविरवाद को मान्य नही थे। इस ग्रन्थ में 'सब्बित्थवाद' के विरुद्ध केवल तीन प्रश्न उठाये गये हैं—

- ९ क्या एक अर्हत् अर्हत्त्व से हीन हो सकता है ?
- २ क्या समस्त वस्तुजात प्रत्यक्ष-ग्राह्य है ?
- ३ क्या चित्त-सन्तति समाधि है ?

इन तीनो प्रश्नो का उत्तर सव्वित्यवाद के ग्रनुसार ग्रौर स्थिविरवाद के प्रितिकूल था। ग्रशोक के समय में जब कथावत्यु का सग्रह हुग्रा, तब इस निकाय का विशेष प्रभाव नहीं मालूम पडता। ऐसा प्रतीत होता है कि गान्धार ग्रौर कश्मीर में पहले-पहल वैभाषिक नाम से इस निकाय का उत्थान हुग्रा ग्रौर इन प्रदेशों में इसने विशेष उन्नित प्राप्त की। 'वैभाषिक' शब्द की व्युत्पत्ति 'विभाषा' शब्द से है। ज्ञान-प्रस्थान नामक ग्रन्थ की वृत्ति का नाम

<sup>9</sup> इ-त्सिग · रेकार्ड श्रॉव दि बुद्धिस्ट रिलिजन, इएट्रोडक्शन, पृ० २३।

२ 'निमापया दिन्यन्ति चरन्ति वा वैभापिका ।'

<sup>&#</sup>x27;विभाषा वा विदन्ति वैभाषिताः ।' विन्लिश्रोधिका बुद्धिका, पु० २१,१२।

'विभापा' है । ज्ञान-प्रस्थान के रचियता कात्यायनी-पुत्त थे। यह सर्वास्तिवादी थे। विभापा' का रचना-काल कनिष्क के राज्यकाल के पीछे है। विभापा में 'सर्वास्तिवाद-निकाय के भिन्न-भिन्न ग्राचार्यों का मत सावधानी के माथ उपनिवद्ध किया गया है, जिसमें पाठक ग्रपनी रुचि के ग्रनुसार जिस मत को चाहें, ग्रहण कर लें। इसी कारण इसका नाम विभापा है। ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र मर्वास्तिवादियों का प्रधान ग्रन्थ है। विभापा के रचियता वसुमित्र थे ग्रीर इस ग्रन्थ का पूरा नाम 'महाविभाषा-शास्त्र' हुग्रा।

विभाषा-ग्रन्थ ग्रपने ग्रसली रूप में उपलब्ध नहीं है। इसका कुछ ही ग्रश मिला है, जिसके देखने से मालूम होता है कि वह विस्तार ग्रीर उत्कृष्टता में किसी प्रकार कम नथा। इस ग्रन्थ से इसकी दार्शनिक पद्धित प्रौढ मालूम पडती है। परमार्थ (सन् ४६६-५६६ ई०) के ग्रनुसार छठी शनाब्दी में यह ग्रन्थ शास्त्रार्थ का प्रधान विषय था। इस समय वौद्धों से साख्यों का विवाद चल रहा था।

फाहियान (सन् ३६६-४१४ ई०) श्रपने याता-विवरण में लिखता है कि सर्वास्तिवाद के भ्रनुयायी पाटलिपुत्र ग्रीर चीन में थे। पर उनका विनयपिटक उस समय तक लिपिवद्ध नही हुग्रा था। युग्रान-च्वाग (ह्वेनत्साग) (मन् ६२६--६४५ ई०) के समय में इस निकाय का ग्रच्छा प्रचार था । उसके अनुसार काणगर, उद्यान (स्वात), उत्तरी सीमा के कई अन्य प्रदेण, फारस, कन्नीज ग्रीर राज हु के पाम किसी एक स्थान में इस मत का प्राधान्य था। यद्यपि युग्रान-च्वाग तेरह स्थानो का उल्लेख करता है, जहाँ सर्वास्तिवाद का प्राधान्य था, परन्तु खास भारतवर्ष मे इस निकाय के उतने अनुयायी नहीं थे, जितने कि अन्य निकायों केथे। इत्सिंग सातवी शताब्दी में भारत ग्राया (६७१–६६५ ई०) । वह स्वय सर्वास्तिवाद का ग्रनुयायी था । वह इस निकाय का पूरा विवरण देता है। इत्सिग<sup>२</sup> के अनुसार इसका प्रचार मगद्य, लाट, सिन्ध्, दाक्षिणात्य, पूर्व भारत, मुमात्ना, जावा, चम्पा (कोचीन चाइना), चीन के दक्षिण-पश्चिम-पूर्व के प्रान्त तथा मध्य एणिया मे था। इस विवरए। से ज्ञात होता है कि सातवी शताब्दी के पहले या पीछे किसी ग्रन्य निकाय का इतना प्रचार नही हुग्रा, जितना कि सर्वास्तिवादनिकाय का था। इत्सिंग के अनुसार इस निकाय का विपिटक तीन लाख म्लोको में था। चीनी भाषा में वीद-साहित्य का जो भाण्डार उपलब्ध है, उसको देखने से मालूम होता है कि इस निकाय का अपना ग्रलग विनयपिटक ग्रौर ग्रिभधम्म-पिटक था। इत्मिंग ने सर्वास्तिवाद के ममग्र विनयपिटक का चीनी-भाषा में ग्रनुवाद किया ग्रांर उसके प्रचलित विनय के नियमो पर स्वय एक ग्रन्य लिखा।

भारतवर्ष में केवल मूलसर्वास्तिवाद के ही ग्रनुयायी थे। लका में यह वाद प्रचितित नही था। मूलसर्वास्तिवाद के ग्रन्य तीन विभाग मध्य एशिया में पाये जाते थे। पूर्व भीर

१ लग-फा-हित्रान, पृ० ६६।

२ रेकॉई स्रॉव दि वृद्धिस्ट रिलिजन, इएट्रोडक्शन: इत्सिग्।

पश्चिम चीन में केवल धर्मगुप्त प्रचलित था। वासिलीफ कहते है कि तिव्वत का विनय सर्वास्तिवादी निकाय का है।

सिलवाँ लेवी के अनुसार सस्कृत के विनय-ग्रन्थ पहले-पहल तीसरी या चौथी णताब्दी मे सगृहीत हुए । एकोत्तरागम (= अगुत्तरिनकाय), दीर्घागम (=दीविनकाय), मध्यमागम ( = मिज्झिमनिकाय ) के अश पूर्वी तुर्किस्तान में खोज में मिले हैं। धर्मन्नात के उदान वर्ग ( = उदान ) के भी श्रश मिले हैं। प्रातिमोक्षसूत्र के एक तिव्वती श्रौर चार चीनी श्रनुवाद मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि प्रातिमोक्ष-सूत्र विनयपिटक मे था। पालि के विनयपिटक के ग्रन्यों के नाम संस्कृत-निकाय के ग्रन्थों के नाम से मिलते हैं। स्थविरवाद के समान सर्वास्तिवाद के अभिधर्म-ग्रन्थो की भी सख्या मात है, पर नाम प्राय भिन्न है। सर्वास्तिवादी ज्ञान-प्रस्थान को अपना मुख्य ग्रन्थ समझते है और अन्य कृ ग्रन्थ एक प्रकार के परिशिष्ट है । ज्ञान-प्रस्थान काय है ग्रीर ग्रन्य छ ग्रन्थपाद है । जो सम्बन्ध वेद, वेदाग का है, वही इनका सम्बन्ध है । इन अभिधर्म-ग्रन्थों का उल्लेख सबसे पहले यशोमित की अभि-धर्मकोश-व्याख्या (कारिका ३ की व्याख्या) मे पाया जाता है। ज्ञान-प्रस्थान पर दो वृत्तियाँ है-विभाषा और महाविभाषा। प्रवाद है कि वसुमित्र ने विभाषा का सग्रह किया था। महा-विभाषा एक वृहत् ग्रन्थ है ग्रोर प्रामाणिक माना जाता है । यह वौद्ध-ग्रभिधर्म का एक प्रकार का विश्वकोष है। महाविभाषा का बृहत् श्राकार होने के कारण एक छोटे ग्रन्थ की श्रावश्यकता प्रतीत हुई, इसलिए श्राचार्य वसुवन्धु ने कारिका रूप में श्रिभधर्मकोश लिखा। वसुवन्धु का विरोधी सघभद्र था । उसने इस ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए 'ग्रभिधर्मन्यायानुसार' ग्रौर 'म्रिभिधर्मसमयप्रदीपिका' रचा । यह मूल सस्कृत-ग्रन्थ ग्रप्राप्य है, किन्तु चीनी-ग्रनुवाद उपलब्ध है । पालि के अभिधर्म-प्रन्थों में और इनमें कोई समानता नहीं पाई जाती।

सौद्रान्तिक इन ग्रिभिधर्म-ग्रन्थों को बुद्ध-वचन न मानकर केवल सामान्य-शास्त्र मानते थे । वह केवल सूद्रान्तों को प्रमाण मानते थे । इसलिए, इनको सौद्रान्तिक कहते हैं । सौद्रान्तिक स्वसवित्ति के सिद्धान्तों को मानते थे । इनका कहना था कि वस्तु स्वभाव से नाश-वान् है, वे ग्रन्तिय नहीं है, पर क्षणिक है । उनका परमाणुवाद के विकास में हाथ है । उनका कहना है कि ग्रणुग्रों में स्पर्श नहीं है, क्योंकि ग्रणु के ग्रवयव नहीं होते, इसलिए एक ग्रवयव का दूसरे ग्रवयव से स्पर्श नहीं होता । ग्रणुग्रों में निरन्तरत्व है ।

ग्रवतक सौत्रान्त्रिक-साहित्य वहत कम प्राप्त हो सका है। वसुवन्धु यद्यपि वैभाषिक थे, तथापि सौत्रान्तिकवाद की ग्रोर उनका विशेष झुकाव था। ग्रपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ग्रभिधर्मकोण' ग्रीर

१ वासिलीफ बुडिडम्स, पु॰ ६६।

२ "श्रूयन्ते ह्यभिधर्मशास्त्राणा कर्तार । तद्यथा—ज्ञानप्रस्थानस्य आर्यकात्यायनीपुत्र कर्ता । प्रकरणपादस्य स्थितरवसुमित्र । विज्ञानकायस्य स्थितरवेवशर्मा । धर्मन्कन्थस्य आर्यशारिपुत्र । प्रज्ञितशास्त्रस्य आर्यमौद्गल्यायन । धातुकायस्य पूर्ण । सगीतिपर्यायस्य महाकौष्ठिलः ।" (विव्लिश्रोधिका, २१, पृ० १२)

उसके भाष्य मे उन्होने स्थल-स्थल पर इसका परिचय दिया है। अभिवर्मकोश के व्याख्याकार यशोमित्र तो स्पब्ट ही सौतान्तिक थे। युग्रान-च्याग के श्रनुसार सौतान्तिक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कुमारलाभ या कुमारलव्ध थे। सौत्रान्तिक ग्राचार्यो मे श्रीलव्ध, धर्मत्रात, बुद्धदेव ग्रादि के नाम ग्राते हैं, परन्तु इनके ग्रन्थ ग्रभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

कुछ विद्वानों ने दिद्धनाग और उनकी परम्परा के अन्य आचार्यों को सीतान्तिक माना है। ऐसी ग्रवस्था मे सौव्रान्तिक साहित्य विपुल हो जाता है। वस्तुत, सौव्रान्तिक की गणना हीनयान में किया जाता है, जबिक उसके कुछ सिद्धान्त महायान से मिलते है, वयोिक सीतान्तिकवाद सक्रमणावस्था का दर्शन है।

## बौद्ध-संकर-संस्कृत का विकास

'महावस्तु', 'ललितविस्तर' ग्रादि ग्रन्थों की भाषा गृद्ध सम्कृत नहीं है। कोई इसे गाथा-सस्कृत कहता है, कोई मिश्र-सस्यत या वौद्ध-सस्कृत । प्रोफेसर एजर्टन इसे वौद्ध-सकर-सस्कृत का नाम देते हैं। प्रो० एजर्टन के अनुसार यह भाषा मूलत मध्यप्रदेश की कोई प्राचीन बोल-चाल की भाषा थी या उसपर ग्राश्रित थी। यह ईसा के पूर्व की भाषा है। किन्तु, ग्रारम्भ से ही हम देखते हैं कि कम-से-कम हस्तिलिखित पोथियों में सस्कृत के प्रति इसका झुकाव है। शब्दों की वर्णना में हम अशत संस्कृत का प्रभाव पाते हैं। हमारा अनुमान है कि संस्कृत की वढती हुई प्रतिष्ठा के कारण ऐसा हुग्रा होगा। इन ग्रन्थों में हम वहुत-से शुद्ध संस्कृत-शब्द भीर रूप पाते हैं। कुछ आणिक रूप से सस्कृत है, और कुछ ऐसे है, जो अपने शुद्ध रूप को ग्रपरिवित्तित रखते हैं। इन ग्रन्थों का शब्द-भाण्डार बहुत कुछ मध्यदेशीय है, ग्रथीत् यह शब्द सस्कृत के नहीं है अथवा सस्कृत में उनका भिन्न अर्थ है। जहाँ कही इनकी वर्णना पर सस्कृत का प्रभाव पड़ा है, वहाँ भी इनका मूल प्रभाव प्रकट हो जाता है । क्योंकि, संस्कृत-भाषा मे या तो इनका प्रयोग नही पाया जाता या वहाँ यह किमी दूसरे ही अर्थ मे प्रयुक्त होते है।

ज्यो-ज्यो समय वीतता गया, संस्कृत का प्रभाव इस भाषा पर वहता गया। लेखको ने शुद्ध मध्यदेशीय शब्दो का वहिष्कार करना भी ग्रारम्भ कर दिया ग्रीर उनके स्थान पर सस्कृत शन्द रखने लगे, किन्तु अधिकतर शन्द-रूप और धातु-रूप के ही सस्कृत-रूप देने का प्रयत्न होता था । ऐसे भी ग्रन्थ हमको मिलते हैं जो बाहर से शुद्ध संस्कृत में लिखे मालूम होते हैं, किन्तु सूत्र की परीक्षा करने पर अनेक असंस्कृत रूप और शब्द मिलते हैं। आजकल जो सज्जन इन ग्रन्थो का सम्पादन करते हैं, वे इस दोष के सबसे वडे भागी है। वह विना विचारे-श्रसस्कृत-शब्दो ग्रीर रूपो को वहिष्कृत करते हैं। वह समझते हैं कि यह ग्रन्थ भ्रष्ट संस्कृत में लिखे गये है ग्रीर उनको सुधारना वह ग्रपना कर्त्तव्य समझते है। किन्तु, यह वडी भारी भूल है। यह भाषा मध्यदेशीय है, अगुद्ध सस्कृ । नहीं । इसलिए, हमारा कर्त्तव्य है कि हम प्रत्येक ऐसे शब्द

ग्रीर रूप को सुरक्षित रखे।

ग्रनेक ग्रन्थों में पद्य की अपेक्षा गद्यभाग को कही ग्रिधिक संस्कृत रूप दिया गया है। इस भाषा को किसी परिचित मध्यदेशीय वोली से मिलाना ठीक नहीं है। इसके कई प्रयत्न किये गये हैं, किन्तु सब विफल रहें। हम यह भी नहीं बता सकते कि यह भाषा किस प्रदेश की थीं। किन्तु, इस भाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो ग्रन्य भाषाग्रों में नहीं पाई जाती। कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह भाषा ग्रर्द्ध मागधी है, किन्तु यह ठीक नहीं है। कुछ बातों में सादृश्य होने से ऐसा भ्रम हो गया था, किन्तु परीक्षण करने पर यह मालूम हुग्रा कि विभिन्नता कही ग्रिधिक है।

भगवान् वृद्ध ने भिक्षुग्रो को उपदेश दिया था कि वह भगवान् के वचन को ग्रपनीग्रपनी भाषा में परिवित्तित करें। वैदिक भाषा में वृद्ध-वचन को परिवर्त्तित करने का निपेध था।
इसिलिए ग्रागम-ग्रन्थ पालि, प्राकृत संस्कृत ग्रादि ग्रनेक भाषाग्रो में पाये जाते हैं। इसी ग्रादेश के
ग्रनुसार उत्तर भारत की कई बोलियों में वृद्ध-वचन उपनिवद्ध किये गये। इन्हीं में से एक
बोली पाली थी, जो उज्जयिनी में कदाचित् बोली जाती थी। इसी में विपिटक लिखा गया, जो
लका, वर्मा ग्रादि देशों में मान्य हुग्रा। एक दूसरी बोली, जिसका मूलस्थान—हमको मालूम
नहीं है, वौद्ध-सकर-संस्कृत का है। संस्कृत की चारों ग्रोर प्रतिष्ठा होने से धीरे-धीरे इमपर
संस्कृत का प्रभाव पडने लगा। ग्रारम्भ में यह प्रभाव थोडा ग्रीर ग्राशिक था। ग्रागे चलकर
इसमें वृद्धि हुई, किन्तु पूर्णरूपेण संस्कृत का प्रभाव नहीं पड सका। प्रो० एजर्टन ने इस भाषा का
व्याकरण ग्रीर कोश लिखकर वडा उपकार किया है। ये ग्रन्थ येल-विश्वविद्यालय से सन्
१६५३ ई० में प्रकाशित हुए हैं।

#### महावस्तु

हीनयान का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महावस्तु' या 'महावस्तु-ग्रवदान' हैं। महामाधिक ग्रोर लोकोत्तरवादी बौद्ध-निकाय का उद्भव कैसे हुग्रा, इसका विचार पहले हमने किया है। महावस्तु इन्हीं लोकोत्तरवादी महामाधिकों का विनय-ग्रन्थ है। हीनयान के ग्रनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों में इसकी गणना है। महावस्तु का प्रथम सम्पादन सेना (इ० सेना ) ने तीन भागों में सन् १८८२-१८७ ई० में किया है। महावस्तु का ग्रथं है 'महान् विषय या कथा', ग्र्यात् उपसम्पदा इत्यादि बौद्ध -विनय-सम्बन्धी कथा। पालिविनय के 'महावग्ग' के प्रारम्भ में बुद्ध की बोधिप्राप्ति का, धर्मचक्रप्रवर्त्तन का तथा सध-स्थापना का वर्णन मिलता है। महावस्तु के प्रारम्भ में ही चार बोधिमत्त्व-चर्याग्रों का वर्णन दिया गया है— प्रकृतिचर्या, प्राण्धानचर्या, ग्रन्लोमचर्या ग्रीर ग्रनिवर्त्तनचर्या। इन चार चर्याग्रों की पूर्ति से बोधिमत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति करते है। इन चर्याग्रों का उल्लेख करके ग्रन्थ का नाम दिया गया है— 'ग्रार्यमहामाधिकाना लोकोत्तरवादिना मध्यदेशिकाना पाठेन विनयपिटकम्य महावस्तुनों. 'ग्रादि। 'इम परिचय के वाद चतुविध उपमम्पदाग्रों का वर्णन है। स्वाम उपसम्पदा, एहिभिक्षुकाय उपसम्पदा, दणवर्गण गणेन उपसम्पदा, ग्रीर पचवर्गण गणेन उपसम्पदा, एहिभिक्षुकाय उपसम्पदा, दणवर्गण गणेन उपसम्पदा।

यह ग्रन्थ लोकोत्तरवादियों का है। इसका प्रमाण यह भी है कि ग्रन्थ में भगवान् वुद्ध को लोकोत्तर वताया गया है। एक जगह कहा है कि वोधिमत्त्व माता-पिता से उत्पन्न नहीं होते, जनका जन्म ग्रीपपादुक है। इतना ही नहीं, तुपित-स्वर्ग से च्युत होने के वाद वे काम-सेवन भी नहीं करते। ऐसी परिस्थिति में गीतमबुद्ध का पुत्त राहुल है, इसका सामजस्य किस प्रकार है? इसके सम्बन्ध में कहा है—"भो जिनपुत्त! को हेतु, क प्रत्यय, य ग्रप्रहीणेहि वलेंगेहि वोधिसत्त्वा कामा न प्रतिसेवन्ति, राहुलक्च कथमुत्पन्न इति? एवमतृष्र्यते भी धुतधर्मधर! राजानक्च कवित्तंन ग्रीपपादुका वभूवु। तद्यथा .चक्रवित्तगणा ग्रीपपादुका ग्रासन्न तथा राहुलभद्र इति।" इसी प्रकार, भगवान् का शरीर, उनका न्नाहार, उनका चीवर-धारण भी लोकोत्तर माना गया है। महाबस्तु में बुद्धानुस्मृति नाम का बुद्धस्तोत्न है (जिल्द १,॰ पृ० १६३), इसमें तो यहाँतक कहा गया है कि दीपकर भगवान् के पाम जब वोधिसत्त्व ने ग्रानिवर्त्तनवर्या का प्रारम्भ किया, तभी में वह वीतराग है

दीपञ्जरमुपादाय वीतरागस्तथानतः । राहुलं पुत्रं दर्शेन्ति एषा लोकानुवर्त्तना ।। इत्यादि ।

इस प्रकार, महावस्तु में भगवान् को लोकोत्तर माना गया है। हीनयान से महायान की श्रोर यह सकमणावस्था है। हीनयान में समाधि का महत्त्व था। महावस्तु में भिक्त प्रधान स्थान लेती है। स्तूप की परिक्रमा करने से अथवा पृष्पोपहार द्वारा भगवान् की ग्राराधना करने से अभित पृष्य प्राप्त होता है। एक स्थल पर कहा गया है कि बुद्ध की उपासना से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

हीनयान के प्राचीन पालिग्रन्थों में वोधिसत्त्व की दशभूमियों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। 'महावस्तु' में ही इसका प्रथम विस्तृत वर्णन हम पाते हैं।

वोधिमत्त्व की दस भूमियाँ ये है—दुरारोहा, बद्धमाना, पुप्पमण्डिता, किरा, वित्तारा, रूपवती, दुर्जया, जन्मिनदेश, योवराज श्रीर श्रिभपेक । वोधिनत्त्व ने इन भूमियों की प्राप्ति किस प्रकार श्रीर किन वृद्धों के मान्निष्ट्य में की, इसका विस्तृत वर्णन महावस्तु में मिलता है। 'दशमूमिशास्त्र' में जिन भूमियों का उल्लेख है, वे इनसे भिन्न हैं। दस भूमियों का सिद्धान्त पहले-पहल 'महावस्तु' में ही उपदिष्ट है श्रीर उमी को श्रागे चलकर महायान-ग्रन्थों में सुपल्लवित किया गया।

वुद्ध का जीवन-चरित ही महावन्तु का मुख्य उद्देश्य है। इमलिए, उसे महावस्तु-ग्रवदान कहा गया है। किन्तु, 'लिनतिवस्तर' में जीवन-चरित का जो व्यवस्थित रूप हम पाते है, वह महावस्तु' में नही है। जातक, सूब, कथा ग्रीर विनय ऐसे कई ग्रगो का यहाँ मिश्रण है। शाक्यवश ग्रीर कोलियवश के उद्भव की कथा पालिग्रन्थों के वर्णन से मिलती है। वुद्ध के जन्म की कथा पालि 'निदानकथा' ग्रीर संस्कृत 'लितविन्तर में काफी मिलती है। भाषा की दृष्टि से 'महावस्तु' का पद्यमय भाग लितविन्तर में प्राचीन है। महावन्तु में कई भाग ऐसे हैं, जो पालिनिकायों से मिलते है। उत्तिनपात के पट्यज्जामुत्त, प्रधानमुन, ग्रगविमाण- मुत्त, धम्मपद का सहस्सवग्ग, दीघनिकाय का महागोदिन्दमुत्त और मिज्झमिनकाय का दीघनखसुत्त आदि अनेक ऐसे सुत्तन्त है, जो 'महावस्तु' में पूर्णतया पाये जाते हैं। 'महावस्तु' का आधा से अधिक भाग जातक और अन्य कथाओं से भरा है, जो सामान्यतः पालिजातको का अनुसरण करता है।

'महावस्तु' के काल का निश्चय करना किठन है। किन्तु, इसमे सन्देह नहीं कि इसका मूलरूप प्राचीन है। इसके वह अग, जो पालिनिकाय में भी पाये जाते हैं, निश्चित रूप से अित प्राचीन है। इसकी भाषा भी इसकी प्राचीनता का स्चक है। समग्र ग्रन्थ 'मिश्र सस्कृत' में लिखा गया है, जब कि महायान के ग्रन्थों में मिश्र मस्कृत और शुद्ध सस्कृत, दोनों का प्रयोग पाया जाता है। लोकोत्तरवाद का ग्रन्थ होना भी इसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के मूलरूप की रचना ईसा से २०० वर्ष पूर्व हुई, किन्तु ग्रन्थ का समयसमय से विस्तार होता रहा। हूण और्युंचीनी-भाषा तथा लिपि का उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थ के कुछ अश चौथी शताब्दी के हैं।

#### ललितविस्तर

'लिलतिवस्तर' महायान सूत्र-ग्रन्थों में, बहुत पवित्र माना जाता है। इसकी गणना वैपुल्य-सूत्रों में है। ग्रारम्भ में हीनयानान्तर्गत मर्वास्तिवादी निकाय का यह ग्रन्थ था। इसमें बुद्धचरित का वर्णन है। भूमण्डल पर भगवान् बुद्ध ने जो क्रीडा (=लिलत) की. उसका वर्णन होने के कारण ग्रन्थ का नाम 'लिलतिवस्तर' पडा। ग्रिभिनिष्कमण-सूत्र (नेिक्जियो-सूची-स० ६००) के ग्रनुमार इसको महाव्यूह भी कहत है।

डॉक्टर एस्० लेफमान ने इस ग्रन्थ के ग्रारम्भ के कुछ ग्रध्यायो का ग्रनुवाद वर्लिन से सन् १८७५ ईसवी में प्रकाशित किया था। 'विक्लिग्रोथिका डण्डिका' नामक ग्रन्थमाला के लिए डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने लिलतिवस्तर का ग्रँगरेजी-ग्रनुवाद तैयार किया था, पर सन् १८८१ से १८८६ ई० के वीच में केवल पन्द्रह ग्रध्यायो का ही ग्रनुवाद प्रकाणित हो सका। डॉ॰ राजेन्द्रलाल मित्र ने मूल ग्रन्थ का भी एक ग्रपूर्ण सस्करण निकाला था। समग्र मूल ग्रन्थ का सम्पादन डॉक्टर एस्० लेफमान ने किया। इसका फेच-ग्रनुवाद फ्रूको ने एनल द मुसे गिमे (जिल्द ६ ग्रीर १६, पेरिस, सन् १८८४-१८६२ ई०) म प्रकाणित किया। तिब्बती-भाषा में इस ग्रन्थ का ग्रनुवाद पाँचवी शताब्दी में हुग्रा था।

पहले ग्रध्याय में यह वतलाया है कि एक समय रावि के मध्य याम मे भगवान् समाधिस्य हुए। उसी क्षण भगवान् के उष्णीप-विवर से रिष्म प्रादुभूत हुई, जिसने नव देव-भवनो को ग्रपने प्रकाश से ग्रवभासित किया ग्रीर देवताग्रो को क्षुच्ध किया। राहि के व्यतीत होने पर ईश्वर, महेश्वर इत्यादि देवपुत्र जेतवन ग्राये ग्रीर भगवान् की पर्य-वन्दना कर एक ग्रीर वैठ गये ग्रीर कहने लगे—"भगवन्। लिलतविस्तर नामक धमंपर्याय का ग्राप व्याकरण करे। भगवान् का तुषितलोक में निवास गर्भावकान्ति, जन्म, वालचर्या, मर्वमारमण्डलविध्वसन इत्यादि विषयो का इस ग्रन्थ मे दर्णन है। पूर्व तथागतो ने भी इस गन्य का व्याकरण किया था।"

भगवान् ने जनकाय के कल्याण भीर सुख के लिए तथा सद्धर्म की वृद्धि के लिए देवपुत्रों की प्रार्थना स्वीकार की ग्रौर भिक्षुग्रो को ग्रामन्त्रित कर 'ग्रविदूरे निदान' (तुपित-काय से च्युति से प्रारम्भ कर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति तक का काल 'ग्रविदूर निदान' कहलाता है) की कथा से श्रारम्भ कर बुद्धचरित का वर्णन सुनाने लगे। वोधिसत्त्व एक महाविमान में तुषित-लोक में निवास करते थे। वोधिसत्त्व ने क्षित्रय-कुल में जन्म लेने का निश्चय किया। भगवान् ने वतलाया कि वोधिसत्त्व शुद्धोदन की महिषी मायादेवी के गर्भ में उत्पन्न होगे। वही वोधिसत्त्व के लिए जपयुक्त माता है। वह रूप-यौवन-सम्पन्न है, शीलवती और पतिवता है। परपुरुप का स्वप्न में भी ध्यान नहीं करती। जम्बूढीप में कोई दूसरी स्त्री नहीं है, जो वोधिसत्त्व के तुल्य महापुरुप का गर्भधारण करने में समर्थ हो। इसको दस सहस्र नागो का वल प्राप्त है। देवतास्रो की सहायता से वोधिसत्त्व ने महानाग कुजर के रूप में गर्भावकान्ति की। कुक्षिगत वोधिसत्त्व के निवास के लिए देवताओं ने एक रंत्नब्यूह तैयार किया, जिसमें वोधिसत्त्व को दुर्गन्धयुक्त मनुष्या-श्रय में निवास न करना पड़े। ग्राकृति ग्रौर वर्ण में यह रत्नव्यूह ग्रनुपम था। बोधिसत्त्व इस रत्नव्यूह में वैठे हुए ग्रत्यन्त शोभित थे। माता की कोख में से वोधिसत्त्व ने समस्त दिशाग्रो को अपने तेज और वर्ण से अवभासित किया । वोधिसत्त्व के शरीर से दूर तक प्रभा निकलती थी। यदि कपिलवस्तु या अन्य कियो जनपद में कियी स्त्री या पुरुष को भूत का आवेग होता था, तो वोधिसत्व की माता के दर्शनमात्र से उनको चेतना का पूनर्लाभ होता था। जो लोग नाना रोग से पीडित होते थे, उनके सिर पर वोधिसत्त्व की माता ग्रपना दाहिना हाथ रखती थी। इसी से उनकी व्याधि दूर हो जाती थी, यहाँतक कि रोगियो को मायादेवी भूमि से तृण-गुल्म उठाकर देती थी, उसी से रोगी निर्विकार होते थे। मायादेवी जब ग्रपना दक्षिण पार्श्व देखती यी, तब उनको कुक्षिगत वोधिसत्त्व उसी प्रकार दिखलाई पडते थे, जिस प्रकार शुद्ध ग्रादर्श-मण्डल में मुखमण्डल का दर्शन होता है। जिस प्रकार ग्रन्तरिक्ष में चन्द्रमा तारागण से परिवृत हो शोभा को प्राप्त होता है, उसी तरह वोधिसत्त्व वत्तीस लक्षणों से अलकृत थे। वह राग-द्वेप और मोह की वाधा से परिमुक्त थे। क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण ग्रादि उनको किसी प्रकार की बाधा नही पहुँचाते थे। नित्य दिन्य-तूरि का वाद होता था और नित्य सुन्दर दिन्य-पुष्पो की वर्षा होती थी। भ्रौर ग्रमानुष परस्पर हिंसा का भाव नहीं रखते थे। सत्त्व हृष्ट ग्रौर तुष्ट थे। समय पर वृष्टि होती थी। तृण, पुष्प ग्रीर ग्रोपिधयाँ समय पर होती थी। राजगृह में सात रात रालो की वर्षा हुई। कोई सत्त्व दरिद्र या दु खी न रहा। दस महीने वीतने पर जव वोधिसत्त्व का जन्म-समय उपस्थित हुम्रा, तव राजा शुद्धोदन के गृह ग्रौर उद्यान में वत्तीम पूर्वनिमित्त प्रादुर्भू त हुए । मायादेवी पति की आज्ञा ले लुम्बिनी-वन गई । वहाँ वोधिसत्त्व का जन्म हुग्रा। पृथ्वी को भेदकर महापद्म का प्रादुर्भाव हुग्रा। नन्द, उपनन्द, नागराजाग्रो ने वोधिसत्त्व को शीत ग्रीर उज्ज जल की वारिधारा से स्नान कराया । अन्तरिक्ष से दो चामर ग्रीर रत्न-छत प्रादुर्भू त हुए । वोधिसत्त्व ने महापद्म पर वैठकर चारो दिशाग्रो को देखा । वोधिसत्त्व ने दिव्य-चक्षु से समस्त लोकधातु को देखा और जाना कि प्रज्ञा, शील, समाधि या कुशलमूल-चर्या में मेरे तृत्य कोई सत्त्व नहीं है। विगत-भय हो, सर्वसत्त्वो का चित्त और चरित जानकर वोधिसत्त्व न

पूर्वीभिमुख हो सात कदम रखें। उस समय ग्रन्तिरक्ष में उनके ऊपर श्वेत वर्ण का दिव्य विपुल छत्न ग्रीर दो शुभ चामर धारण कराये गये। जहाँ-जहाँ बोधिसत्त्व पैर रखते थे, वहाँ-वहाँ कमल प्रादुर्भू तहोता था। इसी प्रकार दक्षिणमुख ग्रीर पश्चिममुख हो सात-सात कदम रखें। सातवे कदम पर सिंह की तरह निनाद किया ग्रीर कहा कि में लोक में ज्येष्ठ ग्रीर श्रेष्ठ हूँ। यह मेरा ग्रन्तिम जन्म है। में जाति-जरा ग्रीर मरण-दुःख का ग्रन्त करूँगा। उत्तराभिमुख हो बोधिसत्त्व ने कहा कि में सब सत्त्वो में ग्रनुत्तर हूँ। नीचे की ग्रोर सात पग रख-कर कहा कि मार को उसकी सेना के सिहत नष्ट करूँगा ग्रीर नरक-निवासी सत्त्वो लिए महाधर्म-मेघ की वृष्टि कर निरयाग्नि को शान्त करूँगा। ऊपर की ग्रोर भी बोधित्त्व ने सात पग रखें ग्रीर ग्रन्तिरक्ष की ग्रोर ताका।

जिस समय वोधिसत्त्व ने जन्म लिया, उस समय नाना प्रकार के प्रातिहार्य उदित हुए। दिव्य दुन्दुभियाँ बजी, सब ऋतु ग्रौर समय के वृक्षो मे फूल ग्रौर फल लगे। विशुद्ध गगनतल से मेघशब्द सुन पड़ा। पृथ्वी कम्पायमान हुई। मेघ-रहित ग्राकाश से वर्षा हुई। सुगन्धित वायु वहने लगी। सब दिशाएँ सुप्रसन्न मालूम पड़ी। सब सत्त्वो को काय-सुख ग्रौर चित्त-सुख प्राप्त हुग्रा। सब सत्त्व ग्रकुशल-क्रिया से विरत हुए। सब सत्त्व राग-द्वेष, मोह, दर्प इत्यादि दोषो से रहित हुए। जिनको नेत्रविकलता थी, उनको चक्षु-लाभ हुए। दिद्रो ने धन पाया। जो बद्ध थे, वे वन्धन से मुक्त हुए। ग्रवीचि ग्रादि नरको मे वास करनेवाले सत्त्व दु ख-रहित हो गये। तिर्यग्योनिवालो का ग्रन्योन्य-भक्षण-दु:ख दूर हुग्रा। यमलोक-निवासी मत्त्वो का क्षुत्पिपासा-दु ख शान्त हुग्रा। सप्तपदी के समय सर्वलोक तेज से परिस्फुटित हो गये। गीत ग्रौर नृत्य शब्द हुग्रा ग्रौर पुष्प, चूर्ण, गन्ध, माल्य, रत्न, ग्राभरण ग्रौर वस्त्व की वर्षा हुई। सक्षेप में, यह किया ग्रद्भुत ग्रौर ग्रचिन्त्य हुई।

सातवे ग्रध्याय में श्रानन्द ग्रीर बुद्ध का सवाद है। ग्रानन्द ने ग्रजिलवद्ध हो बुद्ध को प्रणाम किया ग्रीर कहा कि बुद्ध का ग्रद्भुत धर्म है। में भगवान् की शरण में ग्रनेक वार जाता हूँ। भगवान् ने कहा कि हे ग्रानन्द । भविष्य-काल में कुछ भिक्षु उद्धत ग्रीर ग्रभिमानी होगे। उनको भगवान् में श्रद्धा न होगी। उनका चित्त विक्षिप्त होगा। वे सशयान्वित होगे। वे बोधिसत्त्व की गर्भाविकान्ति-परिशुद्धि में विश्वास न करेगे। वे कहेंगे कि यह किस प्रकार सम्भव है कि बोधिसत्त्व माता की कोख से बाहर ग्राते हए गर्भमल से उपलिप्त नही हुए। वे मोह-पुरुष इस बात को न जानेंगे कि पुण्यवान् सत्त्वो का शरीर उच्चार-प्रश्लावमण्ड में नही होता, तथागत की गर्भावकान्ति कल्याण को देनेवाली होती है। भगवान् की गर्भ में ग्रवस्थिति भूतदया के कारण होती है। वे नही जानते कि तथागत देवतुल्य है ग्रीर हम लोग मनुष्यमात्र है। उनके स्थान की पूर्त्ति करने में हम समर्थ नहीं हैं। उनको समझना चाहिए कि हम लोग भगवान् की इयत्ता या प्रमाण को नही जान सकते। वह ग्रचिन्त्य है। उद्धत भिक्षु ऋद्धि ग्रीर प्रातिहार्य पर विश्वास नहीं करेगे। वे बुद्धधर्मों का प्रतिक्षेप करेगे। उनकी दुर्गति होगी। ग्रानन्द ने भगवान् से पूछा कि इन ग्रमत्पुरुषो की क्या गित होगी । भगवान् वोले कि जो

कोई इन सूतान्तो को मुनकर इनपर श्रद्धा न लायगा, वह च्युत होने पर श्रवीचि नाम महानरक में गिरेगा। ग्रानन्द। तथागत की वात ग्रप्रामाणिक नहीं होती। इसके विपरीत जो इन सूत्रान्तो को सुनकर प्रसन्न होगे, उनको प्रसाद सुलभ होगा। उनका जीवन श्रोर मानुष्य मफल श्रोर सार्थक होगा। वे सार पदार्थ का ग्रहण करेगे। वे तीनो ग्रपायो से मुक्त होगे। तथागत-धर्म सें श्रद्धा रखने का यहीं फल है। जिन सत्त्वों को भगवान् का दर्शन या धर्मश्रवण प्रिय होता है, भगवान् उनको मुक्त करते हैं श्रीर उनको भगवद्भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धा का ग्रम्यास करना चाहिए। मिल्न से मिलने के लिए लोग योजनशत भी जाते हैं श्रीर श्रदृष्टपूर्व मिल्न को देखकर सुखी होते हैं। फिर, उसका क्या कहना जो मेरे ग्राश्रित हो कुशलमूल का श्रारोपण करता है। जो मुझपर श्रद्धा रखते हैं, श्रनागत वृद्ध भी उनकी श्रभिलापा पूर्ण करेगे। जो मेरी शरण में श्राये हैं, वे मेरे मिल्न हैं। में उनका कल्याण माधित करता हूँ। तथा-गत के यह मिल्न हैं, यह समझकर श्रनागतबृद्ध भी उनके माथ मैं तो करेगे। इसलिए, हे श्रानन्द। श्रद्धोत्पाद के लिए उद्योग करो।

यह सवाद श्रकारण नही है। वुद्ध की गर्भावकान्ति तथा जन्म की जो कथा लित-विस्तर में मिलती है, वह पालिग्रन्थो मे वर्णित कथा से भिन्न है। यद्यपि पालिग्रन्थो मे भगवान के अनेक अद्भृत धर्म वर्णित है, तथापि इन अद्भुत धर्मों से समन्वागत होते हुए भी पालि-प्रन्थों के वुद्व ग्रन्य मनुष्यों के समान जरा-मरण-दुख ग्रीर दौर्मनस्य के ग्रधीन थे। वुद्ध ने स्वय कहा था कि मैं लोक में ज्येष्ठ ग्रीर श्रेष्ठ हूँ ग्रीर सर्वसत्त्वो में ग्रनुत्तर हूँ। सयुत्तनिकाय (स्कन्धवग्ग, भाग ३, पृ० १४०) में बुद्ध ने कहा है कि जिस प्रकार हे भिक्षु । कमल उदक में ही उत्पन्न होता है और उदक में ही सम्बद्ध है, पर उदक से अनुपलिप्त होकर उदक के छपर स्थित है, उसी प्रकार तथागत लोक में सम्बद्ध होकर भी लोक को ग्रिभभूत कर लोक से विना उपलिप्त हुए विहार करने हैं। दीघनिकाय (दूसरा भाग, पृ० १२, महापदानसुत्तन्त) के अनुसार, वोधिसत्त्व की यह धर्मता है कि जव वह तुषितकाय से च्युत हो माता की कुक्षि में उत्कान्ति करते हैं, तव यव लोको में ग्रप्रमाण-ग्रवभास का प्रादुर्भाव होता है। यह ग्रवभास देवतात्रों के तेज को भी अवभासित करता है। दीघनिकाय (भाग ३, पृ० १६) के अनुसार वोधिसत्त्व महापुरुष के वत्तीस लक्षणो से और वयासी श्रनुव्यजनो से समन्वागत होते हैं। महापरिनिर्वाणसूत्र के अनुसार तथागत यदि चाहें, तो कल्पपर्यन्त या कल्पावशेप-पर्यन्त निवास कर सकते हैं। इसीलिए, ग्रानन्द ने भगवान् से देव-मनुष्यों के कल्याण के लिए कल्प-पर्यन्त श्रवस्थिति रखने की प्रार्थना की। पर, भगवान् श्रायु-सस्कार का उत्सर्ग पहले ही कर चुके थे, इसलिए उन्होने ग्रानन्द की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। इन ग्रद्भुत धर्मों को मानते हुए भी पालि-ग्रन्थों के बुद्ध लोकोत्तर केवल इसी अर्थ में है कि उन्होंने विशेष उद्योग कर मोक्ष के मार्ग का श्रन्वेपण किया श्रौर दूसरे उनके वताये हुए मार्ग का श्रनुसरण करने से ही श्रहत्व की भ्रवस्था को प्राप्त कर सकते हैं, उनको मार्ग का भ्रन्वेषण नही करना पडता। पर महासाधिक लोकोत्तरवादी लोकोत्तर शब्द का प्रयोग इस ग्रर्थ में नहीं करते। यदि उनको मी यह ग्रर्थ मान्य होता, तो बौद्धो में इस प्रश्न पर मतभेद होने का कोई कारण न था और न उनमें लोको-

त्तरवाद नामक वाद ही प्रचलित होता। इससे स्पष्ट है कि लोकोत्तरवादियों के मत में 'लोकोत्तर' का कोई विशेष अर्थ है। आनन्द-बुद्ध के सवाद से यह प्रकट होता है कि लोकोत्तरवादी बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति-परिशुद्धि में विश्वास करते थे और उनको अचिन्त्य मानते थे।

ग्रागे चलकर 'ललितविस्तर' का वर्णन 'महावग्ग' की कथा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जहाँ समानता है, वहाँ भी कुछ वाते लिलतविस्तर में ऐसी वर्णित है, जो ग्रन्य ग्रन्थों में नहीं पाई जाती। ऐसी दो कथा श्रो का हम यहाँ पर सक्षेप में उल्लेख करते हैं। एक कथा श्राठवें भ्रध्याय में वर्णित है। शाक्यो ने राजा शुद्धोदन से कहा कि कुमार को देवकुल मे ले चलना चाहिए। जब कुमार को ग्राभुषण पहनाये गये, तब स्मितपूर्वक कुमार बोले — मुझसे बढकर कौन देवता है ? में देवातिदेव हूँ।' जब कुमार ने देवकुल में पर रखा, तब सब प्रतिमाएँ प्रपने-श्रपने स्थान से उठी श्रीर उनके पैरो पर गिर पडी, प्रतिमाश्रो ने श्रपना-श्रपना स्वरूप दिखाकर भगवान् को नमस्कार किया। इसी प्रकार, दसवे अध्याय मे बोधिसत्त्व के लिपिशाला मे जाने की कथा है। श्रनेक मगल-कृत्य करके दस हजार वालको के साथ कुमार लिपिशाला मे ले जाये गये। म्राचार्य विश्वामित्र कुमार के तेज को न सह सके भीर धरणितल पर प्रधोमुख गिर पडे। तब शुभाग नाम के तुषित-कायिक देवपुत्र ने उन्हें उठाया ग्रीर उपस्थित राजा ग्रीर जन-काय को सम्बोधित करके कहा-"यह कुमार मनुष्य-लोक के सभी शास्त्र, सख्या लिपि, गणना, धातुतन्त्र ग्रीर ग्रप्रमेय लौकिक शिल्पयोग मे ग्रनेक कल्प-कोटियो के पूर्व ही शिक्षित है। किन्तु, लोकानुवर्त्तना के हेतु अनेक दारको को अग्रयान मे प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से अरीर श्रसख्य सत्त्वों का विनयन करने के लिए श्राज यह कुमार लिपिशाला में श्राये हैं। लोकोत्तर चार म्रार्य-सत्यपथो में जो विधिज्ञ है, जो हेतु-प्रत्यय में कुशल है ग्रीर जो शीतीभाव को प्राप्त है, उसे लिपिशास्त्र में भला क्या जानना है ? विलोक में भी इसका कोई ग्राचार्य नहीं है, सर्व-देवमन्ष्यो में यही ज्येष्ठ है। कल्पकोटियो के पहले इसने जिन लिपियो का शिक्षण पाया है, उनके नाम भी ग्राप जानते नहीं है, यह शुद्धसत्त्व एक क्षण में जगत् की विविध ग्रौर विचित्न चित्तधाराग्रो को जानता है। ग्रदृश्य ग्रीर रूपरहित की गति को जाननेवाले इस कुमार को दृश्यरूप लिपि को जानना क्या कठिन है?" इस प्रकार सम्बोधन करके वह देवपुत्र ग्रन्तर्हित हुआ। धात्री और चेटीवर्ग को कुमार के पास छोडकर शुद्धोदन राजा और जन-कार घर लौटे। तव वोधिसत्त्व ने उरग-मागर चन्दनमय लिपि-फलक को लाकर विश्वामित्र ग्राचार्य से कहा---'भो उपाध्याय । श्राप मुझे किस लिपि की शिक्षा देगे ?' वोधिसत्त्व ने ब्राह्मी, खरोप्ठी, पुष्करमारि,\_\_ ग्रग, वग, मगध प्रादि ६४ लिपियाँ गिनाई । ग्राचार्य ने कुमार के कींगल को देखकर उसका श्रिभनन्दन किया।

इस प्रकार १२ और १३ परिवर्त्तों में कुछ ऐसी कथाएँ वर्णित है, जो ग्रन्यव नहीं पाई जाती, किन्तु १४-२६ परिवर्त्तों में कथामुख में थोडा ही ग्रन्तर पाया जाता है। युद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएँ ये है—चार पूर्व-निमित्त, जिनसे वुद्ध ने जरा, व्याधि, मृत्यु ग्रीर प्रविज्या-ज्ञान प्राप्त किया। ग्रिभिनिष्कमण, विस्विमारोपसक्रमण, दुन्करचर्या, मारधपंण, ग्रिभिसम्बोधन ग्रीर धर्मदेशना। जहाँतक इनका सम्बन्ध है, लिलतविस्तर की कथा कुछ वहुत भिन्न

नहीं है। किन्तु, लिलतिवस्तर में ग्रितिशयोक्ति की मान्ना ग्रिधक है। २७वे परिवर्त्त में महायान-ग्रन्थों की परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन है "जो इस धर्मपर्याय को सुनेगे, वह वीर्यलाभ करेगे, मार का धर्षण करेगे। जो इस धर्मपर्याय की कथा वाचेगे, जो कथा को सुनकर साधुकार देंगे, जो इस पुस्तक को लिखकर उसकी पूजा करेगे, जो इमका विस्तार से प्रकाश करेगे, वह विविध धर्मों का लाभ उठावेंगे, इम धर्मपर्याय की महिमा ग्रनन्त है। यदि तथागत कल्प-भर रात-दिन इस धर्मपर्याय का माहात्म्य वर्णन करे, तो भी उसका ग्रन्त न हो ग्रीर तथागत के प्रति भाव का क्षय न हो।

यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि लिलतिवस्तर हीनयान के किसी प्राचीन मूलग्रन्थ का रूपान्तर है। मर्वास्तिवादियों के मतानुसार यह ग्रारम्भ में बुद्धचरित का ग्रन्थ था, पीछे से महायान के रूप ग्रीर ग्राकार में परिणत ग्रीर परिवर्द्धित हुग्रा। ग्रन्थ गद्यमय है, वीच-वीच में गाथा उपन्यस्त है। कथाभाग प्राय गद्य में ही है। ग्रनेक गाथाएँ है, वडे सुन्दर ग्राम्य-गीत हैं, जिनका समय मुत्तिनिपात की गाथाग्रों के सदृश ग्राति प्राचीन है। सातवें परिवर्त्त में वर्णित जन्म ग्रीर ग्रसित कथा, मोलहवे परिवर्त्त में वर्णित विम्विसारोपसकामण, ग्रहारहवें परिवर्त्त में वर्णित मारसवाद इसके उदाहरण है। यह गाथाएँ वुद्ध के कुछ शताब्दी के बाद की हैं। २६वें परिवर्त्त के कुछ गदाब्दी के वाद की हैं। २६वें परिवर्त्त के कुछ गदाभाग भी, जैसे वाराणसी का धर्मवक-प्रवर्त्तन, वीद्ध-ग्राम्नाय के प्राचीनतम ग्रश है। दूसरी ग्रीर ग्रपेक्षाकृत नवीन भाग है, जो गद्य ग्रीर गाथा में लिखें गये हैं।

हमको यह ज्ञात नहीं है कि लिलतिवस्तर का ग्रन्तिम सस्कार कव हुग्रा। पहले यह भूल से कहा जाता था कि लिलतिवस्तर का चीनी-ग्रनुवाद ईसा की पहली णताव्दी में हुग्रा था। वस्तुत, हम यह भी नहीं जानते कि जो वुद्धचरित चीनी-भापा में धर्मरिक्षत द्वारा सन् ३०५ में श्रनूदित हुग्रा था ग्रौर जिसके बारे में कहा जाता है कि यह लिलतिवस्तर का दूसरा श्रनुवाद है, सचमुच वह हमारे ग्रन्थ का ग्रनुवाद भी है। सस्कृत का ग्रुद्ध तिव्वती श्रनुवाद उपलब्ध है, जिसका समय पाँचवी गती है। फूको ने इसका सम्पादन फेच-श्रनुवाद के साथ किया है। यह निश्चय है कि जिन रूपकारों ने (सन् ५४०-६०० ई०) जावा-स्थितवोरों बुदुर के मन्दिर को प्रतिमाग्रों से सुगोभित किया था, वह लिलतिवस्तर के किसी-न-किसी पाठ से, जो हमारे पाठ से प्राय ग्रिभन्न था, ग्रवण्य परिचित थे। शिल्प में बुद्ध का चरित इस प्रकार खित है, मानो शिल्पी लिलतिवस्तर को हाथ में लेकर इस कार्य में प्रवृत्त हुए थे। जिन शिल्पियों ने उत्तर भारत में बौद्ध-यूनानी कला-वस्तुग्रों को बुद्धचरित के दृण्यों से समलकृत किया था, वह भी लिलतिवस्तर में विर्णत बुद्धकथा से परिचित है।

ग्रत , यह कहना उपयुक्त होगा कि लिलतिवस्तर में पुरानी परम्परा के ग्रनुसार वृद्ध-कथा वर्णित है तथा ग्रपेक्षाकृत कई गताब्दी पीछे की कथा का भी मिन्नवेग है। इसमें सन्देह नहीं कि लिलतिवस्तर से बुद्धकथा के विकास का इतिहास जाना जाता है। माहित्य की दृष्टि से इसका वडा गौरव है। लिलतिवस्तर में मुरक्षित गाथा ग्रौर उसके कथाशों के ग्राधार पर ही ग्रश्वघोष ने 'वुद्धचरित' नामक ग्रनुपम महाकाव्य की रचना की थी।

### ग्रहवघोष-साहित्य

सन् १८६२ ई० मे सिलवाँ लेवी ने 'बुद्ध चरित' का प्रथम सर्ग प्रकाशित किया था। उस समय तक योरप में कोई यह नहीं जानता था कि अश्वघोष एक महान् किव हो गया है। चीनी और तिब्बती आम्नाय के अनुसार अश्वघोष महाराज किनष्क के समकालीन थे। बुद्ध-चरित का चीनी-अनुवाद पाँचवी शताब्दी के पूर्वभाग में हुआ था। अश्वघोष का एक दूसरा ग्रन्थ 'शारिपुत-प्रकरण' है। प्रोफेसर लूडर्स के अनुसार इस ग्रन्थ के जो अवशेप पाये गये हैं, उनकी लिपि किनष्क या हुविष्क के समय की है। जो प्रमाण उपलब्ध है, उनके आधार पर हम यह कहते हैं कि अश्वघोष किनष्क के समय की है। जो प्रमाण उपलब्ध है, उनके आधार पर हम यह कहते हैं कि अश्वघोष किनष्क के समकालीन या उनसे कुछ पूर्व के थे। चीनी-आम्नाय के अनुसार अश्वघोष का सम्बन्ध विभाषा से भी था। पहले तो हमको विभाषा का काल निश्चित रूप से नहीं मालूम है। हम यह भी नहीं कह सकते कि समग्र ग्रन्थ की रचना एक ही समय में हुई। पुन यह भी नहीं प्रतीत होता कि अश्वघोष विभाषा के सिद्धान्तो से परिचित थे। किनष्क के समय में जो धर्म-सगीति वताई जाती है, उसके अस्तित्व के बारे में भी सन्देह है।

ग्रश्वघोष की काव्य-शैली सिद्ध करती है कि वह कालिदास से कई शताब्दी पूर्व के थे। भास उनका ग्रनुकरण करते हैं ग्रीर उनका शब्द-भाण्डार यह सिद्ध करता है कि वह कौटिल्य के निकटवर्त्ती है।

ग्रथवघोप ग्रपने को 'साकेतक' कहते हैं ग्रीर श्रपनी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' वताते हैं। रामायण का उनके ग्रन्थो पर विशेष प्रभाव है, ग्रीर वह इस बात पर जोर देते हैं कि 'शाक्य' इक्ष्वाकु-वश के थे। श्रथवघोप ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों के समान उनकी शिक्षा हुई थी। हमको यह नहीं मालूम है कि वह कैसे बौद्धधर्म में दीक्षित हुए। किन्तु, उनके तीनो ग्रन्थ के विषय ऐसे हैं, जिनसे यह मिद्ध होता है कि वह बौद्धधर्म के प्रचार में बहुत व्यस्त थे। तिव्वती विवरण के श्रनुसार वह एक श्रच्छे सगीतज्ञ भी थे ग्रीर गायकों के साथ श्रमण करते थे, श्रीर बौद्धधर्म का प्रचार गानो द्वारा करते थे। चीनी यात्री इत्सिंग का कहना है कि उनके समय में बुद्धचरित का बड़ा प्रचार था ग्रीर समस्त भारत में तथा दक्षिण समुद्र के देशों (सुमात्रा, जावा ग्रादि) में बुद्धचरित बड़ा लोकप्रिय था।

बुद्धचिरत, सौन्दरनन्द श्रौर शारिपुत्र-प्रकरण—- श्रवघोष के इन तीन ग्रन्थों से हम परिचित हैं। किन्तु, प्रथम सर्ग का है भाग, २—१३ सर्ग, तथा १४वें सर्ग का है भाग ही मिलते हैं। बुद्धकथा भगवत्प्रसूति से श्रारम्भ होती है श्रौर सवेगोत्पत्ति, श्रिभिनिष्क्रमण, मार-विजय, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन, परिनिर्वाण श्रादि घटनाग्रो का वर्णन कर प्रथम धर्मसगीति श्रौर श्रशोक के राज्यकाल पर परिसमाप्त होती है। सौन्दरनन्द में बुद्ध के भाई नन्द के बौद्धधर्म में दीक्षित होने की कथा है। इस ग्रन्थ में १८ मर्ग हैं। समग्र ग्रन्थ सुरक्षित है। शारिपुत-प्रकरण नाटक-ग्रन्थ है। इसमें ६ श्रक हैं। इसमें शारिपुत श्रौर मौद्गल्यायन के बौद्धधर्म में दीक्षित होने की कथा वर्णित है। इसका कियदश ही प्राप्त है। इसका उद्धार प्रोफेसर लूडर्स ने किया है। यह तीनो प्रन्थ एक ही प्रन्थकार के रचे मालूम होते हैं। एक ही प्रकार के भाव और वाक्य वुद्धचरित ग्रीर सौन्दरनन्द में वार-वार मिलते हैं। श्रीजान्सटन, जिन्होने वुद्धचरित का सम्पादन किया है, भूमिका में लिखते हैं कि मैं तवतक वुद्धचरित का सम्पादन नहीं कर सका, जवतक मेंने सौन्दरनन्द का पाठ ठीक तरह से निश्चित नहीं कर लिया। चीनी और तिव्वती-ग्रनुवाद ग्रश्वघोप को ग्रन्य ग्रथो का भी रचियता वताते हैं। टॉमस ने इन ग्रन्थों की सूची 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' में दी है; क्योंकि संस्कृत-ग्रन्थ ग्रप्राप्य है। इसलिए, उनके सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं है। किन्तु, वे ग्रन्थ, जिनका विपय मुख्यत दार्शनिक है, ग्रथवा जिनमें महायान का विकसित रूप पाया जाता है, ग्रश्वघोष के नहीं हो सकते, क्योंकि ग्रश्वघोप किव ग्रीर प्रचारक है, ग्रीर उनका समय महायान के विकसित रूप से पूर्व का है। किन्तु, कुछ ऐसे संस्कृत-ग्रन्थ है, जिनके सम्बन्ध में मत देना ग्रावश्यक है।

प्रोफेसर लूडर्स को शारिपुत-प्रकरण के साथ दो नाटको के ग्रश मिले थे, इनमें से एक के तीन श्लोक मिले हैं। इनकी शैली अश्वघोप की शैली से मिलती है। एक श्लोक में वृद्ध के ऋद्धि-वल का प्रदर्शन है ग्रौर सौन्दरनन्द, सर्ग ३, श्लोक २२ से इसका साम्य है। दोनो में एक ही उपमा का प्रयोग किया गया है। क्या यह सम्भव है कि कोई दूसरा श्रश्वघोप की शैली की विशेषताग्रो का इतना ग्रच्छा ग्रनुकरण कर सकता? दूसरे नाटक में एक नवयुवक की कथा है, जिसका श्रनुचित सम्बन्ध मगधवती से हो गया, ग्रौर जिसने बौद्धधर्म में दीक्षा ली। इस नाटक के रचियता के सम्बन्ध से कुछ कहना कठिन है, क्योंकि हमारे पास यह कहने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि यह ग्रन्थ भी ग्रश्वघोप की रचना है।

तीन ग्रीर ऐसे ग्रन्थ है, जिनके रचियता ग्रइवघोप वताये जाते है। इनमें से एक 'वज्रसूची' है। इस ग्रन्थ की गैली ग्रइवघोष की गैली से सर्वथा भिन्न है। चीनी-अनुवाद के ग्रनुसार
धर्मकीत्तिं इसके रचियता है। इसकी सत्यता पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं मालूम होता।
कम-से-कम यह ग्रन्थ ग्रइवघोष का नहीं है। दूसरा ग्रन्थ 'गण्डी-स्तोव' है। इसमें २६ श्लोक है।
ग्रिधिकाश श्लोकों का छन्द स्रग्धरा है। २०वें श्लोक के ग्रनुसार यह ग्रन्थ कदमीर में लिखा
गया, जब कि वहाँ का प्रवन्ध विगड गया था। ग्रैली की दृष्टि से इसका ग्रइवघोष की कृतियों
से कोई साम्य नहीं है। पुन यह ग्रन्थ कई शताब्दी पीछे का मालूम पडता है।

इिंत्सन 'सूत्रालकार' नाम के ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं, जिसे वह ग्रव्वघोप का वताते हैं। सन् १६०८ ई० में ई० ह्यू वर ने इस नाम से एक चीनी ग्रन्थ का ग्रनुवाद प्रकाशित किया था, जिसे चीनी-ग्रनुवादक ग्रव्वघोप का वताते हैं। वाद को मध्य एशिया में मूल संस्कृत के ग्रण लूडर्स को मिले ग्रीर उन्होंने सिद्ध किया कि ग्रन्थकार का नाम वहीं कुमारलात वताया गया है, ग्रीर ग्रन्थ का नाम 'कल्पनामण्डितिका' है। इससे वडा विवाद उठ खडा हुग्रा। कई प्रसिद्ध विद्वानों ने ग्रपना यह मत व्यक्त किया कि यह मग्रह या तो ग्रव्वघोप का है ग्रथवा कुमारलात ने ग्रव्वघोप की किसी रचना को नया रूप दिया है। ग्रव मामान्यत

विद्वान् इसपर सहमत है कि यह अश्वघोष की रचना नही है, हस्तलिखित पोथी का काल ही इसका निर्णय करने में पर्याप्त है।

यह निश्चित है कि अश्वघोष हीनयान के अनुयायी थे। चीनी आम्नाय के अनुसार वह सर्वास्तिवादी थे और पार्श्व (=पूर्ण या पूर्णाश) ने उनको बौद्धधर्म मे दीक्षित किया था। किन्तु, अश्वघोष विभाषा के सिद्धान्तों से अपरिचित थे। यदि वह सर्वास्तिवादी थे, तो वह ऐसे समय में रहे होगे, जब विभाषा के मुख्य सिद्धान्त स्थिर नहीं हुए थे। सौन्दरनन्द, १७वाँ सर्ग, श्लोक १८ देखिए—

### यस्मादभूत्वा भवतीह सर्वं भूत्वा च भूयो न भवत्यवश्यम्।

सर्वास्तिवादी इसका प्रतिषेध करते हैं। यह विचार मिज्झमिनकाय (३।२५) के प्राधार पर है। पुन सौन्दरनन्द के १२वे सर्ग में श्रद्धा की बड़ी मिहमा बताई गई है। इसकी समता केवल पूर्व कालीन महायान-सूत्र में पाई जाती है। श्रद्धा केवल धर्मच्छन्द नहीं है, यह बुद्ध के प्रति भिक्त है। सर्वास्तिवाद के ग्रागमन में इसका कोई महत्त्व नहीं है, किन्तु श्रद्धविष्ठोष इसपर बहुत जोर देते हैं। ग्रद्धविष्ठोष कहते हैं—

## श्रद्धाङ्कुरिममं तस्मात् सवर्द्धयितुमर्हसि । तद्वृद्धौ वर्द्धते धर्मो मूलबद्धो यथा द्रुमः ॥४१॥

जहाँ वसुवन्धु सौन्दरनन्द के एक श्लोक का उद्धरण देते हैं, किन्तु श्रद्भवघोष का उल्लेख नही करते, वही 'सप्तसिद्धि' के रचयिता हरिवर्मा अइवघोष को प्रमाण मानते है। सत्य-सिद्धि (पूसें के अनुसार 'तत्त्वसिद्धि') के दो उद्धरण अश्वघोष की उक्तियो से मिलते-जुलते हैं, किन्तु उनका उल्लेख ग्रिभधर्मकोश में नहीं है। ग्रिनित्य के सम्बन्ध में इसमें कहा है कि धर्म ग्रनित्य है, क्योकि उनके हेतु ग्रनित्य है। सौन्दरनन्द, सर्ग १७,श्लोक १८ में इसी प्रकार की उक्ति है। पुन एक दूसरे स्थान पर कहा है—स्कन्ध, धातु, आयतन भ्रौर हेतु-प्रत्यय सामग्री है ग्रीर कोई कर्ता ग्रीर भोक्ता नहीं है। ये विचार सौन्दरनन्द, सर्ग १७, इलोक २० में पाये जाते है । इससे यह स्वाभाविक श्रनुमान है कि श्रश्वघोष या तो बहुश्रुतिक है या किसी ऐसे निकाय मे प्रपन्न है, जिससे बहुश्रुतिक निकले है। वहुश्रुतिक के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान वसुमित्र के ग्रन्थ पर श्राश्रित है। वसुमित्र के श्रनुसार बहुश्रुतिक दो वस्तुग्रो को छोडकर श्रन्य विषयों में सर्वास्तिवादी थे। उनका विचार था कि ग्रनित्य, दुख, शून्य, ग्रनात्मक ग्रीर शान्त (=निर्वाण) के सम्बन्ध में बुद्ध की शिक्षा लोकोत्तर है, क्योंकि यह नि सरण-मार्ग है। सीन्दर-नन्द, सर्ग १७, इलोक १७-२१ का मत सत्यसिद्धि के मत से मिलता है। स्रत , स्रश्वघोष बहुश्रुतिक है। वहुश्रुतिक महासाधिक की शाखा है ग्रौर इसलिए यह महादेव के ५ वस्तुग्रो को स्वीकार करते हैं। इनमें से चतुर्थ के श्रनुसार श्रहंत् पर-प्रत्यय से ज्ञान प्राप्त करते हैं, यह स्पष्ट है कि पर-प्रत्यय के लिए श्रद्धा ग्रत्यन्त भ्रावश्यक है। कोश के ग्रनुसार यह व्यक्ति श्रद्धानुसारी है। जान्सटन का कहना है कि यहाँ हमको मालूम होता है कि श्रश्वघोष श्रद्धा पर क्यो इतना जोर देते हैं। जान्मटन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्रइवघोष वहुश्रुतिक या कौकुलिक है।

तारानाथ के अनुसार मातृचेट अइवघोप का दूसरा नाम है। इत्सिंग का कहना है कि मातृचेट का स्तोत्न अत्यन्त लोकप्रिय था। इत्सिंग ने स्वय इसका चीनी में अनुवाद किया था। सीभाग्य से मध्य एशिया में मूलस्तोत्न का एक वहुत वडा भाग खोज में मिल गया है। मातृचेट अइवघोष के वाद के हैं। इसी प्रकार, 'आर्यशूर', जिनकी जातकमाला प्रसिद्ध है, अइवघोष के ऋणी है। जातकमाला ३४ जातक-कथाओं का सग्रह है। इनमें से लगभग सभी कथाएँ पालिजातक में पाई जाती है। इत्सिंग जातकमाला की भी प्रशसा करता है और कहता है कि इसका उस समय वडा आदर था। अजन्ता की गुफाओं में जातकमाला के दृश्य खचित हैं। आर्यशूर का समय चीथी शताब्दी है।

### ग्रवदान-साहित्य

स्रवदान (पालि = अपदान) शव्द की व्युत्पत्ति स्रज्ञात है, कम-से-कम विवाद-प्रस्त है। ऐसा समझा जाता है कि इसका प्रारम्भिक अर्थ स्रसाधारण, स्रद्भुत कार्य है। स्रवदान-कथाएँ कर्म-प्रावल्य को सिद्ध करने की दृष्टि से लिखी गई है। स्रारम्भ में 'स्रवदान' का कोई भी स्रथं क्यो न रहा हो, यह स्रसन्दिग्ध है कि प्राय इस शव्द का स्रथं कथामात रह गया है। 'महावस्तु' को भी 'स्रवदान' कहा है। स्रवदान-कथास्रो का सबसे प्राचीन सम्रह स्रवदान-शतक है। तीसरी शताव्दी में इसका चीनी-स्रनुवाद हुस्रा था। प्रत्येक कथा के सन्त में यह निष्कर्ष दिया हुस्रा है कि शक्त कर्म का श्रुक्त फल, कृष्ण का कृष्ण, स्रौर व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। इनमें से अनेक स्रवदानों में स्रतीत जन्म की कथा दी है, जिसका फल प्रत्युत्पन्न काल में मिला। किसी-किसी स्रवदान में वोधिसत्त्व की कथा है, इन्हें हम जातक भी कह सकते हैं, क्योंकि जातक में वोधिसत्त्व के जन्म की कथा दी गई है, किन्तु कुछ ऐसे भी स्रवदान हैं, जिनमें स्रतीत की कथा नहीं पाई जाती। कुछ स्रवदान 'व्याकरण' के रूप में हैं, स्र्यांत् इनमें प्रत्यात्र की कथा विर्णत कर स्रनागत फल का व्याकरण किया गया है।

श्रवदान-शतक-हीनयान का ग्रन्थ है। इसके चीनी श्रनुवादको का यह मत नहीं है, किन्तु इसके अन्तरग प्रमाण भी विद्यमान है। सर्वास्तिवाद-श्रागम के परिनिर्वाणसूत तथा श्रन्य सूत्रों के उद्धरण 'श्रवदान-शतक' में पाये जाते हैं। यद्यपि इसकी कथाश्रों में बुद्धपूजा की प्रधानता है, तथापि वोधिसत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता। श्रवदान-शतक की कई कथाएँ भव-दान के श्रन्य सग्रहों में श्रौर कुछ पालि-श्रपदानों भी पाई जाती है।

दिल्यावदान-का सग्रह वाद का है, किन्तु इसमें कुछ प्राचीन कथाएँ भी है। यह मूलत हीनयान का ग्रन्थ है, यद्यपि इसके कुछ ग्रश महायान से सम्बन्ध रखते है। ऐसा विश्वास था कि इसकी सामग्री वहुत कुछ मूलसर्वास्तिवाद के विनय से प्राप्त हुई है। विनय के कुछ ग्रशों के प्रकाशन से (गिलगिट-हस्तिलिखित पोथी, जिल्द ३) यह बात ग्रव निश्चित हो गई है। दिल्यावदान में दीर्घागम, उदान, स्थविरगाथा ग्रादि के उद्धरण प्राय मिलते हैं। दिल्यावदान में विनय से ग्रनेक ग्रवदान शब्दश उद्धृत किये गये हैं। कही-कही बौद्ध भिक्षुग्रो की चर्या के नियम भी दिये गये हैं, जो इस दावे की पुष्टि करते हैं कि दिल्यावदान मूलत विनयग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ की रचना में कोई योजना नहीं दीखती। भाषा और शैली भी एक प्रकार की नहीं है। ग्रिधकाश कथाएँ मरल संस्कृत-गद्य में लिखी गई है। वीच-त्रीच में गाथाएँ उपन्यस्त हैं, किन्तु कुछ ऐसी भी कथाएँ हैं, जिनमें समासान्त पदो का वाहुल्य से प्रयोग किया गया है और प्रौढ काव्य के छन्द व्यवहृत हुए हैं। ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न भाग एक काल के नहीं है। कुछ ऐसे अश है, जो निश्चित रूप से तीसरी शताव्दी (ईसा) से पूर्व के हैं, किन्तु संग्रह चौथी शताव्दी से पूर्व का नहीं हो सकता। 'दीनार' शब्द का प्रयोग वार-वार ग्राता है। इसमें शुंग-वश के राजाओं का भी उल्लेख है। पुन शार्दू ल-कर्णावदान का अनुवाद चीनी-भाषा में सन् २६५ ई० में हुआ था। दिव्यावदान में अशोकावदान और कुमारलात की कल्पनामण्डितिका से अनेक उद्धरण है। दिव्यावदान की कई कथाएँ ग्रत्यन्त रोचक हैं। उपगुप्त और मार की कथा और कुणालावदान इसके अच्छे उदाहरण है।

अवदान-शतक की महायता ने अनेक अवदान-मालाओं की रचना हुई। यथा . कल्प-दुमावदानसाला, अशोकावदानमाला । द्वाविंशत्यवदानमाला भी अवदानशतक का ऋणी है। अवदानों के अन्य सगह भद्रकल्यावदान और विचित्रकर्णिकावदान है। इनमें से प्राय सभी अप्रकाशित हैं। कुछ केवल तिब्बती और चीनी-अनुवाद मिलते हैं।

क्षेमेन्द्र किव की अवदानकल्पलता का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इस ग्रन्थ की समाप्ति सन् १५०२ ई० में हुई । तिब्बत में इस ग्रन्थ का वडा आदर है। इस सग्रह में १०७ कथाएँ है। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्ड ने ग्रन्थ की भूमिका ही नहीं लिखी, किन्तु एक कथा भी अपनी और से जोड दी। यह 'जीमूतवाहन-अवदान' है।

#### महायान-सूत्र

महायान-सूत अनेक है, किन्तु इनमें से कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका विशेष रूप में आदर है। इनकी संख्या ६ है। ये इस प्रकार है—अप्टसाहिस्तकाप्रज्ञापारिमता, मर्द्धमंपुण्डरीक, लिलत-विस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगृह्यक, ममाधिराज और दशसूमीश्वर। इन्हें नेपाल में नवधर्म (धर्मपर्याय) कहते हैं। इन्हें वैपुल्यसूत्र भी कहते हैं। नेपाल में इनकी पूजा होती है।

सद्धमंपुण्डरोक-महायान के वैपुल्य-मूतो का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ सद्धमंपुण्डरोक है। महा-यान की पूर्ण प्रतिष्ठा होने के बाद ही सम्भवत इस ग्रन्थ की रचना हुई। इस ग्रन्थ का सम्पादन सन् १६९२ ई० में प्रो० एच्० कर्न ग्रौर प्रो० वुन्यिउ निजयों ने किया है। 'सर्ह्धमंपुण्डरोक' नाम के बारे में एम्० ग्रनिसाकी कहते हैं — 'पुण्डरोक', ग्रर्थात्, 'कमल' णुद्धता ग्रौर पूर्णता का चिह्न है। पक में उत्पन्न होने पर भी जिस प्रकार कमल उससे उपिलप्न नहीं होता, उसी प्रकार बुद्ध इस लोक में उत्पन्न होने पर भी उससे निर्लिप्त रहते हैं। यह ग्रन्य चीन, जापान ग्रादि महायानधर्मी देशों में बहुत पवित्र माना जाता है। चीनी-भाषा में मूलग्रन्य के छः श्रनुवाद हुए, जिनमें सबने पहला श्रनुवाद ईमवी-सन् २२३ में हुग्रा। धर्मरक, कुमारजीव, ज्ञानगुष्त ग्रौर धर्मगुष्त इन श्राचार्यों के श्रनुवाद भी पाये जाते है। चीनी-परम्परा के श्रनुमार इस ग्रन्थ पर वोधिसत्त्व वसुवन्यु ने सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र-शास्त्र नाम की टीका लिखी थी, जिसका श्रनुवाद वोधिकिच श्रीर रत्नमित ने लगभग ५०६ ई० में चीनी-भाषा में किया था। चीन श्रीर जापान में मद्धर्मपुण्डरीक का कुमारजीव-कृत श्रनुवाद श्रधिक लोकिप्रिय है श्रीर उसपर कई टीकाएँ लिखी गई है। ईसा के ६ १५व वर्ष मे जापान के एक राजपुत्र शी-तोकु-ताय-शि ने इसी ग्रन्थ पर एक टीका लिखी थी, जो श्राज भी वड़े श्रादर से पढ़ी जाती है। सद्धर्मपुण्डरीक का रचनाकाल यद्यपि निश्चित नही है, तथापि उमकी मिश्र-सस्कृत भाषा स्तूप-पूजा, वुद्ध-भिक्त श्रादि का विश्रेष वर्णन देखकर यह कहा जा सकता है कि 'महावस्तु' श्रीर लिलतविस्तर, के वाद, किन्तु ईसा के प्रथम शतक के प्रारम्भ में, इसकी रचना हुई है।

इस ग्रन्थ के ग्रन्तिम मात ग्रध्याय वाद को जोडे गये हैं। यदि हम इनका तथा ग्रन्थ क्षेपक स्थलों का विचार न करे, तो इस ग्रन्थ की रचना एक विशेष पद्धित के ग्रनुसार हुई मालूम पड़ती है। यह महायान -धर्म के विशेष-सिद्धान्तों की एक ग्रच्छी भूमिका है। साहित्य की दृष्टि से भी यह एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है, यद्यपि इसकी ग्रैली ग्राज के लोगों को नहीं पसन्द ग्रायगी। इसमें ग्रितिशयोक्ति है, एक ही बात वार-वार दुहराई गई है। ग्रैजी सिक्षप्त न होकर विस्तार-बहुल है।

मद्धर्मपुण्डरीक में कुल २७ अध्याय है, जिन्हे 'परिवर्त्त' कहा जाता है। पहले निदान-परिवर्त्त मे ग्रन्थ के निर्माण के विषय में कहा गया है कि यह ग्रन्थ 'वैपुल्यसूत्रराज' है.

## वैपुल्यसूत्रराज परमार्थनयावतारनिर्देशम् । सद्धर्मपुण्डरीकं सत्त्वाय महापथं वक्ष्ये ॥

सूत्र का प्रारम्भ इस प्रकार होता है-एक समय भगवान् राजगृह मे गृधकूट-पर्वत पर श्रनेक क्षीणास्रव, त्रोधिसत्त्व, देव, नाग, किन्नर, श्रसुर श्रीर राजा मागध ग्रजातशत्रु से परिवेष्टित हो, 'महानिर्देश' नाम के धर्मपर्याय का उपदेश करके 'ग्रनन्तनिर्देश-प्रतिष्ठान' नामक समाधि में स्थित हुए। उस समय भगवान् के उप्णीष-विवर से रश्मि प्रादुर्भूत हुई, जिससे सभी वृद्धक्षेत्र परिस्फुट हुए। इस भ्राश्चर्य को देखकर मैत्रेय वोधिसत्त्व को ऐसा हुग्रा—'ग्रहो । भगवान् का यह प्रातिहार्य किसी महानिमित्त को लेकर हुग्रा है।' मैंब्रेय वोधिसत्त्व ने मजुश्री वोधिसत्त्व से प्रार्थना की कि वे इसका रहस्य वतावें। मजुश्री वोधिसत्त्व ने वताया कि महाधर्म का श्रवण कराने हेतु, महाधर्म-वर्पा करने की इच्छा से, भगवान् यह प्राति-हार्य वता रहे है । पूर्वकाल मे भी चन्द्र, सूर्य, प्रदीप, नाम के तथागत हुए थे । उन्होने भी श्रावको को चतुरार्यसत्य-सम्प्रयुक्त प्रतीत्यसमुत्पाद-प्रवृत्त-धर्म का उपदेश दिया, जो दु ख का समितिकम करनेवाला था और निर्वाण-पर्यवसायी था। जो वोधिसत्त्व थे, उन्हें पट्पारमिताग्रो का तथा सर्वज्ञानपर्यवसायी धर्म का उपदेश दिया। वे भी महानिर्देश नाम के धर्म-पर्याय का उपदेश करने पर ऐसे ही समाधिस्थ हुए थे । उस समय उनके भी उष्णीप-विवर से ऐसी ही रिष्म प्रादुर्भूत हुई थी ग्रौर उसके वाद उन्होने सर्ववृद्धों के परिग्रह से युक्त, सर्व-बोधिसत्त्वों की प्रशसा से समन्वित महावैपुल्यसूवान्त 'मद्धर्मपुण्डरीक' का उपदेश किया था। श्राज भी भगवान् इस समाधि से व्युत्यित होने पर 'सद्धर्मपुण्डरीक' का उपदेश करेगे।

भगवान् समाधि से व्युत्थित हुए ग्रौर शारिपुत्न को सम्वोधित किया—'हे शारिपुत्न । वृद्धो का ज्ञान, सम्यक् सम्बुद्धो का ज्ञान श्रावक ग्रौर प्रत्येकबुद्धो के लिए दुर्विज्ञेय है। स्व-प्रत्यय से वे धर्म का प्रकाशन करते हैं ग्रौर सत्त्वो के भिन्न-भिन्न स्वभाव के ग्रनुसार विविध उपाय-कौशल्यो के द्वारा उनके दु ख का निवारण करते हैं।' भगवान् के इन वचनो को वहाँ उपस्थित ग्राज्ञातकौण्डिन्य ग्रादि ग्रह्तं, क्षीणास्रव महाधावको ने मुना। उन्हे ग्राश्चर्य हुग्रा कि क्या कारण है कि ग्राज भगवान् विना प्रार्थना किये ही स्वय कह रहे हैं कि वृद्ध-धर्म दुरनुवोध है ? भगवान् ने जो विमुक्ति वतलाई है, उस विमुक्ति को—निर्वाण को—तो हमने प्राप्त ही किया है। भगवान् कै से कहते हैं कि बृद्ध-ज्ञान हमारे लिए दुर्विज्ञेय है शारिपुत्न ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे ग्रहंतो के कुतूहल का, शका का, निवारण करे। भगवान् ने कहा—शारिपुत । सुनो, मैं कहता हूँ।

भगवान् के मुख से ये शब्द निकलते ही उस परिषद् से पाँच हजार ग्राभिमानिक भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक ग्रौर उपासिकाएँ ग्रासन से उठकर भगवान् को प्रणाम करके चले गये।

तब भगवान् ने कहा— अच्छा हुम्रा शारिपुत । स्रव सघ शुद्ध है। सुनो। हे शारिपुत । तथागत का सघभाष्य दुर्वोध्य है। नाना निरुक्ति ग्रौर निदर्शनो से ग्रौर विविध उपाय-कौशल्यो से मैंने धर्म का प्रकाशन किया है। सद्धमं तर्क-गोचर नहीं है। तथागत सत्त्वों को ज्ञान का प्रतिवोध कराने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। यह महाकृत्य एक ही यान पर ग्रिधिठत होकर बुद्ध करते हैं। यह यान है 'बुद्धयान'। इससे अन्य कोई दूसरा या तीसरा यान नहीं है। नाना ग्रिधमुक्तियों के लिए श्रौर नाना धात्वाशय के सत्त्वों के लिए विविध उपाय-कौशल्य है, किन्तु उन सभी उपाय-कौशल्यों का पर्यवसान बुद्धयान में ही है। यह बुद्धयान ही सर्वज्ञता-पर्यवसान, तथागत-ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति, उसका सदर्शन, अवतरण ग्रौर प्रतिबोधन करनेवाला है। ग्रतीत, ग्रनागत ग्रौर वर्त्तमान तीनो काल में तथागतों ने बुद्धयान ही स्वीकृत किया है। हे शारिपुत । जब सम्यक् सम्बुद्ध क्लेश, दृष्टि, सक्षोभ ग्रौर श्रकुशलमूल के वाहुल्य से युक्त सत्त्वों के बीच पैदा होते हैं, तब बुद्धयान का ही तीन यानों के रूप में निर्देश करते हैं। इसलिए, हे शारिपुत्र । जो श्रावक, ग्रह्त् या प्रत्येकबुद्ध ही है। इसलिए, हे शारिपुत्र । तुम विश्वास करों कि एक ही यान है 'बुद्धयान'

एक हि यान द्वितीय न विद्यते
""तृतिय हि नैवास्ति कदाचि लोके।
एकं हि कार्यं द्वितीयं न विद्यते
न हीनयानेन नयन्ति बुद्धा ।। (२-५५)

यह दूसरा उपाय-कौशल्य-परिवर्त है। भगवान् का यह उपदेश सुनकर शारिपुत ने प्रमुदित होकर भगवान् को प्रणाम किया श्रौर कहा—"भगवन्। श्रापका यह घोष सुनकर मैं श्राप्त्वर्य-चिकत हूँ। हे भगवन्। मैं वार-वार खिन्न होता हूँ कि मैं हीनयान में क्यो प्रविष्ट हुग्रा। श्रनागत काल में बुद्धत्व प्राप्त करके धर्भोषदेश करने का मौका मैने गँवाया। किन्तु, भगवन्।

तव ग्रायुष्मान् महाकाश्यप ने भगवान् से पूछा — "भगवन् । यदि तीन यान वास्तव में नहीं है, तो श्रावक, प्रत्येकवुद्ध ग्रीर वोधिमत्त्व यह तीन प्रज्ञप्तियाँ क्यो है ?"

भगवान् ने कहा—"हे काश्यप । जिस प्रकार कुम्भकार एक ही मृत्तिका से अनेक भाजन बनाता है, उनमें से कोई गुड-भाजन, कोई घृत-भाजन ग्रीर कोई क्षीर-भाजन होता है। इससे मृत्तिका का नानात्व तो नही होता, किन्तु द्रव्यप्रक्षेपमाद्र से भाजनो का नानात्व होता है। इसी प्रकार हे काण्यप । बुद्धयान ही वास्तव मे एक यान है, दूसरा या तीसरा कोई यान नही है।"

तव श्रायुष्मान् महाकाण्यप ने पूछा-"भगवन् । यदि सत्तव नानाधिमुक्त है श्रीर वे वैद्यातुक में नि मृत है, तो क्या उसका एक ही निर्वाण है या दो या तीन है ?" भगवान् ने कहा- 'काण्यप । मर्वधर्म-समताववोध में ही निर्वाण होता है। वह एक ही हैं, दो या तीन नहीं।" महाकाश्यप ग्रादि स्थविरों का यह वचन सुनकर भगवान् ने कहा—"साधु, साधु, महाकाण्यप । तुमने ठीक ही कहा है । हे काश्यप । तथागत धर्मस्वामी, धर्मराज ग्रीर प्रभु है । वे सर्वधर्मी का युक्ति से प्रतिपादन करते हैं। जिन प्रकार इस विसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु में पृथ्वी, पर्वत श्रीर गिरि-कन्दरों में उत्पन्न हुए जितने तुण, गुल्म, श्रोपिध श्रीर वनस्पितयाँ है, उन सबको महाजल मेघ समकाल में वारिधारा देता है, वहाँ यद्यपि एक धरणी पर ही तरुण एव कोमल तृण, गुल्म, ग्रोपधियाँ ग्रीर महाद्रुम भी प्रतिष्ठित है ग्रीर वे एक तोय से ग्रिम-प्यन्दित है, तथापि अपने-अपने योग्यतानुरूप ही जल लेते है और फल देते है। ठीक उसी प्रकार जब तयागत इस लोक में उत्पन्न होकर धर्म-वर्षा करते है, तब बहसहस्र सत्त्व उनसे धर्मश्रवण करने ग्राते हैं। तथागत भी उन सत्त्वों के श्रद्धादि इन्द्रिय, वीर्य ग्रौर परापरवैमान्नता को जानकर मिन्न-भिन्न धर्मपर्यायो का उपदेश करते है। सत्त्व भी यथावल यथास्थान सर्वज्ञधर्म में अभियुक्त होते हैं। जिस प्रकार मेघ एक जल है, उसी प्रकार तथागत जिम धर्म का उपदेश देते हैं, वह सर्वधर्म एकरस है—विमुक्तरस, विरागरस, निरोधरस ग्रीर सर्वज्ञ-ज्ञान-पर्यवसान है। इस सर्वज-ज्ञान-पर्यवसान धर्म का उपदेश देते ममय तथागत श्रोताग्रो की हीन, मध्यम श्रीर उत्कृप्ट श्रिधमुक्ति को भी जानते हैं। इसलिए काण्यप । मैं निर्वाणपर्यवसान, नित्यपरिनिवृत्त, एकभूमिक और त्राकाशगतिक त्रिधमुक्ति को जानकर, सत्त्वों के रक्षण के लिए महसा मर्वज्ञान को प्रकाशित नहीं करता। इसलिए, तुम मेरे आज के उपदेण को दुर्विज्ञेय मानते हो। इसलिए हे काण्यप । वोधि की प्राप्ति ही वास्तविक प्राप्ति है।"

प्रज्ञामच्यव्यवस्थानात्प्रत्येकजिन उच्यते । शून्यज्ञानिवहीनत्वाच्छ्रावक सम्प्रभाष्यते ॥ सर्वधर्माववोधात्तु सम्यक्सम्बुद्ध उच्यते। तेनोपायशर्तनित्यं वर्म देशित प्राणिताम् ॥ ( ५।२-५३ )

यह श्रोपधी-परिवर्त्त नाम का पचम परिवर्त्त है।

व्याकरण-परिवर्त्त नाम के छठे परिवर्त्त में अनेक श्रावकयान के स्थविरों के बारे में व्याकरण किया गया है। बुद्ध कहते हैं कि "श्रावक नाष्यप मिवण्य में 'रिश्मप्रभाम' नाम के तथागत होंगे, स्थविर मुमृति 'शिशवेनु' नाम के तथागत होंगे, महाकात्यायन 'जाम्बूनदप्रभाम' नाम के तथागत होगे ग्रीर स्थविर महामौद्गल्यायन 'तमालपत्रचन्दनगन्ध' नाम के तथागत होगे।" इत्यादि।

नाम के तथागत का ग्रीर उनकी चर्या का वर्णन है। पचिभक्षुशतव्याकरण-परिवर्त्त मे पूर्ण मैतायणीपुत ग्रादि ग्रनेक भिक्षुग्रो की बुद्धत्व-प्राप्ति का व्याकरण किया गया है । नवम व्याकरण-परिवर्त्त मे आयुष्मान् आनन्द, राहुल आदि दो सहस्र श्रावको के बारे मे भी वुद्धत्व-प्राप्ति का व्याकरण है। दशम धर्मभागक-परिवर्त्त मे भगवान् कहते है कि इस परिषद् मे जिस किसी ने इस धर्मपर्याय की एक भी गाथा सुनी हो या एक चित्तोत्पाद से भी इसकी अनुमोदना की हो, वे सभी श्रनागत काल मे बुद्धत्व को प्राप्त करेंगे। एकादश स्तूपसन्दर्शन-परिवर्त्त में वताया गया है कि इस धर्मपर्याय के उपदेश के बाद भगवान् के सामने ही परिषद् के मध्य से एक सप्तरत्नमय स्तूप अभ्युद्गत हुआ और अन्तरिक्ष मे प्रतिष्ठित हुआ। भगवान् ने कहा—"हे वोधिसत्त्व । इस महास्तूप में तथागत का शरीर स्थित है, उसी का यह स्तूप है। इस परिवर्त्त मे भगवान् के स्रनेक प्रातिहार्य बताये गये है, जो अद्भुत धर्म है । इस स्तूप में भी बुद्ध का एक विश्वरूपदर्शन जैसा दर्शन प्राप्त होता है। उसका दर्शन सागर-नागराज की कन्या को हुन्रा, जिसने परमभक्ति से श्रपनी महार्घ-मणि भगवान् को समर्पित किया। उसी क्षण सर्वलोक के सामने उस नागकन्या का स्त्रीन्द्रिय ग्रन्तर्हित हुग्रा ग्रौर पुरुषेन्द्रिय प्राप्त हुग्रा । वह वोधिसत्त्व के रूप मे स्थित ,हुई ।" बारहवे उत्साह-परिवर्त्त में अनेक वोधिसत्त्व और भिक्षु भगवान् से कहते हैं—''भगवन् । आप इस धर्मपर्याय के विषय में ग्रल्पोत्सुक हो। हम तथागत के परिनिवृत्त होने पर इस धर्मपर्याय को प्रकाशित करेंगे । यद्यपि भगवन् । ग्रनागत काल मे सत्त्व परीत्तकुशल-मूल ग्रीर ग्रधिमुक्ति-विरहित होगे, तथापि हम शान्तिवल को प्राप्त करके इस सूत्र को धारण करेंगे, उपदेश करेंगे, उसे लिखेगे। अपने काय और जीवित का उत्सर्ग करके भी हम इस सूत्र का प्रकाशन करेगे। भगवान् इस विषय में श्रल्पोत्सुक, निश्चिन्त हो।"

उस समय महाप्रजापती गोतमी ग्रीर भिक्षुणी राहुल-माता यशोधरा उसी परिपद् में दु खी होकर बैठी थी कि भगवान् ने हमारे वारे में बुद्धत्व का व्याकरण क्यो नही किया। भगवान् ने उनके चित्त का विचार जानकर कृपा से उनका भी व्याकरण किया।

सुखिवहार-परिवर्त्त नाम के त्रयोदश परिवर्त्त में भगवान् वताते हैं कि जो वोधिसत्त्व श्राचारगोचर में प्रतिष्ठित हो, सुख-स्थित हो, धर्मप्रेम से पूर्ण हो और मैं त्री-विहार से युक्त हो, ऐसा ही वोधिसत्त्व इस धर्मपर्याय का उपदेश करने योग्य है।

चतुर्दश वोधिसत्त्व-पृथिवी-विवर-समुद्गम-परिवर्त्त में गगानदीवालुकोपम सख्या के वोधिसत्त्वो का दर्शन होता है। तथागतायुष्प्रमाण-परिवर्त्त नामक पन्द्रहवे परिवर्त्त में वुद्ध के लोकोत्तर भाव का परिचय मिलता है।

वहाँ भगवान् कहते है—''हे कुलपुत्रो । लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् शाक्यमुनि ने शाक्यकुल से ग्रिभिनिष्क्रमण करके गया मे वोधिमण्ड के नीचे ग्रनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति की है। हे कुलपुत्र । ऐसा नहीं है। ग्रनेक कोटि कल्पो के पहले ही मैने सम्यक् सम्बोधि की

प्राप्ति की हैं। जब से मैंने इस लोकधातु में सत्त्वों को धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया है, तब से प्राजतक मैंने जिन सम्यक् सम्बुद्धों का परिकीर्त्तन किया है, दीपकर प्रभृति तथागतों के निर्वाण का जो वर्णन किया है, वह सब मैंने उपाय-कौशल्य से धर्मदेशना के लिए ही किया है। जो सत्त्व ग्रल्पकुशलमूल-सयुक्त है, उन्हें मैं कहता हूँ कि मैं दहर हूँ, ग्रभी ही मैंने सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति की है। यह मेरा कहना केवल सत्त्वों के परिपाचनार्थ ही है। सत्त्वों के विनय के लिए ही ये सर्वधमंपर्याय है। सत्त्वों के ही उपकार के लिए तथागत ग्रात्मालम्बन या परालम्बन से उपदेश देते हैं। किन्तु, तथागत ने सत्य का दर्शन किया है कि यह बैंधातुक न भूत है, न ग्रभूत, न सत् है, न ग्रसत्, न सत्तार है, न निर्वाण। वस्तुत, भगवान् चिरकाल से ग्रमिसम्बुद्ध है ग्रीर ग्रपरिमित ग्रायु में स्थित है। तथागत ग्रपरिनिवृंत्त है, केवल बैनेयवश होकर परिनिर्वाण को वताते है। यह वताने से वे लोग बीर्यारम्भ में उत्साहित होते है। इसीलिए, मैं परिनिर्वाण को प्राप्त न होते हुए भी परिनिर्वाण को प्राप्त होता हूँ। यह मृपावाद नही है, यह महाकरणा है।''

सोलहवाँ पुण्यपर्याय-परिवर्त्त है। मलहवाँ शनुमोदना-पुण्यनिर्देश-परिवर्त्त है। उसमे कहा है कि जो उस सूत्र की श्रनुमोदना करेगा, वह शकासन और ब्रह्मासन का लाभी होगा। ग्रट्ठारहवे धर्मवाणकानुगम-परिवर्त्त मे इस सूत्र के धर्मभाणक के गुणो का वर्णन है। उन्नीसवे सदापरिभूत-परिवर्त्त में इस सूत्र के निन्दको के विपाक बताये गये है। वीमवा तथागत-धर्माभि-सम्कार-परिवर्त्त है। डवकीयवें घारणी-परिवर्त्त में इस धर्मपर्याय की रक्षावरणगुप्ति के लिए ग्रनेक धारणी-मन्त्र दिये गये है । वाईसवे भैपज्यराज-पूर्वयोग-परिवर्त्त मे भैपज्यराज बोधि-सत्त्व की चर्या का वर्णन है। तेईसवे गद्गद्म्वर-परिवर्त्त में गद्गदस्वर वोधिसत्त्व का सवाद है। चीवीमवें समन्तमुख-परिवर्त्त मे अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की महिमा का अद्भुत वर्णन है। भिनतमार्ग की चरम कोटि यहाँ मिलती है। पच्चीमवे शुभ-व्यूहराज-पूर्वयोग-परिवर्त्त में शुभव्यूह नाम के राजा की कथा है। छट्यीमवे समन्तभद्रोत्माहन-परिवर्त्त मे वताया गया है कि समन्तभद्र नामक अन्य वृद्धक्षेत्र वोधिमत्त्व सद्धर्मपुण्डरीक के श्रवण के लिए गृद्धकूट-पर्वत पर आता है। श्रन्तिम परिवर्न का नाम है श्रनुपरीन्दना-परिवर्त । मद्धमंपुण्डरीक का उपदेश करने पर भगवान् धर्मामन से उठे ग्रीर उन्होंने मभी वोधिमत्त्वो का सम्बोधन करके कहा—"हे कुलपुत्नो। ग्रसरप करों में मम्यादित इस मम्यक्-मम्बोधि को मैं तुम्हें सीपता हूँ।" वह जैसे विपुल श्रीर विस्तार को प्राप्त हो, ऐसा करो । नभी वोधियत्त्वो ने भगवान् का श्रभिनन्दन किया । यहाँ सद्धमं-पुण्डरीकमूब ममाप्त होता है।

सद्धमंपुण्यरीतमृत्व के दम सक्षिप्त अवलोकन से महायान वौद्धधमं का हीनयान से गम्बन्ध म्पष्ट होता है। जारिपुत्र, मौद्गत्यायन जैसे धुरीण म्थविर अहंतो को बुद्धयान की दीक्षा देने वे लिए भगवान् ने यह द्वितीय धमंचक्रप्रवर्त्तन किया है। पालिग्रन्यों में भगवान् का उपदेण दो प्राप्त का बनाया जाना है। एक केवल जीलकथा, दानकथा आदि उपासकोचित धमं की जाना है, दूसरी 'गामुक्किसका धम्मदेसना' है, जिसमें चतुरायंमत्य का उपदेश है,

जो भिक्षु होने योग्य व्यक्तियो को दिया जाता है। सद्धर्मपुण्डरीक मे चतुरार्यसत्य की देशना स्रोर सर्वज्ञ-ज्ञान-पर्यवसायी देशना—ये दो देशनाएँ हैं। यह द्वितीय देशना भगवान् ने शारिपुत्र को पहले ही क्यो नही दी ? इसका उत्तर यह है कि यह भगवान् का उपायकीशल्य है। द्वितीय देशना ही परमार्थ-देशना है। इस द्वितीय धर्मचक्र-प्रवर्त्तन मे शारिपुत्र ग्रादि सभी महास्थिवर ग्राह्तो को तथा महाप्रजापती गोतमी ग्रादि स्थिवरात्रो को ग्राश्वासन दिया गया है कि वे सभी भविष्य मे बुद्धत्व को प्राप्त होगी। हीनयान में उपदिष्ट धर्म भी बुद्ध का ही है। उसे एकान्ततः मिथ्या नही कहा है। वह केवल उपाय-सत्य है। परमार्थ-सत्य तो बुद्धयान ही है। इस प्रकार, महावस्तु ग्रीर लिलतिवस्तर मे ही हम भगवान् का लोकोत्तर स्वरूप देखते हैं। सद्धमेंपुण्डरीक मे यह स्वरूप ग्रिधक स्पष्ट होता है।

सद्धर्मपुण्डरीक मे यद्यपि बुद्धयान ग्रौर तथागत की महिमा का प्रधान वर्णन है तथापि इस ग्रन्थ के कुछ ग्रध्यायों में ग्रवलोकितेश्वर ग्रादि बोधिसत्त्वों को वुद्ध के तुल्य स्थान दिया गया है। समन्तमुख-परिवर्त्त नाम के चौबीसवें परिवर्त्त में ग्रवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की महाकरुणा का ग्रद्भुत वर्णन है। ग्रन्य बोधिसत्त्व ग्रौर ग्रवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व में ग्रन्तर यह है कि ग्रवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व ने बोधि की प्राप्ति की है, किन्तु जवतक ससार का एक भी सत्त्व दुख में बद्ध रहेगा, तवतक निर्वाण प्राप्त न करने का उनका सकल्य है। वास्तव में वे बुद्ध ही है, किन्तु जिस प्रकार ग्रन्य बुद्ध निर्वाण को यथासमय प्राप्त होते हैं, उस प्रकार ग्रवलोकितेश्वर निर्वाण में प्रवेश न करेगे। वे सदा वोधिसत्त्व की साधना से सम्पन्न हैं। इससे उनकी श्रेष्ठता कम नही होती। सद्धर्मपुण्डरीक में कहा है—

यच्य कुलपुत्रं द्वाषष्ठीनां गङ्गानदीवालुकासमाना बुद्धाना अगवता सरकारं कृत्वा पुण्या-भिसंस्कारो यद्यावलोकितेक्वरस्य वोधिसत्त्वस्य भहासत्त्वस्यान्तद्या एकमपि नमस्कारं कुर्या-न्नामवेयं च धारयेत्ससोऽनधिकोऽनितरेक पुण्याभिसंस्कार उभयतो भवेत् ।

( सद्धर्म ०, परिवर्त्त २४ )

श्रवलोकितेश्वर वोधिसत्त्व का नाममात्र भी अनेक दु खो और श्रापदाश्रो से रक्षण करता है। महान् श्रग्निस्कन्ध से, वेगवती नदी के भय से, समुद्र-प्रवास के समय कालिकावात से रक्षण करने की शक्ति एकमात्र श्रवलोकितेश्वर के नामोच्चारण मे है। श्रवलोकितेश्वर की भिक्ति में वोधिसत्त्व-उपामना का प्रवल प्रारम्भ हम देखते हैं।

कारण्ड-च्यूह—कारण्ड-च्यूह नाम के एक महायानमूल में इस वोधिसत्त्व की महिमा का मान है। इसे गुण-कारण्ड-च्यूह भी कहते हैं। यह ग्रन्थ गद्य ग्रीर पद्य दोनों में मिलता है। गद्य कारण्ड-च्यूह को मत्यव्रतसामध्यमी ने ई० १८७३ में प्रकाणित किया था। पद्य कारण्ड-च्यूह में एक विशेष सिद्धान्त का उल्लेख है। मद्धमंपुण्डरीक में ही गातमबुद्ध की, ग्रनेक कल्पों के पहले ही, वीतरागता या बुद्धत्व की प्राप्ति का वर्णन मिलता है। पद्य कारण्ड-च्यूह में 'ग्रादिबुद्ध' की कल्पना मिलती है। योगदर्णन के नित्यमुक्त ग्रीर सर्वज ईश्वर की कल्पना से यह कल्पना मिलती-जुलती है। इतना ही नही, यह ग्रादिबुद्ध जगत् का कर्ता भी है। समस्त विश्व के

प्रारम्भ में 'स्वयम्भू' या 'ग्रादिनाथ' नाम के 'ग्रादिवुद्ध' प्रकट हुए ग्रौर उन्होने समाधि से विश्व को निर्मित किया। उनके सत्त्व में से ग्रवलोकितेश्वर की उत्पत्ति हुई, जिसके शरीर से देवो को सृष्टि हुई। यहाँ हमें पुराणो का-सा वर्णन दृष्टिगोचर होता है। मैंत्रेयनाथ ग्रपने महायानसूत्रालकार (६१७७) में कहते हैं कि 'ग्रादिवुद्ध' कोई नहीं है। इस खण्डन से, ग्रनुमान होता है कि ग्रादिवुद्ध की कल्पना ईसा की चौथी शती से पहले की है। ग्रवलोकितेश्वर भित्त-मम्प्रदाय इस समय में खूब प्रचित्ति था। इसका प्रमाण यह है कि चीनी पर्यटक फाहियान ने (जो ईसा की चौथी शती में भारत ग्राया था) लका से चीन जाते समय समुद्र-प्रवास में तूफान से वचने के लिए ग्रवलोकितेश्वर की प्रार्थना की थी। ग्रवलोकितेश्वर के ग्रनेक चित्र ग्रौर मूर्त्तियाँ मिली है, जिनका समय ५वी शती के समीप का माना जाता है। इस पद्य-ग्रन्थ का तिब्बती-ग्रनुवाद नही मिलता है, किन्तु गद्य-कारण्ड-व्यूह का तिब्बती-भाषान्तर ईमवी-सन् ६१६ में हुग्रा था, जिसमें ग्रादिवुद्ध का उल्लेख नहीं है।

कारण्ड-व्यूह में अवलोकितेश्वर की महाकरुणा के अनेक वर्णन हैं। वह अवीचि नरक में जाकर नारिकयों को दुंख से बचाती हैं। वह प्रेत, भूत तथा राक्षसों को भी सुख पहुँचाती हैं। अवलोकितेश्वर केवल करुणामूर्त्ति ही नहीं है। वह सृष्टि का स्रष्टा भी है। उनका रूप विराट् है। उसकी आँखों से सूर्य और चन्द्र, भ्रू से महेश्वर, भुजाओं से ब्रह्मन् आदि देव, हृदय से नारायण, अन्त्य दन्तों से सरस्वती, मुख से मरुत्, पैरों से पृथिवी और पेट से वरुण उत्पन्न हुए हैं। उसकी उपासना स्वर्गापवर्ग की प्रापक है। कारण्ड-व्यूह में हम तन्त्र और मन्त्रों को भी पाते हैं। 'ऊँ मणिपद्में हु' यह पडक्षर मन्त्र, जो आज भी तिव्वत में प्रतिष्ठा-प्राप्त हैं, पहली वार कारण्ड-व्यह में मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार मणिपद्मा अवलोकितेश्वर की अर्घांगिनी है। इस प्रकार, कारण्ड-व्यूह में हमें आदिवृद्ध, स्रष्टा-वृद्ध और मन्त्र-तन्त्रों से समन्वित बौद्धधर्म का और भित्तमार्ग का दर्शन होता है।

ग्रक्षोभ्य-च्यूह एव करुणा-पुण्डरीक—'ग्रक्षोभ्यव्यूह' ग्रौर 'करुणा-पुण्डरीक' नाम के ग्रौर दो सूल-ग्रन्थो में ग्रनुक्रम मे वृद्ध ग्रक्षोभ्य ग्रौर पद्मोत्तर के लोको का वर्णन मिलता है। ये दोनो ग्रन्थ ईसा की चौथी शती के पहले चीनी-भाषा में ग्रनूदित हुए थे। वोधिसत्त्व ग्रवलोकितेश्वर से मम्बद्ध एक वृद्ध है, जिन्हे ग्रमिताभ कहते है।

मुखावती-च्यूह—सुखावती-च्यूह नामक महायान-सूत्र में वृद्ध ग्रमिताभ के सुखावती लोक का वर्णन है। सस्कृत में इसके दो ग्रन्थ उपलब्ध है। एक ग्रन्थ विस्तृत है ग्रीर दूसरा सिक्षप्त। पहले का प्रकाणन ग्रीर ग्रँगरेजी-भाषान्तर मैक्समूलर ने, दूसरे का फेच-भाषान्तर भी जापानी विद्वानों ने किया।

'पुण्यसम्भार' की कल्पना मुखावती-व्यूह में ग्रधिक प्रवल है। सुखावती, यह बौद्धों का नन्दनवन है, जहाँ वृद्ध श्रमिताभ का, जिन्हे श्रमितायु भी कहते हैं, राज्य है। जो व्यक्ति पुण्यसम्भार को प्राप्त करके मृत्यु के समय वृद्ध श्रमिताभ का चिन्तन करना है, वह इस वृद्धलोक की प्राप्त होता । इस बुद्धलोक में नरक, प्रेत, ग्रसुर ग्रौर तिर्यं च-लोक का ग्रभाव है। वहाँ सदाकाल दिन है, रान्नि नहीं है। सुखावती में गर्भज जन्म नहीं है। वहाँ सभी सत्त्व ग्रौपपादुक है ग्रौर कमलदल से उद्भूत है। यहाँ के सत्त्व पाप से सर्वथा विरत है ग्रौर प्रज्ञा से सयुक्त है।

दीर्घ सुखावती-व्यह के कुल बारह भापान्तर चीनी-भाषा में हुए थे, जिनमें से ग्राज केवल पाँच ही चीनी-व्रिपिटक में उपलब्ध हैं। इनमें से सबसे पुराना भाषान्तर ई० सन् १४७ ग्रीर १८६ के बीच का है। तक्षिप्त सुखावती-यूव्ह का चीनी-भापान्तर कुमारजीव, गुणभद्र ग्रीर युग्रान-च्वाग ने किया था। 'ग्रमितायुर्ध्यानसूत' नामक एक ग्रीर ग्रन्थ चीनी-भाषा में उपलब्ध है, जिसमें सुखावती को प्राप्त करने के लिए ग्रनेक ध्यानों का वर्णन है। शताब्दियों से ये तीन ग्रन्थ चीन ग्रीर जापान के ग्रमितायु के उपासक बौद्धों के पविद्र ग्रन्थ माने जाते हैं। वहाँ ग्राज भी ग्रमिद के नाम से ग्रमितायु की पूजा प्रचलित है ग्रीर जापान में जोडो-शुग्रीर शिन्-शुये दो बौद्ध सम्प्रदाय केवल ग्रमितायु के ही उपासक है।

श्रायंबुद्धावतसक—बोधिसत्त्व-उपासना का परम प्रकर्ष हम 'श्रायंबुद्धावतसक' नाम के महायान-सूत्र में पाते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख महाव्युत्पत्ति (६४।४) में ग्राता है। चीनी-विपिटक ग्रीर तिव्बती-काजुर में ग्रवतसक-साहित्य पाया जाता है। इस नाम का एक बौद्धनिकाय ईसा की छठी शती में उत्पन्न हुग्रा। उसी का यह पवित्र ग्रन्थ है। जापान का केगोन (kegon)-निकाय भी इसे मान्यता देता है। चीनी-परम्परा के ग्रनुसार छ भिन्न-भिन्न ग्रवतसक-सूत्र थे, जिनमें छत्तीस हजार से लेकर एक लक्ष गाथाग्रो का सग्रह है। इनमें से छत्तीस हजार गाथाग्रो का चीनी-भाषान्तर बुद्धभद्र ने ग्रन्य भिक्षुग्रो के सहयोग से ई० ४९८ में किया था। शिक्षानन्द ने ४५,००० गाथा-ग्रन्थ का भाषान्तर सातवी शती में किया था। ग्रवतसक-सूत्र मूल सस्कृत में ग्रभी उपलब्ध नहीं है। किन्तु 'गण्ड-ब्यूह-महायानसूत्र' नामक ग्रन्थ सस्कृत में मिला है, जो चीनी-ग्रवतसक-सूत्र से मिलता जुलता है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन डॉक्टर सुजूकी ने कियोटो से सन् १९३४ ई० में किया था।

गण्ड-व्यूह—वोधिसत्त्व-उपासना के ग्रध्ययन में गण्ड-व्यूह-महायानसूत्र महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार है। एक समय भगवान् श्रावस्ती के जेतवन में महाव्यूह-कूटागार में विहार करते थे। उनके साथ समन्तभद्र, मजुश्री ग्रादि प्रमुख पाँच हजार वोधिसत्त्व थे। ये सभी वोधिसत्त्व 'समन्तभद्र-बोधिसत्त्व-चर्या' में प्रतिष्ठित थे। वे सर्वज्ञाता ज्ञानाभिलापी थे। उन्होंने इच्छा की कि भगवान् उन्हें 'पूर्वसर्वज्ञता-प्रस्थान' ग्रादि ग्रनेक चर्याएँ तथा 'तथागत-सर्व-सत्त्वदेशनानुशासनी प्रातिहार्य' ग्रादि ग्रनेक प्रातिहार्य वताये। तव भगवान्—मिहविजृम्भित नाम की समाधि में समाहित हुए ग्रौर उसी समय ग्रवर्णनीय प्रातिहार्य दिखलाई पडे। जिन्हें देखने के लिए ग्रागे दिणाग्रो के सहस्रो वोधिसत्त्व वहाँ ग्राकर उपस्थित हुए। वहाँ उपस्थित मभी वोधिसत्त्वो ने इस महान् प्रातिहार्य को देखा। वही पर शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप ग्रादि

प्रमुख महाश्रावक उपस्थित थे। लेकिन वे इस ग्रद्भुत प्रातिहार्य को देख न सके। जिस प्रकार गगा महानदी के दोनो तीर पर सँकड़ो प्रेत क्षुत्पिपासा से पीडित होकर भ्रमण करते है, किन्तु उस गगानदी के जल को नहीं देख सकते, या देखते भी है, तो उसे निरुदक ग्रीर भाष्क ही देखते हैं, उसी प्रकार वे स्थविर महाश्रावक जेतवन में स्थिर होने पर भी सर्वज्ञताविपक्षिक ग्रविद्या के पटल के कारण तथा सर्वज्ञताभूमि-कुशलमूल के ग्रपरिग्रह के कारण तथागत के उस महान् प्रातिहार्य को देख न सके। तव समन्तभद्र वोधिमत्त्व ने उस वोधिमत्त्व-परिषद् को भगवान् की इस महान् समाधि और प्रातिहार्य का प्रकाणन और उपदेश किया। तब भगवान् ने उन वोधिमत्त्रों को मिह-विजृम्भित समाधि में सनियोजन करने के हेतु श्रूविवरान्तर के उर्णकोश से 'धर्मधातु-समन्तद्वार-विज्ञप्नि-स्यघ्वावभास' नामक रशिम निश्चारित किया, जिससे दसो दिणात्रों के सर्वलोक आतु का अवशासन हुआ। उन वोधिसत्त्वों ने बुद्धानुभाव से वहीं बैठकर दसो दिशाओं के लोकधातु का विशव दर्शन किया। तब उन्होंने दशदिग्लोकधातु में सहस्रो वोधिसत्त्वो को देखा, जो सर्वसत्त्वो को महाकरुणा से प्लावित करते थे। कोई बोधिसत्त्व श्रमण रूप से, कोई ब्राह्मण रूप से, कोई विणक रूप से, कोई वैद्य. नर्त्तक या अन्य शिल्पाधार रूप से मवंग्राम, निगम, नगर, जनपद, राष्ट्रो मे अनन्त सत्त्वो के हित के लिए प्रवत्त थे। सत्त्वपरिपाक-विनय के हेतु से ये वोधिसत्त्वचर्या में प्रवृत्त थे। तव मजुश्री वोधिमत्त्व भी ग्रनेक देव, देवता ग्रीर बोधिसत्त्वों के परिवार के साथ ग्रपने विहार से निकले श्रीर भगवान् की पूजा करके सत्त्वपरिपाक के हेतु दक्षिणापथ की ग्रोर विहार करने लगे।

तव आयुष्मान् शारिपुत्र ने बुद्धानुभाव से मजुश्री वोधिसत्त्व की कृपा से इस विहार को देखा और भगवान् को प्रणाम कर साठ भिक्षुओं के साथ उन्होंने मजुश्री वोधिसत्त्व का अनुगमन किया। प्रवाम में शारिपुत्र ने मजुश्री वोधिसत्त्व की महान् विभृति की प्रशासा की। जैसे-जैसे शारिपुत्र उनका गुणकी र्त्तन करते, वैसे-वैसे उन साठ भिक्षुओं के चित्त प्रसाद को प्राप्त होते थे। बुद्धधमों में उनके चित्त परिणत हुए। उन्होंने मजुश्री के चरणों को प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की कि उनकों भी इस वोधिमत्त्व-विभृति की प्राप्ति हो।

तव मजुश्री वोधिसत्त्व ने उन भिक्षुग्रो को कहा—भिक्षुग्रो । दस प्रकार के चित्तोत्पाद के समन्वागम से महायान-सम्प्रस्थित कुलपुल तथागतभूमि को प्राप्त होता है। सर्व-तथागत-दर्णन-पर्यु पामन ग्रीर पूजा-स्थान में, सर्वकुणल-मूलो के उपचय में, सर्वधर्म-पर्येषण में सर्ववोधिसत्त्व-पार्रिमताप्रयोग में, सर्ववोधिसत्त्व-समाध-परिनिष्पादन में, सर्व-श्रध्यपरम्परावतार में दणदिवसर्व-वृद्धक्षेत्र-समुद्रम्फरणपरिशुद्धि में, सर्वसत्त्वधानुपरिपाकविनय में, सर्वक्षेत्रकल्प-द्रोधिमन्वचर्या-निर्हार में, सर्ववृद्धक्षेत्र-परमाणुरज समपारिमताप्रयोग से एक करके सर्वमत्त्व धानुग्रो को परि-मोचन करनेवाले वल के निष्पादन में जो कुलपुत्र प्रमादयुवन चिनीत्पाद करता है, वही तथागतभूमि को प्राप्त होना है।

मज्यी से उम धमनय को सुनकर वे निक्षु— सर्ववृद्धविदर्शनासगविषय' नाम के समाधि को प्राप्त हुए। उसके अनुभाव से उन्होंने दसो विणाओं के तथागता का और मत्त्वों का

दर्शन किया। उन लोकधातुत्रों के प्रत्येंक परमाणु तक का उन्हें दर्शन हुआ। इस प्रकार, सर्वबुद्धधर्मों की परिनिष्पत्ति में वे भिक्षु प्रतिष्ठित हुए।

तब मजुश्री बोधिसत्त्व ने उन भिक्षुग्रो को सम्यवसम्बोधि मे प्रतिष्ठित करके दक्षिणापथ के धन्याकर नाम के महानगर की ग्रोर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर उन्होने 'धर्मधातु-नयप्रभास' नाम के सूत्रान्त का प्रकाशन किया। वहाँ उनकी परिपद् मे सुधन नाम का एक श्रेष्ठिपुत्र बैठा था। उसने मजुश्री बोधिसत्त्व से इस सूत्रान्त को सुना। ग्रनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि की ग्रभिलाषा से उसका चित्त व्याकुल हुग्रा ग्रीर उसने मजुश्री के पास बोधिसत्त्व-चर्या की पूर्त्ति के उपदेश की प्रार्थना की।

मजुश्री ने सुधन श्रेष्ठिपुत का साधुकार किया ग्रौर कहा—साधु । साधु । कुलपुत । यह ग्रिभनन्दनीय है कि तुमने ग्रनुत्तरा सम्यक् सम्वोधि मे चित्त उत्पन्न किया है ग्रौर ग्रव बोधिसत्त्व-मार्ग को पूर्ण करना चाहते हो । हे कुलपुत । सर्वज्ञता-परिनिष्पत्ति का ग्रादि ग्रौर निष्यन्द है—कल्याण-मित्रो का सेवन, भजन ग्रौर पर्यु पासन । इसी से हे कुलपुत । वोधिसत्त्व के 'समन्तभद्रचर्यामण्डल' की परिपूर्णता होती है । हे कुलपुत । इसी दक्षिणापथ के रामावर्त्तन्त जनपद मे सुग्रीव नाम का पर्वत है । वहां मेघश्री नाम का भिक्षु है । तुम उसके पास जाकर बोधिसत्त्वचर्या को पूछो, वह कल्याणिनत्र तुम्हे 'समन्तभद्रचर्यामण्डल' का उपदेश देगा ।

श्रार्य सुधन ने मजुश्री से विदा ली ग्रौर मेघश्री के पास पहुँचा। मेघश्री ने उसे सागर-मेघ नामक भिक्षु के पास ग्रन्य जनपद मे भेजा। इस प्रकार, करीब पचास भिन्न-भिन्न जगहो पर सुधन ने भिन्न-भिन्न कल्याणिमत्नो की पर्यु पासना की । प्रत्येक कल्याणिमत्न ने उसका ग्रिभनन्दन करके उसे बोधिसत्त्वचर्यां मे एक-एक श्रेणी ग्रागे वढाया। ग्रपनी-ग्रपनी साधना वताई। भारतवर्ष के कोने-कोने मे त्रार्य सुधन ने इस प्रकार चक्रमण किया। उसने वृद्धमाता माया से श्रीर बुद्धपत्नी गोपा से भी भेंट की। गोपा से उसने जो प्रश्न पूछे है, वे बहुत ही गम्भीर है। उसने गोपा को ग्रजलिवद्ध होकर कहा—"ग्रार्ये । मैने ग्रनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि में चित्त उत्पाद किया है, किन्तु बोि सत्त्व ससार में ससरण करने पर भी ससार-दोपों से किस प्रकार लिप्त नही होते, यह मै नही जानता । श्रार्ये । वोधिसत्व सर्वधर्म-समता-स्वभाव को जानते है पर श्रावक-प्रत्येक-बुद्धभूमि मे पतित नहीं होते । वे बुद्धधर्मावभास-प्रतिलब्ध होते है, किन्तु वोधिसत्त्वचर्या का व्यवच्छेद नही करते हैं। बोधिसत्त्व-भूमि मे प्रतिष्ठित होकर भी तथागतविषय को मन्दर्शित करते हैं। सर्वलोक-गति से समितिकान्त होते हैं और सर्वलोक-गतियों में विचरण भी करते हैं। धर्मकायपरिनिष्पन्न होते हुए भी अनन्तवर्ण और रूपकाय का अभिनिर्हार करते है। धर्मपरायण होते हुए भी सर्ववर्णसस्थान-युक्त स्वकाय का दर्शन देते हैं। ग्रनिभलाप्य सर्वधर्म-स्वभाव को प्राप्त होते हुए भी सर्ववाक्पय-निरुक्ति-उदाहारों से सत्त्वों को धर्म की देशना देते हैं, सर्वधर्मों को नि सत्त्व जानते हुए भी सत्त्व धातुविनयप्रयोग से निवृत्त नही होते । मर्व-धर्मो को ग्रनुत्पाद-ग्रनिरोध कहते हुए भी मर्वतथागत-पूजोपस्थान से विग्त नहीं होते । सर्वधर्मी

को अकर्म-अविपाक मानते है, परन्तु कुशल-कर्माभिसस्कार-प्रयोग से विरत नहीं होते। आर्ये । वोधिसत्त्वचर्या से इस आण्चर्यकारक विरोध को मैं नहीं जान पाता हूँ। आर्ये । आप मुझे इसका उपदेश दें।''

श्रार्य सुधन के ये प्रश्न शून्यवाद श्रीर वोधिसत्त्व-यान के परस्पर सम्बन्ध के बारे में बहुत ही मार्मिक है। गोपा से उसे उत्तर नहीं मिला। कल्याणिमत्न की खोज में धूमते-घूमते वह श्रन्त में समुद्रकच्छ नामक जनपद में वैरोचनव्यू हालकार नामक विहार के कूटागार में मैत्रेय वोधिसत्त्व के दर्शनार्थ उपस्थित हुशा। उसने मैत्रेय का दर्शन किया श्रीर कहा—श्रार्थ में श्रृनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि में श्रिभसम्प्रस्थित हुँ, किन्तु वोधिसत्त्वचर्या को नहीं जानता हुँ। श्रार्थ श्रापक बारे में व्याकरण हुश्रा है कि श्राप सम्यक् सम्बोधि में केवल एक-जातिप्रतिवद्ध है। श्रार्थ जो एक-जातिप्रतिवद्ध है, उसने सर्ववोधिसत्त्व-भूमियों को प्राप्त किया है, वह उस सर्वज्ञ ज्ञानविषय में श्रिभिवन्त हुश्रा है। जो सर्व-बुद्धधर्मों का प्रभव है। श्रार्थ श्राप ही मुझे वोधिसत्त्वचर्या को वताने में समर्थ है।

तव स्रार्य मैं तेय ने स्रार्य सुधन की भूरि-भूरि प्रशसा की स्रौर वोधिचित्तोत्पाद का माहात्म्य वताकर कहा-- 'कुलपुत । तुम वोधिसत्त्वचर्या को जानने के लिए उत्सुक हो, तो इस वैरोचनव्यूहालकारगर्भ के महाकूट के अभ्यन्तर में प्रवेश करके देखो। वहाँ तुम जानोगे कि किस प्रकार वोधिसत्त्रचर्या की पूर्त्ति होती है और उसकी परिनिष्पत्ति क्या है।" त्रनुभाव से मुधन ने उस कूटागार में विराट् दर्शन किया । सब सत्त्वलोको के बुद्धो का श्रीर वोधिसत्वो का उसे दर्शन हुमा। यह सारा वर्णन म्रत्यन्त रोमाचकारी है। धर्म के विकास में, भिक्त-परम्परा में, बौद्धधर्म में, इन विराट् दर्शनो की वाढ-सी ग्राई है, जिसका परम प्रकर्ष हम यहाँ देख सकते हैं। उसे देखकर सुधन स्तिमित हुग्रा। यह सारा प्रातिहार्य ग्रार्य मैत्रेय का ही अनुभाव था। आर्य मैं त्रेय ने उसे समाधि से उठाकर कहा-"कुलपुत्र । यही धर्मी की धर्मता है। मायास्वप्नप्रतिभासोपम यह सारा विश्व है। कुलपुत्र । तुमने ग्रभी वोधिसत्त्व के 'सर्वस्यध्वारम्वणज्ञानप्रवेशासम्मोपस्मृतिच्यूहगत' नाम के विमोक्ष को ग्रीर उसके समाधि-प्रीति-सुख को प्राप्त किया है। कुलपुत्र । वोधिसत्त्वो की गति है। वह अचलनास्थान गति है। वह भ्रनालया-निकेतन गति है, वह ग्रच्युत्युपपत्ति गति है। वह ग्रस्थानमकान्ति गति है। वह ग्रचलना-न्त्यान गति है। वह अकर्मविपाक गति है। वह अनुत्पादानिरोध गति है। वह अनुच्छेदाशाण्यत गति है। ऐसा होने पर भी हे कुलपुत्र । वोधिसत्त्व की गति महाकरुणा-गति है। महामैती-गति है, शीलगति है, प्रणिधानगति है, अनिसस्कार-गति है, अनायह-वियुह-गति है, प्रज्ञोपायगित है भीर निर्वाणसन्दर्शनगति है। हे कुलपुत्र । प्रज्ञापारिमता वीधिसत्त्वो की माता है, उपायकीशस्य पिता है, दानपारिमता स्तन्य है, शीलपारिमता घाली है, क्षान्तिपारिमता भूषण है, वीर्यपारिमता सवर्द्धिका है, ध्यानपारमिता चर्याविशुद्धि है, कल्याणिमत्र उसका णिक्षाचार्य है, बोध्यग उसके महायक है, वोधिगत्त्व उमके माई है, वोधिचित्त उमका कुल है। इममे हे कुलपुत्र । वोधिगत्त्व वालप्याजनभूमि को अवकान्त करके तथागतभूमि में प्रतिपन्न होता है।"

'हे कुलपुत्र । मैंने तुझे सक्षेप मे बताया है। परन्तु हे कुलपुत्र । तुम वोधिसत्त्वचर्या के बारे में उसी कल्याणिमत्र मजुश्री के पास जाग्रो ग्रीर प्रश्न करो। वह मजुश्री वोधिसत्त्व परमपारिमता-प्राप्त है।"

तब सुधन ने परमभिक्त मे मजुश्री की प्रार्थना की। दस हजार योजन परदूर स्थित मजुश्री वोधिसत्त्व ने महाकरुणा से प्रेरित हो उसके मस्तक पर अपना आशीर्वाद-हस्त रखकर उसका अभिनन्दन किया। उसे असख्य धर्म मे प्रेतिष्ठित किया, अनन्तज्ञानमहावभास को प्राप्त कराया, अपर्यन्तवोधिसत्त्व-धारणी प्रतिभान-समाधि-अभिज्ञाज्ञान से विभूपित किया और उसे समन्तभद्रचर्यामण्डल में प्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार, गण्डव्यूह में हम वोधिसत्त्व-उपासना का स्रित सुन्दर वर्णन देखते हैं। भाषा, वर्णनशैली श्रीर कथाभाग की दृष्टि से यह ग्रन्थ श्रद्भुत है। लिलतिवस्तर, सद्धर्भपुण्डरीक, कारण्डव्यूह, सुखावतीव्यूह श्रीर गण्डव्यूह में हम वोधिसत्त्व-उपासना का प्रकर्प देखते हैं। वोधि-मत्त्वयान में गण्डव्यूह ने कलश चढा दिया है। श्राण्चर्य नहीं कि यह ग्रन्थ 'श्रवतसकसूत्र' के नाम से ही परिचित है।

रत्नकूट—ग्रवतसकसूत के समान ही चीनियों का एक ग्रीर मौलिक ग्रन्थ है, जिसे 'रत्नकूट' कहते हैं। तिव्वती-कान्जुर में भी यह सगृहीत है। यह ४६ सूत्रों का एक सग्रह-ग्रन्थ है, जिसमें 'ग्रद्धोभ्यव्यूह, मजुश्री-बुद्धक्षेत्र-गुणव्यूह, वोधिसत्त्व-पिटक, पितापुत्त-समागम, काश्यप-परिवर्त्त, राष्ट्रपालपरिपृच्छा श्रादि अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ सम्मिलित हैं। तारानाथ के ग्रनुसार 'रत्नकूट-धर्मपर्याय' नाम का ग्रन्थ (जिसमें एक सहस्र ग्रध्याय थे) किनष्क के पुत्र के समय में रचा गया था। इसके कुछ मौलिक संस्कृत-भाग खुतन के समीप मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'रत्नकूट' ग्रौर 'काश्यप-परिवर्त्त' एक ही ग्रन्थ है ग्रौर रत्नकूट में ग्रन्थ ग्रन्थों का सग्रह बाद में हुग्रा है।

काश्यप-परिवर्त — में भगवान् का भिक्षु महाकाश्यप से सवाद है। वोधि सत्त्वयान ग्रीर शून्यता का इसमें वार-वार उल्लेख ग्राता है। एक जगह पर तो यहाँ तक कहा है कि तथागत से भी वोधि सत्त्व की पूजा ग्रधिक फलप्रद है। "हे काश्यप िजम प्रकार प्रतिपदा के चन्द्र की विशेष पूजा होती है, पूर्णिमा के चन्द्र की विशेष पूजा नहीं होती, उसी प्रकार मेरे अनुयायियों को चाहिए कि वे तथागत से भी विशेष पूजा वोधि सत्त्व की करें। क्यों कि, तथागत वोधि सत्त्वों से ही उत्पन्न होते हैं।"

काश्यप-परिवर्त्त का चीनी-अनुवाद ई० सन् १७८ ग्रौर १८४ के वीच किया गया था, ऐसी मान्यता है। 'रत्नकूट' में अनेक परिपृच्छाएँ सगृहीत है।

परिपृच्छा-ग्रन्थ—राष्ट्रपालपरिपृच्छा मे दो परिवर्त्त है। प्रथम परिवर्त्त का नाम निदान-परिवर्त्त है। एक समय भगवान् राजगृह मे गृधकूट पर श्रनेक वोधिसत्त्वो के परिवार में धर्मदेशना देते थे। उस समय प्रामोद्यराज नाम के वोधिसत्त्व ने भगवान् की स्तुति की श्रीर श्रनिमेष नयनो से तथागत-काय को देखते हुए गम्भीर, दुरवगाह दुदंर्श, दुरनुवोध्य, ग्रतक्यं, सर्कापगत, शान्त, सूक्ष्म धर्मधातु का उसे विचार ग्राया । उसने देखा कि वृद्ध भगवान् ग्रनालयगगन-गोचर है। ग्रनावरण-वृद्धविमोक्ष की उमने ग्रिभलाषा की। भगवान् वृद्ध का काय ध्रुव, शिव ग्रौर शाश्वत है। वह सर्वसत्त्वाभिमुख ग्रौर सर्ववृद्धक्षेत्र-प्रसरानुगत है। इस गम्भीर धर्म का ग्रवलोकन करके वह तूष्णीम्भूत हुग्रा ग्रौर धर्मधातु का ही विचार करने लगा।

तब श्रायुष्मान् राष्ट्रपाल श्रावस्ती से त्रैमास्य के श्रत्यय पर भगवान् के दर्शन के लिए श्राया। श्राभिवादन कर उसने भगवान् को वोधिमत्त्वचर्या के वारे में प्रश्न किया। भगवान् ने उसे वोधिसत्त्वचर्या का उपदेश किया। यह सारा उपदेश पालि-श्रगुत्तरनिकाय का श्रनुसरण है। हे राष्ट्रपाल वार धर्मों से समन्वागत वोधिसत्त्व परिशुद्धि को प्राप्त होता है। कीन से चार श्रम्याशयप्रतिपत्ति, सर्वसत्त्वसमिचत्तता, शून्यताभावना श्रीर यथावादितथाकारिता। इन चार धर्मों से समन्वागत वोधिमत्त्व परिशुद्धि का प्रतिलाभ करता है। इमी प्रकार श्रन्य कई धर्मों का उपदेश इम ग्रन्थ मे श्राया है। प्रथम परिवर्त्त के श्रन्त में भगवान् ने भविष्य का व्याकरण किया है कि वृद्धशासन विकृत होगा श्रीर भिक्षु श्रसयमी वनेंगे। यह व्याकरण हमें पालि की थेरगाथा में श्राये हुए व्याकरणों की याद दिलाता है। ग्रनात्मवाद को मानकर चलने में तव भी कितनी कठिनाई थी, यह निम्नािकत श्लोको से प्रतीत होता है—

यत्रात्म नास्ति न जीवो देशित पुद्गलोऽपि न कथंचित्। व्यर्थ श्रमोऽत घटते यः शीलप्रयोग संवरिक्रया च।। यद्यस्ति चैव महायानं नात्र हि श्रात्मसत्त्व मनुजो वा। व्यर्थ. श्रमोऽत्र हि कृतो मे यत्र न चात्मसत्त्वउपलिब्धः।। दितीय परिवर्त्त में पृण्यरिम नाम के राजकूमार की जातक-कथा है।

'राष्ट्रपालपरिपृच्छा' का चीनी-भाषान्तर ई० ६८६ श्रीर ५६२ के बीच में हुश्रा था। इस ग्रन्थ का प्रकाणन एल्० फिनो ने मन् १६०१ ई० में किया है। उरगपरिपृच्छा, उदयन-वत्स-राज-परिपृच्छा, उपालिपरिपृच्छा, चन्द्रोत्तरा-दारिका-परिपृच्छा, नैरात्म्यपरिपृच्छा श्रादि श्रनेक मवाद-ग्रन्थ भी उपलब्ध है, जिनका उल्लेख 'शिक्षाममुच्चय' में मिलता है।

वशभूमीश्वर—को भी ग्रवतनक का एक भाग ममझा जाता है। इस ग्रन्थ में दश-भूमियों का वर्णन है, जिनसे बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। 'महावस्तु' में इम सिद्धान्त का पूर्वरूप मिलता है। 'दशभूमक' इस सिद्धान्त का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का चीनी-ग्रनुवाद धर्मरक्ष ने मन् २९७ ई० में किया था।

### प्रज्ञापारमितासूत्र

महायान के वैपुल्यसूत्रों में दो प्रकार के ग्रन्थ पाये जाते है। एक में युद्ध, बोधिसत्व, वुद्धयान, की महत्ता वतलाई गई है। लिलतिविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक ग्रादि ग्रन्थ इस प्रकार के है। दूसरा प्रकार उन ग्रन्थों का है, जिनमें महायान के मुख्य सिद्धान्त 'शून्यता' या 'प्रज्ञा' की महत्ता वताई गई है। ऐसा ग्रन्थ है 'प्रज्ञापारिमतासूत्त'। एक ग्रोर शून्यता ग्रीर दूसरी ग्रीर महाकरुणा, इन दो सत्यों का समन्वय करने का प्रयत्न प्रज्ञापारिमतासूत्र में दिखाई

देता है। ग्रागे चलकर 'बोधिचर्यावतार' मे ग्रार्थ णान्तिदेव ने इसी समन्वय को व्यवस्थित किया है।

महायान-साहित्य में प्रज्ञापारिमता-सूत्रो का स्थान महत्त्व का है। इन्हें हम ग्रागम-ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इनकी सवाद-शैंली प्राचीन है। दूसरे महायान-ग्रन्थो में बुद्ध प्राय किसी बोधिसत्त्व से सवाद करते हैं। यहाँ बुद्ध, सुभूति नामक स्थविर से प्रश्न करते हैं। शून्यता के बारे में इन ग्रन्थो में सुभूति ग्रीर शारिपुत्र इन दो स्थविरो का सवाद बहुत ही तात्त्विक ग्रीर गम्भीर है। प्रज्ञापारिमता-सूत्रो की रचना भी प्राचीन है। ई० १७६ में प्रज्ञापारिमता-सूत्र का चीनी-भाषान्तर हुग्रा था, जिससे सम्भव है कि ख्यिस्तपूर्व काल में ही इनकी रचना हुई हो।

नेपाली परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारिमता-महायानसूत्र सवा लाख श्लोको का था श्रीर क्रमश घटाकर लक्ष, पच्चीस हजार, दस हजार श्रीर ग्राठ हजार श्लोको का सूत्र-ग्रन्थ वना । दूसरी परम्परा के अनुसार मूलग्रन्थ ग्राठ हजार श्लोको का था, जिसे 'ग्रष्टसाहिस्रका प्रज्ञापार-मिता, कहते हैं । उसी को बढाकर ग्रनेक परिमता-ग्रन्थ वनाये गये । यह परम्परा ग्रधिक ठीक जँचती है । शुग्रान-च्वाग ने ग्रपने 'महाप्रज्ञापारिमतासूत्र' मे बारह भिन्न-भिन्नप्रज्ञा-पारिमतासूत्रो का ग्रनुवाद किया है । चीनी ग्रीर तिव्वती-भाषा मे इसके ग्रीर भी ग्रनेक प्रकार है, जिसमें एक लक्ष श्लोको से लेकर 'एकाक्षरी प्रज्ञापारिमता' भी सगृहीत है । सस्कृत मे ये ग्रन्थ उपलब्ध है-१ शतसाहिस्रका प्रज्ञापारिमता, २ पर्चिवशितसाहिस्रका प्रज्ञापारिमता, ३ ग्रष्ट साहिस्रका प्रज्ञापारिमता, ४ सार्घदिसाहिस्रका प्रज्ञापारिमता, ५ सप्तशितका प्रज्ञापारिमता ६ वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारिमता, ७ श्रल्पाक्षरा प्रज्ञापारिमता, ५ प्रज्ञापारिमताहृदयसूत्र । इन सभी ग्रन्थो में श्रष्टसाहिस्रका प्रज्ञापारिमतासूत्र ही सबसे प्राचीनतम है, जिनका वर्णन हम यहाँ करेगे ।

श्रष्टसाहिस्रका प्रज्ञापारिमता—ग्रन्थ के कुल वत्तीस परिवर्त्त है। प्रथम परिवर्त्त का नाम है सर्वाकारज्ञताचर्या-परिवर्त्त । ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—''ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान् राजगृह में गृधकूट पर सार्धवयोदशणत ग्रहंतो से परिवारित हो विराजमान थे। उस सभा में ग्रायुष्मान् ग्रानन्द को छोडकर, शेष सभी ग्रहंत् कृतकृत्य थे। उस सभा में भगवान् ने ग्रायुष्मान् सुभूति से कहा—''हे सुभूति । तुम्हें वोधिसत्त्व महासत्त्वो की प्रज्ञापारिमता की पूर्णता के बारे मे प्रतिभान हो।'' भगवान् के इस वचन को सुनकर ग्रायुष्मान् शारिपुत्र के मन में सन्देह हुग्रा—क्या स्थिवर सुभूति ग्रपने सामर्थ्य से यह प्रतिभान करेगे या वृद्धानुभाव से रिस्थितर सुभूति ने उनके मन की वात वृद्धानुभाव से जानकर कहा—''ग्रायष्मान् शारिपुत्र ! जो कुछ भी श्रावक भाषण करते हैं, उपदेश करते हैं, या प्रकाणन करते हैं, वह सर्वथा तथागत का ही पुरुषकार है, क्योंकि हे शारिपुत्र । धर्मता के ग्रविलोम जो कुछ श्रावक कहेगे, वह बुद्धानुभाव ही है, बुद्धो से ही प्रथम उपदिष्ट हैं।"

तव ग्रायुष्मान् सुभूति ने भगवान् को ग्रजलिबद्ध होकर कहा—"भगवन् ! वोधिसत्त्व-वोधिसत्त्व ग्रौर प्रज्ञापारिमता-प्रज्ञापारिमता, ऐसा कहा जाता है; किन्तु भगवन् । किम धर्म का यह ग्रधिवचन है ? मै ऐसे किसी धर्म को नहीं देखता हूँ, न जानता हूँ, जिसे मैं वोधिसत्त्व कह सकूँ या जिसे प्रज्ञापारिमना कह सकूँ।" ऐसा होने पर भी चित्त में विषाद न लाकर प्रज्ञापारिमता की भावना करने हुए भी, वोधिसत्त्व को चाहिए कि वह वोधिचित्त को परमार्थत न माने, क्योंकि वह चित्त अचित्त है, चित्त की प्रकृति प्रभास्वर है। ('तत्कस्य हेतो ? तथाहि तिच्चित्त-मिचित्त प्रकृतिश्चित्तस्य प्रभास्वरा')।

तव शारिपुत्र ने कहा—"वया ग्रायुष्मन् सुभूति । ऐसा भी कोई चित्तं है, जो ग्रचित्त हो ?" मुभ्ति ने कहा—"वया ग्रायुष्मन् शारिपुत्र ! जो ग्रचित्तता है, उस ग्रचित्तता में ग्रस्तिता या नास्तिता की उपलब्धि होती है ?"

णारिपुत्र ने कहा---"नही । ग्रायुष्मन् । यह 'ग्रचित्तता' क्या है ?"

मुभूति ने कहा—"ग्रायुष्मन् । यह ग्रवित्तता ग्रविकार ग्रविकल्प है।" ('ग्रविकारा-युष्मन् ग्रविकल्पाऽचित्तता')।

सुभूति का वचन सुनकर शारिपुत ने साध्वाद किया कि हे आयुष्मन् । श्रावकभूमि में भी, प्रत्येकवृद्धभूमि में भी और वोधिसत्त्वभूमि में भी जो शिक्षा-काय है, उसे इसी प्रज्ञापारिमता का प्रवर्त्तन करना चाहिए। इसी प्रज्ञापारिमता में सर्ववोधिसत्त्व-धर्म उपदिष्ट है। उपायकौशल्य में इसी का योग करणीय है।

तव सुभूति ने भगवान् से फिर कहा—"भगवन् । मैं वोधिमस्व का कोई नामधेय भी नहीं जान मकता हूँ, क्योंकि नामधेय भी अविद्यमान है। वह न स्थित है, न अस्थित है, न विष्ठित है, न अविष्ठित है। और, यह भी है भगवन् । कि प्रज्ञापारिमता में विचरण करते हुए वोधिसस्व को न रूप में, न वेदना में, न मज्ञा में, न सस्कार में, न विज्ञान में स्थित होना चाहिए। क्योंकि, वह यदि रूप में स्थित होता है, तो रूपाभिमस्कार में ही स्थित होता है, प्रज्ञापारिमता में स्थित नहीं होता। इसलिए, प्रज्ञापारिमता की पूर्त्ति करने के इच्छुक वोधिसस्व को 'सर्वधर्मापरिगृहीत' नामक अप्रमाणिनयत और अमाधारण गमाधि की प्राप्ति करनी चाहिए। वह रूप का तथा सज्ञा ..विज्ञान का परिग्रह नहीं करता। यही उसकी प्रज्ञापारिमता है। वह प्रज्ञा को विना पूर्ण किये अन्तरापरिनिर्वाण को भी प्राप्त नहीं करता, जवतक कि वह दम तथागतवलों से अपरिपूर्ण हो। यह भी उसकी प्रज्ञापारिमता है। और, यह धर्मता भी है कि रूप रूपस्वभाव से विरहित है, वेदना वेदना-न्वभाव से ... विज्ञान विज्ञानस्वभाव से विरहित है। प्रज्ञापारिमता भी प्रज्ञापारिमता-स्वभाव से विरहित है। स्वभाव भी स्वभाव से विरहित है। लक्षण भी लक्षण-स्वभाव से विरहित है। स्वभाव भी स्वभाव से विरहित है।"

तव श्रायुप्मान् शारिपृत्र ने सुमूति से प्रण्न किया—"क्या श्रायुप्मन् । जो बोधिसत्त्व यहाँ शिक्षित होगा, वह मर्वजता को प्राप्त होगा ?"

मुमूति ने कहा—"जो वोधिमत्त्व इम प्रज्ञापारिमता में शिक्षित होगा, वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा। क्यो, हे आवुष्मन् ने सर्वधमं अज्ञात है, अनिर्यात है। ऐसा जानने पर वोधिमत्त्व मर्वज्ञता के प्राप्त होता है। जैमे-जैसे वह सर्वज्ञता के धामग्न होता है, वैसे-वैमें वह सत्त्व-परिपाचन, कायिनतपरिणुद्धि, लक्षणपरिणुद्धि, बुद्धिक्षेत्रणुद्धि और बुद्धों से ममवधान करता है। इस प्रकार, हे आयुष्मन्। प्रज्ञापारिमता में विहार करने से सर्वज्ञता आस्त्र होती है।"

तब ज्ञारिपुत्र ने भगवान् से प्रश्न किया—''भगवन् ! इस प्रकार शिक्षा पानेवाला बोधिसत्त्व किस धर्म में शिक्षा प्राप्त करता है ?"

भगवान् ने कहा—"शारिपुत्रं। इस प्रकार शिक्षा पानेवाला किसी भी धर्म मे शिक्षा नहीं पाता। क्यो, हे शारिपुत्र । धर्म वैसे विद्यमान नहीं है, जैसे वाल ग्रीर पृथग्जन उसमें ग्रिभिनिविष्ट है।"

शारिपुत्न ने पूछा— 'भगवन् । धर्म कैसे विद्यमान है ?" भगवान् ने कहा—"जिस प्रकार वे सविद्यमान नहीं है, उस प्रकार वे सविद्यमान है, श्रविद्यमान है, इसलिए कहा जाता है कि यह श्रविद्या है। उसमें वाल ग्रौर पृथग्जन ग्रिभिनिविष्ट है। उन्होंने ग्रविद्यमान सर्वधमों की कल्पना की है। वे उनकी कल्पना करके दो अन्तो से सकत होते हैं, श्रतीतानागत—प्रत्युत्पन्न धर्मों की कल्पना करते हैं श्रौर नानारूपों में श्रभिनिविष्ट हैं। इस कारण वे मार्ग को नहीं जानते। यथाभूत मार्ग को विना जाने वे तैधातुक से मुक्त नहीं होगे, ग्रौर न वे भूतकोटि को जानेंगे। इसलिए वे वाल ग्रौर पृथग्जन है। जो वोधिसत्त्व है, वह किसी भी धर्म मे श्रभिनिवेश नहीं करता। हे शारिपुत्त । वह बोधिसत्त्व सर्वज्ञता में भी शिक्षित नहीं होता ग्रौर इसी कारण सर्वधर्मों में शिक्षित होता है, सर्वज्ञता को प्राप्त होता है।"

तव त्रायुष्मान् सुभूति ने भगवान् से प्रश्न किया—"भगवन् । जो ऐसा पूछे कि वया मायापुरुष सर्वज्ञता मे शिक्षित होगा ? सर्वज्ञता को प्राप्त होगा ? ऐसे पूछे जाने पर क्या उत्तर दिया जाय ?"

भगवान् ने कहा—"सुभूति । मैं तुमसे ही प्रश्न करता हूँ, क्या वह माया अलग है, श्रीर रूप अलग है ? सज्ञा विज्ञान अलग है श्रीर माया अलग है ?'' सुभूति ने कहा—"नहीं भगवान् । रूप ही माया है, माया ही रूप है। विज्ञान ही माया है, माया ही विज्ञान है।" भगवान् ने कहा—"तो क्या सुभूति, यही, इन पाँच उपादान-स्कन्धो में ही क्या यह सज्ञा, प्रज्ञप्ति-व्यवहार नहीं है कि यह बोधिसत्त्व है ?" सुभूति ने कहा—"भगवन् । ठीक ऐसा ही है। भगवान् ने रूपादि को मायोपम कहा है। यह पचोपादान-स्कन्ध ही मायापुरुप है। किन्तु, भगवन् । नवयानसम्प्रस्थित बोधिसत्त्वों को यह उपदेश सुनकर सन्त्रास होगा। क्योंकि, भगवन् । फिर वोधिसत्त्व, क्या पदार्थ है ? उसे क्यों महासत्त्व कहा जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"सुभूति । वोधिसत्त्व पदार्थं ग्रपदार्थं है । सर्वधर्मों में ग्रसक्तना में ही यह शिक्षित होता है । उसी से वह सम्यक् सम्वोधि को ग्रभिसम्बुद्ध करता है । वोध्यर्थं से वह बोधिसत्त्व महासत्त्व कहा जाता है । महान् सत्त्वराशि में, महान् मत्त्वनिकाय में वह ग्रग्रता को प्राप्त करता है, इसलिए वह महासत्त्व है।"

तव शारिपुत ने कहा—"भगवन् । मैं मानता हूँ कि ग्रात्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, जीव-पुद्गल-भव-विभव-उच्छेद-शाश्वत ग्रौर सत्कायदृष्टि ग्रादि महती दृष्टियो के प्रहाण के लिए धर्म का उपदेश करता है, इसलिए वोधिसत्त्व महामत्त्व कहा जाता है।"

तव सुभूति ने कहा-"भगवन् । वोधिचित्त जो सर्वज्ञताचित्त है, ग्रनास्रव है ग्रीर

सर्वश्रावकप्रत्येक-वृद्धो के चित्तो मे ग्रसाधारण है। ऐसे महान् चित्त में भी ग्रनासक्त ग्रीर ग्रपर्यापन्न होने से वह वोधिसत्त्व महासत्त्व कहा जाता है।"

णारिपुत्र ने पूछा--- "ग्रायुष्मन् सुभूति । क्या कारण है कि ऐसे महान् चित्त मे भी वह ग्रनासक्त ग्रीर ग्रपर्यापन्न है ?"

सुभूति ने कहा-"हे शारिपुत्र । इसलिए कि वह चित्त ग्रचित्त है।"

तव पूर्ण मैं वीयणीपुत्र ने कहा--''भगवन् । महासन्नाहसन्नद्ध होने से, महायान में सम्प्रस्थित होने से सत्त्व महासत्त्व कहा जाता है ।"

भगवान् ने कहा—''सुभूते । यह महामन्नाद्धमम्बद्ध इसलिए है कि उमका ऐसा प्रणिधान है—'ग्रप्रमेय सत्त्वो का मुझे परिनिर्वापण करना है।' वह उन ग्रसख्येय मत्त्वो का परिनिर्वापण करता है। वास्तव मे सुभूते। ऐसा कोई सत्त्व नही है, जो परिनिर्वृत्त हो या परिनिर्वृत्त कराता हो। सुभूते। यह धर्मों की धर्मता है कि सभी मायाधर्म है। जिस प्रकार कोई यक्ष मायाकार महान् जनकाय का निर्माण करके उसका ग्रन्तर्द्धान करे, लेकिन उससे न कोई जन्म पाता है, न मरता है, न नष्ट होता है, न ग्रन्तर्हित होता है, उसी प्रकार हे सुभूते। वह बोधिसत्त्व ग्रप्रमेय सत्त्वों को परिनिर्वृत्त करता है, तथापि न कोई निर्वाण को प्राप्त होता है, न कोई निर्वाण का प्राप्त है।''

तव सुभूति ने कहा — "तव तो भगवान् के भाषण का ग्रथं यह है कि बोधिसत्त्व ग्रसन्नाह-सन्नद्ध ही है ?"

भगवान् ने कहा-"ठीक ऐसा ही है, सुभूते । मर्वज्ञता अकृत है, अविकृत है, अनिभ-सस्कृत है। वे सत्त्व भी अकृत है, अविकृत है, अनिभस्कृत है, जिनके लिए यह वोधिसस्व सन्नाहसन्नद्ध है। क्यो ? निर्माण को प्राप्त होनेवाला और प्रापक ये दोनो धर्म अविद्यमान है।"

तव मुभूति ने भगवान् से कहा—"भगवन् । महायान—महायान कहते हैं । महायान क्या पदार्य है ? भगवन् । मैं मानता हूँ कि आकाणसम होने से, अतिमहान् होने से यह महायान कहा जाता है । इसका न आगम देखा जाता है, न निर्गम । इसका स्थान मिवद्यमान नहीं है । इसका पूर्वान्त, मध्यान्त या अपरान्त भी अनुपलव्य है । यह यान सम है, इसिलए यह महायान है । भगवन् । महायान नाम का कोई पदार्थ नहीं है । 'वृद्ध' यह भी एक नामधेयमान है, वोधिसत्त्व, प्रज्ञापारिमता यह भी नामधेय मान है । " और ऐना क्यो ? भगवन् । जब वोधिसत्त्व इन रुपादि धर्मों की प्रज्ञापारिमता में परीक्षा करता है, तब रूप न प्राप्त होता है न नष्ट होता है, न वह रूप का उत्पाद देखता है, न विनाश देखता है । ( इमी प्रकार अन्य स्कन्ध भी) क्यो ? जो रूप का अनुत्पाद है वह रूप नहीं है, जो रूप का अव्यय है, वह भी रूप नहीं है । इस प्रकार में अनुत्पाद और रूप तथा अव्यय और रूप ये दोनो अद्वय है, ग्रहैं घीकार है ।"

तव ग्रायुष्मान् णारिपुत्र ने कहा—"ग्रायुष्मान् मुभूति । ग्रापकी देणना के ग्रनुमार बोधिमत्त्व भी ग्रनुत्पाद है । ऐमा होने पर वह बोधिमत्त्व दुष्कर चारिका करने के लिए गरो उत्साहित होगा ?" श्रीयुष्मान् सुभूति ने कहा—"श्रायुष्मन् शारिपुत्र । मैं नही चाहता कि वोधिसत्त्व दुष्कर चारिका करे या दुष्कर सज्ञा को प्राप्त करे । दुष्कर सज्ञा से श्रप्रमेय श्रीर श्रसख्येय सत्त्वो की श्र्यंसिद्धि नही होती । इसलिए, उस वोधिसत्त्व को सर्वसत्त्वो मे सुखसज्ञा, मातृ-पितृमज्ञा उत्पन्न करनी चाहिए श्रीर श्रात्मविसर्जन करना चाहिए । ऐसा होने पर श्रापने जो कहा कि 'क्या वोधिसत्त्व श्रनुत्पाद है ?' तो में फिर से कहता हूँ कि हे श्रायुष्मन् । ऐसा ही है, वोधिसत्त्व श्रनुत्पाद है । केवल वोधिसत्त्व ही नहीं,, वोधिसत्त्व-धर्म भी, सर्वज्ञता श्रौर पृथग्जन-धर्म भी श्रनुत्पाद ही है ।

"ग्रायुष्मन् शारिपुत्न । यही सर्वधर्मानिश्रित पारिमता है, यही सर्वयानिकी पारिमता है, जो 'प्रज्ञापारिमता' है। ऐसी गम्भीर प्रज्ञापारिमता के उपदेश से जिसका चित्त दिविधा को प्राप्त नहीं होता, वहीं इस गम्भीर प्रज्ञापारिमता को, इस ग्रद्धय-ज्ञान को, प्राप्त करता है।" भगवान् ने ग्रीर ग्रायुष्मान् शारिपुत ने ग्रायुष्मान् सुभूति के इस वृद्धानुभाव से उक्त वचनों का साधुवाद से ग्रिभनन्दन किया।

श्रष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारिमतामूत के इस प्रथम परिवर्त्त का सक्षेप यहाँ हमने दिया है। विराट् प्रज्ञापारिमता मे जिन विपयो की चर्चा बार-बार श्राती है, जनका साराश इसी परिवर्त्त में श्रा गया है। व्यवहारसत्य श्रौर परमार्थसत्य का एकत निरूपण करने से जो कठिनाइयाँ पैदा होती है, जनका प्रत्यय हमें श्रायुष्मान् शारिपुत्त श्रौर सुभूति के इस संवाद में मिलता है। स्थविर-वादी सुभूति श्रौर शारिपुत्त के ही द्वारा इस चर्चा का किया जाना श्रौर भी मार्मिक है। हीनयान के श्रहेंतो से ही शून्यवाद की स्थापना कराने का यह प्रयत्न है। वोधिसत्त्व, महासत्त्व, महायान श्रादि शब्दों के भिन्न-भिन्न श्रर्थं इस परिवर्त्त में वताये गये है। श्रद्धयज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही वोधिचर्या है। यह श्रद्धयज्ञान ही प्रज्ञा है। इस सिद्धान्त का प्रथम स्पष्ट दर्शन यहाँ होता है। इसी सिद्धान्त को नागार्जुन श्रादि श्राचार्यों ने व्यवस्थित रूप दिया। तिव्वती इतिहामकार तारानाथ के श्रनुसार 'शतसाहन्त्रिका प्रज्ञापारिमता' नागार्जुन की कृति है। यह निश्चित है कि नागार्जुन के पहले ही ये ग्रन्थ श्रस्तित्व में थे। नागार्जुन ने इनपर टीकाएँ श्रवश्च लिखी है, जो चीनी-भाषा मे उपलब्ध है। नागार्जुन का 'प्रज्ञापारिमतासूत्रशास्त्र' ग्रन्थ 'पचिवशित-साहस्रिका-पारिमता' की ही टीका है। पारिमताशास्त्रों को श्रागे चलकर 'भगवती' यह विशेषण भी दिया गया है, जिससे इसकी महत्ता स्पष्ट होती है।

### लंकावतारसूत्र

महायान-बौद्धधर्म प्रमुखत शृन्यवाद ग्रौर विज्ञानवाद नाम के दो निकायों में विभवत है। प्रज्ञापारिमतासूत-ग्रन्थों में हमने शृन्यवाद-सिद्धान्त का ग्रवलोकन किया है। विज्ञानवाद का प्रारम्भ शृन्यवाद के वाद ग्रौर शृन्यवाद की ग्रात्यन्तिकता के विरोध में हुग्रा। 'लकावतार-सूत्र' नामक वैपुल्य-सूत्रग्रन्थ विज्ञानवाद का मूल ग्रन्थ है। विज्ञान ही मत्य है, विज्ञान से भिन्न वस्तु की मत्ता नहीं है। यह इस वाद की मान्यता है।

लकावतार-सूत्र के चीनी में तीन भाषान्तर हुए है। ई० सन् ४४३ में गुणभद्र नै, ई० ५१३ में वोधिक्चिने ग्रीर ई० ७००-७०४ में शिक्षानन्द ने इसके चीनी-ग्रनुवाद किये थे, जो उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का सम्पादन 'वुन्यिउ निज्यो' ने क्योटो (जापान) से १९२३ ई० में किया है। डाँ० सुजूकी ने इस ग्रन्थ पर विशेष ग्रध्ययनपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है।

लकावतारसुत का ऋर्य है लकाधीश रावण को सद्धर्म का उपदेश। इस ग्रन्य के कुल दस परिवर्त्त है। प्रथम परिवर्त्त में लका के राक्षसाधिपति रावण का वृद्ध से सम्भापण है। वोधि-सत्त्व महामित के कहने पर रावण भगवान् से धर्म श्रीर श्रधर्म के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। द्वितीय परिवर्त्त मे महामित वोधिसत्त्व भगवान् से एक सौ प्रश्न पूछता है। प्राय. ये सभी प्रश्न मूल सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं। निर्वाण, ससार-वन्धन, मुक्ति, आलयविज्ञान, मनोविज्ञान, शून्यता श्रादि गम्भीर विषयों के वारे में, तथा चक्रवर्ती, माण्डलिक, शाक्यवश श्रादि के वारे में भी ये प्रश्न है। तृतीय परिवर्त्त में कहा गया है कि तथागत ने जिस रावि को सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति की श्रौर जिस राम्नि को महापरिनिर्वाण की प्राप्ति की, उसके वीच उन्होने एक शब्द का भी उच्चारण नहीं किया है। यह भगवान् के उपदेश का लोकोत्तर स्वभाव है। इसी परिवर्त्त में कहा गया है कि जिस प्रकार एक वस्तु के श्रनेक नाम उपयुक्त होते हैं, उसी प्रकार बुद्ध के ग्रसंख्य नाम है। कोई उन्हें तथागत कहते है, तो कोई स्वयम्भ, नायक, विनायक, परिणायक, वुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, ग्ररिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक्र, इन्द्र, वलि, वरुण ग्रादि नामो से पुकारते हैं। उन्हें ही ग्रनि-रोधानुत्पाद, शून्यता, तथता, सत्य, धर्मधातु श्रीर निर्वाण, ये सज्ञाएँ दी गई है। दूसरे से सातवें परिवर्त्त तक विज्ञानवाद के सूक्ष्म सिद्धान्तो की चर्चा है। श्रष्टम परिवर्त्त में मासाशन का निपेध है। हीनयान के विनयपिटक में तिकोटि-परिशुद्ध मास का विधान है, किन्तु महायान में मासाधन वर्जित है। इसका प्रथम दर्शन हमें लकावतारसूत में मिलता है। नवम परिवर्त्त में श्रनेक धारणियो का वर्णन है। श्रन्तिम दशम परिवर्त्त में ५५४ श्लोको में विज्ञानवाद की विस्तृत पर्चा है, जो श्रागे के दार्शनिक विज्ञानवाद के लिए भित्तिरूप है।

दसवें परिवर्त्त में कुछ स्थल पर भविष्य के बारे में व्याकरण है। भगवान् कहते हैं कि उनके परिनिर्वाण के वाद व्यास, कणाद, ऋपभ, किपल आदि उत्पन्न होगे। निर्वाण के एक सौ वर्ष वाद व्यास, कौरव, पाण्डव, राम और मौर्य (चन्द्रगुप्त) होगे और उनके वाद नन्द, गुप्त राज्य करेगे। उसके वाद म्लेंच्छो का राज्य होगा, जब कित्युग का भी प्रारम्भ होगा और शासन वृद्धिगत न होगा। अन्य एक स्थल पर पाणिनि, अक्षपाद, वृहस्पित (लोकायत के आचार्य), कात्यायन, याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, कौटिल्य, आष्वलायन आदि ऋपियो के बारे में व्याकरण है।

इन व्याकरणों से विद्वानों ने निर्णय किया है कि लकावतार का यह दणम परिवर्त्त पीछे का, श्रयीत् उत्तर-गुप्तकाल का है श्रीर उसका विज्ञानवाद-सम्बन्धी भाग योगाचार के संस्थापक श्रायं मैंबेयनाय के समय का, श्रर्थान् चौथी शती का है। श्रन्य सूत्र—ग्रन्य सूत्रग्रन्थों में 'समाधिराजसूत' ग्रौर 'सुवर्णप्रभाससूत' ये दो सूत्र विशेष महत्त्व के हैं। समाधिराज का दूसरा नाम चन्द्रप्रदीपसूत' है। इस ग्रन्थ में योगाचार की श्रनेक समाधियों का वर्णन है।

'सुवर्णप्रभाससूत' में भगवान् के धर्मकाय की प्रतिष्ठा है, ग्रर्थात् बुद्ध का रूपकाय नहीं है, ग्रौर इसलिए भगवान् के धातु की वस्तुतः उत्पत्ति नहीं है। इसके तीन चीनी-ग्रनुवाद उपलब्ध है। धर्मक्षेम (सन् ४९४-४३३ ई०) परमार्थ तथा उनके शिष्य (सन् ५५२-५५७ ई०) ग्रौर इत्सिग (सन् ७०३ ई०) ने सुवर्णप्रभास के चीनी-ग्रनुवाद किये थे। महायान देशों में इस ग्रन्थ का बडा ग्रादर है। मध्य एशिया में भी इस ग्रन्थ के किये थे।

### अष्टम अध्याय

# महायान-दर्शन की उत्पत्ति श्रौर उसके प्रधान श्राचार्य

पहले हम महायान-धर्म की उत्पत्ति और उसकी कुछ विशेपताग्रो का उल्लेख कर चुके है। हमने देखा है कि महायान का हीनयान से मौलिक भेद है। इसके आगम-ग्रन्थ, इमकी चर्या, इसका वुद्धवाद, इसका सय कुछ भिन्न है। हम देखेंगे कि इस्क्रा दर्शन भी सर्वथा भिन्न है। सक्षेप में महायान की ये विशेषताएँ हैं निवोधिसत्त्व की कल्पना, विधि-चित्तग्रहण, पट्पार-ी मिता की साधना, दशमूमि, विकायवाद ग्रीर धर्म-शून्यता या तथता। महायानग्रन्थों में हीन-यान को श्रावक-यान ग्रीर महायान को वोधिमत्त्वयान भी कहते हैं। ग्रसग महायानसूत्रालकार में कहते हैं कि श्रावक-यान में परहितमाधन का प्रयत्न नहीं है, केवल अपने ही मीक्ष का उपाय-चिन्तन है। महायान का अनुगमन करनेवाला अपर्यन्त सत्त्वो के समुद्धरण का आशय रखता है, श्रीर इसके लिए वोधिचित्त का समादान करता है। हीनयान का श्रनुयायी केवल पुद्गल-नैरातम्य में प्रतिपन्न है, किन्तु महायान का ग्रन्यायी ध्रमेनैरातम्य या धर्मश्रन्यता में भी-प्रतिपन्न है। महायानी का कहना है कि वह क्लेणावरण और ज्ञेयावरण दोनों को अपनीत करता है। उसके अनुसार हीनवानी केवल क्लेशावरण का ही अपनयन करता है। महायान का प्रधान ग्रागम प्रजापार्मिता है। हमने पिछले ग्रध्याय में देखा है कि इसमें ही सबसे पहले गुन्यता के मिद्धान्त का प्रतिपादन है। यही हीनयान से महायानदर्शन की भिन्न करने का वीज है। सौवान्तिको के अनुसार महायान की शिक्षा सबसे पहले अप्टमाहिसका-प्रज्ञापारिमता में पार्ड जाती है। प्रज्ञापारिमताएँ कई है। इनमें ग्रप्टसाहिन्नका सबसे प्राचीन है। इसका समय ईसा से एक शती पूर्व ग्रवश्य होगा। साहस्रिकाएँ यहायान के सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्य समझे जाते है। महायान-दर्शन के ग्रादि ग्राचार्य नागार्जु न ने इनमें से एक का भाष्य लिखा था । इस ग्रन्थ को महाप्रज्ञापारिमताशास्त्र कहते है ।

पहले हमने कहा है कि महायान के सकेत हीनयान में भी पाये जाते हैं। सर्वास्तिवाद का जो अवदान-साहित्य है, उसमें बोधिसत्त्व-यान का पूर्वरूप व्यक्त होता है। दिव्यावदान सर्वास्तिवाद का ग्रन्थ है, इसमें पूर्ण की कथा मिलती है। दिव्यावदान में अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि का भी उल्लेख है। ऐसी अनेक कथाएँ है, जिनमें दिखाया गया है कि पारमिताओं की साधना के लिए उपासक अपने जीवन का भी उत्सर्ग करते है, वह ऐहिक या पारलीकिक सुग्र वे लिए यत्नशील न होकर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि के लिए यत्नवान् है, जिसमें वह सब जीवों को विमृत्त करें। महावस्तु में हम एसे उपासकों का उल्लेख पाते है, जो वोधि-वित्त का ग्रहण कर वोधि के

लिए चित्त का आवर्जन करते हैं। महावस्तु में तीन यानो का उल्लेख है, जैसे दिव्यावदान में श्रावक-बोधि, प्रत्येक-बोधि और अनुत्तर सम्यक सम्बोधि का उल्लेख है। हमने पहले देखा है कि इसमें बोधिसत्त्व की चार चर्याओं और दश्ममियों का भी उल्लेख है। किन्तु, यह दशम्मियां दश्मममकसूत्र की दश्ममियों से बहुत कम समानता रखती है। महावस्तु महासाधिकों में लोकोत्तरवादियों का विनय-ग्रन्थ है। महासाधिक महायानियों के पूर्ववर्त्ती है। दश्ममकसूत्र में भूमियों के दो विभाग किये गये है, पहली ६ भूमियों में बोधिसत्त्व पुद्गल-शून्यता का साक्षात्कार करता है। श्रावक-बोधि है) तथा अन्तिम ४ भूमियों में धर्मशून्यता का साक्षात्कार करता है। ग्रत, ७वी भूमि से ही महायान की साधना का आरम्भ होता है।

हीनयान के साहित्य में भी 'शून्यता' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु महायान में इसका एक नया ही अर्थ है। महायान के विकाय में से रूप (या निर्माण)-काय और धर्मकाय दिव्यावदान और महावस्तु में भी पाये जाते है। दिव्यावदान में कहा है कि मैंने तो भगवत् का धर्मकाय देखा है, रूपकाय नही । धर्मकाय प्रवचन-काय है । यह वुद्ध का स्वाभाविक काय है । किन्तु, महायान में धर्मकाय का एक भिन्न ग्रर्थ है । विकायवाद में हम इसका विस्तृत विवेचन कर चुके है। सर्वास्तिवादी की परिभाषा में बुद्ध मे नैर्माणिकी ऋद्धि थी। वह अपने सद्श श्रन्यरूप निर्मित कर सकतेथे। दिव्यावदान मे है कि शाक्यमुनि एक वुद्ध-पिण्डी का निर्माण करते हैं, किन्तु इन ग्रन्थों में सम्भोगकाय का वर्णन नहीं है। ग्रत , महायान-धर्म का ग्रारम्भ उस समय में हुम्रा, जब धर्मशून्यता ( = तथता ) ग्रीर सम्भोगकाय के विचार पहले-पहल प्रविष्ट हुए। धर्म-शून्यता का नया सिद्धान्त सबसे प्रथम प्रज्ञापारिमता-ग्रन्थो में प्रतिपादित हुन्ना। म्रष्टसाहिस्त्रका में दो कायो का ही वर्णन है, नगार्जुन के महाप्रज्ञापारिमताशास्त्र में भी इन्ही दो कायों का उल्लेख है। धर्मकाय के दो अर्थ है- व धर्मों का समूह, २ धर्मता। योगाचार मे रूपकाय श्रौदारिक श्रौर सूक्ष्म दो प्रकार का है। प्रथम को रूप या निर्माण-काय कहते हैं, द्वितीय को सम्भोगकाय कहते हैं। लकावतारसूत्र में सम्भोगकाय को निष्यन्द-बुद्ध या धर्मता-निष्यन्द-वृद्ध कहते हैं। सूत्रालकार में निष्यन्द-वृद्ध को सम्भोगकाय ग्रौर धर्मकाय को स्वाभाविक काय कहा है। पचिविशितसाहिस्रकाप्रज्ञापारिमता में सम्भोगकाय बुद्ध का सूक्ष्मकाय है, जिसके द्वारा बुद्ध वोधिसत्त्वों को उपदेश देते हैं। शतसाहिसका मे सम्भोगकाय को भ्रासेचनक काय कहा है। इसे प्रकृत्यात्मभाव भी कहते है। यह शरीर तेज का पुज है। इस शरीर के प्रत्येक रोमकूप से ग्रनन्त रिश्म-राशि नि सृत होती है, जो ग्रनन्त लोकधातु को ग्रवभासित करती है। तव वृद्ध ग्रपने प्रकृत्यात्मभाव का देव-मनुष्य को दर्शन कराते है। सकल लोक-धातु के सब सत्त्व णाक्यमुनि बृद्ध को भिक्षुग्रो तथा वोधिमत्त्वो को प्रज्ञापारमिता का उपदेश देते देखते हैं।

ग्रतः, पचिविशतिसाहिस्निका में सबसे प्रथम सम्भोगकाय का उल्लेख पाया जाता है। नागार्जुन के समय तक सम्भोगकाय रूपकाय (ग्रथवा निर्माणकाय) से पृथक् नहीं किया गया था। उस समय तक इस माम्भोगिक काय को निर्मित मानते ये ग्रौर इमलिए उसे रूपकाय के ग्रन्तर्गत मानते थे। दश्भूमियों का उल्लेख सबसे पहले महावस्तु में पाया जाता है, तदनन्तर शत श्रीर पचिविशतिसाहस्रिका में । दशभूमकसूत्र, वोधिसत्त्वभूमि, लकावतार, सूत्रालकार ग्रादि ग्रन्थो में, भूमियो का विकसित रूप पाया जाता है ।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि प्रज्ञापारिमता-ग्रन्थों में ग्रष्ट ग्रीर दशसाहिस्नका सबसे प्राचीन हैं। इसके पश्चात् शत ग्रीर पर्चिवातिप्रज्ञापारिमता का समय है। यद्यपि धर्मशून्यता का विचार ग्रष्टसाहिस्नका में पाया जाता है, तथापि महायान में विकाय ग्रीर दशभूमि पर्चिवशित-प्रज्ञापारिमता के पूर्व नहीं पाये जाते।

ग्रष्टसाहस्रिका ग्रादि प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थो का मुख्य विचार यह है कि प्रज्ञापारमिता भ्रन्य-पारमिताग्रों की नायिका ग्रयवा पूर्व गमा है। ग्रष्टसाहिस्रिका पृथ्वी से प्रज्ञापारिमता की तुलना करती है, जिसपर अन्य पारिमतात्रों का अवस्थान है, और जिसपर वह सर्वज्ञता के फल का उत्पाद करती है। ग्रत , प्रज्ञापारिमता सर्वज्ञ तथागत की उत्पादक है। ग्रन्य पारिमताग्रो की तरह प्रज्ञापारिमता का अभ्यास नही किया जाता। यह चित्त की अवस्था है, जिसके होने पर दान-पारमिता ग्रलक्षण ग्रीर नि स्वभाव प्रतीत होती है ग्रीर ग्राह्य-ग्राहक-विकल्प प्रहीण होता है। प्रज्ञापारिमता वताती है कि किसी में ग्रिभिनिवेश नहीं होना चाहिए ग्रीर वोधिसत्त्व को सदा इसका घ्यान रखना चाहिए कि पारमिता, समाधि, समापत्ति, फल या वोधिपाक्षिक धर्म उपायकीशल्य-मात्र है । वस्तुत , इनका कोई स्वभाव नही है । प्रज्ञापारिमता-ग्रन्थो की शिक्षा है कि सब शुन्य है, अर्थात् पूद्गल (श्रात्मा) श्रीर धर्म द्रव्यसत्स्वभाव नहीं है। इनकी शिक्षा है कि विज्ञान ग्रीर विज्ञेय (वाह्यार्थ) दोनो का परमार्थत ग्रस्तित्व नही है, केवल सवृतित है। सर्वास्तिवाद पुद्गल-नैरात्म्य तो मानता है, किन्तु वह एक नियत सख्या को द्रव्यसत् मानता है। किन्तु, महायान के ये ग्रन्थ इन धर्मों को भी नि स्वभाव मानते हैं। धर्म भी सव्तित है, परमार्थत नहीं। जीवन प्रवाहमाल है, यह शाश्वत नहीं है ग्रीर इसका उच्छेद भी नहीं होता। धर्मों का विभाजन करके जब हम देखते है, तब उन्हें हम नि स्वभाव पाते है, वे प्रवाहमान हैं, जिनमें निरन्तर परिवर्त्तन होना रहता है, इस प्रवाह का स्वरूप क्या है, यह नहीं वताते।

योगाचार-विज्ञानवादी इस प्रवाह को ग्रालय-विज्ञान कहता है। इस नय में चित्त-चैत्त वस्तु सत् है, बाह्यायंत्र बित्तमात्र है। ग्रालय-विज्ञान स्रोत के रूप में ग्रव्युपरत प्रयक्तित होता है। स्रोत का ग्रयं हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है। इस विज्ञान की सदा से यह धर्मता रही है कि प्रतिक्षण फलोत्पत्ति होती है, ग्रीर हेतु का विनाश होता है। ग्रालय-विज्ञान में धर्मों का निरन्तर स्वरूप-विश्रेय होता है, ग्रीर ग्रालय-विज्ञान नवीन धर्म ग्राक्षिप्त करता रहता है। यह नित्य व्यापार है, ग्रालय-विज्ञान विज्ञानों का ग्रालय ग्रीर मर्वसाक्लेशिक वीजों का मग्रह-स्थान है।

विज्ञानवाद माध्यमिकवाद की प्रतिक्रिया है। जहाँ माध्यमिक विज्ञान को भी णूत्य भीर नि स्वभाव मानता है, वहाँ विज्ञानवाद वैधातुक को चित्तमाव मानता है, उसके धनुसार सब णून्य है, केवल विज्ञाप्त वस्तु-मत् है। विज्ञानवाद दणभूमकणास्त्र को अपना धाधार मानता है, तथापि इन वाद का आरम्भ वस्तुतः आचार्य असग से होता है। माध्यमिकवाद के प्रथम आचार्य नागार्जु न हैं।

भ्रव हम ग्रागे इन दोनो दर्शनो के प्रधान ग्राचार्यों का सक्षिप्त परिचय देगे।

नागार्जू न—तारानाथ का कहना है, हीनयानवादियों के अनुसार शतसाहिसकाप्रज्ञापार-मिता अन्तिम महायान-सूत्र है और इसके रचियता नागार्जु न है। प्रज्ञापारिमतासूत्रशास्त्र अवश्य नागार्जु न का बताया जाता है। यह पचिवशितसाहिसकाप्रज्ञापारिमता की टीका है। हो सकता है, इसी कारण भूल से नागार्जु न को शतसाहिसकाप्रज्ञापारिमता का रचियता मान लिया गया हो। कम-से-कम नागार्जु न महायान के प्रतिष्ठापक नहीं है, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि उनसे बहुत पहले ही महायान-सूत्रों की रचना हो चुकी थी।

शुत्रान-च्वाग के अनुसार अश्वघोप, नागार्जुन, आर्यदेव और कुमारलच्ध (=कुमार-लात) समकालीन थे। वह इनको बौद्ध जगत् के चार सूर्य मानते हैं। 'राजतरिगणी' के अनुसार बोधिसत्व-नागार्जुन हुष्क, जुष्क और किनष्क के समय में कण्मीर के एकमात्र स्वामी थे। तारा-नाथ के अनुसार नागार्जुन, किनष्क के काल में पैदा हुए थे। नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी हो सकता है, किन्तु नागार्जुन के सम्बन्ध में इतनी कहानियाँ प्रचलित हैं कि कभी-कभी उनके अस्तित्व के बारे में ही सन्देह होने लगता है। कुमारजीव ने ४०५ ई० के लगभग चीनी-भाषा में नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद किया था। इसके अनुसार उनका जनम दक्षिण भारत में ब्राह्मण-कुल में हुआ था। वह ज्यौतिष, आयुर्वेद तथा अन्य विद्याओं में निपुण थे। वह जादूगर समझे जाते थे। उनकी इतनी प्रसिद्ध हुई कि कई शताब्दी बाद में भी अनेक प्रन्थ उन्हीं के बताये जाते हैं।

नागार्जुन का मुख्य ग्रन्थ कारिका या माध्यमिकसूत्र है। इस ग्रन्थ मे ४०० कारिकाएँ हैं। नागार्जुन ने इसपर एक टीका लिखी थी। जिसका नाम 'श्रकुतोभया' है। इसका केवल तिब्बती-अनुवाद पाया जाता है। बुद्धपालित ग्रौर भावविवेक ने भी इस ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखी थी, किन्तु उनके भी केवल तिब्बती-अनुवाद ही मिलते हैं। केवल चन्द्रकीर्त्ति की 'प्रसन्नपदा' नामक संस्कृत-टीका उपलब्ध है। नागार्जुन ने माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसे शून्यवाद भी कहते हैं। चन्द्रकीर्त्ति सिद्ध करते हैं कि माध्यमिक नाम्तिक नहीं है। नागार्जुन सवृतिसत्य ग्रौर परमार्थसत्य की शिक्षा देते हैं। परमार्थसत्य की दृष्टि से न ससार है, न निर्वाण।

नागार्जु न के अन्य ग्रन्थ युक्तिषिठिका, शून्यतासप्तित, प्रतीत्यममृत्पादहृदय, महायान-विश्वक और विग्रह-व्यावर्त्तनी हैं। इनके अतिरिक्त भी कई ग्रन्थ है, जो नागार्जु न के बताये जाते हैं। किन्तु, उनके बारे में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। धर्मसग्रह पारि-भापिक शब्दों का एक कोष है। इसे भी नागार्जु न का लिखा बताते हैं। इसी प्रकार 'सुहुल्लेख' के रचियता भी नागार्जु न कहे जाते हैं। इत्सिग ने इसकी बडी प्रशसा की है। उनके समय में यह बहुत लोकप्रिय था। उनके अनुसार इसके रचियता नागार्जु न थे। चीनियों के अनुसार जिस राजा को यह लेख लिखा गया था, वह शातवाहन था। तिब्बतियों के अनुसार वह उदयन था। माध्यमिक के अन्य प्रसिद्ध आचार्य देव या आर्यदेव बुद्धपालित, चन्द्रकीर्त्त और शान्तिदेव है। चन्द्रकीत्ति छठी शताब्दी के है। यह मध्यमकावतार ग्रीर प्रसन्नपदा के रचयिता है। नागार्जु न के वाद का विस्तृत परिचय इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में देंगे।

स्रायंदेव—नागार्जु न के शिष्य ग्रायंदेव भी एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गये हैं। इन्हें देव, काणदेव या नीलनेत्र भी कहते हैं। शत्र्यान-च्वाग के अनुसार यह सिहल देश से आये थे। कुमारजीव ने इनकी जीवनी का अनुवाद चीनी-भाषा में किया था। ग्रायंदेव का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ चतु शतक है। इसमें ४०० कारिकाएँ हैं। चन्द्रकीर्त्ति के ग्रन्थ में शतक या शतकशास्त्र के नाम से इसका उल्लेख है। शुग्रान-च्वाग ने इसका चीमी-भाषा में अनुवाद किया था। इनका एक दूसरा ग्रन्थ 'चित्तविशुद्धिप्रकरण' बताया जाता है। इसके कुछ ही भाग मिले हैं। विण्टरिनत्ज को इसमें सन्देह हैं, कि यह ग्रन्थ ग्रायंदेव का है। चीनी-त्रिपिटक में दो ग्रन्थ हैं, जिनका अनुवाद वोधिसत्त्व (सन् ५०५—५३५ ई०) ने किया है ग्रीर जो श्रायंदेव के बताये जाते हैं। ग्रायंदेव का एक ग्रन्थ 'मुष्टि-प्रकरण' है, जिसके सस्कृत-पाठ का निर्माण टॉमस ने चीनी ग्रीर तिव्वती-ग्रनुवादों की सहायता से किया है।

स्रसंग, वसुवन्धु--- स्रवतक यह समझा जाता था कि योगाचार-विज्ञानवाद के प्रतिष्ठापक श्रार्यासग थे। परम्परा के अनुसार, अनागत वृद्ध मैत्रेय ने तुषित-लोक मे असग के कई प्रन्थ प्रकाशित किये थे। किन्तु, श्रव इस लोककथा का व्याख्यान इस प्रकार किया जाता है कि जिन ग्रन्यों के सम्बन्ध में ऐसी उक्ति है, वह वस्तुत ग्रमग के गुरु मैंन्नेयनाथ की रचना है। भ्रव इसकी श्रधिक सम्भावना है कि मैत्रेयनाथ योगाचार-मतवाद के प्रतिष्ठापक थे। कम-से-कम श्रब यह निश्चित हो गया है कि 'ग्रिभिसमयालकारकारिका' मैत्रेयनाथ की कृति है। यह ग्रन्थ पच-विशतिसाहस्रिकाप्रज्ञापारिमतासूत्र की टीका है। यह टीका योगाचार की दृष्टि से लिखी गई है। विण्टरनित्ज का कहना है कि महायानसूत्रालकार के भी रचयिता सम्भवत मैंबेय-नाथ थे। सिलवाँ लेवी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन ग्रीर ग्रनुवाद किया है। उनका मत है कि यह ग्रन्थ ग्रसग का है। एक ग्रीर ग्रन्थ 'योगाचारभूमिशास्त्र' या 'सप्तदशभूमिशास्त्र' है, जिसका केवल एक भाग, श्रथीत् वोधिसत्त्वभूमि सस्कृत मे मिलता है । इसके सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि मैं नेय ने इसको ग्रसंग के लिए प्रकाशित किया था। विण्टरनित्ज का कहना है कि यह भी प्राय मैं त्रेयनाथ की रचना है। किन्तु, तिब्बती-लेख इस ग्रन्थ को ग्रसग का बताते हैं। शुम्रान-च्याग का भी यही मत है। जो कुछ हो, इसमें तिनक भी सन्देह नहीं कि योगाचार-विज्ञानवाद के आचार्य के रूप में मैंत्रेयनाथ की अपेक्षा असग की अधिक प्रसिद्धि है। इनके प्रन्यों का परिचय चीनी-अनुवादो से मिलता है--महायानमम्परिग्रह, जिसका अनुवाद परमार्थ ने किया, प्रकरण-श्रायंवाचा, महायानाभिधर्म-सगीतिणास्त्र, जिसका श्रनुवाद शुग्रान-च्वाग ने किया, वज्रच्छेदिका की टीका, जिसका अनुवाद धर्मगुप्त ने किया।

ग्रसग तीन भाई थे। ग्रमग ही मबसे वड़े थे। इनका जन्म पुन्पपुर (पेणावर) में ब्राह्मण-कुल में हुग्रा था। इनका गोल की जिंक था। इनसे छोटे वसुबन्धु थे। बौद्ध-माहित्य में इनका ऊँचा स्थान है। ग्रारम्भ में दोनो भाई मर्वास्तिबाद के ग्रनुयायी थे। ग्रिमधर्मकोण के देखने से मालूम होता है, कि वसुबन्धु स्वतन्त्र विचारक थे। किन्तु, उनका झुकाव सीत्रान्तिक

मतवाद की ग्रोर था। पीछे से ग्रसग ने महायान-धर्म स्वीकार कर लिया ग्रौर उनकी प्रेरणा से वसुबन्धु भी महायान के माननेवाले हो गये।

ताकाकूसू के अनुसार वसुबन्धु का काल ४२० ई० और ५०० ई० के बीच है। वोगिहारा वसुबन्धु का समय ३६० ई० और ४७० ई० के बीच तथा असग का ३७५ ई० और ४५० ई० के बीच निर्धारित करते हैं। सिलवॉ लेवी के अनुसार असग का काल ५वी शताब्दी का पूर्वार्द्धभाग है। किन्तु एन्० पेरी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वसुबन्धु का जन्म ३५० ई० के लगभग हुआ। इससे विण्टरनित्ज दोनो भाइयो का समय चौथी शताब्दी मानते हैं।

परमार्थ ने वसुबन्ध की जीवनी लिखी थी। परमार्थ का समय ४६६-५६६ ई० है। ताकाकूसू ने चीनी से इसका अनुवाद किया है। तारानाथ के इतिहास मे वसुवन्ध् की जीवनी मिलती है, किन्तु यह प्रामाणिक नही है। वसुवन्धु का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ म्रिभिधर्म-कोश है। इसके चीनी और तिब्बती-ग्रनुवाद उपलब्ध है। लुई द ला वली पूसें ने चीनी से फ्रेच मे अनुवाद किया। राहुल साक्रत्यायन तिब्बत से मूल संस्कृत-ग्रन्थ का फोटो लाये थे। जायसवाल-शोध-प्रतिष्ठान, पटना की स्रोर से मूल ग्रन्थ के प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा रही है। चीनी-भाषा मे इस ग्रन्थ के दो अनुवाद है-एक परमार्थ का, दूसरा शुआन-च्याग का। परमार्थ का अनुवाद सन् ५६३ ई० का है। इस ग्रन्थ मे ६०० कारिकाएँ है ग्रीर वसुवन्धु ने इसका स्वय भाष्य लिखा है। इस ग्रन्थ का बौद्ध जगत् पर वडा व्यापक प्रभाव पडा। निकायो मे तथा सर्वत्न इसका स्रादर हुस्रा। इसने बहुत शीघ्र स्रन्य प्राचीन ग्रन्थो का स्थान ले लिया। यह वडे महत्त्व का ग्रन्थ है। वसुवन्धु के श्रनुसार ग्रिभिधर्मकोश मे वैभाषिक-सिद्धान्त का निरूपण कश्मीर-नय से किया गया है। कोश के प्रकाशित होने पर सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रन्थो (ग्रिभिधर्म ग्रीर विभाषा) का महत्त्व घट गया । कोश मे वैभापिक-सौतान्तिक का विवाद भी दिया गया है, ग्रन्त में ग्रन्थकार ग्रपना मत भी देते हैं। कोश में ग्रन्य ग्रन्थो से उद्धरण भी दिये गये हैं। इस प्रकार, प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए भी कोश का बडा मूल्य है।

ग्रिभिधर्मकोश पर कई टीकाएँ लिखी गई थी, किन्तु केवल यशोमित की 'स्फुटार्था' व्याख्या पाई जाती है। इसका सम्पादन वोगिहारा ने जापान से किया है। कलकत्ता से देव-नागरी श्रक्षरों में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। दिड्नाग, स्थिरमित, गुणमित श्रादि ने भी कोश पर टीकाएँ लिखी है—मर्मप्रदीप, तत्त्वार्थटीका, लक्षणानुमार ग्रादि। चीनी-भाषा में भी कोश पर कई टीकाएँ है।

सघभद्र ने न्यायानुसार नाम का श्रिभधर्मशास्त्र वसुवन्धु के मत का खण्डन करने तथा यह वताने के लिए लिखा कि कहाँ वसुवन्धु शास्त्र से व्यावृत्त करते हैं, न्यायानुसार ग्रिभधर्मकोश की श्रालोचनात्मक टीका है। जहाँ-जहाँ वसुवन्धु का भाष्य वैभाषिक मत का विरोध करता है, वहाँ-वहाँ न्यायानुसार उसका खण्डन करता है।

वृद्धावस्था में वसुवन्धृ ने ग्रमग के प्रभाव से महायान-धर्म स्वीकार किया ग्रीर विश्वातिका ग्रीर विश्वाका नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे। यह विज्ञानवाद के ग्रन्थ है। विश्वातिका पर वसुवन्धु ने ग्रपनी वृत्ति लिखी। विश्वाका पर १० टीकाएँ थी। इनमें से केवल स्थिरमित की टीका उपलब्ध है। शुग्रान-च्वाड् ने विश्वाका पर 'विज्ञाप्तिमावतासिद्धि' नामक ग्रन्थ चीनी-भाषा में लिखा। पूसे ने इस ग्रन्थ का फेंच मे ग्रन्वाद प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ वडे महत्त्व का है, क्योंकि इसमें विश्वाका के सब टीकाकारों के मत का निरूपण है ग्रीर धर्मपाल की टीका भी सिन्नविष्ट है।

वसुबन्धु ने अन्य भी ग्रन्थ लिखे थे, जो अप्राप्त है। विश्व भारती से विस्वभाव-निर्देश नाम का ग्रन्थ प्रकाणित हुआ है। इसके रचिंदिता वसुबन्धु वताये जाते हैं। वसुबन्धु के कुछ अन्य ग्रन्थ यह है—पचस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति और कर्ममिद्धिप्रकरण। वसुबन्धु की मृत्यु द० वर्ष की श्रवस्था में अयोध्या में हुई। इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में हम असग के विज्ञानवाद का, वसुबन्धु के वैभाषिकवाद तथा विज्ञानवाद का विस्तृत परिचय देंगे।

्रिडनाग, धर्मकीत्तिं श्रीर श्रन्य श्राचार्य-श्राचार्य श्रुसग श्रीर वसुवन्धु के दो प्रधान शिष्य दिइनाग (या दिग्नाग ) श्रीर स्थिरमति थे । स्थिरमति माध्यमिक ग्रीर विज्ञानवाद के वीच की कडी है। विज्ञानवाद की दूसरी शाखा के प्रतिष्ठापक दिड्नाग है। इस शाखा का माध्यमिक से सर्वथा विच्छेद हो गया। इस शाखा का केन्द्र नालन्दाथा। दिङ नाग वौद्धन्याय के प्रतिष्ठापक माने जाते है। भारतीय दर्शन में इनका ऊँचा स्थान है। इनके ग्रन्थों में न्याय-के प्रवेश, श्रालम्बन-परीक्षा प्राप्त है। इनके प्रसिद्ध गुन्य 'प्रमाणसमुच्चय' का प्रत्यक्ष परिच्छेद भी प्रकाशित हो चुका है। अन्य ग्रन्यों के भी तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। दिझनाग के पश्चात् धर्मकीत्तिं (सन् ६७४-७०० ई०) हुए, जिनका न्यायिवन्दु, हेतुविन्दु ग्रीर प्रमाणवार्त्तिक सुस्कृत में उपलब्ध है। शुग्रान-च्वाग ने नालन्दा-सधाराम में ग्रध्ययन किया था ग्रीर शीलभद्र उनके श्राचार्य थे। विज्ञानवाद के श्रन्य श्राचार्य जयसेन तथा चन्द्रगोमिन् (सातवी शती) थे। यह एक प्रसिद्ध वैयाकरण, दार्शनिक और कवि थे। तारानाथ के श्रनुसार चन्द्रगोमिन् ने श्रनेक स्तोत श्रीर श्रन्य ग्रन्थ रचे। यह श्रसन्दिग्ध है कि सातवी शाती में विज्ञानवाद का वडा प्रभाव था। पीछे के माध्यमिक ग्राचार्यों का विज्ञानवाद के ग्राचार्यों से वडा शास्त्रार्थ होता था। यद्यपि माध्यमिक विज्ञानवादियो के पूर्ववर्त्ती है, तथापि बौद्धधर्म के तिव्वती ग्रौर चीनी-इतिहासो में योगाचार-विज्ञानवाद को प्राय हीनयान ग्रीर माध्यमिक के वीच की कडी माना गया है। उनके श्रनुसार माध्यमिको का वाद पुर्ण है।

नालन्दा के एक प्रसिद्ध ग्राचार्य धर्मपाल थे, जिन्होने विशिका पर टीका लिखी थी। इनके शिष्य चन्द्रकीर्त्ता ने माध्यमिक दर्शन पर ग्रनेक ग्रन्थ लिखे। चन्द्रकीर्त्ता ने बुधपालित ग्रीर भव्य के शिष्य कमलबुद्धि से नागार्जुन के ग्रन्थों का ग्रध्ययन किया था। बुधपालित प्रासगिक-निकाय के प्रतिष्ठापक हैं ग्रीर भावविवेक (भव्य) ने स्वतन्त्र निकाय की स्थापना की थी। इनके ग्रन्थों के केवल तिव्वती-ग्रनुवाद मिलते हैं। चन्द्रकीर्त्ता का मुख्य ग्रन्थ मध्यमकावतार है। मूल मध्यमककारिका पर प्रसन्नपदा नाम की टीका भी चन्द्रकीर्ति की है। इन्होने चतु .-

शितका पर भी एक टीका लिखी, जो बहुत प्रसिद्ध है। ये ग्रन्थ चन्द्रकीर्ति की ग्रपूर्व विद्वता के प्रमाण है।

शान्तिदेव—शान्तिदेव सातवी शताब्दी में हुए। तारानाथ के श्रनुसार शान्तिदेव का जन्म सीराष्ट्र (= वर्त्तमान गुजरात) में हुग्रा था, ग्रीर वह श्रीहर्ष के पुत्र शील के समकालीन थे। परन्तु, भारतीय ग्रथवा चीनी-लेखों में ग्रथवा शील किसी ग्रन्य नाम के पुत्र का पता नहीं चलता। शान्तिदेव राजपुत्र था, पर तारा की प्रेरणा से उसने राज्य का परित्याग किया। कहा जाता है कि स्वय वोधिसत्त्व मजुश्री ने योगी के रूप में उसको दीक्षा दी ग्रीर ग्रन्त में वह भिक्षु हो गया।

तारानाथ के अनुसार शान्तिदेव बोधिचर्यावतार, सूत्रसमुच्चय और शिक्षासमुच्चय के रचियता थे। बोधिचर्यावतार औरों से पीछे लिखी गई। शिक्षासमुच्चय की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई है, उनमे ग्रन्थकार का नाम नही पाया जाता है, पर तजोर-इण्डेक्स ३१ के अनुसार शान्तिदेव ही इस ग्रन्थ के रचियता है। महायान-धर्म के विद्वान् दीपकर श्रीज्ञान (म्रतीश) इस उक्ति की पुष्टि करते है। शिक्षासमुच्चय के ग्रनेक ग्रशो का उद्धरण उन्होने किया है और इस ग्रन्थ को वह शान्तिदेव की ही कृति समझते थे।

बोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमित भी शान्तिदेव को ही शिक्षासमुच्चय तथा बोधिचर्यावतार का ग्रन्थकार मानते हैं। दोनो ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृतियाँ हैं। इसका ग्रन्त-रग प्रमाण भी है। दोनो ग्रन्थो मे कई क्लोक सामान्य हैं। इसके ग्रतिरिक्त बोधिचर्यावतार (पचम परिच्छेद, क्लोक १०५, १०६) में शिक्षासमुच्चय ग्रथवा सूत्रसमुच्चय के वारम्वार ग्रभ्यास करने का ग्रादेश किया गया है:

शिक्षासञ्चयोऽवश्यं द्रष्टन्यश्च पुनः पुनः। विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदिश्ततः।। सक्षेपेणाथवा तावत्पश्येतसूत्रसमुच्चयम्।

यदि शिक्षासमुच्चय के रिचयता बोधिचर्यावतार के रिचयता से भिन्न होते, तो यह मानना पडता कि एक ने दूसरे के श्लोको की चोरी की है और उस अवस्था में जिस ग्रन्थ से चोरी की गई है, उस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं पाया जाता।

स्रत स्पष्ट है, दोनो ग्रन्थों के कर्ता शान्तिदेव ही है। प्रज्ञाकरमित स्रपनी वोधि-चर्यावतारपजिका में ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोकों की टीका में लिखते हैं—

शिक्षासमुच्चयोऽपि स्वयमेभिरेव कृत' । तदा नानास्त्रैकदेशनां वा समुच्चय एभिरेव कृत । बोधिचर्यावतार मे आर्य नागार्जुन द्वारा लिखे हुए एक दूसरे सूत्रसमुच्चय का उल्लेख पाया जाता है—

श्रार्यनागार्जुनाबद्ध हितीयं च प्रयत्नतः ।

प्रज्ञाकरमित के अनुसार आर्य नागार्जुन के लिखे हुए शिक्षाममुच्चय श्रीर सूत-समुच्चय है। टीका--- प्रार्यनागर्ज् नपादैनिवद्धं द्वितीयं शिक्षासमुच्चयं सूत्रसमुच्चयं च पश्येत् प्रयत्नतः ग्रादरतः ।

पर, यह ग्रर्थ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। 'हितीय' से दितीय सूत्रसमुच्चय से तात्पर्य है, क्यों कि श्लोक के प्रथम पाद में सूत्रसमुच्चय का ही उल्लेख है।

कर्न साहव के अनुसार दोनो अन्थ नागार्जुन के हैं। (मैनुअल आँव इण्डियन वुद्धिज्म, पृ० १२७, नोट ४)

सी॰ वेण्डल माहव इसका ग्रर्थ इस प्रकार लगाते है-

श्चार्य नागार्जु न-रचित सूत्रसमुच्चय श्रवश्य द्रप्टव्य है। यह श्रामणेर का द्वितीय श्रभ्यास है। (शिक्षासमुच्चय, सी० वेण्डल द्वारा रचित, १ विव्लिश्रोथिका बुद्धिका, पृ० ४ के सामने, नोट २)

इस ग्रर्थ के ग्रनुमार गान्तिदेव ग्रपने रचे किसी मूलममुच्चय का उल्लेख नहीं करते। वास्तव में, यह निर्णय करना कि कौन-सा ग्रर्थ ठीक है, ग्रसम्भव-सा है। नागार्जुन ने यदि इन नामों के कोई ग्रन्थ लिखे भी हो, तो वे उपलब्ध नहीं। ग्रान्तिदेव ने यदि मूलसमुच्चय नामक ग्रन्थ रचा भी हो, तो उसकी कोई प्रति नहीं मिलती, तजोर-इण्डेक्म (वर्लिन की प्रति, जो कि इण्डिया ग्रॉफिस द्वारा प्रमाणित है) में ग्रान्तिदेव के एक चौथे ग्रन्थ का उल्लेख है। इसका नाम शारिपुत्र-श्रष्टक है, पर यह मन्दिग्ध है।

शिक्षाममुच्चय का सम्पादन मी० वेण्डल महाशय द्वारा सेण्ट पीटर्मवर्ग की रूसी विव्लिग्रोथिका वृद्धिका-ग्रन्थमाला में सन् १८६७ ई० में हुग्रा। दूसरा सस्करण सन् १६०२ ई० में हुग्रा। इसका ग्रेंगरेजी-ग्रनुवाद मी० वेण्डल तथा डब्ल्यू० एच्० डी० राउज द्वारा हुग्रा है ग्रौर सन् १६२२ ई० में इण्डियन टेक्स्ट सिरीज मे प्रकाशित हुग्रा है।

इस पुस्तक का तिव्वती भाषा में अनुवाद ५१६ ग्रोर ५३८ ई० के बीच हुग्रा था। अनु-वाद तीन महाणयो द्वारा हुग्रा था। इनके नाम ये है—जिनिमत्न, दानणील ग्रौर एक तिब्बती पण्डित ज्ञानसेन। ज्ञानसेन का चित्र तजोर-इण्डेक्म के उस भाग के ग्रारम्भ में पाया जाता है, जिसमें शिक्षासमुच्चय है (इण्डिया ग्रॉफिस की प्रति)। ग्रन्त के दो अनुवादक तिब्बती राजा रत्नी-दे-स्नृ-त्सान (सन् ५१६—५३८ ई०) के ग्राश्रित थे। इससे प्रकट होता है कि मूल पुस्तक सन् ५०० ई० से पूर्व लिखी गई।

णान्तिदेव का दूसरा ग्रन्थ जो प्रकाशित हो चुका है, बोधिचर्यावतार है। रूसी विद्वान् ग्राइ० पी० मिनायेव ने सबसे प्रथम इसे जापेस्की मे प्रकाशित किया था। हरप्रसाद शास्त्री ने बुद्धिस्ट टेक्स्ट मोसाइटी के जरनल में पीछे से प्रकाशित किया।

प्रज्ञाकरमित की टीका (पिजका) फ्रेच-श्रनुवाद के साथ ला वली पूमें ने विव्लियोथिका इण्डिका में सन् १६०२ ई० में प्रकाणित की । टीका की एक प्रति, जिसमें केवल ६वें परिच्छेद की टीका थी, पूमें ने लैटिन-ग्रक्षरों में 'बुद्धिस्म स्तदी एत मटीरियाँ' १, (लन्दन, लुजाक) में प्रकाणित की थी। वोधिचर्यावतार-टिप्पणी नाम की एक हस्तलिखित पोथी मिली है, पर यह खण्डित है। प्रोफेसर सी० बेण्डल को यह पोथी नेपाल-दरवार-लाइब्रेरी मे मिली थी। सन् १८३ ई० में शास्त्रीजी को पजिका की एक प्रति मिली थी, यह प्रतिलिपि नेवारी-श्रक्षरो में सन् १०७८ ई० में लिखी गई। लेखक का नाम नहीं है, पर प्रज्ञाकरमित टीकाकार को तातपाद कहता है—इससे जान पडता है कि वह टीकाकार का शिष्य था। प्रज्ञाकरमित विक्रमशिला-विहार के श्राचार्य थे (एस्०सी० विद्याभूषण-लिखित इण्डियन लॉजिक, पृ० १५१) ग्रीर ११वी शताब्दी के श्रारम्भ में हुए। मिथिला-श्रक्ष रो में केवल प्रज्ञापाठपरिच्छेद की टीका की एक प्रति भी उसी समय उपलब्ध हुई।

टोकियो के प्रोफेसर श्रोमिगा का कहना है कि नाजियो के कैंटलॉग में बोधिचर्यावतार की एक भिन्न व्याख्या है। तीन तालपत्र मिले, जिनमें शान्तिदेव का जीवन-चरित दिया है। (एशियाटिक सोसाइटी ग्रॉव बगाल के सरकारी सग्रह-न० ६६६० में) ये पत्र १४वी शताब्दी में काठमाण्डू में नेवारी-ग्रक्षरों में लिखे गये थे। इसमें लिखा है कि शान्तिदेव किसी राजा के पुत्र थे। राजा का नाम मजुवर्मा था। उनकी राजधानी का नाम मिट गया है, पढा नहीं जाता। (तारानाथ का कहना है वह सुराष्ट्र के राजा का लडका था। तारानाथ का समय इन तालपत्रों के समय से पीछे है)।

शान्तिदेव महायान-धर्म का एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गया है। दीपकर (श्रतीश) नागार्जुन, श्रायदेव श्रीर श्रश्वघोष के साथ शान्तिदेव का भी नाम लेते है।

तारानाय श्रीर अन्य तिव्वती-लेखक शान्तिदेव से भली भाँति परिचित है। ('शान्तिदेव', हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखित, एण्टीक्वेरी, १६१३,पृ० ४६—५२)

जब उनका युवराज-पद पर अभिषेक हु आ, तब उनकी माता ने बताया कि राज्य केवल पाप में हेतु हैं। माँ ने कहा—तुम वहाँ जाओ, जहाँ वुद्ध और वोधिसत्त्व मिले। मजुबज्ज के पास जाने से तुमको नि श्रेयस् की प्राप्ति होगी। वह एक हरितवर्ण घोडे पर सवार होकर अपने पिता के राज्य से चला गया। कई दिनो तक वह खाना-पीना भूल गया। गहन वन में एक सुन्दरी ने उसके घोडे को पकड लिया और उसको उसपर से उतारा। उसने पीने के लिए अच्छा पानी दिया, और वकरी का मास भूँजा। उसने कहा कि मैं मजुबज्जसमाधि की शिष्या हूँ। शान्तिदेव प्रसन्न हुआ, क्योंकि वह उसी का शिष्य होना चाहता था। १२ वर्ष तक वह गुरु के समीप रहा और मजुश्रीज्ञान का प्रतिलाभ किया। शिक्षा की समाप्ति पर गुरु ने मध्यदेश जाने का आदेश किया। वहाँ वह अचलसेन नाम रखकर 'राउत' हो गया। देवदार-काष्ठ का एक खड्ग वनवाया और राजा का शीघ्र ही प्रिय हो गया। अन्य राजभृत्य उससे ईर्ष्या करने लगे। उन्होने राजा से निवेदन किया कि इसने देवदारु वृक्ष का एक खड्ग वनवाया है, यह किस प्रकार युद्ध में सेवा कर सकेगा। राजा ने सब राजभृत्यों के खड्गों को देखना चाहा। अचलसेन ने कहा कि मेरा खड्ग न देखा जाय। पर राजा ने नही माना और अचलसेन इस शर्त्त पर एकान्त में दिखलाने के लिए तैयार हुआ कि वह एक आँख वन्द कर देगा। राजा ने ज्योही खड्ग देखा, उसकी आँख भूमि पर गिर पडी। राजा को आश्चर्य श्रीर प्रसन्नता हुई।

ग्रचलसेन ने खट्ग को पत्थर पर फोंक दिया। नालन्दा गया, श्रीर समार का परित्याग किया। शान्तिचित्त होने से 'शान्तिदेव' नाम पडा। उसने तीनो पिटको को सुना। उसका नाम भुसुकु भी पडा, क्योकि—भुञ्जानोपि प्रभास्वर, सुप्तोऽपि, कुटी ततोऽपि तदेवेति भुसुकु ममाधिसमापन्तत्वात् भुसुकु नामख्याति सट्घेऽपि।

नालन्दा के युवको ने उनके ज्ञान की परीक्षा करने में उत्सुकता दिखाई। नालन्दा की प्रथा थी कि प्रतिवर्ष ज्येष्ठ मास के णुक्लपक्ष में धर्मकथा होती थी। उन्होंने उनको इसके लिए बाध्य किया। नालन्दा-विहार की उत्तर-पूर्व दिणा में एक वडी धर्मशाला थी। उस धर्मशाला में सब पण्डित एकब हुए श्रीर णान्तिदेव सिंहामन पर वैठाये गये। उसने तत्काल पूछा—

किमार्वं पठामि स्रथापं वा, तत्र ऋधि परमार्थज्ञानवान् ऋघ् गतौ इत्यत्र श्रौणादिकः किः । ऋषिणा जिनेत प्रोवतं श्रापं । ननु प्रज्ञापारमितादौ सुभूत्यादिदेशितं कथमार्षम् इत्यत्रोच्यते युवराजार्यमैत्रेयेण ।

> यदर्थवद् धर्मपदोपसहितं त्रिधातुसक्लेशनिवर्हणं वचः। भवे भवेच्छान्त्यनुशंसदर्शक तद्दत् किमार्ष विपरीतमन्यथा।।

तदाकुष्ट घ्रार्याद्यैर यार्षं सुभूत्यादिदेशना तु भगवदिषय्ञानादित्यदोष ।

पण्डित लोग ग्राश्चर्यान्वित हुए ग्रौर उनसे ग्रथार्प ग्रन्थ का पाठ सुनाने को कहा। उन्होने विचारा कि स्वरचित तीन ग्रन्थो में से किसका पाठ सुनावे । उन्होने वोधिचर्यावतार को पसन्द किया ग्रौर पढने लगे—सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान् इत्यादि । लेकिन, जब वह—

यदा न भावो नाभावो मते सन्तिष्ठते पुरः। तदान्यगत्यभावेन निरालम्बः प्रशास्यति।।

पढने लगे, तव भगवान् मन्मुख प्रादुर्भू त हुए, ग्रीर शान्तिदेव को स्वर्ग ले गये। पण्डित ग्राश्चर्यान्वित हुए। उनकी पढु-कुटी (स्टूडेण्ट्स कॉटेज) ढूँढी। वहाँ से तीनो ग्रन्थो को ले उन्हें प्रकाशित किया।

यह वृत्तान्त इन नीन तालपत्नो से प्राप्त होता है।

उनके ग्रन्यों से मालूम होता है कि वह माध्यमिक-दर्शन के श्रनुयायों थे। वेण्डल का कहना है कि शान्तिदेव के ग्रन्थों में तन्त्र का प्रभाव पाया जाता है। कार्दिये-कृत कैंटलॉग से पाया जाता है कि शान्तिदेव 'श्रीगृह्यसमाजमहायोगतन्त्रविविधि' नामक तान्त्रिक ग्रन्थ के रचियता थे। दरवार-लाइब्रेरी, नेपाल में 'चर्याचर्यविनिष्चय' नामक तालपत्र से मालूम होता है कि भुमुकु ने वज्ययान के कई ग्रन्थ लिखे, वैंगला में भुसुकु के कई गान वताये जाते हैं। एक गान में लिखा कि वह वगाली थे—

४८ रागमल्लारी भुसुकुपादानां— वाजनाव पाडी पऊँग्रा खालें वाहिउ । स्रवय वंगाले क्लेश लुडिउ ॥ ध्रु० ॥

## ग्राजि भुसुकु वंगाली भइलि— एने ग्रवरिणी चण्डालि लेलि ॥ध्रु०॥

प्रज्ञापारिमताम्भोधिपरिमथनातमृतपरितोषितिसिद्धाचार्य भुसुकुपादो वंगालिका व्याजेन तमेवार्थं प्रतिपादयति । प्रज्ञारिवन्दकुहरह्नदे सद्गुरुचरणोपायेन प्रवेशित तत्रा-नन्दादि शब्दोहीत्यादि श्रक्षरसुखाद्वय वंगालेन वाहित इति श्रभिन्नत्वं कृतं ।

यह नगर वगाल में था। वगाल मध्यप्रदेश के ग्रागे है। ग्रान्तिदेव तराई के जगलों में गये। उनका काल ६४८ ईसवी से ८१६-=३८ ईसवी है, जब कि यह ग्रन्थ तिव्वती-भाषा में ग्रन्दित हुग्रा। भुसुकु द्वारा निर्मित वतायें जानेवालें गीत भी इसी समय के होगे। यद्यपि ये वौद्धधर्म के सहजिया-सम्प्रदाय के गीत हैं, जो वज्ययान की एक गाला है; ग्रथवा उसी का पर्याय है। नेपाल की दरवार-लाइबेरी में 'वोधिचर्यावतारानुगम' नाम का एक ग्रन्य है, जो कि वोधिचर्यावतार ही है, केवल उसमे कुछ पद जोड दियें गये हैं। भुसुकु ने एक दोहें में ग्रपना नाम 'कण्ट' लिखा है--

राउत भणइ कट भुसुकु भणइ कट सम्रला म्रइस सहाव। ज इतो मूढा म्रइसी भान्ति पुच्छतु सद्गुरु पाव।।

हरप्रसाद शास्त्री इस सम्बन्ध में 'दोहा' में कुछ ग्रीर भी कहना चाहते हैं। वासिल-जीन का खयाल है कि ग्रपभ्रश में वौद्ध ग्रन्थ थे। तारानाथ का भी यही मत है। नेपाल में सन् १८६८६६० में वेण्डल ग्रीर मुझको (हरप्रसाद शास्त्री को) 'सुभाषितसग्रह' नामक ग्रन्थ मिला था—वेण्डल ने इसे प्रकाशित किया है।

इसमे अपभ्रश के कुछ उद्धरण है। सन् १६०७ ई० में मैंने (हरप्रसाद शास्त्री ने) अपभ्रश के कई ग्रन्थ नेपाल में पाये। इसे मैं (हरप्रमाद शास्त्री) प्राचीन वँगला कहता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व भारत में ७वी, प्रवी और ६वी शताब्दी में यही भाषा वोली जाती थी।

दशम श्रध्याय में हम शान्तिदेव के श्राधार पर वोधिचयों एवं उनके दर्शन का विस्तार देगे।

शान्तरक्षित—दवी णताव्दी मे शान्तरक्षित ने तत्त्वसग्रह नाम के ग्रन्थ की रचना की।
यह ग्रन्थ कमलशील की टीका के साथ वड़ोदा से प्रकाशित हुन्ना है। इस ग्रन्थ मे स्वातन्त्रिक-योगाचार की दृष्टि से वीद्ध तथा ग्रन्थ दार्शनिक मतवादों का खण्डन किया है। शान्तरिक्षत नालन्दा से तिव्वत गये थे। वहाँ उन्होंने 'मामये' नाम के मघाराम की स्थापना नन् ७४६ ई० में की थी। इनकी मृत्यु तिव्वत मे सन् ७६२ ई० में हुई।

#### नवम अध्याय

### माहातम्य, स्तोत्र, धारणी श्रीर तन्त्रो का सिक्षप्त परिचय

महायान-सूत्र ग्राँर पुराणों में वडा मादृण्य है। जिस तरह पौराणिक साहित्य में ग्रनेक माहात्म्य ग्रौर स्तोव पाये जाते हैं, उसी तरह महायान-साहित्य में भी इसी प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं। स्वयम्भूपुराण, नेपालमाहात्म्य ग्रौर इसी प्रकार के ग्रन्य ग्रन्थों से हम परिचित है। स्वयम्भूपुराण में नेपाल के तीर्थ-स्थानों की महिमा वर्णित है। यह ग्रन्थ पुराना नहीं है। महावस्तु तथा लिजितविस्तर में भी कुछ स्तोत्र पाये जाते हैं। मातृचेट के स्तोत्र का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।

तिव्वती-श्रनुवाद में नागार्जुन का चतु स्तव मिलता है। सुप्रभातस्तव, लोकेश्वर-शतक श्रीर परमार्थ नाम मगीति भी प्रसिद्ध है। तारा के लिए श्रनेक स्तोव लिखे गये हैं। द्वी शताब्दी में इस प्रकार का एक स्तोव कश्मीरी किन सर्वज्ञमित्र ने लिखा था। इसका नाम श्रार्थतारा-स्राधरा-स्तोव है।

धारणी का महायान-साहित्य में वडा स्थान है। धारणी रक्षा का काम करती है। जो कार्य वैदिक मन्त्र करते थे, विशेषकर ग्रथवंवेद के, वहीं कार्य वौद्धधमं में 'धारणी' करती है। मिहल में ग्राज भी कुछ मुन्दर 'मुत्तो' से 'परित्त' का काम छेते है। इसी प्रकार, महायान धर्मानुयायी सूत्रों को मन्त्रपदों में परिवर्त्तित कर देते थे। ग्रल्पाक्षरा प्रज्ञापारिमता (सूत्र)धारणी का काम करती है। धारणियों में प्राय बुद्ध, वोधिसत्त्व ग्रीर ताराग्रों की प्रार्थना होती है। धारणी के ग्रन्त में कुछ ऐसे ग्रक्षर होते हैं, जिनका कोई ग्रथं नहीं होता। धारणी के साथ कुछ ग्रनुष्ठान भी होते हैं। ग्रनावृष्टि, रोग ग्रादि के ममय धारणी का प्रयोग होता है। पाँच धारणियों का एक मग्रह 'पचरक्षा' नेपाल में ग्रत्यन्त लोकप्रिय है। इनके नाम इस प्रकार है—महाप्रतिसार, महामहस्रप्रमर्दिनी, महामयूरी, महाशीतकर्त्ता, महा (रक्षा) मन्त्रानुमारिणी। महामयूरी को विद्या राजी कहते है। मर्पदण तथा ग्रन्य रोगों के लिए इसका प्रयोग करते हैं। हर्पचरित में इसका उल्लेख है।

मन्त्रयान ग्रीर वज्रयान महायान की शाखाएँ है। मन्त्रयान में मन्त्रपदों के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। इन मन्त्रपदों में गुह्मशक्ति होती है। वज्रयान में मन्त्रों द्वारा तथा 'वज्र' द्वारा निर्वाण का लाभ होता है। शून्य ग्रीर विज्ञान वज्रतुल्य है ग्रीर इमलिए उनका विनाण नहीं होता। वज्रयान ग्रद्धैत-दर्शन की शिक्षा देता है। मव मत्त्व वज्र-सत्त्व है। ग्रीर एक ही वज्र-सत्त्व सव जीवों में पाया जाता है।

शाक्तो के अनुसार विकाय के अतिरिक्त एक सुखकाय भी है। इस महासुख की प्रीति एक अनुष्ठान द्वारा होती है। मन्त्रयान और वष्त्रयान का साहित्य 'तन्त्र' कहलाता है। कुछ महायानसूत्र ऐसे है, जिनमे तन्त्र-भाग भी पाया जाता है। बौद्ध तन्त्रो के चार वर्ग है—िक्तया-तन्त्र, जिसमे मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्ध रखनेवाले अनुष्ठान वर्णित है; चर्यातन्त्र, जिसमे चर्या का वर्णन है, योगतन्त्र, जिसमें योग की किया वर्णित है और अनुत्तरयोग-तन्त्र। प्रथम वर्ग का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आदिकर्मप्रदीप' है, जिसहे गृह्यसूत्रो तथा कर्मप्रदीपो की शैली में बुद्धत्व की कामना से महायान का अनुसरण करनेवाले 'आदिकर्मिक बोधिसत्त्व' की दीक्षा के नियमो तथा उसकी दिनचर्या बताई गई है। कियातन्त्र का दूसरा ग्रन्थ 'ग्रष्टमी-व्रत-विधान' है, जिसमें प्रतिपक्ष की ग्रष्टमी को रहस्यमय मन्त्रो और मुद्राग्रो के करने का ग्रनुष्ठान विहित है।

तन्त्र-साहित्य में साधनाग्रो का भी समावेण होता है। साधनाग्रो में मन्त्रो, मुद्राग्रो ग्रीर ध्यान के द्वारा ग्रणिमा, लिघमा ग्रादि सिद्धियों के ग्रतिरिक्त सर्वज्ञता तथा निर्वाण की सिद्धि के उपाय बताये गये हैं। ध्यान के लिए उपास्य देवो का जो वर्णन किया गया है, उसका बौद्ध शिल्पियो ने मूर्त्ति-निर्माण के लिए पर्याप्त उपयोग किया है। इस दृष्टि से 'साधनमाला', जिसमे ३१२ साधनाएँ सगृहीत है, तथा 'साधनसमुच्चय' जैसे ग्रन्थो का बडा महत्त्व है । उपास्य देवो में ध्यानी बुद्ध तथा उनके कुटुम्व ग्रौर तारा ग्रादि देवियाँ भी है। बौद्धो का कामदेव भी है, जिसका नाम वज्जानग है, भ्रौर जो मजुश्री का अवतार है। साधनास्रो का मुख्य तात्पर्य तन्त्र स्रीर इन्द्रजाल से है, यद्यपि इनका ऋधिकार प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास, ध्यान, पूजा, मैंत्री, का विस्तृत निरूपण है । साधनास्रो का निर्माण-काल ७वी से ११वी शताब्दी तक माना गया है। कतिपय साधनात्रों के प्रणेता तन्त्रों के भी प्रणेता बताये गये हैं। नागार्जुन ने (माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रणेता नही) ७वी शताब्दी मे अनेक साधनात्रो और तन्त्रो का प्रणयन किया। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये एक साधना भोट देश, ग्रर्थात् तिव्वत से लाये थे। इनके स्रनेक तन्त्र-ग्रन्थ तजोर में पाये गये है। उडि्डयान (उडीसा) के राजा श्रीर 'ज्ञान-सिद्धि' तथा अनेक अन्य तन्त्र-ग्रन्थो के रचियता इन्द्रभूति ( ६८७-७१७ ई०) भी एक साधना के प्रणेता बताये जाते हैं। इनके समकालीन पद्मवज्य-कृत 'गुह्मसिद्धि' मे वज्रयान की समस्त गुद्धि कियाग्रो का निरूपण है। इन्द्रभूति के पुत्र पद्मसम्भव लामा-सम्प्रदाय के प्रणेता थे। इन्द्रभृति की बहन लक्ष्मीकरा ने अपने ग्रन्थ 'ग्रद्वयसिद्धि' मे सहजयान के नवीन ग्रद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो बगाल के वाउल लोगो में श्रव भी प्रचलित है। उसने तपस्या, किया तथा मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया, ग्रौर सर्वदेवो के निवासस्थान मानव-शरीर का ध्यान करने का विधान किया। तन्त्र-लेखको मे 'सहजयोगिनीचिन्ता' ग्रादि ग्रन्य प्रमुख लेखिकाग्रो के ग्रनेक नाम दिखाई देते हैं।

प्रारम्भिक तन्त्र महायानसूत्रो से बहुत मिलते-जुलते हैं। इसमें ७वी शती में प्रणीत 'तथागतगृह्यक' या 'गृह्यसमाज' वडा प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'पचकर्म इसी का एक ग्रम कहा जाता है। यह श्रनुत्तर योगतन्त्र है। इसमें मुख्य रूप से योगिमिद्धि की पाँच भूमियों का ही वर्णन है, किन्तु इन भूमियो की प्राप्ति के उपाय मण्डल, यन्त्र, मन्त्र ग्रीर देवपूजन वताये गये हैं। इस ग्रन्थ के पाँच भाग है। तीसरे भाग के रचियता भाक्यमित्र ( ५५० ई० ) तथा भेप ४ भागों के प्रणेता नागार्जुन वताये गये हैं।

'मजुश्रीमूलकल्प' नाम का ग्रन्थ श्रपने को 'श्रवतसक' के ग्रन्तर्गत 'महावैपुल्यमहायान-सूत्र' के रूप मे प्रकट करता है। किन्तु, विषय की दृष्टि से यह मन्त्रयान के श्रन्तर्गत है। इसमे शाक्यमुनि ने मजुश्री को मन्त्र, मुद्रा ग्रीर मण्डलादि का उपदेश किया है। 'एकल्लवीर-चण्डमहारोपणतन्त्र' में एक ग्रोर महायान-दर्शन के श्रनुसार प्रतीत्यसमृत्पाद की व्याख्या की गई है ग्रीर दूसरी ग्रोर योगिनियों की साधनाएँ वताई गई है। 'श्रीचकसम्भारतन्त्र' में, जो केवल तिव्वती-भाषा में उपलब्ध है, महासुख की प्राप्ति के साधन-रूप से मन्त्र, ध्यान ग्रादि का निरूपण है ग्रीर मन्त्रों की प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है।

# दश्म अध्याय

## महायान में साधना की नई दिशा

महायान में उपदेशको का ग्रदम्य उत्साह ग्रौर जीवो की ग्रर्थंचर्या की ग्रमिट ग्रिमलाषा थी। उनका स्रादर्श स्रर्हत् के समान व्यक्तिगत निःश्रेयस् के लाभ का न था। पूर्णावदान मे इस नये प्रकार के भिक्षु का चित्र हमको मिलता है। यह कथा पालिनिकाय मे भी है (सयुक्त, ४।६०, मज्झिम, ३।२६७) । किन्तु, दिव्यावदान में इसका विकसित रूप मिलता है । दिव्यावदान के अनुसार पूर्ण जन्म से ही रूपवान्, गौर, सुवर्णवर्ण का था और वह महापुरुष के कुछ लक्षराो से समन्वागत था। शाक्यमुनि ने उसकी उपसम्पदा की थी। उसने वुद्ध से सिक्षप्त स्रववाद की देशना चाही। भगवत् ने देशनानन्तर पूछा कि तुम किस जनपद मे विहार करोगे ? पूर्ण ने कहा-शोणापरान्तक मे । बुद्ध ने कहा--किन्तु वहाँ के लोग चण्ड है, परुषवाची है । यदि श्राक्रोश करे, तुम्हारा श्रपवाद करे, तो तुम क्या सोचोगे ? पूर्ण ने कहा—मै सोचूँगा कि वे लोग भद्रक है, जो मुझे हाथ से नही मारते; केवल परुष-वचन कहते है । बुद्ध ने फिर कहा--यदि वह हाथ से मारें, तो क्या सोचोगे ? पूर्ण ने कहा कि में सोचूँगा कि वे लोग भद्रक है, जो मुझे हाथ से मारते है, दण्ड से नहीं मारते । बुद्ध ने पुन पूछा--यदि वे दण्ड से मारे ? पूर्ण ने कहा - तब मैं सोचूँगा कि भद्र पुरुप है, जो मेरे प्राण नहीं हर लेते। श्रौर यदि वे प्राण हर ले ? पूर्ण ने कहा-तब में सोचूँगा कि वे भद्रपुरुष है, जो मुझे इस पूर्तिकाय (दुर्गन्धपूर्ण शरीर) से त्रनायास ही विमुख करते हैं। बुद्ध ने कहा—साधु-साधु । इस उपशम से, इस क्षान्तिपारिमता से समन्वागत हो, तुम उन चण्ड पुरुषो में विहार कर सकते हो। जाग्रो पूर्ण । दूसरो को विमुक्त करो । दूसरो को ससार के पार लगाग्रो।

पूर्ण का ग्रादर्श ग्रहंत्त्व नही है। वह वोधिसत्त्व है, ग्रर्थात् उसका ग्रभिप्राय वोधि की प्राप्ति है। वह कुछ लक्षणों से ग्रन्वित है, सब लक्षणों से नहीं, जैसे बुद्ध होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण वोधिचर्या में कुछ उन्नति कर चुका है। उण्णीप, ऊर्गा, उसके लम्बे हाथ, सब इसके चिह्न है। वह क्षान्तिपारिमता से समन्वागत है। जब वह श्रोणापरान्तक में उपदेश का कार्य ग्रारम्भ करता है, तब लोग उसके साथ दुष्ट व्यवहार करते हैं। एक लुच्धक, जो ग्राखेट के लिए जा रहा था, इस मुण्डित भिक्षु को देखकर, उसे श्रपशकुन समझा, उसकी ग्रीर दौडा। पूर्ण ने उससे कहा कि तुम मुझे मारो, हरिण का वध मत करो। यह नवीन प्रकार का भिक्षु है, जो धर्म के प्रचार को सबसे ग्रधिक महत्त्व देता है। इसमें सन्देह नहीं कि हीनयान के भिक्षुग्रों में भी इस प्रकार का उत्साह था, जैसे ग्रानन्द में। किन्तु, इस नये भिक्षु

की साधना श्रष्टागिक मार्ग की नही है, पारमिता की है। यह क्षान्तिपारमिता में परिपूर्ण है। यह बुद्ध होना चाहता है, ग्रह्त् नही। जातक की निदान-कथा से माल्म होता है कि शाक्यमुनि ने ५४७ जन्मो मे पारिमताग्रो की साधना की थी। वृद्ध होने के पूर्व वे वोधिसत्त्व थे । इस चर्या से उन्होने पुण्य ग्रीर ज्ञान-सम्भार प्राप्त किया था । वेस्सन्तर जातक में वोधिसत्त्व ने ग्रपने गरीर का मास भी दान मे दे दिया था। वे सबके साथ मैं बी-भाव रखते थे। वे कहते है--जैसे माता ग्रपने एकमात पुत्र की रक्षा प्राण देकर भी करती है, उसी प्रकार सब जीवो के साथ ग्रप्रमेय (प्रमाण-रहित ) मैंत्री होनी चाहिए। इस नई विचार-प्रणाली के ग्रनुसार भिक्षु इस मैती-भावना के विना नहीं हो सकता। इस दृष्टि में वुद्ध का पूर्ण वैराग्य ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु बुद्ध की सिक्रय मैंबी भी चाहिए। यह महायान का श्रादर्श है। बोधिसत्त्व मसार के जीवों के निस्तार के लिए निर्वाण में प्रवेश को भी स्थगित कर देता है। वह सब जीवों को दु ख से विमुक्त करना चाहता है। वह कहता है कि सवका दु ख-सुख वरावर है। मुझे मवका पालन ग्रात्मवत् करना चाहिए । जब सबको समान रूप से दुख ग्रौर भय ग्रप्रिय है, तब मुझमें क्या विशेषता है, जो मै अपनी ही रक्षा करूँ, दूसरो की न करूँ। उसके अर्हत्त्व से क्या लाभ, जो अपने लिए ही अर्हत् है ? क्या वह राग-विनिर्मुक्त है, जो अपने ही दु:ख-विमोचन का खयाल करता है ? जो केवल ग्रपने ही निर्वाण का विचार करता है, जो स्वार्थी है, जो मर्वक्लेश-विनिर्मुक्त है, जो द्वेष ग्रौर करुणा दोनो से विनिर्मुक्त है, ऐसा ग्रर्हत् क्या निर्वाण के मार्ग का पियक होगा ? हीनयानी व्यर्थ कहते है कि उनका ग्रर्हत् जीवन्मुक्त है। सच्चा ग्रर्हत् वोधिमत्त्व है। इनके ग्रनुसार हीनयानियो का मोक्ष श्ररिमक है (वोधिचर्यावतार, =190=)। ग्रर्हत् के निर्वाण ग्रौर बुद्ध के निर्वाण में भी भेद हो गया। स्तोत्रकार मातृचेट कहते हैं कि जिस प्रकार नील श्राकाश ग्रीर रोमकूप के विवर दोनो ग्राकाण-धातु है, किन्तु दोनो में ग्राकाण-पाताल का ग्रन्तर है, उसी प्रकार का श्रन्तर भगवत् के निर्वाण श्रीर दूसरो के निर्वाण में है।

## वुद्ध के पूर्वजन्म

शाक्यमुनि सर्वज्ञ थे। वे परम कारुणिक थे। जीवो के उद्घार के लिए उन्होने उस सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का ग्राविष्कार किया, जिस पर चलकर लोग ससार से मुक्त होते हैं। उन्होने सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति केवल ग्रपने लिए नहीं की, किन्तु ग्रनेक जीवो के क्लेश-वन्धन को नष्ट करने के लिए की। इसके विपरीत ग्रह्त् केवल ग्रपने निर्वाण के लिए यत्नवान् होता था। ग्रह्त् का ग्रादर्श बुद्ध के ग्रादर्श की ग्रपेक्षा तुच्छ था। इस विशेषता का कारण यह है कि बुद्ध ने पूर्वजन्मों में पुण्यराशि का सचय किया था, ग्रीर ग्रनन्त ज्ञान प्राप्त किया था। भगवान् बुद्ध का जीवनचरित ग्रध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह पूर्वजन्मों में 'वोधिमत्त्व' थे। जातक की निदान-कथा में वर्णित है कि ग्रनेक कल्प व्यतीत हो गये कि शाक्यमुनि श्रमरवती नगरी में, एक ब्राह्मण-कुल में, उत्पन्न हुए थे। उनका नाम सुमेध था। वाल्यकाल में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। सुमेध को वैराग्य उत्पन्न हुग्रा ग्रीर

उसने तापस-प्रवरण्या की। एक दिन उसने विचार किया कि पुनर्भव दु ख है, मैं उस मार्ग का श्रन्वेषण करता हूँ, जिसपर चलने से भव से मुक्ति मिलती है। ऐसा मार्ग श्रवश्य है। जिस प्रकार लोक मे दु ख का प्रतिपक्ष सुख़ाहै, उसी प्रकार भव का भी प्रतिपक्ष विभव होना चाहिए। जिस प्रकार उष्ण का उपशम शीत है, उसी प्रकार रागादि दोष का उपशम निर्वाण है। विचार कर सुमेध तापस हिमालय में पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। उस समय लोकनायक दीपकर बुद्ध ससार में धर्मोपदेश करते थे। एक दिन सुमेध तापस ग्राश्रम से निकलकर ग्राकाश-मार्ग से जा रहे थे, देखा कि लोग नगर को ग्रलकृत कर रहे है, भूमि को समतल कर रहे है, उस पर बालुका ग्राकीर्ण कर लाज ग्रीर पुष्प विकीर्ण कर रहे है, नाना रग के वस्त्रो की ध्वजा-पताका का उत्सर्ग कर रहे हैं भ्रौर कदली तथा पूर्ण घट की पक्ति प्रतिष्ठित कर रहे हैं। यह देखकर सुमेध त्राकाश से उतरे ग्रीर लोगो से पूछा कि किसलिए मार्ग-शोधन हो रहा है। सुमेध को प्रीति उत्पन्न हुई ग्रौर 'बुद्ध-बुद्ध' कहकर वे बडे प्रसन्न हुए। सुमेध भी मार्ग-णोधन करने लगे। इतने में दीपकर बुद्ध आ गये। भेरी बजने लगी। मनुष्य और देवता 'साधु-साधु' कहने लगे। स्राकाश से मन्दार-पुष्पो की वर्षा होने लगी। सुमेध स्रपनी जटा खोलकर, वल्कल, चीर श्रीर चर्म बिछाकर, भूमि पर लेट गये श्रीर यह विचार किया कि यदि दीपकर मेरे शरीर का श्रपने चरणकमल से स्पर्श करे, तो मेरा हित हो। लेटे-लेटे उन्होने दीपकर की बुद्धश्री को देखा श्रौर चिन्ता करने लगे कि सर्वक्लेश का नाश कर निर्वाण-प्राप्ति से मेरा उपकार न होगा। मुझको यह अच्छा मालूम होता है कि मै भी दीपकर की तरह परम सम्बोधि प्राप्त कर अनेक जीवो को धर्म की नौका पर चढाकर ससार-सागर के पार ले जाऊँ, ग्रौर पश्चात् स्वय परि-निर्वाण में प्रवेश करूँ। यह विचार कर उन्होने 'बुद्धभाव' के लिए उत्कट ग्रभिलाषा (पालि = म्रभिनीहार) प्रकट की।

दीपकर के समीप सुमेध ने बुद्धत्व की प्रार्थना की ग्रौर ऐसा दृढ विचार किया कि बुद्धों के लिए मैं ग्रपना जीवन भी परित्याग करने को उद्यत हूँ। इस प्रकार, सुमेध ग्रधिकार-सम्पन्न हुए।

दीपकर पास ग्राकर बोले—इस जिंटल तापस को देखो। यह एक दिन बुद्ध होगा। यह बुद्ध का 'व्याकरण' हुग्रा। 'यह एक दिन बुद्ध होगा', इस वचन को सुनकर देवता ग्रौर मनुष्य प्रसन्न हुए ग्रौर बोले—यह 'बुद्धबीज' है, यह 'बुद्धाकुर' है। वहाँ पर जो 'जनपुत' (बुद्धपुत्त) थे, उन्होने सुमेध की प्रदक्षिणा की, लोगो ने कहा—तुम निश्चय ही बुद्ध होगे। दृढ पराक्रम करो, ग्रागे वढो, पीछे न हटो। सुमेध ने सोचा कि बुद्ध का वचन ग्रमोध होगा।

बुद्धत्व की आकाक्षा की सफलता के लिए सुमेध बुद्धकारक धर्मों का अन्वेपण करने लगे, और महान् उत्साह प्रदर्शित किया। अन्वेषण करने से १० पारमिताएँ प्रकट हुई, जिनका आसेवन पूर्वकाल में बोधिसत्त्वों ने किया था। इन्हीं के ग्रहण से बुद्धत्व की प्राप्ति होगी। 'पारमिता' का अर्थ है 'पूर्णता', पालिरूप 'पारमी' है। दस पारमिताएँ ये हैं — दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान (दृढ निश्चय), मैंबी (ग्रहित और हित में समभाव

रखना) तथा उपेक्षा (मुख ग्रीर दु'ख में समान रूप रहना)। सुमें छ ने बुद्धगुणो का ग्रहण कर दीपकर को नमस्कार किया। सुमेध की चर्या, ग्रथांत् माधना प्रारम्भ हुई ग्रीर ५५० विविध जन्मों के पश्चात् वह तुपित-लोक में उत्पन्न हुए, ग्रीर वहाँ वोधि-प्राप्ति के सहस्र वर्ष पूर्व बुद्ध- हलाहल शब्द इस ग्रमिप्राय से हुग्रा कि सुमेध की सफलता निश्चित है। तुपितलोक से च्युत होकर मायादेवी के गर्भ में उनकी ग्रवकान्ति हुई, ग्रीर मनुष्यभाव धारण कर उन्होने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की।

सुमेध-कथा से स्पष्ट है कि सुमेध ने मम्यक् मम्बोधि के ग्रागे ग्रहंत् के ग्रादर्श निर्वाण को तुच्छ ममझा ग्रीर वृद्धत्व की प्राप्ति के लिए दस पारिमताग्रो का ग्रहण किया। णाक्य मुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर पारिमताग्रो द्वारा सम्यक् मम्बुद्ध की लोकोत्तर सम्पत्ति प्राप्त की। णाक्यमुनि का पुण्य-मम्भार ग्रीर ज्ञान ग्रहंत् के पुण्य-मम्भार ग्रीर ज्ञान से कही बढकर है। बुद्ध ग्रन्य ग्रहंतो से भिन्न है, क्योंकि उन्होंने निर्वाण-मार्ग का ग्राविष्कार किया है। ग्रहंत् ने वृद्ध के मुख से दुख-निरोध का उपाय श्रवण किया, ग्रीर उनके वताये हुए मार्ग का ग्रनुमरण कर ग्रहंत-ग्रवस्था प्राप्त की। बुद्ध का ज्ञान ग्रनन्त है ग्रीर उनकी चर्या, साधना परार्थ है।

### बुद्धत्व

महायान-धर्म मर्वभूतदया पर श्राश्रित है। 'श्रार्यगयाणीर्प' में कहा है-

किमारभ्भा मञ्जुश्री वोधिसत्त्वानां चर्या। किमधि छाना। मञ्जुश्रीराह महा-करुणारम्भा देवपुत्र वोधिमत्त्वाना चर्या सत्त्वाधिष्ठानेति विस्तरः।

(वोधिचर्यावतारपजिका, पु० ४८७)

त्रर्थात्, हे मजुश्री, वोधिसत्त्वो की चर्या का ग्रारम्भ क्या है, श्रीर उसका ग्रधिष्ठान, ग्रर्थात् ग्रालम्बन क्या है न मजुश्री वोले—हे देवपुत्र वोधिमत्त्वो की चर्या महाकरुणा-पुर सर होती है, ग्रत महाकरुणा ही उसका ग्रारम्भ है। इस करुणा के जीव ही पात है। दु खित जीवो का ग्रालम्बन करके ही करुणा की प्रवृत्ति होती है।

म्रार्यधर्ममगीति में कहा है-

न भगवन् वोधिसत्त्वेनातिबहुषु धर्मेषु हि,क्षितव्यम् । एक एव हि धर्मो बोधिसत्त्वेन स्वाराधितकर्त्तव्यः सुप्रतिविद्धः । तस्य करतलगता सर्वे बुद्धधर्मा भवन्ति ।

भगवन् ! येन वोधिसत्त्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्ववृद्धधर्माः गच्छिन्त । तद्यया भगवन् जीवितेन्द्रिये नित ज्ञेषाणाम् इन्द्रियाणा प्रवृत्तिर्भवति एवमेव भगवन् महाकरुणाया सत्याम् वोधिकारकाणाम् धर्माणा प्रवृत्तिर्भवति ।

(वोधि०, पृ० ४८६-४८७)

ग्रथीत्, हे भगवन्, बोधिसत्त्व के लिए वहुधर्म की शिक्षा का ग्रहण ग्रनावश्यक है। वोधिसत्त्व को एक ही धर्म स्वायत्त करना चाहिए। उसके हस्तगत होने से सव बुद्धधर्म हस्तगत होते है। जिम ग्रोर महाकरुणा की प्रवृत्ति होती है, उमी ग्रोर सव बुद्धधर्मों की प्रवृत्ति होती है, जिम प्रकार जीवितेन्द्रिय के रहते ग्रन्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार महाकरुणा के रहने से वोधिकारक ग्रयवा वोधिपाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति होती है। महायान-धर्म में महाकरणा को सम्यक् सम्बोधि का साधन माना है। भगवान बुद्ध के चिरत से भी महाकरणा की उपयोगिता प्रकट होती है। 'महावग्ग' में वर्णित है कि जब भगवान को वोधि-वृक्ष के तले सम्बोधि प्राप्त हुई, तब धर्म-देशना में उनकी प्रवृत्ति न थी। उन्होंने सोचा कि लोग ग्रन्धकार से ग्राच्छत्र है, ग्रीर राग-दोष से सयुक्त है। ग्रत, धर्म का प्रकाश नहीं देख सकते। यदि में इन्हें धर्मीपदेश भी करूँ, तब भी इनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति न होगी। बुद्ध का यह भाव जानकर ब्रह्मा सहम्पित को चिन्ता हुई कि यदि बुद्ध धर्मीपदेश न करेगे, तो ससार नष्ट हो जायगा। ग्रात्तंजन को दु खार्णव के उस पार कौन छे जायगा, ग्रीर धर्मनदी का प्रवर्त्तन कर कौन जीवलोक की तृष्णा का उपशम करेगा? यह विचार कर ब्रह्मा बुद्ध के सम्मुख प्रादुर्भूत हुए, ग्रीर भगवान से प्रार्थना की, कि भगवान धर्म का उपदेश करे, नहीं तो जो लोग दोषपूर्ण है, वे धर्म का परित्याग कर देगे। भगवान ने कहा कि मेने गम्भीर ग्रीर दुरनुबोध धर्म पाया है, पर धर्म-देशना में मेरा चित्त नहीं लगता। ब्रह्मा के विशेष प्रार्थना करने पर जीवो पर करणा कर भगवान ने बुद्ध-चक्ष से लोक को देखा ग्रीर जाना कि जीव दु खार्दित है। ग्रत, ब्रह्मा सहम्पित की प्रार्थना भगवान ने स्वीकार की ग्रीर सर्वभूतदया से प्रेरित होकर सत्त्वों के कल्याण के लिए धर्मीपदेश किया।

जहाँ 'हीनयान' का अनुगामी केवल अपने दुःख का अत्यन्त निरोध चाहता है, वहाँ महायान-धर्म का साधक बुद्ध के समान अपने ही नहीं, किन्तु सत्त्व-समूह के जन्म-मरणादि दु खो का अपनयन चाहता है। बोधिचर्या (बुद्धत्व की प्राप्ति की साधना, जो पारिमता की साधना है) का ग्रहण केवल इसी अभिप्राय से है कि जिसमें साधक सब चीजो का समुद्धरण करने में समर्थ हो। महायान का अनुगामी निर्वाण का अधिकारी होते हुए भी भूतदया से प्रेरित हो, ससार का उपकार करने के लिए अपने इस अपूर्व अधिकार का भी परित्याग करता है। इसी कारण महायान-ग्रन्थों में सप्तविध अनुत्तर पूजा का एक ग्रग 'बुद्ध-याचना' कहा है, जिसमें निर्वाण की इच्छा रखनेवाले कृतकृत्य जनों से प्रार्थना की जाती है, कि वे अनन्त कल्प तक निवास करें, जिसमें यह लोक अन्धकार से ग्राच्छन्न न हो।

हीनयान तथा महायान की परस्पर तुलना करते हुए अष्टसाहस्निकाप्रज्ञापारिमता के एकादश परिवर्त्त में कहा है कि हीनयान के अनुयायी का विचार होता है कि में एक आत्मा का दमन करूँ, एक आत्मा को शम की उपलिध कराऊँ और एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊँ। उसकी सारी चेष्टाएँ इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए होती है। पर बोधिसत्त्व की शिक्षा अन्य प्रकार की है। उसका अभिप्राय उदार और उत्कृष्ट है। वह अपने को परमार्थ-सत्य में स्थापित करना चाहता है, पर साथ-ही-साथ सब सत्त्वों की भी परमार्थ-सत्य में प्रतिष्ठा चाहता है। वह अप्रमेय सत्त्वों को परिनिर्वाण की प्राप्ति कराने के लिए उद्योग करता है, उसलिए बोधिसत्त्व को हीनयान की शिक्षा ग्रहण न करनी चाहिए। सर्वज्ञान के मूल स्वरूप प्रज्ञापारिमता को छोडकर जो शाखा-पत्त-स्वरूप हीनयान में सार-वृद्धि देखते हैं, वह भूल करते हैं।

एक महायान-ग्रन्थ का कहना है कि महाकरुणा ही मोक्ष का उपाय है। हीनयान-वादी इस मोक्षोपाय को नही रखता। उमकी प्रज्ञा ग्रसमर्थ है, क्योंकि वह पाप-शोधन का उपाय नहीं रखता।

महायान-प्रत्यों के अनुसार जो बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए यत्नवान् है, अर्थात् जो वोधिसत्त्व है, उसे पट् पारिमता का ग्रहण करना चाहिए। दान-शीलादि गुणों में जिसने पूर्णता प्राप्त की है, उसके लिए कहा जाना है कि इसने दान-शीलादि पारिमता हस्तगतं कर ली है। यही वोधिमत्त्व-शिक्षा है और इसी को वोधिचर्या कहते है।

पट् पारमिताएँ निम्नलिखित है--दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान ग्रीर प्रज्ञा। पारमिता में प्रज्ञापारमिता का प्राधान्य है। प्रज्ञापारमिता यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। इसका दूसरा नाम भूत-तथता है। प्रज्ञा के विना पुनर्भव का अन्त नही होता। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए ही ग्रन्य परिमतात्रों की शिक्षा कही गई है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर ही दान श्रादि पूर्णता को प्राप्त होते है, श्रौर 'पारमिता' का व्यपदेश प्राप्त करते है। बुद्धत्व की प्राप्ति में इस पुण्य-सम्भार की परिणामना होने के कारण ही इनकी पारिमता सार्थक होती है। यह पच-पारमिता प्रज्ञा-रहित होने पर लौकिक कहलाती है। उदाहरण के लिए, जवतक दाता भिक्षु दान ग्रीर ग्रपने ग्रस्तित्व में विश्वाम रखता है, तवतक उसकी दान-पारमिता लीकिक होती है, पर जब वह इन तीनों के शून्य-भाव को मानता है तब उसकी पारिमता लोकोत्तर कहलाती है। जब पचपारमिताएँ प्रज्ञापारमिता से समन्वागत होती है, तभी वह सचक्षुष्क होती है, श्रीर उसको लोकोत्तर सज्ञा प्राप्त होती है। प्रज्ञा की प्रधानता होते हुए भी अन्य पारिमतास्रो का ग्रहण नितान्त भावश्यक है। सम्बोधि की प्राप्ति में दान प्रथम कारण है, शील दूसरा कारण है। दान, शील की अनुपालना क्षान्ति द्वारा होती है। दानादि-व्रितय पुण्य-सम्भार, वीर्य, श्रर्थात् कुणलोत्साह के विना नही हो सकता है। श्रीर, विना ध्यान, ग्रर्थात् चित्तैकाग्रता के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नहीं होता, क्योंकि समाहितचित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है, जिससे सब ग्रावरणो की ग्रत्यन्त हानि होती है।

इसी वोधिचर्या का वर्णन शान्तिदेव ने वोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय मे विशेष रूप से किया है। शान्तिदेव महायान-धर्म के एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गये है। इनके ग्रन्थों के श्राधार पर हम वोधिचर्या का वर्णन करेंगे।

### बोधिचित्त तथा बोधिचर्या

मनुष्य-भाव की प्राप्ति दुर्लभ है। इसी गाव में परम पुरुपार्थ ग्रभ्युदय ग्रौर नि श्रेयस् की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते है। यही भाव ग्रक्षणो भे विनिर्मु क्त है। ग्रक्षणावस्था में

९ श्राठ श्रक्षण ये हैं —नरकोषपत्ति, तिर्यगुपपत्ति, यमलोकोषपत्ति, प्रत्यन्तजनपदोषपत्ति, दीर्घाधुपदेवोषपत्ति, इन्द्रियविकलता, मिथ्याद् ष्टि, श्रौर चित्तोत्पादिवरागिता । (धर्मसग्रह)

धर्म-प्रविचय करना अशक्य है, इसलिए इस सुअवसर को खोना न चाहिए। यदि हमने मनुष्य-भाव मे ग्रपने ग्रौर पराये हित की चिन्ता न की, तो ऐसा समागम हमको फिर प्राप्त न होगा,। मनुष्य-भाव मे भी अकुशल पक्ष मे अभ्यस्त होने के कारण साधारणतया मनुष्य की बुद्धि शुभ-कर्म मे रत नहीं होती। पुण्य सर्वकाल में दुर्वल है ग्रौर पाप ग्रत्यन्त प्रवल है। ऐसी ग्रवस्था मे प्रवल पाप पर विजय केवल किसी बलवान् पुण्य द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। भगवान् बुद्ध ही लोगो की ग्रस्थिर मित को एक मुहूर्त के लिए शुभकर्मो की ग्रोर प्रेरित करते हैं। जिस प्रकार वादलो से घिरे हुए भ्राकाश-मण्डल मे राव्रि के समय क्षणमात्र के विद्युत्प्रकाश से वस्तु-ज्ञान होता है, उसी प्रकार इस अन्धकारमय जगत् मे भगवत्कृपा से ही क्षणमात्र के लिए मानव-वृद्धि शुभकर्मों मे प्रवृत्त होती है। वह बलवान् शुभ कौन-सा है, जो घोरतम पाप को ग्रपने तेज से स्रभिभूत करता है ? यह शुभ बोधिचित्त ही है । इससे बढकर पाप का प्रतिघातक स्रौर विरोधी दूसरा नही है। बोधिचित्त क्या है ? सब जीवो के समुद्धरण के ग्रभिप्राय से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् सम्बोधि मे चित्त का प्रतिष्ठित होना बोधिचित्त का ग्रहण करना है। एक बोधि-चित्त ही सर्वार्थसाधन की योग्यता रखता है। इसी के द्वारा ग्रनेक जीव भवसागर के पार लगते है। बोधिचित्त का ग्रहण सदा सबके लिए ग्रावश्यक है। इसका परित्याग किसी ग्रवस्था में न होना चाहिए। जो श्रावक की तरह दु ख का ग्रत्यन्त निरोध चाहते हैं, जो बोधिसत्त्वो की तरह केवल श्रपने ही नहीं, किन्तु सत्त्वसमूह के दुखो का श्रपनयन चाहते है, ग्रीर जिनको दुखाप-नयनमात्र नही, वरच ससार-सुख की भी श्रिभलाषा है, उन सबको सदा बोधिचित्त का ग्रहण करना चाहिए। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार (प्रथम परिच्छेद, श्लोक ८) मे कहते है--

भवदु.खशत।नि तत्तुंकामैरिप सत्त्वव्यसनानि हर्त्तुंकामै । बहुसौस्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ।।

बोधिचित्त के उदय के समय ही वह बुद्धपुत्र हो जाता है, और इस प्रकार देवता और मनुष्य सब उसकी वन्दना और स्तुति करते हैं। जिस प्रकार एक पल रस, सहस्र पल लोहें को सोना बना देता है, उसी प्रकार बोधिचित्त एक प्रकार का रसधातु है, जो मनुष्य के अमेध्य कलेंबर और स्वभाव को बुद्ध-विग्रह और स्वभाव में परिवर्त्तित कर देता है। बोधिचित्त-ग्रहण से पापशुद्धि होती है, ऐसा आर्य मैंन्नेय ने विमोक्ष में कहा है। जिस प्रकार एक गुहा का सहस्रो वर्षों से सचित अन्धकार प्रदीप के प्रवेशमात से ही नष्ट हो जाता है, और वहाँ प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार बोधिचित्त अनेक कल्पो के सचित पाप का ध्वस और ज्ञान का प्रकाश करता है। यह केवल सर्वशुभ का सचय ही नहीं करता, वरच उन समस्त दारुण और महान् पापो का एक क्षण में क्षय करता है, जो बोधिचित्त-ग्रहण के पूर्व किये गये हैं। जिस प्रकार कोई वडा अपराध करके भी किसी बलवान् की शरण में जाने से अपनी रक्षा करता हे, उसी प्रकार बोधिचित्त का आश्रय ग्रहण करने से एक ही क्षण में पुण्यराशि का अनुपम लाभ होता है, और समस्त पाप का ध्वस हो जाता है। बोधिचित्त के उत्पाद से प्रसूत आकाशधातु के समान व्यापक पुण्यराशि में पाप अन्तर्लीन हो जाता है, और जिस प्रकार सवल दुर्वल

को दवा देता है, उमी प्रकार पाप प्रतिपक्षी से ग्रिभमूत होकर फल देने में ग्रसमर्थ हो जाता है।

वोधिचित्त ही सब पापो के निर्मूल करने का महान् उपाय है। यह मतत फल देने-वाला कल्पवृक्ष है, सकल दारिद्य को दूर करनेवाला चिन्तामणि है ग्रीर सवका ग्रिभिप्राय परिपूर्ण करनेवाला भद्रघट है। ग्रार्थगण्डव्यूहसूत्र में भगवान् ग्रजित ने स्वय कहा है कि सब बुद्धधर्मों का बीज बोधिचित्त है ('बोधिचित्त हि कुलपुत्रवीजभूत मर्वबृद्धधर्माणाम्')। ग्रत, महायान-धर्म की शिक्षा की मूल भित्ति बोधिचित्त ही है।

वोधिचित्तोत्पाद के विना कोई व्यक्ति, जो महायान का श्रनुगामी होना चाहता है, वोधिसत्त्व की चर्या, ग्रयात् शिक्षा ग्रहण करने का ग्रधिकारी नही होता। वोधिचित्तग्रहण-पूर्वक ही बोधिमत्त्व-शिक्षा का समादान होता है, ग्रन्यथा नहीं। वह बोधिचित्त दो प्रकार का है-वोधिप्रणिधि-चित्त ग्रौर वोधिप्रस्थान-चित्त । प्रणिधि का ग्रर्थ है-ध्यान ग्रथवा कर्मफल का परित्याग। शिक्षासमुच्चय (पृ० ८) में कहा है—'मया वृद्धेन भवितव्यमिति चित्त प्रणिधानादुत्पन्न भवति । अर्थात्, मै सर्वजगत् के परिवाण के लिए बुद्ध होऊँ, ऐसी भावना प्रार्थना-रूप में जब उदित होती है, तब बोधिप्रणिधि-चित्त का उत्पाद होता है। यह पूर्वावस्था है। महायान का पियक होने की इच्छा-माल प्रकट हुई है। श्रभी उस मार्ग पर पियक ने प्रस्थान नहीं किया है। पर जब व्रत का ग्रहण कर वह मार्ग पर प्रस्थान करता है, श्रीर कार्य मे व्यापृत होता है, तव वोधिप्रस्थान-चित्त का उत्पाद होता है। प्रस्थान-चित्त निरन्तर पुण्य का देनेवाला है। इसीलिए, शूरंगमसूल में कहा है कि ऐसे प्राणी इम जीवलोक में श्रत्यन्त दुर्लभ है, जो सम्बोधि-प्राप्ति के लिए प्रस्थान कर चुके है। वह जगत् के दुख की स्रोपिध स्रौर जगदानन्द का वीज है। वह सव दु खित जनो के समस्त दु खो का स्रपनयन कर सवको सर्वसुख-सम्पन्न करने का उद्योग करता है। वह मव का ग्रकारण वन्धु है। उनका व्यापार त्रहैतुक है। उसकी महिमा त्रपार है, जो उसका निरादर करता है, वह सव वुद्धो का निरादर करता है श्रीर जो उसका सत्कार करता है, उसने सव वुद्धो का सत्कार किया।

सप्तिवध श्रनुत्तर पूजा—वोधिचित्त का उत्पाद करने के लिए सप्तिवध श्रनुत्तर पूजा का विधान है। धर्मसग्रह के श्रनुसार इस लोकोत्तर पूजा के मात श्रग इस प्रकार है—वन्दना, पूजना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, श्रध्येपणा, वोधिचित्तोत्पाद श्रौर परिणामना। वोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमित के श्रनुसार इस पूजा के श्राठ श्रग है—वन्दन, पूजन, शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येपण, याचना श्रौर वोधिपरिणामना।

वोधिचित्त-ग्रहण के लिए सबसे, पहले वृद्ध, सद्धर्म तथा वोधिसत्त्वगण की पूजा ग्रावश्यक है। यह पूजा मंनोमय पूजा है। शान्तिदेव मनोमय पूजा के हेतु देते हैं—

श्रपुण्यवानस्मि महादरिद्र. पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किञ्चित्। श्रतो ममार्थीय परार्थचित्ता गृह् णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या।।

(वोधि० परि० २।७)

अर्थात्, मैने पुण्य नहीं किया है, मैं महादरिद्र हूँ, इसलिए पूजा की कोई सामग्री मेरे पास नही है। भगवान् महाकारणिक है, सर्वभूत-हित में रत है। अत, इस पूजोपकरण को नाथ ! ग्रहण करें। ग्रकिचन होने के कारण ग्राकाणधातु का जहाँतक विस्तार है, तत्पर्यन्त निरवशेष पुष्प, फल, भैषज्य, रत्न, जल, रत्नमय पर्वत, वनप्रदेश, पुष्पलता, वृक्ष, कल्पवृक्ष, मनोहर तटाक तथा जितनी ग्रन्य उपहार वस्तुएँ प्राप्त है, उन सवको बुद्धो तथा बोधिसत्त्वो के प्रति वह दान करता है। यही अनुत्तर दक्षिणा है। यद्यपि वह अकिंचन है, पर आत्मभाव उसकी निज की सम्पत्ति है, उसपर उसका स्वामित्व है। इसलिए, वह वृद्ध को श्रात्मभाव-समर्पण करता है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर वह दासभाव स्वीकार करता है। भगवान के श्राश्रय मे श्राने से वह निर्भय हो गया है। वह प्रतिज्ञा करता है कि श्रव में प्राणिमान्न का हित-साधन करूँगा, पूर्वकृत पाप का स्रतिक्रमण 'करूँगा स्रौर फिर पाप न करूँगा। मनोमय पूजा के श्रनन्तर साधक बुद्ध, वोधिसत्त्व, सद्धर्म, चैत्य ग्रादि की विशेष पूजा करता है। मनोरम स्नानगृह मे गन्धपुष्प-पूर्ण रत्नमय कुम्भो के जल से गीत-वाद्य के साथ बुद्ध तथा बोधिसत्त्व को स्नान कराता है, स्नानानन्तर निर्मल वस्त्र से शरीर-समार्जन कर सुरक्त, वासित वर-चीवर उनको प्रदान करता है । दिव्य श्रलकारो से उनको विभूषित करता है, उत्तमोत्तम गन्ध-द्रव्य से शरीर का विलेपन करता है। तदनन्तर, उनको माला से विभूषित करता है, धूप, दीप तथा नैवैद्य अर्पित करता है । वह वुद्ध,धर्म और सघ की शरण में जाता है, तत्पश्चात् अपने सर्वपाप का प्रख्यापन करता है। इसे पापदेशना कहते है। जो कायिक, वाचिक, मानसिक पाप उसने स्वयं किया है अथवा दूसरे से कराया है अथवा जिसका अनुमोदन किया है, उन सब पापो को वह प्रकट करता है। ग्रपना सब पाप वह वुद्ध के समक्ष प्रकाशित करता है, ग्रीर भगवान् से प्रार्थना करता है कि भगवन् । मेरी रक्षा करो । जवतक मै पाप का क्षय न कर लूँ, तवतक मेरी मृत्यु न हो, नही तो मैं दुर्गति, अपाय में पडूँगा। मेरा इस अनित्य जीवन में विशेष भ्राग्रह था। मैं यह नहीं जानता था कि मुझको नरकादि दुःख भोगना पडेगा । मैं यौवन, रूप, धनादि के मद से उन्मत्त था, इसलिए मैने अनेक पापो का अर्जन किया। मैने चारो दिशाओं में घूमकर देखा कि कौन ऐसा साधु है, जो मेरी रक्षा करे, दिशाओं को ताणशून्य देखकर मुझको समोह हुआ और अन्त में मैंने यह निश्चय किया कि वुद्धों की शरण में जाऊँ, क्योंकि वह सामर्थ्यवान् है, ससार की रक्षा के लिए उपयुक्त है, ग्रौर सबके व्रास के हरनेवाले हैं। मैं बुद्ध द्वारा साक्षात्कृत धर्म की तथा वोधिसत्त्व-गण की भी शरण में जाता हूँ। मैं हाथ जोडकर भगवान् के सम्मुख ग्रपने समस्त उपार्जित पापो का प्रख्यापन करता हूँ, ग्रीर प्रतिज्ञा करता हूँ कि म्राज से कभी मनार्य या गहिंत कर्म न करूँगा।

पापदेशना के अनन्तर साधक सर्वसत्त्वों के लौकिक शुभकर्म का प्रसादपूर्वक अनुमोदन करता है तथा सब प्राणियों के सर्वदु ख-विनिर्मोक्ष का अनुमोदन करता है। इसे पुण्यानुमोदन

कहते हैं। तदनन्तर, श्रजिनबिं हो मर्वदिणाश्रों में श्रविस्थित बुद्धों से प्रार्थना करता है कि श्रज्ञान-तम से श्रावृन जीवों के उद्घार के लिए भगवान् धर्म का उपदेश करें। यही बुद्धाध्येषणा है। वह फिर शृतकृत्य जिनों में याचना करता है कि वह श्रभी परिनिर्वाण में प्रवेश न करें, जिसमें यह लोक मार्ग का ज्ञान न होने निश्चेतन न हो जाय। यह बुद्ध-याचना है। श्रन्त में साधक प्रार्थना करता है कि उक्त क्रम से श्रनुत्तर पूजा करने से जो सुकृत मुझे प्राप्त हुश्रा है, उसके द्वारा में समस्त प्राणियों के मवंदु खो का प्रणमन करने में समर्थ होऊँ श्रीर उनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कराऊँ, यह बोधि-परिणामना है। माधक भित्तपूर्वक प्रार्थना करता है—हे भगवन्। जो व्याधि में पीटित है, उनके लिए मैं उम ममय तक श्रोपिध, चिकित्सक श्रीर परिचारक होऊँ, जवतक व्याधि की निवृत्ति न हो, मैं क्षुधा श्रीर पिपासा की व्यथा का श्रव्य-जल की वर्षा में निवर्त्तन करूँ, श्रीर दुर्भिक्षान्तर कल्प में जब श्रव्यपान के श्रभाव से प्राणियों का एक दूमरे का माम, श्रस्थ-भक्षण ही श्राहार हो, उस ममय में उनके लिए पान-मोजन वन् । दिद्र लोगों का मैं श्रक्षय धन होऊँ। जिम-जिम पदार्थ की वह श्रिभलापा करें, उम-उस पदार्थ को लेकर मैं उनके सम्मुख उपस्थित होऊँ।

### पारमिताग्रो की साधना

दान-पारिमता—योधिमत्त्व वोधिचित्तोत्पाद के ग्रनन्तर शिक्षा-ग्रहण के लिए विशेष हप से यत्नशील होता है। पहली पारिमता दान-पारिमता है। सर्व वस्तुग्रो का सब जीवो के लिए दान ग्रौर दानफल का भी परित्याग दान-पारिमता है। इमिलए, बोधिसत्त्व ग्रात्मभाव का उत्सर्ग करता है। वह सर्वभोग्य वस्तुग्रो का परित्याग करता है तथा ग्रतीत, वर्त्तमान ग्रौर ग्रनागत काल के कुणल मूल का भी परित्याग करता है, जिनमें सब प्राणियों की ग्रथंसिद्धि हो। ग्रात्मभाव का त्याग ही निर्वाण है।

यदि निर्वाण के लिए सव कुछ त्यागना ही है, तो ग्रच्छा तो यह है कि सव कुछ प्राणियों को ग्रिपंत कर दिया जाय। ऐसा विचार कर ग्रपना शरीर सव प्राणियों के लिए ग्रिपंत करता है। चाहे वे दण्डादि से उसकी ताडना करे, चाहे जगुप्सा करे, चाहे उसपर धूल फेंकें ग्रांर चाहे उसके माथ फीडा करे, वह केवल इतना चाहता है कि उसके द्वारा किसी प्राणी का ग्रन्थं सम्पादित न हो। वह चाहता है कि जो उमपर मिथ्या दोप ग्रारोपित करने है या उसका ग्रपकार करते है या उपहाम करते है, वे भी बुद्धत्व-लाभ करें। वह चाहता है कि जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज ग्रीर वायु ये चार महाभूत समस्त ग्राकाशधातु-निवासी ग्रनन्त प्राणियों के ग्रनेक प्रकार से उपभोग्य होते हैं, उसी प्रकार वह भी तवतक सब सत्त्वों का ग्राश्यय-स्थान रहे, जवतक सब ससार-दु ख से विनिम्बंकत न हो।

उमका किमी वस्तु में भी ममत्व नहीं होता। वह मव सत्त्वों को पुत्रतुल्य देखता है ग्रीर ग्रपने को सवका पुत्र समझता है। यदि कोई याचक उमसे किसी वस्तु की याचना करता है, तो तुरन्त वह वस्तु उसे दे देता है, मात्मर्य नहीं करता। वोधिमत्त्व के लिए ये चार वाते कृत्सित हैं—शाठ्य, मात्सर्य, ईप्या-पैशुन्य ग्रीर ससार में लीनचित्तता। वोधिसत्त्व को ऐसी

किसी वस्तु का ग्रहण न करना चाहिए, जिसमें उसकी त्यागचित्तता उत्पन्न न हुई हो। जिसको जिस वस्तु की श्रावश्यकता हो, उसको वह वस्तु विना शोक किये, विना फल की श्राकाक्षा के श्रीर विना प्रतिसार के दे दे 'श्रशोचन्नविप्रतिसारी श्रविपाकप्रतिकाक्षी परि-त्यक्ष्यामि।' (शिक्षासमुच्चय, पृ० २१)

सांसारिक दुःख का मूल सर्वपरिग्रह है, ग्रत ग्रपरिग्रह द्वारा भव-दु ख से विमुक्ति मिलती है। इस प्रकार, बोधिसत्त्व ग्रनन्त कल्प तक लौकिक तथा लोकोत्तर सुखसम्पत्ति का ग्रनुभव करता है ग्रीर दूसरो का भी निस्तार करता है। इसीलिए, रत्नमेघ में कहा है— 'दान हि बोधिसत्त्वस्य वोधिरिति।' (शिक्षासमुच्चय, पृ०३४)

इस प्रकार, ग्रात्मभाव ग्रादि का उत्सर्ग कर, ग्रनाथ सत्त्वो पर दया कर, स्वयं दुख उठाते हुए दूसरो के दुख का विनाश करने के ग्रिभप्राय से वह बुद्धत्व ही को उपाय ठहराकर, वह बुद्धत्व के लिए बद्धपरिकर हो जाता है ग्रीर ग्रन्य पारिमताग्रो का ग्रहण करता है।

शील-पारिमता—श्रात्मभाव का उत्सर्ग इसीलिए बताया गया है कि जिससे सब सत्त्व उसका उपभोग करे। पर, यदि इस श्रात्मभाव की रक्षा न होगी, तो दूसरे उसका उपभोग किस प्रकार करेगे? वीरदत्तपरिपृच्छा में कहा है —

शकटिमव भारोद्वहनार्थं केवलं धर्मबुद्धिना वोढव्यमिति।

( शिक्षासमुच्चय,पृ० ३४ )

श्रर्थात्, यह समझकर, कि शकट की नाई केवल भारोद्दहन करना है, धर्मबुद्धि से शरीर की रक्षा करे, इसलिए आत्मभावादि का परिपालन आवश्यक है। यह शिक्षा की रक्षा और कल्याणिमत्न के अपरित्याग से हो सकता है। कहा भी है—

परिभोगाय सत्त्वाना श्रात्मभावादि दीयते। श्ररक्षिते कुतो भोगः कि दत्त यन्न भुज्यते।। तस्मात्सत्त्वोपभोगार्थ श्रात्मभावादि पालयेत्। कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सुत्राणा च सदेक्षणात्।

(शिक्षांसमुच्चय, पृ० ३४)

कल्याणिमत्न के श्रपिरत्याग से मनुष्य दुर्गित में नहीं पडता, कल्याणिमत्न प्रमाद-स्थान से निवारण करता है। क्या करणीय है श्रीर क्या श्रकरणीय है, इसका ज्ञान शिक्षा की रक्षा से होता है, श्रीर विहित कर्म करने से श्रीर प्रतिपिद्ध के न करने से नरकादि-विनिपात-गमन से रक्षा होती है।

श्रात्मभावादि की रक्षा णिक्षा की रक्षा से होती है। शिक्षा की रक्षा चित्त की रक्षा में होती है। चित्त चलायमान है। यदि इसको म्वायत्त न किया जायगा, तो शिक्षा की स्थिरता नष्ट हो जायगी। भय श्रोर दु ख का कारण चित्त ही है। चित्त द्वारा ही, श्रर्थात् मानसकर्म द्वारा ही वाक्-कर्म श्रोर काय-कर्म की उत्पत्ति होती है। श्रत, वाक्कायकर्म का चित्त ही समुत्यापक है।

चित्त ही श्रति विचित्न सत्त्व-लोक की रचना करता है, इसलिए चित्त का दमन श्रत्यन्त ग्रावण्यक है। जिसका चित्त पाप से निवृत्त हैं, उसके लिए भय का कोई हेतु नहीं है। जिसका चित्त स्वायत्त है, उसके मुख की हानि नही होती। इसलिए, पापचित्त से कोई ग्रधिक भयानक वस्तु नहीं है। यहाँ पर यह णका हो सकती है कि दान-पारिमता ग्रादि में चित्त कैसे प्रधान है, क्योंकि दान-पारिमता का लक्षण सब प्राणियों का दारिद्रच दूर करना है, श्रीर इसका चित्त से कोई सम्बन्ध नही है। यह शका श्रनुचित है। यदि दान-पारमिता का श्रयं-समस्त जगत् के दारिद्रच को दूर कर मव सत्त्वों को परिपूर्ण करना हो, तो अनेक बुद्ध हो चुके हैं, पर आज भी जगत् दरिद्र है। तो क्या उनमें दान-पारिमता न थी ? ऐसा नही कहा जा सकता। दान-पारमिता का भ्रर्थ केवल यही है कि मव वस्तुग्रो का सब जीवो के लिए दान भ्रौर दानफल का भी परित्याग । इस प्रकार के अभ्यास से मात्सर्य-मल का अपनयन होता है, और चित्त निरासग हो जाता है। इस प्रकार, दान-पारमिता निष्पक्ष होती है। इसलिए, दान-पारमिता चित्त से भिन्न नहीं है। शील-पारमिता भी इसी प्रकार चित्त से भिन्न नहीं है। शील का श्रर्थ है--प्राणातिपात श्रादि सब गहिंत कार्यों से चित्त की विरति। विरतिचित्तता ही शील है। इसी प्रकार, क्षान्ति-पारमिता का ग्रथं है--दूसरे के द्वारा ग्रपकार के होते हुए भी चित्त की ग्रकोपनता। शालु गगन के समान अपर्यन्त है। उनका मारना अशक्य है, पर उपाय द्वारा यह शक्य है। उनके किये हुए अपकार को न गिनना ही उपाय है। को घादि से चित्त की निवृत्ति होने से ही उनकी मृत्यु हो जाती है। वीर्य-पारिमता का लक्षण कुशलोत्माह है। यह स्पष्टरूपेण चित्त है। ध्यान-पारिमता का लक्षण चित्त काग्रता है, इसलिए उसको चित्त से पृथक् नही वताया जा मकता । प्रज्ञा तो निर्विवाद रूप से चित्त ही है।

शतु प्रमृति जो वाह्य भाव है, उनका निवारण करना शक्य नहीं है, चित्त के निवारण से ही कार्यसिद्धि होती है। इसलिए, वोधिमत्त्व को ग्रपकार-क्रिया से ग्रपने चित्त का निवारण करना चाहिए। शान्तिदेव कहते है--

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चमं भविष्यति । उपानच्चमंमात्रेण छन्ना भवति मेदिनी ।।

(बोधि० ४।१३)

ग्रर्थात्, कण्टकादि से रक्षा करने के लिए पृथ्वी को चर्म से ग्राच्छादित करना उचित ही हैं। पर यह सम्भव नही है, क्योंकि इतना चर्म कहाँ मिलेगा? यदि मिले भी, तो छादन ग्रसम्भव है। पर, उपाय द्वारा कण्टकादि से रक्षा शक्य है। उपानह के चर्म द्वारा सब भूमि छादित हो जाती है। इसी प्रकार, ग्रनन्त बाह्य भावों का निवारण एक चित्त के निवारण से होता है।

चित्त की रक्षा के लिए 'स्मृति' ग्रीर 'सम्प्रजन्य' की रक्षा ग्रावश्यक है। 'स्मृति' का ग्रार्थ है 'स्मरण'। किसका स्मरण विहित ग्रीर प्रतिपिद्ध का स्मरण 'विहितप्रतिषिद्धयो- पृंथायोग स्मरण स्मृति (वो०, पृ० १०८)।

श्रार्यरत्नचूडसूत्र में कहा है, कि स्मृति से क्लेशो का प्रादुर्भाव नहीं होता; स्मृति से ही सुरक्षित होकर मनुष्य उत्पथ या कुमार्ग में पैर नहीं रखता। स्मृति उस द्वारपाल की तरह है, जो अकुशल को अवकाश नहीं देती (शिक्षा०, पृ० १२०)।

सम्प्रजन्य का अर्थ है—प्रत्यवेक्षण । किसकी प्रत्यवेक्षा करना ? काय और चित्त की अवस्था का प्रत्यवेक्षण करना । खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-वैठते हर समय काय और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है । स्मृति तीव्र आदर से ही उत्पन्न होती है । तीव्र आदर शमथ-माहात्म्य जानने से ही होता है । 'शमथ' चित्त की शान्ति को कहते हैं । अचपलता, अचचलता, सौम्य-भाव, अनुद्धतता, कर्मण्यता, एकाग्रता, एकारामता इत्यादि शम के लक्षण है ।

शम ही के प्रभाव से चित्त समाहित होता है श्रौर समाहितचित्त होने से ही यथाभूत दर्शन होता है। यथाभूत दर्शन से ही सत्त्वों के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है, वोधिसत्त्व की इच्छा होती है कि में सब सत्त्वों को भी यथाभूत परिज्ञान कराऊँ। इस प्रकार, वह शील, चित्त, श्रौर प्रज्ञा की परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करता है। इसलिए, वह शील में सुप्रतिष्ठित होता है, श्रौर विना विचलित हुए, विना शिथिलता के, उसके लिए यत्नवान् होता है। यह जानकर कि शम से श्रपना श्रौर पराये का कल्याण होगा, श्रनन्त दु खो का समितिकमण श्रौर श्रनन्त लौकिक तथा लोकोत्तर सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होगी, बोधिनत्त्व को शम की श्राकाक्षा होनी चाहिए। इससे शिक्षा के लिए तीन्न श्रादर उत्पन्न होता है जिससे स्मृति उत्पन्न होती है, स्मृति से श्रनर्थ का परिहार होता है। इसलिए, जो श्रात्मभाव की रक्षा करना चाहता है, उसको स्मृति के मूल का श्रन्वेषण कर नित्य सजग रहना चाहिए। शील से समाधि होती है। चन्द्रदीपसूत्र में कहा है, कि जो समाधि चाहता है, उसका शील विशुद्ध होना चाहिए शौर उसको स्मृति तथा सम्प्रजन्य ग्रहण करना चाहिए। शीलार्थी को भी समाधि के लिए यत्नवान् होना चाहिए।

शील स्रौर समाधि द्वारा चित्त-परिकर्म की निष्पत्ति होती है। यही वोधिसत्त्व-शिक्षा है, क्योंकि पुरुषार्थ का यही मूल है (शिक्षा, पृ० १२१)। स्रायंरत्नमेघ में कहा है—'चित्तपूर्व - क्षमाश्च सर्वधर्मा। चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्मा परिज्ञाता भवन्ति' (शिक्षा०, पृ० १२१), स्रर्थात् सब धर्म चित्तपुर सर है। चित्त का ज्ञान होने पर सब धर्म परिज्ञात होते हैं। स्रायंधर्मसगीति सूत्र में कहा है—'तदुच्यते। चित्ताधीनो धर्मो धर्माधीना बोधिरिति' (शिक्षा०, पृ० १२२)। स्रर्थात्, चित्त के स्रधीन धर्म है, स्रौर धर्म के स्रधीन बोधि है। स्रायंगण्डव्यूहसूत्र मे भी कहा है—'स्वचित्ताधिष्ठान सर्वबोधिसत्त्वचर्या स्वचित्ताधिष्ठान मर्वसत्त्वपरिपाकविनय '(शिक्षा०, पृ० १२२)। स्रर्थात्, वोधिसत्त्वचर्या स्रपने चित्त में स्रिधिष्ठत है, सब सत्त्वो को मम्बोधि प्राप्त कराने की शिक्षा स्रपने चित्त में स्रिधिष्ठत है। इसिलए, चित्त-नगर के परिपालन मे कुशल होना चाहिए। चित्त-नगर का परिपालन ससार के सब विषयो मे विरक्त होने से होता है। ईप्यां, मात्सर्य स्रौर शठता के स्रपनयन से चित्तनगर का परिशोधन करना चाहिए। सर्वक्लेश स्रौर मार (=कामदेव) की सेना का विमर्दन कर चित्त-नगर को दुर्योध्य तथा दुरानाद्य वनाना चाहिए। चित्त-नगर के विस्तार के लिए सब सत्त्वो के प्रति महामैत्ती प्रदर्शित करनी चाहिए।

मर्व जगत् को ग्राध्यात्मिक ग्रीर बाह्य वस्तु का दान कर चिन्न-नगर का द्वार खोलना चाहिए।
चित्त-नगर की णुढि से मब ग्रावरण नष्ट होते हैं (णिक्षा०, पृ०१२२-१२३)। इसलिए,
यह व्यवस्थित हुग्रा कि चित्त-परिकमं ही बोधिमत्त्व-शिक्षा है। जब चित्त ग्रचपल होता है,
तभी जमका परिकमं होता है। ग्रम मे चित्त ग्रचल होता है। जो निरन्तर प्रत्यवेक्षा नही
करता ग्रीर जिसमे न्मृति का ग्रभाव है, उसका चित्त चलायमान होता है। पर, स्मृति ग्रीर
सम्प्रजन्य मे जिसकी बाह्य चेप्टाग्रो का निवत्तन हो गया है, उसका चित्त इच्छानुसार एक
ग्रालम्बन में ही निबद्ध रहता है।

इसलिए, म्मृति को मनोद्वार में कभी न हटावे। यदि प्रमादवण स्मृति अपने उचित स्थान में हट जाय, तो उसको फिर से अपने स्थान पर नौटाकर आरोपण करे। स्मृति की उत्पत्ति ऐसे लोगों के लिए मुकर है, जो आचार्य का सवास करते हैं, जिनके हृदय में उनके प्रति आदर का भाव है, और जो यत्नणील है। जो सदा यह ध्यान करता है कि वृद्ध और वोधिसत्त्व-गण समस्त वस्तु-विपय का अप्रतिहत ज्ञान रखते हैं, सब कुछ उनके सामने हैं, मैं भी उनके सम्मृत्व हूँ, वह शिक्षा में आदरवान् होता है, और अयोग्य कर्म के प्रति लज्जा करता है। जब चित्त की रक्षा के लिए स्मृति मनोद्वार पर द्वारपाल की नाई अवस्थित होती हैं तब सम्प्रजन्य विना प्रयत्न के उत्पन्न होता है। अत , स्मृति ही सम्प्रजन्य की उत्पत्ति और स्थैं में कारण हैं। जिसका चित्त सम्प्रजन्य से रहित है, उसको वस्तु का उसी प्रकार स्मरण नहीं रहता, जिस प्रकार सच्छिद्व कुम्भ का जल ऊपर भरा जाता है, और नीचे में निकल जाता, है। सम्प्रजन्य के अभाव में सचित कुशल धन भी विलुप्त हो जाता है, और मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है। क्लेश-तस्कर छिद्रान्वेपण में तत्पर होते हैं, और प्रवेश-मार्ग पाकर हमारे कुशल धन का अपहरण करते हैं और सद्यति का नाण करते हैं। इसलिए, चित्त की सदा प्रत्यवेक्षा करे, और इसकी प्रत्यवेक्षा करे कि मन कहाँ जाता है पहले अवलम्बन में निवद्ध है, प्रथवा कही अन्यत्न चला गया है।

ऐसा प्रयत्न करे, जिसमे मन समाहित हो। ग्रनर्थ-विवर्जन के लिए सदा काष्ठवत् रहना चाहिए। विना प्रयोजन नेत-विक्षेप न करना चाहिए। दृष्टि सदा नीचे की ग्रोर रखे, पर कभी-कभी दृष्टि को विश्राम देने के लिए ग्रपने चारो ग्रोर भी देखे। जब कोई समीप ग्राचे, तब उसकी छाया-मात्र के ग्रवगत होने से उसका स्वागत करे, ग्रन्यथा ग्रवज्ञा करने से ग्रकुशन की उत्पत्ति होती है। भय-हेतु जानने के लिए मार्ग मे वारम्वार चारो ग्रोर देखे। श्रच्छी तरह निरूपण कर ग्रग्रमर हो ग्रथवा पीछे ग्रपमरण करे।

इस प्रकार, सब ग्रवस्थाग्रों में वृद्धिपूर्वक कार्य करें, जिसमें उपघात का परिहार ग्रौर ग्रात्मभाव की रक्षा हो। प्रत्येक काम में णरीर की ग्रवस्था पर घ्यान रखें, वीच-बीच में देखता रहे। देह की भिन्न ग्रवस्था होने पर उसका पूर्ववत् ग्रवस्थापन करें। नानाविध प्रलाप सुनने तथा कुतूहल देखने के लिए उत्सुक न हो। निष्प्रयोजन नख-दण्डादि से भूमि-फलकादि पर रेखा न खीचे। कोई निर्थक कार्य न करें। जब चित्त मान, मद या कुटिलता से दूपित हों, तब उसको स्थिर करें। जब चित्त में ग्रनेक गुणों के ग्रतिशय प्रकाशन की इच्छा प्रकट हों, या दूसरोंके छिद्रान्वेपणकी ग्राकाक्षा का उदय हो, या दूसरे से कलह करने के लिए चित्त चलायमान

हो, तो उस समय मन को स्थिर करे। जब मन परार्थ-विमुख ग्रीर स्वार्थाभिनिविष्ट होकर लाभ, सत्कार ग्रौर कीर्त्ति का ग्रिभलाषी हो, तब मन को काष्ठवत् स्थिर करे। प्रकार, चित्त की सर्वप्रवृत्तियों का निरोध करे और मन को निश्चल रखें। शरीर में ग्रिभ-निवेश न रखे। चित्तरिहत मृतकाय व्यापार-शून्य होता है। ग्रामिष-लोभी गृध्र जव शरीर को इधर-उधर खीचते है, तब वह ग्रात्मरक्षा में समर्थ नही होता ग्रौर प्रतिकार में ग्रसमर्थ होता है । इसलिए शरीर सर्वथा ग्रनुपयोगी है । इसकी ग्रपेक्षा नही करनी चाहिए । इस मास ग्रीर ग्रस्थि के पुज को ग्रात्मवत् स्वीकार करके इसकी रक्षा मे प्रयत्नशील न होना चाहिए। जब यह ग्रात्मा से भिन्न है, तब इसके ग्रपचय से कोई ग्रनिष्ट सम्पादित नहीं होता । जिसको तुम अपना समझते हो, वह अपवित्र है। इस अपवित्र, अमेध्य-घटित यन्त्र की रक्षा से कोई लाभ नही है। इस चर्मपुट को ग्रस्थि-पजर से पृथक् कर ग्रस्थियो को खण्ड-खण्ड कर मज्जा को देखे, ग्रीर स्वय विचार करे कि इसमें सारभूत क्या है। इस प्रकार यत्न-पूर्वक ढूँढने पर भी जब कुछ सारवस्तु नही दिखलाई देती, तब शरीर की रक्षा व्यर्थ है। जब इसकी ग्रँतडियाँ नहीं चूस सकते, इसका रक्तपान नहीं कर सकते, तब फिर इस कार्य में क्यो ग्रासवित है ? जिसकी रक्षा केवल गृध्र-शृगालो के ग्राहारार्थ की जाती है, उसमे ग्रिभिनिवेश न होना चाहिए। यह भारीर मनुष्य के लिए एक उपयुक्त कर्मोपकरण अवश्य है। जो भृत्य भृत्य-कर्म नहीं करता उसको वस्त्रादि नही दिया जाता। शरीर को वेतनमात्र देना चाहिए। मन द्वारा शरीर को स्वायत्त करे। जो शरीर के स्वभाव श्रीर उपयोग को विचार कर उसको श्रपने वश में करता है, बह सदा प्रसन्न रहता है। वह ससार का वन्धु है। वह दूसरो का स्वागत करता है। वह निष्फल कार्य नहीं करता। सदा उसकी नि शब्द में ग्रिभरित होती है। जिस प्रकार वक, विडाल ग्रीर चोर नि शब्द भ्रमण करते हुए विवक्षित अर्थ को पाते है, उसी प्रकार ग्राचरण करता हुआ बोधिसत्त्व अभिमत फल पाता है।

जो दूसरों को उपदेश देने में दक्ष हैं, श्रौर विना प्रार्थना के ही दूसरों के हित की कामना करते हैं, उनका ग्रपमान न करना चाहिए श्रौर उनका हितविधायक वचन आदर-पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। ग्रपने को सबका शिष्य समझना चाहिए। सबसे सब कुछ सीखना चाहिए। इस प्रकार, ईर्प्या-मल का प्रक्षालन करना चाहिए। कुशल-कर्म करनेवाले को देख-कर उसका पुण्य-कर्म सराहे। सब सत्त्वों के सारे उपक्रम तुष्टि के लिए हैं। तुष्टि धन के विमर्ग द्वारा भी दुर्लभ है। इसलिए, पराये गुण को श्रवण कर विना परिश्रम किये तुष्टि-मुख का श्रनुभव होता है। इसमें कुछ व्यय नहीं है, श्रौर दूसरे को भी सुख मिलता है। पर, दूसरे के गुण का ग्रभनन्दन न करने से दुख श्रौर देष उत्पन्न होता है।

वोधिसत्त्व को मित ग्रौर स्निग्धभापी होना चाहिए। किसी में कर्कण वचन न वोले। सदा सबको सरल दृष्टि से देखें, जिसमें लोग उमकी ग्रीर ग्राकृष्ट हो, ग्रौर उमकी वात का विश्वास करे। सदा कार्य-कुशल होना चाहिए, ग्रौर सत्त्वों के हित, मुख का विधान करने के लिए नित्य उत्थान करना चाहिए। किसी कार्य में दूसरे की ग्रपेक्षा न करे। मव काम स्वय करे। प्रातिमोक्ष में जिस कर्म का निपेध है, उसका ग्राचरण न करे।

मद्धर्म-सेवक काय को थोडे के लिए कप्ट न दे, ग्रन्यथा महती ग्रथंराणि की हानि होगी। क्षुद्र ग्रवसर पर ग्रपने जीवन का परित्याग न करे, ग्रन्यथा एक मत्त्व के ग्रथं-सग्रह के लिए महान् ग्रथं की हानि सम्पन्न होगी। सब मत्त्वों के लिए ग्रात्मभाव का उत्मर्ग पहले ही हो चुका है। केवल ग्रकाल-परिभोग से उसकी रक्षा करनी है। इस प्रकार, उपाय-कौशल से विहार करता हुग्रा बोधिमत्त्व बोधि-मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता।

क्षान्ति-पारमिता—ग्रनेक प्रकार से शील-विशुद्धि का प्रतिपादन किया जा चुका है। श्रात्मभाव, पुण्य तथा भोग की रक्षा ग्रीर शुद्धि का भी प्रतिपादन किया गया है। ग्रव क्षान्ति-पारमिता का उल्नेख करते हैं। शान्तिदेव कारिका में कहते हैं—

> क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः । समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम् ॥

शिक्षाममुच्चय में इम कारिका के प्रत्येक पद को लेकर व्याख्या की गई है।

मनुष्य में क्षान्ति होनी चाहिए। जो ग्रक्षम है, वह श्रुतादि में खेद सहन करने की शक्ति न रखने के कारण ग्रपना वीर्य नष्ट करता है। ग्रिखन्न होकर श्रुत की इच्छा करनी चाहिए, क्यों कि विना ज्ञान के ममाधि का उपाय नहीं जाना जाता, ग्रीर क्लेश-शोधन का उपायभी ग्रिधिगत नहीं होता। ज्ञानी के लिए भी मकीर्णचारी होने से समाधान दुष्कर है; इसलिए वन का ग्राश्रय ले वन में भी विना चित्त-समाधान के विक्षेप का प्रशमन नहीं होता। इसलिए, समाधि करें। समाहित-चित्त होने पर भी विना क्लेश-शोधन के कोई फल नहीं है, इसलिए ग्रिशुम ग्रादि की भावना करें।

जिस प्रकार ग्रग्निकण तृणराणि को दग्ध करता है, उसी प्रकार द्वेष सहस्रो कल्प के चपार्जित शुभकर्म को तथा वृद्ध-पूजा को नष्ट करता है।

हैप के समान दूमरा पाप नहीं है और क्षान्ति के समान कोई तप नहीं है। इसलिए, नाना प्रकार से क्षान्ति का ग्रम्थास करना चाहिए। जिसके हृदय में हैपानल प्रज्वलित है, जसको शान्ति ग्रांर सुख कहाँ। उसको न नीद ग्राती है, ग्रांर न उसका चित्त सुखी होता है। वह लाम-सत्कार से जिनका ग्रनुनय करता है ग्रांर जो उसके ग्रिश्रत है, वे भी उसका विनाश चाहते हैं, उसके मित्र भी उससे ताम खाते हैं। दान देने पर भी उसकी कोई सेवा नहीं करता, सक्षेप में कोधी कभी सुखी नहीं होता। ग्रत, मनुष्य को हेप के परित्याग के लिए यत्नवान् होना चाहिए। जो कोध का नाश करता है, वह इस लोक तथा परलोक, दोनों में, मुखी रहता है। हेप के उपघात के लिए उसके कारण का उपघात करना चाहिए। जो हमारी कल्पना में हमारे सुख का साधन है, वह इष्ट है, ग्रांर जो इसके विपरीत है, वह ग्रानिष्ट है। ग्रानिष्ट के सम्पादन से ग्रथवा इष्ट के उपघात से मानस-दुख की उत्पत्ति होती है। इसलिए, जो ग्रानिष्टकारी है, ग्रथवा इष्ट-विरोधी हैं, उनके प्रति हेप उत्पन्न होता है। दौर्मनस्य-रूपी भोजन पाकर हेप वलवान् होता है, इसलिए हेप के नाण की इच्छा रखता हुग्रा वोधिसत्त्व सबसे पहले दौर्मनस्य का समूल उपघात करे, क्योंकि हेप का उद्देश्य

वंधं ही है। इस प्रकार द्वेष के दोषों को भली भांति जानकर द्वेष के विपक्षरूप क्षान्ति का उत्पादन करे। क्षान्ति तीन प्रकार की है — १ दु खाधिवासना-क्षान्ति; २. परापकार-मर्षण-क्षान्ति ग्रीर ३ धर्मनिध्यान-क्षान्ति।

9 दु खाधिवासना-क्षान्ति वह है, जिसमें ग्रत्यन्त ग्रनिष्ट का ग्रागम होने पर भी दौर्मनस्य न हो । दौर्मनस्य से कोई लाभ नही है । वह केवल पुण्य का नाश करता है । ग्रतः, दौर्मनस्य के प्रतिपक्षरूप 'मृदिता' की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए । दु ख पड़ने पर प्रमृदित-चित्त रहना चाहिए । चित्त में क्षोभ या किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होने देना चाहिए । दौर्मनस्य से कोई लाभ नही है, वरच प्रत्यक्ष हानि ही है । यदि इष्ट-विघात का प्रतीकार हो, तब भी दौर्मनस्य व्यर्थ ग्रौर निष्प्रयोजन है । ऐसा विचार कर दौर्मनस्य का परित्याग ही श्रेष्ठ है ।

प्रतीकार होने पर भी क्षुच्ध व्यक्ति मोह को प्राप्त होता है श्रीर कोध से मूर्च्छित हो जाता है, उसको यथार्थ-श्रयथार्थ का विवेक नही रह जाता। उसका उत्साह मन्द पड जाता है श्रीर उसे श्रापत्तियाँ घेर लेती है। इसलिए, प्रतीकार भी श्रसफल हो जाता है। इसी से कहा है कि दौमंनस्य का त्याग हो सकता है। श्रभ्यास से दुष्कर भी सुकर हो जाता है। सुख श्रत्यन्त दुर्लभ है, दुःख सदा सुलभ है। दु ख का सर्वदा परिचय मिलता रहता है। इसलिए उसका श्रभ्यास कठिन नहीं है।

निस्तार का उपाय भी दुःख ही है, इसलिए दु ख का परिग्रह युक्त ही है। चित्त को दृढ करना चाहिए ग्रीर कातरता का परित्याग करना चाहिए। वोधिसत्त्व तो ग्रपने को तथा दूसरों को बुद्धत्व की प्राप्ति कराने का वीडा उठा चुका है। उसकों तो कदापि कातर न होना चाहिए। यदि,यह कहों कि ग्रल्प दु ख तो किसी प्रकार सहा जा सकता है, पर, कर-चरण-शिरच्छेदनादि दु ख ग्रथवा नरकादि का दु ख किस प्रकार सहा जा सकेगा ऐसी शका ग्रनु-चित है; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो ग्रभ्यास द्वारा ग्रधिगत न हो सके। ग्रल्पतर व्यथा के ग्रभ्यास से महती व्यथा भी सही जा सकती है। ग्रभ्यासवश ही जीवों को दु ख-सुख का ज्ञान हो सकता है, इसलिए दु ख के उत्पाद के समय सुख-सज्ञा के प्रत्युपस्थान का ग्रभ्यास करने से सुख-सज्ञा का ही प्रवर्त्तन होता है। इससे सर्वधर्मसुखाक्रान्त नाम की समाधि का प्रतिलाभ होता है। इस समाधि के लाभ से वोधिसत्त्व सब कार्यों में सुखवेदना का ही ग्रनुभव करता है।

क्षुत्पिपासा आदि वेदना को और मशक-दश आदि व्यथा को निरर्थक न समझना चाहिए। इन मृदु व्यथाओं के अभ्यास के कारण ही हम महती व्यथा के सहन करने में समयं होते हैं। शीतोब्ण, वृष्टि, वात, मागं-क्लेश, व्याधि आदि का दुख सुकुमार-चित्तता के कारण बढता है, इसलिए चित्त को दृढ रखना चाहिए। हम देखते हैं कि कोई भी सग्राम-भूमि में अपना रक्त बहता देखकर और भी वीरता दिखलाते हैं, और कोई ऐसे हैं कि दूसरे का कुधिर-दर्शन होने से ही मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं। यह चित्त की दृढता और कातरता के कारण है ? इसलिए, जो दुख में पराजित नहीं होता, वहीं व्यथा को ग्रिभिगूत करता है। दु य में भी पण्डित को चित्तक्षोभ न करना चाहिए; क्योंकि उसने क्लेण-शतुग्रो से सग्राम छेड रखा है, ग्रीर मग्राम में व्यथा का होना ग्रनिवार्य है। जो शतु के सम्मुख जाकर उसके प्रहारों को ग्रपने वक्ष स्थल पर धारण करते हुए ममर-भूमि में विजयी होते हैं, वे ही सच्चे विजयी ग्रीर शूर है, शेप मृतमारक हैं।

दु ख का यह भी गुण है कि उसमे यौवन-धनादि विषयक मद का भंग होता है, श्रीर समार के सत्त्वों के प्रति करुणा, पाप से भय तथा बुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

पित्तादि दोपवय के प्रति हम कोप नहीं करते, यद्यपि वे व्याधि उत्पन्न कर सब दु खो के हेतु होते हैं। इसका कारण यह है कि हम समझते हैं कि वे श्रचेतन है, श्रौर वृद्धिपूर्वक दु खदायक नहीं है। इसी प्रकार सचेतन भी कारणवण ही कुपित होते है। पूर्वकर्म के ग्रप-राध में कुपित होकर वे दु खदायक होते हैं। उनका प्रकोप भी कारणाधीन है। इमलिए, उन पर भी कोप नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार पित्तादि की इच्छा के विना गूल अवश्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार विना इच्छा के कारण-विशेष में क्रोध उत्पन्न होता है। कोई मनुष्य क्रोध करने के लिए ही इच्छापूर्वक कोध नही करता, और न क्रोध विचारपूर्वक उत्पन्न होता है। मनुष्य जो पाप या विविध ग्रपराध करता है, वह प्रत्यय-वल से ही करता है। उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नही होती। प्रत्यय-मामग्री को यह चेतना नहीं रहती की मैं कार्य की उत्पत्ति कर रही हूँ श्रीर कार्य को भी यह चेतना नही रहती कि श्रमुक प्रत्यय-सामग्री द्वारा में उत्पन्न हुआ हूँ। यह जगत् प्रत्ययमात्र है। मर्बधर्म हेतु-प्रत्यय के भ्रधीन है। ग्रत, किसी वस्तु का मम्भव स्वतन्त्र नही है। मास्य के मत मे प्रधान ग्रीर वेदान्त के मत में ग्रात्मा स्वतन्त्र है, पर यह उनकी कल्पनामात्र है। यदि प्रधान या ग्रात्मा विषय में प्रवृत्त होते है, तो उनकी निवृत्ति नहीं होती, ग्रन्यथा ग्रनित्यत्व का प्रसग होगा। यदि वह नित्य ग्रीर ग्रचेतन है, तो स्पप्ट ही श्रित्रय है, क्यों कि यद्यपि उसका प्रत्ययान्तर से सम्पर्क भी हो, तव भी निर्विकार, श्रर्थात् पूर्व-स्वभाव से च्युत न होने से उममें किसी प्रकार की किया का होना सम्भव नहीं है। जो श्रक्रिया-काल तथा किया-काल मे एक रूप है, वह किया का कौन-सा ग्रश सम्पादित करता है ? ग्रात्मा भ्रौर किया में सम्वन्ध का ग्रमाव है। यदि यह कहा जाय कि किया ही सम्वन्ध है, तो इसमें कोई निमित्त नही ज्ञात होता । इस प्रकार, सव वाह्य तथा ग्राष्ट्यात्मिक वस्तुऐँ परायत्त है, स्वायत्त नही । हेनु भी म्वहेतु-परतन्त्र है । इम प्रकार, ग्रनादि समार-परम्परा है । यहाँ स्वविशता कहाँ सम्भव है ? परमार्थ-दृष्टि में कौन किसके साथ द्रोह करता है, जिसके कारण ग्रपराधी के प्रति द्वेप किया जाय ? अत , जो चेप्टा ग्रौर व्यापार से रहित है, उनपर कोप करना उपयुक्त नही प्रतीत होता ।

यह कहा जा मकता है कि जब कोई स्वतन्त्र नहीं है, तब द्वेप ग्रादि का निवारण भी सम्भव नहीं है, मब वस्तुजात प्रत्यय-सामग्री के वल से उत्पन्न होते है, कौन निवारण करता है, जब कि को स्वतन्त्र कर्ता नहीं है ? ग्रौर, किसका निवारण किया जाता है, जब कि किसी वस्तु की स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती ? ग्रत , द्वेपादि से निवृत्ति का उपाय भी व्यर्थ है, क्योंकि सब कुछ

परवश है, स्ववश नहीं है; ऐसी शका करना उचित नहीं है। यद्यपि सर्व वस्तुजात व्यापार-रिह्त है, तथापि प्रत्यय-बल से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र है। अविद्यादि प्रत्यय-बल से संस्कारादि उत्तरोत्तर कार्य-प्रवाह का प्रवर्त्तन होता है और पूर्व-पूर्व की निवृत्ति से निवर्त्तन होता है, इसलिए दु ख की निवृत्ति अभिमत है। द्वेषादि पाप प्रवृत्ति-निवारणरूपी प्रत्यय-बल से अभ्युदय-नि श्रेयफल की उत्पत्ति होती है। इसलिए, यदि शत्रु या मित्र कुछ अपकार करें, तो यह विचार कर कि ऐसे ही प्रत्यय-बल से उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है, दु ख से सन्तप्त न होना चाहिए। अपनी इच्छा-मात्र से इष्टप्राप्ति और अभीष्टहानि नहीं होती, हेतुवश ही होती है। यदि इच्छा-मात्र से अभीष्ट की सिद्धि होती, तो किसी को दु ख न होता; क्योंकि दु ख कोई नहीं चाहता, सभी अपना सुख चाहते हैं।

२. दूसरे के किये हुए अपकार को सहन करना, श्रौर उसका प्रत्यपकार न करना, परापकारमर्षण-झान्ति है। प्रमादवश, कोधवश अथवा अगम्य-परदार-धनादि-लिप्सावश, सत्त्व अनेकानेक कष्ट उठाते हैं, पर्वतादि से गिरकर अथवा विष खाकर आत्महत्या कर लेते हैं अथवा पापाचरण द्वारा अपना विनाश करते हैं। जब क्लेशवश सत्त्व अपने-आपको पीड़ा पहुँचाते हैं, तब पराये के लिए अपकार से विरत कैसे हो मकते हैं। अत, ये जीव कृपा के पान हैं, न कि द्वेष के स्थान। क्लेश से उन्मत्त हो परापकार द्वारा आत्मघात मे प्रवृत्त हैं, अत ये दया के पान हैं। इनके प्रति कोध कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि दूसरों के साथ उपद्रव करना वालको का स्वभाव है, तो उनपर कोप करना उपयुक्त नहीं। अगिन का स्वभाव जलाना है, यदि वह दहन-किया छोड़ दें, तो तत्स्वभावता की हानि का प्रसग उपस्थित हो। यह विचार कर कोई अगिन पर कोप नहीं करता। यदि यह कहा जाय कि सत्त्व दुष्ट स्वभाव के नहीं हैं, वरच सरल स्वभाव के हैं, और यह दोष आगन्तुक हैं, तब भी इनपर कोप करना अयुक्त होगा। जिस प्रकार धूम से आच्छत्र आकाश के प्रति कोध करना मूर्खता है, क्योंकि आकाश का स्वभाव निर्मल हैं, वह प्रकृति से परिशुद्ध है, कटुता उसका स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार, प्रकृति- शुद्ध सत्त्वो पर आगन्तुक दोप के लिए कोध करना मूर्खता है।

कटुता श्राकाश का स्वभाव नहीं है, धूम का है। इसलिए धूम से ढेंप करे, न कि श्राकाश से। श्रत, सत्त्वो पर कोध न कर दोषो पर कोध करना चाहिए। दुख का जो प्रधान कारण है, उसी पर कोप करना चाहिए, न कि श्रप्रधान कारण पर। शरीर पर दण्ड-प्रहार होने से जो दुख-वेदना होती है, उसका मुख्य कारण दण्ड ही प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि दण्ड दूसरे की प्रेरणा से दुख-वेदना उत्पन्न करता है, इसमे दण्ड का क्या दोष है। श्रत, दण्ड के प्रेरक से ढेंप करना युक्त होगा, तो यह श्रधिक समुचित होगा कि दण्ड-प्रेरक के प्रेरक देंप से ढेंप किया जाय

मुख्यं दण्डादिक हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते । द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वर ।। (वोधि० ६।४१)

बोधिसत्त्व को विचार करना चाहिए कि मैंने भी पूर्वजन्मों में सत्त्वों को ऐसी पीडा पहुँचाई थी, इसलिए यह युक्त है कि ऋणपरिशोधन-न्यायेन मेरे साथ भी दूसरा अपकार करे। श्रपकारी का शस्त्र श्रौर मेरा शरीर दोनो दुःख के कारण है। उसने शस्त्र ग्रहण किया है श्रौर मैने शरीर ग्रहण किया है। यदि कारणोपनायक पर ही क्रोध करना है, तो श्रपने ऊपर भी क्रोध करना चाहिए।

जो कार्य की अभिलापा नहीं करता, उसको उसके कारण का ही परिहार करना चाहिए। पर, मेरी तो उल्टी मित है। मैं दुःख नहीं चाहता, पर दुःख के कारण गरीर में मेरी आसिवत है। इसमें अपराध मेरा है। दूसरे पर कोप करना व्यर्थ है, दूसरा तो सहकारी-मान्न है। आत्मवध के लिए मैंने स्वय गस्त्र ग्रहण किया है, तो दूसरे पर क्यों कोप कहाँ निरक्ष का असिपन्न-चन और वहाँ के पक्षी जो नरक में मेरे दु ख के हेतु है, वे मत्कर्म-जिनत है। इसमें दूसरा कारण नहीं है। उसी प्रकार दूसरा यदि मेरे साथ दुष्ट व्यवहार करता है, और उससे मुझको दु ख उत्पन्न होता है, तो उसमें भी मेरा कर्म ही हेतु है। ऐसा विचार कर कोप न करना चाहिए।

मैने पहले दूसरो के साथ श्रपकार किया, इसलिए मेरे कर्म से प्रेरित होकर वे भी श्रपकार करते हैं श्रीर नरक में निवास करते हैं, इसलिए मैने ही इनका नाश किया। इन्होने मेरा विघात नहीं किया। इस प्रकार चित्त का वोध करना चाहिए।

इन श्रपकारियों के निमित्त क्षान्ति-धारण करने से पूर्वजन्मकृत परापकार-जनित पाप , दु खानुभव द्वारा क्षीण हो जाता है, श्रीर मेरे निमित्त इनका नरक-गमन होता है, जहाँ इनको दु सह दु ख का श्रनुभव करना होता है। इस प्रकार, मैं ही इनका श्रपकारी हूँ श्रीर यह मेरे अपकारी है। फिर उपकारी के प्रति मेरी श्रपकार की बुद्धि क्यों है?

मैं यदि अपकारी होते हुए भी किसी उपाय-कौशल से, यथा प्रत्यपकार-निवृत्ति-निष्ठा द्वारा नरक न जाऊँ, ग्रीर अपनी रक्षा करूँ, तो इसमें इन उपकारियों की क्या क्षति है । यदि ऐसा है, तो उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करनी चाहिए ग्रीर अपकार-निवृत्ति द्वारा अपनी रक्षा न करनी चाहिए। पर, प्रत्यपकार करने से भी इनकी रक्षा नहीं होती। इनको प्रपने पापकर्म का फल भोगने के लिए नरक में ग्रवश्य निवास करना होगा, ग्रीर ऐसा करने से में वोधिसत्त्वचर्या से भ्रष्ट हो जाऊँगा। कहा है—

सवेसत्त्वेषु न मैत्रचित मया निक्षेष्तव्यम् । श्रन्तशो न दग्धस्यूणायामपि प्रतिधिचतः मृत्यादयितव्यम् ।

इसके ग्रतिरिक्त, में सब सत्त्वों की रक्षा करने में श्रग्रक्य हो जाऊँगा, श्रीर इस प्रकार वे दुगैति में पडेंगे।

३ ग्रव धर्मनिध्यान-क्षान्ति वतलाते हैं। दुख दो प्रकार का है—कायिक ग्रीर मानसिक। इसमें मानसिक दुख परमार्थतः नहीं है, क्योंकि मन ग्रमूतं है, ग्रीर इसलिए मन पर दण्डादि द्वारा प्रहार भक्य नहीं है। पर, इस कल्पना द्वारा कि यह भारीर मेरा है, भरीर को दुख पहुँचने से चित्त भी दुखी होता है। पर, ग्रयश ग्रीर परुप-वाक्य तो भारीर का उपघात नहीं करने। फिर, किसलिए इनसे चित्त कुपित होता है। यदि यह कहा जाय कि जब लोग मेरे ग्रयश इत्यादि की वात सुनते हैं, तव वे मुझसे ग्रप्रसन्न होते हैं ग्रीर उनकी ग्रप्रसन्नता

मुझको ग्रभीष्ट नही है। पर, यह विचार कर कि लोक का ग्रप्रसाद न इस लोक में मेरा ग्रनर्थ सम्पादन कर सकता है, न जन्मान्तर मे, इसलिए लोक की ग्रप्रसन्नता में ग्रभिनिवेश न करना चाहिए।

यदि यह सन्देह हो कि लाभ का विघात होगा, लोग मुझसे विमुख हो जायेगे ग्रौर पिण्डपातादि लाभ-सत्कार से मुझको विचत रखेगे, तो यह विचार करना चाहिए कि लाभ विनश्वर होने के कारण नष्ट हो जायगा, पर पाप सदा स्थिर रहेगा।

नंक्ष्यतीहंव मे लाभः पाप तु स्थास्यति घ्रुवम्। (वोधि ० ६।५५)

लाभ के ग्रभाव में ग्राज ही मर जाना ग्रच्छा है, पर परापकार द्वारा लाभ-सत्कार पाकर चिरकाल तक मिथ्या जीवन व्यतीत करना बुरा है, क्योंकि चिरकाल तक जीवित रहने में भी मृत्यु का दु ख वैसा ही बना रहता है। एक स्वप्न में १०० वर्ष का सुख ग्रनुभव कर जागता है, ग्रौर दूसरा मुहूर्त के लिए सुखी होकर जागता है। स्वप्नोपलब्ध सुख जाग्रत् ग्रवस्था में लौट नही ग्राता। उसका स्मरणमान्न ग्रविषट रह जाता है। जाग्रत् ग्रवस्था में उपभुक्त सुख भी विनष्ट होकर नहीं लौटता। इसी प्रकार मनुष्य चाहे चिरजीवी हो या ग्रल्पजीवी, उसका उपभुक्त सुख मरण-समय में विनष्ट हो जाता है। प्रचुरतर लाभ-सत्कार पाकर ग्रौर दीर्घकाल-पर्यन्त ग्रनेक सुखों का उपभोग करके भी ग्रन्त में खाली हाथ ग्रौर नग्नशरीर जाना होता है, मानो किसी ने सर्वस्व हर लिया हो

लब्ध्वापि च बहुँ त्लाभान् चिर भुक्त्वा सुखान्यपि । रिक्तहस्तक्ष्च नग्नक्च यास्यामि मुषितो यथा ।। (बोधि ०६।५९)

यदि यह विचार हो कि लाभ द्वारा चीवरादि का विघात न होने से चिरकाल तक जीवित रहकर हम पापक्षय श्रीर पुण्य-सचय करेगे, तो यह भी स्मरण रहे कि लाभ के लिए द्वेष करनेवाले का सुकृत नष्ट हो जाता है, श्रीर श्रक्षान्ति से पापराणि की उत्पत्ति होती है

पापक्षयं च पुण्य च लाभाञ्जीवन् करोमि चेत्।

पुण्यक्षयञ्च पापं च लाभार्थ ऋष्यतो ननु।। (बोधि०६।६०)

जिसके लिए मेरा जीवन है, यदि वही नष्ट हो जाय, तो ऐसे निन्दित जीवन से क्या लाभ ? बोधिसत्त्व का जीवन इतर जन के जीवन के सदृश निष्प्रयोजन नहीं है। उसका जीवन पाप के क्षय के लिए, ग्रौर पुण्य की ग्रभिवृद्धि के लिए है। यदि यह उद्देश्य फलीभूत न हो ग्रौर सुकृत का क्षय हो, तो ऐसा ग्रशुभ जीवन व्यर्थ है। यदि यह कहो कि जो मेरे गुणो को छिपाकर केवल दोषो का ग्राविष्करण करता है, उससे मेरा द्वेष करना युक्त है, क्योंकि वह सत्त्वों का नाश करता है, तो जब दूसरे किसी का कोई ग्रयश प्रकाशित करता है, तव उसके प्रति तुमको क्यों कोप उत्पन्न नहीं होता ? जो दूसरे की निन्दा करता है, उसको तो तुम क्षमा कर देते हो, उसके प्रति कोध नहीं करते, तब ग्रपनी निन्दा करनेवाले को भी क्षमा क्यों नहीं करते ?

जो प्रतिमा, स्तूप भ्रौर सद्धर्म के निन्दक या नाशक हो, उनके प्रति भी श्रद्धावण द्वेप करना युक्त नहीं है, इससे बुद्धादि को कोई पीडा नहीं पहुँचती। यदि कोई गुरुजन, सहोदर भाई तथा अन्य वन्धुवर्ग का भी अपकार करे, तो उमपर भी कोध न करना चाहिए। एकं अज्ञान के वण हो, दूसरे के साथ अपकार करता है, अथवा दूसरे की निन्दा करता है, तो दूसरा अपकारी पर मोहवज कोध करता है। इनमें में किमको अपराधी और किसको निर्दोप कहें ? दोनो का दोप समान है। पहले ऐसे कर्म क्यों किये, जिनके कारण दूसरो द्वारा पीडित होना पडता है ? सब अपने कर्म के अधीन हैं। कर्मफल के निवर्त्तन में कोई समर्थ नहीं है, ऐसा विचार कर कुअल-कर्म के मम्पादन में यत्नवान् होना चाहिए, जिसमें मन्मार्ग में प्रवेश कर सब मत्त्व द्रोह छोडकर एक दूसरे के हित-मुख-विधान में तत्पर हो।

जिम प्रकार जब एक घर में ग्राग लगती है ग्रीर वह ग्राग फैलकर दूसरे घर में जाती है, ग्रीर वहाँ के तृणादि में लगती है, तब शीघ्र उम तृण ग्रादि को हटाकर उसकी रक्षा का विधान किया जाता है, उमी प्रकार चित्त जिम वस्तु के सग से द्वेपाग्न से दह्यमान हो, उम वस्तु का उसी क्षण पित्याग करना चाहिए।

जिसको मारण-इण्ड मिला है, यदि वह हस्तच्छेदमात्नान-तर मुक्त कर दिया जाय, तो इसमें उसका स्पष्ट लाभ है, क्षित नहीं है। इसी प्रकार, यदि मनुष्य को, दु ख का अनुभव कर नरक-दु ख से छुटकारा मिले, तो इसमें सुखी होना चाहिए। क्यों कि, नरक-दु ख की अपेक्षा मनुष्य-दु ख कु छ भी नहीं है। यदि इतना भी दु ख नहीं महा जा सकता, तो उस को प्र का निवारण क्यों नहीं करते, जिसके कारण नरक की व्यथा भोगनी पड़ती है? इसी को ध के निमित्त अनेकमहस्र वार मुझको नरक-व्यथा महनी पड़ी है। इससे न मैंने अपना उपकार किया और न दूसरों का। इसलिए, सारा दु खानुभव निष्प्रयोजन ही हुआ। पर मनुष्य-दु ख नरक-दु ख के समान कठोर नहीं है, और यह इसके अतिरिक्त वुद्ध त्व का साधन भी है। अत, इस दु ख में अभि हिच होनी चाहिए, क्यों कि यह समार के दु ख का प्रणमन करेगा। यदि किसी गुणी के गुणों का वर्णन कर दूसरे सुखी होते हैं, तो तुम भी उसका गुणानुवाद कर अपने मन को क्यों नहीं प्रमन्न करते ? ईप्यांनल की ज्वाला से क्यों जलते हो ? यह सुख अनिन्य है, और सुख का कारण है। इसमें मबसे बड़ा गुण यह है कि सत्त्वों के आवर्जन का यह सर्वोत्तम उपाय है।

यदि यह कहो कि पराये की गुण-प्रशमा मुझको प्रिय नही है, क्यों कि इसमें दूसरे को सुख प्राप्त होता है, तो इससे वडा ग्रनर्थ सम्पादित होगा। इससे ऐहिक ग्रौर पारलौकिक दोनों फल नण्ट हो जायेंगे। दूसरे की मुख-सम्पत्ति को देखकर कुढना ग्रनुचित है। जब ग्रपने गुण का सकीत्तंन सुन तुम यह इच्छा रखते हो कि दूमरे प्रमन्न हो, तो क्यो दूसरों की प्रशसा मुनकर तुम स्वय प्रमन्न नहीं होते ? तुमने इमलिए वोधिचित्तका ग्रहण किया है कि वृद्धत्व के ग्रनुपम लाभ द्वारा सब सत्त्वों को ममस्त सुख-मम्पत्ति का उपभोग करायेगे, तो फिर यदि वे स्वय सुख प्राप्त करें, तो इससे क्यो ग्रप्रमन्न होते हो ? दूसरे की सुख-मम्पत्ति देख तुम्हारी यह ग्रसहिष्णुता क्यों है ? तुम तो यह ग्राकाक्षा रखते हो कि मत्त्वों को वृद्ध त्वप्राप्त करावेंगे, जिसमें वे वैलोक्य में पूजे जायें, फिर उनके स्वल्प लाभ-सत्कार को देखकर क्यो जलते हो ?

त्रैलोक्यपूज्य बुद्धत्वं सत्त्वाना किल वाञ्छिस । सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं परिवह्यसे ।। (वोघि०६।८१) सब सत्त्व तुम्हारे ग्रात्मीय हैं। उनके पोषण का भार तुमने ग्रपने ऊपर लिया है। जो उनका पोषण करता है, वह तुम्ही को देता है। ऐसे पुरुप को पाकर तुम कोध करते हो। उनको सुखी देख तुमको सुखी होना चाहिए। यदि यह कहो कि वृद्धत्व के ही लिए मैंने जगत् को ग्रामन्त्रित किया है, न कि ग्रन्य सुख के लिए, तो यह उपयुक्त नही है। जो सत्त्वों के लिए बृद्धत्व की इच्छा रखता है, वह उनके लिए लौकिक तथा लोकोत्तर समस्त वस्तुजात की इच्छा रखता है। जो दूसरे की सुखसम्पत्ति को देखकर कृद्ध होता हो ग्रौर दूसरे का लाभसत्कार नहीं देख सकता हो, उसकी बोधिचित्त की प्रतिज्ञा मिथ्या है। यदि उसने लाभ-सत्कार न पाया, तो दान की वस्तु दानपित के घर मे रहती है, वह वस्तु किसी ग्रवस्था में भी तुम्हारी नहीं हो सकती। लाभ-सत्कार का पानेवाला क्या उस पूर्व-जन्मकृत पुण्य का निवारण करे, जिसके कारण उसको लाभ-सत्कार प्राप्त होता है, ग्रथवा दाता का निवारण करे ? ग्रथवा ग्रपने गुणो का निवारण करे, जिनसे प्रसन्न हो दानपित लाभ-सत्कार का दान करता है ? कहो, किस प्रकार से तुम्हारा परितोष हो ? तुम ग्रपने किये हुए पापो के लिए शोक नहीं करते, पर दूसरे के पुण्य की ईर्ष्या करते हो। यदि तुम्हारी ग्रभिलाषा-माद्य से तुम्हारे ग्रव का ग्रनिष्ट सम्पादित हो, तो उससे क्या फल मिलेगा ? विना हेतु के केवल तुम्हारी ग्रभिलाषा से ही किसी का ग्रनिष्ट नहीं हो सकता। यदि हो भी, तो दूसरे के दु ख मे तुमको क्या सुख मिलता है ?

यदि दूसरे को दु खी देखना ही तुम्हारा अभिप्राय हो, और इसी में अपना सुख मानते हो, तो इमसे बढ़कर तुम्हारे लिए क्या अनर्थ हो सकता है ? यम के दूत तुमको लें जाकर कुम्भीपाक नरक में पकावेंगे। स्तुति के विघात से दु ख उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। स्तुति, यश अथवा सत्कार से न पुण्य की वृद्धि होती है, न आयु की, न वल की, न आरोग्य लाभ होता है और न शरीर-सुख प्राप्त होता है। बुद्धिमान् पुरुप इन पांच प्रकार के पुरुषार्थों की कामना करता है। यश के लिए लोग अपने धन और प्राण को भी तुच्छ समझते हैं। यश के लिए मरने पर उसका सुख किसको प्राप्त होता है ? केवल अक्षर-मान्न है। तो क्या अक्षर खाये जायेंगे ? यह वालकीड़ा के समान है। जिस प्रकार एक वालक धूलिमय गृह बनाकर परम परितोष से कीड़ा करता है, पर उसके भग्न हो जाने पर अत्यन्त दु खी हो करण स्वर से आर्त्तनाद करता है, उसी प्रकार उस व्यक्ति की दशा होती है, जो स्तुति और यशरूपी खिलौनो से खेलता है और उनके विघात से दु खी होता है।

यदि कोई मुझसे या किसी दूसरे से प्रीति करता है, तो मुझे क्या ? यह प्रीति-सुख उसी को है। इसमें मेरा किंचिन्माद्ध भी भाग नही है। यदि दूसरे के सुख से मुख की प्राप्ति हो, तो सर्वद्ध ही मुझको सुख की प्राप्ति हो ग्रौर जब कोई किसी का लाभ-मत्कार करे, तो मुझको भी सुख हो, पर ऐसा नहीं होता। में तभी प्रसन्न होता हूँ, जब दूसरे मेरी प्रशसा करते हैं। यह तो बालचेष्टा है। स्तुति ग्रादि कल्याण की घातक होती है। स्तुति ग्रादि द्वारा गुणी के प्रति ईप्यां ग्रौर परलाभमत्कारामर्षण का उदय होता है। स्तुति ग्रादि में यह दोप है। इसलिए, जो मेरी निन्दा के लिए उद्यत है, वह नरकपात से मेरी रक्षा करने में प्रवृत्त हुग्रा हं।

नाम-मत्कार विमुवित के निए बन्धन है। मैं मुमुख हूँ। इसलिए, जो इन बन्धनों मे मुझको मुक्त करता है, वह णत्रु किस प्रकार है, वह तो एक प्रकार का कल्याणिमत्र है। इमिलिए उसमे द्वेप करना ग्रयुक्त है। यह बुद्ध का ही माहात्म्य है कि मै तो दु ख-सागर में प्रवेश करना चाहता हूँ श्रीर ये कपाछ बन्द कर मेरा मार्ग श्रवरुद्ध करना चाहते है, ग्रतः दुख से मेरी रक्षा करते हैं। फिर क्यों में उनसे द्वेप करूँ ? जो पुण्य का विघात करे, उसपर भी कोध करना अयुक्त है, नयोगि क्षान्ति, तितिक्षा के नुल्य कोई तप, अर्थान् सुकृत नहीं है, श्रीर यह मुकृत विना किसी यत्न के ती उपस्थित होता है। पुण्यविष्नकारी के छल से पुण्यहेतु की प्राप्ति होती है। इसके विषरीत यदि मैं पृण्यविष्नकारी को क्षमा न करूँ, तो मैं ही पुण्यहेतु उपस्थित होने पर पुण्य का वाधक होना हैं। यदि वह पुण्यविघातकारी है, नो किस प्रकार वह पुण्य का हेतु हो मकता है ? यह शका उचित नही है। जिसके विना कार्य नहीं होता ग्रीर जिसके रहने पर ही कार्य होता है, वही उस कार्य का कारण है, वह उसका विघातहेतु नही कहलाता । दान देने के समय यदि दानपित के पास कोई अर्थी आवे, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस याचक ने दान में विघ्न डाला, क्योंकि वह दान का कारण है। विना भ्रयीं के दान प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार, णिक्षा ग्रहण कराने के लिए यदि पित्राजक श्रावे, तो उसकी प्राप्त प्रव्रज्या में विघ्नकारक नहीं है। लोक में याचक मुलभ हैं, पर ग्रपकारी दुर्लभ हैं, क्योंकि जो दूसरे के साथ वुराई नहीं करना, उसका कोई श्रनिष्ट नहीं करता। इसलिए, यह समझना चाहिए कि मेरे घर में विना श्रम के एक निधि उपार्जित हुई है। ग्रपने शसु का कृतज्ञ होना चाहिए; क्योंकि वह वोधिचर्या में महायक है। इस प्रकार, क्षमा का फल मुझको ग्रौर उसको दोनो को मिलता है। वह मेरे धर्म में महायक है, इमलिए यह क्षमा-फल पहले उसी को देना चाहिए।

यहाँ पर यह शका हो सकती है कि ऐसा युक्तियुक्त होता, यदि शबु इस ग्रिमिप्राय से कार्य में प्रवृत्त होता कि मुझको क्षमा-फल की प्राप्ति हो ? यद्यपि शबु कुशल का हेतु है, तथापि वह बुद्धि से अपकार नहीं करता कि दूमरों को क्षमा-फल प्राप्त हो। ऐसा होते हुए भी शबु पूजनीय है। जैसे सद्धर्म की पूजा इमलिए होती है कि वह कुशल-निष्पत्ति का हेतु है, यद्यपि वह अचित्त, ग्रर्थात् निरिभप्राय है। यदि ग्रिमिप्राय ही पूजा में हेतु होता, तो ग्रागय-शून्य होने से सद्धर्म भी पूजनीय न होता। यदि यह कहों कि अपकार-बुद्धि होने से शबु की पूजा न करनी चाहिए, तो वताओ क्षान्ति कै से हो श्रिपकार का न सहना या प्रत्यपकार करना युक्त नहीं है। जिम प्रकार हितमुख-विधायक सुर्वेद्य के प्रति रोगी का प्रेम ग्रीर ग्रावर-भाव रहता है, हेप का गन्ध भी नहीं रहता, वहाँ शान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, उसी प्रकार जो ग्रपकारी नहीं है, उसके प्रति हेप-चित्त के निवर्त्तन का क्या प्रश्न ?

दुप्टाशय के कारण ही क्षमा की उत्पत्ति होती है, शुभाशय को लक्ष्य कर नहीं होती। इसलिए, वह क्षमा का हेतु है और सद्धम की तरह उमका सत्कार करना चाहिए। मुझे उसके ग्राशय के विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

सत्त्व-क्षेत्र ग्रांर जिन-क्षेत्र का वर्णन भगवान् ने किया है, क्यों कि इनकी ग्रनुकूलता से बहुतों ने बुद्धत्व प्राप्त कर लांकिक ग्रांर लोकोत्तर सर्वसम्पत्ति-पर्यन्त पाई है। ऐसी शका हो सकती है कि यद्यपि सत्त्व सर्वसम्पत्ति के हेतु है, तथापि तथागत वृद्ध के साथ उनकी समानता युक्त नहीं है। पर यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जब दोनों से समान रूप में बुद्ध-धर्मों का ग्रागम होता है, तब जिनों के प्रति गौरव होना ग्रौर सत्त्वों के प्रति न होना युक्त नहीं है। सत्त्व यदि रागादि मलों से सयुक्त होने के कारण हीनाशय है, तो भगवत् से समानता कैसे हो सकती है? यह शका भी ग्रनुचित है। क्योंकि, यद्यपि भगवान् का माहात्म्य ग्रपरिमित पुण्य ग्रौर ज्ञान के होने के कारण लोकत्तर है, तथापि कार्य के तुल्य होने से सम माहात्म्य कहा जाता है। सत्त्व 'जिन' के समान इसीलिए है, क्योंकि वह भी बुद्धधर्म का लाभ कराते है। यद्यपि परमार्थ दृष्टि में वह भगवान् के समान नहीं है, क्योंकि भगवान् गुणों के सागर हैं, ग्रौर गुणार्णव का एक देश भी ग्रनन्त है। यदि किसी सत्त्व में बुद्ध के गुणों की एक किणका भी पाई जाय, तो तीनों लोक पूजा के लिए ग्रपर्याप्त है।

श्रकृतिम सुहृद् श्रौर श्रनन्त उपकार करनेवाले बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो के प्रति जो श्रपकार किया गया है, उसका परिशोधन इससे बढकर क्या हो सकता है कि जीवो की सेवा करे। बोधिसत्त्व जीवो के हित-सुख के लिए श्रपने श्रग काट-काटकर दे देते हें श्रौर श्रवीची नामक नरक में सत्त्वों के उद्धार के लिए प्रवेश करते हैं। इसीलिए, परम श्रपकार करनेवालें की श्रोर से भी चित्त को दूषित नहीं करना चाहिए। किन्तु, श्रनेक प्रकार से मनसा वाचा कर्मणा दूसरों का कल्याण ही करना चाहिए। इसी से लोकनायक बुद्ध श्रनुकूल होगे श्रौर इसी से वाछित कल मिलेगा। बोधिसत्त्व को विचारना चाहिए कि जिनके निमित्त भगवान् श्रपने शरीर श्रौर प्राणों की उपेक्षा करते हैं, श्रौर तृणवत् उनका परित्याग करते हैं, उन सत्त्वों से वह कैसे मान कर सकता है सत्त्वों को सुखी देखकर मुनीन्द्र हुए को प्राप्त होते हैं श्रौर उनकी पीडा से उनको विषाद होता है। उनकी प्रसन्नता में बुद्ध श्रपकृत होते हैं।

जिसका शरीर चारो श्रोर से श्राग्न से प्रज्वित हो रहा है, वह किसी प्रकार इच्छाश्रों में सुख नही मानता। इस प्रकार, जब सत्त्वों को दु.खवेदना होती है, तब दयामय भगवान् प्रसन्न नहीं होते। मैंने सत्त्वों को दु:ख देकर सब बुद्धों को दु खित किया है, इसिलए श्राज में श्रपना पाप महाकारुणिक जिनों के श्रागे प्रकाश करता हूँ। मैंने उनको दु ख पहुँचाया, इसिलए क्षमा माँगता हूँ। में श्रपने को सब प्रकार से लोगों का दास मानता हूँ। लोग चाहें मेरे मिर पर पर रखें, उनका पर में प्रसन्नता से सिर पर धारण करूँगा। इसमें सशय नहीं है कि बुद्ध श्रीर बोधिसत्त्वों ने समस्त जगत् को श्रपनाया है। यह निश्चित है कि बुद्ध सत्त्व के रूप में वे दिखलाई पडते हैं। में नाथ है। हम उनका श्रनादर कैंसे कर सकते हैं

म्रात्मीकृत सर्वमिवं जगतै कृपात्मिभर्ने व हि संशयोऽस्ति । वृश्यन्त एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथा किमनादरोऽत्र ॥

(वोधि० ६।१२६) तथागत बुद्ध इसी से प्रसन्न होते हैं। स्वार्थ की सिद्धि भी इसी से होती हैं। लोक का दुख भी इसी से नष्ट होता है। इसलिए यही मेरा वत हो तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव । लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥ (वोधि० ६।१२७)

एक राजपुरुप जन-समूह का विमर्दन करता है ग्रीर वह समूह उसका कुछ विगाड नहीं सकता। वह अकेला नहीं है। उसको राजवल प्राप्त है। इसी प्रकार जो अपराध करता है, उसको दुर्वल समझकर अपमानित न करना चाहिए। वह अकेला नहीं है। नरकपाल ग्रीर दयामय उनके वल है। उसलिए, जैसे भृत्य कुपिन राजा को प्रमन्न करता है, उसी प्रकार सबको मत्त्वों को प्रमन्न करना चाहिए। कुपिन होकर भी राजा उतना कष्ट नहीं दे सकता, जितना कष्ट सत्त्वों को अपसन्न कर नारकीय यातना के अनुभव से मिलता है। राजा प्रमन्न होकर यदि वडे-से-बडा पदार्थ भी दे, तब भी वह बुद्धत्व की समना नहीं कर सकता, जो सत्त्वाराधन से मिलता है। मत्त्वाराधन से भविष्य में बुद्धत्व की प्राप्त के साथ-साथ इस लोक में सौभाग्य, यश ग्रीर सुख मिलता है। जो जमा करता है, वह समार में ग्रारोग्य, चित्तप्रसाद, दीर्घाय ग्रीर ग्रत्यन्त सुख पाना है।

वीर्य-पार मिता-जो क्षमी है, वही वीर्यलाभ कर सकता है। वीर्य में बोधि प्रतिष्ठत है। वीर्य के विना पुण्य नहीं है, जैसे वायु के विना गित नहीं है। कुशल कर्म में उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विपक्ष ग्रालस्य, कुत्सित में ग्रामिक्त, विषाद ग्रीर ग्रात्म-ग्रवज्ञा है। ससार-दुख का तीव्र श्रनुभव न होने में कुशल-कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। इस निर्व्यापारिता से ग्रालस्य होता है। क्या नही जानते कि क्लेश-रूपी मछुग्रो से ग्राक्रान्त तुम जन्म के जाल में पड़े हो ? क्या नही जानते कि मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो। क्या अपने वर्ग के लोगो को, एक के वाद दूसरे को, मारे जाते नहीं देखते हो ? तुम यह देखकर भी निद्रा के मोहजाल में पढ़े हो। ग्रपने को नि गरण देखकर भी सुखपूर्वक वैठे हो। तुमको भोजन कैसे रुचता है ? नीद क्योकर ग्राती है, ग्रौर ससार में रित कैसे होती है ? ग्रालस्य छोडकर कुणलोत्साह की वृद्धि करो। मृत्यु ग्रपनी सामग्री एकल्ल कर शीघ्र ही तुम्हारे वध के लिए ग्रा उपस्थित होगी। उस समय तुम कुछ न कर सकोगे। उस समय तुम इस चिन्ता से विह्वल हो जाग्रोगे कि हा। काम विचारा था, वह न कर सका, जिसका ग्रारम्भ किया था या जिसको कुछ निष्पन्न किया था, उस कार्य को समाप्त न कर सका ग्रौर वीच ही में ग्रकम्मात् मृत्यु का ग्राक्रमण हुग्रा। तुम उम समय यमदूतो के मुख की ग्रोर निहारोगे, तुम्हारे वन्धु-वान्धव तुम्हारे जीवन से निराण हो जायेंगे श्रीर णोक के वेग से उनके नेतो से ग्रश्रुधारा प्रवाहित होगी। मरण-समय उपस्थित होने पर सुकृत या पापकर्म का स्मरण होने से तुमको पत्रचात्ताप होगा। तुम नारक शब्दो को सुनोगे ग्रौर व्रास से पुरीषोत्सर्ग के कारण तुम्हारे गात्र मलमूत्र से उपलिप्त हो जायेगे। शरीर, वाणी ग्रौर चित्त तुम्हारे ग्रधीन न रहेंगे । उस समय तुम क्या करोगे ? ऐसा ममझकर स्वस्थ अवस्था में ही कुशल-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। जिस प्रकार बहुत-से लोग क्रमण खाने के लिए ही मछलियो को पालते हैं। उनका मरण ग्राज नहीं, तो कल ग्रवण्य होगा, उसी प्रकार सत्त्वो को समझना चाहिए कि श्राज नहीं, तो कल मृत्यु श्रवश्यमेव होगी। उन लोगो को विशेषकर तीव्र नारक दुःखों से

भयभीत होना चाहिए, जिन्होने पापकर्म किया है। सुकुमार होने के कारण जब तुम उज्जोदक के स्पर्श को भी सहन नहीं कर सकते, तो नारक कर्म करके सुखासीन क्यों हो? विना पुरुषार्थ किये फल की ग्राकाक्षा करते हो, दु ख सहने का सामर्थ्य नहीं है, मृत्यु के वशीभूत हो। तुम्हारी दशा कष्टपूर्ण है। ग्रष्टाक्षण-विनिर्म क्त मनुष्यभाव-रूपी नौका तुमको मिली है। दु खमयी महानदी को पार करो। वीर्य का ग्रवलम्बन कर सब दु खो को पार करो। यह निद्रा का समय नहीं है। यदि इस समय पुरुषार्थ न करोगे, तो फिर नौका का मिलना कठिन होगा। समागम वार-बार नहीं होता। कुत्सित कर्मी में ग्रासक्त न हो। शुभकर्मी में रित होने से ग्रपर्यन्त सुख-प्रवाह प्रवाहित होता है। इसको छोडकर तुम्हारी प्रवृत्ति रित, हास, कीडा इत्यादि में क्यों है? यह केवल दु ख का हेतु है।

श्रविषाद, वलव्यूह, निपुणता, श्रात्मवशवर्त्तिता, परात्मसमता श्रीर परात्मपरिवर्त्तन से वीर्य-समृद्धि का लाभ होता है। कोई पुरुष-विशेष श्रपरिमित पुण्य-ज्ञान के वल से दुष्कर कर्मों का श्रनुष्ठान कर कही श्रसख्येय कल्पों में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। में साधारण व्यक्ति किस प्रकार बुद्धत्व को प्राप्त करूँगा ? ऐसा विपाद न करना चाहिए, क्योंकि सत्यवादी तथागत बुद्ध ने सत्य कहा है कि जिन बुद्धों ने उत्साहवश, दुर्लभ, श्रनुत्तरबोधि को पाया है, वे भी ससार-सागर के श्रावर्त्त में परिश्रमण करते हुए मशक, मिक्का श्रीर कृमि की योनियों में उत्पन्न हुए थे। जिसमें पुरुषार्थं है, उसके लिए कुछ दुष्कर नहीं। मैं मनुष्यभाव में हूँ, हित-श्रहित पहचानने की मुझमें शक्ति है।

सर्वज्ञ के बताये हुए मार्ग के अपरित्याग से बोधि अवश्य प्राप्त होगी। अति दुष्कर कर्म के श्रवण से अनध्यवसाय ठीक नहीं है। हस्त-पादादि दान में देना होगा, कैसे ऐसे दुष्कर कर्म कर सकेंगे, ऐसा भय केवल इसीलिए होता है कि मोहवश गुरु श्रीर लाघव का परमार्थ-विचार नही होता । पापकर्म कर सत्त्व नरकाग्नि मे जलाये जाते है, ग्रीर नाना प्रकार की यातनाएँ भोगते हैं। यह दुख महान्, पर निष्फल है। इससे बोधि नहीं प्राप्त होती, पर बुद्धत्व का प्रसाधक दु ख ग्रल्प ग्रीर सफल है। शरीर मे प्रविष्ट शल्य के उद्धरण में थोडा दु ख अवश्य होता है, पर बहुव्यथा का निवर्त्तन होता है। इसी प्रकार थोडा दु ख सहकर दीर्घकालिक दुःख का उपशम होता है। इसलिए, इस थोडे-से दुःख को सहना उचित है। वैद्य लघन, पाचन स्रादि दु खमय क्रियास्रो द्वारा रोगियो को स्रारोग्य-लाभ कराता है। इससे वहुत-से दु ख नष्ट हो जाते हैं। इसलिए, बुद्धिमान् पुरुष को थोडा दु ख स्वीकार करना चाहिए। पर सर्व-व्याधि-चिकित्सक भगवान् ने साधक के लिए इन उचित दु खोत्पादिनी कियाग्रों का कर्त्तव्य-रूप मे प्रतिपादन नही किया है। वह सामर्थ्यानुसार मृदु उपचार द्वारा दीर्घ रोगियो की चिकित्सा करते है। प्रारम्भ मे शल्य के परित्याग मे यथा शाकादि दान मे, नियुक्त करते है। पीछे से जब मृदु दानाभ्यास-कर्म से अधिक मान्ना मे दानाभ्यास-प्रकर्ष होता है, तब अपना मास, रुधिर स्रादि भी प्रसन्नतापूर्वक देने का सामर्थ्य प्रकट होता है। जब स्रभ्यासवश स्वमास में शाक के समान निरासग वृद्धि उत्पन्न होती है, तव स्वमासादि दान भी सुलभ हो जाता है ।

वोधिमत्त्व को कायिक श्रीर गानिमक दोनो प्रकार के दु ख नहीं होते। पाप से विरत होने के कारण कायिक दु ख नहीं होता। वाह्य श्रीर श्रष्ट्यात्म-नेरात्म्य होने के कारण मानिसक दु ख भी उसकी नहीं होता। मिथ्याकल्पना से मानिमक श्रीर पाप से कायिक व्यथा होती है। पुण्य मे गरीर-सुख श्रीर पथार्थ ज्ञान से मानिसक मुख मिलता है। जो दयामय है श्रीर जिसका जीवन संसार में परमार्थ के लिए ही है, उमको कौन-सा दु ख हो सकता है? यदि यह शका हो, कि दीघंकाल में पुण्य-राचय द्वारा सम्यक् मम्बोधि की प्राप्ति होती है, इसलिए मुमुक्ष को चाहिए कि श्रीझ काल में फल देनेवाले हीनयान का ही श्राक्ष्य ले, तो ऐसी शका न करनी चाहिए। क्योकि, महायान पूर्वकृत पापो का क्षय करता है श्रीर पुण्यसागर की प्राप्ति कराता है। इसलिए, यह हीनयान की श्रपेक्षा शीझगामी है।

वोधिचित्त-रथ पर ग्रारूढ होना चाहिए। यह सब क्लेगो का निवारक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर ग्रिधकाधिक गुख पाते हुए कौन ऐमा सचेतन है, जो विपाद को प्राप्त हो? सत्त्वो की ग्रयंसिद्धि के लिए वोधिमत्त्व के पाम एक वलव्यूह है, जो इम प्रकार है—छन्द, स्थाम, रित, ग्रीर मुवित। 'छन्द' कुणल की ग्रिभलापा को कहते हैं। इस भय में कि ग्रणुभ कमें से दुख उत्पन्न होता है ग्रीर यह सोचकर कि ण्मकमं द्वारा ग्रानेक प्रकार से मधुर फलो की उत्पत्ति होती है, मत्त्व को कुणल-कमं की ग्रिभलापा होनी चाहिए। 'स्थाम' ग्रारव्ध की दृढता को कहते हैं। 'रित' मत्कमं में ग्रामिकत है। 'मुक्ति' का ग्रयं उत्सर्ग है। यह वलव्यूह वीर्यसाधन में चतुरिगणी सेना का काम देता है। इसके द्वारा श्रालस्यादि विपक्ष का उन्मूलन कर वीर्य-प्रवर्द्धन के लिए यत्न करना चाहिए।

मुझको अपने भौर पराये अप्रमेय काय-वाक्-चित्तसमाश्रित दोष नष्ट करने हैं। एक-एक दोष का क्षय मुझ मन्दवीर्य से श्रनेक शत-महस्र कल्पो में होगा। दोषनाश के लिए मुझमें लेशमात्र भी उत्साह नही दिखलाई पडता। मै ऋपरिमित दुख का भाजन हूँ। मेरा हृदय क्यो नही विदीणं होता ? इस ग्रद्भृत ग्रौर दुर्लभ मनुष्य-जन्म को मैने वृथा गैंवाया। मैने भगवत्पूजा का सुख नही उठाया। मैने वृद्ध-शासन की पूजा नहीं की। भीतों को अभयदान नही दिया। दरिद्रो की श्रामा नही पूरी की। यात्तों को सुखी नही किया। मेरा जन्म केवल माता को दुख देने के लिए हुआ है। पूर्वकृत पापो के कारण धर्म की अभिलापा का अभाव है। इसीलिए, इस जन्म में मेरी यह दशा हुई है। ऐसा समझकर कीन कुशल-कर्म की ग्रिभलाया का परित्याग करेगा? मव कुशलो का मूल 'छन्द' है। उसका भी मूल वार-वार शुभ-श्रशुभ कर्मों के विपाक-फल की भावना है। जो पापी हैं, उनको भ्रनेक प्रकार के कायिक, मानसिक, नारकादि दु ख होते है, श्रोर उनके लाभ का विघात होता है। पुण्यवान् को पुण्यवल से श्रमिवाछित फल मिलता है, पापी को जब-जब मुख की इच्छा का उदय होता है, तब-तब दुख-णस्त्रो से उसका विघात होता है। जो श्रसाधारण शुभकर्म करते हैं, वे इच्छा न रखते हुए मातृकुक्षि में नही उत्पन्न होते । जो श्रश्भ कर्म करते हैं, काल-दूत उनके शरीर की सारी खाल उधेडते हैं। श्राग में गलाये हुए ताँवे से उनके शरीर को स्नान कराते हैं, जलती हुई तलवार श्रीर शक्ति के प्रहार से मास के सैकडो खण्ड करते है, श्रीर सुतप्त लौहभूमि पर वे वार-वार

गिरते हैं, शुभ ग्रौर ग्रशुभ कर्मों का यह मधुर ग्रौर कटु फल-विपाक होता है। इसलिए, शुभ-कर्मों की ग्रभिलाषा होनी चाहिए।

उपस्थित सामग्री का निरूपण कर वलावल का विचार करना चाहिए। फिर, कार्य का ग्रारम्भ करे ग्रथवा न करे। ग्रारम्भ न करने में इतना दोष नही है, जितना कि ग्रारम्भ करके निवर्त्तन करने मे है। प्रतिज्ञात कर्म के न करने से पाप होता है ग्रीर उससे दुख की वृद्धि होती है। इस प्रकार, ग्रारव्ध कर्म का ही सम्पादन न होता हो, ऐसा नहीं है, पर उस काल में जो ग्रन्य कार्य हो सकते थे, वह भी नहीं होते। कर्म, उपक्लेण ग्रीर णक्ति में 'मान' होता है। 'मुझ ग्रकेले के ही करने का यह काम है', यह भाव 'कर्म-मानिता' कहलाता है। सब सत्त्व क्लेगाधीन है, स्वार्थ-साधन में समर्थ नहीं है, ये अशक्त है और मैं भारोद्वहन में समर्थ हूँ। इसलिए, मुझको सबका सुख-सम्पादन करने के लिए बोधिचित्त का उत्पाद करना चाहिए। मुझ दास के रहते और लोग क्यो नीच कर्म करे ? जो काम मेरे करने का है, उसे और क्यों करें ? यदि में इस मान से कि यह मेरे लिए अयुक्त है, उसे न करूँ, तो इससे तो यही श्रच्छा है कि मेरा मान ही नष्ट हो जाय। यदि मेरा चित्त दुर्वल है, तो थोडी भी ग्रापत्ति वाधक होगी। मृत सर्प को पाकर काक भी गरुड हो जाता है। जो विपादयुक्त है, उसके लिए प्रापत्ति सुलभ है, पर जो उत्साहसम्पन्न है ग्रौर स्मृति-सम्प्रजन्य द्वारा उपक्लेशो को ग्रवकाश नही देता, उसको वडे-से-बडा भी नही जीत सकता। इमलिए, बोधिसत्त्व दृढचित्त हो ग्रापत्ति का ग्रन्त करता है। यदि बोधिसत्त्व क्लेशो के वणीभूत हो जाय, तो उसका उपहास हो। वयोकि, वह तैलोक्य के विजय की इच्छा रखता है। वह विचार करता है कि मै सबको जीतूँ श्रौर मुझको कोई नहीं जीते। उसको इस बात का मान है कि मैं शाक्यसिंह का पुत्र हूँ। जो मान से अभिभूत हो रहे है, वे मानी नहीं है, क्यों कि मानी शतु के वश में नहीं आता और वह मानरूपी शतु के वश में है। मान से वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं। मनुष्य-भाव में भी उनको सुख नही मिलता। वे दास, परभृत, मूर्ख ग्रौर ग्रशक्त होते है, यदि उनकी गणना मानियो में हो, तो बताग्रो दीन किन्हें कहेंगे ? वहीं सच्चा मानी, विजयी श्रीर शूर है, जो मानशतु की विजय करने के लिए मान धारण करता है और जो उसका नाश कर लोक मे बुद्धत्व को प्राप्त होता है। सक्लेशो के बीच मे रहकर सहस्रगुण अग्रसर होना चाहिए। ज़ो काम आगे आवे, उसका व्यसनी हो जाय । द्युतादि कीडा मे ग्रासक्त पुरुष उसके सुख को पाने की वार-वार इच्छा करता है। इसी प्रकार बोधिसत्त्व को काम से तृप्ति नहीं होती। वह वार-वार उसकी श्रिभलाषा करता है। सुख के लिए ही कर्म किया जाता है, ग्रन्यथा कर्म मे प्रवृत्ति न हो। पर, कर्म ही जिसको सुख-स्वरूप है, जिसको कर्म के ग्रतिरिक्त किसी दूसरे सुख की ग्रिभलापा नही है, वह निष्कर्म होकर कैसे सुखी रह सकता है ?

बोधिसत्त्व को चाहिए कि एक काम के समाप्त होने पर दूसरे काम में लग जाय। पर, ग्रपनी शक्ति का क्षय जानकर काम को उस समय छोड देना चाहिए। यदि कार्य ग्रच्छी तरह समाप्त हो जाय, तो उत्तरोत्तर कार्य के लिए ग्रभिलापी होना चाहिए। क्लेगों के प्रहार से ग्रपनी रक्षा करनी चाहिए और जिस प्रकार शस्त्र-विद्या में कुशल शत्नु के साथ खड्ग-युद्ध

करते हुए निपुणतर दृढ प्रहार किया जाता है, उसी प्रकार दृढ प्रहार करना चाहिए। श्रणुमाव भी दोप को श्रवकाण न देना चाहिए। जैसे विप मधिर में प्रवेशकर शरीर भर में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार दोप श्रवकाश पाकर चित्त में व्याप्त हो जाता है।

श्रत , बलेश-प्रहार के निवारण में यत्नवान् होना चाहिए। जब निद्रा श्रीर श्रानस्य का प्रादुर्भाव हो, तब उनका णी द्र प्रनीकार करे, जै से किमी पुरुप की गोद में यदि मर्प चढ श्राता है, तो वह झट-से ग्रदा हो जाता है। जब-जब स्मृति-प्रमीप हो, तब-तब पिताप होना चाहिए श्रीर सोचना चाहिए कि क्या करें, जिसमें फिर ऐसा न हो। बीधिमत्त्व को सत्सग की इच्छा करनी चाहिए। गै से गई वायु की गिन से सचालित होती है, वै से ही बोधिमत्त्व उत्साह के वश होता है श्रीर इस प्रकार श्रभ्याम-परायण होने से ऋ द्वि की प्राप्ति होती है।

ध्यान-पारिमता— वीयं की वृद्धि कर समाधि में मन का आरोप करे, अर्थात् चित्तैकाग्रता के लिए यत्नवान् हो, क्यों कि विक्षिप्त-चित्त पुरुप वीर्यवान् होता हुआ भी क्लें को से कविति होता है। जन-सम्पर्क के विवर्जन से तथा कामादि वितर्कों के विवर्जन से विक्षेप का प्रादुर्भाव नहीं होता और निरासग होने से आलम्बन में चित्त की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए, ससार का परित्याग कर रागद्वेपमोहादि-विक्षेप हेतुओं का परित्याग करना चाहिए। स्नेह के वशीसूत होने से और लाम, सत्कार, यश आदि के प्रलोभन से ससार नहीं छोडा जाता। विद्वान् को सोचना चाहिए कि जिसने चित्तैकाग्रता द्वारा यथाभून तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की है, वहीं क्लेंशादि दु खो का प्रहाण कर सकता है। ऐसा विचार कर क्लेंश-मुमुक्षु पहले गमथ, अर्थात् चित्तैकाग्रता के उत्पादन की चेष्टा करे। जो समाहित-चित्त है और जिसकी यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई, है उसकी बाह्य चेष्टा का निवर्त्तन होता है और शम के होने से उसका चित्त चचल नहीं होता।

लोक-विषय में निरपेक्ष बुद्धि रखने से ही यह शमथ उत्पन्न होता है। अतिरय-पुत्र वारादिकों में अनित्य तत्त्व का स्नेह रखना युक्त नहीं है, जब यह विदित है कि अनेक जन्मपर्यन्त उस ग्रात्मप्रिय का पुन दर्शन नहीं होगा। यह जानते हुए भी दर्शन न मिलने से चित्त व्याकुल हो जाता है और किमी प्रकार सुस्थिर नहीं होता। जब उसको प्रिय-दर्शन होता है, तब भी चित्त का पूर्ण रूप से सन्तर्पण नहीं होता ग्रीर दर्शन की अभिलापा पूर्ववत् पीडा देती है। उसको प्रिय-समागम की ग्राकाक्षा से मोह उत्पन्न होता है। वह गुण-दोप नहीं विचारता। ग्रत, वह निरन्तर शोक-सन्तप्प रहता है। उस प्रिय की चिन्ता से तथा तल्लीनचित्तता के कारण प्रतिक्षण ग्रायु का क्षय होता है और कोई कुशल-कर्म सम्पादित नहीं होता। जिस मित्र के लिए ग्रायु का क्षय होता है, वह स्थिर नहीं है। वह क्षणभगुर है, ग्रशाश्वत है। उसके लिए दीर्घ-कालावस्थायी शाश्वतधर्म की हानि क्यों कर्त हो। यदि यह सोचते हो कि उसके समागम से हित-मुख की प्राप्ति होगी, तो यह भूल है, क्योंकि यदि तुम्हारा ग्राचरण उसके सदृश हुग्रा, तो तुम अवश्य दुर्गति को प्राप्त होगे ग्रीर यदि ग्रसदृश हुग्रा, तो वह तुमसे द्वेप करेगा। इस प्रकार, दोनो ग्रवस्थात्रों में वह तुम्हारे हित-मुख का निमित्त नहीं हो मकता। इम ममागम से क्या लाभ है किण में यह मित्र हैं हित-मुख का निमित्त नहीं हो मकता। इम ममागम से क्या लाभ है विश्व में यह मित्र हैं ग्रीर क्षण में यह गित्र हैं। जहाँ प्रसन्त होना चाहिए, वहाँ कोप करते हैं। इनका ग्राराधन ग्रीर क्षण में यह ग्रत हैं। जहाँ प्रसन्त होना चाहिए, वहाँ कोप करते हैं। इनका ग्राराधन

दुष्कर है। यदि इनसे इनके हित की बात कहो, तो यह कोप करते हैं, ग्रीर दूसरे को भी हित-पथ से निवारण करते हैं, ग्रीर यदि उनकी वात न मानी जाय, तो ऋढ़ होते हैं। ससार के मूढ पुरुषो से भला कही हित हो सकता है वह दूसरे का उत्कर्ण नहीं सह सकते। जो उनके बराबर के हैं, उनसे विवाद करते हैं ग्रीर जो उनसे ग्रधम हैं, उनसे ग्रभमान करते हैं, जो उनका दोप-कीर्त्तन करते हैं, उनसे वह ढ़ेप करते हैं। मूढ के ससर्ग से ग्रात्मोत्कर्प, परिनन्दा, ससार-रित-कथा ग्रादि ग्रकुणल ग्रवश्यमेव होते हैं। दूसरे के सग से ग्रनर्थ का समागम निश्चय जानो। यह विचार कर ग्रकेला मुखपूर्वक रहने का निश्चय करे। मूढ की सगित कभी न करे। यदि दैवयोग से कभी सग हो, तो प्रिय उपचारो ढारा उसका ग्राराधन करे ग्रीर उसके प्रति उदासीन वृत्ति रखे। जिम प्रकार भृग कुसुम से मधु-मग्रह करता है, पर परिचय नहीं पैदा करता, उसी प्रकार मूढ से वेवल उसको ले ले, जो धर्मार्थ प्रयोजनीय हो।

इस प्रकार, प्रिय-सगित का कारण स्नेह ग्रपाकृत होता है । साम्प्रत लाभादि तृष्णा का, जिनके कारण लोक का परित्याग नही बन पडता, परिहार करना चाहिए। विद्वान् को रित की ग्राकाक्षा न करनी चाहिए। जहाँ मनुष्य का चित्त रमता है, वह-वह वस्तु सहस्र-गुना दु ख रूप हो उपस्थित होनी है। इच्छा से भय की उत्पत्ति होती है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष किसी वस्तु की इच्छा न रखे। वहुतो को विविध लाभ ग्रौर यग प्राप्त हुए, पर वह लाभ-यश के साथ कहाँ गये, यह पता नहीं है। कुछ मेरी निन्दा करते हैं ग्रौर कुछ मेरी प्रशमा करते हैं, ग्रपनी प्रशसा सुनकर क्यो प्रसन्न होऊँ निज्दा कर सके, तो मुझ जैसे ग्रजो की क्या कथा निन्दा करते हैं कि यह सत्त्व पुण्य-रहित है, इसीलिए क्लेश उठाकर भी वह पिण्डपातादिमात्र लाभ भी नहीं पाता, ग्रौर जो लाभ-सत्कार प्राप्त करते हैं, उनका यह कहकर लोग उपहास करते हैं कि इन्हीने दानपित को किसी प्रकार प्रमन्न कर यह लाभ प्राप्त किया है। उभयथा उनके चित्त को शान्ति नहीं मिलती। ऐसे लोग स्वभाव से दु ख के हेतु होने हैं। ऐसे लोगो का मवास न मालूम क्यो प्रिय होता है न्यूड पुरुष किमी का मित्र नहीं है, उसकी प्रीति नि स्वार्थ नहीं होती। जो प्रीति स्वार्थ पर ग्राश्रित है, वह ग्रपने लिए ही होती है।

मुझको ग्ररण्य-वास के लिए यत्नणील होना चाहिए। वृक्ष तुच्छ दृष्टि से नहीं देखते ग्रीर न उनके ग्राराधन के लिए कोई प्रयत्न करना पडता है। कव इन वृक्षों के सहवास का मुख मुझको मिलेगा? कव में णून्य देवकुल में, वृक्षमूल में, गुहा में, मर्वनिरपेक्ष हो विना पीछे देखे हुए निवास करूँगा? कव मैं गृह त्यागकर स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकृति के विस्तीणं प्रदेशों में, जहाँ किसी का स्वामित्व नहीं है, विहार करूँगा? कव में मृण्मय भिक्षापाव लें शरीरनिरपेक्ष हो निर्भय विहार करूँगा? भिक्षापाव ही मेरा समस्त धन होगा, मेरा चीवर चोरों के निए भी ग्रनुपयुक्त होगा। फिर, मुझको किसी प्रकार का भय न रहेगा।

मैं कव एमणान-मूमि में जाकर दुर्गन्ध-युक्त निजदेह की तुलना पूर्वमृत जीवो के ग्रस्थिप पजर से करूँगा? शृगाल भी ग्रितदुर्गन्ध के कारण समीप नहीं ग्रायेंगे। इस गरीर के साथ उत्पन्न होनेवाले ग्रन्थिखण्ड भी पृथक् हो जायेंगे, किर प्रियजनों का क्या कहना? यदि यह सोचा जाय कि पुत्त-कलत्नादि सुख-दु ख में मेरे महायक होते हैं, इमलिए इनका ग्रनुनय करना युक्त है, तो ऐसा नहीं है। कोई किमी का दुख बाँट नहीं लेता। जीव ग्रकेला ही उत्पन्न होता है, ग्रकेला ही मरता है। मव लोग ग्रपने-ग्रपने कर्म का फल भोगते हैं। इमलिए, यह केवल ग्रभिमान है कि पुत्त-कलत्नादि मुख-दु ख में महायक होते हैं। वह केवल विघ्न ही करते हैं। ग्रत, उन प्रियजनों ने कोई लाभ नहीं है।

परमार्थ-दृष्टि से देखा जाय, तो कौन किसकी मगति करता है। जिस प्रकार, राह चलते पियको का एक स्थान में मिलन होता है और फिर वियोग होता है, उसी प्रकार ससार-रूपी मार्ग पर चलते हुए ज्ञाति, सगोव श्रादि नम्बन्बो द्वारा श्रावाम-परिग्रह होता है। मरने पर वह उनके साथ नही जाते । पूर्व इनके कि लोग मरणावस्था में उसका परित्याग करें और उसके लिए विलाप करें, मनुष्य को वन का ग्राश्रय लेना चाहिए। किसी से परिचय भीर न किसी से विरोध रखें। स्वजन वान्धवों के लिए प्रवज्या के ग्रनन्तर वह मृत के समान है। वन में जाति, सगोतादि कोई उसके नमीपवर्ती नहीं है, जो अपने शोक से व्यथा पहुँचार्वे या विक्षेप करे । इमलिए, एकान्तवाम-प्रिय होना चाहिए । एकान्तवास मे आयाम या क्लेश नहीं है । वह कल्याण-दायक है ग्रीर नव प्रकार के विक्षेप का शमन करता है। इस प्रकार, जन-सम्पर्क के विवर्जन से काय-विवेक का लाभ होता है। तदनन्तर, चित्त-विवेक की ग्रावश्यकता है। चित्त के समाधान के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। चित्त-नमाधान का विपक्षी काम-वितर्क हैं। इसका निवारण करना चाहिए। रूपादि विषयो के सेवन से लोक ग्रौर परलोक दोनो में ग्रनर्थ होता है। जिसके लिए तुमने पाप और अपयश को भी न गिना, श्रीर अपने को भय में डाला, वह अब अस्थिमात है, और किमी के अधिकार में नहीं है। जो मुख कुछ काल पहले लज्जा से भवनत या और सदा भवगुण्ठन से भावृत रहता था, उसे भाज गृध व्यक्त करते हैं, जो मुख दूमरो के दृष्टिपात से सुरक्षित था, उसे ग्राज गृध्य खाते हैं। ग्रव क्यो नहीं उसकी रक्षा करते ? गृधो ग्रौर गृगालो से विदारित इस माम-पुज को देखकर ग्रव क्यो भागते हो ? काष्ठ-लोष्ठ के समान निम्चल इम ग्रस्थि-पजर को देखकर ग्रव क्यो वास होता है ? पुरीय और श्लेष्म दोनो एक ही ग्राहार-पान में उत्पन्न होते हैं। इनमें पुरीय को तुम श्रपवित्न मानते हो, पर कामिनी के ग्रवर का मघुपान करने के लिए उनके श्लेष्म-पान में क्यो रित होती है ? जो काम-सुख के श्रिभलापी है, उनकी विशेष रित अपविव स्त्री-कलेवर में ही होती है। यदि तुम्हारी ग्रानिक्त त्रणुचि मे नही है, तो क्यो इन स्नायु-वद्ध ग्रस्थि-पजर ग्रीर मास के लोथडे विकृत है। यह अभिरति का युक्त स्थान नहीं है। जब भरीर का चर्म उत्पाटित होता है, तब न्नाम उत्पन्न होता है। यह गरीर का स्त्रभाव है। पर ऐमा जानकर भी इसमे रित क्यो उत्पन्न होती हे ? यदि यह कहो कि यद्यपि शरीर स्वभाव से अमेध्य है, पर चन्दनादि सुरिभ वस्तुमी

के उपलेप से कमनीय हो जाता है, तो यह उचित नही है। सहस्र सस्कार करने पर भी शरीर का स्वभाव नहीं वदल सकता। नग्न, वीभत्स और भयकर काय की केशनखादि रचना-विशेष कर स्नान, अभ्यग और अनुलेपन द्वारा विविध सस्कार कर मनुष्य आत्मव्यामोहन करता है, जो उसके वध का कारण होता है।

विना धन के सुख का उपभोग नहीं होता । वाल्यावस्था में धनोपार्जन की शक्ति नहीं होती । युवावस्था धनोपार्जन में ही व्यतीत होती है । जब उमर ढल जाती है, तब विषयों का कोई उपयोग नहीं रह जाता । कुछ लोग दिन-भर भृति-कर्म कर सायकाल को परिश्रान्त होकर लौटते और मृत-कल्प सो जाते हैं। वह इस प्रकार केवल ग्रायु का क्षय करते हैं, काम-सुख का ग्रास्वाद नहीं करते।

जो दूसरों के सेवक है, उनको स्वामी के कार्यवश प्रवास का क्लेश भीगना पडता है। वे अनेक वर्षो मे भी स्त्री और पुत्र को नही देखते। जिस सुख की लालसा से दूसरे का दासत्व स्वीकार किया, वह सुख न मिला। केवल दूसरो का काम कर व्यर्थ ही ग्रायु का क्षय किया। लोग जीविका के लिए रण में प्रवृत्त होते है, जहाँ जीवन का भी सशय होता है। यह विडम्बना नही, तो क्या है ? इस जन्म में भी कामासक्त पुरुष विविध दु खो का ग्रनुभव करते हैं। वह सुख-लिप्सा से कार्य में प्रवृत्त होते हैं, पर ग्रनर्थ-परम्परा की प्रसूति होती है। धन का ग्रर्जन ग्रीर ग्रर्जित धन की प्रत्यवायों से रक्षा कष्टमय है, ग्रीर रिक्षत धन का नाश विपाद और चित्त की मिलनता का कारण होता है। इस कारण अर्थ अनर्थ का कारण होता है। धनासक्त पुरुप का चित्त एकाग्र नही होता। भव-दु ख से विमुक्त होने के लिए उसको अवकाश ही नही मिलता । इस प्रकार, कामासक्ति मे अनर्थ बहुत है, सुखोत्पाद की वार्त्ता भी नही है। धनासक्त पुरुप की वही दशा है, जो उस वैल की होती है, जिसको शकट-भार वहन करना पडता है, भीर खाने को घास मिलती है। इस थोडे से सुखास्वाद के लिए मनुष्य ग्रपनी दुर्लभ सम्पत्ति नष्ट कर देता है। निश्चय ही मनुष्य की उलटी मित है, क्योंकि वह निक्कष्ट, श्रनित्य श्रौर नरकगामी गरीर के सुख के लिए निरन्तर परिश्रम करता रहता है। इस परिश्रम का कोटिशत भाग भी बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। इसपर भी मन्द बुद्धिवाले लोग बुद्धत्व के लिए उत्साही नहीं होते । जो कामान्वेपी है, उनको वोधिसत्त्व की अपेक्षा कही अधिक दु ख उठाना पडता है। काम का निदान दु.ख है। शस्त्र, विष, श्रिग्नि इत्यादि मरणमात्र दुख देते हैं, पर काम दीर्घकालिक तीव्र नरक-दुख का हेत् है। काम का परित्याग कर चित्त-विवेक मे रित उत्पन्न करनी चाहिए। श्रीर, कलह-शून्य, शान्त वनभूमियो में विहार कर सुखी होना चाहिए। वह धन्य है, जो वन में सुखपूर्वक भ्रमण करते है भीर सत्त्वों को सुख देने के लिए चिन्तना करते हैं, या वन में, गून्य भ्रालय में, वृक्ष के तले या गुफा मे, अपेक्षा-विरत हो यथेष्ट विहार करते है। जिस सन्तोप-सुख का भोग स्वच्छन्दचारी निर्गृ ही करता है, वह मन्तोप-मुख इन्द्र को भी दुर्लभ है । इस प्रकार, काय-विवक भ्रौर चित्त-विवेक के गुणो का चिन्तन कर मत्त्व विनर्कों का उपगम करता है, श्रौर जब चित्त परिशुद्ध होता है, तव वोधिचित्त की भावना में प्रकर्प-पद की प्राप्ति होती है।

वह भावना करता है कि सब प्राणियों को समान रूप से मुख अनुग्राहक ग्रीर दु य वाधक होता है, उसलिए मुझको श्रात्मवत् सबका पालन करना चाहिए। वह विचारता है कि जब मुझको श्रीर दूसरों को सुख समानरूप से प्रिय ग्रीर दु ख तथा भय समानरूप से ग्रप्रिय है, तो मुझमें क्या विणेपता है कि मैं श्रपने ही सुख के लिए यत्नवान् होऊँ ग्रीर श्रपनी ही रक्षा करूँ कहणा-परतन्वना से लोग दूसरों के दु य से दु यी होते हैं ग्रीर सर्वदु य के ग्रपहरण के लिए यत्नवान् होते हैं। एक के दु ख से यदि बहुन सत्त्वों का दु य दूर होता, तो दयावान् को वह दु ख उत्पादित, करना चाहिए। जो कृपावान् हैं, वह दूसरे के उद्घार के लिए नारक दु ख को भी मुख ही मानते हैं। जीवों के निस्तार से उनको ग्रनन्त परितोप होता है।

प्रज्ञा-पारिमता—चित्त की एकाग्रना से प्रज्ञा के प्रादुर्मीव में सहायता मिलती है। जिसका चित्त समाहित है, उसी को यथाभूत परिज्ञान होता है। प्रज्ञा से सब ब्रावरणो की ग्रत्यन्त हानि होती है। प्रज्ञा के ग्रनुकूलवर्त्ती होने पर ही दान ग्रादि पाँच पारिमताएँ सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति कराने में समर्थ और हेतु होती है। दानादि गण प्रज्ञाद्वारा परिणोबित होकर ग्रभ्यामवण प्रकर्ष की पराकाष्ठा को पहुँ वत है श्रीर श्रविद्या-प्रवर्त्तित सकल विकल्प का ध्वस कर तथा क्लेण श्रीर ग्रावरणों को निर्मूल कर परमार्थ-तत्त्व की प्राप्ति में हेतु होते हैं। इस प्रकार पट्पारमिता में प्रज्ञापारमिता की प्रधानता पाई जाती है। 'त्रार्यणत-माहन्त्री प्रज्ञा-पारमिता' मे भगवान् कहते हैं--"हे मुभूति । जिस प्रकार सूर्य-मण्डल ग्रीर चन्द्र-मण्डल चार द्वीपो को प्रकाणमान करते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा-पारमिता का कार्य पच-पारमिता में दुष्टिगोचर होता है । जिस प्रकार विना सप्तरत्न से समन्वागत हुए राजा चक्रवर्ती का पद नहीं पाता, उसी प्रकार प्रज्ञा-पारिमता से रहित होने पर पचपारिमता 'पारिमता' के नाम से नहीं पुकारी जा सकती। प्रज्ञा-पारिमता ग्रन्य पारिमताग्रो को ग्रिभिन्त करती है। जो जन्म मे अन्धे हैं, उनकी मट्या चाहे कितनी ही क्यां न हो, विना मार्ग-प्रदर्शक के मार्गावतरण में ग्रममर्थ हैं । इसी प्रकार दानाटि पाँच पारमिताएँ नेव-विकल हैं , विना प्रज्ञा-चक्ष की महायता के बोधि-मार्ग मे अवतरण नहीं कर सकती। जब पचपारिमता प्रज्ञा-पारमिता मे परिगृहीत होती है, तभी मचक्षुष्क होती है। जिस प्रकार क्षुद्र निदयौं गगा नाम की महानदी का श्रनुगमन कर उसके साथ महासमुद्र मे प्रवेश करती है, उसी प्रकार पाँच पारमिताएँ प्रज्ञा-पारमिता से परिगृहीत हो ग्रार उसका ग्रनुगमन कर सर्वाकारज्ञता को प्राप्त होती है।"

श्रत , यह पारिमता पचात्मक पुण्य-सम्भार की समुत्यापक है। जब चित्त समाहित होता है, तब चित्त को मुख-जान्ति मिलती है श्रीर चित्त के जान्त होने से ही प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है। जिक्षाममुच्चय (पृ० ११६) में कहा है—

कि पुनरस्य शमथस्य माहात्म्यं यथाभूतज्ञानजनशक्ति । यस्मात् समाहितो यथाभूत

जानातीत्यक्तवान् मुनि ।

ग्रयात्, इस 'शमथ' का क्या माहात्म्य है ? यथाभूत ज्ञानोत्पत्ति में मामर्थ्य ही इसका माहात्म्य है, क्योंकि भगवान् ने कहा है कि जो समाहित-चित्त है, वही यथाभूत का ज्ञान

रखता है। जो यथाभूतदर्शी है, उसी के हृदय में सत्त्वों के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है। इस महाकरुणा से प्रेरित हो शील, प्रज्ञा ग्रौर समाधि इन तीनो शिक्षाग्रों को पूरा कर वोधिसत्त्व सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करता है।

सर्वधर्म के अनुपलम्भ को ही प्रज्ञा-पारिमता कहते हैं। अव्टसाहिस्रकाप्रज्ञापारिमता में कहा है--पोऽनुपलम्भ सर्वधर्माणां सा प्रज्ञापार मितेत्युच्यते । शून्यता में जो प्रतिष्ठत है, उसी ने प्रज्ञा-पारमिता प्राप्त की है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावो की उत्पत्ति न स्वत होती है, न परत होती है, न उभयत होती है और न अहेतुत होती है, तभी प्रज्ञा-पारिमता की प्राप्ति होती है। उस समय किसी प्रकार का व्यवहार नही रह जाता। उस समय इस परमार्थ-सत्य की प्रतीति होती है कि दृश्यमान वस्तुजात माया के सदृश है, स्वप्न ग्रीर प्रतिविम्व की तरह मलीक मौर मिथ्या है। केवल व्यवहार-दणा में उनका मत्यत्व है। जो स्वरूप दृष्टि-गोचर होता है, वह सावृत-स्वरूप है। यथाभूत दर्शन से इस ग्रनादि समार-प्रवाह का यथावस्थित सावृत-स्वरूप उद्भावित होता है। व्यवहार-दशा में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्ता है, पर परमार्थ-दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म-शून्य है । क्योंकि, परमार्थ मे भावों का स्वकृतत्व, परकृतत्व ग्रीर उभयकृतत्व निषिद्ध है। वास्तव में सव गून्य ही शून्य है। सब धर्म स्वभाव से अनुत्पन्न है। यह ज्ञान आर्यज्ञान कहलाता है। जब इस आर्यज्ञान का उदय होता है, तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध से सस्कारो का निरोध होता है। इस प्रकार, पूर्व-पूर्व कारणभूत के निरोध से उत्तरोत्तर कार्यभूत का निरोध होता है। ग्रन्त में दुख का निरोध होता है। इस प्रकार भ्रविद्या, तृष्णा भ्रौर उपादान-रूपी क्लेश-मार्ग का, मस्कार भ्रौर भवरूपी कर्म-मार्ग का स्रीर दुख-मार्ग का व्यवच्छेद होता है। पर, जो मनुष्य स्रसत् मे सत् का समारोप करता है, उसकी बुद्धि विपर्यस्त होती है और उसको रागादि क्लेश उत्पन्न होते है। इसी से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म से ही जन्म होता है श्रीर जन्म के कारण ही जरा, मरण, व्याधि, शोक, परिदेवनादि दु ख उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, केवल महान् दु ख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

प्रज्ञा द्वारा सब धर्मों की नि स्वभावता सिद्ध होती है ग्रौर प्रत्यवेक्षमाण जगत् स्वप्न-मायादिवत् हो जाता है। तव इस ज्ञान का स्फुरण होता है कि जो प्रत्यय के ग्रधीन है, वह शून्य है। सब धर्म मायोपम है। वृद्ध भी मायोपम हैं। यथार्थ मे वृद्धधर्म नि स्वभाव है। सम्यक् सम्बुद्धत्व भी मायोपम है। निर्वाण भी मायोपम है। यदि निर्वाण से भी कोई विशिष्टतर धर्म हो, तो वह भी मायोपम तथा स्वप्नवत् ही है। जव परमार्थज्ञान की प्राप्ति होती है, तव वासनादि नि शेप दोपराशि की विनिवृत्ति होनी है। यही प्रज्ञा मव दु खो के उपशम की हेतु है।

सर्वधर्मश्न्यता के स्वीकार करने से लोकव्यवहार ग्रसम्भव हो जाता है। जब सब फुछ श्नून्य-ही-श्नून्य है, यहाँतक कि बुद्धत्व ग्रौर निर्वाण भी शून्य है, तब लोक-व्यवहार कहाँ से चल सकता है ? शून्य का स्वरूप ग्रनिवर्चनीय है, यह ग्रनक्षर है। इसलिए इसका ज्ञान ग्रीर उपदेश कैसे हो सकता है ? शून्यता के सम्बन्ध में इतना भी कहना कि यह ग्रनक्षर है,

स्रर्थान् वाग्विपयानीत है, मिथ्या है। ऐसा केवल समारोप से ही होता है। जब किसी के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा मकता और जब 'शून्यता' शब्द का प्रयोग भी केवल लोकव्यवहार-सिद्ध है, परन्तु परमार्थ में श्रलीक श्रीर मिथ्या है, तब एक प्रकार से हमारा मु ह ही बन्द हो जाता है श्रीर लोक-व्यवहार का श्रत्यन्त व्यवच्छेद होता है। इस कठिनाई की दूर करने के लिए सत्यद्वय की व्यवस्था की गई है--- मवृति-सत्य ग्रीर परमार्थ-सत्य। सवृति-मत्य व्यावहारिक मत्य है। 'मवृति' उसे कहते हैं, जिससे यथाभूत परिज्ञान का ग्रावरण हो। ग्रविद्या से ही स्वभाव का भ्रावरण होता है भौर यथावस्थित गावृत-स्वरूप का उद्भावन होता है। भ्रविद्या से ही भ्रसत् का मन् में ग्रारोप होता है ग्रीर वह ग्रसत् सत्यवत् प्रतिमात होता है। लोक में यह सवृति दो प्रकार की है --नथ्य-मवृति ग्रीर मिथ्या-सवृति । जिस वस्तुजात के ग्रहण में इन्द्रियो का उपघात नहीं होता, ग्रयीन् जिमकी उपलब्धि इन्द्रियों द्वारा विना किसी दोप के होती है, वह लोक में मत्य प्रतीयमान होता है ग्रीर उसकी सज्ञा 'तथ्य-सवृति' है। पर, मृगतृष्णा के समान जिम वम्नु-जात की इन्द्रयोपलव्धि दोपवती होती है, वह विकल्पित है, श्रीर लोक में उसकी सज्ञा 'मिथ्या-सवृति' है। पर, दोनो प्रकार के सवृति-सत्य सम्यग्दर्शी के लिए मृपा है, क्योंकि परमार्थ-दणा में सवृति-सत्य भी अलीक और मिध्या है। परमार्थ-सत्य वह है, जिसके द्वारा वस्तु का अकृतिम रूप अवभामित होता है। वस्तु-स्वभाव के अधिगम से आवृति, वासना और क्लेश की हानि होती है।

सब धर्म नि स्वभाव ग्रीर शून्य है । तयता, भूतकोटि, धर्मधातु इत्यादि शून्य के पर्याय है। जो रूप दृण्यमान है, वह मत् स्वभाव का नहीं है, क्योंकि उत्तर काल में उसकी स्थिति नहीं है। जिमका जो स्वभाव होता है, वह कदापि किचिन्माव भी परिवर्त्तित नही होता। उसका स्वरूप अविचलित है, अन्यया उमकी स्वभावता के नष्ट होने का प्रसग उपस्थित होगा। उत्पद्य-मान वस्तु का न तो कही से मत्-स्वरूप में ग्रागम होता है, ग्रीर न निरोध होने पर उसका कही लय होना है । हेतुप्रत्यय-मामग्री का ग्राश्रय लेकर ही वस्तु माया के समान उत्पन्न होती है, भ्रौर हेतुप्रत्यय-सामग्री की विकलता मे ही मर्व वस्तुजात का निरोध होता है। जो वस्तु हेतु-प्रत्यय-मामग्री का ग्राश्रय लेकर उत्पन्न होती है, ग्रर्थात् जिसकी उत्पत्ति पराधीन है, उस वस्तु की मत्स्वभावता कहाँ ? यदि परमार्थ-वृष्टि से देखा जाय, तो हेतुप्रत्यय-सामग्री से भी किसी पदार्यं की समुत्यत्ति नही होती, वयोकि वह सामग्री भी श्रपर सामग्री-जनित है श्रीर उसका श्रात्मलाभ भी पराघीन होने के कारण स्वभावरिहत है । इस प्रकार, पूर्व-पूर्व सामग्री की नि स्व-भावता जाननी चाहिए । जब कार्य कारण के ग्रनुरूप होता है, तब किस प्रकार नि स्वभाव से स्वभाव की उत्पत्ति सम्भव है ? जो हेतुग्रो से निर्मित है ग्रौर जो माया से निर्मित है, उनके सम्बन्ध में निरूपण करने से ज्ञात होगा कि वह प्रतिबिम्व के समान कृत्निम है। जिस प्रकार मुखादि-विम्व श्रादर्श-मण्डल के सनिधान से उममें प्रतिविम्वित होता है श्रोर यदि उसका ग्रमाव हो, तो मुख-विम्व का उमर्मे प्रतिभास न हो, उसी प्रकार जिस वस्तु के रूप की उपलिब्ध हूमरे हेतु-प्रत्यय के मनिधान से होती है, ग्रन्यथा नही होती, वह वस्तु प्रतिविम्व के समान कृतिम है। इसलिए यर्तिकचित् हेतु-प्रत्ययोपजनित है, वह परमार्थ में ग्रमत् है। इस प्रकार, जून्य-

धर्मों से भून्य धर्म ही उत्पन्न होते हैं। भावों की उत्पत्ति स्वतः स्वभाव से नहीं है। उत्पाद के पूर्व वह स्वभाव विद्यमान नही है, इसलिए कहाँ से उसकी उत्पत्ति हो ? उत्पन्न होने पर उसका स्वरूप निष्पन्न हो जाता है, फिर क्या उत्पादित किया जाय ? यदि यह कहा जाय कि जात का पुनर्जन्म होता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्यों कि वीज ग्रौर श्रकुर एक नहीं है। रूप, रस, वीर्य ग्रीर विपाक मे दोनो भिन्न है । ग्रपने स्वभाव से यदि जन्म होता, तो किसी की उत्पत्ति ही न होती । स्वभाव ग्रौर उत्पत्ति इतरेतर-ग्राश्रित है । जवतक स्वभाव नही होता, तवतक उत्पत्ति नहीं होती, और जबतक उत्पत्ति नहीं होती, तबतक स्वभाव नहीं होता । इससे यह स्पष्ट है कि स्वत किसी की उत्पत्ति नहीं होती, परत भी किसी की उत्पत्ति नहीं होती; क्यों कि ऐसा मानने मे शालि-बीज से कोद्रवाकुर की उत्पत्ति का प्रसग उपस्थित होगा, श्रथवा ऐसी भ्रवस्था में सबका जन्म सबसे मानना पड़ेगा, जो दूषित है। यह मानना भी ठीक न होगा कि कार्यकारण का भ्रन्योन्य जन्यजनकभाव नियामक होने से सवकी उत्पत्ति होती है। कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, तबतक यह नहीं बतलाया जा सकता कि इसकी शिवत किममें है। भीर जब कार्य की उत्पत्ति होती है, उस अवस्था म कारण का अभाव होने से यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसकी शक्ति है। कार्य-कारण का जन्यजनकभाव नहीं है, क्योंकि दोनों समान काल मे नही रहते। कार्यकारण की एक सन्तित मानना भी युक्त नही है, क्यों कि कार्य-कारण के विना सन्तित का अभाव है और कार्य-कारण का एक क्षण भी अवस्थान नहीं है। पूर्वापर क्षण-प्रवाह में सन्तित की कल्पना की गई है। वास्तव में सन्तिति-नियम नही है। इस प्रकार सादृश्य भी कोई नियामक नही है। ग्रतः, परत भी किसी की उत्पत्ति नही होती ग्रौर उभयत भी उत्पत्ति नही होती । दोनो मे से जब प्रत्येक ग्रलग-ग्रलग सम्भव मे ग्रसमर्थ है, तब फिर दोनो मिलकर किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं ? यदि सिकता के एक कण मे तैल-दान का सामर्थ्य नहीं है, तो ग्रनेक कण मिलकर भी योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते । ग्रत , उभयत भी किसी की उत्पत्ति का होना सम्भव नहीं है। यह भी युक्त नहीं है कि, ग्रहेतुत उत्पत्ति होती है, क्यों कि ऐसा मानने में भावों के देशकालादि नियम के श्रभाव का प्रसग होगा श्रीर जो परमार्थ-सत्य की उपलब्धि चाहते हैं, उनके लिए किसी प्रतिनियत उपाय का ग्रनुष्ठान न हो सकेगा।

इसलिए, ब्रहेतुत भाव स्वभाव का प्रतिलाभ नहीं करते। ग्राचार्य नागार्जु न मध्यमकमूल (१।१) में कहते हैं--

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्या नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।

जब परिदृण्यमान रूप का सद्भाव विचार करने पर नहीं मालूम पडता, तब ग्रनागत ग्रादि की सम्भावना की क्या कथा है ग्रात , यह सिद्ध हुग्रा कि भाव तत्त्वत नि म्वभाव हैं। नि स्वभाव ही सब भावों का पारमार्थिक रूप ठहरता है। यह परमार्थ परम प्रयोजनीय है, पर इसमें भी ग्रिभिनवेश न होना चाहिए, क्यों कि भावाभिनिवेश ग्रीर शून्यताभिनिवेश में कोई विशेषता नहीं है। दोनों ही सावृत होने के कारण कल्पनात्मक हैं। ग्रभाव का भी कोई

स्वरूप नहीं है, भाव-विकल्प ही सकल विकल्प का प्रधान कारण है। जब उसका निराकरण हुआ, तब सब विकल्प एक ही प्रहार में निरस्त हो जाते हैं।

वस्तुत , न किमी का समुत्पाद है ग्रीर न ममुच्छेद । यदि प्रतीत्यसमृत्पाद के सम्बन्ध में यह व्यवस्थित है कि वह अनुत्पादादिविणिष्ट है, तो फिर भगवान् ने यह क्यों कहा है कि सस्कार श्रनित्य है, उदय-व्यय उनका धर्म है, वह उत्पन्न होकर निकद्व होते है श्रीर उनका जगशम मुखकर है। यदि मव णून्य है, तो मुगति श्रीर दुर्गति भी स्वभाव-णून्य है। दुगंति नि स्वभाव है, तो निर्वाण के लिए पुरुपार्थं व्यर्थ है। पर ऐसी शका करना ठीक नहीं है। यदि हम परमार्थ-दृष्टि से वियेचना करे, तो दुर्गति स्वभाव-शून्य है। परन्तु, लोकदशा मे दुर्गति मत्य है। जो यह ज्ञान रखता है कि समस्त वस्तुजात णून्य ग्रीर प्रयच-रहित है, वह ससार में उपिनप्त नहीं होता। उसके लिए न सुगति है, न दुर्गति। वह सुख श्रौर दुख, पाप ग्रौर पुण्य, दोनो से परे है, किन्तु, जिसको यथाभृत दर्णन नहीं है, वह मसार-चक्र में भ्रमण करता है। यदि तत्त्वत सव भाव उत्पाद-निरोध से रहित है, केवल कल्पना मे जाति-जरा-मरणादि का योग होता है, तो यह महान् विरोध उपस्थित होता है कि सब ग्रावरणो का प्रहाण कर निर्वाण मे प्रतिष्ठित बुद्ध भी जन्मादि ग्रह्ण करे। यदि ऐमा है, तो वोधिचर्या का भी कुछ प्रयोजन नहीं है। बोधिचर्या का ग्राश्रय इमलिए लिया जाता है कि इसमे सर्व सासारिक धर्मों की निवृत्ति होती है श्रीर सर्व एणा नक्षा बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। यदि वोधिचर्या के ग्रहण मे भी सासारिक धर्म की निवृत्ति न हो, तो उससे क्या लाभ ? पर यह भी शका अयुक्त है। जबतक प्रत्यय-सामग्री है, तवतक माया है, अर्थात् जवतक कारण का विनाश नही होता, तवतक माया का निवर्त्तन नही होता। पर, जब प्रत्यय-हेतु नष्ट हो जाते हैं, तब काल्पनिक व्यवहार में भी मासारिक धर्म नहीं रहते। तत्त्वाभ्याय द्वारा अविद्या आदि का निरोध करने से प्रत्ययो का समुच्छेद होता है।

श्रनिक प्रकार की प्रतीत्यता का कारण 'सवृति' है। 'सवृति' का अर्थ है 'आवरण', अर्यात् 'श्रविद्या का आवरण'। इस आवरण द्वारा यथाभूत दर्शन नहीं होता, किन्तु मृपा-ज्ञान होता है। यह आवरण उसी प्रकार हमको आच्छन्न करता है, जिस प्रकार जन्म होते ही आकाश प्रत्येक और से हमको आच्छन्न कर लेता है। सवृति स्वत सिद्ध है। किसी अन्य प्रकार से इसका उत्पाद नहीं वतलाया जा सकता। स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं, उसका मिथ्यात्व जाप्रत् अवस्था में ही अनुभूत होता है। स्वप्नावस्था में किसी प्रमाण द्वारा उसका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार सवृति को मृषा-दर्शन प्रमाणित करने के लिए उन युक्तियों का प्रयोग नहीं हो सकता, जो सावृतिक अवस्था की है, केवल परमार्थ-सत्य के अधिगम से ही सवृति-सत्य मृषा सिद्ध हो सकता है। जवतक परमार्थ-सत्य की उपलब्धि नहीं होती, तवतक युक्तियाँ सवृति को अप्रामाणिक ठहराने के लिए अपर्याप्त है। व्यवहार के लिए सवृति-सत्य की कल्पना की गई है। जवतक लोक है, तवतक सवृति-सत्य लोक का अवितथ रूप है। इस प्रकार, सव पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का होता है—सावृतिक और पारमार्थिक। मृषादर्शी का जो विषय है, वह सवृति-सत्य कहलाता है, सम्यग्दर्शी का जो विषय है, वह तत्त्व या परमार्थ-सत्य विषय है, वह तत्त्व या परमार्थ-सत्य

सवृति-सत्य की तो प्रतीति होती है, क्यों कि हमारी बुद्धि ग्रविद्या के ग्रन्धकार से ग्रावृत है। ग्रविद्या से उपप्लुत होने के कारण चित्त का स्वभाव ग्रविद्यायुक्त हो जाता है, इसलिए सवृति-सत्य की प्रतीति होती है। पर, यह नहीं ज्ञात है कि परमार्थ-सत्य का क्यान्स्वरूप ग्रोर लक्षण है। परमार्थ-सत्य ज्ञान का विषय नहीं है। वह सर्वज्ञान का ग्रतिक्रमण करता है। वह किसी प्रकार बुद्धि का विषय नहीं हो सकता, तथापि कहा जा सकता है कि परमार्थ-तत्त्व सर्वप्रपन-विनिर्म कत है, इसलिए सर्वोपाधि से ग्रून्य है। जो सर्वोपाधि-ग्रून्य है, वह कैसे कल्पना द्वारा जाना जा सकता है उसका स्वरूप कल्पना के ग्रतीत है ग्रीर शब्दों का विषय नहीं है। वहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती। यद्यपि सकल विकल्प की हानि होने से परमार्थ-तत्त्य का प्रतिपादन नहीं हो सकता, तथापि सवृति का ग्राश्रय लेकर शास्त्र में यित्कचित् निदर्शनोपदर्शन किया जाता है। वास्तव में, तत्त्व ग्रवाच्य है, पर दृष्टान्त द्वारा कथिनत् शास्त्र में विर्णित है। विना व्यवहार का ग्राश्रय लिये परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता ग्रीर विना परमार्थ के ग्रिधिगत किये निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। ग्राचार्य नागार्जुन ने कहा है—

## व्यवहारमनाश्चित्य परमार्थो न देश्यते । परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥ (मध्यमकमूल, २४।१०)

श्रार्य ही परमार्थ-सत्य की उपलब्धि करते हैं। इसमें उनकी सवित् ही प्रमाण है।
सत्य-द्वय की व्यवस्था होने से तदिधकृत लोग भी दो श्रेणी के हैं—१ योगी श्रीर
र प्राकृतिक। योग समाधि को कहते हैं। सब धर्मों का अनुपलम्भ, अर्थात् सर्वधर्मशून्यता ही
इस समाधि का लक्षण है। योगी तत्त्व को यथारूप देखता है। प्राकृतिक वह है, जो प्रकृति,
अर्थात् श्रविद्या से आवृत है। वह वस्तु-तत्त्व को विपरीत भाव से देखता है। प्राकृत ज्ञान
भ्रान्त है। जिन रूपादिको का स्वरूप सर्वजन-प्रतिपन्न है, वह भी योगियो की दृष्टि में स्वभावरिहत है। यद्यपि वस्तुतत्त्व यही है कि सब भाव नि स्वभाव है, तथापि दानादि पारिमता का
आदरपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि दानादि वस्तुत स्वभाव-रिहत है, तथापि परमार्थतत्त्व के श्रधिगम के लिए सब सत्त्वो पर करुणा कर वोधिसत्त्व को इनका उपादान नितान्त
प्रयोजनीय है। मार्गाभ्यास करने से समलावस्था से निर्मलावस्था और मिवकल्पावस्था से
निर्विकल्पावस्था उत्पन्न होती है। मध्यमकावतार (६।५०) में कहा है—

#### उपायभूत व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्।

श्रर्थाल्, व्यवहार-सत्य उपाय अथवा हेतुरूप है और परमार्थ-सत्य उपेय अथवा फल-स्वरूप है। दानादिपारिमता-रूपी उपाय द्वारा परमार्थ-तत्त्व का लाभ होता है।

वोधिसत्त्व की उत्कृष्टतम साधना प्रज्ञापारिमता की है। 'प्रज्ञापारिमता' ग्रौर 'धर्मधातु' पर्याय है। इनके ग्रादर के लिए वौद्धग्रन्थों में प्रज्ञापारिमता तथा धर्मधातु के पूर्व प्रगवती ग्रौर भगवान् विशेषण लगाते हैं। किन्तु, तत्त्व का यह ग्रिमधान भी सवृति-सत्य के उत्पादन में ही हैं, 'सवृतिसत्यमुपादायाभिधीयते।' (वोधि० प०, पृ० ४२१),

ĭ

वोधिचित्तोत्पादसूत्रशास्त्र भें प्रज्ञापारिमता को सर्वधमंगुद्राक्षय या श्रक्षया मुद्रा कहा है। उनके श्रनुसार प्रज्ञापारिमता मुद्रालक्षण नहीं है। यह सत्य, भूत, प्रज्ञोपाय है। वोधिसत्त्व का चित्त इस प्रकार प्रज्ञा की भावना करने से, धर्मता के परिशुद्ध होने से शान्त हो जाता है श्रीर उसकी प्रज्ञा-पारिमता पूरी होती है।

इस प्रकार, पट्पारमिता के श्रधिगत होने से वोधिसत्त्व की साधना फलवती होती है।

१. ''श्रिष नाम कश्चन धर्मों यो छलक्षयो नामेत्युच्यते सर्वधर्ममुद्राक्षयामुद्रा । श्रामु मुद्रामु न मुद्रालक्षया-मित्युच्यते सत्य भृत प्रशोपाय प्रशापारिमता । . . . मोधिसत्त्वस्य महासत्त्वस्य प्रशा भावयतो न चित्तं चरित धर्मतायाः परिशुद्धत्वात् । एवं पूर्यित प्रशापारिमताम् ।'' (मो० चि० स० शा०, पृ० २७)

# तृतीय खण्ड

[बौद्धदर्शन के सामान्य सिद्धान्त]

## प्कादश अध्याय

## बौद्धदर्शन की भूमिका

भारत के जितने दर्शन है, उनका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्त है। इस अर्थ में सब दर्शन मोक्षशास्त्र है। विज्ञानिभिक्षु 'साख्यप्रवचनभाष्य' की भूमिका में लिखते है कि मोक्षशास्त्र चिकित्सा-शास्त्र के समान चतुर्व्यू ह है। जिस प्रकार रोग, श्रारोग्य, रोग का निदान, श्रौषध यह चार व्यू ह चिकित्सा-शात्र के प्रतिपाद्य हैं, विविध दु ख 'हेय' हैं, उनकी ग्रात्यन्तिक निवृत्ति 'हान' है; श्रविद्या 'हेय-हेतु' है और तत्त्वज्ञान 'हानोपाय' है। यही चार व्यू ह पातजल योगसूत्र में भी पाये जाते हैं। किन्तु, न्यायशास्त्र में हेय-हेतु को हेय के श्रन्तर्भू त माना है, 'हान' को तत्त्वज्ञान बताया है और 'उपाय' शास्त्र है। न्यायशास्त्र में इसको अर्थपद कहा है। वाचस्पति-मिश्र (तात्पर्यटीका) के श्रनुसार श्रयंपद का श्रयं पुरुषार्थ का स्थान है। वार्त्तिककार कहते हैं कि सब श्रध्यात्मविद्यात्रों में सब श्राचार्य इन चार श्रर्थपदों का वर्णन करते हैं। न्याय की परिभाषा में यह चार श्रर्थपद इस प्रकार है—१ हेय, श्रर्थात् दु ख श्रीर उसका निवर्त्तक (उत्पादक), श्रर्थात् दु:ख-हेतु, २ श्रात्यन्तिक हान, श्रर्थात् दु ख-निवृत्तिरूप मोक्ष का कारण, श्रर्थात् तत्त्वज्ञान, ३ उसका उपाय (शास्त्र), ४. श्रधिगन्तव्य, श्रर्थात् लभ्य मोक्ष (१।९।९ पर न्यायभाष्य)। इसी प्रकार बौद्धदर्शन की चतु सुत्री है। यह चार श्रायंसत्य है—इ ख, दु खहेतु, दु खिनरोध श्रीर दु खिनरोधगामिनी प्रतिपत्ति (मार्ग)।

साख्यशस्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष के सयोग हारा जो अविवेक होता है, वह दु क का हेतु है और विवेक-ख्याति, अर्थात् तत्त्वज्ञान ही दु ख-निवृत्ति का उपाय है; क्यों कि इस शास्त्र में सख्या के सम्यग् विवेक से आत्मा का वर्णन है, इसिलए इसे साख्यशास्त्र कहते हैं। न्याय के अनुसार दु ख के अपाय से, अर्थात् आसन्नविमुक्ति से नि श्रेयस् की सिद्धि होती है। इसमें उपात जन्म का त्याग और अपर जन्म का अग्रहण होता है। इस अपर्यन्त अवस्था को अपवर्ग कहते हैं। प्रमाणादि षोडश पदार्थ का तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण बताया गया है। इन पदार्थों में से अमेय पदार्थ का तत्त्वज्ञान ही मोक्षलाभ का साक्षात् कारण है। श्रेष १५ पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्रमेय तत्त्वज्ञान का सम्पादक और रक्षक है। यह तत्त्वज्ञान मोक्षलाभ का पारम्पर्येण कारण है। ससार का बीज मिथ्याज्ञान है। इसका उच्छेद करके ही तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण होता है। अनात्म में आत्मग्रह मिथ्याज्ञान है। भें हूँ इस प्रकार का मोह, अहकार, अर्थात् अनात्मा (देहादि) को आत्मा के रूप में देखना यह दृष्टि-अहकार है। भरीर,

इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि यह पदार्थसमूह ( श्रर्थजान ) है, जिसके विषय में श्रहकार होता है। जीव गरीरादि पदार्थ-समूह को 'मैं हूँ' यह निष्चित कर गरीरादि के उच्छेद को ग्रात्मोच्छेद मानता है। वह शरीरादि की चिर-स्थित के लिए व्याकुल होता है और वार-वार उसका ग्रहण करता है। उसका ग्रहण कर जन्म-मरण के निमित्त यत्नशील होता है।

किन्त, जो दुख को, दुखायतन को तथा दुखानुपक्त सुख को देखता है कि यह सब दु य है (मर्विमिद दु खिमिति पश्यिति), वह दु ख की परिज्ञा करता है। परिज्ञात दु ख प्रहीण होता है। इस प्रकार, वह दोपों को श्रीर कर्म को दुख-हेनु के रूप में देखता है, तथा दोपों का प्रहाण करता है। दोषों के प्रहीण होने पर पुनर्जन्म के लिए प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार, प्रमेयो का चतुर्विध विभाग कर ग्रभ्यास करने से सम्यग् दर्शन, ग्रयीत् यथार्थमूत ग्रववोध या तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है।

वैशेपिकणास्त्र में पदार्थों के तत्त्वज्ञान मे नि श्रेयस् की सिद्धि होती है। वैशेपिकशास्त्र के भ्रनुसार (१।१।४) यह तत्त्वज्ञान द्रव्यादि पदार्थों के माधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान से उत्पन्न होता है। साधम्यं, समान-धर्म, वैधम्यं, विरुद्ध-धर्म है, अर्थात् पदार्थों के सामान्य और विशेष लक्षण (ग्रनुगत धर्म, व्यावृत्त धर्म) के ज्ञान से तत्त्वज्ञान होता है।

मव मोक्षणाम्बो में तत्त्व-माक्षात्कार के लिए योगाभ्यास का प्रयोजन वताया गया है। न्यायदर्शन १ में कहा है, कि योगाभ्यास के कारण तत्त्ववृद्धि उत्पन्न होती है। यम-नियम द्वारा तथा योगणास्त्र-विहित अध्यात्मविधि और उपाय-समूह द्वारा ग्रात्मसस्कार करना चाहिए। २ योगा-भ्याम-जनित जो धर्म है, वह जन्मान्तर में भी अनुवर्त्तन करता है। तत्त्वज्ञान के निमित्त यह धर्म वृद्धि की पराकाच्छा को प्राप्त होता है ('प्रचयकाच्छागत'), ग्रीर उसकी सहायता से किसी जन्म में समाधि-प्रयत्न प्रकृप्ट होता है, तव समाधि-विशेष उत्पन्न होता है। उससे तत्त्वज्ञान का लाभ होता है। वैशेषिकशास्त्र में कहा है कि ग्रात्म-प्रत्यक्ष योगियो को होता है तथा ग्रात्म-कर्म से मोक्ष होता है (६।२।१६)। यह न्याय का ग्रात्मसस्कार है। शकरिमश्र ने उपस्कार में कहा है कि ग्रात्मकर्म श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यामन, श्रासन, प्राणायाम ग्रीर शम-दम है। योग योगशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इस कारण न्याय-वैशेपिक में सकेतमात किया है कि तन्त्रान्तर से इस आत्मकर्म की प्रतिपत्ति होती है। वेदान्त में कहा है कि सूक्ष्मदर्शी योगी प्रज्ञान द्वारा ग्रात्मा को जान सकता है।

इसी प्रकार, वौद्धधर्म में भी तत्त्वज्ञान के लिए योग का प्रयोजन वताया गया है। वौद्ध ई्इवर ग्रीर ग्रात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, तथापि उनका भी यही प्रयोजन है कि दु ख से ग्रत्यन्त निवृत्ति हो ग्रीर निर्वाण का लाभ हो। योग का उपाय सवको समान रूप से स्वीकृत है।

<sup>&#</sup>x27;'समाधिविशेषाभ्यासात्।'' (न्याय० ४।२।३८)।

<sup>&#</sup>x27;'तदर्भ यमनियमास्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाच्यात्मिविच्युपायै ।'' (न्याय० ४ १ १४६ )

वौद्धों के अनुसार आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। जिस प्रकार 'रथ' नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, वह शब्दमात्र है, परमार्थ में अग-सम्भार है। उसी प्रकार आत्मा, सत्त्व, जीव, नामरूप-मात्र (स्कन्ध-पचक) है। यह कोई अविपरिणामी शाश्वत पदार्थ नहीं है। वौद्ध अनीश्वरवादी श्रीर अनात्मवादी हैं। सर्वास्तिवादी सस्वभाववादी तथा वहुधमंवादी हैं, किन्तु वह कोई शाश्वत पदार्थ नहीं मानते। उनके द्रव्य सत् हैं, किन्तु क्षणिक हैं। यह द्रव्य चैत्त और रूपी-धर्म हैं। वौद्ध-सिद्धान्त में किसी मूल कारण की व्यवस्था नहीं है। वह नहीं मानते कि ईश्वर महादेव या वासु-देव, पुरुष, प्रधानादिक किसी एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति होती है। यदि भावों की उत्पत्ति एक कारण से होती, तो सर्व जगत् की उत्पत्ति युगपत् होती, किन्तु हम देखते हैं कि भावों का कम सम्भव है।

बौद्धदर्शन चार है सर्वास्तिवाद (वैभाषिक), सौवान्तिक, विज्ञानवाद, (योगाचार), भीर माध्यमिक (शून्यवाद)। सर्वास्तिवाद के ग्रनुसार वाह्य जगत् प्रत्यक्ष का विषय है। वह प्रकृति और मन की स्वतन्त्र सत्ता मानता है। प्रकृति की प्रत्यक्ष उपलिध मन से होती है। सौन्नान्तिक भी बाह्य जगत् की सत्ता मानते है, किन्तु उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। बाह्य वस्तुस्रो के विना पदार्थों का मन मे स्रवभास नही होता, इसलिए हम वाह्य वस्तुग्रो की सत्ता का अनुमान करते हैं। यह दोनो मतवाद बहुस्वभाववादी है। विज्ञानवाद के श्रनुसार ज्ञान के समस्त विषय मन के विकल्प है। इस वाद में वैधातुक को चित्त-मान्न व्यव-स्थापित किया है। इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध होता है। रूपादि अर्थ के विना ही रूपादि-विज्ञाप्ति उत्पन्न होती है। यह विज्ञान ही है (चित्त, मनस्, विज्ञान ग्रौर विज्ञप्ति पर्याय है), जो ग्रर्थ के रूप में ग्रवभासित होता है। वस्तुत , ग्रर्थ ग्रसत् है। यह वैसे ही है, जैसे तिमिर का एक रोगी असत्-कल्प केश-चन्द्रादि का दर्शन करता है। अर्थ की सत्ता नही है। माध्यिमक (शून्यवादी) ग्राह्य-ग्राहक दोनो की सत्ता का प्रत्याख्यान करते हैं ग्रीर इनके परे शून्य तक जाते है, जो ज्ञानातीत है। विज्ञानवादी दोनो का अयथार्थ मतवाद मानते है ग्रीर दोनो से व्यावृत्त होते है। सर्वास्तिवादी विज्ञान ग्रौर विज्ञेय दोनो को द्रव्यसत् मानते है। शुन्यवादी विज्ञान भ्रौर विज्ञेय दोनो का परमार्थत म्रस्तित्व नही मानते, केवल सवृतित मानते है। विज्ञानवादी केवल चित्त, विज्ञान को द्रव्यसत् मानते है, श्रीर जो विविध ग्रात्मोपचार ग्रीर धर्मो-प्रचार प्रचलित है, उनको वे मिथ्योपचार मानते है । उनके अनुसार परिकल्पित आत्मा और धर्म विज्ञान ग्रौर विज्ञप्ति के परिणाम-माल है, चित्त-चैत्त एकमाल वस्तु-सत् है।

पूर्व इसके कि हम विविध दर्शनों का विस्तारपूर्वक वर्णन करे, हम उन वादों का व्याख्यान करना चाहते हैं, जो सभी वौद्ध-प्रस्थानों को मान्य है। बौद्धदर्शन को समझने के लिए प्रतीत्य-समुत्पादवाद, क्षणभगवाद, ग्रनीश्वरवाद तथा ग्रनात्मवाद का सिक्षप्त परिचय ग्रावण्यक है। ग्रगले ग्रध्याय में हम इनका वर्णन करेंगे ग्रौर तदनन्तर कर्मवाद एव निर्वाण-सम्बन्धीवि भिन्न बौद्ध-सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

## द्वादश अध्याय

### प्रतीत्यसमुत्पादवाद

यह हेतु-प्रत्ययता का वाद है। इसके होने पर, इस हेतु, इस प्रत्यय से, वह होता है। इसके उत्पाद से, उसका उत्पाद होता है। इसके न होने पर वह नही होता, इसके निरोध से वह निम्द्ध होता है, यह हेतु-फल-परम्परा है। इसको प्रत्ययाकार (पच्चयाकार) निदान भी कहते हैं। इस वाद का नम्बन्ध ग्रनित्यता श्रीर श्रनात्मता के मिद्धान्त से भी है। कोई वस्तु भाषवत नहीं है, सब धर्म क्षणिक है श्रीर हेतु-प्रत्यय-जनित है।

म्यविरवाद में 'हेतु' तीन दोप है—राग, हेप, मोह । ये चित्त की ग्रवस्थाग्रो को ग्रिमसम्कृत करते हैं। ग्रतः, ये ग्रवस्थाएँ सहेतुक कहलाती हैं। इसके विपक्षभूत प्रत्यय (पच्चय) धर्मों का विविध सम्बन्ध है। जो धर्म जिसकी उत्पत्ति मे या निवृति से उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है।

सर्वास्तिवाद में हेतु प्रधान कारण है और प्रत्यय उपकारक धर्म है, यथा बीज का भूमि में आरोपण होता है। बीज हेतु है, भूमि, उदक तथा सूर्य प्रत्यय हैं, वृक्ष, फल है। स्थिवरवाद में चीवीस प्रत्यय हैं भीर सर्वास्तिवाद में चार प्रत्यय, छ हेतु और पाँच फल है।

कर्मवाद के साथ प्रतीत्यसमुत्पाद का घनिष्ठ मम्बन्ध है । कुर्म कर्मफल को भी कहते हैं, यथा कहते हैं कि उसका ग्रुभ या ग्रम्भ कर्म उसकी प्रतीक्षा करता है। पुण्य-ग्रपुण्य के विपाक के सम्बन्ध में कर्म से हेतु-फल-व्यवस्था ग्रिभप्रेत है। प्राचीन काल में स्थविरवादियों में कर्म ग्रीर प्रतीत्यसमुत्पाद में भेद किया जाता था। फल की ग्रिभिनिवृंति में कर्म केवल एक प्रकार का हेतु था। कर्म के ग्रितिरक्त दुख के उत्पाद में ग्रन्य भी हेतु है। 'ग्रिभिधम्मत्य-सगहों' के ग्रनुसार चित्त, ग्राहार ग्रीर ऋतु के ग्रितिरक्त कर्म भी रूप के चार प्रत्ययों में से एक है। 'ग्रिभिधर्मकोश' में लोकधानु के विवृत होने में सत्त्वों के कर्म-समुदाय को हेतु माना है। महायान के ग्रनुसार लोक की उत्पत्ति कर्म से है।

यह हेतुप्रत्ययवाद देश, काल और विषय के प्रति सामान्य है। ग्रसस्य लोकधातुग्रों को, देवलों को ग्रीर नरकों को यह हेतु-फलमम्बन्ध-व्यवस्था लागू है। यह व्यवस्था विकाल को भी लागू है। ग्रमस्कृत धर्मों को छोड़ कर यह सर्व सस्कृत धर्मों पर भी लागू है। ग्रत, भव-चक ग्रनादि है। यदि ग्रादि हो, तो ग्रादि का ग्रहेतुकत्व मानना होगा ग्रार यदि किसी एक धर्म की उत्पत्ति ग्रहेनुक होती है, तो सब धर्मों की उत्पत्ति ग्रहेनुक होगी। किन्तु, देश ग्रीर काल के प्रतिनियम से यह देखा जाता है कि वीज श्रकुर का उत्पाद करता है, ग्रान्न पाकज का उत्पाद करती है। ग्रत, कोई प्रादुर्भाव ग्रहेतुक नहीं है। दूसरी ग्रीर नित्य-पाकज का उत्पाद करती है। ग्रत, कोई प्रादुर्भाव ग्रहेतुक नहीं है। दूसरी ग्रीर नित्य-

कारणास्तित्ववाद भी सिद्ध नही होता। किन्तु, हेतु-प्रत्यय का विनाश हो, तो हेतु-प्रत्यय से ग्रिभिनिवृं ति या उत्पत्ति नही होगी। यथा बीज के दग्ध होनं से ग्रकुर की उत्पत्ति नही होती। इस प्रकार, कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्म-क्लेश, पुन ग्रन्य कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, इस प्रकार भवचक का ग्रनादित्व सिद्ध होता है।

यह स्कन्ध-सन्ति तीन भवो में वृद्धि को प्राप्त होती है। यह प्रतीत्यसमृत्पाद है, जिसके बारह ग्रग ग्रौर तीन काण्ड है। पूर्वकाण्ड के दो, ग्रपरान्त के दो ग्रौर मध्य के ग्राठ ग्रग है। बारह ग्रग ये है—ग्रविद्या, सस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण। ये तीन काण्डो में विभक्त है—ग्रविद्या ग्रौर सस्कार ग्रतीत में, पूर्वभव मे, जाति ग्रौर जरा-मरण ग्रपर भव मे, शेष ग्राठ ग्रग प्रत्युत्पन्न भव मे।

हमारा यह मत नहीं है कि मध्य के आठ आग सब सत्त्वों के प्रत्युत्पन्न भव में सदा पायें जाते हैं। यह 'परिपूरिन्' सत्त्व के अभिप्राय से है, जो सब अगभूत अवस्थाओं से होकर गुजरता है। जिसका अकाल-मरण होता है, यथा जिसका मरण गर्भावस्था में होता है, वह सत्त्व 'परिपूरिन्' नहीं है। इसी प्रकार, रूपावचर और आरूप्यावचर सत्त्व भी 'परिपूरिन्' नहीं है।

हम प्रतीत्यसमुत्पाद को दो भागो में विभक्त कर सकते हैं — पूर्वान्त (ग्रतीत भव, 9-२ ग्रपने फल के साथ, ३-७) ग्रीर ग्रपरान्त (ग्रनागत भव के हेतु, ५-१० ग्रीर ग्रनागत भव, 99-9२ के साथ)। प्रतीत्यसमृत्पाद की इस कल्पना में जो विविध ग्रग है, उनका हम वर्णन करते हैं।

म्रविद्या पूर्वजन्म की क्लेशदशा है। ग्रविद्या से केवल ग्रविद्या ग्रिभिप्रेत नहीं है, न क्लेश-समुदाय, 'सर्वक्लेश' ही ग्रिभिप्रेत है। किन्तु, पूर्वजन्म की सन्तित (स्वपचस्कन्धों के सिहत) प्रिभिप्रेत है, जो क्लेशावस्था में होती है। वस्तुत, मर्वक्लेश ग्रविद्या के महचारी होते हैं भ्रीर प्रविद्या-वश उनका समुदाचार होता है, यथा 'राजागमन' इस वचन से उनके ग्रनुयायियों का ग्रागमन भी मिद्ध होता है।

संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है। पूर्वभव की सन्तित पुण्य-ग्रपुण्यादि कर्म करती है। यह पुण्यादि कर्मावस्था संस्कार है।

विज्ञान प्रतिसन्धि-स्कन्ध है । प्रतिसन्धि-क्षण या उपपत्तिभव-क्षण मे कुक्षिगत ५ स्कन्ध-विज्ञान है ।

नामरूप विज्ञान-क्षण से षडायतन की उत्पत्ति तक की ग्रवस्था है।

षडायतन स्पर्भ के पूर्व के पाँच स्कन्ध है। इन्द्रियों के प्रादुर्भाव-काल से इन्द्रिय, विषय ग्रीर विज्ञान के सनिपात-काल तक षडायतन है।

स्पर्श सुख-दु खादि के कारण-ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था है। जवनक वालक सुख-दु खादि को परिच्छिन्न करने में ममर्थ नहीं होता, तवतक की अवस्था स्पर्ण कहलाती है। चेदना जवतक मैं युन-राग का समुदाचार नहीं होता, तवतक की अवस्था है। इस अवस्था को चेदना कहते हैं, क्योंकि वहाँ वेदना के कारणों का प्रतिसवेदन होता है। अत, यह चेदना प्रकिंपणी अवस्था है।

तृष्णा भोग श्रीर मैंयुन की कामना करनेवाले पुद्गल की अवस्था है। रूपादि कामगुण श्रीर मैंथुन के प्रति राग का समुदाचार होता है। यह तृष्णा की अवस्था है। इसका अन्त
तव होता है, जब इस राग के प्रभाव से पुद्गल भोगो की पर्येष्टि श्रारम्भ करता है।

उपादान का तृष्णा मे भेद है। यह उस पुद्गल की अवस्था है, जो भोगों की पर्येष्टि में दौडता-धूपता है। अथवा उपादान चतुर्विध क्लेश है। उस अवस्था को उपादान कहते हैं, जिसमें इस चतुर्विध क्लेश का ममुदाचार हो।

इस प्रकार, प्रधावित होकर वह कर्म करता है, जिनका फल श्रनागत भव है। इस कर्म को भव कहते हैं। क्योंकि, उसके कारण भव होता है (भवत्यनेन)। भोगों की पर्योप्ट में कृत श्रीर उपचित कर्म पौनर्भविक है। जिस श्रवस्था में पुद्गल कर्म करता है, वह भव है।

जाति पुन प्रतिमिन्धि है। मरण के श्रनन्तर प्रतिमिन्धि-काल के पचम्कन्ध जाति है। प्रत्युत्पन्न भव की समीक्षा में जिस श्रग को विज्ञान का नाम देते है, उसे श्रनागत भव की समीक्षा में जाति की संज्ञा मिलती है।

जाति से वेदना तक जरा-मरण हैं। प्रत्युत्पन्न भव के चार श्रग—नामरूप, पडायतन, स्पर्श ग्रीर वेदना—ग्रनागत भव के सम्बन्ध में जरा-मरण कहलाते हैं। यह वारहवाँ ग्रग है।

विभिन्न दृष्टियो से प्रतीत्यसमुत्पाद चतुर्विद्य हैं। क्षणिक, प्राकर्षिक (ग्रनेकक्षणिक या श्रनेकजिन्मक ), साम्विन्धक (हेतु-फल-सम्वन्ध-युवत ) ग्रीर ग्राविन्धिक (पचस्किन्धिक १२ श्रवस्थाएँ)।

प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणिक कैसे हैं ?

जिस क्षण में क्लेश-पर्यवस्थित पुद्गल प्राणातिपात करता है, उस क्षण में द्वादश ग्रंग पिरपूर्ण होते हैं। १ उसका मोह ग्रविद्या है, २ उसकी चेतना सस्कार है, ३ उसके ग्रालम्बन-विशेष का स्पष्ट विज्ञान है, ४ विज्ञान-सहमू चार स्कन्ध नामरूप हैं (मत-विशेष सेतीन स्कन्ध), ५ नामरूप में व्यवस्थित इन्द्रिय पडायतन हैं, ६ पडायतन का ग्रिभिनिपात स्पर्श हैं (चक्षु का ग्रिभिनिपात उसकी रूप मे प्रवृत्ति हैं।) ७ स्पर्श का ग्रनुभव वेदना हैं, ५ राग तृष्णा हैं, ६ तृष्णा-सम्प्रयुक्त पर्यवस्थान (ग्रह्मी ग्रादि पर्यवस्थान हैं) उपादान हैं, १० वेदना या तृष्णा से ममुस्थित काय या वाक्-कर्म भव हैं, ११ इन सब धर्मों का उन्मज्जन, उत्पाद जाति हैं, १२ इनका परिपाक जरा है, इनका भग मरण हैं।

पुन कहा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणिक ग्रौर साम्वन्धिक है। ग्रावस्थिक प्रतीत्य-समृत्पाद पचस्कन्धिक वारह ग्रवस्थाएँ है। तीन निरन्तर जन्मो में सम्बद्ध होने से यह प्राकर्षिक भी है। ग्रत, यह प्रग्न उठता है कि द्वादशागसूत्र में भगवान् का ग्रिभिप्राय इन चार में से किस प्रकार के प्रतीत्यसमुत्पाद की देणना देने का है। वैभाषिक सिद्धान्त के अनुसार आवस्थिक इन्ट है। किन्तु, यदि प्रत्येक धर्म पचस्कन्ध का समूह है, तो अविद्यादि प्रज्ञप्तियों का क्यों व्यवहार होता है आगों का नाम-कीर्त्तन उस धर्म के नाम से होता है, जिसका वहाँ प्राधान्य है। जिस अवस्था में अविद्या का प्राधान्य है, वह अविद्या कहलाती है। अन्य अगों की भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिए। यद्यपि सव अगों का एक ही स्वभाव हो, तथापि इस प्रकार विवेचन करने में कोई दोप नहीं है।

प्रकरण कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद सब सस्कृत धर्म है। फिर, सूब मे प्रतीत्यसमुत्पाद का लक्षण वारह ग्रगो की सन्तित के रूप में क्यो है? सूब की देशना ग्राभिप्रायिक है, ग्रौर ग्रिभिधर्म में लक्षणो की देशना है। एक ग्रोर प्रतीत्यसमृत्पाद ग्रावस्थिक, प्राकर्षिक ग्रौर सत्त्वाख्य है। दूसरी ग्रोर वह क्षणिक, साम्विन्धक, सत्त्वासत्त्वाख्य है।

सूत्र की देशना सत्त्वाख्य प्रतीत्यसमृत्पाद की ही क्यो है ? पूर्वान्त, अपरान्त ग्रौर मध्य के प्रति समोह की विनिवृत्ति के लिए। इस हेतु से सूत्र विकाण्ड में प्रतीत्यसमृत्पाद की देशना देता है। जब कोई पूछता है कि—"क्या मैं ग्रतीत ग्रध्व मे था ? क्या मैं नही था ? में कैसे ग्रौर कव था ?" यह पूर्वान्त का समोह है। "क्या में ग्रनागत ग्रध्व म होऊँगा। " यह ग्रपरान्त का समोह है। "यह क्या है ? यह कैसे है ? हम कौन है ? हम क्या होगें ?" यह मध्य का समोह है। यह विविध समोह ग्रविद्या. जरा-मरण के यथाक्रम उपदेश से विनष्ट होता है।

यह द्वादशाग प्रतीत्यसमुत्पाद तिविध है—क्लेश, कर्म और वस्तु । ग्रविद्या, तृष्णा श्रीर उपादान ये तीन ग्रग क्लेश-स्वभाव है। संस्कार ग्रीर भव कर्म-स्वभाव है। विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति, जरा-मरण, वस्तु है। इनको वस्तु इमलिए कहते हैं कि ये क्लेश ग्रीर कर्म के ग्राश्रय, ग्रधिष्ठान है।

प्रतीत्यसमुत्पाद द्विविध भी है—हेतु ग्रौर फल। जो ग्रंग वस्तु है, वह फल भी है। गोप जो वस्तु नहीं है, हेतुभूत है, क्योंकि वह कर्म-क्लेश-स्वभाव है।

विशुद्धिमार्ग (४९०) में क्लेश, कर्म ग्रीर वस्तु को तीन वर्त्म (=वट्ट) कहा है—क्लेश-वर्त्म, कर्म-वर्त्म, विपाक-वर्त्म । यहाँ तृतीय वर्त्म का लक्षण विपाक (=फल या वस्तु) है । इस भवचक्र के तीन वर्त्म है । इसका पुन -पुन प्रवर्त्तन होता रहता है ।

प्रत्युत्पन्न भव के काण्ड में हेतु और फल का व्याख्यान विस्तार से क्यो है ? क्लेश के दो ग्रम, कर्म के दो ग्रम ग्रीर वस्तु के पाँच ग्रम। जब कि ग्रतीत ग्रीर ग्रनागत ग्रध्व के लिए ऐसा व्याख्यान नही है। ग्रनागत ग्रध्व के फल को सक्षिप्त किया है। इसके दो ग्रम है।

इसका कारण यह है कि प्रत्युत्पन्न भव के क्लेश-कर्म और वस्तु के निरूपण से ग्रतीत ग्रीर ग्रनागत ग्रध्व के हेतु-फल का सम्पूर्ण निर्देश ज्ञापिन होता है। ग्रन, यह वर्णन निष्प्रयोजनीय है।

किन्तु यह कहा जायगा कि यदि प्रतीत्यसमुत्पाद के केवल वारह अग है, तो ससरण की आदि कोटि होगी, वयोकि अविद्या का हेतु निर्दिष्ट नही है। ससरण की अन्त कोटि होगी, वयोकि जरा-मरण का फल निर्दिष्ट नही है। अत, नये अग जोडना चाहिए। नही; क्योकि यह मालूम होता है कि भगवान् ने अविद्या के हेतु और जरा-मरण के फल को ज्ञापित किया है। क्लेश से अन्य क्लेश की उत्पत्ति होती है, यथा तृष्णा से उपादान। क्लेश से फमं की उत्पत्ति होती है, यथा सस्कारों में विज्ञान, भव से जाति। वस्तु से क्लेश की उत्पत्ति होती है; यथा विज्ञान से नामरूप, नामरूप से पडायतन इत्यादि। वस्तु से क्लेश की उत्पत्ति होती है; यथा वेदना से तृष्णा। अगो का यह नय है। यह स्पष्ट है कि अविद्या का हेत् क्लेश या वस्तु है। यह स्पष्ट है कि जरा-मरण (विज्ञान से वेदना पर्यन्त शेप वस्तु) का फल क्लेश है। एक सूत्र (सहेतु-सप्रत्यय-मितदान-सूत्र) में कहा है कि अविद्या का हेतु अविद्या है। अत, अविद्या निर्हेतुक नही है और अगान्तर के उपसख्यान का भी कोई स्थान नही है। अनवस्था-प्रमग भी नही है, क्योकि अयोनिशोमनिकार जो अविद्या का हेतु है, स्वय मोह-सज्ञा से प्रज्ञप्त अविद्या से उत्पन्त होता है। विश्विद्या में अविद्या की आदिकोटिता के सम्बन्ध में विचार किया है।

इस प्रकार, श्रगो का निर्देश परिपूर्ण है। वस्तुत, मन्देह इस पक्ष के जानने में है कि इहलोक परलोक से कैसे सम्बद्ध होता है, परलोक इहलोक से कैसे सम्बद्ध होता है? सूत्र का केवल इतना ही श्रयं विवक्षित है। इस श्रयं को पूर्व ही कहा है—"पूर्वान्त, श्रपरान्त श्रीर मध्य के समोह की विनिर्वृति के लिए।"

<sup>9</sup> विद्युद्धिमगो (35 =) में श्रविद्या की श्रादि में क्यों कहा १ क्या प्रकृतिवादियों की प्रकृति के समान श्रविद्या भी लोक का मूल कारण है श्रीर स्वय श्रकारण है १ यह श्रकारण नहीं है, क्यों कि स्व (मिल्मिम॰ ११४४) में कहा है कि श्रविद्या का कारण श्राम्वव है (श्रास्ववसमुदया श्रविज्ञासमुदयो)। किन्तु एक पर्याय है, जिमसे श्रविद्या मृल कारण हो सकती है। श्रविद्या और भव-तृष्णा। भगवान् दर्स-कथा के कहने में दो धर्मों का शीपमाव वताते हैं। श्रविद्या और भव-तृष्णा। है भिक्षुश्रो । श्रविद्या की पूर्व कोटि नहीं जानी जाती। हम यह नहीं कह सकते कि इसके पूर्व श्रविद्या न थी श्रीर प्रचात् हुई। हम केवल यह कह सकते हैं कि श्रमुक प्रत्ययवश श्रविद्या अपत्र होती है।" पुन भगवान् कहते हैं— 'भव तृष्णा की पूर्वकोटि नहीं जानी जाती। केवल इतना कह सकते हैं कि इम प्रत्यय के कारण भव-तृष्णा होती है।" (श्रव ११९१३, १९६) इन दो धर्मों को शीर्षस्थान इसलिए देते हैं, क्योंकि यह दो सुगतिगामी श्रीर दुर्गतिगामी कर्म के विशेष हेतु हैं। दुर्गतिगामी कर्म का विशेष हेतु श्रविद्या है, क्योंकि श्रविद्या से श्रमिगृत पृथग्जन प्राणातिपातिद श्रनेक प्रकार के दुर्गतिगामी कर्म का श्रीस्मृत पृथग्जन सुगतिगामी कर्म का विशेष हेतु मन तृष्णा है, क्योंकि इससे श्रमिगृत पृथग्जन सुगति की प्राप्ति के लिए सुगतिगामी श्रनेक कर्म करता है। कहीं एकधर्ममूलक देशना ह, कहीं उभयमूलक है।

सूत्र में कहा है--"भिक्षुग्रो । में तुम्हें प्रतीत्यसमुत्पाद ग्रीर प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों की देशना दूँगा।"

प्रतीत्यसमुत्पाद ग्रौर इन धर्मों में क्या भेद है ?

ग्रिभिधर्म के ग्रनुसार कोई भेद नही है। उभय का लक्षण एक ही है। प्रकरणो में कहा है—"प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है? सर्वसस्कृत धर्म। प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म क्या है? सर्वसस्कृत धर्म।" सर्वसस्कृत धर्म हैं। ग्रनागत धर्म ग्रीर ग्रतीत तथा प्रत्युत्पन्न सस्कृत धर्मों के एकजातीय होने से इसकी युक्तता कही जाती है। यथा ग्रनागत रूप 'रूप' कहलाता है। क्योंकि, वह रूप्यमाण रूप की जाति का है। किन्तु, प्रतीत्यसमुत्पाद ग्रीर प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों में विशेष करने में सूत्र का क्या ग्रिभप्राय है? ममुत्पाद हेतु है। समुत्पन्न फल है, जो ग्रग हेतु है। वह प्रतीत्यसमुत्पाद है, क्योंकि, उससे उत्पाद होता है। जो ग्रग फल है, वह प्रतीत्यसमृत्पन्न है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। किन्तु, यह प्रतीत्यसमृत्पाद भी है, क्योंकि इससे समृत्पाद भी होता है, ग्रीर मव ग्रगों का हेतु-फल भी है, ग्रतः वह एक ही काल में दोनों है।

निकायान्तरीय ( स्रायं महीशासक, विभाषा २३ ) व्याख्या के स्रनुसार विभज्यवादिन् ( 'समयभेद' के स्रनुसार महासाघिक ) का मत है कि प्रतीत्यसमुत्पाद स्रसंस्कृत है, क्यों कि सूत्रवचन है—''तथागतों का उत्पाद हो या न हो, धर्मों की यह धर्मता स्थित है।'' यदि इसका यह प्रथं है कि स्रविद्यादि प्रत्ययवश संस्कारादि का सदा उत्पाद होता है, स्रन्य प्रत्ययवश नहीं, स्रहेतुक नहीं, स्रीर इस स्रथं में प्रतीत्यसमृत्पाद की स्थिरता है, यह नित्य है, तो यह निरूपण यथार्थ है। किन्तु, यदि इसका यह स्रथं लगाया जाता है कि प्रतीत्यसमृत्पाद नाम के एक नित्य धर्म का सद्भाव है तो यह मत स्रमाह्य है, क्योंकि उत्पाद संस्कृत-लक्षण है। एक धर्म नित्य स्रीर प्रतीत्यसमृत्पन्न दोनो कैसे हो सकता है ?

१ "उप्पादा वा तथागतान श्रनुप्पादा वा तथागतान ठिता व सा धातु धम्मिट्टितता धम्मिनियामता इदप्पच्चयता । इति खो भिन्छवे या तत्र तथता श्रवितथता श्रनतस्त्रथा इदप्पच्चयता, श्रयं बुच्चित भिन्छवे पिटच्चसमुप्पादो ति।" (सयुत्त, २।२५-२६) प्रतीत्यसमुत्पाद प्रत्यय-धर्म है। उन-उन प्रत्ययों से निवृत-धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म है (विशुद्धि०, ए० ३६२) उन-उन प्रत्ययों से (नन्त्रून, न श्रिषक) उस-उस धर्म का सम्भव होने से यह नयतथता कहलाता है। प्रत्यय-सामग्री के उपगत होने पर उससे निवृत होनेवाले धर्मों की श्रनुत्पत्ति, श्रमाव होने से यह श्रवितथता है। श्रन्य धर्म-प्रत्ययों से श्रन्य धर्मों की श्रनुत्पत्ति होने से यह श्रवतथता है। तथोक इन जरा-मरणादि का प्रत्यय या प्रत्यय समृह इदम्प्रत्ययता है। कोई यह श्रयं करते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद उत्पादमात्र है, श्रयांच् तोर्थिक-परिकल्पित प्रकृतिपुरुपादि करण-निरपेक्ष हैं। यह युक्त नहीं है (विशुद्धि०, ३६२-३६३)। प्रत्ययता से धर्मसमूह की प्रवृत्ति होती है। यह गम्भीर नय है। इसलिए, भगवान् सम्मोध-रात्रि के प्रथम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना श्रनुलोम-प्रतिलोम रूप से करते हैं। यह उत्पाद-मात्र में नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का क्या श्रथं है ?

'प्रति' का श्रर्य है 'प्राप्ति', डण्' धातु गत्यर्थक है; किन्तु उपसर्ग धातु के श्रर्थ को वदलता है। इसलिए, 'प्रति-इ' का श्रयं 'प्राप्ति' है, श्रौर 'प्रतीत्य' का श्रयं 'प्राप्त कर' है। पद् धातु सत्तार्यक है। सम्-उत् उपसर्ग-पूर्वक इसका ग्रर्थ 'प्रादुर्भाव' है। ग्रत , प्रतीत्य-समुत्पाद =प्राप्त होकर प्रादुर्भाव, श्रयीत् वह उत्पद्यमान है। प्रत्ययों के प्रति गमन कर उसका उत्पाद होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद शव्द का अर्थ एक सूत्र में ज्ञापित है। "इसके होने पर वह होता है, इसकी उत्पत्ति से उसकी उत्पत्ति है।" प्रथम वाक्य में प्रनीत्य का श्रवधारण है, दूसरे में समुत्पाद का । भगवान् प्रतीत्यसमुत्पाद का निर्देश पर्याय-द्वय से करते हैं। प्रथम पर्याय से यह निद्ध होता है कि ग्रविद्या के होने पर सस्कार होते हैं। किन्तु, यह मिद्ध नही होता कि केवल ग्रविद्या के होने पर संस्कार होते है। द्वितीय पर्याय पूर्व पर्याय का अवधारण करता है, अविद्या के ही उत्पाद से सस्कारों का उत्पाद होता है।

ग्रग-परम्परा दिखाने के लिए भी पर्याय-द्वय का निर्देश है। इस ग्रग (ग्रविद्या) के होने पर यह (सम्कार) होता है। इम ग्रग (सस्कार) के उत्पाद से—दूसरे के उत्पाद से नही—

यह ग्रग (विज्ञान) उत्पन्न होता है।

जनम-परम्परा दिखाने के लिए भी पर्याय-द्वय का निर्देश किया गया है। पूर्वभव के होने पर प्रत्युत्पन्न भव होता है। प्रत्युत्पन्न भव के उत्पाद से ग्रनागत भव उत्पन्न होता है। प्रत्यय-माव दिखाने के लिए भी जो यथायोग भिन्न है, ऐसा होता है। भ्रविद्यादि भ्रगो का प्रत्यय-भाव माक्षात या पारम्पर्येण होता है। यथा विलप्ट सस्कार श्रविद्या के समनन्तर उत्पन्न होते है, पारम्पर्य से कुशल मस्कार उत्पन्न होते हैं। दूसरी ग्रोर ग्रविद्या सस्कार का साक्षात् प्रत्यय है ग्रीर विज्ञान का पारम्पर्येण प्रत्यय है ।

पूर्वाचार्यों का मत है कि प्रथम पर्याय श्रप्रहाण ज्ञापनार्य है। "अविद्या के होने पर, श्रप्रहीण होने पर सस्कार होते हैं, प्रहीण नहीं होते।" द्वितीय पर्याय उत्पत्ति-ज्ञापनार्थ हैं--

"अविद्या के उत्पाद से सम्कार उत्पन्न होते हैं।"

विशुद्धिमार्ग में (पृ० ३६४-३६५) प्रतीत्यसमुत्पाद के श्रनेक श्रर्थ किये गये है। यथा प्रत्ययता से प्रवृत्त यह धर्मसमूह है। इमकी प्रतीति से हित-सुख साधित होता है। श्रत , पण्डित को उचित है कि वह इसकी प्रतीति करे। यह पटिच्च (प्रत्यययोग्य ) है। एक माथ सम्यक् उत्पाद होता है, एक-एक करके नही ग्रीर न ग्रहेतुक। जो 'पटिच्च' ग्रीर 'समुप्पाद' है, वह पटिच्च-समुप्पाद है। एक दूसरा निर्वचन सहोत्पाद 'समुत्पाद' है। प्रत्यय सामग्री-वश होता है, यथा कहते है कि वुद्धों का उत्पाद सुख है, तव श्रिभप्राय यह होता है कि उत्पाद सुख का हेतु हैं। उसी प्रकार, प्रतीत्य फलोपचार से उक्त हैं। ग्रथवा यह हेतुसमूह है, जो सस्कारादि के प्रादुर्भाव के लिए श्रविद्यादि एक-एक हेतुशीर्ष द्वारा निर्दिष्ट है, वह साधारण फल की निष्पत्ति के लिए तथा अवैकल्य के लिए सामग्री के अगो के अन्योन्य प्रतिमुख जाता है, श्रत , वह 'पटिच्च' कहलाता है। वह 'समुप्पाद' भी है, क्यों कि वह ग्रन्योन्य का उत्पाद एक साथ करता है।

एक दूसरा नय है। यह प्रत्ययता अन्योन्य-प्रत्ययवश धर्मों का सहोत्पाद मिलकर करती है। इसलिए, इसे प्रतीत्य कहते हैं। ग्रविद्यादि शीर्ष से निर्दिष्ट प्रत्ययों में से जो प्रत्यय सस्कारादिक धर्म का उत्पाद करते हैं, वह ऐसा करने में ग्रसमर्थ होते हैं, जब अन्योन्य-विकलता होती है, जब अन्योन्य-प्रत्यय का ग्रभाव होता है। ग्रत, एक साथ मिलकर और अन्योन्य का ग्राश्रय लेकर वह प्रत्ययता धर्मों का उत्पाद करती है, पूर्वापर-भाव से या एकदेश से नहीं। 'पिटच्च' पद से शाश्वतादि वाद का ग्रभाव द्योतित होता है। 'समुप्पाद' पद से उच्छेदादि वाद का विघात होता है। पूर्व-पूर्व प्रत्ययवश पुन -पुन उत्पद्यमान धर्मों का कहाँ उच्छेद है ?

प्रतीत्यसमुत्पाद-वचन से मध्यम प्रतिपत्ति द्योतित होती है। "जो करता है, वह उसके फल का प्रतिसवेदन करता है" तथा "कर्म, करण एक है, भोक्ता दूसरा है" इन दोनो वादो का प्रहाण होता है, क्योंकि प्रत्यय-साम्गग्री की सन्तित का उपच्छेद न कर उन-उन धर्मों का सम्भव होता है।

पृथग्जन यह न जानकर कि प्रतीत्यसमृत्पाद सस्कारमात्र है, श्रर्थात् सस्कृत धर्म है, श्रात्मदृष्टि श्रीर श्रस्मिमान में श्रिभिनिविष्ट होता है। वह सुख श्रीर श्रदु खासुख के लिए काय-वाक्-मन से तिविध कर्म करता है। ऐहिक सुख के लिए श्रपुण्य, श्रायति-सुख के लिए कामा-वचर पुण्य, प्रथम तीन ध्यानो के सुख के लिए श्रीर ऊर्ध्व भूमियो के श्रदु खासुख के लिए श्रानिज्य कर्म। यह कर्म श्रविद्या-प्रत्ययवश सस्कार है।

विज्ञान-सन्ति का अन्तराभव के साथ सम्बन्ध होने से कर्माक्षेप-वश यह सन्तिति श्रितिवप्रकृष्ट गितयों में भी ज्वाला के समान पहुँच जाती हैं, अर्थात् निरन्तर उत्पन्न होती जाती हैं। सस्कार-प्रत्ययवश यह विज्ञान हैं, विज्ञान का यह निर्देश उपपन्न हैं। हम प्रतीत्य-समुत्पाद-सून्न के इस विज्ञानग-निर्देश से सहमत हैं। विज्ञान क्या है विज्ञान क्या है विज्ञानकाय। विज्ञान पूर्व गम नामरूप की उत्पत्ति इस गित में होती हैं। यह पंचायतन हैं। पश्चात् निषय-सयोग से विज्ञान की उत्पत्ति और विक-सन्निपात से स्पर्श होता हैं, जो सुखादि सवेदनीय हैं। इससे सखादि वेदनात्रय होते हैं। इस वेदनात्रय से विविध तृष्णा होती हैं। कामतृष्णा या दु ख से अदित सत्त्व की कामावचरी सुखावेदना के लिए तृष्णा, रूप-तृष्णा या प्रथम तीन ध्यान की सुखावेदना और चतुर्थ ध्यान की अदु खासुखावेदना के लिए तृष्णा, आरूप्य तृष्णा है। पश्चात् वेदना की तृष्णा से चतुर्विध उपादान—काम , दृष्टि , शीलव्रत , आत्मवाद होते हैं। काम पंचकाम-गुण है। दृष्टियाँ वासठ है। जैसा ब्रह्मजालसून में निर्देष्ट हैं। शील दौ शील्य का प्रतिषेध हैं; यथा निर्मुन्थों का नग्नभाव, ब्राह्मणों का दण्ड ग्रजिन, पाशुपतों का जटाभस्म, परिव्राजकों का विदण्ड और मौञ्ज इत्यादि। इन नियमों का ममादान शील-व्रतोपादान हैं। श्रात्मवाद श्रीतमभाव हैं, जिसके लिए वाद हैं कि यह श्रात्मा हैं।

एक दूसरे मत के अनुमार श्रात्मवाद श्रात्मदृष्टि और श्रम्मिमान हैं। क्योंकि, इन दो के कारण श्रात्मा का वाद होता है। यदि श्रागम वाद शब्द का प्रयोग करता है, तो इसका कारण यह है कि श्रात्मा श्रसत् हैं।

कायदृष्टि का उपादान उनके प्रति छन्द और राग है, उपादान-प्रत्ययवण उपचित कर्म पुनर्भव का उत्पाद करता है, यह भव है। सून्नवचन है—हे श्रानन्द। पीनर्भविक कर्म भव का स्वभाव है।

भव-प्रत्ययवण विज्ञानावकान्ति के योग से ग्रनागत जन्म जाति है। यह पचस्किन्धिका है, क्योंकि यह नाम-रूप-स्वभाव हैं। जाति-प्रत्ययवण जरा-मरण होता है। इस प्रकार, केवल, ग्रयित् ग्रात्मरहित इस महान् दुरा स्कन्ध का समुदय होता है। यह महान् है; क्योंकि, इसका ग्रादि-ग्रन्त नहीं है। वारह ग्रग पचस्किन्धिक वारह ग्रवस्थाएँ हैं। यह वैभाषिकों का न्याय है।

श्रविद्या विद्या का श्रभाव नहीं है, यह विद्या का विपक्ष है यह धर्मान्तर है, यथा श्रमित्र मित्र का श्रभाव नहीं है, किन्तु मित्र का विपक्ष है। 'नञा्' उपसर्ग कुत्सित के श्रथं में होता है। यथा बुरे पुत्र को श्रपुत्र कहने हैं। क्या यह नहीं कह सकते कि श्रविद्या कुत्सित विद्या, श्रयीत् कुत्सित प्रज्ञा है? नहीं, श्रविद्या कुप्रज्ञा नहीं है, क्योंकि कुप्रज्ञा या क्लिप्टप्रज्ञा निस्सन्देह दृष्टि है। किन्तु, श्रविद्या निष्चय ही दृष्टि नहीं है।

वैभाषिक सौवान्तिक के इस मत को नहीं मानते कि श्रविद्या एक पृथक् धर्म नहीं है, किन्तु क्लिप्ट-प्रज्ञा है श्रोर इस तरह प्रज्ञा का एक प्रकार है। वैभाषिक कहते हैं कि श्रविद्या प्रज्ञा-स्वभाव नहीं है। वह भदन्त श्रीलाभ के इस मत का भी प्रतिपेध करते हैं कि श्रविद्या सर्वक्लेश-स्वभाव है। वह कहते हैं कि यदि श्रविद्या सर्वक्लेश-स्वभाव है, तो सयोजनादि में इसका पृथक् वचन नहीं हो सकता। वैभाषिक के श्रनुसार श्रविद्या का लक्षण चतुःसत्य, विरत्न, कर्म श्रौर फल का श्रसम्प्रस्थान ( ग्रज्ञान ) है। श्राप पूछेगे कि श्रमम्प्रस्थान का स्वभाव क्या है ? प्राय निर्देश स्वभाव-प्रभावित नहीं होते, किन्तु कर्म-प्रभावित होते हैं। यथा चक्षु का निर्देश इस प्रकार करते हैं—"जो स्पप्रसाद चक्षुर्विज्ञान का श्राक्ष्य है।" क्योंकि, इस श्रप्तत्यक्ष रूप को केवल श्रनुमान से जानते हैं। इसी प्रकार, श्रविद्या का स्वभाव उसके कर्म या कारित्र से जाना जाता है। यह कर्म विद्या का विपक्ष-स्वरूप है। श्रत, यह विद्या-विपक्ष धर्म है।

सयुक्त में हैं—-पूर्वान्त के विषय में अज्ञान, अपरान्त के विषय में अज्ञान, मध्यान्त के विषय में अज्ञान . विरत्न के विषय में यु ख-समुदय और निरोध-मार्ग के विषय में . कुशल-अकुशल-अव्याकृत के विषय में, आध्यात्मिक . वाह्य के विषय में अज्ञान, यत्किचित् उस-उस विषय में अज्ञान है, वह तमआवरण है।

१. विशुद्धि०, पृ० ३७१ यूझ के अनुसार टु ख़ादि चार स्थान में अज्ञान श्रविद्या है। श्रिभिथमें के अनुसार टु ख़ादि चतु सत्य, पूर्वान्त, श्रपरान्त, पूर्वान्तापरान्त और इद-प्रत्ययता तथा प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों के विषय में श्रज्ञान श्रविद्या है। (धम्मसगिण, १९५)

नामरूप में रूप रूप-स्कन्ध है ग्रौर नाम ग्ररूपी स्कन्ध है। वेदना, सज्ञा, सस्कार ग्रौर विज्ञान यह चार ग्ररूपी स्कन्ध 'नाम' कहलाते हैं। क्योंकि नाम का ग्रर्थ है, 'जो झुकता है' (नमतीति नाम)। ग्ररूपी स्कन्ध नामवश, इन्द्रियवश ग्रौर ग्रर्थवश, ग्रर्थों में नमते हैं, ग्रर्थात् प्रवृत्त होते हैं, उत्पन्न होते हैं। 'नामवश' इस पद में नाम शब्द का ग्रहण उस ग्रर्थ में है, जो लोक में प्रसिद्ध है। इसका ग्रर्थ यहाँ सज्ञाकरण है। यह समुदाय-प्रत्यायक है, यथा गो-ग्रन्वादि। ग्रथवा एकार्थ-प्रत्यायक है, यथा रूपादि।

स्पर्श छ है, विक-सिन्निपात से स्पर्श उत्पन्न होता है। पहला चक्षु मस्पर्श है, छठा मन सस्पर्श है। इन्द्रिय, विषय और विज्ञान इन तीनो के सिन्निपात से यह उत्पन्न होते हैं। सौद्रान्तिक के अनुसार स्पर्श विक-सिन्निपात है, किन्तु सर्वास्तिवादी और वृद्धघोष के अनुसार स्पर्श विक-सिन्निपात नहीं है, किन्तु इस सिन्निपात का कार्य है, और एक चैतिसक धर्म है। प्रथम पाँच मस्पर्श प्रतिध-सस्पर्श हैं, छठा अधिवचन है। चक्षु सस्पर्शादि प्रथम पाँच के आश्रय सप्तिविध इन्द्रिय हैं। अत, इनको प्रतिध-सस्पर्श कहते हैं। मन सस्पर्श को अधिवचन-मस्पर्श

लोकोत्तर सत्य-द्वय को वर्जित कर शेष स्थानों में त्रालम्बनवश भी अविद्या उत्पन्न होती है। अविद्या के उत्पाद से दु ख-सत्य प्रतिच्छादित होता है। पुद्गल उसके लक्षयों का प्रतिपेध नहीं कर सकता। पूर्वान्त अतीत रक्षन्ध-पचक है। अपरान्त अनागत स्कन्ध-पचक है। पूर्वान्तापरान्त उभय है। अविद्यावश यह प्रतिवेध नहीं हो सकता कि यह अविद्या है, यह सं स्कार है।

विशुद्धि (पृ० ४०७) में प्रतीत्यसमुत्पाद की स्वी में शोकादि अन्त में उक्त है। भवचक्र के आदि में उक्त अविद्या इनसे सिद्ध होती हैं। जो पुद्गल अविद्या से विमुक्त नहीं है, उसको शोक-दोर्मनस्यादि होते हैं। जो मृद हैं, उनको परिदेवना होती है। अत, जब शोकादि सिद्ध होते हैं, तब अविद्या सिद्ध होती है। पुन यह भी कहा है कि आस्त्रवों से अविद्या होती है।

(म॰ १।५४) शोकादि भी त्रास्त्रवों से उत्पन्न होते हैं। कैसे १

काम-वस्तु से वियोग होने पर कामास्रव से शोक उत्पन्न होता है। पुन यह सकल शोकांदि दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। यथा उक्त है कि —जब उसको यह स द्वा होती है कि मैं रूप हूँ मेरा रूप है, तब रूप का अन्यथामाव होने पर शोकांदि उत्पन्न होते हैं (स॰ ३।३), यथा दृष्ट्यान्त्रव से, उमी प्रकार भवास्रव से। यथा पाँच पूर्विनिमित्त देखकर मृत्यु-भय से देव सन्त्रस्त होते हैं। इसी प्रकार, अविद्यास्रव से शोकांदि होते हैं। यथा सूत्र में उक्त है—हे मिक्षुओ मृद्ध इस जन्म में त्रिविध दु ख-दौर्मनस्य का प्रतिसवेदन करता है (म॰ ३।१६३)। इस प्रकार, आस्रवों में यह वर्म उत्पन्न होते हैं। इनके सिद्ध होने पर अविद्या के हेतुभूत आस्रव सिद्ध होते हैं। जब आन्त्रव सिद्ध होते हैं, तथ अविद्या सिद्ध होती है, जब अविद्या सिद्ध होती है, तथ हेतु-फल-परम्परा का पर्यवमान नहीं होता। अत्र , भवचक का आदि अविदित्त है। हेतु-फल-सम्बन्धवश यह चक्त मनत प्रवर्तिन होना है।

विशुद्धि० (पृ० ३६३) में त्रालम्बन के त्रिभिमुख नमने से वेदनादि तीन म्कन्ध 'नाम' कहलाते हैं। त्रिभिधर्मकोश के त्रानुसार विज्ञान भी 'नाम' है।

कहने हैं। ग्रधिवचन नाम है। किन्तु, नाम मनोविज्ञान-सम्प्रयुवत स्पर्ण का वाहुत्येन ग्रालम्बन होता है। वन्तुत, यह उक्त है कि चक्षुविज्ञान से वह नील को जानता है, किन्तु, वह यह नहीं जानता कि यह नील है। मनोविज्ञान में वह नील को जानता है ग्रीर यह भी जानता है कि 'यह नील है।' ग्रत, मनोविज्ञान के स्पर्ण को ग्रधिवचन-सस्पर्ण कहने है (ग्रधिवचनसफस्स, दीघ, २१६२)। छठा सम्पर्ण तीन प्रकार का है—विद्या, ग्रविद्या ग्रीर इतर स्पर्ण। यह तीन यधाग्रम ग्रमल, क्लिप्ट, उतर है। यह स्पर्ण ग्रनास्त्रव प्रज्ञा से, विलप्ट ग्रज्ञान से, नैविवद्या नाविद्या से, ग्रयांत् कुणल नास्रव प्रज्ञा ने ग्रयवा ग्रनिवृनाव्याकृत प्रज्ञा से मम्प्रयुवत स्पर्ण है। मर्ववलेण-सम्प्रयुवत ग्रविद्या-सम्पर्ण का प्रदेण नित्य नमुदाचारी है। इमके ग्रहण में दो स्पर्ण होते है—व्यापाद-स्पर्ण ग्रीर ग्रनुनय-स्पर्ण। समस्त स्पर्ण विविद्य है—मुखवेदनीय, दु खवेदनीय ग्रीर श्रमुखाद खवेदनीय। इन स्पर्णों की यह मज्ञा इमलिए है, क्योंकि इनका मुख, दु ख, ग्रसुखा-दु ख के लिए हिनमाव है। जिम स्पर्ण में वेद्य मुख होता है, वह स्पर्ण मुखवेद्य कहलाता है। वस्तुत., वहाँ एक मुखावेदना होती है।

वेदना स्पर्ण से उत्पन्न होती है। पाँच कायिकी वेदना है, एक चैतसिकी है। पाँच वेदनाएँ जो चक्षु श्रीर श्रन्य रूपी इन्द्रियों के सस्पर्ण से उत्पन्न होती है, श्रीर जिनका श्राश्रय रूपी इन्द्रिय है, कायिकी कहलाती हैं। छठी वेदना मन सस्पर्ण से उत्पन्न होती है। उसका श्राश्रय चित्त है, श्रत वह चैतसी है। वेदना श्रीर स्पर्ण सहभू हैं, क्योंकि वह सहभू-हेतु है। यह वैभाषिक मत है। सौद्रान्तिकों के श्रनुसार वेदना स्पर्ण के उत्तर काल में होती है।

यह चैतसी वेदना मनोपिवचारो के कारण ग्रट्ठारह प्रकार की है, क्यों कि छ सौमनस्यो-पिवचार, छ दौर्मनस्यण् ग्रीर छ उपेक्षाण् भी है। रूप, शब्द, गन्छ, रस, स्प्रष्टव्य ग्रीर धर्म इन छ विषयों के भेद से छ सौमनस्योपिवचार है। इसी प्रकार, दौर्मनस्यण् ग्रीर उपेक्षाण् भी छ -छ. है। इन ग्रट्ठारह में कैंसे विशेष करते हैं? यदि हम उनके वेदनाभाव का विचार करें, तो तीन उपविचार होगे—सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा। यदि हम उनके मम्प्रयोगभाव का विचार करें, तो वह एक है, क्योंकि मवका मनोविज्ञान से सम्प्रयोग है। यदि हम उनके विषय का विचार करें, तो वह छ है। क्योंकि रूप-शब्दादि विषय-पद्क उनके ग्रालम्बन है।

हमको तीन प्रकार से व्यवस्थापन करना चाहिए। जो मनोविज्ञानमात्र-सम्प्रयुक्त एक चैतसी वेदना नाम का द्रव्य है, वह सौमनस्यादि स्वभावतय के भेद से तिविध है ग्रौर इनमें से

पालि-प्रन्थों में छ' सोमनस्स पिनचार, छ दोमनग्स्पिनचार, छ उपेनखूपिनचार हैं (मिनिमम, अद्यादि)। यथा—चक्षु से रूपों को देखकर सीमनस्य-स्थानीय रूपों का उपिनचार करता है इत्यादि (मिन्मम॰, अट्ठादममनोपिनचारी)।

प्रत्येक रूपादि विषय-षट्क के भेद से छ प्रकार के है। ग्रत, पूर्ण संख्या ग्रहारह है। ग्रहारह उपविचार सास्रव है। कोई ग्रनास्रव उपविचार नहीं है।

पुन , यही सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, ग्रेधाश्रित ( अभिषगाश्रित ) ग्रौर नैष्क्रम्याश्रित भेद से ३३ शास्तृपद है। १ यह शास्तृपद इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि इस भेद की देशना शास्ता ने की है। नैष्क्रम्य, सक्लेश या ससार-दुख से निष्क्रम है। गर्ध ग्रभिष्वग है।

तृष्णा— रूपादि भेद से तृष्णा षड्विध है। इनमे से प्रत्येक का प्रवृत्ताकार विविध है—
काम , भव , विभव । जब चक्षु के ग्रपाय में रूपावलम्बन ग्राता है ग्रीर काम के ग्रास्वादवश उसकी ग्रास्वादन-प्रवृत्ति होती है, तब काम-तृष्णा होती है। जब यह शाश्वत-दृष्टि-सहगत राग हो, तब भव-तृष्णा है। उच्छेद-दृष्टि-सहगत राग विभव-तृष्णा है। इस प्रकार, ग्रह्वारह तृष्णाएँ है।

उपादान — यह ग्रनुशय है। क्योकि, ग्रनुशय उपग्रहण करते हैं। उपादान का ग्रर्थ दृढ-ग्रहण है। यह चार है—काम°, दृष्टि°, शीलवृत° ग्रौर ग्रात्मवाद°। तृष्णा के प्रसग में इनका वर्णन ऊपर हो चुका है।

भव—भव द्विविध है, कर्म ॰ ग्रौर उपपत्ति ॰ । कर्म भव है, क्यों कि यह भव का कारण है, यथा—'बुद्धों का उत्पाद सुख है', ग्रथांत् सुख का कारण हैं । सब कर्म, जो भवगामी है, कर्म-भव है। पुण्य, ग्रपुण्य, ग्रानेज्य-कर्म ग्रल्प हो या बहु, कर्म-भव है। सक्षेप मे, कर्म-चेतना ग्रौर चेतना-सम्प्रयुक्त ग्रिभध्यादि कर्म सख्यात धर्म है। उपपत्ति-भव कर्माभिनिवृत स्कन्ध है। प्रभेद के कारण यह नवविध हैं—काम , रूप , ग्ररूप , सज्ञा , ग्रसज्ञा , नैवसज्ञा , एक-व्यवकार , चतुर्व्यवकार , पचव्यवकार । जिस भव मे सज्ञा होती हैं, वह सज्ञा है। इसका विपर्यय ग्रसज्ञा है। ग्रौदारिक सज्ञा के ग्रभाव से ग्रौर सद्भाव से नैव हैं। जिस भव का एक व्यवकार है, वह एक हैं। एक मे एक उपादान-स्कन्ध हैं। इत्यादि (विशुद्धि । पु० ४०३)।

र मिल्सिम (३।२१०) में ३६ शास्तृपद वर्णित हैं। यह छत्तीस 'सत्तपदा' है। यह 'गेहसित' और 'नेक्लम्मसित' मेद से '३६ हैं। यथा 'गेहासितसोमनस्स' यह है— चक्ष विशेष, इन्ट, मनोरम रूपों का प्रतिलाभ देखकर या पूर्व प्रतिलब्ध श्रतीत रूप का स्मरण कर सौमनस्य उत्पन्न होता है। यथा 'नेक्लम्मसितसोमनस्स' यह हैं— रूपों की श्रिनित्यता जानकर सम्यक् प्रशा से यथाभूत का दर्शन कर जो सौमनस्य उत्पन्न होता है।

२ पालि = 'वोकार' - व्यवकार । स्फुटार्था कहती है कि बुद्ध-काश्यप ने स्कन्ध को 'व्यवकार' की सं ज्ञा दी । व्यवकार = विशेषावकार = जो श्रपकी श्रमित्यतावश विसवादिनी हो । गाथा में कहा है -- रूप फेर्नाप्रखोपम है ।

विभाषा में उस है--"पूर्वतधागत रवन्धों को व्यवकार की रांका देते हैं; किन्त शावयमुनि 'रकन्थ' अधिवचन का व्यवहार वरते हैं। पूर्व पाँच व्यवकार का उरलेख करते हैं शावयमुनि पाँच उपादान-स्कन्ध का !"

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रतीत्य ° क्लेश, कर्म श्रीर वस्तु है। क्लेश वीजवत्, नागवत्, मूलवत्, वृक्षवत्, तुपवत् है।

वीज से अकुर-पत्नादि उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार, क्लेश से क्लेश, कर्म और वस्तु उत्पन्न होते हैं। जिस तडाग में नाग होते हैं, वह णुष्क नहीं होता। इसी प्रकार, भवसागर, जहाँ यह क्लेशभूत नाग होता है, शुष्क नहीं होता। जिम वृक्ष का मूल नहीं काटा जाता, उसमें अकुर निकलने रहते हैं, यद्यपि उसके पत्तों को पुन-पुन तोडते रहते हैं। इसी प्रकार, जवतक इस क्लेशभूत मूल का उपच्छेद नहीं होता, तवतक गतियों की वृद्धि होती रहती है। वृक्ष भिन्नभिन्न काल में पुष्प और फल देता है। इसी प्रकार, एक ही काल में यह क्लेशभूत वृक्ष क्लेश, कर्म और वस्तु नहीं प्रदान करता। वीज, यदि उसका तुप निकाल लिया गया हो; तो समग्र होने पर भी नहीं उगता। इमी प्रकार, पुनर्भव की उत्पत्ति के किए कर्म का तुपभूत क्लेश से सयुक्त होना आवश्यक है।

कर्म तुप-ममन्वागत तण्डुल के ममान है। यह श्रीपध के तुल्य है, जो फल-विपाक होने पर नष्ट होता है। यह पुष्पवत् है। पुष्प फलोत्पत्ति का श्रामन्न कारण है। इसी प्रकार, यह विपाकोत्पत्ति का श्रासन्न कारण है।

वस्तु सिद्ध ग्रन्न ग्रौर पान के तुल्य है। मिद्ध ग्रन्न ग्रौर पान, सिद्ध ग्रन्न ग्रौर पान के रूप में पुन उत्पन्न नहीं होते। उनका एकमात्र उपयोग ग्रग्शन-पान में है। इसी प्रकार वस्तु है, जो विपाक है। विपाक से विपाकान्तर नहीं होता; क्योंकि इस विकल्प में मोक्ष ग्रसम्भव हो जायगा।

स्कन्ध-मन्तान ग्रपनी सस्कृतावस्था में चार भवो का (ग्रन्तरा°, उपपत्ति°, पूर्वकाल°, मरण°) उत्तरोत्तर फ्रम हैं। उपपत्ति स्वभूमि के मर्वक्लेण से सदा क्लिप्ट होता है। यद्यपि मरणावस्था काय-चित्त में ग्रपटु है, तथापि यदि एक पुद्गल को किसी क्लेण में ग्रभीक्ष्ण प्रवृत्ति होती हैं, तो पूर्वाक्षेप से यह क्लेण मरणकाल में समुदाचारी होता है। ग्रन्य भव कुशल, क्लिप्ट ग्रीर ग्रव्याकृत होते हैं। यह चार भव सव धातुग्रों में नहीं होते। ग्रारूप्यों में ग्रन्तरा-भव को वर्जित कर शेप तीन भव होते हैं। कामधात ग्रीर रूपधातु में चारों भव होते हैं, यह प्रतीत्य-समुत्पाद का निर्देश है। भवचक ग्रनादि हैं।

विणुद्धिमगो (पृ०४०७—४००) में इस तन्त्री में ग्रविद्या धर्म है। यह तीनों वर्त्मों में प्रधान है। अविद्या के ग्रहण से ग्रवणिप क्लेश-वर्त्म ग्रीर कर्मादि पुद्गल को उपनद्ध करते है, यथा मर्प के शिर के ग्रहण से सर्प का शेप गरीर उसके वाहु को परिवेष्टित करता है। ग्रविद्या के ममुच्छेद से वलेशादि से विमोक्ष होता है, यथा—सर्प के सिर को काटने से वाहु का विमोक्ष होता है। यथा उक्त है (स०२।१) कि ग्रविद्या के ग्रशेष निरोध से सस्कार का निरोध होता है। ग्रत, जिसके ग्रहण से बन्ध होता है ग्रीर जिसके मुक्त होने से मोक्ष होता है, वह प्रधान धर्म है, ग्रादि नहीं है। यह भवचक कारक-वेदक-रहित है; क्यों कि ग्रविद्यादि कारणों से सस्कारादि की प्रवृत्ति होती है। इसलिए, परिकल्पित ब्रह्मादि समार-कारक नहीं है, तथा सुख-दु-ख का वेदक परिकल्पित ग्रात्मा नहीं है।

यह भव-चक्र द्वादशिवध शून्यता से शून्य है। ग्रविद्या का उदय-व्यय होता है, ग्रत यह ध्रुवभाव से शून्य है। यह शुभभाव से शून्य है, क्यों कि यह सिक्लिंग्ट ग्रीर क्लेश-जनक है। यह सुखभाव से शून्य है, क्यों कि यह उदय-व्यय से पीडित है। यह ग्रात्मभाव से शून्य है, क्यों कि यह वशवर्ती नहीं है। इसकी वृत्ति प्रत्ययों में ग्रायत्त है। इसी प्रकार, सस्कारादि ग्रन्य ग्रग है। यह ग्रग न ग्रात्मा है, न ग्रात्मा में है, न ग्रात्मवान् है। इमलिए, यह भवचक द्वादशिवध शून्यता से शून्य है।

इस भवचक के अविद्या और तृष्णा मूल है। अविद्यामूल पूर्वान्त से आहत होता है और वेदनावसान है। तृष्णामूल अपरान्त मे विस्तृत होता है और जरा-मरणावसान है। पहला दृष्टिचरित पुद्गल का मूल है, अपर तृष्णाचरित का। प्रथम मूल उच्छेद-कर्म के समुद्घात के लिए है। जरा-मरण का प्रकाश कर द्वितीय मूल शाश्वत दृष्टि का समुद्घात करता है।

यह चक्र व्रिवर्त्म है। सस्कार, भव कर्मवर्त्म है, ग्रविद्या, तृष्णा उपादान-वर्त्म है। विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्ण, वेदना विपाक-वर्त्म है।

भगवान् प्रतीत्य की देशना विविध प्रकार से करते हैं-

यथा—विल्लिहारक ग्रादि या मध्य से ग्रारम्भ कर पर्यवसान तक ग्रथवा पर्यवसान या मध्य से ग्रारम्भ कर ग्रादि तक बिल्ल ग्रहण करता है। एक विल्लिहारक पहले बिल्लि के मूल को देखता है। वह इस मूल का छेद कर सब बिल्ल का ग्राहरण करता है। इसी प्रकार, भगवान् ग्रविद्या से ग्रारम्भ कर जरा-मरण-पर्यन्त प्रतीत्य की देशना करते हैं।

यथा—एक विल्लिहारक पहले मध्य को देखता है। वह मध्य मे विल्ल को काटता है, श्रीर ऊपर के भाग को लेता है। इसी प्रकार भगवान् कहते है—वेदना का श्रिभनन्दन करने से उसमे नन्दी उत्पन्न होती है। यह उपादान है। उपादान से भव, भव से जाति होती है। (मिज्झिम, १।२६६)

यथा—एक बिल्लहारक पहले बिल्ल के ग्रग्न को देखता है। वह उसका ग्रहण कर यावत् मूल का ग्राहरण करता है। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं—''जाति से जरा-मरण होता है जाति भव से होती हैं सस्कार ग्रविद्या से होता है।" (म० १।२६१–२६२)

यथा—एक विल्लहारक पहले मध्य देखता है। वह मध्य में काटकर मूल तक ग्राता है। इसी प्रकार, भगवान् मध्य से ग्रारम्भ कर ग्रादि पर्यन्त देशना करते हैं। यथा भगवान् कहते हैं—"इन चार ग्राहारों का क्या प्रभव है तृष्णा इनका प्रभव है। तृष्णा का क्या प्रभव है विदना एवमादि।"

यह ग्रनुलोम-प्रतिलोम-देशना है। ग्रनुलोम-देशना से भगवान उत्पत्ति-क्रम को दिखाते हैं, ग्रीर यह दिखाते हैं कि ग्रपने-ग्रपने कारण से यह प्रवृत्ति होती है। प्रतिलोम-देशना से वह कुच्छ्रापन्न लोक को दिखाकर यह वताते हैं कि तत्तत् जरा-मरणादिक दुख का क्या कारण है। जो देशना मध्य से ग्रादि को जाती है, वह ग्राहार के निदान को व्यवस्थापित

पार श्रतीत श्रध्य में जाती है, श्रीर अतीताध्य में श्रारम्भ कर हेतु-फल-परिपाटी की दिखाती है। जो देशना मध्य से पर्यवसान को जाती है, वह श्रनागत श्रध्य की दिखाती है, श्रीर बताती है कि प्रत्युपत श्रध्य में श्रनागत हेतु का ममुत्यान होता है। यहाँ श्रनुलोम-देशना उक्त है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का यह विवेचन प्रधानत हीनयान के वादियों की दृष्टि से हैं। विज्ञानवाद तथा माध्यमिक सिद्धान्त के ग्रध्याय में महायान के ग्राचार्यों की प्रतीत्य -सम्बन्धी व्याप्या प्रदिणत करेंगे। हीनयानियों में सीवान्तिकों का इस सम्बन्ध में विशेष फिलतार्थ है। वह क्षणगणवाद है, जिसका श्रव विवेचन करना प्रामिंगक होगा।

#### क्षणभंगवाद

कपर प्रनीत्यसमृत्पाद का विज्लेषण स्यविरवाद ग्रौर वैमापिकवाद की दृष्टि से किया गया है। किन्तु, मौत्रान्तिकों ने इसका कुछ ग्रीर भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है, जिससे धर्मी का क्षणमगवाद तथा क्षणमन्तितवाद निण्चित होता है। स्थविरवादियो का ध्यान चित्त-चैतिसकों की क्षणिकता की ग्रीर गया था, किन्तु वाह्य जगत् को क्षणिक मानने के पक्ष में वे नहीं थे। सर्वास्तिवादी वैभाषिक अवश्य ही कही-कही वाह्य वस्तु की क्षणिकता मानते हैं। जैसे श्रिभिधर्मकोण (४।४) में संस्कृतं क्षणिकं यत. है। परन्तु, यह वसुबन्धु पर मौन्नान्तिक प्रभाव ही है । वस्तुत , पूर्वकालीन बौद्धो की क्षणिकता श्रनित्यता से श्रागे नही वढती । वैभाषिक मिद्धान्त मे मस्कृत-धर्म जाति, जरा, स्थिति श्रौर श्रनित्यता इन चार श्रवस्थाश्रो मे श्रनुवृत्त होकर सत् होता है। वैभाषिको की यह वाह्य श्रक्षणिकता तव श्रीर स्पष्ट हो जाती है, जब वह इन चतुर्विध लक्षणों की सत्ता के लिए चार श्रनुलक्षणों की सत्ता भी मान लेते हैं। इसलिए वैभाषिक मत में धर्मों का प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व वैयध्विक (ग्रतीत-ग्रनागत-प्रत्युत्पन्नवर्त्ती) ही हो मकता था। फलत, ये प्रतीत्यसमुत्पाद को श्रावस्थिक एव प्राकर्षिक मानते हैं, परन्तु मौब्रान्तिक क्षणिक ग्रौर साम्बन्धिक मानते हैं। सीतान्तिक ग्रतीतानागताध्व का निपेध करने है, ग्रीर प्रत्युत्पन्न में ही वस्तु के पूर्वोक्त चतुल-क्षणो का विनियोग करते है । इस प्रकार, सौवान्तिक, श्रन्य हीनयानियो के समान यद्यपि बहुपदार्थ-वादी हैं, तथापि उनके प्रतीत्यसमृत्पाद-नय का श्रष्ट्ययन उन्हें पदार्थों की क्षणभगता तथा क्षण-सन्ततिवाद के सिद्धान्त पर पहुँचाता है। इसका विस्तार से विवेचन हम सौवान्तिकवाद के प्रसग में करेगे। यहाँ थोडे में केवल परवर्ती वीद नैयायिको की तर्क-पद्धति से धर्मों की क्षणभगता का विचार करते हैं, क्योंकि यह प्रतीत्यसमुत्पाद का ही विकास है।

क्षणमगता एक श्रोर तो श्रन्य तीर्थिको के विकल्पित वादो का श्रतायासेन निरास करती है, जैसे साख्यो का प्रधानवाद, गौतमादि का ईश्वरवाद, चार्वाकादि का भूतचतुष्टय-वाद, जैमिनीयो का वैदिकशब्दराणिनित्यतावाद। दूसरी श्रोर वहुसत्तावादी वौद्धदर्शनों के लिए श्रद्धयवाद का द्वार भी खोलती है।

किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है, उसकी क्षणिकता। सामान्यत सत्ता और क्षणिकता में विरोध प्रतीत होता है, किन्तु वस्तु की मत्ता का निश्चय जव उसकी अर्थिक्याकारिता से

करते हैं, तब यह भ्रम नष्ट हो जाता है, जैसे वर्त्तमान क्षण का घट जलाहरणरूप 'ग्रयंकिया' करता है। प्रश्न उठता है कि क्या ग्रतीतानागत क्षणों में भी घट वर्त्तमान क्षण की ही ग्रयं-किया करता है, या कोई दूसरी। प्रथम पक्ष तो इमलिए ठीक नहीं है कि इसके मानने से पूर्व-कृत का ही पुन करण होगा, जो व्ययं है। दूसरे पक्ष में यह विचार करना होगा कि वस्तुत घट जब वर्त्तमान क्षण का कार्य करता है, तब उसी क्षण में ग्रतीतानागत क्षण के कार्य को करने में शक्त है या नहीं यदि शक्त है, तो ग्रतीतानागत क्षण के कार्य को भी प्रथम क्षण में ही क्यो नहीं करता ? क्योंकि, समर्थ का कोई प्रतिबन्धक (क्षेपक) नहीं हो सकता। ग्रन्यथा, वह घट वर्त्तमान क्षण के कार्य को भी नहीं कर सकेगा, क्योंकि समान रूप से वह पूर्वापर कार्य में शक्त है, पर ग्रतीतानागत कार्य नहीं कर सकेगा, क्योंकि समान रूप से वह पूर्वापर कार्य में शक्त है, पर ग्रतीतानागत कार्य नहीं कर सका। इसलिए, कहना पडेगा कि वर्त्तमानक्षण-भावी घट ग्रतीतानागतक्षण-भावी 'ग्रयंकिया' करने में शक्त नहीं है, प्रत्युत सर्वथा ग्रशक्त है। ऐसी ग्रवस्था में शक्तत्व-ग्रशक्तत्वरूप उभयविषद्ध धर्मों का एक कार्य (घट)मे ग्रध्यास मानना पडेगा। यह तभी सम्भव है, जब ग्राप घट का क्षण-विघ्वस ग्रवश्य माने। इस प्रकार, जब एक कार्य में ही समर्थता तथा उससे इतर स्वभाव (ग्रसमर्थता) दोनो मानने पडे, तब उससे समस्त घट-पटादि की क्षणभगता स्वय सिद्ध होती है।

एक प्रश्न यह उठता है कि बौद्धसिद्धान्त मे यदि वस्तु के सत्त्व का ग्रथं उसका 'ग्रर्थ- कियाकारित्व' है, तो घटादि की सत्ता के लिए उनमे ग्रपने कार्य के प्रति प्रतिक्षण जनन-व्यवहार होना चाहिए। सिद्धान्ती कहता है, ठीक है, प्रतिक्षण जनन-व्यवहार होता है, क्यों कि घट प्रतिक्षण ग्रपूर्व है, ग्रीर प्रतिक्षण नयी-नयी ग्रथं कियाएँ भी करता है। यह वात एक तर्क से स्पष्ट होती है—जब, जिस वस्तु में जनन-व्यवहार की पावता होती है, तब वह वस्तु ग्रवश्य ग्रपनी किया भी करती है, क्यों कि विना ग्रथं किया के वस्तु में जनन-व्यवहार नहीं होता। इसीलिए, किसी वस्तु की उत्पादक ग्रन्त्यकारण-सामग्री में जनन-व्यवहारयोग्यता ग्रन्य वादियों को भी सम्मत हैं। इस न्याय के घट से ग्रन्य क्षण की तरह ग्राद्यादि पूर्वक्षणों में भी जनन-व्यवहार-योग्यता एवं ग्रपूर्व कियाकारिता है।

इस तर्क के विरुद्ध पूर्वपक्षी यदि कहे कि कुणूलस्थ वीज में कार्योत्पादन-सामर्थ्य का व्यवहार किया जाता है, परन्तु वह कार्य का साक्षात् जनक नहीं है। यह ठीक नहीं, क्यों कि समर्थ व्यवहार पारमार्थिक ग्रौर ग्रौपचारिक भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ पारमार्थिक जनन-व्यवहारगोचरता ही इष्ट हैं, जो कार्य का साक्षात् जनक है। कुणूलस्थ वीज मे ग्रौपचारिक समर्थ-व्यवहार-गोचरता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि सत्त्व हेतु (सर्वे पदार्था क्षणिका 'मत्त्वात्') से वस्तु के क्षणिकत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। सत्त्व से क्षणिकत्व की व्याप्ति (यत् मन् तत् क्षणिकम्) कार्य-कारण के अन्वय-व्यतिरेक से ही सम्भव हैं, किन्तु क्षणभग-पक्ष मे वह (व्याप्ति) प्रतिपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि कारण-बुद्धि से भावी कार्य गृहीत नहीं होगा और कार्य-बुद्धि से अतीत कारण गृहीत नहीं होगा, एव अतिप्रसग के भय से वर्त्तमानग्राही ज्ञान में ही अनीता-नागत ज्ञानों का भी ग्रहण नहीं हो सकता। अपिच, क्षणभगवाद में कोई एक प्रतिसन्धाता भी नहीं वन नकेगा, जो पूर्वापरकाल के ज्ञानों का प्रतिमन्धान करे। इसलिए, सत्त्व का ग्रंथ-कियालक्षणत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षी प्रकारान्तर से भी अर्थिकयाकारित्व-लक्षण मत्त्व को असिद्ध वनाता है। वह पूछता है—-बीजादि में कार्योत्पादन-सामर्थ्य का निण्चय म्त्रय वीजादि के जान से होता है या उसके कार्य अकुरादि से श्रापके मत में काय से ही मामर्थ्य का निण्चय होगा, परन्तु कार्यत्व-सिद्धि वस्तुत्व-मिद्धि पर निर्णर है और वस्तुत्व कार्यान्तर पर। फिर, कार्यान्तर के कार्यत्व की सिद्धि के निए भी वस्तुत्व अपेक्षित है, उसके लिए फिर कार्यान्तर की अपेक्षा होगी। इस प्रकार, अनवस्था दोष होगा। इस अनवस्था से वचने के निए आपको अन्त में वस्तुत्व के लिए कार्यान्तर की अपेक्षा छोड़नी होगी। ऐसी अवस्था में हम कहेगे कि उनी न्याय से पूर्व-पूर्व वस्तुत्व की सिद्धि के लिए कार्यान्तर की अपेक्षा छटती जायगी और उस-उसका असत्त्व सिद्ध होता जायगा, फिर एक का भी अर्थेक्ष्याकारित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।

मिद्धान्ती कहता है कि बन्तु के क्षणिकत्व को स्वीकार करने पर ही मामय्यं-प्रतीति वनती है; उमलिए मत्त्व के नाथ क्षणिकत्व की व्याप्ति भी वन जायगी। कार्यप्राही ज्ञान में अवण्य ही कारणज्ञानोपादेयता मस्कार-गिर्मत होकर रहती है। इमलिए, कार्य-मत्त्व से कारण-मत्त्व की अन्वय-त्र्याप्ति वनती है। ऐसे ही अभाव-स्थल में कार्यपिक्षया भूतल-कैवल्यप्राही ज्ञान में कारणापेक्षया भूतल-कैवल्यप्राही ज्ञान की उपादेयता मस्कार-गिर्मत होकर रहती है। इमलिए कार्यामाव में कारणामाव की व्यतिरेक-व्याप्ति वनती है। इस प्रकार, एक के निश्चय के समनन्तर ही उत्पन्न अन्य विज्ञान का अन्वय-निश्चय और एक के विरह-निश्चयानुभव के अनन्तर उत्पन्न अन्य विरह-वृद्धि का व्यतिरेक-निश्चय अनायाम सिद्ध होता है।

मिद्धान्त में अर्थिकियाकारित्व-रूप सामध्यं ही सत्त्व है। उसकी सिद्धि के लिए हमारा यह प्रयाम नहीं है। क्योंकि प्रमाण-प्रतीत बीजादि धर्मी में सामध्यं प्रमाण-प्रतीत है। हमें तो उसमें केवल क्षणमगता सिद्ध करनी है। जबतक अकुरादि-गत कार्यत्व दृष्टिगत नहीं है, तबतक सामध्यं के विषय में सन्देह रहेगा। फिर भी, उमकी सन्मावता अनिश्चित नहीं रहेगी। प्रन्यथा कहीं भी वस्तुत्व का निश्चय नहीं हो सकेगा। इसलिए, मत्त्व के शास्त्रीय लक्षण के मन्दिरध रहने पर भी पटु-प्रत्यक्ष में सिद्ध अकुरादिगत कार्यत्व वीजादि के सामध्यं को उपस्थापित करना है। इसलिए, मत्त्व हेतु की अमिद्धि नहीं है। पूर्वपक्षी का यह कहना ठीक नहीं हैं कि क्षणिकवाद में मामध्यं नहीं वन सकती, क्योंकि कारणत्व का लक्षण नियत-प्राग्भावित्व हैं। उमका क्षणिकत्व के साथ कौन-सा विरोध हैं वियोंकि क्षणमातावस्थायी पदार्थ में अर्थ-कियाकारित्व-लक्षण सामध्यं वन जायगा। मेरे पक्ष में अनेक कालवर्त्ती एक वस्तु के नहोंन से व्याप्ति असम्भव नहीं हैं। क्योंकि, सिद्धान्त में अतद्भूप-परावृत्त साध्य-साधन का प्रत्यक्ष-प्रमाण से व्याप्ति-ग्रह मम्मत हैं। बौद्ध सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय दो होते हैं—एक प्राह्म, दूसरा अध्यवसेय। प्रकृत में यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय ग्राह्म न हो, क्योंकि मकल अतद्भूप-परावृत्त वस्तु का माक्षात् ज्ञान सम्भव नहीं हैं, तथापि एक देश के ग्रहण से साध्य-साधन-माव परावृत्त वस्तु का माक्षात् ज्ञान सम्भव नहीं हैं, तथापि एक देश के ग्रहण से साध्य-साधन-माव का व्याप्ति-निश्चायक विकल्प उत्पन्न होगा। इस प्रकार, व्याप्ति का विषय ग्रध्यवसेय होगा, जैसे का व्याप्ति-निश्चायक विकल्प उत्पन्न होगा।

क्षण-ग्रहण से क्षण-सन्तति का ग्रीर घट-रूप के ग्रहण से घट का निश्चय होता है। पूर्वपक्षी के मत में भी व्याप्ति नहीं वनेगी ग्रीर ग्रनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा।

नैयायिक समस्त पदार्थों को कृतक-ग्रकृतक भेद से दो राशियों में विभक्त करते हैं, ग्रौर वात्सीपुत्रीय क्षणिक-श्रक्षणिक में विभक्त करने है। बौद्ध दोनो की क्षणभगता मानत है।

धर्मों के उपर्युक्त प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व तथा क्षणभगता के नय से ग्रनीइवरवाद एव ग्रनात्मवाद ग्रनायास सिद्ध होता है।

**ग्रनी**श्वरवाद

समस्त कार्यकारणात्मक जगत् प्रतीत्यसमुत्पन्न है। हेनु ग्रीर प्रत्ययो की ग्रपेक्षा करके ही समस्त धर्मों की धर्मता स्थित है। इसलिए, इस नय में ईश्वर, ब्रह्मा आदि कल्पित कारको का प्रतिषेध है।

ईक्वरवादी कहता है कि श्रभिमत वस्तु के साधन के लिए जो वस्तु स्थित्वा-प्रवृत्त होती है, वह किसी वुद्धिमत्कारण से अधिष्ठित होती है, जैसे द्वैधीकरण के लिए कुठारादि। कुठारादि स्वय प्रवृत्त नहीं होते, स्वय प्रवृत्त हो, तो कभी व्यापार-निवृत्त न हो । स्थित्वा-प्रवर्त्तन सर्वाभिमत है, इसलिए कोई प्रवर्त्तक भी होना ग्रावक्यक है। घटादि वस्तुग्रो की ग्रर्थिकयाकारिता भी चेतनावत् प्रेरित होने से ही है।

सिद्धान्ती कहता है--मुझे इसमे इप्टिसिद्धि है, क्योकि इससे ईश्वर नहीं मिद्ध होता। सिद्धान्त मे चेतनारूप कर्म स्वीकृत है ग्रीर उससे समस्त पदार्थ श्रधिष्ठित है। उनत भी है--

कर्मजं लोकवैचिन्यं चेतना यानसं च तत् । ( ग्रिभि० ४।१ )

पूर्वपक्षी कहता है कि लोक-वैचित्र्य केवल कर्म से नहीं, प्रत्युत ईश्वर-प्रेरित धर्माधर्म से है, ग्रौर ग्राप लोक का ईश्वराधिष्ठितत्व नही मानते, ग्रत ग्रापके पक्ष मे इष्टसिद्धि नही है। परन्तु, सिद्धान्त मे जब चेतनारूप कर्म स्वीकृत है, तब चेतनान्तर का मानना व्यर्थ है। यदि म्रन्य चेतनावत् का कर्तृ त्त्व माने भी, तो घटादि ईक्वर-कारणक मिद्ध नही होते, क्योकि कुलाला-तिरिक्त ईश्वर की कारणता मानने का कोई प्रयोजन नही है। ग्रन्यथा विपक्षी को ईश्वर के लिए भी ईश्वरान्तर मानना पडेगा। यदि ग्रजना के कारण कुलालादि की प्रवृत्ति ईश्वर-प्रेरित माने ग्रौर तज्ज्ञ ईश्वर की प्रवृत्ति स्वयम्, तो यह भी मानना पडेगा कि सुखदु खोत्पाद में सर्वथा ग्रसमर्थ ग्रज्ञ जीव को ईश्वर-प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक भोगना पडता है। इस प्रकार, ईइवर वैषम्य-नैर्धृण्य दोषों से ग्रस्त होगा।

प्न , ईश्वर का सर्वज्ञत्व ग्रीर सर्वकर्त्तृत्व ग्रन्योन्याश्रय-वाधित है। ईण्वर मे पहले सर्वकर्त्तृत्व सिद्ध हो, तव मर्वज्ञत्व सिद्ध होगा ग्रीर मर्वज्ञत्व सिद्ध होने पर मर्वप्रेरणा-कर्त्तृत्व साधित होगा । ग्रन्यथा ईश्वर का भी प्रेरक ग्रन्य ईश्वर मानना पडेगा । फिर, यह भी प्रश्न होगा कि मर्वज ईश्वर ग्रज्ञ जीवो को ग्रमद्व्यवहार मे प्रवृत्त क्यो करता है। विवेकणील जन लोगों को सदुपदेश करते हैं। किन्तु, ईइवर जब विपथगामी लोगों को भी उत्पन्न करता है, तर्व वह प्रमाण कैसे माना जाय ? फिर, ईश्वर की यह कौन-मी वृद्धिमना है कि जीव को पहले पाप में प्रवृत्त करता है, बाद में उससे व्यावृत्त कर धर्माभिमुख करता है।

यदि ईश्वर तत्कार्याधित्वित होकर ही जीव को पाप में प्रवृत्त कराता है, फिर भी उसके प्रेक्षाकारित्व की हानि माननी पड़ेगी। वयोकि, प्रथन होगा कि उसने जीव ने ऐसा पाप क्यों कराया? यदि यह मान कि वह अधर्म नहीं कराता है, बिल्क अधर्मकारी को फल का अनुभव कराता है, तो यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर अपनी अनमर्थता के कारण जीवों को पापक्मों से हटा नहीं पाता। और, यदि वह यह नहीं कर पाता, तो उसके लिए मर्वकर्त्त वि की घोपणा करना व्ययं है। फिर, ऐसी अवन्धा में वह धर्मादि भी क्या करा सकेगा? क्या ईश्वर के विना लोग अपने अधर्माचरण का फल नहीं भोग लेते? भोगते ही है, तो इस निर्यंक व्यापार में कोई प्रेक्षावान् क्यों प्रवृत्त होगा? यदि उसकी ऐसी प्रवृत्ति कीडा के लिए होती है, तव उसका वह प्रेक्षावारित्व धन्य है कि एक की क्षणिक तृष्टि के लिए अन्य को अपने जीवन को सकटमय बनाना पड़े। आपके निद्धान्त में समस्त णास्त्र यदि ईश्वरकृत है, तो दानादि के द्वारा उनके उपदेशों की मत्यासत्यता का निर्णय कैसे होगा? यदि दानादि विपयक कुछ णास्त्र उसके विरचित नहीं है, तो वह उसके समान सर्व को भी कैसे बना सकेगा? यदि ईश्वर को सत्त्वों के धर्माधर्म से ही प्रेरित होकर समस्त पदार्थ सम्भव करना पडता है, तो ईश्वर की कल्पना व्ययं है, वयोंकि धर्माधर्म की प्रेरणा से सत्त्व ही यह सब क्यों न कर लेगा?

पूर्वपक्षी कहे कि जीव सबका कर्ता नहीं हो सकता, तो मैं पूछता हूँ, तुम्हारे ग्रिभितेत मर्व के कर्त त्य का उपयोग हो क्या है ? एक जीव के द्वारा न सही, सर्व जीवो के द्वारा सर्व-कर्त्त त्य माने, तो तुम्हारी वया क्षित है ? देखा भी जाता है कि कभी बहुतो के द्वारा एक किया सम्पादित होती है, ग्रीर कभी एक के द्वारा बहुत कियाएँ। यदि कहो कि सर्वकारकत्व तो किसी एक में ही मानना पड़ेगा, ग्रन्यथा उसमें सर्वज्ञत्व भी सम्भव नहीं हो सकेगा। इसलिए, एक प्रधान कर्त्ता ईश्वर को मानो, जो प्रार्थियों के मनोरथ सिद्ध कर सके, त्वदिभिन्नेत सर्वज्ञतामाव से कोई प्रार्थियों का सेव्य नहीं हो सकता। परन्तु, मैं कहता हूँ, कोई ग्रर्थानर्थ-किया में शक्त एव सर्वज्ञ भी हो, फिर भी ग्रपनी ग्रनुपकारिता के कारण ही किसी का सेव्य नहीं होगा। सर्वज्ञत्व एव सर्वज्ञिक्तत्व पहले निश्चित हो, तब सर्वकारकत्व सिद्ध होगा। परन्तु, सभी दृष्टान्तों में ग्रसर्वज्ञ का ही कर्त्तृ त्व देखा जाता है। इनलिए, कर्त्तृ त्व से सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होगा। फिर, ग्रपने कार्य के प्रति कुलालादि में ग्रज्ञता ही कहाँ है, जिससे ईश्वर की ग्रावण्यकता पड़े ? यदि मुज्ञ कुलाल में भी ईश्वर की प्रेरणा के विना कार्यक्षमता नहीं ग्राती, तो उसी के समान ईश्वर की भी ग्रपने कार्य में ग्रन्य से प्रेरित मानना पड़ेगा। यदि उमने ग्रपने में सर्वज्ञता सिद्ध करने के लिए मर्वप्रेरकता भी मिद्ध कर ली, तो इसे किसने देखा है ?

ईश्वरवादी जगत् के विभिन्न सस्यान-विशेषों की रचना से लिए ईश्वर में उपादान-गोचरता ग्रीर चिकीषों ग्रादि मानता है। परन्तु, वृक्षादि सस्थान ग्रचित् वीजादि-कारण-विशेष से ही सम्पन्न होते हैं। इसके लिए पुरुषपूर्वकता ग्रावश्यक नहीं है। क्योंकि, कोई भी सुशिक्षित चेतन बीज-विजातीय वृक्ष उत्पन्न नहीं कर सकता। पूर्वपक्षी यदि कहे कि मृत्पिण्ड का सस्थान कुलाल उत्पन्न नहीं कर सकता, तो हम कहते ह, मृत्पिण्ड को उत्पन्न ही क्या करना है? तादृक् वर्ण-सस्थान-रूप ही तो मृत्पिण्ड है। यदि वट-बीज में स्वय वट-वृक्ष की वर्ण-सस्थान-रूपता नही है, तो अन्यत कहाँ से वह आयगी ? उसे यदि ईश्वर उत्पन्न करता है, तो वह वीजातिरिक्त से उत्पन्न क्यो नही करता? इसलिए, स्वीकार करना पड़ेगा कि वृक्ष-बीज में निहित वृक्ष-सस्थान आविर्भूत होता है, जैसे प्रदीप से अन्धकार-स्थित बालदारक। इसी प्रकार, कुलाल के द्वारा मृत्पिण्ड से ही सस्थान आविर्भूत होता है। कुलाल-पुरुष केवल साक्षीरूप से ही उसका उपयोक्ता वनता है, जैसे पुरुषों की भोग-सिद्धि के लिए प्रधान की प्रवृत्ति तथा सामाजिकों के लिए नट की रगिक्रया। इस प्रकार, सुखाद्यर्थित्वरूपेण सकल की कारणता है। इसी से कार्य-परिसमाप्ति है। ईश्वर की आवश्यकता नहीं।

#### श्रनात्मवाद

अनात्मवाद को पुद्गल-प्रतिषेधवाद भी कहते हैं। वौद्ध आत्मा या पुद्गल को वस्तुसत् नहीं मानते। आत्मा नाम का कोई पदार्थ स्वभावत नहीं है। जो आत्मा अन्य मतो को इष्ट है, वह स्कन्ध-सन्तान के लिए प्रज्ञप्तिमात्र नहीं है, किन्तु वह स्कन्ध-व्यतिरिक्त वस्तुसत् है। आत्मग्राह के बल से क्लेशों की उत्पत्ति होती है। वितथ आत्मदृष्टि में अभिनिवेश होने से मतान्तर दूपित है अत वौद्धमत से अन्यत्न मोक्ष नहीं है। केवल बुद्ध ही नैरात्म्य का उपदेश देते हैं।

श्रात्मा के श्रस्तित्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नही होती, न प्रत्यक्ष प्रमाण से, न श्रनुमान प्रमाण से। यदि श्रन्य भावों के समान श्रात्मा का पृथक् सद्भाव है, तो इसकी उपलिघ्ध या तो प्रत्यक्ष ज्ञान से होनी चाहिए, जिम प्रकार पचेन्द्रिय-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के विषयों की उपलिघ्ध होती है, श्रथवा श्रनुमान ज्ञान से होनी चाहिए, यथा श्रदृश्य श्रतीन्द्रिय उपादाय-रूप की होती है।

वौद्धों में वात्सीपुतीय भी पुद्गलवादी हैं। वह कहते हैं कि आत्मा न स्कन्धों से अभिन्न हैं, श्रीर न भिन्न हैं। वह ऐसा इसलिए कहते हैं कि यह प्रकट न हो जाय कि वह तीर्थिकों के सिद्धान्तों में अभिनिवेश रखते हैं। वात्सीपुतीय सौगतम्मन्य है। यथा साख्य, वैशेषिक, निर्ग्रन्थ ग्रादि पुद्गल में प्रतिपन्न हैं, उसी प्रकार वात्सीपुत्रीय भी इस कल्पित धर्म में प्रतिपन्न हैं। पुद्गल का कारित्न नहीं है। केवल चित्त का कारिव है। यदि पुद्गल भाव है, तो उसे स्कन्धों से अन्य कहना चाहिए, क्योंकि उसका लक्षण भिन्न है। यदि वह हेतु-प्रत्यय से जनित हैं, तो उसका शाश्वतत्व ग्रीर अविकारित्व नहीं है। यद वह असस्कृत है, तो उसमें अर्थिकया की योग्यता नहीं है, श्रीर उसका कोई प्रयोजन नहीं है। इमीलिए, पुद्गल को द्रव्य-विशेष मानना व्यर्थ है।

वात्सीपुत्तीय कहते है—हम नहीं कहने कि यह द्रव्य है, और न यह कि यह स्कन्धों का प्रज्ञिष्तिमात है, किन्तु पुद्गल-प्रज्ञिष्ति का व्यवहार प्रत्युत्पन्न ग्राध्यात्मिक उपात्त स्कन्धों के लिए है। लोक-विश्वाम है कि ग्रग्नि न ईन्धन से ग्रनन्य है, न ग्रन्य। यदि ग्रग्नि ईन्धन से ग्रन्य होती, तो प्रदीप्त ग्रग्नि होती। हमारा मत है कि पुद्गल स्कन्धों में न ग्रनन्य है, ग्रौर

न भ्रन्य । यदि यह स्कन्धों में भ्रन्य होता, तो यह णाइवत भ्रीर इसलिए ग्रसंस्कृत होता; यदि यह स्कन्धों में भ्रनन्य होता, तो उसके उच्छेद का प्रमग होता ।

वगुवन्धु का कहना है—यदि श्रात्मा समुदायमात्र है, भावान्तर नही, तो वह श्रात्मा नहीं है; ग्रोर यदि वह साख्यों के पुरुष के सदृण है, तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है। वसुबन्ध् पुन कहते है कि यदि तुरहारे पुद्गल का स्कन्धों से वहीं सम्बन्ध है, जो ग्रग्नि का इन्धन से है, नो तुमको स्वीकार करना पडेगा कि वह क्षणिक है। वसुबन्धु प्रश्न करते हैं कि पुद्गल का कैसे ज्ञान होता है ? बात्मीपुत्नीय कहता है कि पड्विज्ञान में उपलब्धि होती है। जब चक्ष्विज्ञान रूपकाय को जानना है, तब तदनन्तर ही वह पुद्गल की उपलब्धि करता है। इमलिए, हम कह सकते है कि पुद्गल चक्षुर्विज्ञान से जाना जाता है, यथा जब चक्षुर्विज्ञान क्षीर-रूप को जानना है, तब यह प्रथम रूप, गन्ध, रसादि की उपलब्धि करता है, ग्रीर द्वितीय क्षण मे क्षीर का उपलक्षण करता है । वसुबन्धु इसका उत्तर देने हैं कि इसका परिणाम यह निकलता है कि समस्त स्कन्ध-समुदाय की ही प्रज्ञप्ति पुद्गल है, जैसे रूप-गन्धादि समस्त ममुदाय की प्रज्ञप्ति क्षीर है। यह मज्ञामात्र है। यह वस्तुमत् नहीं है। वात्सीपुत्रीय स्वीकार करता है कि पुद्गल विज्ञान का ग्रालम्बन-प्रत्यय नहीं है। वसुबन्धु कहते हैं कि बहुत ग्रच्छा। किन्तु उस अवस्था मे यदि यह जेय नहीं है, तो इनका अस्तित्व कैमे सिद्ध होगा। श्रीर, यदि इसका अग्नित्व मिद्ध नहीं हो सकता, तो श्रापका सिद्धान्त गिर जाता है । वसुवन्धु कहते हैं कि वेदना, सज्ञा, विज्ञान ग्रांर चेतना यह चार ग्ररूपी स्कन्ध है ग्रीर रूप रूपी स्कन्ध है। जब हम कहते हैं कि 'पुरुप' है, तो हम इन्ही की वात करते है। विविध सूक्ष्म भेदो को व्यक्त करने के लिए विविध णव्दों का व्यवहार होता है, जैसे सत्त्र, नर, मनुज, जीव, जन्तु ग्रौर पुद्गल। यह मव वैमे ही ममुदायमात हैं, जैमे सेना शब्द । यह केवल लोक-व्यवहार के वचनमात, प्रतिज्ञामात्र है। सब प्रार्य यथार्थ देखते है कि केवल धर्मों का ग्रस्तित्व है, किसी दूसरी वस्तु का ग्रस्तित्व नही है । जव सूत्र ग्रात्मा को रूपादि से समन्वागत बनाता है, तो उसका श्रभिप्राय पूद्गल-प्रज्ञप्ति से हैं। जैसे लोक में 'राशि' वहु के समुदायमान को कहते हैं, जिसमें कोई एकत्व नहीं होता, अथवा जैमें जलधारा बहु-क्षण में समवाहित जल को कहते हैं, जिसमें नै रन्तर्यमात्र है, नित्यता नहीं हैं । भगवान् कहते हैं—हे भिक्षुग्रो । यह जानो कि सब ब्राह्मण-श्रमण जो आत्मा को मानते हैं, केवल उपादान-स्कन्ध को मानते हैं। इसलिए, विपर्यास के कारण श्रनात्मधर्मी मे श्रात्मा की कल्पना होती है, श्रीर श्रात्मग्राह होता है।

कोई मत्त्व, कोई ग्रात्मा नहीं है। केवल हेतु-प्रत्यय से जिनत धर्म है, स्कन्ध, ग्रायतन ग्रीर धातु है। वात्सीपुत्नीय कहते हैं कि फिर ग्राप बुद्ध को सर्वज्ञ कैसे कहते हैं केवल ग्रात्मा, पुद्गल में सर्वज्ञता हो सकती है, क्योंकि चित्त-चैत्त मव धर्मों को नहीं जान मकते, वह विपरिणामी हैं, वह क्षण-क्षण पर उत्पन्न ग्रीर निरुद्ध होते रहते हैं। वसुबन्धु इस ग्राक्षेप की गुरुता का ग्रनुभव करते हैं, ग्रीर उत्तर देते हैं कि हम इस ग्र्यं में बुद्ध को सर्वज्ञ नहीं कहतें की बह एक ही काल में सब धर्मों को जानते हैं। बुद्ध शब्द से एक सन्तान-विशेष ज्ञापित होता कि वह एक ही काल में सब धर्मों को जानते हैं। बुद्ध शब्द से एक सन्तान-विशेष ज्ञापित होता है। इम सन्तित का यह सामर्थ्य-विशेष हैं कि चित्त के ग्रभोगमात्र से ही तत्काल उस ग्रथं है। इम सन्तित का यह सामर्थ्य-विशेष हैं कि

का अविपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके सम्बन्ध में ज्ञान की इच्छा उदय हुई है। एक चित्त-क्षण सर्वज्ञान का सामर्थ्य नही रखता। अतः, इस सन्तित को सर्वज्ञ कहते है। वात्सीपुतीय प्रश्न करते हैं कि यदि अवक्तव्य पुद्गल नही है, तो भगवान् क्यो नहीं कहते कि जीव सर्वश नहीं है, वह क्यो वत्सगोत्न (एक भिक्षु) के प्रश्न करने पर कि आत्मा है या नहीं, 'हाँ' या 'न' मे उत्तर नहीं देते। इस प्रश्न का उत्तर स्वय भगवान् ने दिया है। भगवान् कहते हैं कि यह भिक्षु कदाचित् इस विचार से कि जीव स्कन्ध-सन्तान हैं, जीव के सम्बन्ध मे प्रश्न करता हैं। यदि भगवान् यह उत्तर देते हैं कि जीव सर्वश. नहीं है, तो प्रश्नकर्त्ता मिथ्यादृष्टिर में अनुपतित होता है, और यदि भगवान् यह कहते हैं कि जीव है, तो यह धर्मता को बाधित करता है, क्योंकि कोई धर्म न आत्मा है, न आत्मीय। दृष्टि से जो क्षत होता है, उसको विचार कर और दूसरी ओर कुशल कर्म का भ्रश देखकर वृद्ध धर्म की देशना उसी प्रकार करते हैं, जैसे व्याझी अपने वच्चे को दाँत से पकड ले जाती है। यहाँ एक श्लोक उदाहृत करते हैं—

# दृष्टिदंद्यावभेदं चापेक्ष्य भ्रंशं च कर्मणाम् । देशयन्ति बुद्धा धर्मं व्याघ्रीपोतापहारवत् ॥ (कुमारलात)

जैसे व्याघ्री अपने बच्चे को अति निष्ठुरता से दाँतो से नहीं पकड़ती और न अति-शिथिलता से ही, उसी प्रकार, बुद्ध पूछे जाने पर कि आत्मा है या नहीं, विधेयान्मक या निपेधा-त्मक कोई उत्तर नहीं देते। जो आत्मा के अस्तित्व में प्रतिपन्न है, वह दृष्टि-दण्ट्रा से विदीणें होता है, और जो सवृतिसत् पुद्गल को नहीं मानता, वह कुशल कर्म का भ्रश करता है। आत्मवाद शाश्वतवाद है, और यह सोचना कि आत्मा नष्ट हो गई है, उच्छेदवाद है। तथागत इन दो अन्तों का परिहार कर मध्यमा प्रतिपत्ति से धर्म की देशना करते हैं। इसके होने पर वह होता है . अविद्या के होने पर सस्कार होते हैं; क्योंकि कोई द्रव्यसत् जीव नहीं है, इसलिए बुद्ध नहीं कहते कि जीव अनन्य है या अन्य। वह यह भी नहीं कहते कि जीव का वास्तव में अस्तित्व नहीं है, इस भय से कि कही ऐसा कहने से लोग यह न समझने लगें कि प्राज्ञप्तिक जीव भी नहीं है।

एक दूसरा प्रश्नकर्ता पूछता है कि यदि पुद्गल का आस्तित्व नहीं है, तो ससार में सचरण कीन करता है ? वसुवन्धु उत्तर देते हैं कि यथार्थपक्ष बहुत सीधा है, यथा जो अगिन वन का दाह करती है, उसके विषय में लोक में कहते हैं कि यह सचरण करती है। यद्यपि वह अगिन के क्षण है, तथापि ऐसा कहते हैं। क्यों कि, इनकी एक सन्तान होती है। इसी प्रकार, स्कन्ध-समुदाय निरन्तर नवीन होकर उपचार से सत्त्व की आख्या प्राप्त करता है, और तृष्णा का उपादान लेकर स्कन्ध-सन्तित समार में ससरण करती है। वसुवन्धु एक दूसरी युक्ति देते हैं। यदि कोई आत्मा में प्रतिपन्न है, तो इस आत्मीय दृष्टि से उसमें आत्मीय दृष्टि उत्पन्न होगी। इन दो दृष्टियों के होने से उसमें आत्मस्नेह और आत्मीय-स्नेह होगा। ऐसा होने से मत्काय-दृष्टि होगी। वह आत्मस्नेह और आत्मीय-स्नेह के वन्धनों से आवद्द होगा और मोक्ष से अति दूर होगा।

त्रात्मवादी यह प्रश्न करते हैं कि यदि आत्मा का परमार्थत त्रस्तित्व नहीं है, तो चित्त, जो उत्पन्न होते ही निरुद्ध हो जाता है, बहुत पहले अनुभूत किये गये विपय का स्मरण

कैसे कर सकता है ? पूर्वानुभूत विषय के मदृश विषय का यह प्रत्यभिज्ञान कैसे कर सकता है ? कैसे एक चित्त देखता है, श्रीर दूसरा रमरण करता है ? यदि श्रात्म द्रव्यसत् नही है, तो कीन स्मरण करता है, श्रीर कीन वस्तुश्रो का प्रत्यभिज्ञान करता है ? प्रथम यही श्रात्मा श्रनुभव करता है, पश्चात् यही श्रात्मा स्मरण करता है।

वसुवन्धु उत्तर देते हैं कि निश्चय ही हम यह नहीं कह सकते कि एक चित्त एक विषय को देखता है, श्रीर दूसरा चित्त उस विषय का स्मरण करता है, क्योंकि यह दोनों चित्त एक ही सन्तान के हैं। हमारा कथन हैं कि एक श्रतीत चित्त विषय-विशेष को ग्रहण कर एक दूसरे चित्त, श्रर्थात् प्रत्युत्पन्न चित्त का उत्पाद करता है, जो इस विषय का स्मरण करता है। दूसरे शब्दों में स्मरण-चित्त, दर्शन-चित्त (श्रनुभव-चित्त) से उत्पन्न होता है, जैसे फल वीज से मन्तति-विषरिणाम की श्रन्तिम श्रवस्था के वल से उत्पन्न होता है। श्रन्त में स्मरण से ही प्रत्यिभज्ञान होता है।

वसुवन्धु पुन कहते है कि कतिपय ग्राचार्य कहते है कि भाव को भविता की ग्रपेक्षा है; जैसे देवदत्त का गमन देवदत्तकी अपेक्षा करता है। गमन भाव है, देवदत्त भविता है। इसी प्रकार, विज्ञान ग्रीर यर्तिकचित् भाव एक ग्राश्रय की, विज्ञाता की ग्रपेक्षा करते हैं । वसुवन्धु इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं-वास्तव मे देवदत्त का गमन शरीर-सन्तान का देशान्तरो में उत्पाद-मात्र ही है। कोई सोत्पाद हेतु, ग्रर्थात् सन्तान का पूर्व क्षण 'गमन' कहलाता है। जैसे हम कहते हैं कि ज्वाला जाती है, उसी प्रकार देवदत्त के गमन को कहते हैं कि देवदत्त जाता है । इसका अर्थ है। कि ज्वाला की सन्तान उत्पन्न होकर एक देश से दूसरे देश को जाती है। इसी प्रकार लोक में कहते हैं कि देवदत्त जानता है (विजानाति)। क्योंकि, यह समुदाय, जिसे देवदत्त कहते हैं, विज्ञान का हेतु है और लोक-व्यवहार का ग्रनुवर्त्तन कर स्वय ग्रार्य इस भाषा का प्रयोग करते हैं। प्रदीप का गमन यह है - ग्रिचिंक्षण की अव्युच्छिन्न सन्तान में जिसे विपर्यय-वश एक करके ग्रहण करते हैं, प्रदीप का उपचार होता है। जव इन समनन्तर क्षणो में से एक, पूर्व क्षण से अन्यत्न, देशान्तर में उत्पद्यमान होता है, तव कहा जाता है कि प्रदीप जाता है। किन्तु, ग्रर्चि.मन्तान से पृथक् ग्रार ग्रन्य कोई गन्ता नहीं है। जब एक चित्त-क्षण विषयान्तर में उत्पद्यमान होता है, तव कहते हैं कि विज्ञान इस विषय को जानता है। यदि हम यह भी मान लें कि एक नित्य ग्रात्मा ग्रोर नित्य ग्रसचारी मन का सयोग होता है, तथापि भाप विशिष्ट सयोग का होना, जो विशिष्ट चित्त के लिए ग्रावश्यक है, कैसे सिद्ध कर सकते हैं? न्या श्राप यह कहे गे कि यह विणिष्टता बुद्ध-विशेष के कारण होती है, जो श्रात्मा का गुण है ? किन्तु वृद्धि में भी वही कठिनाई है, जो मन में है। जव ग्रात्मा विशिष्ट है, तव वृद्धि कैसे विणिष्ट होगी ?क्या ग्राप कहेगे कि सस्कार-विशेष से ग्रात्मा ग्रौर मन का सयोग-विशेष होता है, त्रीर इस विशेष से वृद्धि-विशेष होता है ? इस पक्ष मे श्रात्मा निष्प्रयोजनीय हो जाता है। श्राप यह क्यो नही कहते कि सस्कार-विशेषापेक्ष चित्त से ही चित्त-विशेष होता है। चित्तीत्पाद में आत्मा का सामर्थ्य नहीं है, और यह कहना कि आत्मा से चित्त प्रवृत्त होते हैं, एक कुहक-

वैद्य के समान ग्राचरण करना है, जो मन्त्रो से ग्रोषधि को ग्रिभमन्त्रित करता है। 'फट् ! स्वाहा !' मन्त्रो का उच्चारण करता है, यद्यपि ग्रीपध मे रोग के उपशम का सामर्थ्य है।

साख्य का ग्राक्षेप है कि यदि ग्रपर विज्ञान पूर्वविज्ञान से उत्पन्न होता है, ग्रात्मा से नहीं, तो ग्रपर विज्ञान पूर्वविज्ञान के सदृष्य नित्य क्यो नहीं होता, जैसे ग्रकुर-काण्ड-पत्नादि का होता है पहले प्रक्रन का उत्तर यह है, क्यों कि जो हेतु-प्रत्यय-जिनत (संस्कृत) है, उसका लक्षण 'ग्रन्यथात्व' (स्थित्यन्यथात्व) है। 'संस्कृत' का ऐसा स्वभाव है कि उनकी सन्तान में ग्रपर पूर्व से भिन्न होगा। यदि इसके विपरीत होता, तो ध्यान-समाहित योगी का स्वय व्युत्थान नहीं होता। क्यों कि, काय ग्रीर चित्त की उत्पत्ति नित्य सदृष्य होती, ग्रीर सन्तान के उत्तरोत्तर क्षण ग्रनन्य होते। दूसरी कठिनाई के सम्बन्ध में यह कहना है कि चित्तों के उत्पाद का कम भी नित्य है। यदि किसी चित्त को किसी दूसरे चित्त के ग्रनन्तर उत्पन्न होना है, तो वह उस चित्त के ग्रनन्तर उत्पन्न होगा। दूसरी ग्रोर कुछ चित्तों में ग्राष्ट्रिक सादृष्य होता है, जिसके कारण वह ग्रपने गोन्न के विशेष-लक्षणवश एक दूसरे के ग्रनन्तर उत्पन्न होते हैं। जिस चित्त का इन चित्तों में से जो गोन्न, ग्रर्थात् वीज होगा, उसके ग्रनुसार यह दूसरा चित्त होगा, ग्रन्थया जब सदृश्य गोन्न नहीं होगा, तब नहीं होगा। पुनश्च, विविध हेतुवश एक चित्त के ग्रनन्तर विविध चित्त पर्याय से उत्पन्न हो सकते हैं। इन सब चित्तों में जो 'बहुतर' हैं, जो ग्रतीत के प्रवाह में रह चुके हैं, जो 'पटुतर' हैं, जो उत्पाद्य चित्त के 'ग्रासन्नतर' हैं, वह पहले उत्पन्न होते हैं, क्यों कि इन चित्तों से चित्त-सन्तान प्रवल रूप से वासित होती है।

वसुबन्धु पुन कहते हैं कि यदि अप्का यही मत है कि ग्रात्मा चित्तो का ग्राश्रय है, तो हम भ्रापसे उदाहरण देकर इस भ्राश्रय-श्राश्रित सम्बन्ध का विवेचन करने के लिए कहते हैं। चित्त (जिसे सस्कार प्रभावित करते है) चित्र या बदर-फल नहीं है, जिसे श्रात्मा का ग्राधार चाहिए, जैसे भित्ति चित्र का ग्राधार है या भाजन बदर-फल का ग्राधार है। वस्तुत, एक पक्ष में ( स्रात्मा स्रीर चित्त-सस्कार के बीच) प्रतिघातित्व स्वीकार करना पडेगा स्रीर दूसरे पक्ष मे चित्र और बदर-फल का, भित्ति श्रीर भाजन का पृथग्-देशत्व होगा। श्राप कहते हैं कि यथा पृथिवी, गन्ध, रूप, रस, स्प्रष्टव्य का आश्रय है, उसी प्रकार, आत्मा चित्त-सस्कार का ग्राश्रय है । हम इस उदाहरण पर प्रसन्न है, क्योकि यह ग्रात्मा के ग्रभाव को सिद्ध करता है। यथा गन्धादि से अन्यत पृथिवी की उपलिब्ध नहीं होती, जिसे लोक में 'पृथिवी' कहते हैं, वह रूपादि का सम्दाय-मात्र है। उसी प्रकार, चित्तसस्कारो से ग्रन्य ग्रात्मा नहीं है। पृथिवी गन्धादि से भ्रन्य है, यह कौन निर्धारित कर सकता है ? किन्तु, यदि गन्धादि से भ्रन्य पृथ्वी है, तो यह व्यपदेश कैसे होता है कि यह गन्बादि पृथिवी के है। विशेषण के लिए पृथिवी का गन्ध, पृथिवी का रस ऐसा कहते हैं। दूसरो शब्दो मे—इससे यह सूचित किया जाता है कि अमुक गन्ध-रस म्रादि की पृथिवी म्राख्या है, यह वह गन्ध, रस म्रादि नही है, जिनकी 'म्रप्' म्राख्या है। यथा लोक में जब किमी वस्तु को काष्ठ-प्रतिमा का शरीर कहते है, तब इससे यह सूचित किया है कि यह वस्तु काष्ठ की है, मृष्मय नहीं है।

वसुबन्धु पूछते हैं कि यदि श्रात्मा सस्कार-विशेष की श्रपेक्षा कर चित्त का उत्पाद करता है,

तो यह सब चित्तो का युगपत् उत्पाद क्यो नही करता ? वैशेषिक उत्तर देते है—क्योकि, विलष्ठ मस्कार-विणेष अन्य दुवल संस्कार-विणेषों की फलोत्पत्ति में प्रतिवन्धक है, और यदि विलष्ठ सस्कार नित्य फल नहीं देता, तो इसका कारण वही है, जो ग्रापने चित्त से सन्तान मे ग्राहित वासना के विवेचन में दिया है। हमारा मत है कि सम्कार नित्य नहीं है ग्रीर उनका ग्रन्ययात्व होता है। वसुबन्ध् कहते हैं कि उस ग्रवस्था में ग्रात्मा निर्थंक होगा, सस्कारों के वल-विशेष से चित्त-विशेष उत्पत्र होगे, वयोकि ग्रापके सस्कार श्रीर हमारी वामना के स्वभाव मे कोई ग्रन्तर नहीं है। वैणेपिक कहता है कि स्गृति-सस्रणादि गृण-पदार्थ है, इन गुण-पदार्थों का ग्राश्रय कोई-न-कोई द्रव्य होना चाहिए और १थियी यादि नी द्रव्यों में ऐसा ब्रात्मा ही हो सकता है, क्यों कि यह अयाह्य है कि स्मृति तथा अन्य चैतिमिक गुणा का आश्रय चेतन आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव्य हो । किन्तु, द्रव्य-गुण का सिद्धान्त नहीं है । बीद्ध इसमें महमत नहीं है कि स्मृति-सम्कारादि गुण-पदार्थ है, द्रव्य नहीं है। उनका मत है कि यरिकचित् विद्यमान है, वह गव 'द्रव्य' है। वैशेषिक पुन कहते हैं कि यदि वास्तव में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, तो कर्मफल क्या है ? बौद्ध कहने है कि पुद्गल के मुख-दु ख का अन्भव ही कर्मफल है। वैशेषिक पूछते है कि ग्राप पुद्गन ने क्या ममझने हैं? वीद्व कहते हैं कि जब हम 'ग्रहम्' कहते हैं, तब हमारा ग्राणय 'पुद्गल' से होता है। यह 'ग्रहम्' ग्रहकार का विषय है। वैजेषिक पूछते है कि फिर कर्म का कर्ना कौन है, फल का उपभोग करनेवाला कीन है ? ग्रीर, उत्तर देते हैं कि कत्तां, उपभोवना ग्रान्मा है। बौद्ध कहने हैं कि जिसे किसी कर्म का कर्ता कहते हैं, वह उसके सव कारणो मे उस कर्म का प्रधान कारण है। कायकर्म की उत्पत्ति का प्रधान कारण वास्तव में क्या है ? म्मृतिकर्म के लिए छन्द काम करने की ग्रभिलापा उत्पन्न करती है, छन्द से विनर्क उत्पन्न होता है, वितर्क से प्रयत्न प्रवृत्त होता है, इससे वायु उत्पन्न होती है, वायु मे कायकर्म होता है। इस प्रक्रिया मे वैशेषिको की ग्रात्मा का क्या कारिन है ? श्रात्मा कायकर्म का कर्त्ता निण्चय ही नही है। इसी प्रकार, वाचिक तथा मानसिक कर्म को भी समझना चाहिए।

यद्यपि वसुवन्धु ग्रात्मा के वस्तु-मत् होने का प्रतिपेध करते है, तथापि बौद्धधर्म में प्राय ग्रनिश्चितता देखी जाती है। लोक की शाश्वतता के प्रश्न को ले लीजिए, इस प्रश्न के सम्बन्ध में भगवान् ने चार वातों का व्याकरण नहीं किया है। यदि प्रश्नकर्ता लोक से ग्रात्मा का ग्रहण करता है, तो प्रश्न की चतुष्कोटि ग्रयथार्थ हो जानी है, क्योंकि ग्रात्मा का ग्रम्तित्व परमार्थत नहीं है। यदि वह लोक से ससार का ग्रहण करता है, तो भी चतुष्कोटि ग्रयथार्थ है। यदि ससार नित्य है, तो मन्ष्य निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता, यदि यह नित्य नहीं है, तो सब ग्राकस्मिक निरोध से—प्रयत्न से नहीं, निर्वाण का लाभ करेंगे। यदि यह नित्य ग्रीर ग्रनित्य दोनों है, तो कुछ निर्वाण प्राप्त नहीं करेंगे ग्रीर ग्रन्थ ग्रकम्मात् प्राप्त करेंगे। यह कहना कि लोक ममार के ग्रर्थ में न शाश्वत है, न ग्रशाइवत, यह कहने के वरावर है कि जीव निर्वाण की प्राप्ति नहीं करते हैं ग्रीर करते भी है। यह विरोधोक्ति है। वस्तुत, निर्वाण मार्ग हारा पाया जा मकता है। इमलिए, कोई निश्चित उत्तर स्वीकार नहीं किया जा मकता।

भ्रन्त मे, वसुबन्धु परीक्षा करते हैं कि बीज से फल की उत्पत्ति कैंसे होती है। लोक में कहते है कि फल बीज से उत्पन्न होता है, किन्तु इस उक्ति का यह ग्रर्थ नही होता कि फल निरुद्ध-बीज से उत्पन्न होता है, या फल बीज के अनन्तर, अर्थात् विनव्यमान वीज से उत्पन्न होता है। वास्तव मे, बीज-सन्तान के परिणाम के श्रतिप्रकृष्ट क्षण से फल की उत्पत्ति है। वीज उत्तरोत्तर ग्रकुर, काण्ड, पत्न का उत्पादन करता है, ग्रौर ग्रन्त मे पुष्प का; जिससे फल का प्रादर्भाव होता है। यदि कोई यह कहता है कि बीज से फल की उत्पत्ति है, तो इसका कारण यह है कि बीज ( मध्यवर्त्तियो की ) परम्परा से पुष्प मे फलोत्पादन का सामर्थ्य ग्राहित करता है। यदि वीज फलोत्पादान के सामर्थ्य का, जो पुष्प में पाया जाता है, पूर्वहेतु न होता, तो पुष्प बीज के सद्ग फल उत्पन्न न करता। इसी प्रकार, कहा जाता है कि फल कर्म-जनित है, किन्तु यह विनष्ट कर्म से उत्पन्न नहीं होता, यह कर्म के अनन्तर उत्पन्न नहीं होता, यह कर्म-समुन्यित सन्तान के परिणाम के अतिप्रकृष्ट क्षण से उत्पन्न होता है। सन्तान से हमारा अभिप्राय रूपी और अरूपी स्कन्धो से है, जो अविच्छिन्न रूप से एक सन्तान में उत्तरोत्तर प्रवर्त्तमान होते है, और जिस मन्तान का पूर्व हेतु कर्म है। इस सन्तान के निरन्तर क्षण है, इसलिए सन्तान का परिणाम, -श्रन्यथात्व होता है। इस परिणाम का श्रन्त्य क्षण एक विशेष या प्रकृष्ट सामर्थ्य रखता है। यह सामर्थ्य फल का तत्काल उत्पादन करता है। इस कारण यह क्षण ग्रन्य क्षणो से विशिष्ट है। इसलिए, इसे 'विशेष', अर्थात् परिणाम का प्रकर्षपर्यन्त प्राप्त क्षण कहते है।

# त्रयोदश अध्याय

### क्संवाद

जीवलोक ग्रीर भाजनलोक (विश्व) की विचित्रता ईश्वर-कृत नहीं हैं। कोई ईश्वर नहीं हैं, जिसने युद्धिपूर्वक इसकी रचना की हो। लोक-वैचित्र्य कर्मज हैं। यह सत्त्वों के कर्म से उत्पन्न होता हैं। कर्म दो प्रकार के हैं—चेतना ग्रीर चेतियत्वा। चेतना मानस कर्म हैं। चेतना से जो उत्पन्न होता है, ग्रर्थात् चेतियत्वा-कर्म चेतनाकृत हैं। चेतियत्वा-कर्म दो हैं—कायिक ग्रीर वाचिक। इन तीन प्रकार के कर्मों की मिद्धि ग्राश्रय, स्वभाव ग्रीर नमुत्थान इन तीन कारणों से होती है। यदि हम ग्राश्रय का विचार करते हैं, तो एक ही कर्म ठहरता हैं, क्योंकि सव कर्मकाय पर ग्राश्रित हैं। यदि हम स्वभाव का विचार करते हैं, तो वाक्-कर्म ही एक कर्म है, ग्रन्य दो का कर्मत्व नहीं है, क्योंकि काय, वाक् ग्रीर मन इन तीन में से केवल वाक् स्वभावत कर्म है। यदि हम समुत्थान का विचार करते हैं, तो केवल मनस् कर्म हैं, क्योंकि सव कर्मों का समुत्थान (ग्रारम्भ) मन से हैं।

सव कर्म 'उपचित' (सचितकमं, कियमाणानि कर्माण, आरब्धफलानि कर्माण) नहीं होते, अर्थात् फल देना आरम्भ नहीं करते। 'कृत' कर्म और 'उपचित' कर्म में भेद हैं। 'उपचित' कर्म की व्याख्या अभिधमंकोश (४।१२०) में दी है। वहीं कर्म उपचित होता है, जो स्वेच्छा से या वृद्धिपूर्वक (सचिन्त्य) किया जाता है। अबुद्धिपूर्वक कर्म, वृद्धिपूर्वक महसाकृत कर्म, या वह कर्म, जो भ्रान्तिवश किया जाता है, उपचित नहीं होता। भाष्याक्षेप से अभ्यासवश जो मृपावाद का अनुष्ठान होता है, वह अकुशल कर्म है, किन्तु वह उपचित नहीं होता। जो भ्रान्तिवश अपने पिता का वध करता है, वह उपचित कर्म नहीं करता। जो कर्म असमाप्त रहता है, वह उपचित नहीं होता। कोई एक दुश्चरित से दुर्गित को प्राप्त होता है, कोई दो से, कोई तीन से, कोई एक कर्मपथ से, कोई दो से, कोई दस से। यदि जिस प्रमाण से दुर्गित की प्राप्त होती है, वह प्रमाण असमाप्त रहता है, तो 'कृत' कर्म 'उपचित' नहीं होता, समाप्त होने पर ही उपचित होता है। कर्म करने के उपरान्त यदि अनुताप होता है, तो कृत कर्म 'उपचित' नहीं होता। पाप के आविष्कृत करने से पाप की मात्रा का तन्त्व या परिक्षय होता है। पाप कर्म का प्रतिपक्ष होने से कृत कर्म 'उपचित' नहीं होता। पाप-विरत्ति का ब्रत छेने से, आभ का अभ्यास करने से, प्राथय-वल से, अर्थात् वृद्धादि की शरण में जाने से, पाप कर्म 'उपचित' नहीं होता। पाप-विरत्ति का ब्रत छेने से, आभ का अभ्यास करने से, प्राथय-वल से, अर्थात् वृद्धादि की शरण में जाने से, पाप कर्म 'उपचित' नहीं होता।

जव कर्म अगुभ है, और उसका अकुणल परिवार है, तभी कर्म 'उपचित' होता है। जो कर्म विपाक-दान में नियत है, वह उपचित होता है, जो अनियत है, वह 'उपचित' नहीं होता। वस्तुत, 'पृष्ठ' से ही कर्म की परिसमाप्ति होती है। कर्म की ग्रुता प्रयोग मौलकर्म ग्रीर पृष्ठ की गुरुता पर निर्भर करती है।

## शुद्ध सानसिक कर्म

हम ऊपर कह चुके हैं कि कर्म दो प्रकार का है — चेतना ग्रीर चेतियत्वा-कर्म। चेतना मानस कर्म है। कायिक-वाचिक कर्म के विना ही मानस कर्म ग्रपने ग्रभीष्ट की प्राप्ति कर सकता है। दण्डकारण्यादि की कथा है कि ऋषियों के मन प्रदोष से वह निर्जन हो गये, उनके कोप से दण्डकादि शून्य हो गये, ग्रीर महाजन का व्यापाद हुग्रा। यह मानस कर्म की गुरुता को सिद्ध करता है। ग्रत, भगवान् कहते हैं कि तीन दण्डो (कायदण्ड, वाग्दण्ड, मनोदण्ड, दण्ड = कर्म) मे मनोदण्ड महासावद्य है, ग्रीर सर्व सावद्यो (पापो) में मिथ्यादृष्टि सर्व-पापिष्ठ है। ऋदिमान् श्रमण या ब्राह्मण की चेतना का वडा सामर्थ्य है।

मैत्री-भावना भी एक चेतना है या चेतना-सन्तित है। मैत्री-भावना में कोई प्रतिग्राहक नहीं है। परानुग्रह नहीं होता, तथापि मैत्री-चित्त के बल से ही उसके लिए पुण्य का उत्पाद होता है। मैत्री-चित्त में रुचि का होना ही मानस-कर्म है।

इसी प्रकार, भगवद्गना को श्रवण कर, कि सर्व दु ख है, मैं उसमें श्रद्धा उत्पन्न करता हूँ, मैं उसमे श्रभिनिविष्ट होता हूँ। श्रन्त मे, मेरी इस देशना में रुचि होती है, श्रीर मैं इस दु ख-सत्य का साक्षात्कार करता हूँ। यह सब चेतनाख्य कर्म है।

### काय-कर्म, वाक्-कर्म

ऋषियों की शुद्ध चेतना से ही फल होता है। किन्तु, सामान्यत फलप्राप्ति के लिए चेतन को काय और वाक् का समुत्थान करना होता है।

शत् के प्राणातिपात की चेतना और शत्नु का प्राणातिपात एक नहीं हैं। प्राणातिपात एक चेंप्टा-विशेष है, काय-सिन्नवेश-विशेष है, जिससे जीव के जीवन का भ्रपहरण होता है। यदि में शत्नु का वध करता हूँ, तो में उसका श्रिधक श्रपकार करता हूँ, यदि में केवल उसका उपघात करता हूँ, तो कम श्रपकार करता हूँ। मेरे द्वेष का भाव प्राणातिपात से दृढ और मवल होता है। मानिसक पूजा और भिक्त से मेरी चित्त-सन्ति वासित होती है। किन्तु, यदि मेरी भिक्त सिक्य हो, तो मेरा पुण्य श्रधिक हो। जो श्रप्रतिष्ठित देश में बुद्ध का शारीर स्तूप प्रतिष्ठित करता है, जो चातुर्विश भिक्षु-सघ को श्राराम-विहार प्रदान करता है, जो भिन्न सघ का प्रतिसन्धान करता है, वह ब्राह्म पुण्य का प्रसव करता है। श्रत, काय-विज्ञष्ति श्रीर वाग्-विज्ञष्ति का सामर्थ्य चेतना से पृथक् है।

### कर्म की परिपूर्णता, समाप्तता (परिपूरि)

चेतना क्षणिक है। किन्तु पौन पुन्येन अभ्यासवण कायवाग्विज्ञप्ति का समुत्यान करने से इसकी गुरुता होती है। अन्य शब्दों में वहु-चेतना-वण कर्म की गुरुता होती है। अत, परिसमाप्त अौर असमाप्त कर्म में विशेष करना चाहिए।

कर्म की परिपूर्णता के लिए निम्नाकित चार वातों की ग्रावण्यकता है-

प्रयोग—अर्थात्, यह ग्राशय कि मै इस-इस कर्म को करूँगा ( यह शुद्ध चेतना है। सूत्र इसे चेतना-कर्म कहता है। यहाँ चेतना ही कर्म है)।

मौल प्रयोग—तदनन्तर, पूर्वकृत सकल्प के अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद होता है। काय के मचालन या वाग्ध्विन के नि सरण के लिए यह चेतना होती है। इस चेतनावश वह प्रयोग करता है। यथा: एक पुरुष पशु के मारने की इच्छा से अपने शयन से उठता है, रजत लेता है, श्रापण को जाता है, पशु की परीक्षा करना है, पशु का क्रय करता है, उसे ले जाना है, घसीटता है, उसे अपने स्थान पर लाता है, उसके साथ दुर्व्यवहार करता है। वह शस्त्र लेकर पशु पर एक वार, दो वार प्रहार करता है। जवतक कि वह उसको मार नहीं डालता, तयतक वध (प्राणातिपात) का प्रयोग करता रहता है।

मील कर्मपथ—जिस प्रहार में यह पशु का वध करता है, ग्रर्थात् जिस क्षण में पशु मृत होता है, उस क्षण की जो विज्ञप्ति (काय-कर्म), ग्रीर उस विज्ञप्ति के साथ उत्पन्न जो ग्रविज्ञप्ति होती है, वह 'मौल कर्मपथ' है। विज्ञप्ति से सम्भूत शुभ-ग्रश्चभ रूप 'ग्रविज्ञप्ति' है। सौव्रान्तिको का कहना है कि जब वध के लिए नियुक्त पुरुष वध करता है, तब यह मान्य है कि प्रयोक्ता की वित्त-सन्तित में एक सूक्ष्म परिणाम-विश्रेप होता है, जिसके प्रभाव से यह सन्तित भविष्य में फल की ग्रभिनिष्पत्ति करती है। दो कारणो से वह प्राणातिपात के पाप से स्पृष्ट होता है—प्रयोगत ग्रीर प्रयोग के फलपरिपूरित।

पृष्ठ —वध से उत्पन्न अनन्तर के अविज्ञाप्ति-क्षण 'पृष्ठ' होते हैं, विज्ञाप्ति-क्षण की सन्तित भी 'पृष्ठ' होती है। यथा पशु के चर्म का अपनयन करना, उसे धोना, तौलना, वेचना, पकाना, खाना, अपना अनुकीर्त्तन करना।

'प्रयोग' पूर्वकृत सकल्प ग्रीर उसके अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद है। यह स्वय दूसरो का ग्रपकारक है। विधक पशु का वध करने के पूर्व उसको पीडा पहुँचाता है। 'प्रयोग' प्राय गरिष्ठ ग्रवद्य से परिपूर्ण होता है। यथा एक पुरुष काम-मिथ्याचार की दृष्टि से स्तेय (ग्रदतादान) या वध करता है।

'पृष्ठ' भील कर्मपथ का अनुवर्त्तन करता है। इसका महत्त्व है। यदि मैं हत शत्रु के विरुद्ध भी द्वेप करूँ, तो मैं द्वेपमाव की वृद्धि करता हूँ। जब 'पृष्ठ' का सर्वथा अभाव रहता है, तब मील कर्म का स्वभाव बदलता है। यदि मैं दान देकर पश्चात्ताप करूँ, तो मेरे दान के पुण्य-परिमाण में कमी होती है।

### प्रयोग श्रीर मौलकर्म

प्राणातिपात कर्मपथ के लिए मृत्यु होना श्रावश्यक है। यदि मैं घध की इच्छा से किसी पशु का उपघात करता हूँ, किन्तु वह मृत नही होता, तो प्राणातिपात नहीं है। जिस प्रहार से तत्काल या परचात् मृत्यु होती है, वह प्रहार प्राणातिपात के प्रयोग में सम्मिलित हैं। जिस क्षण में पणु मृत होता है, उस क्षण की जो विज्ञिष्ति श्रीर उस विज्ञिष्त के साथ उत्पन्न जो श्रविज्ञष्ति होता है, वह मौल कर्मपथ है। श्रत, यदि में इस प्रकार प्रहार करूँ, जिसमें

पशु की मृत्यु हो जाय, श्रौर यदि उसकी मृत्यु तत्काल न हो, श्रौर में उस पशु की मृत्यु के पहले ही मृत हो जाऊँ, तो मैं प्राणातिपात के प्रयोग से 'स्पृष्ट' होकर मृत होता हूँ, किन्तु प्राणाति-पात के मौल कर्मपथ से 'स्पृष्ट' नहीं होता । क्योंकि, जिस क्षण मौल कर्म सम्पन्न होता है, उस क्षण मैं श्रन्य होता हूँ। मैं श्रब वह श्राश्रय नहीं हूँ, जिसने प्रयोग सम्पन्न किया है। प्राणातिपात की श्राजायन-विज्ञाप्त

प्राणातिपात की आज्ञा प्राणातिपात नहीं है। प्राणातिपात तभी है, जब आज्ञा का अनुसरण हो, और यह उसी क्षण में है, जिस क्षण में आज्ञा के अनुसार कार्य होता है। एक भिक्षु दूसरे भिक्षु से अमुक का वध करने के लिए कहता है। वह अपराध करता है। दूसरा भिक्षु अमुक का वध करता है। उस समय दोनो भिक्षु एक गुरु पाप के दोषी होते हैं। इससे उनकी भिक्षुता नष्ट होती है। यदि द्वितीय भिक्षु को सज्ञा-विश्वम होता है, और वह अन्य का वध करता है, तो उस अवस्था में प्रथम का एक अपूर्व अपराध होता है, द्वितीय का गुरु पाप होता है। यदि द्वितीय भिक्षु दूसरे का वध यह जान कर करता है कि यह अन्य है, तो प्रथम का उत्तरदायित्व नहीं है।

# पुण्य-क्षेत्र

उपकार और गुण के कारण क्षेत्र विशिष्ट होता है; यथा माता को दिया दान विशिष्ट होता है, यथा शीलवान् को दान देकर शतसहस्र विपाक होता है। सब दानो में मुक्त का मुक्त को दिया दान श्रेष्ठ है। इस प्रकार, कर्मों की लघुता और गुरुता जानने के लिए क्षेत्र का भी विचार रखना होता है। पितृ-मातृवध ग्रानन्तर्य कर्म है। ग्रानन्तर्य का दोषी इस जन्म के ग्रानन्तर ही नरक में जन्म लेता है। यह 'ग्रानन्तर्य' इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि इनका फल ग्रानन्तर ही उत्पन्न होता है। किसी भिक्षु को दान देना पुण्य है पर, किसी श्राह्त को दिया गया दान महत्पुण्य का प्रसव करता है। ग्राह्त-वध ग्रानन्तर्य कर्म है।

गुण के कारण विशिष्ट आर्य पुण्य-अपुण्य के क्षेत्र है। इनके प्रति किया हुआ शुभ या श्रग्भ महत्पुण्य का प्रसव करता है।

यदि मैं यज्ञदत्त (जो आर्य नहीं है) का वध करने की इच्छा से आर्य देवदत्त की हत्या करता हूँ, तो में आर्य के वध का आपन्न नहीं हूँ, क्योंकि आश्रय के विषय में सज्ञा-विश्रम है। किन्तु, यदि मैं बुद्धिपूर्वक, विना भ्रम के आर्य देवदत्त का वध करूँ, तो मैं आर्य के प्राणातिपात का आपन्न हूँ, यद्यपि मुझको आर्यता का ज्ञान न हो।

यदि मै एक भिक्षु को, जो वस्तुतः श्रार्य है, सामान्य भिक्षु समझकर दान दूँ, तो मैं श्रमित पुण्य का भागी हूँगा। इसके विपरीत जो भिक्षु श्रपने से छोटे भिक्षु का, जिसके श्रहंत्-गुण की वह उपेक्षा करता है, पराभव करता है, वह पाँच सौ वार दास होकर जन्म लेता है।

इसीलिए ग्रार्य ग्ररणा-समाधि (कोश ३७।३६) का ग्रभ्यास करते है जिसमे उसके दर्शन से किसी में क्लेश की उत्पत्ति न हो, जिसमें उनके लिए किसी में राग-द्वेष-मानादि उत्पन्न न हो। वह जानते है कि वह अनुत्तर पुण्य-क्षेत्र हैं। उनको भय है कि कही दूसरे उनको देखकर उनके विषय में क्लेश न उन्पन्न करे (जो विशेष कर उनको हानि पहुँचावे)। उनकी अरणा-समाधि का यह सामर्थ्य है कि दूसरो में क्लेश उत्पन्न नहीं होता।

### प्रविज्ञप्ति-कर्म

ऊपर हम कह चुके हैं कि विज्ञिष्ति से सम्भूत कुशल-अकुशल रूप 'अविज्ञिष्त' है। यहाँ हम अविज्ञष्ति की व्याख्या करेगे।

'विज्ञप्ति' वह है, जो काय द्वारा या वाक् द्वारा चित्त की ग्रिभिन्यक्ति को 'ज्ञापित' करती है। प्राणातिपात-विरित का समादान (ग्रहण) जिस वाक्य से होता है, वह वाग्विज्ञप्ति है। प्राणातिपात की ग्राज्ञा, ग्रर्थात् 'ग्रमुक का वध करो' वाग्विज्ञप्ति है। काय का प्रत्येक कर्म काय-विज्ञप्ति है,।

जो प्राणातिपात की ग्राज्ञा देता है, वह विज्ञप्ति का ग्रापन्न है। जिस क्षण में विधक वध करता है, वह काय-विज्ञप्ति का ग्रापन्न होता है। किन्तु, हम कह चुके हैं कि प्राणातिपात की ग्राज्ञा देनेवाला उस क्षण में वध नामक कायिक विज्ञप्ति का ग्रापन्न होता है, जिस क्षण में उमकी ग्राज्ञा का ग्रनुवर्त्तन कर वध होता है। उस क्षण में वह किम प्रकार का कर्म करता है? उस समय वह ग्रन्य कार्य में व्यापृत होता है। कदाचित् वह ग्रपनी ग्राज्ञा को भी भूल गया है। वह उस समय पाप-चित्त से सम्प्रयुक्त नहीं है। ग्रत, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वध के क्षण में ग्राज्ञा देनेवाले में ग्रविज्ञप्ति-कर्म की उत्पत्ति होती है। यह कर्म कुछ 'ज्ञापित' नहीं करता, तथापि यह विज्ञप्ति के समान वस्तुमत् है। यह ग्रविज्ञप्ति कायिक ग्रविज्ञप्ति कहलाती है। यद्यपि यह वाग्विज्ञप्ति (प्राणातिपात की ग्राज्ञापन-विज्ञप्ति) से सम्भूत होती है, क्योंकि यह काय-विज्ञप्ति (वध-कर्म) के क्षण में उत्पन्न होती है।

जिस सत्त्व ने प्रातिमोक्ष-सवर का समादान किया है, वह नि सन्देह ग्रन्य से भिन्न है। जिस भिक्ष ने प्राणातिपात-विरित का समादान किया है, वह उससे कही श्रेष्ठ है, जो सुग्रवसर न पाने के कारण प्राणातिपात से विरत है, किन्तु जो प्रवनर पाने पर वध करेगा। निद्रा की ग्रवस्था में भी भिक्षु, भिक्षु ही रहता है। ग्रतः, हमको स्वीकार करना पडता है कि "मैं प्राणातिपात से विरत होता हूँ", यह वाग्विज्ञप्ति एक ग्रविज्ञप्ति का उत्पाद करती है। यह विज्ञप्ति के सदृण दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं नरनी। इसका ग्रनुवन्ध है। निद्रा में, ग्रसज्ञिसमापित ग्रीर निरोध-समापित में यहाँतक कि विक्षिप्त चित्त में भी, इसकी वृद्धि होनी रहती है। यह एक सेतु है, जो दौ जीस्य का प्रति-

१ 'सतर' विरित्त को कहते हैं। स वर वह है, जो दो शील्य-प्रवन्ध का सत्ररण करता है। प्रातिमोक्ष-संवर इस लोक के सत्त्वों के शील को कहते हैं। यह श्राठ प्रकार का है—िमक्षु भिक्षुणी, श्रामणेर, श्रामणेरिका, उपासक, उपासिका, शिक्षमाण श्रीर उपवसंध का स वर।

बन्धक है। इसी प्रकार जिसका व्यवसाय वध करना है, वह सदा प्राणातिपात का ग्रविज्ञप्ति-कर्म करता रहता है।

भिक्षु की अविज्ञप्ति 'सवर' है, विधक की अविज्ञप्ति 'असवर' है। व्रत-समादान से 'सवर' का ग्रहण होता है। प्राणातिपात की जीविका होने से असवर का ग्रहण होता है। श्रथवा यदि कोई 'असवरस्थ' के कुल में जन्म लेता है, या यदि प्रथम वार पापकर्म करता है, तव असवर का ग्रहण होता है। इसके लिए कोई विधिपूर्वक असवर का ग्रहण नहीं करता। सदा पाप-किया के अभिप्राय से कर्म करने से असवर का लाभ होता है।

क्या कोई विना कायिक या वाचिक कर्म के, विना किसी प्रकार का विज्ञापन किये, मृषावादावद्य से स्पृष्ट हो सकता है हाँ, भिक्ष भिक्षु-पोषध ( उपवास ) में तूष्णीभाव से मृषावादी होता है। वस्तुत, भिक्षु-पोषध में विनयधर प्रश्न करता है—"क्या ग्राप परि-शुद्ध है ?" यदि भिक्षु की कोई ग्रापत्ति (दोष) है, ग्रोर वह उसे ग्राविष्कृत नहीं करता, ग्रीर तूष्णीभाव से ग्रधिवासना (ग्रनुमोदन) करता है, तो वह मृपावादी होता है। किन्तु, भिक्षु काय-वाक् से पराक्रम (ग्राक्रमण, मारण) नहीं करता, इसलिए विज्ञाप्ति नहीं है, ग्रोर कायावचरी ग्रविज्ञप्ति वहाँ नहीं हो सकती, जहाँ विज्ञप्ति का ग्रभाव है। इसका समाधान होना चाहिए।

सघभद्र समाधान करते हैं। वह कहते हैं कि अपरिशुद्ध भिक्षुसघ में प्रवेश करता है, बैठता है, अपना ईर्यापथ किल्पत करता हैं। यह उसकी पूर्वविज्ञप्ति हैं। यह कायिक विज्ञप्ति मुषावाद की वाक्-अविज्ञप्ति का उत्पाद उस क्षण में करती हैं, जिस क्षण में वह उस स्थान पर खडा होता है।

केवल चेतना (ग्राशय) ग्रीर कर्म ही सकल कर्म नहीं है। कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा। इससे एक ग्रपूर्व कर्म, एक ग्रविज्ञप्ति होती है।

श्रत, दान का पुण्य दो प्रकार का है— वह पुण्य, जो त्यागमात से ही प्रसूत होता है (त्यागान्वय-पुण्य), श्रीर वह पुण्य, जो प्रतिग्रहीता द्वारा दानवस्तु के परिभोग से सम्भूत होता है (परिभोगान्वय-पुण्य)। एक सत्त्व भिक्षु को दान देता है। चाहे वह भिक्षु उस दानवस्तु का परिभोग न करे, चाहे वह दिये ग्रन्न को न खाये, तथापि मत्त्व का त्याग जो विज्ञप्ति है, पुण्य का प्रसव करता है। चैत्य को दिया दान त्यागान्वय-पुण्य हैं। इसी प्रकार, मैं ती ब्रह्मविहार में किसी की प्रीति नहीं होती, श्रीर न किमी पर श्रनुग्रह होता है, तथापि मैं ती-चित्त के वल से त्यागान्वय-पुण्य प्रसूत होता है। किन्तु, यदि भिक्षु दान-वस्तु का परिभोग करता है, श्रीर उससे उपकृत हो उसमे समापत्ति में प्रवेश करने की शक्ति उत्पन्न होती हैं, तो इमसे एक श्रविज्ञप्ति का उत्पाद होता हैं, जिमका पुण्य दानकृत श्रनुग्रह की मादा के श्रनुमार होता हैं।

# दैव श्रीर पुरातन कर्म

कर्म चेतना तथा चेतनाकृत शरीर-चेष्टा श्रौर वाग्ध्विन है। इससे कर्म-स्वातन्त्य का स्वभाव प्रकट होता है। कर्म मानस, कायिक श्रौर वाचिक है। कर्म के यह प्राचीन भेद है, यह भी यही सिद्ध करते है।

किन्तु, सब इस स्वातन्त्य को नहीं मानते। ईग्वरवादी यह कहते हैं कि ईग्वर सत्त्वों के कमों का विधायक है। नियतिवादी कहते हैं कि दैव जीव को कर्म में नियोजित करता है, जैसे वह सुख-दु ख का देनेवाला है। दैव क्या है या तो यह यदृच्छा है, भर्यात हमारे कर्म अकारण होते है, या यह पुरातन कर्म है 'दैव पुरातन कर्म' (वोधिचर्यावतार, दाद्व)। इस जन्म के हमारे कर्म पूर्वजन्म-कृत कर्मों के फल हैं।

किन्तु यदि हम स्वतन्त्र नहीं हैं, तो हम पाप-क्रिया नहीं कर सकते और यदि यदृच्छावश, ईश्वरेच्छावश, पुरातन कर्मवश हमारे कर्म होते हैं, तो हम स्वतन्त्र नहीं है। जातकमाला (२३) में निम्न पाँच वादो का निराकरण है। सब अहेतुक हैं, सब ईश्वराधीन है, सब पुरातन कर्म के आयत्त है, पुनर्जन्म नहीं है, वर्ण-धर्म का सबको पालन करना चाहिए।

किन्तु, ग्रपने प्रतिवेशी के स्वातन्त्य में विश्वास नहीं करना चाहिए। ग्रगुत्तर (३।६६) के ग्रनुसार "जब एक भिक्षु किसी सब्रह्मचारी को ग्रपने प्रति ग्रपराध करते देखता है, तब वह विचारता है कि यह 'ग्रायुष्मान्' जो मेरा ग्राकोश करता है, पुरातन कर्म का दायाद है।" विद्या ग्रीर चेतना

हमने कहा है कि कर्म मुख्यत चेतना है। सर्वास्तिवादियों के अनुसार छन्द (=कर्त्तु-काम्यता या अनागत की प्रार्थना), मनसिकार (चित्त का आभोग, आलम्बन में चित्त का आवर्जन, अवधारण) और अधिमोक्ष ( आलम्बन का गुणावधारण) चेतना के सहभू है। इनमें व्यायाम, निश्चय और अध्यवसाय जोडिए। इनमें नितर्क जोडिए, जो छन्द के अनन्तर उत्पन्न होता है और जो कभी चेतना का प्रकार-विशेष है, और कभी प्रज्ञा का प्रकार-विशेष है।

मर्वास्तिवादियों के अनुसार चेतना एक चैत्त हैं, अर्थात् चित्त-महगत धर्म हैं। किन्तु, पचेन्द्रियविज्ञान (चक्षुर्विज्ञान कायविज्ञान) में चेतना अत्यधिक दुर्वल होती हैं, और मनोविज्ञान में पटु होती हैं। मनोविज्ञान, आलम्बन और आलम्बन का नाम, दोनों जानता है। यह मनोविज्ञान हैं, जो चक्षुर्विज्ञान से अभिसंस्कृत हो वर्णों की ओर प्रवृत्त होता हैं, और इन्द्रियविज्ञान से पृथक् स्मृति-विषय की ओर प्रवृत्त होता हैं। यह चेतना हैं। यह सर्वचित्तगत हैं।

किन्तु, सब मनोविज्ञान चेतना नही है। जिस चेतना को भगवान् 'मानस कर्म' कहते है, वह विणेष प्रकार का मनोविज्ञान है। यह एक मनिसकार है, जो चित्त ग्रीर कर्म का ग्रभिसस्कार करना है। चेनना चित्त को श्राकार-विणेष प्रदान करती है, श्रौर प्रतिसिन्ध-( = उपपत्ति ) विशेष के योग्य बनाती है। क्लेश का विपाक तभी होता है, जब यह चेतना का समुत्थापक होता है। चेतना कर्म का स्रिमस्कार करती है। इसी के कारण शरीर-चेष्टा शुभ या अशुभ होती है। जब प्राणातिपात चेतना, सचेतना या अभिसचेतना से उत्पादित होता है, तब इसका विपाक नरकोपपत्ति होती है। बुद्धिपूर्वक होने से ही कर्म अभिसस्कृत होता है। यदि कोई यह समझकर कि वह धान्य दे रहा है, सुवर्ण देता है, तो सुवर्ण का दान तो हुआ, किन्तु यह सुवर्ण-दान के कर्म मे अभिसस्कृत नहीं होता, क्योंकि सुवर्ण-दान की चेतना का अभाव है।

प्रत्येक कर्म के लिए एक मनसिकार चाहिए। एक इण्ट विषय दृष्टिगोचर होता है। में वीतराग नहीं हैं। रागानुशय का ममुदाचार होता है। में उस वस्तु के लिए प्रार्थना करता हैं। यदि मैं महसा विना विचार किये उसको ग्रहण करता हैं, तो यह कर्म नहीं है, क्योंकि कोई चेतना नहीं है। ग्रालम्बन में मेरे चित्त का ग्रावर्जन होता है। मैं उपनिध्यान करता हूँ। यह दो प्रकार के हैं— १ योनिशो मनसिकार, २ ग्रयोनिशो मनसिकार।

योनिशो मनसिकार—-ग्रनित्य को श्रनित्य, श्रनात्म को ग्रनात्म, ग्रमुभ को प्रमुभ, इस सत्यानुलोमिक नय से चित्त का समन्वाहार, ग्रावर्जन 'योनिशो मनिमकार' है (योनि = पथ)।

श्रयोनिशो मनसिकार -- श्रनित्य को नित्य इत्यादि से चित्त का उत्पथ श्रावर्जन है। पहले इष्ट विषय के यथार्थ स्वभाव का सन्तीरण (सम्यक् विचार-विमर्ण) होता है। तदनन्तर जो कर्म होता है, वह कुणल है। दूसरे पक्ष मे मनिसकार उत्पथ है, कर्म भी श्रकुशल है। फुशल-श्रकुशल मूल

कुगल ( गुभ )-कर्म क्षेम है, क्यों कि इसका उष्ट-विपाक है, इसलिए यह एक काल के लिए दु ख से परित्राण करता है ( कुगल सास्त्रव )। श्रथवा यह निर्वाण-प्रापक है, श्रीर इसलिए दु ख से श्रत्यन्त परित्राण करता है ( ग्रनास्रव कुगल )। श्रकुगल (ग्रणुभ)-कर्म श्रक्षेम है, इनका श्रनिष्ट विपाक है।

लौकिक शुभ कर्म का पुण्य-विपाक होता है। उसका विपाक सुख, अभ्युदय ग्रौर सुगति है।

लोकोत्तर कर्म ग्रनास्रव है। ग्रत, यह पुण्य-ग्रपुण्य से रहित है, ग्रर्थात् ग्रविपाक है। यह हित, परम पुरुषार्थ, ग्रर्थात् दुख की ग्रत्यन्त निवृत्ति का उत्पाद करता है। यह निर्वाण परम गुभ है, क्योंकि यह रोग के ग्रभाव के समान मर्वथा शान्त है।

ग्रत , जिसका दु ख-विपाक है, वह ग्रकुणल है, जिसका मुख-विपाक है, या जिसका विपाक नि श्रेयस् है (स्वर्ग, ध्यान-लोक, निर्वाण), वह कुणल है। सम्यक् दृष्टि, जो निर्वाण-प्रापक है, ग्रुभ है, यह निर्वाण का ग्रावाहन करती है, क्योंकि यह मत्य है। वैराग्य जो ध्यानो-पपत्ति का उत्पाद करता है, ग्रुभ है, क्योंकि जिन वस्तुग्रों से योगी विरवत होता है, वह ग्रांदा-

रिक (= स्थूल), पृथग्जनोचित ग्रीर दु खपूर्ण हैं। पुण्य-कर्म, जो स्वर्ग का उत्पाद करता है, इसलिए शुभ नहीं हैं कि वह स्वर्ग का उत्पाद करता है, किन्तु इसलिए कि वह धर्मता के (धर्मों की ग्रनादिकालिक शक्ति) यथार्थ ज्ञान की ग्रपेक्षा करता है, क्योंकि यह द्वेप तथा परस्वहरण की इच्छा से रहित है। पुन दु ख का उत्पाद कहना ग्रकुशल कर्म का स्वभाव ही है।

कुशल मूल ग्रात्मत कुशल है, इनसे मम्प्रयुक्त चेतना ग्रीर चित्त सम्प्रयोगत कुशल है। ग्रात्मत कुशल या सम्प्रयोगत कुशल धर्मों से जिनका समृत्थान होता है, ऐसे काय-कर्म, वाक्-कर्मादि उत्थानत कुशल है। लोभ, द्वेप, मोह ग्रकुशल मूल है।

मोह, विपर्यास, मिथ्याज्ञान, दृष्टि है। ग्रमोह इसका विपर्यय है। यह सम्यक् दृष्टि, विद्या, ज्ञान, प्रज्ञा है। ग्रलोभ लोभ का ग्रभाव नहीं है, ग्रहेष हेप का ग्रभाव नहीं है, यथा ग्रमित्र 'शत्रु' को कहते हैं, ग्रनृत 'ग्रसत्य' को कहते हैं। इसी प्रकार, ग्रलोभ लोभ का प्रतिपक्ष है, ग्रहेप हेप का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार ग्रविद्या विद्या का प्रतिपक्ष है, विद्या का श्रभाव नहीं है।

मूलत्रय का सम्बन्ध—लोभ ग्रीर हैप का हेतु मोह है। हम राग-द्वेप केवल इसलिए करते है कि इब्ट-ग्रनिष्ट के स्वभाव के विषय में हमारा विषयांस है। किन्तु, पर्याय से राग-द्वेष भी मोह के हेतु है। जो पुद्गल राग-द्वेषवश पाप-कर्म करता है, उसका विश्वास होता है कि पुनर्जन्म में पाप का दु खविपाक नही होता। मोह से कर्म का ग्रारम्भ नही होता, किन्तु जो पुद्गल पाप-कर्म के विषाक में प्रतिपन्न नहीं है, वह राग या द्वेषवश ग्रवद्य करेगा।

मूलों का समुच्छेद—सव पुद्गल पुद्गल-भाव के कारण कुशल-अकुशल के भव्य है, क्योंकि उनमें कुशल-अकुशल मूल की प्राप्ति है। यह वात नहीं है कि इन सब मूलों का सदा समुदाचार होता रहता है, किन्तु वाह्य प्रत्ययवश ( यथा इष्ट या अनिष्ट वस्तु का दर्शन ) इनका समुदाचार नित्य हो सकता है। हम उन पुद्गलों का वर्जन करते हैं, जिनके कुशल-अकुश मूल का समुच्छेद हुआ है।

कतिपय कर्म या लौकिक ध्यान से योगी श्रकुशल मूलो का तात्कालिक समुच्छेद करता है। निर्वाण-मार्ग से वह इनका श्रात्यन्तिक ममुच्छेद करता है।

मिथ्यादृष्टिवण कुणल मूल का समुच्छेद होता है, किन्तु ममुच्छिन्न कुणल मूल का पुनरुत्पाद हो सकता है। इसलिए, कुणल ग्रकुणल से वलवत्तर है।

हेप-श्रहेप-हेप सदा ग्रकुणल है। हेप-कर्मी का विपाक दु खमय होता है। हेप तथा ईप्यां, कोध ग्रीर तज्जनित मर्वक्लेण, प्राणातिपात, उपघान, पारुप्य, पंणुन्य का मूल है। श्रत, इससे पर का विघात, दु ख होता है। ग्रवद्य वह है, जो, दूसरे का श्रपकारक है।

द्वेष अकु शल हैं, क्यों कि यह उसका अपकारक हैं, जो द्वेप करता है। यह चित्त का दूपक है। द्वेप दोप हैं। जो द्वेप या ईर्ष्या करता हैं, वह स्वय दु खी होता हैं। वह स्वभावतः

दौर्मनस्य से सम्प्रयुक्त है, ग्रत द्वेष उस समय भी ग्रकुशल है जब वह परापकार नही करता। क्रोध सत्त्व (जीव), ग्रसत्त्व के विरुद्ध ग्राघात (चित्त-प्रकोप) है।

अद्देष प्राणातिपातादि से विरित है, यह क्षान्ति है। इसके अन्तर्गत दान, सूनृता वाक्, लोक-सग्रह के कार्य, सघ-सामग्री (सघ को समग्र रखना, उसमें भेद न होने देना) मैत्नी-भावनादि (मैत्नी, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, यह चार ब्रह्मविहार) है। सामान्य श्रार्यों की मैत्नी श्रद्धेष है। बुद्ध की मैत्नी लोकोत्तर प्रज्ञा है श्रीर श्रमोह-स्वभाव है।

लोभ-ग्रलोभ — लोभ त्रकुशल मूल है। ग्रलोभ, निर्वेद, विराग, कुशल मूल है।

लोभ वह छन्द है, जो दूसरे के दुख का हेतु होता है। ग्रिभध्या, ग्रदत्तादान ग्रौर कामिमध्याचार लोभज है। ईर्ष्या, पैशुन्य, प्राणातिपात ग्रौर द्वेष-हेतुक सर्व ग्रवद्य ग्रप्रत्यक्ष रूप से लोभ से प्रवृत्त होते है।

ग्रत, लोभ राग से ग्रन्य है। राग तभी श्रकुशल होता है, ग्रीर दुख-विपाक का उत्पाद करता है, जब वह सावद्य होता है। या तो वह दूसरे का ग्रपकार करता है, यथा परस्त्रीगमन, मासाहार के लिए पश्रुवध, या ग्रपना ही ग्रपकार करता है, यथा मद्यपान करनेवाला, जो शिक्षापदो (ग्रदत्तादानादि) की रक्षा नहीं करता, ग्रथवा वह ही के नियमों का भग (ग्रपनी स्त्री के साथ, ग्रयोनिमार्ग से, ग्रयुक्त स्थान मे, ग्रकाल में सम्भोग) करता है। वस्तुत, यदि सब श्रकुशल कर्म ऐहिक सुख के निमित्त किया जाता है, तो इसका विपर्यय ठीक नहीं है। कुछ कामसुख उचित है। इनका परिभोग ही ग्रीर श्रपत्राप्य की हानि के विना हो सकता है। ग्रात्मगौरव को देखकर, जो लज्जा होती है, वह ही है, ग्रीर परगर्हा के भय से जो लज्जा होती है, वह श्रपत्राप्य है।

यदि कितपय कामावचर काम-सुख मे राग मना नही है, तो ग्रनागत जन्म के सुख मे, स्वर्ग के सुख मे, ग्रनुरक्त होना ग्रौर भी मना नही है। यह राग शुभ है, क्यों कि यह पुण्यकर्म का हेतु है। किन्तु, यह काम-राग है इसलिए यह समाधि, ध्यान तथा सत्य-दर्शन द्वारा निर्वाण-मार्ग के प्रवेश मे प्रतिवन्ध है।

समापत्ति-राग ग्रौर ध्यान-लोकोपपत्ति-सुख मे राग कामसुख नही है, किन्तु भवराग है। दो ऊर्ध्व धातुग्रो के प्रति जो राग होता है, उसके लिए ही भवराग सज्ञा है। इसे भवराग इसलिए कहते है, क्योंकि इसकी ग्रन्तमुं खी वृत्ति है, ग्रौर इस सज्ञा की व्यावृत्ति के लिए भी कि यह दो धातु मोक्ष है, इसे भवराग कहते है। यह राग णुभ है। इसे लोभ नहीं कहना चाहिए, यद्यपि यह तृष्णा है। यह कुशल-धर्मच्छन्द है, क्योंकि कामसुख से यह विरक्त है।

त्रलोभ, विराग, ग्रात्यन्तिक रूप से मदा कुणलमूल है। यह काममुख ममापत्ति तथा निर्वाण-मार्ग से भी वीतराग होता है। , निर्वाण का प्रतिलाभ लोभ के निरोध से होता है। निर्वाण की इच्छा करना क्या लोभ नहीं है रे ग्रागम कहता है, निर्वाण-मार्ग का भी प्रहाण करना चाहिए। इसका ग्रर्थ यह है कि जो वैराग्य निर्वाण का ग्रावाहन करता है, उसमें राग नहीं होना चाहिए।

मार्ग कोलोपम (कोल = रैफ्ट, तमेड) है। उसका ग्रवश्य त्याग होना चिहए, किन्तु निर्वाण का त्याग नहीं होना चाहिए। वस्तुत, निर्वाण की इच्छा ग्रन्य इच्छाग्रों से भिन्न है। इसे 'लोभ या तृष्णा' नहीं कहना चाहिए। ग्रन्य इच्छाएँ स्वार्थपर होती हैं। उनमें ममत्व होता है। निर्वाण की इच्छा ऐसी नहीं है। न यह भव-तृष्णा है, न विभव-तृष्णा, क्योंकि यद्यपि निर्वाण वस्तुमत् है, तथापि परिनिर्वृत (जिसका परिनिर्वाण हो गया है) के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसका ग्रस्तित्व नहीं है। निर्वाण ग्रनिमित्त है। यह वस्तु निरिभनाष्य, ग्रनिर्वचनीय स्वभाव है।

मोह श्रीर सम्यग् दृष्टि—तृतीय अकुशलमूल मोह है। अमोह, सम्यग् दृष्टि, धर्म-प्रिवचय, प्रज्ञा का यह प्रतिपक्ष हैं। मोह श्रीर श्रज्ञान में विशेष करना चाहिए। मोह क्लिष्ट श्रज्ञान हैं। यह देप श्रीर राग का हेतु हैं, किन्तु श्रज्ञान श्रक्लिष्ट हो मकता है; यथा श्रायों का श्रज्ञान। केवल वुद्ध ने ही श्रक्लिष्ट श्रज्ञान का मर्वथा ग्रत्यन्त विनाण किया है, श्रन्य बुद्ध धर्मों को, ग्रतिविष्रकृष्ट देण श्रीर काल के श्रयों को तथा श्रयों के श्रनेक प्रभेदों को नहीं जानते। श्रायं वस्तुश्रों के मामान्य लक्षणों (उनकी श्रनित्यता श्रादि) को जानते है। इसी श्रयं में बुद्ध ने कहा है कि—"में कहता हूँ कि यदि एक धर्म का भी श्रिभममय (सम्यग् ज्ञान) न हो, तो निर्वाण का प्रतिलाभ नहीं हो सकता।" किन्तु, बहुत कम वस्तुश्रों के स्वलक्षण का उनको ज्ञान होता है। कुछ तीर्थिकों का मत है कि बुद्ध की सर्वज्ञता का केवल इतना श्रयं है कि यह सर्वज्ञता मोक्षविषयक ही है।

मर्वमोह क्लिष्ट है, किन्तु मर्वमोह ग्रकुणल, पापदृष्टि नही है। मोह ग्रकुणल है, जब उमका स्वभाव ग्रपुण्य कर्म का उत्पाद करना है।

इसी प्रकार, सम्यग् दृष्टि, जो मोह का प्रतिपक्ष है, कई प्रकार की हैं। सामान्य जन की सम्यग् दृष्टि ग्राशिक होती है। वे प्रधानतः पुनर्जन्म ग्रौर कर्म-विपाक में विश्वास करते हैं। विविध ग्रायों को ग्रधिक या कम मत्य-दर्शन की प्राप्ति होती हैं। लौकिक दृष्टि के चार प्रकार है। उनके ग्रनुरूप सम्यग् दृष्टि के भी चार प्रकार है।

श्रकुशल मोह जो श्रपाय-गति ( नरक, प्रेत, तिर्यक् ग्रौर श्रमुर का उत्पाद करता ) है, वह इम प्रकार हैं — १. मिध्यादृष्टि, २ शीलव्रतपरामर्श ।

एक मोह है, जो अकुणन नहीं है--आत्मप्रतिपत्ति।

अकुशल मोह में सबसे प्रथम स्थान मिथ्यादृष्टि का है। सब दृष्टियाँ जो मिथ्याप्रवृत्त हैं, मिथ्याटृष्टि है, किन्तु मिथ्यादृष्टि को ही यह सज्ञा प्राप्त हैं, क्योंकि यह सबकी अपेक्षा अधिक मिथ्या हैं, यथा अत्यन्त दुर्गन्ध को 'दुर्गन्ध' कहते हैं। यह नास्ति-दृष्टि हैं, यह अप- वादिका दृष्टि है, जो दु खादि सत्य वस्तुसत् का अपवाद करती है। अन्य दृष्टियां समारोपिका हैं। बौद्ध उसको नास्तिक कहते है, जो कहते है कि "न दान है, न इष्टि, न हुत, न णुभ कर्म, न अशुभ कर्भ, न माता, न पिता, न इहलोक है, न परलोक है, औपपादुक मत्त्व (जिसकी उत्पत्ति रज-वीर्य से नही होती) नही है, अर्हत् नही है।" किन्तु, अपवादो मे सबसे व्रा हेतु-फल का अपवाद है। 'न कुशल-कर्म है, न अकुशल-कर्म है। यह हेतु का अपवाद है। 'कुशल-कर्म का विपाक-फल नहीं है।' यह फल का अपवाद है। मिथ्यादृष्टि अकुशल क्यो है? वस्तुत, अकुशल वह है, जो नरक-यातना का उत्पाद करता है, जो परापकार करता है। कारण यह है कि जो पुद्गल पाप के फल में विश्वास नहीं करता, वह मर्व अवद्य के करने को अस्तुत रहता है। उसकी ही और अपवाप्य की हानि होती है।

मिथ्यादृष्टि कुशलमूल का समुच्छेद करती है। ग्रिधमालाधिमाल कुशलमूल-प्रकार मृदु-मृदु मिथ्यादृष्टि से समुच्छित्र होता है । श्रौर इसी प्रकार, मृदु-मृदु कुशलमूल-प्रकार ग्रधि-मात्राधिमाल मिथ्यादृष्टि से समुच्छित्र होता है। कुणलमूलो का ग्रस्तित्व तवतक रहता है, जबतक उसका समुच्छेद नही होता। नारकीय सत्त्व जन्म से पूर्वजन्म की स्मृति रखते है। पश्चात् वह दु.ख-वेदना से अभ्याहत होते हैं। अत , उनमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की वृद्धि नहीं होती। उनकी मिथ्यादृष्टि भी नही होती, जो कुशलमूल का ममुच्छेद करती है, क्योंकि श्रापायिको (दुर्गति को प्राप्त होनेवालो) की प्रजा चाहे क्लिप्ट हो या श्रक्लिप्ट, दृढ नही होती। कुछ का ऐसा मत है कि स्त्रियाँ भी मूलच्छेद नहीं करती, क्योकि उनके छन्द और प्रयोग मन्द होते है। पुरुषो मे केवल दृष्टिचरित छेद करता है, तृष्णाचरित नही, क्योकि दृष्टिचरित का आशय, पाप, गूढ और दुढ होता है, और तृष्णाचरित का आशय चल है। इमी प्रकार, पण्डादि कुशलमूल का समुच्छेद नही करते, क्योंकि वह तृष्णाचरित पक्ष के है, क्योंकि उनकी प्रज्ञा आपायिकों के तुल्य दृढ नहीं होती। देव भी समुच्छेद नहीं करते, क्योंकि उनको कर्मफल का प्रत्यक्ष होता है। अचिरोपपन्न देवपुत्र विचारता है कि "मै कहाँ से च्युत हुआ ? कहाँ उत्पन्न हुआ हूँ और किस कर्म से ?" वह मिण्याद्ष्टि मे पतित नहीं होता, जिसने कुशलमूल का ममुच्छेद किया है, वह कुशल के ग्रभव्य हैं। वह देव ग्रीर ग्रकुशल छन्द मे अभिनिविष्ट होता है। किन्तु, उसमे इस विचिकित्सा या विमित का उत्पाद होता है कि कदाचित् अवद्य है, कदाचित् कर्म का विपाक है, अथवा उनको यह निश्चय होता है कि अवद्य है और हेतु-फल अवश्य होते है, तव कुशलमूल होते है।

किन्तु, जिस ग्रानन्तर्यकारी ने कुशलमूल का ममुच्छेद किया है, वह दृष्टधर्म (इम जन्म) में कुशलमूल का ग्रहण करने के लिए ग्रभव्य है। किन्तु, वह नरक से च्यवमान हो, या नरक में उपपद्यमान हो, ग्रवश्य 'ही उससे पुन नमन्वागत होगा। दो प्रकार है ' १ जिसने स्वत. मिथ्यादृष्टि का सन्मुखीभाव किया है, २ जिसने ग्रययार्थ णास्ता का ग्रन्-सरणमात्र किया है।

#### शीलव्रत-परामर्श

ग्रहेतु में हेतुदृष्टि, ग्रमार्ग में मार्गदृष्टि, शीलवत-परामर्श है। ग्रथात्, महेश्वर, प्रजापित या किसी ग्रन्य को, जो लोक का हेतु नही है, लोक का हेतु मानना, ग्रिन-प्रवेश या जलप्रवेश इन ग्रात्महत्या के ग्रनुष्ठानो के फल को स्वर्गोपपित मानना, शीलवतमात्रक को जो मोक्षमार्ग नही है, मोक्षमार्ग ग्रवधारित करना, तथा योगी ग्रीर साख्यो के ज्ञान को, जो मोक्षमार्ग नही है, मोक्षमार्ग मानना एवमादि। जो दृष्टि शीलवतमात्रक में बहुमान प्रदर्शित करती है, वह दृष्टि शीलवत-परामर्श कहलाती है।

यह दृष्टि दूसरे का अपकार करती है, यथा पशुयज्ञ मे; अपना अपकार करती है, यथा गोशील,श्वानशील के समादान के कष्ट, आत्महत्या का कष्ट। किन्तु, इसका सबसे अधिक दोष यह है कि यह स्वर्ग और निर्वाण के द्वार को पिनद्ध करती है, क्योंकि यह अमार्ग को मार्ग अवधारित करती है।

यह समझना कि प्रार्थना ग्रीर तीर्थयाता से पुत्रलाभ होता है, मूर्खता है। यदि प्रार्थना पर्याप्त होती, तो प्रत्येक के चक्रवर्त्ती राजा के तुल्य सहस्र पुत्र होते। तीन हेतु हो, तो गर्भाव-क्रान्ति होती है, माता नीरोग ग्रीर ऋतुमती हो, माता-पिता मैथुन-धर्म करे ग्रीर गन्धर्व प्रत्युपस्थित हो।

यह समझना कि मृतक-सस्कार, स्तोत्न-पाठ और मन्त्र -जप से मृत को स्वर्ग का लाभ होता है, घोर मूर्खता है।

स्नान से पाप का ग्रपकर्षण नहीं होता। यदि जल से पाप-क्षालन होता, तो मकरों की स्वर्ग में उत्पत्ति होती (थेरगाथा, २३६)। "जल से शुद्धि नहीं होती। वहीं शुद्ध, यथार्थ ब्राह्मण है, जो मत्यवादी है" (उदान, ११६)। किसी ने वृद्ध से पूछा—क्या श्राप बाहुका नदी में स्नान करते हैं वृद्ध — वाहुका में स्नान करने से क्या होगा प्रशनकर्ता—यह पुण्य ग्रीर मोक्ष की देनेवाली नदी है, बहुजन उसमें स्नान करके श्रपने पापों का प्रक्षालन करते हैं। किन्तु बृद्ध कहते हैं कि पवित्व नदियों में स्नान करने से किल्विष करनेवाला मनुष्य शुद्ध नहीं होता। जो शुद्ध है, उसका उपोसथ है, उसका ब्रत सदा सम्पन्न होता है। हे ब्राह्मण गया जाकर क्या होगा तुम्हारे लिए कूप ही गया है। यही स्नान करों। सर्वभूतों का क्षेम करों। मृषावाद न करों, प्राणी की हिसा न करों, श्रद्धायुक्त ग्रौर मात्मर्य-रहित हों (मज्झम, ११३६)।

मोक्ष ग्रौर विशुद्धि के उपाय है—जिनका प्रयोग श्रमण ग्रौर प्रव्नजित करते हैं। ग्रन्य तीर्थिक, वाह्यक, गोशील, श्वानशील ग्रादि का समादान करते हैं। वह तृण चरते हैं, विष्ठा खाते है इत्यादि। ग्रन्य ग्रगच्छेद, जलाग्नि-प्रवेश पर्वत-निपात, ग्रनशन-मरण ग्रादि कष्टप्रद ग्रनुष्ठान करते हैं। इनसे स्वर्गोपपत्ति या मोक्ष का लाभ नहीं होता। इनसे नारक दुःख ही होता है। संघाटि के धारणमात्र से श्रमण नहीं होता, श्रचेलकमात्र से श्रमण नहीं होता (मिज्झमनिकाय, १।२८१)।

किन्तु, शुभ मगल, व्रत, अनुष्ठान का कुछ उपयोग है। कितपय विद्याओं से ऋदि का प्रतिलाभ होता है। इनसे परिचित्त का ज्ञान होता है, ऋदिप्रातिहार्य होता है, अभिज्ञाओं की सिद्धि होती है, किन्तु यह अकुशल है। वृद्ध ने कुछ अनुष्ठानों को गिर्हित वताया है, यथा अचेलक रहना, श्वानशील का समादान करना। यदि शीलव्रत को मोक्ष का साधन समझे, तो सब प्रकार के शीलव्रत निन्द्य है, किन्तु चित्त सशोधन के लिए तथा निर्वाण के लिए कई अनुष्ठान आवश्यक है। वह भिक्षु प्रशमा का पाव्र है, जो कहता है कि——''मैं इम पर्य कन्यासन को भिन्न नहीं करूँगा, जबतक में आस्रवों से चित्त को विमुक्त न कर लूँगा'' (मिष्डिम-निकाय, १।२१६)। बौद्धधर्म में जलप्रवेश, अग्निप्रवेश, अन्यन-मरण मना है।

हम यहाँ अनेक मिध्यादृष्टियों को गिनाते हैं, जो शीलवत-परामर्ण और दृष्टि-परामर्ण के अन्तर्गत हैं। वमुबन्धु विभाषा के अनुसार मोहज प्राणातिपात, अदत्तादानादि का उल्लेख करते हैं यथा पशुयज्ञ को एक धार्मिक अनुष्ठान समझकर पणुवध करना, यथा धर्मपाठकों के अधिकार से राजा दुष्टों के स्व का अपहरण करता है, यथा वहुत-से लोग विश्वास करते हैं कि सर्प-वृश्चिकादि के वध की आज्ञा है; क्योंकि यह पशु-अपकारक है। वह समझते हैं कि आहार के लिए वन्य-पशु गो-वृषभ, पक्षी और महिष को मारने में पाप नहीं है। कुछ जातियों में यह विश्वास है कि वृद्ध और व्याधित माता-पिता के वध से पाप नहीं होता, किन्तु पुण्य होता है, क्योंकि मरण से उनको अभिनव और तीक्ष्ण इन्द्रियों का लाभ होगा। ब्राह्मण यज्ञ के लिए पशु का वध करते हैं, और विश्वास करते हैं कि पशु की स्वर्ग में उपपत्ति होती है। उनके धर्मपाठक कहते है कि दुष्टों को दण्ड देना राजा का मुख्य पुण्य-कर्म है। यह स्तेय और मृपावाद को युक्त सिद्ध करते हैं। वह कहते हैं कि—"उपहास में, स्त्रियों से, विवाह में, भय में, मृषावाद अवद्य नहीं।" यह सब अज्ञानवश पापाचरण करते हैं। अतः, शील के लिए तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है।

तो क्या वह पाप का भागी नहीं होता, जो यह न जानकर कि वह पाप कर रहा है, पापकर्म करता है ? नहीं । माता-पिता का वध, चाहे पुण्य-बृद्धि से किया जाय या द्वेपादि से, पाप है । वसुवन्धु राजा, धर्मपाठक, सैनिक, डाकू, सबको एक ही श्रेणी में रखते हैं ।

ऐसा मोह मिथ्यादृष्टि है, जो 'ग्रकुशल' नहीं है। मत्कायदृष्टि ग्रौर णाइवत दृष्टि ग्रुभ कर्म में हेतु हो सकते है। में शुभ कर्म करता हूँ, वयोकि में फल की ग्राशा करता हूँ। में दूसरे पर करुणा करता हूँ, वयोकि उसकी ग्रात्मा भी मेरे समान दुख भोगती है। लौकिक करुणा के ग्रभ्यास के विना यथार्थ करुणा का उत्पाद नहीं होता। प्रथम नौविक करुणा की साधना होनी चाहिए। इसमें दुखी 'ग्रात्मा' का ग्रवधारण होता है। पञ्चात् दुखी सत्त्व से पृथक् दुख का ग्रवधारण होता है। वुद्ध ग्रौर ग्रार्थ लौकिक चित्त का प्रत्याख्यान नहीं करते।

किन्तु, ग्रात्माभिनिवेण मर्व ग्रकुशल में हेतु है। "जो ग्रात्मा में प्रतिपन्न है, वह उसमें ग्रिभिनिविष्ट होता है। ग्रात्मा में ग्रिभिनिविष्ट कामसुख के लिए मतृष्ण होता है, तृष्णावश वह मुख-सम्प्रयुक्त दु ख को नहीं देखता।" "जवतक मन ग्रहकार-महित होता है, तवतक जन्म-प्रवन्ध णान्त नहीं होता। जवतक ग्रात्मवृष्टि होती है, तवतक हृदय से ग्रहकार नहीं जाता। हे बुद्ध । ग्रापके ग्रतिरिक्त दूसरा नैरात्म्यवादी नहीं है। ग्रत, ग्रापके मत को छोडकर मोक्षमार्ग नहीं है" (वोधिचर्यावतार, पृ० २३०)।

त्रात्मा नित्य है, ध्रुव है, वस्नुमन् है, इस दृष्टि का परित्याग करना चाहिए, किन्तु प्रजिप्त-सन्त् ग्रात्मा का प्रनिषेध उच्छेद-दृष्टि है, ग्रर्थात् जो चित्त-सन्तिति कर्म का उत्पाद करती है, ग्रीर कर्मफल का परिभोग करती है, उम प्रज्ञप्ति-सत् ग्रात्मा का प्रतिषेध नहीं करना चाहिए।

#### कर्मफल

सत्त्व सचेतन है, ग्रयत्व ग्रचेतन हैं। एक ग्रोग नित्य चित्त-सन्तान हैं, जो कभी गृद्ध चित्त-चैन होता हैं (ग्राहप्य धातु) ग्रीर कभी जिसका रूपी ग्राध्रय होता है, दूसरी ग्रोर विविध रूप, ग्रयीत् महामूत ग्रीर भौतिक रूप हैं, यथा पर्वत, देवविमानादि। एक ग्रोर मत्त्वलोक हैं, दूसरी ग्रीग भाजन-लोक। मत्त्वों के उपभोग के लिए रूप है। रूप चित्त-मन्तान को सेन्द्रिय शरीर (ग्राध्रय), विज्ञान-विपय, वेदना-विपय, ग्राहार ग्रीर निवास-स्थान प्रदान करता है। रूपी सत्त्वों की चित्त-सन्तित का निध्रय रूप हैं, ग्रीर इस प्रकार इनकी प्रवृत्ति होती है। रूप का ऐसा उपयोग हैं, वह मत्त्वों के लिए ही हैं।

जैमी मनुष्य की चेतना, चित्त ग्रीर कर्म होते है, वैमा वह होता है। सत्वो की प्रवस्था मे जो वैचित्र्य पाया जाना है वह सत्त्वो की गति का कर्मज है। प्रत्येक के कर्म के ग्रितिरिक्त, कोई दूसरा प्रमुख कारण नहीं है।

मर्वास्तिवादी पुन कहते हैं कि लोक वैचित्य भी सत्त्वों के कर्म से उत्पन्न होता हैं। कर्म-फल पचिव्य हैं। इनमें ग्रिधिपति-फल कारण-हेतु से निवृत फल हैं। कारण-हेतु से ग्रिधिपति का प्रादुर्भाव होता हैं। सब धर्म स्वतः से ग्रन्य सबके कारण-हेतु हैं। कोई धर्म ग्रपना कारण-हेतु नहीं है। इम ग्रपवाद के माथ मब धर्म, सब सस्कृत धर्मों के कारण-हेतु हैं, क्योंकि उत्पत्ति-मान् धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का ग्रविघ्न-भाव मे ग्रवम्थान होता है। सत्त्वों के कर्म का प्रभाव भाजन-लोक पर पडता है। सत्त्वों के पाप से ग्रीपध, भूमि ग्रादि बाह्यभाव ग्रल्पवीयं होते हैं, ऋतु-परिणाम विपम होते हैं, यह शिलावृष्टि, धूलिवृष्टि या धीरवृष्टि से ग्रिभित्त होते हैं। यह ग्रिधिपति—फल हैं।

दूसरी त्रोर विपाक-फल ग्रोर निष्यन्द-फल है। विपाक एक ग्रव्याकृत धर्म है, ग्रयीत् कुणल ग्रीर अकुणल से इसका व्याकरण नहीं होता। यह मत्त्वाख्य है। यह व्याकृत में उत्तर काल में उत्पन्न होता है। विपाक अकुणल या कुणल सास्रव धर्मों से उत्पादित होता है। हेनु कुणल या अकुणल है, किन्तु फल सदा ग्रव्याकृत है। वयोकि, यह फल स्वहेतु में भिन्न है, ग्रीर 'पाक' है। इसलिए इसे 'विपाक' (= विसदृश पाक) कहते हैं। पर्वत-नदी ग्रादि ग्रसत्त्वाख्य धर्मों को विपाक-फल नहीं मानते, यद्यपि वह कुशल-ग्रकुशल कर्मों से उत्पन्न होते हैं। ग्रसत्त्वाख्य धर्मे स्वभाववश सामान्य हैं। सब लोग उनका परिभोग कर सकते हैं। किन्तु, विपाक-फल स्वभावत स्वकीय है। जिस कर्म की निष्पत्ति मैंने की है, उसके विपाक-फल का भोग दूसरा नहीं कर सकता। विपाक-फल के ग्रतिरिक्त कर्म ग्रधिपित-फल का उत्पाद करता है। सब इस फल का समान परिभोग करते हैं, क्योंकि कर्म-समुदाय इसकी ग्रभिनिवृं ति में सहयोग करता है। ग्रतः, भाजन-लोक सत्त्व-समुदाय के कुशल-ग्रकुशल कर्मों से जिनत होता है। यह ग्रव्याकृत है, किन्तु यह विपाक नहीं है, क्योंकि विपाक एक मत्त्व-सख्यात धर्म है। ग्रतः, यह कारणहेतु-भूत कर्मों का ग्रधिपित-फल है। हेतु-सदृश फल निष्यन्द कहलाता है। सभाग हेतु ग्रीर सर्वत्नग हेतु यह हेतुद्वय निष्यन्द-फल प्रदान करते हैं, क्योंकि इन दो हेतुग्रों का फल स्वहेतु के मदृश है, यथा कुशलोत्पन्न कुशल ग्रोर ग्रकुशलोत्पन्न ग्रकुशल।

### म्रधिपति-फल भ्रौर लोकधातु

कर्म के ग्रधिपति-फल से लोकधातु की सृष्टि ग्रीर स्थिति होती है। लोकधातु सत्त्वों के लिए बाह्यभाव प्रदान करता है।

लोकधातु ग्रनन्त है। किसी की सवर्त्तनी (विनाश) होती है, तो किसी की निवर्त्तनी (उत्पत्ति) होती है। किसी की ग्रन्य स्थिति होती है।

एक महाकल्प में ५० ग्रन्त कल्प होते। इनमे विवर्त्त, विवृत्त स्थिति, सवृत्त की स्थिति ग्रीर सवर्त्त का समप्रमाण है। एक बार विवृत्त होने पर यह लोक २० ग्रन्तरकल्प तक ग्रवस्थान करता है। लोक-सवर्त्तनी के ग्रवन्तर दीर्घकाल तक लोक विनप्ट रहता है, २० ग्रन्तरकल्प तक विनण्ट रहता है। जहाँ पहले लोक था, वहाँ श्रव ग्राकाश है। जब ग्राक्षेपक कर्मवश ग्रानागत भाजन-लोक के प्रथम निमित्त प्रादुर्भूत होते हे, जब ग्राकाश में मन्द-मन्द वायु का स्पन्दन होता है, उस समय से २० ग्रन्तरकल्प की परिसमाप्ति कहनी चाहिए। जिसमें लोक सवृत्त था ग्रीर उसे २० ग्रन्तरकल्प का ग्रारम्भ करना चाहिए, जिस काल में लोक की विवर्त्तमान ग्रवस्था होती है। वायु की वृद्धि होती जाती है ग्रीर ग्रन्त में उसका वायुमण्डल बन जाता है। पश्चात् इस कम ग्रीर विधान से भाजन की उत्पत्ति होनी है—वायुमण्डल, ग्रवमण्डल, काचनमयी पृथिवी, सुमेरु ग्रादि। विवर्त्त कल्प का प्रथम ग्रन्तरकल्प भाजन, ग्राह्य विमानादि की निर्वृत्त में ग्रातिकान्त होता है। इस कल्प के ग्रवणिष्ट १६ ग्रन्तरकल्पों में नरक-सत्त्व के प्रादुर्भाव तक मनुष्यों की ग्रायु ग्रपरिमत होती है, जब विवर्त्तन की परिसमाप्ति होती है, तब उनकी ग्रायु का हास होने लगता है, यहाँतक कि १० वर्ष में ग्राधिक ग्रायु का सत्त्व नहीं होता। जिस काल में यह हास टोना है, वह विवृत्त ग्रवस्था का परला ग्रन्तरकल्प है।

पश्चात् १ द ग्रन्तरकल्प उत्कर्ष ग्रीर ग्रपकर्प के होते हैं। १० वर्ष की ग्रायु से वृद्धि होते-होते द०,००० वर्ष की ग्रायु होती है। पश्चात् ग्रायु का ह्रास होता है, ग्रीर यह घटकर १० वर्ष की हो जाती है। जिस काल में यह उत्कर्प ग्रीर ग्रपकर्प होता है, वह दूसरा ग्रन्तर-कल्प है। इस कल्प के ग्रनन्तर ऐसे १७ ग्रन्य कल्प होते हैं। वीसवाँ ग्रन्तरकल्प केवल उत्कर्ष का है। मनुष्यों की ग्रायु की वृद्धि १० वर्ष से ६०,००० वर्ष तक होती है। १८ कल्पों के उत्कर्प ग्रीर ग्रपकर्प के लिए जो काल चाहिए, वह प्रथम कल्प के ग्रपकर्य-काल ग्रीर ग्रन्त्य कल्प के उत्कर्प-काल के वरावर है। इस प्रकार, लोक २० कत्प तक निवृत्त रहता है। भाजन-लोक की निवृत्ति एक ग्रन्तरकल्प में होती है। यह उन्नीस में व्याप्त होता है, यह उन्नीस में ग्रून्य होता है, यह एक ग्रन्तरकल्प में विनष्ट होता है, जब ग्रायु १० वर्ष की होती है, तब ग्रन्तरकल्प का निर्याण होता है। तब ग्रस्त्व, रोग ग्रीर दुर्भिक्ष से जो यथाक्रम सात दिन, मात मास ग्रीर मात वर्ष ग्रवस्थान करते है, कल्प का निर्याण होता है।

कल्प के अन्त में तीन ईतियाँ होती हैं। कल्प के निर्याण-काल मे देव नही वरसता। इससे तीन दुर्भिक्स—चन्नु, ज्वेतास्थि, शलाकावृत्ति होते हैं। चन्नु कोप का दुर्भिक्ष है, श्वेतास्थि, श्वेत श्रस्थियो का दुर्भिक्ष है, शलाकावृत्ति होते हैं। चन्नु कोप का दुर्भिक्ष है, शलाकावृत्ति वह दुर्भिक्ष है, जिसमें जीवन-यापन शलाका पर होता है। इसमे गृह के प्राणी शलाका की सूचना के अनुसार भोजन करते हैं, आज गृहपित की पारी है; कल गृहपत्नी की पारी है। अब सवर्त्तनी का समय उपस्थित होता है। सत्त्व अधर-भाजनो से अन्तिहित होते हैं, और किसी ध्यानलोक मे सिन्नपितित होते हैं। अग्नि-सवर्त्तनी सप्त सूर्यों से, जल-सवर्त्तनी वर्षावण और वायु-सवर्त्तनी वायुधातु के क्षोभ से होती है। इन सवर्त्तनियों का यह प्रभाव होता है कि विनष्ट भाजन का एक भी परमाण अविषय्द नहीं रहता। चतुर्थ ध्यान अनिजित (स्पन्दन-हीन) है। इससे उसमें सवर्त्ती नहीं है। द्वितीय ध्यान अग्नि-सवर्त्तनी की सीमा है। इसके नीचे जो कुछ है, वह सव दग्ध हो जाता है। तृतीय ध्यान जल-सवर्त्तनी की सीमा है। इसके जो अध है, वह सव विलीन हो जाता है। चतुर्थ ध्यान वायु-सवर्त्तनी की सीमा है। इसके जो अध है, वह सव विलीन हो जाता है। चतुर्थ ध्यान वायु-सवर्त्तनी की सीमा है। इसके जो अध है, वह सव विकीण हो जाता है।

मनुष्य-जन्म में जो कर्म-वल से श्राक्षिप्त होता है, सदा अकुशल कर्मों का विपाक होता रहता है, जो दु खावेदना श्रादि के जनक हैं। यह अकुशल कर्म मूल में दो प्रकार के होते हैं— १ यह गुरु हैं, जिन्होंने पूर्व श्रपाय-जन्म—नारक, तिर्यक्, प्रेन—का उत्पादन किया है, श्रीर जो श्रव अविशब्द वल का क्षय मनुष्य-जन्म का परिपूरक हो करते हैं। २ यह लघु हैं, जो जन्म के आक्षेपक नहीं हो सकते, श्रीर जिनका मारा वल परिपूरक है। यदि कोई पुद्गल निर्धन है, तो इसका यह कारण है कि उसने कोई शुभ कर्म किया है, जिसके सामर्थ्य से वह मनुष्य-जन्म ग्रहण करता है, किन्तु उमने अदत्तादान का अवद्य किया है, जिसका विपाक पूर्व नरक में हुशा श्रीर अब उमका दण्ड दारिद्रय के रूप में मिला हैं। अथवा इमका कारण यह है कि मनुष्य-जन्म में जो अन्यथा शुभ हैं, उमने दान नहीं दिया है।

#### विपाक-फल

कर्म नियत या श्रनियत है। जिसका प्रतिसवेदन श्रावश्यक नहीं है, वह श्रनियत है। नियत कर्म तीन प्रकार का है—

- १. दृष्टधर्म-वेदनीय--- प्रर्थात्, इसी जन्म में वेदनीय।
- २. उपपद्य-वेदनीय प्रर्थात्, उपपन्न होकर वेदनीय, जिसका प्रतिसवेदन समनन्तर जन्म में होगा।
  - ३. ग्रयरपयिय-वेदनीय--- श्रर्थात्, देर से वेदनीय।

श्रनियत कर्म को सगृहीत कर विपाक की श्रवस्था की दृष्टि से चार प्रकार होते है। एक मत के श्रनुसार कर्म पाँच प्रकार का है। ये श्रनियत कर्मों को दो प्रकारों में विभक्त करते हैं—

क नियत विपाक-वह, जिसका विपाक-काल अनियत है, किन्तु जिसका विपाक नियत है।

क्ष ग्रनियत विपाक—वह, जिसका विपाक ग्रनियत है, जो विपच्यमान नही हो सकता।

दृष्टधर्म-वेदनीय कर्म—वह कर्म है, जो उसी जन्म में विपच्यमान होता है, या विपाक-फल देता है, जहाँ यह सम्पन्न हुग्रा है। यह दुर्वल कर्म है। यह जन्म का ग्राक्षेप नहीं करता। यह परिपूरक है। यह स्पष्ट है कि जो पाप दृष्टधर्म-वेदनीय है, वह उस पाप की ग्रपेक्षा लघु है, जिसका विपाक नरक में होता है।

सौद्रान्तिको का कहना है कि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक विलष्ठ कर्म का विपाक दुर्वल हो। इसलिए, दृष्टधर्म-वेदनीय कर्म के विपाक का अनुवन्ध अन्य जन्मों में हो सकता है, किन्तु क्योंकि इस विपाक का आरम्भ इस दृष्ट जन्म में होता है, इसलिए इस कर्म का 'दृष्टधर्म-वेदनीय' यह नाम व्यवस्थित करते है।

वैभाषिक इस दृष्टि को नहीं स्वीकार करते। वह कहते हैं कि एक कर्म वे हैं, जिनका सिन्नकृष्ट फल होता है। दूसरे वे हैं, जिनका विप्रकृष्ट फल होता है। नियत-विपाक कर्म के विपाक का स्वभाव बदल सकता है। सिन्नकृष्ट जन्म में नरक में वेदनीय श्रमुक कर्म दृष्टधर्म में विपाक देगा।

किन लक्षणों के कारण एक कर्म दृष्टधर्म-वेदनीय होता है ?

क्षेत्र-विशेष ग्रीर ग्राशय-विशेष के कारण कर्म दृष्टधर्म मे फल देता है। क्षेत्र के उत्कर्ष से यद्यपि ग्राशय दुर्बल हो, यथा वह भिक्षु, जिसका पुरुप-व्यजन ग्रन्तर्हित होता है, ग्रीर स्त्री-व्यजन प्रादुर्भूत होता है, क्यों कि उसने सघ का ग्रनादर यह कहकर किया कि—'तुम स्त्री हो।' ग्राशय-विशेष से, यथा वह पण्ढ, जिसने वृषभो को ग्रपु स्त्व के भय से प्रतिमोक्षित किया ग्रीर ग्रपना पुरुषेन्द्रिय फिर प्राप्त किया।

यदि किसी भूमि से किसी का ग्रत्यन्त वैराग्य होता है, तो यह उस भूमि मे पुन उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए इस भूमि में, किन्तु दूसरे जन्म में, विपच्यमान कर्म ग्रपने स्वभाव को बदलता है, श्रीर दृष्टधर्म में विपच्यमान होता है, चाहे वह कुणल हो या श्रकुशल।

जो कर्म विपाक मे नियत है, किन्तु जो विपाक की अवस्था (काल ) मे अनियत है, वह कर्म दृष्टधर्म-वेदनीय होता है। जो कर्म विपाक की अवस्था मे नियत है, उसका उसी श्रवस्थान्तर मे विपाक होता है। श्रवस्थान्तर की जिस भूमि में उसके कर्म का नियत विपाक है, उस भूमि से उस पुद्गल का श्रत्यन्त वैराग्य श्रसम्भव है। जो कर्म श्रनियत-विपाक है, वह विपाक नही देगा, यदि पुद्गल का उस भूमि से वैराग्य है, जहाँ वह विपच्यमान होगा।

निरोध, मैत्री, ग्ररणा, समाधि, मत्यदर्णन, ग्रर्हत्फल से व्युत्यित पुद्गल के प्रति किया गया उपकार ग्रीर ग्रपकार महसा फल देता है।

उपपद्य-वेदनीय कर्म-वह कर्म है, जिसका प्रतिसवेदन समनन्तर जन्म में होगा। यह ग्रानन्तर्य-कर्म है। कोई कर्म, कोई ग्रनुताप, इनके समनन्तर विपाक में ग्रावरण नही है। गुरुता के क्रम से यह इस प्रकार है—मातृवध, ग्रह्त्-वध, सघभेद, दुष्टिचत्त से तथागत का लोहितोत्पाद।

स्रानन्तर्य सभाग (उपानन्तर्य) सावद्य से भी पुद्गल नरक में अवश्यमेव उत्पन्न होता है। माता का दूपण, ग्रहन्ती का दूपण, नियतिस्य वोधिसत्त्व का मारण, श्रीक्ष का मारण, सघ के स्रायद्वार का हरण, स्तूपभेदन, यह पाँच स्रानन्तर्य सभाग सावद्य है।

ग्रपरपर्याय-वेदनीय कर्म—वह कर्म है, जो तृतीय जन्म के ऊर्घ्व ग्रपर जन्म में विपच्यमान होता है।

ग्रनियत-विपाक कर्म--कुछ कर्मों के विपाक का उल्लंघन हो सकता है।

कुछ ग्राचार्यों के ग्रनुसार कर्म ग्रप्टिविध है—१ दृष्टधर्म-वेदनीय ग्रीर नियत विपाक-कर्म, २ दृष्टधर्म-वेदनीय ग्रीर श्रिनयत विपाक-कर्म, ३ उपपद्य-वेदनीय ग्रीर नियत विपाक-कर्म, ४ ग्रपप्याय-वेदनीय ग्रीर श्रिनयत विपाक-कर्म, ५ ग्रप्पप्याय-वेदनीय ग्रीर नियत विपाक-कर्म, ६ ग्रप्पप्याय-वेदनीय ग्रीर ग्रिनयत विपाक-कर्म, ७ ग्रिनयत या श्रिनयत वेदनीय, किन्तु नियत विपाक-कर्म, ६ ग्रानयत विपाक-कर्म।

किस कर्म का विपाक प्रथम होता है ?

उपपद्य-वेदनीय कर्म का विपाक-काल नियत है। किन्तु, सब लोक ग्रानन्तर्य कर्म नहीं करते। ग्रपरपर्याय-वेदनीय प्रकार के बहुकर्मों का समुदाचार हो सकता है। प्रश्न है कि वह कीन कर्म है, जो मृत व्यक्ति के समनन्तर जन्म का ग्रवधारण करता है।

समनन्तर जन्म का निश्चय म्रियमाण के चैतिसक धर्मों के अनुसार होता है। मरण-चित्त उपपत्ति-चित्त का ग्रासन्न हेतु है। मिन्झम (३।६६) में है कि मरणकाल में पुद्गल जिस लोक की उपपत्ति में चित्त को ग्रिधिष्ठित करता है, जिसकी भावना करता है, उमके वह सस्कार इस प्रकार भावित हो उस लोक में उपपत्ति देते हैं। किन्तु, म्रियमाण ग्रपने ग्रन्त्य चित्त का स्वामी नहीं होता। यह चित्त उस कर्म से ग्रिभिसस्कृत होता है, जिसका विपाक समनन्तर जन्म में होता है। यदि किसी पापकर्म का विपाक ग्रपाय-गति में होता है, तो उसका मरण-चित्त नारक होगा।

विविध कर्मों के विपाक का यह क्रम है—१० गुरु, २० श्रामन्न, ३० अभ्यस्त। जव मरण-चित्त म-उपादान होता है, तव उसमे नवीन भाव के उत्पादन का सामर्थ्य

होता है। इस चित्त के पूर्ववर्त्ती सब प्रकार के अनेक कर्म होते हैं, तथापि वह गृह कर्म से ग्राहित सामर्थ्य है, जो अन्तिम चित्त को विशिष्ट करता है। गृह कर्म के अभाव में ग्रासन्न कर्म से ग्राहित मामर्थ्य, उसके अभाव में ग्रम्यस्त कर्म से ग्राहित सामर्थ्य, उसके अभाव में ग्रम्यस्त कर्म से ग्राहित सामर्थ्य, अन्तिम चित्त को विशिष्ठ करता है। राहुल का एक श्लोक यहाँ उदाहृत करते हैं —गृह, ग्रामन्न, ग्रम्यस्त, पूर्वकृत—यह चार इस सन्तान में विपच्यमान होते हैं। इसीलिए, बौद्धो में मरण-काल में विविध ग्रनुष्ठान करते हैं, ग्रीर उपदेश ग्रादि देते हैं। वस्तुत, जैसा बुद्ध ने कहा है—कर्म-विपाक दुर्जेंय है।

#### निष्यन्द-फल

हेतु-सदृश धर्म निष्यन्द-फल है। कोई धर्म शाश्वत नहीं है। वर्ण केवल वर्ण-क्षण का सन्तान है, विज्ञान केवल चित्तसन्ति है। प्रत्येक धर्म के ग्रम्तित्व का प्रत्येक क्षण जो पूर्व-क्षण के सदृश या कुछ तुल्य है, इस क्षण का निष्यन्द है। इस प्रकार, स्मृति का व्याख्यान करते हैं— चित्त-सन्ति में ग्राहित एक भाव ग्रपना पुनरुत्पादन करता है। प्राय एक कुणल-चित्त एक दूसरे कुशल-चित्त का निष्यन्द-फल होता है। यह साथ-ही-साथ कुशल मानसिक कर्म का पुरुषकार-फल भी है।

सूत्र में उनत है—ग्रिभध्या, व्यापाद ग्रीर मिथ्यादृष्टि, भावित, सेवित, बहुलीकृत होने से नारक, तिर्थक्, प्रेत-उपपत्ति का उत्पाद करते हैं। (यह ग्रिभध्या-कर्म व्यापाद-कर्म ग्रीर उस मानस-कर्म के, जिससे तीर्थिक मिथ्यादृष्टि में ग्रिभिनिविष्ट होता है, विपाक-फल हैं)। यदि लोभी, हिंसक ग्रीर मिथ्यादृष्टि-चरित पुद्गल पूर्व-शुभकर्म के विपाक के लिए ग्रपर पर्याय में मनुष्य जन्म प्राप्त करता है, तो वह सतृष्ण, दुष्ट ग्रीर मूढ होगा। लोभ, द्वेप, मोहचरित पुद्गल लोभ, द्वेष, मिथ्यादृष्टि का निष्यन्द-फल है।

वस्तुत , यह कहना दुष्कर है कि कर्म का निष्यन्द-फल होता है। कर्म कर्म का उत्पाद नहीं करता। कोई कर्म ऐसे फल का उत्पाद नहीं करता, जो उसके सर्वथा सदृश हो। ग्रिभध्या एक ग्रवद्य है, चित्त का एक ग्रकुशल कर्म है, जो स्वीकृत होता है। यह कर्म नहीं है, तथापि मनोदृश्चिरत है। दार्ष्टीन्तिक (एक प्रकार के सौत्रान्तिक) इसे मनस्कर्म मानते हैं, किन्तु वैभाषिक कहते हैं कि इस पक्ष में क्लेश ग्रीर कर्म का ऐक्य होगा। दृश्चिरत होने से परस्व के स्वीकरण की विषम स्पृहा नारकादि विपाक प्रदान करती है। ग्रिभध्या, व्यापाद ग्रीर मिथ्या-दृष्टि सामान्यत काय-वाक्-कर्म के समुत्थापक है। ग्रिभध्या के स्वीकृत होने से वह ग्रपने वल की वृद्धि करती है, ग्रीर चित्त-सन्तान में दृढ स्थान का लाभ करती है। इससे जब यह वाक्-काय-कर्म में व्यक्त होती है, तब चित्त-सन्तान को वामित करती है। ग्रत , ग्रिभध्या का निष्यन्द-फल ग्रिभध्या है, ग्रिभध्याचरितत्व है।

इसी प्रकार, व्यापाद श्रौर मिथ्यादृष्टि को समझना चाहिए ।

सर्वक्लेश—राग-द्वेष ग्रीर मिथ्यादृष्टि—के दो ग्राकार होते हैं। कदाचित् यह मुप्ता-वस्था में होना है। तब इमका प्रचार सूक्ष्म ग्रीर दुर्विज्ञेय है। यह क्नेग के ममुदाचार के पूर्व की ग्रवस्था है। तब इसकी 'ग्रनुशय' ग्राख्या होती है। ग्रनुशय ग्रणु होते ह, यह छिद्रान्वेपी शत्तु के सदृश प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं। राग, प्रतिष्ठ ग्रादि ग्रनुशय है। कदाचित् क्लेश पर्यवस्थित होता है ग्रथात् सत्त्व क्लेश से परेत होता है। यह क्लेश का दूमरा ग्राकार है। यह क्लेश की तीवावस्था है। क्लेशानुशय पर्यवस्थितक्लेश का निष्यन्द-फल है; पर्यवस्थान की ग्रवस्था में जो क्लेशानुशय तथा बाह्य विषय इष्ट विषय-राग के पर्यवस्थान का समुख्यान करता है, श्रीर ग्रयोनिशोमनिसकार की ग्रपेक्षा करता है। विपाक-फल विपाक के वल को क्षीण करता है, किन्तु निष्यन्द-फल का स्वभाव ऐसा है कि इसका स्वत ग्रन्त नहीं होता। ग्रकुशल चित्तो के निष्यन्द-फल का समुच्छेद ग्रायं-मार्ग की भावना ग्रीर स्रोतापत्ति-फल के प्रतिलाभ से होता है। कुशल चित्तो के निष्यन्द-फल का निरोध केवल निर्वाण में होता है।

प्रत्येक सत्त्व, जो यित्किचित् गित में उत्पन्न होता है (प्रतिसिन्ध, उपपत्ति), जन्म-क्षण में स्वभूमि के अनुकूल सर्वक्लेण से—राग, द्वेप, मोह से—िक्लण्ट होता है, इसका कारण यह है कि अपने पूर्वजन्म के अन्तकाल में उसका चित्त इन क्लेणों से क्लिप्ट था।

जो कामधानु में उत्पन्न होता है, उसका चित्त द्वेप, गन्ध-रस के लोभ ग्रीर मैथुन-राग से ममन्वागत होता है। इसी कारण इम चित्त का निश्चय वह सेन्द्रिय शरीर होता है, जो इन विविध तृष्णाग्रो ग्रीर द्वेप-ममृत्थित दुख का वहन कर सकता है। किन्तु, कुशलमूल से समन्वागत होने के कारण वह स्वभूमिक क्लेश का नाश कर सकता है। मान लीजिए कि एक भिक्षु है, जो मरण-काल में द्वेप ग्रीर सर्व प्रकार के ग्रीदारिक राग से मुक्त है। ऐसा भिक्षु केवल ऐमे ही धातु में उत्पन्न हो मकता है, जहाँ घ्राणेन्द्रिय ग्रीर जिह्नोन्द्रिय का ग्रभाव है। यदि इस भिक्षु का राग प्रथम ध्यान के मुख में है, तो मरण-काल में उसका चित्त इन मुखो से क्लिष्ट होगा ग्रीर वह प्रथम ध्यान-लोक में उपपन्न होगा।

महामालु क्य-सुत्त (मिज्झमिनकाय, ११४३२) में है कि—हे मालु क्यपुत्त । दहर-कुमार के सत्काय भी नही होता, तो फिर उमके सत्काय-दृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, उसके धर्म भी नहीं होते, तो फिर धर्म में उसकी विचिकित्मा कैसे होती है, उसके शील भी नहीं होते, तो फिर शीलो में शीलव्रत-परामर्श कैसे होता है, उसके काम भी नहीं होते, तो फिर कामच्छन्द कैसे होता है? भगवान् कहते है कि इसका कारण यह है कि उसमें क्लेशानुशय है।

हम उन विपाक-फलो का विचार करते हैं, जिनका कि मनुष्य परिभोग करते हैं। नारक दु खी होते हैं, देव केवल मुख का भोग करते हैं। मनुष्य वर्ण, सम्पत्ति, सौन्दर्य, ग्रायुप्य, मुख-दु ख मे विविध होते हैं। वह मुख से मर्वथा विरहित नहीं होते, किन्तु रोग ग्रौर जरा के ग्रधीन हैं।

देव गुक्ल-कर्म के फल का भोग करते है, नारक कृष्ण-कर्म के फल का भोग करते है, ग्रीर मनुष्य शुक्ल-कृष्ण-कर्म का भोग करते है। मनुष्य-जन्म का ग्राक्षेपक गुक्लकर्म होता है,

किन्तु प्रत्येक मनुष्य-जन्म के परिपूरक विविध शुक्ल-कृष्ण कर्म होते है। उसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव कुशल-ग्रकुशल दोनो है।

प्रत्येक मनुष्य काम, क्रोध, क्लेश तथा मोह से समन्वागत होता है। इसमें दो ग्रपवाद है— १ शैक्ष मनुष्य-जन्म लेते हैं, क्योंकि वह राग-द्वेप से विनिर्मुक्त नहीं हैं, किन्तु मोह से विनिर्मुक्त हैं, २ चरम-भविक बोधिसत्त्व क्लेश से विनिर्मुक्त हैं, किन्तु वोधि की रावि को ही वह मोह से मुक्त होते हैं।

क्योकि, सर्व मनुष्य-जन्म शुभ कर्म से ग्राक्षिप्त होता है, ग्रतः सब मनुष्य तीन कुशल-मूल से समन्वागत होते हैं। वह त्रद्वेप, ग्रलोभ, सम्यक् दृष्टि के भव्य हैं। ग्रवस्थावश कुशल-मूल का समुदाचार होता है। सदुपदेश ग्रीर सत्सगवश ऐसा होना है।

एक पुद्गल प्रकृति से तीव राग-द्वेष-मोहजातिक होता है। वह रागज, द्वेपज, मोहज दु ख-दौर्मनस्य का अभीक्ष्ण प्रतिसवेदन करता है। वह दु ख-दौर्मनस्य के साथ रुदन करता हुआ परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का ग्राचरण करता है। वह मरणानन्तर स्वर्ग में उत्पन्न होता है। धर्म-समादान से उसका ग्रायित में सुख-विपाक होता है। एक पुद्गल प्रकृति से तीव राग-द्वेप-मोहजातिक नहीं होता। वह रागज, द्वेषज, मोहज दु ख-दौर्मनस्य का ग्राभीक्षण प्रतिसवेदन नहीं करता। वह ध्यान में सुगमता से समापन्न होता है, ग्रीर स्वर्ग में उपपन्न होता है। वह वर्त्तमान में भी सुखी है, ग्रीर भविष्य में भी उसका सुख-विपाक है।

ससार में पर्याप्त दुख है, जिससे मनुष्य सरलता से 'सर्व दुखम्' इस मत्य को तथा वैराग्य और निर्वाण को समझते हैं। देव ग्रत्यन्त सुखी होते हैं। दूसरी श्रोर नारकों के ममान मनुष्य का ग्रविच्छिन्न दुख नहीं हैं। किन्तु, मनुष्यों में भेद है। कुछ ग्रनेक जन्मों में मनुष्यत्व में नियत हैं। उन्होंने कुशलमूल का श्रारोपण किया है। कोई स्रोत-ग्रापन्न हैं ग्रीर उनके मात भव ग्रीर हैं, किन्तु कभी श्रकस्मात् मनुष्यत्व का लाभ होता है। कर्म-विपाक दुर्विज्ञेय हैं। नारक ग्रीर तिर्यग्योनि से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। इसका कारण कोई पूर्वजन्म-कृत दुर्वल गुभ कर्म होता है। मनुष्य-जन्म ग्राश्चर्यकर घटना है।

नरक में दो प्रकार के भिन्न-प्रलाप, पारुष्य, व्यापाद होते हैं। भिन्न-पलाप—क्योंकि, नारकीय सत्त्व परिदेव, विलाप करते हैं। पारुष्य —क्योंकि, नारकीय सत्त्व ग्रन्योन्य निग्रह करते हैं। व्यापाद—क्योंकि, चित्त-सन्तान के पारुष्य से वह एक दूमरे में द्वेप करते हैं। नारकीय सत्त्वों में ग्रिभिध्या ग्रीर मिथ्यादृष्टि होती है, किन्तु नरक में यह सम्मुखीभावन नहीं होती, क्योंकि वहाँ सर्वरजनीय वस्तु का ग्रभाव होता है, ग्रीर कर्मफल प्रत्यक्ष होना है। नरक में प्राणा-तिपात का ग्रभाव होता है, क्योंकि नारकीय सत्त्व कर्मक्षय से च्युत होते हैं। वहाँ ग्रदत्तादान ग्रीर काम-मिथ्याचार का भी ग्रभाव होता है, क्योंकि नारकीय मत्त्वों में द्रव्य ग्रीर स्त्री-परिग्रह का ग्रभाव होता है। प्रयोजन के ग्रभाव से मृपावाद ग्रीर पंगुन्य नहीं होता।

तिर्यक् का चित्त दुर्वल होता है, किन्तु उमका दुष्ट म्वभाव प्रकट होता है। यह त्रानन्तर्य से स्पृष्ट नहीं होते। किन्तु, जिन पशुग्रों की बुद्धि पटु होती है, यथा त्राजानेय ग्रश्व, वह नदा

त्रानन्तर्य से स्पृष्ट होते हैं। ग्रतः, जो मत्त्व पूर्वकृत शुभकर्मवश नरक ग्रीर तिर्यक् योनि के श्रनन्तर मनुष्य-जन्म लेते हैं, वह मनुष्य-जन्म में ग्रपने पूर्वक्लेश से समन्वागत होते हैं ग्रीर यह क्लेश नरकवास या तिर्यग्योनि में वास के कारण वहुलीकृत होते हैं।

कल्प के निर्याण-काल में पुद्गल ग्रधर्मरागरक्त, विषयलोभाभिभूत ग्रौर मिथ्याधर्मपरीत हो जाते हैं। शस्त्र, रोग ग्रौर दुर्भिक्ष से कल्प का निर्गम होता है। उम समय कपाय ग्रभ्यधिक होते हैं। इसलिए, मनुष्यो में वहुत ऐसे होते हैं, जिनमें ग्रभीक्ष्ण क्लेश होता है। यह निर्वाण में ग्रावरण है। क्लेशावरण मर्वपापिष्ठ है। मिथ्यादृष्टि से ममन्वागत मनुष्यो की महया ग्रौर भी ग्रधिक है।

### विसंयोग-फल

हमने अवतक मास्रव कमों के फल की परीक्षा की है। यह कर्म कुशल या अकुशल है, और राग (मुख की इच्छा या ध्यान-लोक की इच्छा) तथा मोह (आत्मदृष्टि) से विलष्ट है। तृष्णा से अभिष्यन्दित यह कर्म विपाक-फल देते है, किन्तु अनास्रव कर्म का विपाक नहीं होता, क्योंकि यह अन्य तीन कर्मों का क्षय करता है। यह अशुक्ल है। यह धातुपतित नहीं है। यह प्रवृत्ति का निरोध करता है। अनास्रव कर्म के फल को विसयोग-फल कहते है। ये कर्म मोह और क्लेश के मूल का समुच्छेद करते है, अर्थात् क्लेश-प्राप्ति का समुच्छेद करते है। जो आर्य इन अनास्रव कर्मों को नम्पादित करता है, उसका क्लेश समुदाचार नहीं करता। वह क्लेशों के निष्यन्द-फल का समुच्छेद करता है।

कुछ सास्त्रव कर्म, वैराग्य के लौकिक मार्ग में मगृहीत है, अपने प्रतिपक्षी क्लेशों से विसयोग-फल अनैकान्तिक रूप से प्रदान करते हैं। जो योगी वीत-कामराग है, वह काम-भूमिक क्लेशों की प्राप्ति का छेद कस्ता है। पुन वह पूर्वकृत कर्म और काम की प्राप्ति का छेद करता है। वह इन कर्मों के विपाक का उल्लंघन करता है।

#### पुरुषकार-फल

पुरुपकार (पीन्प)-फल सहभू-हेतु ग्रीर मम्प्रयुक्तक-हेतु का फल हैं। पुरुपकार पुरुपकार से व्यतिरिक्त नहीं है, क्यों कि कर्म कर्मवान् से ग्रन्य नहीं है। जिस धर्म का जो कारित्र है, वह उसका पुरुपकार कहलाता है, क्यों कि वह पुरुपकार के सदृश है। एक मत के ग्रनुमार विपाक-हेतु को छोडकर ग्रन्य हेतुग्रों का भी यही फल होता है। वस्तुत, यह फल सहोत्पन्न है, या ममनन्तरोत्पन्न है, किन्तु विपाक-फल ऐसा नहीं है। ग्रन्य ग्राचार्यों के ग्रनुसार विपाक-हेतु का विप्रकृष्ट पुरुपकार-फल भी होता है।

#### कर्म-विपाक

कर्म वीज के सदृश स्वकीय सामर्थ्य से प्रपने फल का उत्पाद करता है। ग्रतः, वर्मों की धर्मता नियत है। किन्तु, वौद्धधर्म यह स्वीकार करता है कि कर्म-फल का उल्लंधन सम्भव हैं भीर वह पुण्य-परिणामना भी मानता है।

श्रार्य ऋषि श्रादि का महान् सामर्थ्य होता है। उनके मन प्रदोप से दण्डकादि निर्जन हो गये। सत्य-क्रिया (सच्चिकिरिया) में विश्वास वडा प्राचीन है। विशुद्ध पुरुप श्रपनी विशुद्धि का प्रख्यापन कर धर्मता से ऊपर ऊठ जाता है। श्रणोक का पुन्न कुणाल ज्ञापित करता है कि श्रपनी माता के प्रति उसका कभी दुष्टचित्त नहीं हुश्रा। इस सत्यिकिया से वह श्रपनी श्राँखों से देखने लगता है।

पुण्य-ग्रपुण्य ग्राशय पर ग्राश्रित है, किन्तु क्षेत्र के ग्रनुसार पुण्य-ग्रपुण्य ग्रल्प या महान् होता है ।

कर्म-विपाक दुर्विज्ञेय है। कर्म वीज के समान है, जो ग्रपना फल प्रदान करता है। यह सुखा॰ या दु खावेदना है। कर्म का विप्रणाश नहीं है। जब समय ग्राता है, ग्रौर प्रत्यय-सामग्री उपस्थित होती है, तब कर्मों का विपाक होता है।

यमराज के निरयपाल सत्त्व को ले जाते है, ग्रीर यम से दण्ड-प्रणयन के लिए प्रार्थना करते है। यमराज उससे पूछते है कि तुमने देवदूत को नही देखा ? वह कहता है कि देव । मैंने नही देखा है। यम—तुमने क्या जरा-जीर्ण, रोगी, ग्रवद्यकारी को नही देखा है? तुमने यह क्यो नही जाना कि तुम भी जाति, जरा, मत्यु के ग्रधीन हो ? तुमने यह क्यो नही मोचा कि में कल्याण-कर्म कर्फ ? यह पापकर्म न तुम्हारी माता ने किया है, न तुम्हारे पिता ने, न तुम्हारे भाई-बहन ने, न तुम्हारे मिल्ल -ग्रमात्य ने, न ज्ञातृ-सम्बन्धियो ने, न श्रमण-न्नाह्मण ने न देवताग्रो ने। तुमने ही यह पापकर्म किया है। इसके विपाक का प्रतिसवेदन तुम्ही करोगे।

यह कथा लोक-विश्वास पर भ्राश्रित है। यम केवल नारको के दण्ड का प्रणयन करता है। पुन यम से निरयपाल नारको को दण्ड नहीं देते है। उनकी यातना उनके स्वकीय कमों के कारण है। यथार्थ में कर्म बीज के तुल्य हैं। यह ग्रपनी जाति के अनुसार, जल्दी या देर से, ग्रल्प या महान् फल देते हैं।

किन्तु, ईश्वरवादी कहते हैं कि यद्यपि समग्र बीज का वपन उर्वरा भूमि में हो तथापि वर्षा के ग्रभाव में बीज में ग्रकुर नहीं निकलते । ग्रत , उनका कहना है कि यह ईश्वर की शक्ति है, जो कर्मों को विपाक-प्रदान का सामर्थ्य देती है। बौद्ध कहते हैं कि तृष्णा से ग्रभिष्यन्दित हो कर्म विपाक देते हैं। ग्रार्य तृष्णारिहत हो कर्म करता है, इसलिए वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

#### कर्म-विपाक के सम्बन्ध में विभिन्न मत

सर्वास्तिवादी (वैभाषिक)—के मत मे विपाक-फल समनन्तर नहीं होता। कर्म का विपाक सुखा हु खावेदना है। यह विपाक-कर्म के सम्पादन के बहुत काल पण्चात् होता है। कहते हैं कि कर्म अपने विपाक-फल को किया-काल मे आक्षिप्त करता है, और कर्म के अतीत होने पर विपाक का दान करता है। एक कठिनाई है। सर्वास्तिवादी का मत है कि अतीत और अनागत का अस्तित्व है। हेतु-प्रत्यय अनागत को प्रत्युत्पन्न मे उपनीत करते है। अनित्यता प्रत्युत्पन्न को अतीत मे ले जाती है।

प्रक्त—मान लीजिए कि मेरे ग्रतीत कर्म का ग्रस्तित्व है। यह भी मान लीजिए कि इसमें फल-प्रदान का नामर्थ्य है। क्योंकि, मैं उन क्षणिक धर्मों की सन्तित हूँ, जो नित्य उत्पद्यमान होते रहते हैं। उनलिए, वह क्या है, जो इम कर्म को मुझसे सम्बद्ध करता है ?

उत्तर—स्व-सन्तान-पितत ग्रहणी सस्कृत धर्म होते हैं (किन्तु, यह चित्त-विप्रयुक्त है), जिन्हें 'प्राप्ति' कहते हैं। सर्व कर्म कर्ता में इस कर्म की 'प्राप्ति' का उत्पाद करते हैं। इसी प्रकार सर्व चित्त, सर्व राग उस चित्त, उस राग की 'प्राप्ति' का उत्पाद करते हैं। इस 'प्राप्ति' का निरोध होता है, किन्तु यह स्वसदृश एक 'प्राप्ति' का उत्पाद करती है। जवतक हम इन कर्मों की 'प्राप्ति' का 'छेद' नहीं करते, तवतक हम ग्रपने कर्मों की 'प्राप्ति' से समन्वागत होते हैं। जव हम इस 'प्राप्ति' के निरन्तर उत्पाद का निरोध करने है, तव इस 'प्राप्ति' का छेद होता है। इस प्रकार, कर्म कर्त्ता को फल-प्रदान करते हैं।

मध्यमकवृत्ति (१७।१३) श्रौर मध्यमकावतार (६।३६) में चन्द्रकीर्ति ने इस वाद का निराकरण किया है—कर्म क्रिया-काल में निरद्ध होता है, किन्तु यह कर्ता के चित्त-सन्तान में एक 'श्रविप्रणाश' नामक द्रव्य का उत्पाद करता है। यह श्ररूपी धर्म है, किन्तु चित्त से विप्रयुक्त है। यह 'श्रविप्रणाश' न कुशल है, न श्रकुशल । निरुद्ध कर्म 'श्रविप्रणाश' द्रव्य में धिकत हो जाता है। यह फल को कर्त्ता से सम्बद्ध करता है।

सौत्रान्तिक—सौतान्तिक श्रतीत श्रौर 'श्राप्ति' नामक धर्मों के श्रस्तित्व को नहीं मानते।

यदि स्रतीत, श्रनागत द्रव्यसत् है, तो वह प्रत्युत्पन्न है। यदि श्रतीत कर्म फल-प्रदान करता है, तो उसका प्राप्त कारित्र हैं, श्रतः वह प्रत्युत्पन्न है। यदि वृद्ध स्रतीत कर्म के स्रस्तित्व का उल्लेख करते हैं, तो उनका श्रभिप्राय केवल इतना है कि स्रतीत कर्म का विपाक होगा। वृद्ध प्राप्तियों का उल्लेख नहीं करते।

सौद्रान्तिको के अनुमार कर्म चित्त-मन्तान को (चित्त-चैत्त, सेन्द्रियकाय), जिसे तीर्थिक 'श्रात्मा' कहते हैं, विपरिणत करता है। कर्म मन्तान के परिणाम-विशेष को निश्चित करता है। इसका प्रकर्ष वह श्रवस्था है, जो कर्म का विषाक है। दु.खावेदना का उत्पाद होता है, यदि श्रकुशल चित्त से मन्तान का परिणाम-विशेष होता है। चित्त-सन्तान का कर्म-चल से एक सूक्ष्म परिणाम होता है, श्रीर कर्म के श्रनुमार चित्त-मन्तित का निश्चय, दु:ख-मुख होता है। सौद्रान्तिक वाह्यभाव श्रीर सेन्द्रियकाय का प्रतिषेध नहीं करते, किन्तु कर्म श्रीर विषाक को वह केवल चित्त में श्राहित करते प्रतीत होते हैं।

विज्ञानवादी-एक ग्रोर वह रूप के ग्रस्तित्व का प्रतिपेध करता है।

हम इसके वीज वैभाषिक-मिद्धान्त में पाते हैं। 'श्रात्मा' को चित्त श्रौर वेदना का सन्तान श्रवधारित करना, जो पूर्ववर्ती चित्त-वेदना से निगृहीन होता है, यह कहना कि चित्त रूप का उत्पाद करता है, वेदना श्रीर सेन्द्रियकाय के 'विपाक-फल' मानना श्रीर बाह्य भाव को श्रिधपित-फल श्रवधारित करना विज्ञानवाद की श्रीर झुकना है।

दूसरी ग्रोर वह सौद्रान्तिको का 'सन्तान' ग्रौर 'सूक्ष्म परिणाम' नही मानत्ता। 'श्रात्मा' प्रवृत्ति-विज्ञान के सन्तान से ग्रन्य होगा। हम यह कैसे मान सकते है कि ऐसा सन्तान ग्रनागत चित्त के बीजभूत पूर्वचित्त के चिह्न धारण करता है, ग्रौर इसका 'सूक्ष्म परिणाम' होता है वस्तुत, प्रवृत्ति-विज्ञान का ग्राश्रय एक ग्रालय-विज्ञान होता है, जो बीजो का सग्रह करता है।

# कमंपल का ग्रतिक्रमण

यद्यपि कर्म का विप्रणाश नहीं है, तथापि फल का समितिकम हो सकता है, यदि भ्रनुतापपूर्वक पाप-विरित हो । मैं ती-भावना द्वारा यदि अवद्यकारी अपने चित्त को विमुक्त करता है,
तो जो कर्म उसने किया है, उसका महत्त्व कम हो जाता है । प्रवारणा (वर्षावास के अन्त में
भिक्षुओं का एक भ्रनुष्ठान) के समय सघ के सम्मुख पाप स्वीकार करने से कर्म से शुद्धि होती है ।
एक प्रश्न है कि क्या परिसमाप्त पापकर्म को पाप-स्वीकरण, पाप-विरित क्षीण कर सकते हैं?
नहीं । किन्तु, यदि मौल कर्म की परिसमाप्ति के समनन्तर अनुताप होता है, तो पृष्ठ के भ्रभाव
में कर्म की परिसमाप्ति नहीं होती, यथा जब प्रयोग का भ्रभाव होता है या वह दुर्वल होता है,
तब भ्रवद्य पूरा नहीं होता । उसी प्रकार जब पापी अपने भ्रवद्य को भ्रवद्य मानता है, और पापविरित का समादान करता है, तब भ्रवद्य पूरा नहीं है । यह उसका प्रतिपक्ष है ।

#### नियत-भ्रानियत विपाक

यह कर्म नियत्तविपाक (नियतवेदनीय) है, जो केवल कृत नहीं है, किन्तु उपचित भी है। उपचित कर्म वह है, जिसकी परिसमाप्ति हुई है, ग्रौर जिसका विपाक-दान नियत है।

कोई एक दुश्चरितवश दुर्गित को प्राप्त होता है, कोई दो के कारण, कोई तीन के कारण (काय°, वाक्°, मनोदुश्चरित)। कोई एक कर्मपथ के कारण, कोई दो के कारण, कोई दस के कारण दुर्गित को प्राप्त होता है। जो जिस प्रमाण के कर्म से दुर्गित को प्राप्त होता है, यदि उस कर्म का प्रमाण असमाप्त रहे, तो कर्म 'कृत' है, 'उपचित' नहीं। प्रमाण के समाप्त होने से कर्म 'उपचित' होता है। अगुत्तरिनकाय (१।२५०) मे है कि थोड़े जल को थोड़े लवण से नमकीन कर सकते हैं, किन्तु यदि बहुमाता में भी लवण हो, तो वह गगा के जल को नमकीन नहीं कर सकता।

तीव वलेश, तीव प्रसाद (श्रद्धा) से किया हुआ कर्म और निरन्तर कृत कर्म नियत है। वस्तुत, तीव श्रद्धा और तीव राग सन्तान को अत्यन्त वासित करते है। निरन्तर कृत कर्म चित्त-स्वभाव को बनाता है। यह लक्षण पूर्वलक्षण के विरुद्ध नहीं है। केवल उसी को तीव प्रसाद या तीव राग हो सकता है, जिसने बहुकुशल या अकुशल कर्म किये हैं।

गुणक्षेत्र में किया हुन्रा कर्म भी नियत-विपाक है; यथा पितृवध नियत विपाक है। जो कर्म बुद्ध, सघ, श्रार्य, माता-पिता के प्रति किया जाता है, वह नियत विपाक है। तीन प्रकार के कर्म हैं —

- १ जिसका विपाक नियत है, ग्रीर जिसका विपाक-काल नियत है, जिसने ग्रानन्तर्थ-कर्म किया है, वह उसका फल ग्रगले जन्म में अवश्य भोगेगा। उसका नरक में विनिपात होगा।
- २. वह कर्म, जिसका विपाक नियत है, किन्तु काल नियत नही है। एक मनुष्य ने एक कर्म उपचित किया है, जिसका विपाक नियत है और स्वभाव ऐसा है कि वह केवल कामधातु में ही विपच्यमान हो सकता है, या ऐसा है, जो स्वर्ग या नरक में फल दे सकता है, किन्तु वह ऐसा नही है कि समनन्तर जन्म में ही इसकी उपपत्ति हो। यह कर्म दूसरे कर्म से निहित हो सकता है। यदि यह पुद्गल आर्य-मार्ग मे प्रवेश करता है; काम से वीतराग होता है, अनागामी होता है, तो वह इसी जन्म में उस कर्म के फल का प्रतिसवेदना करेगा। यह अपरपर्याय-वेदनीय कर्म था, यह दृष्टधर्म-वेदनीय हो जाता। यहाँ अगुलिमाल का दृष्टान्त (मिज्झमनिकाय, २१६७) द्रष्टच्य है—

त्रगुलिमाल एक डाकू था। उसने गाँवो को, निगमो को, जनपदो को नष्ट कर दिया। वह मनुष्यो को मारकर उनकी अगुलियो की माला बनाकर पहनता था। एक समय भगवान् श्रावस्ती मे चारिका करते थे। वह उस स्थान की ग्रोर चले, जहाँ ग्रगुलिमाल रहता था। ग्रगुलिमाल ने दूर से भगवान् को देखकर विचारा — ग्राश्चर्य है कि इस मार्ग से कोई नहीं ग्राता, यह श्रमण एकाकी ग्रा रहा है। वह भगवान् के पीछे हो लिया। भगवान् ने ऐसा ऋद्धिमस्कार किया कि डाकू उनको न पा सका। डाकू को वडा श्राश्चर्य हुग्रा, क्योंकि वह दौड़ने हाथी को भी मारकर गिरा देता था। उमने भगवान् से रुकने को कहा—भगवान् ने कहा—में ठहरा हूँ। तुम रुको। डाकू ने इसका ग्रथं पूछा। भगवान् ने कहा—में सब जीवो में दण्ड से विरत हूँ। तुम ग्रसयत हो। इसलिए, तुम ग्रस्थित हो, में स्थित हूँ। यह मुनकर ग्रगुलिमाल को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उमने प्रत्रज्या ली ग्रीर भिक्षु हो गया। ग्रगुलिमाल प्रात काल पात-चीवर लेकर श्रावस्ती में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुग्रा। किसी ने उसपर ढेला फेका, किसी ने दण्ड का प्रहार किया। उसका मिर फट गया, पाँव टूट गया ग्रीर सघाटी फट गई। भगवान् ने उससे कहा—हे ग्रगुलिमाल । जिस कमं के विपाक से तुमको निरय में सहन्नो वर्ष निवास करना पडता, उस कमं के विपाक-सवेदन तुम इसी जन्म में कर रहे हो।

३. वह कर्म, जिसका विपाक ग्रनियत है। स्रोत-श्रापन्न की सन्तित का, ग्रपायगामिक पूर्वीपिचित कर्म के विपाक-दान में वैगुण्य है। क्योंकि, प्रयोगशुद्धि ग्रौर विरत्न (बृद्ध, धर्म ग्रीर मध) के प्रति ग्राशय-शुद्धि के कारण उसकी सन्तित वलवान् कुशल मूलो से ग्रधिवासित है। ग्रबुध ग्रल्प पाप भी करके ग्रधोगित को प्राप्त होना है, बुध महापाप भी करके ग्रपाय का त्याग करता है। थोडा भी लोहा पिण्ड के रूप में जल में डूब जाता है, ग्रौर यही लोहा प्रभूत भी क्यों न हो, पात के रूप में तैरता रहता है।

### पुण्य-परिणामना

सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वकीय है। जो कर्म करता हे, वही उसका फल भोगता है, किन्तु पालिनिकाय में भी पुण्य-परिणामना (पत्तिदान = प्राप्तिदान) है। वह यह भी मानता है कि मृत की सहायता हो सकती है। स्थिवरवादी प्रेत ग्रीर देवो को दक्षिणा देते हैं, ग्रथीत् भिक्षु को दिये हुए दान से जो पुण्य (दक्षिणा) सचित होता है, उसको देते हैं। हम ग्रपने पुण्य में दूसरे को सम्मिलित कर सकते हैं, पाप मे नहीं।

निष्कर्ष यह है कि क्लिष्ट धर्म सावद्य, क्लेशाच्छन्न ग्रौरहीन है। शुभ ग्रौर ग्रशुभ धर्म ही प्रणीत है। जो धर्म न हीन है, न प्रणीत, वह मध्य है। ग्रत, सस्कृत शुभधर्म ही सेव्य है। इन्ही का ग्रध्यारीपण सन्तान में होना चाहिए। वस्तुत, ग्रसस्कृत धर्म ग्रनुत्पाद्य है। उनका ग्रभ्यास नहीं हो सकता। ग्रसस्कृत का कोई फल नहीं है, ग्रौर फल की दृष्टि से ही भावना होती है।

# चतुर्दश अध्याय

### निर्वाण

वृद्ध की शिक्षा का एकमात रस निर्माण है। सब वौद्ध-दर्शनो का लक्ष्य निर्वाण है, किन्तु निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद है। इस प्रष्ट्याय में हम इस विषय के विविध आकारो पर विस्तार से विचार करेंगे।

निर्वाण का स्वरूप चाहे जो हो, सव बौद्धो को यह समान रूप से इष्ट है कि निर्वाण ससार-दु ख का अत्यन्त निरोध है, ससार से नि सरण है, और अतएव उपादेय है। विद्वानो का कहना है कि आत्म-प्रतिषेध ईश्वर-प्रतिषेध, सहेतुक और क्षणिक सत्ता के सिद्धान्तो के होते हुए निर्वाण निरोधमात्न, अभावमात्न ही हो सकता है।

### पाश्चात्य विद्वानों के मत

वर्षेलेमी, सेण्ट हिलेरी, चाइल्डर्स, रोज डेविड्स ग्रौर पिशल का कहना है कि बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने अपने सिद्धान्तों के इस अनिवार्य निष्कर्ष को विचार-कोटि में लिया है, ग्रौर वह निर्वाण का स्वरूप ग्रभावमान ठहराते हैं। किन्तु रीज डेविड्स साथ-साथ यह भी कहते हैं कि बुद्ध-वचन के अनुसार निर्वाण 'श्रामण्य' भी है। वर्थ ग्रौर ग्रोल्डनवर्ग का मत है कि यद्यपि वौद्ध जानते हैं कि उनके सिद्धान्तों का झुकाव किस ग्रोर है, तथापि उनको स्पष्ट शब्दों में इस विनिश्चय के कहने में विचिकित्सा होती है। इनके अनुसार उन्होंने निर्वाण के स्वरूप का वर्णन या तो किव की ग्रालकारिक भाषा में किया है, ग्रौर उसे 'द्वीप', 'शरण' ग्रौर 'ग्रमृत' की ग्राख्याएँ प्रदान की है, या उन्होंने यह स्वीकार किया है कि निर्वाण के स्वरूप का व्याकरण वृद्ध ने नहीं किया है। पूछे जाने पर बुद्ध ने इसे 'स्थापनीय' प्रश्न कहकर इसका व्याकरण नहीं किया है। बुद्धने ग्रपने श्रावकों को चेतावनी दी हैं कि, यह प्रश्न कि निर्वाण के ग्रान्तर तथागत कहाँ जाते हैं, ग्रयोंपसहित नहीं है, ग्रौर इसका विसर्जन विराग, दुःख-निरोध ग्रौर निर्वाण के ग्रधिगम में महायक नहीं है। ग्रत-, इन प्रश्नों की उलझन में पडना निर्वक ग्रौर निर्वाण के ग्रधिगम में महायक नहीं है। ग्रत-, इन प्रश्नों की उलझन में पडना निर्वक ग्रौर निर्वाण एक प्रकार का स्वर्ग हैं।

पालि-अभिधम्म मे चित्त और रूप दोनो के नैरात्म्य की प्रतिशा है। वह प्रात्मा का सर्वया प्रतिपेध करते है, और निर्वाण का लक्षण 'दुख का नाश' और 'विराग' तथा 'रागक्षय' वताते हैं। इस विचार-सरणी के अनुसार हम निर्वाण को ऐहिक सुख मान सकते हैं, किन्तु यह परम लक्ष्य नहीं हो सकता। सूद्रान्त इसे स्थापनीय प्रश्न वताते हैं, और कुछ सूद्रान्त

ऐसे हैं, जो निर्वाण को अजात, अमृत, अनन्त कहते हैं। इससे किठनाई उपस्थित होती है। यूरोपीय विद्वान्, बर्न्फ के समय से, वार-बार यही मत प्रकट करते आये हैं, कि निर्वाण अभावमात्र ही हो सकता है। पूसें का मत है कि बौद्ध योगी थे और अवाच्य की अभिज्ञता रखते थे, जो न भाव हैं, और न अभाव। यह प्रपचातीत है। वह कहते हैं कि यह समझना किठन है कि बौद्ध निर्वाण को अमृत, योग-क्षेम और अच्युत क्यों कहते हैं। यह अभाव के समानार्थक शब्द नहीं है। रीज डेविड्स 'अमृत' का यह निरूपण करते हैं कि यह आयों का आहार है, और 'निर्वाण' का अर्थ वीतराग पुरुष की सम्यक् प्रज्ञा करते हैं। जब बौद्ध कहते हैं कि बुद्ध ने मार (मृत्यु) पर विजय प्राप्त की है, और अमृत् का द्वार उद्घाटित किया है, तब कर्न इसका यह अर्थ करते हैं कि बुद्ध पर मृत्यु का कोई अधिकार नहीं है, और उन्होंने उस अमृत-पद का आविष्कार किया है, जिसके द्वारा उस परम सत्य का अधिगम होता है, जो मनुष्य को मृत्यु पर आधिपत्य प्रदान करता है, उसको निर्भय बनाता है।

रीज डेविड्स कहते है कि बुद्ध का श्रादर्श ग्राध्यात्मिक था, ग्रीर उनके निर्वाण का श्रर्थ इस लोक मे प्रज्ञा श्रीर सम्यक् शान्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना था। किन्तु, श्रावक शास्ता के विचारों को सम्यक् रीति से समझने मे ग्रसमर्थ थे, ग्रीर उन्होंने इस ग्रादर्श को श्रमृत, ग्रनन्त, द्वीपादि की श्राख्याएँ दी। इससे शास्ता के सिद्धान्त को क्षति पहुँची।

पूसे क अनुसार इन विद्वानों की भूल इसमें है कि वह बौद्धधर्म को एक वैज्ञानिक मतवाद समझते हैं। वे यह भूल गये कि बौद्धधर्म एक वैराग्य-प्रधान धार्मिक सस्था है। सेनार्त्त ने इस विचार का विरोध किया है कि बौद्धधर्म एक वैज्ञानिक मतवाद है। सेनार्त्त के अनुसार निर्वाण का अर्थ भारतवर्ष में सदा से परम क्षेम और मोक्ष रहा है, जो अभाव की सज्ञा से सर्वधा परे है। सेनार्त्त ने बौद्धधर्म के प्रभाव की परीक्षा की है। उनका कहना है कि बौद्धधर्म का उद्गम-स्थान योग है। योग भारत की पुरातन शिक्षा है। इसमें यम, नियम, ध्यान, धारणा, समाधि और ऋद्धि-सिद्धि का समावेश है। योगी लोकोत्तर शक्ति की प्राप्ति तथा मोक्षलाभ के लिए समान रूप से यत्नवान् होता है।

यह साधारण विश्वास है कि बुद्ध की शिक्षा का आधार वेदान्त (उपनिपद्) अथवा साख्य है। उन्होंने केवल वेदान्त के परमात्मा और साख्य के पुरुष का प्रतिपेध किया है। यह भी सामान्य विचार है कि बुद्ध शीलवत, पौरोहित्य और वर्ण-धर्म के विरोधी थे तथा आरम्भ से ही बौद्धधर्म निरोधवादी था। किन्तु, सेनार्त्त के मत मे यह विचार अयथार्थ है। उनका कहना है कि बौद्धधर्म का उद्गम एक प्रकार के योग से हुआ है, जिसका स्वरूप अभी पूर्णरूप में स्थिर नहीं हुआ था, और जो नि सन्देह निरोधवादी न था। वे यह भी कहते हैं कि बुद्ध के पश्चात् कई शताब्दियों में इस धर्म में परिवर्त्तन हुए, और यह ठीक नहीं हैं कि आरम्भ से ही उसका स्वरूप निश्चत था।

पूसे कहते हैं कि मैं निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि प्रस्तुत वाक्य बुद्ध-वचन हे—
"मैं बेदना का अस्तित्व मानता हूँ, किन्तु मैं यह नहीं कहता कि कोई बेदक हैं।" किन्तु, यह
वाक्य बुद्ध का हो सकता हैं—"जाति, जरा, रोग, मरण से अभिभूत मैंने अजात, अरुग्ण, अजीर्ण

श्रमृत का श्रन्वेषण किया है . । एक श्रजात, श्रजीर्ण, श्रमृत, श्रकृत, है। यदि श्रजात न होता, तो जात के लिए शरण न होता . . ।"

वर्थ ने (फोर्टी ईयर्स ग्रॉव इण्डियनिज्म, भा० १, पृ० ३०३) लिखा है कि यदि हम यह चाहते हैं कि निर्वाण ग्रभाव नहीं है, तो हमको उस धर्म की सज्ञा बतानी चाहिए, जिसका लक्षण बौद्धों के ग्रनुसार शाश्वतत्व है। किन्तु, प्रश्न है कि क्या यह शाश्वत धर्म निर्वाण नहीं है, जिसे पालि में 'ग्रमता धातु' कहा है।

पूसे कहते हैं कि आरम्भ में बौद्धों का लक्ष्य ससार के नि सरण (पार), नै श्रेयस्-सुख, अनिर्वाच्य अवस्था की प्राप्ति था। कई वचनों से स्पष्ट है कि निर्वाण से उनका अर्थ एक परमार्थ-सत् से था। अभाव एक निकाय-विशेष का ही मत रहा है। कई वचनों से हम यह सिद्ध कर सकते है। इसके समर्थन में कई हेतु भी दिये जा सकते है। पूसें का मत है कि आरम्भ की अवस्था में बौद्धधर्म निर्वाण को एक अनिर्वचनीय वस्तु-सत् मानता था। वह इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कई प्रसिद्ध निकाय 'अजात' को वस्तु-सत् मानते हैं।

# पूसें का मत

पूसे ने 'निर्वाण' नाम की पुस्तक मे इस विषय की ग्रालोचना की है। हम उनके मत का विस्तारपूर्वक वर्णन करेगे और ग्रन्त मे ग्रपना वक्तव्य भी देगे।

पूसे कहते हैं कि बौद्धधर्म के दो रूप है, इनमें भेद करना चाहिए। एक उपासकों का धर्म है, दूसरा, भिक्षुग्रों का। उपासक स्वर्ग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं, और भिक्षु निर्वाण-मार्ग का पथिक है। उपासक स्तूप-चैत्य की पूजा करते हैं, ग्रौर बौद्ध तीर्यों की याना करते हैं। वह पचशील का समादान करते हैं, पाप से विरत रहते हैं, उपवास-त्रत रखते हैं, भिक्षुग्रों को दान देते हैं, ग्रौर धर्म-श्रवण करते हैं। शील की रक्षा ग्रौर दान-पूजा से वह पुण्य-सचय करते हैं, ग्रौर ग्रभ्युदय ग्रासादित करते हैं। उनके धर्म में निर्वाण का कोई वडा स्थान नहीं है। यह ठीक है कि प्रत्येक बौद्ध एक दिन निर्वाण के ग्रधिगम की ग्राशा करता है (ग्रभि-धर्मकोश, ४।४६), किन्तु सामान्यन निर्वाण-मार्ग में प्रवेश करने के लिए भिक्षु-भाव का होना ग्रावश्यक समझा जाता है। ग्रभिधर्मकोश का विचार है कि उपासक ग्रह्त् हो सकता है। जिस क्षण में वह ग्रह्त् होता है, उसी क्षण में वह भिक्षु होता है, उसी दिन वह सघ में प्रवेश करता है। मिलिन्दप्रश्न का भी यही मत है। कुछ के ग्रनुसार वह ग्रनागामिकल का लाभ कर सकता है, किन्तु किसी ग्रवस्था में भी वह ग्रह्त् नहीं होता। केवल भिक्षु ही ग्रह्त् होता है। भिक्षु के लिए ही निर्वाण का मार्ग है।

श्रार्य-मार्ग की चर्या निर्वाण की चर्या है। सघभद्र कहते हैं कि निर्वाण के विचार-विमर्श में विचिकित्सा का उत्पाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि, निर्वाण के श्रिधिंगम के लिए ही श्रमण ससार का परित्याग करते हैं, श्रीर सघ में प्रवेश करते हैं। निर्वाण स्वर्ग का विपर्यय-सा है। जीव के दीर्घकालीन ससरण में स्वर्ग एक स्थान है, किन्तु निर्वाण मसार का श्रन्त है। स्वर्ग पुण्य का विपाक है, किन्तु निर्वाण पाप-पुण्य दोनों से परे हैं। इसका एकमात लक्ष्य क्लेश-राग का विनाश है। निर्वाण का ग्रधिगम प्रत्येक को स्वय करना पडता है। उपाध्याय द्वारा मार्ग के भावित होने से णिष्य के क्लेशो का प्रहाण नहीं होता। प्रत्येक को स्वय इसका साक्षात्कार करना होता है। वृद्ध की विशेषता केवल इसमें है कि उन्होंने मर्वप्रथम मोक्ष-मार्ग का ग्राविष्कार किया ग्रौर दूसरों का मार्ग-सदर्शन किया। इसी ग्रर्थ में वह ज्येष्ठ ग्रौर श्रेष्ठ है। वह दूसरों का वाण वर-प्रदान कर या ग्रपनी ऋदि के वल से ग्रथवा प्रभाव में नहीं करते, किन्तु सद्धर्म की देशना से करते हैं। इस प्रकार, हम देखने हैं कि उपासक ग्रीर भिक्ष के उद्देश्य, चर्या ग्रौर मार्ग में भेद है, ग्रौर एक ृष्टि से इनका परस्पर विरोध भी है।

निर्वाण क्या है ? इसमें सन्देह नहीं कि यह परम क्षेम है, दु ख ग्रौर मसार का ग्रन्त है, मृत्यु पर विजय है। निर्वाण के यह लक्षण क्या इसिलए हैं कि यह ग्रभावमात्र है ? ग्रथवा यह ग्रमृत है ? भिक्षु के लिए मार्ग में उत्तरोत्तर उन्नित करना प्रधान वात है। कई कहेगे कि निर्वाण का ग्रनुसन्धान करना ग्रनावश्यक है। दूसरे कहते हैं कि यह ग्रमृत-पद है, यह मर्वराग, दु:ख, पुनर्जन्म का निरोधमात्र है। यह ग्रभिधमं का प्रश्न है। इसिलए, हम यह नहीं कह सकते कि एक दूसरे की ग्रपेक्षा ग्रधिक ग्रन्छा है। जिस काल में पिटक का सग्रह हुग्ना, उस काल में ग्रनेक निर्वाण में प्रविष्ट हो चुके थे। थेर (स्थविर) ग्रौर थेरियों के 'उदानों' का मग्रह है, ग्रौर इनमें निर्वाणाधिगम के सुख का वर्णन पाया जाता है।

कई वचन ऐसे है, जिनसे यह व्यवस्थापित होता है कि भिक्षु ग्रीर उपामक मे वडा भेद रखा गया है। जब ग्रान द बुद्ध से पूछते हैं कि सुगत के धातुगर्भ के प्रति भिक्षुग्रो का क्या भाव होना चाहिए, तव बुद्ध उनसे कहते है कि—''हे ग्रानन्द। मेरे धातुग्रो की पूजा की फिक न करो । सुश्रुत श्रीर श्रद्धालु क्षत्रिय, ब्राह्मण श्रीर नैगम मेरे धातुश्रो की पूजा करेगे। तम भिक्षुग्रो को मोक्ष की माधना में सलग्न होना चाहिए" ( दीघनिकाय, २।१४१ )। कभी-कभी ऐसी प्रतीति होती है कि भिक्षु-सवर मे भिक्त, पूजा ग्रीर लोकोत्तर बुद्धवाद मे कोई नम्बन्ध नहीं है। किन्तु, यह युक्तियुक्त नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि वौद्ध कीतुक-मगल, तिथि-नक्षत्रादि के विरुद्ध थे। उनमे तर्कवादी भी थे। किन्तु, यह एक ही दिक् है। दूसरी ग्रोर हम देखते हैं कि म्रानन्द को इस बात से बड़ा सन्तोष था कि बुद्ध ग्रपने सामर्थ्य से तिमाहम्त्र लोकधात को अवभासित कर सकते थे, और अपनी अनुशासनी की वहाँ प्रतिष्ठा कर मकते थे। उदायी ग्रानन्द से कहते है कि-''हे ब्रानन्द । ब्राप यह कैसे कहते है कि शास्ता का यह सामर्थ्य है ? इसमे सन्देह नहीं कि बुद्ध के ऋद्धि-वल का उनकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं हैं, नथापि वृद्ध उदायी से कहते हैं कि तुमको ऐसा नहीं करना चाहिए। इसका प्रमाण है कि वुद्ध ने भिक्षुग्रों को नीर्थाटन का आदेश दिया था और भिक्षु स्तूप-पूजा करते थे। सघ मे घ्यायियों की संख्या वहुत न थी। ( कथावत्यु १७।१ ) - से पता चलता है कि ग्रर्हत् स्तूपो को माल्य-गन्ध-विलेपन चटाने ये। हम निर्वाण की चर्या को धर्म से पृथक् नहीं कर सकते। मार्ग मे प्रवेश वहीं कर सकता है, जिसने पूर्वजन्म में कुणल मूल का ग्रारोपण किया है (ग्रिभिधर्मकोण, ४।१२४ ६।२८, ७१३०, ३४ )।

हीनयान का पुराना ग्राम्नाय जो पिटक में उपनिवद्ध है, स्पट्ट नहीं है। उसके वादों में परस्पर विरोध पाया जाता है। पुन हम सव निकायों के विचारों से भली भाँति परिचित भी नहीं है। इस कारण प्राचीन मत के जानने में कठिनाई है, तथापि पूसें इसके जानने का प्रयत्न करते हैं।

#### योग श्रीर वौद्धधर्म

पूसें का कहना है कि एक वात जो वड़े महत्त्व की है, ग्रसन्दिग्ध है। वह यह है कि वीद्धधर्म योग की एक शाखा है। योग में ब्रह्मचर्य, यम-नियम, ध्यान-धारणा-समाधि, नासाय-ध्रू-मध्यादि का दर्शन, काय-स्थैयं, मन्त्र-जप, प्राणायाम तालु में जिह्वा का धारण, महाभूतों का ध्यान, भूत-जय, ग्रणिमादि ग्रांट ऐश्वयों की प्राप्ति ग्रौर लोकोत्तर ज्ञान सगृहीत है। योग की इस प्रक्रिया का धार्मिक जीवन ग्रौर शील से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, इसका उनसे योग हो सकता है।

वौद्धधर्म का केन्द्र भिक्षु-सघ है। वुद्ध के पहले भारत मे श्रमणो के श्रनेक सघ थे। वुद्ध का भिक्षु-सघ भी इसी प्रकार का एक सघ था। श्रन्य सघो के समान इसके भी शील-समाधि के नियम थे। इसकी मौलिकता इसमें है कि इसको वुद्ध ऐसा शास्ता मिला, जिसकी शिक्षा से प्रभावित होकर योग की चर्या श्रीर उसके मिद्धान्तों ने एक विशेष रूप धारण किया।

श्रारम्भ में बौद्धधर्म श्रस्थिर श्रवस्था में था। वह युग स्थिर श्रीर निश्चित मतवाद का न था, श्रीर न धर्म-विनय में श्रभी स्थिरता श्राई थी। प्राय सव योगी समान मार्गों से एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उद्योग करते थे, किन्तु वह शास्ता श्रीर सघ को समय-समय पर वदला करते थे, श्रीर कभी वे 'थेरवाद' (स्थिवरवाद) से श्रीर कभी ज्ञानवाद (ञाणवाद) को स्वीकार करते थे ( मिज्झम, ११९६४)। उम युग मे वाद-विवाद बहुत होता था। श्रमण कहते सुनाई पडते थे कि जो मैं कहता हूँ, वह सत्य है, श्रन्य सव मिथ्या है। मैं जानता हूँ, मैं वुद्ध हूँ। उनका विश्वास था कि श्रालोक का ध्यान करने से ज्ञान-दर्शन होता है (दीघ, ३१२२३)। वह कहते थे कि ध्यान में प्रवेश कर मैंने देखा है कि लोक शाश्वत है । विद्धर्म में ज्ञान का विशेष महत्त्व है, यद्यपि वह तर्क का श्राश्रय लेता है। वस्तुश्रो का यथाभूत दर्शन समाधि में होता है (मिज्झम, ११७९)। इन प्रश्नो पर उस समय विवाद होता था—लोक का श्रादि है, या नही ? दु ख का समुदय क्या है । क्या श्रात्मा श्रीर काय एक है? क्या मरणानन्तर सत्त्व का सर्वथा विनाश होता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह उक्त प्रश्नो से इन प्रश्नो में श्रधिक रम लेते थे—क्या निर्वाण के श्रनन्तर श्रायं की उत्पत्ति हो सकती है ? कौन से तपो की श्रनुज्ञा है ? दिव्यचक्ष, दिव्यश्रोत श्रीर परिचित ज्ञान कैसे होता है ?

ऐसी परिस्थिति में वौद्धसघ का जन्म हुआ था। विनय के ग्रन्थो से जात होता है कि विविध सम्प्रदायों में ग्राचार की विविधता थी। उनमें दो प्रकार के श्रमणों की तुलना की गई है—-ग्रारण्यक ग्रार विहार में निवास करनेवाले भिक्षु। कई वानों से ऐसा सूचित

होता है कि सब प्रकार के भिक्षु बुद्ध को शास्ता मानते थे, श्रीर कर्मफल को स्वीकार करते थे, तथा ब्रह्मचर्य के नियमो का पालन करते थे। वह सघ मे प्रवेश कर सकते थे, यद्यपि उनके भ्रपने वाद ग्रीर ग्राचार थे। केवल एक शर्तां थी कि वह ग्रचेलक नही रह सकते थे। वहुत काल तक स्थिर रूप न हो सका । विनय के नियमो के साथ-साथ 'मार्ग' का भी वडा महत्त्व था। म्रागम से मालूम होता है कि म्राजीव प्रातिमोक्ष म्रीर म्रिभिधर्म के सम्बन्ध में सघ में विवाद होता था। किन्तु, चार स्मृत्युस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, श्रद्धादि पचेन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यग श्रीर श्रार्य श्रष्टागिक मार्ग के विषय मे मतभेद न था। भगवान श्रानन्द से कहते हैं कि जो विवाद ग्राजीव श्रीर प्रातिमोक्ष के विषय में होता है, वह ग्रल्पमान है, किन्तु यदि मार्ग के विषय में विवाद उत्पन्न हो, तो वह वहुजन का ग्रहित ग्रीर ग्रनर्थ करेगा (मज्झिम, २।२४५)। किन्तु शीतीभूत, विरक्त, वीतराग, स्रार्य बौद्धधर्म की देन नहीं है। यह योग की देन है। यह ठीक है कि बौद्धधर्म ने आर्यत्व का विशोध किया और श्रार्य को पूजाई वना दिया। वुद्ध को देव की पदवी देने मे वौद्धधर्म को सकोच होता था, किन्त् यह समाधि का मार्ग था, जिसका लक्ष्य निर्वाण-लाभ था। यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म का श्राधार योग की क्रियाएँ थी, किन्तु बौद्धधर्म ने इनका उपयोग शील श्रीर प्रज्ञा के लिए किया था और ग्रार्यत्व को प्रथम स्थान दिया था। वौद्धधर्म के ग्रनुसार क्लेश-क्षय ग्रीर 'ग्रिभसमय' श्रामण्यफल है। किन्तु, यह पाँच ग्रभिज्ञाग्रो में सगृहीत है। वीद्धो का विश्वास है कि ग्रार्य श्रभिज्ञाग्रो से समन्वागत होता है, किन्तु वह यह भी मानते हैं कि ग्रार्येतर भी इनसे समन्वागत होते हैं। उनका यह मत नहीं है कि ध्यान-लाभ मोक्ष है, किन्तु समाधि में ही योगी सत्यों की यथार्थ भावना करता है। वह म्रात्महत्या का प्रतिपेध करते है, ग्रौर जो योगी तालु में जिह्ना-धारण इत्यादि करता है, उसकी किसी सूत्रान्त मे प्रशसा है ग्रीर किसी में निन्दा है (मज्झिम, १।४५५, ३।२८, अगुत्तर, ४।४२६, अभिधर्मकोश, ६।४३)।

सध में विविध सिद्धान्तो का व्यवस्थापन ग्रारम्भ में इतना नथा। उसके ग्रन्तर्गत जो निकाय थे, उनका प्रवचन एक ही था। किन्तु, इसका यह ग्रयं नहीं है कि सवको समान रूप से एक ही वचन मान्य है। हम जानते हैं कि पुद्गलवादी कुछ वचनो की प्रामाणिकता नहीं मानते, ग्रन्तराभाव के ग्रपवादक कुछ ग्रन्य वचनों को प्रामाणिक नहीं मानते। यह साधारण रूप से माना जाता है कि मूल सगीति का भ्रश हुग्रा है, किन्तु सामान्यत विविध निकाय एक ही वचन का ग्रथं भिन्न-भिन्न प्रकार से करते है। इस मम्बन्ध में हम मधभद्र के न्यायानुसार दो वाक्य उद्धृत करते है।

१ सघभद्र एक सूत्र उदाहृत करते है, जिसमे 'म्प्रप्टव्य' का लक्षण दिया गया है, ग्रोर कहते हैं —हमारे प्रतिपक्षी 'स्थविर' इस मूल का ग्रस्तित्व नहीं म्वीकार करते। उनका कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि यह सूल सगीति में मगृहीत है, क्योंकि इनका ग्रन्य मूलों से विरोध नहीं है, ग्रीर यह युक्तिसम्मत भी है। ग्रत, यह प्रामाणिक है। हमारे प्रतिपक्षी उत्तर देते हैं कि यह सगीति में संगृहीत नहीं है, क्योंकि यह मामान्य रूप से पठित नहीं है, क्योंकि यह किल्पत है, किन्तु इस प्रकार वादी किसी भी सूल का प्रत्याख्यान कर मकता है।

२ यह लोग व्यर्थ ही कहते हैं कि ग्रिभिधर्म-शास्त्र वुद्ध-वचन नही है; क्योंकि विविध निकायों के ग्रलग-ग्रलग ग्रिभिधर्म है। विविध निकायों के सूत्र भी व्यजन ग्रीर ग्रर्थ में भिन्न है।

प्रवचन में परस्पर विरोधी वाद है। श्रनेक निकायों के सहयोग से यह सग्रह प्रस्तुत हुग्रा है। "वुद्ध ने जो कुछ कहा है, वह सब सुभाषित है।" इसका परिपूरक यह वाक्य है कि "यिंकिचित् सुभाषित है, वह वुद्ध-वचन है।" ऐतिहासिक काल में निकाय श्रौर सिद्धान्तों का विरोध वौद्धों की एकता को नष्ट नहीं करता। इस विरोध के होते हुए भी एक सामान्य विश्वाम पाया जाता है। यह विश्वास योग से भिन्न नहीं है। इस योग के तीन या चार प्रधान विचार हैं—पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक की कल्पना, पुण्य-श्रपुण्य, मोक्ष, परम श्रौर श्रात्यन्तिक क्षेम तथा मार्ग। दूसरों के समान बौद्धों ने भी इन विचारों को योग से लिया, श्रौर इनके मूल श्रृणं को सुरक्षित रखते हुए उनको एक नवीन श्राकार प्रदान किया।

विश्वास और सिद्धान्त में विशेष करना अच्छा है। वौद्धो का विश्वास है कि सत्त्व अनेक जन्मो में समरण कर अपने कमों के फल का भोग करता है, और वह अभिसमय द्वारा मुक्त होता है। वौद्ध विश्वास की यह मूल भित्ति है। इसमें दार्शनिक विश्वास जोड़े गये है। इनमें से कुछ इस विश्वास को विनष्ट करनेवाले है, किन्तु विश्वाम अडिंग होता है। प्रनर्जन्म: विश्वास और बाद

योग से वौद्धधर्म ने पुनर्जन्म ग्रीर कर्मफल के वाद को लिया है। वौद्धधर्म में कुशल-ग्रकुशल-स्वभाव ग्रीर बुद्धिपूर्वक किये हुए कर्म की गुरुता पर जोर दिया गया है तथा मौन, व्रत, स्नानादि को निरर्थक समझा गया है।

कर्म गितयों का श्राक्षेपक है। प्रत्येक जीव श्रपने मन कर्म, चेतना श्रीर काय-वाक् का परिणाम है। प्राणियों का मामुदायिक कर्म सवर्त्त-कल्पों के श्रनन्तर लोक का विवर्त्तन करता है। कर्म ही 'गृहकारक' है। कर्म श्रीर उसके फल का निपेध करना मिथ्यादृष्टि है। परलोक का श्रपवाद करना श्रीर श्रीपपादुक मत्त्वों के श्रस्तित्व का प्रतिपेध करना मिथ्या-दृष्टि है। प्रत्येक मत्त्व श्रपने कर्मी के लिए उत्तरदायी है, ससरण के सम्बन्ध में वौद्धों का यह सिद्धान्त है।

इस विश्वास में सिद्धान्त जोड दिये गये है। बौद्धधर्म ने विवेचनात्मक मनोविज्ञान का श्राश्रय लिया। उसके श्रनुसार श्रात्मा सेन्द्रिय शरीर-वेदना-सज्ञा-सस्कार विज्ञानात्मक है। यह नित्य धर्म नही है। श्रात्मबृद्धि श्रौर विपरिणाम-बृद्धि में वह विरोध देखता है। वह श्रात्मा के धर्मों का नैरात्म्य ग्रौर उनकी शून्यता मानता है। 'मन' 'ग्रात्मा' नही है, 'मन' ग्रात्मा' का नहीं है, ऐमा मानने का यह ग्रावश्यक ग्रयं नहीं है कि ग्रात्मा का ग्रस्तित्व नहीं है। यह केवल इस वात की प्रतिज्ञा है कि ग्रात्मा मन के परे है। हे भिक्षुग्रो जो तुम्हारा नहीं हैं, उसका प्रहाण करो । तुम्हारा क्या नहीं हैं ? चक्षु, ग्रथं, चक्षुविज्ञान . मनो-धर्म (मनोविज्ञान के विषय), मनोविज्ञान (सयुक्त, ३।३३, ४।५२)। उपनिषद् के श्रनुसार

श्रात्मा नित्य श्रीर लोकोत्तर है। वौद्धधर्म श्रात्मा का प्रतिषेध करता है। यह श्रपवादिका बृद्धि कर्म, कर्मफल श्रीर प्रतिसन्धि की बृद्धि का विनाश करती है। इस समस्या के दो समाधान है—

9 पहला पुद्गलवादियों का समाधान है। दुर्भाग्यवश उनके शास्त्र नष्ट हो गये हैं, ग्रीर यह 'तीर्थिक' समझे जाते हैं। प्राय पाँच या सात निकाय इस वाद के मानने-वाले थे।

'पुद्गल' का निर्वचन स्पष्ट नहीं है। जैनागम में 'पुद्गलास्तिकाय' नाम की सज्ञा है। इसका अर्थ 'अजीव' है। वौद्धों में आत्मा के लिए पुरुप, जीव, सत्त्व, पोष, जन्तु, यक्ष और पुद्गल (सुत्तनिपात, ५७४) यह आख्याएँ मिलती है। पुद्गल का चीनी-अनुवाद 'पुरुष' है। तिब्बती निर्वचन इस प्रकार है—पूयते, गलित चेति पुद्गल। 'अष्ट पुद्गल' आठ आर्य है। इतिवृत्तक, २४ में कहा है कि यदि किसी एक पुद्गल के विविध भवों की सब अस्थियाँ एकव की जायँ, तो उनका एक पर्वत हो जायगा।

भारहारसूत्र में इस शब्द का पारिभाषिक ग्रर्थ इस प्रकार है — पाँच स्कन्ध भार हैं . पुद्गल भारहारक है, यथा ग्रमुक गोत्र का, ग्रमुक नाम का यह ग्रायुष्मान् भिक्षु । भार का ग्रादान तृष्णा है, जो पुनर्भव का उत्पाद करती है, उसका निक्षेप इस तृष्णा का मर्वथा क्षय है, (सयुक्त, ३।२५, सयुक्त, २२।२२, उद्योतकर-कृत न्यायवार्त्तिक, ३४२) ।

जिस काल में पुद्गलवादियों ने अपने वाद को सुपल्लिवत किया, उस समय नैरात्म्यवाद सब निकायों को मान्य था। अत, पुद्गलवादियों ने यह निश्चय किया कि कम-से-कम पुद्गल के स्वभाव का लक्षण नहीं बताया जा मकता। "पुद्गल न स्कन्धों से भिन्न है, न अभिन्न। इस दृष्टि का समर्थन भगवान् के इस वचन से होता था—जीवितेन्द्रिय शरीर से अभिन्न नहीं है, जीवितेन्द्रिय शरीर से भिन्न नहीं है।" इस प्रकार, वह भी दूसरों के समक्ष आत्मा का प्रतिषेध करते हैं। इनको वोधिचर्यावतार में 'सौगतम्मन्य', 'अन्तश्चर तीर्थिक' कहा है। पुद्गल की उपलब्धि पचिवज्ञान-काय और मनोविज्ञान से होती हैं, किन्तु स्कन्ध-च्यितिरक्त, अर्थात् शरीर-वेदना-विज्ञान के अतिरिक्त उसकी उपलब्धि नहीं होती। अत, यह स्कन्धों से अन्य नहीं हैं, वयों अपनि ईन्धन से अन्य नहीं हैं। विपक्ष में पुद्गल स्कन्ध-स्वभाव नहीं है, वयोंकि उस विकल्प में वह जनन-मरण-शील होगा। पुनः पुद्गल कर्म का सम्पादन करता है, ससरण करता है, अपने कर्मों के फल को भोगना है, और निर्वाण का लाभी होता है। बुद्ध कहते हैं कि इतने कल्प व्यतीत हुए कि मैं सुनेव नामक ऋषि या। अतः, पुद्गल एक वस्तु-मत् है, एक द्रव्य है, किन्तु इसका स्कन्धों से सम्बन्ध अनिर्वचनीय हैं। इनी प्रकार यह न नित्य है, न अनित्य।

२ दूसरा समाधान यह है कि जिसे लोक मे ग्रात्मा ग्रादि कहते है, वह एक सन्तान (सन्तित) है, जिसके ग्रगो का हेतु-फल-सम्बन्ध है। यह ग्रात्मा का ग्रपवाद है, किन्तु ग्रात्मा जीवित है, यद्यपि वह एक नित्य द्रव्य नहीं है। ग्रान्मा का यह समाधान प्राय मान्य है, किन्तु सन्तित का निर्देश भिन्न प्रकार से किया जाता है। वह वौद्धधर्म की विचित्रता है कि

श्रागम कर्म श्रीर कर्मफल को स्वीकार करता है, किन्तु कारक का प्रतिषेध करता है। कोई सत्त्व नहीं है, जिसका सचार ( = सक्रान्ति) हो। किन्तु, यह सन्तित जीवित है। मृत्यु से इसका उपच्छेद नहीं होता। मृत्यु केवल उस क्षण को सूचित करती है, जब नई परिस्थितियों में नवीन कर्म-समूह का विपाक प्रारम्भ होता है।

यह कहना ग्रयथार्थ न होगा कि सन्तित स्वतन्त्र है। ग्रपने कर्म ग्रीर ग्रपनी इच्छाग्रो के वश इसकी प्रवृत्ति होती है। यह सेन्द्रियकाय ग्रीर स्व-वेदना के विषयो का उत्पाद ग्रन्य सन्तानो के सहयोग से करती है।

सत्य तो यह है कि कोई स्कन्ध एक भव से दूसरे भव में सक्रान्त नहीं होते। वस्तुत, सत्त्व का विनाश प्रतिक्षण होता है। वृद्ध शिशु नहीं है, किन्तु उससे भिन्न भी नहीं है। नारक मनुष्य नहीं है, किन्तु ग्रन्य भी नहीं है। यह नैरात्म्य है। यह स्पष्ट हैं कि यह श्रपवादिका दृष्टि एक विशेष प्रकार की हैं। यह श्रवयवों को देखती हैं, श्रवयवीं को नहीं। यह केवल धर्मों की सत्ता स्वीकार करती हैं, धर्मी की नहीं। कोई नित्य श्रात्मा नहीं है। शरीर को 'श्रात्मा' ग्रवधारित करना मूढता नहीं है, क्योंकि उसका दीर्घकालीन श्रवस्था न होता है, किन्तु जो प्रतिक्षण विसदृश होता रहता है, कैसे श्रात्मा हो सकता है ?

नैरात्म्यवाद से पुनर्जन्म श्रीर कर्म के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को क्षिति नहीं पहुँचती। श्रात्मा की प्रतिज्ञा करना भूल है, सन्तित का उल्लेख करना चाहिए। सक्रान्ति का उल्लेख करना भूल है, कहना चाहिए कि मरण-चित्त प्रतिसन्धि-चित्त का उत्पाद करता है। "विज्ञान का श्रस्तित्व है, किन्तु विज्ञान नहीं जानता।"

इसमें वाक्-चातुरी है, किन्तु यह एक पहेली है। एक सूत्रान्त में कहा है कि वृद्ध सर्वज्ञ है, वयोकि जिस सन्तित की सज्ञा 'वृद्ध' है, उसका यह सामर्थ्य है कि चित्त के श्राभोगमात से इस मन्तित में प्रत्येक विषय की यथाभूत प्रज्ञा उपस्थित होती है। जिस सन्तित की कल्पना वीद्ध करते है, उसमें श्रात्मा के सब सामर्थ्य पाये जाते हैं।

#### निर्वाण की कल्पना

निर्वाण का वाद भी योग से लिया गया है। सामान्य जन, चाहे गृही हो अथवा श्रमण, स्वर्ग की कामना से सन्तुष्ट होते है। कोई स्वर्ग में अप्सराग्रो के साथ सम्भोग करने की कामना से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, कोई अलौकिक सिद्धियों के लाभ के लिए ध्यान में समापन्न होते हैं। वुद्ध अभिज्ञाग्रो के विना आर्यत्व को सम्भव नही मानते, किन्तु यथार्थ भिक्षु अध्रुव में ध्रुव का ग्रन्वेपण करता है। मोक्ष की एक अतिशाचीन और लाक्ष णिक सज्ञा 'अमृत' है।

मोक्ष-सज्ञा निश्चित थी । यह चेतोविमुक्ति है । मृत्यु पर विजय प्राप्त करके ही बुढ 'वुढ है । वुढ त्व प्राप्त करने के ग्रनन्तर शाक्यमुनि का जो पहला उद्गार था, वह यह था कि उन्होने 'ग्रमृत' का लाभ किया है (मिज्झिमनिकाय, १।१७२, महावग्ग, १।६, १२)। हमको सजय के ग्रनुयायी शारियुज ग्रौर मौद्गल्यायन के सब में प्रविष्ट होने की कथा विदित

है। इन्होने ग्रापस में यह समय किया था कि हममें से जो प्रथम ग्रमृत का ग्राविकार करेगा, वह उसे ग्रपने सब ब्रह्मचारी को बता देगा (महाबग्ग, १।२३)। उपनिषदों में ग्रमृत का निर्देश है, ग्रीर वह उसे 'ब्रह्म' के नाम से सकीर्त्तित करते हैं। बौद्धधर्म में ब्रह्म की उपेक्षा की गई है, किन्तु उसकी प्रतिज्ञा है कि 'ग्रमृत' है। इस ग्रमृत को निर्वाण, निरोध, परम क्षेम, विराग कहते हैं।

बौद्धधर्म मे श्रामण्य की ग्राख्या ब्रह्मचर्य है, ग्रौर ग्रायं-समापित को 'ब्रह्मविहार' कहते हैं। भिक्षु के लिए सबसे बडा दण्ड 'ब्रह्मदण्ड' है। 'श्रामण्य' 'ब्राह्मण्य' है। ग्रायं की सज्ञाएँ ब्राह्मण, चेदगू, श्रोत्रिय ग्रौर स्नातक है। किन्तु, बौद्ध उपनिषदों के 'ग्रात्मा' ग्रौर ब्रह्म' की उपेक्षा करते हैं। वह चेदान्तवणित योग का उल्लेख नहीं करते, जो ईश्वर में जीवात्मा के लीन होने प्रक्रिया है।

इसका कोई प्रमाण नहीं है कि बौद्धों के निर्वाण की कल्पना ब्राह्मणों की किसी कल्पना का प्रतिपक्ष थी। निर्वाण एक अदृश्य स्थान है, जहाँ आर्य तिरोहित हो जाने हैं। उनका उदान (६१९०) में (उदानवर्ग, ३०१३६ में 'अचल पद' कहा है, अभिधर्मकोण, ४१२२६) बुद्ध कहते हैं कि जैसे हम यह नहीं जानते कि निर्वापित अग्नि कहाँ जाती है, उमी प्रकार हम नहीं कह सकते कि वह विमुक्त आर्य कहाँ जाते हैं, जिन्होने तृष्णारूपी श्रोघ का समितिकम किया हैं, श्रीर जिन्होने अकोप्य क्षेम का लाभ किया है। निर्वापित होने पर अग्नि अदृश्य हो जाती है, अर्थात् अग्नि नहीं रहती। इसी प्रकार, परिनिर्वृत आर्यं, जीव, पुद्गल, चित्त नहीं रह जाता। भव के जितने परिचित श्राकार हैं, या जिनकी कल्पना हो सकती है, उनका अतिकमण करना ही मोक्ष है। यह श्रभाव नहीं है।

ग्रर्हत् का यह पुराना वाक्य विचारणीय है—-"मेरे लिए जाति (= जन्म) नही है। मैंने ग्रपना कर्त्तव्य सम्पन्न किया है, श्रव मेरे लिए ग्रौर करणीय नहीं है। यहाँ मेरे पुन श्रागमन का कोई कारण नहीं है। निर्वाण सर्वश्रेष्ठ सुख है।"

किन्तु, उदायी पूछता है कि निर्वाण में मुख कैसे है निस्योकि वहाँ वेदना का ग्रभाव है। ग्रारिपुत उत्तर देते हैं कि निर्वाण सुखवेदना का ग्रभाव ही है (ग्रगुत्तर, ४।४१४)। इससे कोई-कोई यह ग्रनुमान करते हैं कि निर्वाण ग्रचेतन ग्रवस्था है जहाँ वेदना का ग्रभाव है, ग्रीर विमुक्त पाषाण के तुल्य सुखी होता है। किन्तु, भारतीयों की दृष्टि में पुद्गल ग्रीर सुख क्या है, यह ममझना कठिन है। ग्रवाच्य का लक्षण नहीं वताया जा मकता। कहा जाता है कि सज्ञावेदित निरोध निर्वाण-मद्श है। यह समापत्ति ग्रचेतन ग्रवस्थामात्र नहीं है।

ग्रव हमको यह देखना है कि निर्वाण का पीछे क्या म्वरूप हो गया। जो निकाय 'ग्रात्मा' या 'प्रभास्वर चित्त' स्वीकार करते हैं, वह उसे चैतिमिक धर्मों का ग्राश्रय मानने हैं, ग्रीर ग्रम्त तथा विनश्वर की सज्ञाग्रो को परस्पर मम्बद्ध करने है।

पुद्गलवादी मानते हैं कि ग्रात्मा एक भव से भवान्तर में मक्रमण करता है, ग्रीर निर्वाण प्राप्त कर धर्मों के रूप में विद्यमान रह सकता है। 'कथावत्यु' की अर्थकथा के अनुसार यह कहना कि पुद्गल का निर्वाण में अस्तित्व है, नित्यता की प्रतिज्ञा करना है, और इसका प्रत्याख्यान करना पुद्गल के निरोध को स्वीकार करना है। भव्य के अनुसार वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि हम न यही कह सकते हैं कि निर्वाण धर्म है, और न यही कह सकते हैं कि यह उससे अन्य है। विज्ञानवाद ग्राह्य-ग्राहक की कल्पना में क्लिष्ट विणिष्ट चित्तों से भिन्न एक विशुद्ध 'प्रभाम्बर चित्त' मानता है। हीनयान में इस मत का पूर्वरूप है (अगुत्तर, ११९०, अभिधर्मकोश, ६१७७, दीघनिकाय, ११७६, बुद्धघोप अत्यसालिनी, पृ० १४०)। अत , पाँच या आठ पुद्गलवादी निकाय, चार महासाधिक निकाय, (महासाधिक, एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवादी, कुन्कुटिक) और विभज्यवादी निर्वाण की इस कल्पना को मानते हैं। किन्तु, जिन निकायों को हम सबसे अधिक जानते हैं, वह नैरात्म्यवादी है। नैरात्म्य को मानते हुए भी सन्तित के नैरन्तर्य में विण्वास किया जा सकता है। आर्य दग्ध वीज के सदृश अक्लिप्ट और वन्ध्य-चित्त का उत्पाद करके सन्तित का उच्छेद करता है। यथा प्रशस्तपादभाष्य में कहा है—अत्यन्तमुच्छित्ते सन्तित्वाद् दीपसन्तित्वत् । वह कहते हैं कि यदि आत्मा सन्तितमात्र है, तो निर्वाण अभावमात्र है। मिज्झमनिकाय में कहा है— कत्थिच उप्पज्जित (मिज्जिम, ३१९०३)।

किन्तु, बौद्धो की दृष्टि में निर्वाण श्राँर ग्रात्मा के प्रश्न एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं है। सौद्रान्तिक निर्वाण को ग्रभाव मानते हैं। किन्तु, वैभापिक उसे द्रव्य-सत् मानते हैं। सौद्रान्तिकों का मत है कि निर्वाण हेतु-फल-परम्परा का उच्छेद है। वैभाषिकों के मत में इस उच्छेद का हेतु निर्वाण का प्रतिलाभ है। वैभाषिकों के श्रनुसार निर्वाण में प्रतिसन्धि श्रौर मृत्यु का मर्वथा निरोध है, निर्वाण ग्रजात श्रौर श्रविपरिणामी है, यह क्लेश दु ख श्रौर भव का निरोध करने-वाला सेतु है। यहाँतक समझने में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु, प्रश्न है कि मरणानन्तर श्रायं का निर्वाण से क्या सम्बन्ध होगा। हम जानना चाहते हैं कि यह निकाय निर्वाण-प्रवेश का क्या ग्रर्थ करता है, उस निर्वाण का, जिसका श्रवस्थान श्रायं के चरम चित्त के श्रनन्तर होता है (बुद्धवोप)।

हमको इन प्रश्नो का उत्तर नहीं मिलता। चित्त-निरोध ग्रौर स्कन्धो का ग्रत्यय होने से हीं निर्वाण में प्रवेग होता है। यहीं मोक्ष हैं। िकन्तु, जो स्वीकार करता है कि मोक्ष हैं, वह यह भी मानता हे कि मोक्ष नित्य ग्रौर शान्त है। ग्रन्यया मोक्ष में किसी को भी रुचिन होगी (सघभद्र ग्रिमिधर्मकोण, १।८)। ग्राभिधामिक कहता है कि यह वस्तु-सत् हैं, ग्रौर उमका एक ग्राकार दुःख-विमोक्ष है, किन्तु उसके सम्बन्ध में न यह कह सकते हैं कि इसका ग्रित्तव हैं, ग्रीर न यह कह मकते हैं कि नहीं हैं।

#### दट्टघर्म-निर्वाण

डम जन्म में अमृत का सुख होता है, यह भाव भी योग में लिया गया है।
अगुत्तर, २।२०६, मिंज्झम, १।३४१, अभिधर्मकोश ३।१२ इत्यादि में कहा है कि
वह विमुक्त है, निर्वृत है, विगततृष्ण है। योगी समापत्ति में प्रवेश करता है। जिस क्षण में

प्रज्ञा का उत्पाद होता है, उस क्षण में वह निर्माण का साक्षात्कार करता है। (मज्झिम, १।५१०, श्रगुत्तर, १।१४६, 'निब्बान पच्चत्त वेदितब्ब विञ्जूहि')।

ग्राभिधार्मिक कहते हैं कि ग्राज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत ग्रार्य ही निर्वाण का दर्णन करता है, यह इन्द्रिय 'ग्रिरयचक्खु' (= ग्राथंचक्षु) कहलाती है। यह मन का वेदना-विशेष ग्रीर श्रद्धादि पचेन्द्रिय से सम्प्रयोग है। इस इन्द्रिय के द्वारा निर्वाण का 'उपभोग' होता है, क्योंकि ग्रार्य सीमनस्य ग्रीर सुख का ग्रनुभव करता है, जो निर्वाण को स्पृष्ट करके ही होता है। (ग्रिभिधर्मकोश, १।१०१, २।११०, ११२, ११६)।

ध्यान ग्रौर ग्रारूप्यों के ग्रभ्यास से निर्वाण में सहायता मिलती है, किन्तु बुद्ध को यह समापत्तियाँ ग्रपर्याप्त प्रतीत हुई । उन्होंने इस कमी को पूरा किया । उनकी शिक्षा है कि निर्वाण 'सिंदिट्ठक' (दिट्ठधम्म-निव्वान) है । बुद्ध कहते हैं कि राग के प्रहाण से ग्रमृतत्व का साक्षात्कार होता है (सयुत्त, ४।१६१) । ग्रन्यत दृष्टधर्म-निर्वाण को क्षय-ज्ञान से मज्ञावेदित-निरोध कहा गया हे (ग्रगुत्तर, ४।४५४) । यह दो परस्पर विरोधी सज्ञाएँ हैं । उदायी ग्रानन्द से पूछते हैं—दृष्टधर्म-निर्वाण क्या है श्रानन्द उत्तर देते हैं—कामसुख से बीतराग भिक्षु ध्यान ग्रौर ग्रारूप्यों में समापन्न होता है । इन ग्रवस्थाग्रों में प्रत्येक के लिए भगवान ने पर्याय से कहा है कि यह दृष्टधर्म-निर्वाण है । किन्तु, जब भिक्षु चतुर्थ ग्रारूप्य का ममितिक्रमण कर सज्ञावेदित निरोध का साक्षात्कार करता है, ग्रौर वहाँ ग्रवस्थान करता है, ग्रौर ज्ञान द्वारा उसके क्लेश क्षीण होते हैं, तब भगवान इस ग्रवस्था को निष्पर्यायेण दृष्टधर्म-निर्वाण कहते हैं (ग्रगुत्तर, ४।४५४) ।

एक दूसरा वाक्य है—'दृष्टधर्म-सुख-विहार'। ग्राभिधार्मिक इस वाक्य का व्यवहार केवल ग्रर्हत् के लिए करते मालूम होते हैं। निर्वाण की प्राप्ति एक वात है, निर्वाण का मुख दूसरी वात है। ग्रार्य निर्वाण की प्राप्ति करता है। उनके क्लेश क्षीण होते हैं, क्योंकि उसके ग्रीर निर्वाण के वीच एक सम्बन्ध-विशेष होता है। ग्रार्यत्व निर्वाण नहीं है, किन्तु निर्वाण की प्राप्ति है।

श्राभिधार्मिक विशेष करते हैं—१ श्रात्यन्तिक निर्वाण श्रीर क्लेणक्षय, २ निर्वाण की प्राप्ति जो सर्वक्लेश श्रीर अपूर्व भव को श्रनुत्पत्तिधर्मा वनाती है। यह मोपिधशेष निर्वाण है। ३ निर्वाण-प्राप्ति का ज्ञान। इस ज्ञान का लाभ ध्यान मे होता है। यह सुख है। यह इस लोक का श्रग्र-निर्वाण है। ४ मज्ञावेदित निरोध की प्राप्ति। इसका सर्वेदन काय मे होता है। ५ चरम चित्त मे निर्वाण-प्रवेश। यह निरुपिधशेष निर्वाण है। ६ श्रमुक-श्रमुक क्लेश के प्रति निर्वाण की प्राप्ति। यह श्राशिक श्रार्यत्व है।

निर्वाण का स्वरूप परम्परा के अनुसार

कुछ प्रश्न स्थापनीय है, जिनका विसर्जन भगवान् ने नही किया है। वििषटक मे यह स्थापनीय प्रश्न पाये जाते है। वुद्ध इस प्रश्न का उत्तर नही देते कि तथागत है, या नही। वह इस प्रश्न का भी उत्तर नही देते कि जीवितेन्द्रय शरीर से भिन्न है या अभिन्न। परमार्थ-

दृष्टि से सत्त्व की सत्ता नहीं है। सत्त्व सवृति-सन् है, वह प्रज्ञप्तिमान्न है। वसुवन्धु (ग्रिभिधर्म-कोश, ६) इस सम्बन्ध में नागसेन की एक कथा का उल्लेख करते हैं। वसुवन्धु कहते हैं कि मगवान् प्रण्नकर्ता के ग्राशय को ध्यान में रखकर उत्तर देते हैं। जीवितेन्द्रिय-सम्बन्धी स्थापनीय प्रश्न का ग्रथं पुद्गलवादी ग्रन्य प्रकार से करते हैं। यदि बुद्ध तत्त्व या ग्रन्यत्व का प्रतिपेध करते हैं, तो इसका कारण यह है कि पुद्गल यथार्थ में स्कन्धों से ग्रिभन्न नहीं है ग्रीर न उनसे मिन्न है। स्कन्धों के प्रति पुद्गल ग्रवाच्य है। "स्कन्धों से पृथक् पुद्गल की उपलिख नहीं होती, ग्रत यह उनसे भिन्न नहीं है। यह तत्स्वभाव नहीं है, क्योंक उन ग्रवस्था में यह जन्म-मरणके ग्रधीन होगा। पुद्गल इन्य है, यह कर्म का कारक ग्रीर फल का भोक्ता है।"

निर्वाण का प्रश्न स्थापनीय नही है, किन्तु निर्वृत श्रार्य का प्रश्न स्थापनीय है। निर्वाण है, किन्तु यह क्या है ? इसका उत्तर नही है।

सौवान्तिक ग्राकाण के तुल्य निर्वाण का प्रतिपेद्य करते हैं। वह कहते हैं कि यह ग्रभावमात्र है। सर्वास्तिवादियों का मत है कि निर्वाण परमार्थ-सत्, द्रव्य, 'प्रतिथधमम' (वृद्धघोप) है। वृद्ध ने निर्वाण का व्याकरण किया है, क्योंकि यह तृतीय ग्रायंसत्य है। यह 'लक्षण-धर्म' (लक्ष्डण-धम्म) है। दुःख का निरोध है, ग्रौर दुःख-निरोध का ग्रयं, विषय, (वत्युसच्च = वस्तुसत्य) भी है, ग्रयात् उसका विषय ग्रसन्मात, विरोधमात्र नहीं है, किन्तु द्रव्य-सत् हैं (कथावत्यु)।

प्रारम्भिक काल के बौद्धों के लिए एक दूसरा प्रश्न है। निर्वाण है, किन्तु उसका स्वरूप हम क्या समझते हैं? क्या हम यह कह सकते हैं कि मुक्तावस्था का श्रस्तित्व कहाँ हैं? क्या यह कहना श्रधिक ठीक होगा कि इसका श्रस्तित्व नहीं है, श्रथवा क्या हम यह कह सकते हैं कि यह है भी, श्रीर नहीं भी है, या इनमें से हम कुछ भी नहीं कह मकते ? इन प्रश्नों का उत्तर वृद्ध ने नहीं दिया है। निर्वाण है, किन्तु वह श्रनाख्यात है।

इसका प्रमाण है कि निकायों ने इन दो प्रश्नों में विशेष किया है। वैभाषिक निर्वाण के प्रश्न को स्थापनीय नहीं समझते। निर्वाण है, किन्तु तथागत का मरणानन्तर ग्रस्तित्व रहता है या नहीं, यह प्रश्न स्थापनीय है, क्योंकि तथागत प्रज्ञाप्तिमात्न है।

स्थितरों के लिए निर्वाण का प्रश्न स्थापनीय है, क्योंकि निर्वाण प्रज्ञिप्तिमात है। उनका यह मत उस सूत्र के ग्राधार पर नहीं है, जिसमें तथागत के ग्रस्तित्व के प्रश्न का उल्लेख हैं, किन्तु यह शारिपुत्र के एक दूसरे सूत्र पर ग्राश्रित है, जिसमें वह निर्वाण के प्रश्न का व्याकरण नहीं करते (ग्रगुत्तर, २।१६१)। परिनिर्वृत चक्षुरादि से जाना नहीं जाता, यह कई स्थलों में निर्विष्ट है—

"जव ग्रार्य का तिरोभाव होता है, तव क्या यह कहना चाहिए कि वह नहीं है (नित्य), वह मदा के लिए ग्ररोग (सस्मितिया ग्ररोगो) है ? जिसका तिरोभाव हुग्रा है, उसका कोई प्रमाण नहीं है। उसके सम्बन्ध में सर्ववृद्धि की, सर्ववचन की हानि होती है' (मृत-निपात, १०७४)।

"तथागत के सम्बन्ध में यह प्रज्ञप्ति नहीं हो सकती कि वह रूपादि है। इन प्रज्ञप्तियों से वह विनिम् क्त है। वह मदोदिध के सदृश गम्भीर और अप्रमेय है। उसके लिए हम नहीं कह सकते कि वह है वह नहीं है इत्यादि।" (सयुत्त, ४।३७४)

"वह गम्भीर, अप्रमेय, असख्य है। उसे 'निवृंत' कहते हैं, क्योकि उसके राग, द्वेष श्रीर मोह क्षीण हो चुके हैं।"(नेत्तिप्पकरण)

इन वचनो की सहायता से हम समझते हैं कि बुद्ध ने भव श्रीर विभव की तृष्णा की क्यो निन्दा की हैं (श्रिभधर्मकोश, ४।१६)। इनमें से एक भी निर्वाण नहीं है। इसी कारण से बुद्ध दो अन्तो का अपवाद किया करते हैं। यह कहना कि जो भिक्ष क्लेशक्षय करके मृत्यु को प्राप्त होता है, वह निरुद्ध हो जाता है, उसका श्रस्तित्व श्रीर नहीं होता (न होति), पापिका दृष्टि है (सयुक्त, ३।१०६)। दूसरी श्रोर यह कहना कि श्रार्य दु ख से विनिर्मुक्त हो नित्य श्रारोग्यावस्था में अवस्थान करता है, उचित नहीं है। (किन्तु, निर्वाण का लक्षण 'श्रारोग्य' कहा गया है।)

पूसें का विचार है कि इनमें से कई निरूपण कृतिम है। उनका विश्वास है कि एक समय था, जब बौद्धधर्म इन वादो से विनिर्मुक्त था ग्रीर निर्वाण-लाभ के लिए सर्वज्ञेय के सर्वथा ज्ञान को स्रावश्यक नही समझा जाता था। निर्वाण स्रभावमात्र है, इस विचार से भी वह परिचित नही था। वह स्रभी किसी पद्धित में गठित नही हुस्राथा, किन्तु वह बुद्ध मे प्रतिसन्धि में, निर्वाण में, ग्रीर परम क्षेम मे विश्वास करता था। हमको ऐसी गाथाएँ मिलती है, जहाँ 'सन्तान' शब्द प्रयुक्त हुन्रा है। निर्वाण के सम्बन्ध में वह गाथाएँ ग्रपने को स्पष्ट शब्दो में व्यक्त करती है। यह सन्तान ऐसा है, जहाँ कोई लज्जा नही है। स्कन्धो का इस प्रकार सम्प्रधारण कर वीर्यवान् भिक्षु राग का प्रहाण करता है, शरण का अन्वेषण करता है, यह समझकर कि उसका शिर ग्रग्नि से प्रज्वलित हो रहा है, वह ग्रचल, ध्रुव को लक्ष्य मानकर ग्रग्नसर होता है (सयुक्त, ३।१४३)। किन्तु, वह परिनिर्वृत ग्रार्य की ग्रवस्था के सम्वन्ध में किसी प्रकार की कल्पना करने का प्रतिषेध करता है। क्योकि, वह वाणी ग्रीर मन से ग्रतीत हो गया है। जिस प्रकार वह कामसुख ग्रीर कष्टतप दोनो ग्रन्तो का परिहार करता है, उसी प्रकार वह शाश्वतत्व, विभव, लोकप्रभव भ्रादि की निन्दा करता है। वह दृष्टियो को विपर्यास भीर मोह का कारण समझता है। जो कहते हैं कि तर्क मेरी श्रोर है, श्रापका वाद मिथ्या है, जो मै कहता हूँ, वह सत्य है, अन्य सब मूर्खता है, उसका प्रलाप णान्ति, वैराग्य और मोक्ष के अनुकूल नहीं है।

पूसे के अनुसार हीनयान एक विद्या नहीं है। योग की अन्य शाखाएँ है, जिनमें मोक्ष किसी विद्या पर आश्रित है। इनमें आत्मा और ईश्वर के तादातम्य-ज्ञान पर, अथवा प्रकृति और पुरुष के विवेचनात्मक ज्ञान पर मोक्ष निभैर करता है। किन्तु, यह ज्ञान आध्यात्मिक नहीं है। यह मानना कि शरीर अमेध्य है, जीवन क्षणिक है, वेदना दु खात्मक है, वस्तु सारहीन है, 'ज्ञान' नहीं है। यह एक दृढ विश्वास है, जो राग का क्षय करता है।

श्राभिधार्मिक कहते हैं कि अपने श्रोताश्रों के चरित के अनुसार बुद्ध विविध पर्यायों से देशना करते थें, और इसलिए कुछ सूत्रान्त 'नीतार्यं' हैं और कुछ 'नेयार्थं'। श्रागम के अनुसार, बुद्ध एक चिकित्सक हैं। श्राभिधार्मिकों के अनुसार वह किसी को पुद्गल की देशना देते हैं, श्रीर किसी को नैरात्म्य की।

जो दृष्टि से क्षत होता है, वह आत्मा के ग्रस्तित्व में प्रतिपन्न है। जो सवृति-सत् (प्राज्ञप्तिक) पुद्गल को नहीं मानता, वह कुशल कर्म का भ्रम करता है। इसलिए, वृद्ध यह नहीं कहने कि जीव अनन्य है या अन्य, और इस भय से कि कहीं ऐसा कहने से लोग यह न समझने लगे कि प्राज्ञप्तिक जीव भी नहीं है। वह यह भी नहीं कहते कि जीव का वास्तव में ग्रस्तित्व नहीं है। ग्रत, उनकी देशना उसी प्रकार होती है, जैसे व्याध्री अपने वच्चे को दाँत से पकड़कर ले जाती है।

सेनार्न ग्रपनी पुस्तक में कहते हैं कि बौद्धों का नास्तिवाद योग के शील-सम्बन्धी विचारों से प्रभावित हुग्रा है। इन्द्रिय-विषय के महत्त्व को न मानने से, ग्रीर इसपर जोर देने से कि विषयों को इस प्रकार अवधारित करना चाहिए, मानो उनका ग्रस्तित्व ही नहीं है; हम विना किमी कठिनाई के इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि इन्द्रियार्थ का ग्रस्तित्व ही नहीं है।

'धम्मपद' की एक गाथा श्रीर 'सयुक्त' के एक सूत्रान्त (२।१४२) की परस्पर नुलना करने से इसकी सत्यता म्पप्ट हो जाती है। "जो सत्त्व लोक को जल-बुद्बुद, मरीचिका श्रादि श्रवधारित करता है, वह मृत्युराज के श्रधीन नहीं होता।" जिम सूत्रान्त में प्रज्ञापारिमताश्रों का दर्शन वीजरूप में पाया जाता है, वह पुद्गल के स्कन्धों को द्रव्य-सत् नहीं मानता, उसकों श्रसद्भूत मानता है। वृद्ध ने कहा है कि शरीर फेनोपम है। वेदना जल-बुद्बुद के समान है, सज्ञा मरीचिका के तुल्य है, सस्कार कदली-स्तम्भवत् नि सार है, विज्ञान मायावत् प्रतिभास है। श्रार्यमार्ग के सिद्धान्त श्रीर उसके श्रभ्याम का झुकाव पुद्गल-नैरात्म्य की श्रोर था, पश्चात् वह धर्म-नैरात्म्य की श्रोर हो गया।

राग का प्रतिपक्ष यथार्थ ज्ञान है। एक निमित्त का निवारण प्रतिपक्ष नियम से होता है। (मिज्ज्ञम, ११९९)। जब इष्ट सज्ञा का एकान्तत प्रहाण होता है, तब राग का निरोध होता है। यत जरा, रोग ग्रौर मरण का चिन्तन करना ग्रावश्यक है, ग्रौर यह जानना ग्रावश्यक है कि महान् कप्ट उठाकर जो कामसुख लब्ध होता है, वह क्षणिक है, ग्रौर उसके लिए नरक का दुख सहन करना होता है। यह तत्त्व-मनस्कार है, किन्तु यह ग्रपर्याप्त है। राग-रोग ग्रिधमुन्ति-मनस्कार (ग्रिभधमंकोश, २।३२५) का उत्पाद करता है। इमलिए, ग्रश्चचि ग्रौर ग्रश्चभ की भावना करने से स्त्री-सज्ञा की व्यावृत्ति होती है। इस रीति से योगी यह ग्रवधारित करने लगता है कि मब दुख है 'मर्व दुखम्' यह एक दृष्टि-विशेष से ही मत्य है। बौद्धो का यह विश्वास नही है कि समार केवल दुख-ही-दुख है। इसके प्रतिकृत वह मानते है कि इष्ट वस्तु मनोज्ञ है, ग्रौर इसी-लिए ग्रार्य उनको ग्रमनोज्ञ के ग्राकार में देखने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह ठीक है कि सौदान्तिक ग्रौर महासाधिक मानते है कि सर्ववेदना दुख-स्वभाव है (ग्रिभधमंकोण, ६।३)।

किन्तु इन्ही वौद्धो का यह भी कहना है, कि जो वुद्ध को एक पुष्प दान में देता है, वह इस दान के कारण कल्प-भर स्वर्ग-सुख का भोग करता है, किन्तु वह कहते है कि यह मुखावेदना ग्रायों को प्रतिकूल प्रतीत होती है। वह कहेगे कि सासारिक सुख यथार्थ सुख नहीं है, क्यों कि यह ग्रनित्य है। इसी प्रकार, वह कहेगे कि 'ग्रात्मा' मायोपम है। क्यों कि, वह ग्रहकार ग्रीर ममकार का प्रहाण करना चाहते हैं।

ग्रहकार ग्रीर ममत्व के विनष्ट होने पर योगी शान्त होता है। उसकी रुचि निर्वाण में भी नहीं होती। "में विमुक्त ग्रीर वीतराग हूँ। में विगुद्ध हूँ, किन्तु इस विशुद्धि में, इस विमुक्ति में, चाहे वह निर्वाण ही क्यो न हो, मेरा ग्रिधमोक्ष न होना चाहिए। वैभाषिक ग्रीर सीत्रान्तिक मत

पूसें के अनुसार ग्रारम्भ में वौद्धधर्म ग्रात्मा, पुनर्जन्म ग्रौर निर्वाण में विश्वास करता था। वह दर्शन न था। पीछे से धर्म-नैरात्म्य की भावना ग्रौर मद-निर्मर्दन के लिए नैरात्म्य-वाद का प्रारम्भ हुग्रा। इसके दो रूप हुए—पुद्गलवाद ग्रौर मन्ततिवाद। किन्तु, पुनर्जन्म में जो विश्वास था, वह नष्ट न हो सका। जो सन्तिवाद के माननेवाले हैं, उनमें कोई निर्वाण को वस्तु-मत् मानते हैं, कोई निर्वाण को क्लेश भ्रौर पुनर्भव का ग्रभावमात्र मानते हैं। यह दूसरे सौतान्तिक ग्रौर 'पुब्बसेलिय' हैं। इनमें हम स्थिवरों को भी सिम्मिलित कर मकते हैं। पहली कोटि में विभज्यवादी, सर्वास्तिवादी ग्रौर वैभाषिक है, ग्रर्थात् ग्राभिधार्मिक प्राय पहले मत के हैं। 'पुब्बसेलिय' निर्वाण को वस्तु-सत् नहीं मानते (वृद्धधोष के ग्रनुमार)। स्थिवरों का भी मत है कि निर्वाण का ग्रस्तित्व नहीं है।

सौद्यान्तिको का कहना है कि जो कुछ है, वह हेतु-प्रत्यय-जनित है, अर्थात् वह सस्कृत, प्रतीत्यसमृत्पन्न, हेतुप्रभव है। सस्कृत सस्कार भी है। यह अन्य सस्कृतो का उत्पाद करता है। हेतुफल-परम्परा के वाहर कुछ भी नहीं है। यह परम्परा प्रवृत्ति, ससार है। निर्वाण केवल क्लेशजन्म का अभाव है, क्लेशकर्म-जन्मरूपी प्रवृत्ति की निवृत्तिमाद्य है। एक शब्द में केवल सस्कृत का अस्तित्व है। वे असस्कृत का प्रत्याख्यान नहीं करने, किन्तु वह कहते हैं कि यह कोई लोकोत्तर वस्तु-सत् नहीं है, यह अमद्भूत है, यथा लोक में कहते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व या निष्पत्ति के पश्चात् शब्द का अस्तित्व नहीं होता। वे एक सूत्र उद्धृत करते हैं, जिसे उनके प्रतिपक्षी प्रामाणिक नहीं मानते—अतीत और अनागत वस्तु, आकाण, पुद्गल और निर्वाण प्रज्ञप्तिमाद्य है (अभिधर्मकोण, ४।२)। निर्वाण अभावमाद्य, अप्रवृत्तिमाद्य (अप्पवट्ट) है। सूत्र में निर्विष्ट लक्षण इस प्रकार है—सर्वथा प्रहाण, वैराग्य, विणुद्धि, क्षय, निरोध, दु ख का अत्यन्त अत्यय, अनुत्पाद, अनुपादान और अप्रादुर्भाव। यह णान्त, प्रणीत है, अर्थात् सर्वोपिध का प्रत्याख्यान, तृष्णा-क्षय, निर्वाण है (सयुत्त, १३।६, अभिधर्मकोण, २, पृ० २=४)।

ग्रागम के ग्रन्सार निर्वाण तृतीय सत्य है। यह दुख का निरोध, ग्रयीत् तृष्णा का क्षय, तृष्णा से वैराग्य, तृष्णा का प्रत्याख्यान, तृष्णा से विमुक्ति है। इसको ग्रक्षरण नहीं लेना चाहिए, क्योंकि ऐसे ग्रनेक वचन है, जिनमें कहा है कि दुख का निरोध जन्म, भव, न्कन्धों का निरोध है, क्योंकि दुख का लक्षण तृष्णा नहीं है, क्योंकि तृष्णा दुख का नमुदय है। निर्वाण का लक्षण कुछ भी क्यो न हो, यह 'ग्रनुत्पाद' है। स्थविर निर्वाण को परमार्थ-सत् नहीं मानते (ग्रिभिद्यर्मकोश, ६।४)। स्थविर के ग्रनुसार निर्वाण का प्रश्न १४ स्थापनीय प्रश्नों में से हैं। (ग्रगुत्तर, २।१६४, सघभद्र की ग्रालोचना के लिए कोश ६।४ देखिए)।

सौद्रान्तिक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सूत्र का यह दृष्टान्त प्रणीत है। यथा प्रिन्त का निर्वाण है, तथा चेतोविमुक्ति है। ग्राग्न का निर्वाण, ग्राग्न का ग्रत्ययमात्र है। यह द्रव्य नहीं है (कोश, २।५५)। पर, सन्दर्भ से मालूम होता है कि ग्राग्न का निर्वाण ग्राग्न का ग्रभाव नहीं है (उदान, ६।९०, मिष्झम, ९।४६७; येरीगाथा, ९९५; सुत्तनिपात, ९०७४)। सबभद्र का निरूपण है कि ग्राग्न की उपमा से हमको यह कहने का ग्रधिकार नहीं है कि निर्वाण ग्रमाव है। यह निर्वाण का दृष्टान्त नहीं है, किन्तु यह निरुपधिशेष निर्वाण-प्रवेश के क्षण में जिसका ग्रत्यय होता है, उसी की उपमा है (कोण, ६।६६)। राग ग्रीर चित्त के निरोध होने पर ही प्रवेश हो सकता है।

# श्रसंस्कृत के सम्बन्ध में वचन

ऐसे भी वचन है, जो असंस्कृत को अभाव वताते हैं, किन्तु अनेक वचन ऐसे भी हैं, जो असस्कृत का लक्षण अमृत, अकोप्य अवाच्य और द्रव्य वताते हैं। प्राचीन साहित्य में अनेक वाक्य हैं, जो इसका समर्थन करते हैं कि यह 'भाव' है। अमृत और असंस्कृत यह दो मजाएँ एक ही समय की नहीं है। निर्वाण अमृत है, यह पुरातन विचार है। निर्वाण अकृत, असस्कृत हैं, यह आख्याएँ उतनी पुरानी नहीं है, और ये पारिभाषिक शब्द हैं। जब लोकधातु की कल्पना हुई, तब निर्वाण को प्रतीत्यसमुत्पाद की तन्त्री से बहिगंत किया और असकृत की सज्ञा दी।

१ धम्मपद में इसे 'ग्रमत पद' कहा है। थेरीगाथा (५११-५१३) में कहा है—
श्रजरं हि विज्जमाने किन्तव कामेहि ये सुजरा।
मरणव्याधिगहिता सब्वा सब्वत्थ जातियो।।
इदमजरिमदममरं इदमजरामरणपदमसोकं।
श्रसपत्तमसंवाधं श्रखलितमभयं निरुपतापं।।
श्रिधगतिमदं वहूहि श्रमतं श्रज्जापि च लभनीयिमदं।
यो योनिसो पयुञ्जति न च सक्का श्रघटमानेन।।

मिज्झम (१।१६७) में निर्वाण को अनुत्तर-योगक्खेम, 'अनुप्पन्न' कहा है।

२ ग्रसस्कृत को उदान (८१३) में तथा इतिवृक्तक (४३) में ग्रनुप्पन्न (= ग्रनुत्पन्न), ग्रक्त (=ग्रकृत) कहा है। ग्रगुत्तर(२१३४), सयुत्त(३९१९२) में कहा है कि सब सस्कृत ग्रीर ग्रमस्कृत वस्तुग्रो में वर्त्मच्छेद, तृष्णाक्षय, विराग, निर्वाण ग्रग्र है। निर्वाण ग्रग्रधर्म, दितीय रत्न, ग्रग्रप्रसाद, शरण है। संयुत्त के ग्रसखतवग्ग (४१३५७) में ग्रनेक पर्यायवाची शब्द हैं। यह राग, द्वेप ग्रीर मोह का क्षय है। मैं तुमको ग्रन्त, ग्रनास्रव, मत्य, पार, निप्ण, सुदुरंगं,

ग्रजर, ध्रुव, ग्रनिदर्शन, निष्प्रपच, सत्, ग्रमृत, प्रणीत, शिव, क्षेम, ग्राम्चर्य ग्रद्भुत, निर्वाण, विराग, शुद्धि, मुक्ति, ग्रनालय, द्वीप, लेण, वाण, परायण का निर्देश करूँगा।

३ निर्वाण, ग्रसस्कृत, ग्रमृत, निरोध—इन शब्दो के ग्रागे धातु शब्द जोडते हैं। सर्वास्तिवादी के लिए विराग-धातु, प्रहाण-धातु, निरोध-धातु, निर्वाण को प्रज्ञप्त करता है। यह ग्राख्याएँ ग्रायं की ग्रवस्था को प्रज्ञप्त नहीं करती। जब हम कहते हैं कि यह ग्रिभममय तथा निर्वाण-प्रवण नहीं है, तब निर्वाण का ग्रर्थ चित्त की शान्ति होता है। 'निर्वाण-धातु' केवल शाश्वत निर्वाण है। बौद्धों के ग्रनुसार केवल तीन धातु हैं—कामधातु, रूप<sup>0</sup>, ग्रारूप्य<sup>0</sup>। किन्तु, इतिवृत्तक (५९) में भगवान् की शिक्षा है कि तीन धातु रूप<sup>0</sup>, ग्ररूप<sup>0</sup> ग्रांर निरोध-धातु हैं। निर्वाण को प्राय पद, शरण, पुर ग्रवधारित करते हैं। ग्रार्य निर्वाण में प्रवेश करता है (प्रविशति)। निर्वाण-धातु जहाँ ग्रार्य का ह्राम या वृद्धि नहीं होती (ग्रगुत्तर, ४।२०२), निर्वाण नामक भाजन है। ग्रभिसमयालकारालोक के ग्रनुसार निर्वाण को धातु कहते हैं, क्योंकि यह ग्रार्य-चित्त का ग्रालम्बन है। ग्रार्य विनश्वर ग्रथों से ग्रपने चित्त को व्यावृत्त करता है, ग्रौर ग्रमृता धातु की भावना करता है (ग्रगुत्तर, ४।४२३)।

# निर्वाण का मुख्य श्राकार

निर्वाण का सबसे मुख्य श्राकार 'क्षय' का है। वस्तुत., निर्वाण निरोध है। निर्वाण श्रप्रादुर्भाव है। यह तृष्णाक्षय श्रीर दु खनिरोध है। सर्वास्तिवादी उसे प्रतिसच्या-निरोध कहते हैं। श्रार्य समाधि में इसका दर्शन करते हैं, किन्तु यदि तत्त्व का साक्षात्कार केवल समाधि की श्रवस्था में होता है, तो वह वाणी का विषय नहीं हो सकता। शास्ता ने इसे मुख्यत 'निरोध' व्याकृत किया है। यह द्रव्य है, कुणल है, नित्य है। इमे निरोध, विसयोग कहते हैं।

निरोध वस्तु-सत् है। इसी प्रकार मण्डनिमश्र का कहना है कि ग्रविद्या-निवृत्ति जो 'ग्रभाव' है, विमुक्त ग्रार्य में नित्य ग्रवस्थान करती है। न्याय-वैशेषिक इन विचारों में परिचित है। निरोध केवल एक ग्राकार है। निर्वाण में ग्रन्य ग्राकार शान्त, प्रणीत, नि मरण है। निरोध द्रव्य है, ग्रभाव नहीं है। इसमें नीचे दिये हुए हेतु वताये जाते हैं—

- १ यदि यह अभावमात होता तो यह आर्य-मत्य कैसे होता ? जिनकी मत्ता नहीं है, वह मन का विषय नहीं हो सकता।
  - २ अभाव को तृतीय मत्य कैसे अवधारित करने ?
  - ३ ग्रभाव मस्कृत-असस्कृत मे ग्रग्न कैसे होता ?
- ४ यदि तृतीय आर्यसत्य का विषय द्रव्य-मत् नहीं है, तो उसके उपदेश में क्या लाभ है ?
  - ५ यदि निरोध निवृत्तिमाव है, तो उच्छेद-दृष्टि सम्यक् दृष्टि होगी।

यद्यपि रोग का अभावमाव है, तथापि यह नद्भूत है, और इसे आरोग्य वहते हैं। दुख का अभाव सुख कहलाता है।

सस्कृत के लक्षणों से विनिर्मु क्त पदार्थ 'ग्रसस्कृत' है, किन्तु ग्रार्थत्व राग का ग्रभाव है, ग्रीर मार्गजनित है। यह 'सस्कृत' है, ग्रत दो में विशेष करना चाहिए—

१ निर्वाण राग-क्षय है, उस क्लेश से भिन्न एक धर्म है, जिसका यह क्षय करता है, उस मार्ग से अन्य है, जो निर्वाण का प्रतिपादन करता है।

२ ग्रर्हत्व निर्वाण नहीं है, किन्तु निर्वाण का लाभ है।

निर्वाण का तिविध ग्राकार है—विराग-धातु, प्रहाण-धातु, निरोध-धातु, (कोश, ६।७६,७८)। ग्रायं निर्वाण का उत्पाद नहीं करता (उत्पादयित), वह उसका साक्षाकार करता है (माक्षीकरोति), वह उसका प्रतिलाभ करता है (प्राप्नोति)। मार्ग निर्वाण का उत्पाद नहीं करता, यह उसकी प्राप्ति का उत्पाद करता है।

# निर्वाण के अन्य प्रकार

निर्वाण मुख है, शान्त है, प्रणीत है। जो उसे दु खबत् देखता है, उसके लिए मोक्ष सम्भव नहीं है (ग्रगुत्तर, ४।४४२)। ग्रिभधर्मकोण (७।९३) में इन ग्राकारों का वर्णन है। मिलिन्दप्रश्न में है कि निर्वाण-धातु 'ग्रित्थधम्म' (=ग्रिस्तधर्म), एकान्तसुख, ग्रप्रतिभाग है। मिलिन्द पुन कहते हैं कि उसका लक्षण 'स्वरूपत' नहीं बताया जा सकता, किन्तु 'गुणत' दुष्टान्त के रूप में कुछ कहा जा सकता है, यथा जल पिपासा को शान्त (निब्बापन) करता है, उसी प्रकार निर्वाण विविध तृष्णा का निरोध करता है। तवग-निर्वाण

निर्वाण एक, नित्य, ग्रविपरिणामी है, किन्तु कोई एक क्लेश के क्षय का लाभ करते हैं, ग्रथीत् उस क्लेश के प्रति निर्वाण का ग्रधिगम करते हैं। यह 'तदग-निव्वान' है। ग्रगुत्तर (४।४१०) से इसका व्याख्यान है। सर्वास्तिवादी निर्वाण का लक्षण निरोध, विमयोग वताते हैं। यह एक द्रव्य है, जिसकी प्राप्ति योगी को होती है। जितने क्लेश है, उतने विसयोग है। विसयोग की प्राप्ति केवल ग्रायों के लिए नहीं है। जो एक क्लेश से विरक्त है, वह इस क्लेश के प्रति निर्वाण का लाभ करता है।

दो निर्वाण-धातु

दो निर्वाणों में विशेष करते हैं। यह इस प्रकार है—म-उपादिसेस, अनुपादिसेस या सोपिंध सेस, निरुपिंध सेस। उपादि (= उपादान) प्राय उपादान-स्कन्ध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पहला स्कन्ध-सहगत निर्वाण हैं, दूसरा स्कन्ध-विनिर्मु क्त है। पहले में राग क्षीण हो चुका हैं, किन्तु स्कन्ध हैं। इसे 'स-उपादि' कहते हैं। जब अर्हत् का मरण होता हैं, तब वह द्वितीय निर्वाण में प्रवेश करता हैं। यह निश्चित नहीं है कि यह निरूपण मवसे प्राचीन हैं।

शरवात्स्की का मत

पूमें के मत का हमने विस्तार से वर्णन किया है। शरवात्म्की ने 'कन्सेप्शन ग्राँव वृद्धिष्ट निर्वाण' में इस मत का खण्डन किया है। पूसे ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि

श्रारम्भ में निर्वाण श्रात्मा के श्रमृतत्व में विश्वासमात्न था। उन्होंने मान लिया है कि वौद्धधर्म का एक पूर्व रूप था, जो विषिटक के विचारों से सर्वथा भिन्न, कदाचित् उसके प्रतिकूल था। नास्तित्व, श्रात्म-प्रतिषेध, स्कन्धमात्न, निरोध, निराशावादिता श्रादि कदाचित् उसके लक्षण न थे। ऋदि-श्रभिज्ञा के श्रभ्यास से यह विश्वास उत्पन्न होता था कि श्रात्मा श्रमर है

किन्तु, यदि सबसे प्राचीन साहित्य पीछे का है ग्रीर किल्पत है, तो वह क्या है, जिसका उपदेश बुद्ध ने किया था, ग्रीर जिसका स्थान पश्चात् एक दूसरे बौद्धधर्म ने लिया ? इसका उत्तर पूसें यह देते हैं कि बुद्ध ने योग की शिक्षा दी थी, ग्रीर वह योग इन्द्रजाल ग्रीर लौकिक ऋदि प्रातिहार्य था। इस योग में ध्यान की किया भी सम्मिलित थी। इसका यह ग्रर्थ हुग्रा कि बुद्ध पातजल योग के सदृश किसी दार्शनिक पद्धित के ग्रनुयायी न थे। वे केवल एक सामान्य चिकित्सक थे। पूसे कहते हैं कि जिस योग से बौद्धधर्म की उत्पत्ति हुई, उसमे ग्राध्यात्मिक प्रश्नो के विषय में विचार-विमर्श न था। वह एक प्रतिक्रियामात्र था, ग्रीर उससे किसी नैतिक, धार्मिक या दार्शनिक दृष्टि से सरोकार न था।

शरवात्स्की कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि वौद्धयोग ऋद्धि-प्रातिहार्य श्रीर इन्द्रजाल की विद्या है। इसके प्रतिकूल वह निश्चित ही एक दार्शनिक पढ़ित है। योग समाधि या चित्त की एकाग्रता श्रीर पुन -पुन निषेवण है। ध्यान श्रीर समापत्ति का भी यही श्रर्थ है। इन सब व्याख्यात्रो का प्रयोग कर्म-साधन, करण-साधन, ग्रधिकरण-साधन है। इस प्रकार, योग भीर समाधि चित्त-विशेष की अवस्था के अर्थ मे एकाग्र चित्त है, या उस प्रकार के अर्थ मे एकाग्र चित्त है, जिससे यह ग्रवस्था उत्पन्न हुई है, या उस स्थान के ग्रर्थ में एकाग्र चित्त है, जहाँ इस ग्रवस्था का उत्पाद हुग्रा है। इस ग्रन्तिम ग्रर्थ मे 'ममापत्ति' शव्द का प्रयोग ध्यान-लोको के लिए होता है, जहाँ के सत्त्व नित्य ध्यानावस्थित होते हैं। यह शब्द ग्राठो भूमियो के लिए प्रयुक्त होता है। इस ग्रर्थ में समापत्ति का विपक्ष कामधातु है, जहाँ के सत्त्वों के चिन असमाहित, विक्षिप्त होते हैं। समापत्ति का यह सामान्य अर्थ है। एक विणेप अर्थ में 'समापत्ति' म्ररूप-धातु की चार भूमियो के लिए प्रयुक्त होता है। उस भ्रवस्था मे यह चार ऊर्घ्वभूमि है। चार अधरभूमि चार ध्यान कहलाती है। 'समाधि' शब्द का भी मामान्य ग्रीर विणेष ग्रथं है। यह एक चैतिसक धर्म है, जिसके वल से चित्त समाहित होत्ता है, या इमका अर्थ भावित, विपुलीकृत एकाग्रता है। इस ग्रवस्था मे इसमे एक सामर्थ्य-विशेष उत्पन्न होता है, जो ध्यायी को ऊर्घ्वभूमियो में ले जाता है, ग्रीर उममे इन्द्रिय-मचार करता है। 'योग' मामान्यत इमी ग्रर्थ मे प्रयुक्त होता है। ग्रलीकिक ग्रीर ग्रद्भुत शक्तियों को ऋदि कहते हैं, किन्तु जब योग मे ऋदियों का उत्पाद इष्ट होता है, तब उपचार से योग शब्द का प्रयोग ऋदियों के लिए करते हैं। बौद्धयोग का मौलिक विचार यह है कि समाधि से शमावस्था का उत्पाद होता है।

ह्यायी पुद्गल कियाशील पुद्गल का विपक्ष है। जीवन का सम्कारों में विभजन इस दृष्टि से करते हैं, जिसमें उनका एक-एक करके उपणम और निरोध हो। पुद्गल वस्तुत सस्कार-समूह ग्रीर सन्तान है। ग्रात्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है।
यह ग्रनात्मा है। इसका यह ग्रथं है कि जिस प्रकार शरीर परमाणु-सचित रूप है, उसी प्रकार
पुद्गल का ग्ररूपी ग्रश धर्ममय है। ये धर्म एक दूमरे से पृथक् है। तथापि, हेतु-प्रत्यय-वश ये
धर्म ग्रन्योन्य सम्बद्ध हैं। इनमें से कुछ मदा सहोत्पन्न (सहभू) है, या ये उत्तरोत्तर क्षण में
एक दूसरे के ग्रनुगत हैं। तब ये निष्यन्द-फल है, क्षण-सन्तान है। हेतु-प्रत्यय का नियम प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है। किसी पुद्गल-सन्तान के शरीर-क्षण में ग्ररूपी धर्मों की सख्या क्षण-क्षण
पर वदलती रहती है। इनकी वहुसंख्या हो सकती है, क्योंकि प्रसुप्त धर्मों को भी वर्त्तमान
ग्रवधारित करते हैं। सौत्रान्तिक उपहास करते है, ग्रीर कहते हैं कि एक क्षण में इतने पृथक् धर्मों
का सहभाव के से हो सकता है किन्तु, इनमें से कुछ प्रतिक्षण रहते है, ग्रीर कुछ ग्रवस्था-विशेष
में ही प्रादुर्भू त होते है। दस प्रकार के धर्म सदा रहते है। इन्हे चित्त-महाभूमिक कहते हैं।
इनमें से समाधि या योग भी है। इनके ग्रतिरिक्त, कुछ कुणल-धर्म या ग्रकुणल-धर्म भी होते है।
एक क्षण के धर्मों की सख्या ही भिन्न नही होती, इनका उत्कर्ष-भेद भी होता है। किसी पुद्गल
में क्षण-विशेष में एक धर्म का उत्कर्ष होता है ग्रीर किसी में किसी दूसरे धर्म का।

इन दस महाभूमिको में दो का विशेष माहातम्य है। जब इनका प्रकर्ष होता है, तब यह उत्कृष्ट होते हैं। यह प्रज्ञा या समाधि है। ऐसा भी है कि इन धर्मों का विकास और उत्कर्ष न हो। तब 'प्रज्ञा' को 'मित' कहते हैं, किन्तु धर्म वही है। जब इसका पूर्ण विकास होता है, तब यह अमला प्रज्ञा होती है। पृथग्जन अविद्या से प्रभावित होता है। अविद्या प्रज्ञा का विपर्यय है, अभावमान नहीं है। यह एक पृथग्धमं है, किन्तु इसका नित्य अवस्थान नहीं है। यह प्रहीण हो सकता है, और चित्त-सन्तान से अपगत हो सकता है।

सन्तान में कुशल और अकुशल धर्मों के वीच जो सघर्ष होता है, वह नैतिक उन्नति है। धर्म पृथाभूत और क्षणिक है, इसलिए वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। तथापि अविद्यादि धर्मों के विद्यमान होने से सकल सन्तान दूपित होता है। उस अवस्था में सर्वधर्म सास्रव होते है; विज्ञान भी क्लिप्ट हो जाता है। इसको समझाने के लिए एक सर्ववम हेतु की कल्पना की जाती है।

वीद्धों का कहना है कि अन्त में कुशल धर्मों की विजय होगी। क्लेश दो प्रकार के हैं— दर्शनहेय और भावनाहेय। यदि ममाधि की विपुल भावना हो, तो इसका विशेष सामर्थ्य होता है। तब समाधि का सस्कार-समूह में प्राधान्य होता है। तब यह जीवन की गित को रोक सकता है। ग्रायमार्ग में यह ग्रन्तिम कदम है। यह पुद्गल की अर्ध्वापपित भी कर सकता है। वह तब ग्रच्छे, भास्वर लोक में, रूप-धातु में ग्रथवा ग्ररूप-धातु में उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से भव तैधातुक है। एक दूमरी दृष्टि से दो भेद हैं—समापित और कामधातु। कामधातु में नरक, पृथ्वी-लोक ग्रार ग्रधर देवलोक सगृहीत हैं। कामधातु के देवो में पट धातु हैं। इतमें से एक भी योग द्वारा निरुद्ध नहीं हुग्रा है। यह कामभुक् है। इनमें सबसे अर्ध्व पर-निर्मित-वशवर्ती हैं। समापत्ति-लोक के दो विभाग करते हैं— १ रूप-लोक, जहाँ के सत्त्वो के शरीर अच्छे होते हें, २ अरूप-लोक, जहाँ रूप का अभाव होता है। यहाँ समाधीन्द्रिय का प्राधान्य होता है, अन्य धर्म अनुचर होते हैं। इन लोको की कल्पना समापत्ति के अनुसार होती है। अरूप-धातु चार है। इनके सत्त्व किसी एक भावविशेष में समापन्न होते हैं, यथा अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान, आर्किचन्य, नैवसज्ञानासज्ञा। इस अवस्था में विज्ञान का सर्वथा निरोध होता है। ध्यानलोक भी चार है। यह चार ध्यानो के अनुरूप है।

ध्यान-लोक मे चार धातु-गन्ध, रस, घ्राण-विज्ञान, जिह्ना-विज्ञान नहीं होते। इन सस्वों को 'कवडीकार' ग्राहार की ग्रावश्यकता नहीं है। किन्तु, घ्राणेन्द्रिय ग्रीर जिह्नेन्द्रिय का ग्रभाव नहीं होता, क्यों कि उनके ग्रभाव से शरीर की कुरूपता होती है। सब सकलेन्द्रिय, ग्रविहीनेन्द्रिय होते हैं। वह दिव्य चक्षु ग्रीर दिव्य श्रोत्र से समन्वागत होते हैं। उनकी काय-प्रश्नव्धि होती है। उनको वस्त्र की ग्रावश्यकता नहीं है, किन्तु वह सबस्त्र उपपन्न होते हैं। उनके लिए विमान वने-बनाये होते हैं। वे पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय से समन्वागत नहीं होते। सब देव ग्रीपपादुक हैं। मातृकुक्षि से इनका जन्म नहीं होता। इनमें प्रतिष्ठ नहीं होता। क्लेश का ग्रभाव होने से चेतना का ग्रभाव होता है।

प्रश्न है कि क्या इन ग्रलौकिक शक्तियों से वहीं योगी सम्पन्न हो सकता है, जो इन ऊर्ध्वलोकों में उपपन्न होता है, श्रथवा भूलोक में भी इनकी प्राप्ति हो सकती है।

योग की यह प्रक्रिया हीनयान के अनुसार है। एकाग्रचित्त करने के लिए जो साधन बतायें गये हैं, वह सब दर्शनों में सामान्य है। पातजल दर्शन में साख्य के सिद्धान्तों के अनुसार इनका निरूपण किया गया है। हीनयान में बहुधर्मवाद के अनुसार निरूपण किया गया है। निर्वाण के लाभ के लिए इन विविध धर्मों का प्रविचय होता है। निर्वाण सबसे परे है। यह जीवन का पर्यन्त है, जहाँ विज्ञान का सर्वथा निरोध है।

श्रार्यमार्ग के अन्तर्गत दृष्टिमार्ग है। यह चतु सत्य-दर्शन है। चार सत्यो का विनिश्चय पहले प्रमारा से करके पश्चात् उनका साक्षात्कार करते है। यह योगी-प्रत्यक्ष है। हीनयान के अनुसार सोलह क्षण में यह सत्याभिसमय होता है। श्रिभसमय का क्रम दिविघ है।—पहले धर्म-क्षान्ति (रुचि) होती है, पीछे धर्मों का प्रत्यक्ष-ज्ञान (धर्मज्ञान) होता है। वह ज्ञान काम-धातु के धर्मों के सम्बन्ध में होता है। पश्चात् यह ऊर्घ्व ध्यानलोको के सम्बन्ध में होता है। यह श्रन्वयज्ञान कहलाता है।

ग्रत , यह स्पृष्ट है कि बौद्धयोग इन्द्रजाल की विद्या नहीं है। वस्तुत , वुद्ध ने इन्द्रजाल तथा योग के उन अभ्यासो का, जो निर्वाण-प्रवण नहीं है, प्रतिपेध किया है।

योग वौद्धधर्म की कोई विशेषता नहीं हैं। लोकायत और मीमासको को छोड़कर प्रन्य सब योग की शिक्षा देते हैं। जैन और नैयायिक भी योगाभ्याम की नितान्त आवश्यकता मानते हैं। पूसें अन्य कारणो से भी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पूर्वकालीन बौद्ध धर्म दार्शनिक न था। पालि-साहित्य में निर्वाण के लिए 'अमृत' की आख्या का व्यवहार किया गया है। इसके आधार पर पूसे अपना मत पुष्ट करते हैं। किन्तु, यह अमृतत्व क्या है? यह अमिताभ का स्वर्ग नहीं है। यह वैदिकों का अमृतत्व नहीं है, जिसका अर्थ है पितृलोक का निवास। यह निरोध है। वौद्ध धर्म में देवलोकों की कमी नहीं है। किन्तु, निर्वाण उन सब लोकों के परे है, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं। 'अमृत' का केवल इतना ही अर्थ है कि यह अजर, अमृत्य अवस्था है। क्यों कि यह वह स्थान है, जहाँ जन्म (पुनर्भव)-मरण (पुनर्मरण)-प्रवन्ध का उच्छेद होता है। न्यायभाष्य में भी 'अमृत' शब्द का व्यवहार पाया जाता है, और न्याय का निर्वाण भी अचैतन्य है।

पूसें का दूसरा तर्क यह है कि जब बुद्ध से निर्वाण के विषय में प्रश्न किया गया, तब उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। इस सम्बन्ध में वह दो सूत्रों के वाक्य उद्धृत करते हैं। यह स्थापनीय प्रश्न है। प्सें यह समझते हैं कि बुद्ध के तूष्णीभाव का कारण यह है कि वे दर्शनशास्त्र में व्युत्पन्न न थे। वे नहीं जानते ये कि इन प्रश्नों का क्या उत्तर होना चाहिए, श्रौर इसिलए वे चुप थे। वस्तुत, वे इसिलए चुप थे कि वे वताना चाहते थे कि निर्वाण श्रवाच्य है। वसुवन्धु (श्रिभधर्मकोश, ११२२) कहते हैं कि जो प्रश्न ठीक तरह से पूछा नहीं गया है, वह स्थापनीय है। यदि कोई प्रश्न करे कि क्या स्कन्धों से सत्त्व श्रन्य है या श्रनन्य, तो इसका स्थापनीय व्याकरण करना चाहिए। वयोंकि, सत्त्व नाम का कोई द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार, यह प्रश्न भी स्थापनीय है कि वन्ध्यापुत्न श्याम है या गौर ?

# हीनयान के परवर्त्ती निकाय

पूसे का विचार है कि निर्वाण के सम्बन्ध में पीछे के निकायों का मत, यथा वैभाषिकों का मत ग्रागम से बहुत कुछ भिन्न है। शरवात्स्की का कहना है कि वैभाषिक केवल मर्वास्तिबाद के मत का समर्थन करते हैं। वे वैभाषिक इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि वे विभाषा-शास्त्र को प्रामाणिक मानते हैं। विभाषा ग्रागम की व्याख्या है। वैभाषिक मत सर्वास्तिबाद का साधारणत ग्रनुसरण करता है। मौत्रान्तिकों का निकाय ग्रवश्य भिन्न है। वौद्धशासन में जो भेद हुग्रा, ग्रौर जिसके कारण महायान की उत्पत्ति हुई, उसका यह निकाय सूचक है। हम यह कह सकते हैं कि सौत्रान्तिक पूर्व-हीनयान ग्रौर महायान के बीच का है।

णरवात्म्की स्वीकार करते हैं कि बौद्धधर्म की ग्रारम्भिक श्रवस्था में ही श्राभिधार्मिक माहित्य की वृद्धि हुई है। किन्तु, यह ठीक नही है कि यह पूर्वरूप से व्यावृत्त हुआ है। वौद्ध-धर्म का ग्रारम्भ ही वहुधर्मवाद से हुश्रा है। उसने श्रात्मा का प्रतिपेध किया है, श्रीर धर्मों की प्रतिष्ठा की है। इनमें से कुछ धर्म केवल प्रज्ञप्ति-सत् है। सौन्नान्तिको ने इनको धर्मों की सूची से विह्युत किया, श्रत धर्मों की तालिका में केवल वही रह गये, जो इन्द्रिय तथा मन के विषय है। सौन्नान्तिक वृद्ध-वचन को ही प्रमाण मानते हैं, वे श्रिभधर्म की प्रामाणिकता म्बीकार नहीं

करते। पीछे चलकर सौत्रान्तिक महायानवादियो से मिल गये, ग्रौर उन्होंने योगाचार-सौत्रान्तिक निकाय की प्रतिष्ठा की। सौत्रान्तिको ने निर्वाण (निरोध) को प्रज्ञप्ति-सत् माना।

वैभाषिको श्रीर सौवान्तिको में निर्वाण के स्वभाव के सम्बन्ध में पहुत पहले से वाद-विवाद होता था। वैभाषिक निर्वाण को वस्तु मानते थे, किन्तु मौवान्तिको का कहना था कि निर्वाण ग्रभावमात्र है। जहाँ वैभाषिको का साहित्य उपलब्ध है, ग्रीर इसलिए हम वस्तु के पक्ष मे उनकी युक्तियाँ जानते है, वहाँ सौवान्तिको के ग्राचार्य कुमारलाभ, श्रीलाभ, महाभदन्त, वसुमित्र ग्रादि के ग्रन्थ ग्रप्राप्य है।

जव वैभाषिक कहते हैं कि निर्वाण वस्तु-सत् है, तव उनका यह अर्थ कदापि नहीं है कि निर्वाण एक प्रकार का स्वर्ग है। 'वस्तु' कहने से उनका आशय इतना ही है कि यह अचैतन्य की सदवस्था है। दूसरी ओर सौद्रान्तिक निर्वाण को एक पृथक् धर्म अवधारित नहीं करते, वे इसका प्रतिषेध करने हैं कि निर्वाण वस्तु-सत् हैं। सौद्रान्तिक महायानवादियों की तरह बुद्ध का धर्मकाय मानते हैं।

दर्शन दो प्रकार के है—वहुधर्मवादी (प्ल्यूरिलिस्टिक) ग्रीर विज्ञानवादी (ग्राइडिय-लिस्टक)। यह दो प्रकार सब दर्शनों में पाये जाते हैं। मर्वास्तिवादी, वैभाषिक तथा न्याय-वैशेषिक निर्वाण या मोक्ष को ग्रचेतन वस्तु-सत् मानते हैं (यस्मिन् मित चेतसो विमोक्ष)। यह जडावस्था है। वैभाषिक ग्रनात्मवादी हैं, ग्रीर उनकी दृष्टि में बुद्ध मनुष्य-लोक के थे। सौद्रान्तिक ग्रीर महायानवादी इस ग्रचेतन वस्तु को नहीं मानते। सौद्रान्तिक मतवाद ग्रीर महायान में बुद्ध का धर्मकाय माना गया है, ग्रीर वह लोकोत्तर है।

वैभाषिक तथा पूर्वनिकाय ससार ग्रीर निर्वाण दोनो को वस्तु-सत् मानते हैं। माध्यमिको के श्रनुसार ससार ग्रीर निर्वाण पृथक्-पृथक् ग्रवस्तु हैं। सीतान्तिको के श्रनुसार ससार वस्तु-सत् ग्रीर निर्वाण एक पृथक् धर्म नही है। योगाचार या विज्ञानवाद के ग्रनुमार समार ग्रवस्तु है, ग्रीर निर्वाण वस्तु-सत् है।

वैभाषिक — वैभाषिक दो प्रकार के धर्म मानते हैं — सस्कृत ग्रीर ग्रसस्कृत । रूप, मन ग्रीर सस्कार सस्कृत है । ग्राकाश ग्रीर निर्वाण ग्रसस्कृत है । सस्कृत-धर्म ग्रतीत, वर्त्तमान ग्रीर भविष्य, ग्र्यात् वैयध्वक है । ये सब वस्तु-सत् है । ग्रतीत ग्रीर भविष्य उसी प्रकार वस्तु-मत् हैं, जैसे वर्त्तमान । इस प्रकार, धर्म दो प्रकार के हैं — धर्म-स्वभाव ग्रीर धर्म-लक्षण । जब सस्कार शान्त हो जाते हैं, जब मर्व प्रादुर्भाव निरुद्ध हो जाते हैं, तब ग्रचेतन वस्तु रह जाती है । यह एक पृथक् धर्म, एक वस्तु है । यह ग्रचेतन है । यह साख्यों के ग्रव्यक्त, प्रधान के तुल्य है । यह ग्रवाच्य है — ति सतासत्तं नि सदसद् निरसद् श्रव्यक्तमिलङ्ग प्रधानम् (योगसूत्र, २।१६ पर व्यामभाष्य ) । चन्द्र कीर्ति वैभापिक मत के सम्बन्ध में कहते हैं कि — "यदि निर्वाण भाव है, तो यह निरोधमात्र नहीं हो सकता । वस्तुत, यह कहा गया है कि निर्वाण में चेतम् का विमोक्ष है, यथा ईन्धन के न होने पर ग्राग्न का निर्वापन होता है । किन्तु, हमारे मन में चित्त-विमोक्ष या निरोधभाव नहीं है ।" वैभाषिक उत्तर देते हैं — निर्वाण ने क्लेग-जन्म का निरोध, निर्वात्त समझना चाहिए, किन्तु यो कहना चाहिए कि निर्वाण नाम का धर्म एक वस्तु है,

जिसमें क्लेश-जन्म का निरोध होता है। अग्नि का निरोध दृष्टान्तमात है, और इसकी व्याख्या यह होनी चाहिए कि यह उस अचेतन वस्तु को निर्दिष्ट करता है, जो अविशष्ट रह जाता है, जब कि चित्त का विक्षोभ होता है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिक श्रतीत श्रीर श्रनागत को भाव नहीं मानते। वे दो प्रकार के धर्म नहीं मानते। वे केवल धर्म-लक्षण मानते हैं। निर्वाण क्लेश-जन्म का क्षय है। कोई श्रवेतन धर्म श्रविशिष्ट नहीं रहता। सौत्रान्तिक श्रालय-विज्ञान के सिद्धान्त को नहीं मानते, श्रीर न शून्यवाद मानते हैं। सौत्रान्तिक वाह्य जगत् को मायावत नहीं मानते। वे वृद्ध का धर्मकाय मानते हैं, श्रीर यह नहीं मानते कि भगवान् के परिनिर्वाण का श्रवं श्रवेतन निर्वाण में सर्वया निरोध है।

योगाचार--- श्रव्यघोष, आयाँसग श्रौर दिङ्नाग इस वाद के श्राचार्य है । ये सव महायानवादी है, भ्रौर वुद्ध के धर्मकाय में विश्वास रखते है। ये चित्त-विज्ञान के भ्रतिरिक्त एक **ब्रालय-विज्ञान मानते है, श्रौर वाह्य जगत् को श्राभासमात्र मानते है, उसे वस्तु-सत् नहीं** मानते । हीनयान के विविध धर्मों के स्थान में यह विज्ञानमात्र मानते है । ग्रश्वघोष एक ग्रालय-विज्ञान मानते हैं। योगाचार के दो निकाय हैं--- १ आर्यासग का, २ दिङ्नाग का। आलय-विज्ञान वीजो का सप्रह करता है। यह वीजो से उपिचन होता है। ये वीज विविध धर्मी को, श्रयीत् सात विज्ञानो को श्रकित करते है। श्रालय-विज्ञान ज्ञेय का श्राश्रय है। शुभ श्रीर अशुभ कर्मी का विपाक-फल जो ससार का क्षेप करता है, आलय-विज्ञान से सगृहीत होता है। आलय-विज्ञान को मूलविज्ञान, भवाग-विज्ञान भी कहते हैं। ग्रालय-विज्ञान का स्वभाव सूक्ष्म है, ग्रीर वह केवल अपने समुदाचार, अपने परिणाम से जाना जाता है। जितने प्रवृत्ति-विज्ञान है, वे त्रालय के 'परिणाम' है, क्योकि श्रालय-विज्ञान सव धर्मी का समाश्रय है। यह श्रनादिकालिक है। इस विज्ञान के होने पर सव गतियो का, ग्रीर निर्वाण का श्रधिगम होता है। प्रत्ययो से क्षुच्छ होकर यह तरगो के समान प्रवृत्ति-विज्ञान उत्पन्न करता है, किन्तु नदी के समान स्वय सदा स्रविच्छिन्न रहता है । साख्यों का प्रधान जो महत् स्रादि में परिणत होता है, स्रालय-विज्ञान के सदृश प्रतीत होता है। विज्ञानवादी इसको स्वीकार नहीं करते। शरवात्स्की कहते हैं कि यह प्रच्छन्न रूप से चित्त-प्रवाह के वाद के स्थान में ग्रात्मवाद को प्रतिष्ठित करना है। चित्त-प्रवाह में पूर्वचित्त-क्षण परिचित्त-क्षण का समनन्तर प्रत्यय है। इस सम्वन्ध का स्थान ग्रालय श्रीर उसके परिणाम लेते है।

साख्य की प्रिक्रिया में प्रधान ग्रौर उसके परिणाम वस्तु-सत् है। योगाचार दोनो को ग्रवस्नु समझता है। ग्रपने पूर्ववर्ती माध्यमिको से उन्होने सर्वधर्म की शून्यता, नि स्वभावता ली। पृथक्-पृथक् धर्म शून्य थे, क्योंकि वे परिकल्पित थे। यह उनकी लक्षण-नि स्वभावता कहलाती थी, क्योंकि वे प्रतीत्यसमुत्पाद के ग्रधीन थे, इसलिए वे परतन्त्र थे ग्रौर इस ग्रथं में वह वस्तु-सत् थे। यह उनकी उत्पत्ति-निःस्वभावता कहलाती थी। जहाँतक वे तथता-धर्मता (एक्सोल्यूट) में परिनिष्पन्न थे, वहाँतक उनकी परमार्थ-निःस्वभावता थी। इस प्रकार,

तथता तै धातुक से न अन्य है, न अनन्य । पृथक्-पृथक् धर्मों के समुदाय के रूप मे यह अन्य है, किन्तु सर्व की इकाई के रूप मे यह अनन्य है । यह आह्य-प्राहकरित चित्तधर्मता है। यह धर्मधातु है, और इसलिए यह बुद्ध के धर्मकाय से अभिन्न है। योगी को समाधि में इस अद्धय-लक्षण के विज्ञप्ति-मात्र का अत्यक्ष होता है। असग का मत था कि सर्व विज्ञप्ति-मात्र कहै। 'सर्व' से अभिन्नाय ते धातुक और असस्कृत दोनों से है ( विशिका, १७ पर स्थिर-मिति)। इस दृष्टि के कारण निर्वाण का वाद बिलकुल बदल गया। हीनयान में, जहाँ ससार और निर्वाण दोनों वस्तु-सत् हैं, योग द्वारा भव की प्रवृत्ति का निरोध, और निर्वाण में प्रवेश होता है। महायान की दृष्टि में तथता में ससार परिनिष्पन्न हैं, अत सस्कृत धर्मों को अमस्कृत धर्मों में परिवर्त्तित नहीं करना पडता। योगी को समाधि में तथता का प्रत्यक्ष करना पडता है। योगी के लिए ससार का आकार ही बदल जाता है। प्रत्येक धर्म पृथक्-पृथक् असत्-कल्प है, किन्तु तथता में वस्तु-सत् है। उसके लिए सर्वधर्म नित्य शान्त है। उनको नित्य वनना नहीं है। हीनयान के अनुसार यह धर्म निर्वाण में ही शान्त और निरुद्ध होते हैं। योगाचार का कहना है कि यदि ये धर्म वस्तु-सत् है, तो वे सर्वथा निरुद्ध नहीं हो मकते। अत, वे आदि-शान्त हैं। नागार्जुन कहते हैं कि जो प्रत्ययवण होता है, वह स्वभाव से ही शान्त है।

माध्यमिक—हीनयान बहुधमंवादी है। कोई श्रात्मा नही है, पचस्कन्धमात है। धमं वस्तु-सत् है। किन्तु सत्त्व, जीव, पुद्गल, प्रज्ञप्ति-सत् है। श्रात्मा के स्थान मे विज्ञान-क्षणो का स्रविच्छिन्न प्रवाह है। वेदना, सज्ञा ग्राँर सस्कार के क्षण इसके सहगत है। इसी प्रकार रूप भी है। द्वय्य, गुण ग्रीर किया को यह पदार्थ नही मानते। इनके धमं प्रतीत्यसमुत्पाद के नय के अनुसार प्रादुर्भूत ग्रीर तिरोहित होते है। एक से दूसरे की उत्पत्ति नही होती। इसके होने पर वह होता है। इन क्षणिक सस्कृत धर्मों के श्रितिरक्त हीनयान मे श्राकाश ग्रीर निर्वाण ग्रसस्कृत धर्म भी है। जो सस्कार मे प्रवृत्त थे, वह निर्वाण मे निरुद्ध होते है, ग्रत ससार ग्रीर निर्वाण दोनो वस्तु-सत् है। दोनो मिलकर 'सर्व' है, किन्तु 'सर्व' प्रज्ञप्ति-सत् है। माध्यमिकनय में वस्तु-सत् की भिन्न कल्पना है। जो श्रकृतक (= श्रसस्कृत) है, जो परत्र निरपेक्ष है, जिसका ग्रपना स्वभाव है, वह वस्तु-सत् है।

हीनयान में सस्कृत धर्म वस्तु-मत् है । महायान मे धर्म सस्कृत होने के कारण, परापेक्ष होने के कारण, शून्य, स्वभाव-शून्य है । हीनयान मे राशि, अवयवी, प्रजप्ति-मत् है, और केवल धर्म वस्तु है । महायान मे धर्म शून्य है, और केवल धर्मता (=धर्मकाय) वस्तु-सत् है । यह धर्मता राशियो का सर्व है ।

'तत्त्व' का व्यारयान इस प्रकार है—यह शान्त, श्रद्धय, श्रवाच्य, विकल्पातीत, निष्प्रपच है। जो परतन्त्र है, वह वस्तु नहीं है। हीनयान में पुद्गल, श्रात्मा-स्कन्ध-ग्रायतन-धातुमाल है। पुद्गल-नैरात्म्य है। केवल संस्कार-समूह है। महायान में उसके विपरीत, धर्मों का नैरात्म्य है, श्रौर धर्मकाय है। हीनयान में वहुधर्मवाद है। महायान श्रद्धयवाद है।

महायान में प्रतीत्यसमृत्पाद का एक नया ग्रर्थ है। जो निरपेक्ष है, वही वस्तु है, जो परापेक्ष है, वह वस्तु नहीं है। हीनयान में धर्मों को सस्कृत-श्रसस्कृत में विभक्त किया है श्रीर दोनो वस्तु-सत् हैं। किन्तु, महायान में इनमें कोई भी वस्तु-सत् नहीं है, ग्रीर दोनो शून्यता के ग्रधीन हैं। हीनयान का मुख्य विचार वहुधर्मवाद है, महायान का मुख्य विचार धर्मों की शून्यता है। 'शून्यता' का ग्रर्थ स्वभाव-शून्य है। जव एक धर्म का दूसरे से सम्वन्ध वताया जाता है, तभी वह जाना जाता है, श्रन्यथा वह निरर्थक हो जाता है। इसिलए, 'शून्यता' प्रतीत्यसमुत्पाद का समानार्थवाची है। केवल सर्व वस्तु-सत् है, किन्तु यह मर्व निष्प्रपच है। 'शून्यता' ग्रभावमात्र नहीं है। जो ऐसा समझते है, वह शून्यता के प्रयोजन को नहीं जानते। माध्यिमक प्रतीत्यसमुत्पादवादी है, नास्तिक नहीं है। जो प्रत्यय के ग्रधीन है, वह 'शून्य' कहलाता है। 'श्र्यून्य' श्रप्रतीत्य-समृत्पन्न है। निरवशेष प्रपच के उपशम के लिए 'शून्यता' का उपदेश है।

नागार्जुन हीनयान के परिनिर्वृत तथागत का प्रतिषेध करते हैं, जो नित्य भ्रचेतन वस्तु है। स्वभावत तथागत नहीं है। तथागत श्रपने या स्कन्धों के श्रस्तित्व को प्रज्ञप्त नहीं करते। किन्तु, इस प्रतिषेध का यह अर्थ नहीं है कि मोक्ष की कोई श्राणा नहीं है। क्योंकि, निष्प्रपच तथागत का प्रतिषेध नहीं है। बुद्ध के लिए कोई श्रारोपित व्यवहार नहीं है। यदि श्रविपरीतार्थ कहना हो, तो हम कुछ नहीं कह सकते। शून्य भी व्यवहार के लिए कहते हैं। बुद्ध का साक्षात्कार योगी को प्रातिभ ज्ञान द्वारा होता है। बुद्ध को धर्मत देखना चाहिए। धर्मता उनका काय है। धर्मता का स्वभाव श्रवाच्य है। धर्मता से व्यतिरिक्त ससार नहीं है, सब धर्म प्रज्ञापारिमता से परिणुद्ध हो प्रभास्वर होते हैं। बुद्धकाय भूतकोटि में श्राविभूत होता है।

## निर्वाण का नया स्वरूप

सर्वास्तिवाद और वैभाषिक-नय में आकाश और निर्वाण धर्म थे, क्योंकि वह वस्तु, भाव थे, उनका स्वलक्षण था! सौद्रान्तिक उनको धर्म नही मानते थे, क्योंकि उनके मत का इनका कोई पृथक् स्वभाव नही था। माध्यमिक भी इनको धर्म नही मानते थे, क्योंकि उनके मत में जो दूसरे की अपेक्षा नही करता, वही स्वभाव है ('अनपेक्ष स्वभाव')। शून्यता के अन्तर्गत वैभाषिकों के सब संस्कृत और असंस्कृत धर्म है। उस नवीन सिद्धान्त को स्वीकार करने से वौद्धधर्म में मौलिक परिवर्त्तन हुआ, और उसका आधार ही वदल गया। हीनयान-वादियों के निर्वाण की कल्पना, उनका वृद्ध, उनकी नैतिकता, वस्तु-सत् और प्रतीत्यसमृत्पाद-सम्बन्धी उनके विचार, रूप, चित्त-चैत्त तथा मस्कार के वस्तुत्व का सिद्धान्त सव असिद्ध ों जाते हैं।

नागार्जु न वहुधमं को असिद्ध ठहराते हैं, और शून्यता की प्रशसा करते हैं। इस प्रकार, वह अनिर्वचनीय, अद्धय, 'धर्माणा धर्मता' की प्रतिष्ठा करते हैं। इसे इदन्ता, इदम्प्रत्ययता, तथता, भूत-तथता, तथागत-गर्भ और धर्मकाय कहते हैं। तथागत और निर्वाण एक ही है। यदि ससार वस्तु-सन् नहीं है, यदि सर्वणून्य है, किसी का उदय-व्यय नहीं होता, तो किसका निर्वाण उष्ट है ? यह समझना कि निर्वाण के पूर्व समार विद्यमान था, और उसके परिक्षय में निर्वाण पण्चात्

होगा, मूढग्राह है। निर्वाण के पूर्व जो स्वभाव से विद्यमान थे, उनका ग्रभाव करना शक्य नहीं है। ग्रत, इस कल्पना का परित्याग करना चाहिए। चाहे हम वैभापिक-मत लें (जिसके अनुसार निर्वाण-धर्म में सदा के लिए विज्ञान का निरोध होता है), ग्रथवा सौद्रान्तिक-मत लें (जिसके ग्रनुसार निर्वाण क्लेश-जन्म का ग्रभावमाद्र है), दोनो ग्रवस्थाग्रो में यह कल्पना है कि निर्वाण के पूर्व कोई वस्तु-सत् विद्यमान है, जो पश्चात् निरुद्ध होता है। इससे निर्वाण केवल शून्य ही नहीं है, किन्तु सस्कृत है। माध्यमिको के ग्रनुसार निर्वाण ग्रौर समार में सूक्ष्ममाद्र ग्रन्तर नहीं है। हेतु-प्रत्यय-सामग्री का ग्राश्रय लेकर जो जन्म-मरण-प्रवन्ध व्यवस्थापित होता है, वही, जब हेतु-प्रत्यय की उपेक्षा होती है, निर्वाण व्यवस्थापित होता है।

श्रन्त में शून्यता के सम्बन्ध में नागार्जुं न कहते हैं कि यदि कोई श्रशून्य हो, तभी कोई शून्य हो सकता है। किन्तु, कोई श्रशून्य नहीं है, तब शून्य कैंसे होगा? इसका यह श्रर्थ नहीं है कि शून्यता का प्रतिषेध होना चाहिए। सर्वदृष्टियों की शून्यता से ही उनका नि सरण होता है, सकल कल्पना की व्यावृत्ति होती है। किन्तु, यदि शून्यता में भावाभिनिवेश हो, तो किस प्रकार इस श्रभिनिवेश का निषेध हो? तथागत कहते हैं कि जिसकी दृष्टि शून्यता की है, वह श्रचिकित्स्य है।

न्याय-वैशेषिक-मत-केवल हीनयान में ही निर्वाण को ग्रचैतन्य नहीं माना है, न्याय-वैशेषिक-मत मे भी मोक्ष(ग्रपवर्ग, नि श्रेयस्)ग्रचैतन्य, सर्वसुखोच्छेद है (१।१।२ पर वात्स्यायन-भाष्य)। वात्स्यायन प्रश्न करते हैं कि कौन वृद्धिमान् इम ग्रपवर्ग को पसन्द करेगा, जिसमें सर्वसुख का उच्छेद है, जो ग्रचैतन्य है, जिसमे सबसे विप्रयोग है, ग्रीर सर्वकार्य का उपरम है। वह स्वय उत्तर देते हैं -- यह ग्रपवर्ग शान्त है, यहाँ सर्वदु ख का उच्छेद हे, मर्वदु ख की असवित्ति है। कौन ऐसा वुद्धिमान् है, जो इसके लिए रुचि न उत्पन्न करे ? जिस प्रकार विष-सपृक्त श्रन्न श्रनादेय है, उसी प्रकार दु खानुपक्त सुख श्रनादेय है। जयन्त 'न्यायमजरी' में प्रश्न करते हैं--क्या यह सम्भव है कि वृद्धिमान् पापाण-निर्विशेष की श्रवस्था के श्रधिगम के लिए पुरुषार्थ करे ? ग्रीर, वे भी वही उत्तर देते है, जो वात्स्यायन का है। वैशेपिक में भी मोक्ष सर्वोपरम है। 'न्यायकन्दली' में प्रश्नकर्त्ता कहता है कि यदि यह अवस्था शिला-शकल के तुल्य है, जड है, तो मोक्ष (निर्वाण) के लिए कोई वृद्धिमान् पुम्प यत्नशील न होगा। ग्रन्थकार उत्तर देता हे कि वृद्धिमान् केवल मुख के लिए यत्नवान् नहीं होता। अनुभव बताता है कि वह दुख-निवृत्ति के लिए भी पूरुपार्य करता है। न्याय-वैगेपिक में ससार को दुख कहा है। वात्स्यायन कहते हैं कि दु ख जन्म है। यह केवल मुख्य दु ख नहीं हैं, किन्नु उसका साधन भी दु ख है। यही पच उपादान-स्कन्ध है । यही सास्रव-धर्म है । इनके प्रतिपक्ष प्रज्ञा ग्रीर समाधि है । वात्स्यायन-भाष्य मे प्रज्ञा को 'धर्म-प्रविवेक' (= धर्म-प्रविचय) कहा है। मोक्ष को न्याय मे 'ग्रमृत्यु-पद' कहा है। वैशेषिक के ग्रनुसार स्वरूपावस्था मे न चैतन्य है, न वेदना।

शरवात्स्की का निष्कर्ष—इम विस्तृत विवेचन के ग्रनन्तर णरवात्स्की यह निष्कर्ष निकालते हैं—

- 9. छठी शताब्दी (ईसा से पूर्व) मे दार्शनिक विचार-विमर्श की प्रचुरता थी, और क्लेश-कर्म-जन्म के निरोध के मार्ग उत्सुकता से ढूँ ढें जाते थे। इनमे से अनेक मोक्ष (निर्वाण) की अचैतन्यावस्था मानते थे और उसको अमृत्यु-पद कहते थे। बुद्ध ने नित्य आत्मा का प्रतिषेध किया था, और 'मर्व' को संस्कृत-असंस्कृत धर्मों में विभक्त किया था। इन संस्कृत-धर्मों का निर्वाण में नियत-विरोध होता था।
- २ कई निकाय इस मत के थे। किन्तु, धीरे-धीरे वृद्ध को लोकोत्तर वना दिया, श्रौर इस कारण शासन में भेद हुआ।
- उ पहली शताब्दी में श्रद्धयवाद की प्रतिष्ठा हुई श्रीर वुद्ध की पूजा धर्मकाय के रूप में होने लगी।
- ४ महासाधिक, वात्सीपुतीय तथा कतिपय ग्रन्य निकायो में यह मतवाद प्रचलित था कि निर्वाण की ग्रवस्था में एक प्रकार का चैतन्य रह जाता है।
- ५ इनके अनन्तर सौतान्तिक आये, जिन्होने धर्मों की सख्या को घटाया, कई धर्मों को प्रज्ञप्तिमात्र ठहराया । यहाँतक कि निर्वाण को भी अभावमात्र माना, और उसको एक पृथक् धर्म नही अवधारित किया । सौतान्तिक बुद्ध का धर्मकाय मानते थे ।
  - ६ नया दर्शन ग्रद्धयवादी हो गया। इसने वहुध मंवाद का प्रतिपेध किया।
- ७ तव इसके दो रूप हो गये। एक ने आलय-विज्ञान नामक आठवें विज्ञान की कल्पना की, जिसके अन्य विज्ञान परिणाम है। ये बाह्य जगत् को मिथ्या और केवल विज्ञान को वस्तु-सत् मानते थे। इनको चित्तमात्ववादी कहते थे। दूसरे बहुधर्म की सत्ता नहीं मानने थे। वह केवल 'सर्व' को वस्तु-सत् मानते थे, जिसका साक्षात्कार योगी को ही होता था। इनके अनुसार तत्त्व का माक्षात्कार तर्क और युक्ति से नहीं होता।
- पाँचवी शताव्दी में सौतान्तिक योगाचार में मिल गये। इनके ग्रनुसार निर्वाण में ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं है।

शरवात्स्की का ग्रन्थ सन् १६२७ ई० में प्रकाशित हुग्रा था। इधर कई विद्वानों ने इस विषय पर विचार किया है, ग्रीर इनमें से कुछ पूसें के इस विचार से सहमत है कि वौद्धर्म का एक पूर्वरूप था, जो निर्वाण को सर्वास्तिवाद की तरह ग्रचेतन ग्रवस्था नहीं मानता था, किन्तु उसके ग्रनुसार यह भ्रमृत-पद चैतन्य की शाश्वत ग्रवस्था थी।

हम शरवात्स्की के मन से महमत हैं क्योंकि हमारी समझ म नहीं ग्राता कि जव वौर्द्धधर्म ग्रपने इतने लम्बे इतिहाम में निरन्तर पुद्गल-नैरात्म्य ग्रौर ग्रनात्मवाद की शिक्षा देता रहा, तो यह कैसे माना जा सकता है कि भगवान् बुद्ध ने निर्वाण की ग्रवस्था को चैतन्य की शाश्वत ग्रवस्था वताया था। हम ऊपर देख चुके हैं कि सौन्नान्तिक, जो सून्नान्तों को ही प्रमाण मानते हैं, निर्वाण को वम्तु-मत् नहीं मानते, किन्तु उसे ग्रभावमान ठहराते हैं। यह मत्य है कि सून्नान्तों में कुछ ऐसे वाक्य ग्राये हैं, जिनमें निर्वाण के लिए ग्रजर, ग्रमृत ग्रादि ग्राख्याग्रों का प्रयोग किया गया है, मुख्यत इन्हीं वाक्यों के ग्राधार पर ये विद्वान् ऐसी कल्पना करते हैं। किन्तु, जैसा कि शरवात्स्की ने न्याय-वैशेषिक शास्त्रों से उद्धरण देकर

सिद्ध किया है, ये ग्राख्याएँ ग्रपवर्ग, निश्रेयस् के लिए इन णास्त्रों में भी प्रयुक्त हुई है, किन्तु इन ग्राख्याग्रों का व्याख्यान चैतन्यावस्था न करके ग्रचेतनावस्था ही किया गया है। जव न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थ इस ग्रवस्था को जडावस्था मानते हैं, ग्रीर उसे पापाण-निर्विशेष वनाते हैं, तब ग्रमृत ग्रादि व्याख्याग्रों का सूत्रान्तों में एक भिन्न ग्रर्थ लगाना उचित नहीं प्रतीन होता। निर्वाण वौद्धधर्म का लक्ष्य है। भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार ममृद्र का रम एकमात्र लवणरस है, उसी प्रकार मेरी शिक्षा का एकमात्र रम निर्वाण है। भगवान् की समस्त शिक्षा निर्वाण-प्रापक है। ग्रत, निर्वाण के सम्बन्ध में किमी प्रकार का श्रम श्रावकों में नहीं रहा होगा। इस विषय में हम कमागत श्राम्नाय को ग्रधिक प्रामाणिक मानते हैं।

#### निर्वाण के भेद

हीनयान दो प्रकार का निर्वाण मानता है—सोपिधिशेष निर्वाण ग्रीर निरपिधिशेष निर्वाण। पहली जीवन्मुक्त की ग्रवस्था है। इस ग्रवस्था में ग्रह्नं को शारीरिक दुख भी होता है। दूसरा निर्वाण वह है, जिसमे मृत्यु के पश्चात् ग्रह्तं का ग्रवसान होता है। किन्नु महायान में एक ग्रवस्था ग्रिधिक है, यह ग्रप्रतिष्ठित निर्वाण की ग्रवस्था है, क्यांकि यद्यपि बुद्ध परिनिर्वृत हो चुके हैं, ग्रीर विशुद्ध तथा परम शान्ति को प्राप्त हैं, तथा वह शून्यता में विलीन होने के स्थान में ससरण करनेवाले जीवों की रक्षा के निमित्त ममार के तट पर स्थित रहना चाहते हैं, किन्तु इससे उनको इसका भय नहीं रहता कि उनका विशुद्ध ज्ञान समल हों जायगा। इम ग्रप्रतिष्ठित निर्वाण की कल्पना इस कारण हुई कि वोधिसत्त्व महाकरणा से प्रेरित है, क्योंकि उसने ग्रपने ऊपर मत्त्वों का भार लिया है, क्योंकि वह ग्रपने में पराये कों श्रेष्ठतर मानता है। इसीलिए, ग्रपने को सन्तप्त करके भी वह पदार्थ को माधिन करता है। इसिलिए, वह शून्यता में प्रवेश नहीं करता, ग्रीर जीवों की ग्रथंचर्या ग्रीर नि श्रेयम् के लिए सतत उद्योग करता है। इम ग्रप्रतिष्ठित निर्वाण का उन्लेख ग्रमंग के महायानमून्नालकार में मिलता है।

महायान के अनुसार श्रावक-यान और प्रत्येक-बुद्धयान का लध्य चरम निर्वाण नहीं है। इनके द्वारा महात्रावक सोपिध-निरपिध-सज्ञक वोधिरूप का लाभ करना है, और भय ने उन्द्ररन हो आयु के क्षीण होने पर निर्वाण प्राप्त करता है। किन्तु, वस्नुन उनवा निर्वाण प्रदीप-निर्वाण के तुल्य है। अभिसमयालकारालोक (पृ० १९६-२०) मे कहा है कि श्रावक और प्रत्येक बुद्ध के लिए केवल बैधातुक जन्म का उपरम होना है, किन्तु वह अनान्नव धानु में, अर्थान् परिशुद्ध बुद्ध-क्षेत्रों में कमलपत्नों में उत्पन्न होने हैं, और नमाधि की अवस्था मे वहीं अवस्थान करते हैं। तदनन्तर, अभिनाभ आदि बुद्ध अविलय्द ज्ञान की हानि के निए उनका प्रयोध वरने हैं, और वह वोधिचित्त का ग्रहण कर लोकनायक वनते हैं। लकावतार में कहा है कि श्रावक्यान से विमोध नहीं होता, अन्त में उनका उद्योग महायान में पर्यविन्त होना है। नागार्जन एकयानवादी हैं, क्योंकि उनके सत में मब यानों का समवनरण एक महायान में होना है।

इनका कारण यह है कि इनके विचार से मार्ग का ग्राधार सव जीवो में पाया जाता है। यह ग्राधार बुद्धधातु है। इसे तथागत-गर्भ, बुद्धवीज या बुद्धगोव भी कहते हैं। इस वीज का वर्मधातु से तादात्म्य है। ग्राभसमयालकार के अनुसार धर्मधातु में कोई भेद नहीं है, अत गोवभेद भी युक्त नहीं है। इसके अनुसार हीनयान केवल सवृत्तित है; वस्तुत अन्त में सवका पर्यवसान महायान में होता है। सव जीवो के लिए बुद्धत्व सम्भव है। क्योंकि, सव बुद्धगोव से व्याप्त हैं। इस साधना में योगी धर्मधातु का प्रत्यात्म में सवेदन करता है। यह विचार वेदान्त से मिलता है, जिसके अनुसार जीवात्मा परमात्मा का ग्रा है, ग्रीर मोक्ष की अवस्था में वह परमात्मा में लीन हो जाता है। अन्य है, जो एकयानवाद को नहीं स्वीकार करते। जनके अनुसार गोत्र के तीन भेद वस्तुत हैं। श्रावक क्लेशावरण का अपगम करता है, अर्थात् वह वाह्यार्थ के वस्तुत्व का प्रतिपेध करता है, किन्तु वोधिसत्त्व ग्राह्य-ग्राहक लक्षण से भी विमुक्त होता है, क्योंकि उसने धर्मधातु का प्रत्यक्ष किया है, उसने धर्मों के श्रद्धय-तत्त्व को देखा है। इनका कहना है कि प्रत्येक का गोत्न नियत है, श्रीर बुद्ध भी चाहें, तो गोत्न नहीं वदल सकते।

इस प्रकार, हमने निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में विविध विद्वानों के विचारों का वर्णन किया ग्रीर यह दिखाने की चेष्टा की है कि वौद्धधर्म के ग्रन्तर्गत विविध दर्शनों ने निर्वाण का क्या स्वरूप माना है।

# चतुर्थ खाइ

[ बौद्धदर्शन के चार प्रस्थान : विषय-परिचय ग्रौर तुलना ]

# पंचदश अध्याय

# सर्वास्तिवाद (वैभाषिक-नय)

ग्रव हम एक-एक करके प्रत्येक दर्शन का सिक्षप्त वर्णन करेंगे। हम प्रत्येक दर्शन के एक-दो प्रामाणिक ग्रन्थों के श्राधार पर मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को सक्षेप में देगे। हमको यह प्रकार समीचीन मालूम होता है कि मूलग्रन्थों के द्वारा ही किसी दर्शन का ज्ञान कराया जाय। सबसे पहले हम सर्वास्तिवाद का विचार करेंगे। इस वाद का बहुत कुछ साहित्य नष्ट हो गया है। सर्वास्तिवाद का ग्रपना ग्रागम था या ग्रौर यह सस्कृत में था । इसके भी विनयधर ग्रौर ग्राभि-धार्मिक थे। अभिधर्मकोश की व्याख्या में आभिधार्मिको को 'पट्पादाभिधर्ममात्नपाठिन ' कहा है। ये सर्वास्तिवादी है, किन्तु यह विभाषा को प्रमाण नहीं मानते। इनको केवल ज्ञानप्रस्थान ग्रीर श्रन्य छ ग्रन्थ, जो ज्ञानप्रस्थान के छ पाद कहलाते है, मान्य है। ये ग्रन्थ इस प्रकार है-प्रकरण, विज्ञानकाय, धर्मस्कन्ध, प्रज्ञप्तिशास्त्र, धातुकाय ग्रीर सगीतिपर्याय। रचियता त्रार्य कात्यायनीपुत्र है। ज्ञानप्रस्थान पर एक प्रसिद्ध व्याख्यान है, इसे 'विभापा' कहते है। इसको जो प्रमाण मानते है, वे वैभापिक कहलाते हैं। सब सर्वास्तिवादी विभापा को प्रमाण नहीं मानते। वैभाषिको का मुख्य केन्द्र काइमीर था। इनको 'काइमीर-वैभाषिक' कहते है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि काश्मीर के सब मर्वास्तिवादी वैभापिक थे। सर्वास्तिवादी और वैभापिक दोनो मानते हैं कि ग्रिभिधर्म वुद्ध-वचन है। काश्मीर के वाहर जो सर्वास्तिवादी थे, उन्हे 'वहिर्देशक', 'पाण्चात्य' (काण्मीर से पश्चिम के निवासी) भ्रौर 'ग्रपरान्तक' कहा है। विभाषा के कुछ ग्राचार्यों के नाम ये है-चसुमित्र, घोषक, बुद्धदेव, धर्मवात श्रीर भदन्त ।

सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ वसुबन्धु-रचित ग्रिभिधर्मकोश है, इसका विशेष परिचय हम ग्राठवें ग्रध्याय में दे चुके हैं। इस ग्रन्थ में काश्मीर के वैभाषिकों के नय में ग्रिभिधर्म का व्याख्यान है। इसका यह ग्रर्थ नहीं है कि वसुबन्धु वैभाषिक है। वे सर्वास्तिवादी भी नहीं है। उनका झुकाव मौबान्तिकवाद की ग्रोर है, जो ग्रिभिधर्म के स्थान में सूब को प्रमाण मानता है। यह ग्रन्थ लगभग ६०० कारिकाग्रो का है। वसुबन्धु ने इन कारिकाग्रो पर ग्रपना भाष्य निखा है। इस भाष्य में वसुबन्ध ने जगह-जगह विभिन्न ग्राचायों का मन भी दिया है। यह गन्थ वड़े महत्त्व का है ग्रीर वौद्ध मनार पर इसका वड़ा प्रभाव पड़ा है। इसकी ग्रनेक व्याख्याएँ है तथा इसका ग्रनुवाद तिय्वती ग्रीर चीनी-भाषा में भी हुग्रा है।

वसुवन्धु वाद में महायानवादी हो गये थे, श्रौर उन्होंने विज्ञानवाद पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। वसुवन्धु से हीनयान का उज्ज्वल काल श्रारम्भ होता है। वौद्ध-ससार में इनके सब ग्रन्थों का वडा ग्रादर है। युग्रान-च्वाग ने इनके ग्रन्थों का चीनी-भाषा में ग्रनुवाद किया, श्रौर ग्रपनी भाषा में वह सामर्थ्य उत्पन्न किया, जिसके कारण विना मूल ग्रन्थों की सहायता के ही भारतीय दर्शन के जटिल ग्रौर दुरूह भाव चीनी-भाषा के ज्ञाताग्रों की समझ में ग्रा सकें। युग्रान-च्वाग से दो प्रधान शिष्य थे— 'कुइ-ची' (जापानी 'किकी') ग्रौर 'फुकुग्राग' (जापानी 'फुको')। इन्होने युवान-च्वाग के ग्रनुवाद-ग्रन्थों पर व्याख्याएँ की है। 'किकी' वसुवन्धु के महायान-दर्शन ग्रौर न्याय के प्रचारक हुए, ग्रौर फुकुग्राग ने हीनयान का प्रचार किया।

सघभद्र ने न्यायानुसार वैभाषिक-मत का समर्थन किया है ग्रौर सौवान्तिको के ग्राक्षेे नो का उत्तर दिया है। किन्तु, यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है। ग्रत, हम वसुवन्धु के ग्रन्थों के ग्राधार पर सर्वास्तिवाद का वर्णन देगे।

## सर्वास्तिवाद की स्राख्या पर विचार

इम प्रश्न पर वौद्धों में विवाद होता था कि ग्रतीत ग्रौर ग्रनागत धर्म द्रव्य-मत् है या नहीं । सर्वास्तिवादियों का मत है कि ग्रतीत ग्रौर ग्रनागत धर्म द्रव्य-सत् हैं, क्योंकि ये तैयिष्टिक धर्मों के ग्रस्तित्व को मानते हैं । इसिलए, इन्हें सर्वास्तिवादी कहते हैं ('तर्दास्तवादात् सर्वास्तिवादी मत ') । परमार्थ कहते हैं कि यदि कोई कहता है कि ग्रतीत, ग्रनागत, प्रत्युत्पन्न, ग्राकाण, प्रतिसख्या-निरोध, ग्रप्रतिसख्या-निरोध इन सवका ग्रस्तित्व है, तो उसे सर्वास्तिवादी निकाय का कहते हैं । इसके विपरीत जो वादी ग्रध्व-व्य के ग्रस्तित्व को तो मानते हैं, किन्तु यह विभाग करते हैं कि प्रत्युत्पन्न धर्मों का, ग्रौर ग्रतीत कर्मों का ग्रस्तित्व है, यदि उन्होंने ग्रमी फल-प्रदान नहीं किया है । जब वे विपाक-दान कर चुके होते हैं, तब उनका ग्रौर ग्रनागत धर्मों का—जो ग्रतीत या वर्त्तमान कर्म के फल नहीं हैं—ग्रस्तित्व नहीं होता । इन्हें विभज्यवादी कहते हैं । ग्रिधमिक्तेश (४१२४-२७) में इन दोनो वादों के भेद पर विचार किया गया है । वसुवन्द्य कहते हैं कि जो प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रतीत के एक प्रदेश के, ग्रम्वात् तथा ग्रतीत के उस प्रदेश के ग्रस्तित्व को नहीं मानता, जो दत्त-विपाक कर्मान्मक है, वह विभज्यवादी माना जाता है । पुन जिमका यह वाद है कि ग्रतीत, प्रत्युत्पन्न, ग्रनागत नवका ग्रस्तित्व है, वह सर्वाम्तिवादी माना जाता है । सर्वास्तिवादी ग्रागम ग्रौर ग्रनित से ग्रतीत ग्रौर ग्रनागत

<sup>9</sup> युत्रान-च्नाग के इस चीनी-अनुवाद के आधार पर फ्रेंच-विद्वान् पूर्मे ने अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के साथ अभिधर्मकोश का फ्रेंच-अनुवाद प्रकाशित किया था। प्रस्तुत यन्य के लेखक ने इस सस्करण का आँगरेजी तथा हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी-अनुवाद 'हिन्दुस्तानी एकेडमी', प्रयाग से प्रकाशित है।

के अस्तित्व को सिद्ध करता है। सयुक्तागम (३११४) में है—रूपमित्यमतीतमनागतम्। सर्वास्तिवादी आगम-वचन को उद्धृत कर युक्ति देता है। आलम्बन के होने पर विज्ञान की उत्पत्ति होती है। यदि आलम्बन नहीं है, विज्ञान उत्पन्न नहीं होता। यदि अतीत और अनागत वस्तु न होती, तो आलम्बन के विना विज्ञान होता। अत, आलम्बन के अभाव में विज्ञान न होगा। यदि अतीत नहीं है, तो शुभकर्म और अशुभकर्म आगत में फल कैसे देता है? वास्तव में विपक्ति-काल में विपाक-हेतु अतीत होता है।

#### सर्वास्तिवादी निकाय के भेद

सर्वास्तिवादी निकाय मे चार नय है--भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, ग्रवस्थान्यथिक भ्रौर ग्रन्यथान्यथिक।

१ भदन्त धर्मवात का पक्ष भावान्यथात्व है, ग्रर्थात् उनकी प्रतिज्ञा है कि तीन ग्रध्व का ग्रन्यथात्व भाव के ग्रन्यत्ववश होता है। जब एक धर्म ग्रध्व से दूसरे ग्रध्व में गमन करता है, तब उसके द्रव्य का ग्रन्यथात्व नहीं होता, किन्तु भाव का ग्रन्यथात्व होता है। यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं, जो ग्राकृति के ग्रन्यथात्व को प्रदिश्त करता है—सुवर्ण के भाण्ड को तोडकर उसका रूपान्तर करते हैं। सस्थान का ग्रन्यथात्व होता है, वर्ण का नहीं। गुण के ग्रन्यथात्व का दृष्टान्त—कीर से दिध होता है; रस, ग्रोज ग्रौर पाक-किया प्रहीण होते हैं. किन्तु वर्ण नहीं प्रहीण होता। इसी प्रकार, जब ग्रनागत धर्म ग्रनागत से वर्त्तमान ग्रध्व में प्रतिपद्यमान होता है, तब वह ग्रनागत भाव का परित्याग करता है, श्रौर वर्त्तमान भाव का प्रतिलाभ करता है, किन्तु द्रव्य का ग्रनन्यत्व रहता है। जब यह वर्त्तमान से ग्रतीत में प्रतिपद्यमान हो, तो वर्त्तमान भाव का त्याग ग्रौर ग्रतीत भाव का प्रतिलाभ होता है, किन्तु द्रव्य ग्रनन्य रहता है।

२ भदन्त घोपक का पक्ष लक्षणान्यथात्व है। धर्म ग्रध्वो में प्रवर्त्तन करता है। जब यह ग्रतीत होता है, तब यह ग्रतीत के लक्षण से युक्त होता है, किन्तु यह ग्रनागत ग्रौर प्रत्युत्पन्न लक्षणों से ग्रवियुक्त रहता है। यदि यह ग्रनागत होता है, तो यह ग्रनागत के लक्षण से युक्त होता है, किन्तु ग्रतीत ग्रौर प्रत्युत्पन्न लक्षणों से ग्रवियुक्त रहता है, यथा एक स्त्री में रक्त पुरुष शेष में ग्रविरक्त रहता है।

३ भदन्त वसुमित्र का पक्ष ग्रवस्थान्यथात्व है। ग्रवस्था के ग्रन्यथात्व से ग्रध्वो का ग्रन्यथात्व होता है। धर्म ग्रध्वो मे प्रवर्त्तमान होकर, ग्रवस्था-ग्रवस्था को प्राप्त होकर (प्राप्य), ग्रवस्थान्तर से, द्रव्यान्तर से नहीं, ग्रन्य-ग्रन्य निर्दिष्ट होता है, यथा एकाक मे निक्षिप्त एक गुलिका एक कहलाती है, दशाक मे निक्षिप्त दम,.. इत्यादि कहलाती है।

४ भदन्त बुद्धदेव का पक्ष अन्यथान्यथात्व है। ग्रध्व अपेक्षावण व्यवस्थित होते है। धर्म अध्व मे प्रवर्त्तमान हो, अपेक्षावण सज्ञान्तर ग्रहण करता है, अर्थात् यह पूर्व ग्रीर अपर की अपेक्षावण अतीत, अनागत, वर्त्तमान कहलाता है, यथा एक ही स्वी दुहिता भी है, माता भी है। इस प्रकार, यह चारो वादी सर्वास्तिवाद का निरूपण करते हैं। वसुवन्यु कहते हैं कि प्रथम को, जो परिणाम का वाद है, साख्य-पक्ष में निक्षिप्त करना चाहिए। जो साख्य-पक्ष में प्रतिपेध है, वही इस पक्ष का प्रतिपेध है। द्वितीय पक्ष में ग्रध्व-सकर होता है, क्योंकि तीन लक्षणों का योग होता है। पुन यहाँ साम्य क्या है वयोंकि इस पुरुष में एक स्त्री के प्रति राग-समुदाचार होता है, ग्रौर शेप स्त्रियों के लिए केवल राग-प्राप्ति होती है। चतुर्य पक्ष में तीन ग्रध्व एक ही ग्रध्व में प्राप्त होते हैं। एक ही ग्रतीत ग्रध्व में पूर्वापर क्षण की व्यवस्था है, यथा पूर्व क्षण ग्रतीत है, पिण्चम ग्रनागत है, मध्यम प्रतिपन्न है। ग्रत, इन सबमें तृतीय मत वसुमित्र का णोभन है, जिसके ग्रनुसार कारित्रवण ग्रध्व ग्रौर ग्रवस्था व्यवस्थापित होते है। जब धर्म ग्रपने कारित्र को नहीं करता, तब वह ग्रनागत है। जब वह ग्रपना कारित्र करता है, वह प्रत्युत्पन्न है। जब कारित्र से जपरत हो जाता है, तब बह ग्रतीत है।

# धर्म-प्रविचय

प्रविचय का प्रयोजन-'धर्म' वह है, जो स्वलक्षण करता है। धर्म पूज्यों के समान व्यवकीर्ण है। उन्हें चुनते है (प्रविचीयन्ते), ग्रौर उनका विभाग करते हैं कि ये ग्रनास्रव है, ये सास्रव हैं इत्यादि । इस प्रक्रिया को धर्म-प्रविचय कहते है। धर्म-प्रविचय-काल में प्रज्ञा नामक एक चैत धर्मविशेप का प्राधान्य होता है। अत , प्रज्ञा का लक्षण धर्म-प्रविचय है, यशा वैशेषिकशास्त्र मे पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि श्रेयस् की सिद्धि होती है, उसी प्रकार सब धर्मों मे ग्रग्रनिर्वाण की प्राप्ति धर्म-प्रविचय से होती है। यही परम ज्ञान का ग्रर्थ है। वैशेषिकशास्त्र के अनुसार यह तत्त्वज्ञान द्रव्यादि पदार्थों के माधर्म्य-वैधर्म्य से उत्पन्न होता है। तदनन्तर, निदिघ्यासन से त्रात्मसाक्षात्कार होता है। तदनन्तर, मिध्याज्ञानादि के नाश से मोक्ष होता है। यहाँ 'साधर्म्य' समानवर्म ग्रीर 'वैवर्म्य' विरुद्धधर्म है। वे पदार्थों के सामान्य ग्रीर विशेष लक्षण हैं। यथा अनुगत-धर्म और व्यावृत्त-धर्म के ज्ञान से तत्त्वज्ञान होता है, उसी प्रकार श्रमिधर्म धर्मों के स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के ग्रभिमुख है। धर्मप्रविचय-काल मे प्रज्ञा इस कृत्य को सम्पादित करती है। धर्म सास्रव ग्रीर ग्रनास्त्रव है। ग्रार्यमार्ग को वर्जित कर अन्य सस्कृत-धर्म साध्रव है। यह सास्रव है,क्योकि ग्रास्रव वहाँ प्रतिष्ठा-लाभ करते है, भ्रयवा पुष्टि-लाभ करते है। ग्रास्रव 'मल' को कहते है। ग्रनुणय ग्रास्रव है, क्योंकि यह छ ग्रायतन-व्रण से क्षरित होते हैं (ग्रास्नव, ५।४०)। मास्नव धर्मों में पुष्टि ग्रौर प्रतिष्ठा का लाभ कर अनुशय की वहलता होती है।

यमों का एक दूसरा विभाग भी है। वर्म सस्कृत ग्रीर ग्रसस्कृत है। रूपादि-स्कन्ध-पचक सस्कृत-धर्म हैं। 'सस्कृत' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—िजसे प्रत्ययों ने ग्रन्योन्य-ममागम से, एक दूसरे की ग्रपक्षा कर (समेत्य = सम्भूय) किया है (कृतम्)। कोई भी एक ऐसा धर्म नहीं है, जो एक प्रत्ययजनित हो (२।६४)। सम्कृत को ग्रष्ट्य, कयावस्तु, सिन सार ग्रीर सबस्तुक भी कहते हैं। 'सस्कृत' ग्रष्ट्य, ग्रर्थात् ग्रतीत, प्रत्युत्पन्न ग्रीर ग्रनागत काल है; क्योंकि उनका गत-गच्छत्-गमिष्यत् भाव है। 'सम्कृत' कथा के विषय हैं, ग्रत कथावस्तु हैं। यह सिन सार है,

षयोकि सस्कृत से नि सरण, सर्वसस्कृत का निर्वाण ग्रावश्यक है। सस्कृत सवस्तुक है; क्योकि यह सहेतुक है। सास्रव सस्कृत 'उपादान-स्कन्ध' कहलाते है। उपादान क्लेश है। उपादान स्कन्ध-संज्ञा इसलिए है, क्योकि यह क्लेशो से सम्भूत है। प्रथवा, यह क्लेश विधेय है। इन्हे 'सरण' भी कहते हैं, क्योंकि क्लेश वहाँ प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं। यह 'दु ख', 'समुदय', 'लोक', 'दृष्टि-स्थान', 'भव' भी है। ग्रार्यों के प्रतिकूल होने के कारण यह दुख हैं। 'दुख' शब्द लोक में अनुभूत दुःख-वेदनामाल नही है। दुख उपादान-स्कन्ध है। न्यायभाष्य में दुख का अर्थ 'जन्म' है, (तेन दुःखेन जन्मना भ्रत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः-वात्स्यायनभाष्य, १।१।२२)। वाचस्पतिमिश्र टीका मे कहते है--दु.खशब्देन सर्वे शरीरादय उच्यन्ते, शर्थात् 'दु ख' शब्द से सर्वशरीरादि उक्त है। वे पुन कहते है कि यह भ्रम नही होना चाहिए कि यह मुख्य दु ख है (मुख्यमेव दुःखिमिति भ्रमो मा भूत्)। उसी प्रकार जयन्त कहते हैं -- न च मुख्यमेव दुः बं बाधनस्वभावमवमृश्यते, किन्तु तत्साघन तदनुसपतं च सर्वमेव (जयन्त की न्यायमजरी, पृष्ठ ५०७)। इसी प्रकार, श्रिभधर्मकोश (६।३) में कहा है कि पच उपादान-स्कन्ध दुख कहलाते हैं। वेदना एक देश ही दुख-स्वभाव नहीं है। तिदुखता के कारण सब सास्रव सस्कृत-धर्म ग्रविशेषत दु ख है। 'सास्रव-सस्कृत' को समुदय भी कहते है; क्योंकि दु ख के यह हेतुभूत है। ये लोक है, क्योंकि विनाश-प्रवृत्त है। ये 'दृष्टिस्थान' है, क्योंकि दृष्टियाँ यहाँ श्रवस्थान श्रौर प्रतिष्ठा-लाभ करती हैं<sup>ग</sup>।

## संस्कृत-धर्म

स्कन्ध—हमने कहा है कि सस्कृत-धर्म रूपादि स्कन्ध-पचक है। 'स्कन्ध' का अर्थ 'राशि' है। स्कन्धो में अमस्कृत सगृहीत नहीं हैं। स्कन्ध ये हैं—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान। रूप-स्कन्ध में पाँच इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ या विषय और अविज्ञप्ति सगृहीत हैं। पाँच इन्द्रियाँ ये हैं—चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्त, घ्राण, जिह्ना, काय। पाँच अर्थ जो इन्द्रिय के विषय हैं, इस प्रकार है—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य। चक्षुरादि इन्द्रिय इन अर्थों के विज्ञान के आश्रय है। ये रूप-प्रसाद और अतीन्द्रिय है।

श्रव हम रूपायतन से श्रारम्भ कर पाँच श्रयों का विचार करते हैं। रूप एक प्रकार से दिविध है, दूसरे प्रकार से वीस प्रकार के हैं। रूप वर्ण ग्रीर सस्यान है। वर्ण चतुविध है—नील, लोहित, पीत, श्रवदात। श्रन्य वर्ण, वर्ण-चतुष्टय के भेद हैं। मस्यान श्रष्टिवध है—दीर्घ, हस्व, वृत्त, परिमण्डल, उन्नत, श्रवनत, गात (सम) ग्रीर विशात (विपम)। इस प्रकार रूप के वीस प्रकार है—मूल जाति के चार वर्ण, ग्राठ सस्यान, ग्राठ श्रन्य वर्ण—ग्रभ, धूम, रज, मिट्टका, छाया, ग्रातप, ग्रालोक ग्रीर श्रन्धकार। तम-सस्थान के विना वर्ण रूप हो सकता है, यथा नीलादि। वर्ण के विना सस्थान रूप हो सकता है, यथा दीर्घ-हस्वादि का वह प्रदेश, जो काय-विज्ञप्ति-स्वभाव है। वर्ण-सस्थान उभयात्मक रूप है।

ग्रन्य श्राचार्यों का मत है कि केवल श्रातप श्रीर श्रालोक वर्णमात्र है; क्योंकि नीलादि का परिच्छेद दीर्घ-ह्रस्वादि के श्राकार में देखाई देना है। नीत्रान्तिक कहते हैं कि एक द्रव्य उभयथा कैसे विद्यमान हो सकता है ? कैसे वर्ण सस्थानात्मक हो सकता है ? वैभाषिक कहते हैं कि वर्ण और सस्थान, उभय का एक द्रव्य में वेदन-ग्रहण होता है। यहाँ 'विद्' धातु ज्ञानार्थक है, सत्तार्थक नहीं। किन्तु, सौतान्तिक उत्तर देते हैं कि तब काय-विज्ञप्ति के भी वर्ण-सस्थानान्मक होने का प्रसग होगा। सौतान्तिक का मत है कि संस्थान एक पृथक् वस्तु, एक ग्रन्य द्रव्य नहीं है। यह प्रज्ञप्तिमात्र है। जब एक दिशा में वर्ण-रूप का बहुतर सहात उत्पन्न होता है, इस सहात को 'दीर्घ' की सज्ञा देते हैं। जब अपेक्षाकृत वर्ण-रूप सहात ग्रन्य होता है, तब उसे ह्रस्व कहते हैं। दीर्घत्व रूप नहीं है, तथासनिन्निष्ट वर्ण-रूप या स्प्रष्टव्य (म्लक्ष्णादि) को दीर्घ की प्रज्ञप्ति दी जाती है। वैभाषिक सस्थान और वर्ण को द्रव्यान्तर मानते हैं।

शव्द अप्टिविध है। प्रथम यह चतुर्विध है। उपात्त-महाभूत-हेतुक, अनुपात्त-महाभूत-हेतुक, सत्त्वाख्य, असत्त्वाख्य। यह चतुर्विध शव्द मनोज्ञ-अमनोज्ञ भेद से पुन अष्टिविध होता है। 'उपात्त' उसे कहते हैं, जिसे चित्त-चैत्त अधिष्ठानभाव से उपगृहीत और स्वीकृत करते हैं। इस प्रकार, पच ज्ञानेन्द्रिय भूत रूप, यह रूप, जो इन्द्रियाविनिर्भागी है, चित से उपात्त है, स्वीकृत है। अनुग्रह उपघात की अवस्था में चित्त और इस रूप के बीच जो अन्योन्य अनुविधान होता है, उसका यह फल है। जिम रूप को अभिधम में 'उपात्त' कहा है, उसे लोक में सचेतन, सजीव कहते हैं।

हस्त शब्द, वाक् शब्द, प्रथम प्रकार का है। वायु, वनस्पति, नदी शब्द दूसरे प्रकार का है। वाग्विज्ञप्ति-शब्द तीसरे प्रकार का है, क्योंकि यह सत्त्व को सूचित करता है ('सत्त्वमाचण्टे')। श्रन्य शब्द चतुर्थ प्रकार का है।

रस छ प्रकार का है— मधुर, ग्रम्ल, लवण, कटु, कपाय तिक्त। गन्ध चतुर्विध है; क्योंकि सुगन्ध ग्रीर दुर्गन्ध ग्रनुतकृष्ट ग्रीर उत्कृष्ट है। प्रकरणशास्त्र में गन्ध त्रिविध है—सुगन्ध दुर्गन्ध ग्रीर समगन्ध।

स्प्रष्टव्य ग्यारह प्रकार का है। ग्यारह स्प्रष्टव्य द्रव्य है। महाभूतक-चतुष्क, इलक्ष्णत्व, कर्कशत्व, गुरुत्व, लघुत्व, शींतता, जिघत्सा ग्रीर पिपासा। भूत, चार महाभूत—पृथ्वी-धातु, ग्रव्धातु, तेजोधातु ग्रीर वायु है। ये चार धातु-चतुष्ट्य है। ये धातु इमलिए कहलाते हैं; क्योंकि ये ग्रपने स्वलक्षण ग्रीर उपादाय-रूप या भौतिक रूप धारण करते हैं। धृत्यादि कर्म से इनकी सिद्धि होती है। ये खर, स्नेह, उप्णता, ईरण है। इनकी सिद्धि यथाक्रम धृति-कर्म, सग्रह-कर्म, पिनत-कर्म, व्यूहन-कर्म से होती है। व्यूहन से वृद्धि ग्रीर प्रसर्वण समझना चाहिए। यह इनके कर्म है।

पृथिवी-धातु ग्रीर पृथिवी मे विशेष है। लोक-घ्यवहार में जिसे पृथिवी शब्द से प्रज्ञप्त करते हैं, वह वर्ण ग्रीर संस्थान है। इसी प्रकार जल ग्रीर तेज है। इलक्ष्णत्व स्निग्धता है, कर्कशत्व कठोरता है। गुरुत्व वह है, जिसके योग से काय तोलनाई होते है; लघुत्व इसका विपर्यय है। शीत वह धर्म है, जो ऊष्म की श्रिभलापा पैदा करता है। जिघत्सा वह धर्म है, जो श्राहार की इच्छा उत्पन्न करता है। पिपासा वह धर्म है, जो पान की इच्छा उत्पन्न करता है। वास्तव में जिघत्सा श्रीर पिपामा शब्द से वह स्प्रष्टव्य प्रज्ञप्त होता है, जो जिघत्सा श्रीर पिपासा का उत्पाद करता है।

ग्रव हम ग्रविज्ञप्ति का निर्देश करते है।

जिसका चित्त विक्षिप्त है, ग्रथवा जो ग्रचित्तक है, उसका महाभूतहेतुक कुशल भौर भ्रकुशल-प्रवाह ग्रविज्ञप्ति कहलाता है।

श्रमज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में समापन्न पुद्गल श्रचित्तक है। श्रविज्ञप्ति पुद्गल में, और सचित्तक पुद्गल में भी, जिमका चित्त दो ममापत्तियों में निरुद्ध नहीं हुआ है, श्रविज्ञप्ति होती है। समासत, विज्ञप्ति श्रीर समाधि से मम्भूत कुशल-श्रकुशल-रूप श्रविज्ञप्ति है। यद्यपि यह अनुबन्ध कायविज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति के सदृश रूप-स्वभाव श्रीर किया-स्वभाव है, तथापि यह विज्ञप्ति के सदृश दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता। अत, इसे श्रविज्ञप्ति कहते हैं। यह रूप-स्कन्ध में गिनाया गया है।

'रूप-उपादान-स्कन्ध' उसे कहते हैं, जो निरन्तर भिन्न, विभक्त होता है (रूप्यते)। क्षद्रकागम मे पठित अर्थवर्गीय सूत्रो के एक ण्लोक में सिद्ध होता है कि 'रूप्यते' का अर्थ 'बाध्यते' है। किन्तु, रूप कैसे बाधित होता है विपरिणाम के उत्पादन से, विक्रिया से। श्रन्य आचार्यो के अनुसार रूपमान विपरिणाम नही है, किन्तु सम्प्रतिघत्व या प्रतिघात है, यह स्वदेश में पररूप की उत्पत्ति में प्रतिवन्ध है। हम ग्रविज्ञप्ति के रूप को युक्त, सिद्ध कह सकते है। कायिक या वाचिक विज्ञप्ति, जिमसे अविज्ञप्ति समुत्यापित होती है, रूप है। इमलिए श्रविज्ञप्ति रूप है। यथा जब वृक्ष प्रचलित होता है, तब छाया प्रचलित होती है। दूसरा निरूपण यह है कि अविज्ञाप्ति रूप है, क्यों कि महाभूत जो उसके आश्रयभूत है, रूप है। सौन्नान्तिक कहते हैं कि अविज्ञप्ति द्रव्यतः नही है, क्यों कि किसी कर्म से विरित्त का अभ्युपाय करके उस कर्म का न करना-मात्र ही ग्रविज्ञिप्त है। उसके ग्रनुसार यह रूप नहीं है, क्योंकि उसमे रूप का लक्षण (रूप्यते ) नही है। वैभाषिक उत्तर में कहते हैं कि रूप सग्रह-सूत्र मे उक्त है कि एक रूप अविज्ञप्ति, अप्रतिघ है। यह रूप केवल अविज्ञप्ति हो मकता है। एक दूसरे सूत्र का वचन है कि एक ग्रनास्रव रूप है। यह श्रनास्रव रूप श्रविज्ञप्ति है। वैभाषिक कहते हैं कि यदि अविज्ञिप्त नहीं है, तो स्वय कर्म नहीं करता, किन्तु दूसरे को आजा देता है। वह कर्मपथ से समन्वागत नही होगा। वे यह भी कहने हैं कि यदि अविज्ञिप्त नही है, तो मार्ग श्रण्टागिक नही है। क्योकि, तीन ग्रग-सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यगाजीव का समाधि से योग नहीं है। यदि समाधि की श्रवस्था मे योगी इन तीन श्रगो से समन्वागत होता है, तो उसका कारण यह है कि ये तीन अग स्वभाववश अविज्ञान्ति है। मौवान्तिक स्रविज्ञप्ति न मानकर 'सन्तित-परिणाम-विशेष' मानते हैं। उनके अनुमार जब वध के लिए

नियुक्त पुरुष वध करता है, तव यह न्याय है कि प्रयोक्ता की चित्त-सन्तित में एक सूक्ष्म परिणाम-विशेष होता है, जिसके प्रभाव से यह सन्तित श्रायित में फल की श्रमिनिष्पत्ति करेगी।
इस परिणाम-विशेष को कायिक कहते हैं, यदि वह काय-क्रिया का फल होता है; और वाचिक
कहते हैं, यदि वह वाक्-िक्रया का फल होता है। वे यह भी कहते है कि ध्यानो में समाधिवल से एक रूप उत्पन्न होता है, जो समाधि का विषय है, श्रर्थात जिसका ग्रहण समाहित
आश्रय करता हैं। यथा: श्रश्चभ भावना में ग्रस्थि-सकल। यह रूप चक्षुरिन्द्रिय से देखा नही
जाता। इसलिए यह ग्रनिर्दर्शन है। यह देश को श्रावृत नहीं करता, इसलिए यह श्रप्रतिघ है।
यह रूप श्रनाम्नव है, यदि समाधि श्रनाम्नव है। किन्तु, सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि यह देष
क्यो है कि ग्राप श्रविज्ञप्ति के भाव का तो प्रतिषेध करते हैं, किन्तु सन्तित-परिणाम-विशेष
को स्वीकार करते है। श्राचार्य वसुबन्ध कहते है कि दोनो 'वाद' दु खबोध है। इसलिए,
प्रथम मत से मुझे कोई देष नहीं है, किन्तु इससे परितोष नहीं होता। रूप-निर्देश समाप्त
होता है। यही इन्द्रिय श्रीर इन्द्रियार्थ ग्रायतन की व्यवस्था मे दस ग्रायतन (चित्त-चैत्त का
श्रायद्वार) श्रीर धातु (श्राकार) की व्यवस्था मे दस धातु हैं।

श्रव श्रन्य स्कन्धो का निरूपण करना है। वेदना दु खादि श्रनुभव है। वेदना-स्कन्ध विविध श्रनुभूति है — सुख, दुख, ग्रदु खासुख। वेदना के छ प्रकार हैं, जो चक्षुरादि पाँच रूपी इन्द्रियों के स्वविषय के साथ सस्पर्श होने से उत्पन्न होता है, जो मन इन्द्रिय के साथ सस्पर्भ होने से उत्पन्न होता है। सज्ञा निमित्त का उद्ग्रहण है। नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, पुरुषत्व, स्त्रीत्व ग्रादि विविध स्वभावो का उद्ग्रहण सज्ञा-स्कन्ध है। वेदना के तुल्य सज्ञा-काय के भी इन्द्रिय के अनुसार छ प्रकार है। अन्य चार स्कन्धों से भिन्न जो संस्कार है, वे सस्कार-स्कन्ध है। मर्व-सस्कृत सस्कार है, किन्तु सस्कार-स्कन्ध उन्ही सस्कृतो के लिए प्रयुक्त होता है, जो अन्य चार स्कन्धों में सगृहीत नहीं है। यह सत्य है कि सूत्र में कहा है कि सस्कार-स्कन्ध छ चेतनाकाय है, ग्रीर इस लक्षण के श्रनुसार सस्कार-स्कन्ध में सब विष्रयुक्त सस्कार ग्रौर चेतनावर्जित सप्रयुक्त सस्कार का ग्रसग्रह है, किन्तु ग्रभिसस्करण में चेतना का प्राधान्य होने से सूत्र का ऐसा निर्देश है। चेतना कर्मस्वभाव है। लक्षणत, यह वह हेतु है, जो उपपत्ति का भ्रभिसस्करण करता है। भ्रन्यथा सूत्रनिर्देश का भ्रक्षरार्थ लेने से यह परिणाम होगा कि चेतना-व्यतिरिक्त शेष चैतसिक ( सम्प्रयुक्त ) धर्म श्रौर सब विप्रयुक्त धर्म किसी स्कन्ध में सगृहीत न होगे, इसलिए इनका दु ख-समुदयत्व सत्य न होगा, न परिज्ञा होगी, न प्रहाण, किन्तु भगवान् का वचन है कि यदि एक धर्म भी अनिभज्ञात हो, तो मैं कहता हूँ कि दुख का अन्त नहीं किया जा सकता। अत, चैत और विप्रयुक्त का कलाप सम्कार-स्कन्ध में सगहीत है।

वेदना-स्कन्ध, सज्ञा<sup>0</sup>, सस्कार<sup>0</sup>, श्रविज्ञप्ति श्रीर तीन श्रसस्कृत—यह सात द्रव्य धर्मा-यतन, धर्मधातु कहलाते हैं। विज्ञान प्रत्येक विषय की उपलब्धि है। विज्ञान-स्कन्ध छ विज्ञान-काय है —चक्षुविज्ञान .. मनोविज्ञान। श्रायतन - देशना में यह मन-श्रायतन है, श्रीर धातु-देशना में यह सप्त चित्तधातु, श्रर्थात् छ विज्ञान श्रीर मन है। स्रायतन, धातु—स्कन्ध-देशना के स्रतिरिक्त, स्रायतन स्रीर धातु व्यवस्था है। स्रायतन बारह है, धातु स्रहारह है। रूप-स्कन्ध दस स्रायतन, चक्षुरादि पाँच, रूपादि पाँच, दस धातु तथा स्रविज्ञप्ति है।

वेदना<sup>0</sup>, सज्ञा<sup>0</sup>, सस्कार<sup>0</sup> तथा श्रविज्ञप्ति श्रीर तीन श्रसस्कृत—यह सात वस्तु धर्मधातु है, विज्ञान<sup>0</sup> मन-श्रायतन है। यह सप्त धातु, श्रर्थात् छ विज्ञान-काय (विज्ञान-धातु) श्रीर मनो-धातु या मन है। धातुश्रो मे २२ इन्द्रिय परिगणित है, इनका वर्णन हम श्रागे करेगे।

प्रश्न है कि छ विज्ञान-काय, अर्थात् पाँच इन्द्रिय-विज्ञान और मनोविज्ञान से भिन्न मन या मनोधातु क्या हो सकता है ने उत्तर है कि विज्ञान से भिन्न मन नहीं है। इन छ विज्ञानों में से, जो विज्ञान अन्तरातीत है, वह मन है। जो-जो विज्ञान समनन्तर निरुद्ध होता है, वह-वह मनोधातुओं की आख्या प्राप्त करता है, यथा वहीं पुत्न दूसरे के पिता की आख्या का लाभ करता है। षष्ठ विज्ञान-धातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए भी अट्ठारह धातु गिनाते हैं प्रथम पाँच विज्ञान-धातुओं के चक्षुरादि पाँच रूपीन्द्रिय आश्रय है। षष्ठ विज्ञान, मनोविज्ञान धातु का ऐसा कोई आश्रय नहीं है। अतएव, इस विज्ञान-धातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए मनोधातु व्यवस्थापित करते हैं, जो इसका आश्रय होता है, अर्थात् छ विज्ञान-धातुओं में से अन्यतम वह मन या मनोधातु अथवा मन-आयतन, मन-इन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार, छ: आश्रय या इन्द्रिय, आश्रय-षट्क पर आश्रित छ विज्ञान और छ आलम्बन विषय के व्यवस्थान से अट्ठारह धातु होते।

सर्व संस्कृत-धर्म स्कन्ध-सग्रह में सगृहीत है। सर्व सास्रव-धर्म उपादान-स्कन्ध के सग्रह में सगृहीत है। सर्वधर्म आयतन और धातु-सग्रह में सगृहीत है। चक्षु, श्रोव और घाणेन्द्रियों का यद्यपि द्वित्व है, तथापि यह एक-एक धातु माने जाते हैं, नयोंकि जाति, गोचर और विज्ञान में ये सामान्य है। शोभा के निमित्त इनका द्वित्वभाव है।

स्कन्ध, धातु, श्रायतन का ग्रर्थ—स्कन्ध, धातु ग्रीर ग्रायतन इन ग्राख्याग्रो का क्या ग्रर्थ है ? 'स्कन्ध' राशि को कहते हैं। ग्रायतन का ग्रर्थ ग्राय-द्वार, उत्पत्ति-द्वार है। धातु से ग्राशय गोत्र का है। वसुवन्धु के ग्रनुसार स्कन्ध द्वव्य नहीं है, यह प्रज्ञप्ति-सत् है, क्यों कि सचित द्रव्य-सत् नहीं है। यथा धान्यराशि, पुद्गल। वंभाषिक इससे सहमत नहीं है, क्यों कि उनके ग्रनुसार परमाणु भी स्कन्ध है। वंभाषिक सघभद्रकहते हैं कि स्कन्ध का ग्रर्थ राशि नहीं है, किन्तु "वह, जो 'राशिकृत', 'सचित' हो सकता है।" वसुवन्धु उत्तर देते हैं कि इस विकल्प में जब कि परमाणु का राशित्व नहीं है, यह न किहए कि स्कन्ध का ग्रर्थ राशि है। 'ग्रायतन' उन्हें कहते हैं, जो चित्त-चेत्त के ग्राय को फैलाते हैं। 'धातु' का ग्रर्थ गोत्र है। यथा वह स्थान, जहाँ लौह, ताम्र, रजत, सुवर्ण धातुग्रो के बहुगोत्न पाये जाते हैं, 'बहुधातुक' कहलाते हैं। उसी प्रकार एक ग्राथ्य या सन्तान में ग्रद्वारह प्रकार के गोत्न पाये जाते हैं, जो ग्रद्वारह धातु कहलाते हैं। धातु स्वजाति के ग्राकर है। पूर्वोत्पन्न चक्षु चक्षु के पिन्चम क्षणो का सभाग-हेतु है, इसलिए यह चक्षु का ग्राकर—धातु है।

वैभाषिक स्कन्ध, श्रायतन श्रीर धातु इन तीनो को द्रव्य-सत् मानते हैं। सौद्रान्तिक धातुश्रो को द्रव्य-सत् श्रीर स्कन्ध तथा श्रायतनो को प्रज्ञप्ति-सत् मानते हैं। वसुबन्धु स्कन्धो को प्रज्ञप्ति-सत् श्रीर श्रायतन तथा धातुश्रो को द्रव्य-सत् मानते हैं। स्कन्धादिवय की देशना इसलिए है, क्योंकि श्रावको के मोह, इन्द्रिय श्रीर रुचि के तीन प्रकार है।

मोह विविध है—एक चित्तो का पिण्डत ग्रहण कर उन्हीं को ग्रात्मत ग्रहण करते हैं, ग्रीर इस प्रकार समूढ होते हैं। एक रूप-पिण्ड को ही ग्रात्मत गृहीत कर समूढ होते हैं। एक रूप ग्रीर चित्त का पिण्डात्मत ग्रहण कर समूढ होते हैं।

श्रद्धादि इन्द्रिय त्रिविध है--तीक्षण, मध्य, मृदु।

रुचि भी त्रिविध है— एक की सिक्षप्त रुचि होती है, एक की मध्य, एक की विस्तीर्ण। स्कन्ध-देशना पहले प्रकार के श्रावकों के लिए है, जो चैत्तों के विषय में समूढ होते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ तीक्ष्ण हैं और जिनकी रुचि सिक्षप्त देशना में होती हैं। श्रायतन-देशना दूमरे प्रकार के लिए हैं श्रीर धातु-देशना तीसरे प्रकार के लिए है।

वेदना, सज्ञा की विवादमूलता—प्रश्न है कि इसका क्या कारण है कि वेदना श्रौर सज्ञा पृथक्-पृथक है श्रौर अन्य सब चैत-धर्म सस्कार में मगृहीत है विवादमूल हेतु है। ससार कारण है, इसलिए श्रौर स्कन्धों के कम के कारण यह दो चैत—वेदना श्रौर सज्ञा—पृथक् स्कन्ध व्यवस्थित होते हैं। कामाध्यवसाय श्रौर दृष्टि-श्रिभष्वग विवादमूल है। वेदना श्रौर सज्ञा इन दो मूलों के प्रधान है। वेदनास्वादवण कामाभिष्वग होता है श्रौर विपरीतसज्ञावण दृष्टियों में श्रिभष्वग होता है। जो वेदना-गृध्र है श्रौर जिसकी सज्ञा विपर्यस्त है, वह ससार में जन्म-परम्परा करता है।

स्कन्ध-देशना का कम--जो कारण स्कन्धों के अनुक्रम को युक्त सिद्ध करते हैं, उनका निर्देश करते हैं।

श्रीदारिक-भाव, सक्लेश-भाव, भाजनत्वादि से तथा श्रर्थधातुश्रो की दृष्टि से भी स्कन्धों का कम युक्त है। मप्रतिघ होने से रूप स्कन्धों में सबसे श्रीदारिक है। श्रन्तिम दो स्कन्धों से सज्ञा श्रीदारिक है। विज्ञान सर्वसूक्ष्म है। श्रतः, स्कन्धों का श्रनुक्रम क्षीयमाण श्रीदारिकता के कम के श्रनुसार है।

श्रनादि ससार में स्त्री-पुरुष अन्योग्य रूपाभिराम होते हैं, क्यों वि यह वेदनास्वाद में आसक्त हैं। यह श्रासक्ति सज्ञा-विपर्यास से प्रवृत्त होती है। सज्ञा-विपर्यास सस्कारभूत क्लेशों के कारण होता हैं। श्रीर यह, चित्त हैं, जो क्लेशों से सिवलप्ट होता हैं। श्रत, सक्लेश की प्रवृत्ति के अनुसार क्लेशों का कम हैं।

रूप भाजन है, वेदना भोजन है, सज्ञा व्यजन है श्रीर मस्कार पक्ता है, विज्ञान या चित्त भोक्ता है।

धातुत , विचार करने पर हम देखते हैं कि कामधातु रूप से , ग्रर्थात् पच कामग्णों से प्रभावित, प्रकर्षित हैं । रूपधातु, ग्रर्थात् चार ध्यान, वेदना से प्रभावित हैं । प्रथम तीन श्रारूप्य-

सज्ञा से तथा चतुर्य ग्रारूप्य, ग्रयीत् भवाग्र -संस्कारमात्न (चेतना ) से प्रभावित होते हैं। स्कन्धो का ग्रनुक्रम क्षेत्रबीज सदर्शनार्थ है। पहले वार स्कन्ध-क्षेत्र है। पाँचवाँ बीज है। ग्रसस्कृत-धर्म

हम सास्रव सस्कृत धर्मों का निर्देश कर चुके है। मार्ग-मत्य ग्रौर तीन ग्रसस्कृत ग्रनास्रव है। ग्राकाश, प्रतिसज्ञा-निरोध ग्रीर ग्रप्रतिसख्या-निरोध ग्रसस्कृत है।

ग्राकाश—ग्राकाश वह है, जो ग्रावृत नहीं करता, ग्रीर यह रूप से ग्रावृत भी नहीं होता। यहाँ रूप की ग्रवाध गित है। ग्राकाश को सौद्रान्तिक वस्तु-सत् नहीं मानते। उनके ग्रनुसार रूपाभाव-मात्र के लिए, सप्रतिघ द्रव्य के ग्रभाव के लिए ग्राकाश का व्यवहार होता है। ग्राकाश ग्राकाश-धातु से भिन्न है। छिद्र को ग्राकाश-धातु की ग्राख्या देते हैं। द्वार, गवाक्षादि का छिद्र वाह्य ग्राकाश-धातु है। मुख, नासिकादि का छिद्र ग्राघ्यात्मिक ग्राकाश-धातु है। वैभाषिक के ग्रनुसार छिद्र या ग्राकाश-धातु ग्रालोक ग्रीर तम है, ग्रयीत् वर्ण का, रूप का, एक प्रकार है। छिद्र की उपलिध्य ग्रालोक ग्रीर तम से पृथक् नहीं है।

प्रतिसख्या-निरोध — सास्रव धर्मो से विसयोग, प्रतिसख्या या निर्वाण है। प्रतिसख्या या प्रतिसख्या निर्वाण का, ग्रानास्रव प्रज्ञा का, दु खादि ग्रार्थसत्यो के ग्रिमिनमय का ग्रहण होता है। इस प्रज्ञा-विशेष से जिस निरोध की प्राप्ति होती है, वह प्रतिमख्या-निरोध कहलाता है। सब सास्रव धर्मों के लिए एक प्रतिमख्या नहीं होती। प्रत्येक विसयोग पृथक्-पृथक् प्रतिसख्या है। जितने सयोग-द्रव्य होते हैं, उतने ही विसयोग-द्रव्य होते हैं। यदि ग्रन्यथा होता, तो जिस पुद्गल ने दु ख-सत्य-दर्शन से प्रहातव्य क्लेशो के निरोध का लाभ किया है, उसके लिए क्लेशो के प्रतिपक्षभूत मार्ग की भावना व्यर्थ होगी।

स्रप्रतिसख्या-निरोध—एक अन्य निरोध है, जो उत्पाद मे अत्यन्त विघ्नभूत है, अप्रति-सख्या कहलाता है। इस निरोध की प्राप्ति सत्याभिसमय से नहीं होती, किन्तु प्रत्यय-वैकल्य से हो नी है। प्रत्यय-वैकल्य, यथा जब चक्षुरिन्द्रिय और मन-इन्द्रिय एक रूप में आसक्त होते हैं, तब रूपान्तर, शब्द, गन्ध, रम और स्प्रष्टव्य प्रत्युत्पन्न अध्व का अतिक्रमण कर अतीत अध्व में प्रतिपन्न होते हैं।

ये तीन ग्रमस्कृत ग्रध्व-विनिर्मु क्त है ।

निरोध पर सौत्रान्तिक-मत—सीतान्तिक कहते हैं कि दो निरोध भी श्रभाव हैं।
मर्वास्तिवादी कहते हैं कि यदि निर्वाण श्रभाव है, तो यह तृतीय सत्य कैसे हैं? श्रीर उस
विज्ञान का ग्रालम्बन, जिसका ग्रालम्बन ग्राकाश ग्रीर दो निरोध है, श्रवस्तु होगा। पुन यदि
निर्वाण श्रभाव है, तो ग्रभाव की प्राप्ति कैसे होती हे रे सौतान्तिक सूत्रो का प्रमाण देकर सिद्ध
करना चाहते हैं कि निर्वाण ग्रभावमात्र है। सूत्रवचन है—"इस दुःख का ग्रशेप प्रहाण, शान्तिभाव, क्षय, विराग, निरोध, उपमम, ग्रस्तगम, ग्रन्य दु ख की ग्रप्रतिमन्धि ग्रनुपादान, ग्रप्रादुर्भाव;
यह णान्त प्रणीत है, ग्रर्थात् मर्वोपिध का प्रतिनि मर्ग, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध, निर्वाण है।"
ग्रत, निर्वाण 'ग्रवस्तुक' है, ग्रर्थात् ग्रद्भव्य, नि स्त्रभाव है। वैभाषिक इस ग्रर्थ को

स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि इस सन्दर्भ में 'वस्तु' 'हेतु' के ग्रर्थ में है। यद्यपि ग्रसस्कृत द्रव्य है, तथापि वह नित्य निष्क्रिय है। ग्रत, कोई हेतु नहीं है, जो उनका उत्पाद करता है; ग्रीर कोई फल नहीं है, जिसका यह उत्पाद करते हैं।

#### श्रात्मा ग्रीर ईश्वर का प्रतिषेघ

धर्मों के इस विभाग में आत्मा, पुरुप और प्रकृति को स्थान नहीं है। आत्मा प्रज्ञप्तिमात है। जिस प्रकार 'रथ' नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, वह शब्दमात है, परमार्थ में श्रग-सम्भार है, उसी प्रकार आत्मा, सत्त्व, जीव, पुद्गल, नामरूप-मात्र (स्कन्धपचक) है। यह कोई अविपरिणामी शाश्वत पदार्थ नहीं है। रूप भी केवल विज्ञान का विषय है। वैशेषिकों के परमाणु के तुल्य द्रव्य नहीं है।

वैभापिक सस्वभाववादी है, वहुधमंवादी है, किन्तु कोई शाश्वत पदार्थ नहीं मानते। उनके द्रव्य सत् है, किन्तु क्षणिक हैं। वे चैत ग्रीर रूपी धर्म है। वे किसी मूल कारण की व्यवस्था नहीं करते। वे नहीं मानते कि ईश्वर, महादेव या वासुदेव, पुरुप, प्रधानादिक एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति होती है। यदि भावों की उत्पत्ति एक कारण से होती, तो सर्व जगत् की उत्पत्ति युगपत् होती, किन्तु हम देखते हैं कि भावों का ऋम सम्भव है। ईश्वरवादी कहता है कि यह ऋम-भेद ईश्वर की इच्छावश है—"यह इम समय उत्पन्न हो, यह इस समय निरुद्ध हो, यह पश्चात् उत्पन्न ग्रीर निरुद्ध हो।" वैभाषिक उत्तर देता है कि यदि ऐसा है, तो भावों की उत्पत्ति एक कारण से नहीं होती, क्योंकि छन्द-भेद है।

ईश्वरवादी पुन कहता है कि ईश्वर स्वप्रीति के लिए जगत् की उत्पत्ति करता है।

यदि ईश्वर नरकादि में प्रजा की सृष्टि कर वहु ईतियो से उपद्रुत होते देखकर प्रसन्न होता है, तो उसको नमस्कार हैं। सत्य ही यह लौकिक श्लोक सुगीत हैं—''उसे छद्र कहते हैं, क्योंकि वह दहन करता है, वह उग्र, तीक्ष्ण, प्रतापवान् है। वह मास, शोणित, मङ्जा, खानेवाला है।''

कदाचित् प्रत्यक्ष हेतुग्रो के निपेध के परिहार के लिए, ग्रीर ईश्वर की ग्रप्रत्यक्ष वर्ते-मान किया की प्रतिज्ञा के परिहार के लिए ईश्वरवादी कहेगा कि ग्रादिसर्ग ईश्वर-हेतुक है, किन्तु ग्रादिसर्ग का केवल ईश्वर एक कारण है, वह ग्रन्य कारणो की ग्रपेक्षा नहीं करता। ग्रत , ईश्वरवत् उनके भी ग्रनादित्व का प्रसग होगा। ईश्वरवादी इसका प्रतिपेध करता है, ग्रत कोई धर्म एक कारण से उत्पन्न नहीं होता। ग्रात्मा का प्रतिपेध, ग्रिमधर्मकोश के नवें कोशस्थान में किया गया है। उसका साराश हम १२वे ग्रध्याय में दे चुके हैं। यहाँ परमाणुवाद का विचार करना ग्रावश्यक है।

## परमाणुवाद

स्थविरवाद — स्थविरवाद में परमाणु का उल्लेख नहीं है। ज्ञात होता है कि सर्वास्ति-वादियों ने सबसे पहले परमाणुवाद का उल्लेख किया है। युद्धधोप के 'विसुद्धिमग्गो' और 'भ्रत्य- सालिनी' में तथा श्रनिरुद्धाचार्य के 'श्रिभधम्मत्थसगहों में रूप-कलाप-योजना का वर्णन है। यह योजना सर्वास्तिवादियों के सघात-परमाणु से मिलती-जुलती है। पश्चात्, यह कलाप-योजना स्थिवरवाद के दर्शन का एक श्रविभाज्य श्रग बन गई।

सर्वास्तिवाद—सर्वास्तिवादियों के अनुसार परमाणु चौदह प्रकार के हैं—पाँच विज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय तथा चार महाभूत। ये सघात-रूप में भाजन-लोक में पाये जाते हैं। इन्हें सघात-परमाणु कहते हैं। इन्हीं को स्थविरवादी 'कलाप' कहते हैं, जिसमें केवल आठ अविनिर्भाग-रूप होते हैं, वह 'शुद्धाष्टक' है। आकाश-धातु कलापों का परिच्छेद-माव है। 'उपचय, सन्तित, जरता और अनित्यता, ये चार लक्षण रूप-कलापों के लक्षणमाव है। ये कलापों के अग नहीं हैं।

वसुबन्धु--वसुबन्धु परमाणु का विचार रूपी धर्मों के सहोत्पाद-नियम के सम्बन्ध में करते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि यहाँ परमाण से द्रव्य-परमाणु इष्ट नहीं है, किन्तु सघात-परमाणु, ग्रर्थात् सर्व सूक्ष्म रूप-सघात इष्ट है, क्योकि रूप-सघातो मे इससे सूक्ष्मतर नही है। वसुवन्ध् द्रव्य-परमाणु मानते है, जो रूपण से मुक्त है, किन्तु वे कहते है कि एक परमाणु-रूप पृथग्भूत नहीं होता, श्रौर सघातस्थ ( सचित ) होने के कारण सघात की ग्रवस्था में इसका वाधन-रूपण भ्रौर प्रतिघात-रूपण हो सकता है। सप्रतिघ रूपो का सर्वसूक्ष्म भाग, जिसका पुनः विभाग नही हो सकता, परमाणु कहलाता है। इसे सर्वसूक्ष्म रूप कहते हैं, यथा सर्वसूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं। यह अर्घ क्षणो मे विभक्त नहीं हो सकता। कम-से-कम आठ द्रव्यों का सहोत्पाद होता है, और इनका अशब्द, अनिन्द्रिय सघाताणु होता है। ये आठ द्रव्य इस प्रकार है--चार महाभृत, चार भौतिक--रूप, रस, गन्ध ग्रौर स्प्रष्टव्य । जब परमाणु मे शब्द उत्पन्न नही होता, किन्तु कायेन्द्रिय (कायायतन) होता है, तव इसमे एक नवाँ द्रव्य कायेन्द्रिय होता है । जब परमाणु मे शब्द उत्पन्न नही होता, किन्तु कायेन्द्रिय को वर्जित कर ग्रन्य इन्द्रिय (चक्षुरादि) होता है, तव इसमे एक दसवाँ द्रव्य अपरेन्द्रिय ( चक्षुरादि ) होता है, क्यों कि चक्षु, श्रोद्वादि इन्द्रिय, कायेन्द्रिय-प्रतिवद्ध है, श्रीर पृथग्वर्त्ती श्रायतन है। जव पूर्वोक्त सघात-परमाणु सशब्द होते है, तव यथाक्रम नव-दश-एकादश द्रव्य उत्पन्न होते है। वास्तव मे, जो शब्दायतन उपात्त महाभूतो से उत्पादित होता है, वह इन्द्रियाविनिर्भागी होता है।

यदि पृथिवी-धातु आदि चार महाभतो का अविनिर्भाग है, यदि वे मधात-परमाण् में सहवर्त्तमान होते हैं, तो यह कैंसे है कि एक सधात में कठिन, द्रव, उष्ण या समुदीरणा का ग्रहण होता है, ग्रीर उसमें इन चार द्रव्यो या स्वभावों का युगपत् ग्रहण नहीं होता ?

हम एक सघात में द्रव्यों में से उस द्रव्य की उपलब्धि करते हैं, जो वहाँ पटुतम (स्फुटतम) होता है, जो प्रसवत उद्भूत होता हैं, ग्रन्य द्रव्यों की नहीं, यथा जब हम सूची-तूली-कलाप का स्पर्श करते हैं, तब हम सूची की उपलब्धि करने हैं ग्रीर जब हम लवणयुक्त सक्तु-चूर्ण खाते हैं, तब लवण रस की उपलब्धि करते हैं। प्रश्न है कि ग्राप यह कैंसे जानते हैं कि एक सघात में महाभृत होते हैं, जिनके सद्भाव की उपलब्धि नहीं होती। सब महाभूतों का ग्रस्तित्व उनके कार्यविशेष से गमित होता है। तेजोधातु का ग्रस्तित्व जल में है, क्योंकि जल में गैत्य का ग्रतिशय है। यह तेज के ग्रन्यतर-तमोत्पत्ति से ज्ञात होता है। यह मत भदन्त श्रीलाभ का है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिको के अनुसार सघात में जिन महाभूतो की उपलिव्ध नही होती, वे वीजत ( शक्तित , सामर्थ्यत ) वहाँ होते हैं, कार्यत , स्वरूपत नहीं होते । सौत्रान्तिक एक दूसरा आक्षेप करते हैं—वायु में वर्ण के सद्भाव को कैसे व्यवस्थित करते हैं विभापिक उत्तर देते हैं कि यह अर्थ श्रद्धनीय है, अनुमानसाध्य नहीं है । अथवा वायु वर्णवान् है; क्योंकि वायु का गन्धवान् द्रव्य से ससर्ग होने से गन्ध का ग्रहण होता है, किन्तु यह गन्ध वर्ण के साथ व्यभिचार नहीं करता । सौत्रान्तिकों के अनुसार परमाणु चतुर्द्रव्यक है—रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य ।

वैशेषिक — वैशेषिको का परमाणु नित्य है, ग्रर्थात् सत् ग्रीर ग्रकारणवत् है (४।२।२)। यह भावरूप, ग्रजन्य, विनाशाप्रतियोगी वस्तु है। यह ग्रवयवियो का मूलकारण है। ये परमा-ण्वादि कम से जगत् का ग्रारम्भ मानते है। ये उस मत का निराकरण करते हैं, जो ग्रभाव से भावोत्पत्ति मानता है।

कार्य इसका अनुमापक है। वसरेणु आदि कार्य द्रव्य इसका लिंग है। परमाणु की सत्ता यदि न मानी जाय, तो अवयव-अवयवी-द्यारा अनन्त, निरविध होगी और उस अवस्था में मेरु-सर्षप का परिमाणभेद नहीं होगा, उनके साम्य का प्रसग होगा, क्योंकि दोनों का आरम्भ अनन्त अवयवों से होगा। इमलिए, कही-न-कहीं विश्राम करना चाहिए। वसरेणु पर विश्राम नहीं कर सकते, क्योंकि वसरेणु सावयव है, वह चाक्षुप द्रव्य है, क्योंकि वह महान् और अनेक-द्रव्यवान् है। महत्त्व उसके चाक्षुप प्रत्यक्षत्व में कारण है और महत्त्व अनेक द्रव्यसत्त्व का कारण होता है। वसरेणु के अवयव भी परमाणु नहीं है, क्योंकि वे भी महत् द्रव्य के आरम्भक होने से तन्तु के समान सावयव है। अत, जो कार्यद्रव्य है, वह सावयव है, जो सावयव है, वह कार्यद्रव्य है। जिस अवयव से कार्यत्व की निवृत्ति होती है, उससे सावयवत्व की भी निवृत्ति होती है। इस प्रकार, निरवयव परमाणु की निद्धि होती है। परमाणु का रूपादि होता है, क्योंकि कार्य में उसका सद्भाव, कारण में सद्भाव से होता है। कार्य-गुण, कारण-गुणपूर्वक होते हैं (कारणभावात् कार्यभाव, ४।१।३)।

यह म्राक्षेप होता है कि परमाणु मनित्य है; क्यों कि वे मूर्त्त है, क्यों कि उनका रूप-रसवस्व है; क्यों कि छ परमाणुम्रों के साथ युगपत् योग होने से परमाणु की पडशता है। पुन. यदि परमाणु के मध्य में माकाश है, तो मच्छिद्र होने से उसका मावयवत्व होगा। यदि म्राकाश नहीं है, नो म्राकाश के म्रन्वंगत होने का प्रमग होगा। पुन, चृंकि जो सत् है, वह क्षणिक है, इमलिए इस क्षणिकत्व-माधक म्रनुमान से परमाणु की म्रिनित्यता सिद्ध होती है। इस म्राक्षेप के उत्तर में वैशेषिक कहते हैं कि यह म्नम है कि परमाणु का म्रस्तित्व कारणावस्था में नहीं हो सकता; क्यों कि परमाणु कार्यरूप में ही पाये जाते हैं। प्रश्न है कि यदि परमाणु का श्रस्तित्व है, तो उसका ग्रहण इन्द्रियों से क्यों नहीं होता ? ग्रापने ही उपपादित किया है कि रूपवत्त्व, स्पर्णवत्त्व ग्रादि ऐन्द्रियकत्व के प्रयोजक हैं। इसका उत्तर यह है कि उद्भूत रूप महत् की ही उपलब्धि होती है। उसका ही चाक्षुप, स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह श्रनेक द्रव्यवान् है। परमाणु में महत्त्व (परिमाण) का श्रभाव है, श्रत उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। सूक्ष्म की उपलब्धि नहीं होती। वायु का महत् परिमाण है, किन्तु उसमें रूप-संस्कार का श्रभाव है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं है। उसमें रूप का उद्भव नहीं है। एक परमाणु में संस्कृत रूप नहीं होता, श्रत उसकी उपलब्धि नहीं होती।

परमाणुरूप मूल कारण-द्रव्य की परीक्षा कर वैशेषिक कार्य-द्रव्य की परीक्षा करता है। उसके अनुसार शरीर पचात्मक, चातुर्भी तिक या व्यात्मक नहीं हे। एक-एक द्रव्य का आरम्भ एक-एक से होता है, अत शरीर पार्थिव है, क्योंकि पृथ्वी का विशेष गुण (गन्ध) मानुष शरीर में विनाश-पर्यन्त देखा जाता है। पाकादि की उपलब्धि शुष्क शरीर में नहीं होती, अत गन्ध स्वाभाविक है, अन्य औपाधिक हैं।

किन्तु, इसका यह अर्थ नही है कि पाँच भतो का मिथ सयोग नही होता। यह एक दूसरे के उपष्टम्भक होते हैं, किन्तु दो विजातीय अणुओ का ऐसा सयोग इष्ट नही है, जो द्रव्य के प्रति असमवायिकारण हो। उपष्टम्भवश शरीर में पाकादि की उपलब्धि होती है।

परमाणु के परिमाण की वैशेपिक सज्ञा 'परिमण्डल' है। प्राचीन यूनान में भी पारिमाण्डल्यवादी परमाणुवादी थे, किन्तु उनके परमाणु गुणविरिहत और विविध आकार के थे। उनका सयोग यादृष्ठिक था। वैशेषिक अदृष्ट नामक एक धर्म-विशेप मानते हैं। जिसके कारित से अणुओ का आद्यकर्म, परमाणु-सयोग होता है। कोई टीकाकार ईश्वर के छन्दो-विशेष या कालिक या के कारण अणुओ का आद्यकर्म मानते हैं।

तुलना—वैभाषिक का परमाणु अविनाशी नहीं है। धातुसवर्त्तनी के समय रूपादि के विनाश से परमाणु का विनाश सिद्ध है। वैशेषिक इसके विपरीत मानते हैं कि प्रलयकाल में भी परमाणु-द्रव्य का विनाश नहीं होता। वे कहते हैं कि लोकधातु का नाश होने पर भी परमाणुओं के नित्य होने से ये अवशिष्ट रहते हैं। अवयव का विभाग विनाश है, इसी से द्रव्य का नाश होता है। यह निरवयव का नाश नहीं है।

वैभाषिक के अनुसार परमाणु रूप का पर्यन्त है, इसकी उपलब्धि नही होती, यह अनिदर्शन है। सात परमाणुओं का एक अणु होता है। सात अणुओं का एक लोहरज, मात लोहरज का एक अवज, सात अवज का एक शशरज, मात गशरज का एक अविरज, मात अविरज का एक गोरज, सात गोरज का एक छिद्ररज (वैशेषिकों का व्रमरेणु) होता है। वैशेषिकों का परमाणु वसरेणु का पष्ठाण है। दो अणुओं का एक द्वरणुक नीन द्वरण्कों का एक त्यणुक होता है इत्यादि।

वसुवन्धु एक प्रश्न उत्थापित करते है-परमाणु स्पर्श करते है या नहीं ?

काश्मीर-वैभाषिक कहते हैं कि परमाणु स्पर्श नही करते। यदि परमाणु साकल्येन स्पर्श करते, तो, द्रव्य अर्थात् विभिन्न परमाणु मिश्रीभूत होते, अर्थात् एकदेशीय होते। यदि परमाणु एक देश में स्पर्श करते, तो उनके अवयव होते, किन्तु परमाणु के अवयव नहीं होते। किन्तु, यदि परमाणु में स्पर्श नहीं होता, तो शब्द की अभिनिष्पत्ति कैसे होती?

इसी कारण शब्द सम्भव है, क्यों कि स्पर्श नहीं होता। यदि परमाणुग्रों का स्पर्श होता, तो हाथ से ग्रभ्याहत होने पर हाथ उसमें सक्त हो जाता, पत्थर से ग्रभ्याहत होने पर पत्थर उसमें मिल जाता, यथा लाक्षा लाक्षा में घुल-मिल जाती है ग्रीर शब्द की ग्रभिनिष्पत्ति न होती। किन्तु, यदि परमाणु स्पर्श नहीं करते, तो सचित या परमाणुग्रों का सघात प्रत्याहत होने पर विशीर्ण क्यों नहीं होता ने क्यों कि वायु-धातु सघात को सचित करता है, या उसका सन्धारण करता है।

# चक्षुरादि विज्ञान के विषय श्रीर श्राश्रय

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है--चक्षु रूप देखता है या चक्षुविज्ञान देखता है।

वैभाषिक तथा विज्ञानवादी—वैभाषिक-मत के ग्रनुसार चक्षु देखता है। विज्ञानवादी का मत है कि चक्षु नहीं देखता। उसका कहना है कि यदि चक्षु देखता है, तो श्रोत या काय-विज्ञान में ग्रासक्त पुद्गल का चक्षु भी देखेगा। वैभाषिक उत्तर देते हैं कि हमारा यह कहना नहीं है कि सब चक्षु देखते हैं। चक्षु देखता है, जब यह सभाग है, ग्रर्थात् जब यह चक्षु-विज्ञान-समगी है, चक्षुविज्ञान को सम्मुख करता है।

किन्तु, उस ग्रवस्था में जो देखता है, वह चक्षुराश्रित विज्ञान है ? नहीं, क्योंकि कुडच या ग्रन्य किसी व्यवधान से ग्रावृत रूप दिखाई नहीं पडता। किन्तु, विज्ञान ग्रमूर्त्त है, ग्रप्रतिष्ठ है; ग्रत यदि चक्षुविज्ञान देखता होता, तो वह व्यवधान से ग्रावृत रूप भी देखता।

विज्ञानवादी उत्तर देता है—ग्रावृत रूप के प्रति चक्षुविज्ञान उत्पन्न नहीं होता, उनके प्रति उत्पन्न न होने से यह उनको नहीं देखता। किन्तु, इन रूपों के प्रति यह उत्पन्न नयों नहीं होता? हम वैभापिकों के लिए जिनका पक्ष है कि चक्षु देखता है, ग्रीर जो मानते हैं कि चक्षु के सप्रतिघ होने से व्यवहित रूप में चक्षु की वृत्ति का श्रभाव है, यह वताना सुगम है कि चक्षुविज्ञान की ग्रन्तरित रूप के प्रति उत्पत्ति क्यों नहीं होती। वास्तव में, विज्ञान की प्रवृत्ति उसी एक विषय में होती है, जिसमें उसके ग्राश्रय की होती है।

किन्तु, यदि श्रापका मत है कि विज्ञान देखता है, तो श्राप इसका कैसे व्याख्यान करते हैं कि व्यवहित रूप में विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती ।

वसुवन्धु—यहाँ ग्राचार्य वसुवन्धु विज्ञानवादियों के पक्ष में हैं। वैभाषिकों से उनका कहना है कि यदि ग्रापका मत है कि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्त विषय को देखता है, जैसे कायेन्द्रिय, तब मैं मानूँ गा कि चक्षुरिन्द्रिय के मप्रतिघ होने के कारण वह व्यवहित रूप का ग्रहण ना करता, किन्तु ग्रापका तो मत है कि चक्षुरिन्द्रिय दूर से देखता है। ग्रत, ग्रापको यह कहने प्राप्तिकार नहीं है कि मप्रतिघ होने के कारण यह व्यवहित रूप नहीं देखता।

काश्मीर वैभाषिक—काश्मीर-वैभाषिको के ग्रनुसार चक्षु देखता है, श्रोत्र सुनता है, घ्राण सूँघता है, जिह्वा रस लेती है, काय स्पर्श करता है, मन जानता है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिक मत है कि चक्षु ग्रीर रूप के कारण चर्क्षुविज्ञान उत्पन्न होता है, न कोई इन्द्रिय है, जो देखती है, ग्रीर न कोई रूप है, जो देखा जाता है, न कोई दर्जन किया है, न कोई कर्त्ता है, जो देखता है, हेतु फल-मात्र है। ग्रपनी इच्छा के ग्रनुसार व्यवहार के लिए उपचार करते है—चक्षु देखता है, विज्ञान जानता है। किन्तु, इन उपचारों में ग्रिभि-निविष्ट नहीं होना चाहिए।

इन्द्रियो का प्राप्तविषयत्व-ग्रप्राप्तविषयत्व—न्या ये इन्द्रियां ग्रपने विषय-देश को प्राप्त होती है ? चक्षु, श्रोत्न, मन ग्रप्राप्त ग्रयं का ग्रहण करते हैं। ग्रन्य नीन इन्द्रियो के लिए ग्रन्यथा है।

तीन इन्द्रियों के लिए कहा जाता है कि यह प्राप्त विषय है, क्यों कि विषय का इनके साथ निरन्तरत्व रहता है। निरन्तरत्व क्या है? निरन्तरत्व इसमें है कि इसके मध्य में कुछ नहीं है। यही 'प्राप्त' का भी अर्थ है। पुन, क्यों कि सघात के अवयव होते है, इसलिए इसमें कोई दोप नहीं है कि सघात स्पर्ण करते है।

पहले पाँच विज्ञानों के विषय उनके महभू हैं। पष्ठ विज्ञान का विषय उसके पूर्व का, सहोत्पन्न, या अपर है। दूसरे शब्दों में यह अतीत, प्रत्युत्पन्न या अनागत है। पष्ठ विज्ञान का एकमान आश्रय अतीत विज्ञान है। प्रथम पाँच का आश्रय महज भी है, अर्थात् यह विज्ञान के पूर्व का और सहज दोनों हैं। वास्तव में, पाँच विज्ञानकायों का आश्रय दिविध है—

9. चक्षुरादि इन्द्रिय, जो विज्ञान का महभू है; २ मन-इन्द्रिय, जो विज्ञानोत्पत्ति के क्षण में अतीत होता है।

जब चक्षुविज्ञान, चक्षु और रूप पर श्राश्रित है, तब विषय को विजत कर इन्द्रिय को भी विज्ञान का श्राश्रय श्रवधारित करते हैं। विज्ञान का श्राश्रय इन्द्रिय है; क्योंकि इन्द्रिय के विकार से विज्ञान में विकार होता है। जब चक्षु का श्रनुग्रह होता है (श्रजनादि प्रयोग), जब चक्षु का रेणु श्रादि से उपघात होता है, जब वह पटु होता है, जब वह मन्द होता है, नब विज्ञान में उस विकार का श्रनुविधान होता है। वह मुख-दु खोत्पाद से महगत होता है। वह यथाक्रम पटु या मन्द होता है। इसके विपरीत विज्ञान की श्रवस्था पर विषय का कोई प्रभाव नहीं पडता। श्रत, इन्द्रिय, न कि विषय, विज्ञान का श्राश्रय है।

मिद्धान्त में स्थिर हुग्रा है कि चक्ष्, श्रोन्न, घ्राण, जिह्वा, काय, प्रत्येक ग्रपने-श्रपने विषय का ग्रहण करते हैं, श्रौर मन जानता है। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या ये डिन्ट्रियाँ ग्रपने विषय को प्राप्त होती हैं।

चक्ष, श्रोत्न, मन अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करने हैं। घ्राण, जिह्ना, काय प्राप्त विषय का ग्रहण करते हैं। यदि चक्षु और श्रोत्न का प्राप्त-विषयत्व हो, नो मनुष्यों में घ्यायियों के दिव्य-चक्षु और श्रोत्न न हो, जैसे उनके दिव्य घ्राण नहीं होता। घ्राण के निए प्राप्त-विषयत्व इसलिए ग्रावश्यक है; क्योंकि गन्ध-ग्रहण के निए उच्छ्वान ग्रावश्यक है। विषय परिमाण—-प्रश्न है कि क्या यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय ग्रात्म-परिमाणतुल्य विषय का ही ग्रहण करते है, ग्रथवा ये इन्द्रिय निरपेक्ष भाव से ग्रात्म-परिमाणतुल्य एव ग्रतुल्य भ्रथं का ग्रहण करते हैं ?

द्राणादि तीन इन्द्रिय तुल्य परिमाण के विषय का ग्रहण करते हैं। द्राण, जिह्ना ग्रौर काय-इन्द्रिय नियतसंख्यक परमाणु-विषय के समानसंख्यक परमाणुओं को प्राप्त कर विज्ञान का उत्पाद करते हैं। किन्तु, चक्षु-श्रोत्न के लिए कोई नियम नहीं है। कभी विषय इन्द्रिय से स्वल्प होता है, नव वालाग्र को देखते हैं, कभी-कभी इन्द्रियतुल्य होता है, जब द्राक्षाफल का दर्शन करते हैं, कभी इन्द्रिय से वडा होता है, जब उन्मिपित-मात्र चक्षु से पर्वत को देखते हैं। शब्द के लिए भी यही नियम है।

पष्ट विज्ञान का ग्राश्रय ग्रतीत होता है, ग्रीर प्रथम पाँच का ग्राश्रय सहज भी है। मनोविज्ञान का एकमाव ग्राश्रय मनोधातु है, ग्रथीत् ग्रतीत विज्ञान है। पाँच विज्ञान-कायो का ग्राश्रय सहज भी है, ग्रथीत् यह विज्ञान के पूर्व का ग्रीर सहज दोनो है। वास्तव में, पाँच विज्ञान-कायो का ग्राश्रय द्विविध है——१. चक्षुरादि इन्द्रिय, जो विज्ञान का सहभू है, २ मन-इन्द्रिय, जो विज्ञानोत्पत्ति के क्षण में ग्रतीत होता है।

चक्षुविज्ञान चक्षु ग्रीर रूप पर ग्राश्रित है। विज्ञान का ग्राश्रय इन्द्रिय है, क्यों कि इन्द्रिय के विकार से विज्ञान में विकार होता है। इसलिए भी कि इन्द्रिय 'ग्रसाधारण' है। एक पुद्गल का चक्षु केवल उस पुद्गल के चक्षुविज्ञानमात्र का ग्राश्रय है। इसके विपरीत रूप साधारण है, क्यों कि रूप का ग्रहण चक्षुविज्ञान ग्रीर मनोविज्ञान से होता है, एक पुद्गल ग्रीर ग्रन्य पुद्गल से होता है। श्रोत्न, ध्राण, जिह्ना, कायेन्द्रिय तथा शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य इन विषयों के लिए भी यही योजना होनी चाहिए।

हम निष्कर्ष निकालते हैं कि विज्ञान का नाम डिन्द्रिय से निर्दिष्ट होता है, क्योंकि उसका ग्राश्रय इन्द्रिय है, क्योंकि डिन्द्रिय ग्रमाधारण है। विषय के लिए ऐसा नहीं है। लोक में भेरी-शब्द, दण्ड-शब्द नहीं कहते, 'यवाकुर' कहते हैं, 'क्षेत्राकुर' नहीं कहते।

## इन्द्रिय

२२ इन्द्रियां — सूत्र मे २२ इन्द्रियां उनत है — १. चक्षुरिन्द्रिय, २. श्रोतेन्द्रिय, ३ व्राणेन्द्रिय, ४ जिह्वेन्द्रिय, ५ कायेन्द्रिय, ६ मन-इन्द्रिय, ७ पुरुषेन्द्रिय ६ स्त्री-इन्द्रिय, ६ जीवितेन्द्रिय, १० सुखेन्द्रिय, ११ दु खेन्द्रिय, १२ सौमनस्येन्द्रिय, १३ दौर्मनस्येन्द्रिय, १४ अद्वेन्द्रिय, १६ वीर्येन्द्रिय, १७ स्मृतीन्द्रिय, १८ समाधीन्द्रिय, १६ प्रजेन्द्रिय, २० श्रनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, २१ ग्राज्ञेन्द्रिय, श्रीर २२ श्रनाज्ञातावीन्द्रिय।

लक्षण श्रीर उपपत्ति—इस मूची में पडिन्द्रिय के श्रितिरिक्त ग्रन्य भी संगृहीत है। जिसकी परमैश्वयं की प्रवृति होती है, वह इन्द्रिय कहलाता है। ग्रत , सामान्यत इन्द्रिय का अर्थ 'श्रिधिपति' है। प्रत्येक इन्द्रिय के ग्राधिपत्य का विषय है।

पाँच विज्ञानेन्द्रिय—चक्षुरिन्द्रियादि पाँच इन्द्रियो मे से प्रत्येक का श्राधिपत्य-१ ग्रात्म-भाव-शोभा, २ ग्रात्मभाव-परिरक्षण, ३ विज्ञान ग्रौर तद्विज्ञान-सम्प्रयुक्त चैतसिको का उत्पाद ग्रीर ४ ग्रसाधारणकारणत्व, इन विषयो मे है।

पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय श्रीर मन-इन्द्रिय—इनमें से प्रत्येक का ग्राधिपत्य सत्त्व-भेद श्रीर सत्त्व-विकल्प-भेद में है। इन दो इन्द्रियों के कारण सत्त्वों में स्त्री-पुरुष-भेद ग्रीर स्त्री-पुरुषों में सस्थान, स्वर श्रीर श्राचार का ग्रन्यथात्व होता है। जीवितेन्द्रिय का ग्राधिपत्य निकाय-सभाग की उत्पत्ति श्रीर उसके सन्धारण में है। मन-इन्द्रिय का ग्राधिपत्य पुनर्भव-मम्बन्ध में है। इसका ग्राधिपत्य वशीभावानुवर्त्तन में भी है। यथा गाथा में उक्त है—चित्त से लोक उपनीत होता है। चित्त से परिविलष्ट होता है। मव धर्म इस एक धर्मचित्त के वशानुवर्त्ती है।

बेदनेन्द्रिय — वेदनेन्द्रिय पाँच हैं — सुख, दुख, सीमनस्य, दीमंनस्य, उपेक्षा। इनका सक्लेश मे आधिपत्यहै, क्योंकि रागादि अनुशय वेदनाओं मे व्यासक्त होते हैं। अद्वादि पचेन्द्रिय श्रीर अन्तिम तीन इन्द्रिय—अनाज्ञात<sup>6</sup>, आज्ञात्वी<sup>6</sup>— व्यवधान मे अधिपति है, क्योंकि इनके कारण विशुद्धि का लाभ होता है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के बल से क्लेश का विष्कम्भन और आर्यमार्ग का आवाहन होता है। अन्तिम तीन इन्द्रिय अनास्रव है। निर्वाणादि के उत्तरोत्तर प्रतिलम्भ मे इनका आधिपत्य है।

कर्मे न्द्रिय का खण्डन—प्रश्न है कि केवल २२ इन्द्रियाँ क्यो परिगणित है। स्रविद्या स्रीर प्रतीत्यसमुत्पाद के स्रन्य स्रग इन्द्रिय क्यो नहीं है हेतु का स्राधिपत्य कार्य पर होता है। स्रविद्यादि का सस्कारादि पर स्राधिपत्य है। इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु उपस्थ का भी, जिन्हें साख्य ग्रौर वेदान्तवादी कर्में न्द्रिय कहते हैं, इन्द्रियत्व होगा, क्यों कि वचन, स्रादान, विहरणादि पर इनका स्राधिपत्य है। वैभापिक उत्तर देता है कि जिस सर्थ से भगवान् ने २२ इन्द्रियाँ कहीं है, उस सर्थ से इस सूची में स्रविद्यादि का स्रयोग है। इन्द्रियों की मध्या नियत करने में भगवान् ने इन वातों का विचार किया है—

9 चित्त का ग्राश्रय, ग्रर्थात् छ निज्ञानेन्द्रिय। ये छ ग्राध्यात्मिक ग्रायतन है, जो मील सत्त्व-द्रव्य है।

२ चित्त के ग्राश्रय का विकल्प--यह पड्विध ग्राश्रय पुरुषेन्द्रिय, स्वीन्द्रिय के कारण विशिष्ट होता है।

- ३ स्थिति-पाँच जीवितेन्द्रियवण यह एक काल के लिए अवस्थान मरता है।
- ४ उपभोग-वेदनाग्रो से यह सिवलप्ट होता है।
- ५ श्रद्धादिपचक से इसका व्यवदान-सम्भरण होता है।

सत्त्व और द्रव्य-सत्त्व के विकल्पादि के विषय में जिन धर्मों का अधिपित-भाव होता है, वे इन्द्रिय माने जाने हैं। वाक् आदि अन्य धर्मों में उस लक्षण का अभाव होता है, अत वाक्, पाणि, पाद, पाय, उपस्थ का इन्द्रियत्व नहीं है। वचन पर वाक् का आधिपत्य नहीं है विशेषि वचन शिक्षाविशेष की अपेक्षा करता है। पाणि-पद का आदान और विहरण में आि पत्य नहीं है; क्योंकि जिमे ग्रादान ग्रीर विहरण कहते हैं, वह पाणि-पाद से ग्रन्य नहीं है। इसके ग्रितिरक्त उरग प्रभृति का ग्रादान-विहरण विना पाणि-पाद के होता है। पुरीपोत्सर्ग में पायु का ग्राधिपत्य नहीं है, क्योंकि गुरु-द्रव्य का सर्वत्र ग्राकाश-छिद्र में पतन होता है। पुन, वायु-धातु इस ग्रश्चि द्रव्य का प्रेरण करता है, ग्रीर उसका उत्सर्ग करता है। उपस्य का भी ग्रानन्द में ग्राधिपत्य नहीं है, क्योंकि ग्रानन्द स्त्री-पुरुपेन्द्रिय-कृत है। पुन यदि ग्राप पाणि-पादादि को इन्द्रिय- मानते हैं, तो ग्रापको कण्ठ, दन्त, ग्रक्षिवत्मं, ग्रगुलिपर्व का भी ग्रभ्यवहरण, चर्वण, उन्मेप-निमेष ग्रीर सकोच-विकास-किया के प्रति इन्द्रियत्व मानना पढ़ेगा।

न्याय-वैशेषिक भी पाँच कर्मेन्द्रियों के लिए 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग नहीं करते। साख्य, वेदान्त ग्रीर मनृस्मृति (२। ६८ – ६२) में ग्रवश्य इनकों इन्द्रिय माना है, ग्रीर कहा है कि यह प्राचीन मत है। वाचस्पितिमिश्र कहते हैं — "शास्त्र में इन्द्रिय शब्द का यह गौण प्रयोग है। गौतम इन्द्रिय के पचत्व-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। गौतम के ग्रनुसार जो प्रत्यक्ष का साधन है, वहीं इन्द्रिय है। वाक्-पाणि प्रभृति प्रत्यक्ष के साधन नहीं हैं। इनमें इन्द्रिय का लक्षण नहीं है। यदि यह कहकर कि यह ग्रमाधारण कार्यविशेष का साधन है, इसलिए हम इनका इन्द्रियत्व स्थापित करें तो कण्ठ, हृदय ग्रामाशय प्रभृति को भी कर्मेन्द्रिय कहना होगा, किन्तु ऐसा कोई नहीं कहता।" (तात्पर्यटीका)

पाँच श्रद्धादि इन्द्रिय—श्रद्धादिपचक का उल्लेख केवल योगसूत (समाधिपाद, मू० २०) में है, किन्तु इनको वहां इन्द्रिय नहीं कहा है। जीवितेन्द्रिय का निर्देश चित्तविप्रयुक्तों के साथ होगा। श्रद्धादिपचक चैत्त है, श्रत चैत्तों में उनका निर्देश होगा। वेदनेन्द्रिय श्रौर श्रनास्रवेन्द्रिय का निर्देश हम यहाँ करते हैं।

कायिकी उपघातिका वेदना, जो चर्छावज्ञानादि से सम्प्रयुक्त है, दु खेन्द्रिय है। अन्-ग्राहिका कायिकी वेदना सुखेन्द्रिय है। नृतीय ध्यान में चैतसी अनुग्राहिका वेदना भी सुखेन्द्रिय है। चैतसी वेदना मनोविज्ञान-सम्प्रयुक्त वेदना है। तृतीय ध्यान से ऊर्ध्व चैतसी अनुग्राहिका वेदना का अभाव है। चैतसी उपघातिका वेदना दौर्मनस्य है।

कायिकी ग्रीर चैतसी की मध्या वेदना उपेक्षा है, किन्तु यह एक ही इन्द्रिय है, क्योंकि यहाँ कोई विकल्पन नहीं है। प्रायेण उपघातिका ग्रीर ग्रनुगाहिका चैतसिकी वेदना प्रिय-ग्रप्रियादि विकल्प से उत्पन्न होती है। इसके विपरीत कायिकी वेदना की उत्पत्ति, चित्त की ग्रवस्था से स्वतन्त्र विपयवश होती है। ग्रहंत् राग-द्वेप से विनिर्म् कत हैं, उन्होंने प्रिय-ग्रप्रिय विकल्प का प्रहाण किया है, तथापि उनमे कायिक सुख-मुख का उत्पाद होता है, किन्तु उपेक्षा वेदना कायिकी हो या चैतसिकी, कायिकी वेदना के तुल्य स्वरसेन उत्पन्न होती है। ग्रत, कायिकी, चैतसिकी इन दो उपेक्षा-वेदनाग्रों के लिए एक ही इन्द्रिय मानते हैं।

तीन ग्रनास्त्रवेन्द्रिय—ग्रव हम तीन ग्रनास्तव इन्द्रियो का विचार करते हैं। मन, सुख, सौमनस्य, उपेक्षा, श्रद्धादिपचक ये नव द्रव्य दर्शनमार्गस्य ग्रायं मे अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, भावनामार्गस्य ग्रायं मे ग्राज्ञेन्द्रिय ग्रीर ग्रजैक्ष (=ग्रहंत्)-मार्गस्य ग्रायं मे ग्राज्ञातावीन्द्रिय व्यवस्थापित होते हैं।

दर्शनमार्गस्य ग्रार्य ग्रनाज्ञात, ग्रर्थात् सत्य-चतुष्टय के जानने मे प्रवृत्त होता है ('ग्रनाज्ञातमाज्ञातु प्रवृत्त ')। 'में जानूँगा' ऐसा वह विचार करता है, श्रत उमकी इन्द्रिय 'ग्रनाज्ञात<sup>0</sup>, कहलाती है।

भावनामार्गस्थ ग्रार्य के लिए कोई ग्रपूर्व नहीं है, जिसे उसे जानना हो। वह ग्राज्ञ है। किन्तु, शेष ग्रनुशयों के प्रहाण के लिए वह ग्रज्ञात मत्यों को पौन पुन्येन जानता है। उसकी इन्द्रिय ग्राज्ञेन्द्रिय कहलाती है। ग्रश्नेक्षमार्गस्थ योगी को यह ग्रवगम होता है कि वह जानता है। इसको इसका ग्रवगम (= ग्राव) होता है कि सत्य ग्राज्ञात है। जिमकों ग्राज्ञाताव है, वह ग्राज्ञातावी है।

इन्द्रिय-स्वभाव हमने इन्द्रियों के विशेष लक्षणों का निर्देश किया है। ग्रव हम उनके भिन्न स्वभाव को वताते हैं। ग्रन्तिम तीन इन्द्रिय एकान्त ग्रमल है। सात रूपी इद्रिन्य (चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय ग्रीर स्त्री-पुरुषेन्द्रिय ), जीवितेन्द्रिय, दु खेन्द्रिय ग्रीर दौर्मन-स्येन्द्रिय एकान्त सास्त्रव हैं। मन, सुखेन्द्रिय, मौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय तथा श्रद्धादिपचक सास्त्रव ग्रनास्त्रव दोनों हो सकते हैं। कुछ ग्राचार्य श्रद्धादिपचक को एकान्त ग्रनास्त्रव मानते है।

विपाक-स्रविपाक—इन्द्रियों में कितने विपाक है ? कितने विपाक नहीं है ? जीवितेन्द्रिय सदा विपाक है । श्रद्धादिपचक,तीन अनास्रव इन्द्रिय ग्रीर दौर्मनस्य ग्रविपाक है । शेप वारह कभी विपाक है, ग्रीर कभी ग्रविपाक हैं । यह मात रूपी इन्द्रिय ग्रीर दौर्मनस्य से अन्यन्न चार वेदनेन्द्रिय हैं । सात रूपी इन्द्रिय विपाक नहीं हैं, वयोकि वे ग्रापचारिक हैं । प्रन्य श्रविपाक है । मन-इन्द्रिय ग्रीर चार वेदनेन्द्रिय ग्रविपाक है, यदि वे कुशलविन्ट होते हैं, क्योंकि विपाक ग्रव्याकृत है, यदि वे यथायोग्य ऐर्यापिश्रकादि होते हैं, शेष विपाक हैं ।

कुशल-श्रकुशल-वार्डस इन्द्रियो में कितने कुणल, कितने श्रकुणल, कितने श्रन्याष्ट्रत है ?

ग्राठ कुशल है। ये श्रद्धादिपचक ग्रौर तीन ग्रनास्रव है। दौर्मनस्य<sup>0</sup> कुशल-ग्रकुशल है। जब कुशल न करके सन्ताप होता है, जब ग्रकुशल करके मन्ताप होता है, तब यह कुशल है। मन-इन्द्रिय ग्रौर चार वेदना कुशल, ग्रकुशल, ग्रव्याकृत है। चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय ग्रव्याकृत है।

इन्द्रियो का धातु-किभाग-वार्डस इन्द्रियो में से कौन-कौन किस धातु के हैं?

काम-धातु में ग्रमल इन्द्रियों का ग्रभाव है। रूप-धातु में इनके ग्रतिरिक्त स्त्री-पुम्पेन्द्रिय ग्रीर दो दु खावेदना (दु ख-दौर्मनस्य) का भी ग्रभाव है। ग्रारूप्य-धातु में इनके ग्रतिरिक्त रूपी-इन्द्रिय ग्रीर दो सुखावेदना (सुख-सौमनस्य) का भी ग्रभाव है। तीन ग्रनास्त्रव इन्द्रियों को वर्जित कर शेष सब इन्द्रिय कामाप्त है। यह नीन ग्रधातु-पतित है।

हेय-ग्रहेय-विभाग—वार्डम इन्द्रियो में कितने दर्जन-हेय हैं ? किनने भावना-हेय हैं ? कितने श्रहेय हैं ? मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य और उपेक्षा विविध है। दौर्मनस्य दर्शन-हेय और भावना-हेय है। पाँच विज्ञानेन्द्रिय, स्त्री-पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय और दु खेन्द्रिय केवल भावना-हेय है।

श्रद्धादिपचक श्रनास्रव हो सकते हैं, श्रतः श्रहेय हो सकते हैं। श्रन्य तीन श्रहेय हैं, क्योंकि श्रादीवन से विमुक्त धर्म प्रहातव्य नहीं है।

श्रामण्योपयोगी इन्द्रियां-शामण्य-फल के लाभ में कितनी इन्द्रियां प्रावश्यक है ?

दो अन्त्य फलो की प्राप्ति नौ इन्द्रियों से होती है। मध्य के दो फलो की प्राप्ति सात, आठ या नौ से होती है। अन्त्य फल स्रोतापित्त और अर्हत्फल है, क्यों कि यह दो फल प्रथम और अन्तिम है। मध्य में सकुदागामी और अनागामी फल होते हैं; क्यों कि यह दो फल प्रथम और अन्तिम के मध्य में होते हैं। मन-इन्द्रिय, श्रद्धादिपचक, प्रथम दो अनास्रव इन्द्रिय—अनज्ञात°, आज्ञा° से प्रथम फल की प्राप्ति होती है। अनाज्ञात आनन्तर्य-मागं है। आज्ञा° विमुक्ति-मागं है। इन दो से भी स्रोतापित्त फल की प्राप्ति होती है, क्यों कि प्रथम क्लेश-विसयोग की प्राप्ति का आवाहक है, और द्वितीय इस प्राप्ति का सनिश्रय, आधार है।

श्रहित्फल का लाभ मन-इन्द्रिय, सौमनस्य या सुख या उपेक्षा, श्रद्धादि श्राज्ञेन्द्रिय श्रीर श्राज्ञातावीन्द्रिय से होता है। सकुदागामी फल की प्राप्ति या तो श्रानुपूर्वक सात इन्द्रियों से (मन, उपेक्षा, श्रद्धादि पाँच) करता है, या तो भूयो वीतराग श्राठ इन्द्रियों से (पूर्वोक्त सात, श्राज्ञ°) प्राप्त करता है। श्रानुपूर्वक श्रनागामी फल की प्राप्ति सात या श्राठ इन्द्रियों से करता है, श्रीर वीतराग नो इन्द्रियों से करता है।

इन्द्रियों का सह-समन्वागम—किस-किस इन्द्रिय से समन्वागत पुर्गल कितने अन्य इन्द्रियों से समन्वागत होता है ?

जो मन-इन्द्रिय या जीवितेन्द्रिय या उपेक्षेन्द्रिय से युक्त होता है, वह अवश्य अन्य दो से युक्त होता है। जब इनमें से एक का अभाव होता है, तब अन्य दो का भी अभाव होता है। इनका, एक दूसरे के विना, समन्वागम नहीं होता। अन्य इन्द्रियों का समन्वागम नियत नहीं है। जो इन तीन इन्द्रियों से अन्वित होता है, अन्य से युक्त या अयुक्त हो सकता है।

जो सुखेन्द्रिय या कायेन्द्रिय से समन्वागत है, वह जीवित°, मन°, उपेक्षा° से भी समन्वागत होता है। जो चक्षुरादि इन्द्रियो में से किसी एक से समन्वागत होता है, वह अवश्य-मेव जीवित°, मन°, उपेक्षा°, काय° से समन्वागत होता है।

जो सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह जीवितेन्द्रिय, मन या सुख से भी ममन्वागत होता है। जो दु खेन्द्रिय से समन्वागत है, वह अवश्य मात इन्द्रियों से समन्वागत होता है—जीवित , मन , काय , और वेदनेन्द्रिय। जो स्त्रीन्द्रियादि, अर्थात् स्त्री , पुरुप , दौमंनस्य , श्रद्धादि में से किमी एक से समन्वागत होता है, वह अवश्य आठ इन्द्रियों से समन्वागत होता है।

जो श्रद्धादिपचक में से किसी एक से समन्वागत होता है, वह वैधातुक सत्त्व है। इसका ग्रविनाभाव है, ग्रतः श्रद्धादि पचेन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह जीवित<sup>0</sup>, मन<sup>0</sup>, उपेक्षा<sup>0</sup> से भी समन्वागत होता है। जो ग्राज्ञेन्द्रिय या ग्राज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह ग्यारह इन्द्रियो से, ग्रर्थात् जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, सुख, सीमनस्य<sup>0</sup>, उपेक्षा<sup>0</sup>, श्रद्धादि पचेन्द्रिय ग्रीर ग्यारहवी ग्राज्ञेन्द्रिय या ग्राज्ञातावीन्द्रिय से ग्रन्वित होता है। जो ग्राज्ञाता वीन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह ग्रवश्य तेरह इन्द्रियो से युक्त होता है।

वस्तुतः कामधातु में ही दर्णन-मार्ग का ग्रासेवन होता है। ग्रत, इस इन्द्रिय से सम-न्वागत सत्त्व कामावचर सत्त्व है। वह ग्रवश्य जीवित<sup>0</sup>, मन<sup>0</sup>, काय<sup>0</sup>, चार वेदनेन्द्रिय, श्रद्धादि पचेन्द्रिय ग्रीर ग्राज्ञास्यामीन्द्रिय से युक्त होता है। यह ग्रावश्यक नही है कि वह दौर्मनस्य, चक्षुरादि से समन्वागत हो। वह वीतराग हो सकता है। उस ग्रवस्था में दौर्मनस्य का उसमें ग्रभाव होता है। वह ग्रन्धादि हो सकता है।

# चित्त

चित्त, मन ग्रीर विज्ञान-शास्त्र में चित्त ग्रीर चैत के भिन्न नाम है। चित्त (माइण्ड), मन (रीजन), विज्ञान (कान्शसनेस) ये नाम एक ग्रर्थ के वाचक है। न्याय-वैशेषिक में केवल 'मन' शब्द का प्रयोग है। जो सचय करता है, वह चित्त है (चिनोति)। इसका अर्थ यह है कि यह कुशल-अकुशल का सचय करता है। यही मन है, क्योंकि यह मनन करता है (मनुते)। यही विज्ञान है, क्योंकि यह ग्रपने ग्रालम्बन को जानता है। कुछ का कहना है कि 'चित्त' नाम इसलिए है, क्योंकि यह शुभ-ग्रशुभ धातुग्रों से चित्रित है। यह 'मन' है, क्योंकि यह ग्रपर-चित्त का ग्राश्रयभूत है। यह विज्ञान है, क्योंकि यह इन्द्रिय ग्रीर ग्रालम्बन पर ग्राश्रित है। ग्रत, इन तीन नामों के निर्वचन में भेद है, किन्तु ये एक ही ग्रर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं।

इन तीन ग्राख्यात्रों में विज्ञान सबसे प्राचीन है। सूतान्तों में जहाँ प्रतिसन्धि का वर्णन ग्राता है, वहाँ 'विज्ञान' शब्द ही प्रयुक्त होता है। पश्चात् यह ग्राख्या प्राय एकान्तत विजानन के विविध ग्राकारों के लिए ही प्रयुक्त होने लगी। विज्ञान प्रतिविपय की उपलब्धि है। यह मन-ग्रायतन है। धातु की देशना में ये सात धातु है, ग्रर्थान् छ विज्ञान ग्रीर मन। विज्ञान-स्कन्ध छ विज्ञान-काय है। यह पाँच प्रसाद-रूप ग्रीर मन को प्रत्यय वना उत्पन्न होते है। विज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्षत विषय ग्रीर प्रमाद-रूप वे सघट्टन से होती है।

स्थिवरवाद — स्थिवरवादी पड्विज्ञान के श्रितिरिक्त भी एक दूसरा विभाग में विज्ञान का करते हैं। यह सग्रह ग्रन्थ निकायों में नहीं पाया जाता। स्थिवरवादियों के चित्त-सग्रह-विभाग में चित्त की जितनी भूमियाँ (ग्रवस्थाएँ) सम्भव है, वे सब सगृहीत है। जातिभेद से यह तीन प्रकार के हैं —कु शल, ग्रकुशल ग्रीर ग्रव्थाकृत। ग्रवचरभेद से यह चार प्रकार के हैं —कामावचर, रूपावचर ग्ररूपावचर ग्रीर लोकोत्तर। साधारणत, चित्त (विज्ञान) के छ विभाग ग्राश्रय के ग्रनुसार किये जाते हैं।

## चैत या चैतिसक धर्म

चैत्त षड्विज्ञान के तुल्य चित्त के विभाग नहीं है। ये पृथक्-पृथक् धर्म हैं, यद्यपि चित्त ग्रौर चैत एक दूसरे के विना उत्पन्न नहीं होते। सर्वास्तिवाद के श्रनुसार चैत महा- भूमिकादि भेद से पचविध हैं —

- जो चित्त सर्वचित्त-सहगत है, वह महाभूमिक है।
- २. जो सर्वकुशल-चित्त-सहगत है, वह कुशल-महाभूमिक है।
- ३. जो सर्वक्लिप्ट-चित्त-सहगत है, वह क्लेश-महाभूमिक है।
- ४. जो सर्व-स्रकुशल-चित्त-सहगत है, वह स्रकुशल-महाभूमिक है।
- ५ जिनकी भूमि परीत्त-वलेश है, वे परीत्तवलेश-भूमिक है।

'भूमि' का अर्थ उत्पत्ति-विषय है । किसी धर्म का उत्पत्ति-स्थान उस धर्म की भूमि है ।

दशमहाभूमिक

महाभूमिक दस है —वेदना, चेतना, सज्ञा, छन्द, स्पर्श, मित, स्मृति, मनस्कार, श्रिधमोक्ष श्रीर समाधि। ये सर्वचित्त मे सह-वर्त्तमान होते हैं। वैभाषिक सिद्धान्तों के श्रिन्तार ये दम धर्म सर्व-चित्त-क्षण में होते है। 'महाभूमि' नाम इसलिए है कि यह महान्धर्मों की भूमि है, उत्पत्ति-विषय है।

स्थविरवाद-विज्ञानवाद—स्थविरवाद के श्रनुसार सर्व-साधारण चित्त सात है—स्पर्श वेदना, सज्ञा, चेनना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय श्रीर मनसिकार।

जीवितेन्द्रिय को वर्जित कर शेष छ दशमहाभूमिक में सगृहीत है। जीवितेन्द्रिय को सर्वास्तिवादी-विज्ञानवादी चित्त-विप्रयुक्त धर्म मानते हैं। यह जीवितेन्द्रिय रूप-जीवित से भिन्न है, किन्तु इसके लक्षण उसके समान है। रूप-जीवित रूप-धर्मों का जीवित है। वह सहजात रूप-धर्मों का ग्रनुपालन करता है। यह जीवित सहजात ग्ररूप-धर्मों का ग्रनुपालन करता है। यह जीवित सहजात ग्ररूप-धर्मों का ग्रनुपालन करता है। इतना ही दोनो में भेद है। इनके ग्रतिरिक्त ये छ प्रकीर्णक है। वितर्क, विचार, ग्रिधमोक्ष, वीर्य, प्रीति, छन्द (ग्रिभियम्मत्यसगहो, २।३) ये तेरह चैतिसक धर्म ग्रन्यसमान कहलाते हैं, क्योंकि यह कुशल-ग्रकुशल-ग्रव्याकृत चित्तो से समानभाव से सम्प्रयुक्त होते हैं। छ प्रकीर्णक में से ग्रिधमोक्ष ग्रीर छन्द दशमहाभूमिक मे परिगणित हैं। सर्वास्तिवादियो ग्रीर विज्ञान-वादियो के ग्रनुसार वितर्क, विचार, ग्रव्याकृत चैतिमक हैं।

'प्रीति' सौमनस्य का प्रकार है, श्रौर इसलिए वेदना का एक श्राकार है। 'मित' प्रज्ञा है। स्थिवरवादी प्रज्ञा को शोभन-चैतिसक मे परिगणित करते है। 'वीयं' के स्थान में मर्वास्तिवादी की गणना में 'स्मृति' है। सर्वास्तिवादी वीर्य को कुशल-महाभूमिक मानते हैं। स्थिवरवादी 'स्मृति' को शोभन-चैतिसक मानते है। विशुद्धिमग्गो के विभाग भिन्न है। इसमें सर्वसाधारण, प्रकीर्णक अन्यसमान श्रौर शोभन चैतिसको के विभाग का श्रन्य कम है। इस कम में सर्वसाधारण श्रौर कुशल चैतिसको में विशेष नहीं किया गया है। वीस नियत स्वरूप से श्रागत है, पांच श्रनियत है, श्रौर चार येवापनक है।

विज्ञानवादी दस महाभूमिको को दो भागो मे विभवत करते है। मनस्कार, स्पर्श, वेदना, सज्ञा, चेतना सर्वग है, क्योकि जब चित्त उत्पन्न होता है, तब मनस्कारादि पाँच धर्मों का होना भ्रावश्यक है। ग्रत, यह सर्वग है। शेप पाँच विनियत है। इनका साधारण विपय है। इनका भ्रालम्बन, विषयवस्तु नियत है।

- १. वेदना--विविध ग्रनुभव है--सुखा°, दु खा°, ग्रदु खामुखा°।
- २ चेतना-वह है, जो चित का ग्रिभसस्कार करती है।
- ३ सज्ञा-विषय के निमित्त (पुरुष, स्त्री ग्रादि) का ग्रहण करती है।
- ४. छुन्द—कार्य की इच्छा है (कर्त्तु काम्यता)। श्रिभिप्रेत वस्तु के प्रति श्रिभिनाप, कार्यारम्भ का सन्निश्रय इसका कर्म है।
- १ स्पर्श--इन्द्रिय-विषय-विज्ञान के सिन्नपात से सजात स्पृत्टि है। श्रन्य शन्दों में यह वह धर्म है, जिसके योग से मानो इन्द्रिय, विषय श्रीर विज्ञान श्रन्योग्य का स्पर्श करते हैं।
  - ६ मित (प्रज्ञा) --- धर्मो का प्रविचय है।
- ७ स्मृति—- ग्रालम्बन का ग्रमम्प्रमोष है। यह वह धर्म है, जिसके योग से मन ग्रालम्बर को विस्मृत नहीं करता।
- द मनस्कार—चित्त का आभोग है। यह आलम्बन मे चित्त का आवर्जन, भ्रव-धारण है।
  - ग्रिधमोक्ष—ग्रालम्बन मे गुणो का ग्रवधारण है।
     विज्ञानवादी—यथानिण्चय धारणा।
     स्थिवरवादी—ग्रालम्बन मे निण्चल भाव से स्थिति।
  - १०. समाधि--चित्त की एकाग्रता है।

विज्ञानवादियों के अनुसार अन्तिम पाँच सर्वग नहीं हैं। छन्द सर्वग नहीं है, वयोकि यदि हेतु या आलम्बन की दुर्वलता से जिज्ञासा का अभाव हो, तो छन्द के विना ही मज्ञा महज रूप से होती है।

किन्तु, सघभद उत्तर में कहते हैं कि चित्त-चैत्त श्रिभलाप के वल से श्रालम्बन का ग्रहण करते हैं; क्यों कि सूब कहता है कि सब धर्मों का मूल छन्द है। विज्ञानवादी कहता है कि यह मत श्रसमीचीन है, क्यों कि मनस्कार के वल से चित्त श्रालम्बन का ग्रहण करता है। श्रागम कहता है कि मनस्कार के सम्मुख होने से विज्ञान उत्पन्न होता है। वहीं यह नहीं कहा है कि केवल छन्द में यह सामर्थ्य होता है। सूब यह भी कहता है कि मब धर्म तृष्णा से उत्पन्न होते हैं। क्या सर्वास्तिवादी यह मानते हैं कि चित्त-चैत्त की उत्पत्ति तृष्णा के वल से होती है?

विज्ञानवादी कहते हैं कि यदि किसी निश्चित वस्तु के विषय में चित्त व्यवसित नहीं है, तो श्रिधमोक्ष नहीं है। इसलिए, श्रिधमोक्ष सर्वग नहीं है। सघभद्र उत्तर देते हैं कि जब नित्त-चैत्त श्रपने श्रालम्बन को ग्रहण करते हैं, तो श्रिविष्टनभाव के कारण सब श्रिधमोक्ष ने सहगत होते हैं। विज्ञानवादी उत्तर देता है कि यदि श्राप श्रिधमोक्ष उसे कहने हैं, जो चित्त-चैत्तों के लिए विष्ट उपस्थित नहीं करता, तो हम कहेंगे कि चित्त-चैत्तों को छोड़कर सब धर्म विष्यकारी नहीं है। यदि प्रश्न उनका है, जिनके लिए विघ्न उपस्थित नहीं किया जाता, तो चित्त-चैत्त स्वय ही ग्रधिमोक्ष होगे।

विज्ञानवादी कहते हैं कि जो वस्तु अनुभूत नहीं है, उसकी स्मृति नहीं हो सकती। अनुभूत वस्तु की भी स्मृति नहीं होती, यदि अभिलपन न हो। इसलिए, स्मृति सर्वग नहीं है।

किन्तु, मर्वास्तिवादियो के ग्रनुमार चित्त का प्रत्येक उत्पाद स्मृति-सहगत है। यह स्मृति ग्रनागत-काल मे स्मरण में हेतु है।

समाधि भी मर्वग नहीं है, क्योंकि विक्षेप की ग्रवस्था होती है। सघभद्र कहते हैं कि विक्षेप की ग्रवस्था में भी नमाधि उत्पन्न होती है। किन्तु, नव यह सूक्ष्म ग्रौर प्रच्छन्न होनी है। विज्ञानवादी का उत्तर है कि यदि समाधि से ग्राणय उससे है, जो चित्त-चैत्तों को एक साथ केवल एक ग्रालम्बन की ग्रोर प्रवृत्त करता है, तो यह ग्रयथार्थ है, क्योंकि यह स्पर्ण की किया है। यदि वह यह मोचते हो कि ममाधिवण चित्त ग्रालम्बन को ग्रहण करता है, ग्रौर इसलिए वह सर्वग है, तो हमारा उत्तर निपेधात्मक होगा, क्योंकि मनस्कारवण चित्त ग्रालम्बन ग्रहण करता है। प्रज्ञा भी मर्वग नहीं है; क्योंकि जब उपपरीक्ष्य विषय का ग्रभाव होता है, जब चित्त मूढ ग्रौर मन्द होता है, तब प्रविचय नहीं होता। सघभद्र का मत है कि उस समय भी प्रज्ञा होती है, किन्तु यह सूक्ष्म ग्रौर प्रच्छन्न होती है।

विज्ञानवादी कहते हैं कि मर्वव्रग दस है— सूव-सम्मत सिद्धान्त नहीं है। केवल स्पर्णादि पाँच सर्वव्रग है। दम महाभूमिक चैत्त भिन्न-भिन्न लक्षण के है। चित्त-चैत्त का विशेष निश्चय ही सूक्ष्म है। चित्त-चैत्तो का यह विशेष उनके प्रवन्धों में भी दुर्लक्ष्य है। फिर, क्षणों का क्या कहना, जिनमें उन मवका ग्रस्तित्व होता है।

दम कुशल-महाभूमिक

जो चैत्त कुशल-महाभूमि ने उत्पन्न होते हैं, वे कुशल-महाभूमिक कहलाते हैं। ये वे धर्म है, जो मर्वकुशल-चित्त में पाये जाते हैं। ये इस प्रकार है—अद्धा, अप्रमाद, प्रश्निध, उपेक्षा, ही, अपलपा, मूलद्वय, अविहिसा और वीर्य।

१. श्रद्धा-चित्त-प्रमाद है। एक मत के अनुसार यह कर्मफल, विरत्न और चतु -सत्य में अभिसम्प्रत्यय है।

२. श्रप्रमाद-कुणल-धर्मों का प्रतिलम्भ ग्रीर निपेवण भावना है। वस्तुत , यह भावना-हेतु है। एक दूसरे निकाय के अनुसार अप्रमाद चित्त की ग्रारक्षा है।

३. प्रश्निहिंच — वह धर्म है, जिसके योग से चित्त की कर्मण्यता, चित्त का लाघव होना है। वसुबन्धु ग्रीर सीज्ञान्तिकों के अनुसार प्रश्निध काय ग्रीर चित्त की कर्मण्यता है। यह दौष्ठुल्य का प्रतिपक्ष है।

४· उपेक्षा—चित्त-समता है। यह वह धर्म है, जिसके योग से चित्त समभाग में ग्रनाभोग में वर्त्तमान होता है। यह सस्कारोपेक्षा है (तब मज्जत्तना)।

५-६ हो-ग्रपत्रपा—इनका लक्षण मगीरवता ग्रीर मप्रतीणना, मभयवणवर्त्तिता ग्रीर भयदर्णिता है। यह एक कल्प है। दूसरे कल्प के ग्रनुसार इनका लक्षण ग्रात्मापेक्षण लज्जा,

परापेक्षया लज्जा है। ग्रांत्मगौरव को देखकर जो लज्जा होती है, वह ही है। पर-गर्हा के भय से जो लज्जा होती है, वह अपनाप्य है।

७- प्रलोभ ग्रौर श्रद्धेष—विज्ञानवाद के अनुसार भवत्नय ग्रौर भवोपकरण के लिए ग्रनासिक्त (विराग) ग्रलोभ का स्वभाव है। दु खत्नय ग्रौर दु खोपकरण के लिए ग्रनाघात ग्रद्धेष का स्वभाव है। वसुबन्धु के ग्रनुसार ग्रलोभ लोभ का प्रतिपक्ष है। यह उद्देग (= निर्वेद) ग्रीर ग्रनासिक्त है, ग्रद्धेप मैती है।

#### ६ ग्रविहिसा-ग्रविहेठना है।

वसुवन्धु पच-स्कन्ध मे कहते है कि ग्रविहिंसा 'करुणा' है।

१० वीर्य—चित्त का ग्रभ्युत्साह है। यह कुशल में चित्त का उत्माह है, विलष्ट में नहीं। विलष्ट में उत्साह कौसीद्य है, क्यों कि विज्ञानवादी कुशल-महाभूमिकों में ग्रमोह को भी गिनाते हैं। उनके ग्रनुसार सत्य ग्रौर वस्तु का ग्रववोध इसका स्वभाव है। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि ग्रमोह प्रज्ञात्मक है, ग्रत यह महाभूमिकों में 'मिति' की ग्राख्या से पूर्व ही निर्दिष्ट हो चुका है, यह कुशल-महाभूमिक नहीं कहलाता।

विज्ञानवादी कहते हैं कि यद्यपि ग्रमोह का स्वभाव प्रज्ञा हो, तथापि यह दिखलाने के लिए कि कुशल-पक्ष में प्रज्ञा का अधिक सामर्थ्य है, हम उसे पुन कुशलधर्म कहते हैं। इसी प्रकार दृष्टि, जो प्रज्ञा-स्वभाव है, क्लिण्ट धर्म कहलाती है। धर्मपाल के ग्रनुसार ग्रमोह प्रज्ञा नहीं है। वे कहते हैं कि ग्रमोह का ग्रपना स्वतन्त्र स्वभाव है, यदि ग्रमोह का स्वभाव प्रज्ञा होता, तो महाकरुणा 'ग्राज्ञास्यामि' ग्रादि प्रज्ञेन्द्रियों में परिगणित होनी, ग्रीर ग्रद्धेप-ग्रमोह के ग्रन्तर्गत न होती।

शोभन चैतिसक-स्थिवरवाद के अनुसार शोभन चैतिसक २५ है। इनके चार विभाग है--- प्रज्ञेन्द्रिय, २ शोभन-साधारण, ३ अप्रमाण और ४ विरित ।

अप्रमाण के दो भेद हैं — करुणा ग्रीर मुदिता। विरित तीन प्रकार की हैं — सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् ग्राजीव। ये पाँच ग्रनियत है। ये कदाचित् उत्पन्न होते है। उत्पन्न होने पर भी ये एक साथ नहीं उत्पन्न होते है।

शोभन-साधारण १६ है—श्रद्धा, स्मृति, ह्री, श्रपत्नाप्य, ग्रलोभ, ग्रद्धेप, तत्नमध्यस्थता (उपेक्षा), काय-प्रश्नविध ('दरथ' का व्युपशम), चित्त-प्रश्नविध, कायलघुना (ग्रगुरु-भाव), चित्त-लघुता, काय-मृदुता, चित्त-मृदुता, काय-कर्मण्यता, चित-कर्मण्यता, काय-प्रागुण्यता, (=ग्रग्लानि), चित्त-प्रागुण्यता, काय-ऋजुकता (ग्रकुटिलता), चित्त-त्रहजुकता।

काय-प्रश्नविध ग्रादि में 'काय' णव्द समूहवाची है। वेदनादि स्कन्ध-त्रय से ग्रिमिप्राय है। काय-चित्तप्रश्नविध काय-चित्त को ग्रशान्त करनेवाले ग्रोद्धत्यादि क्लेण के प्रतिपक्ष है। काय-चित्त-लघुता स्त्यान-मिद्धादि के प्रतिपक्ष है। स्त्यान-मिद्धादि काय-चित्त का गुरुभाव उत्पन्न करते है। काय-चित्त-मृदुता दृष्टि-मानादि क्लेणों के प्रतिपक्ष है, जो वाय-चित्त को स्वस्थ करते हैं। काय-चित्त कर्मण्यता ग्रवशेप नीवरणादि के प्रतिपक्ष है, जो काय-चित्त को ग्रकर्मण्य वनाते हैं। काय-चित्त-प्रगुणता काय-चित्त की ग्रग्लानि है। यह ग्राश्रद्ध्यादि की प्रतिपक्ष है। काय-चित्त-ऋजुकता, माया-शाठ्यादि की प्रतिपक्ष है।

इन दो-तीन सूचियो की तुलना करने से पता चलता है कि स्थिवरवादियों की सूची में करुणा-मुदिता अविहिंसा का स्थान लेते हैं। काय-चित्त की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, अगुणता, ऋजुकता सर्वास्तियाद और विज्ञानवाद की सूचियों में नहीं है। पुन स्थिवरवाद की सूची में अप्रमाद नहीं है। अभिधम्मत्यसगहों की सूची में प्रजेन्द्रिय है। विसुद्धिमग्गों में अमोह है। दोनों एक है।

## छ क्लेश-महाभूमिक

स्थिवरवाटियो वे अनुसार चौदह अकुणल चैतिमक है--मोह, आहीवय, अनपद्माप्य, श्रीद्धत्य (चित्त का उद्धतभाव), लोभ, दृष्टि (या मिथ्यादृष्टि, विमुद्धिमग्गो का पाठ), मान (= आहकार-ममकार), द्वेप (प्रतिघ), ईर्ष्या (असूया), मात्मर्य (अपनी सम्पत्ति का निगूहन), कौकृत्य (कृताकृतानुणोचन), स्त्यान (= अनुत्साह), मिद्ध (= अकर्मण्यता) और विचिकित्सा।

विसुद्धिमग्गो के अनुसार नियत तेरह है। येवापनक चार हैं। तेरह नियत-चैतिसकों में स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, प्रीति, वीर्य, जीवित, समाधि भी है। ये कुणल-चैतिसक में भी है। विसुद्धिमग्गों में वेदना और सज्ञा, पृथक् स्कन्ध गिनाये जाने के कारण, संस्कार-स्कन्ध में पुन सगृहीत नहीं हैं।

ग्रकुशल के चार येवापनक ये है--छन्द, ग्रिविमोक्ष, ग्रौद्धत्य, मनिमकार। इस मूची में कुगल येवापनक के तत्रमध्यस्थता के स्थान में ग्रौद्धत्य है। तदनन्तर, स्त्यान-मिद्ध ग्रादि भी है।

सर्वास्तिचाद के अनुमार महाक्लेण-भूमिक चैत्त, जो सर्व क्लिप्ट-चित्त मे पाये जाते हैं, छ है—मोह, प्रमाद, कौसीद्य, आश्रद्ध्य, स्त्यान श्रीर श्रीद्धत्य। ये एकान्तत क्लिप्ट-यित में होते हैं।

मोह, अविद्या अज्ञान है। प्रमाद कुशल धर्मों का अप्रतिलम्भ और अनिपेवण है। कौसीद्य वीर्य का विपक्ष है। आश्रद्ध्य श्रद्धा का विपक्ष है। स्त्यान कर्मण्यता का विपक्ष है। श्रौद्धत्य चित्त का अव्युपणम है।

मूल ग्रभिधर्म में है कि क्ठेण-महाभूमिक दम है। किन्तु, उनमें रत्यान पठित नहीं है। यह दम इम प्रकार हैं—ग्राथद्घ्य, कौसीच, मुिपतस्मृतिता, विक्षेप, ग्रविचा, ग्रमम्प्रजन्य, ग्रामिसोमनिकार, मिथ्याधिमोझ, ग्रयांत् क्लिप्ट-ग्रिधमोझ, ग्रौद्धत्य ग्रीर प्रमाद।

वस्तुत , क्लिप्ट स्मृति ही मुपितस्मृतिना है । क्लिप्ट ममाि ही विखेप है । क्लिप्ट प्रज्ञा ही ग्रमम्प्रजन्य है । क्लिप्ट मनिमकार ही ग्रयोनिनोमनिमकार है । क्लिप्ट ग्रधिमोध ही मिथ्याधि-मोक्ष है । ये पाँच महामूमिको की सूची मे पूर्व निर्दिप्ट हो चुके हैं । उनको पुन क्लेश-महाभूमिको की सूची मे परिगणित करनें का स्थान नहीं है। यथा कुशल-मूल ग्रमोह यद्यपि कुशल-महाभूमिक है, तथापि प्रज्ञा-स्वभाव होने से यह महाभूमिक व्यवस्थापित होता है। कुशल-महाभूमिक के रूप मे उसका ग्रवधारण नहीं होता।

यहाँ प्रश्न है कि क्या महाभूमिक क्लेश-महाभूमिक भी हैं ? चार कोटि है-

- १ वेदना, सज्ञा, चेतना, स्पर्श ग्रीर छन्द केवल महाभूमिक है।
- २ स्राश्रद्य, कौसीच, स्रविद्या, स्रीद्धत्य स्रीर प्रमाद केवल क्लेण-महाभूमिक हैं।
- ३. स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, मनिसकार ग्रौर ग्रधिमोक्ष महाभूमिक ग्रौर क्लेश-महाभूमिक दोनो है ।

४ इन म्राकारो को स्थापित कर म्रन्य धर्म (कुशल-महाभूमिकादि ) न महाभूमिक है, न क्लेश-महाभूमिक है।

ग्राभिधार्मिक कहते हैं कि स्थान का उल्लेख होना चाहिए था, किन्तु यह इसलिए पिठत नहीं है, क्योंकि यह समाधि के ग्रनुगुण है। वस्तुत, उनका कहना है कि स्त्यान-चरित पुद्गल ग्रौद्धत्य-चरित पुद्गल की ग्रपेक्षा समाधि का सम्मुखीभाव क्षिप्रतर करता है। ग्राचार्य वसुबन्धु का कहना है कि स्त्यान ग्रौर ग्रौद्धत्य जो क्लिष्ट धर्म है, समाधि नामक श्वल धर्म के परिपन्त्री हैं।

#### दो अनुशल महाभूमिक

श्राह्मीक्य श्रौर श्रनपत्नाप्य मदा एकान्तत श्रकुशल चित्त मे पाये जाते है। परीत्त-क्लेश-भूमिक

क्रोध, उपनाह, शाठ्य, ईर्ष्या, प्रदास, म्रक्ष, मत्मर, माया, मद, विहिंमा म्रादि परीत्त हैं। परीत्त (= म्रल्पक) क्लेश रागादि से ग्रमम्प्रयुक्त म्रविद्यामाद हैं। ये भावनाहेय मनोभूमिक म्रविद्यामाद से ही सम्प्रयुक्त होते हैं। ग्रनुशय-कोशस्थान मे इनका निर्देश उपक्लेशो में किया गया है। ये उपक्लेश भावनाहेय है, दर्शनहेय नहीं हैं। ये मनोभूमिक हैं। पच विज्ञानकाय से इनका सम्प्रयोग नहीं होता। ये सब म्रविद्या से सम्प्रयुक्त होते हैं। इनकी पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हो सकती है।

विज्ञानवाद से तुलना—विज्ञानवाद के अनुमार चैतो के अवस्था-प्रकार-विशेष मूल क्लेश और उपक्लेशो की सूची भिन्न है।

मूल क्लेश ये है — राग, द्वेप, मोह, मान, विचिवित्सा, कुदृष्टि । यह सूची सर्वास्ति-वाद की सूची से सर्वथा भिन्न है। दोनो मे केवल 'मोह' नामान्य है। शेप पाँच मर्वास्तिवादी 'क्लेश' विज्ञानवाद के उपदलेश की सूची मे सगृहीत है।

उपक्लेश ये हैं — क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदाम, इंग्यी, मात्मर्य, माया, गाठ्य, मद, विहिसा, श्रही, श्रवपा, स्त्यान, श्रोद्धत्य, श्राश्यय, कौमीद्द्य, पमाद, मुपिना-म्मृनि, विक्षप श्रीर श्रसम्प्रजन्य।

उपक्लेश क्लेशो के अवस्थाविशेष है, या क्लेश-निष्यन्द है। १-१०, १६, २०, १७ अवस्था-विशेष है, शेष क्लेश-निष्यन्द है। क्लेश उपक्लेश के समीपवर्त्ती है। इन वीस को तीन प्रकार में विभक्त कर सकते है —

9 परीत्तोपक्लेश--क्रोधादि १-१०। २ मध्योपक्लेश--ग्राह्रीक्य ग्रीर श्रनपदाप्य। ये सर्व श्रकुशल चित्त में पाये जाते हैं। ३ महोपक्लेश--शेप ग्राठ जो सर्विवलष्ट चित्त में पाये जाते हैं। सर्वास्तिवाद के दस परीत्त-क्लेशभूमिक भी यही हैं।

दो अकुशल यहाँ मध्योपक्लेण है। छ क्लेश-महाभूमिको मे से स्त्यान, ग्रौढत्य, श्राश्रद्य, कौसीद्य, प्रमाद, महोपक्लेश है, ग्रौर मोह मूल क्लेश है। विज्ञानवाद की महो-पक्लेशो की सूची मे मुिपता-स्मृति, विक्षेप ग्रौर ग्रसम्प्रजन्य विशेष है। ये तीन मूल ग्रिभधर्म की क्लेश-महाभूमिक सूची में पठित है।

डन सूचियो की तुलना से प्रकट होता है कि नर्वास्तिवादियों के विभाग में 'मूल' क्लेण नहीं हैं, श्रौर जिसे वह क्लेश कहते हैं, वे मोह को वर्जित कर विज्ञानवाद के महोपक्लेश हैं।

- १ क्रोध--व्यापाद-विहिंसा से श्रन्य सत्त्व-श्रसत्त्व का ग्राघात है। यथा: कण्टकादि में प्रकोप, शिक्षाकाम भिक्षु का चित्त-प्रकोप (कोण, ५, पृ० ६०)।
  - २ उपनाह—वैरानुबन्ध है।
- ३ स्रक्ष-लाभ-सत्कार के खोने के भय से अपने कृत्य को छिपाना, चोदक से पूछे जाने पर पापकर्म को आविष्कृत न करना।
  - ४. प्रदास--चण्ड-पारुष्य है, जो मर्म का घात करता है।
  - ५ इर्षा--पर-सम्पत्ति का ग्रसहन है।
  - ६ मात्सर्य-धर्म-दान ग्रामिप-दान का विरोधी है।
- ७ शाठ्य चित्त की कुटिलता है, जो स्वदोप का प्रच्छादन करती है। शाठ्य स्रक्ष से भिन्न है। शाठ्य में प्रच्छादन परिस्फुट नहीं होता।
  - माया—कुटिलता है।
  - ६ विहिंसा-विहेठना है।
  - १० मद राग-निष्यन्द है। वह अपने रूपादि में रक्त का दर्प है।
  - ११ स्त्यान-चित्त की ग्रकर्मण्यता है। इसके योग से चित्त जडीभूत होता है।
  - १२ कौसीद्य--- आलस्य है।
  - १३ मुपितस्मृतिता—निलष्ट स्मृति है।
- १४ स्रसम्प्रजन्य—उपपरीक्ष्य वस्तु में विपरीत बुद्धि है। यह बलेश-सप्रयुक्त प्रज्ञा है। स्रिनियत चंतिसक

चैतों के पाँच प्रकार हमने वर्णित किये हैं। अन्य मी चैत है, जो अनियत हैं, जो कभी कुशल, कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते हैं। ये कीकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार आदि हैं। यशोमित्र की व्याख्या में कहा है कि रागादि क्लेश भी अनियत है, क्योंकि ये पाँच प्रकार में से किसी में भी नियत नहीं हैं। ये महाभूमिक नहीं हैं, क्योंकि ये मर्व चित्त में नहीं पाये जाते। ये कुंशल-महाभूमिक नहीं हैं, क्योंकि इनका कुशलत्व से ग्रयोग है। यह क्लेश-महाभूमिक नहीं है, क्योंकि सर्वंग क्लिप्टों में इनका ग्रभाव है, क्योंकि सप्रतिघ चित्त में राग नहीं होता। ग्राचार्य वसुमित्र का एक सग्रह-श्लोक है—

स्मृत है कि आठ ग्रॅनियत है वितर्क, विचार, कीकृत्य, मिद्ध, प्रतिघ, राग, मान, विचिकित्सा । विज्ञानवाद में पहले चार ही ग्रनियत वेतलाये गये है । ग्रंप चार को वह मूल क्लेशो में संगृहीत करते है । स्थविरवादी वितर्क ग्रीर विचार को प्रकीर्णको मे या नियत- चैतिसकों मे गिनाते हैं । श्रेष ग्रकुंशल चैतिसक हैं।

कौकृत्य का शब्दार्श कुकृतभाव है। किन्तु, यहाँ कौकृत्य से एक चैतिसक धर्म का बोध होता है, जिसका ग्रालम्बन कौकृत्य, ग्रर्थात् कुकृत-सम्बन्धी चित्त का विप्रतिसार है। कौकृत्य विप्रतिसार का स्थानभूत है। विप्रतिसार के लिए कौकृत्य का निर्देश युक्त है। जिस विप्रतिसार का ग्रालम्बन ग्रकृत कर्म है, उसको भी कौकृत्य कहते हैं। कौकृत्य कुशल भी होता है—जब कुशल न करके सन्ताप होना है, जब ग्रकुशल करके मन्ताप होता है। यह अकुशल है—जब ग्रकुशल न करके सन्ताप होना है, जब कुशल मे मन्ताप होता है। इस उभय कौकृत्य का उभय ग्रधिष्ठान होना है।

मिद्ध — चित्त का ग्रमिसक्षेप है। इसमे काय सन्धारण मे ग्रममर्थ होता है। यह कुणल, ग्रकुणल या ग्रन्याकृत है। केवल क्लिप्ट-मिद्ध 'पर्यवस्थान' है।

वितर्क-विचार---चित्त का स्थूलभाव वितर्क है। चित्त का सूक्ष्मभाव विचार है।

सील्रान्तिको के अनुसार वितर्क, और विचार वाक्-सस्कार है। जो औदारिक वाक्-सस्कार होते हैं, उन्हें वितर्क, और जो सूक्ष्म होते हैं, उन्हें विचार कहते हैं। इस व्याख्या के श्रनुसार वितर्क और विचार दो पृथग्भूत धर्म नहीं हैं, किन्तु समुदायरूप हैं, चिस्त-चैत्त के कलाप हैं, जो वाक्-समुत्थापक हैं, और जो पर्याय से औदारिक तथा सूक्ष्म होते हैं। वसुवन्धु के अनुसार वितर्क और विचार चित्त में एकत्र नहीं होते। ये पर्यायवर्त्ती है। वैभाषिक उन्हें दो पृथग्भूत धर्म मानते हैं।

#### चित्त-चैत का सामान्य विचार

चित्त से ग्रालम्बन की सामान्यरूपेण उपलिध्य होती है। चैत विणेपरूपेण इसकी उपलिध्य करते हैं। चित्त ग्रीर चैत्त साश्रय, सालम्बन, साकार ग्रीर सम्प्रयुक्त है। साश्रयादि चार भिन्न नाम एक ही ग्रर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं। चित्त ग्रीर चैत्त 'साश्रय' कहलाते हैं, क्यों कि वे इन्द्रिय पर ग्राश्रित हैं। वे सालम्बन हैं, क्यों कि वे स्वविषय का ग्रहण करते हैं। वे 'साकार' हैं, क्यों कि वे ग्रालम्बन के प्रकार से ग्राकार ग्रहण करते हैं। वे सम्प्रयुक्त हैं, क्यों कि वे ग्रन्यों स्य सम ग्रीर ग्रविष्ठयुक्त हैं। वे पाँच प्रकार से सम्प्रयुक्त हैं। चित्त ग्रीर चैन ग्राथ्य, ग्रालम्बन, प्राकार, काल, द्रव्य इन पाँच समताग्रों से सम्प्रयुक्त हैं, ग्रर्थात् वेदनादि चैन ग्रीर चिन्त सम्प्रयुक्त हैं, क्यों कि उनके ग्राथ्य, श्रालम्बन ग्रीर ग्राकार एक हो है, क्यों के वे सहभू हैं,

क्योंकि इम सम्प्रयोग में प्रत्येक जाति का एक ही द्रव्य होता है, यथा एक काल मे एक ही चित्त-द्रव्य उत्पन्न होता है, तथा इस एक चित्त-द्रव्य के साथ एक चेदना-द्रव्य एक सज्ञा-द्रव्य, ग्रीर प्रत्येक जाति का एक-एक चैत्त सम्प्रयुक्त होता है।

चित्त से चैतो का सहावश्यम्भाव—प्रत्येक प्रकार के चित्त के माथ कितने चैत भवश्य उत्पन्न होते हैं ने कामावचर चित्त पचिवध हैं—१ कुशल चित्त एक है। २-३. श्रकुशल द्विविध है—यह ग्रावेणिक है, ग्रयांत् ग्रविद्यामात से मम्प्रयुक्त है, ग्रौर रागादि ग्रन्य क्लेश-सम्प्रयुक्त है। ४-५ ग्रव्याकृत चित्त भी द्विविध है—निवृताव्याकृत, ग्रयांत् मत्काय-दृष्टि ग्रौर ग्रन्तग्राह-दृष्टि से सम्प्रयुक्त ग्रौर ग्रनिवृताव्याकृत, ग्रयांत् विपाकजादि।

१. कामावचर चित्त सदा सिवतकं मिवचार होता है। इम चित्त में जब यह कुशल होता है, २२ चैत्त होते हैं—-दस महाभूमिक, दस कुशल ग्रीर दो ग्रिनियत, ग्रर्थात् वितर्क ग्रीर विचार। जब कुशल चित्त में कौकृत्य होता है, तब पूर्ण सख्या २३ होती है।

२ आवेणिक और दृष्टियुक्त अकुशल चित्त में २० चैत्त होते है। आवेणिक चित्त अविद्यामाव से सम्प्रयुक्त और रागादि से पृथाभूत चित्त है। दृष्टियुक्त अकुशल-चित्त मिथ्या-दृष्टि, दृष्टिपरामर्श, शीलव्रतपरामर्श से सम्प्रयुक्त चित्त है।

दृष्टि ग्रौर ग्रन्तग्राहदृष्टि से मम्प्रयुक्त चित्त ग्रकुगल नहीं है, किन्तु निवृता-व्याकृत है।

इन दो अवस्थाओं में अनुशल चित्त में दम महाभूमिक, छ क्लेश, दो अनुशल और दो अनियत, अर्थात् वितर्क और विचार होते हैं। वसुवन्य कहते हैं कि दृष्टि की कोई पृथक् संख्या नहीं है, क्योंकि दृष्टि प्रज्ञा-विशेष है, प्रज्ञा महाभूमिक है।

जव यह कोधादि चार क्लेगो में से किसी एक से या कौकृत्य से सम्प्रयुक्त होता है, तव २१ होते हैं।

द्वितीय प्रकार का त्रकुशल चित्त जो रागादि से सम्प्रयुक्त है ।

३. राग, प्रतिघ, मान, विचिकित्सा से सम्प्रयुक्त ग्रकुशल चित्त में २१ चैत होते है। पूर्वोक्त २० ग्रौर राग या प्रतिघ, या मान या विचिकित्सा।

कोद्यादि पूर्ववर्णित उपक्लेगो में से किसी एक से सम्प्रयुक्त।

४. निवृताच्याकृत चित्त में १८ चैतिनिक होते हैं। कामधातु का अव्याकृत चित्त निवृत, अर्यात् क्लेशाच्छादित होता है, जब वह सत्काय-दृष्टि या अन्तग्राह-दृष्टि से मम्प्रयुक्त होता है। इस चित्त में दम महाभूमिक, छ. क्लेंग और वितर्क-विचार होते हैं।

४ ग्रनिवृताव्याकृत चित्त में वारह चैत होते हैं, दम महाभूमिक, वितर्क, विचार । 'वहिर्देशको' को यह इप्ट है कि कौकृत्य भी श्रव्याकृत है, यथा स्वप्न में । श्रव्याकृत कौकृत्य में सम्प्रयुक्त ग्रनिवृताव्याकृत चित्त में तेरह चैत होगे ।

मिद्ध नवं अविरुद्ध है। जहाँ यह होता है, वहाँ नद्या अधिक हो जाती है। मिद्ध कुणल, अकुणल, अव्याकृत है। जिन चित्त से यह नम्प्रयुक्त होता है, उसमें २२ के स्थान में २३ चैत्त होते है, जब यह कुणल ग्रीर कौकृत्य विमुक्त होता है। २३ के स्थान मे २४ चित्त होते हैं, जब यह कुणल ग्रीर कौकृत्य-सहगत होता है . इत्यादि।

रूपधातु—प्रथम ध्यान मे १ प्रतिघ, २ शाठ्य, माया, मद को वर्जित कर कोधादि, ३ श्राह्मीक्य श्रीर श्रनपत्राप्य यह दो श्रकुशल महाभूमिक, ४ कोकृत्य, क्योकि, दोर्मनस्य का वहाँ श्रभाव होता है, तथा ५ मिद्ध, क्योकि कवडीकार श्राहार का वहाँ श्रभाव होता है, नहीं होते। कामधातु के श्रन्य सर्व चैत्त प्रथम ध्यान मे होते हैं।

ध्यानान्तर मे वितर्क भी नहीं होता। द्वितीय ध्यान मे ग्रीर उससे ऊर्ध्व, यावत् ग्रारूप्यधातु मे विचार, शाठ्य ग्रीर माया भी नहीं होते। मद वैधातुक है। सूत्र के ग्रनुसार शाठ्य ग्रीर माया ब्रह्मलोकपर्यन्त होते हैं, ग्रीर उन लोकों से ऊर्ध्व नहीं होते, जहाँ के सत्त्वों का पर्वत्-सम्बन्ध होता है।

विज्ञानवाद—चित्त का ग्राश्रय लेकर चैत उत्पन्न होते है। ये चित्त से सम्प्रयुक्त होते है, चित्त से प्रतिवद्ध होते है। यथा जो ग्रात्मा पर ग्राश्रित होता है, उसे ग्रात्मीय कहते है। चित्त ग्रालम्बन के केवल सामान्य लक्षणो का ग्रहण करता है। चैत ग्रालम्बन के विशेष लक्षणो को भी ग्रहण करते है। चित्त ग्रर्थमावग्राही है, ग्रीर चैत विशेषावस्था का ग्रहण करते हैं।

चैत चित्त के सहकारी होते हैं। विज्ञान सकल ग्रालम्बन को एक साथ ग्रहण करता है। प्रत्येक चैत उसको ग्रहण करता है, जिसे विज्ञान ग्रहण करता है, ग्रौर माथ-साथ एक विशेष लक्षण भी ग्रहण करता है, जिसकी उपलब्धि उसका विशेष है। यथा विज्ञान वस्तु का मामान्य लक्षण जानता है (विजानाति), मनस्कार इस लक्षण को जानता है, ग्रौर उम लक्षण को जानता है, जो विज्ञान से (या चित्त-ग्रिधपित से) विज्ञात नहीं है।

स्पर्श—ग्रालम्बन के मनोज्ञादि लक्षणो को जानता है। वेदना, ग्राह्मादकादि लक्षणो को जानती है।

सज्ञा--उन लक्षणो को जानती है, जो प्रज्ञप्ति-हेतु है।

चेतना—सम्यग्-हेतु, मिथ्या-हेतु, उभयविरुद्ध (जो कर्म-हेतु है) लक्षणों को जाननी है। इसीलिए, मनस्कार-स्पर्शादि चैत धर्म कहलाते है। मध्यान्तविभाग में कहा है — छन्द ग्रिभिप्रेत वस्तु का भी लक्षण जानता है, ग्रिधिमोक्ष निश्चित वस्तु का, स्नृति ग्रनुभूत वस्तु का। समाधि ग्रीर प्रज्ञा गुण-दोष जानते है।

छः प्रकार के चैत छ प्रवस्था-प्रकार-विशेष है। इन प्रकार-विशेषों का भेद 'सवं' चतुष्टयवश बताते हैं। कुछ सर्वचित्त स्वभाव के साथ पाये जाते हैं, कुछ सर्वभूमियों में, कुछ सर्व सब समय पाये जाते हैं, कुछ सर्व एक साथ होते हैं।

सर्वतगर्चेतो में चारो 'सर्व' पाये जाते हैं। वे कुशल, अकुगल, अव्याकृत चित्त में सम्प्रयुक्त होते हैं। वे प्रत्येक भूमि में पाये जाते हैं। वे सदा रहते हैं। जब एक होता है, तब दूसरे होते हैं। प्रतिनियत विषय में पहले दो सर्व होते हैं। कुणल में एक सर्व होता है। (वे सकल भूमि में पाये जाते हैं), विलप्ट में कोई सर्व नहीं होता है। यह लक्षण बाहु निक है। अनियत में एक (पहला) सर्व होता है। कुणलादि चित्तों में पाये जाते हैं।

मूल क्लेशो के विभाग नहीं हैं। उपक्लेशो को दो में विभक्त करते हैं—१ द्रव्य-सत्, २ प्रज्ञप्ति-सत्। २० उपक्लेशो में दश परीत्त और तीन महोपक्लेश, अर्थात् मुषितास्मृतिता, प्रमाद और असम्प्रजन्य प्रज्ञप्ति-सत् हैं। शेष सात द्रव्य-सत् हैं। ये ब्राह्रीक्य, ब्रनपद्माप्य, ब्राध्यद्य, कौषीद्य, श्रौद्धत्य, स्त्यान ग्रौर विक्षेप हैं।

एक दूसरा विभाग ऊपर वर्णित हो चुका है—परीत्तोपक्लेश मध्योपक्लेश ग्रौर महोपक्लेश।

चैतसिको का एक ग्रीर विभाग ग्राठ विज्ञानो के ग्रनुसार है।

ग्राठवाँ विज्ञान ग्रालय-विज्ञान केवल पाँच सर्वत्नगो से सम्प्रयुक्त होता है। यद्यपि ग्रालय-विज्ञान ग्रन्य चित्त-चैत्तो के बीच का ग्रालय है, तथापि इसका सम्प्रयोग प्रत्यक्षत किसी ग्रन्य चैतसिक से नहीं होता।

सातवाँ विज्ञान ( मन ) पाँच सर्वत्नगों के अतिरिक्त मोह, लोभ, मान और दृष्टि इन चार क्लिष्ट चैतसिकों से भी सम्प्रयुक्त होता है। ये चैतिसिक आत्ममोह, आत्मदृष्टि, आत्ममान और आत्मस्नेह है। इसका कारण यह है कि मन मननात्मक है। अपरावृत्तावस्था में यह किल्पत आत्मा की मन्यना करता है। मन केवल इन नौ चैतिसिकों से सम्प्रयुक्त है। यह एक मत है। एक दूसरे मत के अनुसार मन का सम्प्रयोग कुछ उपक्लेशों से भी होता है।

पड्विज्ञान--इनका सम्प्रयोग सव चैतिसको से होता है।

स्थविरवाद—हम पूर्व कह चुके हैं कि इस वाद में चित्त के ८६ विभाग है। यह इस वाद का विशेष है। ये ५२ चैतसिक भी मानते है। ये दिखाते हैं कि कीन चैतसिक धर्म कितने चित्तों से सम्प्रयुक्त होता है।

# चित्तविष्रयुक्त धर्म

ग्रव हम चित्त-विप्रयुक्त धर्मों का विचार करेगे। चित्त-विप्रयुक्त ये हैं—प्राप्ति, ग्रिप्राप्ति, सभागता, ग्रासिज्ञक, दो समापित्तयाँ, जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नाम-कायादि तथा एव-जातीयक धर्म। ये धर्म चित्त से सम्प्रयुक्त नहीं होते। ये रूप-स्वभाव नहीं हैं। ये मस्कार-स्कन्ध में मगृहीत हैं, इन्हें चित्त-विप्रयुक्त संस्कार कहते हैं, क्योंकि ये चित्त से विप्रयुक्त हैं, ग्रीर ग्ररूपी होने के कारण चित्त के समानजातीय हैं। स्थविरवाद में इस विभाग का उल्लेख नहीं हैं। उनके उपादाय-रूपों की सूची में चार लक्षण ग्रीर जीवितेन्द्रिय पाये जाते हैं।

सर्वास्तिवादी इन्हें चित्त-विप्रयुक्त सस्कार मानते है। जात्यादि लक्षण इन्द्रियों के विकार है। ये भौतिकों में क्यों सगृहीत है, यह स्पप्ट नहीं है। मौन्नान्तिक चित्त-विप्रयुक्त संस्कार के ग्रस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। 'प्राप्ति' शब्द न्यायभाष्य (४।२।१२) में 'मस्वन्ध' के ग्रर्थ में प्रयुक्त हुग्रा है—एकस्यानेकत्राश्रितसम्बन्धलक्षणा प्राप्ति।

ग्रवयव-ग्रवयवी के विचार में यह वाक्य ग्राया है। ग्रवयव-ममूह ग्राथय है, ग्रवयवी ग्राधित है। इनका मयोग-मभ्वन्ध नहीं है, क्योंकि इनका कभी एक दूसरे में विभाग सम्भव नहीं है। उभय का तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध भी नहीं है, क्यों कि दोनों अभिन्न नहीं है। यह समवाय सम्बन्ध है। गुण, कर्म और जाति-विषयक जो विशिष्ट ज्ञान होता है, उसका विषय समवाय नामक सम्बन्ध है। वैभाषिकों के अनुसार प्राप्ति वह हेतु है, जो सत्त्वों का भाव व्यवस्थापित करता है। अवयवों में अवयवीं की वर्त्तमानता ज्ञाश्रयाश्रितभाव है। यह समवायाख्य सम्बन्ध है। यह इस प्रकार है—प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता आमि ज्ञिक, दो समापत्ति (निरोध-समापत्ति, असिज्ञ-समापत्ति), जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नाम-कायादि और एवजातीयक धर्म। सर्वास्तिवादी इनको द्रव्य-सत् मानते हैं।

प्राप्ति-ग्रप्राप्ति

१ प्राप्ति द्विविध है---अप्राप्त और विहीन का लाभ (प्रतिलम्भ ) प्रतिलब्ध भौर प्रविहीन का समन्वागम (समन्वय)।

२ अप्राप्ति--इसका विपर्यय है।

स्वमन्तान-पितत सस्कृत धर्मों की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है, पर-मत्त्व-मन्तित-पितत धर्मों की नहीं होती, क्योंकि कोई परकीय धर्मों से ममन्वागत नहीं होता। प्रसन्तित-पितत धर्मों की प्राप्ति-ग्रप्राप्ति नहीं होती, क्योंकि कोई ग्रमत्त्व सख्यात धर्मों से समन्वागत नहीं होता।

ग्रसस्कृत धर्मों मे प्रतिसख्या-निरोध ग्रीर ग्रप्रतिसख्या-निरोध की प्राप्ति होती है। सब सत्त्व उन धर्मों के ग्रप्रति<sup>0</sup> से समन्वागत होते हैं, जिनकी उत्पत्ति प्रत्यय-वैकल्य से नहीं होगी। सकल बन्धनादिक्षणस्थ ग्रायं ग्रीर सकल-बन्धन-बद्ध पृथग्जन को छोडकर ग्रन्य ग्रायं ग्रीर पृथग्जन प्रतिसख्या<sup>0</sup> से समन्वागत होते हैं। ग्राकाण से कोई समन्वागत नहीं होता, ग्रत ग्राकाण की प्राप्ति नहीं होती। वैभापिकों के ग्रनुसार, प्राप्ति ग्रीर ग्रप्राप्ति एक दूसरे के विपक्ष है। जिसकी प्राप्ति होती है, उसकी ग्रप्राप्ति भी होती है।

सौत्रान्तिक का मतभेद—सौत्रान्तिक प्राप्ति नामक धर्म के प्रस्तित्व को नहीं मानते। वे कहते हैं कि प्राप्ति की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, यथा रूप-णव्दादि की होती है, यथा रागद्वेषादि की होती है। उसके कृत्य से प्राप्ति का ग्रस्तित्व ग्रनुमित नहीं होता, यथा चक्षुरादि इन्द्रिय ग्रनुमान-ग्राह्य है। सर्वास्तिवादी कहता है कि प्राप्ति का कृत्य है। यह धर्मों का उत्पत्ति-हेतु है। लोभ-चित्त के उत्पादक हेतु इस ग्रनागत लोभ चित की 'प्राप्ति' है। सौत्रान्तिक कहता है कि ग्राप जानते हैं कि दो निरोधों की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु ये ग्रसस्कृत है ग्रीर ग्रसस्कृत ग्रनुत्पाद्य है। केवल 'सस्कृत' हेतु होते हैं। सस्कृत धर्मों के सम्बन्ध में हमे यह कहना है कि ग्रप्राप्त धर्मों की प्राप्ति नहीं होती। ग्रीर उन धर्मों की भी प्राप्ति नहीं होती, जो भूमि-मस्कार या वैराग्य के कारण त्यक्त हो चुके हैं। प्रथम की प्राप्ति ग्रनुत्पन्न है। द्वितीय की प्राप्ति निरुद्ध हुई है। ग्रत, इन धर्मों की कैंसे उत्पत्ति हो सकती है, यदि इनकी उत्पत्ति का हेतु प्राप्ति है?

सर्वास्तिवादी-इन धर्मों की उत्पत्ति में महज-प्राप्ति हेतु है।

सौत्नान्तिक-पिंद धर्मों की उत्पत्ति प्राप्ति के योग में होती हैं, तो जाति ग्रीर जानि-जाति क्या करते हैं। ग्रयत्वाख्य धर्मों की उत्पत्ति न होगी। मकल बन्प्रन पृद्गलों में मृदु-मध्य-ग्रिधमात्न क्लेंगों का प्रकार-भेद कैंसे युक्त होगा, क्योंकि प्राप्ति का ग्रभेद हैं। रामावनर क्रेंग की उन्ही प्राप्तियों से मव समन्वागत हैं। क्या ग्राप कहने हैं कि यह भेद प्राप्ति के भिन्न हेतुग्रों के कारण होता है। हमारा उत्तर है कि यह हेतु ही मृदु-मध्य-ग्रधिमाव क्लेश की उत्पत्ति में एकमाब हेतु है। जिस कारण से यह भेद होता है, उसी कारण से उनकी उत्पत्ति भी हो मकती है। इसलिए, प्राप्ति उत्पत्ति-हेतु नहीं है।

सर्वास्तिवादी—कौन कहता है कि प्राप्ति धर्मों की उत्पत्ति का हेतु है ? हम उसका यह कारित नहीं वताते । हमारे अनुसार प्राप्ति वह हेतु है, जो सत्त्वों के भाव की व्यवस्था करता है। हम इसका व्याख्यान करते हैं — मान लीजिए कि प्राप्ति का अस्तित्व नहीं है, तो लौकिक-मानस आर्य और पृथाजन का क्या व्यवस्थान होता ? भेद केवल इसमें है कि आर्य में कितिपय अनास्रव धर्मों की प्राप्ति तव भी होती है, जब उनका लौकिक-मानस होता है।

सौद्रान्तिक—हमारे मत से यह व्यवस्थान हो मकता है कि पहला प्रहीण क्रेश है, श्रौर दूसरा श्रप्रहीण क्लेश है।

सर्वास्तिवादी—-नि मन्देह, किन्तु प्राप्ति के ग्रस्वित्व को न मानकर यह कैसे कह सकते हैं कि इनका क्लेश प्रहीण है, इनका ग्रप्रहीण है। प्राप्ति के होने पर यह व्यवस्थान सिद्ध होता है। क्लेश प्रहीण तभी होते हैं, जब क्लेश-प्राप्ति का विगम होता है। जबतक उमकी प्राप्ति रहती है, तबतक क्लेश प्रहीण नहीं होता।

वैभापिक कहने हैं कि 'प्राप्ति' ग्रौर 'ग्रप्राप्ति' द्रव्य-सत् हैं। वैभापिक नय से तैयिष्टिक धर्मों की प्राप्ति विविध है। ग्रतीत धर्मों की प्राप्ति ग्रतीत, प्रत्युत्पन्न, ग्रनागत होती है। इसी प्रकार प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रनागत धर्मों को समझना चाहिए। प्रत्येक धर्म की यह विविध प्राप्ति नहीं होती, यथा विपाकज धर्मों की प्राप्ति केवल इन धर्मों की सहज होती है। इनके उत्पन्न होने के पूर्व ग्रौर निरुद्ध होने के पश्चात् इन धर्मों की प्राप्ति नहीं होती।

कुणल, अकुणल, अव्याकृत धर्मों की प्राप्ति ययाक्रम कुणल, अकुणल, अव्याकृत होती है। धात्वाप्त धर्मों की प्राप्ति स्वधातुक होती है। अधातु-पतित अनास्रव धर्मों की प्राप्ति चतुर्विध है। यह तैधातुक है। यह अनास्रव है।

- प्रप्रतिसंख्या-निरोध की प्राप्ति उस धातु की होती है, जिसमें वह पुद्गल उत्पन्त होता है, जो उसकी प्राप्ति करता है।
  - २ प्रतिसख्या-निरोध की प्राप्ति रूपावचरी, ग्ररूपावचरी ग्रार ग्रनास्त्व होती है।
  - ३ मार्ग-सत्य की प्राप्ति ग्रनास्नव ही होनी है।
- ४. शैक्ष धर्मो की प्रान्ति शैक्षी है, अशैक्ष धर्मो की प्राप्ति अशैक्षी है। नशैक्षाशैक्ष धर्मों की प्राप्ति तिविध है। ये धर्म मास्रव और असम्कृत है। इनकी मज्ञा इमलिए है, क्योंकि यह शैक्ष और अशैक्ष धर्मों से भिन्न है।
  - १ सास्रव धर्मो की प्राप्ति नैवर्णेक्षीनाणैक्षी हे।
  - २ इसी प्रकार अनार्य ने प्राप्त अप्रति° की प्राप्ति और प्रति॰ की प्राप्ति ।
- प्रति<sup>0</sup> की प्राप्ति जैक्षी है, यदि निरोध जैक्षमार्ग से प्राप्त होता है। अर्जर्क्षी है, यदि वह निरोध अशैक्ष मार्ग से प्राप्त होता है।

ग्रहेय धर्मों का प्राप्ति-भेद है। ग्रहेय धर्मों की प्राप्ति द्विविध है। ग्रप्रिति की प्राप्ति भावनाहेय है। इसी प्रकार, ग्रनार्य से प्राप्त प्रति की प्राप्ति ग्रनास्रव, ग्रहेय है। इसी प्रकार, मार्ग-सत्य की प्राप्ति को जानना चाहिए। ग्रन्याकृत की प्राप्ति सहज है।

ग्रप्राप्ति ग्रनिवृताव्याकृत है। क्लेशो की ग्रप्राप्ति विलप्ट नही है, क्योंकि इस विकल्प में क्लेश-विनिर्मुक्त पुद्गल में इसका ग्रभाव होता है। यह कुणल नही है, क्योंकि कुणलमूल-समुच्छिन्न पुद्गल में इसका ग्रभाव होगा। ग्रप्राप्ति की विहानि प्राप्ति ग्रीर भूमि-सचार से होती है। यथा ग्रार्य-मार्ग के लाभ से ग्रीर भूमि-सचार से पृथग्जनन्व विहीन होता है।

श्रनुप्राप्ति, श्रनु-श्रप्राप्ति-प्राप्ति और श्रप्राप्ति की भी प्राप्ति श्रीर श्रप्राप्ति होती है। इन्हें श्रनुप्राप्ति, श्रनु-श्रप्राप्ति कहते हैं। श्रत दो प्राप्ति हैं — मूल प्राप्ति श्रीर श्रनुप्राप्ति या प्राप्ति-प्राप्ति ।

क्या इस वाद मे प्राप्तियो का ग्रनवस्था-प्रसग नही होगा ?

नहीं, क्यों कि परस्पर समन्वागम होता है। प्राप्ति-प्राप्ति के योग से प्राप्ति से समन्वागम होता है शौर प्राप्ति के योग से प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागम होता है। जब एक सन्तिति में एक धर्मिवशेष का उत्पाद होता है, तब तीन धर्मों का महोत्पाद होता है। ग्रर्थात्, १ यही धर्म, जिसे मूल धर्म कहते हैं, २ मूल धर्म की प्राप्ति, ३ इस प्राप्ति की प्राप्ति। प्राप्ति-उत्पादवण वह सत्त्व मूल धर्म से ग्रीर प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागत होता है। ग्रत, ग्रनवस्था-प्रसग नहीं होता। जब कुशल या विलष्ट धर्मों की उत्पत्ति होती है, तब उसी क्षण में तीन धर्मों का महोत्पाद होता है। इनमें यह कुशल या विलप्ट धर्म सगृहीत है। तीन धर्म ये हें—मूल धर्म, उसकी प्राप्ति, इस प्राप्ति की प्राप्ति। दितीय क्षण में छ धर्मों का महोत्पाद होता है, ग्रर्थान् मूल धर्म की प्राप्ति, प्रथम क्षण की प्राप्ति, प्राप्ति की प्राप्ति, तथा तीन ग्रनुप्राप्ति, जिनके योग में पूर्वोक्त तीन प्राप्तियों से वह समन्वागत होता है। तृतीय क्षण में ग्रहारह धर्मों का महोत्पाद होता है। इस प्रकार, प्राप्तियों का उत्तरोत्तर वृद्धि-प्रमग होना है। ग्रनादि ग्रनन्त समार में यह ग्रनन्त सख्या में उत्पन्न होती है।

वसुबन्धु कहते हैं कि यह प्राप्तियों का ग्रित उत्मव है, कि ये ग्ररूपिणी है, ग्रन ये ग्रवकाश का लाभ करती है। यदि ये प्रतिघातिनी होनी, नो एक प्राणी की प्राप्तियों को नीलाकाश में स्थान न मिलता। निकाय-सभाग (सभागता)

यह एक द्रव्य है, एक धर्म है, जिसके योग से सत्त्व तथा सत्त्व-सच्यात धर्मों का परस्पर सादृष्य (= सभाग) होता है। गास्त्र में इस द्रव्य की निकाय-सभाग सजा है। यह मत्त्वों की स्त्रभाव-समता है। सभागता दो प्रकार की है। ग्रिभिन्न ग्रीर भिन्न। प्रथम सभागता नर्व-सत्त्ववर्त्तिनी है। उसके योग से प्रत्येक सत्त्व का सब सत्त्वों के साथ नाद्र्य होता है। उसे सत्त्व-सभागता कहते हैं। द्वितीय में ग्रनेक ग्रवान्तर भेद हैं। सत्त्व, धातु, भृमि, गित, योनि, जाति, व्यजनादि के ग्रनुसार भिन्न होते हैं। उतनी ही सभागता होती है। उनके योग से एक विशेष प्रकार का प्रत्येक सत्त्व उस प्रकार के सत्त्वों के सदृश होता है।

पुन सत्त्व-सख्यात धर्मों के लिए एक मभागता है--धर्म-सभागता । यह स्कन्ध-प्रायतन-धातुत है ।

सत्त्व-सभागता नामक ग्रविशिष्ट द्रव्य के ग्रभाव मे भन्योन्य विशेष भिन्न सत्त्वों के लिए सत्त्वादि ग्रभेद बुद्धि श्रौर प्रज्ञप्तियाँ कैसे होगी ? इसी प्रकार, धर्म-सभागता के योग से ही स्कन्ध-धातु ग्रादि बुद्धि श्रौर प्रज्ञप्ति युक्त है ।

विभिन्न वादियों की श्रालोचना—सौतान्तिक सभागता नामक धर्म को स्वीकार नहीं करते, श्रीर इस वाद में श्रनेक दोष दिखलाते हैं। वे कहते हैं कि लोक सभागता को प्रत्यक्ष नहीं देखता, वह प्रज्ञा में सभागता का परिच्छेद नहीं करता, क्योंकि सभागता का कोई व्यापार नहीं है, जिससे उसका ज्ञान हो। यद्यपि लोक मत्त्व-सभागता को नहीं जानता, तथापि उसमें सत्त्वों के जात्यभेद की प्रतिपत्ति होती है। श्रत, मभागता के होने पर भी उसका क्या व्यापार होगा? पुन निकाय को णालि-यवादि की श्रसत्त्व-सभागना भी क्यों नहीं एष्ट है? इनके लिए सामान्य प्रज्ञप्ति का उपयोग होता है।

पुन जिन विविध सभागतात्रों की प्रतिपत्ति निकाय को इष्ट है, वे ग्रन्योन्य भिन्न है। किन्तु, सबके लिए सामान्य वृद्धि भीर प्रज्ञप्ति होती है—सब सभागता है।

सौद्रान्तिक कहते हैं कि यह वैशेषिको का 'सामान्य' पदार्थ है, किन्तु ये 'विशेष' नामक एक दूसरा द्रव्य भी मानते है, जिससे जाति के लिए विशेष वृद्धि ग्रीर प्रज्ञप्ति होती है।

वैभाषिक कहते हैं कि उनका वाद वैशेषिकों के वाद से भिन्न है। वैशेषिक मानते हैं कि सामान्य एक पदार्थ है, जो एक होते हुए भी अनेक में वर्त्तमान है। वैशेषिक सामान्य और विशेष को पट् पदार्थों में सगृहीत करते हैं। उनका सामान्य नित्य और व्यापक है, बुद्ध्यपेक्ष है (वैशेषिक सूत्र, ११२१३)। समानों का भाव सामान्य है। यह तुल्यार्थता है। इसका विपर्यय विशेष है। भिन्नों में जो अभिन्न बुद्धि होती है, उसका सामान्य व्यपदेश होता है। वस्तुभूत निमित्त के विना अभिन्न बुद्धि नहीं होती। यह निमित्त सामान्य है। सामान्य द्विविध है—पर, अपर। पर-सामान्य सत्ता है। अपर-सामान्य सत्ताव्यापी द्रव्यत्वादि है। सामान्य की अनुवृत्त-बुद्धि होती है। विशेष की व्यावृत्त-बुद्धि होती है। यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, इस प्रकार का अनुवृत्त प्रत्यय होने पर भी यह गुण नहीं है, यह कर्म नहीं है, ऐसा विशेष प्रत्यय होता है।

नैयायिक सामान्य का ग्रम्तित्व मानते हैं। जाति-जितमान् में समवाय-सम्बन्ध है। यथा ग्रवयव-ग्रवयवी गुण गुणी, क्रिया-क्रियावान् का सम्बन्ध समवाय है। सामान्य एक ग्रौर नित्य है। मामान्य की यत्ता व्यक्ति में पृथक् है। व्यक्तियों का उत्पाद ग्रौर विनाण होता है, किन्तु सामान्य (जाति) नित्य है।

वैभाषिक कहते हैं कि प्रत्येक मत्त्व में सत्त्व-मभागता अन्य-अन्य होते हुए भी अभिन्त कहलाती है, क्योंकि सादृश्य है। यह एक द्रव्य है, किन्तु इसको एक और नित्य मानना वैशेषिकों की भूल है। सौद्रान्तिक सभागता का ग्रस्तित्व स्वीकार नहीं करते। दिडानाग, धर्मकीर्त्तं का मत है—"प्रत्यक्ष ग्रपने-ग्रपने विषय के स्वलक्षण का ग्रहण है। निर्विकल्पक है, ग्रत जाति, सामान्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि यह सविकल्पक प्रत्यक्ष है, ग्रर्थात् बुद्ध्यपेक्ष है, तो यह धलीक है।" इनके लिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वस्तु-सत् है, क्योंकि यह कल्पनापोढ है, नाम-जात्यादि से ग्रसयुत है।

पार्थसारिथ-कृत 'शास्त्रदीपिका' (पृ० ३८१-३८२) मे कहा है : विकल्पाकारमात्रं सामान्यम्, ग्रलीकं वा । स्वलक्षण ही वस्तु-सत् है। सामान्य विकल्पाकारमात्र है, ग्रत ग्रलीक है। सामान्य ग्रनुमान-सिद्ध भी नही है, क्योकि ग्रनुमान का ग्रालम्बन विकल्प होता है।

#### श्रासंज्ञिक, दो समापत्तियां

श्रासं ज्ञिक श्रीर श्रसज्ञि-समापत्ति — जो सत्त्व, ग्रमज्ञि या श्रसज्ञि-देवो में उपपन्न होते हैं, उनमें एक धर्म होता है, जो चित्त-चैत्तो का निरोध करता है, ग्रौर जिसे 'ग्रासज्ञिक' कहते हैं। इस धर्म से ग्रनागत ग्रध्व के चित्त-चैत्त कालान्तर के लिए सन्निकद्ध होते हैं, ग्रौर उत्पत्ति का लाभ नहीं करते। यह धर्म उस धर्म के सदृश है, जो नदी-तोय का निरोध करता है, ग्रर्थात् सेतु के सदृश है। यह धर्म एकान्तत ग्रसज्ञि-समापत्ति का विपाक है।

इस समापत्ति के अभ्यास के लिए योगी को चतुर्थ ध्यान में समापन्न होना चाहिए। मोक्ष की इच्छा से वह इसका अभ्यास करता है। योगी की यह मिथ्या कल्पना होती है कि आसज्ञिक यंथार्थ मोक्ष है। जो योगी इस समापत्ति का लाभी होता है, वह वैभाषिकों के अनुसार उसका पुनः उत्पादन कर असज्ञि-सत्त्वों में उत्पन्न होता। केवल पृथग्जन इस समापत्ति का अभ्यास करते हैं, आर्य नहीं।

श्रसित्त-देव उपपत्ति-काल और च्युति-काल में सजी होते हैं। श्रमित्त-सत्त्वों के लोक से च्युत हो वह श्रवश्य कामधातु में पुन उपपन्न होते हैं, श्रन्यव नहीं। वस्तुत, जिसके योग से ये सत्त्व श्रसित्यों में उपपन्न होते हैं, उस श्रसित्त-समापित्त के सस्कार का परिक्षय होता है। उनकी च्युति होती है, यथा क्षीणवेग वाण पृथ्वी पर पतित होते हैं।

निरोध-समापत्ति—यह समापत्ति ग्रसज्ञि-समापत्ति के सदृश है। यह एक धर्म है, जो चित्त-चैतो का निरोध करता है। केवल ग्रार्य इस समापत्ति की भावना करते है, क्यों कि वह शान्त-विहार-सज्ञापूर्वक मनसिकार से उसका ग्रहण करते है। ग्रसज्ञि-समापत्ति की भावना मोक्ष-सज्ञा-पूर्वक मनसिकार से ग्रसज्ञा का ग्रहण करने से सिद्ध होतो है, यह भवाग्रज है। ग्रसज्ञि-समापत्ति चतुर्थ ध्यानभूमिक है। उसका उत्पाद दो धातुग्रो मे से किमी में होता है।

निरोध गुभ है। इसके दो प्रकार के विपाक है—उपपद्य-वेदनीय या ग्रपर-पर्याय-वेदनीय। यह 'ग्रनियत' भी है, क्यों कि जिस योगी ने इस समापत्ति का उत्पाद किया है, वह दृष्टधर्म में निर्वाण का लाभ कर सकता है। यह समापत्ति भवाग्र के चार स्वन्ध का उत्पाद करती है। इसका लाभ वैराग्यमात से नहीं होता, यह प्रयोग-लभ्य है। केवल मनुष्यो में इसका उत्पाद होता है। इसको सज्ञावेदित भी कहते हैं। इसका प्रयोग सज्ञा ग्रीर वेदना के प्रतिकूल है।

विभाषा कहती है कि जो निरोध में समापन्न होता है, उसे ग्रग्नि दग्ध नहीं कर सकती, उसे जल क्लिन्न नहीं कर सकता, क्षुर उसे छिन्न नहीं कर सकता, कोई उसका घात नहीं कर सकता।

स्यविर वसुमित्र के श्रनुसार ये दो समापत्तियाँ श्रीर श्रासज्ञिक श्रपरिस्फुट मनोविज्ञान-वश सचित्तक है।

मौत्नान्तिक इनको द्रव्यत ग्रवधारण नहीं करते। उनका कहना है कि यह समापति-चित्त है—वह चित्त जो समापत्ति-ग्रवस्था के पूर्व का है, जो चित्तोत्पत्ति में प्रतिवन्ध है। यह चित्त चित्तान्तर के विरुद्ध है। इसके कारण कालान्तर के लिए ग्रन्य चित्तो का उत्पाद नहीं होता। समापत्ति-चित्त के कारण चित्त-निरुद्ध ग्राश्रय या सन्तान का ग्रापादन होता है। जिसे समापत्ति कहते हैं, वह कालान्तर के लिए चित्त की ग्रप्रवृत्ति-मात्न है। यह दो समापत्ति ग्रीर ग्रामज्ञिक चित्तोत्पत्ति में प्रतिवन्ध नहीं है। यह द्रव्य-धर्म नहीं है, किन्तु एक प्रज्ञप्ति-धर्म है। जीविनेन्द्रिय के पूर्व सस्कृत धर्म के लक्षण को वताते हैं।

## सस्कृत धर्म के लक्षण

चार मूल लक्षण — जाति, जरा, स्थिति, श्रनित्यता। ये चार धर्म के लक्षण है। जिम धर्म में ये लक्षण पाये जाते हैं, वे सम्कृत है। जिममें यह नहीं पाये जाते वे असस्कृत हैं। जाति मम्कृतों का उत्पादन करती है, स्थित उनकी स्थपना करती है। जरा उनका हास करती है, श्रनित्यता उनका विनाश करती है। किन्तु, मूल में उनत है कि सस्कृत के तीन सस्कृत लक्षण हैं। सस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात होता है। व्यय भी प्रज्ञात होता है। उसका स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञप्त होता है। जो लक्षण सूत्र में उनत नहीं है, वह 'स्थिति' है। स्थित्यन्यथात्व समासान्त पद में 'स्थिति' शब्द है, किन्तु यह पद जरा का पर्याय है। यदि सूत्र केवल तीन ही लक्षणों का निर्देश करता है, तो इसका कारण यह है कि विनेयों में उद्देग उत्पन्त करने के लिए यह उन्हीं धर्मों को सस्कृत का लक्षण निर्देष्ट करता है, जिनके कारण सस्कृत का लेथिंविक सचार होता है। इमके विपरीत 'स्थिति' सस्कृत की स्थापना करती है, श्रीर उसके श्रवस्थान में हेतु है। इमीलिए सूत्र लक्षणों में उसकी गणना नहीं करता। पुन श्रमस्कृत का भी स्वलक्षण में स्थितिभाव होता है। स्थितिलक्षण ग्रसस्कृत की उस स्थिति के सदृण है। ग्रसस्कृत का भी मस्कृतत्व-प्रसग न हो इमलिए मूत्र 'स्थिति' को मरकृत का लक्षण नहीं निर्दिष्ट करता।

मीत्रान्तिको की यह करपना है कि सूत्र में स्थिति का निर्देश है। रियित ग्रीर जरा को यह एक साथ निर्दिष्ट करता है। स्थित्यन्ययात्व = स्थिति ग्रीर ग्रन्यथात्व। इनमें लक्षणों को एक लक्षण के रूप में कहने का प्रयोजन है—यह रियित मगास्पद है। स्थिति में ग्रमग न हो, इमलिए सूत्र उमको जरा के माथ निर्दिष्ट करना है। श्रत, सम्कृत लक्षण चार ही है। किमी धर्म की जाति, स्थिति ग्रादि भी मस्कृत है। ग्रत, इनका उत्प्राद, स्थिति, ग्रन्यथात्व व्यय होता है। ग्रतः, पर्याय से इनके चार लक्षण जाति-जाति, ियिनि-स्थिति ग्रादि होते हैं, जो म्ल धर्म के ग्रनुलक्षण है। ये ग्रनुलक्षण भी सम्कृत हैं। ग्रत, इनमें से एक-एक करके चार-चार लक्षण होगे।

यहाँ अपर्यवनान दोप नहीं है। जब एक मूल धर्म की उत्पन्ति होती हे, तब नी धर्मों का सहोत्पाद होता है—मूलधर्म, चार म्ललक्षण, चार अनुलक्षण। पूर्वोक्त चार म्ललक्षण तथा चार अनुलक्षण—जाति-जाति, स्थिति-स्थित जरा-जरा, अनित्यना-अनित्यना। मृल जाति में आठ धर्म जिनत होते हे, किन्तु जाति-जाित से वेवल एक धर्म, अर्थान् मूल जाित जिनत होती है। इमी प्रकार, अन्य मूललक्षण और अनुलक्षणों की यथायोग्य योजना करनी चाहिए।

चार स्रनुलक्षण—लक्षणों के स्वयं लक्षण होने हैं, जिन्हें अनुलक्षण कहने हैं। उनकी संख्या चार होती है, नोलह नहीं, ग्रौर अनिष्ठा दोप नहीं है।

सीश्रान्तिक का सतभेद—मीनान्तिक लक्षणों को पृथक्-पृथक् द्रव्य नहीं मानते। वे कहते हैं कि भगवान् प्रदर्शित करना चाहते हैं कि प्रवाह मस्कृत है। वे प्रवाह-क्षण के तीन लक्षण नहीं बताते, क्योंकि वे कहते हें कि यह तीन लक्षण प्रज्ञप्त होते हैं। वस्तुत ग्रप्रज्ञायमान है। क्षण का उत्पाद या जाति का अर्थ है—प्रवाह का ग्रारम्भ। व्यय या ग्रनित्यता प्रवाह की निवृत्ति, उपरित है। स्थिति ग्रादि से निवृत्ति तक ग्रनुवर्त्तमान प्रवाह है। स्थिति ग्रादि यो निवृत्ति तक ग्रनुवर्त्तमान प्रवाह है। स्थितया प्रवाह ग्रात्यता ग्रनुवर्त्तमान का पूर्वापरिवर्णेष है। पुन उत्पाद ग्रमृत्वा-भाव है स्थित प्रवन्ध है, ग्रनित्यता प्रवन्ध का उच्छेद है, जरा उसकी पूर्वापर विशिष्टता है। सक्षेप मे, सस्कृत ग्रम् का ग्रमृत्वा-भाव होता है। इन धर्मों का प्रवाह उनकी स्थित है, प्रवाह का विसदृशत्व उनका स्थित्यन्यथात्व है। उत्पादादि द्रव्य नहीं है।

नर्वाम्तिवादी कहते हैं कि जन्य धर्म की जनक जाति है, किन्तु हेनु-प्रत्यय वे विना नहीं, ग्रंथीत् हेनु-प्रत्यय के नामग्रंथ के विना केवल जाति जन्य धर्म के उत्पाद का मामर्थ्य नहीं रखनीं। सौन्नान्तिक कहते हैं कि यदि ऐमा है, तो हेनु उत्पाद करने हैं जाति नहीं। मर्वाम्नियादी कहने हैं कि रूप में रूप-बृद्धि म्वलक्षणापेक्षा होती है। किन्तु, 'राम जान है', यह जान-बृद्धि रूपा-पेक्षा नहीं होती, क्योंकि 'वेदना जात है' दम बेदना का जब प्रश्न होता है, नय मी मेरी यही जात-बृद्धि होती है। ग्रंन, जाति-बृद्धि रूप-बेदना में ग्रंथीन्नरभून जानि-द्रद्य भी ग्रंथक्षा करती है।

मौबान्तिक का उत्तर है कि यह बाद आपको बहुत हुर ले जायगा। जून्यता, अनात्मन्य को युक्त सिद्ध करने के लिए आप 'णून्यम्', 'अनात्मम्' का द्रव्या अस्तित्व मानेगे। पुन एउ-दो महत्, अणु, पृथक्, सयुक्त, विभक्त, पर, अपर, सद्ख्यादि वृद्धि की सिद्धि के किए आप वैजेपिको के तुन्य एक द्रव्य-परम्परा मानेगे—साया, पिमाण पथवन्व, सयीग, जिशाग, परन्य, अपरन्व, सत्ता आदि। आणको घट-वृद्धि सिद्ध वरने के तिए एक 'पटन्य पणिरियन करना होगा।

### जीवितेन्द्रिय

जीवित त्रैधातुक ग्रायु है। यह एक पृथक् धर्म है। यह ऊष्म ग्रीर विज्ञान का ग्राधार है। यह सन्तान की स्थिति का हेतु है।

सौद्रान्तिक ग्रायु को द्रव्य नही मानते । उनका कहना है कि यह एक ग्रावेध सामर्थ्य-विशेष है, जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रतिसन्धि-क्षण में सत्त्व मे ग्राहित करता है । इस सामर्थ्य-वश एक नियत काल के लिए निकाय-सभाग के स्कन्ध-प्रवन्ध का ग्रवस्थान होता है । नाम, पद, व्यजन-काय

'नाम' ( नाम या शव्द ) से 'सज्ञाकरण' समझना चाहिए। यथा रूप, शब्द, गन्धादि शब्द।

'पद' से वाक्य का ग्रर्थ लेते है, जितने से ग्रर्थ की परिसमाप्ति होती है, यथा यह वाक्य—सस्कार ग्रनित्य है, एवमादि । ग्रथवा पद वह है, जिससे क्रिया, गुण, काल के सम्बन्ध-विणेप भासित होते है, यथा वह पकाता है, वह पढता है, वह जाता है वह कृष्ण है, गौर है, रक्त है, वह पकाता है वह पकावेगा, उसने पकाया।

'व्यजनं का ग्रर्थ ग्रक्षर, वर्ण, स्वर-व्यजन है। यथा ग्रग्नाड ईग्रादि। 'काय' का ग्रर्थ समुदाय है।

सौत्रान्तिक का मतभेद-सौत्रान्तिक दोप दिखात है कि यह वाक्स्वभाव है, ग्रौर इसलिए 'शब्द' है। ग्रत, यह रूप-स्कन्ध में सगृहोत है। चित्त-विप्रयुक्त संस्कार नही। '

मर्वास्तिवादी के मत में यह वाक्स्वभाव नहीं है। वाक् घोप है। ग्रीर, घोपमाव से, यथा कन्दन में ग्रर्थ ग्रवगत नहीं होता। किन्तु, वाक् नाम में प्रवृत्त होता है। यह नाम ग्रर्थ को द्योतित करता है, प्रतीति उत्पन्न करता है।

सौत्नान्तिक--जिसे में वाक् कहता हूँ, वह घोषमात्न नहीं है। किन्तु, यह वह घोष हैं, जिसके सम्बन्ध में वक्ताग्रो में सकेत है कि यह ग्रमुक ग्रर्थ की प्रतीति करेगा।

जो मिद्धान्त यह मानता है कि नाम पदार्थ का द्योतक है, उसे यह मानना पड़ेगा कि 'गो' शब्द के ये भिन्न अर्थ मवृति से हैं। अत , यदि अमुक नाम से श्रोता को अमुक अर्थ द्योतित होता है, तो यह घोपमान्न है, जो उमकी प्रतीति कराता है। 'नाम' द्रव्य की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं है।

सौद्रान्तिक व्यवस्थित करते हैं कि 'नाम' एक शब्द है, जिमके सम्बन्ध में मनुष्यों में सकेत है कि यह एक अर्थ-विशेष की प्रतीति कराता है।

वैभाषिक इन्हें द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सब धर्म तर्कगम्य नहीं है।

न्याय-वैशेषिक से तुलना

वैशेषिकशास्त्र मे 'गुण' एक पदार्थ है । यह कई प्रकार का है । यह द्रव्याश्रयी है स्वय गुणविणिष्ट नहीं हैं और दूसरे की अपेक्षा के विना सयोग और विभाग के उत्पादन में असमर्थ है । सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सस्कारादि गुण है।

परिमाण-मान-व्यवहार का ग्रसाधारण कारण है। यह चार प्रकार है -महत्, ग्रण्, दीर्घत्व ग्रीर ह्रस्वत्व।

नित्य पदार्थ का परिमाण नित्य है, ग्रीर ग्रनित्य पदार्थ का ग्रनित्य है।

संख्या—द्वित्वादि सख्या ग्रपेक्षा-बुद्धि से प्रसूत है। यह गणना-व्यवहार का निष्पादक गुण है।

पृथक्तव द्वारा एक वस्तु से ग्रपर के पार्थक्य की प्रतीति होती है।

संस्कार नामक एक गुण है। वह तीन प्रकार का है — स्थितिस्थापक, भावना ग्रीर वेग। यदि हम एक वृक्ष की शाखा का ग्राकर्षण कर छोड दे, तो यह स्थितिस्थापक-सस्कार गुण के योग से यथास्थान होती है। किसी विषय का ग्राभास होने से वह मन मे ग्रवस्थान करता है, यह भावनाख्य सस्कार का फल है। एक वाण का निक्षेप करने से वह बहुत दूर जाता है, यह वेगाख्य सस्कार है।

स्थितिस्थापक' चित्त-विप्रयुक्त सस्कार भी इन गुणो के तुल्य विशेष धर्म है, यद्यपि वौद्ध गुण-गुणी के वाद को नहीं मानते, इनमें एक प्रकार का सादृश्य है, यथा वैशेषिकों का सामान्य और निकाय-सभागता प्राय एक है। अन्तर इतना ही है कि वैशेषिकों का सामान्य एक और नित्य है, किन्तु वैभाषिकों का निकाय-सभाग एक और नित्य नहीं है।

न्याय-वैशेषिक जहां किसी का कारण नहीं बना सकते, वहाँ अदृष्ट की कल्पना करें। है। सर्ग के ग्रादि में जो परमाणु में कर्म होता है, वह ग्रदृष्ट के कारण होना है। ग्रग्नि का ऊर्ध्व-ज्वलन, वायु का तिर्यग्-गमन, सूची का ग्रयस्कान्त के ग्रिभमुख होना, यह मर्व ग्रद्रष्ट-विशेष के अधीन है (वैशेषिकसूत्र, १।१।१५, १।२।१३)। देह से मन का उत्क्रमण (अपसर्पण), देहान्तर में मन का प्रवेश (उपसर्पण), अमित-पीत का सयोग (उपचय), इन्द्रिय श्रीर प्राण का देह से मयोग ग्रदृष्टकारिता है (वैशेषिकसूत्र, १।२।१७)। इस सूत्र पर चन्द्रकान्त-कृत भाष्य कहता है कि एक दूसरा भी ग्रदृष्ट है, जिससे पुरुष का जीवन, उत्पत्ति ग्रौर मरण होता है। शरीरादि का इस प्रकार का निर्माण ही है कि उस भ्रवस्था मे ऐसा होता है। यह भ्रदृष्ट इसलिए कहलाता है कि कारण दृष्ट नहीं है (न तत्र वृष्ट कारणमस्नीति), वस्तु-शक्ति ही इस प्रकार की है (वस्तुशक्तिरेवतावृशी)। यह पूर्वकृत कर्म का फल है। यह अदृष्ट उसका है, जिसका इस गमन से हित या ग्रहित होता है। त्यायसूल (३।२।६८) के ग्रनुमार भी ग्रदृष्ट कर्मफल है। इस कर्मफल का योग, प्रयत् अदृष्ट-जन्य मुख-दुख का मानम प्रत्यक्ष ही दर्गन है। दर्गनार्थ गरीर की सुष्टि होती है। जब हम किसी का वारण नहीं जानने हैं, नव हम उसे स्वाभाविक कहते हैं (न्यायमजरी मे जयन्त)। इसी प्रकार, सर्वास्त्रिवादी इसे 'धर्मता' कहते हैं, श्रर्थात् वस्तुग्रो का ऐमा ही धर्म है, स्वभाव है, जिस्त है। वे कहने हैं कि धमो की गिक्त ग्रचिन्त्य है। यह नियत भी है।

्रन्यायभाष्य (३।२।६८) में किसी दर्णनकार के मत से 'ग्रदृष्ट' परमाणुग्रो का गुणिवशेष है। यह ग्रदृष्ट परमाणु-क्रिया का हेतु है। इस ग्रदृष्ट से प्रेरित परमाणु-समूह परस्पर मंगुक्त हो शरीर का उत्पादन करता है। इसी ग्रदृष्ट से मन की क्रिया उत्पन्न होती है। मन ग्रपने ग्रदृष्ट से प्रेरित हो उस शरीर में प्रवेश करता है। तब समनस्क शरीर में द्रष्टा सुख-दुख की उपलब्धि करना है।

## हेतु-फल-प्रत्ययता का वाद

मर्व धर्म जो उत्पन्न होने हैं, पाँच हेतुयो ग्रीर चार प्रत्ययो से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर, पुरुप, प्रधानादिक एक कारण से जगत् की प्रवृत्ति नहीं होती। जन्य धर्मों को जनित करने के लिए जाति, हेतु ग्रीर प्रत्ययो के सामग्र्य की ग्रपेक्षा रहती है।

यह हेतु-प्रत्यय क्या है ? प्रत्यय चार हैं —हेतु-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, श्रालम्बन-प्रत्यय, श्रिष्ठिपति-प्रत्यय। हेतु पड्विछ हैं —कारण-हेतु, सहभू-हेतु, सभाग-हेतु, सम्प्रयुक्तक-हेतु, सर्ववग-हेतु, विपाक-हेतु।

्र पहले हम प्रत्ययता का विचार करेगे। प्रत्यय

स्थिवरववाद में छ हेनु, पाँच फल का उल्लेख नहीं है। विभाषा (१६१८) में उनत है कि यह सत्य है कि ये छ हेतु सूत्र में उनत नहीं है। सूत्र में केवल इतना उनत है कि चार प्रत्ययता (प्रत्यय-प्रकार) है। जो धर्म जिस धर्म की उत्पत्ति या स्थिति में उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, सम्भव, प्रभव भ्रादि का एक ही श्रर्थ है।

१. हेतु-प्रत्यय—मूल का श्रधिवचन है। जो हेतुभाव से उपकारक धर्म है, वह हेतु-प्रत्यय है, जब एक धर्म दूसरे का प्रत्यक्ष-हेतु होता है, तब वह हेनु-प्रत्यय होता है। कारण-हेतु को वर्जित कर शेष पाँच हेतु हेनु-प्रत्यय है। यथा गालि-बीज शालि का हेतु-प्रत्यय है, कुशलादि भाव साधक कुशलादि का। हेतु और प्रत्यय के परस्पर के सम्बन्ध में विभाषा के प्रथम आचार्य कहते है—१ हेतु-प्रत्यय में कारण-हेतु को वर्जिन कर पाँच हेतु सगृहीत है। २. कारण-हेतु मे अन्य तीन प्रत्यय सगृहीत है। द्वितीय आचार्य कहते हैं—१ हेतु-प्रत्यय में पाँच हेतु संगृहीत है। २ कारण-हेतु केवल प्रधिपति-प्रत्यय के अनुरूप है। इस सिद्धान्त को वपुबन्धु स्वीकार करते है। महायान के आचार्यों के लिए सभाग-हेतु हेतु-प्रत्यय और प्रधिपति दोनो है, अन्य पाँच हेतु अधिपति-प्रत्यय है।

२ समनन्तर-प्रत्यय—ग्रहंन् के निर्वाणकाल के नरम चित्त और चैत को वर्जिन कर ग्रन्य नव उत्पन्न चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय है। यह प्रत्यय समनन्तर कहलाता है, क्योंकि यह सम ग्रौर ग्रनन्तर धर्मों का उत्पाद करता है। केवल चित्त-चैत्त समनन्तर है, क्योंकि ग्रन्य धर्मों के लिए, यथा रूशी धर्मों के लिए, हेनु ग्रीर फल मे समता नही है। चित्त-नियम पूर्व-पूर्व चित्त के कारण समृद्ध होता है, ग्रन्था नही। इसलिए, एक दूसरे के ग्रनन्तर ग्रनुह्य चित्तो- स्पादं के उत्पादन में नमर्थं धर्म समनन्तर-प्रत्य है। प्रत्येक चैतिनक क्लाप की स्थिति एक क्षण की होती है। जब यह कलाप निरुद्ध होता है, तब ग्रन्य उनके स्थान में उत्पन्न होता है। पूर्व क्लाप उत्तर कलाप के कारित्र को सिमस्ङ्घन करता है । प्र्यान् उनके श्रावार को निज्यित करता है। किन्तु, यह उसका हेनु-प्रत्यय नहीं है, क्यों कि उत्तर कलाप का नमुत्यान क्येश-कर्मवश होता है। यत. नये कलाप का हेनु-प्रत्यय कर्म या अनुह्म है, ग्रांर पूर्ववर्त्तों कलाप उनका समनन्तर-प्रत्यय है। चित्त-प्रवाह के उत्तरीत्तर चित्तों में ग्रिधक नमानता ग्रांर श्रानन्तर्य होता है, रूपी धर्मों में नहीं। अत. रूपी धर्म समनन्तर-प्रत्यय नहीं होने। वस्तुनः कामावचर-रूप के प्रनन्तर कदाचित् दो रूप कामावचर-रूप ग्रीर रूपावचार-रूप उत्तर होने है। कदाचित् कामावचर श्रीर श्रानन्तर वित्त कभी युगयत् नहीं होते हैं, किन्तु कामावचर-वित्त के श्रानन्तर कामावचर श्रीर रूपावचर वित्त कभी युगयत् नहीं उत्पन्न होने। रूपो का नम्मुखीभाव श्राकुल है, किन्तु समनन्तर-प्रत्यय श्राकुल-फल नहीं प्रवान करता। यन हो। धर्म स्नानन्तर-प्रत्यय नहीं है।

सामान्यत , पूर्व चैत वेवल स्वजाति के चैतों के नहीं, विन्तु अपर चैतों के भी समनन्तर-प्रत्यय है; किन्तु स्वजाति में जन्म से बहुतर की, और विपर्यय में बहुतर में अत्य की उत्पत्ति नहीं होती । यह 'समनन्तर' नम और अनन्तर इस शब्द को युवत सिद्ध करता है।

रूपी धर्मों के नमान चित्त-विश्रयुक्त नस्कारों का व्याकुल नम्मुखीभाव है, गत. वह समनन्तर-प्रत्यय नहीं है। वस्तुत. कामावचर प्राप्ति के अनन्तर वैधातुक और ग्रप्रतिन्युक्त (अनान्तवादि) धर्मों की प्राप्तियों का युगपन् नम्मुखीभाव होता है। अनागत धर्मों के नमनन्तर-प्रत्ययत्व का प्रतिषेध करते हैं। ग्रनागत धर्म व्याकुल है। ग्रनागत ग्रध्व में पूर्वोत्तर का ग्रभाव है. श्रत. भगवान् कैसे जानने हैं कि श्रमुक ग्रनागत धर्म की पूर्वोत्त्पत्ति होगी, ग्रमुक की पश्चात् होगी ?

याँकिचित् अपरान्त उत्पन्न होता है उन मवकी उत्पन्ति के क्रम को वह जानते हैं। वृद्ध-गुण और वृद्ध-गोचर अन्नेय है। मौद्यान्तिकों के अनुमार भरवान् मर्च वन्तु को अण्नो इच्छा के अनुसार प्रत्यक्षता — न कि अनुमानत , या निमित्तत — जानते हैं। दूमरे वहते हैं कि अनीत और साम्प्रत के अनुमान से उनका ज्ञान होता है। प्रन्य आचार्यों के अनुमार मत्त्वों के मन्तान में अनागत में उत्पन्न होनेवाले फलों का एक चिह्नभूत (लिंग) धर्म होना है, वह चिन-विप्रयुक्त संस्कार-विशेष है। भगवान् उनका ध्यान करने हैं। प्रगायन-प्रन को जानने हैं।

३. सालम्बन-प्रत्यय—सालम्बन भाव ने उपकारक धर्म आल स्वन-प्रत्यद है। सब धर्म, सस्वत सौर असस्वत चित्त-चैत्त के आलम्बन प्रत्यय है, दिन्तु अतिवत हण में नहीं। ध्वा सब हण चक्षविज्ञान सौर तत्न-प्रयुक्त चेदनादि चैन के आतम्बन हैं। शब्द श्रीव-दिज्ञान का भ्रालस्बन है। सब धर्म मनोविज्ञान सौर तत्न-प्रयुक्त चैन के आतम्बन हैं।

जब एक धर्म एक चित्त का आलम्बन होना है तद ऐना नहीं होना कि यह धर्म किसी क्षण में इन चित्त का आलम्बन न हो। ग्रथिन, यद्धि चलुर्वितान रूप को ग्रामस्टन रूप में ग्रहण नहीं करता, तथापि यह श्रालम्बन है, क्यों चि चाहे इसका ग्रहण श्रालम्बन-रूप में हो या न हो, इसका स्वभाव वही रहता है, यथा ईन्धन ईन्धन है, यद्यपि वह प्रदीप्त न हो।

४. प्रिविपति-प्रत्यय—प्रत्येक धर्म ग्रप्रत्यक्ष रूप से दूसरे धर्म को प्रभावित करता है। कारण-हेतु ग्रिधिपति-प्रत्यय कहलाता है। दो दृष्टियो से 'ग्रिधिपति-प्रत्यय' सज्ञायुक्त है। ग्रिधिपति-प्रत्यय वह प्रत्यय है, जो वहुधर्मों का है, ग्रौर जो वहुधर्मों का पित है ('ग्रिधिकोऽय प्रत्यय, ग्रिधिकस्य वा प्रत्यय')। सर्व धर्म मनोविज्ञान के ग्रालम्बन-प्रत्यय है। किसी चित्त के सहभू-धर्म उस चित्त के सदा ग्रालम्बन नहीं होते, वह उसके कारणहेतु होते हैं। ग्रत, कारण-हेतु होने से, न कि ग्रालम्बन-प्रत्यय होने से, सब धर्म ग्रिधिपति-प्रत्यय हैं। स्वभाव को वर्जित कर सब सस्कृत धर्म के कारण-हेतु है। कोई भी धर्म किसी भी नाम से स्वभाव का प्रत्यय नहीं होता। स्थविरवाद के ग्रनुसार ग्रिधिपति 'ज्येष्ठ' के ग्रथं में है। जिस-जिस धर्म के गुरुभाव से जिन-जिन ग्ररूप धर्मों की प्रवृत्ति होती है, वह-वह धर्म उन-उन धर्मों के ग्रिधिपति-प्रत्यय हैं। जब छन्द को ग्रागे करके चित्त प्रवृत्त होता है, तब छन्द ग्रिधिपति होता है, ग्रन्य चैतिसक नहीं। छन्द, वीर्य, चित्त, मीमासा, मख्यात चार धर्म, ग्रिधिपति-प्रत्यय हैं। इस प्रकार, हम देखेंगे कि इन दो ग्रथों में बडा ग्रन्तर है।

## प्रत्ययो का श्रध्वगत एव धर्मगत कारित्र

श्रध्वगत — प्रत्युत्पन्न, श्रतीत, श्रनागत इनमे से किस श्रवस्था में वे धर्म श्रवस्थान करते हैं, जिनके प्रति विविध प्रत्यय श्रपना कारित्र करते हैं ?

हम पहले हेतु-प्रत्यय की समीक्षा करते हैं। प्रत्युत्पन्न धर्म में दो हेतु कारित्न करते हैं। यह सहभू-हेतु ग्रीर सम्प्रयुक्त-हेतु है। ये सहोत्पन्न धर्म में ग्रपना कारित्न करते हैं। श्रनागत धर्म में तीन हेतू--सभाग॰, सर्वत्नग॰, विपाक॰ कारित्न करते है।

समनन्तर श्रमागत धर्म मे ग्रपना कारित्न करता है, यथा ग्रनागत धर्म में तीन हेतु ग्रपना कारित्न करते हैं। एक क्षण के चित्त-चैत्त उत्पन्न चित्त-चैत्तो को ग्रवकाण देते हैं।

ग्रालम्बन-प्रत्यय प्रत्युत्पन्न धर्म में ग्रपना कारित्र करता है, यथा प्रत्युत्पन्न धर्म में दो हेतु कारित्र करते है। ये प्रत्युत्पन्न धर्म चित्त-चैत्त है। ये ग्रालम्बक है, जो वर्त्तमान हो वर्त्तमान ग्रालम्बन ग्रहण का करते है। ग्रधिपति-प्रत्यय का कारित्र केवल इतना है कि यह ग्रनावरण-भाव से ग्रवस्थान करता है। यह वर्त्तमान, ग्रतीत, ग्रनागत धर्म मे ग्रावरण नहीं करता।

धर्मगत-विविध प्रकार के धर्म कितने प्रत्ययो के कारण उत्पन्न होते हैं?

चित्त ग्रीर चैत चार प्रत्ययो से उत्पन्न होते हैं। इसमें एक ग्रपवाद है। ग्रसिज-समापित ग्रीर निरोध-समापित में ग्रालम्बन का ज्ञान नहीं होता। ग्रत, इन-इन समापितयों में ग्रालम्बन-प्रत्यय को वर्जित करना चाहिए। इन दो समापित्तयों की उत्पत्ति चित्ताभिमस्कार से होती है, ग्रतः इनका समनन्तर-प्रत्यय है। यह समापित्त चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है। ग्रब, ये व्युत्यान-चित्त के समनन्तर-प्रत्यय नहीं है, यद्यपि ये उसके निरन्तर है। ग्रन्य चित्त-विप्रयुक्त सस्कार ग्रौर रूपी धर्म हेतु-प्रत्यय ग्रौर ग्रधिपित ° के कारण उत्पन्न होते हैं।

रूपी धर्मों के सम्बन्ध में इतना विशेष कहना है कि महाभूत ग्रीर भौतिक कैसे परस्पर हेतु-प्रत्यय होते हैं। पृथ्वी-धातु ग्रादि चार भूत, भूत-चतुष्क के सभाग-हेतु ग्रीर सहभू-हतु हैं। भूत-चतुष्टय रूप, रसादि भौतिकों के पाँच प्रकार से हेतु है—जनन-हेतु, निश्रय-हेतु, उपस्तम्भ-हेतु, उपवृहण-हेतु। भौतिक भूतों से उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर भूत का ग्रनुविधान करते हैं। भूतों का ग्राधार लेते हैं। पुन भूत भौतिकों के ग्रनुच्छेद ग्रीर वृद्धि में हेतु हैं। ग्रत, भूत भौतिकों के जन्म-हेतु, विकार-हेतु, ग्राधार-हेतु ग्रीर वृद्धिहेतु हैं।

भौतिक भौतिको के तीन प्रकार से हेतु है—सहभू<sup>0</sup>, सभाग<sup>0</sup> श्रौर विपाक-हेतु । हम कारण-हेतु का उल्लेख नही करते, क्योकि सब धर्म यब धर्मों के कारण-हेतु है ।

- 9. चित्तानुपरिवर्त्ति काय-वाक्-कर्म जो भौतिक है, ग्रौर संवर प्रकार के हैं (ध्यान-सवर ग्रौर ग्रनास्रव<sup>0</sup> ) सहभू-हेतु हैं।
  - २. सब उत्पन्न भौतिक सभाग-भौतिको के सभाग-हेतु है ।
  - ३. काय-वाक्-कर्म विपाक-हेतु हैं । चक्षु-कर्म विपाकादि से उत्पादित होता है ।

भौतिक एक प्रकार से भूतो के हेतु है। काय-वाक्-कर्म भूतो का विपाक-फल के रूप में उत्पाद करते है।

# स्थविरवाद के श्रनुसार प्रत्यव

स्थविरवाद के अनुसार २४ प्रत्यय है।

- १. हेतु-प्रत्यय—वह धर्म है, जो मूलभाव से उपकारक है। यह धर्मों को सुप्रतिष्ठित
   करता है, यथा शालि का शालि-बीज।
- २ म्रालम्बन $^0$  वह धर्म है, जो म्रालम्बनभाव से उपकारक है, यथा रूपायतन चक्षु- विज्ञान-धातु का म्रालम्बन $^0$  है ।
- ३. म्रधिपति<sup>0</sup>—वह धर्म है, जो गुरुभाव से उपकारक है। जब छन्द, अग्र और ज्येष्ठ होकर चित्त प्रवृत्त होता है, तब छन्द भ्रधिपति<sup>0</sup> होता है। दूसरा चैतसिक नही।
  - ४. ग्रनन्तर<sup>0</sup>—वह धर्म है, जो ग्रनन्तर भाव से उपकारक है।
- ४. समनन्तर<sup>0</sup>—वह धर्म है, जो समनन्तरभाव से उपकारक है। ये दोनो एक है, नाम का भेद है, ग्रर्थ मे भेद नही है। यथा चक्षुविज्ञान-धातु मनोधातु का श्रनन्तर<sup>0</sup> है। चक्षु- विज्ञान-धातु के ग्रनन्तर मनोधातु, मनोधातु के ग्रनन्तर मनोविज्ञान-धातु, यह चित्त-नियम है। यह नियम पूर्व-पूर्व चित्त के कारण समृद्ध होता है, श्रन्यथा नही। ग्रत, श्रपने-ग्रपने ग्रनन्तर श्रनुरूप चित्तोत्पाद के उत्पादन में समर्थ धर्म ग्रनन्तर<sup>0</sup> है।
- $\mathbf{\xi}$ . सहजात $^0$ —वह धर्म है, जो सहोत्पादभाव से उपकारक है। यथा प्रकाण का प्रदीप सहजात $^0$  है। चार श्ररूपी स्कन्ध एक दूसरे के सहजात-प्रत्यय है, इसी प्रकार चार

महाभूत है। चित्त-चैतसिक धर्म चित्त-समुत्थान रूप के सहजात-प्रत्यय है, महाभूत उपादाय-रूपें के हैं। रूपी धर्म ग्ररूपी धर्मों के कभी सहजात<sup>0</sup> होते हैं, कभी नहीं।

- ७. श्रन्योन्य<sup>0</sup>—वह धर्म है, जो उत्पाद उपष्टम्भभाव से उपकारक है, यथा विदण्ड, जो एक दूसरे का उपष्टम्भक है। चार श्ररूपी स्कन्ध श्रन्योन्य-प्रत्यय है। चार महाभूत श्रन्योन्य-प्रत्यय है।
- प्रतिश्रय<sup>0</sup>—वह धर्म है, जो ग्रधि ठान के ग्राकार में उपकारक है, यथा वृक्ष का निश्रय-प्रत्यय पृथ्वी है, चित्र का पट है, चक्षुरायतन चक्षुर्विज्ञान-धातु का निश्रय-प्रत्यय है।
- ६ उपनिश्रय<sup>0</sup>—वह धर्म है, जो वलवत्कारणभाव से उपकारक है। 'उप' का ग्रर्थ 'भृशम्' है। यह तीन प्रकार का है—-ग्रालम्बनोपनिश्रय, ग्रनन्तरूपनिश्रय, प्रकृत्युपनिश्रय।
- 9. जिम ग्रालम्बन को गुरु कर चित्त-चैतसिक की उत्पत्ति होती है, वह ग्रालम्बन वल-वत् होता है। यथा दान देकर, शील का समादान कर, उपोसथ कर्म कर, उसको गुरु ममझता है। यह ग्रालम्बनोपनिश्रय है।
- २ पश्चिम चित्त के उत्पादन में पूर्व चित्त की श्रनन्तरूपनिश्रयता है। पूर्व-पूर्व कुणल-स्कन्ध पश्चिम-पश्चिम कुशल स्कन्धो के श्रनन्तरूपनिश्रय हैं। यह वलवत् प्रत्यय है।
- ३ प्रकृत्युपनिश्रय वह धर्म है, जो प्रकृतिभाव से उपनिश्रय है। ग्रपनी सन्तान में निप्पा-दित श्रद्धा-शीलादि या उपसेवित ऋतु-भोजनादि प्रकृति है, यथा श्रद्धा के निश्रय लेकर दान देना, शील का समादान करना .इत्यादि।
- १० पूर्वजात<sup>0</sup>—वह धर्म है, जो प्रथमतर उत्पन्न होकर वर्त्तमानभाव से उपकारक है, यथा चक्षुरायतन चक्षुर्विज्ञान<sup>0</sup> का पुरोजात प्रत्यय है।
- ११ पश्चात्-जात<sup>0</sup>—वह ग्ररूप धर्म है, जो पूर्वजात रूप-धर्मी का उपस्तम्भकभाव से उपकारक है। पश्चाज्जात चित्त-चैतसिक धर्म पूर्वजात काय के पश्चाज्जात प्रत्यय है।
  - १२ श्रासेवन ° -- वह धर्म है, जो अनन्तरो का प्रगुणभाव से उपकारक धर्म है।
- १२. कर्म<sup>0</sup>—चित्त-प्रयोग सच्यात क्रियाभाव से उपकारक धर्म है। चेतना-सम्प्रयुवत धर्मों का और तत्यमुत्पन्न रूगो का कर्म-प्रत्यय है।
- १४ विपाक<sup>0</sup>—निरुत्साह णान्तभाव का उपकारक धर्म है। चार विपाक-स्कन्ध ग्ररूपी के विपाक-प्रत्यय है।
- १५ स्राहार<sup>0</sup>—इस काय का कवडीकार श्राहार श्राहार-प्रत्यय है। ग्ररूपी श्राहार सम्प्रयुक्त धर्मो के श्राहार-प्रत्यय है।
- १६. इन्द्रिय<sup>0</sup>—स्त्री-पुरुषेन्द्रिय को वर्जिन कर शेप २० इन्द्रिय श्रिधिपति रूप से उपकारक है।
  - ् १७ ध्यान⁰-यह ध्यानवण उपकारक धर्म है।
    - १८ मार्ग --मार्गा ग निर्याण के लिए उपकारक है।

- १६. सम्प्रयक्त°--सप्रयुक्त भाव से उपकारक धर्म।
- २० विप्रयक्त°--विप्रयुक्त भाव से उपकारक धर्म।
- २१ ब्रस्ति° प्रत्युत्पन्न लक्षणवश अस्तिभाव से तादृश धर्म का उपप्टम्भन करता है।
- २२ नास्ति°--यह समनन्तर निरुद्ध ग्ररूप धर्म है, जो ग्रनन्तर उत्पद्यमान ग्ररूप धर्मों को प्रवृत्ति का ग्रवकाश देता है।
- २३. विगत °—यह विगतभाव से उपकारक है। समनन्तर विगत चित्त-चैतिसक प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिको के विगत-प्रत्यय है।

२४ म्मविगत° -- मिन्तप्रत्यय धर्म ही म्मविगतभाव से उपकारक है। इन चौबीस प्रत्ययो को छ प्रकार से सगृहीत करते है--

- १ नाम ( ग्ररूपी धर्म ) का नाम से सम्बन्ध।
- २ नाम का नाम-रूप से सम्बन्ध।
- ३ नाम का रूप से सम्बन्ध।
- ४ रूप का नाम से सम्बन्ध।
- ५. प्रज्ञप्ति का नाम से सम्बन्ध।
- ६ नाम-रूप का नाम से सम्बन्ध।

ग्रन्तिम दो केवल ग्रभिधम्मत्थसगहो मे है।

- १. म्रनन्तर-निरुद्ध चित्त-चैतसिक धर्म प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिक धमो के भ्रनन्तर° समनन्तर°, नास्ति°, विगत° प्रत्ययवण प्रत्यय है। पूर्व चित्त-चैतमिक धर्म पश्चिम चित्त-चैतसिक के भासेवनवश प्रत्यय है। सहजातधर्म सप्रयुक्तवश अन्योन्य-प्रत्यय है।
- २ तीन अकुशल-हेतु और तीन कुशलहेतु में से कोई महजात चित्त-चैतसिक और रूप के प्रत्यय होते है । इसी प्रकार सांत ध्यान के ग्रग, बारह मार्गा ग नाम-रूप के प्रत्यय होते है । सहजान चेतना सहजात नामरूप का प्रत्यय होती है। नानाक्षणिका चेतना कर्मवण कम से श्रिभ-निर्वृत नाम-रूप का प्रत्यय होती है। विपाक-स्कन्ध विपाकवण महजात रूप के अन्योन्य-प्रत्यय है।
  - ३ पूर्वजात काय का पश्चाज्जात चित्त-चैतसिक धर्म पश्चाज्जात प्रत्यय है।
  - ४ पूर्वजात<sup>0</sup> वश रूप-नाम का प्रत्यय होता है । यथा चक्षुर्वम्तु चक्षुर्विज्ञान-धातु का ।
  - प्र श्रालम्बन<sup>0</sup> श्रीर उपनिश्रय<sup>0</sup> वण प्रज्ञप्ति-नामरूप नाम के प्रत्यय होते हैं ।
- म्रधिपति $^{0}$ , सहजात $^{0}$ , प्रन्योन्य $^{0}$ , निश्रम $^{0}$ , ग्राहार $^{0}$ , इन्द्रिय $^{0}$ , विप्रमुनन $^{0}$ , ग्रास्नि $^{0}$ , श्रवगत<sup>0</sup> वश नाम-रूप नाम के प्रत्यय होते हैं।

हेतु

१ कारण-हेतु--कोई धर्म अपना कारण-हेतु नहीं है। सब धर्म स्दन से अन्य सब सम्कृत धर्मी के कारण-हेतु है, क्योकि उत्पत्तिमान् धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का ग्रविष्नभाव से अवस्थान होता है। यह नहीं है कि उन सबका कारा भाव है। उस नक्षण ने यह परिणाम निकलता है कि सहभू-हेतु ग्रादि धर्म भी कारण-हेतु है। ग्रन्य हेतु कारण-हेतु के ग्रन्तर्गत है। जिस हेतु का कोई विशेष नाम नहीं है, जो विना किसी विशेषण के कारणमान है, वह कारण-हेतु है। एक विशेष नाम के योग से यह वह नाम पाता है, जो सब हेतुग्रों के उपयुक्त है।

कारण-हेतु का निर्देण हमने किया है। वह सामान्य निर्देश है, ग्रौर उसमें प्रधान कारण-हेतु तथा ग्रप्रधान कारण-हेतु दोनो सगृहीत है। प्रधान कारण-हेतु जनक है। इस ग्रथं में चक्षु ग्रौर रूप चक्षुर्विज्ञान के कारण-हेतु है, यथा ग्राहार शरीर का कारण-हेतु है, बीजादि ग्रकुरादि के कारण-हेतु है।

निर्वाण भी कारण-हेतु हो सकता है। एक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, निर्वाण उसका ग्रालम्बन है, पण्चात् इस मनोविज्ञान से एक चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, ग्रत चक्षुर्विज्ञान के प्रति निर्वाण का परम्परया सामर्थ्य है।

२ सहभू-हेतु—जो धर्म परस्पर पुरुपकार-फल (२।५६) है, वे समभू-हेतु कहलाते हैं। यह नहीं कहते कि सब सहभू-धर्म सहभू-हेतु हैं। यथा: नीलादि भौतिक रूप महाभूतों का सहभू है, किन्तु यह उनका सहभू-हेतु नहीं है।

यथा महाभूत अन्योन्य के सहभू-हेतु है, यथा चित्त और चित्तानुवर्त्ती, यथा जाति आदि लक्षण और वह धर्म, जो उनका लक्ष्य है।

सव सस्कृत धर्म यथायोग सहभू-हेतु है। जिन धर्मो का ग्रन्योन्यफलत्व है, उन्ही का सहभू-हेतुत्व है। सब सस्कृत धर्म ग्रीर उमके लक्षण एक दूसरे के सहभू-हेतु है, किन्तु एक धर्म श्रन्य धर्म के लक्षणो का सहभू-हेतु नही है।

पूर्व लक्षण मावशेष है। एक धर्म ग्रपने श्रनुलक्षणो का सहभू-हेतु है, किन्तु इसका उनके माथ श्रन्योन्य-फल-सम्बन्ध नही है, क्योंकि श्रनुलक्षण ग्रपने धर्म के महभू-हेतु नहीं है।

चित्तानुपरिवर्त्ती कौन है ? सब चित्त-सम्प्रयुवत धर्म, ध्यान-सवर ग्रौर ग्रनाम्नव-सवर, इन सबके ग्रौर चित्त के जात्यादिलक्षण चित्तानुपरिवर्त्ती है ।

अनुवर्ती चित्त से कालत सम्प्रयुक्त है, चित्त के साथ इनका एकोत्पाद, एक स्थिति, एक निरोध है, यह और चित्त एक अध्व मे पितत है। अनुवर्त्ती के उत्पाद, स्थिति और निरोध का काल वही है, जो चित्त का है। किन्तु, उनकी उत्पत्ति पृथक् है।

अनुवर्त्ती चित्त से फलादित सम्प्रयुक्त है। यहाँ फल पुरुपकार-फल भ्रौर विमयोग-फल है। 'श्रादि' से विपाक-फल भ्रौर निष्यन्द-फल का ग्रहण होता है। एक फल, एक विपाक, एक निष्यन्द से वह चित्त का अनुपरिवर्त्तन करते हैं।

अनुवर्त्ती चित्त से शुभादित सम्प्रयुक्त है। जिस चित्त का वह अनुपरिवर्त्तन करते हैं, उसी के सदृश कुशल, अकुणल, अव्याकृत होते हैं।

सर्वाल्पचित्त ५८ धर्मों का महभू-हेतु है, ग्रर्थान् १ दम महाभूमिक ग्रीर प्रत्येक के चार-चार लक्षण, २. चार स्वलक्षण ग्रीर चार श्रनुलक्षण।

यदि इन ५८ धर्मों में से चित्त के चार अनुसक्षणों को वर्जित कर दे, जिनका इस चित्त में कोई व्यापार नहीं है, तो ५४ धर्म शेप रहते हैं, जो उक्त चित्त के सहभू- हेतु होते हैं।

प्रत्येक धर्म, जो सहभू-हेतु से हेतु है, सहभू है। किन्तु, ऐसे सहभू है, जो सहभू-हेतु नहीं है।

- १ मूल धर्म के ग्रनुलक्षण इस धर्म के सहभू-हेतु नही है।
- २ यह अनुलक्षण अन्योन्य के महभू-हेतु नही है।
- ३ चित्तानुपरिवर्त्ती के अनुलक्षण चित्त के सहभू-हेतु नही है।
- ४. यह ग्रन्योन्य के सहभू-हेतु नहीं हैं।
- ५ नीलादि भौतिक रूप जो सप्रतिघ और सहज है, अन्योन्य के सहभू-हेतु नहीं है।
- ६. अप्रतिष और सहज उपादाय-रूप का एक भाग परस्पर सहभू-हेतु नही है। दो सबरो को वर्जित करना चाहिए।
  - ७ सर्व उपादाय-रूप यद्यपि भूतो के साथ उत्पन्न हुम्रा हो, भूतो का महभू-हेतु नहीं हैं।
  - प्राप्तिमान् धर्म के साथ महोत्पाद होने पर भी महज प्राप्ति उसका सहभू-हेतु नहीं होती।

यह ग्राठ प्रकार के धर्म सहभू है, किन्तु सहभू-हेतु नही है।

सहभू-हेतुत्व पर सौत्रान्तिक मतभेद— सौद्रान्तिक सहभू-हेतुत्व की ग्रालोचना करते हैं। वह कहते हैं कि लोक में कुछ का हेतु-फल-भाव नदा मुव्यवस्थापित है, हेतु फल का पूर्ववर्त्ती है, इसलिए बीज अकुर का हेतु है, अकुर काण्ड का हेतु है, इत्यादि। किन्तु सहोत्पन्न ग्रर्थों में यह न्याय नहीं देखा जाता। ग्रत, ग्रापको मिद्ध करना होगा कि सहभू धर्मों का हेतु-फल-भाव होता है। मर्वास्तिवादी ग्रपने मत के समर्थन में दो दृष्टान्त देते हैं। प्रदीप सप्रभ उत्पन्न होता हे, ग्रातप में उत्पद्यमान ग्रकुर सच्छाय उत्पन्न होता है। किन्तु, प्रदीप महोत्पन्न प्रभा का हेतु है, अकुर छाया का हेतु है। ग्रत, हेतु-फल महोत्पन्न है।

मौद्रान्तिक कहते हैं कि यह दृष्टान्त ग्रसिद्ध है । इनका सम्प्रधारण होना चाहिए कि प्रदीप सहोत्पन्न प्रभा का हेतु है, ग्रयवा जैना कि हमारा मत है, वित्तंस्नेहादिक पूर्वोत्पन्न हेतु-प्रत्यय-सामग्री सप्रभ प्रदीप की उत्पत्ति में हेतु है, यथा पूर्वोत्पन्न हेतु-सामग्री (बीज, ग्रातपादि,) ग्रकुर ग्रौर छाया की उत्पत्ति में, सच्छाय ग्रकुर की उत्पत्ति में हेनु है।

मर्वास्तिवादी—हेतु-फल-भाव इस प्रकार व्यवस्थापित होता है। हेतु का भाव होने पर फल का भाव होता है। हेतु का ग्रभाव होने पर फल का ग्रभाव होता है। हेनुविद् का लक्षण सुष्ठु है। जब 'क' के भाव-ग्रभाव से 'ख' का भाव-ग्रभाव नियमत होता है, तब 'क' हेनु है, 'ख' हेनुमान् है। इस प्रकार, यदि हम सहभू-धर्म ग्रीर सहमहेतु-धर्म का सम्प्रधारण

करते है, तव हम देखते है कि एक का भाव होने पर सवका भाव होता है, ग्रीर एक का ग्रभाव होने पर सवका श्रमाव होता है। ग्रत, उनका परस्पर हेतु-फल-भाव युक्त है।

सौत्रान्तिक—हम मानते हैं कि सहोत्पन्न धर्मों में एक धर्म दूसरे धर्म का हेतु हो सकता है। चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है, किन्तु सहोत्पन्न धर्म परस्पर हेतु ग्रीर फल कैंसे होगे ?

सर्वास्तिवादी—हमने जो हेतु-फल-भाव का निर्देश किया है, उससे ग्रन्योन्य हेतु-फल-भाव व्यवस्थापित होता है। जब चित्त का भाव होता है, तब चैत्तो का भाव होता है ग्रीर ग्रन्योन्य।

सौत्रान्तिक-किन्तु, उस ग्रवस्था में सर्वास्तिवादी को ग्रपने सिद्धान्त को वदलना होगा। वास्तव में, उन्होने उपादाय-रूप के ग्रन्योन्य हेतु-फल-भाव का निपेध किया है, यद्यपि रूप का रस के विना ग्रस्तित्व नहीं होता। उन्होने उपादाय-रूप ग्रीर महाभूतो के ग्रनु-लक्षण ग्रीर चित्त के ग्रन्योन्य हेतु-फल-भाव का प्रतिपेध किया है।

सर्वास्तिवादी —यथा विदण्ड का अन्योन्य-वल से अवस्थान होता है, उसी प्रकार सहभू चित्त-चैत्तादि का हेतु-फल-भाव सिद्ध है।

सौत्रान्तिक—इस नये दृष्टान्त की मीमामा होनी चाहिए। प्रश्न है कि क्या विदण्ड का अवस्थान सहोत्पन्न तीन दण्डो के वल से होता है अथवा क्या जिस प्रकार पूर्व सामग्रीवश उनका सहभाव होता है, उसी प्रकार पश्चात् अन्योन्याश्रित का उत्पाद नहीं होता? पुन: ग्रन्योन्य-वल के अतिरिक्त अन्य किचित् भी यहाँ होता है—सूत्रक, णकुक, धारिका पृथिवी।

किन्तु, सर्वास्तिवादी का कहना है कि सहभू के हेतु से ग्रन्य हेतु भी होते है, ग्रर्थात् सभाग-हेतु, सर्वत्नग-हेतु, विपाक-हेतु जो सूत्रकादि स्थानीय है । ग्रतः, सहभू-हेतु मिद्ध है ।

३. सभाग-हेतु — सदृण धर्म मभाग-हेतु है। सभाग सभाग के मभाग-हेतु है। पाँच कुशल-स्कन्ध पाँच कुशल-स्कन्ध के मभाग-हेतु हैं।

एक निकाय-सभाग मे प्रथम गर्भावस्था दस ग्रवस्थाग्रो का सभाग-हेतु है। प्रत्येक ग्रवस्था का पूर्व क्षण इस ग्रवस्था के ग्रपर क्षणो का सभाग-हेतु है। समानजातीय ग्रनन्तर निकाय-सभाग मे पूर्वजन्म की प्रत्येक दस ग्रवस्थाग्रो का सभाग-हेतु है। यव, ब्रीहि ग्रादि बाह्य ग्रथों का भी ऐसा ही है। सभाग-हेतुत्व स्वमन्तान में ही होता है। यव का सभाग-हेतु है, शालि का नही।

सव सभाग-धर्म सभाग-धर्मों के सभाग-हेतु नहीं है। वे सभाग-धर्म सभाग-हेतु हैं, जो स्विनकाय ग्रीर स्वभूमि के हैं। स्वभूमि का नियम केवल सास्रव धर्मों के लिए हैं, ग्रनास्रव धर्मों के लिए नहीं हैं। धर्म पाँच निकायों में विभक्त हैं, यथा वह चार सत्यों में से एक-एक के दर्शन से हेय हैं, या भावना-हेय हैं। धर्मों की नी भूमियाँ है वे, कामधातु के हैं। चार ध्यानों में से किसी एक के हैं, या चार ग्रारूप्यों में से किसी एक के हैं। दुख-दर्शन-

हेय-धर्म दुख° धर्म का सभाग-हेतु है। ग्रन्य चार निकायो के धर्मों का नही है। दुख° धर्मों में जो कामधातु का है, वह कामधातु के धर्म का सभाग-हेतु है.. एवमादि।

वस्तुतः, केवल वह धर्मं सभाग-हेतु है, जो अग्रज है। पूर्वोत्पन्न ( अग्रज ) अतीत पश्चात् उत्पन्न अतीत सभाग-धर्म का सभाग-हेतु है। पूर्वोत्पन्न, प्रत्युत्पन्न, पश्चात् उत्पन्न, सभाग-धर्म सभाग-हेतु है। अग्रज अतीत-प्रत्युत्पन्न, पश्चात्-उत्पन्न अनागत सभाग-धर्मों का सभाग-हेतु है। किन्तु, अनागत-धर्म सभाग-हेतु नहीं है। इस विषय में ऐकमत्य नहीं है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वभूमि का नियम अनास्रव धर्मों के लिए नही है। नव-भूमिक मार्ग अन्योन्य का सभाग-हेतु है। मार्ग इस अर्थ में नवभूमिक हैं कि योगी समापित्त की इन नौ अवस्थाओं मे—अनागम्य, ध्यानान्तर, चार मूल ध्यान, प्रथम तीन अधर आरूप्य में विहार कर मार्ग की भावना कर सकता है। तुल्य-भूमि-भेद में मार्ग-धर्म मार्ग-धर्म में सभाग-हेतु हैं। वस्तुत, इन भूमियों में मार्ग आगन्तुक-सा है, यह भूमियों के धातुओं में पतित नहीं है।

कामावचर, रूपावचर, ग्रारूप्यावचर तृष्णा मार्ग को स्वीकृत नही करती । चाहे जिस भूमि का मन्निश्रय लेकर योगी मार्ग की भावना करता हो, मार्ग समानजातीय रहता है, ग्रत. मार्ग मार्ग का सभाग-हेतु है ।

सर्व मार्ग सर्व मार्ग का मभाग-हेतु नहीं होता। जिस भूमि में इसकी भावना होती है, उसका सम्प्रधारण नहीं करना है, किन्तु मार्ग के स्वलक्षणों का विचार करना है। मार्ग सम या विशिष्ट मार्ग का सभाग-हेतु है, न्यून मार्ग का नहीं, क्योंकि मार्ग मदा प्रयोगज है।

जब ग्रतीत या प्रत्युत्पन्न दु खे धर्म॰ उसी (प्रथम क्षण) प्रकार की ग्रनागत क्षान्ति का सभाग-हेनु होता है, तब कार्यमार्ग कारणमार्ग के सम होता है। यह क्षान्ति द्वितीय क्षण का सभाग-हेनु होती है, तब कार्यमार्ग कारणमार्ग से विणिष्ट होता है, एवमादि यावत् ग्रनुत्पादज्ञान, जो ग्रपना विणिष्ट न होने से केवल सम मार्ग का सभाग-हेनु हो सकता है। प्रयोगज लौकिक धर्म सम या विणिष्ट धर्मों के सभाग-हेनु है, हीन धर्मों के नहीं। प्रायोगिक धर्म श्रुतमय, चिन्तामय, भावनामय है। ये उपपत्ति-प्रतिलम्भिक धर्मों के प्रतिपक्ष है। प्रायोगिक होने से ये हीन के सभाग-हेनु नहीं होते। कामावचर श्रुतमय धर्में कामावचर श्रुतमय ग्रौर चिन्तामय धर्मों के सभाग-हेनु है, भावनामय धर्मों के नहीं, क्योंकि कामधानु में भावनामय का ग्रभाव होता है, क्योंकि कोई भी धर्म स्वधानु के धर्मों का ही सभाग-हेनु होता है। रूपावचर श्रुतमय धर्मे क्पावचर श्रुतमय ग्रौर भावनामय धर्मों के सभाग-हेनु है, चिन्तामय धर्मों के नहीं, क्योंकि इस धानु में जब चिन्तन ग्रारम्भ करते है, तब समाधि उपस्थित होती है। रूपावचर भावनामय धर्मे के सभाग-हेनु है, स्वावचर श्रुतमय धर्मों के नहीं, क्योंकि इस धानु में जब चिन्तन ग्रारम्भ करते है, तब समाधि उपस्थित होती है। रूपावचर भावनामय धर्मों के सभाग-हेनु है, स्वावचर श्रुतमय धर्मों के नहीं, क्योंकि यह हीन है, एवमादि।

४. सम्प्रयुक्तक-हेतु-केवल चित्त ग्रीर चैन जिनका ग्रिभिन्न ग्राश्रय है, सम्प्रयुक्तक-हेनु है। भिन्न कालज, भिन्न सन्तानज चित्त-चैत्त सम्प्रयुक्तक-हेतु नहीं है। यथा चक्षुरिन्द्रिय का एक

क्षण एक चक्षुर्विज्ञान तथा विज्ञान-सम्प्रयुक्त वेदना ग्रीर ग्रन्य चैतों का ग्राश्रय है। जो सम्प्रयुक्तक-हेतु है, वह सहभू-हेतु भी है। इन दो हेतुग्रो में क्या भेद है । धर्म सहभू-हेतु कहलाते है, क्योंकि वे ग्रन्योन्य-फल है। यथा सहसार्थिको का मार्ग-प्रयाण परस्पर वल से होता है, इसी प्रकार चित्त चैत्त का फल है, चैत्त चित्त का फल है। धर्म सम्प्रयुक्तक-हेतु कहलाते है, द्योंकि उनकी सम-प्रवृत्ति होती है, ग्रर्थात् उनमें पूर्वनिर्दिष्ट पाँच समता—ग्राश्रय, ग्रालम्बन, ग्राकार, काल, द्रव्य-समता—होती है। सहसार्थिको की याद्या ग्रन्योन्य बल से होती है, पुनः उनकी सम-ग्रन्नपानादिपरिभोग-किया होती है। इसी प्रकार, चित्त ग्रीर चैत्त के ग्रिभन ग्राक्षय, ग्रिभन्न ग्राकारादि होते है। यदि पाँच समताग्रो में से किसी एक का भी ग्रभाव हो, तो उनकी समप्रवृत्ति नहीं होती ग्रीर वह सम्प्रयुक्त नहीं होते।

४. सर्वत्रग-हेतु—ग्यारह श्रनुशय 'सर्वत्रग' कहे गये है, क्योंकि ये श्रपने धातु को साक्त्यत ग्रालम्बन बनाते हैं। इमका यह श्रयं नहीं है कि सर्वत्रग युगपत् सकल स्वधातु को ग्रालम्बन बनाते हैं, किन्तु पचप्रकार (निकाय) का धातु इनका ग्रालम्बन होता है। ये ग्यारह श्रनुशय इस प्रकार है—इ खदर्शन-प्रहेय पाँच दृष्टियाँ, समुदयदर्शन-प्रहेय मिथ्या° दृष्टि°, दु ख-समुदयप्रहेय ग्रविद्या-द्वय।

पूर्व सर्वत्नग स्वभूमिक पश्चिम क्लिप्ट धर्मी के सर्वत्नग-हेतु है। सर्वग क्लिप्ट धर्म के ही सामान्य कारण है। ये निकायान्तरीय क्लिप्ट धर्मों के भी हेतु है। इनके प्रभाव से अन्य निकायों में उत्पन्न क्लेश सपरिवार उत्पन्न होते हैं। अतः, सभाग-हेतु से पृथक् इनकी व्यवस्था होती है। सर्वत्नग सर्वक्लेश निकायों को प्राप्त होते है, सर्वभाक् होते है, सवको आलम्बन बनाते है।

यह हेतु सभाग-हेतु से ग्रधिक व्यापक है, क्योंकि यह स्विनकाय में सीमित नहीं है।

द. विषाक-हेतु — अकुशल-धर्म और कुशलसास्रव-धर्म विपाक-हेतु है। ये केवल विपाक-हेतु है, क्योंकि इनकी विपिक्त की प्रकृति है। अन्याकृत धर्मों में स्वपिक्त का अभाव होता है। वे दुर्वल है, अत वे विपाक-हेतु नहीं है। अनास्रव धर्मों में सहकारिकारण नहीं होता। वह तृष्णा से अभिष्यिन्दित नहीं है, अत वह विपाक-हेतु नहीं है, यथा सारवीज जल से अभिष्यिन्दित न होने पर अकुर की अभिनिवृत्ति नहीं करते। पुन अनास्रव धर्म किसी धातु में प्रतिसयुक्त नहीं है। जो धर्म अव्याकृत और अनास्रव नहीं है, वे उभय प्रकार से, अर्थात् स्ववल, अर्थात् तृष्णाभिष्यन्व से अन्वित होते हैं, और विपाक को निर्वृत करते हैं, यथा अभिष्यन्दित सारवीज।

'विपाक' का श्रर्थ है 'विसदृश पाक'। केवल विपाक-हेतु एक विसदृश पाक ही प्रदान करता है। सहभू, सम्प्रयुक्तक, सभाग, सर्वंत्रग हेतु के पाक सदृश ही होते हैं। कारण-हेतु का फल सदृश या विसदृश होता है। केवल विपाक-हेतु नित्य विमदृश फल देता है, क्यों कि विपाक-हेतु कभी श्रन्याकृत नहीं होता, श्रीर उसका फल सदा श्रन्याकृत होता है। वस्तुत , कर्म दो प्रकार के होते हैं — एक जिनका फल विचित्र है, दूसरे जिनका फल प्रविचित्र है, वाह्य बीजवत् ।

एकाध्विक कर्म का विपाक त्रैयध्विक होता है, किन्तु विपर्यय नहीं होता, क्यों कि फल हेतु से अति न्यून नहीं होता। एकक्षणिक कर्म का विपाक वहुक्षणिक हो सकता है, किन्तु उसी कारण से विपर्यय ठीक नहीं है। कर्म के साथ विपाक विपच्यमान नहीं होता, क्यों कि जिस क्षण में कर्म का अनुष्ठान होता है, उस क्षण में विपाक-फल का आस्वादन नहीं होता। कर्म के अनन्तर भी विपाक नहीं होता, क्यों कि समनन्तर क्षण समनन्तर-प्रत्यय से आकृष्ट होता है। वस्तुतः, विपाक-हेतु अपने फल के लिए प्रवाहां पेक्ष है।

सर्वत्नग-हेतु और सभाग-हेतु दो अध्व के होते हैं। शेप तीन हेतु त्यध्वक है। अतीत प्रत्युत्पन्न धर्म सर्वत्नग सभाग-हेतु हो सकते है। अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्म सम्प्रयुवतक, सहभू और विपाक-हेतु हो सकते है। सर्वाध्वग सरकृत-धर्म कारणहेतु है। असस्कृत धर्म अध्व-विनिर्मु कत है।

फल

ं वह कौन फल है, जिनके ये पूर्वोवत हेतु है ? किन फलो के कारण ये हेतु ग्रवधारित होते हैं ?

सस्कृत ग्रीर विसयोग फल है। विसयोग-फल निर्वाण है। यह एक ग्रसस्कृत है। यह ग्रहेतुक है। इसका फल नहीं है, किन्तु यह कारण-हेतु है, ग्रीर फल है। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि केवल सस्कृत के हेतु-फल होते हैं, ग्रसस्कृत के हेतु ग्रीर फल नहीं होते, क्योंकि पड्विध हेतु ग्रीर पचिवध फल ग्रसस्कृत के लिए ग्रसम्भव है। यदि ऐसा है, तो विसयोग फल कैसे है? यह किसका फल है? यह मार्ग का फल है, क्योंकि इसकी प्राप्ति मार्ग-वल से होती है। दूसरे शब्दों में योगी मार्ग से विसयोग की प्राप्ति का प्रतिलाभ करते हैं, ग्रत विसयोग का प्रतिलाभ, उसकी प्राप्ति-मार्ग का फल है। विसयोग स्वय फल नहीं है, क्योंकि मार्ग का मामर्थ्य विसयोग की प्राप्ति के प्रति है। विसयोग के प्रति उसका ग्रमामर्थ्य है।

हेतु के स्राधार पर फल-निवृंति की व्यवस्था—स्रव हम वताते है कि किम प्रकार के हेतु से किम प्रकार का फल निवृंत होता है।

विपाक विपाक-हेतु का फल है। निपाक कुशल या अकुशल नास्त्रव धर्मों में उत्पादित होता है। हेतु कुशल या अकुशल है, किन्तु फल मदा अव्याकृत है, क्योंकि यह फल स्वहेतु से भिन्न है, और 'पाक' है, इसलिए इसे 'विपाक' कहते हैं।

भाजन-लोक मत्त्व-समुदाय के कुशल-म्रकुशल कर्मों से जनित है। यह ग्रव्याकृत है, किन्तु यह विपाक नहीं है, क्योंकि विपाक एक मत्त्व-सर्यात धर्म है। ग्रत, यह कारणहेनुभृत वर्मों का ग्रिविपति-फल है। कारण-हेतु से ग्रिधिपति-फल निर्वृत होना है।

किन्तु, यह कहा जायगा कि ग्रनावरण-भावमात्रावस्थान ही कारण-हेनु है। इसको 'श्रिधिपति' कैसे मान सकते है ? कारण-हेतु या तो 'उपेक्षक' है, उस ग्रवस्था में इसे ग्रिब-पित ग्रवधारण करते है, क्योंकि इसका ग्रनावरणभाव है। ग्रथवा यह 'कारक है ग्रीन

इसे अधिपित मानते हैं, क्यों कि इसका प्रधानभाव, जनकभाव और अगीभाव है, यथा दस आयतन (रूपादि और चक्षुरादि) पच विज्ञानकाय की उत्पत्ति में अधिपित है, और सत्त्वों के ममुदित कर्म का भाजन-लोक के प्रति अगीभाव है। श्रोत्र का चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में पार-म्पर्येण आधिपत्य है, क्यों कि सुनकर द्रष्टुकामता की उत्पत्ति होती है, एवमादि।

निष्यन्द<sup>0</sup> सभाग श्रीर सर्वत्नग-हेतु का फल है, क्योकि इन दो हेतुश्रो का फल स्वहेतु के सदृश है। श्रत, इन दो हेतुश्रो से निष्यन्द-फल निर्वृत होता है।

पुरुषकार (पीरुष-फल) सहभू-हेतु और सम्प्रयुक्तक-हेतु का फल है। पुरुषकार पुरुष-भाव से व्यतिरिक्त नहीं है, क्योंकि कर्म कर्मवान् से ग्रन्य नहीं है।

जिस धर्म का जो कारित्र है, वह उसका पुरुषकार कहलाता है, क्योंकि वह पुरुषकार के सदृश है। एक मत के अनुसार विपाक-हेतु को छोड़कर अन्य हेतुओं का भी यही फल होता है। वस्तुत, यह फल सहोत्पन्न है या समनन्तरोत्पन्न है, किन्तु विपाक-फल ऐसा नहीं है। अन्य आचार्यों के अनुसार विपाक-हेतु का एक विप्रकृष्ट पुरुषकार-फल भी होता है।

ग्रव भिन्न फलो के लक्षण का विचार करते है।

विपाक एक ग्रन्याकृत धर्म है। यह सत्त्वाख्य है। यह उत्तरकाल मे व्याकृत से उत्पन्न होता है। ग्रकुणल ग्रीर कुशल सास्रव कर्म से उत्तरकाल मे युगपत् या ग्रनन्तर नही। जो होता है वह विपाक-फल है। विपाक-फल स्वकीय है, जिस कर्म की निष्पत्ति मैंने की है, उसके विपाक-फल का भोग दूसरा नहीं करता है।

हेतुसदृश-फल निष्यन्द कहलाता है। सभाग-हेतु ग्रौर सर्वव्नग-हेतु यह हेतु-द्वय निष्यन्द-फल प्रदान करते हैं। सर्वव्नग-हेतु का फल १. भूमित सदा हेतु 'सदृश' है, २. क्लिष्टतया हेतु-सदृश है, किन्तु प्रकारत उसका हेतु से सादृश्य नहीं है। प्रकार (निकाय) से ग्रभिप्राय प्रहाण-प्रकार से है—दु खादिसत्यदर्शन प्रहातव्य। किन्तु जिमका प्रकारत भी सादृश्य होता है, वह सर्वव्नग-हेतु मभाग-हेतु भी ग्रम्युपगत होता है। ग्रतएव, चार कोटि है—

१. ग्रसर्वत्नग मभाग-हेतु —यथा रागादिक स्वनैकायिक क्लेश का सभाग-हेतु है। सर्वत्नग-हेतु नहीं है।

२. ग्रन्य नैकायिक सर्वत्नग-हेतु—सर्वत्नग क्लेण ग्रन्य नैकायिक क्लेण का सर्वत्नग-हेतु है; मभाग-हेतु नहीं है।

३ एक नैकायिक मर्वत्नग-हेतु — सर्वत्नग क्लेण एक नैकायिक क्लेण का सभाग-हेतु और सर्वत्नग-हेतु है।

४. इन ग्राकारो को वर्जित कर ग्रन्य धर्म न सभाग-हेतु है ग्रीर न मर्ववग-हेतु । विसयोग या विमयोग-फल क्षय (निरोध) है, जो प्रज्ञा से प्रतिलब्ध होता है । ग्रत , विसयोग प्रतिसच्या-निरोध है ।

जिस धर्म के वल से जो उत्पन्न होता है, वह धर्म उसका पुरुपकार-फल है। यह धर्म सस्कृत है। दृष्टान्त : उपरिभूमिक समाधि श्रधरभूमिक तत्प्रयोग चित का पुरुपकार-फल है।

प्रतिसख्या को पुरुषकार-फल ग्रवधारित करते हैं, किन्तु इस फल के लक्षण निरोध में नहीं घटते, क्योंकि नित्य होने से वह उत्पन्न नहीं होता। ग्रत, हम कहते हैं कि यह उस धर्म का पुरुषकार-फल है, जिसके वल से प्रतिसख्या<sup>0</sup> प्राप्त होती है।

पूर्वोत्पन्न से ग्रन्य सर्व सस्कृत धर्म सस्कृत धर्मो का ग्रधिपति-फल है।

कर्त्ता का पुरुषकार-फल है। ग्रिधपित-फल कर्त्ता ग्रीर ग्रकर्ता दोनो का है। यह दोनो मे विशेष है। यथा: शिल्पकारक शिल्पी का पुरुपकार<sup>0</sup> ग्रीर ग्रिधिपित<sup>0</sup> है। ग्रिशिल्पी का यह केवल ग्रिधिपित-फल है।

पाँच हेतु वर्त्तमान अवस्था मे फल-ग्रहण करते हैं। दो वर्त्तमान अवस्था मे फल-प्रदान करते हैं। दो वर्त्तमान और अतीत प्रदान करते हैं। एक अनीत प्रदान करता है। एक धर्म फल का प्रतिग्रहण करता है, जब यह बीजभाव को उपगत होता है। एक धर्म फल का दान उस काल मे करता है, जब वह इस फल को उत्पन्न होने का मामर्थ्य प्रदान करता है, अर्थात् जिम क्षण मे उत्पादाभिमुख अनागत फल को यह धर्म वह वल देता है, जिससे वह वर्त्तमानवस्था मे प्रवेश करता है।

पाँच हेतु वर्त्तमान होकर अपने फल का प्रतिग्रहण करते हैं। कारण-हेतु का उल्लेख नहीं है, क्योंकि यह हेतु अवश्यमेव सफल नहीं है। दो हेनु वर्त्तमान होकर अपना फल प्रदान करते हैं। वर्त्तमान सहभू-हेतु और सम्प्रयुक्तक ही फल प्रदान करने हैं। वस्तुत, यह दो हेतु एक काल में फल का प्रतिग्रहण और दान करने हैं।

दो हेतु—सभाग और सर्वव्रग—वर्त्तमान और अतीत अवस्था मे फल-प्रदान करते हैं। वर्त्तमानावास्था मे वह कैसे निष्यन्द-फल प्रदान करते हैं है हम ऊपर कह चुके हैं कि यह हेतु अपने फल से पूर्व होते हैं। ऐसा इमलिए कहते हैं, क्योंकि वह फल का समनन्तर निर्वर्त्तन करते हैं। जब उनके फल की निर्वृति होती है, तब वह अभ्यतीत होने हैं। वह पूर्व ही फल-प्रदान कर चुके हैं। वह पुन उमी फल को नहीं देते। हम पाच फलों का विचार कर चुके हैं।

पाइचात्य श्राचार्यों के श्रन्य चार फल--पाण्चात्य श्राचार्य कहते हं कि पूर्वोक्त पाँच फलो से भिन्न चार फल है।

- १. प्रतिष्ठा-फल--जलमण्डल वायुमण्डल का प्रतिष्ठा-फल है ग्रीर एवमादि यावन् ग्रोषधि प्रभृति महापृथिवी का प्रतिष्ठा-फल है।
  - २ प्रयोग-फल---- अनुत्पादज्ञानादि अणुभादि का प्रयोग-फल है।
  - 3. सामग्री-फल—चक्षुविज्ञान चक्षु, रूप, ग्रालोक ग्रौर मनस्कार का नामग्री-फल है।
- ४ भावना-फल—निर्माण चित्त घ्यान का भावना-फल है। सर्वास्त्रियादी के अनुसार इन चारो फलो में से प्रथम अधिपति-फल में अन्तर्भूत है। अन्य तीन पुन्यकार-फल में सगृहीत है।

## लोकधातु

लोकधातु तीन है-कामधातु, रूपधातु ग्रीर ग्रारूप्यधातु।

कामधातु का ग्रर्थ काम-सम्प्रयुक्त धातु है। कामधातु के ग्रन्तर्गत चार गित साकल्येन है, देवगित का एक प्रदेश है, ग्रीर भाजनलोक है। भाजनलोक में सत्त्व निवास करते हैं।

चार गित ये हैं — नरक, प्रेत, तिर्यक् और मनुष्य । बुद्धघोप के अनुसार असुर-काय भी एक गित है। नरक (निरय), प्रेत और तिर्यक् अपाय-भृमि है। कामधातु में छ देवनिकाय है। मनुष्य और छ देवनिकाय काम-मुगित-भूमि है।

छ देवनिकाय इस प्रकार हं — चातुर्महाराजिक, वयस्त्रिश, याम, तुपित, निर्माणरित, श्रीर परनिर्मितवशवर्ती नरक-द्वीप भेद से कामबातु मे वीम स्थान हं — श्राठ नरक, चार द्वीप, छ देवनिकाय, प्रेत श्रीर तिर्यक्।

त्राठ नरक ये हैं — सजीव, कालसूब, सघात, रीरव, महारौरव, तपन, प्रतापन श्रीर श्रवीचि।

चार द्वीप ये हैं--जम्बू, पूर्व-विदेह, ग्रवरगोदानीय ग्रौर उत्तरकुर । ग्रत, ग्रवीचि से परिनिर्मितवशवर्त्ती तक वीस स्थान होते हैं। वुद्धघोप की सूची मे नरक-भेद परिगणित न कर केवल ग्यारह प्रदेश हैं।

कामधातु से ऊर्ध्व रूपधातु के सोलह स्थान है। इस धातु मे चार ध्यान है। स्थविर-वादियों के अनुसार चार या पाँच ध्यान होते हैं। चतुर्थ से अन्यत प्रत्येक ध्यानलोक तिभूमिक है। चतुर्थ ध्यान अष्टभूमिक है। रूपधातु मे रूप है, किन्तु धातुकाय से वियुक्त है। आरूप्यधातु मे स्थान नहीं है। वस्तुत, अरूपी धर्म अदेशस्थ है, किश्तु उपपत्तिवश यह चतुर्विध है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, ग्राकिचन्यायतन, नैवसज्ञानासज्ञायतन (भवाग्र)। उपपत्ति से कर्म-निर्वृत जन्मान्तर की स्कन्ध-प्रवृत्ति समझना चाहिए। एक ही कम से इन विविध आयतनी का लाभ नहीं होता। यह आयतन एक दूसरे में ऊर्ध्व हैं, किन्तु इनमें देशकृत उत्तर और अधर-भाव नहीं हैं। जिस स्थान में समापत्ति से समन्वागत आश्रय का मरण होता है, उस स्थान में उक्त उपपत्ति की प्रवृत्ति होती है।

ग्रिभधर्मकोश में इस विविध भूमियों का सिवस्तर वर्णन है। हम यह वर्णन न देंगे, किन्तु हमको यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतीत्यसमुत्पाद का सब लोको पर प्रभाव है। सब गितयाँ कर्मवश होती है। जिस प्रकार बीज से अकुर और पत्न होते हैं, उसी प्रकार क्लेशवण कर्म और वस्तु होते हैं। भवचक ग्रनादि है। लोको का विवर्त्तन-सवर्त्तन होता रहता है। जब सत्त्वों के सामुदायिक कर्म क्षीण होते हैं, तब भाजनलोक का क्षय होता है। पुन, जब ग्राक्षेपक कर्मवश ग्रनागत भाजनलोक के प्रथम निमित्त प्रादुर्म्, त होते हैं, तब बायु की वृद्धि होती है, ग्रीर पीछे मर्ब भाजन की उत्पत्ति होती है।

प्रत्येक करप में बुद्ध का प्रादुर्भाव होता है। उनका उत्पाद मत्त्वों का निर्वाण में प्रवेश कराने के लिए होता है। एक ही समय में दो बुद्ध नहीं उत्पन्न होते। सूत्रवचन है कि यह स्थान है कि लोक में दो तथागत युगपत् हो। एक भगवत् मर्वत्न प्रयुक्त होते हैं। जहाँ एक भगवत् सत्त्वो को विनीत करने मे प्रयुक्त नही है, वहाँ अन्य भगवत् नही होते। कुछ निकायो के अनुमार बुद्ध युगपन् होते हैं, किन्तु एकत्र नही होते, भिन्न लोकधातुओं में होते हैं। लोकधातु अनन्त है। सर्व लोकधातु में विचरना कठिन है। अत, अपना कार्य करने के लिए भिन्न लोकधातुओं में कई तथागत एक माथ हो सकते हैं।

यहाँ प्रश्न यह है कि सवर्त्त और विवर्त्त के वीच के काल मे क्या होता है ? सवर्त्तनी का यह प्रभाव होता है कि विनष्ट भाजन का एक भी परमाणु अविशिष्ट नहीं रहता । किन्तु, वैशोषिक कहते हैं कि परमाणु नित्य है, और इसलिए जब लोकधातु का नाश होता है, तब यह अविशिष्ट रहते हैं। वास्तव मे, इनका कहना है कि यदि अन्यया होता, तो स्थूल शरीर की उत्पत्ति अहेतुक होती। वसुबन्धु का उत्तर है कि अपूर्व लोकधातु का वीज वायु है। यह वायु आधिपत्य विशेष से युक्त होता है। टन विशेषों का प्रभव सत्त्वों के कर्म से होता है, और इस वायु का निमित्त अविनष्ट रूपावचर वायु है। वैशोषिक कहते हैं कि वीज केवल निमित्तकारण है, समवायिकारण नहीं। उनके अनुसार अकुर के जनन में इसके अन्यत्न कि यह अतुर के परमाणुओं का उपसर्पण करता है, वीज का कुछ भी सामर्थ्य नहीं है। इमके प्रतिकूल बौद्ध मानते हैं कि बीज में ऐसी शक्ति है, जो अकुर-काण्डादि के स्थूल भावों को उत्पन्न करती है।

## श्रनुशय

कर्म् अनुशयवश उपचित होते हैं। अनुशयों के विना कर्म पुनर्भव के अभिनिवर्त्तन में समर्थ नहीं होते। भव का मूल, अर्थात् पुनर्भव या कर्मभव का मूल अनुशय है। अनुशय अणु हैं। यह अनुसक्त होते हैं। क्लेशों के समुदाचार के पूर्व इनका प्रचार दुविज्ञेय हैं। अत, यह अणु हैं। यह आलम्बनत और सम्प्रयोगत अनुशयन करते हैं, अर्थात् प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं, या पुष्टि-लाभ करते हैं। इनका निरन्तर अनुबन्ध होता है, क्योंकि विना प्रयोग के और प्रतिनिवारित होने पर भी इनका पुन समुखीभाव होता है। अनुशय हरण करते हैं, अत इन्हें ओघ कहते हैं। अनुशय आश्लिष्ट करते हैं, अत इन्हें योग कहते हैं। अनुशय उप-ग्रहण करते हैं, अत इन्हें उपादान कहते हैं। अनुशय शिल्प के स्वांजन है। अनुशय छ है — राग, प्रतिघ, मान, अविद्या, वृष्टि और विमति। यह छ राग-भेद से मान होते हैं। राग दो प्रकार के हं — कामराग और भवराग। पाँच रूपी इन्द्रियों के रूपशब्दादि आलम्बनों में राग 'कामराग' है। रूपधातु और आरूपधातु के प्रति जो राग होता है, वह भवराग कहलाता है, क्योंकि इनकी अन्तर्भुं खी वृत्ति है। और, इस सज्ञा की व्यावृत्ति के लिए भी कि यह दो धातुमोछ है, इसे भवराग कहते हैं। इन अनुशयों में से कुछ दर्शन-हेय हैं और कुछ भावना-हेय।

# क्षान्ति, ज्ञान तथा दर्जन-दृिट

'क्षान्ति' का अर्थ क्षमण, रुचि हे । यह 'क्षान्ति' क्षान्ति-पारामना से भिन्न है । यह सत्य-दर्शन-मार्ग मे सगृहीन अनास्रव क्षान्तियों से सम्बन्ध रखनी ह, किन्तु यह सास्रव, नानिक है ।

'क्षान्ति' सज्ञा इसलिए है, क्योकि इस ग्रवस्था में ग्रधिमात्र सत्य रुचते है। क्षान्तियो का वद्धंन धर्मस्मृत्युपस्थान से ही होता है, ग्रनय म्मृत्युपस्थानो से नही होता। ग्रधिमानक्षान्ति का श्लेष श्रग्रधमों से होता है, श्रत इसका विषय केवल कामाप्त दु ख है। लौकिक श्रग्रधमों से एक श्रना-स्रव धर्म क्षान्ति की उत्पत्ति होती है। यथार्थ में एक धर्म-ज्ञान-क्षान्ति लीकिकाग्रधमों के ग्रनन्तर होती है । इसका ग्रालम्बन काम-दुख है । ग्रत उसे 'दुखे धर्मज्ञानक्षान्ति' कहते हैं । यह वह क्षान्ति है, जो धर्मज्ञान का उत्पाद करती है, जिसका उद्देश्य श्रीर फल धर्मज्ञान है, यह क्षान्ति नियाम में अवक्रमण है, क्यों कि यह सम्यक्त्व, अर्थात् निर्वाण के नियम में अवक्रमण है। 'नियाम' का अर्थ एकान्तीभाव है। इसका लाभ 'अवक्रमण' कहलाता है। इस प्राप्ति के एक वार उत्पन्न होने पर योगी श्रार्य-पुद्गल होता है। उत्पद्यमान श्रवस्था मे यह क्षान्ति पृथग्जनत्व का व्यावर्त्तन करती है। 'दु खे धर्मज्ञानक्षान्ति' के अनन्तर ही एक धर्मज्ञान की उत्पत्ति होती है, जिसका ग्रालम्बन कामाप्त दुख है। उसे 'दुखे धर्मज्ञान' कहते है। यह ज्ञान ग्रनासव है। यथा कामधातु के दुख के लिए एक धर्म-ज्ञान-क्षान्ति ग्रीर एक धर्मज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शेप दुख के लिए अन्वय-क्षान्ति और एक अन्वय-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। धर्मज्ञान नाम का व्यवहार इसलिए है कि प्रथमत दु खादि धर्मतत्त्व का ज्ञान योगी को होता है। अन्वय-ज्ञान का व्यवहार इसलिए है कि धर्मज्ञान इसका हेत् है (तदन्वय-तद्हेतुक)। ज्ञान दस है । किन्तु, सक्षेप में ज्ञान दो प्रकार का है साम्रव ग्रीर ग्रनास्रव । सब ज्ञान ज्ञान के इन दो प्रकायों के अन्तर्गत है । इन दो ज्ञानों में से पहला 'सवृत' कहलाता है। सास्रव ज्ञान 'लोक-सवृति-ज्ञान' कहलाता है, क्योकि प्रायेण यह ज्ञान सवृति-सद्-वस्तु का श्रालम्बन ग्रहण करता है । श्रनास्रव ज्ञान दो प्रकार का है-धर्मज्ञान ग्रौर भ्रन्वय-ज्ञान । इन दो ज्ञानो को ग्रीर पूर्वोक्त ज्ञान को सगृहीत कर तीन ज्ञान होते है--लोक-सवृति-ज्ञान, धर्मज्ञान भ्रौर अन्वय-ज्ञान । इनमें सावृत का गोचर सब धर्म है, अर्थात् सब सस्कृत एव ग्रसस्कृत धर्म सवृति-ज्ञान के विषय है। जो ज्ञान 'धर्म' कहलाता है, उसके विषय काम-धातु के दुखादि है। धर्मज्ञान का गोचर कामधातु का दुख, दुःख-समुदय, दुख-निरोध, दु ख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्ति है । ग्रन्वय-ज्ञान का गोचर ऊर्ध्व भूमियो का दु खादि है, ग्रर्थात् रूपधातु ग्रीर ग्ररूपधातु के दु खादि ग्रन्वय-ज्ञान के विषय है । यह दो ज्ञान सत्यभेद से चतुर्विध है, अर्थात् दु ख-ज्ञान, समुदय-ज्ञान, निरोध-ज्ञान ग्रीर मार्ग-ज्ञान । यह दो ज्ञान जो चतुर्विघ है, क्षयज्ञान ग्रीर ग्रनुत्पाद-ज्ञान कहलाते हैं । जब योगी ग्रपने से कहता है कि मैने दुख को भली भाँति परिज्ञात किया है, समुदय का प्रहाण किया है, निरोध का सम्मुखीभाव किया है, मार्ग की भावना की है, तव इससे जो ज्ञान, जो दर्शन, जो विद्या, जो बोधि, जो ग्रानोक, जो विपश्यना उत्पन्न होती है, वह क्षयज्ञान कहलाता है। जब योगी अपने से कहता है कि मैने दुख को भली भाँति परिज्ञात किया है, और अब फिर परिज्ञेय नहीं है इत्यादि, तो जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुत्पाद-ज्ञान कहलाता है (मूलणास्त्र)। इन ज्ञानो के अतिरिक्त परिचत्त-ज्ञान भी है। इस प्रकार दस ज्ञान ये हैं—लोक-सवृति-ज्ञान, धर्मज्ञान, ग्रन्वय-ज्ञान, परिचित्त-ज्ञान, दु खज्ञान, समुदय-ज्ञान, निरोध-ज्ञान, मार्गज्ञान,

क्षयज्ञान श्रीर श्रनुत्पाद-ज्ञान । स्वभावत , सवृति-ज्ञान है, क्यों कि यह परमार्थ-ज्ञान नहीं है। प्रतिपक्षत , धर्म श्रीर श्रन्वय-ज्ञान है। पहला कामधातु का प्रतिपक्ष है, दूसरा ऊर्घ्व धातुश्रो का प्रतिपक्ष है। श्राकारत , दु खज्ञान श्रीर समुदाय-ज्ञान है। इस दो ज्ञानो का श्रालम्बन एक ही (पचोपादान-स्कन्ध) है, किन्तु श्राकार भिन्न है। श्राकार गोचरतः निरोध-ज्ञान श्रीर मार्गज्ञान है। यह दो ज्ञान श्राकार श्रीर श्रालम्बनवश व्यवस्थित होने है। इनके श्राकार श्रीर श्रालम्बन दोनो भिन्न है। प्रयोगतः परिचत्त-ज्ञान है। कृतकृत्यतः क्षय-ज्ञान है। कृतकृत्य के मन्तान में यह ज्ञान पहले उत्यन्त होता है, हेतु विस्तरतः श्रनुत्पाद-ज्ञान है, क्योंकि सब श्रनासवज्ञान जो क्षय-ज्ञान में सगृहीत है, इसके हेतु है।

ज्ञानमय गुणो मे पहले वुद्ध के ग्राविणक धर्मों का निर्देश है। ये वुद्ध के विशेष धर्म है। दूसरे ग्रह्त होकर भी उनकी प्राप्ति नहीं करते। ये ग्रहारह है — दस वल, चार वैशारद्य, तीन स्मृत्युपस्थान ग्रीर महाकरुणा। वुद्ध के ग्रन्य धर्म शैक्ष या पृथग्जन के लिए सामान्य है। ये ग्ररणा, प्रणिधि-ज्ञान, प्रतिसवित्, ग्रिभज्ञा ग्रादि है।

# षोइश अध्याय

# सौत्रान्तिक नय

### सौत्रान्तिक ग्राख्या पर विचार

सीतान्तिक वे हैं, जो केवल बुद्धवचन को, ग्रर्थात् सूत्रान्तों को प्रमाण मानते हैं। ये कात्यायनीपुतादि शास्त्रकारों द्वारा रचित ग्रभिधमें के ग्रन्थों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। ये ग्रभिधमें शास्त्र को बुद्धोंक्त नहीं मानते। ग्रभिधमें को व्याख्या में (पृ० १९, पिक्त ३०) कहा है—ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिका, ग्रर्थात् सौतान्तिक सूत्र को प्रमाण मानते हैं, शास्त्र को नहीं। ग्राभिधार्मिक कहते हैं कि शास्ता बुद्ध ने धर्म-प्रविचय के लिए ग्रभिधर्म का उपदेश किया है। वे प्रश्न करते हैं कि यदि शास्त्र प्रमाण नहीं है, तो तिपिटक की व्यवस्था कैसे होगी। सूत्र में तिपिटक का पाठ है। ग्रभिधर्म का व्याख्यान भगवन् द्वारा प्रकीर्ण है—(सतुप्रकीर्ण उक्तो भगवता)। ग्रीर, जिस प्रकार स्थिवर धर्मत्रात ने भिन्न-भिन्न सूत्रों में उक्त उदानों का वर्गीकरण उदानवर्ग में किया है, उसी प्रकार स्थिवर कात्यायनीपुतादि ने, ज्ञान-प्रस्थानादि शास्त्रों में भगवान् द्वारा उपदिष्ट ग्रभिधर्म को एकस्थ किया है।

सौतान्तिको को सूत्रनिकायाचार्य भी कहते हैं (ग्रिभिधर्मकोश, २।२२६)। इस वाद के प्रतिष्ठापक तक्षणिला के कुमारलात कहे जाते हैं। तथा इसके ग्रन्य प्रसिद्ध ग्राचार्य भवन्त, राम, श्रीलता, वमुवर्मा ग्रादि हैं। भवन्त का उल्लेख विभाषा में है। यह भवन्त कौन हैं, इस सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। भगविद्यशेष का कहना है कि यह स्थविर धर्मन्नात है किलु ग्रिमिधर्मकोश की व्याख्या में इस मत का खण्डन किया गया है। व्याख्याकार यशोमित्र कहते हैं कि भवन्त एक स्थविर का नाम है, जो सौतान्तिक है। व्याख्याकार का कहना है कि विभाषा के ग्रान्तार भवन्त सौतान्तिक-दर्शनावलम्बी है, जब कि धर्मत्नात ग्रतित-ग्रनागत के ग्रस्तित्व को मानते हैं, श्रीर सर्वास्तिवाद के चार मतो में से 'भावान्यथात्व' के वाद को स्वीकार करते हैं। पुनः विभाषा में भवन्त धर्मत्नात ग्रपने नाम से उल्लिखित हैं (व्याख्या, पृ० ४४, पक्ति १५—२२)। व्याख्या (पृ० २३२, पक्ति २५४, पृ० ६७३, पित्रत १०, पृ० ६६४, पित्र ६) में वार-वार भवन्त को सौतान्तिक वताया गया है। विभाषा में कुमारलात ग्रीर श्रीलात का कोई उल्लेख नही है। ताकाकूसू का कहना है कि विभाषा में सौतान्तिकों का उल्लेख केवल एक वार ग्राया है। विभाषा 'दार्ट्यन्तिको' से ग्रवश्य परिचित है। विभाषा के ग्रन्तुसार इनके प्रायः वही मिद्धान्त हैं, जो ग्रिमधर्मकोश के ग्रनुसार मौतान्तिकों के हैं। ग्रिम-

धर्मकोश की व्याख्या के अनुसार दार्घ्टान्तिक सौद्रान्तिक है, या सौद्रान्निक-विशेष है (व्याख्या, पृ० ३६२, पंक्ति २१—दार्घ्टान्तिकाः सौद्रान्तिकाः, पृ० ४०० पक्ति १७—दार्घ्टान्तिकाः सौद्रान्तिकाः, पृ० ४०० पक्ति १७—दार्घ्टान्तिकाः सौद्रान्तिकविशेषाः)। तिब्बती पण्डितो के अनुसार दोनो एक है। इस वाद का नाम दार्प्टान्तिक क्यो पड़ा, यह ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग इनका सम्यन्ध कुमारलात के प्रन्थ 'दृष्टान्तपक्ति' से जोडिने हैं। कुछ का कहना है कि दृष्टान्तों का प्रयोग करना इसकी विशेषता है, इस कारण इसका नाम 'दार्प्टान्तिक' पडा। प्रजुलुस्की का विचार है कि दृष्टान्त विनयसूत्र और अभिधर्म के विरुद्ध भी हो सकते हैं। विभाषा इनके सम्यन्ध में कहती है कि यह सत्य भी हो सकते हैं, नहीं भी हो सकते।

सौत्रान्तिक मतवाद का साहित्य नष्ट हो गया है। ग्रत, इसके सम्बन्ध में हमारी जानकारी वहुत थोड़ी है, तथापि जो सूचनाएँ ग्रिभधर्मकोश तथा उसकी व्याख्या में मिलती है, उनके ग्राधार पर हम सौत्रान्तिक-मत का व्याख्यान पिछले ग्रध्याय में वैभाषिक से तुलना के प्रसग में कर चुके हैं, ग्रविष्ट मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को यहाँ देते हैं।

विज्ञानवाद स्वीकार करने के पूर्व वसुवन्धु का जुकाव मीवान्तिक मतवाद की ग्रोर था। ग्रत, यद्यपि ग्रिभिधर्मकोश वैभाषिक-मत का प्रतिपादन करता है, तथापि वह जहा सौवान्तिक-मत के विरुद्ध है वहाँ वसुबन्धु सौवान्तिक दृष्टि से उनकी ग्रालोचना करने है।

वैभाषिकों के समान सौतान्तिक भी स्वभाववादी है। इनकी गणना हीनयान में की जाती है, यद्यपि ये महायान के वर्मकाय को स्वीकार करते है, और एक प्रकार से महायान के आरम्भक कहे जा सकते हैं। ये वैभाषिकों के सब धर्मों के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। ये वैभाषिकों के तुल्य वाह्य जगत् के अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु, इनके अनुसार इसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा न होकर अनुमान द्वारा होता है।

## वैभाषिक से सौत्रान्तिक का भेद

रूप--वैभाषिको के अनुमार रूप द्विविध है, अर्थात् वर्ण-मस्थान-भेद मे दो प्रकार का है। किन्तु, सौद्रान्तिक का कहना है कि सस्यान का ग्रहण चाक्षुप नहीं है, यह परिकल्प मानस है। सस्थान वर्ण-सिन्नवेश-विशेष ही है। सस्थान नाम का कोई द्रव्य नहीं है। यदि वर्ण का ग्रहण न हो, तो सस्थान के ग्रहण का ग्रभाव हो। उनका प्रश्न है कि एक द्रव्य उभयया कैंमे विद्यमान हो सकता है (अभिधर्मकोश, १।१०, व्याच्या, पृ० २३, पिक्न १५)।

वैभाषिको के अनुसार बुद्धवचन वाक्-स्वभाव और नाम-स्वभाव दोनो है, किन्तु मौत्रा-न्तिको के अनुसार वह वाग्-विज्ञप्ति-स्वभावमात्र है ( अभिधर्मकोश, १।२५, व्याख्या, पृ० ४२, पक्ति १० )।

ग्रसंस्कृत—सीवान्तिक तीन ग्रमस्कृतो को-ग्राकाण, पप्रतिनस्या-निरोध ग्रीर प्रति-सख्या-निरोध को द्रव्य-सन् नहीं मानते । उनका कथन है कि यह स्प-वेदनादि के नमान द्रव्यान्तर, भावान्तर नहीं है। जिसे 'ग्राकाण' कहने हैं, वह स्प्रष्टव्य का ग्रभावमात्र, ग्रमिन् सप्रतिघ द्रव्य का त्रभावमात्र है। विघ्न को न पाकर ( ग्रविन्दन्त ) ग्रज्ञानवण लोग कहने हैं कि यह ग्राकाश है, जिसे प्रतिसख्या-निरोध या निर्वाण कहते है, वह प्रतिसख्या(=प्रज्ञा) के वल से ग्रन्य ग्रनुणय, ग्रन्य जन्म का ग्रनुत्पाद है, जब उत्पन्न ग्रनुणय ग्रीर उत्पन्न जन्म का निरोध होता है। निर्वाण वस्तु-मत् नहीं है, यह ग्रभावमान्न है। सर्वास्तिवाद के ग्रनुसार निर्वाण विसयोग-फल है, यह ग्रहेतुक है। इसका फल नहीं है, किन्तु यह कारण-हेतु है।

मीवान्तिक ग्राक्षेप करते हैं कि यदि ग्रसस्कृत फल है, तो इसका एक हेतु होना चाहिए, जिस हेतु के लिए कह सकें कि इस हेतु का यह फल है। पुनः जव सर्वास्तिवादी इसे कारण-हेतु मानते हैं, तब इसका फल होना चाहिए, जिस फल के लिए कह सके कि इस फल का यह हेतु है।

मर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि केवल सम्कृत के हेतु-फल होते हैं, ग्रसस्कृत के हेतु-फल नहीं होते, क्योंकि पड्विध हेतु ग्रीर पचविध फल ग्रसस्कृत के लिए ग्रसम्भव है।

यह विवाद ग्रतिविस्नृत है। सघभद्र ने 'न्यायानुसार' में 'ग्रसस्कृत' के प्रतिषेध का खण्डन किया है। इस विस्तृत व्याख्यान के लिए यहाँ स्थान नहीं है। सर्वास्तिवादी ग्रन्त में कहता है कि निर्वाण धर्म-स्वभाव-वश द्रव्य है। यह ग्रवाच्य है। केवल ग्रार्य इसका माझा-त्कार करते हैं। इसका प्रत्यात्म-सवेदन होता है। इसके सामान्य लक्षणों का यह कहकर निर्देशमात्र हो सकता है कि यह दूसरों से भिन्न एक कुशल, नित्य द्रव्य है, जिसकी सज्ञा निर्वाण है।

ग्रप्रतिसच्या-निरोध भी ग्रभावमात्र है, वस्तु-सत् नही है । जब प्रतिसख्या-वल के विना प्रत्यय-वैकत्य-मात्र से धर्मों का ग्रनुत्पाद होता है, तब इसे ग्रप्रतिसख्या-निरोध कहते हैं ।

चित्त-विप्रयुक्त-धर्म — सीत्रान्तिक चित्त-विप्रयुक्त धर्मों का ग्रस्तित्व नही मानते। उनके ग्रनुसार यह प्रज्ञप्तिमान है, वस्तु-सत् नही है। ग्रिभधर्मकोश के द्वितीय कोशस्थान में सीतान्तिक का व्याख्यान विस्तारपूर्वक दिया गया है, जिसमे वह इन धर्मों के द्रव्यत ग्रस्तित्व का प्रतिपेध करते है। ये चित्त-विप्रयुख्त धर्म सस्कार-स्कन्ध मे सगृहीत हैं। प्राप्ति, ग्रप्राप्ति सभागता, ग्रासज्ञिक, दो समापत्ति, जीवितेन्द्रिय, लक्षण नामकायादि ग्रीर एवजातीयक धर्म चित्त-विप्रयुक्त है। यहाँ उदाहरणमात के लिए हम दो-तीन चित्त-विप्रयुक्त सस्कारों के सम्वन्ध में सीतान्तिक विचार उद्धृत करते हैं।

प्राप्ति—नामक धर्म के ग्रस्तित्व को वे नहीं मानते। वे कहते हैं कि प्राप्ति की उपलिच्छ नहीं होती, यथा रूप-शव्दादि की होती है। उसके कृत्य से प्राप्ति का ग्रस्तित्व ग्रनुमित नहीं होता, यथा चक्षुरादि इन्द्रिय ग्रनुमान से ग्राह्य है।

सभागता—(निकाय-सभाग) को मौत्रान्तिक द्रव्य-मत् नही मानते । सर्वास्तिवाद के अनुसार यह एक द्रव्य है, एक धर्म है, जिसके योग मे मत्त्व-सख्यात धर्मों का परस्पर सादृष्य (= मभाग) होता है । णास्त्र में इस द्रव्य की निकाय-सभाग सज्ञा है । यह सत्त्वों की

स्वभाव-समता है। सौत्रान्तिक इस वाद में अनेक दोष दिखाते हैं कि लोक मभागता को प्रत्यक्ष नहीं देखता। यह प्रज्ञा से सभागता का परिच्छेद नहीं करता, क्योंकि मभागता का कोई व्यापार नहीं है, जिससे उसका ज्ञान हो। यद्यपि लोक सत्त्व-मभागता को नहीं जानता, तथापि उसमें सत्त्वों के जात्यभेद की प्रतिपत्ति होती है। अत, सभागता के होने पर भी उसका क्या व्यापार होगा? पुन निकाय को शालि-यवादि की असत्त्व-सभागता भी क्यों नहीं इष्ट है? इनके लिए सामान्य प्रज्ञप्ति का उपयोग होता है।

ग्रायु—इसी प्रकार मौत्रान्तिक ग्रायु को द्रव्य नही मानने। उनका कहना है कि यह एक ग्रावेध, सामर्थ्यविशेष है, जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रतिसन्धि-क्षण मे मत्त्व मे ग्राहित करता है। इस सामर्थ्य के कारण एक नियत काल के लिए निकाय-सभाग के स्कन्ध-प्रवन्ध का ग्रवस्थान होता है।

सस्कृत धर्म के लक्षण—सौतान्तिक सस्कृत धर्म के लक्षणों को भी पृथक्-पृथक् द्रव्य नहीं मानने । सस्कृत धर्म के लक्षण जाति, जरा, स्थिति ग्राँर ग्रनित्यता है। 'स्थिति' उनकी स्थापना करती है, 'जरा' उनका ह्रास करती है, ग्रनित्यता उनका विनाश करती है। यह सर्वास्तिवादी का मत है। किन्तु, सौतान्तिक कहते हैं कि भगवान् प्रदिणत करना चाहते हैं कि प्रवाह सस्कृत है। ये प्रवाह-क्षण के तीन लक्षण नहीं वताते, क्योंकि वे कहते हैं कि यह तीन लक्षण प्रज्ञात होते हैं। वस्तुत क्षण का उत्पाद, जरा ग्रौर व्यय ग्रप्रज्ञायमान है। जो ग्रप्रज्ञा-यमान है, वह लक्षण होने की योग्यता नहीं रखता। सौतान्तिकों के ग्रनुसार उत्पाद या जाति का यह ग्र्यं है कि प्रवाह का ग्रारम्भ है, व्यय या ग्रनित्यता प्रवाह की निवृत्ति, उपरित है। स्थिति ग्रादि से निवृत्ति तक ग्रनुवर्त्तमान प्रवाह है। स्थित्यन्यथात्व या जरा ग्रनुवर्त्तमान का पूर्वापरिविशेष है। पुन उत्पाद ग्रभूत्वा-भाव है, स्थिति प्रवन्ध है, ग्रनित्यता प्रवन्ध का उच्छेद है, जरा उसकी पूर्वापर विशिष्टता है। सक्षेप मे, मस्कृत-धर्म का ग्रभूत्वा-भाव होता है, भूत्वा-ग्रभाव होता है, इन धर्मों का प्रवाह इनकी स्थिति है। प्रवाह का विगदृशत्व उनका स्थित्यन्य-थात्व है। उत्पादादि द्रव्य नहीं है।

श्रतीतानागतप्रत्युत्पन्न का श्रवस्तुत्व—सीतिनितक श्रतीन, श्रमागन को वस्तु-सत् नही मानते । यदि श्रतीत श्रीर श्रमागत द्रव्य-सत् है, तो वह प्रत्युत्पन्न है। उनको श्रतीत श्रीर श्रमागत क्यो विशेषित करते हैं ?

मर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि यह ग्रप्राप्त-कारित्र, प्राप्तानुपरत-कारित्र तथा उपरत-कारित्र है, जो धर्म का ग्रध्व विनिश्चत करता है।

सौद्रान्तिक पूछता है कि धर्म के कारित में क्या विघ्न है । धर्म नित्य होने हुए ग्रपना कारित सदा क्यो नहीं करता । क्या विघ्न उपस्थित होता है, जो कभी यह ग्रपना कारित करता है, ग्रौर कभी नहीं करता । ग्रापकी यह कल्पना भी युक्त नहीं है कि उनके वारित का ग्रभाव प्रत्ययों के ग्रसामग्रय से होता है, क्योंकि ग्रापके लिए उन प्रत्ययों का भी नित्य ग्रन्तित्व है। पुन कारित्र ग्रनीतादि कैसे है । क्या कारित का भी दूसरा कारित्र होना है । उनके ग्रनवन्या-दोष होगा। किन्तु, यदि कारित्र का स्वरूप सत्तापेक्षया ग्रनीनादित्व है, नो नावों का भी

अतीतादित्व होगा। फिर, इस कल्पना से क्या लाभ कि अध्व अतीतादि कारित्न पर आश्रित है ? क्या आप यह कहेंगे कि कारित्व न अतीत है, न प्रनागत, न प्रत्युत्पन्न ? उस अवस्था मे असस्कृत होने से यह नित्य है। अत, यह न किहए कि जब धर्म कारित्न नहीं करता, तब यह अनागत है, और जब इसका कारित्न उपरत हो जाता है, तब यह अतीत है।

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि यदि कारित्र धर्म से ग्रन्य होता, तो यह दोप होता।

सीत्रान्तिक—किन्तु, यदि यह धर्म से ग्रन्य नहीं है, तो ग्रध्वयुक्त नहीं है। यदि कारित्र धर्म का स्वभाव ही है, तो धर्म के नित्य होने से कारित्र भी नित्य होगा। क्यो ग्रीर कैसे कभी कहते हैं कि ग्रनागत है ? ग्रध्व-भेद युक्त नहीं है।

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है—किममे इसकी ग्रयुक्तता है  $^{7}$  वास्तव में, ग्रनुत्पन्न संस्कृत धर्म ग्रनागत कहलाता है, जो उत्पद्यमान हो निरुद्ध नहीं हुग्रा, वह प्रत्युत्पन्न कहलाता है, जो निरुद्ध होता है, वह ग्रतीत कहलाता है।

सौतान्तिक—प्रत्युत्पन्न का जो स्वभाव है, यदि उसी स्वभाव के साथ (तेनैवातमना) ग्रतीत ग्रौर ग्रनागत धर्म का सद्भाव होता है, तो वैसे ही होते हुए यह कैंसे ग्रनुत्पन्न या नष्ट होता है ? जब इस धर्म का स्वभाव वैसा ही रहता है, तो यह धर्म ग्रनुत्पन्न या नष्ट कैंसे होगा ? पूर्व इसके क्या न था, जिसके ग्रभाव मे इसे ग्रनुत्पन्न कहेगे ? पश्चात् इसके क्या नहीं है, जिसके ग्रभाव मे इसे निरुद्ध कहेंगे ? ग्रतः, यदि 'ग्रभूत्वा भाव' इष्ट नहीं है, यदि 'भूत्वा-ग्रभाव' भी इष्ट नहीं है, तो ग्रध्वत्नय सिद्ध नहीं होता।

इसके बाद सीतान्तिक सर्वास्तिवादी की युक्तियो की परीक्षा करते हैं।

यह युक्ति कि सस्कृत लक्षण के योग से सस्कृतों का शाश्वतत्व-प्रसग नहीं होता, यद्यपि उनका अतीत और अनागत दोनों में सद्भाव है—वाड्मात है; क्योंकि धर्म का सर्वकालास्तित्व होने से धर्म के उत्पाद और विनाश का योग नहीं हैं। "धर्म नित्य हैं और धर्म नित्य नहीं हैं।" यह वचन पूर्वापरविरुद्ध हैं।

इस युक्ति के सम्बन्ध में कि भगवान् ने ग्रतीत ग्रीर ग्रनागत के ग्रस्तित्व का उपदेश दिया है, क्योंकि भगवान् का वचन है कि—"ग्रतीत कर्म है, ग्रनागत विपाक है।" हमारा कहना है कि हम भी मानते हैं कि ग्रतीत है, ग्रनागत हैं ( ग्रस्तीति )। जो भूतपूर्व हैं ( यद् भूतपूर्वम् ) वह ग्रतीत है, जो हेतु होने पर होगा ( यद् भविष्यति ), वह ग्रनागत हैं। इस ग्रथं में हम कहते हैं कि ग्रतीत हैं, ग्रनागत हैं। किन्तु, प्रत्युत्पन्न के समान वह द्रव्यत नहीं हैं।

सर्वास्तिवादी विरोध करता है—कौन कहता है कि प्रत्युत्पन्न के सदृश उनका सद्भाव है ?

सीत्नान्तिक—यदि उनका सद्भाव प्रत्युत्पन्न के मदृश नहीं हैं, तो उनका सदभाव कैसे हैं ?

मर्वास्तिवादी-वह ग्रतीत ग्रीर ग्रनागत के स्वभाव के साथ होते है।

सौत्नान्तिक—िकन्तु यदि उनका ग्रस्तित्व है, तो उनका स्वभाव ग्रतीत ग्रौर ग्रनागत का कैंसे बताते हैं वस्तुत, सर्वास्तिवादी द्वारा उद्धृत वचन में भगवान् का ग्रिभिप्राय हेतु-फलापवाद-दृष्टि का प्रतिषेध करना है। 'ग्रतीत था' के ग्रर्थ में वह 'ग्रतीत हैं' कहते हैं। 'ग्रस्ति' शब्द निपात है। यथा लोक में कहते हैं कि 'दीप का प्राक् ग्रभाव हैं' ( ग्रस्ति ), 'दीप का प्रचात् ग्रभाव है, यह प्रदीप निरुद्ध है ( ग्रस्ति ), किन्तु यह प्रदीप मुझसे निरोधित नहीं है।' इसी ग्रर्थ में मूत्र में उक्त है—'ग्रतीत है, ग्रनागत हे।' ग्रन्यथा, यदि उसी लक्षण के साथ विद्यमान हो, नो ग्रतीत-ग्रनागत की सिद्धिन हो।

सर्वास्तिवादी—हम देखते है कि भगवान् लगुड-शिखीपक परिवाजको को उद्दिष्ट कर ऐसा कहते हैं कि —"भ्रनीत कर्म निरुद्ध विनष्ट, ग्रस्तगत कर्म है।" प्रस्ताविन निर्देश के भ्रनुसार इसका अर्थ होगा कि 'यह कर्म था'। किन्तु, क्या परिवाजको को उस ग्रतीत कर्म का भूतपूर्वत्व इप्ट नही है ?

सौद्रान्तिक—यदि भगवान् कहते हैं कि अतीत कर्म है, तो उनकी अभिसन्धि फलदान-सामर्थ्य से है, जिसे भूतपूर्व कर्म ने कारक की सन्तित में आहित की है। अन्यत्रा, यदि अतीत-कर्म स्वभाव से विद्यमान है ('स्वेन भावेन विद्यमानम्'), तो विद्यमान अतीत की सिद्धि कैसे होगी? पुन आगम की उक्ति स्पष्ट है। भगवान् ने परमार्थ-शूर्यता-सूब में कहा है कि ''हे भिक्षुग्रों विश्व उत्पद्यमान होकर कहीं से आता नहीं है, निरुध्यमान होकर कहीं सचित नहीं होता। इस प्रकार, हे भिक्षुग्रों चक्षु का ग्रभूत्वा-भाव होता है ग्रीर भूत्वा-ग्रभाव होता है। यदि ग्रनागत चक्षु होता, तो भगवान् नहीं कहते कि चक्षु का ग्रभूत्वा-भाव है।

सर्वास्तिवादी कदाचित् कहेगा — 'ग्रभूत्वा-भाव' का ग्रबं है—वर्त्तमान ग्रथं मे न होकर होता है ('वर्त्तमानेऽध्वित ग्रभूत्वा'), ग्रयीत् वर्त्तमान-भाव मे न होकर होता है ('वर्त्तमानभावे न ग्रभूत्वा')। यह ग्रयुवत है, क्योंकि ग्रध्व चक्षमज्ञक भाव मे ग्रयांन्तर नहीं है। क्या इसका यह ग्रथं ग्राप करेगे—'स्वक्षणत न होकर' । इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रनागन चक्षु नहीं है।

ग्रतीत ग्रीर ग्रनागत है, क्योंकि विज्ञान की उत्पत्ति दो वस्तुभी के कारण होती है। मनोविज्ञान की उत्पत्ति मन-इन्द्रिय तथा ग्रतीत, ग्रनागत ग्रीर प्रत्युत्पन्न धर्मों के कारण होती है। इस युक्ति के सम्बन्ध में क्या यह समझना चाहिए कि ये धर्म मन-इन्द्रिय की तरह मनोविज्ञान के जनक-प्रत्यय हैं? ग्रयवा ये ग्रालम्बनमात्त हैं? यह व्यक्त है कि ग्रनागत धर्म, जो सहस्रो वर्ष में होगे या जो कभी न होगे, प्रत्युत्पन्न मनोविज्ञान वे जनक-प्रत्यय नहीं है। यह व्यक्त है कि निर्वाण, जो सर्वोत्पत्ति के विरुद्र है, जनक-प्रत्यय नहीं हो सकता। ग्रय यह ग्रेष रह जाता है कि धर्म विज्ञान के श्रालम्बन-प्रत्यय हो। हमको यह इप्ट ई कि ग्रनागत ग्रीर ग्रतीत धर्म ग्रालम्बन-प्रत्यय है।

मर्वास्तिवादी का प्रश्न है कि यदि अनीत गाँग प्रनागन धर्म ना प्रस्तिना नगे है नो वह विज्ञान का आलम्बन कैंमे हे।

सौद्रान्तिक-उनका ग्रस्तित्व उसी प्रकार है, जिम प्रकार वे ग्रालम्बन के रूप में गृहीत होते हैं। वे अतीत और अनागत के चिह्न के साथ भूतपूर्व-भविष्यत् की तरह आलम्बन के रूप में गृहीत होते हैं। वास्तव में, कोई अतीत रूप या वेदना का स्मरण कर यह नहीं देखता कि 'यह है', किन्तु वह स्मरण करता है कि 'यह था'। जो पुरुष ग्रनागत का प्राग् ग्रदर्शन करता है, वह सत् ग्रनागत को नहीं देखता। किन्तु, एक दूसरी भविष्यत् वस्तु ग्रनागत को देखता है। स्मृति यथादृष्ट रूप का ग्रहण करती है, यथानुभूत वेदना का ग्रहण करती है, अर्थात् वर्त्तमान रूप ग्रीर वेदना के समान ग्रहण करती है। यदि धर्म, जिसका पुद्गल को स्मरण है, ऐसा है कि उसका ग्रहण पुद्गल स्मृति से करता है, तो यह प्रत्यक्ष ही वर्त्तमान है। यदि यह ऐसा नही है, यदि इसका ग्रहण स्मृति से नही है, तो श्रसत् भी स्मृति-विज्ञान का अवश्य आलम्बन होता है। क्या आप यह कहेंगे कि अतीत और अनागत रूप का अस्तित्व विना वर्त्तमान हुए है, क्योकि अतीत और अनागत रूप विप्रकीर्ण परमाणु से अन्य वस्तु नही है। किन्तु, हम कहेंगे कि जब विज्ञान स्मृति या प्राग्दर्शन से अतीत और अनागत रूप को श्रालम्बन के रूप में ग्रहण करता है, तब यह विप्रकीर्णावस्था मे उसकी श्रालम्बनवत् ग्रहण नही करता; किन्तु इसके विपर्यय सचितावस्था मे करता है । यदि अतीत और भ्रनागत रूप वर्त्तमान रूप ही है; किन्तु परमाणुश विभक्त है, तो परमाणु नित्य होगे। न कोई उत्पाद है, ग्रीर न कोई निरोध । परमाणुसचय श्रीर विभागमात है। ऐसे वाद के ग्रहण से ग्राजीविकवाद का परिग्रह होता है, भ्रौर वृद्ध का यह सूत्र ग्रपास्त होता है कि चक्षु उत्पद्यमान होकर कही से आता नहीं। वेदनादि अमूर्त्त धर्मी में यह युक्ति नहीं लगती। परमाणु सचित नहींने से इनका स्रतीत स्रीर स्रनागत स्रवस्था मे पुन विश्वकीर्णत्व कैसे है ?

सर्वास्तिवादी कर्मफल से भी तर्क ग्राहत करते हैं। सौवान्तिक यह नहीं स्वीकार करते कि ग्रतीत कर्म से फल की प्रत्यक्ष उत्पत्ति होती है। उनके ग्रनुसार कर्मपूर्वक चित्तसन्तान-विशेष से फल की उत्पत्ति होती है।

किन्तु, जो वादी श्रतीत श्रीर श्रनागत को द्रव्यत मानते हैं, उनको फल की नित्यता इण्ट होनी चाहिए। श्रतएव, उन सर्वास्तिवादियों का सर्वास्तिवाद, जो श्रतीत श्रीर श्रेनागत की द्रव्य-सत्ता को मानते हैं, साधु नहीं है। इस श्रथं में सर्वास्तिवाद को नहीं लेना चाहिए। साधु सर्वास्तिवाद वह है, जिसकी सर्वास्तित्व की प्रतिज्ञा में 'सर्व' का वहीं श्रथं हैं, जो धागम में उनत है। सूत्र की यह प्रतिज्ञा कैंसे हैं कि सर्व का ग्रस्तित्व है ? "हे बाह्मण जिब कोई कहता है कि 'सर्वमस्ति', तब उसका ग्रभिप्राय बारह ग्रायतनों से होता है। यह समानवाची है। श्रयवा सर्व जिसका श्रम्तित्व है, श्रध्वत्वय है। "श्रीर, इनका श्रस्तित्व कैंसे होता है, यह भी वताया है—"जो भूतपूर्व हैं, वह ग्रतीत हैं. किन्तु यदि श्रतीत ग्रनागत का श्रस्तित्व नहीं हैं, तो श्रतीत श्रनागत वलेण से श्रतीत श्रनागत वस्तु में कोई सयुवत कैंसे होता हैं? सन्तान में श्रतीत क्लेश-जात श्रनुशय के सद्भाववश ग्रतीत क्लेश से पुद्गल सयुवत होता है। ग्रतीत श्रीर श्रनागत वस्तु से सयोग तदालम्बन-क्लेश के श्रनुशय से सद्भाववश होता है।

वैभाषिक कहता है कि 'ग्रतीत' ग्रौर 'ग्रनागत' का वर्त्तमान के मदृण ग्रस्तित्व है। वस्तुत, धर्मों का निश्चय ही गम्भीर है।

काय-विज्ञिष्ति—सौत्रान्तिक के मत में कर्म चेतना है। 'कायकर्म' से श्रिभिप्राय 'काय द्वारा विज्ञापन' से नहीं है, किन्तु एक काय-सचेतना से है। यह मचेतना काय से सम्बन्ध रखती है, श्रीर काय को इ जित करती है।

सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि वह क्या वस्तु है, जिसे ग्रापके ग्रनुसार 'काय-विज्ञाित' संज्ञा से ज्ञापित किया जाता है ? सौद्धान्तिक उत्तर देते है कि काय-विज्ञाप्त मंस्थान है; किन्तु सस्थान द्रव्य नहीं है। कायकर्म वह चेतना है, जो विविधि प्रकार से काय की प्रणेती है। यह कायद्वार को ग्रालम्बन बना प्रवृत्त होती है, ग्रार इमलिए कायकर्म कहलाती है। दो प्रकार की चेतना है। पहले प्रयोग की ग्रवस्था है। इसमें एक चेतना का उत्पाद होता है, जो शुद्ध चेतना है—''यह ग्रावश्यक है कि मैं इस-इम कर्म को कहें।'' इसे सूत्र चेतना-कर्म की सज्ञा देता है। यहाँ चेतना ही कर्म है। पीछे शुद्ध चेतना की इम ग्रवस्था के ग्रनन्तर पूर्वकृत संकल्प के ग्रनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद होता है। काय के संचालन या वाग्व्यनि के नि सरण के लिए यह चेतना होती है। इमे मूब 'चेतियत्वा कर्म' कहना है (ग्राभधर्मकोश, ४, पृ० १२-१३)।

भ्रविज्ञप्ति—सौत्रान्तिक 'ग्रविज्ञप्ति' का मी ग्रभाव मानते हैं। वैभाषिक कई युक्तियाँ देकर 'ग्रविज्ञप्ति' का ग्रस्तित्व व्यवस्थापित करता है। मौत्रान्तिक इनका खण्डन करता है। ग्रिभिधर्मकोश (४, पृ० १४–२५) में यह विस्तृत व्याख्यान पाया जाता है।

क्षणिकवाद—सौतान्तिक सन्तितिवादी ग्रीर क्षणिकवादी है। सर्व मस्कृत क्षणिक है। 'क्षण' शब्द का ग्रिभधान ग्रात्मलाभ के ग्रनन्तर विनप्ट होना है। क्षणिक वह धमं है, जिसका क्षण है। जैसे दिण्डक वह है, जो दण्ड का वहन करता है। ग्रात्मलाभ के ग्रनन्तर मस्कृत का ग्रस्तित्व नहीं होता। यह उस प्रदेश में विनण्ट होता है; जहाँ इसकी उत्पत्ति होती है। यह उस प्रदेश से दूसरे प्रदेश में नहीं जा सकता। यह विनाश ग्रकस्मात् होना है। यह श्रहेतुक है। जो 'सहेतुक' है, वह कार्य है। विनाश ग्रभाव है। ग्रभाव कैसे कार्य होगा? इसलिए, विनाश ग्रहेतुक है। इसलिए, सम्कृत उत्पत्ति के श्रनन्तर हो विनप्ट होना है। यदि यह उत्पन्नमात्र न हो, तो यह पीछे विनण्ट न होगा, क्योंकि यह भपरिवर्त्तित ग्रवस्था में रहना है (ग्रिभधमंकोश, पृ०४)।

श्रमग महायानसूत्रालकार (१८वाँ श्रध्याय, वोधिपक्षाधिकार, पृ० १४६-१४४) में क्षणिकवाद की परीक्षा करने हैं। यह कहने हैं कि मर्व मन्कृत क्षणिक हैं। इसकी मिद्धि कैसे होती हैं? श्रमग कहते हैं कि क्षणिकत्व के विना मन्कारों की प्रवृत्ति का योग नहीं हैं। 'प्रवृत्ति' प्रवन्धवश 'वृत्ति' को कहने हैं। प्रतिक्षण उत्पाद श्रौर निरोध के विना यह प्रवृत्ति श्रयुक्त है। यदि कालान्तर-स्थित रहकर पूर्व के निरोध श्रौर उत्तर ने उत्पाद ने प्रवन्धेन वृत्ति इस्ट हैं, तो प्रवन्ध के श्रमाव में उसके श्रमन्तर श्रवृत्ति न होगी। पुन प्रवन्ध के विना इन्यन

का कालान्तर-भाव युक्त नहीं हैं। क्यों ? क्यों कि उत्पत्ति हें तुत होती हैं। हेतुवण ही सव सस्कृत उत्पन्त होते हैं। यदि होकर (भूत्वा) उत्तर काल में पुन भाव होता है, तो यह अवश्य हेतुवण ही होगा। हेतु के विना आदि से ही अभाव होगा, और वह उसी हेतु से नहीं हो सकता; क्यों कि उपने उस हेतु का उपभोग कर लिया है। अन्य हेतु की उपलब्धि भी नहीं है, अत प्रतिक्षण पूर्व-हेतुक अन्य अवश्य होता है। इस प्रकार, विना प्रवन्ध के उत्पन्त का कालान्तरभाव युक्त नहीं है।

अथवा यदि कोई कहे कि हमको यह इण्ट नहीं है कि उत्पन्न का पुन उत्पाद होता है, तो उसके लिए हेतु का होना आवश्यक है। उत्पन्न कालान्तर में पश्चात् निरुद्ध होता है, उत्पन्नमान्न ही निरुद्ध नहीं होता। तब किम कारण से पश्चात् निरोध होता है? यदि यह कहा जाय कि उत्पाद-हेतु में यह निरुद्ध होना है, तो वह अयुक्त होगा; क्योंकि उत्पाद और निरोध का विरोध है। दो विरोधों का तुल्य-हेतु उपल-ध नहीं होता, यथा छाया-आतप,या शीत-उपण का।

पुन कालान्तर-निरोध का ही आगम से विरोध है। भगवहचन है—"हे भिक्षुग्रों मस्कार मायोपम है। यह आपायिक और तावत्कालिक है। यह क्षणमात्र भी अवस्थान नहीं करता।" योगियों के मनस्कार से भी विरोध है। वस्तुतः, जब योगी सस्कारों के उदय-व्यय का चिन्तन करते हैं, तब वे उनका निरोध प्रतिक्षण देखते हैं। अन्यथा, उनकों भी वह विराम उत्पन्न न हो, जो दूसरों को मरण-काल में निरोध देखकर होता है।

यदि उत्पन्न सस्कार का कालान्तर के लिए ग्रवस्थान हो, तो वह या तो स्वयमेव श्रवस्थान करेगा, श्रर्थात् श्रवस्थान में स्वय समर्थ होगा, ग्रयवा किसी स्थिति-कारण से श्रवस्थान करेगा । किन्तु, उसका स्वय तावत् काल के लिए अवस्थान अयुक्त है, क्योंकि उसका अभाव है। वह किचिन्मात्र भी उपलब्ध नही होता। कदाचित् यह कहा जायगा कि स्थिति-कारक के विना भी विनाण-कारण के ग्रभाव से ग्रवस्थान होता है। किन्तु, यदि विनाण-कारण लाभ होता है, तो उसका पीछे विनाण होता है, जैसे ज्यामता का अग्नि से। यह अयुक्त है, क्योंकि उसका स्रभाव हैं। वस्तुतः, पीछे भी कोई विनाश-कारण नही है। स्रग्नि से स्यामता का नाण होता है, यह सुप्रसिद्ध है। किन्तु, विसदृश की उत्पत्ति में उसका सामर्थ्य प्रसिद्ध है। बस्तुत., ग्रग्नि के सम्बन्ध में क्यामना की मन्तित विसदृशी गृहीत होती है, किन्तु मर्यथा ग्रप्रवृति नहीं होती। जल का भी क्वाथ होने से अग्नि के सम्बन्ध से उसकी उत्पत्ति अल्पतर-अल्पतम होती है, ग्रीर ग्रन्त में ग्रतिमान्च के कारण पुनरूत्पत्ति का ग्रहण नहीं होता। किन्तु, ग्रांन के सम्बन्ध में मकृत् ही उसका श्रभाव नहीं होता। पुन, यह युक्त नहीं है कि उत्पन्न का ग्रवस्थान हो, क्योंकि लक्षण ऐकान्तिक है। भगवान् ने कहा है कि नस्कृत की ग्रनित्यता सस्कृत का ऐकान्तिक खक्षण हैं। यदि यह उत्पन्न-मान्न होकर विनष्ट न हो, तो कुछ काल के लिए इसकी अनित्यता न होगी। कदाचित् यह कहा जायगा कि यदि प्रतिक्षण अपूर्व उत्पत्ति होती, तो यह प्रत्यभिज्ञान न होता कि यह वही है। यह प्रत्यभिज्ञान ग्रचिं के ममान सादृश्य की अनुवृत्ति से होता है। सादृश्य से ऐसी वृद्धि होती है, उसके माव से नहीं। इसका झान

कैसे होता है ? निरोध से । यदि उसका वैसे ही अवस्थान होना, तो अन्त में निरोध न होता, क्यों कि आदि क्षण से विशेष नहीं होता । इसिलए, यह अवधारित नहीं होता कि यह वहीं है। परिणाम की उपलब्धि से भी परिणाम का अन्यथात्व है। यदि वह आदि से ही आरब्ध न होता, तो आध्यात्मिक और वाह्य भावों के अन्त में परिणाम की उपलब्धि नहीं होती । अत, आदि से ही अन्यथात्व का आरम्भ हो जाता है, और यह कम में वृद्धि को प्राप्त हो अन्त में व्यवन होता है। जैसे, क्षीर दिध की अवस्था में व्यय होता है, किन्तु क्योंकि मूक्ष्म होने से इम अन्यथात्व का परिच्छेद नहीं होता। इमलिए, मादृष्य की अनुवृत्ति से ऐसा ज्ञान होता है कि यह वहीं है, और क्योंकि प्रतिक्षण अन्यथात्व होता है, इसिलए क्षणिकत्व मिद्ध है। यह कैसे ? हेतुत्व और फलत्व से, अर्थात् क्योंकि हेतु क्षणिक हैं, और फल क्षणिक है। यह मिद्ध है कि चित्त क्षणिक है। अन्य सस्कार, चक्षु-स्पादि उमके हेतु हैं। अत, वह भी क्षणिक सिद्ध हुए। अक्षणिक से क्षणिक नहीं हो सकता, जैसे नित्य से अनित्य नहीं होता। इमरी और नव मस्कार चित्त के फल भी हैं। वस्तुत, चिन्त का आधिपत्य नहीं होता। इमरी भावन ने कहा है—"चित्त से यह लोक नीन होना है, चिन्त से पिकृत्य होना है।" यह भी कहा है कि नामरूप विज्ञान-प्रत्यय है। अन, वह चिन्त का फल है। अन, सम्कार चित्त के ममान क्षणिक है।

यह सिद्ध करके कि मत्र सस्कार क्षणिक है, ग्रसग मिद्ध करने हैं कि ग्राध्यात्मिक मस्कार क्षणिक है। जितने बौद्धनिकाय है, वे सब सन को ग्रविच्छित्र हेतु-फल-परम्परा मानने है, ग्रीर यह भी मानते है कि हेतु-फल का उत्पाद-निरोध प्रतिक्षण होता है । इसके साधन में ग्रसग वही हेतु देते हैं; जिन्हें पूर्व ग्राचार्यों ने दिया है । इसी प्रकार, वह वाह्य नस्कारों के, अर्थात् चार महाभूतो के और पड्विध अर्थादि के क्षणिकत्व को सिट करने है। असन दार्शनिक युक्तियों के अतिरिक्त एक और युक्ति देते हैं। वस्तुतः वुद्ध ने सम्बार की अतिन्जना देशित की है। ग्रमग कहते हैं कि ग्रंसणिकवादी में पूछना चाहिए कि प्राप्यों ग्रनित्यत्व नो इष्ट है, फिर क्षणिकत्व क्यो नहीं इष्ट है ? यदि वे यह कहे कि अन्यत्य का ग्रहण प्रनिक्षण नहीं होता, तो उनसे यह कहना चाहिए कि प्रदीपादि का क्षणिकभाव ग्रापको क्यो उच्छ है, जब निण्चलावस्था मे अन्यत्व का ग्रहण नहीं होना । यदि उनका यह उनर हो कि पूर्ववत पण्चात् का स्रग्रहग है तो उनसे कहना चाहिए कि सम्कारो वा भी ऐसा ही पयो नहीं मानने। यदि वे यह कहें कि प्रदीपादि के लक्षण ग्रन्य है ग्रौर सम्कार के उनमें ग्रन्य है, तो यह उत्तर होना चाहिए कि वैलक्षण्य दो प्रकार का ई--- व मव-वैलक्षण्य और वृत्ति-वैलक्षण्य । यदि जो वैलक्षण्य ग्रापको ग्रमिप्रेत है, वह न्वभाव है, तो दृष्टान्त युग्त है क्योंकि किसी का स्वभाव उमका दृष्टान्त नहीं होता । यथा प्रदीप प्रदीप वा दृष्टान्त नहीं होता । श्रीर, यदि वृत्ति-वैतदान्य है, तो प्रदीप का दृष्टान्न युक्त है, क्योंकि लोक में प्रसिद्ध है कि यह क्षणिकन्व की प्रनृव्ति करना है। पुन, उनसे पूछना चाहिए कि क्या आप मानने है कि यान के खड़े रहने पर जो याना-रूढ़ है, वह जाना है ? यदि वे कहें कि 'नहीं, तो उनमें बहना चाहिए कि चस्रादि में

श्रवस्थान करने पर तदाश्रित विज्ञान प्रवन्धेन गमन करता है, यह कहना श्रयुक्त है। यदि उनका यह उत्तर हो कि क्या हम नहीं देखते कि वित्त का श्रवस्थान होता है, श्रीर वित्त-सिन्निश्रित प्रदीप का प्रवन्धेन गमन होता है, तो उनसे कहना चाहिए कि 'नहीं', प्रवन्धेन गमन नहीं देखा जाता, क्यों कि वित्त में प्रतिक्षण विकार उत्पन्न होता है। यदि वे यह उत्तर दें कि यदि सस्कार क्षणिक है, तो जिस प्रकार प्रदीप का क्षणिकत्व सिद्ध है, उसी प्रकार सस्कारों का क्षणिकत्व क्यों नहीं सिद्ध है हमारा उनकों यह उत्तर होगा कि सस्कारों का विपर्यास-वस्तुत्व है, क्यों कि इनकी वृत्ति सदृश सन्तित-प्रवन्ध में होती है, इसलिए इनका क्षणिकत्व जाना नहीं जाता। क्यों कि, उनका श्रपरापरत्व है, इसलिए यह विपर्यास होता है कि यह वही है। श्रन्यथा, श्रिनित्य में नित्य का विपर्यास नहीं होता। इस विपर्यास के श्रभाव में सक्लेश न होगा, फिर व्यवदान कहाँ से होगा है इस विचार-विमर्श से सिद्ध होता है कि सब सस्कारों का क्षणिकत्व है।

तृतीय घ्यान (सुख) - वैभाषिको के अनुसार तृतीय ध्यान का 'सुख' प्रथम श्रौर द्वितीय ध्यान के 'सुख' से द्रव्यान्तर है, ग्रौर इमलिए एक नया ग्रग है। सौव्रान्तिक प्रश्न करते है कि ऐसा क्यों है ? वैभाषिक का उत्तर है कि प्रथम दो ध्यानो में 'सुख' से 'प्रश्नव्धि' ग्रिभिप्रेत है। यह सुख प्रश्नव्धिमय है ( 'प्रश्नव्धि' कर्मण्यता है )। तृतीय में सुखावेदना है। वास्तव मे, पहले दो ध्यानो में सुखेन्द्रिय की सम्भावना नही है, क्योंकि इन ध्यानो का सुख कायिक सुख नहीं हो सकता । उस सत्त्व में जो ध्यान-समापन्न होता है, पच इन्द्रिय-विज्ञानो का स्रभाव होता है। इन ध्यानो का सुख चैतिसक सुख नही हो सकता, क्योंकि इन ध्यानो में 'प्रीति' होती है। किन्तु, 'प्रीति' सौमनस्य है, ग्रौर यह माना नही जा सकता कि प्रीति ग्रौर सुख का महभाव है। पुन, वे कहते हैं कि हम यह भी नहीं मान सकते कि एक के अनन्तर दूसरा होता है, क्यों कि प्रथम ध्यान के पाँच ग्रग है, दूसरे के चार । शास्त्र में केवल सुखावेदना को ही मुख का ग्रधिवचन नही दिया गया है, ग्रन्य धर्म भी इस नाम से जाने जाते है। मूत्रो में 'सुख' गव्द सव प्रकार के धर्मों के लिए व्यवहृत होता है। दार्ष्टीन्तिक सौत्रान्तिक के अनुसार पहले तीन ध्यानो में चैनसिक सुखेन्द्रिय नही होती, किन्तु केवल कायिक सुखेन्द्रिय होती है । यही इन ध्यानो का मुख नामक ग्रग व्यवस्थापित है, ग्रत इनके ग्रनुसार तृतीय घ्यान का सुख द्रव्यान्तर नही है। पुन, वैभापिको के ग्रनुसार द्वितीय घ्यान का सम्प्रसाद ( ग्रध्यात्म-सम्प्रसाद ) एक द्रव्य-सत् है। यह श्रद्धा है। योगी द्वितीय ध्यान का लाभ कर गम्भीर श्रद्धा उत्पन्न करता है। उसकी इसमें प्रतिपत्तिहोती है कि समापत्ति की भूमियों का भी प्रहाण हो मकता है। इस श्रद्धा को अध्यात्म-सम्प्रसाद कहते है। प्रसाद-लक्षणा श्रद्धा प्रसाद कहलाती है । बाह्य का प्रहाण कर यह समरूप से प्रवाहित होती है । इसलिए, यह वह प्रसाद है, जो ग्रध्यात्म ग्रीर मम है। इसलिए, यह ग्रध्यात्म-सम्प्रसाद है।

सौद्रान्तिको के अनुसार वितर्क, विचार, ममाधि और श्रध्यात्म-सम्प्रसाद एक दूसरे से भिन्न द्रव्य नहीं है। यदि यह द्रव्यान्तर नहीं है, तो ग्राप यह कैसे कहते हैं कि ये चैतसिक धर्म है। चित्त के ग्रवस्था-विशेष चैतसिक कहलाते हैं, क्योंकि वे चित्त में होने हैं। सौत्रान्तिक कहते हैं कि जब वितर्क ग्रीर विचार का विक्षेप समाप्त हो जाता है, तब चित्त-सन्तित प्रशान्त, प्रसन्न नहीं होती (ग्रिमधर्मकोश, ५, पृ० १५१-१५६)। दार्ष्टान्तिकों के ग्रनुसार सामन्तक केवल शुभ होते हैं, किन्तु वैभाषिकों के ग्रनुसार वे शुभ, क्लिष्ट ग्रीर ग्रव्याकृत होते हैं (ग्रिभधर्मकोश, ५, पृ० १६०)।

वैभाषिक नय से पर्यवस्थान ही ग्रनुशय है, वात्सीपुत्तीय नय से 'प्राप्ति' ग्रनुशय है, सौत्रान्तिक नय से बीज ग्रनुशय है (व्याख्या, पृ० ४४२, पिनत २८-२६)।

विज्ञान का आश्रय और विषय—वैभाषिक का मत है कि चक्षु रूप देखता है, जब वह सभाग है। यह तदाश्रित विज्ञान नहीं है, जो देखता है ( ग्रिभिधर्मकोश, १, ५० २२ )। विज्ञानवादी के ग्रनुसार चक्षु नहीं देखता, चक्षुर्विज्ञान देखता है। सीत्रान्तिक का मत है कि न कोई इन्द्रिय है, जो देखती है; न कोई रूप है, जो देखा जाता है, न कोई दर्शन-क्रिया है, न कोई कर्त्ता है, जो देखता है, हेतु-फल-मात्र है ( ग्रिभिधर्मकोश, १, ५० ६६ )।

महायान के उदय की श्रोर — सौद्रान्तिको का यह विचार महायान-दर्शन के विचार से मिलता-जुलता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि सर्वास्तिवाद के कई धर्म सौद्रान्तिक के लिए वस्तु-सत् नहीं है, वे प्रज्ञप्तिमात्र है। यहाँतक कि निर्वाण भी वस्तु-सत् नहीं है। पुन सौद्रान्तिक का क्षणिकवाद सर्वास्तिवाद के क्षणिकवाद से भिन्न है। मौद्रान्तिक के लिए श्रात्मा सस्कार-प्रवन्ध श्रथवा विज्ञान-सन्तान है। यह सन्तान सन्तानी के विना है। यह मन्तान पिपीलिका-पित के तुल्य है। यह हेतु-फल-परम्परा है। धर्मों के उत्पाद श्रीर निरोध को हम एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते, कोई स्थित नहीं है। सर्वास्तिवाद के श्रनुसार धर्मों का उत्पाद, स्थिति, श्रनित्यता श्रौर निरोध है। सर्वास्तिवादी भी क्षणिकवादी है, किन्तु उसका क्षणकाल का श्रव्यतम विभाग है। किन्तु, सौद्रान्तिक के श्रनुसार धर्मों का विनाश, उत्पाद के समनन्तर ही होता है, धर्मों की कोई स्थित नहीं है। पुन, सौद्रान्तिक के श्रनुसार वाह्य श्रयं जात का प्रत्यक्ष नहीं है, वह केवल श्रनुमित होता है। सौद्रान्तिक धर्मकाय को भी स्वीकार करते है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि किस प्रकार हीनयान के गर्भ से महायान-धर्म श्रीर दर्शन के विचारों का उदय होता है।

हमने इस ग्रध्याय मे सीत्रान्तिक ग्रीर सर्वास्तिवाद के मुख्य-मुख्य भेदो का वर्णन किया है। श्रागे महायान के ग्रन्तर्गत दर्णनो का विचार ग्रारम्भ करेंगे। लक्षण नही है, क्योंकि सर्व धर्म नि स्वभाव है, यह उसका उपदेश है, ग्रत यह वुद्धवचन नहीं है।

यह ग्राक्षेप ग्रयथार्थ है। लक्षणों का कोई विरोध नहीं है। स्वकीय महायानसूत में महायान का ग्रवतरण है। महायान में वोधिसत्त्वों का जो क्लेण उक्त है, उसके विनय में महायान का मदर्शन होता है। वस्तुत, विकल्प ही वोधिमत्त्वों का क्लेश है। श्रावकयान के विनय में भिक्षुग्रों के नियमों का उत्लेख हे। महायान का विनय वोधिचर्या ग्रोर शील का उपदेश देता है। पुन महायान धर्मता के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यह उदार ग्रीर गम्भीर है। धर्मता से ही महावोधि की प्राप्ति होती है। फिर, महायान धर्मता के विरुद्ध क्यों हो?

महायान से तस्त होने का कोई कारण नहीं है। इसमें केवल भून्यता का ही ग्राख्यान नहीं है। इसमें सम्भारमार्ग का भी ग्राख्यान है। इस ग्राख्यान का यथारुत ग्रर्थ नहीं है, ग्रीर बुद्धों का भाव ग्रतिगहन है। इस कारण महायान से ताम करने का कोई स्थान नहीं है। मुझे बोध न होगा, बुद्ध भी गम्भीर पदार्थ का बोध नहीं रखते, फिर वह क्या इसका उपदेण देंगे? गम्भीर ग्रतकंगम्य क्यों है गम्भीर पदार्थ के ग्रर्थवेत्ताग्रों का ही मोक्ष क्यों है, तार्किकों का क्यों नहीं है? इत्यादि तास के हेतु ग्रयक्त है।

महायान उत्कृष्ट है। उसकी देशना उदार श्रीर गम्भीर है। इसलिए, उसमे श्रिधमुक्ति

( =श्रद्धा ) होनी चाहिए।

इस प्रकार, महायान की सत्यता को सिद्ध कर ग्रसग जरणगमन को वोधिसत्त्व की

अधिमुक्ति का मूल आधार वताते हैं।

शरण-गमन—यह यथार्थ है कि शरण (= विरत्न)-गमन शासन के ऋादि से ही सब वौद्धों को समान रूप से मान्य है। किन्तु, ग्रसग का कहना है कि महायान में जो विरत्न की शरण में जाता है, वहीं शरणागतों में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें चार हेतु हैं—सर्वव्रगार्थ, ग्रभ्यूप-गमार्थ, ग्रधिगमार्थ, ग्रभिनवार्थ। यह ग्रग्रयान है, क्यों कि इससे जो सिद्धि प्राप्त है, वह मत्त्विहत का साधन करता है। इसका प्रणिधान ग्रीर इसकी प्रतिपत्ति विशिष्ट है, ग्रत इस यान का शरण भी ग्रग्र है।

इस यान में णरणप्रगत मर्वत्रग है। उसने सव मत्त्वों के ममुद्धरण का भार ग्रपने ऊपर लिया है। वह मव यानों में (आवक, प्रत्येकवृद्ध, वोधिसत्त्व) कुशल है। वह मर्वगत ज्ञान में कुशल है, ग्रयीन् पुद्गल-नैरात्म्य ग्रीर धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है। उसम निर्वाण का मर्वत्रगार्थ है, वयोकि वह निर्वाण ग्रीर समार में एकरम है, ग्रीर उसके लिए निर्वाण ग्रीर समार में गुण ग्रथवा दोप की दृष्टि से विशेष नहीं है (यो निर्वाण ससरणेऽप्येकरसोऽसी जेथों घीमानेष हि सर्वत्रग एवम्, २।३)।

उम विचार मे नागार्जुन की शिक्षा की प्रतिष्विन है। ग्रारम्भ मे ही हमको माध्यिमिक

विचार-मरणी के चिह्न मिलते हैं।

णरण-गमन के ग्रन्य लक्षण जैंसा कि महायान में उपदिष्ट हैं, वोधिसत्त्व की पारिमताग्रों का ग्रभ्युपगम ग्रीर ग्रिधिगम है। पारिमताग्रों के ग्रभ्युपगम से वह बुद्धपुत्न हो जाना है। उसका प्रणिधान ग्रीर प्रयोग विशिष्ट है। वह सत्त्वों के समुद्धरण के ग्राशय से वोधिचित्त का समादान करता है, ग्रीर ग्रत्यन्त उत्माह के माथ वोधि के लिए प्रयोग करता है।

इस वुद्धपुत्र का वीज वोधिचित्त का उत्पाद है। प्रज्ञापारिमता इसकी माता है, श्रौर प्रज्ञापारिमता से सम्प्रयुक्त पुण्य-ज्ञान-सम्भार गर्भ है, श्रौर करुणा श्रप्रतिम धात्री है।

उसका ग्रधिगम भी विशिष्ट है। उसको महापुण्य-स्कन्ध का लाभ होता है, उसके सर्व दुख का उपशम होता है, सम्यक् सम्बोधि के क्षण में उसको वृद्ध के धर्मकाय की प्राप्ति होती है, उसको वलवैशारद्यादि कुणल-सम्भार की प्राप्ति होती हे, ग्रार वह भव तथा निरोध दोनों से विमुक्त होता है।

इसी प्रकार, वोधिमत्त्व ग्रपने विपुल, उदग्र ग्रौर ग्रक्षय कुशल-म्ल से श्रावको को ग्रिभिमूत करता है। निर्वाण मे यह उसका विशिष्ट ग्रिभिभवार्थ है। उसके कुशल-मूल क्षीण नहीं होते। उसके गुणो की ग्रप्रमेय वृद्धि होती है, ग्रौर वह ग्रपने कृपाशय से इस जगन् का प्रतिवेध करता है ग्रीर महायान धर्म को प्रसिद्ध करना है।

#### वोधिसत्व के गोत्र

णरण-गमन से बोधिमत्त्व के गोव भे प्रवेश होता है। गोव का ग्रम्तित्व धातुभेद, ग्रिधमुक्ति-भेद, प्रतिपत्ति-भेद ग्रीर फलभेद, से निरूपित होता है। गत्वों के ग्रपरिमाण धातु-भेद है। इसीलिए, तीन यानों में गोव्र-भेद है। सत्त्वों में ग्रिधमुक्ति-भेद (= श्रद्धाभेद) भी पाया जाता है। किसी की किसी यान में पहले से ही ग्रिधमुक्ति होती है। यह गोव्र-भेद के विना नहीं हो मकता। प्रत्ययवण ग्रिधमुक्ति के उत्पादित होने पर भी प्रतिपत्ति-भेद होता है। कोई निर्वोद्धा होता है, कोई नहीं। यह गोव-प्रभेद के विना सम्भव नहीं है। फल-भेद भी देखा जाता है, जैसे किमी की वोधि हीन, किमी की मध्य ग्रीर किसी की विणिष्ट होती है। क्योंकि, बीज के ग्रनुरूप फल होता है। इसलिए, यह प्रभेद भी गोव-भेद के विना नहीं हो मकता।

निमित्त—चार निमित्तो से बोधिसत्त्वो के गोत्न का अग्रत्व प्रदर्शित होता है। श्रावको के इस प्रकार के उदग्र कुशल-मूल नहीं होते। उनमें मव कुणल-मूल भी नहीं होते, क्योंकि उनमें वलवैशारद्यादि का अभाव है। श्रावकों में परार्थ भी नहीं होता और उनके कुशल-मूल अक्षय भी नहीं है, क्योंकि निरूपिधशेप-निर्वाण में उनका श्रवसान होता है।

<sup>9</sup> श्रं अत्तर ४।३७३ मीर ४।२३ में 'गोत्रभृ' शब्द प्राना है। नी या दम प्रार्य पदमलों की मूची में इसका निम्नतम स्थान है। एक में होतापत्ति-फल प्रतिपत्रक क पत्रवात, दसरी मची में श्रद्धानुसारी के पत्रवात । 'हुमारापव्यक्ति' में 'पूर्यु जन (=-पूयरजन' से इसका कें या स्थान है। इसके अनुसार 'गोत्रभृ' वह एद्यल है, जो प्रार्थधर्म में प्रतेश करने के रिष् श्रावश्यक धर्म से युवत है। महाच्यु त्पत्ति विशे में पान गोत गिनाये गये हैं, श्रावकयाना मिममय प्रत्येक्तपुद्ध, तथागत अनिवत प्रतिवत्ति ।

वोधिसत्त्व-गोत्न में चार लिंग होते हैं— १. सत्त्वो के प्रति कारुण्य २ महायान धर्म में ग्रधिमुक्ति ३ क्षान्ति, ग्रर्थात् दुष्कर चर्या की सिहण्णुता, ४. पारिमतामय कुशल का समाचार (निष्पत्ति)। सक्षेप में गोत्रो के चार भेद हैं — १ नियत, २. ग्रनियत, ३ प्रत्ययवश ग्रहार्य, ग्रीर ४ प्रत्ययवश हार्य।

श्रसग वोधिसत्त्व-गोत्न की उपमा महामुवर्णगोत्न से देते हैं, श्रीर इसके माहातम्य का वर्णंन करते हुए कहते हैं कि यह अप्रमेय कुलश-मूल श्रीर ज्ञान का आश्रय है, तथा इससे बहु-सत्त्व का परिपाक होता है। यह वोधिवृक्ष का प्रश्नस्त मूल है। इससे सुख-दुख का उपशम होता है, श्रीर श्रपने तथा पराये हित-सुख के फल का श्रिधिगम होता है (श्रिधिकार ३)।

### बोधिचित्तोत्पाद

वोधिसत्त्वचर्या का ग्रारम्भ वोधिचित्त के उत्पाद से होता है। इस चेतना के दो श्रालम्बन है—महावोधि ग्रौर मत्त्वार्थ-क्रिया। इसके नीन गुण है —इसमें पुरुपकार-गुण है, क्योंकि इसमें महान् उत्माह ग्रौर दुष्कर प्रयोग होते है। इसमें श्रयंकिया-गुण ग्रौर फलपरिग्रह-गुण है, क्योंकि यह श्रात्म-पर-हित का साधन करता है, ग्रौर इससे वोधि का ममुदागम होता है।

इस चित्तोत्पाद का मूल करणा है। सटा सत्त्वो का हित मम्पदित करना इसका आगय है, महायानधर्म अधिमोक्ष है, इसका ज्ञान इस चेतना का आलम्बन है, इसका यान उत्तरोत्तर छन्द है, इसकी प्रतिष्ठा बोधिमत्त्व के शीलसवर में है, इसका आदीनव अन्य यान में चित्त की उत्थापना या अधिवासना है, इसका अनुशस पुण्यज्ञानमय कुशलधर्म की वृद्धि है, इसका निर्याण पारमिताओं का सतत अभ्यास है, इसका भूमि-पर्यवमान उस भूमि में प्रयोग से होता है, जिस भूमि में जिस चेतना का प्रयोग होता है, उसका उस भूमि में पर्यवसान होता है।

एक नमादान साकेतिक चित्तोत्पाद होता है, श्रौर एक पारमार्थिक। समादान परिवज्ञापन से होता है, यथा कल्याणिमत्र के अनुरोध से गोत्र-सामर्थ्य से, कुशलमूल के वल से, श्रुतवल से श्रयवा शुभाम्यास से। पारमार्थिक चित्तोत्पाद उपदेश-विशेष, प्रतिपत्ति-विशेष श्रीर श्रिधगम-विशेष से होता है। प्रमुदिता भूमि में इम चित्त का उत्पाद होता है। उसकी धर्मों में समचित्तता होती है, क्योंकि, वह धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है। उसकी मत्त्वों में समचित्तता होती है, क्योंकि वह श्रात्म-पर-समता से उपगत है। उमकी सत्त्वकृत्यों में समचित्तता होती है, क्योंकि श्रपनी ही तरह वह सत्त्वों के दुखजय की श्राकाक्षा करता है। उसकी बुद्धत्व में समचित्तता होती है, क्योंकि वह श्रपने में धर्मधानु का श्रभेद जानता है।

जो मत्त्व इम चित्तोत्पाद से वर्जित होते हैं, वे उन चार मुखो को नही प्राप्त कर मकते, जिनका लाभ वोधिसत्त्वों को होता है। जो मुख परार्थ-चिन्तन से, परार्थ के उपायलाभ से, महायान के गम्भीर मूत्रों के आभिप्रायिक ग्रर्थ के जानने से ग्रौर परम सत्त्व के सन्दर्गन से वोधिसत्त्व को होता है, उससे वह विरहित होता है। वह इस मुख को त्याग कर गम का लाभ करता है।

जो सत्त्व वोधिचित्त का उत्पाद करता है, उनका चित्त अनन्त दुप्कृतो से मुसवृत होता है, श्रीर इसलिए उसको दुर्गति से भय नही होता। वह शुभ कर्म श्रीर कृपा की वृद्धि करता है। वह सदा सुख-दु ख मे प्रसन्न रहता है।

उसको श्रात्मा की श्रपेक्षा पर प्रियतर है। वह पराये के लिए श्रपने शरीर श्रीर जीवन की उपेक्षा करता है। वह कैसे श्रपने लिए दूसरे का उपघात कर दुप्कृत में प्रवृत्त होगा ?

मम्पदावस्था तथा विपदावस्था में वह क्लेश और दुख से भयभीत नहीं होता। वह पराये के लिए उद्योग करता है। ग्रवीचि भी उसके लिए रम्य है। फिर, वह कैसे दूसरे के कल्याण के निमित्त दुःखोत्पाद से तस्त होगा ?

वह मत्त्रों की उपेक्षा कभी नहीं कर सकता । उसके चित्त में महाकारुणिक भगवान् नित्य निवास करते हैं । उसका चित्त दूसरे के दु ख से दु खी होता है । पर-कल्याण के लिए कुछ करने का ग्रवसर प्राप्त होने पर यदि उसके कल्याण-मित्र समादापना करे, तो उसको ग्रति लज्जा होती है । वोधिसत्त्व ने ग्रपने ऊपर सत्त्वों का महान् भार लिया है । वह सत्त्वों में ग्रग्र है, ग्रत शिथिल गति उसको शोभा नहीं देती । उसको श्रावकों की ग्रपेक्षा सौगुना वीर्य करना चाहिए। (शिरसि विनिहितोच्चसत्त्वभारः शिथिलगितनिह शोभतेऽग्रसत्त्व., ४।२८)

### बोधिसत्व का सम्भार

श्रसग बताते हैं ( ५वाँ श्रधिकार ) कि यह सुगतात्मज है। जिसने बोधिचित्त का ग्रहण किया है, कैंसे महाकरुणा से प्रेरित हो महाबोध के लिए प्रस्थान कर सम्भार में प्रवृत्त होता है। वह अपने श्रोर पराये में विशेष नहीं करता। उसको समानचित्तना प्राप्त है। वह अपने से पराये को श्रेष्ठतर भी मानता है। उसका कौन स्वार्थ है, कौन परार्थ ? उसके लिए दोनो एक समान है। इसीलिए, ग्रपने को सन्तप्त करके भी वह परार्थ को माधित करता है। ससार में शब्रु के प्रति भी लोग इतने निर्दय न होगे, जितना कि ग्रपने प्रति बोधिमत्त्व निर्दय होता है, जब वह दूसरों के लिए ग्रत्यन्त दु ख का ग्रनुभव करता है। विमूद जन ग्रपने मुख के लिए सचेष्ट होता है, ग्रांर उसके न प्राप्त होन पर दु खो होता है। किन्तु, जो परार्थ के लिए उद्यत है, वह स्वार्थ ग्रीर परार्थ का सम्पादन कर निर्वृति-मुख को प्राप्त होता है। श्रनेक प्रकार से बोधिसत्त्व हीन, मध्य, विशिष्ट गोवन्थों का हित सम्पादित करता है। वह उनको देणना देता है, श्रद्ध-प्रातिहार्य से उनका ग्रावर्जन करता है, उनको शानन में ग्रवनीर्ण करता है, ग्रनेक सग्रयों का निराकरण करना है, कुशल में उनका पिरणक करना है, ग्रववाद-चिन-

परार्थिचत्तात्तदुपायलाभतो महाभिसन्ध्यधंतुतत्वदर्शनात्।
 महाहेवित्तोदयवर्जिना जना शम गिमध्यन्ति विहाय तत्मुखम् ॥ (४।२१)

स्थिति प्रज्ञाविमुक्ति में सहायक होती है, उनको ग्रिभज्ञादि विशेष गुणो से विभूषित करता है, तथागत-कुल मे जन्म, ग्राठवी भूमि मे व्याकरण, दमवी भूमि मे ग्रिभिषेक ग्रीर साथ-ही-साथ तथागत-ज्ञान का लाभ उनको कराता है।

प्रजुलुम्की के गव्दो में महायान वार-वार इस वाक्य को दुहराता है कि "स्वर्ग जाना छोटी-सी वात है। मेरी तो प्रतिज्ञा है कि मैं तुमको भी वहाँ ले चलूँगा।"
श्रसंग के दार्शनिक विचार

ग्रह्मयवाद—इसके पश्चात् ग्रसग दार्शनिक प्रश्नो को लेते हैं। छठे ग्रधिकार के ग्रारम्भ के विचार माध्यमिक हैं। "परमार्थ न सत् है, न ग्रसत्, न तथा है, न ग्रन्यथा, न इसका उदय होता है, न व्यय, न इसकी हानि होती है, न वृद्धि, यह विशुद्ध नहीं होता है, पुन विशुद्ध होता है। यह परमार्थ का लक्षण है।"

परमार्थ ग्रद्धयार्थ है। परिकल्पित ग्रीर परतन्त्र लक्षणवश यह सत् नही है, ग्रीर परिनिष्पन्न लक्षणवश यह ग्रमन् नही है। परिनिष्पन्न का परिकल्पित ग्रीर परतन्त्र से एकत्व का ग्रभाव है। इमलिए, यह 'तथा' नही है। यह ग्रन्थथा भी नही है, क्यों कि परिनिष्पन्न का उनमें ग्रन्थत्व भी नही है। परमार्थ का उदय-व्यय नही होता, क्यों कि धर्मधातु ग्रनिभसस्कृत है। इमकी हानि-वृद्धि नही होती, क्यों कि सक्लेश-पक्ष के निरोध ग्रीर व्यवदान-पक्ष के उत्पाद पर यह तदवस्थ रहता है। यह विशुद्ध नही होता, क्यों कि प्रकृति से यह ग्रसक्लिष्ट है, ग्रीर विशुद्ध भी होता है, वयों कि ग्रागन्तुक उपक्लेश का विगम होता है।

स्रनात्मदृष्टि—सव बाँ छवादों के समान असगं भी स्रात्मदृष्टि-विपर्याम का प्रतिषेध करते हैं। स्रात्मदृष्टि का लक्षण स्रात्मा नहीं है, दु सिश्यतना भी स्रात्मलक्षणा नहीं है, स्रात्मदृष्टि परिकल्पित स्रान्मलक्षण से विलक्षण है, क्यों कि पचस्कन्ध दु खमय है, स्रौर दु सिश्यतता पुन पचोपादान-स्कन्ध है। इन दो से, स्रर्थान् स्रात्मदृष्टि स्रौर पचोपादान-स्कन्ध से सन्य किसी स्रात्मलक्षण की उपपत्ति नहीं होती, स्रत स्रात्मा का स्रस्तित्व नहीं है। यह स्रात्मदृष्टि स्रममात्न है, स्रत स्रात्मा का स्रभाव है। मोक्ष भी स्रममात्न का सक्षय ही है। कोई मुन्त नहीं है।

ग्रमग प्छते हैं कि यह क्यो है कि लोग विश्रममाव ग्रात्मदर्शन पर ग्राश्रित हो यह नहीं ममझते कि दु ख की प्रकृति सस्कारों में सतत ग्रनुबद्ध है। जो दु ख का सबेदन नहीं करता, वह उम दु ख-म्बभाव के ज्ञान से दु.खी होता है। जो वेदक है, वह दु ख के ग्रनुभव में दु खी है। यदि वह दु खी है, तो इसलिए कि दु ख ग्रप्रहीण है। यदि वह दु खी नहीं हैं, तो इमलिए कि दु खयुक्त ग्रान्मा का ग्रभाव है। जब लोग भावों का प्रनीत्यममृत्पाद प्रत्यक्ष देखते हैं, जब वे देखते हैं कि उस-उस प्रत्ययवण वह-वह भाव उत्पन्न होता है, तो उनकी यह दृष्टि क्यो होती है कि दर्णनादिक ग्रन्यकारित है, प्रतीत्यममृत्पन्न नहीं हैं यह कौन-सा ग्रज्ञान-प्रकार है, जिसके कारण लोग विद्यमान प्रतीत्यममृत्पाद को नहीं देखते, ग्रीर ग्रविद्यमान ग्रात्मा

को देखते हैं <sup>?</sup> यह हो सकता है कि तम के कारण विद्यमान न देखा जा सके, किन्तु ग्रविद्यमान का देखा जाना शक्य नहीं है। (६।२-४)

ग्रसग एक ग्राक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि ग्रात्मा के विना भी (पुद्गल का) शम ग्रीर जन्म का योग है। परमार्थ दृष्टि से ससार ग्रीर निर्वाण में किञ्चिन्मात ग्रन्तर नहीं है, क्यों कि दोनो का समान नैरात्म्य है। तथापि यह विधान है कि जो शुभ कर्म के करने वाले हैं, जो मोक्षमार्ग की भावना करते हैं, उनको जन्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। नागार्जु न की भी यही शिक्षा है। विज्ञानवाद ग्रीर माध्यमिक दोनो का परमार्थ-सत्य एक ही है।

परमार्थ-ज्ञान——ग्रात्मदृष्टि-विपर्यास को निरस्त कर ग्रसग कहते हैं कि इम विपर्याम का प्रतिपक्ष पारमार्थिक ज्ञान है। इस ज्ञान में प्रवेश पुण्यज्ञानसम्भार ग्रीर चिन्ता द्वारा धर्मों के विनिश्चय से होता है। उस समय वोधिसत्त्व ग्रर्थ की गित को जान जाता है। उसको यह ग्रवगत हो जाता है कि ग्रर्थ जल्पमान है, ग्रीर वह ग्रथिभास चित्तमान में ग्रवस्थान करता है। यह वोधिसत्त्व की निर्वेधभागीय ग्रवस्था है। पुन उसको धर्मधानु का प्रत्यक्ष होता है ग्रीर इससे वह ग्राह्मग्राहकलक्षण से विमुक्त होता है। यह दर्शनमार्ग की ग्रवस्था है (६।७)। वृद्धि द्वारा यह ग्रवगत कर कि चित्त से ग्रन्य ग्रालम्बन (ग्राह्म) नहीं है, उसको यह भी ग्रवगत होता है कि चित्तमान भी नहीं है, क्योंकि जब ग्राह्म का ग्रभाव है, तब ग्राहक का भी ग्रभाव है।

द्वय में इसके नास्तित्व को जानकर वह धर्मधातु में यवस्थान करता है। भावनामार्ग की ग्रवस्था में ग्राश्रय-परिवर्त्तन से पारमार्थिक ज्ञान में प्रवेश होता है। समतानुगत ग्रविकल्पक ज्ञान के वल से वह दोप-सचय का निरसन करता है, ग्रीर वुद्धत्व को प्राप्त होता है। बोधिचर्या

बोधिचर्या मे प्रथम चरण विज्ञतिमालता है, ग्रर्थान् यह ज्ञान कि ग्राह्य ग्रीर ग्राहक चित्तमाल हैं। दूसरे चरण मे यह विज्ञानवाद ग्रह्यवाद मे परिवर्णित हो जाता है— "धर्मधातु का प्रत्यक्ष होने से वह द्वयलक्षण से विमुक्त हो जाता है।" तृतीय चरण—नागा-जुंन का यह मत है कि जब बुद्धि से यह ग्रवगत हो गया कि चित्त के ग्रतिरिक्त कोई दूसरा ग्रालम्बन नहीं है, तब यह जाना जाता है कि चित्तमाव का भी ग्रस्तित्व नहीं है, क्यांकि जहां ग्राह्म नहीं है, वहाँ ग्राहक भी नहीं है। वह किसी नास्तित्व मे पित्त नहीं होता, क्योंकि जब बोधिसत्त्व द्वय मे चित्त के नास्तित्व को जान जाता है, तब ग्राह्म-गहक-नक्षण मे रहित हो वह धर्मधातु में ग्रवस्थान करता है। यह मूल चित्त है, जो गम्पिण्डिन धर्म को ग्रान्यन बनाता है। चतुर्थ चरण में इस परमार्थ-ज्ञान का प्रयोग बोधिचर्या के लिए होता है (६। ६-९०)।

न चान्तरं किण्चन विद्यतेऽनयो सदर्धयृत्या शमजन्मनारिह । तथापि जन्मक्षयतो निधीयते शमस्य लामः गुभक्तमंकारियाम् ॥ (६।५)

छ ग्रिभिज्ञाएँ—छ ग्रिभिज्ञा ही वोधिसत्त्वों के प्रभाव है। ग्रसग दिखाते हैं कि किस निश्रय, किम ज्ञान, किस मनिमकार से इस प्रभाव का समुदागम होता है। इस प्रभाव का विविध फल है। वह ग्रार्थ ग्रीर दिव्य वाह्म-विहारों में नित्य विहार करता है तथा जिस लोकधातु में वह जाता है, वहाँ बुद्धों का पूजन ग्रीर मत्त्वों का विशोधन करता है।

वस्तुतः, जव मविकल्पक ज्ञान का स्थान प्रज्ञापारिमता लेती है, ग्रथीत् निर्विकल्पक ज्ञान का परिग्रह होता है, तव यह ज्ञान धर्म-ममूह पर ग्रपना कारित्न कर प्रभाव-सिद्धि निष्पन्न करता है। तक कोई भी कार्य चित्त को व्याघान नहीं पहुँचाता, ग्रौर योगी ग्रर्थविज्ञत्व प्राप्त करता है। ग्रसग इन ग्रभिज्ञाग्रों का मविस्तर वर्णन करते हैं, ग्रौर इस प्रकार विज्ञानवाद का दूसरा नाम योगाचार सार्थक होता है।

यह मत माध्यमिक ग्रीर एक प्रकार के ग्रह्थ-विज्ञानवाद के वीच की वस्तु है। यह मत ग्रात्मप्रतिषेध को वीजित कर उपनिपदों का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार, महायानसून्नालकार दो दृष्टियों का सन्तुलन करने की चेष्टा करता है, किन्तु दोनों एक विन्दु पर मिलते हैं। लोक भ्रान्तिमान है, यह समान विन्दु है। यह विन्दु नागार्जु न ग्रीर विज्ञानवादी ग्रह्यवाद दोनों में पाया जाता है (रेने ग्रूसे)। निर्विकल्पक ज्ञान का परिग्रह कर चतुर्थं ध्यान में समापन्न हो योगी सव लोकधातुग्रों को उनके तत्त्वों के सहित तथा उनके विवर्त्त-सवर्त्त के सहित माया के सदृश देखता है, ग्रीर वह विचिन्न प्रकारों से उनका यथेष्ट सन्दर्शन कराता है, क्योंिक उसको विश्वता का लाभ है।

ज्ञानविशत में वह शृद्धि को प्राप्त होता है, श्रीर श्रपनी इच्छा के श्रनुसार बुद्धसेंत को विनेय जनों को दिखाता है श्रीर वह मत्त्वों का परिशोधन भी करता है। जो मत्त्व ऐसे लोक-धानुश्रों में उपपन्न हैं, जो बुद्धनाम में विरहित हैं, उनकों वह बुद्धनाम सुनाकर बुद्ध में प्रतिपन्न करता है, श्रीर वह बुद्धनाम से श्रविरहित लोकधातुश्रों में उत्पन्न होता है। उसमें मत्त्वों के परिपाचन की शक्ति होती है। वह क्लेशपरवश जगत् को श्रपने वश में स्थापित करता है। वह सदा परहित-किया में मुख का श्रनुभव करता है, श्रीर भव का भय नहीं करता।

श्चात्मपरिपाक एव पारिमताश्चों के प्रयोग—उक्त प्रभाव के कारण वोधिसत्त्व श्चात्म-परिपाक करता है, तदनन्तर सत्त्वों के परिपाक की योग्यता को प्राप्त होता है, श्रीर सत्त्वों का प्रतिजरण होने के कारण जगत् का श्रग्रवन्धु होता है।

महायान देणना में किन, देणिक में प्रसाट ( = श्रद्धा ), क्लेशों का प्रणम, सत्त्वों पर अनुकम्पा, दुष्कर चर्या में सिहण्णुता, प्रहण-धारण-प्रतिवेध की मेधा, ग्रिधिंगम की प्रवलता, मारादि से ग्रहार्यना ग्रीर प्राहाणिक ( = प्रधान ) ग्रगों में समन्वागम श्रात्मपरिपाक के लक्षण हैं।

ग्रपना परिपाचन कर वोधिमत्त्व दूसरो का परिपाक करता है। वह मत्त्वी का प्रतिशरण होता है। वह सतत धर्मकाय की वृद्धि करना है। जिस ग्राशय से वोधिसत्त्व सत्त्वो का परिपाक करता है, वह माता-पिता-वान्धवादि के ग्राशय से विशिष्ट है, ग्रीर ग्रात्मवात्सलय से भी विशिष्ट है। ग्रात्मवत्सल पुरुप ग्रपना हित-सुख सम्पादित करता है, किन्तु यह कृपात्मा पर-सत्त्व-वत्सल है, क्योंकि यह उनको हित-सुख से समन्वित करता है ( 519४-9५ )।

जिम प्रयोग से वोधिसत्त्व सत्त्वों का परिपाक करता है, वह पारिमताग्रों का प्रयोग है। वह विविध दान से उनका परिपाक करता है। उसके लिए कुछ भी ग्रदेय नहीं है। वह ग्रपना सर्वस्व गरीर, भोगादि दान में देता है। उसका दान विपम नहीं होता, ग्रौर उससे उसकी कभी तृष्ति नहीं होती। वह सत्त्वों पर दो प्रकार का ग्रनुग्रह करता है—दृष्टधर्म में वह उनकी इच्छाग्रों को पूर्ण करता है, ग्रौर उनकी कुशल में प्रतिष्ठा करना है।

वह स्वभाव से स्वय शीलवान् है, ग्रौर वह दूसरों को शील में सिन्नविष्ट करता है। वह क्षान्ति द्वारा सत्त्वों का परिपाक करता है। यदि कोई उसका ग्रपकार करता है, तो भी वह प्रत्युपकार की ही बुद्धि रखता है। वह उग्र व्यतिक्रम को भी सह लेता है। वह उपायज्ञ है, ग्रौर वह ऐसे सत्त्वों का भी ग्रावंजन करता है, ग्रौर उनको कुणल में सिन्नविष्ट करता है। वह ग्रमन्त सत्त्वों के परिपाक के लिए कुशल कर्म करते हुए भी नहीं थकता। इसी प्रकार, ध्यान ग्रौर प्रज्ञा से वह परिपाचन-किया करता है। वह विविध प्रकार से सत्त्वों का परिपाचन करता है। किसी का विनयन सुगति गित के लिए, किमी का यानव्रय के लिए होता है।

बुद्धत्व (बोधि) का लक्षण

इस प्रकार, श्रात्मपरिपाक कर वोधिसत्त्व वोधि का लाभ करता है। नवें श्रधिकार में बोधि का सिवस्तर वर्णन है। सर्वगत ज्ञान होने के कारण वोधि लोकधातु से श्रनन्य है, क्योंिक सर्वज्ञान श्रपने श्रर्थ से श्रभिन्न है, श्रत सर्व धर्म बुद्धत्व है। बुद्धत्व तथता से श्रभिन्न है श्रीर तथता की विशुद्धि से प्रभावित है। बुद्धत्व स्वय कोई धर्म नहीं है, क्योंिक धर्मस्वभाव परिकल्पित है। बुद्धत्व शुक्ल धर्ममय है, क्योंिक पारिमतादि कुशल की प्रवृत्ति उसके श्रस्तित्व से होती है। शुक्ल धर्मों से यह निरूपित नहीं होता, क्योंिक पारिमतादि पारिमतादिभाव से परिनिष्पन्न नहीं है। यह श्रद्धय लक्षण है।

यद्यपि यह तथता है, तथापि यह अधर तथताओं का समुदाय नहीं है। इसमें वह है, किन्तु यह उनके अन्तर्गत नहीं है। आश्रय-परावृत्ति से ही चित्त इस अवस्था को प्राप्त होता है। यह परावृत्ति चित्त का विपरिणाम करती है, और उसको उत्कृष्ट बनाती है, यहाँतक कि चित्त आकाश सज्ञा को प्राप्त होता है, जो अत्यन्त विरुद्ध और अत्यन्त सर्वगत है, और जिससे सब विकल्प अपगत हो गये हैं। अनास्रव धातु (वह धातु, जो धर्मों के प्रवाह में रहित है) में बोधि का एक प्रकार का द्रव्य होना है। यहाँ बोधिमत्त्व निवाम करते हैं, और यह धर्मतथता से अन्य नही है। किन्तु, जब एक बार बोधि विविध भूमियों में होकर अपने स्थान को पहुँचती है, तब इसका क्या कारण है कि यह विपरीत नाव में धर्मों की ओर पुन प्रवृत्त होती है?

महायान मानता है कि वृद्धों का उपकारक कारित्र नित्य होता है, श्रौर इसी से यह कठिनता उत्पन्न होती है, किन्तु उमने विकायवाद से इस कठिनता को दूर किया है। धर्मकाय स्वाभाविक काय है। सम्भोगकाय वह काय है, जिससे पर्पन्मण्डल में वह धर्मसम्भोग करते है। निर्माणकाय वह काय है, जिसको निर्मित कर बुद्ध मत्त्वों का उपकार करते है। किन्तु, इन विशेषों के मूल में केवल भ्रान्ति की लीला है, जिससे मविकल्प परिकल्पित चित्त की मौलिक शान्ति को क्षुट्ध करता है। बुद्ध न एक है, न भ्रनेक, केवल बोधिमात्र है, जिसकी वृत्ति एक समान श्रौर मतत है (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २४)।

लक्षण—वोधि पर जो ग्रध्याय है, वह वस्तुत विज्ञानवाद का एक प्रधान ग्रन्थ है। ६। १-२ में वृद्धत्व का लक्षण यही दिया है कि यह सर्वावरण से निर्मल सर्वाकारज्ञता है। ६। ४-५ में कहा है कि वृद्धत्व का लक्षण ग्रद्धय है। वृद्धत्व का ग्रथों के साथ ग्रतिसूक्ष्म मम्बन्ध है। सब धर्म (ग्रर्थात्, मब ग्रयं) वृद्धत्व है, किन्तु यह स्वय धर्म नहीं है।

यह शुक्लधर्ममय है, किन्तु यह शुक्लधर्मों से निरूपित नहीं होता । १।५ में कहा है कि मय धर्म बुद्धत्व हैं, क्योंकि यह तथता से श्रिभन्न हैं, भौर तथता की विशुद्धि में प्रभावित हैं। किन्तु बुद्धत्व कोई धर्म नहीं है, क्योंकि धर्मों का स्वभाव परिकल्पित होता है, श्रौर बुद्धत्व परमार्थ है। पुन बुद्धत्व सब धर्मों का समुदाय है, श्रथवा सब धर्मों से व्यपेत है (१।६)।

वृद्धानुभाव—यह वृद्धत्व सर्वक्लेश से सदा परित्नाण करता है, जन्म, मरण तथा दुश्चरित से भी परित्नाण करता है। वृद्धानुभाव से सव उपद्रव शान्त होते हैं। अन्वे आँख पाते हैं, विधर श्रोत्न; विक्षिप्त-चित्त स्वस्थ होते हैं; ईतियाँ शान्त होती हैं। वृद्ध की प्रभा अपाय से परित्नाण करती है। वृद्धत्व तीर्थिक-दृष्टि और सत्काय-दृष्टि से परित्नाण करता है। यह अनुपम शरण है। जवतक लोक का अवस्थान है, तवतक वृद्धत्व सव सत्त्वो का सवमे वडा गरण हैं ( ११११ )।

स्राश्रय-परिवृत्ति—क्लेशावरण ग्रीर ज्ञेयावरण के बीज जो ग्रनादिकाल से सतत ग्रन्गत हैं, बुद्धत्व में ग्रस्त होते हैं। बुद्धत्व ही ग्राश्रय-परिवृत्ति हैं। बुद्धत्व से ही विपक्ष बीज का वियोग ग्रीर प्रतिपक्ष-सम्पत्ति का योग होता है, ग्रीर बुद्धत्व की प्राप्ति निर्विकल्प ज्ञानमागं से होती हैं। इस प्रकार, मुविशुद्ध लोकोत्तर ज्ञान का लाभ कर तथागत नीचे लोक को देखते हैं, जैमें कोई महान् पर्वत के शिखर पर से देखता हो। उनमें श्रावक-प्रत्येकबुद्ध के लिए भी जो शमाभिराभ है, ग्रीर ग्रपना ही निर्वाण चाहत है, करुणा उत्पन्न होती हैं। फिर, दूसरों की क्या कथा, जिनकी कचि मव में हैं (ग्रघाभिराम) ? (१।१३)

सर्वगतत्व—तथागतो की परिवृत्ति परार्थ-वृत्ति हैं। यह श्रद्धय है, श्रीर मर्वगत वृत्ति हैं। यह मस्कृत श्रीर श्रसस्कृत हैं, क्योंकि यह न ससार श्रीर न निर्वाण में प्रतिष्ठित हैं (६११४)।

ग्रसग नागार्जुन के दिये एक दृष्टान्त को देखकर बुद्धत्व के सर्वगतत्व को दिखाते हैं। जैमे ग्राकाण मदा सर्वगत है, उसी प्रकार बुद्धत्व का स्वभाव सर्वगतत्व है। जैसे विविध रूपो में ग्राकाण मर्वग है, उसी प्रकार मत्त्वों में बुद्धत्व का मर्वगतत्व है। बुद्धत्व सब सत्त्वों में श्रसन्दिग्ध रूप से व्यवस्थापित है, क्योंकि यह सब सत्त्वों को परिनिष्पत्तित ग्रपने से ग्रंगीकृत करता है (१।१५)।

फिर, ऐसा क्यों हे कि बुद्धत्व का यह सर्वगतत्व नाम-हप के जगत् में नहीं प्रकट होता? ग्रसग उत्तर देते है यथा भिन्न (भग्न) जलपात में चन्द्रविम्व नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार दुष्ट सत्त्वों में जो ग्रपात है, बुद्धविम्व का दर्शन नहीं होता (१।१६), यथा ग्रग्नि ग्रन्यन जलती है, ग्रन्यत शान्त होती है, उसी प्रकार जहाँ बुद्ध-विनय होते हैं, वहाँ बुद्ध का दर्शन होता है, ग्रीर जब विनीत हो जाते है, तब उनका ग्रदर्शन होता है। गाकर वेदान्त में हम इन्हीं दृष्टान्तों को पाते है। वहाँ पूर्ण ब्रह्म को सर्व-विगुद्ध ग्रीर सर्व-परिपूर्ण माना है ग्रीर उसके ग्रागन्तुक ग्रावरण ग्रीर उपाधियाँ इस स्वाभाविक परिपूर्णता को, कम-से-कम देखने में, ग्रवि-चिन्न हप से ग्राच्छादित करती है।

श्चर्यचर्या का श्रभिप्राय—पुन, हम किस प्रकार इसका समन्वय करते हैं कि वोधिमन्त्र सत्त्वों की श्चर्यचर्या करते हैं, श्चीर उनका बुद्धकार्य श्चनाभोग से ही सिद्ध होता है, श्चीर साथ-ही-साथ श्चनास्त्रव धातु निश्चल श्चीर निष्क्रिय है ? श्चसग इसके उत्तर में कहते हैं—श्चाभोग के विना बुद्ध में देशना का समुद्भव उसी प्रकार होता है, जैसे श्रघटित तूरियों में शब्द की उत्पत्ति होती है। पुनः, जैसे विना यत्न के मिण श्चपने प्रभाव का निदर्शन करती है, उसी प्रकार श्चाभोग के विना बुद्धों में भी कृत्य का निदर्शन होता है (६।१८-१६)। जैसे श्चाकाश में लोकिकिया श्चविच्छिन्न देखी जाती है, उसी प्रकार श्चनास्त्रव धातु में बुद्ध की किया श्चविच्छिन्न होती है, श्चीर जैसे श्चाकाश में लोकिकिया श्चविच्छन्न देखी जाती है, उसी प्रकार श्चनास्त्रव धातु में बुद्ध की क्षिया श्चविच्छन्न होती है, श्चीर जैसे श्चाकाश में लोकिकियाश्चों का श्चविच्छेद होने पर भी श्चन्यान्य किया का उदय-व्यय होता है, उसी प्रकार श्चनास्त्रव धातु में बुद्धकाय का उदय-व्यय होता है (६।२०-२१)।

#### बुद्धत्व का परमात्मभाव

बुद्धत्व श्रीर लोक का क्या सम्बन्ध है ? ग्रसग कहते है—यद्यपि तथता पीर्वापयं से विणिष्ट है, श्रीर इसलिए शुद्ध नहीं है, तथापि जब वह सर्व ग्रावरण से निर्मल हो जाती है, तब वह मलापगम के कारण शुद्ध हो जाती है, श्रीर बुद्धत्व से ग्रभिन्न हो जाती है (६।२२)।

वुद्ध, जिन्होने नैरात्म्य द्वारा मार्ग का लाभ किया है, विणुद्धि-णून्यता मे ग्रात्मा की णुद्धता का लाभ करते है, ग्रीर ग्रात्ममहात्मता को प्राप्त होते हैं (१।२३)।

यह अनासव धातु में वृद्धों के परम आत्मा का निर्देण है। यह 'परमात्मा' जव्द आश्चर्यजनक है। असग यह भी कहते हैं कि इसका कारण यह है कि वृद्धों का परमात्मा अप-नैरात्म्यात्मक है। अप्र नैरात्म्य विशुद्ध तथता हे। यही वृद्धों की आत्मा हे, अर्थात् स्वभाव है। इसके विशुद्ध होने पर अप नैरात्म्य की प्राप्ति होती है और यह शुद्ध आत्मा है। अत. शुद्धात्मा के लाभी होने से वृद्ध आत्ममाहात्म्य को प्राप्त होते हैं, और इसी अभिनिव्ध में वृद्धों की परम आत्मा अनास्नव धातु में व्यवस्थापित होती है ( ६।२३ )।

१ शून्यतायां विशुष्यया नेरात्म्यान्मार्गलाभन । उद्धा शुद्धात्मलाभित्वाद् गता श्रात्ममहात्मनाम् ॥ (६।२३ ।

शकर के श्रात्मवाद से हुलना— यहाँ हम यह कह सकते हैं कि यह विचार कितपय उपनिषदों के वाक्यों का स्मरण दिलाते हैं। जो श्रात्मा नैरात्म्यस्वभाव है, श्रथवा यो किहए कि जो श्रात्मा श्रपने मूल में, नैरात्म्य में, विलीन है, वह वृहदारण्यक के निर्णुण श्रात्मा के समीप है। इस प्रकार, नागार्जुन की दृष्टि से प्रस्थान कर एक श्रनजान मोड हमको शकर के श्रद्धैतवाद की चौखट पर ले श्राया है। इसमें सन्देह नहीं कि शकर का श्रद्धैतवाद श्रात्मवाद कहलायगा, जब कि श्रसग का श्रद्धैतवाद विज्ञानवाद है, किन्तु यह विज्ञानवाद ऐसा है कि स्पर्श से ही विलुप्त होने लगता है। श्रात्ममज्ञा का (जिसका स्वभाव नैरात्म्य का है) व्यवहार कर श्रसग के वाद की भाषा वेदान्त की भाषा के श्रत्यन्त समीप श्रा जाती है श्रीर इसी प्रकार यदि हम उपनिषद् श्रीर शकर के निर्णुण, निर्विणेष श्रात्मा को लें, जो शून्यता से इतना मिलता-जुलता है, तो हमको ज्ञात होगा कि शकर के श्रात्मा श्रीर ग्रसग के श्रात्मनैरात्म्य के वीच कितना कम श्रन्तर है (रेने ग्रूसे)।

किन्तु, इसके आगे के क्लोक में ( ६।२४ ) असग कहते हैं—इसी कारण कहा गया है कि वुद्धत्व न भाव है, न अभाव है। वुद्ध के भावाभाव के प्रश्न में (मरणानन्तर तथागत होते हैं या नहीं इत्यादि) हमारा अव्याकृत नय है। हम नहीं कह सकते कि वुद्धत्व भाव है, क्योंकि पुद्गल और धर्म का अभाव इसका लक्षण है, और यह तदात्मक है। पुन, हम यह भी नहीं कह सकते कि यह अभाव है, क्योंकि तथता इसका लक्षण है, और इमलिए यह भाव है ( ६।२४ )।

ग्रसग ग्रपने बुद्धत्व को भाव ग्रौर ग्रभाव के वीच रखने के लिए कुछ ग्रौर भी हेतु देते हैं। लोहे की दाह-शान्ति ग्रौर दर्शन की तिमिर-गान्ति भाव नहीं है, क्योंकि दाह ग्रौर तिमिर का ग्रभाव इसका लक्षण हैं। यह ग्रभाव भी नहीं हैं, क्योंकि इमका लक्षण शान्ति-भाव हैं। इसी प्रकार बुद्धों के चित्त-ज्ञान में राग ग्रीर ग्रविद्या की शान्ति को भाव नहीं कहा गया हैं, क्योंकि राग ग्रौर ग्रविद्या के ग्रभाव से इसका उत्पाद होता हैं, तथा इसे ग्रभाव भी नहीं कहा गया है, क्योंकि उम-उम विमुक्ति-लक्षण के कारण यह भाव हैं (६१२५)।

#### ग्रसंग का श्रद्धैतवाद

यह एक प्रकार के अद्वैतवाद के समीप हैं। बुद्धों के अनास्रव धातु में न एकता है, न बहुता। एकता नहीं हैं, क्यों कि बुद्धों के पूर्व देह थे, और बहुता नहीं हैं; क्यों कि आकाश के तुल्य बुद्ध का देह नहीं हैं (६।२६)। पुन, जैसे सूर्य के मण्डल में अप्रमेय रिश्मयाँ व्यामिश्र हैं, जो सदा एक ही कार्य में सलग्न रहती हैं और लोक में प्रकाश करती हैं, उसी प्रकार अनास्रव धातु में अप्रमेय बुद्ध होते हैं, जो एक ही मिश्र कार्य में सलग्न होते हैं, और ज्ञान मात्रालोक करते हैं। जैसे एक सूर्यरिश्म के नि सरण में सब रिश्मयों की विनि सृति होती हैं, भी प्रकार बुद्धों की ज्ञान-प्रवृत्ति एक काल में होती हैं। जैसे सूर्यरिश्मयों की वृत्ति में ममत्व का अभाव है, उसी प्रकार बुद्ध के ज्ञान की वृत्ति में ममत्व नहीं हैं। जैसे सूर्य की रिश्मयों से जगत् सकृत् अवभासित होता हैं, उसी प्रकार बुद्धज्ञान से सर्व सकृत्

प्रभासित होता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणे मेघादि से ग्रावृत होती है, उमी प्रकार सत्त्वों की दुष्टता बुद्धज्ञान का ग्रावरण है। यथा पाणुवण वस्त्व कहीं रगों में विचिन्तित ग्रीर कहीं ग्राविचिन्तित होता है, तथैंव ग्रावेधवण, ग्रायात् पूर्व प्रणिधानचर्या के वलाधान से बुद्धों की विमुक्ति में ज्ञान की विचिन्नता होती है, किन्तु श्रावक-प्रत्येकवृद्ध की विमुक्ति में ग्राविचिन्नता होती है (१।२६-३५)।

ये उपमाएँ हमको ग्रद्धैतवाद के दरवाजे पर ले जाती हैं। द्रव्य ग्राँर स्वभाव के स्थान में ग्रसग तथता ग्रीर वृद्धत्व का प्रयोग करते है। मवकी तथता निर्विणिष्ट है, किन्तु यही तथता जब विशुद्धिस्वभाव की हो जाती है, तब तथागतत्व हो जाती है। इमीनिए, मव मत्त्व तथागत-गर्भ है ( ६।३७ )।

पुन लौकिक से बुद्धत्व मे परिणत होने मे सब धर्मा की जो परावृत्ति होती है, उमका वर्णन ग्रसग करते हैं। बुद्धों का विभुत्व ग्रप्रमेय ग्रीर ग्रचिन्त्य होता है। विभुत्व के माथ-साथ निर्विकल्पक सुविशुद्ध ज्ञान होता है। उनके ग्रथंविज्ञान ग्रीर विकल्प की परावृत्ति होती है। इससे वह यथाकाम भोग-सदर्शन करते हैं, ग्रीर उनके मब ज्ञान ग्रीर कर्मों को भी व्याधान नहीं पहुँचता। प्रतिष्ठा की परावृत्ति से बुद्धों के ग्रनास्रव धातु में ( ग्रचलपद या ग्रमलपद ) ग्रप्रतिष्ठित निर्वाण होता है ( ६।४५ )। तथागत न सम्कृत धातु में प्रतिष्ठित हैं, ग्रीर न ग्रसंस्कृत धातु में, ग्रीर न वहाँ से व्युत्थित हैं।

#### निर्वाण

हीनयान दो प्रकार के निर्वाण से अभिज्ञ है—मोपिधणेष और निरुपिधणेष । पहली जीवन्मुक्त की अवस्था है। इस अवस्था मे अर्हत् को णारीरिक दुख भी होता है। दूसरा निर्वाण वह है, जिससे अर्हत् का, मृत्यु के पश्चात्, अवस्थान होता है।

श्रप्रतिष्ठित निर्वाण—महायान में एक अवस्था अधिक है। यह अप्रतिष्ठित निर्वाण की अवस्था है; क्योंकि बुद्ध यद्यपि परिनिर्वृत हो चुके हैं और विशुद्ध तथा परम शान्ति को प्राप्त हैं, तथापि वह शून्यता में विलीन होने के स्थान में ससार के तट पर ममरण करनेवाने जीवों की रक्षा के निमित्त स्थित रहना चाहते हैं, किन्तु इमसे उनको भय नहीं रहता कि उनका विश्द्ध ज्ञान समल हो जायगा (मिलवाँ लेवी की भूमिका, पु॰ २७, टिप्पणी ४)।

बे धिसत्त्व का परिपाक—विज्ञानवाद की दृष्टि में मकल लोकधातु गम में वृद्धि को प्राप्त होता है, ग्रर्थात् कुशलमूल का उपचय करता है, ग्रीर विगुद्ध विम्बित में परमता को प्राप्त होता है। इस प्रकार, यह परिपाक नित्य होता है, क्योंकि लोक ग्रनन्त है (६।४६)। ग्रमग कहते हैं कि बोधिसत्त्वों के परिपाक का यह लक्षण ग्राष्ट्रचंमय है, क्योंकि यह धीर मदा सब समय नित्य ग्रीर ध्रुव महाबोधि का लाभ करते हैं, जो ग्रणरणों का णरण है। उसमें ग्राइनर्गं भी नहीं है, क्योंकि वह तदनुरूप मार्ग की चर्या करते हैं (६।४०)।

प्रतिष्ठायाः पर।वृत्तौ विमुत्व लम्यते परम् ।
 प्रप्रतिष्ठितनिर्वाण गुद्धानामचले पदे ॥ ( ६।४५ )

जैसा पहले निर्दिष्ट किया गया है, बुद्ध का कार्य विना श्राभोग के निरन्तर होता है श्रीर वह हितसुखात्मक निश्चलता का कभी त्याग नहीं करते। वह अनेक उपायों का प्रयोग करते हैं। कभी अनेक प्रकार से धर्मचक का दर्शन कराते हैं, कभी जातक-भेद से विचित्त जन्मचर्या, कभी कृत्स्न वोधि, और कभी निर्वाण का दर्गन कराते हैं। किन्तु, वह अपने स्थान से ही सत्त्वों का विनयन करते हैं। वह अनास्रव धातु से विचलित नहीं होते, किन्तु यह सब वहीं करते हैं। वुद्ध नहीं कहते कि इसका मेरे लिए परिपाक हो गया है, इसका मुझको परिपाक करना है, या इसका परिपाक अब होनेवाला है। विना किसी सम्कार के जनता का परिपाक शुभ धर्मों से सब दिशाओं में नित्य होता है। जिस प्रकार मूर्य विना किसी यत्न के अपनी प्रतत शुभ्र किरणों से सर्वत्न सस्य का पाक करता है, उसी प्रकार धर्म का सूर्य अपनी शान्त धर्म-किरणों को समन्तात् विस्तीर्ण कर सत्त्वों का पाक करता है (१४२-५३)।

रेने पूसे की श्रालोचना—ग्रसग की यह चेण्टा निरन्तर रहती है कि वह नागार्जु न के मतवाद के विरुद्ध न जायें, किन्तु हमें कभी-कभी वह उनसे वहुत दूर जाते प्रतीत होते हैं। इस वाक्य को लीजिए (६।५५)—यथा जल से महासागर की कभी तृष्ति नहीं होती ग्रीर न प्रतत जल के प्रवेश से उसकी वृद्धि ही होती है, तथेंव विमुक्ति में परिपक्वों के प्रवेश से न धर्मधातु की तृष्ति होती है, श्रीर न उसकी वृद्धि होती है, क्योंकि उससे कोई श्रधिक नहीं है। क्या, ग्रसग, जान में हो या ग्रनजान में, वृद्धत्व का निदर्णन इस प्रकार नहीं कर रहे हैं कि मानो वह एक प्रकार का ग्राध्यात्मिक ग्राकाश है, जहाँ सर्वधर्म की तथता विलीन होकर सुविश्द ग्रीर ग्रह्य हो जाती है?

सर्व परतन्त्र ग्रीर सर्व विशेष की 'विशुद्धि' का भाव, उपश्रम द्वारा एकता ग्रीर विशुद्धि प्राप्त करने का भाव ग्रसग में निरन्तर विद्यमान है। वह दुहराते हैं कि बुद्धत्व का लक्षण सर्व धर्म की तथता की क्लेशावरण ग्रीर ज्ञेयावरण से विशुद्धि है (१।५६)। इसका ग्रथं यह है कि 'बुद्धत्व में तथता सर्व धर्मों से विशुद्ध हो जाती है'।

#### त्रिकायवाद

श्रसग बुद्धत्व की भिन्न वृत्तियों का श्रारम्भ कर विकायवाद का निरूपण करते हैं। विकाय की कल्पना से वह विज्ञानवाद की किठनाइयों को दूर करते हैं। वुद्धकाय के तीन विभाग हैं—स्वाभाविक, साम्भोगिक, नैर्माणिक। स्वाभाविक काय धर्मकाय है। श्राश्रय-परावृत्ति इसका लक्षण है। साम्भोगिक काय वह काय है, जिससे पर्यन्मण्डल में बुद्ध धर्म-सम्भोग करने हैं। नैर्माणिक काय वह काय है, जिसका निर्माण कर वह सत्त्वार्थ करते हैं।

धर्मकाय—धर्मकाय यय बुद्धो में ममान और निर्विशिष्ट है। यह मूक्ष्म है, क्योंकि यह दुर्जेय है। यह माम्भोगिक काय से मम्बद्ध है, और मम्भोग के विभुत्व में हेतु हैं ( ६।६२ )। साम्भोगिक काय धातुत्तय के ऊपर अवस्थित है। यह बुद्धो का अचिन्त्य आविर्भाव है। कम-से-कम हमारे लिए यह अगोचर है। वोधिमत्त्व ही अपनी प्रज्ञा ने उनका चिन्तन कर मक्तं है। यह काय नित्य ह, किन्तु यह एक आविर्भाव है। पर्यन्मण्डल, बुद्धकेत्र, नाम, अरीर

स्रीर धर्मसम्भोग-क्रिया की दृष्टि से भिन्न-भिन्न लोकधातु का यह काय भिन्न है। नैर्माणिक काय स्रप्रमेय है। इसका लक्षण परार्थ-सम्पत्ति है। इसका क्षण परार्थ-सम्पत्ति है। इसी काय का दर्शन विनेय जन करते है। विनेय जनो के विमोचन का यह महान् उपाय है।

अन्य ग्रन्थों में धर्मकाय के सम्बन्ध में अन्य विचार मिलेगे। धर्मकाय को प्रपचातीत, एकता-अनेकता से विगत, भावाभावरहित, नित्य, श्रनक्षण, ग्रर्थान् निविकल्पक ग्रौर निविजेप ग्रौर परमार्थ से ग्रिभिन्न मानते हैं। बोधिचर्यावतारपिजका में प्रजाकरमित इसी ग्रर्थ में कहते हैं कि वुद्धत्व को, जो प्रपचातीत, श्राकाशसम है, धर्मकाय कहते हैं। यही परमार्थ सत्य है, श्रौर इसी ग्रर्थ में महायानसूत्रालंकार का यह वाक्य है "श्राकाश विभु है ( मर्वगत है); विभुत्व भी वुद्धस्वभाव है" ( बोधिचर्यावतारपिजका, ६।१५)।

स्राल्टरमरी का निष्कर्ष—कदाचित् इस धर्मकाय को एक प्रकार का गुणात्मक स्रौर नैतिक स्राकाश कह सकते हैं। इन विचिध उद्धरणों को एक व कर स्राल्टरमरी धर्मकाय पर लिखते हैं कि यह यिभु है, स्रीर इमलिए सब मत्त्व इससे समवेत हैं। किन्तु, केवल बुद्ध में यह विशुद्ध है। ग्रन्य सत्त्वों में यह बीज हप से विद्यमान है। किन्तु, उनके लिए यह श्रावश्यक है कि वह उस मल को ग्रापात करे, जिससे वह समार में उपलिप्त होते हैं।

यह कहकर श्रपनी व्याख्या को समाप्त करते हैं जब धर्मकाय धर्मधातु का समानार्थक हो गया, तब इस शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिए करना उचित न था। कदाचित् इसीलिए विकाय के वाक्य में इसके स्थान में स्वाभाविक काय का प्राय प्रयोग होता है।

धर्मधातु श्रीर धर्मकाय समान रूप से भाव के मूलाश्रय को प्रज्ञप्त करते हैं, श्रीर स्वाभा-विकादि काय केवल इस सर्वगत श्राश्रय की वृत्तियाँ है।

कदाचित् यहाँ यह दुहराना अनुचित न होगा कि नागार्जुन के वाद से प्रस्थान कर स्रसग का वाद श्रद्धयवाट श्रीर विश्वदेवैक्यवाद की सीमा पर है।

श्रसग इस श्रद्धयवाद श्रीर इस विश्वदेवैक्यवाद का समर्थन करने है, श्रीर वहुदेववाद से इनको सुरक्षित रखते हैं। वह कहते हैं कि सब बुद्धों के विकाय में कोई भेद नहीं है। मब बुद्धों के तीनो काय यथाक्रम श्राश्रय, श्राणय श्रीर कर्म की दृष्टि से समान है। धर्मकाय श्राश्रय-वश समान है, क्योंकि धर्मधातु श्रिभन्न है। साम्भोगिक काय श्राणयवश समान है, क्योंकि बुद्ध का कोई पृथक् श्राणय नहीं है। निर्माण कर्मवण समान है, क्योंकि मबका कर्म साधारण है ( ११६६ )।

पुनः, इन तीनो कार्यो मे यथाक्रम दिविध नित्यता है। इमीलिए तथागत 'नित्यकाय' कहलाते हैं। न्वाभाविक की नित्यता प्रकृति से हैं। वह न्वभाव से ही नित्य है। माम्भोगिक की नित्यता धर्ममम्भोग के अविच्छेद से हैं। नैर्माणिक की नित्यता प्रवन्धवण है, क्योंकि नैर्माणिक के अन्तहित होने पर पुन -पुन निर्माण का दर्शन होता है।

## वुद्ध का चतुर्विध जान

अन्त मे ग्रमग वृद्ध के चतुर्विध ज्ञान का उल्लेख करते हैं। यदि हमको यह मान्य है कि ग्रमग का सिद्धान्त शुद्ध विज्ञानवाद का है, तो यह विषय मुख्य हो जाता है। ग्रादर्श ज्ञान सर्वोच्च है। यह ग्रचल है, ग्रौर शेप तीन ज्ञानो का (समता<sup>0</sup>, प्रत्यवेक्षा<sup>0</sup> ग्रौर कृत्यानुष्ठान<sup>0</sup>—यह चल हे) ग्राश्रय है। ग्रादर्श ज्ञान ममत्व से रहित, देशत ग्रपरिच्छिन्न ग्रौर कालत सत्तानुग है। यह मर्व ज्ञेय के विषय में ग्रसम्मूढ है, क्यों कि ग्रावरण विगत हो गये हैं। यह कभी जेयों के सम्मुख नहीं होता, क्यों कि इसका कोई ग्राकार नहीं है (६।६६)।

ग्रादर्श ज्ञान समतादि ज्ञान का हेतु है। इसलिए, यह एक प्रकार से सब ज्ञानों का ग्राकर है। इसे ग्रादर्श ज्ञान इसलिए कहते हैं, क्यों कि इममें सम्भोग, बुद्धत्व ग्रीर तज्ज्ञान का उदय प्रतिविम्व के रूप में होता है (१।६१)। सत्त्वों के प्रति समता-ज्ञान वह है, जो ग्रप्रितिष्ठित निर्वाण में निविष्ट है। यह सब समय महामैं ती ग्रीर करुणा से ग्रनुगत होता है। यह सत्त्वों को उनकी श्रद्धा (ग्रिधिमोक्ष ) के ग्रनुमार बुद्ध के विम्व का निदर्शक है।

प्रत्यवेक्षा ज्ञान वह है, जो ज्ञेय विषय में सदा ग्रव्याहत है। परिपन्मण्डल में यह सब विभृतियों का निदर्शक है। यह सब सणय का विच्छेद करता है। यह महाधर्म का प्रवर्षक है।

कृत्यानुष्ठान-ज्ञान सर्व लोकधातु मे निर्माणो द्वारा नाना प्रकार के ग्रप्रमेय ग्रीर श्रविन्त्य कृत्यो का ज्ञान है (१।७४-७५)।

## वुद्ध की एकता-भ्रनेकता

इस ग्रधिकार को समाप्त करने के पूर्व ग्रसग वुद्ध की एकता-ग्रनेकता के प्रश्न का विचार करते हैं। यदि कोई कहता है कि केवल एक वुद्ध है, तो यह इच्ट नहीं है, क्यों कि वुद्ध गोंत्र के ग्रनन्त मत्त्व हैं। तो क्या इनमें से एक ही ग्रभिमम्बुद्ध होगा, ग्रौर ग्रन्य न होगे रे ऐमा कैसे हो सकता है हम प्रकार, दूसरों के पुण्यज्ञानसम्भार व्यर्थ होगे, क्यों कि उनकी ग्रभिमम्बोधि न हागी। किन्तु, यह व्यर्थता ग्रयुक्त हैं। इस हेतु से भी बुद्ध एक नहीं है। पुन कोई ग्रादिबुद्ध नहीं हैं, क्यों कि सम्भार के विना बुद्ध होना ग्रमम्भव हैं, ग्रीर विना दूसरे बुद्ध के मम्भार का योग नहीं हैं, ग्रत एक बुद्ध नहीं हैं। बुद्ध की ग्रनेकता भी इच्ट नहीं हैं, क्यों कि ग्रनास्त्रवधातु में बुद्धों के धर्मकाय का ग्रभेद हैं (६।७७)।

जो अविद्यमानता है, वही परम विद्यमानता है, अर्थात् जो परिकल्पित स्वभाववश अविद्यमानता है, वही परिनिष्पन्न स्वभाववश परम विद्यमानता है। भावना का जो अनुपलम्भ है, वही परम भावना है। जो बोधिसत्त्व इन सबको कल्पनामान्न देखते है, उनको बोधि की प्राप्त होती है।

उपनिषदों के ग्रात्मवाद से तुलना—हम उपनिषदों के श्रद्धयवाद के इतने समीप हैं कि ग्रसंग भी उपनिषदों का प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं । जवतक निदयों के श्राश्रय श्रलग-ग्रलग हं, उनका जल भिन्न-भिन्न है, उनका कृत्य ग्रलग-ग्रलग होता है, जवतक उनका जल ग्वत्य होता है, थोडे ही जलाश्रित प्राणी उनका उपभोग करते हैं। किन्तु, जब यह मब निदर्श ममुद्र में प्रवेश करती हैं, ग्रीर उनका एक ग्राश्रय हो जाता है, उनका एक महाजल हो जाता है। उनके कृत्य भिन्न होकर एक हो जाते हैं, तब वह बृहत्समूह की उपभोग्य हो जाती है, मौर

यह कम नित्य चलता रहता है। इसी प्रकार वोधिसत्त्वों का श्राश्रय जवतक पृथक्-पृथक् होता है, उनके मत भिन्न-भिन्न होते हैं, उनके कृत्य पृथक्-पृथक् होने हैं, श्रीर उनका श्रवबोध स्वल्प होता है, तवतक वह सत्त्व का ही उपकार करते हैं। बुद्धत्व में उनका प्रवेश नहीं हुश्रा, किन्तु जब वह बुद्धत्व में प्रविष्ट हो जाते हैं, तब सबका श्राश्रय एक हो जाता है, उनका एक महान् श्रवबोध हो जाता है, श्रीर उनका कार्य मिश्र होकर एक हो जाता है, तब वह सब सत्त्वों के उपभोग्य हो जाते हैं (१। ६२ – ६५)।

धर्म-पर्येषण—ग्यारहवे ग्रधिकार मे धर्म (ग्रालम्वन) का पर्येषण किया गया है। 'धर्म' शब्द के दो ग्रथं है। बुद्ध की शिक्षा, उपदेश, सिद्धान्त धर्म है। दूसरे ग्रथं में धर्म ग्रध्यात्म-ग्रालम्बन, बाह्य-ग्रालम्बन ग्रीर दोनो है। कायादिक ग्राध्यात्मिक ग्रीर बाह्य दोनो है। ग्राहकभूत कायादिक ग्राध्यात्मिक है, ग्राह्यभूत बाह्य है, द्वय उन्ही दो की तथता है। द्वयार्थ से दो ग्रालम्बनो का लाभ होता है। यदि वह देखता है कि ग्राह्यार्थ से ग्राहकार्थ ग्रीमन्न है ग्रीर ग्राहकार्थ से ग्राह्यार्थ ग्रीमन्न है ग्रीर ग्राहकार्थ से ग्राह्यार्थ ग्रीमन्न है, तो समस्त ग्राध्यामिक ग्रीर बाह्य ग्रालम्बन की तथता का लाभ होता है, क्योंकि उन दो के द्वयभाव का ग्रनुपलम्भ है (१२।५)। ग्रसग कहते हैं कि यदि मनोजल्पवण ग्रथंख्यान का प्रधारण (प्रविचय) होता है ग्रीर यदि क्त नाम पर स्थित होता है, तो धर्मालम्बन का लाभ होता है। मनोजल्प के ग्रतिरिक्त कुछ नही है ग्रीर द्वय का ग्रनुपलम्भ है। (१९।६-७)

इस विषय पर मिलवाँ लेवी अपनी भूमिका में कहते हैं कि जब चित्त समाहित होता है, तब निश्चित यथोक्त अर्थ का मनोजल्प से प्रधारण होता है। चिन्तामय ज्ञान अर्थ (और उसके आलम्बन) का मनोजल्प से अभेद सिद्ध करता है। अन्त में, भावनामय ज्ञान से चित्त अर्थ-विरहित नाम पर ही स्थित होता है। अष्टादशविध मनस्कार इस कार्य में योग देते हैं। तब धर्मतत्त्व का लाभ होता है।

धर्म के तीन स्वभाव—धर्मतत्त्व में तीन स्वभाव सगृहीत है। ये इस प्रकार है—
१. परिकल्पित, २. परतन्त्र ग्रोर ३ परिनिष्पन्न।

परिकल्पित ग्राह्मग्राहक-लक्षणात्मक है, ग्रत द्वयात्मक है, परतन्द्र द्वय का सिनश्रय है। परिनिष्पन्न ग्रनिभालाप्य ग्रीर ग्रप्रपचात्मक है। किन्तु, धर्म स्वय भ्रान्तिमात्न है, माया है। चित्त में ही द्वयभान्ति है। चित्त स्वय धर्मों का निर्माण करता है, ग्रीर ग्राह्मग्राहकभाव में दिधा विभक्त हो जाता है, तथापि वह धर्मों को सत् मानता है। द्वय को ग्रद्धय करने के लिए इनके वृद्धि-सम्बन्ध का जानना ग्रावश्यक है। चित्त ग्रपना विवेचन कर या तो ग्रपना लक्षण परिकल्पित बताता है, जो जल्प ग्रीर तदर्थ (या ग्रालम्बन) है; ग्रथवा परतन्त्र बताता है, जो नाम, रूप चित्त, विज्ञानादि है, ग्रथवा परिकिष्पन्न बनाता है, जो तथता है। वस्तुत, इन ग्रप्रत्यक्ष लक्षणों में यह श्रवगत होता है कि कोई धर्मों की परिचित्त विज्ञप्ति है, जिससे ही चित्त ग्रीर उसके लक्षणों के बीच का मध्वन्ध युक्त हो सकता है। जो मनस्कार इस सम्बन्ध को स्थापित ग्रीर निरूपित करता है, वह लोकिक नही है, यह मनस्कार योगियों का है। यह पाँच पाद में द्वय से ग्रद्ध को जाता है — यह धर्महेतुत्व का निग्रह करता है, यह योनिश्रोमनस्कार का लाभ कराता है;

यह समाधि की ग्रवस्था में चित्त का स्वधातु में ग्रवस्थान कराता है; यह भाव-ग्रभाव का एक ग्रविशिष्ट दर्शन कराता है, यह ग्राश्रय की परावृत्ति करता है। यह परावृत्ति प्रत्यगात्मा से परमात्मा को ग्राकृष्ट करती है। उस समय सवका परिनिर्वाण में मिलन होता है (सिलवा लेवी की भूमिका, पृ० २५-२६)।

मनस्कार श्रीर उसके विविध श्राकारों की पर्येष्टि से इस कम का श्रारम्भ होता है। चर्या के वहुत सूक्ष्म नियम है। इस साधना में इन्द्रियार्थ का अनुपलम्भ, उपलम्भ का श्रनुपलम्भ, धर्मधातुविभात्व, पुद्गलनैरात्म्य श्रीर विविध श्राभयों का प्रतिवेध होता है, जो चित्त की श्रवस्थाओं को निश्चित करता है।

तत्त्व का लक्षण—इस साधना से धर्मतत्त्व का लाभ होता है। यह धर्मों का स्वभाव है। यहाँ स्वभाव किसी ग्रात्मा को प्रज्ञप्त नही करता, किन्तु यह धर्मों के स्वकीय गुण को सूचित करता है।

ग्रसग 'तत्त्व' का यह लक्षण वताते हैं—तत्त्व वह है, जो सतत द्वय से रहित है, जो ग्रनिभलाप्य है, जो निष्प्रपचात्मक है ग्रौर जो विशुद्ध है (१९।१३)। पुन ग्रसग कहते है कि ग्राह्मग्राहक-लक्षणवश यह तत्त्व जो सतत द्वय से रहित है, परिकल्पित ग्रौर ग्रसत् होगा। किन्तु, भ्रान्ति का सनिश्रय परतन्त्र है, क्योंकि उससे उसका परिकल्प होता है। ग्रनिभलाप्य तत्त्व का परिनिष्पन्न-स्वभाव है। यह सब धर्मों की तथता है।

परिनिष्पन्न तत्त्व—यह परिनिष्पन्न स्वभाव, यह तथता, यह तत्त्व ग्रन्तिम वस्तुतत्त्व है। इसकी प्रशसा में ग्रसग कहते हैं — जगत् में इससे ग्रन्य कुछ भी नही है, ग्रौर सकल जगत् इस विषय में मोह को प्राप्त है। यह कैसा मोह है, जिसके वश हो लोक जो ग्रसत् है, उसमे ग्रभिनिविष्ट है, ग्रौर जो सत् है, उसका त्याग करता है। वस्तुत, इस धर्मधातु में ग्रन्य लोक में कुछ भी नहीं है, क्योंकि धर्मता धर्म से ग्रभिन्न है (१९।९४)।

ग्रात्मा ग्रीर लोक की मायोपमता—इस दृष्टि में ग्रात्मा ग्रीर लोक क्या हैं?

ग्रसग का उत्तर है कि यह मायोपम है। ग्रभूतपरिकल्प मायासदृश है। यह मन्द्रपरिगृहीत भ्रान्तिनिमित्त काष्ठलोष्ठादि के मदृश है। मायाकृत हस्ति-ग्रण्ववत् द्वयभ्रान्ति ग्राह्मग्राहक के रूप में प्रतिभासित होती है (१९१९४)। ग्रसग ग्रागे कहते हैं—यथा मायाकृत हस्ति-ग्रप्व-मुवर्णादि ग्राकृतियो में हम्त्यादि का ग्रभाव है, तथैव परमार्थ के लिए है, ग्रीर जिस प्रकार उस मायाकृत हस्त्यादि की उपलव्धि होती है, उसी प्रकार ग्रभूतपरिकल्प की मवृतिमत्यता है (१९१९६)।

जिम प्रकार मायाकृत के ग्रभाव में उसके निमित्त (काष्ठादिक) की व्यक्ति होती है, ग्रीर भूतार्थ की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार ग्राश्रय की परावृत्ति ग्रीर द्वयन्नान्ति का ग्रभाव होना है, ग्रीर ग्रभूतपरिकल्प का भूतार्थ उपलब्ध होता है (१९।१७)।

ग्राश्रयपरावृत्ति से भ्रान्ति दूर होती है, ग्रीर यित स्वतन्त्र हो विचरता है। वह काम-चारी होता है (१९१९=)। एक ग्रोर वहाँ ग्राकृति है, दूसरी ग्रोर भाव नहीं है। इसीलिए, मायादि मे ग्रन्तित्व-नास्तित्व का विद्यान है (१९१९६)। यहाँ भाव ग्रमाव नहीं है, ग्रोर न अभाव भाव ही है। मायादि में भावाभाव के अविशेष का विधान है। आकृति-भाव है, वह हस्तित्वादि का अभाव है। जो हस्तित्वादि का अभाव है, वही आकृति-भाव है (१९१२०)।

श्रत., द्वयाभासता है, द्वयभाव नहीं है। इसीलिए रूपादि में जो श्रभूत-पिकल्प-स्वभाव है, श्रस्तित्व-नास्तित्व का विधान है (१९१२९)। रूपादि में भाव श्रभाव नहीं है। यह भावाभाव का श्रविशेष है (१९१२२)। भाव ग्रभाव नहीं है, क्योंकि द्वयाभासता है। ग्रभाव भाव नहीं है, क्योंकि द्वयता की नास्तिता है। जो द्वयाभासता का भाव है, वही द्वय का ग्रभाव है।

यहाँ ग्रसग फिर नागार्जुन के साथ हो जाते हैं। नागार्जुन के सदृश वह भाव ग्रीर ग्रभाव इन दोनो ग्रन्तो का प्रतिपेध करते हैं। एक समारोप का ग्रन्त है; दूसरा ग्रपवाद का ग्रन्त है। ग्रथवा, यो किहए कि ग्रसग दिखाते हैं कि भाव ग्रीर ग्रभाव का ऐकान्तिकत्व ग्राँर ग्रविशेष है (१९१२३)। किन्तु, ग्रमग साथ ही-माथ ग्रपने को ग्रद्धयवादी ग्राँर विज्ञानवादी वताते हैं। यहाँ वह नागार्जुन से पृथक् हो जाते हैं। वह कहते हैं ——द्धय नही है, द्धय की उपलिध-मान्न होती है। मायाहस्ती की ग्राकृति के ग्राह में जो भ्रान्ति होती है, उसके कारण द्धय की प्रतीति होती है। वस्तुत न ग्राहक है, न ग्राह्म। केवल द्धय की उपलिध है (१९१२६)। मव धर्म, भाव ग्राँर ग्रभाव मायोपम हैं। वे सत् है, क्योंकि ग्रभूतपरिकल्पत्वेन उनका तथाभाव है। वे ग्रसत् हैं, क्योंकि ग्राह्म-ग्राहकत्वेन उनका ग्रभाव है। पुन क्योंकि भाव-ग्रभाव का ग्रविशेष हैं, ग्रोंर वह मत् भी है, ग्रसत् भी है, इसलिए वह मायोपम है (१९१२७)।

स्मृत्युपस्थानादि जिन प्रातिपक्षिक धर्मों का बुद्ध ने उपदेश दिया है, वह भी ग्रनक्षण श्रीर माया है। जब बोधि की विजय समार पर होती है, तब यह एक मायाराज की दूसरे मायाराज से पराजय है (१९१२६)। साक्लेशिक धर्मों की व्यावदानिक धर्मों से पराजय एक मायाराज की दूसरे मायाराज पर विजय है।

सव धर्म वस्तुत मायोपम है। माया, स्वप्न, मरीचिका, विस्व, प्रतिभाम, प्रतिश्रुति, उदकचन्द्रविस्व ग्रौर निर्माण के तुत्य सव धर्म ग्रौर सन्कार है। ग्रात्मा-जीवादि ग्रमन् है। तथापि ग्राध्यात्मिक धर्मों का तथाप्रख्यान होता है। वाह्य धर्म भी ग्रमत् है। वाह्य ग्रायतन स्वप्नोपम है, क्योंकि उनका उपभोग ग्रवस्तुक है। चित्त-चैतनिक भी मरीचिका के तुल्य है, क्योंकि वह भ्रान्तिकर है (१९।३०)।

इस अद्वयवाद के तल में हम सदा प्रतीत्यसमृत्याद की अनादि तन्त्री पानेगे और अनित्यता और शून्यता इसके पृष्ठ में हैं। आध्यात्मिक आयनन प्रतिविम्बोपम हैं, वयोकि यह पूर्वकर्म के प्रतिविम्ब हैं। पुद्गल केवल कर्मकृत हैं। इसी प्रकार बात्र आपनन प्रतिभासोपम हैं। यह आध्यात्मिक आयननों की छाता है, वनेवि उनकी उत्पन्ति प्राध्यात्मिक आयननों की छाता है, वनेवि उनकी उत्पन्ति प्रध्यात्मिक आयतनों के आधिपत्य से होती हैं। इसी प्रकार नमाधि-सन्तित्र धम उदक्चनद्रविभ्यवन है। वेधिमत्त्व के विविध जन्म (जानक) निर्माणोपम हैं। देशना-धमं, प्रतिश्रृति के

सदृश है (१९।३०)। श्रभूतपरिकल्प न भूत, न ग्रभूत, ग्रकल्प, न कल्प-न श्रकल्प, यह सब जेय कहलाते हैं। यहाँ ग्रकल्प तथता लोकोत्तर ज्ञान है (१९।३९)।

धर्मों की तथता--ग्रविद्या भ्रौर क्लेश से विकल्पो का प्रवर्त्तन होता है। इनका द्वयाभास, श्रयति ग्राह्मग्राहकाभास होता है (११।३२)। इन विकल्पो के श्रपगम से म्रालम्बन-विशेष की प्राप्ति होती है, जहाँ द्वयाभास नही है। यही धर्मों की तथता है। इसे हमने पूर्वधर्मालम्बन कहा । नाम पर चित्त का ग्रवस्थान होने से स्वधात पर (तथता पर) अवस्थान होता है। स्वधातु विकल्पो की तथता है। यह कार्य भादनामागं से होता है। उस क्षण में इन्ही विकल्पो का ग्रद्धयाभास होता है। जिस प्रकार खरत्व के ग्रपगम से चर्म मृदु होता है, ग्रग्नि से तपाये जाने पर काण्ड ऋजु होता है, उसी प्रकार भावना से आश्रयपरावृत्ति होती है, श्रौर उन्ही विकल्पो का पुन. द्वयाभास नहीं होता (१९१३३)। यहाँ विज्ञप्तिमात्रता प्रतिपादित हो रही है। चित्तमात्र है। इसी का द्वयप्रतिभास, ग्राह्मप्रतिभास, ग्राहकप्रतिभास इष्ट है। इसी का रागादिक्लेशाभास, श्रद्धादिकुशलधर्माभास भी इष्ट है। चित्त से श्रन्य कोई धर्म नही है। तदाभास से ग्रन्य न कोई क्लिष्ट धर्म है, न कोई कुशल धर्म है (१९१३४)। ग्रत , यह चित्त ही है, जिसका विविध आकार में आभास होता है। यह आभास भावाभाव है, किन्तु यह धर्मो का नहीं है। चित्त का ही चित्ताभास होता है। इसका विविध ग्राकार में प्रवर्त्तन होता है। पर्याय से रागाभास, द्वेषाभास अथवा अन्य धर्म का आभास होता है। इस प्रतिभास के व्यतिरिक्त धर्मी का यह लक्षण नही है (११।३५)।

श्रसग विज्ञानवाद की दृष्टि में ज्ञान के प्रश्न का विवेचन करते हैं। चित्त विज्ञान श्रीर रूप है (१९१३७)। परतन्त्र का लक्षण श्रभूतपरिकल्प है। इसके विविध श्राभास है—देहाभास, मन (= क्लिष्टमन)—उद्ग्रह (=पचित्ञानकाय)—विकल्प (= मनोविज्ञान)—ग्राभास (१९१४०)। श्रन्त में, श्रसग धर्मों की तथता का निर्देश करते हैं। यह धर्मों का परिनिष्पन्न लक्षण है। यह मव परिकल्पित धर्मों की श्रभावता है, श्रीर तदभाववण यह भाव है। यह भावाभाव-समानता है, क्योंकि यह भाव श्रीर यह श्रभाव श्रभिन्न हैं। यह श्रागन्तुक उपक्लेशों के कारण श्रणान्त है, श्रीर प्रवृत्ति-परिणुद्ध होने के कारण शान्त है। पुन यह श्रविकल्प है, क्योंकि निष्प्रपच है, श्रीर विकल्पों का ग्रगोचर है (१९१४९)। तथता का ध्यान करने से योगी श्रादर्णज्ञान श्रीर श्रालोक का लाभ करता है। श्रादर्ण चित्त का धातु में श्रवस्थान है। यह समाधि है। श्रालोक सत्-श्रसत् के श्राकार में श्रथंदर्णन है। यह लोकोत्तर प्रज्ञा है। यत्र को मत् श्रार श्रसत् को श्रसत् यथाभूत देखना लोकोत्तर प्रज्ञा है (१९१४२)। यह प्रज्ञा सव श्रायंगोत्रों को सामान्य है।

भवत्यगत द्विविध नैरात्म्य को जानकर, श्रीर यह जानकर कि यह द्विविध नैरात्म्य सम है, क्योंकि परिकल्पित पुद्गल का श्रभाव है, श्रीर परिकल्पित धर्मों का श्रभाव है, किन्तु इसलिए नहीं कि मर्वथा श्रभाव है, वोधिसत्व तत्त्व में, श्रथित् विज्ञिष्तिमान्नता में प्रवेश करता है। जब तत्त्व-विज्ञिष्तिमान्न में मन का श्रवस्थान होता है, तब तत्त्व का ध्यान नहीं होता। यह अख्यान ही विमुक्त है। यह उपलम्भ का परम विगम है, क्यों कि इसमें उपलम्भ नहीं होता (१९१४७)।

योगी नाममात्र, श्रर्थात् अर्थरहित श्रिभलापमात्र पर मन का श्राधान करता है। नाम चार ग्ररूपी स्कन्ध कहे गये हैं। इस प्रकार, वह विज्ञिप्तिमात्र का दर्शन करता है। इसको भी वह पुनः नहीं देखता, क्यों कि ग्रर्थाभाव से उसकी विज्ञिप्त का श्रदर्शन होता है। यह ग्रनुपलम्भ विमुक्ति है (१९।४८)।

यह जानकर ग्राश्चर्य होता है कि यह साधना पातजल योग के समीप है।

क्या ग्रसग का निम्नािकत वाक्य योगसूत्र में दिये लक्षण का स्मरण नहीं दिलाता ? चित्त की ग्रध्यात्म-स्थिति से, ग्रथींत् चित्त का चित्त में ही ग्रवस्थान होने से चित्त की निवृत्ति होती है, क्योंकि इस ग्रवस्था में ग्रालम्बन का ग्रनुपलम्भ होता है।

> चित्तमेतत् सदौष्ठुल्यमात्मदर्शनपाशितम् । प्रवर्त्तते निवृत्तिस्तु तदध्यात्मस्थितेर्मता ।। (११।४६)

किन्तु, एक प्रधान भेद योगाचार को योग से पृथक् करता है। पातजल योग मे धर्मों का स्वभाव है, और योगाचार में इसका ग्रभाव है। ग्रसग कहते हैं कि धर्मों की निःस्वभावता है, स्वात्म से उनका ग्रभाव है। वे प्रत्ययाधीन है, ग्राँर क्षणिक है। केवल मूढ पुरुषों का स्वभावग्राह होता है। वह स्वभाव को नित्यत, मुखत गृचित ग्रीर ग्रात्मतः देखते हैं (११।५०)।

धर्मों की निःस्वभावता से यह सिद्ध होता है कि न उत्पाद है, न निरोध। जब धर्मों का स्वभाव नहीं है, तो उनका उत्पाद नहीं है, ग्रौर जो ग्रनुत्पन्न है, उसका निरोध नहीं है, ग्रत वह ग्रादिशान्त है, ग्रीर जो ग्रादिशान्त है, वह प्रकृति-परिनिवृत है।

निःस्वभावतया सिद्धा उत्तरोत्तरनिश्रयाः । श्रनुत्पादोऽनिरोधक्चादिक्षान्ति परिनिर्वृति ।। (११।५१)

बारहवे अधिकार में ग्रसग वताते हैं कि दोषविवर्जित धर्मदेशना क्या है, उसका कार्य क्या है, उसकी सम्पत्ति क्या है ग्रांर उसका विषय क्या है। ग्रन्थ के तेरहवें प्रधिकार में वह दिखाते हैं कि उक्त सिद्धान्तों के प्रयोग से किस प्रकार वोधिसत्त्व कमपूर्वक ग्रनुत्तर सिद्धि को प्राप्त होता है। यह प्रतिपत्ति-ग्रधिकार है।

लौकिक-श्रलौकिक समाधि—-शून्यता-समाधि, ग्रप्रणिहित-समाधि, श्रिनिमन-समाधि, चर्या का श्रारम्भमान्न है। ये तीन लौकिक समाधि है। किन्तु, यह लोकोत्तर ज्ञान का श्राचाहन करती है, श्रीर इसलिए यह मिध्या नहीं है। श्रादिभूमि में (प्रमुदिना भूमि में) ही वह लोकोत्तर ज्ञान का लाभ करना है। वहाँ उस भूमि के सब बोधिमत्त्वों में उनका तादातम्य हो जाता है ग्रीर इस प्रकार वह वोधिसत्त्वो की सामीची में प्रतिपन्न हो जाता है। उसको ज्ञेयावरण ग्रांर क्लेशावरण को ग्रपगत करना है। ज्ञेयावरण का ज्ञान भावना से होता है, ग्रीर क्लेशान सरण क्लेश से होता है। भगवान् कहते हैं कि में राग का नि सरण राग से ग्रन्यत नहीं वताता, इसी प्रकार द्वेष का ग्रीर मोह का नि.सरण द्वेष ग्रीर मोह से ग्रन्यत्न नहीं वताता। धर्मधातु से विनिर्मुक्त कोई धर्म नहीं है, क्योंकि धर्मता से व्यतिरिक्त धर्म का ग्रभाव है। ग्रत, रागादिधर्मता रागादि ग्राख्या का लाभ करती है, ग्रीर वहीं रागादि का नि सरण है (१३।११)। धर्मधातु में क्लेश रागस्वभाव का परित्याग कर धर्मता हो जाता है, ग्रीर उसका ग्राख्यान नहीं होता। रागादि के परिज्ञात होने पर वहीं उनके नि सरण है।

इसी ग्रर्थ मे ग्रविद्या ग्रीर वोधि भी एक है। उपचार मे ग्रविद्या बोधि की धर्मता है (१३।१२)।

धर्म का ग्रभाव ग्राँर उपलिष्ध, नि सक्लेश ग्रीर विशुद्धि भी मायासदृश है। वस्तुत चित्त तथता ही है, जैसे विधिवत् विचितित चित्र में नत-उन्नत नहीं है, किन्तु द्वय दिखलाई पड़ता है, उसी तरह ग्रभूतकल्प में भी द्वय नहीं है, किन्तु द्वय दिखलाई पड़ता है। जैसे जल क्षुन्ध होकर प्रसादित हो जाता है, उसकी ग्रच्छता ग्रन्यत में नहीं ग्राती, उसी प्रकार यह मल का ग्रपकर्प-मात्र है। चित्त की विशुद्धि इसी प्रकार होती है। चित्त प्रकृतिप्रभास्तर है, किन्तु ग्रागन्तुक दोप से दूपित होता है। धर्मता-चित्त से ग्रन्यत दूसरा चित्त नहीं है, जो प्रकृतिप्रभास्तर हो (१३।१६—१६)। इस प्रकार, बुद्धत्व या निर्माण चित्त में है। ग्रतः, ग्रसग का वाद विज्ञानवादी ग्रद्धयवाद है। धर्मधातु की प्रकृति-परिशुद्धि से मूढों को वास होता है। ग्रसग ग्राकाश ग्रीर जल का दृष्टान्त देकर इस वास का प्रतिपेध करते है। वह कहते है कि चित्त ग्राकाशतोयवन् प्रकृत्या विशुद्ध है। यह तथर्ता से ग्रन्य नहीं है।

इस उपोद्घात के साथ ग्रमग वोधिसत्त्व की सन्त्रों के प्रति मैं ती ग्रीर करणा का वर्णन करते हैं। वोधिमन्व का मत्त्रों के प्रति प्रेम मज्जागत होता है। वह मत्त्रों से वैसे ही प्रेम करते हैं, जैंमे कोई प्रपने एकमात्र पुत्र से करता है। वह मदा मत्त्रों का हित माधित करते हैं। जैंमे कपोनी ग्रपने बच्चों को प्यार करती है, ग्रीर उनना उपगूहन करती है, उसी प्रकार यह कामणिक मत्त्रों को पृत्रदन् देखता है (१३।२०—२२)। योधिचर्या का कम एवं स्वरूप

चौदत्वे ग्रधिकार में ग्रववाद-ग्रनुणामनी विभाग है। इसमे ग्रमग वताने हैं कि प्रति-पत्ति के पञ्चात् वोधिमत्त्व की चर्या क्या है ? मिलवां लेवी भूमिका में इस ग्रधिकार का मक्षेप

१ 'सामीचि अनुच्छिषिक वम्म' हैं, यथा पाठप्रशालन, चीवरदान, चेट्यवन्टना ट्रयादि । प्रातिमाप्त ७३ के अनुसार 'नामीचि' 'अनुथम्मता' ै। लोकोक्तर धर्म के अनुरूप अववाद प्रीर अनुशासनी सामीचियमें ता है।

२ अववाद-विधि-निषेष, अनुशामनी=देशना।

यो करते हैं — वोधिसत्त्व पहले सूत्रादिक धर्म के नाम में (यथा दशभूमिक) चित्त को बाँधता है, वह इसके अर्थ और व्यजन का विचार करता है, विचारित अर्थ को मूलचित्त में सिक्षप्त करता है, और ज्ञान के लिए उसका चित्त छन्द-सहगत होता है। वह समाधि में चित्त का दमन करता है। इससे उसके चित्त की स्वरमवाहिता होती है।

पहले यह साभिसस्कार होती है, पुन अभ्यासवश अभिसस्कारो के विना होती है। तदनन्तर, उसको कायप्रश्रव्धि श्रीर चित्तप्रश्रव्धि का लाभ होता है। इसकी वृद्धि कर वह मीली स्थिति का लाभ करता है, ग्रीर इसका शोध कर वह ध्यानो में कर्मण्यता की प्राप्त होता है। ध्यानो में उसको श्रिभज्ञावल की प्राप्ति होती है, जिससे वह श्रप्रमेय वुद्धो की पूजा करने श्रीर उनसे धर्म-श्रवण करने लिए बुद्धों के लोकधातुश्रों को जाता है। भगवदुपासना से वह चित्त की कर्मण्यता और काय-चित्त की प्रश्रव्धि का लाभ करता है, भीर कुत्स्न दौष्ठुल्य प्रतिक्षण द्रवित होता है। वह विशुद्धि का भाजन हो जाता है। तव वह निर्वेधभागीय अवस्थाओं में से होकर क्रमण गमन करता है। इससे उसको द्वयग्राह-विसयुक्त लोकोत्तर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञान का लाभ होता है। यह दर्शन-मार्ग की श्रवस्था है। उसका चित्त सदा सम होता है, वह शून्यज्ञ होता है, ग्रर्थात् वह विविध शुन्यता का ज्ञान रखता है -- अभावशून्यता, तथाभाव की शून्यता श्रीर प्रकृतिशून्यता । यह श्रनिमित्त पद है, यह अप्रणिहित पद है। वह बोधिपक्षीय धर्मों का लाभ करता है, भ्रौर 'महात्मदृष्टि' का लाभ करता है। जहाँ सब सत्त्वों में ग्रात्मसमिचित्त का लाभ होता है, तब ज्ञान की भावना के लिए परिशिष्ट भूमियो में प्रयोग ग्रौर विकल्पाभेद्य वज्रोपम नमाधि का लाभ गेप रह जाता है, ग्रीर वह सर्वज्ञता लाभ करके अनुत्तर पद में स्थित हो सत्त्वों के हित के लिए श्रिभसम्बोधि ग्रीर निर्वाण का सदर्शन करता है (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २६-२७)।

इस ग्रधिकार में ग्रसग बीधिसत्त्व-चर्या की विविध भूमियों का श्रनुसरण करते हैं। वह बोधिसत्त्व को विज्ञिष्तिमालता में प्रतिष्ठित देखते हैं। तथाभूत बोधिसत्त्व मव ग्रयों को प्रतिभासवत् देखता है। उस समय से उसका ग्राह्मविक्षेप प्रहीण होता है। केवल ग्राहकविक्षेप प्रविणाल्ट रहता है। यह उसकी क्षान्ति-श्रवस्था है। तब यह शीघ्र ही ग्रानन्तर्य-समाधिका स्पर्श करता है। यह उसकी लौविकाग्रधर्मावस्था है। यह समाधि 'ग्रानन्तर्य' कहलाती है, वयोकि तदनन्तर ही ग्राहकविक्षेप प्रहीण होता है। यह निर्वेधभागीय है। यहाँ मनोजल्पमाल रह जाता है (१४।२३—२६)। यह ग्रवस्था इयग्राह से विसयुक्त, निर्विकल्प, विरज ग्रोर ग्रन्तर है (१४।२०)।

इस प्रकार नैरात्म्य का लाभ कर वह सब सत्त्वो में श्रात्मनमित्तता का प्रतिलाभ करता है। धर्मनैरात्म्य से धर्मनमता का प्रतिबेध कर वह विचार करता है कि मेरे दुख ग्रीर पराये के दुख में कोई विशेष नहीं है। ग्रत, वह परदु खप्रहाण की उसी प्रकार कामना करता है, जिम प्रकार ग्रपने दुख के प्रहाण की ग्रीर इनके लिए दूसरों से कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता (१४।३१)। उनके श्रायंत्व में क्या श्रन्नराय हो मकता है? ग्रपने ग्रद्धयार्थ से वह सम्कारों को ग्रमूतपरिकत्पत देखता है, जब वह ग्राह्मग्राहकाभाव

के भाव को (घर्मधातु को) दर्शनप्रहातव्य क्लेशो से विमुक्त देखता है, तव यह दर्शनमार्ग कहलाता है (१४।३२-३३)। यहाँ एक विचित्र वाक्य है — जव वह ग्रभावशून्यता, तथाभाव की गून्यता और प्रकृतिणून्यता, इस विविधशून्यता का ज्ञान प्राप्त करता है, तव वह शून्यज्ञ कहलाता है (१४।३४)।

त्रिविध शून्यता—इस श्लोक की टीका में कहा है वीधिसत्त्व को त्रिविध शून्यता का ज्ञान होता है। ग्रभावशून्यता परिकल्पित स्वभाव है, क्योंकि स्वलक्षण का ग्रभाव है। तथा-भाव की गून्यता परतन्त्रस्वभाव है, क्योंकि इसका भाव वैसा नहीं है, जैसा कल्पित होता है। प्रकृतिणून्यता परिनिष्पन्न-स्वभाव है, क्योंकि इसका स्वभाव शून्यता का है। हम देखते हैं कि नागाजुंन की शून्यता का विज्ञानवादी ग्रह्यवाद से क्या सूक्ष्म सम्बन्ध है, श्रीर हम यह भी देखते हैं कि किम कुशलता के माथ विज्ञानवादी नागाजुंन से व्यावृत्त होते हैं। क्योंकि, माध्यिमकों की शून्यता से ऐकमत्य प्रकट कर ग्रसग कहते हैं कि यह जानकर कि जगत् सस्कार-मात्र ग्रीर निरात्मक है, ग्रीर निरिधंका ग्रात्मदृष्टि का त्याग कर वोधिसत्त्व महात्मदृष्टि का लाभ करने हैं, जिसका महान् श्रयं है, इस महात्मदृष्टि में सब सत्त्वों के साथ ग्रात्मसमिवत्त का लाभ होता है। इम ग्रह्यवाद से करुणा प्रवृत्त होती है। वोधिसत्त्वों का सत्त्वों के प्रति जो प्रेम होता है, उनकी जो वत्सलना होती है, वह परम ग्राष्ट्ययं है। ग्रथवा ग्राष्ट्यं का विषय नहीं है, क्योंकि उमके लिए सत्त्व ग्रात्मममान है (१४।४९)।

सस्कारमात्र जगदेत्य वृद्ध्या निरात्मक दु.खिक्छिमात्रम् । विहाय यानर्थमयात्मदृष्टि महात्मदृष्टिं श्रयते महार्थाम् ।। (१४।३७)

(टीका--महात्मदृष्टिरिति महार्था या सर्वसत्त्वेध्वामत्त्समचित्तलाभात्मदृष्टि । सा हि सर्व-सत्त्व यंक्रियाहेतुत्वान्महार्था । 'विनात्मदृष्ट्या' श्रनर्थंमयी श्रात्मदृष्टिर्महार्था या विनापि दुःसेन स्वमन्तानजेन सुदु खिता सर्वसत्त्वसन्तानजेन । )

यह महात्मदृष्टि उपनिषदों की परमात्मदृष्टि के कितने समीप है — तुम्हारी मात्मा जी मब म्रात्माम्रों में गृढ है।

श्रमग पहते हैं कि महात्मदृष्टि श्रात्मदृष्टि है, क्यों कि इसमें सब सत्तों में श्रात्मसमितित का लाभ होता है। वह स्वसन्तानज दु खो के विना भी मब सत्त्वों के दु ख से दु खित होता है। श्राज में वोधिमत्त्व का धातु श्राकाशवत् श्रमला है। मब सत्त्व श्रात्मतुल्य हो जाते हैं। यह मन्त्रों के दु ख का श्रन्त करने के लिए मचेष्ट होता है। वह उनके हित-सुख की कामना करता है, श्रीर उसके लिए प्रयोग करता है। यह बच्चोपम समाधि है। विकल्प उमका भेद नहीं कर सकते। यह सर्वाकारज्ञता श्रीर श्रमुत्तर पद भी है। यह जगत् में सूर्य के सदृण मानित होता है, श्रीर श्रन्धकार का नाश करता है।

पारिमनायों की सिद्धि-प्रतिष्ठा कायवाक् चित्तमय कर्म है। वोधिसत्त्व कर्म को विश्व करता है। उसके कर्म में कर्ता, कर्म या क्रिया का विकल्प नहीं है। इस प्रकार, कर्म को गीध कर वह गम को ग्रस्थय कर देता है, ग्रीर पारिमनाग्रों की सिद्धि करता है।

ग्रन्थ के सोलहवें ग्रधिकार में ग्रसग षट्पारमिता की चर्या का वर्णन करते हैं। सत्नहवें में वह बुद्धपूजा, कल्याणिमत्नसेवा ग्रौर चार ग्रप्रमाण (मैत्नी, करुणा, मृदिता, उपेक्षा) का उल्लेख करते हैं। ग्रन्त में वह करुणा के ग्रनुशस में कहते हैं कि जो मन कृपा से ग्राविष्ट है, वह शम में ग्रवस्थान नहीं करता। श्रावक-प्रत्येकवुद्धों का मन निर्वाण में प्रतिष्ठित होता हैं। वे नि स्नेह होते हैं, किन्तु बोधिसत्त्वों का मन निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं होता। तब स्वजीवित या लौकिक सुख में उनकों कैंसे प्रीति हो सकती हैं?

> म्राविष्टाना कृपया न तिष्ठति मन शमे कृपालून।म् । मुत एव लोकसौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः ॥ [१७।४२]

वोधिसत्त्वो का करुणास्नेह विशिष्ट है। माता-पिता के लिए जो स्नेह होता है, वह तृष्णामय है, श्रत सावद्य है। जो लौकिक-करुणाविहारी है, उनका स्नेह निरवद्य होते हुए भी लौकिक है, किन्तु बोधिसत्वो का स्नेह करुणामय है। यह निरवद्य है, श्रौर लौकिक का श्रति-क्रमण भी करता है। लोक दुख श्रौर श्रज्ञान में निश्चित है। लोक के उद्धरण का उपाय निरवद्य क्यों न होगा? सत्त्वों के प्रति करुणा करने से बोधिसत्त्वों को जो दुख होता है वह श्रादिभूमि में तास का कारण होता है, क्योंकि श्रभी तक उन्होंने श्रात्म-पर-समता से दुख का यथाभूत स्पर्श नहीं किया है। किन्तु, एक बार स्पर्श होने से वह दुख का श्रभिनन्दन करता है। इससे बढकर क्या श्राश्चर्य होगा कि बोधिसत्त्वों का करुणादुख सब लौकिक सुख को भी श्रभिभूत करता है। श्रसग कहते हैं कि भोगी की भी उपभोग से वैसी तुष्टि नहीं होती, जैसी कृपालु बोधिसत्त्व की तुष्टि परित्याग से होती है। उसका चित्त सुखत्रय (दानश्रीति, परानुग्रहश्रीति, बोधिसम्भारसम्भरणश्रीति) से श्राप्यायित होता है (१७।६१)।

न तथोपभोगतुष्टिं लभते भोगी यथा परित्यागात् । तुष्टिमुपैति कृपालु मुखत्रयाप्यायितमनस्क ॥ (१७।६१)

ग्रन्थ में अब बोधिपक्षाधिकार प्रारम्भ होता है ( १८)। इस ग्रधिकार में उन गुणों का वर्णन है, जिनसे बोधि की प्राप्ति होती है। बोधिसत्त्व में दोषों का ग्रभाव होता है, श्रीर वह गुणों से युक्त है। उसका आश्रय निर्मल, अच्छ, ग्रलिप्त, निर्विकल्प श्रीर शून्य होता है। उसकी तुलना श्राकाश से ही हो सकती है। वह श्राकाश के तुल्य लोकधर्मों से लिप्त नहीं होता ( १८।१२० )।

यहाँ वोधिपक्षीय धर्मों का उल्लेख नहीं करना है, क्योंकि इनका दश्नेंन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है (१८१८०), श्रौर उसके श्रामें के श्लोकों में श्रमम सब संस्कारों की श्रनित्यता, दुःखता, सब धर्मों की श्रनात्मता के लिए पुराने वाक्य का उल्लेख करने हैं। वे कहने हैं कि बोधिसत्त्वों के लिए श्रनित्य का अर्थ श्रमत् है। उनके लिए श्रनित्य परिकल्पिन-लक्षण है, दुःख का श्रयं श्रमूत-विकल्प है, श्रौर श्रनात्म का श्रयं परिकल्पमात्र है। परिकल्पिन श्रात्मा नहीं है, किन्तु परिकल्पमात्र है। उस प्रकार, श्रनात्म वा श्रयं परिकल्पित लक्षण का श्रभाव है (१८१८)।

पुन ग्रसंग इस प्रकरण में क्षणिकवाद की परीक्षा करते हैं। हम सौद्रान्तिकवाद के ग्रध्याय में इसका वर्णन कर चुके हैं। प्रदगत-नैरात्म्य

श्रन्ततः पुद्गल का भी नैरास्म्य है। यह द्रव्यत नहीं है, केवल प्रज्ञप्तित है। इसकी रूपादिवत् द्रव्यत उपलब्धि नहीं होती। किन्तु, भगवान् ने कहा है कि इस लोक में आत्मा की उपलब्धि होता। है, आत्मा की प्रज्ञप्ति होती है। फिर, कैसे कहते हैं कि इसकी उपलब्धि नहीं होती? किन्तु, इस प्रकार उपलब्ध्यमान होने पर वह द्रव्यत उपलब्ध नहीं होता। किम कारण से? क्योंकि यह विपर्यास है। भगवान् ने कहा है कि श्रनात्म में श्रात्म का विपर्यास होता है, इसलिए पुद्गल-ग्राह विपर्यास है। इसकी सिद्धि कैसे होती है? सक्लेश से।

इस सक्लेश का लक्षण सत्कायदृष्टि है, जिसमे ग्रहकार-ममकार होता है। किन्तु, विपर्यास सक्लेश है। कैसे मालूम हो कि यह सक्लेश है वयोकि, हेतु क्लिष्ट है। वस्तुत, तद्हेतुक रागादि क्लिष्ट उत्पन्न होते है।

किन्तु, जिस रूपादिसज्ञक वस्तु मे पुद्गल प्रज्ञप्त होता है, वह उस पुद्गल का एकत्व है या ग्रन्यत्व ? वह उत्तर देता है कि एकत्व या ग्रन्यत्व दोनो ग्रवक्तव्य हैं, क्योंकि दो दोप है। एकत्व में स्कन्धों के आत्मत्व का प्रसग होता है। अन्यत्व मे पुद्गल के द्रव्यत्व का प्रसग होता है। यदि इसका एकत्व है, तो इससे यह परिणाम निकलता है कि स्कन्धो का श्रात्मत्व है, ग्रीर पुद्गल द्रव्यसत् है। यदि ग्रन्यत्व है, तो पुद्गल द्रव्यमत् है। इस प्रकार, यह युक्त है कि पुद्गल भवक्तव्य है, क्योंकि यह प्रज्ञप्तिसत् है। ग्रत, यह भ्रव्याकृत वस्तुम्रों में से है। पुन जो गास्ता के शासन का अतिकम कर पुद्गल का द्रव्यत अस्तित्व चाहते है, उनसे कहना चाहिए कि यदि वह द्रव्यसत् है, ग्रौर ग्रवाच्य भी है, तो प्रयोजन कहना चाहिए किस कारण से ? यदि यह नहीं कहा जा सकता कि इसका एकत्व है या ग्रन्यत्व, तो यह निष्प्रयोजन है। किन्तु, कदाचित कोई केवल दृष्टान्त द्वारा पुद्गल के अवक्तव्यत्व को सिद्ध करना चाहे, तो वह कहेंगे कि पुदगल ग्रग्नितुल्य है, ग्रौर जिस प्रकार ग्रग्नि ईन्धन से न ग्रन्य है, न भ्रनन्य, उसी प्रकार पुद्गल भ्रवस्तव्य है। उनसे कहना चाहिए कि लक्षण से, लोकदृष्टि से तथा शास्त्र से ईन्धन और अग्नि का अवक्तव्यत्व युक्त नहीं है, क्योंकि इयरूप से उपलब्धि होती है। पुनः ग्रग्नि तेजोधातु है, ग्रीर ईन्धन शेपभूत है। उनके लक्षण भिन्न है। ग्रतएव, ग्रग्नि ईन्यन से ग्रन्य है । लोक में भी ग्रग्नि के विना काष्ठादि ईन्धन देखा जाता है, श्रौर ईन्धन के विना श्रग्नि देखी जाती है। इसलिए, इनका ग्रन्यत्व सिद्ध हैं, ग्रीर शास्त्र में भगवान् ने कभी ग्रग्नि-ईन्धन का ग्रवक्तव्यत्व नही वताया है। किन्तु, यह कहा जायगा कि ग्राप कैसे जानते हैं कि ईन्धन के विना ग्रग्नि होती है ? उपलब्धि से, क्योंकि ्इस प्रकार वायु से विक्षिपत ज्वलन दूर भी जाता है। किन्तु, यह श्रापत्ति होगी कि यहाँ वायु ईन्धन है। ग्रतएव, ग्रनि-ईन्धन का ग्रन्यत्व मिद्ध होता है। कैमे ? क्योंकि द्वयरूप में उपलब्धि है। यहाँ दो उपलब्धियाँ है। श्रचिं श्रौर वायु ईन्धन के रूप में। किन्तु पुद्गल हैं, नयोिक यहीं द्रष्टा, विज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता, मन्ता है। नहीं, क्यांकि इस ग्रवस्था में बह दर्शनादि-

संज्ञक विज्ञानों का प्रत्ययभाव से या स्वाभिभाव से कर्त्ता होगा। किन्तु, यदि दो के प्रत्ययवश विज्ञान सम्भव है, तो यह प्रत्यय नहीं हैं। क्यों यह निरर्थक होगा, क्योंकि उसका कुछ भी सामर्थ्य नहीं देखा जाता। यदि विज्ञान की प्रवृत्ति में यह स्वामी होता तो ग्रानित्य का प्रवर्त्तन न होता, क्योंकि ग्रानित्य उसको ग्रानिष्ट है। ग्रात, यह युक्त नहीं है कि यह द्रष्टा, विज्ञान, कर्त्ता, भोक्ता है।

पुद्गल-नैरात्म्य के प्रभाव में दोष—पुन यदि पुद्गल द्रव्यत है, तो उसके कर्म की उपलिध होनी चाहिए, जैसे चक्षुरादि के दर्शनादि कर्म की उपलिध होती है। किन्तु, पुद्गल के मम्बन्ध में ऐसा नहीं है, ग्रतः वह द्रव्यत नहीं है। यदि उसका द्रव्यत्व इष्ट है, तो भगवान् वुद्ध के सम्बोध को तीन प्रकार से वाधा पहुँचती है। ग्रिभसम्बोध गम्भीर, ग्रसाधारण ग्रीर लोकोत्तर है। किन्तु, पुद्गल के श्रिभसम्बोध में कुछ गम्भीर नहीं है, कुछ ग्रसाधारण नहीं है। यह पुद्गल-ग्राह सर्वलोक गम्य है, तीर्थिक इसमें ग्रिभनिविष्ट है; यह लोकोचित है। पुन यदि पुद्गल द्रष्टा ग्रादि होता, तो दर्शनादि कृत्य में वह सप्रयत्न होता या निष्प्रयत्न होता। यदि वह सप्रयत्न होता, तो उसका प्रयत्न स्वयम्भू होता या ग्राकस्मिक होता या तत्प्रत्ययत्व होता। यह यत्न स्वयम्भू नहीं है, क्योंकि इसमें तीन दोष है। इनका उल्लेख ग्रागे करेगे। यत्नप्रत्ययत्व भी नहीं है। ग्रथवा यदि वह निष्प्रयत्न होता, तो दार्शनादिक स्वत सिद्ध होते। ग्रीर, जब पुद्गल का व्यापार नहीं है, तो पुद्गल द्रष्टादि कैसे होता है?

तीन दोष यह है—श्रकत् त्व, ग्रानित्यत्व, युगपत् भीर नित्य प्रवृत्ति । यदि दर्शनादिक में प्रयत्न श्राकिस्मिक है, तो दर्शनादिक का पुद्गल कर्ता नहीं है । वह द्रष्टा श्रादि कैसे होगा ? श्रयवा यदि प्रयत्न को श्राकिस्मिक मानें, तो निरपेक्ष होने से ऐसा कभी न होगा कि प्रयत्न न हो श्रीर यह श्रनित्य न होगा । यदि प्रयत्न नित्य होता, तो दर्शनादिक की प्रवृत्ति नित्य श्रीर युगपत् होती । इन तीन दोषों के कारण प्रयत्न स्वयम्भू नहीं है ।

प्रत्ययत्व भी युक्त नहीं है। यदि पुद्गल तथास्थित है, तो उसका प्रत्ययत्व युक्त नहीं है; क्योंकि प्राक् अभाव है। यदि तत्प्रत्यय है, तो ऐसा कभी न होगा कि पुद्गल न हो। क्यों ? क्योंकि जब उत्पन्न नहीं है, तो प्राक् -प्रयत्न न होगा। श्रीर, यदि पुद्गल विनष्ट होता है, तो भी उमका प्रत्ययत्व युक्त नहीं है, क्योंकि पुद्गल के अनित्यत्व का प्रसंग होगा। कोई तीसरा पक्ष नहीं है, अतएव तत्प्रत्यय प्रयत्न भी युक्त नहीं है। इस युक्ति का आश्रय लेकर पुद्गल की उपलब्धि द्रव्यतः नहीं होती।

पुद्गल की प्रज्ञिप्तसत्ता—यद्यपि पुद्गल द्रव्यत नहीं है, तथापि यह प्रज्ञिप्तसत् है। भगवान् ने भी कही कहा है कि पुद्गल है, जैसे भारहारसूत में। श्रद्धानुसारी स्नादि पुद्गल की व्यवस्था भी है। इनमें दोष नहीं है। पुद्गल-प्रज्ञिप्त के विना वृत्तिभेद श्रीर सन्तानभेद की देशना शक्य नहीं है। उदाहरण के लिए, भारहारसूत में भार श्रीर भारादान को सक्लेश कहा है श्रीर भारिनक्षेपण को व्यवदान। यह बताने के लिए कि इनकी वृत्ति श्रीर सन्तान में भेद है, भारहार पुद्गल को प्रज्ञप्त करना पडता है। इसके विना देशना सम्भव

नही है। पुन वोधिपक्षीय धर्मों की ग्रवस्थाएँ विविध है। इनकी वृत्ति का भेद ग्रीर सन्तान का भेद श्रद्वानुमारी ग्रादि पुद्गलों की प्रज्ञप्ति के विना देशित नहीं हो सकता। इसीलिए, भगवान् की पुद्गल-देशना है, किन्तु पुद्गल का द्रव्यत ग्रस्तित्व नहीं है। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रात्मदृष्टि के उत्पादन के लिए यह देशना है। ग्रात्मदृष्टि पहले से है, ग्रत वह ग्रनुत्पाद्य है। उमके ग्रभ्याम के लिए भी नहीं है, क्योंकि इसका ग्रभ्यास ग्रनादिकालिक है, ग्रीर यदि इमकी देशना इसलिए होनी कि ग्रात्मदर्शन से मोक्ष होता है, तो सबकों मोक्ष का लाभ विना यत्न के ही होता, क्योंकि जो दृष्ट-सत्य नहीं है, उनकों भी ग्रात्मदर्शन होता है। ग्रथवा मोक्ष नहीं है ग्रीर पुद्गल नहीं है। पहले ग्रात्मा का ग्रनात्मत ग्रहण कर मत्याभिसमय के काल में कोई उसको ग्रात्मत गृहीत नहीं करता। ग्रात्मा के होने पर ग्रहकार, ममकार, ग्रात्मतृष्णा तथा ग्रन्य क्लेश, जो तिन्त्रदान है, ग्रवश्य होगे। इससे भी मोक्ष न होगा। ग्रथवा कहना चाहिए कि पुद्गल नहीं है। उसके होने पर यह दोष नियत रूप से होते हैं (१६१६२-१०३)।

तथता का प्रत्यक्ष—योगी पुद्गल-निमित्त का विनाश करता है, ग्रौर ग्रालयविज्ञान का क्षय कर शुद्ध तथता का लाभ करता है। तथता-ज्ञान यथाभूत का परिज्ञान है। ग्रसग कहते हैं कि तथतालम्बन-ज्ञान द्वयग्राह से विवर्जित है। इसकी भावना ग्रनानाकार होती है, क्यों कि यह निमित्त ग्रौर तथता को पृथक्-पृथक् नहीं देखता। वोधिसस्व तथता को छोड़कर निमित्त नहीं देखते ग्रौर निमित्त को ही ग्रनिमित्त देखते हैं। ग्रतः, उनके ज्ञान की भावना पृथक्-पृथक् नहीं होती। सत्तार्थ-ग्रसत्तार्थ में (तथता-निमित्त) ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। यह निमित्त ग्रौर तथता दोनों को विना नानात्व के सगृहीत करता है (१६।४२)।

इस तत्त्व का सछादन कर मूढ पुरुषों को सर्वत अतत्त्व का ख्यान होता है। किन्तु, वोधिसत्त्वों को तत्त्व का ही ख्यान होता है, अतत्त्व का नहीं (१६।४३)। जब असदर्थ (निमित्त) की अख्यानता और सदर्थ (तथता) की ख्यानता होती है, तब यही आश्रय-परावृत्ति है, यही मोक्ष है। तब वह स्वतन्त्र होता है, अपने चित्त का वशवर्त्ती होता है, क्योंकि प्रकृति से ही निमित्त का समुदाचार नहीं होता (१६।४४)।

## बोधिसत्त्व की दशभूमियाँ

इसके वाद (२०-२१) ग्रसग चर्या की दशभूमियों का उल्लेख करते हैं, ग्रीर एक वृद्धस्तोत के साथ ग्रन्थ को समाप्त करते हैं।

प्रथम भूमि को अधिमुक्तिचर्या-भूमि कहते हैं। इस भूमि में पुद्गल-नैरात्म्य ग्रीर धर्म-नैरात्म्य का ग्रमिसमय होता है, श्रर्थात् योगी धर्मता का प्रतिवेध करता है। इससे दृष्टि विगुद्ध होती है।

दूसरी भूमि मृदिता है। इसमें श्रधिशील शिक्षा होती है। पृद्गल जानता है कि कर्मों का श्रविप्रणाश है, श्रीर कुशल-श्रकुशल कर्मपथ का फलवैचिल्य होता है। वह श्रपने गील को विशुद्ध करता है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म श्रापत्ति (श्रपराध) भी नहीं करता। इस भूमि को मुदिता कहते हैं; क्योंकि आसन्न बोधि और सत्त्वों के अर्थसाधन को देखकर योगी में तीव्र मोद उत्पन्न होता है।

तृतीय भूमि विमला है। इस भूमि मे योगी समाहित होता है। यह श्रधिचित्त शिक्षा है। उसको अञ्युत ध्यानसमाधि का लाभ होता। इसे विमला कहते हैं; क्यों कि योगी दो शील्य, मल श्रोर आभोगमल (= अन्ययानमनसिकारमल) का अतिक्रम करता है।

चतुर्थ, पचम ग्रौर षष्ठ भूमियो में ग्रधित्रज्ञ शिक्षा होती है।

चतुर्थ भूमि प्रभाकरी है। इसमें बोधिपक्ष सगृहीत प्रज्ञा की भावना होती है। योगी बोधिपक्ष मे विहार करता हुआ भी बोधिपक्षो की परिणामना ससार में करता है। इस भूमि मे समाधि-बल से अप्रमाण धर्मों का पर्येषण होने से महान् धर्मावभास होता है, इसलिए इसे प्रभाकरी कहते हैं।

पाँचवी भूमि श्रिचिंष्मती है। इसमें बोधिपक्षात्मिका प्रज्ञा का बाहुल्य होता है। इस प्रज्ञा की पाँचवी ग्रीर छठी भूमियों में दो गोचर होते हैं धर्मतत्त्व ग्रीर दुखादि सत्यचतुष्ट्य। पाँचवी भूमि में योगी चार श्रार्यसत्यों में विहार करता है, ग्रीर सत्त्वों के परिपाक के लिए नाना शास्त्र श्रीर शिल्प का प्रणयन करता है। पाँचवी भूमि में प्रज्ञाद्वय, ग्रर्थात् क्लेशावरण ग्रीर ज्ञेयावरण का दहन करने के लिए प्रत्युपस्थित होती है। श्रत, इस भूमि में प्रज्ञा ग्रीचें का काम देती है, इसीलिए यह भूमि ग्रचिंष्मती है।

छठी भूमि दुर्जया है। इसमें योगी प्रतीत्यसमृत्पाद का चिन्तन करता है श्रीर श्रपने चित्त की रक्षा करता है। सत्त्वों के परिपाक में श्रभियुक्त होते हुए भी वह सिक्लिष्ट नहीं होता। यह कार्य श्रतिदुष्कर है, इसलिए इस भूमि को दुर्जया कहते हैं।

इसके अनन्तर भावना के चार फल चार भूमियो में समाश्रित हैं। प्रथम फल अनिमित्त ससस्कारिवहार है। यह सातवी भूमि है। इसे अभिमुखी कहते हैं; क्यों प्रिज्ञा-पारिमता के आश्रय से यह निर्वाण और ससार की अप्रतिष्ठा के कारण ससार और निर्वाण के अभिमुख है।

श्राठवी भूमि दूरगमा है। द्वितीय फल इसपर आश्रित है। ग्रनिमित्त श्रनिभसस्कार विहार द्वितीय फल है। यह भूमि प्रयोग-पर्यन्त जाति है, ग्रत दूरगमा है।

नवी भूमि ग्रचला है। इसपर तृतीय फल श्राश्रित है। इसमें प्रतिसिविद्वशित्व का लाभ होता है। इसमे सत्त्वों के परिपाचन का सामर्थ्य होता है। निमित्तसज्ञा श्रीर ग्रनिमित्ता भोगसज्ञा से ग्रविचलित होने के कारण यह श्रचला है।

दसवी भूमि साघुमती है। इसपर चतुर्थं फल श्राश्रित है। इसमें समाधि श्रीर धारणी की विशुद्धता होती है। प्रतिसविन्मति की प्रधानता (साधुता) से यह माधुमती है।

श्रन्तिम बुद्धभूमि है, जहाँ वोधि की विशुद्धता होती है। यह धर्ममेघा है। यह समाधि श्रौर धारणी से व्याप्त है। जैसे अकाश मेव से व्याप्त होता है, श्रौर मेव का श्राश्रय होता है।

वैसे ही श्रुतधर्म वह श्राश्रय होता है, जो समाधि श्रीर धारणी में व्याप्त है। श्रतः, यह धर्ममेघा कहलाती हैं (श्रिधकार २०-२१)।

इन विविध भूमियों को विहार भी कहते हैं, क्योंकि वोधिसत्त्वों की इनमें सदा सर्वत्न रित होती है। इसका कारण यह है कि वह विविध कुणल का श्रिभिनिहीर चाहते हैं। इन्हें भूमि कहते हैं, क्योंकि अप्रमेय मत्त्वों को अभय देने के लिए कर्ष्वगमन का योग होता है।

भ्रन्त में वुद्धम्तोत्र है।

# अष्टादश अध्याय

# वसुबन्धु का विज्ञानवाद (१)

## (विशातिका के आधार पर)

विशतिका के रचियता वसुवन्धु है। हमने पहले कहा है कि यह आरम्भ में सौदान्तिक थें। पीछें से अपने ज्येष्ठ भाता आयं असग के प्रभाव से विज्ञानवादी हो गये। परमार्थ के अनुसार अयोध्या के किसी सघाराम में उन्होंने महायान-धर्म स्वीकार किया था। वसुवन्धु का प्रसिद्ध ग्रन्थ वैभाषिक नय पर है, किन्तु महायान-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने विज्ञान-वाद पर कई ग्रन्थ लिखे। हम इस अध्याय में विस्तार से वसुवन्धु के विज्ञानवाद का परिचय करायेंगे। वसुवन्धु के ग्रन्थों में से एक छोटा ग्रन्थ 'विश्वतिका' है। इसपर वसुवन्धु ने स्वय ही भाष्य भी लिखा है। यह ग्रन्थ विज्ञानवाद को सक्षेप में जानने के लिए बडा ही उपयुक्त है। इसिलए, पहले इसका सक्षेप देते हैं। वाद में 'विश्वतिका' तथा उसकी टीका 'सिद्धि' के आधार पर वसुवन्धु के विज्ञानवाद का विस्तार देगे। 'विश्वतिका' को सिलवा लेवी ने मूल रूप में सन् १६२५ ई० में वसुवन्धु की वृत्ति साथ के प्रकाशित किया और पूसे ने मुइजें औं में सन् १६२२ ई० में (पृ० ५३—६०) इसके तिब्बती-अनुवाद का फेच-भाषान्तर दिया था। लेवी ने सन् १६३२ ई० में इसका फेच-अनुवाद स्वय प्रकाशित किया।

## बाह्यार्थ का प्रतिषेध

विंशतिका के ग्रारम्भ में ही कहा है कि महायान में तैधातुक को विज्ञिष्तिमाव व्यवस्था-पित किया है। यह इस सूत्र के ग्रनुसार है—"चित्तमात्र भो जिनपुता यदुत वैधातुकम्।" चित्त, मन, विज्ञान ग्रौर विज्ञष्ति पर्याय है। यहाँ 'चित्त' से सम्प्रयुक्त चैत्त सहित चित्त ग्रभिप्रेत है।

इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध होता है। रूपादि अर्थ के विना ही रूपादि-विज्ञान्त उत्पन्न होती है। यह विज्ञान ही है, जो अर्थ के रूप में अवभासिन होता है। वस्तुत, अर्थ असन् है। यह वैसे ही है, जैसे तिमिर का रोगी असत्-कल्प केण-चन्द्रादि का दर्शन करता है। अर्थ की सत्ता नहीं है।

प्रश्न है कि यदि अर्थ असत् है, तो उसकी विज्ञप्ति का उत्पाद कैसे होता है। यदि स्पादि अर्थ से रूपादि विज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होती और रूपादि अर्थ के विना ही होती है, तो देश-काल का नियम और सन्तान का अनियम युक्त न होगा। उदाहरण के लिए, यदि ह्य-

विज्ञप्ति रूपार्थं के विना उत्पन्न होती है, तो ऐसा क्यो है कि वह विज्ञप्ति किसी एक ही देश में उत्पन्न होती है, सर्वंदा नहीं। ऐसा भी क्यो है कि उस देश ग्रीर काल में प्रतिष्ठित मर्वं की मन्तान में यह विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, केवल एक सन्तान में नहीं। यदि श्राप तैमिरिक द्वारा देखें हुए केशादि का दृष्टान्त देते हैं, तो हम पूछते हैं कि यह केशादि ग्राभास तैमिरिक के ही मन्तान में क्यो होता है, दूसरों के मन्तान में क्यों नहीं होता? यदि ग्राप स्वप्न में देखतें हुए श्रयों का दृष्टान्त दे, तो हमारा प्रश्न होगा कि इन ग्रयों की किया क्यों नहीं होती? हम स्वप्न में जो श्रन्न या विष का ग्रहण करते हैं, उसकी ग्रन्नादि किया क्यों नहीं होती? गन्धर्वनगर नगर की किया को सम्पन्न नहीं करता, क्योंक वहाँ सत्त्व निवास नहीं करते। समासत यदि ग्रयं का ग्रभाव है, यदि विज्ञप्तिमात्र ही है, तो देश-काल का नियम, सन्तान का श्रनियम ग्रीर कृत्य-किया युक्त नहीं है।

विज्ञानवाद में देशादि का नियम और सन्तान का भ्रनियम—वसुवन्धु इस शका का निराकरण इस प्रकार करते हैं — वाह्य अर्थ के विना भी देशादि नियम सिद्ध हैं। स्वप्न में अर्थ के विना ही किसी देश-विशेष मे, सर्वत नहीं, भ्रमर, आराम, स्त्री-पुरुपादिक देखे जाते हैं, श्रोर उस देश-विशेष में भी कदाचिन देखे जाते हैं, सर्वदा नहीं। अत , यह सिद्ध हुआ कि अर्थ के अभाव में भी देश-काल का नियम होता है। पुन प्रेतवत् सन्तान का अनियम सिद्ध है। सब प्रेतों को पूयपूर्ण अथवा मूत्र-पुरीष-पूर्ण नदी का दर्शन होता है। केवल एक को नहीं, यदि उस देश में ऐसा कोई अर्थ नहीं है। पुन वह दण्ड और खड्ग को धारण करनेवाले पुरुपों से घरे होते हैं, यद्यपि यह पुरुप विकल्पमात है। पुन यह अयथार्थ है कि स्वप्न में जो दर्शन होता है, उसकी कृत्य-क्रिया नहीं होती। हम जानते हैं कि स्वप्न में द्वयसमापत्ति के विना भी शुक्र का विसर्ग होता है।

पुनः नरक में सब नारको को, केवल एक को नही, देश-काल-नियम से नरकपालादि का दर्शन होता है, श्रीर वह उनको पीडा पहुँचाते हें, यद्यपि वह ग्रमत् कल्प है। नरकपाल सत्त्व नहीं है, क्योंकि ऐसा ग्रयुक्त होगा। यह नारक भी नहीं है, क्योंकि यह नारक दु ख का प्रतिसवेदन नहीं करता। प्रदीप्त ग्रयोमयी भूमि के दाह-दु ख को स्वय सहन न कर सकते हुए यह कैंसे दूसरों को यातना पहुँचा सकते हैं? श्रीर नरक में ग्रनारकों की उत्पत्ति भी कैंसे युक्त हैं? यदि स्वर्ग में तिर्यक् की उत्पत्ति होती है, तो वह वहाँ के सुख का भी ग्रनुभव करते हैं, किन्तु नरकपालादि नारक दु.ख का सवेदन नहीं करते। ग्रत, नरक में तिर्यक् ग्रयवा प्रेतों की उत्पत्ति युक्त नहीं है। वस्तुत, नरकपालादि की सज्ञा का प्रतिलाभ करनेवाले भूतिविशेष नारकों के कर्म से सम्भूत होते हैं, श्रीर इस प्रकार इनका परिणाम होता है कि नारकों में भय पैदा करने के लिए यह विविध हम्नविक्षेपादि किया करते देखे जाते हैं। नरकपालादि की उत्पत्ति में यह हेतु मर्वाम्तिवाद के ग्रागम में दिया गया है। (ग्रभिधर्मकोण, १५३)। इमी प्रकार, भूतों की कल्पना क्यों की जाती है, ग्रीर यह क्यों नहीं इन्ट है कि जीवों के कर्मवश

विज्ञान का ही ऐसा परिणाम होता है ? यह कल्पना क्यो है कि कर्म की वासना ग्रन्यत है, श्रीर कर्मफल भन्यत ?

## विज्ञिप्तमात्रता

विज्ञानवाद के पक्ष में ग्रागम—बहुधर्मवादी ग्रागम के ग्राधार पर एक दूसरी ग्रापत्ति उपस्थित करते हैं। भगवद्वचन है कि रूपादि ग्रायतन का ग्रस्तित्व है, यदि विज्ञान ही रूपादि-प्रतिभास होता ग्रीर रूपादिक ग्रर्थ का ग्रभाव होता, तो भगवान् रूपादि ग्रायतन के ग्रस्तित्व की वात कैसे करते?

वसुबन्धु इस ग्राक्षेप के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् की यह शक्ति विनेय जनों के प्रित ग्रिभिप्रायवश है; यथा भगवान् ने अभिप्रायवश कहा है कि उपपादुक सत्त्व होता है। 'उपपादुक सत्त्व है' इस उक्ति में ग्रिभिप्राय यह है कि ग्रायतन में चित्त-सन्तित का उच्छेद नहीं होता। वस्तुत, भगवद्वचन है कि यहाँ सत्त्व ग्रथवा ग्रात्मा का ग्रस्तित्व नहीं है, केवल यह सहेतुक धर्म है। इसी प्रकार, 'रूपादि ग्रायतन का ग्रस्तित्व है', यह वचन भी ग्राभिप्रायिक है। इस वचन का ग्रिभिप्राय यह है कि भगवान् चक्षुरायतन से बीज (परिणाम-विशेष-प्राप्त) को प्रज्ञप्त करते हैं, जिससे रूप-प्रतिभास-विज्ञप्ति का उत्पाद होता है, ग्रीर 'रूपायतन' से विज्ञप्ति के इसी रूप-प्रतिभास को प्रज्ञप्त करते हैं। इसी प्रकार, स्प्रष्टव्यायतन ग्रादि को जानना चाहिए।

पुद्गल-नैरात्म्य, धर्मनैरात्म्य—इस देशना का गुण यह है कि इससे पुद्गल-नैरात्म्य में प्रवेश होता है। इस देशना में भगवान् का ग्रिभिप्राय यह है कि श्रावक पुद्गल-नैरात्म्य में प्रतिपन्न हो, इसीलिए वह कहते हैं कि विज्ञान-षट्क का प्रवर्त्तन दो से होता है, यथा चक्षुरायतन ग्रीर रूपायतन से। यह जानकर कि कोई एक द्रष्टा .मन्ता नहीं है, वे लोग, जिनका विनयन पुद्गल-नैरात्म्य की देशना से करना है, पुद्गल-नैरात्म्य में प्रवेश करते हैं।

वसुबन्धु एक श्रापत्ति वताते हैं, श्रीर कहते हैं कि वस्तुत विज्ञप्तिमांत रूपादि धर्म के श्राकार में प्रतिभासित होता है। श्रतः, यह जानकर कि रूपादि लक्षण का कोई धर्म नहीं है, धर्म-नैरात्म्य मे प्रवेश होगा, किन्तु इससे श्रनिष्ट भी होगा, क्योंकि इससे विज्ञप्तिमान भी न रहेगा। यदि धर्म का सर्वथा श्रभाव है, तो विज्ञप्तिमान की व्यवस्था कैसे होगी? यह भी न रहेगा कि वह इस ग्रापत्ति का निराकरण करते हैं। वह कहते हैं कि यह ग्रयथार्थ है कि धर्मों का सर्वथा श्रभाव है। परमार्थ-दृष्टि मे धर्म-नैरात्म्य का विपर्यास है। इसमे सन्देह नहीं कि धर्मों का सर्वथा श्रभाव है। परमार्थ-दृष्टि मे धर्म-नैरात्म्य का विपर्यास है। इसमे सन्देह नहीं कि धर्म निरात्म है, क्योंकि मूर्खों ने धर्मों का जो स्वभाव (ग्राह्य-ग्राहकादि) परिकित्पत किया है, उससे धर्म रहित है, श्रर्थात् उस किल्पत ग्रात्मा से उनका नैरात्म्य नहीं है। किन्तु, ग्रनिभलाप्य ग्रात्मा से, जो बुद्धों का ही विषय है, उनका नैरात्म्य नहीं है। इस प्रकार, वसुवन्धु नागार्जु न के धर्म-नैरात्म्य से विज्ञानवाद की रक्षा करते हैं। महायान स्वीकार करने के पूर्व वह सौद्रान्तिक थे। कदाचित् महायान धर्म स्वीकार करने पर भी वह ग्रपनी वृत्ति को कुछ ग्रश मे सुरक्षित रखते हैं।

पुन. वह कहते हैं कि विज्ञिष्तिमात का व्यवस्थान उसी विज्ञिष्त्यन्तर से होता है, जिस विज्ञष्त्यन्तर द्वारा परिकल्पित ग्रात्ना से उम विज्ञष्तिमात के भी नैरात्म्य में प्रवेश होता है। विज्ञष्तिमात के व्यवस्थापन से सब धर्मों के नैरात्म्य में प्रवेश होता है; किन्तु उनके ग्रस्तित्व के ग्रपवाद से नहीं होता। यदि ग्रन्यथा होता, तो विज्ञष्ति का विज्ञष्त्यन्तर ग्रथं होता, ग्रीर इस प्रकार विज्ञष्तियों के ग्रथंवती होने से विज्ञष्तिमात्रत्व की सिद्धि न होती। इस प्रकार वसुवन्धु का विज्ञानवाद माध्यमिकों के ग्रून्यतावाद ग्रांर हीनधान के बहुधर्मवाद के वीच प्रवित्तत होता है।

## परमाणुवाद का खण्डन

विज्ञप्तिमालता की व्यवस्था करके वसुवन्धु श्रर्थप्रतीति का विवेचन करते हैं। वह कहते हैं कि यह कैंसे विश्वास किया जाय कि भगवान का यह वचन कि स्पादि श्रायतन का श्रस्तित्व है, श्रीभप्रायवश उक्त है, श्रीर उनका श्रस्तित्व नहीं है, जो स्पादि विज्ञप्तियों के विषय हैं। वह कहते हैं कि रूपादिक श्रायतन या तो एक है, श्रीर श्रवयिवस्प है, जैसा कि वैशेषिकों की कल्पना है, श्रथवा परमाणुश श्रनेक हैं, श्रथवा यह परमाणुसहत है। किन्तु, एक विज्ञप्ति का विषय नहीं होता, क्योंकि अवयवों से श्रन्य श्रवयवों के रूप का कभी ग्रहण नहीं होता। श्रनेक भी विषय नहीं होता, क्योंकि परमाणुश्रों में से प्रत्येक का ग्रहण नहीं होता। पुनः सहत परमाणु भी विज्ञप्ति के विषय नहीं होते; क्योंकि यह सिद्ध नहीं है कि परमाणु एक द्रव्य है।

प्रमाणु का विवेचन करते हैं। क्या परमाणु का दिग्-भाग-भेद हैं? उस ग्रवस्था में यह विभाजनीय है, इसलिए परमाणु की पडशाता प्राप्त होती है। यदि छ दिशायों में इसका ग्रन्य छ परमाणुओं से युगपत् योग होता है, तो परमाणु की पडशाता प्राप्त होती है। यदि परमाणु का दिग्-भाग-भेद नहीं है, यदि जो देश एक परमाणु का है, वही छ का है, तो सवका समान देश होने से सर्विपण्ड परमाणुमात होगा। यह श्रयुक्त है। पुन. इस श्रवस्था में किसी प्रकार पिण्ड सम्भव नहीं है।

काइमीर वैभाषिक कहते हैं कि निरवयव होने से परमाणुग्रो का सयोग नहीं होता, किन्तु सहत होने पर उनका परस्पर सयोग होता है। वसुवन्धु कहते हैं कि इनसे पूछना चाहिए कि क्या परमाणुग्रो का सघात उन परमाणुग्रो से ग्रर्थान्तर है। यदि इन परमाणुग्रो का सयोग नहीं होता, तो सघात में किसका सयोग होता है? पुन सघातों का भी ग्रन्थोन्य सयोग नहीं होता। यह न कहता चाहिए कि परमाणुग्रों के निरवयवत्व के कारण सयोग सिद्ध नहीं होता, ग्योंकि मावयव सघात का भी मयोग नहीं होता। ग्रत, परमाणु एक द्रव्य नहीं है, चाहे परमाणु का सयोग इष्ट हो या न हो, जिसका दिग्भागभेद है, उसका एकत्व ग्रयुक्त है। परमाणु का ग्रन्य पूर्व दिग्भाग है, ग्रन्य ग्रद्धों दिग्भाग है इत्यादि। इस प्रकार, जब दिग्भागभेद है, तब तदात्मक परमाणु का एकत्व कैसे युक्त होगा? ग्रीर, यदि एक एक परमाणु का यह दिग्भागभेद न स्वीकार किया जाय, तो प्रतिघात कैसे होगा? सघात

कैसे होगा ? सूर्योदय पर कैसे अन्यत्न छाया होती है, और अन्यत्न आतप ? उसका अन्य प्रदेश नहीं होता, जहाँ आतप नहीं होता । यदि दिग्भागभेद इष्ट नहीं है, तो दूसरे परमाणु से एक परमाणु का आवरण कैसे होता है ? परमाणु का कोई पर भाग नहीं है, जहाँ आगमन से दूसरे का दूसरे से प्रतिघात हो, और यदि प्रतिघात नहीं है, तो सब परमाणुओं का समान-देशत्व होगा और सर्वसघात परमाणुमात्न हो जायगा।

यही पिण्डो के लिए है। पिण्ड या तो परमाणुग्रो से ग्रन्य नहीं है, ग्रथवा ग्रन्य है। यदि पिण्ड परमाणुग्रो से ग्रन्य इष्ट नहीं है, तो यह सिद्ध होता है कि वह पिण्ड के नहीं हैं। यह सिन्तिवेश परिकल्प है। यदि परमाणु सघात है, तो इस चिन्ता से क्या, यदि रूपादि लक्षण का प्रतिषेध नहीं होता।

अत रूपादि लक्षण अनेक (वहु) नहीं हो सकता। जब परमाणु असिद्ध हुआ, तब उसके साथ-साथ द्रव्यों का अनेकत्व भी दूषित हो गया। किन्तु, रूप को हम एक द्रव्य भी सम्प्रधारित नहीं कर सकते। क्योंकि, यदि चक्षु का विषय एक द्रव्य किल्पत हो, तो उसकी अविच्छिन्न उपलब्धि प्रत्यक्ष होगी किन्तु अनुभव ऐसा नहीं बताता। पुन यह विकल्प केवल युक्ति की परिसमाप्ति के लिए था। जब पृथग्भूत परमाणु असिद्ध है, तब सद्यात परमाणु भी असिद्ध हो जाता है, और सक्कत् रूपादि का चक्षुरादि विषयत्व भी असिद्ध हो जाता है। केवल विज्ञप्तिमान्न सिद्ध होता है।

वैभाषिक ग्राक्षेपो का निराकरण—प्रतिपक्षी एक दूसरा ग्राक्षेप करते हैं। वह कहते हैं कि प्रमाण द्वारा ग्रस्तित्व-नास्तित्व निर्धारित होता है, ग्रौर प्रमाणो में प्रत्यक्ष प्रमाण गरिष्ठ है। वह पूछते हैं कि यदि ग्रर्थ ग्रसत् है, तो प्रत्यक्ष बुद्ध क्यो होती है यह प्रतिपक्षी वैभाषिक है। वसुवन्धु पूछते हैं कि ग्राप क्षणिकवादियों को कैसे विषय का प्रत्यक्षत्व इष्ट है, क्योंकि जब क्षणिक विज्ञान उसको विषय बताता है, उसी क्षण में रूपरसादिक निरुद्ध हो गये होते हैं। 'यह विषय मुझको प्रत्यक्ष है', ऐसी प्रत्यक्षवुद्धि जिस क्षण होती है, उसी क्षण में वह ग्रर्थ नहीं देखा जाता, क्योंकि उस समय मनोविज्ञान द्वारा परिच्छेद ग्रौर चक्षुविज्ञान निरुद्ध हो चुके होते हैं।

किन्तु, यह कहा जायगा कि क्यों अपनुभूत का स्मरण मनोविज्ञान द्वारा नहीं होता, इस-लिए अर्थ का अनुभव अवश्य होना चाहिए। वसुबन्धु उत्तर देते हैं कि अनुभूत अर्थ का स्मरण असिद्ध है। हम कह चुके हैं कि किस प्रकार अर्थ के विना ही अर्थाभास विज्ञाप्त का उत्पाद होता है, चक्षुविज्ञानादिक विज्ञप्ति ही अर्थ के रूप में आभासित होती है। इसी विज्ञप्ति में स्मृतिसम्प्रयुक्त रूपादि वैकल्पिक मनोविज्ञप्ति उत्पन्न होती है। अत, न्मृति के उत्पाद में अर्था-नभव नहीं सिद्ध होता।

बहुधर्मवादी कहेंगे कि यदि जैसे स्वप्न में विज्ञप्ति का विषय श्रभूतार्थ होता है, नाग्रत् श्रवस्था में भी वैमा ही हो, तो उसका श्रभाव लोगों को स्वय ही श्रवगत होना चाहिए। निः ऐसा नहीं होता, इसलिए स्वप्न के तुल्य ग्रथोंपलब्धि निर्यक नहीं है। वसुवन्यु कहते हैं कि यह ज्ञापक नहीं है, क्यों कि स्वप्न में दृग्-विषय का जो श्रभाव होता है, उसको श्रप्रवृद्ध नहीं जानता। सोया हुश्रा पुरुष स्वप्न में श्रभूत श्रथं को देखता है, किन्तु जवतक जागता नहीं, तवतक उसको यह श्रवगन नहीं होता कि श्रथं का श्रभाव था। इसी प्रकार, वितय-विकल्प के श्रभ्यामवश वामना-निद्रा में मोया हुश्रा पुद्गल श्रभूत श्रथं को देखता हुश्रा यह नहीं जानता कि श्रथं का श्रभाव है। किन्तु, जैसे स्वप्न से जागकर मनुष्य को श्रवगत होता है कि स्वप्न में मैने जो कुछ देखा था, वह श्रभूत, वितथ था, उसी प्रकार लोकोत्तर निविकल्प ज्ञान के लाभ से जव पुद्गल प्रवृद्ध होता है, तव वह विषय के श्रभाव को यथावत् श्रवगत करता है।

यहाँ एक दूसरी शका उपस्थित की जाती है—यदि स्वसन्तान के परिणाम-विशेष से ही मत्त्वो में अर्थ-प्रतिभास-विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, अर्थविशेष से नहीं, तो यह कथन कि पाप-कल्याणिमत के सम्पर्क से तथा सत्-ग्रसन् धर्म के श्रवण से विज्ञप्ति का नियम है, उम मम्पर्क तथा देशना के ग्रभाव में कैसे मिद्ध होता है ? अर्थ के ग्रभाव में विज्ञप्ति-नियम क्या है ?

वसुबन्धु उत्तर में कहते हैं कि सब सत्त्वों की ग्रन्थोन्य विज्ञप्तियों के ग्राधिपत्य के कारण विज्ञप्ति-नियम परम्परत होता है। यहाँ 'सत्त्व' से 'चित्त-सन्तान' ग्रिभिप्रेत है। एक सन्तान के विज्ञप्ति-विशेष से सन्तानान्तर में विज्ञप्ति-विशेष का उत्पाद होता है, न कि ग्रर्थ-विशेष से।

एक दूसरा प्रग्न यह है कि यदि जैसे स्वप्न में निर्शिका विज्ञप्ति होती है, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी हो, नो कुशल-अकुशल का समुदाचार होने पर आयित में तुल्यफल वयों नहीं होता ?

वमुबन्धु का उत्तर है कि इस असमानफल का कारण अर्थ-सद्भाव नहीं है, किन्तु इमका कारण यह है कि स्वप्न में चित्त मिद्ध से उपहत होता है। वसुबन्धु इसका पुन व्याख्यान करते है—पूर्वपक्ष का कहना है कि यदि यह मव विज्ञिप्तमान्न नहीं है, और किसी का काय-वाक् नहीं है, तो वधिक द्वारा यध होने पर उन्नादि का मरण कैसे होता है, और यदि उन्नादि का मरण तत्कृत नहीं है, तो वधिक का प्राणातिपात के भवध से योग कैमें होता है वसुबन्धु इसका उत्तर यो देते है—मरण पर-विज्ञिप्त-विशेष-वश होना है। जैसे पिशाचादि के मन के वश में होने से स्मृति का लोप होता है, तथा अन्य विकार उत्पन्न होते है, उसी प्रकार पर-विज्ञिप्त-विशेष के ग्राधिपत्य से जीवितेन्द्रिय का निरोध करनेवाली कोई विक्रिया उत्पन्न होती है, जिमसे सभागमन्तान का विच्छेद होता है, और जिसे ही मरण की याख्या प्राप्त होती है। अन्यथा ऋषियों के कोप से दण्डकारण्य सत्त्वशून्य कैसे हुआ विद्या यह कल्पना करों कि दण्डकारण्य के निवासी अमानुपो द्वारा उत्पादित हुए, न कि ऋषियों के मन प्रदोप से, तो इस कर्म से भगवान् की यह उक्ति कि मनोदण्ड काय-वाग्दण्ड से महावद्यतम है, कैसे सिद्ध होती,है,?

ग्रन्तिम प्रश्न—यदि यह सब विज्ञिप्तिमात्त ही है, यदि विज्ञिप्ति का विषय ग्रर्थान्तर नहीं है, तो क्या वस्तुत इनको स्विचित्तज्ञान होता है वसुबन्धु कहते हैं कि स्विचित्तज्ञान धर्मों के निरिभलाप्य ग्रात्मा को नहीं जानता, जो केवल बुद्ध का गोचर है। इस ग्रज्ञान के कारण स्विचित्तज्ञान ग्रोर परिचित्तज्ञान दोनो यथार्थ नहीं है, क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक-विकल्प ग्रप्रहीण है, ग्रोर इसलिए प्रतिभास वितथ है। ग्रन्त में वह कहते हैं कि विज्ञिप्तमात्रता के सर्व प्रकार ग्रिचिन्त्य है; क्योंकि वह तर्क के विषय नहीं है। केवल बुद्धों के ही यह सर्वथा गोचर है। उनका सर्व ज्ञेय का सर्वाकार ज्ञान ग्रव्याहत होता है।



# वसुवन्धु का विज्ञानवाद (२)

## ( शुआन-च्वौंग की 'सिद्धि' के आधार पर )

चीनी यात्री गुग्रान-च्वांग ने भारत में ई० सन् ६३० से ६४४ तक यात्रा की थी। वह नालन्दा के सघाराम में कई वार रहे थे। वह णीलभद्र तथा विज्ञानवाद के ग्रन्य ग्राचार्यों के शिष्य थे। ईसवी-सन् ६४५ में वह चीन लौटे ग्रीर विज्ञानवाद पर उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की। इनमें से सबसे मुख्य ग्रन्थ 'सिद्धि' है। इसका फ्रेंच-ग्रनुवाद पूसें ने किया है। इसी ग्रन्थ के ग्राधार पर यहाँ विज्ञानवाद लिखा जाता है।

#### सिद्धि का प्रतिपाद्य

इस ग्रन्थ का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि यह नालन्दा-सघाराम के श्राचार्यों के विचारों से परिचय कराता है। ग्रसग के महायानसूत्रालकार के विज्ञानवाद का ग्राधार माध्यमिक विचार था ग्रीर उस ग्रन्थ में इस सिद्धान्त का विरोध नहीं किया गया। इसके विपरीत सिद्धि के विज्ञानवाद का स्वतन्त्र ग्राधार है। यह माध्यमिक सिद्धान्त से सर्वथा व्यावृत्त हो गया है, ग्रीर यह ग्रपने को ही महायान का एकमात्र सच्चा प्रतिनिधि मानता है।

जैसा कि ग्रन्थ का नाम सूचित करता है, 'सिद्धि' विज्ञप्तिमान्नता के सिद्धान्त का निरूपण है। जो लोग पुद्गल-नैरात्म्य में अप्रतिपन्न या विप्रतिपन्न है, उनको इनका ग्रविपरीत ज्ञान कराना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। इन दो नैरात्म्यो के साक्षात्कार से श्रात्मग्राह श्रोर धर्मग्राह का नाग होता है, ग्रौर इसके फलस्वरूप क्लेशावरण ग्रौर ज्ञेयावरण (ग्रविलष्ट ग्रज्ञान, जो ज्ञेय, ग्रर्थात् भूततथता के दर्शन में प्रतिवन्ध है) का प्रहाण होता है। रागादि क्लेश ग्रात्मदृष्टि से प्रमूत होते है। पुद्गल-नैरात्म्य का ग्रववोध सत्काय-दृष्टि का प्रतिपक्ष है। इम ग्रववोध से सर्व क्लेश का प्रहाण होता है। क्लेश-प्रहाण से प्रतिसन्धि नहीं होती ग्रौर मोक्ष का लाभ होता है। धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण प्रहीण होता है, इससे महावोधि (सर्वज्ञता) का ग्रधिगम होता है ग्रौर सर्वाकार ज्ञेय में ज्ञान ग्रसक्त श्रौर ग्रप्रतिहत प्रवर्त्तित होता है।

विज्ञिप्तिमात्नता दो प्रकार के एकान्तवाद का प्रतिषेध करती है। सर्वास्तिवादी मानते हैं कि विज्ञान के तुल्य विज्ञेय (वाह्यार्थ) भी द्रव्यसत् हैं, ग्रीर दूसरे (भावविवेक) जो जून्यवादी हैं, मानते हैं कि विज्ञेय (वाह्यार्थ) के सदृश विज्ञान का भी परमार्थत ग्रस्तित्व नहीं हैं, केवल सवृतित है। यह दोनो मत ग्रयथार्थ है। शुग्रान-च्वांग इन दोनो ग्रयथार्थ मतवादों से व्यावृत्त होते हैं, ग्रीर ग्रपने विज्ञानवाद को सिद्ध करते हैं। वह वसुबन्धु के इस वचन को उद्धृत करते हैं—जो विविध ग्रात्मोपचार ग्रीर धर्मोपचार प्रचलित हैं, वह मुख्य धर्मों से सम्वन्ध नहीं रखते। वह मिथ्योपचार है। विज्ञान का जो परिणाम होता है, उसके लिए इन प्रज्ञित्तयों का व्यवहार होता है। दूसरे शब्दों में ग्रात्मा ग्रीर धर्म द्रव्यसत् स्वमाव नहीं हैं।

वह केवल विकल्प-मात है। परिकल्पित आत्मा और धर्म विज्ञान (विज्ञप्ति, ज्ञान) के परिणाम-मात है। चित्त-चैत्त एकमात वस्तुसत् है।

### विज्ञान-परिणाम के विविध मतवाद

धर्मपाल, स्थिरमित, नन्द और बन्धुश्री के मत--शुश्रान-च्वाँग इस विज्ञान-परिणाम का विवेचन विज्ञानवाद के अन्तर्गत विविध मतवादों के अनुसार करते हैं। धर्मपाल और स्थिरमित के श्रनुसार मूलिवज्ञान (विज्ञान-स्वभाव, सवित्ति, सवित्तिभाग) दो भागो में सदृश-परिणत होता है। यह स्रात्मा स्रीर धर्म है। इन्हे दर्शनभाग स्रीर निमित्तभाग कहते है। यही ग्राहक ग्रीर ग्राह्म के ग्रायतन है। यह दो भाग सिवत्तिभाग का ग्राश्रय लेकर वर्षम के दो शृ गो के तुल्य सम्भूत होते हैं। नन्द ग्रीर वन्धुश्री के त्रनुसार ग्राध्यात्मिक विज्ञान वाह्यार्थ, के सदृश परिणत होता है। धर्मपाल के मत से दो भाग सवित्तिभाग के सदृश प्रतीत्यज, परतन्त्र है, किन्तु मूढ पुरुप इनमे आत्मा और धर्म का, ग्राहक-ग्राह्म का, उपचार करते हैं। यह दो विकल्प (कल्पना) परिकल्पित है। किन्तु, स्थिरमित के ग्रनुसार यह दो भाग परतन्त्र नहीं है, क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिषेध किये विना इनकी वस्तुत विद्यमानता नही होती । यत , यह परिकल्पित है। नन्द ग्रौर वन्धुश्री केवल दो ही भाग (दर्शन, निमित्त) स्वीकार करते है, श्रीर यह दोनो परतन्त्र है। निमित्तभाग परतन्त्र है, किन्तु यह दर्शनभाग का परिणाम है। इस नय मे विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त आदृत है। निमित्तभाग विज्ञान से पृथक् नही है, किन्तु मिथ्या रुचि उसे बहिर्वत् गृहीत करती है। यद्यपि यह परतन्त्र है, तथापि परिकल्पित के सद्श है। लोक ग्रीर शास्त्र बाह्यार्थ सदृश इस निमित्तभाग को ग्रात्मा श्रीर धर्म प्रज्ञप्त करते हैं। दर्शनभाग ग्राहक के रूप में निमित्तभाग मे सगृहीत है।

इस प्रकार, स्थिरमित एक ही भाग को परतन्त्र मानते हैं। उनके दर्शनभाग श्रौर निमित्तभाग परिकित्पत है। धर्मपाल, जैसा हम श्रागे देखेगे, चार भाग मानते हैं। वह एक स्वसिवित्ति-सिवित्तिभाग भी मानते हैं। उनके चारो भाग परतन्त्रहैं, नन्द श्रौर वन्धुश्री के अनुसार दो भाग है श्रौर दोनो परतन्त्र हैं।

शुप्रान-च्वांग का समन्वय—इन विविध मतो के वीच जो भेद है, वह ग्रति स्वल्प है। शुप्रान-च्वांग इन मतो का उल्लेख करके उनमें सामजस्य स्थापित करते हैं। उनका वाक्य यह है—ग्रात्मधर्म के विकल्पों से चित्त में जिस वासना का परिपोष होता है, उसके वल से विज्ञान उत्पन्न होते ही श्रात्मधर्माकार में परिणत होता है। ग्रात्मधर्म के यह निर्भास यद्यपि विज्ञान से ग्रिमन्न हैं, तथापि मिथ्या-विकल्प के बल से यह बाह्यार्थवत् अवभासित होते हैं। यही कारण है कि ग्रनाविकाल से ग्रात्मोपचार ग्रीर धर्मोपचार प्रवर्त्तित हैं। सत्त्व सदा से ग्रात्मिनर्मास ग्रीर धर्मेनिर्भांस को वस्तुसत् ग्रात्मधर्म ग्रवधारित करते हैं। किन्तु, यह ग्रात्मा ग्रीर धर्मे, जिनमें मूढ पुरुप प्रतिपन्न हैं, परमार्थत नही हैं। यह प्रज्ञप्तिमान्न हैं। मिथ्या-रुचि (मत) से यह प्रवृत्त होते हैं, ग्रत यह ग्रात्मधर्म सवृतित ही हैं। पश्चिम की भाषा में यदि कहें, तो कहना

होगा कि एक पूर्ववर्त्ती ग्रभ्यासवण, सहज स्वभाव के फलस्वरूप विज्ञान ग्रवधारित करता है कि उसका एक भाग ग्राहक है ग्रीर दूसरा ग्राह्य (वाह्यजगत्)।

विज्ञान की सत्यता--िकन्तु, यदि भात्मा और धर्म (ग्राहक ग्रीर ग्राह्म) केवल सवृति-सत्य है, तो उनका उत्पादक विज्ञान कीन-सा सत्य है गुग्रान च्वाँग कहते है कि विज्ञान ग्रात्मा ग्रीर धर्म से ग्रन्यथा है, क्योंकि उमका परिणाम ग्रात्मधर्माकार होता है। विज्ञान ग्रस्तित्व है, क्योंकि यह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है। यह परतन्त्र है, किन्तु यह वस्तुत सर्वदा भ्रात्मधर्म-स्वभाव नही होता। किन्तु, इसका निर्भाम ग्रात्मधर्म के ग्राकार मे होता है। ग्रत, इसको भी मवृति-सत्य कहते हैं। दूमरे शब्दो मे वाह्यायं केवल प्रज्ञप्ति है, ग्रीर इनका प्रवर्त्तन मिथ्या-कि से होता है। ग्रत, उनका ग्रस्तित्व विज्ञान-सदृश्य नही है। जैसे वाह्यायं का ग्रभाव है, वैसे विज्ञान का ग्रभाव नही है। विज्ञान ही उन प्रज्ञप्तियो का, इन उपचारो का, उपादान है, क्योंकि उपचार निराधार नही होता। विज्ञान परतन्त्र है, किन्तु द्रव्यत है।

हम देखते हैं कि प्राचीन माध्यिमक मतवाद में श्रौर शुँग्रान-च्वांग के काल के विज्ञान-वाद में कितना श्रन्तर है। माध्यिमकों के मत में वस्तुत विज्ञान श्रौर विज्ञेय दोनों का समान रूप से श्रभाव है। यह केवल लोकसवृतिमत् हैं। विज्ञानवाद के मत में यदि विज्ञेय मृग-मरीचिका है, तो विज्ञान ग्रपने म्वरूप में पूर्णत द्रव्यमन् है। यह ऐसी प्रतिज्ञा है, जिसके करने का साहस श्रसग ने भी स्पष्ट रीति से नहीं किया। कम-से-कम उन्होंने ऐसा सकोच के साथ किया। किन्तु, शुग्रान-च्वांग स्पष्ट है। वाह्यार्थ केवल विज्ञान की प्रज्ञप्ति है। यह केवल लोक-सवृतिसत् है। इसके विपरीत विज्ञान, जो इन प्रज्ञप्तियों का उपादान है, परमार्थसत् है। (पृ० १९)

## श्रात्मग्राह की परीक्षा

यह कसे ज्ञात होता है कि वाह्यार्थ के विना विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है ? क्योंकि, ग्रात्मा ग्रीर धर्म परिकल्पित हैं। इसके लिए शुग्रान-च्वांग क्रम से ग्रात्मग्राह ग्रीर धर्मग्राह की परीक्षा करते हैं।

साख्य-वैशेषिक मत की परीक्षा — पहले वह ग्रात्मग्राह को लेते है। साख्य ग्रीर वैगेषिक के मत मे ग्रात्मा नित्य, व्यापक (या सर्वगत) ग्रीर ग्राकाशवत् ग्रनन्त है। ग्रुग्रान-च्याँग कहने है कि नित्य, व्यापक ग्रीर ग्रनन्त ग्रात्मा सेन्द्रियक काय मे, जो वेदना से प्रभावित है, परि-च्छित्र नहीं हो मकता। क्या ग्रात्मा, जैसा कि उपनिषद् कहते हैं, मव जीवो मे एक है न् ग्रथवा जैमा माख्य-वैगेषिक कहते है, ग्रनेक है न पहले विकल्प मे जब एक जीव कर्म करता है, कर्म-फल भोगता है मोक्ष का लाभ करता है, तब मव जीव कर्म करते हैं, कर्म-फल का भोग करते हैं, मोक्ष का लाभ करते हैं इत्यादि। दूसरे विकल्प मे (माख्य) मव मत्त्वों की व्यापक ग्रात्माएँ ग्रन्थोन्य-प्रतिवेध करती है, ग्रत ग्रात्मा का स्वभाव मिश्र होगा। इसिलए, यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रमुक कर्म ग्रमुक ग्रात्मा का है, ग्रन्थ का नहीं है। जब एक मोक्ष का लाभ करता है, तब सब उसका लाभ करेगे; क्योंकि जिन धर्मों की भावना ग्रीर जिनका साक्षात्कार एक करता है, वह सब ग्रात्माग्रो से सम्बद्ध होगे।

निर्ग्रन्थ मत की परीक्षा—इसके पश्चात् हमारे ग्रन्थकार निर्ग्रन्थों के मत का खण्डन करते हैं। निर्ग्रन्थ ग्रात्मा को नित्यस्थ (कूटस्थ) मानते हैं, किन्तु कहते हैं कि इसका परिमाण शरीर के अनुसार दीर्घ या ह्रस्व होता है। यह युक्तिक्षम नहीं है, क्योंकि इस कूटस्थ ग्रात्मा का स्वशरीर के अनुसार विकास-सकोच नहीं हो सकता। यदि वशी की वायु के समान इसका विकास-सकोच हो, तो यह कूटस्थ नहीं है। पुन शरीरों के वहुत्व से छिन्न होने के कारण इसकी एकता कहाँ है ? (पृ० १३)

होनयानी मतों की परीक्षा— अब हीनयान के अन्तर्गत कितपय मतवाद रह जाते हैं, जिनके अनुसार आत्मा पचस्कन्धात्मक है, या स्कन्धों से व्यतिरिक्त है (व्यतिरेकी), या न स्कन्धों से अन्य है और न अनन्य।

पहले पक्ष में एकता ग्रीर नित्यता के विना यह ग्रात्मा क्या है ? पुनः ग्राघ्यात्मिक रूप, ग्राय्यात् पचेन्द्रिय ग्रात्मा नही है, क्यों कि यह बाह्यरूप के सदृश परिमाणवाला ग्रीर सावरण है। चित्त-चैत्त भी ग्रात्मा नही है। चित्त-चैत जो ग्राविच्छिन्न सन्तान में भी ग्रवस्थित नहीं होते ग्रीर जो हेतु-प्रत्ययाधीन है, कैसे ग्रात्मा ग्रवधारित हो नकते हैं ? श्रन्य संस्कृत, श्रयात् विप्रयुक्त- संस्कार ग्रीर ग्रविज्ञप्ति-रूप भी ग्रात्मा नहीं हैं, दयों कि वह वोधस्वरूप नहीं है।

पुन श्रात्मा स्कन्ध-व्यतिरेकी भी नहीं हैं, क्योंकि स्कन्धों से व्यतिरिक्त श्रात्मा, श्राकाश के तुल्य, कारक-वेदक नहीं हो सकता।

पुन वात्सीपुत्तीयो का मत कि—पुद्गल न स्कन्धो से अन्य है और न अनन्य, युक्तियुक्त नहीं है। इस किल्पत द्रव्य में —जो स्कन्धो का उपादान लेकर (उपादाय) न पचस्कन्ध से व्यतिरिक्त है और न पंचस्कन्ध है, जिस प्रकार—घट मृत्तिका से न भिन्न है, न अभिन्न; हम आत्मा को नहीं पाते। आत्मा प्रज्ञित्तसत् है (पृ० १४)।

अब केवल विज्ञान का प्रश्न रह जाता है। शुआन-च्वाँग वात्सीपुँतीयों से पूछते हैं कि क्या यह आत्मा है, जो आत्मप्रत्यय का विषय है, आत्मदृष्टि का आलम्बन है? यदि आत्मा आत्मदृष्टि का विषय नहीं है, तो आप कैसे जानते हैं कि आत्मा है? यदि यह इसका विषय है, तो आप कैसे जानते हैं कि आत्मा है? यदि यह इसका विषय है, तो आत्मदृष्टि को विपर्यास न होना चाहिए, जैसे चित्त जो रूपादि वस्तुसत् को आलम्बन बनाता है, विपर्यास में सगृहीत नहीं है। वौद्ध आत्मा के अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है? आप्तागम आत्मदृष्टि का प्रतिषेध करता है, नैरात्म्य का आशस करता है, और कहता है कि आत्माभिनिवेश ससार का पोषण करता है। क्या यह माना जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि निर्वाण का आवाहक हो सकती है, अथवा सम्यग्दृष्टि ससार में हेतु है?

ग्रात्मदृष्टि का ग्रालम्बन निश्चय ही द्रव्यसत् ग्रात्मा नहीं है, किन्तु स्कन्धमात्र है, जो

पुन गुम्रान-च्वांन तीर्थिको से पूछते है कि म्रात्मा सिन्नय है म्रयवा निष्क्रिय। यदि सिन्निय है, तो यह म्रात्मा नही है, धर्म (फेनामेनल) है। यदि निष्क्रिय है, तो यह स्पष्ट ही म्रसत् है। पुन. साख्यवादी कहते हैं कि म्रात्मा स्वय चैतन्यात्मक है, ग्रोर वैशेषिक कहते हैं कि

यह ग्रचेनन है, चेनना-योग से चेतन होता है (वोधिचर्यावतार, ६।६०)। पहले विकल्प मॅ ग्राकाणवत् यह कर्त्ता, भोक्ता नहीं है।

# **ग्रात्मग्राह की उत्प**त्ति

इस ग्रात्मग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है ? ग्रान्मग्राह महज या विकल्पित है ?

सहज स्रात्मग्राह्—प्रथम ग्रात्मग्राह ग्राभ्यन्तर हेतुवण ग्रनादिकालिक वितय वामना है, जो काय (या ग्राश्रय) के माथ (मह) सदा होती है। यह महज ग्रात्मग्राह (मत्कायदृष्टि) मिथ्या देशना या मिथ्या विकल्प पर ग्राश्रित नहीं है। मन स्वरमेन ग्रालय-विज्ञान (ग्रप्टम विज्ञान), ग्रर्थात् मूलविज्ञान को ग्रालम्बन के रूप में ग्रहण करता है (प्रत्येति, ग्रालम्बते)। यह स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, ग्रीर इम निमित्त को द्रव्यत ग्रात्मा प्रवधारित करता है। यह निमित्त मन का माक्षात् ग्रालम्बन है। इमका मनप्रतिभू (विम्ब, ग्रार्कटाइप) स्वय ग्रालय है। मन प्रतिविम्ब का उत्पाद करता है। ग्रालय के इम निमित्त का उपगम कर मन को प्रतीति होती है कि वह ग्रानी ग्रात्मा को उपगत होता है। ग्रयवा मनोविज्ञान पच उपादानस्कन्धों को (विज्ञान-परिणाम) ग्रालम्बन से रूप में गृहीत करता है, ग्रीर म्बित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, जिसको वह ग्रात्मा ग्रवधारित करता है।

दोनो अवस्थाओं में यह चित्त का निमित्तभाग है, जिसे चित्त ग्रात्मा के रूप में गृहीत करता है। यह विम्त्र मायावन् हैं। किन्तु, यह ग्रनादिकालिक माया है; क्योंकि अनादिकाल में इसकी प्रवृत्ति है।

यह दो प्रकार के ग्रात्मग्राह मूक्ष्म हैं, ग्रीर इसलिए उनका उपच्छेद दुष्कर है। भावना-मार्ग में ही पुद्गलणून्यता की ग्रभीक्ष्ण परम भावना कर बोधिमत्त्व इनका विष्कम्भन, प्रहाण करता है।

विकल्पित ग्रात्मग्राह—दूसरा ग्रात्मग्राह विकल्पित है। यह केवल ग्राम्यन्तर हेतुवश प्रवृत्त नहीं होता। यह वाह्य प्रत्ययों पर भी निर्भर है। यह मिथ्या देशना ग्रौर मिथ्या विकल्प में ही उत्पन्न होता है, इमलिए यह विकल्पित है। यह केवल मनोविज्ञान से ही सम्बद्ध है। यह ग्रात्मग्राह भी दो प्रकार का है। एक वह ग्रात्मग्राह है, जिसमें ग्रात्मा को स्कन्द्यों के रूप में अवधारित करने हैं। यह मत्कायदृष्टि है। मिथ्यादेशनावश स्कन्द्यों को ग्रालम्बन बना मनोविज्ञान स्विचत्त-निमित्त का उत्पाद करता है, इस निमिन्न का वितीरण, निरूपण करता है, ग्रौर उसे द्रव्यत ग्रात्मा ग्रवधारित करता है। दूसरा वह ग्रात्मग्राह है, जिसमें ग्रात्मा को स्कन्द्यव्यितरेकी ग्रवधारित करते हैं। तीर्थिकों से उपिदष्ट विविध लक्षण के ग्रात्मा को ग्रात्मवन वना मनोविज्ञान स्विचत्त-निमित्त का उत्पाद करता है, इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करना है, ग्रौर उसे द्रव्यत ग्रात्मा ग्रवधारित करता है।

यह दो प्रकार के ग्रात्मग्राह न्यूल है, ग्रतएव इनका उपच्छेद मुगम है। दर्शनमार्ग में वोधिसत्त्व सर्व धर्म की पुद्गलशून्यता, भूततथता की भावना करता है, ग्रीर श्रात्मग्राह का विष्कर्मन ग्रीर प्रहाण करता है।

# म्रात्मवाद का निराकरण श्रौर मूलविज्ञान

पुन शुग्रान-च्वाँग ग्रात्मवादी के इस ग्राक्षेप का विचार करते हैं कि यदि ग्रात्मा द्रव्यत नहीं है, तो स्मृति ग्रीर पुद्गल-प्रबन्ध के ग्रनुपच्छेद का ग्राप क्या विवेचन करते हैं? (पृ० २०) शुग्रान-च्वाँग उत्तर में कहते हैं कि यदि ग्रात्मा नित्यस्य है, तो चित्त की विविधा-वस्था कैसे होगी? वह यह स्वीकार करते कि ग्रात्मा का कारित्र विविध है, किन्तु उसका स्वभाव नित्यस्थ है। कारित्र स्वभाव से पृथक् नहीं किया जा सकता, ग्रत यह नित्यस्थ है। स्वभाव कारित्र से पृथक् नहीं किया जा सकता, ग्रत यह विविध है।

ग्रनुभवसिद्ध ग्राध्यात्मिक नित्यत्व (स्पिरिचुग्रल कान्स्टेण्ट) का विवेचन करने के लिए शुग्रान-च्वांग ग्रात्मा के स्थान में मूल विज्ञान का प्रस्ताव करते हैं, जो सब सत्त्वों में होता है, ग्रीर जो एक ग्रन्थाकृत सभाग-सन्तान है। इसमें सब साम्रव ग्रीर प्रनाम्नव समुदाचरित धर्मों के बीज होते हैं। इस मूल विज्ञान की किया के कारण ग्रीर विना किसी ग्रात्मा के सम्प्रधारण के सब धर्मों की उत्पत्ति पूर्व बीज, ग्रर्थात् वासना के बल से होती है। यह धर्म-पर्याय से ग्रन्य बीजों को उत्पदित करते हैं, ग्रीर इस प्रकार ग्राध्यात्मिक सन्तान ग्रनन्त काल तक प्रवाहित होता है।

किन्तु, यह ग्राक्षेप होगा कि ग्रापका लोकधातु केवल सदाकालीन मनस्-कर्म है, कारक कहाँ है ? एक द्रव्यसत् ग्रात्मा के ग्रभाव में कर्म कौन करता है ? कर्म का फल कौन भोगता है ? शुग्रान-च्वाँग उत्तर देते है कि जिसे कारक करते हैं, वह कर्म है, परिवत्तन है। किन्तु, तीर्थिको का ग्रात्मा ग्राकाश के तुल्य नित्यस्थ है, ग्रत यह कारक नहीं हो सकता। चित्त-चैत के हेतुप्रत्ययश्य प्रवन्य का ग्रनुपच्छेद, कर्म-किया ग्रीर फलभोग होते हैं।

स्रात्मवादी पुन कहते हैं कि स्रात्मा के विना, एक सध्यात्मिक नित्य वस्तु के स्रभाव में स्राप बौद्ध जो हमारे सदृश ससार मानते हैं, ससार का निरूपण किस प्रकार करते हैं। यदि स्रात्मा द्रव्यत नहीं है, तो एक गति से दूसरी गति में ससरण कौन करता है, कौन दुख का भोग करता है, कौन निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होता है, स्रौर किसका निर्वाण होता है।

शुआन-च्वांग का उत्तर है कि आप किस प्रकार आत्मा को मानते हुए समार का निरूपण करते है। जब आत्मा का लक्षण यह हे कि यह नित्य और जन्म-मरण से विनिर्मु क्त है, तब इसका समरण कैंसे हो मकता है? ममार का निरूपण एकमाब बौद्धों के मन्तान के सिद्धान्त से हो सका है। सत्त्व चित्त-सन्तान है, और यह क्लेश तथा मास्रव कर्मों के बल में गतियों में समरण करते हैं। अत, आत्मा द्रव्यमत् स्वभाव नहीं है। केवल विज्ञान का अस्तित्व है। पर विज्ञान पूर्व विज्ञान के तिरोहित होने पर उत्पन्न होता हे और अनादिकाल से इनकी हेतुफल-परम्परा, इनका मन्तान होता है।

# षर्मग्राह की <sup>1</sup>परीक्षा

याह्मणों के श्रात्मवाद का निराकरण करके शुश्रान-च्याँग बहुपदार्थवादी मांख्य-वैशेषिक तथा हीनयान का खण्डन करने हैं। यह मतवाद धर्मों की सत्ता मानते हैं (धर्मग्राह)। शुग्रान-च्याँग कहते हैं कि युक्तित धर्मों का श्रस्तित्व नहीं है। चित्त-च्यतिरेकी धर्मों की द्रव्यन उपलब्धि नहीं होती।

साख्य परीक्षा—पहले वह साख्य-मतवाद का विचार करते हैं। साख्य के अनुमार पुरुष से पृथक् २३ तत्त्व (या पदार्थ)—महत् अहकारादि है। पुरुष चैतन्यस्वरूप है। वह इनका उपभोग करता है। यह धर्म विगुणात्मक है, तथापि यह तत्त्व है, व्यावहारिक (किन्पत) नहीं है, अत इनका प्रत्यक्ष होता है।

शुग्रान-च्वांग उत्तर देते हैं कि जब धर्म ग्रनेकात्मक (गुणत्नय के समुदाय) है, तब वह द्रव्यसत् नहीं है, किन्तु सेना ग्रीर वन के तुल्य प्रज्ञप्ति-मात्न है। ये तत्त्व विकृति है, ग्रत नित्य नहीं है। पुन इन तीन वस्तुग्रों के (तीन गुणों के) ग्रनेक कारित्र है। ग्रत, इनके स्वभाव ग्रीर लक्षण भिन्न हैं। तब यह समुदाय के रूप मे एक तत्त्व कैसे हैं?

वैशेषिक-परीक्षा—वैशेपिक-परीक्षा यह विचार करते हुए शुग्रान-च्चौंग कहते हैं कि इसके श्रनुसार द्रव्य, गुण, कर्मादि पदार्थ द्रव्यसत्-स्वभाव है श्रीर प्रत्यक्षगम्य है। इस वाद में पदार्थ या तो नित्य श्रीर श्रविपरिणामी है, श्रथवा श्रनित्य है। परमाणु-द्रव्य नित्य है श्रीर परमाणु-सघात श्रनित्य है।

शुप्रान-च्वांग कहते हैं कि यह विचित्न है कि एक श्रोर परमाण नित्य हैं, श्रौर दूसरी श्रोर उनमें परमाण-सघात के उत्पादन का सामर्थ्य भी है। यदि परमाण त्रसरेण ग्रादि फल का उत्पादन करते हैं, तो फल के सदृश वह नित्य नहीं हैं, क्योंकि वह कारित्न से समन्वागत है; श्रौर यदि वह फलोत्पादन नहीं करते, तो विज्ञान से व्यतिरिक्त शशश्व गवत् उनका कोई द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है।

यदि अनित्य पदार्थ (परमाणु-सघात) सावरण है, तो वह परिमाणवाले है; अत वह सेना और वन से समान विभाजनीय है, अत वह द्रव्यसत्-स्वभाव नहीं है। यदि वह सावरण नहीं है, तो चित्त-चैत्त से व्यतिरिक्त उनका कोई द्रव्यसत्-स्वभाव नहीं है। जो परमाणु के लिए सत्य है, वह समुदाय-सघात के लिए भी सत्य है। अत, वैशेषिकों के विविध द्रव्य प्रज्ञप्तिमात हैं। गुणों का विज्ञान से पृथक् स्वभाव नहीं है। पृथ्वी-जल-तेज-वायु सावरण पदार्थों में सगृहीत नहीं है, क्योंकि वह इनके खक्खटत्व...उदीरणत्व गुण के समान कायेन्द्रिय से स्पृष्ट होते हैं। इसके विपरीत, चार पूर्वोक्त गुण अनावरण पदार्थों में सगृहीत नहीं है, क्योंकि पृथ्वी-जल-तेज-वायु के समान वह कायेन्द्रिय से स्पृष्ट होते हैं।

श्रत, यह सिद्ध होता है कि खक्खटत्वादि गुणों में व्यतिरिक्त पृथ्वी-जल-तेज-बायु का द्रष्यसत्-स्वभाव नहीं है।

इसी प्रकार, कर्मादि अन्य पदार्थों का भी विज्ञान से पृथक् स्वभाव नही है। वैशेषिक कहते हैं कि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जैसा विज्ञान से व्यतिरिक्त द्रव्यसत्-स्वभाव का होना चाहिए, किन्तु यह यथार्थ नही है। यही बात कि द्रव्य ज्ञेय (ज्ञान के विषय) है, यह सिद्ध करता है कि यह विज्ञान के अभ्यन्तर में है।

श्रतः, सिद्धान्त यह है कि वैशेषिको के पदार्थ प्रज्ञप्तिमात है।

महेश्वर-परीक्षा—शुम्रान-च्वांग महेश्वर के प्रस्तित्व का भी प्रतिषेध करते हैं। उनकी युनित यह है कि जो लोक का उत्पाद करता है, वह नित्य नहीं है, जो नित्य नहीं है वह विभु नहीं है, जो विभु नहीं है, वह द्रव्यत नहीं है। पुन जो सर्वशिक्तमान् है, वह सब धर्मों की सृष्टि सकृत् करेगा, न कि क्रमश । यदि सृष्टि के कार्य में वह छन्द के ग्रधीन है, तो वह स्वतन्त्र नहीं है, ग्रीर यदि वह हेतु-प्रत्यय की ग्रपेक्षा करता है, तो वह मृष्टि का एकमान्न कारण नहीं है।

शुम्रान-च्वांग काल, दिक्, म्राकाशादि पदार्थों की भी सत्ता नही मानते ।

लोकायितक-परीक्षा—तदनन्तर, वह लोकायितको के मत का खण्डन करते हैं। इनके अनुसार पृथिवी-सिलल-तेज-वायु इन चार महाभूतो के परमाणु, जो वस्तुग्रो के सूक्ष्म रूप है, कारण-रूप है, नित्य है, श्रीर इनकी परमार्थ सत्ता है। इनके पश्चात् स्थूल रूप (कार्यरूप) का उत्पाद होता है। जनित स्थूलरूप का कारण से व्यतिरेक नहीं होता।

शुयान-च्वांग इस वाद का इस प्रकार खण्डन करते हैं। यदि सूक्ष्मरूप (परमाणु) का दिग्विभाग है, जैसा फ्पिलिका-पिन्त का होता है, तो उनका एकत्व केवल प्रकृष्ति है, सज्ञामात्र है। यदि उनका चित्त-चैत्त के सदृश दिग्विभाग नहीं होता, तो उनसे स्थूल रूप का उत्पाद नहीं हो सकता। ग्रन्तत, यदि उनसे कार्य जनित होता है, तो वे नित्य ग्रीर ग्रविपरिणामी नहीं है।

श्रन्य तीर्थिकों की परीक्षा— तीर्थिको के श्रनेक प्रकार है। किन्तु, इन सबका समावेश चार श्राकारों में हो सकता है। जहाँ तक सद्धर्म का सम्बन्ध है, पहला श्राकार साख्यादि का है। इनके श्रनुसार सद्धर्मों का तादात्म्य सत्ता या महासत्ता से है। किन्तु, इस विकल्प में सत्ता होने के कारण इन सबका परस्पर तादात्म्य होगा, यह एक स्वभाव के होगे, श्रौर निर्विशेष होगे, जैसे सत्ता निर्विशेष है। साख्य में श्रान्तरिक विरोध है, क्योंकि वह प्रकृति के श्रितिरक्त तीन गुण श्रौर श्रात्मा को द्रव्यत मानता है। यदि सर्व रूप रूपता है, श्रर्थात् यदि सब वर्ण वर्ण है, तो नील श्रौर पीत का मिश्रण होता है।

दूसरा त्राकार वैशेषिकादि का है। इनका मत है कि सद्धर्म मत्ता से भिन्न है। किन्तु, इस विकल्प में सर्व धर्म की उपलब्धि प्रध्वसाभाव के सदृश नहीं होती। इससे यह गमित होता है कि वैशेपिक द्रव्यादि पदार्थों का प्रतिपेध करता है। यह लोकविरुद्ध है, क्योंकि लोक प्रत्यक्ष देखता है कि वस्तुप्रों का ग्रस्तित्व है। यदि वर्ण वर्ण नहीं है, तो उनका ग्रहण चन्नु से नहीं होगा जैसे शब्द का ग्रहण चन्नु से नहीं होता।

तीसरा त्राकार निर्ग्रन्थ ग्रादि का है, जो मानत है कि सद्धमं मत्ता से श्रमिन्न ग्रीर भिन्न दोनो है। यह मत युक्त नहीं है। पूर्वोक्त दो ग्राकारों के सब दोव इसमें याये जाते ई।

भ्रभेद-भेद सुख-दु ख के समान परस्परविरुद्ध हैं, श्रौर एक ही वस्तु में श्रारोपित नही हो सकते। पुन श्रभेद श्रौर भेद दोनो व्यवस्थापित नही हो सकते।

सब धर्म एक ही स्वभाव के होगे, क्योंकि यह व्यवस्था है कि विरुद्ध धर्म एक स्वभाव के है। ग्रथवा ग्रापका धर्म जो सत्ता से ग्रिभन्न ग्रीर भिन्न दोनो है, प्रज्ञप्ति-सत् होगा, तात्त्विक न होगा।

चतुर्थं ग्राकार ग्राजीविकादि का है, जिनके ग्रनसार सद्धर्म सत्ता से न ग्रिमिन्न है, न भिन्न । किन्तु, यह वाद पूर्वविणित भेदाभेदवाद से मिला-जुला है। क्या यह वाद प्रतिज्ञात्मक है व्या इस वाद का निपेधद्वय युक्त नहीं है ? क्या यह वाद शुद्ध निपेध है ? उस ग्रवस्था में वाणी का ग्रभिप्राय विलुप्त हो जाता है। क्या यह प्रतिज्ञात्मक ग्रीर निपेधात्मक दोनों है ? यह विरुद्ध है। क्या यह इनमें से कोई नहीं है ? शब्दाडम्बर-मान्न है।

ग्रन्य वादो की कठिनाइयो के परिहार के लिए यह वृथा प्रयास है। हीनयान के सप्रतिघ रूपो के द्रव्यत्व का निर्षेध

इसके पश्चात् शुस्रान-च्वांग हीनयान के धर्मों की परीक्षा करते है। हीनयान मे चार प्रकार के धर्म है, जो द्रव्य-सत् है—चित्त-चैत्त, रूप, विप्रयुक्त ग्रीर ग्रसस्कृत । शुग्रान-च्वांग कहते हैं कि ग्रन्त के तीन धर्म विज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं है।

रूप—हीनयान मे दो प्रकार के रूप है — सप्रतिच (पहले १० ग्रायतन) ग्रीर ग्रप्रतिघ (यह धर्मायतन का एक प्रदेश है। यह परमाणुमय नहीं है)।

सप्रतिच — रूप परमाणुमय है। सौवान्तिक मत से परमाणु का दिग्विभाग है, किन्तु सर्वास्तिवादी ग्रीर वैभाषिक परमाणु का सूक्ष्म रूप (विन्दु) मानते है। दोनो मानते हैं कि ग्रावरण-प्रतिघातवण परमाणु सप्रतिघ है। किन्तु, दिग्भागभेद के सम्बन्ध में इनका मतैक्य न होने से ग्रावरण-प्रतिघात के ग्रर्थ में भी एक मत नहीं है। सौवान्तिक मानते हैं कि परमाणु स्पृष्ट होते हैं, ग्रीर दिग्देण-भेदवण उनका प्रतिघात होता है। मर्वास्तिवादी नहीं स्वीकार कर सकते कि उसके परमाणु स्पृष्ट होते हैं, क्योंकि यह सूक्ष्म (विन्दु) है।

शुप्रान-च्वाँग कहते हैं कि सूक्ष्म परमाणु सावृत है, ग्रौर उनका सघात नहीं हो सकता, तथा जिनका दिग्विभाग है, वह विभजनीय है, ग्रौर इसिलए वह परमाणु नहीं है। यदि परमाणु ग्रित सूक्ष्म, ग्रविभजनीय ग्रौर वस्तुत रूपी है, तो वह परस्पर स्थूल, महत रूप जिनत नहीं करते। दोनो ग्रवस्थाग्रो में परमाणु की सत्ता नहीं है, ग्रौर इसिलए परमाणुमय रूप भी विलुप्त हो जाता है। किसी युन्ति से भी परमाणु द्रव्य-सत् नहीं सिद्ध होता। पुन हीनयानवाटी स्वीकार करते हैं कि पच विज्ञानकाय का ग्राथ्य इन्द्रिय है, ग्रौर उनका ग्रालम्बन वाह्यार्थ हैं, तथा इन्द्रिय ग्रौर ग्रर्थ रूप हैं। शुग्रान-च्वाँग का मत है कि इन्द्रिय ग्रौर ग्रर्थ विज्ञान के परिणाम-मान्न है। इन्द्रिय शक्ति है। यह 'उपादाय-रूप' नहीं है। एक सप्रतिघ रूप, जो विज्ञान से विहर्वस्थित है, युनितयुक्त नहीं है। इन्द्रिय विज्ञान का परिणाम-निर्भाम है। इसी प्रकार ग्रालम्बन-प्रत्यय भी विज्ञान से विहर्भूत नहीं है। यह विज्ञान का परिणाम (निमित्तभाग) है।

शुम्रान-च्वांग सौवान्तिक ग्रीर सर्वास्तिवादी वैभाषिक मत का प्रतिषेध करते है, जिनके अनुसार विज्ञान का ग्रालम्बन-प्रत्यय वह है, जो स्वाकार (स्वाभाम) विज्ञान का निर्वर्त्तन करता है। यह कहते है कि वाह्य अर्थ स्वाभास विज्ञान का जनक होता है, इसलिए उनको विज्ञान का ग्रालम्बन-प्रत्यय इष्ट है।

सौद्रान्तिको के अनुसार आलम्बन-प्रत्यय सचित (सहत) परमाणु है। जब चक्षुविज्ञान रूप की उपलिब्ध करता है, तब यह परमाणुओ को प्राप्त नहीं होता, किन्तु केवल सचित को ही प्राप्त होता है, क्योंकि यह विज्ञान सचिताकार होता है ('तदाकारत्वात्' हम सचित नील देखते है, नील के परमाणु नहीं देखते ), अत पच विज्ञानकाय का आलम्बन सचित-है।

शुम्रान-च्वांग के लिए सघात द्रव्य-सत् नही है। वह सावृत है। इस कारण वह विज्ञाप्ति का म्रर्थ नही हो सकता, भीर इसलिए वह म्रालम्बन-प्रत्यय नही है। वाह्यार्थ के विना ही संचिताकार विज्ञान उत्पन्न होता है। वैभाषिक मत के अनुसार विज्ञान का म्रालम्बन-प्रत्यय एक-एक परमाणु है। प्रत्येक परमाणु ग्रन्य-निरपेक्ष्य भौर म्रतीन्द्रय होता है, किन्तु वहुत-से परस्परापेक्ष्य भौर इन्द्रिय-ग्राह्य होते है। जब वहु परमाणु एक दूसरे की भ्रपेक्षा करते है, तब स्थूल लक्षण की उत्पत्ति होती है, जो पच विज्ञानकाय का विषय है। यह द्रव्य-सत् है, ग्रत यह म्रालम्बन-प्रत्यय है।

इसका खण्डन करते हुए स्थिरमित कहते हैं कि सापेक्ष ग्रीर निरपेक्ष ग्रवस्था में परमाणु के ग्रात्मातिशय का ग्रभाव है। इसलिए या तो परमाणु ग्रतीन्द्रिय हैं, या इन्द्रियग्राह्य हैं। यह परमाणु परस्पर ग्रपेक्षा कर विज्ञान के विषय होते हैं, तो यह जो घटकुडचादि ग्राकार-भेद होता है, वह विज्ञान में न होगा, क्योंकि परमाणु तदाकार नहीं है। पुन यह भी युक्त नहीं हैं कि विज्ञान का ग्रन्य निर्मास हो, ग्रीर विषय का ग्रन्य ग्राकार हो, क्योंकि इसमें ग्रतिप्रसग दोष होगा।

पुन परमाणु स्तम्भादिवत् परमार्थत नहीं हैं। उनका ग्रविक्-मध्य-पर भाग होता है। ग्रथवा उसके ग्रनभ्युपगम में पूर्वदक्षिणादि दिग्भेद परमाणु का न होगा, ग्रत विज्ञानवत् परमाणु का ग्रमूर्त्तत्व ग्रीर ग्रदेशस्थत्व होगा। इस प्रकार, बाह्यार्थ के ग्रभाव में विज्ञान ही ग्रथिकार उत्पन्न होता है (तिशिका, पृ० १६)।

सर्वास्तिवादी के अनुसार एक-एक परमाणु समस्तावस्था मे विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय है। परमाणु अतीन्द्रिय है, किन्तु समस्त का प्रत्यक्षत्व है (अभिधर्मकोश, ३, पृ०२१३)।

इसके उत्तर मे विज्ञानवादी कहते हैं कि परमाणु का लक्षण या ग्राकार विज्ञान म प्रतिविम्बित नहीं होता। सहत का लक्षण परमाणुग्रो में नहीं होता, क्यों कि ग्रसहतावस्था में यह लक्षण उनमें नहीं पाया जाता। ग्रसहतावस्था से सहतावस्था में परमाणुग्रो का कोई ग्रात्मातिशय नहीं होता। दोनो ग्रवस्थाग्रो में परमाणु पचित्रान के ग्रालम्बन महीं होते (दिक्षनाग)। इस प्रकार, विविध वादो का निराकरण करके शुग्रान-च्वाँग परमाणु पर विज्ञानवाद का सिद्धान्त वर्णित करते है।

परमाणु पर विज्ञानवादी सिद्धान्त—योगाचार शस्त्र से नहीं, किन्तु चित्त से स्यूल रूप का विभाग पुन -पुन करते हैं, यहाँतक कि वह अविभजनीय हो जाता है। रूप के इस पर्यन्त को, जो मावृत है, वह परमाणु की मज्ञा देते हैं। किन्तु, यदि हम रूप का विभजन करते रहें, तो परमाणु आकाशवत् प्रतीत होगा, और रूप न रहेगा, अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि रूप विज्ञान का परिणाम है, और परमाणुमय नहीं है।

## ग्रप्रतिच रूपों के द्रव्यत्व का निषेच

पूर्वोक्त विवेचन सप्रतिघ रूप के सम्वन्ध में है। जब सप्रतिघ रूप का द्रव्यत्व नहीं है, ग्रीर यह विज्ञान का परिणाम है, तो अप्रतिघ रूप तो ग्रीर भी ग्रधिक सद्धर्म नही है।

सर्वास्तिवादी के अप्रतिष्ठ रूप काय-विज्ञाप्ति-रूप, वाग्-विज्ञाप्ति-रूप भीर अविज्ञाप्ति-रूप है। उनका काय-विज्ञाप्ति-रूप सस्यान है। किन्तु सस्यान विभाजनीय है, और दीर्घादि के परमाणु नहीं होते (कोण, ४, पृ०४,६), अत मस्यान रूप द्रव्यतः नहीं है। वाग्विज्ञाप्ति शब्दस्वभाव नहीं है। एक शब्द-क्षण विज्ञापित नहीं करता, और शब्द-क्षणों का सन्तान द्रव्य-सत् नहीं है। वस्तुत, विज्ञान शब्द-सन्तान में परिणत होता है। उपचार से इस सन्तान को वाग्विज्ञाप्ति कहते है।

श्रविज्ञप्ति जव विज्ञप्ति-द्रव्य-सत् नहीं है, तो श्रविज्ञप्ति कैसे द्रव्या-सत् होगी ?

चेतना (ध्यानभूमि की) या प्रणिधि (प्रातिमोक्षसवर या ग्रसवर) को उपचार से श्रविज्ञप्ति कहते हैं। दूसरे शब्दो में यह या तो एक चेतना है, जो श्रकुशल काय-वाग्विज्ञप्ति कमें का निरोध करती है, या यह उत्कर्पावस्था में एक प्रधान चेतना के बीज हैं, जो काय-वाक्-कमें के जनक है। श्रत श्रविज्ञप्ति प्रज्ञप्ति-सत् है।

विप्रयुक्तों के द्रव्यत्व का निषेध-विप्रयुक्त भी द्रव्य-सत् नहीं है।

प्राप्ति, भ्रप्राप्ति तथा ग्रन्य विप्रयुक्तो की स्वरूपत उपलब्धि नहीं होती। पुन रूप तथा चित्त-चैत्त से पृथक् इनका कोई कारित्र नहीं दीख पडता। ग्रत, यह रूप चित्त-चैत्त के ग्रवस्था-विशेष के प्रज्ञप्तिमात है।

सभागता भी द्रव्य-मत् नहीं है। मर्वास्तिवादी कहते हैं कि सत्त्वी में सामान्य बुद्धि श्रीर प्रज्ञप्ति का कारण सभागता नामक द्रव्य है। यह विश्रयुक्त है। यथा कहते हैं श्रमुक मनुष्यों की सभागता का प्रतिलाभ करता है, श्रमुक देवों की सभागता का प्रतिलाभ करता है। युमान-च्वाग कहते हैं कि यदि मत्त्वों की सभागता है, तो वृक्षादि की भी सभागता माननी चाहिए। पुन सभागता श्रों की भी एक सभागता होनी चाहिए। हम यह भी कह सकते हैं कि समान कर्मान्त के मनुष्य श्रीर समान छन्द के देव सभागता-वश है। वस्तुत, सभागता नामक किसी द्रव्य-विशेष के कारण सक्तों के विविध प्रकारों में सादृश्य नहीं होता। श्रमुक-ग्रमुक प्रकार के सत्त्वों का जो कायिक श्रौर चैतसिक धर्म-सामान्य है, उनको श्रागम सभागता संज्ञा से प्रज्ञप्त करता है।

जीवितेन्द्रिय — के सम्बन्ध मे शुम्रान - च्यांग कहते हैं कि यह कर्मजनित शक्ति-विशेष हैं, श्रीर यह उन बीजोपर आश्रित हैं, जो आलय-विज्ञान के हेतु-प्रत्यय हैं। इस सामर्थ्य - विशेष के कारण भव-विशेष के रूप-चित्त - चैत्त एक काल तक अवस्थान करते हैं। आलय-विज्ञान एक अविच्छित्र स्रोत है। एक भव से दूसरे भव में इसका निरन्तर प्रवर्त्तन होता है। हेतु-प्रत्यय-वश इसका परिपोष होता है। उदाहरण के लिए, हम नील (प्रत्युत्पन्न धर्म) का चिन्तन करते हैं, नील के सम्बन्ध में हमारी वाग्विज्ञप्ति होती है। यह वाक्, यह चित्त, अर्थात् यह व्यवहार बीजो को उत्पन्न करता है, जो नील के अपूर्व चित्तों का उत्पाद करेंगे। उक्त हेतु-प्रत्यय के अतिरिक्त एक अधिपित-प्रत्यय भी है। यह कर्म है। यह कर्म, जो शुभ या अशुभ है, अव्याकृत फल का जनक होता है, अर्थात् दुख आलय-विज्ञान का जनक होता है, इसलिए कर्म विपाक-हेतु है। यह विपाक-बीज का उत्पाद करता है। जीवितेन्द्रिय से प्रथम प्रकार के बीज, न कि विपाक-बीज, इण्ट है। यह बीज (नाम-वाक्) जो हेतु-प्रत्यय हैं, आलय का पोषण करते हैं, जब कि दूसरे प्रकार के बीज, अर्थात् विपाक-बीज आलय की गित, अवस्था आदि को निर्धारित करते हैं।

प्रसंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्तिः प्रचित्तक ग्रौर ग्रासज्ञिक—को शुम्रान-च्वांग द्रव्य-सत् नहीं मानते। वह कहते हैं कि यदि ग्रसज्ञि ग्रवस्था का व्याख्यान करने के लिए इन धर्मों की व्यवस्था ग्रावश्यक है, जिनके विषय में कहा जाता है कि यह चित्त का प्रतिबन्ध करते हैं, तो एक ग्रारूप्य-समापत्ति नामक धर्म भी मानना पडेगा, जो रूप का प्रतिबन्धक हो। चित्त का प्रतिबन्ध करने के लिए किसी सद्धर्म की कल्पना की ग्रावश्यकता नहीं है। जब योगी इन समापत्तियों की भावना करता है, तब वह ग्रौदारिक ग्रौर चल चित्त-चैत्त की विदूषणा से प्रयोग का ग्रारम्भ करता है। इस विदूषणा के योग से वह एक प्रणीत ग्रवध-प्रणिधान का उत्पाद करता है, वह ग्रपने चित्त-चैत्तों को उत्तरोत्तर सूक्ष्म ग्रौर ग्रणु बनाता है। यह प्रयोगावस्था है। जब चित्त सूक्ष्म-सूक्ष्म हो जाता है, तब वह ग्रालय-विज्ञान को भावित करता है ग्रौर इस विज्ञान में विदूषणा-चित्त के ग्रिधमावतम बीज का उत्पाद करता है। इस बीज के योग से जो चित्त-चैत्त का विष्कम्भन करता है, मब ग्रौदारिक ग्रौर चचल चित्त-चैत्त का काल-विशेष के लिए समुदाचार नहीं होता। इस ग्रवस्था को उपचार से समापत्ति कहते है। ग्रसज्ञिसमापत्ति में यह बीज सास्रव होता है, ग्रौर निरोध-समापत्ति में ग्रनास्रव होता है। ग्रासज्ञिक के सम्बन्ध में इनका यह मत है कि ग्रसज्ञदेवों के प्रवृत्ति-विज्ञानों के ग्रसमुदाचार को उपचार से ग्रासज्ञिक कहते हैं।

जाति, स्थिति, जरा, निरोध—इन सस्कृत धर्मी को भी हीनयानवादी द्रव्य-सत् मानते हैं। यह सस्कृत के सस्कृत लक्षण हैं। णुग्रान-च्वांग इसके विरोध में नागार्जुन की दी हुई ग्रालोचना देते हैं। ग्रतीत ग्रौर ग्रनागत ग्रध्व द्रव्य-सत् नहीं हैं। वह ग्रभाव है। ग्रत , यह चार लक्षण प्रज्ञान्ति-सत् हैं। पूर्वनय के ग्रनुसार ग्रन्य विष्ययुक्तों का भी प्रतिपध होता है। प्रसस्कृतों के द्रव्य-सत्त्व का निषेध

मस्कृत धर्मों के ग्रभाव को सिद्धकर शुग्रान-च्वांग हीनयान के ग्रसस्कृतों का विचार करते हैं—ग्राकाश, प्रतिमध्यानिरोध, ग्रप्रतिसख्यानिरोध। ग्रसस्कृत प्रत्यक्षज्ञेय नहीं हैं, ग्रीर न उनके कारित्र तथा व्यापार से उनका भ्रनुमान होता है। पुन यदि वह व्यापारणील हैं, तो वह नित्य नहीं हैं, ग्रत विज्ञान में व्यतिरिक्त ग्रमस्कृत कोई द्रव्य-सत् नहीं है।

श्राकाश एक है या प्रनेक? यदि स्वभाव में यह एक है, श्रीर सब स्थानों में प्रतिवेध करता है, तो रूपादि धर्मों को श्रवकाश प्रदान करने के कारण यह श्रनेक हो जाता है, क्यों कि एक वस्तु से श्रावृत स्थान वस्तुश्रों के श्रन्योन्य प्रतिवेध के विना दूसरी वस्तु में श्रावृत नहीं होता।

निरोध यदि एक है, तो जब प्रज्ञा से नौ प्रकार में से एक प्रकार का प्रहाण होता है, पाँच सयोजनों में से एक सयोजन का उपच्छेद होता है, तो वह अन्य प्रकार का भी प्रहाण करता है, अन्य सयोजनों का भी उपच्छेद करता है। यदि निरोध अनेक हैं, तो वह रूप के सदृश असम्कृत नहीं है, अत निरोध भी सिद्ध नहीं होते। यह विज्ञान के परिणाम-विशेप है। हाँ, यदि आप चाहें, तो असस्कृतों को धर्मता, तथता का प्रज्ञाप्ति-सत् मान सकते हैं।

तथता, धर्मता, ग्राकाश — शुग्रान-च्वांग तथता की एक नवीन व्याख्या करते हैं यह ग्रवाच्य है, यह शून्यता से, नैरात्म्य से ग्रवभासित होती है। यह चित्त ग्रौर वाक्पय के ऊपर है, जिनका सचार भाव, ग्रभाव, भावाभाव ग्रौर न भाव तथा न ग्रभाव में होता है। यह न धर्मों से ग्रनन्य है, न ग्रन्य, न दोनो है, ग्रौर न ग्रनन्य है तथा न ग्रन्य। क्योंकि, यह धर्मों का तत्त्व है, इसलिए इसे धर्मता कहते हैं। इस धर्मता (वस्तुग्रों का विशुद्ध स्वभाव) के एक ग्राकार को ग्राकाश कहते हैं, ग्रौर निर्वाण के ग्राकार में योगी इसी का साक्षात्कार, इसी का प्रतिवेध करता है। किन्तु, यह समझ लेना चाहिए कि तथता स्वत यो ग्रपने इन दो ग्राकारों में वस्तु-सत् नही है। श्रुग्यान-च्वांग नि सकोच हो प्रतिज्ञा करते हैं कि यह प्रज्ञप्तिमात्र है। इस सज्ञा को व्यावृत्त करने के लिए कि यह ग्रसत्त्व है, कहते हैं कि यह है (इस प्रकार शून्यता के विपर्याम ग्रौर मिथ्यावृद्धि का प्रतिवेध करते है)। इस सज्ञा को व्यावृत्त करने के लिए कि यह है, महीशासक कहते हैं कि यह शून्य है। इस सज्ञा को श्यावृत्त करने के लिए कि यह मायावत् है, कहते हैं कि यह वस्तुसत् है। किन्तु, यह न वस्तुसत् है, न ग्रवस्तु। क्योंकि यह न ग्रभूत है (यथा परिकल्पित), न वितथ (यथा परतन्त्व)। इसलिए, इसे भूततथता कहते हैं (पृ० ७७)।

# ग्राह्य-ग्राहक विचार

इस प्रसंग मे शुग्रान-च्वांग ग्राह्य-ग्राहक का विचार करते हैं।

जिन धर्मों को तीर्थिक ग्रौर हीनयानवादी चित्त-चैत्त से भिन्न मानते है, वह द्रव्यसम् स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह ग्राह्य है, जैसे चित्त-चैत्त है, जिनका ग्रहण पर-चित्तशान से होता है। बृद्धि जो रूगिदि का ग्रहण करती है, उनको ग्रालम्बन नहीं बनाती, क्योंकि यह ग्राहक है। जैसे परिचित-ज्ञान है, जो परिचित्त का ग्रहण करता है, ग्रीर उसको ग्रालम्बन नहीं बनाता; क्योंकि वह इस चित्त के केवल ग्राहक-ग्रनुकृति (सवजेक्टिव इमिटेशन) को ग्रालम्बन बनाता है। चित्त-चैत्त भूत-द्रव्य-सत् नहीं है, क्योंकि उनका उद्भव मायावत् परतन्त्र है (प्रतीत्य-समुत्पन्न)।

शुम्रान-च्वांग ग्रपने विज्ञानवाद की ग्रात्मवाद-द्रव्यवाद से रक्षा करने में सतर्क है। इस मिथ्यावाद का प्रतिषेध करने के लिए कि चित्त-चैत्त-व्यतिरेकी वाह्य विषय द्रव्य-सत् है, यह कहा जाता है कि विज्ञिष्तिमात्र है। किन्तु, इस विज्ञान को ग्रौर विज्ञान-व्यतिरेकी वाह्य विषयों को परमार्थत द्रव्य-सत् स्वभाव मानना धर्मग्राह है।

सहज धर्मग्राह —धर्मग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है, इसकी परीक्षा शुग्रान-च्वांग करते है। वह कहते हैं कि धर्मग्राह (धर्माभिनिवेश) दो प्रकार का है —सहज श्रौर विकल्पित। सहज श्रमूत (=वितथ) वासना से प्रवृत्तहोता है। श्रनादि काल से धर्माभिनिवेश का जो श्रभ्यास होता है, श्रौर इस ग्रभ्यासवश जो बीज विज्ञान में सचित होते हैं, उसे वासना कहते हैं। यह धर्मग्राह सदा श्राश्रय-सहगत होता है। इसकी उत्पत्ति या परिणाम स्वरसेन होता है। मिश्या देशना या मिथ्या उपनिध्यान से यह स्वतन्त्र है, इसलिए इसे सहज कहते हैं।

विकित्पत धर्मग्राह—बाह्य प्रत्ययवश उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के लिए मिध्या देशना ग्रीर मिध्या उपनिध्यान का होना ग्रावश्यक है, ग्रत यह विकित्पत कहलाता है। यह मनोविज्ञान में ग्रवस्थित है।

सर्व धर्मग्राह का विषय धर्माभास हैं, जो स्वचित्तनिर्भास है। ये धर्माभास हेतुजनित हैं। अत., इनका अस्तित्व है, किन्तु ये मायावत् परतन्त्र है, इसीलिए इन्हें धर्माभास कहते हैं।

भगवान् ने कहा है-हे मैंतेय । विज्ञान का विषय विज्ञानिर्मास-मात्र है। यह मायादि-वत् परतन्त्रस्वभाव है। (सन्धिनिर्मोचनसूत्र)।

सिद्धान्त यह है कि ग्रात्मधर्म द्रव्य-सत् नहीं है, ग्रत चित्त-चैत्त का रूपादि वाह्यधर्म ग्रालम्बन-प्रत्यय नहीं है। कोई बाह्यार्थ नहीं है। यह मूढों की कल्पना है। वासनाग्रों से लुठित चित्त का ग्रथिभास में प्रवर्त्तन ोता है। इनमें द्रव्यत्व का उपचार है।

## म्रात्मधर्मीपचार पर श्राक्षेप

वैशेषिक ग्राक्षेप करते हैं कि यदि मुख्य ग्रात्मा ग्रीर मुख्य धर्म नहीं है, तो विज्ञान-परिणामवाद में ग्रात्मधर्मोपचार युक्त नहीं है। तीन के होने पर उपचार होता है। इनमें से किसी एक के ग्रभाव में नहीं होता। यह तीन इस प्रकार है— १. मुख्य पदार्घ, २. तत्सदृश ग्रन्य विषय ग्रीर ३. इन दोनों का सादृश्य। यथा मुख्य ग्रग्नि, तत्सदृश माणवक ग्रीर इन दोनों के साधारण धर्म कपिलत्व या तीक्ष्णत्व होने पर यह उपचार होता है कि ग्रग्नि माणवक है। किन्तु, यदि ग्रात्मा ग्रौर धर्म नही है, तो कौन द्रव्य-मन् सादृश्य का ग्राष्ट्रय होगा? जब उमका ग्रभाय है, तो उमके नाम का उपचार कैसे हो सकता है ? यह कैसे कह मकते हैं कि चित्त वाह्यार्थ के रूप में ग्रवभामित होता है ?

#### उपचार का समाधान

यह ग्राक्षेप दुर्वल है, क्यों कि हमने यह मिद्ध किया है कि चित्त से व्यतिरिक्त श्रात्म-धर्म नहीं है। ग्राइए, हम उपचार की परीक्षा करें। 'ग्रग्नि माणवक हैं, इसमें जाति या द्रव्य का उपचार होना वताते हैं। माणवक का जाति-ग्रग्नि से सादृश्य दिखाना 'जात्युपचार' है। माणवक का एक द्रव्य से सादृश्य दिखाना 'द्रव्योपचार' है।

दोनो प्रकार से उपचार का ग्रभाव है।

जात्युपचार-किपलत्व ग्रौर तीक्ष्णत्व ग्रिग्न के साधारण-जाति गुण नहीं हैं। साधारण धर्मों के ग्रभाव में माणवक में जात्युपचार युक्त नहीं है, क्यों कि ग्रितंप्रसग का दीप होता है। तब तो ग्राप यह भी कह सकेंगें कि उपचार से जल ग्रिग्न है।

किन्तु, ग्राप कहेंगे कि यद्यपि जाति का तद्धर्मत्व नहीं है, तथापि तीक्ष्णत्व श्रीर किपलत्व का ग्रिग्नत्व से ग्रिविनाभाव है, ग्रीर इसलिए माणवक में जात्युपचार होगा। इसके उत्तर में हमारा यह कथन है कि जाति के ग्रभाव में भी तीक्ष्णत्व ग्रीर किपलत्व माणवक में देखा जाता है, ग्रीर इसलिए ग्रिविनाभावित्व ग्रयुक्त है, ग्रीर ग्रिविनाभावित्व में उपचार का ग्रभाव है; क्योंकि ग्रिग्न के सदृश माणवक में भी जाति का सद्भाव है। ग्रत, माणवक में जात्यु-पचार सम्भव नहीं है।

द्रव्योपचार—द्रव्योपचार भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सामान्य धर्म का श्रभाव है।
श्रीन का जो तीक्ष्ण या कपिल गुण है, वहीं गुण माणवक में नहीं है। विशेष स्वाश्रय में
प्रतिवद्ध होता है। श्रत, श्रीन-गुण के विना श्रीन का माणवक में उपचार युक्त नहीं है। यदि
यह कहों कि श्रीन-गुण के सादृश्य से युक्त हैं, तो इस श्रवस्था में भी श्रीन-गुण का ही माणवकगुण में उपचार सादृश्य के कारण युक्त हैं, किन्तु माणवक में श्रीन का नहीं। इसलिए
द्रव्योपचार भी युक्त नहीं है।

यह यथार्थ नहीं है कि तीन भूतवस्तु पर उपचार आश्रित है। भूतवस्तु (स्वलक्षण) सावृत ज्ञान और अभिधान का विषय नहीं है। यह ज्ञान और अभिधान सामान्यलक्षण को आलम्बन वनाते है।

मुख्य स्रात्मा, धर्म का स्रभाव—ज्ञान और अभिधान की प्रधान में प्रवृत्ति गुणरूप में ही होती हैं, क्यों कि वह प्रधान, अर्थात् मुख्य पदार्थ के स्वरूप का सस्पर्श नहीं करते। अन्यया गुण की व्यर्थता का प्रसग होगा। किन्तु, ज्ञान और अभिधान के व्यतिरिक्त पदार्थ-स्वरूप को परिच्छिन्न करने का अन्य उपाय नहीं हैं। अत, यह मानना होगा कि मुख्य पदार्थ नहीं हैं। इसी प्रकार सम्बन्ध के अभाव से शब्द में ज्ञान और अभिधान का अभाव हैं। इसी प्रकार अभिधान और अभिधान को अभाव हैं। इसी प्रकार

गौण उसे कहते हैं, जो वहाँ ग्रविद्यमान रूप से प्रवृत्त होता है। सब शब्द प्रधान में ग्रविद्यमान गुंण-रूप में प्रवृत्त होते हैं, ग्रत मुख्य नहीं हैं। ग्रत, यह ग्रयुक्त है कि मुख्य ग्रात्मा ग्रीर मुख्य धर्म के न होनेपर उपचार युक्त नहीं है।

भगवान् उपचारवश आत्मा और धर्म, इन शब्दो का योग करते हैं। इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म है। वह आत्मधर्म में प्रतिपन्न पुद्गलों को विनीत करना चाहते हैं। अत वह उन मिथ्या सज्ञाओं का प्रयोग करते हैं, जिनसे लोग विज्ञान-परिणाम को प्रज्ञप्त करते हैं।

# विज्ञान के त्रिविध परिणाम

विज्ञान-परिणाम तीन प्रकार का है-विपाकाख्य, मननाख्य, ग्रौर विषय-विज्ञप्त्याख्य। विपाक ग्रष्टम विज्ञान कहलाता है। शुभाशुभ कर्म की वासना के परिपाक से जो फल की ग्रभिनिवृति होती है, वह विपाक है।

मन (सप्तम विज्ञान) मनन। (यह स्थिरमित का पाठ है, किन्तु पूसे का पाठ 'मन्यना' है) कहलाता है, क्यों कि क्लिष्ट मन नित्य मनन (कोजिटेशन) करता है (पालि, मज्जना, व्युत्पत्ति, २४५, ६७७ में 'मन्यना' है)।

विषय-विज्ञान्त छ. प्रकार का चक्षुरादिविज्ञान कहलाती है, क्ये। कि इनसे विषय का प्रत्यवभास होता है। यह तीन परिणामिविज्ञान कहलाते है।

विज्ञान-परिणाम का हेतु-फलभाव—यह विज्ञान-परिणाम हेतुभाव ग्रौर फलभाव से होता है। हेतु-परिणाम अष्टम विज्ञान की निष्यन्दवासना ग्रौर विपाकवासना है। कुशल, अकुशल, अव्याकृत सात विज्ञानों से बीजों की जो उत्पत्ति ग्रौर वृद्धि होती है, वह निष्यन्द-वासना है। सास्रव कुशल ग्रौर अकुशल छ विज्ञानों से बीजों की जो उत्पत्ति ग्रौर वृद्धि होती है, वह विपाक-वासना है।

इन दो वासनाभ्रो के वल से विज्ञानो की उत्पत्ति होती है, भ्रौर उनके विविध लक्षण प्रकट होते हैं। यह फलपरिणाम है।

जब निष्यन्दवासना हेतु-प्रत्यय होती है, तब ग्राठ विज्ञान ग्रपने विविध स्वभाव ग्रौर लक्षणों में उत्पन्न होते हैं। यह निष्यन्द-फल है, क्यों कि फल-हेतु के सदृश है। जब विपाक-वासना ग्रिधिपति-प्रत्यय होती है, तब ग्रष्टम विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसे विपाक कहते हैं; क्यों कि वह ग्राक्षेपक कर्म के ग्रनुसार है, ग्रौर इसका निरन्तर सन्तान है। प्रथम छ विज्ञान, जो परिपूरक कर्न के अनुरूप है, विपाक से उत्पन्न होते हैं। इन्हें विपाकज कहते हैं (विपाक नहीं); क्यों कि इनका उपच्छेद होता है। विपाकज ग्रौर विपाक विपाकफल कहलाते हैं, क्यों कि यह स्वहेतु से विसदृश हैं। 'विपाक' 'फल-परिणाम-विज्ञान' इष्ट है। यह प्रत्युत्पन्न ग्रप्टम विज्ञान है। यह ग्रात्मप्रेम का ग्रास्पद है। यह सक्लेश के बीजो का धारक है। किन्तु, श्र्यान-च्चौंग यह कहना नहीं चाहते कि केवल ग्रष्टम विज्ञान विपाक-फल है।

केवल अष्टम विज्ञान 'हेतुपरिणाम' है। यही बीजो का (शक्तियो का) मग्रह करता है, इसलिए इसे 'बीज-विज्ञान', 'श्रालय-विज्ञान' कहते हैं। यही बीज-वासना कहलाते हैं,

क्योकि वीजो की उत्पत्ति 'भावना', 'वासना' से होती है। श्रन्य सात प्रवृत्ति-विज्ञान ग्रप्टम विज्ञान को वासित करते है। यह वीजो को उत्पन्न करते है। यह नवीन वीजो का स्राधान करते है, या वर्त्तमान वीजो की वृद्धि करते हैं। वीज दो प्रकार के हैं - १ सात प्रवृत्ति-विज्ञान ( कुशल, ग्रकुशल, श्रव्याकृत, सास्रव, ग्रनास्रव ) निष्यन्द-बीजो को उत्पन्न करते हैं, ग्रीर उनकी वृद्धि करते हैं। २ सप्तम विज्ञान 'मन' को वर्जित कर शेप छ प्रवृत्ति-विज्ञान (ग्रकुशल, सास्तव, कृशल ) वीजो का उत्पाद करते हैं, भीर उनकी वृद्धि करते है। इन वीजो को कर्मवीज, विपाकवीज कहते हैं। कर्म-हेतु वीज द्वारा फल की अभिनिवृ ति करता है। यह फल स्वहेतु से विसद्श होता है, इसलिए इसे विपाक (विसद्श पाक) कहते है। हेतु, यथा प्राणातिपात की चेतना, स्वर्ग-प्राप्ति के लिए दान, व्याकृत है, फल ( नरकोपपत्ति या स्वर्गोप-पत्ति ) अव्याकृत है। फल-परिणाम प्रवृत्ति-विज्ञान और सवित्तिभाग है, जो वीजद्वय का फल है, ग्रर्थात् वीज-विज्ञान का फल है। इसका परिणाम दर्शन ग्रीर निमित्त में होता है। प्रथम प्रकार के बीज इस फल के हेतु-प्रत्यय है। यह ग्रनेक श्रीर विविध है। यह ग्राठ विज्ञान, इन श्राठ के भागसमुदय श्रौर उनके सम्प्रयुक्त चैत को उत्पन्न करते है। द्वितीय प्रकार के बीज 'ग्रधिपति-प्रत्यय' है। यह मुख्य विपाक, श्रर्थात् अष्टम विज्ञान का निर्वर्त्तन करते हैं। अष्टम विज्ञान ग्राक्षेपक कर्म से उत्पादित होता है। इसका ग्रविच्छिन्न स्रोत है। यह सदा ग्रव्याकृत होता है। परिप्रक कर्म के प्रथम पडविज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यहाँ विपाक नहीं है किन्तु विपाकज है, क्योंकि इनका उपच्छेद होता है, ग्रौर इनकी उत्पत्ति ग्रब्टम विज्ञान से होती है।

स्थिरमित का मत इस सम्बन्ध में भिन्न है। उसके अनुसार हेतु-परिणाम आलय के परिपुष्ट विपाक-त्रीज और निष्यन्द-त्रीज है, तथा फल-परिणाम विपाक-वीजो के वृत्तिलाभ से आक्षेपक कर्म की परिसनाप्ति पर अन्य निकायसभाग में आलय-विज्ञान की अभिनिवृति है, निष्यन्द-वीजो के वृत्तिलाभ से प्रवृत्ति-विज्ञान और विलष्ट मन की आलय से अभिनिवृति है।

यहाँ प्रवृत्ति-विज्ञान (कुणल-ग्रकुणल) ग्रालय-विज्ञान में दोनो प्रकार के वीजो का ग्राधान करता है। ग्रव्याकृत प्रवृत्ति-विज्ञान ग्रोर क्लिब्ट मन निष्यन्द-वीजो का ग्राधान करता है।

हमने ऊपर विविध परिणाम का उल्लेख किया है। किन्तु, श्रभी उनका स्वरूप-निर्देश नहीं किया है। स्वरूप-निर्देश के विना प्रतीति नहीं होती। श्रत , जिसका जो स्वरूप है, उसको यथाकम दिखाते हैं। पहले श्रालय-विज्ञान का जो विपाक है, उसका स्वरूप निर्दिष्ट करते हैं। यह श्रष्टम विज्ञान है।

## श्रालय-विज्ञान

ग्रालय का स्वरूप-प्रालय-विज्ञान विज्ञानो का ग्रालय, संग्रह-स्थान है। श्रयवा यह , वह विज्ञान है, जो ग्रालय है। ग्रालय का ग्रयं 'स्थान' है। यह सर्व साक्लेशिक बीजो का संग्रह-स्थान है। अथवा सर्व धर्म इसमे कार्यभाव से आलीन हीते हैं (आलीयन्ते), अथवा उपनिबद्ध होते हैं। अथवा यह सब धर्मों में कारणभाव से आलीन होता है, अत इसे आलय कहते हैं (स्थिरमित)।

इसे मूलविज्ञान भी कहते हैं। शुग्रान-च्वाँग कहते हैं धर्म ग्रालय मे बीजो का उत्पाद करते हैं। यह ग्रालय-विज्ञान को सग्रह-स्थान बनाते हैं, ग्रीर उसमें सगृहीत होते हैं। पुन. मन का ग्रालय में ग्राभिनिवेश ग्रात्मतुल्य होता है। सत्त्वों की कल्पना होती हैं कि ग्रालय-विज्ञान उनकी ग्रात्मा है। इसका ग्रांथ यह है कि विज्ञानवाद में ग्रालय-विज्ञान का वहीं स्थान है, जो ग्रात्मा ग्रीर जीवितेन्द्रिय दोनों का मिलकर ग्रन्य वादों में है।

पुन. भ्रालय-विज्ञान कर्मस्वभाव भी है, श्रत इसे विपाक-विज्ञान भी कहते हैं। जिन कुशल-श्रकुशल कर्मों को एक भवधातु-गति-योनि-विशेष मे भ्राक्षिप्त करता है, उनका यह श्रालय 'विपाकफल' है। इसके बाहर कोई जीवितेन्द्रिय, कोई सभागता नहीं है, भ्रीर न कोई ऐसा धर्म है, जो सर्वदा श्रनुप्रबद्ध हो, ग्रीर वस्तुत विपाक-फल हो।

स्रालय-विज्ञान कारणस्वभाव भी है। इस दृष्टि से यह सर्ववीजक है। यह वीजो का स्रादान करता है, स्रोर उनका परिपाक करता है। यह उनका प्रणाश नही होने देता।

गुम्रान-च्वाँग कहते हैं कि इस मूलविज्ञान में शक्तियाँ (सामर्थ्य) होती है, जो फल का प्रत्यक्ष उत्पाद करती है, प्रर्थात् प्रवृत्ति-धर्म का उत्पाद करती है। दूसरे शब्दो में बीज, जो शक्ति की श्रवस्था में श्रालय में सगृहीत धर्म है, पश्चात् फलवत् माक्षात्कृत धर्मों का उत्पाद करते है।

श्रालय की सर्ववीजकता—शुश्रान-च्वांग वीज के सम्बन्ध में विविध श्राचार्यों के मत का उल्लेख कर श्रन्त में अपना सिद्धान्त व्यवस्थापित करते हैं। चन्द्रपाल सब वीजो को प्रकृतिस्थ मानते हैं, श्रौर नन्द सबको भावनामय समझते हैं। धर्मपाल का मत है कि सास्रव श्रौर श्रनास्रव बीज श्रशत. श्रकृतिस्थ होते हैं, श्रौर श्रशतः कर्मों की वासना से भावित विज्ञान के फल हैं। पहले बीज श्रकृतिस्थ श्रौर दूसरे भावनामय कहलाते हें। श्रकृतिस्य वीज विपाक-विज्ञान में धर्मतावश श्रनादिकाल से पाये जाते हें। भावनामय वीज श्रभ्यासिद्ध हैं। भग-वहचन है कि सत्त्वों का विज्ञान विलष्ट श्रौर श्रनास्रव धर्मों से वासित होता है। यह श्रसख्य बीजों का सचय भी है। इस नय में श्रालय-विज्ञान श्रौर धर्म श्रन्योन्य का उत्पाद करते हैं, श्रौर इनका सदा कार्य-कारणभाव है। हम कह सकते हैं कि श्रालय-विज्ञान में धर्मों का निरन्तर स्वरूप-विशेष (स्ट्रैटिफिकेशन) होता है, श्रौर श्रालय-विज्ञान नवीन धर्म श्राक्षिप्त करता रहता है। यह नित्य व्यापार है। बीज श्रनादिकाल से प्रकृतिस्थ है, किन्तु क्लिप्ट श्रौर श्रक्लिप्ट कर्मों से पुन -पुन भावित हो उनसे वासित होते हैं, श्रौर मानो उत्पन्न होते हें। दूसरे शब्दों में द्रव्य-सत् एक शक्ति है, जो निरन्तर जीवन की सृष्टि करती है, श्रोर इम मृष्टि से श्रपना पोषण करती है।

श्यान-च्वांग धर्मपाल के मत को स्वीकार करते है।

बीज श्रीर गोत्र—वीजो के इम मिद्धान्त के श्रनुसार णुश्रान-च्वांग विविध गोतों की व्यवस्थापित करते हैं। प्रत्येक के णुभ-श्रश्भ वीजो की माला श्रीर गुण के श्रनुसार यह गोल व्यवस्थापित होते हैं। जिनमें श्रनास्रव वीजो का सर्वथा श्रभाव होता है, वह श्रपरिनिर्वाणधर्मक या श्रगोलक कहलाते हैं। इसके विपरीत जो वोधि के वीज समन्वागत है, वह तथागत-गोलक हैं। इस प्रकार, यह वीज-शवित पूर्व से विनियत होती है।

बीज का स्वरूप — वीज क्षणिक है श्रीर समुदाचार करनेवाले धर्म या ग्रन्य शक्ति का उत्पाद कर विनण्ट होते हैं। यह मदा श्रनुप्रवद्ध हैं। वीज प्रत्यय-सामग्री की प्रपेक्षा करते हैं। वीज श्रोर धर्म की श्रन्योन्य-हेतु-प्रत्ययता है, वीजों का उत्तरोत्तर उत्पाद होता है। वीज श्रालय-विज्ञान के तल पर धर्मों का उत्पाद करने हैं श्रीर धर्म श्रालय-विज्ञान के गर्म में बीज का मग्रह करते हैं।

ग्रथवा हम प्रवन्ध का सम्प्रधारण कर सकते हैं । तीन धर्म है --

- १. जनक बीज।
- २. विज्ञान, जो समुदाचार करता है, श्रीर वीज से जनित है।
- ३. पूर्वोक्त विज्ञान की भावना से सम्भूत नवीन वीज। यह तीन क्रम से हेतु और फल है, किन्तु यह सहभू है। यह नडकलाप के समान ग्रन्योन्याश्रित है।

श्रालय का श्राकार श्रीर श्रालम्बन—गुग्रान-च्वांग ग्रालय के ग्राकार ग्रीर ग्रालम्बन का विचार करते हैं। यदि प्रवृत्ति-विज्ञान से व्यतिरिक्त ग्रालय-विज्ञान है, तो उसका ग्रालम्बन श्रीर ग्राकार वताना चाहिए। निरालम्बन या निराकार विज्ञान युक्त नहीं है। इसलिए, श्रालय-विज्ञान भी निरालम्बन या निराकार नहीं हो सकता।

श्राकार — श्रालय का श्राकार, यथा सर्वविज्ञान का श्राकार, विज्ञप्ति (विज्ञप्ति-किया) है। विज्ञप्ति को दर्शनभाग कहते हैं।

भ्रालम्वन — ग्रालय का ग्रालम्वन द्विविध है स्थान ग्रीर उपादि।

स्थान-भाजनलोक है, क्योंकि यह मत्त्वों का मन्निश्रय है।

उपादि--(इण्टिरियर ग्राब्जेक्ट) वीज ग्रीर सेन्द्रियक काय है । इन्हे 'उपादि' कहते हैं, क्योंकि यह ग्रालय से उपात्त हैं, ग्रालय में परिगृहीत हैं ग्रीर इनका एक योगक्षेम है ।

वीज से वासनात्रय इष्ट है —िनिमित्त, नाम ग्रीर विकल्प। सेन्द्रियक काय, रूपीन्द्रिय ग्रीर उनका प्रधिष्ठान है।

# श्रालय से लीक की उत्पत्ति

इस सिद्धान्त के अनुसार लोक की उत्पत्ति इस प्रकार है — आलयविज्ञान या मूलविज्ञान का अध्यात्म-परिणाम वीज और सेन्द्रिय काय के रूप में (उपादि) होता है, और विद्या-परिणाम भाजनलोक के रूप में (स्थान) होता है। यह विविध धर्म उसके 'निमित्त-भाग' है। यह निमित्त भाग उसका आलम्बन है। आलम्बनवण उसकी विज्ञप्ति-क्रिया है। यह उसका आकार है। यह विज्ञप्ति-क्रिया आलय-विज्ञान का दर्शनभाग है। इस प्रकार, ज्यो ही सर्व सास्रव विज्ञान ( जो प्रसाद से निर्मल नहीं हुआ है ) उत्पन्न होता है, त्यों ही वह आलम्बक श्रीर आलम्बन इन दो लक्षणों से उपेत होता है। एक दर्शनभाग है, दूसरा निमित्तभाग है। शुआन-च्वाँग कहते हैं कि दर्शन-भाग के विना निमित्तभाग असम्भव था।

यदि चित्त-चैत्त मे भ्रालम्बन का लक्षण न होता, तो वह स्वविषय को भ्रालम्बन नहीं बनाते अथवा वह सर्वविषय को स्वविषय तथा अन्य विषय को अस्पष्टतया भ्रालम्बन बनाते। श्रीर यदि उनमें सालम्बन (श्रालम्बन) का लक्षण न होता, तो वह किसी को श्रालम्बन न बनाते, किसी विषय का ग्रहण न करते। अत, चित्त-चैत्त के दो भाग (मुख) है—दर्शन श्रीर निमित्त । किन्तु, वस्तुत "सब वेदक बोधकमात्र है, वेद्य का श्रस्तित्व नहीं है। श्रथवा यो किहए कि वेदकभाग श्रीर वेद्यभाग का प्रवर्तान पृथक् स्वय होता है। यह स्वयम्भू है, क्यों कि यह स्वहेतु-प्रत्यय-सामग्रीवण उत्पन्न होते है, श्रीर चित्त से विहर्भू त किसी वस्तु पर श्राश्रित नहीं है।" (रेने ग्रूसे, पृ० १०० का पाठ इस प्रकार है, भथवा यो किहए कि वेदकभाग धीर वेद्यभाग का श्रस्तित्व स्वतः नहीं है।)

श्रत, शुम्रान-च्वांग हीनयान के इस वाद का विरोध करते हैं कि विज्ञान के लिए १. बाह्यार्थ (ग्रालम्बन), २. ग्रध्यात्मनिमित्त (जो हमारा निमित्तभाग है), जो विज्ञान का प्राकार है, ३. दर्शन, द्रष्टा (हमारा दर्शनभाग), जो स्वय विज्ञान है, चाहिए। शुम्रान-च्वांग के मत में इसके विपरीत चित्त-व्यतिरेकी ग्रयों का ग्रस्तित्व नहीं है। उनके प्रनुसार विज्ञान का ग्रालम्बन निमित्तभाग है ग्रौर विज्ञान का ग्राकार दर्शनभाग है। वह हीनयान के लक्षणों को नहीं स्वीकार करते। इन दो भागों का एक भाश्रय चाहिए ग्रौर यह ग्राश्रय विज्ञान का एक ग्राकार है, जिसे स्वस वित्ति-भाग कहते हैं। तीन भाग इस प्रकार हैं १ प्रमेय, भर्यात् निमित्तभाग, २ प्रमाण, ग्रयांत् विज्ञप्तिकिया यह दर्शनभाग है, ३ प्रमाणफल यह सवित्तिभाग ग्रयवा स्वाभाविक भाग है।

इनको प्रमाणसमुच्चय में ग्राह्मभाग, ग्राहकभाग, स्वसवित्तिभाग कहा है। ये तीम विज्ञान से पृथक् नहीं है।

शुआन-च्वाँग कहते हैं कि यदि चित्त-चैत्त धर्मों का सूक्ष्म विभाजन किया जाय, तो चार भाग होते हैं। पूर्वोक्त तीन भागों के अतिरिक्त एक चौथा भाग है। इसे स्वसवित्ति-संवित्ति भाग कहते हैं।

नील-प्रतिबिम्ब (निमित्तभाग) दर्शन का (दर्शनभाग का) प्रमेय है। दर्शनभाग प्रमाण है। यह विज्ञप्ति-क्रिया है 'यह नील देखता है।' इस दर्शन का फल 'स्वसिवित्ति' कहलाता है। यह जानना कि मै नील देखता हूँ, 'स्वसिवित्ति' है। स्वसिवित्ति दर्शन का फल है। यह दर्शन को भ्रालम्बन के रूप में गृहीत करता है, क्योंकि यह श्रालम्बन को गृहीत करता है। इसका एक फल होना चाहिए, जिसे 'स्वसिवित्ति-सिवित्ति' कहते हैं—"यह जानना कि मै जानता हूँ कि मै नील देखता हूँ।" वह स्वसिवित्ति को जानता है, जैमे स्वसिवित्ति दर्शन को

जानता है। किन्तु, यह चार चित्तमात है। यथा लकाववार (१०।१०१) में कहा है—''क्योकि चित्त ग्रुपने में प्रभिनिविष्ट है, ग्रत. वाह्यार्थ के सदृश चित्त का प्रवर्त्तन होता है। दृश्य नहीं है, चित्तमात है।''

#### मालम्बनवाद

शुम्रात-र्चांग ग्रालम्बनवाद का वर्णन करते है । ग्रालम्बन द्विविध है—स्थान

१ स्थान—साधारण बीजो के परिपाक के बल से विपाक-विज्ञान भाजन-लोक के ग्राभास में, श्रर्थात् महाभूत श्रीर भीतिक के ग्राभास में परिणत होता है। शुग्रान-च्वांग स्वय एक ग्राक्षेप के परिहार की चेण्टा करते हैं। वह कहते हैं कि "प्रत्येक सत्त्व के विज्ञान का परिणाम उसके लिए इस प्रकार होता है, किन्तु इस परिणाम का फल सर्वसाधारण है। इस कारण भाजनलोक सब सत्त्वों को एक-सा दीखता है। यथा दीपसमह में प्रत्येक दीप का प्रकाश पृथक् होता है, किन्तु दीपसमूह का प्रकाश एक ही प्रकाश प्रतीत होता है।" श्रत, भिन्न सत्त्वों के विज्ञान के बीज साधारण बीच कहलाते हैं, क्योंकि भिन्न सत्त्व उन वस्तुश्रों के उत्पादन में सहयोग करते हैं, जिनका ग्राभाम सब सत्त्वों को होता है। लोकधातु की सृष्टि का हेतु बहुत कुछ वैशेषिक श्रीर जैनदर्शन से मिलता है।

दूसरी श्रीर शुश्रान-च्वाँग कहते हैं कि यदि साधारण विज्ञान भाजनलोक में परिणत होता है, तो इसका कारण यह है कि भाजनलोक उस सेन्द्रियक काय का श्राश्रय या भोग होगा, जिसमें यह विज्ञान परिणत होता है। श्रत , विज्ञान का परिणाम उस भाजनलोक में होता है, जो उस काय के श्रनुरूप है, जिसमें यह परिणत होता है। यहाँ हमको एक सर्वसाधारण या सार्वभौमिक विज्ञान की झलक मिलती है। यह एक लोकधानु की सृष्टि इसलिए करता है, जिसमें प्रत्येक चित्त-सन्तान काय-विशेष का उत्पाद कर मके।

एक ग्राक्षेप यह है कि जो लोकघातु सत्त्वो का ग्रभी ग्रावास नही है या जो निर्जन हो गया है, उसमें विज्ञानवाद कैसे युक्तियुक्त है ? किस विज्ञान का यह लोकघातु परिणाम है ? श्रुग्रान-च्वांग इस ग्राक्षेप के उत्तर में कहते है कि यह ग्रन्य लोकघातुग्रों में निवास करनेवाले सत्त्वो का परिणाम है। हमसे कहा गया है कि लोकघातु सत्त्वों का साधारण भोग है। किन्तु, प्रेत, मनुष्य, देव (विश्वतिका, ३) एक ही वस्तु का दर्शन नहीं करते, ग्रर्थात् वस्तुग्रों को एक ही ग्राकार में नहीं देखते। शुग्रान-च्वांग कहते हैं कि इन्हीं सिद्धान्तों के ग्रनुसार इस प्रशन का भी विवेचन होना चाहिए।

## २ उपादि-वीज श्रीर सेन्द्रियक काय।

बीज—यह सास्रव धर्मों के सर्व वीज है, जिनका धारक विपाक-विज्ञान है, जो इस विज्ञान के स्वभाव में ही सगृहीत है और जो इसलिए उसके ब्रालम्बन है।

अनास्रव धर्मों के बीज विज्ञान पर सकुचित रूप में श्राश्रित हैं, क्योंकि वह उसके स्वभाव में मगृहीत नहीं है, इसलिए वह उसके श्रालम्बन नहीं हैं। यह नहीं है कि वह विज्ञान से विप्रयुक्त है, क्यों कि भूततथता के तुल्य वह विज्ञान से पृथक् नहीं हैं। ग्रत, उनके ग्रस्तित्व की प्रतिज्ञा कर हम विज्ञप्तिमावता के सिद्धान्त का विरोध नहीं करते।

सेन्द्रियक काय—मेरा विपाक-ज्ञान अपने बीज-विशेष के बल से १. रूपीन्द्रिय में परिणत होता है, जो हम जानते हैं, सूक्ष्म और अतीन्द्रिय रूप है, २ काय में परिणत होता है, जो इन्द्रियों का आश्रयायतन है। किन्तु, अन्य सत्त्वों के बीज—वह सत्त्व, जो मेरे काय को देखते हैं—मेरे काय में उसी समय परिणत होते हैं, जिस समय मेरे अपने बीज परिणत होते हैं। यह साधारण बीज (शक्ति) हैं।

साधारण वीज के परिपाक के बल से मेरा विपाक-विज्ञान दूसरों के इन्द्रियाश्रयायतन में परिणत होता है। यदि ऐसा न होता, तो मुझे दूसरों का दर्शन, दूसरों का भोग न होता। स्थिरमित और दूर जाते हैं। उनका मत है कि किसी सत्त्व-विशेष का विपाक-विज्ञान दूसरों की इन्द्रियों में परिणत होता है। उनका कहना है कि यह मत युक्त है, क्यों कि मध्यान्तविभाग में कहा है कि विज्ञान स्व-पर-आश्रय के पचेन्द्रियों के सदृश अवभासित होता है।

एक आश्रय का विज्ञान दूसरे के इन्द्रियाश्रयायतन में इसलिए परिणत होता है कि निर्वाण-प्रविष्ट सत्त्व का शव अथवा अन्य भूमि में सचार करनेवाले सत्त्व का शव दृश्यमान रहता है। निर्वृत के विज्ञान के तिरोहित होने पर उसके शव में परिणाम नहीं होगा अत. यह कुछ काल तक अन्य सत्त्वों के विज्ञान-परिणाम के रूप में अवस्थान करता है।

हमने देखा है कि विज्ञान का परिणाम सेन्द्रियक काय और भाजनलोक (असत्त्व रूप) में होता है। इनका साधारणत सर्वदा सन्तान होता है।

प्रश्न है कि अष्टम विज्ञान का परिणाम चित्त-चैत्त में, विप्रयुक्त में, असस्कृत में, अभाव धर्मों में क्यो नहीं होता और इन विविध प्रकारों को वह आलम्बन क्यो नहीं वनाता।

विज्ञानो का परिणाम दो प्रकार का है।

सास्रव विज्ञान का सामान्यतः द्विविध परिणाम होता है—१ हेतु-प्रत्यय-वश परि-णाम, २. विकल्प या मनस्कार के वल से परिणाम । पहले परिणाम के धर्मों में क्रिया श्रीर वास्तविकता होती है। दूसरे परिणाम के धर्म केवल ज्ञान के विषय है।

किन्तु, अष्टमविज्ञान का पहला परिणाम ही हो सकता है, दूसरा नही। अत., रूपादि धर्मों में, जो अष्टम विज्ञान से प्रवृत्त होते है, किया होनी चाहिए और उनमें किया होती है।

यह नहीं माना जा सकता कि चित्त-चैत्त इसके परिणाम है । इसका कारण यह है कि चित्त-चैत्त, जो अ़ष्टम विज्ञान के केवल निमित्तभाग है, आ़लम्बन का ग्रहण न करेगे और इस-लिए उनमें वास्तविक किया न होगी ।

## श्राक्षेप

श्राप कहते हैं कि चित्त-चैत की उत्पत्ति ग्रष्टम विज्ञान से होती है, श्रत. इसका चित्त-चैत में परिणत होना ग्रावश्यक है।

उत्तर

विज्ञान-सप्तक और उनके सम्प्रयुक्त की वास्तविक किया की उत्पत्ति श्रष्टम विज्ञान से होती है, क्योंकि वह उसके निमित्तभाग का उपभोग करते है, अर्थात् उन अर्थों का उपभोग करते है, जिनमें इसका परिणाम होता है।

म्रष्टम का परिणाम ग्रसस्कृतादि में भी नही होता; क्योंकि उनका कोई कारिक नहीं है।

हमने जो कुछ पूर्व कहा है, वह सास्रव विज्ञान के लिए है।

जव अण्टम विज्ञान की अनास्रव अवस्था (वुद्धावस्था) होती है, तव यह प्रधान प्रज्ञा से सम्प्रयुक्त होता है। यह अविकल्पक किन्तु प्रसन्न होता है, अत यह असस्कृत तथा चित्तादि के इन सब निमित्तों को ग्रवभासित करता है, चाहे यह धर्म किया-वियुक्त हो। विपक्ष में वुद सर्वज्ञ न होगे।

किन्तु, जबतक अष्टम विज्ञान साम्नव है, तबतक यह कामधातु और रूपधातु में केवल भाजनलोक, सेन्द्रियक काय स्रोर सास्रव वीजो का स्रालम्बन के रूप में ग्रहण करता है। स्रारूप्यस्य विज्ञान केवल सास्रव वीजो का ग्रहण करता है। इस घातु के देव रूप से विरक्त हैं। किन्तु, समाधिज रूप के ग्रालम्बन बनाने में विरोध नहीं है। ग्रष्टम विज्ञान का ग्राकार (दर्शनमाग, विज्ञिप्त ) ग्रतिसूक्ष्म, ग्रणु होता है, ग्रत वह श्रसविदित है। ग्रथवा, ग्रष्टम विज्ञान इसलिए श्रसविदित है, क्योंकि उसका श्रध्यात्म-श्रालम्बन श्रतिसूक्ष्म है, श्रीर उसका वाह्य श्रालम्बन (भाजनलोक) ग्रपने सन्निवेश में ग्रपरिच्छित्र है।

किन्तु, सौत्रान्तिक ग्रौर सर्वास्तिवादी प्रश्न करते है कि यदि ग्रप्टम विज्ञान का ग्राकार असविदित है, अर्थात उमका प्रतिसवेदन करना अशक्य है, तो अप्टम 'विज्ञान' कैसे है <sup>?</sup> हमारा सौतान्तिको को, जो स्थविरवादियो के समान एक सुक्ष्म विज्ञान मे प्रतिपन्न है, यह उत्तर है कि श्राप मानते हैं कि निरोध-समापत्ति श्रादि की श्रवस्था में एक विज्ञान-विशेष होता है, जिसका ग्राकार ग्रसविदित है। ग्रत , ग्राप मानते हैं कि ग्रष्टम विज्ञान सदा ग्रसंविदित होता है। मर्वा-स्तिवादियों से जो निरोध-समापत्ति ग्रादि की ग्रवस्था में विज्ञान के ग्रस्तित्व का प्रतिषेध करते है, हमारा यह कहना है कि उक्त समापत्तियो की ग्रवस्था मे विज्ञान ग्रवश्य होता है, क्योंकि जो योगी उसमें समापन्न होता है, उसे सत्त्व मानते है । आपके मत में भी सत्त्व सूचित होता है !

## ग्रालय का चैत्तो से सम्प्रयोग

यह श्रालय-विज्ञान सदा से श्राश्रय-परावृत्ति-पर्यन्त श्रपनी सव श्रवस्थाग्रो में पाँच सर्वग ( सर्वत्नग ) चैत्तो से सम्प्रयुक्त होता है । ये पाँच चैत्त इस प्रकार हैं --स्पर्श, मनस्कार, वेदना, सजा ग्रीर चेतना ।

ये पाँच ग्राकार में ग्रालय-विज्ञान से भिन्न हैं, किन्तु यह ग्रालय के सहभू है। इसका वही ग्राश्रय है, जो 'पालय का है, ग्रौर इनका ग्रालम्बन (= निमित्तभाग) तथा द्रव्य (सविति-भाग) आलय के आलम्बन और द्रव्य के सद्श है । अतः, यह आलय से सम्प्रयुक्त है ।

**१. स्पर्श** का लक्षण इस प्रकार है: स्पर्श तिक-सन्निपात है, जो विकार-परिच्छेद है श्रीर जिसके कारण चित्त-चैत विषय का स्पर्श करते है।

इन्द्रिय, विषय श्रीर विज्ञान यह तीन 'त्निक' है। इनका समवस्थान 'त्निक-सन्निपात' है। यथा : चक्षु, नील, चक्षुविज्ञान, यह तीन वीजावस्था में पहले से रहते हैं। स्पर्श भी वीजावस्था म पहले से रहता है। श्रपनी उत्पत्ति के लिए स्पर्श इन तीन पर श्राश्रित है। इसकी उत्पत्ति होने पर इन तीन का सन्निपात होता है। श्रत, स्पर्श को त्निक-सन्निपात कहते हैं।

सन्निपात के पूर्व क्रिक में चित्त-चैत्त के उत्पाद का सामर्थ्यं नही होता। किन्तु, सिन्नपात के क्षण में वह इस सामर्थ्यं से समन्वागत होते हैं। इस परिवर्त्तन, इस प्राप्त सामर्थ्यं को विकार कहते हैं।

स्पर्श इस विकार के सदृश होता है। अर्थात्, चित्त-चैत्तो के उत्पाद के लिए इसमें उस सामर्थ्य के सदृश सामर्थ्य होता है, जिससे विक विकारावस्था में समन्वागत होता है। अत, स्पर्श को विकार-परिच्छेद कहने हैं, क्यों कि यह विकार का परिच्छेद (सदृश, पौधा-कलम) है। स्पर्श-क्षण में विकार होता है। किन्तु, स्पर्श के उत्पाद में इन्द्रिय-विकार की प्रधानता है। इसीलिए, स्थिरमित स्पर्श को 'इन्द्रियविकार-परिच्छेद' कहते हैं (पृ० २०)।

स्पर्श का स्वभाव है कि यह चित्त-चैत्त का सन्निपात इस तरह करता है, जिसमें विना विसरण के वह विषय का स्पर्श करते है।

स्थिरमित का व्याख्यान भिन्न है। ''विक का कार्यकारणभाव से ममवस्थान विक-सिन्नपात है। जब विक-सिन्नपात होता है, तब उसी समय इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होता है। यह विकार सुख-दु खादि वेदना के अनुकल होता है। इस विकार के सदृश विषय का सुखादिवेदनीयाकार परिच्छेद (ज्ञान) होता है। इस परिच्छेद को स्पर्श कहते हैं। यह 'स्पर्श' इन्द्रिय का स्पर्श करता है, क्योंकि यह इन्द्रिय-विकार के सदृश है। अथवा, यो कहिए कि यह इन्द्रिय से स्पृष्ट होता है, इसीलिए इसे स्पर्श कहते हैं।

'स्पर्श' का कर्म मनस्कारादि ग्रन्य चार चैतो का सन्निश्रयत्व है। मूत्र में कहा है कि बेदना, सज्ञा, सस्कार का प्रत्यय स्पर्श है। इसीलिए सूत्र में उक्त है कि इन्द्रिय-विषय इन दो के सित्रपात से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, स्पर्श की उत्पत्ति विक-मित्रपात से होती है ग्रीर श्रन्य चैतो की उत्पत्ति इन्द्रिय-विषय-विज्ञान-स्पर्श-चतुष्क से होती है।

श्रभिधर्मसमुच्चय (स्थिरमित इसका श्रनुसरण करते हैं) की शिक्षा है कि स्पर्ण वेदना का सिन्नश्रय है। सुखवेदनीय स्पर्श के प्रत्ययवश मुखावेदना उत्पन्न होती है।

२. मनस्कार — मनस्कार चित्त का श्राभोग ( श्राभु जन ) है। इसका कर्म श्रालम्बन में चित्त का श्रावर्जन है। सघभद्र के श्रनुसार मनस्कार चित्त को श्रालम्बन के श्रिमम्ख करता है।

१ सभा पुत्र पिता का परिच्छेद है।

ग्रिमिधर्मसमुच्चय के ग्रनुसार (सघभद्र के भी) मनस्कार ग्रालम्वन में चित्त का धारण करता है। शुग्रान-च्वांग इन व्याख्यानो को नही स्वीकार करते। उनका कहना है कि पहले को स्वीकार करने से मनस्कार मर्वग नही होगा ग्रीर दूसरा व्याख्यान मनस्कार ग्रीर ममाधि को मिला देता है।

३. वेदना-वेदना का स्वभाव विषय के श्राह्मादक, परितापक शौर इन दोनो श्राकारो से विविध स्वरूप का श्रनुभव करना है। वेदना का कर्म तृष्णा का उत्पाद करना है, क्योंकि यह मयोग, वियोग तथा न मयोग, न वियोग की इच्छा उत्पन्न करती है। सघभद्र के अनुसार वेदना दो प्रकार की है विषय-वेदना स्वभाव-वेदना। पहली वेदना स्वालम्बन-विषय का ग्रनुभव है, दूसरी वेदना तत्सहगत स्पर्श का ग्रनुभव है। इसीलिए, भगवान् सुखवेदनीय स्पर्श ग्रादि का उल्लेख करते हैं। केवल द्वितीय वेदना 'वेदना-स्वलक्षण' है; क्यों कि प्रथम सामान्य चैतो से विशिष्ट नही है। सभी चैत विषय-निमित्त के अनुभव है, यह मत अयथार्थ है। १. वेदना सहज स्पर्ण को स्रालम्बन नही बनाती । २ इस स्राधार पर कि यह स्पर्ण सदृश उत्पन्न होता है, हम नहीं कह सकते कि वेदना स्पर्श का अनुभव करती है, क्यों कि उस अवस्था में सर्व निष्यन्द-फल वेदनास्वभाव होगा । ३ यदि वेदना स्वहेतु, ग्रर्थात् स्पर्श का ग्रनुभव करती है, तो इसे 'हेतुवेदना' कहना चाहिए, 'स्वभाववेदना' नही । ४ भ्राप नही कह सकते कि जिस प्रकार राजा ग्रपने राज्य का उपभोग करता है, उसी प्रकार वेदना स्पर्शज वेदना के स्वभाव का भ्रनुभव करती है और इसलिए इसे ( वेदना ) स्वभाववेदना कहते है। ऐसा करने से श्रापको अपने इस सिद्धान्त का परित्याग करना पडेगा कि स्वसवेदन नही होता। ५. यदि श्राप उसे इसलिए स्वभाववेदना की सज्ञा देते है, क्यों यह कभी ग्रपने स्वभाव का परित्याग नहीं करती, तो मर्व धर्म को स्वभाववेदना कह सकते हैं।

वस्तुत, विषय-वेदना अन्य चैत्तो से पृथक् है, क्योंकि यदि अन्य चैत्त विषय का अनुभव करते है, तो केवल वेदना विषय का अनुभव आह्नादक, परितापक आकार में करती है।

४ संज्ञा—सज्ञा का स्वभाव विषयिनिमित्त का उद्ग्रहण है। विषय श्रालम्बन का विशेष है, यथा नील-पीतादि। इससे श्रालम्बन की व्यवस्था होती है। उद्ग्रहण का श्रयं निरूपण है, यथा जब हम यह निरूपित करते हैं कि यह नीला है, पीत नही है। सज्ञा का कमं (जब यह मानसी है) नाना श्रिभधान श्रीर प्रज्ञप्ति का उत्पाद है। जब विषय के निमित्त व्यवस्थित होते है, यथा यह नील है, नील से श्रन्य नही है, तभी इन निमित्तों के श्रनुरूप श्रिभधान का उत्पाद हो सकता है।

५ चेतना—चेतना का स्वभाव चित्त का ग्रिभसस्कार करना है। इसका कर्म चित्त का कुशलादि में नियोजन है। ग्रर्थात्, चेतना कुशलादि सम्बन्ध में विषय का ग्रहण करती है, विषय के इस निमित्त का ग्रहण कर वह कर्म करती है। वह चित्त का इस प्रकार तियोजन करती है कि चित्त कुशल, ग्रकुशल, ग्रव्याकृत का उत्पाद करता है।

## श्रालय-विज्ञान की वेदना

यह ग्रालय-विज्ञान स्पष्ट वेदनाग्रो का न प्रभाव है, न ग्रालम्बन । वसुवन्धु कहते हैं— खपेक्षा वेदना तत्न', यहाँ की वेदना उपेक्षा है। ग्रालय उपेक्षा-वेदना से सम्प्रयुक्त है। ग्रालय-विज्ञान ग्रीर ग्रन्य दो वेदनाग्रो में ग्रनुकूलता नही है। यह विज्ञान का ग्राकार ( = दर्शनभाग) ग्रपटुतम है, ग्रीर इसलिए उपेक्षा-वेदना से इसकी ग्रनुकूलता है। यह विज्ञान विषय के ग्रनु-कूल-प्रतिकूल निमित्तो का परिच्छेद नही करता। यह सूक्ष्म है ग्रीर ग्रन्य वेदनाएँ ग्रीदारिक है। यह एकजातीय, ग्रविकारी है ग्रीर ग्रन्य वेदनाएँ विकारशील हैं। यह ग्रविच्छिन्न सन्तान है ग्रीर वेदनाग्रो का विच्छेद होता है।

त्रालय विज्ञान से सम्प्रयुक्त वेदना-विपाक है, क्योकि यह प्रत्यय का ग्राश्रय न लेकर केवल ग्राक्षेपक कर्म से श्रभिनिवृत होती है। यह वेदना कुशलाकुशल कर्म के वल से स्वरस-वाहिनी है, ग्रत यह केवल उपेक्षा हो सकती है। ग्रन्य वेदनाएँ विपाक नही है, किन्तु विपाकज है, क्योकि वह प्रत्यय पर, ग्रनुकूल-प्रतिकूल विषय पर, ग्राश्रित है।

श्रालय की यह वेदना आत्मप्रत्यय का प्रभव है। यदि सत्त्व अपने आलय को स्वकीय अभ्यन्तर आत्मा अवधारित करते हैं, तो इसका कारण यह है कि आलय-विज्ञान सदाकालीन भीर सभाग है। यदि यह सुखा<sup>0</sup> और दु खावेदनाओं से सम्प्रयुक्त होता, तो यह असभाग होता, श्रीर इसमें आत्मसंज्ञा का उदय न होता।

यदि त्रालय उपेक्षा से सम्प्रयुक्त है, तो यह अकुणल कर्म का विपाक कैसे हो सकता है ? ग्राप स्वीकार करते हैं कि शुभ कर्म उपेक्षा-वेदना का उत्पाद करते हैं (कोश ४, पृ० ९०६) ! इसी प्रकार, अकुशल कर्म को समझना चाहिए। वस्तुत, यथा अव्याकृत कुशल-अकुशल के विरुद्ध नहीं है (कुशल-अकुशल कर्म अव्याकृत धर्म का उत्पाद करते हैं), उसी प्रकार उपेक्षा-वेदना सुख-दु ख के विरुद्ध नहीं है।

श्रालय-विज्ञान विनियत चैत्तो से सम्प्रयुक्त नहीं है। वस्तुत 'छन्द' ग्रिभिप्रेत वस्तु की ग्रिभिलाप है। ग्रालय कर्मवल से स्वरसेन प्रवित्तित होता है ग्रीर ग्रिभिलाप से ग्रिपरिचित है। 'ग्रिधिमोक्ष' निश्चित वस्तु का ग्रवधारण है। ग्रालय-विज्ञान ग्रिपटु है, ग्रीर ग्रवधारण से वियुक्त है। 'स्मृति' संस्कृत वस्तु का ग्रिभिस्मरण है। ग्रालय दुर्वल है ग्रीर ग्रिभिस्मरण से रिहत है। 'समिधि' चित्त का एक ग्रर्थ में ग्रासग है। ग्रालय का स्वरसेन प्रवर्त्तन होता है, ग्रीर यह प्रतिक्षण नवीन विषय का ग्रहण करता है। 'प्रज्ञा' वस्तु के गुण ग्रादि का प्रविचय है। ग्रालय सूक्ष्म, ग्रस्पष्ट ग्रीर प्रविचय में ग्रसमर्थ है। विपाक होने से ग्रालय कुशल या विलष्ट चत्तो से सम्प्रयुक्त नहीं होता। कौकृत्यादि चार ग्रिनियत (या ग्रव्याकृत) धर्म विच्छिन्न है। यह विपाक नहीं है।

म्रालय भौर उसके चैतों का प्रकार

वसुबन्धु कहते हैं कि ग्रालय-विज्ञान ग्रनिवृत-ग्रव्याकृत है।

धर्म तीन प्रकार के हैं-कुशल, अकुशल अव्याकृत । अव्याकृत दो प्रकार का है-निवृत, भ्रिनवृत । जो मनोभूमिक आगन्तुक उपक्लेशो से आवृत है, वह निवृत है । इसका विपर्यय अनिवृत है । अनिवृत के चार प्रकार है, जिनमें एक विपाक है । (कोश २, पृ० ३१५)

ग्रालय-विज्ञान एकान्तेन श्रनिवृताव्याकृत है, भौर इसका प्रकार विपाक है। यदि मह कुशल होता, तो प्रवृत्ति (समुदय-दुख) श्रमम्भव होती। यदि यह विलष्ट, ग्रर्थात् भ्रकुशल या निवृताव्याकृत होता, तो निवृत्ति (निरोध-मार्ग) श्रसम्भव होती। कुशल या विलष्ट होने से यह वासित न हो सकता, श्रत श्रालय श्रनिवृताव्याकृत है। इसी प्रकार, श्रालय से सम्प्रयुक्त स्पर्शादि श्रनिवृताव्याकृत है। विपाक से सम्प्रयुक्त स्पर्शादि भी विपाक है। उनके भाकार श्रीर श्रालम्बन भी श्रालय के समान श्रपरिच्छिन्न है। ग्रन्य चार श्रीर श्रालय-विज्ञान से यह नित्य श्रनुगत है।

# प्रतीत्यसमृत्पाव

क्या यह श्रालय-विज्ञान एक श्रीर श्रिमिन्न श्राससार रहता है ? श्रयवा, सन्तान में इसका प्रवत्तंन होता है ? क्षणिक होने में यह एक श्रीर श्रिमिन्न नहीं है । यह श्रालय-विज्ञान प्रवाहवर् स्रोत में वर्त्तमान होता है । वसुवन्धु कहते हैं 'नच्च वर्त्तते स्रोतसौघवत्''। श्रत , यह न शाश्वत है, न उच्छिन्न । श्रनादिकाल से यह सन्तान विना उच्छेद के श्रव्युपरत प्रवाहित होतांहै । यह सन्तान वीजो को धारण करता है श्रीर उनको सुरक्षित रखता है । यह प्रतिक्षण उत्पन्न श्रीर निरुद्ध होता है । यह पूर्व से श्रपर में प्रवित्तत होता है । इसका हेतु-फलभाव है । यह उत्पाद श्रीर निरोध है, श्रत यह श्रात्मवत् एक नहीं है, प्रधानवत् (साख्य) शाश्वत नहीं है । 'तच्च वर्त्ततं', इससे शाश्वत सज्ञा व्यावृत्त होती है । 'स्रोत' शब्द से उच्छेद सज्ञा व्यावृत्त होती है ।

आलय-विज्ञान के सम्बन्ध में शुआन-च्वाँग जो कुछ यहाँ कहते हैं, वह प्रतीत्यसमुत्पाद पर भी लागू होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु-फल-भाव की धर्मता है। यह स्रोत के श्रोध के तुल्य शाश्वतत्व श्रीर उच्छेद से अपरिचित है। श्रालय-विज्ञान के लिए भी यही दृष्टान्त है। यथा स्रोत का प्रवाह विना शाश्वतत्व या उच्छेद के सन्तान रूप में सदा प्रवाहित होता है, श्रीर अपने साथ तृणकाष्ठ-गोमयादि को ले जाता है, उसी प्रकार आलय-विज्ञान भी सदा उत्पन्न श्रीर निरुद्ध सन्तान के रूप में न शाश्वत, न उच्छित्र हो, क्लेश-कर्म का श्रावाहन कर सत्त्व को सुगति या दुर्गति में ले जाता है, श्रीर उसका ससार से नि सरण नहीं होने देता। जिस प्रकार एक नदी वायु से विताहित हो तरगों को उत्पन्न करती है, किन्तु उसका प्रवाह उच्छित्र नहीं होता; उसी प्रकार शालय-विज्ञान हेतु-प्रत्ययवश प्रत्युत्पन्न विज्ञान का उत्पाद करता है, किन्तु उसके प्रवाह का विच्छेद नहीं होता। जिस प्रकार जल के तल पर पत्ते श्रीर भीतर मछलियाँ होती है, श्रीर नदी का प्रवाह प्रवित्तत रहता है, उसी प्रकार श्रालय-विज्ञान शाम्यन्तर वीज श्रीर वाह्य चैतों के सहित सदा प्रवाहित होता है। यह दृष्टान्त प्रदक्षित करता है कि श्रालय-विज्ञान हेतु-फल-भाव है, जो श्रनादि, श्रशाश्वत, श्रनुच्छित्र है। स्रोत का श्रर्थ यहाँ हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है। इस विज्ञान की सदा से यह धर्मता रही है कि प्रतिक्षण फलो-

त्पत्ति होती है, श्रौर हेतु का विनाश होता है। कोई विच्छेद नही है, क्यों कि फल की उत्पत्ति होती है। कोई शाश्वतत्व नही है, क्यों कि हेतु का विनाश होता है। ग्रशाश्वतत्व, ग्रनुच्छेद प्रतीत्यसमृत्पाद का नय है। इसीलिए, वसुबन्ध कहते हैं कि ग्रालय-विज्ञान स्रोत के रूप में ग्रन्थपरत प्रवर्त्तित होता है।

माध्यमिक श्रादि से तुलना—मध्यमक (१,१) में प्रतीत्यसमृत्पाद का यह लक्षण दिया है श्रानिरोध श्रनुत्पादं श्रनुच्छेद श्रशाश्वतम् । नागार्जुन ने प्रतीत्यसमृत्पाद को शून्यता का समानार्थक माना है, श्रीर उनके श्रनुसार यह प्रकारान्तर में निर्वाण का दूसरा मुख (श्राववसं) है । शुग्रान-च्वांग का लक्षण इस प्रकार होगा सोत्पादं सनिरोधम् श्रनुच्छेदम् । वह प्रतीत्यसमृत्पाद को सस्वभाव मानता है; क्योंकि वह शालय-विज्ञान का स्वभाव बताया गया है । श्रालय समृत्पाद-स्वभाव है, जो श्रनादिकालिक प्रतीत्यसमृत्पाद, श्रथित् हैतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है ।

जो दृष्टान्त हम नीचे देते हैं, उससे बढकर कौन दृष्टान्त होगा, जो ग्रालय के विविध ग्राकारों को प्रदिश्तित करें ? यह दृष्टान्त लकावतार से उद्धृत किया गया है। शुग्रान-च्वांग (पृ० १७५) इसका उल्लेख करते हैं—क्या समुद्र पवन-प्रत्यय से ग्रभ्याहत हो तरग उत्पादित करता है ? किन्तु, शक्तियों का (जो तरग को उत्पन्न करती हैं) प्रवर्त्तन होता रहता है, ग्रौर विच्छेद नहीं होता, उसी प्रकार विषय-पवन से ईरित हो ग्रालयींघ नित्य विचित्र तरग-विज्ञान (प्रवृत्ति-विज्ञान) उत्पन्न करता है, ग्रौर शक्ति (जो विज्ञान का उत्पाद करती है) प्रवर्त्तित रहती है। इस दृष्टान्त मे प्रवृत्ति-विज्ञानों की तुलना तरगों से दी गई है, जो सार्वेलीकिक विज्ञान-रूपी नित्य स्रोत के तल पर उदित होते हैं।

यह विचार करने की बात है कि यदि इस दृष्टि से देखा जाय, तो विज्ञानवाद विज्ञान-वाद न ठहरेगा, किन्तु अद्वयवाद हो जायगा। अन्यत (पृ० १६७-१६८) शुआन-च्वांग कहते हैं कि उनका आलय-विज्ञान एकजातीय और सर्वगत सदाकालीन मन्तान हे। सक्षेप मे, यह एक प्रकार का ब्रह्म है।

मालय की व्यावृत्ति

एक कठिन प्रश्न यह है कि ग्रालय की व्यावृत्ति होती है या नहीं ? निर्वाण के लाभ के लिए, सर्व धर्म का सुखनिरोध करने के लिए, इस ग्रव्युच्छिन्न प्रवाह को व्यावृत्त करना होता है। प्रश्न यह है कि ग्रालय-विज्ञान की व्यावृत्ति ग्रह्त्व में होती है या केवल महाबोधि-सत्त्व में होती है।

वसुबन्धु 'अर्हत्त्व' शब्द का प्रयोग करते हैं ( विशिका, १ )। स्थिरमित के भनुसार क्षय-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान के लाभ से अर्हत्त्व होता है और उम अवस्था में आलयाश्वित दीष्ठुल्य का निरवशेष प्रहाण होता है। इससे आलय-विज्ञान व्यावृत्त होता है। यही महंत् की अवस्था है। प्रथम आचार्यों के अनुसार 'अर्हत्' से तीन यानों के उन आर्यों से आजय है, जिन्होंने अर्शेक्ष फल का लाभ किया है। यह आचार्य प्रमाण में योगशास्त्र के इस वाक्य को उद्धृत करते हैं ''अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध और तथागत आलय-विज्ञान में समन्वागत नहीं

होते।" यहाँ गुग्रान-च्याँग कहते हैं कि योगशास्त्र में इसी स्थल में यह भी कहा है कि श्रवीवित्तक वोधिसत्त्व में भी श्रालय नहीं होता।

थमंपाल के अनुसार अचला भूमि मे वोधिसत्त्व की 'अवैवर्त्तिक' सज्ञा हो जाती है। इस भूमि से उनमें आलय-विज्ञान नहीं होता और वह भी वसुवन्धु के 'अहंत्' में परिगणित होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन वोधिसत्त्वों ने विपाक-विज्ञान के क्लेश-बीजों का अभी सर्वया प्रहाण नहीं किया है। किन्तु, इनका समुदाचरित चित्त-सन्तान मर्वविणुद्ध है, और इस-लिए आत्मदृष्टि आदि मनस् के क्लेश इस विपाक-विज्ञान में आत्मवत् आलीन नहीं होते, अत इन वोधिसत्त्वों की गणना अहंत् में की गई है।

नन्द के ग्रनुमार प्रथम भूमि ने ही वोधिसत्त्व ग्रवैवित्तिक होता है। प्रथम ग्राचार्य ग्रीर

धर्मपाल इससे सहमत नहीं है। जो कुछ हो, वोधिसत्त्व की कर्घ्व भूमियों में सर्व क्लेश-वीज का प्रहाण होता है। विज्ञान-सन्तान के श्रनास्रव होने से मनम् का इस विज्ञान में श्रात्मवत् श्रधिक श्रभिनिवेश नहीं होता, ग्रत वोधिसत्त्व का विज्ञान श्रालय-मूल की सज्ञा को खो देता है।

भुत्रान-च्यांग कहते है कि हम नहीं मानते कि ग्रालय-विज्ञान की व्यावृत्ति से सर्वप्रकार के भ्रष्टम विज्ञान का प्रहाण होता है।

# श्रत्टम विज्ञान पर शुश्रान च्वाँग का मत

वस्तुत , मव सत्त्वो में अप्टम विज्ञान होता है। किन्तु, भिन्न दृष्टियों के कारण इस अप्टम विज्ञान के भिन्न नाम होते हैं।

इसे चित्त ('चि' धातु से ) कहते है, क्योंकि यह विविध धर्मों से भावित, वीजो से भाचित होता है।

यह ग्रादान-विज्ञान है, क्योंकि यह वीज तथा रूपीन्द्रियों का ग्रादान करता है ग्रीर उनका नाश नहीं होने देता।

यह ज्ञेयाश्रय है, क्योंकि अप्टम विज्ञान क्लिप्ट ग्रीर अनास्रव, सब धर्मों को जो ज्ञेय के विषय है, आश्रय देता है।

यह वीज-विज्ञान है, क्यों कि यह सव लीकिक ग्रीर लोकोत्तर वीजों का वहन करता है।
यह नाम तथा ग्रन्य नाम (मृल, भवाग ससारकोटिनिष्ठस्कन्ध) ग्रष्टम विज्ञान की
सय ग्रवस्थात्रों के ग्रन्कूल है। किन्तु, इसे ग्रालय, विपाक-विज्ञान, विमल-विज्ञान भी कहते
हैं। इसे ग्रालय इसलिए कहते है कि इसमें सर्व साक्लेशिक धर्म सगृहीत है, ग्रीर उनको वह
निरुद्ध होने से रोकता है, क्यों कि ग्रात्मदृष्टि ग्रादि ग्रात्मवत् इममें ग्रालीन है। केवल पृथाजन
श्रीर शैक्षों के ग्रष्टम विज्ञान के लिए ग्रालय-सज्ञा उपयुक्त है, क्यों कि ग्रहंत् ग्रीर ग्रवैवित्तक
वीधिसत्त्व में साक्लेशिक धर्म नहीं होने।

श्रप्टम विज्ञान विपाक-विज्ञान है, क्योंकि ससार के श्राक्षेपक शुभ-श्रशुभ कर्मों के विपाक . का यह फल है। यहसज्ञा पृथाजन, यानद्वय के ग्रार्य तथा सब बोधिसत्त्वों के लिए उपयुक्त है, क्यों कि इन सब सत्त्वों में विपाकभूत ग्रव्याकृत धर्म होते हैं। किन्तु, तथागतभूमि में इस सज्ञा का प्रयोग नहीं होता।

अष्टम विज्ञान विमल-विज्ञान है, क्योंकि यह अति विशुद्ध और अनास्रव धर्मों का आश्रय है। यह नाम केवल तथागत-भूमि के लिए उपयुक्त है।

वसुबन्ध केवल ग्रालय की व्यावृत्ति का उल्लेख करते है, क्यों कि सक्लेशालय के दोष गुरु होते है, क्यों कि दो सास्रव ग्रवस्थाग्रो में से यह पहली ग्रवस्था है, जिनका ग्रार्थ प्रहाण करता है। ग्रव्टम विज्ञान की दो ग्रवस्थाग्रो में विशेष करना चाहिए। एक सास्रव ग्रवस्था है, दूसरी ग्रनास्रव। सास्रव को ग्रालय या विपाक कहते हैं। इसका व्याख्यान ऊपर हो चुका है। ग्रनास्रव एकान्तेन कुशल है। यह ५ सर्वग, ५ प्रतिनियत विषय ग्रीर ११ कुशल चैत्त से सम्प्रयुक्त होता है। यह ग्रकुशल ग्रीर ग्रनियत चैतो से सम्प्रयुक्त नहीं होता। यह सदा उपेक्षा वेदना से सहगत होता है। सर्व धर्म इसका विषय है, क्यों कि ग्रादर्श ज्ञान सर्व धर्म को ग्रालम्बन वनाता है।

श्रालय-विज्ञान के प्रवर्त्तन को व्यावृत्त कर, श्रथित् हेतु-फल-भाव श्रौर धर्मों के नित्य-प्रवाह को व्यावृत्त कर बोधिसत्त्व हेतु-प्रत्यय श्रौर धर्मों की कूरता से श्रपने को स्वतन्त्र करते हैं श्रौर यह केवल विमल-विज्ञान से होता है।

श्रष्टम विज्ञान के पक्ष में श्रागम के प्रमाण श्रीर युक्तियाँ

हीनयान में केवल सात विज्ञान माने गये हैं। किन्तु, शुस्रान-च्वाँग दोनो यानो के भ्रागम से तथा युक्ति से ग्रष्टम-विज्ञान को सिद्ध करते हैं।

महायान — महायान के शास्त्रों में ग्रालय की वड़ी महिमा है। महायानाभिधर्मसूत्र में कहा है कि ग्रालय-विज्ञान सूक्ष्म स्वभाव है ग्रीर इसकी किया से ही इसकी ग्रिमव्यक्ति होती है। यह ग्रनादिकालिक है ग्रीर सब धर्मों का समाश्रय है। बीज-विज्ञान होने से यह हेतु (धातु) है। शक्तियों का श्रविच्छिन्न सन्तान होने से वह धर्मों का उत्पादन करता है। समाश्रय होने से यह ग्रादान-विज्ञान है, क्योंकि यह बीजों का ग्रादान करता है, ग्रीर प्रत्युत्पन्न धर्मों का ग्राश्रय है। इस विज्ञान के होने पर प्रवृत्ति ग्रीर निवृत्ति दोनों होती है। इस विज्ञान के कारण ही प्रवृत्तिभागीय धर्मों का ग्रादान होता है, ग्रीर इसी के कारण निर्वाण का ग्रधिगम भी होता है। वस्तुत, यही विज्ञान निवृत्ति के ग्रनुकूल धर्मों का, निर्वाण के बीजों का, ग्रादान करता है।

सिन्धिनिर्मोचन में कहा है कि आदान-विज्ञान गम्भीर और सूक्ष्म है। वह मव वीजो को धारण करता है और ओघ के समान प्रवित्तित होता है। इस भय से कि कही मूढ पुरुष इसमें आत्मा की कल्पना न करे, मैंने मूढ पुरुषों के प्रति इसे प्रकाशित नहीं किया है। लकावतार में भी आलय को 'ओघ' कहा है, जिसका व्युच्छेद नहीं है और जो सदा प्रवित्तित होता है।

श्रन्य निकायों के सूतों में भी छिपे तौर से श्रालय-विज्ञान को स्वीकार किया है। महासाधिक-निकाय के श्रागम में इसे मूल-विज्ञान कहते हैं। चक्षुविज्ञानादि को मूल की सज्ञा नहीं दी जा सकती। श्रालय-विज्ञान ही श्रन्य विज्ञानों का मूल है। स्थिवर ग्रीर विभज्यवादी इसे 'भवाग-विज्ञान' कहने हैं। 'भव' 'धातुत्रय हैं; 'ग्रग' का ग्रर्थ 'हेतु' है। ग्रत, यह विज्ञान धातुत्रय का हेतु है। एक ग्रानय-विज्ञान ही जो सर्वगत ग्रीर ग्रन्युच्छित्र है, यह विज्ञान हो सकता है।

'वुद्धघोप' के अनुसार यह भवाग ही अगुत्तर (१ ।१०) का 'प्रभाम्बर चित्त' हैं (अत्य-सालिनी, १४०)।

महीणामक ग्रालय को 'समारकोटिनिष्ठस्कन्ध' (कोण, ६११२) कहते हैं। यह वह स्कन्ध-धर्म है, जो ससार के अपरान्त तक अवस्थान करता हैं (व्युत्पित्त में अपरान्तकोटिनिष्ठ हैं)। वस्तुत, ग्रालय-विज्ञान का अवस्थान वज्रोपम-पर्यन्त हैं। रूप का उपरम ग्रारूप्य में होता है। ग्रालय-विज्ञान के व्यतिरिक्त ग्रन्य मवें विज्ञान का उपरम ग्रसजिदेवो में तथा ग्रन्यत होता है। विप्रयुक्त सस्कार रूप तथा चित्त-चैत्त से पृथक् नही हैं। ग्रत, जि स्कन्ध सका उल्लेख महीशासक करते हैं, वह ग्रालय-विज्ञान के ग्रतिरिक्त कुछ ग्रीर नहीं हो सकता।

मर्वास्तिवादियों के एकोत्तरागम में भी 'ग्रालय' का उल्लेख हैं। इस सूत्र में कहा है, सत्त्व ग्रालय में रत होने हैं, उसमें उनको समोद होता हैं (ग्रगुत्तर, २।१२१ 'ग्रालयारामा भिक्खवे पजा ग्रालयरना ग्रालयस [म्] मृदिता')। इस वचन से स्पष्ट हैं कि ग्रालय राग का ग्रालम्बन हैं। इसमें सत्त्वों का नवतक ग्रासग होता है, जवतक बज्ञोपम समाधि द्वारा ग्रालय का विच्छेद नहीं होना। इसे वह ग्रपनी ग्राध्यात्मिक ग्रात्मा ग्रवधारित करते हैं। कामवीतराग योगी ग्रीर ग्रायं में भी ग्रात्मस्नेह होता हैं, यधिप वह पचकामगुणों से विरक्त होते हैं। पृथाजन ग्रीर ग्रीक्ष दोनों का ग्रिभप्वग ग्रालय-विज्ञान में होता है, चाहे ग्रन्य उपादान-स्कन्धों में उनकी रित हो या न हो। इसलिए, एकोत्तरागम को ग्रालय ग्रव्द से 'ग्रालय-विज्ञान' इष्ट हैं।

# १ बीजघारक चित्त

श्रालय को सिद्ध करने में युक्ति यह है कि वह चित्त बीजों का धारक है। यदि यह नहों, तो कोई श्रन्य चित्त नहीं है, जो साक्त्रेणिक श्रीर व्यावदानिक धर्मों के बीजों को धारण करे।

मौत्रान्तिक (मृल)— कहते हैं कि स्कन्ध वासित होते हैं ग्रीर वीजो को धारण करते हैं। वार्ष्टीन्तिको के अनुमार पूर्व क्षण ग्रपर क्षण को वामित करता है। ग्रन्य सौत्रान्तिक कहते हैं कि विज्ञान-जानि वामित होती है। णुग्रान-च्वांग कहते हैं कि यह तीनो मत ग्रयुक्त है। पच-स्कन्ध वीजो को धारण नहीं करने। प्रवृत्ति-विज्ञानों का विच्छेद निरोध-समापत्ति में तथा ग्रन्य चार ग्रामित्रक ग्रवस्थाग्रों (निद्रा, मूच्छों, ग्रसिज्ञ-समापत्ति, ग्रसिज्ञदेव) में होता है। ग्रत, वह निरन्तर वीजो को धारण नहीं कर सकते। विज्ञानों की उत्पत्ति इन्द्रिय-ग्रथं-मनस्कार से होती हैं ग्रीर यह कुणल-ग्रकुशल-ग्रव्याकृत इन विज्ञातीय स्वभावों के होते हैं। ग्रत, वह एक दूसरे को वामित नहीं कर सकते।

श्रत , यह स्पष्ट हैं कि सूत्र का इन प्रवृत्ति-विज्ञानों से आश्रय नहीं हैं, क्योंकि यह वीजों का श्रादान नहीं करते। यह इस श्रर्थ में चित्त नहीं है कि यह धर्मी के बीजों का सच्य करते हैं। इसके श्रतिरिक्त श्रालय-विज्ञान, जो सदा श्रव्युच्छिन्न रहता है, एकजातीय है, श्रीर तिलपुष्पवत् है, वासित होता है। एक सर्वबीजक चित्तं के ग्रभाव में क्लिष्ट श्रीर श्रनास्रव चित्त, जो प्रवृत्तिधर्म है, बीजो का उत्पादन नहीं करेंगे, ग्रौर पूर्व बीजो की वृद्धि न करेंगे, म्रत उनका कोई सामर्थ्य न होगा। पुन यदि प्रवृत्ति-धर्मी की उत्पत्ति बीजो से नही होती, तो फिर उनकी उत्पत्ति कैसे होगी। क्या ग्राप उनको स्वयम्भू मानते है ? रूप ग्रौर विप्रयुक्त भी सर्वेवीजक नहीं है। यह चित्तस्वभाव नहीं है। यह वीजो का ग्रादान कैसे करेंगे ? चैत उच्छिन्न होते है। इनकी विकल्पोत्पत्ति है। यह स्वतन्त्र नही है। यह चित्तस्वभाव नहीं है। भ्रतः, यह वीजो को धारण नही करते । इसलिए, हमको प्रवृत्ति-विज्ञान से भिन्न एक चित्त मानना होगा, जो सर्वबीजक है।

एक सौन्नान्तिक मानते है कि छ प्रवृत्ति-विज्ञानो का सदा उत्तरोत्तर उदय-व्यय होता है, भ्रौर यह इन्द्रिय-भ्रयादि का सिन्नश्रय लेते है। प्रवृत्ति -विज्ञान के क्षणो का द्रव्यत्व में भ्रन्यथात्व होता है, किन्तु यह सब क्षण समान रूप से विज्ञप्ति है। विज्ञान-जाति का ग्रन्यथात्व नहीं होता । यह अवस्थान करती है । यह वासित होती है। यह जाति मर्ववीजक है । अत , इनके मत मे साक्लेणिक ग्रौर व्यावदानिक धर्मों के हेतु-फल-भाव का निरूपण करने के लिए

म्रष्टम विज्ञान की कल्पना ग्रनावश्यक है।

इस मत का खण्डन करने के लिए शुग्रान-च्वांग चार युक्तियां देते है ---

१ यदि आपकी विज्ञान-जाति एक द्रव्य है, तो आप वैशेषिको के समान 'सामान्य-विशेष' को द्रव्य मानते हैं। यदि यह प्रज्ञप्तिमत् है, तो जाति-बीजो की धारक नहीं हो मकती, क्योकि प्रज्ञप्तिसत् होने से यह सामर्थ्य-विशेष से रहित है।

२ ग्रापकी विज्ञान-जाति कुणल है या ग्रकुणल ? क्योकि यह ग्रव्याकृत नहीं है, इसलिए यह वासित नहीं हो सकती। क्या यह अव्याकृत है ? किन्तु, यदि चित्त कुशल या म्रकुशल है, तो कोई ग्रव्याकृत चित्त नही है। ग्रापकी विज्ञान-जाति यदि ग्रव्याकृत ग्रौर स्थिर है, तो यह व्युच्छिन्न होगी। वस्तुत, यदि द्रव्य कुणल-अकुशल है, तो जाति अव्याकृत नहीं हो सकती। महासत्ता के विपक्ष में विशेष सत्ता का वही स्वभाव होगा, जो द्रव्यो का है।

३. ग्रापकी विज्ञान-जाति सज्ञाहीन ग्रवस्थाग्रो में तिरोहिन होती है। यह स्थिर नहीं है। इसका नैरन्तर्य नहीं है। ग्रत, यह वासित नहीं हो मकती ग्रीर सवीजक

नहीं है।

¥. ग्रन्तत , जब ग्रहत् ग्रौर पृथग्जन के चिन्न की एक ही विज्ञान-जाति है, तब क्लिण्ट श्रीर श्रनास्रव धर्म एक दूसरे को वासित करेगे। क्या ग्राप इस निरर्थक वाद को स्वीकार करते है ? इसी प्रकार, विविध इन्द्रियों की एक ही जानि होने से वह एक दूसरे को वासित करेंगी। किन्तु, इसका न्नाप प्रतिषेध करते हैं। ग्रत , ग्राप यह नहीं कह सकते कि विज्ञान-जाति वामित होती है। दार्ष्टीन्तिक कहता है कि चाहे हम द्रव्य का विचार करें या जानि का, प्रवृत्ति-विज्ञानो के दो समनन्तर क्षण सहभू नही है। अत, यह वासित नही हो मकते, क्योंकि वासित करने-बाले और वासित होनेवाले को सहभू होना होगा।

सोत्रान्तिक मतो की परीक्षा समाप्त होती है। श्रय हम श्रन्य निकायों की परीक्षा करेगे।

महसाधिक—महासाधिक विज्ञान-जाति को विचार-कीटि में नहीं लेते। यह मानते हैं कि प्रवृत्ति-विज्ञान सहभू हो सकर्त हैं। किन्तु, यह वासना के वाद को नहीं मानते। ग्रतः, प्रवृत्ति-विज्ञान सवीजक नहीं है।

स्थिवर — यह वीज-द्रव्य के ग्रस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इनके ग्रनुसार रूप या चित्त का पूर्व क्षण स्वजाति के ग्रनुसार उत्तर क्षण का वीज होता है। इस प्रकार, हेतु-फल-परम्परा व्यवस्थापित होती है। यह वाद ग्रयुक्त है, क्यों कि —

9 यहाँ वासना का कोई कृत्य नहीं है। पूर्ण क्षण वासित नहीं करता, श्रयीत् वीज की उत्पत्ति नहीं करता। यह उत्तर क्षण का वीज कैसे होगा, क्योंकि यह उसका सहभू नहीं है ?

२. एक बार व्युच्छिन्न होने पर रूप या चित्त की पुनरुत्पत्ति न हो सकेगी। (जव कर्घ्वं धातु में उपपत्ति होती है, तब रूप-सन्तान व्युच्छिन्न होता है।)

3 दो यानो के ग्रणैक्षों का कोई ग्रन्य स्कन्ध न होगा। उनके स्कन्धों का सन्तान निर्वाण में निरुद्ध न होगा, क्यों कि मरणामन्न ग्रणैक्ष के रूप ग्रौर चित्त ग्रनागत रूप ग्रौर चित्त के बीज हैं।

४ यदि दूसरे ग्राक्षेप के उत्तर में स्थिवर कहते हैं कि रूप ग्रीर चित्त एक दूसरे के बीज हैं (जिससे ऊर्घ्व धातु के भव के पञ्चात् रूप की पुनरुत्पत्ति होती है), तो हम कहेंगे कि न रूप ग्रीर न प्रवृत्ति-विज्ञान वासित हो सकते हैं।

सर्वास्तिवादिन् — त्रैयध्विक धर्मों का ग्रस्तित्व है। हेतु से फल की उत्पत्ति है, जो पर्याय में हेतु है। फिर, क्यो सवीजक विज्ञान की कल्पना की जाय? वस्तुत, सूत्र का वचन है कि चित्त वीज है, चित्त क्लिप्ट शुद्ध धर्मों का उत्पाद करता है। सूत्र ऐसा इसलिए करता है, क्यों कि रूप की अपेक्षा चित्त का सामर्थ्य कही ग्रधिक है, किन्तु इसको यह विवक्षित नहीं है कि चित्त सवीजक है।

यह वाद ग्रयुक्त है, क्योंकि ग्रतीत-ग्रनागत धर्म न नित्य हैं ग्रीर न प्रत्युत्पन्न । ग्राकाशपुष्प की तरह यह ग्रवस्तु है। पुन डनकी कोई किया नहीं है। ग्रत, यह हेतु नहीं हो सकते।

प्रत , ग्रप्टम विज्ञान के ग्रभाव में हेतु-फल-भाव नही होता।

भावविवेक—यह ज़िलक्षणवाद को नहीं मानता। यह लक्षणों का प्रतिषेध करता है, इमिलिए इसे अलक्षण महायान कहते हैं। अनुमानाभास से यह आलय-विज्ञान और अन्य धर्मों का प्रतिषेध करता है। यह नय सूत्र का विरोध करता है। चार आर्यसत्यों की सत्ता का प्रतिषेध करना, हेतु-फल का प्रतिषेध करना मिथ्यादृष्टि है।

किन्तु, भावविवेक कहता है कि हम सवृति-सत्य की दृष्टि से इन सब धर्मों का प्रतिपेध

नहीं करते । हम इनके तत्त्व, सत्य होने का ही प्रतिषेध करते हैं।

शुम्रान-च्याँग कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के तीथिक भी ऐसा ही कहते हैं। यदि धर्म वस्तुसत् नही है, तो बोधिसत्त्व ससार का त्याग करने के लिए, बोधिसम्भार के लिए क्यो प्रयत्न-शील होगे, कौन बुद्धिमान् पुरुष किल्पत शबुग्रो का (क्लेशो का) उन्मूलन करने के लिए शिलापुत्रक (= कुशल धर्म) को लेने जायगा ग्रीर उनका उपयोग सेना की भाँति करेगा?

ग्रत , एक सबीजक चित्त है, जो साक्लेशिक-व्यावदानिक धर्मी का ग्रौर हेतु-फल का समाश्रय है । यह चित्त ग्रालय है ।

## २. विपाकचित्त

श्रालय-विज्ञान के सिद्ध करने के लिए हम एक युक्ति दे चुके हैं कि यह बीजो का घारक है। दूसरी युक्ति यह है कि सूत्र के श्रनुसार एक विपाक-चित्त है, जो कुशल-श्रकुशल कर्म से श्रिभिनिवृत होता है। यदि श्रालय नहीं है, तो इस विपाक-चित्त का श्रभाव होता है।

9. छ विज्ञान व्युच्छिन्न होते है। यह सदा कर्म-फल नहीं होते। यह विपाक-चित्त नहीं है। हम जानते हैं कि जो धर्म विपाक है, उनका पुन. प्रतिसन्धान एक बार व्युच्छिन्न होने पर नहीं होता (यथा जीवितेन्द्रिय)। जब विज्ञानषट्क कर्म से अभिनिवृंत होता है; यथा शब्द, तब उनका निरन्तर सन्तान नहीं होता। अतः, वह विपाकज है, विपाक नहीं है।

२ एक विपाक-चित्त मानना होगा कि जो ग्राक्षेपक कर्म के समकक्ष है, जो धातुत्रय में पाया जाता है, जो सदाकालीन है, जो भाजन-लोक ग्रौर सेन्द्रियक काय में परिणत होता है, जो सत्त्व का समाश्रय है।

वस्तुत , कि चित्त से पृथक् भाजन-लोक ग्रीर सेन्द्रियक काय नही है । ख विप्रयुक्त (विशेष कर जीवितेन्द्रिय) द्रव्यसत् नही है । ग प्रवृत्ति-विज्ञान सदा नही होते । भ्रालय के ग्रभाव मे कौन भाजनलोक ग्रीर काय मे परिणत होगा ? ग्रन्तत , जहाँ चित्त है वहाँ सत्त्व है , जहाँ चित्त नही है, वहाँ सत्त्व नही है । यदि ग्राप ग्रालय को नही स्वीकार करते, तो कौन-सा धर्म—पाँच ग्रसज्ञि-ग्रवस्थाग्रो मे —सत्त्व का ग्राश्रय होगा ?

३ समापत्ति की ग्रवस्था में, यथा ग्रसमाहित ग्रवस्था में, चाहे समापत्ति में उपनिध्यान हो या न हो, (निरोध-समापत्ति में) सदा कायिकी वेदना होती है। इसी कारण समाधि से व्युत्थान कर योगी सुख या शारीरिक थकावट का ग्रनुभव करता है। ग्रत, समापत्ति की सव ग्रवस्थाग्रो में एक विपाक-चित्त निरन्तर रहता है।

४ हम उन सत्त्वों का विचार करें, जो बुद्ध नहीं है। श्राप यह स्वीकार करते हैं कि क्षण-विशेष में उनके छ विज्ञान श्रव्याकृत श्रौर विपाक होते हैं। जिस काल में इन मत्त्वों के किसी श्रन्य जाति के विज्ञान (कुशल-अकुशल) होते हैं या जब इस जाति के विज्ञान होते है, तब उनका एक विपाक-चित्त भी होता है, क्योंकि जवतक वह बुद्ध नहीं है, तवतक वह सत्त्व है।

## ३. गति श्रीर योनि

सूत्र में उपदिष्ट है कि मत्त्व पाँच गतियो श्रीर चार योनियो में ममरण करते हैं। अप्टम विज्ञान के अभाव मे हम नहीं देखते कि गति श्रीर योनि क्या है।

१ गित को निरन्तर रखनेवाला, सर्वगत, असकीणं द्रव्यसत् होना चाहिए। यदि वह धर्म, जो विपाक नही है, यथा प्रायोगिक कुणल, गित में पर्यापन्न होते, तो गित सकीणं होती। क्योंकि, जब एक सत्त्व (कामधातु का सन्त्व) रूपधातु के एक कुणल-चित्त का उत्पाद करता, तब वह एक ही समय में मनुष्य और देवगित का होता (कोश ३, पृ० १२)। विपाक-रूप (अपचियक से अन्यत्व, कोश १, पृ० ६६) और कर्महेतुक पाँच विज्ञान गित में पर्यापन्न नहीं हैं, क्योंकि आरूप्य में रूप और पचिवज्ञान का अभाव है। सब भवो में उपपत्तिलाभिक धर्म और कर्महतुक मनोविज्ञान होते है। इन धर्मों से नैरन्तर्य नहीं होता।

विप्रयुक्त द्रव्यसत् नही है, अत उनका क्या विचार करना ?

२. केवल विपाक-चित्त ग्रीर सम्प्रयुक्त चैतो में चारो लक्षण होते हैं, ग्रीर यह गित तथा योनि है। तथागत के कोई ग्रव्याकृत, कोई विपाक-धर्म नहीं है। ग्रतः, वह गित-योनि में सगृहीत नहीं है। उनमें कोई सास्रव धर्म नहीं है। ग्रतः, वह धातुग्रो में सगृहीत नहीं है। भगवान् के प्रपच-वीज निरुद्ध हो चूके है।

गति-योनि, विपाक-चित्त ग्रीर तत्सम्प्रयुक्त चैत्त के ही स्वभाव के है। यह वस्तुत विपाक है। यह विपाकज नहीं है। ग्रत यह ग्रप्टम विज्ञान है।

#### ४. उपादान

सूत्र के अनुसार रूपीन्द्रिय काय उपात्त है। मण्टम विज्ञान के मभाव में इस काय का उपादाता कीन होगा ?

यदि पाँच रूपीन्द्रिय ग्रपने ग्रिधिष्ठान के सिहत ( 'शब्द' को वर्जित कर नौ रूपी ग्राय-तन ) उपात्त होते हैं, तो यह श्रवश्य एक चित्त के कारण है, जो उनको स्वीरत करता है। छ प्रवृत्ति-विज्ञानों के ग्रितिरिक्त यह चित्त केवल विपाक-चित्त हो सकता है। यह पूर्वकृत कर्म से ग्राक्षिप्त होता है। यह कुशल-विलष्टादि नहीं है। यह केवल श्रव्याकृत है। यह तीनों धातुश्रों में पाया जाता है, इसका निरन्तर सन्तान है।

सूत का यह कहने का ग्राणय है कि प्रवृत्ति-विज्ञान में उपादान की यो यता नहीं है, क्योंकि वह सभाग नहीं है, धातुत्रय में पाये नहीं जाते ग्रौर इनका निरन्तर सन्तान नहीं होता। सूत का यह कहने का ग्रिभप्राय नहीं है कि केवल त्रिपाक-चित्त में यह सामर्थ्य है, क्योंकि इसका यह ग्रथं होगा कि वृद्ध का रूपकाय जो कुशल ग्रनास्रव है, बुद्ध के चित्त से उपात्त नहीं है, क्योंकि वृद्ध में कोई विपाक-धर्म नहीं है। यहाँ केवल मास्रव काय की वात है ग्रौर केवल त्रिपाक-चित्त इस काय को उपात्त करता है।

## ४. जीवित, उष्म श्रीर विज्ञान

सूत्र के अनुसार जीवित, उष्म और विज्ञान अन्योन्य को आश्रय देकर सन्तान में अव-स्थान करते हैं। हमारा कहना है कि अष्टम विज्ञान ही एक विज्ञान है, जो जीवित और उष्म का समाश्रय हो सकता है।

- 9. शब्द, वायु ग्रादि के समान प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरन्तर्य नही है, ग्रौर यह विकारी है। यह समाश्रय की निरन्तर किया में समर्थ नहीं है। ग्रत, यह वह विज्ञान नहीं है, जिसका सूत्र में उल्लेख है। किन्तु, विपाक-विज्ञान जीवित ग्रौर उष्म के तुल्य व्युच्छिन्न नहीं होता, ग्रौर विकारी नहीं है, ग्रत उसकी यह किया हो सकती है। ग्रतः, यही विज्ञान है, जो जीवित ग्रौर उष्म का समाश्रय है।
- २ सूत्र मे उपदिष्ट है कि यह तीन धर्म एक दूसरे को आश्रय देते है, श्रीर श्राप मानते हैं कि जीवित श्रीर उष्म एकजातीय श्रीर अव्युच्छिन्न है। तो क्या यह मानना युक्त है कि यह विज्ञान प्रवृत्ति-विज्ञान है, जो एकजातीय श्रीर अव्युच्छिन्न नहीं है ?
- ३. जीवित श्रौर उष्म साम्रव धर्म है। ग्रत, जो विज्ञान इनका समाश्रय है, वह ग्रनाम्नव नहीं है। यदि ग्राप श्रष्टम विज्ञान नहीं मानते, तो बताइए कि कौन-सा विज्ञान श्रारूप्य-धातु के सत्त्व के जीवित का ग्राश्रय होगा ( ग्रारूप्य में ग्रनाम्नव प्रवृत्ति-विज्ञान होता है )।

श्रतः, एक विपाक-विज्ञान है। यह श्रष्टम विज्ञान है।

## ६ - प्रतिसन्धि-चित्त श्रोर मरण-चित्त

१. सूत्रवचन है कि प्रतिसिन्ध ग्रीर मरण के सभी सत्त्व ग्रिचित्तक नहीं होते। समाहित्त-चित्त नहीं होते, विक्षिप्त-चित्त होते हैं। प्रतिसिन्ध-चित्त ग्रीर मरण-चित्त केवल ग्रष्टम विज्ञान है। इन दो क्षणों में चित्त तथा काय ग्रस्विप्तका निद्रा या ग्रितिमूर्च्छों की तरह मन्द होते हैं। पटु प्रवृत्ति-विज्ञान उत्थित नहीं हो पाते।

इन दो क्षणों में छः प्रवृत्ति-विज्ञानों की न सिविदित विज्ञप्ति-किया होती है, न इसका सिविदित आलम्बन होता है। अर्थात्, उस समय इन विज्ञानों का समुदाचार नहीं होता, जैसे प्रचित्तक श्रवस्था में उनका समुदाचार नहीं होता। क्योंकि, यदि प्रतिसिन्ध-चित्तं और मरण-चित्त, जैसा कि आपका कहना है, प्रवृत्ति-विज्ञान है, तो उनकी विज्ञप्ति-किया और उनका आलम्बन सिविदित होना चाहिए।

इसके विरुद्ध श्रष्टम विज्ञान श्रित सूक्ष्म श्रीर श्रसविदित होता है। यह श्राक्षेपक कर्म का फल है, श्रत यह वस्तुत विपाक है। एक नियतकाल के लिए यह एक श्रव्युच्छिन्न श्रीर एकजातीय सन्तान है। इसी को प्रतिसन्धि-चित्त श्रीर मरण-चित्त कहते हैं। इसी के कारण इन दो क्षणों में सत्त्व श्रचित्तक नहीं होता श्रीर विक्षिप्त चित्त होता है।

२. स्थिवरो के अनुसार इन दो क्षणों में एक सूक्ष्म मनोविज्ञान होता है, जिसकी विज्ञप्ति-क्रिया और श्रालम्बन असविदित है।

यह सूक्ष्म विज्ञान ग्रप्टम विज्ञान ही हो सकता है; वयोकि कोई परिचित मनोविज्ञान ग्रसविदित नहीं है।

३. मरण के समीप 'शीत' स्प्रप्टव्य काय में ईपत्-ईपत् उत्पन्न होता है। यदि कोई ग्रप्टम विज्ञान न हो, जो काय को स्वीकृत करना है, तो शनै -शनै शीत का उत्पाद न हो। यह ग्रप्टम विज्ञान काय के सब भागों को उपात्त करता है। जहाँ से यह श्रपना उपग्रहण छोडता है, वहाँ शीत उत्पन्न होता है, क्योंकि जीवित, उष्म ग्रीर विज्ञान श्रमम्प्रयुव्त नहीं है। जिस भाग में शीतोत्पाद होता है, वह सत्त्वाख्य नहीं रहता।

पहले पाँच विज्ञानों के विशेष श्राश्रय हैं। यह समस्त काय को उपगृहीत नहीं करते। शेष रहा छठा विज्ञान—मनोविज्ञान। यह काय में सदा नहीं पाया जाता। यह प्राय व्युच्छिन्न होता है, श्रौर हम नहीं देखते कि तब शीतोत्पाद होता है। इसका श्रालम्बन स्थिर नहीं है।

ग्रत , श्रष्टम विज्ञान सिद्ध है।

## ७. विज्ञान श्रौर नामरूप

सूत्र के ग्रनुसार नामरूप-प्रत्ययवण विज्ञान होता है, श्रीर विज्ञान-प्रत्ययवण नामरूप होता है। यह दो धर्म नडकलाप के सदृश ग्रन्योन्याश्रित है ग्रीर एक माथ प्रवित्तत होते हैं। प्रश्न है कि यह कौन-सा विज्ञान है ?

इसी सूत्र में नामरूप का व्याख्यान है नामन् से चार ग्ररूपी स्कन्ध ग्रौर रूप से कललादि समझना चाहिए। यह द्विक नामरूप (पचस्कन्ध) ग्रौर विज्ञान नडकलाप के समान ग्रन्योन्याश्रय से ग्रवस्थित है। यह एक दूसरे के प्रत्यय है, यह सहभू है ग्रौर एक दूसरे से पृथक् नही होते।

क्या ग्रापका यह कहना है कि इस नामन् से पचिवज्ञान-काय इष्ट है, ग्रीर जो विज्ञान इस नामन् (ग्रीर रूप) का ग्राश्रय है, वह मनोविज्ञान है किन्तु ग्राप भूल जाते हैं कि कललादि ग्रवस्था में यह पाँच विज्ञान नहीं होते, ग्रीर इसलिए उन्हें नामन् की सज्ञा नहीं दी जा सकती।

पुन छ प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरन्तर्य नही है। वह नामरूप के उपादान का सामर्थ्य नहीं रखते। यह नहीं कहा जा सकता कि वह नामरूप के प्रत्यय है।

ग्रत, 'विज्ञान' से सूत को ग्रष्टम विज्ञान इष्ट है।

## प्राहार

सूत्रवचन है कि सब सत्त्व ग्राहार-स्थितिक है। सूत्रवचन है कि ग्राहार चार है— कवडीकार स्पर्ण, मन सचेतन ग्रौर विज्ञान। मन सचेतन छन्द सहवित्तिनी सास्रव चेतना है, जो मनोज्ञ वस्तु की ग्रिभलापा करती है। यह चेतना विज्ञान-सम्प्रयुक्त है, किन्तु इसे ग्राहार की संज्ञा तभी मिलती है, जब यह मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त होती है।

विज्ञानाहार का लक्षण ग्रादान है। यह सास्रव विज्ञान है। पहले तीन ग्राहारों से उपचित होकर यह इन्द्रियों के महाभूतों का पोषण करता है।

इसमें आठो विज्ञान सगृहीत है, किन्तु यह श्रष्टम है, जो आहार की सज्ञा प्राप्त करता है। यह एकजातीय है, यह सदा सन्तानात्मक है।

इन चारो को 'ग्राहार' इसलिए कहते हैं कि यह सत्त्वों के काय ग्रीर जीवित के भ्राधार है। कवडीकार केवल कामधातु में होता है, ग्रन्य दो तीन धातुग्रों में होते हैं। यह तीन चौथे पर ग्राश्रित हैं। चौथे के रहने पर ही इनका ग्रस्तित्व है।

प्रवृत्ति-विज्ञानों के ग्रतिरिक्त एक ग्रौर विपाक-विज्ञान है। यह एकजातीय (सदा ग्रव्याकृत), निरन्तर, तैधातुक है ग्रौर काय-जीवित का धारक है। भगवान् जब कहते हैं कि सब सत्त्व ग्राहार-स्थितिक है, तब उनका ग्रभिप्राय इस मूल विज्ञान से है।

## ६. निरोध-समापत्ति

सूत्र के अनुसार, "जो सज्ञावेदित-निरोध-समापत्ति मे विहार करता है, उसके काय-वाक्-चित्त-संस्कार का निरोध होता है, किन्तु उसकी आयु परिक्षीण नहीं होती, उष्म व्युपशान्त नहीं होता, इन्द्रियाँ परिभिन्न नहीं होती और विज्ञान काय का परित्याग नहीं करता।" यह विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है। अन्य विज्ञान के आकार औदारिक और चचल है। सूत्र को एक सूक्ष्म, अचल, एकजातीय, सर्वगत विज्ञान इष्ट हैं, जो जीवितादि का आदान करता है।

सर्वास्तिवादी के अनुसार यदि सूत्रवचन है कि विज्ञान काय का परित्याग नहीं करता, तो इसका यह कारण है कि समापत्ति से व्युत्थान होने पर विज्ञान की पुनरुत्पत्ति होती है। वह नहीं कहते कि चित्त-संस्कारों का इस समापत्ति में निरोध होता है, क्यों कि चित्त या विज्ञान का उत्पाद और निरोध उसके संस्कारों के साथ होता है। या तो संस्कार काय का त्याग नहीं करते या विज्ञान काय का त्याग करता है।

जीवित, उष्म, इन्द्रिय का वही हाल होगा, जो विज्ञान का। श्रत , जीवितादि के समान विज्ञान काय का त्याग नहीं करता।

यदि वह काय का त्याग करता है, तो यह सत्त्वाख्य नहीं है। कोई कैसे कहेगा कि निरोध-समापत्ति में पुद्गल निवास करता है।

यदि यह काय का त्याग करता है, तो कौन इन्द्रिय, जीवित, उष्म का ग्रादान करता है? ग्रादान के श्रभाव में यह धर्म निरुद्ध होगे।

यदि यह काय का त्याग करता है, तो प्रतिस धान कैसे होगा ? व्युत्यान-चित्त कहीं मे

वस्तुत , जब विपाक-विज्ञान काय का परित्याग करता है, तब इसकी पुनरुत्पत्ति पुनर्मव के लिए ही होती है।

सीत्रान्तिक (दार्प्टान्तिक) मानते हैं कि निरोध-ममापत्ति में चित्त नही होता। यह कहते हैं कि दो धर्म ग्रन्योन्यवीजक हैं—चित्त ग्रीर सेन्द्रियक काय। चित्त उस काय का वीज है, जो ग्रारूप्य-भव के पश्चात् प्रतिसन्धि ग्रहण करता है, ग्रीर काय (रूप) उस चित्त का वीज है, जो ग्रचित्तक समापत्ति के पश्चात् होता है।

यदि समापत्ति की अवस्था में वीजधारक विज्ञान नही है, तो अवीजक व्युत्यान-चित्त की कैसे उत्पत्ति होगी ? हमने यह सिद्ध किया है कि अतीत, अनागत, विष्ठयुक्त वस्तुमत् नहीं है और रूप वासित नहीं होता तथा वीज का धारक नहीं होता। पुन विज्ञान श्रचित्तक अवस्थाओं में रहता है, क्योंकि इन अवस्थाओं में इन्द्रिय-जीवित-उप्म होते हैं; क्योंकि यह अवस्थाएँ सत्त्वाख्य की अवस्थाएँ हैं। अत, एक विज्ञान है, जो काय का त्याग करता है।

ग्रन्य सौतान्तिको का मत है कि निरोध-समापत्ति में मनोविज्ञान होता है। किन्तु, इस समापत्ति को ग्रचित्तक कहते हैं। सौतान्तिक उत्तर देते हैं कि यह इसलिए हैं कि पचिवज्ञान का वहाँ ग्रभाव होता है। हमारा कथन है कि इस दृष्टि से सभी समापत्तियो को 'ग्रचित्तक' कहना चाहिए। पुन मनोविज्ञान एक प्रवृत्ति-विज्ञान है। उसलिए, इस समापत्ति में इसका ग्रभाव होता है, जैसे ग्रन्य पाँच का होता है।

यदि इनमें मनोविज्ञान है, तो तत्सम्प्रयुक्त चैत्त भी होना चाहिए। यदि वह है, तो मूलवचन क्यो है कि वहाँ चित्त-सस्कार (वेदना ग्रीर सज्ञा) का निरोध होता है ? इसे सज्ञा-वेदित निरोध-समापत्ति क्यो कहते है ?

जव सौवान्तिक यह मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चेतना श्रौर ग्रन्य चैत होते हैं, तब उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि इसमे वेदना श्रौर सज्ञा भी होती है। किन्तु, यह सूबवचन के विरुद्ध है। ग्रत, इस समापिन में चैत नहीं होते।

एक सौत्रान्तिक (भवन्त वसुमित्र ) कहते हैं कि समापत्ति में एक सूक्ष्म चित्त होता है, किन्तु चैत नहीं होतें ।

यदि चैत नहीं है, तो चित्त भी नहीं है। यह नियम है कि धर्म नहीं होता, जब उमके संस्कारों का श्रभाव होता है

यह सीवान्तिक मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चैनों से ग्रसहगत मनोविज्ञान होता है। इसके विरोध में हम यह सूत्र उद्भृत करते हैं — "मनस् ग्रौर धर्मों के प्रत्ययवश मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। तिक का मन्निपात म्पर्श है। स्पर्श के साथ ही चेदना, सज्ञा ग्रौर चेतना होती है।" यदि मनोविज्ञान है, तो विक-सिन्नपातवश स्पर्श भी होगा ग्रौर चेदनादि जो स्पर्श के साथ उत्पन्न होते हैं, वह भी होगें। हम कैसे कह सकते हैं कि निरोध-समापत्ति में चैतों से ग्रसहगत मनोविज्ञान होता है। पुन यदि निरोध-समापत्ति चैतों से वियुक्त है, तो उसे चैत-निरोध-समापत्ति कहना चाहिए।

हमारा सिद्धान्त यह है कि निरोध-ममापत्ति मे प्रवृत्ति-विज्ञान काय का परित्याग करते हैं, श्रीर जब सूत्र कहता कि विज्ञान काय का त्याग नहीं करता, तब उसका श्रिभिप्राय श्रष्टम विज्ञान से है। जब योगी निरोध-समापत्ति में समापन्न होता है, तब उसका श्राशय शान्त-शिव श्रादान-विज्ञान को निरुद्ध करने का नहीं होता।

यही युक्तियाँ असज्ञिसमापत्ति और श्रसज्ञिदेवो के लिए हैं।

## १०. संक्लेश-व्यवदान

सूत्र में उक्त है कि "चित्त के सक्लेश से सत्त्व सक्लिष्ट होता है; चित्त के व्यवदान से सत्त्व विशुद्ध होता है।"

इस लक्षण का चित्त ग्रष्टम विज्ञान ही हो सकता है।

संक्लेश—साक्लेशिक धर्म तीन प्रकार के है— १० तैधातुक क्लेश, जो दर्शन-हेय ग्रीर भावना-हेय है; २ अकुशल, कुशल सास्रव कर्म, ३० आक्षेपक कर्म का फल, परिपूरक कर्म का फल।

१. क्लेश-बीजो के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव में क्लेशोत्पत्ति असम्भव हो जाती है। जब (क) धातु का भूमि-सचार होता है, जब (ख) अक्लिष्ट चित्त की उत्पत्ति होती है।

२. कर्म ग्रीर फल के बीजों के धारक ग्रष्टम विज्ञान के ग्रभाव में कर्म ग्रीर फल की उत्पत्ति ग्रहेतुक होगी, चाहे वह धातु-भूमि-सचार के पश्चात् हो या निरुद्ध स्वभाव के धर्म की उत्पत्ति के पश्चात् हो।

हम जानते हैं कि रूप और अन्य धर्म बीज-धारक नहीं है। हम जानते है कि अतीत

धर्म हेतु नही है।

किन्तु, यदि कर्म और फल की उत्पत्ति ग्रहेतुक है, तो तैधातुक कर्म ग्रीर फल उस योगी के लिए क्यो न होगे, जो निरुपिधशेष निर्वाण में प्रवेश कर गया है ग्रीर क्लेश भी हेतू के विना उत्पन्न होगे।

प्रवृत्ति (प्रतीत्यसमुत्पाद, सस्कार) तभी सम्भव है, जब सस्कार-प्रत्ययवश विज्ञान हो। यदि प्रष्टम विज्ञान न हो, तो यह हेतु-प्रत्ययता सम्भव नहीं है। यदि सस्कार से उत्पन्न विज्ञान 'नामरूप' में सगृहीत विज्ञान होता, तो सूत्र में यह उक्त होता कि सस्कार-प्रत्ययवश नामरूप होता है।

स्थिरमित (पृ०३७-३८) कहते हैं कि आलय-विज्ञान के विना ससार-प्रवृत्ति युक्त नहीं है। ग्रालय-विज्ञान से अन्य सस्कार-प्रत्यय-विज्ञान युक्त नहीं है। सस्कार-प्रत्यय-विज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति का भी अभाव है। यदि आलय-विज्ञान नहीं है, तो सस्कार-प्रत्यय-प्रतिसन्धि-विज्ञान की कल्पना या सस्कारभावित षड्विज्ञान-काय की कल्पना हो सकती है। प्रतिसन्धि-विज्ञान की कल्पना या सस्कारभावित षड्विज्ञान-काय की कल्पना हो सकती है। किन्तु, पहले विकल्प में जो सस्कार-प्रातिसन्धिक विज्ञान के प्रत्यय इष्ट हैं, वह विरकाल हुआ, निरुद्ध हो चुके। जो निरुद्ध है, वह असत् है, और जो असत् है, उसका प्रत्ययत्व नहीं है। यत, यह युक्त नहीं है कि सस्कार-प्रत्यय प्रतिसन्धिवज्ञान है। पुन प्रतिसन्धि के समय नामरूप भी होता है, केवल विज्ञान नहीं होता। किन्तु, सूत्र में है कि सस्कार-प्रत्यय विज्ञान

होता है। सूत्रवचन में 'नामरूप' शब्द नहीं है। उसलिए, कहना चाहिए कि सस्कार-प्रत्यय नामरूप है, विज्ञान नहीं। ग्रीर, विज्ञान-प्रत्यय-नामरूप कहाँ मिलेगा? क्या ग्राप कहेंगे कि उत्तरकाल का नामरूप उच्ट है? तो प्रातिसन्धिक नामरूप से इसमें क्या ग्रात्मातिशय है, जो वही विज्ञान-प्रत्यय हो, पूर्व विज्ञान-प्रत्यय न हो, पूर्व मस्कार-प्रत्यय हो, उत्तर न हो? ग्रत, मस्कार-प्रत्यय नामरूप ही हो। प्रतिमन्धि-विज्ञान की कल्पना से क्या लाभ ? ग्रत. सस्कार-प्रत्यय प्रतिसन्धि-विज्ञान युनत नहीं है। सस्कार-परिभावित पड्विज्ञान भी सस्कार-प्रत्यय-विज्ञान नहीं है। इसका कारण यह है कि यह विज्ञान विपाक-वासना या निष्यन्द-वासना का ग्रपने में ग्राधान नहीं कर मकते, क्योंकि इनमें कारित्र का निरोध है। यह ग्रनागत में भी नहीं कर सकते, क्योंकि उस समय ग्रनागत उत्पन्न नहीं है, ग्रीर जो ग्रनुत्पन्न है, वह ग्रसत् है। उत्पन्न पूर्व भी ग्रसत् है, क्योंक उस समय वह निरुद्ध हो चुका है। पुन निरोध-समापित्त ग्रादि ग्रान्तन ग्रवस्था ग्रो से सम्कार-परिभावित चित्त की उत्पत्त सम्भव नहीं है। विज्ञान-प्रत्यय नामरूप न हो, पडायतन न हो, एव यावत् जातिप्रत्यय जरा-मरण न हो। इससे ससार-प्रवृत्ति ही न हो। इमलिए, ग्रविद्या-प्रत्यय, सस्कार-प्रत्यय, ग्रालय-विज्ञान ग्रीर विज्ञान-प्रत्यय प्रतिमन्धि में नामरूप होता है। यह नीति निर्दोण है।

तीन व्यवदान—व्यावदानिक धर्म तीन प्रकार के हैं—लौकिक मार्ग, लोकोत्तर मार्ग श्रीर क्लेशच्छेद का फल।

इन दो मार्गों के बीजों का धारण करनेवाले ग्रप्टम विज्ञान के ग्रभाव में इन दो भागों का पण्चात् उत्पाद ग्रसम्भव है। क्या ग्राप कहेंगे कि इनकी उत्पत्ति ग्रहेतुक है? तो ग्रापकों मानना होगा कि निर्वाण में वही ग्राथय पुनरुत्पन्न हो सकता है। यदि ग्रप्टम विज्ञान न हों, जो सर्वेदा लोकोत्तर मार्ग के धर्मता-बीज का धारण करता है, तो हम नहीं समझ सकते कि कैसे दर्णन-मार्ग के प्रथम क्षण की उत्पत्ति मम्भव है। बस्तुत, साम्नव धर्म (लोकिकाग्र धर्म) भिन्न स्वभाव के हैं ग्रीर इस मार्ग के हेतु नहीं हो सकते। यह मानना कि प्रथम लोकोत्तर मार्ग ग्रहेतुक है, बौद्धधर्म का प्रत्याख्यान करना है। यदि प्रथम की उत्पत्ति नहीं होती, तो ग्रन्य भी उत्पन्न नहीं होंगे। ग्रत, तीन यानों के मार्ग ग्रीर फल का ग्रभाव होगा।

अष्टम के अभाव में क्लेश-प्रहाण फल असम्भव होगा।

स्थिरमित कहने हैं कि ग्रालय-विज्ञान के न होने पर निवृत्ति भी न होगी। कर्म ग्रीर क्लेश मसार के कारण हैं। इनमें क्लेश प्रधान हैं। क्लेशों के ग्राधिपत्य से कर्म पुनर्भव के ग्राक्षेप में ममर्थ होते हैं, ग्रन्यथा नहीं। इस प्रकार क्लेश ही प्रवृत्ति के प्रधानत सूल हैं। ग्रत, इनके प्रहीण होने पर ससार का विनिवर्त्तन होता है, ग्रन्यथा नहीं। किन्तु, ग्रालय के विना यह प्रहाण युक्त नहीं है। क्यों युक्त नहीं है नम्मुख होने पर क्लेश का प्रहाण हो मकता है या जब उसकी वीजावस्था होती है। यह इन्ट नहीं है कि सम्मुख होने पर क्लेश का प्रहाण हो। प्रहाण-मार्ग में स्थित सत्त्वों का क्लेश, जो वीजावस्था में ही है, नहीं प्रहीण होता। क्लेश-वीज ग्रपने प्रतिपक्ष से ही प्रहीण होता।

बीज से अनुषक्त इष्ट हैं। किन्तु, क्लेशबीजानुषक्त चित्त क्लेश का प्रतिपक्ष नहीं हो सकता और क्लेश-त्रीज के प्रहाण के विना संसार-निवृत्ति सम्भव नहीं हैं। ग्रत, यह मानना होगा कि ग्रालय-विज्ञान अवश्य हैं, जो अन्य विज्ञानों के सहभू क्लेश तथा उपक्लेश से भावित होता हैं, क्यों कि वह अपने बीज से पुष्टि का ग्रादान करता हैं। जब वासना वृत्ति का लाभ करती हैं, तब सन्तित के परिणाम-विशेष से चित्त से ही क्लेश-उपक्लेश प्रवित्ति होते हैं। इनका वीज ग्रालय में व्यवस्थित हैं। यह तत्सहभू क्लेश-प्रतिपक्ष-मार्ग से ग्रपनीत होता हैं। इसके ग्रपनीत होने पर इसके ग्राश्रय से क्लेशों की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार, सोपधिशेष निर्वाण का लाभ होता हैं तथा पूर्व-कर्म से ग्राक्षिप्त जन्म के निरुद्ध होने पर जब ग्रन्य जन्म का प्रतिसन्धान नहीं होता, तब निरुपधिशेष निर्वाण होता हैं। इस प्रकार, ग्रालय-विज्ञान के होने पर ही प्रवृत्ति श्रीर निवृत्ति होती हैं, ग्रन्थथा नहीं।

तुलना—इन विविध युक्तियो ग्रीर ग्रागम के वचनो के ग्राधार पर शुग्रान-च्वाँग सिद्ध करते हैं कि ग्रालय-विज्ञान वस्तुसत् हैं। बौद्धो के धर्मतावाद (फेनामेनिलज्म) को ग्रात्मा के सदृश किसी वस्तु के ग्राधार की ग्रावश्यकतः थी। हम यह भी देखते हैं कि क्षणिक हेतु-फल-भाव का यह ग्रव्युच्छिन्न ग्रोघ प्राचीन प्रतीत्यसमुत्पाद का समुचित रूप था।

शुआन च्वाँग कहते हैं कि आलय-विज्ञान के अभाव में जो धर्मों के वीजो का धारण करता है हेतु-फल-भाव असिद्ध हो जायगा। जैसा हमने ऊपर देखा है, क्षणिक होने के कारण विज्ञान निरन्तर व्युच्छिन्न होते हैं और इसलिए वह स्वत मिलने का सामर्थ्य नहीं रखते, जिसमें वह सूत्र बन सके, जो धर्मों के बीजो का धारण करे और इम प्रकार नैरन्तर्य व्यवस्थापित करे। धर्मों को जोडनेवाली यह कडी और यह नैरन्तर्य आलय-विज्ञान से ही हो सकता है।

आलय-विज्ञान के विना कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी। वस्तुत, आलय के विना धर्म स्वत बीज के वहन में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि अतीत धर्म का अस्तित्व नहीं हैं और वह हेतु नहीं हो सकता। आलय के विना हेतुप्रत्ययता असम्भव हैं।

यह कहा जायगा कि म्रालय-विज्ञान का सिद्धान्त बौद्धों के मूल धर्मवाद का प्रत्याख्यान हैं। नागार्जुन ने सर्वप्रथम इसका प्रत्याख्यान किया था। उन्होंने धर्म-नैरात्म्य, धर्मों की नि स्वभावता का वाद प्रतिष्ठापित किया था। उन्होंने धर्मसज्ञा का विवेचन किया भौर कालवाद का निराकरण किया। उन्होंने सिद्ध किया कि धर्म भून्य है। भुग्रान-च्वांग एक दूसरे विचार से म्रारम्भ करते हैं, किन्तु वह भी धर्मवाद के कुछ कम विरुद्ध नहीं है। क्षणिक धर्मों भौर चैत्तों का निरन्तर उत्पाद एक नित्य म्रधिष्ठान चाहता है, किन्तु बौद्ध-धर्म के मूल विचार इस कल्पना के विरुद्ध है।

शुश्रान-च्वाँग श्रालय-विज्ञान की नितान्त ग्रावश्यकता मानते हैं, वयोकि इसके विना मत्त्व गति-योनि मे ससरण नहीं कर सकते । विज्ञानवाद तथा उपनिषद्-वेदान्त-साख्य-वैशेषिक विचारों में भेद इतना ही है कि यह मानते है कि श्रिधण्ठान (जिसे यह श्रात्मा या पुरुष कहते हैं) नित्य श्रीर स्थिर द्रव्य हैं, जब कि विज्ञानवादी मानते हैं कि यह श्राश्रय उन्हीं धर्मों का समुदाय हैं, जो ग्रनादि है ग्रीर जो ग्रनन्तकाल तक उत्पन्न होते रहेंगे। एक उसको ग्रचल पर्वत की तरह देखता है, दूसरा जलीघ की तरह। विज्ञानवादी ने द्रव्य को ग्रपना पुराना स्थान देना चाहा, किन्तु यह, सत्य है कि इस द्रव्य को उन्होंने एक जलीघ के सदृण माना। पुन इनके ग्रनुसार यह ग्राश्रय स्वय धर्म है ग्रीर पूर्व धर्मों की वामनाग्रो से वना है।

शुग्रान-च्वाँग कहते हैं कि यह त्रालय-विज्ञान ग्रत्यन्त सूक्ष्म है ग्रीर विज्ञप्ति-किया तथा ग्रालम्बन में यह ग्रसविदित है। यह मरण के उत्तर तथा प्रतिमन्धि के पूर्व रहता है। पुन यह प्रतिसन्धि-चित्त ग्रीर मरण-चित्त है। यह विज्ञान का ग्रालय जो ग्रनियन ग्रीर ग्रस-विदित है, जो प्रतिमन्धि-काल से विद्यमान है, जो ग्रस्विनका निद्रा में ही प्रकट होता है। यह ग्रात्मा का रूपान्तर नहीं है तो क्या है?

यहाँ ग्रालय-विज्ञान के वही लक्षण है, जो ग्रात्मा के हैं, ग्रीर इसके सिद्ध करने के लिए शुग्रान-च्याँग ने जो प्रमाण दिये हैं, वही प्रमाण कुछ वेदान्ती ब्रह्मन-ग्रात्मन् को सिद्ध करने के लिए देंगे। कलल में, सुपुष्ति मे, मरणासन्न पुरुप में, नामरूप के ग्रमाव में जब विज्ञान-विश्नेप नहीं होते, केवल यह ग्रस्पष्ट, सर्वगत विज्ञान शेप रहा जाता है। इसके विना इन क्षणों में स्थित नहीं होती। ग्रालय-विज्ञान की सिद्धि इमसे भी होती है कि काय-जीवित को धारण करने के लिए विज्ञानाहार की ग्रावश्यकता है। यह ग्रालय एकजातीय, सन्तानात्मक ग्रीर निरन्तर है। यह काय-जीवित का धारक है। काय के लिए यह जीवितेन्द्रिय के समान है। चित्त का यह ग्रावश्यक धारक है। यह मर्व चित्त ग्रीर जीवन का ग्राधार है। ग्रालय-विज्ञान ग्रीर धर्म ग्रन्थोन्य हेतु-प्रत्यय है ग्रीर सहभू हैं।

विपाक-विज्ञान का सविभग विवेचन समाप्त हुग्रा। ग्रव हम मननाख्य द्वितीय परिणाम का विचार करेंगे।

#### विज्ञान का द्वितीय परिणास 'मन'

यह दितीय परिणाम है। वमुबन्धु विशिका में कहते हैं—"ग्रालय-विज्ञान का ग्राश्रय लेकर ग्रीर उसको ग्रालम्बन बनाकर मनस् का प्रवर्तन होना है। यह मन्यनात्मक है।" यह मनोविज्ञान से भिन्न है। यह मनोविज्ञान का ग्राश्रय है। पूसें कहते हैं कि प्राचीन बौद्ध-धर्म में छ विज्ञान माने गये थे — चक्षुविज्ञानादि पचित्रानकाय ग्रीर मनोविज्ञान, जो इन्द्रियार्थ ग्रीर ग्रतीतादि धर्म का ग्रहण करता है। यह विज्ञान निरन्तर व्युच्छिन्न होते है। विज्ञानवाद में एक सातवां विज्ञान मनस् ग्रीर एक ग्राठवां ग्रालय ग्रधिक है। मनम् मनोविज्ञान से भिन्न है। मनस् ग्रन्तरिन्द्रिय, ग्रन्त करण है, क्योंकि यह केवल ग्रालय को ही ग्रालम्बन बनाता है। यह मनस् ग्रालय के समान सन्तान में उत्पन्न होता है। निद्रादि ग्रचित्तकावस्था में इनका ग्रवस्थान होता है। विज्ञानवादी कहता है कि यह सूक्ष्म है। यह मनस् ग्रार्थ में ग्रनास्नव तथा ग्रन्य सत्त्वों में सदा क्लिप्ट होता है। मनस् को प्राय 'क्लिप्ट मनस्' कहते हैं। इसी के कारण पृथग्जन ग्रार्थ नहीं होता, यद्यप उसका मनोविज्ञान ग्रार्थ का क्यों न हो।

शुग्रान-च्वाँग कहते हैं कि मनस् का ग्राश्रय ग्रालय-विज्ञान है। सब चित्त-चैत्तों के तीन ग्राश्रय हैं: १. हेतु-प्रत्यय ग्राश्रय—यह प्रत्यय-बीज है, जिसे पूर्वधर्म छोडते हैं। २ ग्रधिपति-प्रत्यय ग्राश्रय (इसे सहभू-ग्राश्रय भी कहते हैं)। ३. समनन्तर-प्रत्यय ग्राश्रय—यह पूर्वनिरुद्ध मनस् है। मनस् में ग्राठ विज्ञान सगृहीत है। इसे कान्त-प्रत्यय या इन्द्रिय कहते हैं।

हीनयान के लिए यह हेतु-प्रत्ययता पर्याप्त है। प्रत्येक पूर्वधर्म अपर धर्म को उत्पन्न कर निरुद्ध होता है। इसके विपरीत शुग्रान-च्वांग का मत है कि ऐसी हेतु-प्रत्ययता धर्मों की गित का निरूपण करने के लिए अपर्याप्त है। शुग्रान-च्वांग यहां धर्मपाल को उद्धृत करते हैं, जो कहते हैं कि वीजाश्रय में पूर्व-चिरम नहीं है। यह सिद्ध नहीं है कि वीज के विनाश के पश्चात् अकुर की उत्पत्ति होती है। और, यह ज्ञात है कि अर्चि और दीप अन्योन्य-हेतु और सहभू-हेतु है। हेतु-फल का सहभाव है, इसलिए एक अधिपित-प्रत्यय ग्राश्रय की ग्रावश्यकता है। सब चित्त-चत्त इस ग्राश्रय के कारण होते हैं और इसके विना इनका प्रवर्त्तन नहीं होता। इसे सहभू-ग्राश्रय या सहभू-इन्द्रिय भी कहते हैं। इसीलिए, मनस् का ग्राश्रय केवल वीज नहीं हैं, किन्तु ग्रालय-विज्ञान स्वय है।

श्रालय-विज्ञान के लिए प्रश्न है कि क्या इसको सहभू-ग्राश्रय की श्रावश्यकता नहीं है, श्रीर क्या यह स्वयं श्रवस्थान करता है ? श्रयवा क्या यह कहना चाहिए कि यह ग्रन्य मवका प्राश्रय है, श्रीर पर्याय से अन्य सब इसके ग्राश्रय है, श्रीर यह ग्राश्रय उन वीजों के रूप में है, जिन्हें दूसरे उसमें सगृहीत करते हैं ? शुग्रान-च्वांग कहते हैं कि ग्रालय-विज्ञान, जो सवका मूल ग्राश्रय है, स्वय ग्रपने ग्राश्रित मनस् ग्रीर तदाश्रित चित्त-चैत्त (प्रवृत्ति-विज्ञान) का ग्राश्रय लेता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ एक ग्रोर ग्रालय-विज्ञान निरन्तर विज्ञाप्तियों का प्रवर्तन करता है, वहाँ यह सदा विज्ञानों के उच्छेद (वीज) से जो उसमें सगृहीत होते हैं, पुन निर्मित होता है। यह कहना ग्रावश्यक है, क्योंकि इसके विना शुग्रान-च्वांग का ग्रालय-विज्ञान केवल ब्रह्मन्-ग्रात्मन् होता।

समनन्तर प्रत्यय-ग्राश्रय के ग्रभाव में चित्त-चैत्त उत्पन्न नहीं होते । चैत्त प्रत्यय है, कान्त ( = क्रम ) ग्राश्रय नहीं है । किन्तु, चित्त ग्राश्रय है, ग्रत चित्त दोनों है । मनस् के ग्राश्रय

मनस् के आश्रय के सम्बन्ध में हम यहाँ विविध मतों का उल्लेख करेंगे।

नन्द के अनुसार मनस् का आश्रय सम्भूत अप्टम विज्ञान नही है, किन्तु अप्टम विज्ञान के वीज है । यह मनस् के ही बीज है, जो अप्टम मे पाये जाते है, क्योंकि मनस् अन्य्क्लिय है। इस-लिए हम यह नहीं कह सकते कि इसकी उत्पत्ति एक सम्भूत विज्ञान के महभू-आश्रय में होनी है।

धर्मपाल के अनुसार मनस् का आश्रय सम्भूत अष्टम विज्ञान और अष्टम के वीज दोनां है। यद्यपि यह अव्युन्छित्र है, तथापि यह विकारी है, और इमलिए इसे प्रवृत्ति-विज्ञान कर्ने है। अत , हमको कहना चाहिए कि सम्भूत अष्टम इनका महभू-आश्रय है।

हेनु-प्रत्यय-ग्राश्रय---नन्द और जिनपुत्र के ग्रनुसार फलोत्पाद के निए बीज का ग्रवश्य नाश होता है। किन्तु, धर्मपाल कहते हैं कि यह सिद्ध नहीं है कि बीज के विनास के प्र

पश्चात् श्रकुर की उत्पत्ति होती है, श्रीर हम जानते है कि श्रचिं श्रीर दीप श्रन्योन्य-हेतु श्रीर सहभू-हेतु है। वह कहते हैं कि वीज श्रीर सम्भूय धर्म श्रन्योन्योत्पाद करते हैं श्रीर सहभू है। इसीलिए, योगणास्त्र (५। १२) में हेतु-प्रत्यय का लक्षण इस प्रकार दिया है—-श्रनित्य धर्म (बीज श्रीर सम्भूय धर्म) श्रन्योन्य-हेतु है, श्रीर पूर्व वीज श्रपर वीज का हेतु है।

इसी प्रकार महायान-सग्रह में कहा है कि 'ग्रालय-विज्ञान ग्रीर ( सम्भूय ) क्लिष्ट धर्म एक दूसरे के हेतु-प्रत्यय है।' यथा नडकलाप होते है, ग्रीर एक साथ श्रवस्थान करते है। इसी ग्रन्थ मे ( ३८९ । ३ ) ग्रन्यत कहा है कि वीज ग्रीर फल सहभू है।

श्रत , वीजाश्रय में पूर्व-चरिम नही हे । श्रष्टम विज्ञान श्रौर उसके चैतो का श्राश्रय उनके वीज हैं ।

सहभू-ग्राश्रय या ग्रधिपित-ग्राश्रय—नन्द के मत में पाँच विज्ञान (चक्षुविंज्ञानादि) का एकमात्र सहभू-ग्राश्रय मनोविज्ञान है, क्यों कि जव पचिव्ञानकाय का समुदाचार होता है, तव मनोविज्ञान भी ग्रवश्य होता है। जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वह पचिव्ञानों के सहभू-ग्राश्रय नहीं है, क्यों कि पचेन्द्रिय वीजमात्र है, जैसा कि विश्वतिका (कारिका, ६) में कहा है। इस कारिका का यह ग्रभिप्राय है कि द्वादशायतन की व्यवस्था के लिए ग्रीर ग्रात्मा में प्रतिपन्न तीर्थिकों का खण्डन करने के लिए बुद्ध पाँच विज्ञान के वीजों को इन्द्रिय सज्ञा देते हैं।

सप्तम ग्रोर ग्रष्टम विज्ञान का कोई सहभू-श्राश्रय नहीं है, क्योकि इनका वडा सामर्थ्य है ग्रोर इस कारण यह सन्तान में उत्पन्न होते हैं।

मनोविज्ञान की उत्पत्ति उसके सहभू-ग्राश्रय मनस् से है।

स्थिरमित के मत में पाँच विज्ञानों के सदा दो सहभू ग्राश्रय होते हैं पाँच रूपीन्द्रिय ग्रीर मनोविज्ञान । मनोविज्ञान का सदा एक सहभू ग्राश्रय होता है ग्रीर यह मनस् है। जब यह पाँच विज्ञानों का सहभू होता है, तब इसका रूपीन्द्रिय भी ग्राश्रय होता है। मनस् का एक ही सहभू ग्राश्रय है ग्रीर यह ग्रष्टम विज्ञान है। ग्रष्टम विज्ञान विकारी नहीं है। यह स्वत धृत होता है, ग्रत इसका सहभू ग्राश्रय नहीं है।

स्थिरमित नन्द के इस मत को नहीं मानत कि रूपीन्द्रिय पाँच विज्ञानों के बीजमात है। वह कहते हैं कि यदि यह बीज हैं, तो यह हेतु-प्रत्यय होगें, ग्रिधिपित-प्रत्यय नहीं । पाँच विज्ञान के बीज कुगल-ग्रकुशल होगें । ग्रत , पाँच इन्द्रिय एकान्तेन ग्रव्याकृत न होगों, जैसा शास्त्र कहते हैं । पाँच विज्ञान के बीज 'उपात्त' नहीं हैं । यदि पचेन्द्रिय बीज हैं, तो वह उपात्त न होगीं । यदि पाँच इन्द्रिय पाँच विज्ञानों के बीज हैं, तो मनस् को मनोविज्ञान का बीज मानना पडेगा । पुन योगशास्त्र में चक्षुर्विज्ञानादि के तीन ग्राश्रय बताये हैं । यदि चक्षु चक्षुर्विज्ञान का बीज हैं, तो इसके केवल दो ग्राश्रय होगें ।

धर्मपाल इन ग्राक्षेपो को दूर करते है। वह कहते हैं कि इन्द्रिय वीज हैं। किन्तु, यह वह वीज नहीं, जो हेतु-प्रत्यय हैं, जो प्रत्यक्ष पाँच विज्ञानों को जन्म देते हैं, किन्तु यह कर्म-बीज हैं, जो श्रिधिपति-प्रत्यय हैं, जो पचिवज्ञान काय को श्रिभिनिवृंत करते हैं। किन्तु, स्थिरमित इस निरूपण से सन्तुष्ट नहीं है। वह इसका उत्तर देते हैं।

शुभचन्द्र प्राय स्थिरमित से सहमत है। किन्तु, वह कहते हैं कि अष्टम विज्ञान का एक सहभू आश्रय होना चाहिए। वह कहते हैं कि अष्टम विज्ञान भी अन्य विज्ञानों के सदृश एक विज्ञान है। अत, दूसरों की तरह इसका भी एक सहभू आश्रय होना चाहिए। सप्तम और अष्टम विज्ञान की सदा सहप्रवृत्ति होती है। इसके मानने में क्या आपित्त है कि यह एक दूसरे के आश्रय है?

शुभचन्द्र का मत है कि अष्टम विज्ञान (सम्भूय विज्ञान) का सहभू ग्राश्रय मनस् है। जब कामधातु और रूपधातु में इसकी उत्पत्ति हैं, तब चक्षु ग्रादि रूगेन्द्रिय इसके द्वितीय ग्राश्रय होते हैं। बीज का ग्राश्रय सम्भूय ग्रष्टम या विपाक-विज्ञान है। जिस क्षण में वह इसमें वासित होते हैं, तब उनका ग्राश्रय वह विज्ञान भी होता है, जो वासित करता है।

धर्मपाल के मत में पाँच विज्ञानों के चार सहभू आश्रय है-पचेन्द्रिय, मनोविज्ञान, सप्तम, अष्टम विज्ञान । इन्द्रिय पच-विज्ञान के समविषय-आश्रय है, क्यों कि यह उन्हीं विषयों का ग्रहण करती हैं। मनोविज्ञान विकल्पाश्रय है। मनोविज्ञान सिवकल्पक है, किन्तु ग्रविकल्पक विज्ञानों का आश्रय है। मनस् सक्लेश-व्यवदान-आश्रय है, क्यों कि इसपर इनका सक्लेश ग्रथवा व्यवदान आश्रित है। अष्टम विज्ञान मूलाश्रय है। मृनोविज्ञान के दो सहभू आश्रय है—सप्तम और अष्टम विज्ञान । जब पचिवज्ञान इसके आश्रय होते हैं, तब यह अधिक पटु होता है, किन्तु मनोविज्ञान के प्रस्तित्व के लिए पचिवज्ञान आवश्यक नहीं हैं, अत वह उसके आश्रय नहीं माने जाते। मनस् का केवल एक सहभू आश्रय है। यह अष्टम विज्ञान है, यथा लकावतार (१०।२६९) में कहा है—आलय का आश्रय लेकर मन का प्रवर्त्तन होता है। अन्य प्रवृत्ति-विज्ञानों का प्रवर्त्तन चित्त (आलय) और मनस् का आश्रय लेकर होता है।

अष्टम विज्ञान का सहभू आश्रय सप्तम विज्ञान है। योगशास्त्र (६३। ११) में कहा है कि सदा आलय और मनस् एक साथ प्रवित्तित होते हैं। अन्यत्न कहा है कि आलय सदा क्लिप्ट पर आश्रित होता है। 'क्लिष्ट' से 'मनस्' इष्ट है।

यह सत्य है कि शास्त्र में उपदिष्ट है कि तीन श्रवस्थाओं में (श्रहंत् में, निरोध-समापत्ति-काल में, लोकोत्तर मार्ग में) मनस् का श्रभाव होता है। किन्तु, इसका यह अर्थ है कि इन तीन श्रवस्थाओं में निवृत मनस् का श्रभाव होता है, सप्तम विज्ञान का नहीं। इसी प्रकार चार श्रवस्थाओं में (श्रावक, प्रत्येकवुद्ध, अवैवित्तिक वोधिसत्त्व, तथागत) श्रालय की व्यावृत्ति होती है, किन्तु श्रष्टम विज्ञान की नहीं होती।

जब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति काम-रूपधातु में होती है, तब पाँच रूपीन्द्रिय भी आश्रय-रूप में गृहीत होती है। किन्तु, अष्टम विज्ञान के लिए आश्रय का यह प्रकार आवश्यक नहीं है।

ग्रालय-विज्ञान के बीज (बीज-विज्ञान) विषय का ग्रहण नहीं करते। ग्रत , बीज ग्राश्रय नहीं हैं। सम्प्रयुक्त धर्म (चैत्त) का वह विज्ञान ग्राथय है, जिससे वह सम्प्रयुक्त है। इस विज्ञान के ग्राथय भी चैत्त के ग्राथय है।

समनन्तर-प्रत्यय-ग्राश्रय ग्रीर कान्त-ग्राश्रय—नन्द के मत में पचिवज्ञान का उत्तरो-त्तर क्षण-सन्तान नहीं होता; वयोकि इसका ग्रावाहन मनोविज्ञान से होता है। ग्रत, मनोविज्ञान उनका एकमान्न कान्त-ग्राश्रय है। कान्त-ग्राश्रय मार्ग का उद्घाटन करता है ग्रीर पथ-प्रदर्शक होता है। (पचिवज्ञान के समन्तर मनोविज्ञान होता है। चक्षुविज्ञान के क्षण के उत्तर चक्षु-विज्ञान या श्रोद्म-विज्ञान का क्षण नहीं होता, किन्तु मनोविज्ञान का क्षण होता है।)

मनोविज्ञान का सन्तान होता है। पुन पचिव्ञान इसका श्रावाहन कर सकते है। श्रत, छ प्रवृत्ति-विज्ञान इसके क्रान्त-श्राश्रय है।

मप्तम ग्रीर ग्रप्टम विज्ञान का ग्रपना ग्रपना-मन्तान होता है। ग्रन्य विज्ञान इमका ग्रावाहन नहीं करते। ग्रन, सप्तम ग्रीर ग्रप्टम कम से इनके क्रान्त-ग्राश्रय है।

स्थिरमित के मत में नन्द का मत यथार्थ है, यदि हम ग्रवशित्व की ग्रवस्था में, विषय से विज्ञान का महना मन्तिपात होन की ग्रवस्था में, एक ही विषय से सन्तिपात की ग्रवस्था में, पचित्रान का विचार करें। विन्तु विशित्व की ग्रवस्था का, निष्यन्द-विज्ञान का, उद्भूत वृत्ति के विषय का हमको विचार करना है।

वृद्ध तथा श्रन्तिम तीन भूमियों के बोधिसत्त्व विषय-विषात्व से समन्वागत होते हैं। इनकी इन्द्रियों की किया स्वरनेन होती है। यह पर्येषणा से वियुक्त होता है। एक इन्द्रिय की किया दूसरी इन्द्रिय से सम्पन्न हो सकती है। क्या श्राप कहेंगे कि इन श्रवस्थाश्रों में पचिवज्ञान का सन्तान नहीं होता ?

विषय के मित्रपान से पचिवज्ञान की उत्पत्ति होती है। किन्तु, निष्यन्द-विज्ञान का आवाहन-व्यवसाय मनस्कार के वल से, क्लिष्ट अथवा अनास्रव मनस्कार के वल सेहोता है। इन पाँच का (मनोविज्ञान के साथ) विषय में समयधान होता है। आप यह कैसे नहीं स्वीकार करते कि एक विज्ञान (पचिवज्ञान) सन्तान है?

उद्भूत वृत्ति के विषय में सम्मुखीभाव से काय ग्रीर चित्त ध्वस्त हो जाते हैं। उस समय पचिवज्ञानकाय ग्रवश्यमेव सन्तान में उत्पन्न होते हैं।

उष्ण नरक में (ग्रग्नि के उद्मूतवृत्तित्व से) तथा कीडा-प्रदूषिक देवों में ऐसा होता है। ग्रत, पचिव्ञान का कान्त-ग्राध्यय छ विज्ञानों में से कोई भी एक विज्ञान हो सकता है। वस्तुतः, या तो वह ग्रपना ही मन्तान वनाते हैं, या ग्रन्य प्रकार के विज्ञान से उनका ग्रावाहन होता है।

मनोविज्ञान—जब पचित्रान की उत्पत्ति होती है, तब मनोविज्ञान का एक क्षण यवण्य वर्त्तमान होता है। यह क्षण मनोविज्ञान के उत्तर क्षण को श्राकृष्ट करता है, ग्रीर उसका उत्पाद करता है। इस द्वितीय क्षण के यह पाँच क्रान्त-ग्राश्रय नहीं है। ग्रत, पूर्ववर्ती

मनोविज्ञान इसका ऋान्त-आश्रय है। श्रिचित्तकावस्था आदि मे मनोविज्ञान व्युच्छिन्न होता है। जब पश्चात् इसकी पुन उत्पत्ति होती है, तब सप्तम और अष्टम विज्ञान इसके ऋान्त-आश्रय होते हैं।

नन्द का विचार है कि ग्रचित्तकावस्था के पश्चात् मनोविज्ञान का क्रान्त-ग्राश्रय सभाग ग्रतीत क्षण (= इस ग्रवस्था से पूर्व का मनोविज्ञान) होता है। इस बात को नन्द उन पाँच विज्ञानों के लिए क्यों नहीं स्वीकार करते, जिनकी पुनरुत्पत्ति उपच्छेद के पश्चात् होती हे । पचिव्रान के लिए यह बाद युक्त नहीं है, तो मनोविज्ञान के लिए भी नहीं है।

सप्तम श्रीर श्रष्टम विज्ञान—जब प्रथम वार समता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त मनस् की उत्पत्ति होती है, तब यह प्रत्यक्ष ही मनोविज्ञान के कारण होती है। श्रत , मनोविज्ञान इसका क्रान्त-ग्राश्रय है। मनस् का क्रान्त-ग्राश्रय मनस् भी है।

इसी प्रकार, ग्रादर्श ज्ञान से सम्प्रयुक्त अष्टम विमल विज्ञान की उत्पत्ति सप्तम ग्रीर पष्ठ विज्ञान के फ्रान्त-ग्राश्रय से होती है। ग्रष्टम विज्ञान का कान्त-ग्राश्रय ग्रष्टम भी है।

वर्मपाल का मत-स्थिरमित का सिद्धान्त सुष्ठु नही है।

कौन से धर्म कान्त-ग्राश्रय हो सकते हैं? जो धर्म सालम्बन हैं, जो ग्रिधिपति हैं, जो समनन्तर-प्रत्यय हैं। जिन धर्मों में यह लक्षण होते हैं—ग्रिधिपति-चित्त के पूर्व क्षण—वह उत्तर चित्त-चैत्त के प्रति क्रान्त-ग्राश्रय होते हैं, क्योंकि वह मार्ग का उद्घाटन करते हैं ग्रीर उनको इस प्रकार श्राकृष्ट करते हैं कि उनकी उत्पत्ति होती है। यह केवल चित्त हैं, चैत या रूपादि नहीं है।

एक ही ग्राश्रय मे ग्राठ विज्ञान एक साथ प्रवर्त्तित हो सकते हैं। एक विसभाग विज्ञान दूसरे विसभाग विज्ञान का क्रान्त-ग्राश्रय कैसे हो सकता है। यदि कोई यह कहे कि यह क्रान्त-ग्राश्रय हो सकता है, तो यह परिणाम निकलता है कि विसभाग विज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते। किन्तु, यह सर्वास्तिवादिन् का मत है।

एक ही आश्रय में भिन्न विज्ञान—चाहे अल्पसंख्या में या बहुसंख्या मे—एक माथ उत्पन्न होते हैं। यदि कोई यह मानता है कि यह एक दूसरे के समनन्तर-प्रत्यय है, तो रूप भी रूप का समनन्तर-प्रत्यय होगा। किन्तु, शास्त्र कहता है कि केवल चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय है।

हमारा सिद्धान्त है कि ग्राठ विज्ञानों में से प्रत्येक स्वजाति के धर्मों का कान्त-ग्राश्रय है। चैतों के लिए भी यही नियम है।

मनस्का श्रालम्बन

ग्रब हम मनस् के ग्रालम्बन का विचार करते हैं। मनस् का ग्रालम्बन वही विज्ञान है, जो उसका ग्राश्रय है, ग्रयित् ग्रालय-विज्ञान है। हम यह भी विचार करेंगे कि ग्रालम्बन ग्रालय-विज्ञान का स्वभाव है या यह केवल उसका ग्राकार है, जिन्हें ग्रालय-विज्ञान स्वरसेन धारण करता है (वीज, चैत, धर्म)।

तत्व का मत—मनस् का ग्रालम्बन ग्रालय-विज्ञान का स्वभाव ग्रीर तत्मम्प्रयुक्त चैत्त है। निमित्तभाग ग्रीर प्रालय-विज्ञान के बीज मनस् के ग्रालम्बन नहीं है। वस्तुत, योगणास्त्र के अनुसार मनस् आत्मग्राह और आत्मीयग्राह में मदा महगत होता है, यह आलय को आत्मवत् ग्रीर तत्मम्प्रयुक्त धर्मी को आत्मीय अवधारित करना है। यह धर्म आलय के चैत है। अत, यह उससे व्यतिरिक्त नहीं है। अत, यह व्याख्यान उन वचनों के विकद्ध नहीं है, जिनके अनुसार मनम् का आलम्बन केवल आलय-विज्ञान है।

चित्रभानु का मत—नन्द का मत अयुक्त है। उनके मत के समर्थन में कोई शास्त्रवचन नहीं है। मनस् का आलम्बन दर्शनभाग और निमित्तभाग है। मनस् इनको कम से आत्म, आदमीय अवधारित करता है। किन्तु, उन दो भागों के स्वभाव आलय में (स्वसवित्ति-भाग में) ही है।

स्थिरमित का मन--चित्रभानु का मन भी श्रयुक्त है। मनम् स्वय श्रालय-विज्ञान भार उनके वीजो को श्रालम्बन बनाता है। यह श्रालय को श्रात्मन् श्रीर बीजो को श्रात्मीय श्रव-धारित करना है। बीज भूतमद्द्रव्य नहीं है, किन्तु प्रवृत्ति-विज्ञान के मामर्थ्यमात्र है।

धमंपाल का मत— स्थिरमित का व्याख्यान ग्रयुक्त है। एक ग्रीर स्प-बीजादि विज्ञान-स्कन्ध नहीं हैं। बीज भूतमन् है। यदि यह सावृत ग्रमन् हो, तो यह हेतु-प्रत्यय न हो। दूसरी ग्रोर मनम् सदा महज मरकायदृष्टि से महगत होता है। यह एकजातीय निरन्तर सन्तान में स्वरसेन प्रवित्तंत होता है। क्या मनम् का ग्रात्मा ग्रीर ग्रात्मीय को ग्रलग-श्रलग ग्रवधारित करना मम्भव है हम नहीं देखते कि कैमे एक चित्त के गाश्वत उच्छेद ग्रादि दो ग्रालम्बन ग्रीर दो ग्राह हो नकते हैं, ग्रीर मनस् के, जो मदा मे एकरम प्रवर्त्तित होता है, दो उत्तरोत्तर ग्राह नहीं हो मकते। धर्मपाल का निश्चय है कि मनस् का ग्रालम्बन केवल दर्शनभाग है, न कि ग्रन्य भाग, क्योंकि यह भाग सदा एकजातीय निरन्तर सन्तान होता है, ग्रीर नित्य तथा एक प्रतीत होता है, ग्रीर क्योंकि यह मब धर्मों का (चैत्तो को वर्जित कर) निरन्तर ग्राश्रय है। इसी भाग को मनस् ग्रध्यात्म ग्रात्मा ग्रवधारित करता है। किन्तु, शास्त्रवचन है कि मनम् में ग्रात्मीयग्राह होता है। यह एक कठिनाई है। हमारा कहना है कि यह भाष्याक्षेप है।

धर्मपाल के मत का यह परिणाम है कि विज्ञानवाद, जो मूल में श्रद्वयवाद था, श्रात्मवाद की श्रोर झुकता है। श्रालय-विज्ञान में एक दर्शनभाग को मुख्यत विधिष्ट करना श्रीर यह कहना कि केवल यही श्राकार, यही भाग, मनस् का श्रालम्बन है, कदाचित् यह कहने के वरावर हो जाता कि श्रालय-विज्ञान श्रव्यक्त ब्रह्म भी नहीं, श्रात्मा के समान है।

जवतक मनम् श्रपरावृत्त है, तवतक मनस् का श्रालय-विज्ञान ही एकमात्र श्रालम्बन होता है। जव श्राश्रय-परावृत्ति होती है, तव श्रष्टम विज्ञान के श्रतिरिक्त भूततथता श्रीर श्रन्य धर्म भी इसके श्रालम्बन होते है।

### मनस् के सम्प्रयोग

कितने चैतो से मनस् सम्प्रयुक्त होता है ? मनस् सदा चार क्लेगो से सम्प्रयुक्त होता है। यह चार मूल क्लेग डम प्रकार है — १ - ग्रात्ममोह यह ग्रविद्या का दूसरा नाम है। यह ग्रात्मि के विषय में मोह ग्रीर ग्रनात्मा में विप्रतिपत्ति उत्पन्न करता है। २ - ग्रात्मदृष्टि यह ग्रात्मग्राह है, जिससे पुद्गल ग्रनात्म धर्मों को ग्रात्मवत् ग्रहण करता है। ३ - ग्रात्ममान यह गर्व है,

जो किल्पत ग्रात्मा का ग्राश्रय लेकर चित्त की उन्नति करता है। ४. ग्रात्मस्नेह: यह ग्रात्म-प्रेम है, जो ग्रात्मा में ग्रिभिष्वग उत्पन्न करता है।

इन चार क्लेशो के ग्रतिरिक्त भ्रन्य चैत्तो से क्या मनस् का मम्प्रयोग नही होता ?

एक मत के अनुसार मनस् का सम्प्रयोग केवल नौ चैत्तो से होता है—चार मूल क्लेश श्रीर स्पर्शादि पाँच सर्वव्रग।

कारिका में उक्त है कि आलय-विज्ञान सर्वत्नग से सहगत है। यह दिखाने के लिए कि मनस् के सर्वत्नग आलय के सर्वत्नगों के सदृश अनिवृताच्याकृत नहीं है। कारिका कहती है कि यह उनसे अन्य हैं। चार क्लेश और पाँच सर्वत्नग मनस् से सदा सम्प्रयुक्त होते है। मनस् पाँच विनियन, ग्यारह कुशल, उपक्लेश और चार धनियत से सम्प्रयुक्त नहीं होता।

दूसरे मत के अनुसार कारिका का श्रह अर्थ है कि मनस् से सहगत चार क्लेश, श्रन्य ( श्रर्थात् उपक्लेश ) श्रीर स्पर्शादि पच होते हैं।

तीसरे मत के अनुसार यह दस उपक्लेशो से सम्प्रयुक्त होता है।

धर्मपाल के अनुसार सर्वेक्लिष्ट चित्त आठ उपक्लेशो से सम्प्रयुक्त होता है। अत , मनस् स्पर्शादि पाँच सर्वेत्नग, चार मूल क्लेश, आठ उपक्लेश और एक प्रज्ञा से युक्त होता है।

किन वेदनात्रों से क्लिष्ट मनस् सम्प्रयुक्त होता है ? एक मत के अनुसार यह केवल सौमनस्य से सम्प्रयुक्त होता है, क्यों कि यह आलय को आत्मवत् अवधारित करता है और उसके लिए सौमनस्य और प्रेम का उत्पाद करता है।

दूसरे मत के ग्रनुसार मनस् चार वेदनाग्रो से यथायोग सम्प्रयुक्त होता है। दुर्गित में दोर्मनस्य से, मनुष्यगित, कामघातु के देवो की गित में, प्रथम-द्वितीय ध्यानभूमि के देवो में सौमनस्य से, तृतीय ध्यान-भूमि के देवो में सुखावेदना से, इससे ऊर्ध्व उपेक्षा-वेदना से मनस् सम्प्रयुक्त होता है।

तीसरा मत हैं, जिसके अनुसार मनस् सदा से स्वरसेन एकजातीय प्रवर्त्तित होता है। यह अविकारी हैं। अत, यह उन वेदनाओं से सम्प्रयुक्त नहीं है जो विकारशील है। अत, यह केवल उपेक्षा-वेदना से सम्प्रयुक्त है। यदि इस विषय में आलय से भेद निर्दिष्ट करना होता, तो कारिका में ऐसा उक्त होता।

मनस् के चैत निवृताव्याकृत है। मनस् से सम्प्रयुक्त चार क्लेण क्लिप्ट धर्म है। यह मार्ग मे ग्रन्तराय है, ग्रतः यह निवृत है। यह न कुशल है, न ग्रकुशल, ग्रत ग्रव्याकृत है।

मनस् से सम्प्रयुक्त वलेशो का आश्रय सूक्ष्म है, उनका प्रवर्त्तन स्वरमेन होता है। श्रत, यह श्रव्याकृत है।

मनस् के चैत्तो की कौन-सी भूमि है ?

जव ग्रष्टम विज्ञान की उत्पत्ति कामधातु में होती है, तब मनस् से सम्प्रयुक्त चैत (यथा ग्रात्मदृष्टि) कामाप्त होते हैं, श्रीर इसी प्रकार यावत् भवाग समझना चाहिए। यह स्वरसेन प्रवर्त्तित होते हैं, श्रीर सदा स्वभूमि के श्रालय-विज्ञान को श्रालम्बन वनाते हैं। यह श्रन्य भूमि के धर्मों को कभी श्रालम्बन नहीं बनाते। श्रालय-विज्ञान में प्रत्येक भूमि के वीज हैं, किन्तु जव

यह किसी भूमि के कमों का विपाक होता है, तब कहा जाता है कि यह भूमिविशेष से उत्पन्न हुग्रा है। मनस् ग्रालय में प्रतिबद्ध होता है। ग्रत, इसे ग्रालय-विज्ञानमय कहते हैं। ग्रयवा मनस् उस भूमि के वलेशो से बद्ध होता है, जहाँ ग्रालय की उत्पत्ति होती है। ग्राश्रय-परावृत्ति होने पर मनस् भूमियो से वियुवत होता है।

यदि यह क्लिप्ट मनम् कुशल-क्लिप्ट-श्रव्याकृत श्रवस्थात्रो में श्रविशेष रूप से प्रवित्ति होता है, तव उसकी निवृत्ति नहीं होती। यदि मनस् की निवृत्ति नहीं होती, तो मोक्ष कहाँ से होगा ? मोक्ष का श्रभाव नहीं है, क्योंकि श्रहंत् के क्लिप्ट मनस् नहीं होता। उसने श्रशेष क्लेश का प्रहारा किया है।

मनस् से सम्प्रयुक्त क्लेश सहज होते हैं। ग्रत, दर्शन-मार्ग से उनका (वीज रूप में) प्रहाण या उपच्छेद नहीं होता, क्योंकि इनका स्वरसेन उत्पाद होता है। क्लिष्ट होने के कारण यह ग्रहेय भी नहीं है।

इन क्लेशो के बीज जो सूक्ष्म है, तभी प्रहीण होते है, जब भवाग्रिक क्लेश-बीज सकृत् प्रहीण होते हैं, तब योगी ग्रहंत् होता है श्रीर क्लिप्ट मनस् का प्रहाण होता है। श्रहंत् में बह बोधिसत्त्व भी सगृहीत है, जो दो यानो के श्रशैक्ष होने के पश्चात् बोधिसत्त्व के गोव्र में प्रवेश करते हैं।

निरोध-समापत्ति की श्रवस्था में भी क्लिप्ट मनस् निरुद्ध होता है। यह श्रवस्था शान्त श्रीर निर्वाण-सदृश होती है। श्रत , क्लिप्ट मनम् उस समय निरुद्ध होता है, किन्तु मनस् के बीजो का विच्छेदक नही होता। जब योगी समापत्ति से ब्युत्थित होता है, तब मनस् का पुन प्रवर्त्तन होता है।

लोकोत्तर मार्ग में भी विलष्ट मनस् नहीं होता। लौकिक मार्ग से क्लिष्ट मनस् का प्रवर्त्तन होता है। किन्तु, लोकोत्तर मार्ग में नैरात्म्य-दर्शन होता है, जो ग्रात्मग्राह का प्रतिपक्षी है। उस ग्रवस्था में क्लिप्ट मनस् का प्रवर्त्तन नहीं हो सकता। ग्रत, क्लिप्ट मनस् विष्ढ होता है। उससे व्युत्यित होने पर क्लिप्ट मनस् का पुन उत्पाद होता है। ग्रिक्ट मनस्

स्थिरमित के अनुसार मनस् अथवा सप्तम विज्ञान सदा विलप्ट होता है। जब क्लेशा-वरण का ग्रभाव होता है, तव मनस् नही होता। वह ग्रपने समर्थन में इन वचनो को उद्घृत करते है— १ मनस् सदा चार क्लेशो से सम्प्रयुक्त होता है (विख्यापन, १), २ मनस् विज्ञान-सक्लेश का ग्राश्रय है (सग्रह, १), ३ मनस् का तीन ग्रवस्थाग्रो में ग्रभाव होता है।

धर्मपाल कहते हैं कि जब मनस् क्लिप्ट नही रहता, तब वह ग्रपने स्वभाव (सप्तम विज्ञान) में ग्रवस्थान करता है। वह कहते है कि स्थिरमित का मत ग्रागम ग्रीर युक्ति के विरुद्ध है।

- १. सूत्रवचन है कि एक लोकोत्तर मनस् है।
- २. अविलष्ट और विलष्ट मनोविज्ञान का एक सहभू और विशेष आश्रय होना चाहिए।
- ३. योगशास्त्र में कहा है कि ग्रालय-विज्ञान का सदा एक विज्ञान के साथ प्रवर्त्तन होता है। यह विज्ञान मनस् है। यदि निरोध-समापत्ति में मनस् या सप्तम विज्ञान निरुद्ध होता है (स्थिरमित), तो योगशास्त्र का यह वचन ग्रयथार्थ होगा, क्योकि उस ग्रदस्था मे ग्रालय-विज्ञान होगा ग्रीर उसके साथ दूसरा विज्ञान (मनम्) न होगा।

४ योगशास्त्र मे कहा है कि विलष्ट मनस् ग्रर्हत् की ग्रवस्था मे नही होता। किन्तु, इससे यह परिणाम न निकालिए कि इस ग्रवस्था में सप्तम विज्ञान का ग्रभाव होता है। शास्त्र यह भी कहता है कि ग्रर्हत् की ग्रवस्था में ग्रालय-विज्ञान का त्याग होता है, किन्तु ग्राप मानते हैं कि ग्रर्हत् में ग्रष्टम विज्ञान होता है।

५ अलकार और सग्रह में उक्त है कि सप्तम विज्ञान की परावृत्ति से समता-ज्ञान की प्राप्ति होती है। अन्य ज्ञानो के समान इस ज्ञान का भी एक तत्सम्प्रयुक्त अनास्रव विज्ञान आश्रय होना चाहिए। आश्रय के विना आश्रित चैत्त नहीं होता। अत, अनास्रव सप्तम विज्ञान के अभाव में समता-ज्ञान का अभाव होगा। वस्तुत, यह नहीं माना जा सकता कि यह ज्ञान प्रथम छ विज्ञानों पर आश्रित है, क्योंकि यह आदर्श ज्ञान की तरह निरन्तर रहता है।

६. यदि अशैक्ष की अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव है, तो अष्टम विज्ञान का कोई सहभू आश्रय नहीं होता। किन्तु विज्ञान होने से इसका ऐसा आश्रय होना चाहिए।

७. ग्राप यह मानते हैं कि जिस सत्त्व ने पुद्गल-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं किया है, उसमें श्रात्मग्राह सदा रहता है। किन्तु, जबतक धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं होता, तबतक धर्मग्राह भी रहता है। यदि सप्तम विज्ञान होता है, तो इस धर्मग्राह का कौन-सा विज्ञान श्राश्रय होगा निया ग्रष्टम विज्ञान होगा नियह ग्रसम्भव है, क्योंकि ग्रष्टम विज्ञान प्रज्ञा से रहित है। हमारा निश्चय है कि यानद्वय के ग्रायों में मनस् का मदा प्रवर्त्तन होता है, क्योंकि उन्होंने धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं किया है।

द योगशास्त्र (५१, सग्रह) एक सप्तम विज्ञान के ग्रस्तित्व की ग्रावश्यकता को व्यवस्थित करता है, जो कि षष्ठ का ग्राश्रय है। यदि लोकोत्तर मार्ग के उत्पाद के समय या ग्राशक्ष की ग्रवस्था में सप्तम विज्ञान का ग्राभाव है, तो योगशास्त्र की युक्ति में द्विविध दोष होगा।

श्रत , पूर्वोक्त तीन श्रवस्थाश्रो में एक श्रक्लिष्ट मनस् रहता है। जिन वचनो मे यह कहा गया है कि वहाँ मनस् का श्रमाव है, वह क्लिष्ट मनस् का ही विचार करते हैं। यथा: श्रालय-विज्ञान का चार श्रवस्थाश्रो में श्रमाव होता है, किन्तु श्रष्टम विज्ञान का वहाँ श्रमाव नहीं होता।

मनस् ग्रीर सप्तम विज्ञान के तीन विशेष है। यह पुद्गल-दृष्टि से या धर्मदृष्टि मे या समता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त होता है। जव पुद्गल-दृष्टि होती है, तव धर्मदृष्टि होती है, क्योंकि श्रात्मग्राह धर्मग्राह पर भाश्रित है।

यानद्वय के ग्रायं ग्रात्मग्राह का विच्छेद करते हैं, किन्तु यह धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं करते। तथागत का मनस् सदा ममता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त होता है। वोधिसत्त्व का मनस् भी तव समता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त होता है, जब वह दर्शन-मार्ग का ग्रभ्यास करते हैं या जब वह भावना-मार्ग मे धर्म-शून्यता-ज्ञान या उसके फल का ग्रभ्यास करते हैं।

## मनस् की संजा

मनस् मन्यनात्मक है। लकावतार में कहा है—मनसा मन्यते पुन (१०१४००)। सर्वास्तिवादिन् कहते हैं कि ग्रतीत मनोविज्ञान की सज्ञा मनस् है। पष्ठ ग्राश्रय की प्रसिद्धि के लिए ऐसा है। उनके ग्रनुसार जब वह प्रवृत्त होता है, तब उसे मनोविज्ञान कहते हैं। किन्तु, यह कैसे माना जा सकता है कि ग्रतीत ग्रीर जियाहीन होनेपर इसे मनस् की सज्ञा दी जा सकती है?

ग्रत, छ विज्ञानो से ग्रन्य एक सप्तम विज्ञान है, जिसकी सदा मन्यना किया होती है, ग्रीर जिसे 'मनस्' कहते हैं।

मनस् के दो कार्य है। यह मन्यना करता है, ग्रौर ग्राश्रय का काम देता है।

## विज्ञान का तृतीय परिणाम षड्विज्ञान

श्रव हम विज्ञान के तृतीय परिणाम का वर्णन करेंगे। यह पड्विध है। यह विषय की उपलब्धि है। विषय छ प्रकार के हैं — रूप, शब्द, गन्ध, रस. स्प्रष्टव्य और धर्म। इनकी उपलब्धि विज्ञान कहलाती है। यह छ है — चक्षुविज्ञानादि। यह पड्विज्ञान (विज्ञानकाय) मनस् पर साश्रित है। यह उनका समनन्तर प्रत्यय है। किन्तु, केवल पष्ठ विज्ञान को ही मनोविज्ञान कहते हैं, क्योंकि मनस् इसका विशेष श्राश्रय है। इसी प्रकार श्रन्य विज्ञानों को उनके विशेष श्राश्रय के श्रनुसार चक्षुविज्ञानादि कहते हैं।

यह विज्ञान कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते हैं। अलोभ-श्रद्धेप-श्रमोह से सम्प्रयुक्त कुशल विज्ञान हैं। लोभ-द्देप-मोह से सम्प्रयुक्त ग्वें अकुशल हैं। जो न कुशल है, न अकुशल, वह अव्याकृत हैं। इन्हें 'ग्रद्धया, 'अनुभया' भी कहते हैं।

पड्विज्ञान का चैतिसिको से सम्प्रयोग होता है। पड्विज्ञान सर्वव्रग, विनियत, कुशल चैत्तो से, क्लेश ग्रौर उपक्लेश से, ग्रनियतो से, तीन वेदनाग्रो से सम्प्रयुक्त होते हैं।

एक प्रक्रन भूततथता का है। यह दिखाता है कि विज्ञानवाद माध्यिमिक से कितनी दूर चला गया है। इसका ममानार्थक दूसरा शब्द धर्मता (धर्मों का स्वभाव) है। किन्तु, क्योंकि वस्तुत धर्मों का स्वभाव शून्य (वस्तु शून्य) है, इसलिए तथता का समानवाची दूसरा शब्द शून्यता है। यह श्रसस्कृत श्रोर नित्यस्थ है। नागार्जुन ने इसका व्याख्यान किया है। किन्तु, स्थिरमित इसके कहने में सकोच नहीं करते कि यह खपुष्प के तुल्य प्रज्ञिप्तिसत् है। शुग्रान-च्वाँग इसका विरोध करते हैं। वह कहते हैं कि इस विकल्प में कोई भी परमार्थ परमार्थ-सत्य न होगा। तब किसके विपक्ष में कहेंगे कि सवृत्ति-सत्य है ? तब किसी का निर्वाण कैसे होगा?

इस प्रकार, निभृत-भाव से विज्ञानवाद परमार्थ-सत्य हो गया।

### विज्ञप्तिमात्रता

मूल, मनस् ग्रीर षड्विज्ञान इन तीन विज्ञान-परिणामो की परीक्षा कर शुग्रान-च्वांग विज्ञान्तियात्तता का निरूपण करते है। हम पूर्व कह चुके है कि ग्रात्मा (पुर्गल) ग्रीर धर्म विज्ञान-परिणाम के प्रज्ञाप्तिमात्त हैं। यह परिणाम दर्शनभाग ग्रीर निमित्तभाग के ग्राकार में होता है। हमारी प्रतिज्ञा है कि चित्त एक है, किन्तु यह ग्राह्म-ग्राहक के रूप में ग्राभासित होता है। ग्रथवा, दर्शन ग्रीर निमित्त के रूप में ग्राभासित होता है। दूसरे शब्दो में "विज्ञान का परिणाम, मन्यना करनेवाला ग्रीर जिसकी मन्यना होती है, जो विचारता है ग्रीर जो विचारा जाता है, है। इससे यह ग्रनुगत होता है कि ग्रात्मा ग्रीर धर्म नहीं है। ग्रत, जो कुछ है, वह विज्ञप्तिमात्रता है।" (शुग्रान-च्वांग)

वसुबन्धु विशिका में कहते हैं-

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते । तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् ॥ (कारिका १७)

# विज्ञिप्तमात्रता की विभिन्न व्याख्याएँ

स्थिरमित (पृ० ५३५-३६) इस कारिका का भिन्न अर्थ करते हैं—"विज्ञान का परिणाम विकल्प है। इस विकल्प से जो विकल्पित होता है, वह नहीं है। अत , यह मब विज्ञिप्तमान्न है।" स्थिरमित इस कारिका के भाष्य में कहते हैं कि निविध विज्ञान-परिणाम विकल्प है: नैधातुक चित्त-चैत ( अनास्रव चित्त-चैत के विपक्ष में) जो अध्यारोपित का आकार प्रहण करते हैं, 'विकल्प' कहलाते हैं, यथा ( मध्यान्तविभाग, १। १०) कहा है—अभूतपरिकल्पस्तु चित्तचैतास्त्रिधातुकाः। यह विकल्प निविध है—समम्प्रयोग आलय-विज्ञान, क्लिष्ट मनस् और प्रवृत्ति-विज्ञान। इस निविध विकल्प से जो विकल्पित होता है ('यद्विकल्प्यते') वह नहीं है। भाजनलोक, आत्मा, स्कन्ध-धातु-आययन, रूप शब्दादिक विकल्प से विकल्पित होते है। यह वस्तु नहीं है। अत , यह विज्ञान-परिणाम विकल्प कहलाता है; क्योंकि इसका आलम्बन असत् है। हम कैसे जानते हैं कि इसका आलम्बन असत् है ? जो जिमका कारण है, वह उसके समग्र और अविरुद्ध होने पर जत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। किन्तु, माया, गन्धवं-नगर, स्वप्न, तिमिरादि में विज्ञान विना आलम्बन के ही उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान का उत्पन्न सालम्बन से प्रतिबद्ध होता, तो अर्थाभाव से मायादि में विज्ञान न उत्पन्न होता। इसलिए, पूर्वेनिरुद्ध तज्जातीय विज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है, वाह्य अर्थ से नहीं। वाह्यार्थ के नहोने पर भी यह होता है। पुन एक ही अर्थ में परस्परविरुद्ध प्रतिपत्ति भी देयी गई है।

ग्रीर एक का परस्पर विरुद्ध ग्रनेकात्मकत्व युक्त नहीं है। ग्रातः, यह मानना चाहिए कि विकल्प का ग्रालम्बन ग्रसत् है। यह ममारोपान्त का परिहार है। ग्रव हम ग्रपवादान्त का परिहार करते हैं। कारिका कहती है—तेनद सबं विज्ञाष्तिमात्रकम्। ग्रर्थात्, क्योकि विषय के ग्रमाव में परिणामात्मक विकल्प से विकल्पित ('विकल्प्यते') नहीं है, इसलिए सब विज्ञाष्तिमात्र है। 'सबं' से ग्राणय नैधातुक ग्रीर ग्रमस्कृत से है (पृ० ३६)। विज्ञाष्ति से ग्रन्य कर्त्ता या करण नहीं है।

स्थिरमित का यह श्रर्थ इस श्राधार पर है कि विकल्प के गोचर का श्रस्तित्व नहीं है। विकल्प का विषय श्रसत् है। इस प्रकार, विज्ञान की लीला स्वप्न-मायावत् है। हम देखते हैं कि विज्ञानवाद का यह विवेचन श्रव भी नागार्जुन की शून्यता के लगभग श्रनुकूल है।

धर्मपाल का विज्ञानवाद इसके विपरीत स्वतन्त्र होने लगता है। ग्रव वाक्य यह हो जाता है कि विज्ञान या विज्ञप्ति में सब कुछ है। धर्मपाल कहते हैं कि दर्शनभाग श्रीर निमित्तभाग के प्राभास में विज्ञान का परिणाम होता है। विज्ञान में तात्पर्य तीन विज्ञानों के श्रतिरिक्त (श्रालय—क्लिप्ट—मनस्, पड्विज्ञान) उनके चैत्त से भी है। पहले भाग को 'विकल्प' कहने है, ग्रीर दूसरे भाग को 'यद् विकल्प्यते'। यह दोनो भाग परनन्त्र है। ग्रत, विज्ञान से परिणत इन दो भागों के वाहर ग्रात्मा श्रीर धर्म नहीं है। वस्तुत, ग्राहक-ग्राह्म, विकल्प-विकल्पत के वाहर कुछ नहीं है। इन दो भागों के वाहर कुछ नहीं है, जो भूतद्रव्य हो। ग्रत, सब धर्म सम्कृत—श्रसस्कृत, रूपादि वस्तुमत् ग्रीर प्रज्ञप्तिमत्—विज्ञान के वाहर नहीं है। सामासिक रूप से 'विज्ञप्तिमान्नता' का ग्रर्थ यह है कि हम उस सबका प्रतिपेध करते हैं, जो विज्ञान के वाहर है (परिकल्पित—ग्रात्मा ग्रीर धर्म)। किन्तु, हम चैत्त, भागद्वय, रूप ग्रीर तथता का प्रतिपेध नहीं करते, जहाँतक वह विज्ञान के वाहर नहीं है।

नन्द के मत मे केवल दो भाग है। दर्णनभाग निमित्तभाग में परिणृत होता है। यह निमित्तभाग परतन्त्र है, श्रौर विह स्थित विषय के रूप में श्रवभासित होता है। नन्द्र सिवित्तभाग नही मानते। उनके लिए परिकल्प (विकल्प) श्रौर परिकल्पित, श्रथीत् ग्राहक श्रौर ग्राह्म निमित्तभाग के सम्बन्ध में दो मिथ्याग्राह है। वस्तुत, जब कोई दर्शनभाग को श्रात्मवत् धर्मवत् श्रवधारित करता है, तब यह भी निमित्तभाग के सम्बन्ध में एक ग्राह ही है। यह ग्राह विना श्रालम्बन के नही है।

क्योंकि, विकल्प निमित्तभाग का ग्रहण वहि स्थित ग्रात्मधर्म के ग्राकार में करता है, इसलिए गृहीत एव विकल्पित ग्रात्मधर्म का स्वभाव नहीं है।

अत , सव विजिप्ति-मात्र है । अभूत-परिकल्प का अस्तित्व सव मानते है ।

पुन मात्र शब्द से विज्ञान के अव्यतिरिक्त धर्मी का प्रतिषेध नहीं होता । स्रत , तथता, चैतादि वस्तुसत् है ।

ूर्य शुश्रान-च्वांग का इस कारिका का ग्रर्थं ऊपर दिया गया है। वह नागार्जुन के शून्यतावाद के समीपवर्त्ती एक पुराने वाद का उपयोग स्वतन्त्र विज्ञानवाद के लिए कर्ते हैं,। यामागुँची का भी यही मत है। शुआन-च्वाँग अपने वाद की पुष्टि में आगम से वचन उद्धृत करते हैं, और युक्तियाँ देते हैं। यहाँ हम आगम के कुछ वाक्य देते हैं। दशभूमकसूत्र में उक्त है—चित्तमात्रमिदं यदिदं त्रेधातुकम्। पुन सिन्धिनिर्मोचनसूत्र में भगवान् कहते हैं —विज्ञान का आलम्बन विज्ञान-प्रतिभास-मात्र है। इस सूत्र में मैंत्रेय भगवान् से पूछते हैं कि समाधिगोचर विम्व चित्त से भिन्न या अभिन्न है। भगवान् प्रज्न का विसर्जन करते हैं कि यह भिन्न नहीं है, क्योंकि यह बिम्व विज्ञानमात्र है। भगवान् आगे कहते हैं कि विज्ञान का आलम्बन विज्ञान का प्रतिभास-मात्र है। भगवान् आगे कहते हैं कि विज्ञान का आलम्बन विज्ञान का प्रतिभास-मात्र है। मैंत्रेय पूछते हैं कि यदि समाधिगोचर विम्व चित्त से भिन्न नहीं है, तो चित्त कैसे उसी चित्त का ग्रहण करने के लिए लौटेगा। भगवान् उत्तर देते हैं कि कोई धर्म अन्य धर्म का ग्रहण नहीं करता, किन्तु जब विज्ञान उत्पन्न होता है, तब यह उम धर्म के आकार का उत्पन्न होता है भीर लोग कहते हैं कि यह उस धर्म को ग्रहण करता है।

लकावतार मे है कि धर्म चित्त-व्यितिरिक्त नहीं है। घनव्यूह में है-चित्त, मनस्, विज्ञान (पड्विज्ञान) का ग्रालम्बन भिन्त-स्वभाव नदी है। इसीलिए, मैं कहता हूँ कि सब (सस्कृत ग्रीर ग्रीर ग्रसस्कृत) विज्ञानमात्र है, विज्ञान-व्यितिरिक्त वस्तु नहीं है।

श्रागम श्रीर युक्ति सिद्ध करते हैं कि श्रात्मा श्रीर धर्म श्रसत् हैं। तथता या धर्मों का परिनिष्पन्न स्वभाव ( शून्यता ) श्रीर विज्ञान ( परतन्त्रस्वभाव ) श्रसत् नहीं है। श्रात्मधर्म सत्त्व से वाह्य है। शृत्यता श्रीर विज्ञान श्रसत्व से वाह्य है। यह मध्यमा प्रतिपत् है। इसीलिए, मैं त्रेय मध्यान्तविभाग में कहते हैं—श्रभूतपरिकल्प है। इसमें परमार्थंत द्वय ( ग्राह्य-ग्राहक ) नहीं है। इस श्रभूत-परिकल्प में शून्यता है। यह श्रभूत-परिकल्प शून्यता में है। श्रत , मैं कहता हूँ कि धर्म न शून्य है, न श्रशून्य। वस्तुत श्रसत्त्व है, सत्त्व है। यह मध्यमा प्रतिपत् है।

्इसमें एकान्तेन शून्यता या अश्न्यता में निष्ठा नही है। अभूतपरिकल्पात्मक सस्कृत शून्य नहीं है। पुन वह ग्राह्मग्राहकभाव की रहितता होने से शून्य है। सर्वास्तित्व ग्रीर सर्व-नास्तित्व इन दोनो भ्रन्तो का यह मध्य है।

पूसें एक टीका से उत्तर देते हैं—सासव चित्त या वैधातुक चित्त (ग्रनासव ज्ञान का प्रतिपक्ष ) जो ग्रमूतपरिकल्प है, है। किन्तु, द्वय—ग्राह्मग्राहक है ग्रात्म-धर्म—जो समारोपित है, नहीं है। सास्रव चित्त में ग्रून्यता है, ग्रथित इस चित्त में द्वयाभाव है। ग्रून्यता में मास्रव चित्त है। इस प्रकार, जो द्वय-विनिर्मु कत है, उसमें द्वय का समारोप होता है। ग्रत, धर्म ग्रून्य नहीं है, क्योंकि यह ग्रून्य ग्रौर ग्रमूतपरिकल्प है। वह ग्रगून्य नहीं है, क्योंकि वहां द्वय (ग्राह्म ग्रौर ग्राहक, ग्रात्मन् ग्रौर धर्म) का ग्रभाव है। जब ग्रमूत परिकल्प है, द्वय नहीं है, ग्रमूत-परिकल्प में ग्रून्यता है, ग्रौर ग्रून्यता में ग्रमूतपरिकल्प है, तव यही भावविवेक की परमायंत ग्रून्यता ग्रौर हीनयान के परमायंत सत्त्व के बीच मध्यमा प्रतिपत् है। गावविवेक के विरुद्ध हम सवृति, ग्रौर परमार्थ इन दो सत्यों को मानते है, ग्रौर हीनयान के विरुद्ध हम ग्राह्म-ग्राहक का प्रतिषेध करते हैं। हम देखते हैं कि किस प्रकार सूदम हप से हल्ये-हन्के

श्रद्धय विज्ञानवाद नागार्जु न के शून्यतावाद से पृथक् होता है, किन्तु प्रकाश्य रूप से स्वीकार नहीं करता।

विज्ञप्तिमात्रता पर कुछ श्राक्षेप श्रीर उसके उत्तर

यदि वाह्यार्थं केवल ग्राध्यात्मिक विज्ञान है, जो वाह्यार्थं के रूप में प्रतिभासित होता है, तो ग्राप १ ग्रथं के काल-देश-नियम का क्या व्याख्यान करते हैं (देश-विशेष में ही पर्वत दिखाई पडता है), २ सन्तान के ग्रनियम ग्रीर किया के ग्रनियम का क्या व्याख्यान करते हैं (सब लोग एक ही वस्तु देखते हैं, सब लोग जल पीते हैं )? शुग्रान-च्वांग एक शब्द मे उत्तर देते हैं कि स्वप्न मे जो दृश्य हम देखते हैं, उनका भी यही है।

विज्ञानवाद ग्रीर शून्यता के सम्बन्ध के विषय में एक दूसरा प्रश्न है। क्या विज्ञप्ति-मावता स्वय शून्य नहीं है ? शुग्रान-च्वाँग कहते हैं—नहीं, क्यों कि इसका ग्रहण नहीं होता ( 'ग्रग्राह्मत्वात्')। इमीलिए, धर्मों का ग्रहण वस्तुसत् के रूप में होता है ( धर्मग्राह का विपर्याम), यद्यपि परमार्थत वह केवल धर्मशून्यता है। हम ग्रारोपित धर्मों के ग्रमत्त्व से धर्म-शून्यता मानने है, न कि ग्रवाच्य ग्रीर परिकल्पित रहित विज्ञप्तिमावता के ग्रसत्त्व के कारण। विज्ञप्तिमावता को धर्मशून्यता कहते है, क्यों कि यह परिकल्पित नहीं है।

विणितका (कारिका, १७) की वृत्ति से तुलना कीजिए—कोई धर्म-नैरात्म्य में प्रवेश करता है, जब उसको यह उपलिध होती है कि यह विज्ञिप्त ही है, जो रूपादि धर्मों के आधार में प्रतिभासित होती है। किन्तु, आक्षेप करनेवाला कहता है कि यदि सर्वया धर्म नहीं है, तो क्या विज्ञिप्तमात्न भी नहीं है विज्ञानवाटी उत्तर देता है कि हम यह नहीं कहते कि धर्मों के परमार्थत असत्त्व की प्रतिज्ञा करने से धर्म-नैरात्म्य में प्रवेश होता है, किन्तु उनके परिकिष्पत स्वभाव का प्रतिपेध करने से होता है। उनका नैरात्म्य है; क्योंकि उनका ग्राह्म-ग्राहकभाव नहीं है। इस आत्मा से उनका नैरात्म्य है ('तेन आत्मा तेषा नैरात्म्यम्')। केवल मूढ पुरुष उनका ग्राह्म-ग्राहकभाव मानते है। किन्तु, जो अनभिलाप्य आत्मा बुद्धों का विषय है, उसका नैरात्म्य नहीं है (वृत्ति, पृ०६)।

सवृति-मत्य के विषय में भी माध्यमिक ग्रीर विज्ञानवाद में ग्रन्तर होने लगता है। माध्यमिको के ग्रनुसार सवृति-सत्य, ग्रर्थात् धर्मों का ग्राभास, जैसा कि इन्द्रियो को उपलब्ध होता है; ग्रनिधण्ठान है। गून्य धर्मों से गून्य धर्म प्रभूत होते हैं। इसके विषरीत, विज्ञानवादी के लिए मवृति-धर्मों का ग्रस्तित्व धर्मता-तथता-विशेष के कारण है, यद्यपि साथ-ही-साथ वह गून्यता-विशेष-वश गून्य है।

एक दूसरा श्राक्षेप है। यदि रूपायतन विज्ञान-स्वभाव है, तो विज्ञान रूप के लक्षणों के माय क्यो प्रतिभासित होता है, श्रीर क्यो पर्वतादि कठिन श्रीर सभाग-सन्तान का रूप-घारण करते हैं। इसका उत्तर यह है कि रूप विपर्यस्त सज्ञा का भी स्वभाव है। तथाकथित रूप को द्रव्यसत् के रूप में गृहीत करने से विज्ञान विपर्यास का उत्पाद करता है, श्रीर स्वरसेन श्रान्ति उत्पन्न करता है श्रीर यही उसकी मुख्य वृत्ति है। चोदक पुन. कहता है कि क्या ग्राप प्रत्यक्ष विषय का प्रतिषेध करते हैं ? उत्तर हैं कि जिस क्षण में रूप-शब्दार्थ की उपलब्धि होती है, उस क्षण में यह वाह्यवत् गृहीत नहीं होता । पश्चात् मनोविज्ञान ( मनोविकल्प ) वाह्य-सज्ञा को विपर्यासत उत्पन्न करता है। ग्रत जो प्रत्यक्ष का विषय होता है, वह विज्ञान का निमित्तभाग है। यह निमित्त-भाग विज्ञान का परिणाममान्न है। ग्रत, कहा जाता है कि यह है ग्रौर विज्ञान ( दर्शनभाग ) भी है; जो निमित्तभाग की उपलब्धि करता है। किन्तु, यह सब केवल विकल्पधर्म हैं। सक्षेप मे, ग्रर्थ रूप नहीं है, किन्तु रूपाभास है। यह वहि स्थित नहीं है, किन्तु बाह्याभास है।

एक ग्रौर ग्राक्षेप है ''ग्राप कहते हैं कि जो रूप हम जाग्रत् ग्रवस्था में देखने हैं, वह विज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं है, यथा जो रूप स्वप्न में देखा जाता है। किन्तु, स्वप्न से जगकर हम जानते हैं कि स्वप्न में देखा रूप केवल विज्ञान है, फिर जागते हुए हम क्यो नहीं जानते कि जाग्रत् ग्रवस्था में देखा हुग्रा रूप विज्ञानमात्र है ? ( शकर, २।२।२६ )

इसका उत्तर यह है कि जब हम स्वप्त देखते हैं, हमको जात नहीं हो सकता। जगने पर हमको स्मृति होती है कि हमने स्वप्त देखा है और हमको उसका स्वभाव ज्ञात होता है। इसी प्रकार जो रूप जाग्रत् श्रवस्था में देखते हैं, उसका भी यही हाल है। श्रभी तक हमारी सच्ची जागृति नहीं हुई है। जब बोधि का ग्रधिगम होगा, तब ससार-विषयात्मक स्वप्त की स्मृति होगी और उनका यथार्थ स्वभाव ज्ञात होगा। इसके पूर्व हमारी स्वप्नावस्था है। इसीलिए, भगवान् ससार की दीर्घरान्नि का उल्लेख करते हैं (विश्वतिका, कारिका, १७ ख-ग)। यह विचार, वर्कले के श्रति समीप है।

इस मत में ( ग्रब्सोलुट एकास्मिज्म ) वस्तु-ग्रहण के सदृश विजिप्त का कियात्मक ग्राकार नहीं है। विजिप्त मायावत् है। जब एक विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब यह विज्ञान वस्तुत सिक्तय नहीं होता। यह बाह्य धर्मों का प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं करता, जिस प्रकार हाथ या चिमटी से कोई वस्तु पकडी जाती है। इसकी ग्रिभिव्यक्ति उस प्रकार नहीं होती, जैसे सूर्य ग्रपने प्रकाश को फैलाता है। किन्तु, यह ग्रादर्श के तुल्य है, ग्रोर यह बाह्यार्थ के सदृश ग्रवभासित होता है। सक्षेप में, कोई धर्म नहीं है, जो दूसरे धर्म का ( चित्त से विह स्थित धर्म का ) ग्रहण करता है। किन्तु, जब विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब यह तत्सदृश ग्राभामित होता है ( सिन्धिनिर्मोचन )।

किन्तु, एक आक्षेप यह है कि विज्ञिष्तिमावता का पर-चित्त-ज्ञान से कैसे सामजस्य होता है।

प्रथवा इसी को दूसरे प्रकार से यो कह सकते है कि विज्ञिष्तिमावता में मेरा चित्त या तथाकथित मेरी आत्मा का चित्त तथाकथित पर-चित्त को कैसे नही जानता ? इसका जो उत्तर
दिया जाता है, वह कठिनाइयों से खालों नहीं है। किन्तु, इसकी युक्ति कुछ कम अपूर्व
नहीं है।

हम अपने चित्त को पर-चित्त की अपेक्षा अधिक अच्छा नही जानते । क्यों र क्योंकि, यह दो ज्ञान अज्ञान से आच्छादित होने के कारण स्वविषय की श्रनिर्वचनीयता को नहीं जान सकते, यथा बद्ध उसे जान सकते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यों में इस विषय की वितथ-प्रतिभासिता होती है, क्यों कि उनमें स्रिभग्राह्य-ग्राहकभाव का उपच्छेद नहीं हुआ है।

पुनः शुग्रान-च्यांग इस स्थान पर इसका प्रयत्न करते हैं कि उनका विज्ञानवाद शुद्ध ग्रात्मवाद में पितत न हो। वह कहते हैं कि विज्ञिप्तिमान्नतावाद की यह शिक्षा नहीं हैं कि केवल एक विज्ञान है, केवल मेरा विज्ञान है। यदि केवल मेरा विज्ञान है, तो दस दिशाग्रों के विविध पृथग्जन-ग्रायं, कुशल-ग्रकुशल, हेतु-फल सब तिरोहित हो जाते हैं। कीन बुद्ध मुझे उपदेश देता है ग्रीर किसको बुद्ध उपदेश देते हैं। किस धर्म का वह उपदेश करते हैं श्रीर किस फल के ग्रधिगम के लिए ?

किन्तु, विज्ञानवाद की यह शिक्षा कभी नहीं रही है। विज्ञप्ति से प्रत्येक सत्त्व के आठ विज्ञान समझना चाहिए। यह विज्ञानस्वभाव है। इनके अतिरिक्त विज्ञप्ति से विज्ञान-सम्प्रयुक्त छ प्रकार के चैत्त, दो भाग—दर्शन और निमित्त—जो विज्ञान और चैत्त के परिणाम है, विप्रयुक्त विज्ञान, जो चैत्त और रूप के आकार विशेष है, और तथता, जो शून्यता को प्रकट करती है, और जो पूर्व चार प्रकार का यथार्थ स्वभाव है, समझना चाहिए। इसी अर्थ में सर्व धर्म विज्ञान से भिन्न नहीं है। इसलिए, यह कहा जाता है कि सर्व धर्म विज्ञप्ति है और मान शब्द इसलिए अधिक है, जिसमें विज्ञान से भिन्न रूपादि द्रव्यसत् के अस्तित्व का प्रतिषेध किया जाय।

जो विज्ञिष्तिमान्नता की शिक्षा को यथार्थ जानता है, वह विपर्यास से रहित हो पुण्यसम्भार श्रीर ज्ञानसम्भार के लिए यत्नशील होता है। धर्मशून्यता में उसका आशु प्रतिवेध होता है, श्रीर वह महावोधि का साक्षात्कार कर ससार से अर्दित जीवो का परित्राण करता है। किन्तु सर्वथा अपवादक, जो शून्यता की विपर्याम सज्ञा रखता है (भाविववेक), आगम और युक्ति का व्यपकर्ष करता है, और इन लाभो का प्रतिलाभ नहीं कर मकता। यह अपवादक माध्यमिक है, जो सर्वदा शून्यता का दावा करते है और अद्वय विज्ञानवाद की ओर जो शून्यवाद का झुकाव है, उसका विरोध करते हैं।

एक मुख्य प्रश्न यह है कि किम प्रकार परमार्थ विज्ञानवाद का सामजस्य वाह्यलोक के व्यावहारिक ग्रस्तित्व से हो सकता है। माना कि विज्ञान के वाहर कुछ नहीं है। तब वाह्य प्रत्यय के ग्रभाव में हम विकल्प की विविधता का निरूपण कैसे करते है

शुत्रान-च्वांग वसुवन्धु का उत्तर उद्धृत करते हैं (विशिका, कारिका १८)—'सर्व वीज विज्ञान का ग्रन्योन्यवण उस-उस प्रकार से परिणाम होता है। इस विज्ञान से वह-वह विकल्प उत्पन्न होते हैं।' ग्रर्थात्, विना किसी वाह्य प्रत्यय के ग्रालय-वीज के विविध परिणाम होने के कारण, ग्रीर सम्भूत श्रष्ट विज्ञानों की ग्रन्योन्य सहायता से, ग्रनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

सर्व वीज विज्ञान से विविध शक्ति और वीज अभिप्रेत है, जो अपने फल, अर्थात् सर्व सस्कृत धर्मी का उत्पाद करतें हैं। यह फल मूल विज्ञान में विद्यमान है। इन शक्तियो या वीजो की 'सर्ववीज' कहते हैं, स्योकि वह चार प्रकार के फल का उत्पादन करते हैं (निष्यन्द, विपाक, पुरुपकार, ग्रिधिपति-फल)। केवल विसयोग-फल वर्जित है। यह वीजो से उत्पन्न नहीं होता। यह ग्रसस्कृत है। यह फल वीज-फल नहीं है। सार्ग की भावना से इस फल की प्राप्ति होती है। बीज ज्ञान का उत्पाद करते हैं, ज्ञान सयोजन का उपच्छेद करते हैं, ग्रीर इसीसे विसयोग का सम्मुखीभाव होता है। किन्तु, बीज से मर्व विकल्प का ग्रनन्तर उत्पाद होता है।

हम बीजो को 'विज्ञान' से प्रज्ञप्त कर सकते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव विज्ञान में है। यह मूलविज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं हैं। कारिका 'बीज' ग्रौर 'विज्ञान' दोनो शब्दों का एक माय प्रयोग इस कारण करती है कि कुछ बीज विज्ञान नहीं हैं, यथा साख्यों का प्रधान ग्रीर कुछ विज्ञान बीज नहीं हैं। यथा प्रवृत्ति-विज्ञान।

ग्रष्टम विज्ञान के वीज (जो विकल्पो के हेतु-प्रत्यय है) ग्रन्य तीन प्रत्ययो की सहायता से उस-उस परिणाम (ग्रन्यथाभाव) को प्राप्त होते हैं, ग्रथीत् जन्मावस्था से पाक-काल को प्राप्त होते हैं। यह तीन प्रत्यय प्रवृत्ति-विज्ञान है। सब धर्म एक दूसरे के निमित्त होते हैं।

इस प्रकार, ग्रालय-विज्ञान से ग्रनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

त्रागे चलकर शुग्रान-च्वॉग विज्ञानवाद की पुष्टि ग्रालम्बन-प्रत्ययवाद से करते हैं। लक्षण इस प्रकार है—वह सद्धर्म जिमपर चित्त-चैत्त ग्राश्रित हैं, ग्रीर जो उन चित्त-चैत्तों से जात है, जो तत्सदृश उत्पन्न होते हैं।

वस्तुत<sup>-</sup>, मर्व विज्ञान का इस प्रकार का ग्रालम्बन होता है, क्योंकि किसी चित्त का उत्पाद विना ग्राश्रय के नहीं हो सकता, विना उस ग्रर्थ की उपलब्धि के नहीं हो सकता, जो उसके ग्रभ्यन्तर हैं।

इसी से मिलता-जुलता एक दूमरा प्रश्न यह हे कि यद्यपि ग्राभ्यन्तर विज्ञान है, तथापि वाह्य प्रत्ययों के ग्रमाव में भावों की ग्रव्युच्छिन्न परम्परा का क्या विवेचन है ? शुग्रान-च्यांग उत्तर में वसुवन्धु की कारिका १६ उद्धृत करते हैं —

## कर्मणो वासनाग्राहद्वयवासनया सह । क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्।।

"पूर्व विपाक के क्षीण होते पर कर्म की वासना ग्राहदृय की वासना के साथ ग्रन्य विपाक को उत्पन्न करती है।"

ग्रर्थात्, पूर्वजन्मोपचित कर्म के विपाक के शीण होने पर कर्मवासना (कर्मवीज) ग्रीर ग्रात्मग्राह-धर्मग्राह की वासना (बीज) उपभुक्त विपाक से ग्रन्य विपाक का उत्पाद करनी है। यह विपाक ग्रालय-विज्ञान है। (स्थिरमित का भाष्य, पृ० ३७)।

णुग्रान-च्वांग की व्याख्या इस प्रकार है—निश्चय ही नर्व कर्म चेतना-कर्म है। श्रांग, कर्म जत्पन्न होने के अनन्तर ही विनष्ट होता है। अत , हम नहीं मान गवने कि यह न्यन फलोत्पादन का सामर्थ्य रखता है। किन्तु, यह मूल विज्ञान में फरोत्पादन बीज या प्रतिन का

म्राधान करता है। इन गक्तियों की सज्ञा वासना है। वस्तुनः, यह गवितयाँ कर्मजनित वासना से उत्पन्न होती है।

इन शक्तियो का एक ग्रव्युच्छित्र सन्तान इनके परिपाक-काल-पर्यन्त रहता है। तब ग्रन्तिम शक्ति फल ग्रिभिनिवृत करती है।

साथ-साथ शुम्रान-च्वांग यह दिखाते हैं कि किस प्रकार वीजो की वासना का कार्य ग्राहक ग्रीर ग्राह्य इन दो दिशाग्रो में होता है। मिथ्या ग्रात्मग्राह इन वासनाग्रो ग्रीर विपर्यास के वीजो के लिए सबसे ग्रधिक उत्तरदायी है। इससे जो वीज उत्पन्न होते हैं, उनके कारण सत्त्वों में ग्रपने-पराये का मिथ्या भेद होता है। चित्त की इस सहज विरूपता के कारण ससार-चक ग्रनन्तकाल तक प्रवर्त्तित रहता है। इसके लिए वाह्य प्रत्ययों की कल्पना करने का कोई कारण नहीं है। ग्रथवा ग्राध्यात्मिक हेतु-प्रत्यय जन्म-मरण-प्रवन्ध (या धर्म-प्रवन्ध) का पर्याप्त विवेचन है। यह वाह्य प्रत्यय पर ग्राधित नहीं है, ग्रतः यह विज्ञप्तिमान्न है। एक वार धर्मों की ग्रनादिकालिक प्रवृत्ति से विज्ञप्तिमान्नता का सामजस्य स्थापित कर गुग्रान-क्वांग विस्वभाव के वाद से इसका सामजस्य दिखाते हैं। वौद्धागम में स्थान-स्थान पर स्वभावतय की देशना है।

#### त्रिस्वभाववाद

चीनी ग्रन्थों में विज्ञानवाद के निकाय का एक नाम 'धर्मलक्षण-समय' है। तीन स्वभाव तीन लक्षण कहलाते हैं (व्युत्पत्ति, पृ० ५८७)। वोधिसत्त्व भूमि में 'धर्मलक्षण' शब्द मिलता है। वहाँ भाव-ग्रभाव से विमुक्त वस्तु को 'धर्मलक्षण' कहा है। दूसरे शब्दों में यह वस्तु 'तथता', धर्मता है।

वसुवन्धु ने 'तिस्वभाव-निर्देश' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। जी० तुची को नेपाल में मूल सस्कृत-ग्रन्थ मिला था। इसका प्रकाशन 'विश्व भारती' से हुग्रा है। यहाँ हम धर्मपाल ग्रादि ग्राचार्यों का मत दे रहे है।

स्वभाव तीन है-परिकल्पित, परतन्त्र ग्रौर परिनिष्पन्न ।

#### १ परिकल्पित स्वभाव

स्थिरमित के अनुसार जिस-जिस विकल्प से हम जिस-जिम वस्तु का परिकल्प करते हैं, वह-वह वस्तु परिकल्पितस्वभाव है। विकल्प वस्तु अनन्त है। यह आध्यात्मिक और वाह्य है। यहाँतक कि वृद्धधर्म भी विकल्प वस्तु है। जो वस्नु विकल्प का विषय है, उसकी सत्ता का अभाव है, अत यह विद्यमान नहीं है। अत, यह परिकल्पितस्वभाव है।

नन्द के अनुसार अनन्त अभूत परिकल्प या अभूत विकल्प है, जो परिकल्पना करते हैं। उस-उम विकल्प से विविध विकल्प्य वस्तु परिकल्पित होते हैं। अर्थात्, स्कन्ध-आयतन-धातु आदि आत्मधर्म के रूप में मिथ्या गृहीत होते हैं। इन्हें परिकल्पितस्वभाव कहते हैं। यह स्वभाव परमार्थत नहीं है।

धर्मपाल के अनुसार, 'विकल्प' वह विज्ञान है, जो परिकल्पना करता है। यह पष्ठ श्रीर मप्तम विज्ञान है, जो आत्यन् ग्रीर धर्म में श्रिभिनिविष्ट है। स्थिरमित के अनुसार यह श्राठो सास्रव विज्ञान और उनके चैत्त है। स्थिरमित कहते है कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं; क्योंकि उनका अभूत, परिकल्प-स्वभाव है। इसके विपक्ष में धर्मपाल कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं। यह सत्य है कि तैं धातुक मर्व विज्ञान 'अभूत परिकल्प' कहलाते हैं। इनकी यह सज्ञा इसलिए है, क्योंकि सास्रव विज्ञान तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करता। सास्रव चित्त ग्राह्य-ग्राहक के रूप में अवभासित होता है। इससे यह परिणाम सदा नहीं निकलता कि कुशल अथवा अव्याकृत चित्त में ग्राह होता है, और यह आत्मधर्म की परिकल्पना से समर्थ है। वस्तुत, इस पक्ष में बोधिसत्त्व तथा यानद्वय के आयों को पृष्ठलब्ध ज्ञान (यह एक अनास्रव ज्ञान है) में ग्राह होगा, क्योंकि यह ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक के रूप में अवभासित होता है। तथागत के उत्तर ज्ञान में भी ग्राह होगा, क्योंकि बुद्धभूमिसूत्र में कहा है कि बुद्ध-ज्ञान (ग्रादर्श ज्ञान) काय, भूमि ग्रादि विविध प्रतिविम्बों को अवभासित करता है।

इसमे सन्देह नही कि यह कहा गया है कि ग्रालय-विज्ञान का ग्रालम्बन परिकल्प के बीज है। किन्तु, यह नही कहा गया है कि यह विज्ञान केवल इसका ग्रहण करता है।

सिद्धान्त यह है कि केवल दो विज्ञान—षष्ट ग्रौर सप्तम—परिकल्पना करते हैं। कारिका में जो 'येन येन विकल्पेन' उक्त है, उसका कारण यह है कि विकल्प विविध हैं। यह कौन वस्तु है, जिनपर विकल्प का कारित्र होता है ? सग्रह के ग्रनुसार यह वस्तु परतन्त्र है। यह निमित्तभाग है, क्योंकि यह भाग विकल्प का ग्रालम्बन-प्रत्यय है। किन्तु, प्रश्न है कि क्या परिनिष्पन्न भी इस चित्त का विषय नहीं है ? हमारा उत्तर है कि तत्त्व ग्रथवा परिनिष्पन्न मिथ्याग्राह का ग्रालम्बन-विषय नहीं है। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि तत्त्व विकल्प वस्तु है, किन्तु तत्त्व पर विकल्प का कारित्र प्रत्यक्ष नहीं होता।

परिकल्पित स्वभाव विकल्प का, मिथ्याग्राह का, विषय है किन्तु यह ग्रालम्बन-प्रत्यय नहीं है । इसका कारण यह है कि यह 'वस्तु' सद्धमंं नहीं है ।

परिकल्पित स्वभाव क्या है ? इसमें ग्रौर परक्रन्त्र में क्या भेद है ?

पिश्रमित के अनुसार अनादिकालिक अभूत वासनावश सास्रव चित्त-चैत द्वयाकार में उत्पन्न होता है, ग्राहक-ग्राह्म रूप में उत्पन्न होता है। यह दर्शनभाग और निमित्तभाग है। मध्यान्त का कहना है कि यह दो 'लक्षण' परिकल्पित है। यह कूर्म-रोम के समान अमद्धमं है। किन्तु, इनका आश्रय, अर्थात् स्वसवित्तिभाग प्रत्यय-जनित है। यह स्वभाव अमद्धमं नहीं है। इसे परतन्त्र कहते है, क्योंकि यह अभूतपरिकल्प प्रत्यय-जनित है।

यह कैसे प्रतीत हो कि यह दो भाग असद्धर्म है ? आगम की णिक्षा है कि अभन-परिकल्प परतन्त्र है, और दो गाह परिकल्पित है।

२ धर्मपाल के अनुसार वामना-बल से चित्त-चैत दो भागो मे परिणत होते हैं। यह परिणत भाग हेतु-प्रत्ययवण उत्पन्न होते हैं, और स्वमवित्तिभाग के मदृण परतन्त्र हैं। किन्तु, विकल्प सद्धर्म, अभाव, तादात्म्य, भेद, भाव-अभाव, भेदाभेद, न भाव न अभाव, न अभेद, न भेद इन मिथ्या गज्ञायो का गहण करता है। इन विविध याकारों में दो-दो भाग परिकल्पित कहलाते हैं।

वस्तुतः, ग्रागम कहता है कि प्रमाणमात्र, द्वयमात्र (दो भाग) ग्रीर इन दो भागो की विविधता परतन्त्र है। ग्रागम यह भी कहता है कि तथना को छोडकर णेप चार धर्म परतन्त्र में मगृहीत है।

यदि निमित्तभाग परनन्त्र नहीं है, तो वे दो भाग जो बुद्ध के श्रनास्रव पृष्ठलब्ध ज्ञान है, परिकल्पित होगे। यदि श्राप यह मानने हैं कि यह दो भाग परिकल्पित है, तो उत्तर श्रनास्रव ज्ञान की उत्पत्ति, विना एक निमित्तभाग को ग्रालम्बन बनाये होती है; क्योंकि यदि एक निमित्तभाग इसका श्रालम्बन होता, तो यह श्रायं-मार्ग मे पर्यापन्न न होता।

यदि दो भाग परिकल्पित हं, तो यह ग्रालम्बन प्रत्यय नहीं, क्योंकि परिकरिपत ग्रमद्-धर्म है। दो भाग वासित नहीं कर सकते, बीजों का उत्पाद नहीं कर सकते, ग्रत उत्तर बीज के दो भाग न होगे।

वीज निमित्तभाग में नगृहीत हैं, अत यह असद्धर्म है। अत , बीज कैंसे हेतु-प्रत्यय होगे ?

यदि वो नाग, जो चिन्न के अभ्यन्तर है, श्रीर बीजो से उत्पन्न होते हैं, परतन्त्र नहीं हैं, तो जिस स्वभाव को ग्राप परतन्त्र नानते हैं, श्रर्थात् सवित्ति नाग जो इन दो भागो का स्राध्य है, परतन्त्र न होगा, क्योंकि कोई कारण नहीं है कि यह परतन्त्र हो, जब दो भाग परतन्त्र नहीं हैं।

श्रन जो प्रत्ययजनित है, वह परतन्त्र है।

#### २ परतन्त्र स्वभाव

'परतन्व' प्रत्यय मे उद्भूत विकल्प है। यह ग्राख्या 'प्रतीत्यममुत्पन्न' से मिलती-जुलती है। जो हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है, वह परतन्त्र है। एकमत मे यह लक्षण केवल क्लिप्ट परतन्त्र का है। वास्तव में, ग्रनाम्बव परतन्त्र को 'विकत्प' नही कहते। एक दूसरा मत यह है कि सब चित्त-चैत्त, चाहे साम्रव हो या ग्रनाम्बव, 'विकल्प' कहे गये है।

### ३ परिनिष्पन्न स्वभाव

परिनिष्पन्न स्वभाव परतन्त्र की परिकल्पित से सदा रहितता है। यह ग्रविकार-स्वभाव है। यह ग्राह्य-ग्राहक इन दो विकल्पो मे विनिर्मु क्त होता है। इम स्वभाव की सदा ग्राह्य-ग्राहक भाव मे ग्रत्यन्त रहितना होती है। यह किल्पित स्वभाव की ग्रत्यन्त ग्रून्यता है। ग्रतएव, यह परतन्त्र मे न ग्रन्य है, ग्रौर न ग्रनन्य, यथा ग्रनित्यता ग्रनित्य धर्मों से न ग्रन्य है, ग्रौर न ग्रनन्य।

पुन गुग्रान-च्वांग कहते हैं कि परिनिष्पन्न धर्मों का वस्तुसत्, ग्रविपरीत, निष्ठागत ग्रीर परिपूर्ण स्वभाव है। यह तथता मे, ग्रर्थात् सत्त्व-ग्रमत्त्व से पृथक् गून्यता की ग्रवस्था में वस्तुग्रों के स्वभाव में मिश्रित हैं। ग्रत परिनिष्पन्न (= तथता) परतन्त्र से न ग्रन्य है, न मनन्य। यदि यह इससे ग्रभिन्न होता, तो तथता धर्मधातु (परतन्त्र) का वस्तुस्वभाव न होती। यदि यह इसरो ग्रिभिन्न होता, तो तथता न नित्य होती, ग्रीर न पूर्ण विणुद्ध। पुन यह कैसे माना जाय कि परिनिष्पन्न स्वभाव ग्रीर परतन्त्र स्वभाव का न नानात्व है, ग्रीर न एकत्व? इसी प्रकार, ग्रानित्य, णून्य, ग्रानात्म धर्म तथा ग्रानित्यता, णून्यता, नैरात्म्य न ग्रान्य है, न ग्रान्य। यदि ग्रानित्यता सस्कारों से ग्रान्य होती, तो सस्कार ग्रानित्य होते, यदि ग्रानन्य होती, तो ग्रानित्यता उनका सामान्य लक्षण न होती। वस्तुत धर्मता या तथता का धर्मों से ऐसा सम्बन्ध है, क्योंकि परमार्थ ग्रीर सवृति ग्रान्योन्याश्रित है।

जनतक परिनिष्पन्न का प्रतिवेध, साक्षात्कार नहीं होता, तवतक यथाभ्त परतन्त्र भाव को हम नहीं जान सकते। ग्रन्य ज्ञान में परतन्त्र का ग्रहण नहीं होता। स्वभावत्रय का चित्त से श्रभेद

इस विचारों के अनुसार णुग्रान-च्वाँग चित्त का इतिहास वताते हैं। निःसन्देह सदा से चित्त-चैत्त अपने विविध ग्राकारों (भागों) में अपने को स्वत जानते हैं, श्रर्थात् परतन्त्र जो अपने को जानता है, सदा से स्वविज्ञान का विषय है। किन्तु चित्त-चैत्त सदा पुद्गल-धर्मग्राह से सहगत होते हैं, श्रत वह प्रत्यय-जिनत चित्त-चैत्तों के मिथ्या स्वभाव को यथार्थ में नहीं जानते। माया-मरीचि-स्वप्नविषय-प्रतिविग्व-प्रतिभास-प्रतिश्रुत्क-उदकचन्द्र-निर्मितवत् उनका ग्रस्तित्व नहीं है, श्रीर एक प्रकार से है भी। धनव्यूह में कहा है—''जवतक कोई तथता का दर्शन नहीं करता, वह नहीं जानता कि धर्म ग्रीर सस्कार मायादिवत् वन्तुमत् नहीं हैं, यद्यपि वह हैं।''

ग्रत, यह मिद्ध होता है कि स्वभावत्वय (लक्षणत्रय) का चित्त-चैत्त से व्यतिरेक नहीं है। चित्त-चैत्त ग्रौर उनके परिणाम (दर्णन ग्रौर निमित्तभाग) का प्रत्ययो से उद्भव होता है, ग्रौर इसलिए मायाप्रतिविम्बवत् वह नहीं है, ग्रौर एक प्रकार से मानो वह है। इस प्रकार, वह मूढ पुरुषों की प्रवचना करते हैं। यह सब परतन्त्र कहलाता है।

मूढ परतन्त्रों को मिथ्या ही ग्रात्मधर्म ग्रवधारित करते हैं। खपुष्प के समान इस 'म्वभाव' का परमार्थत ग्रस्तित्व नहीं है। यह परिकित्पत है। किन्तु, वस्तुत यह ग्रात्मधर्म, जिन्हें एक मिथ्या सज्ञा परतन्त्र पर 'ग्रारोपित' करती है, शून्य है। चित्त के परमार्थ स्वभाव को (विज्ञान ग्रौर दो भाग) जो ग्रात्मधर्म की गून्यता में प्रकाणित होता है, परिनिष्पन्न की सज्ञा दी जाती है। हम कहेंगे कि धर्मों का मत्-स्वभाव उनका विणुद्ध लक्षण या विज्ञान-गिक्त है, जो प्रत्येक प्रकार के साक्षात्कार से गून्य है। इस स्वभाव का विपरीत भाव मर्वगत धर्म (फेनोमेनिज्म) है, ग्रौर धर्मों का स्थूल ग्रौर मिथ्या ग्राकार ग्रात्मधर्म का प्रतिभाग है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन सवकी गमिष्ट विगुद्ध विज्ञानायतन रहता है।

## श्रसंस्कृत धर्मों की जिस्वभावता

इसके ग्रनन्तर, णुग्रान-च्वाँग इस विस्वभाववाद का प्रयोग मानाणादि शसरत्त धर्म के सम्बन्ध में करते हैं। वह कहते हैं कि विज्ञान ग्राकाणादि प्रभास के ग्राकार में परिणत होता है। क्योंकि श्राकाश चित्त-निमित्त है, इसलिए यह गरतन्त्र में सगृहोत होता है। किन्तु, मूढ इस निमित्त को द्रव्यसन् किन्पत करते हैं। इस करपना में श्राकाश परिकल्पित है। श्रन्तत द्रव्य श्राकाश को तथता का एक श्रपर नाम श्रवधारित करने से श्राकाश परिनिष्पन्न है। इसी प्रकार, शुत्रान-च्नाँग सिद्ध करते हैं कि श्रन्य ग्रमस्कृत तथा रूप-वेदना-सन्ना-संस्कार-विज्ञान यह पाँच सस्कृत धर्म-दृष्टि के श्रनुसार परिकल्पित, परतन्त्र श्रीर तथता में सगृहीत हो सकते हैं।

#### त्रिस्वभाव की सत्ता

एक ग्रन्तिम प्रण्न है कि वस्तु द्रव्यसत् है या ग्रसत्। परिकल्पित स्वभाव केवल प्रज्ञप्तिसत् है; क्यों कि यह मिथ्या रुचि से व्यवस्थित होता है। परतन्त्र प्रज्ञप्ति ग्रीर वस्तुसत् दोनो है। पिण्ड, समुदाय (सचय, सामग्री), यथा घटादि, प्रज्ञप्ति है। चित्त-चैत्त-रूप प्रत्यय-जनित है, ग्रत वह वस्तुसत् है। परिनिष्पन्न केवल द्रव्यसत् है, क्यों कि यह प्रत्यया- घीन नहीं है।

किन्तु, यह तीन स्वभाव भिन्न नहीं है, क्यों कि पिरिनिष्पन्न परतन्त्र का द्रव्यसत् स्वभाव है, ग्रीर परिकल्पित का परतन्त्र में व्यतिरेक नहीं है। किन्तु, यद्यपि यह एक दृष्टि से भिन्न नहीं है, तथापि दूसरी दृष्टि से यह ग्रभिन्न नहीं है, क्यों कि मिथ्याग्रह, प्रत्ययोद्भव ग्रीर द्रव्यमत-स्वभाव भिन्न है।

#### नि.स्वभाववाद

यह विचार णकर के वेदान्त-मत के ग्रत्यन्त समीप है। शुग्रान-च्वाँग इस खतरे को ममझते हैं। माध्यमिको के प्रतिवाद करने पर वह इस प्रश्न का विचार करते हैं कि यदि तीन स्वभाव हैं, तो भगवान् की यह शिक्षा क्यो है कि सब धर्म नि स्वभाव हैं। दूसरे शब्दो में यदि धर्म के तीन ग्राकार हैं, तो भगवान् का यह उपदेश क्यो है कि वह शून्य ग्रौर नि स्वभाव हैं। यह प्रश्न वडें महत्त्व का हैं। यह देखना है कि शुग्रान-च्वांग के से नागार्जुन की शून्यता का त्याग कर वस्तुग्रो की विज्ञान-मत्ता को व्यवस्थित करते हैं।

उनका उत्तर यह है कि इन तीन स्वभावों में से प्रत्येक ग्रपने ग्राकार में नि स्वभाव है। विविध स्वभाव की विविध नि स्वभावता है। इस ग्रिभसिन्ध से भगवान् ने सब धर्मों की नि स्वभावता की देशना की है।

परिकित्पत नि स्वभाव है, क्योंकि इसका यही लक्षण है ('लक्षणेन')। परतन्त्र की नि स्वभावता इमिलए है, क्योंकि इसका म्वयभाव नहीं है। परिनिष्पन्न की नि स्वभावता इमिलए है, क्योंकि यह परिकित्पत ग्रात्मधर्म से शून्य है। परिनिष्पन्न धर्म परमार्थ है। यह भूततथता है। यह विज्ञाप्तिमान्नता है।

यह तीन नि स्वभावता काण लक्षण-नि.स्वभावता, उत्पत्ति-नि स्वभावता ग्रीर परमार्थ-नि.स्वभावता है। भू-यता की गम्भीरता से संसार विज्ञानोदिध के तल पर उठता है। यदि वृद्ध ने कहा है कि सर्व धर्म निस्वभाव है, तो इसका यह ग्रर्थ नही है कि उनमें स्वभाव का परमार्थत ग्रभाव है। यह वृद्धवचन नीतार्थ नहीं है। परतन्त्र ग्रीर परिनिष्पन्न ग्रसत् नहीं है। किन्तु, मूढ पुरुष विपर्यासवश उनमें ग्रात्मधर्म का ग्रध्यारोप करते हैं। वह विपरीत भाव से उनका द्रव्यसत् ग्रात्मधर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। यह परि-किल्पत स्वभाव है। इन ग्राहो की व्यावृत्ति के लिए भगवान् सामान्यत कहते हैं कि जो सत् हैं (दूसरा-तीसरा स्वभाव) ग्रीर जो ग्रसत् हैं (प्रथम स्वभाव), दोनो नि स्वभाव हैं। यदि परिकिल्पत लक्षणत नि स्वभाव हैं, तो परतन्त्र ऐसा नहीं हैं। परतन्त्र उत्पत्ति-नि स्वभाव हैं। इसका ग्रर्थ यह है कि मायावस् यह हेतु-प्रत्यय-वश उत्पन्न होता है, ग्रीर यह परतन्त्र है। यह स्वयस्वभाव नहीं है, जैसा विपर्यासवश ग्राह होता है। ग्रत, हम एक प्रकार से कह सकते हैं कि यह नि स्वभाव है, किन्तु वस्तुत यह सस्वभाव है।

परिनिष्पन्न का विशेष रूप से विचार करना है। इसे भी हम उपचार से इस अर्थ में नि स्वभाव कह सकते है कि इसका स्वभाव परिकित्पत ग्रात्मधर्म से परमार्थत शून्य है। वस्तुत , स्वभाव का इसमे ग्रभाव नही है। यथा यद्यपि महाकाश सब रूपो को ग्रावृत करता है, ग्रीर उसका प्रतिषेध करता है, तथापि रूपो की नि स्वभावता को प्रकट करता है, उसी प्रकार परमार्थ शून्यता से, ग्रात्मधर्म की नि स्वभावता से प्रकट होता है, ग्रीर नि स्वभाव कहला सकता है। किन्तु, यह कम परमार्थ नही है, ग्रत धर्मों की शून्यता का वचन नीतार्थ मही है। विज्ञान्तिमाद्रता परमार्थ है।

# ज विंश अध्याय

### माध्यमिक-नय

(आचाय नागार्जन तथा चन्द्रकीत्ति के आवार पर )

# माध्यमिक दर्शन का महत्त्व

स्राचार्य नागाज न मध्यमक-शान्त्र के स्रादि प्राचार्य हैं। वीद्व विद्वान् उनकों स्रपर वुद्ध के समान सानते हैं। नागार्जुन की मध्यमक कारिका पर 'प्रसन्नपदा' नाम की वृत्ति है। उसके रचियता स्राचार्य चन्द्रकीर्ति हैं। उन्होंने वृत्ति में कहा है कि नागार्जुन के दर्शन-तेज में परवादियों के मन स्रार लोक मानम तथा उनके स्रन्थकार ईन्धन के समान सस्म हो जाते हैं। उनके नीदण तर्क-शरों से समारोत्पादक नि शेष स्रिरंसेनाएँ नष्ट हो जाती है। चन्द्रकीर्ति ऐसे स्राचार्य के चरणों में प्रणिपात करके उनकी कारिका की विवृत्ति करते हैं, जो तर्क ज्वाला में स्राकुलित है। 'प्रसन्नपदा' नाम की वृत्ति के द्वारा वह स्राचार्य का स्रिप्राय विवृत्त करने हैं। चन्द्रकीर्ति के स्रनुमार स्राचार्य के शास्त्र-प्रणयन का यह प्रयाम दूसरों को प्रथम चिनोत्पाद से लेकर प्रज्ञापारिमता-नय के स्रविपरीत ज्ञान कराने तक के लिए हैं। स्राचार्य का यह प्रयास केवल करणावण है। माध्यिमक-दर्शन का प्रतिपाद्य

जो मकल मध्यमक-शास्त्र का श्रमिधेयार्थ है, उसमे श्रमित्र स्वभाव परमगुरु तथागत का है, श्रीर वहीं प्रतीत्यममुत्पाद है। इसलिए, श्राचार्य नागार्जुन शास्त्र के श्रारम्भ में श्रिनिरोधादि श्रप्ट विशेषणों से विशिष्ट प्रतीत्यममुत्पाद को प्रकाशित करने हैं, श्रीर उपदेण्टा नथागत की वन्दना करने हैं। श्रीचार्य चन्द्र होत्ति नागार्जुन के एक-एक विशेषणों का श्रमिप्राय वताने हैं।

निरोध क्षणभगता है, किन्तु तत्त्व मे क्षणभगता नहीं है, ग्रतः वह 'ग्रनिरोध' है। उत्पाद ग्रात्मभावोन्मजन है, तत्त्व मे ग्रात्मभावोन्मेष नहीं है, ग्रत वह 'ग्रनृत्पाद' है।

<sup>9 &#</sup>x27;तर्कज्वाला' श्रायं भव्य की माध्यभिक्तकारिका पर पक्त बृत्ति है। उसका पूरा नाम 'मध्यम-हृदयवृत्ति तर्कव्वाला है। चन्द्रकीर्ति के श्रनुमार 'तर्कज्वाला' मे श्राचार्य का मन्तव्य विकृत हुआ है।

२ अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम श्रनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् । यः प्रतीत्यममुत्पाद प्रपञ्चोपशम शिव, देशवामाम सम्बुद्धम्तं वन्दे वदता वरम् ॥

उच्छेदन सन्तान-प्रबन्ध का विच्छेद है, परन्तु तत्त्व मे विच्छेद नही है, अत वह 'भ्रनुच्छेद' है।

सार्वकालिक स्थाणुता शाश्वतिकता है, परन्तु तत्त्व मे वह नही है, ग्रत वह 'ग्रशाश्वत' है।

तत्त्व में न भिन्नार्थता है, न श्रभिन्नार्थता, अत. वह 'अनेकार्थ' ग्रोर 'अनानार्थ' है। तत्त्व में श्रागम ग्रीर निर्गम नहीं है, श्रत वह 'अनागम' ग्रीर 'ग्रनिर्गम' रूप है। इन विशेषणों से निर्वाण की सर्वप्रपनोपशमता एव उसका शिवत्व वोधित होता है। यह मध्यमक-शास्त्र का प्रतिपाद्य एव प्रयोजन है।

हेतु-प्रत्ययों की ग्रपेक्षा करके ही सकल भावों (पदार्थों) की उत्पत्ति होती है। ग्राचायं चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि इस नियम को प्रकाशित कर भगवान् ने भावों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वादियों के विभिन्न सिद्धान्तों का—ग्रहेतुवाद, एकहेतुवाद, विषमहेतुवाद ग्रादि का निराकरण किया है। इमलिए, विभिन्न वादियों का स्वकृतत्व, परकृतत्व, स्वपरोभयकृतत्व का सिद्धान्त निषिद्ध हो जाता है। इन वादों के निषेध से वस्तुत. पदार्थों का सावृत-(ग्रयथार्थ) रूप उद्भावित होता है, ग्रीर यह सिद्ध होता है कि ग्रार्य-ज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावत ग्रनुत्पन्न है। ग्रत, प्रतीत्य-समृत्पन्न पदार्थों में निरोधादि नहीं है।

आर्यं जब प्रतीत्यसमृत्पाद का उवत विशेषणो से ज्ञान कर लेता है, तव स्वभावत. उसके प्रपचो का उपशम होता है। इसलिए, आचार्य प्रतीत्यसमृत्पाद का विशेषण 'प्रपचोपशम' देते हैं। वह 'शिव' है, इसलिए कि वहाँ चित्त-चैत अप्रवृत्त है। ज्ञान-ज्ञेय-व्यवहार निवृत्त हे, इसलिए तत्त्व जाति-जरा-मरणादि उपद्रवो से रहित है। पूर्व अभिहित विशेषणो से विशिष्ट प्रतीत्य-समृत्पाद की देशना ही मध्यमक-शास्त्र का अभीष्टार्थ है। भगवान् वृद्ध ने ही इसे अवगत कराया है, अत उनके 'अविपरीतार्थवादित्व' (मत्यवक्ता होने से) आचार्य प्रसादानुगत होकर उन्हें 'वदता वर' आदि अनेक विशेषणो से विशेषित करते हैं और प्रणाम करते हैं।

चन्द्रकीत्ति कहते है कि प्रतीत्यसमृत्पाद के इन विशेषणों में यद्यपि सर्वप्रथम निरोध के निषेध का उल्लेख है, जब कि उत्पाद का प्रतिपेध पहले होना चाहिए। किन्तु, उत्पाद ग्रार निरोध में पौर्वापर्य नहीं है, ससार का ग्रनादित्व है; इसे स्पष्ट करने के लिए ग्रनिरोध का प्रथम उल्लेख ग्रावश्यक हुग्रा।

## स्वतः उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन

अन्यवादी पदार्थों की उत्पत्ति स्वत , परत या उभयत स्वीकार करते हैं । परन्न आचार्य नागार्जु न पदार्थों की उत्पत्ति किसी तरह नहीं मानते । उनके मन में किसी भी देशिक या कालिक आधार में कोई भी आधेय वस्तु किसी भी सम्बन्ध में न स्वत उत्पन्न होती है, न परतः और न उभयत । वस्तु का स्वत उत्पाद माने, तो उत्पन्त की ही पुन. उत्पत्ति माननी पढेगी। स्वतः उत्पाद-पक्ष के खण्डन से परत उत्पाद का सिद्धान्त भी मिद्ध नही होता। श्रागे चलकर हम परत उत्पाद का खण्डन करेगे।

#### माध्यमिक की पक्षहीनता

माध्यमिक का ग्रपना कोई पक्ष नहीं है, ग्रीर न कोई प्रतिज्ञा ही है, जिसकी सिद्धि के लिए वह स्वतन्त्र ग्रनुमान का प्रयोग करे। माध्यमिक स्वत उत्पादवादी साख्य के प्रतिज्ञार्य का केवल परीक्षण करता है। साख्य ग्रपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए सचेप्ट है, इसलिए उनके वादों का खण्डन ग्राचार्य चन्द्रकीत्ति विस्तार से करते हैं। वह कहते हैं कि किसी भी उपपित्त से साख्य का स्वत उत्पादवाद सम्भव नहीं है। जो वस्तु स्वरूप से विद्यमान है, उसकी पुन उत्पत्ति निष्प्रयोजन है। यदि जात स्वरूप का ही जन्म मानें, तो कभी वस्तुग्रों का ग्रजातत्व (विनाश) सिद्ध नहीं होगा।

माध्यमिक पर वादियों का एक विशेष ग्राक्षेप है कि माध्यमिक का जब स्वपक्ष नहीं है, तब परपक्ष के खण्डन के लिए वह अनुमानादि का प्रयोग कैसे करता है। चन्द्रकीर्त्त इसके समाधान में कहते हैं कि उन्मत्त के साथ तो हमारा विवाद नहीं है, प्रत्युत हेतु-दृष्टान्तवादियों के साथ है। ऐसे लोगों से विचार के लिए ग्राचार्य को भी ग्रपनी ग्रनुमानप्रियता प्रकट करनी पड़ती है। वस्तुत, माध्यमिक का कोई पक्षान्तर नहीं है, इसलिए उसे ग्रनुमान का स्वतन्त्र प्रयोग करना युक्त नहीं है। विग्रहव्यावर्त्तनी में ग्राचार्य कहते हैं कि यदि मेरी कोई प्रतिज्ञा होती, तो मुझपर ग्रनुमान-सम्बन्धी दोप लगते, किन्तु मेरा कोई पक्ष नहीं है। मेरे पक्ष में कोई प्रतिज्ञा इसलिए भी नहीं वनती कि प्रत्यक्ष ग्रादि प्रमाणों से किसी वस्तु की उपलब्धि प्रमाणित नहीं होती। उपलब्धि हो, तब उमके लिए प्रवर्त्तन, निवर्त्तन या उसके माधन का प्रयन उठे। ग्रत, हमपर ग्रन्य वादियों का किसी प्रकार भी उपालम्भ नहीं है। ग्रायदेव भी कहते हैं कि सत्, ग्रसत्, मदसत् इनमें से जिमका कोई भी पक्ष ही नहीं है, उसपर चिरकाल में भी कोई दोप ग्रारोपित नहीं किये जा सकते।

माध्यमिक को वादियों के ग्राक्षेपों का परिहार स्वपक्ष में दोषों के ग्रप्रसगापादन (दोप न लगने की प्रणाली) से करना चाहिए। यथा स्वत उत्पादवादी साख्य से पूछना चाहिए कि ग्राप कार्यात्मक स्व से स्वत उत्पाद मानते हैं या ठारणात्मक १प्रथम पक्ष में सिद्धसाधनता (सिद्ध वात को ही सिद्ध करना) होगी, क्यों कि कार्यात्मक का कार्यत्व स्वय सिद्ध है, विद्यमान है। द्वितीय पक्ष में विरुद्धार्थता है; क्यों कि कारणात्मना विद्यमान की ग्रवस्था में ही उसका विरोधी कार्यात्मकत्व भी स्वीकार करना पड़ेगा। इस तर्क में विद्यमानत्व हेतु माध्यमिक का नहीं है, इमलिए सिद्धसाधनता या विरुद्धार्थता का परिहार उसे नहीं करना है।

श्रन्यवादी कहते हैं कि जब माध्यमिक को स्वतन्त्र श्रनुमान का श्रिमधान नहीं करना है, श्रीर उमके पक्ष में पक्ष-हेतु-दृष्टान्त भी ग्रसिद्ध है, तब वह साख्य के स्वत उत्पाद के प्रतिषेध की श्रपनी प्रतिज्ञा का साधन कैंसे करेगा, श्रीर पर की प्रतिज्ञा का निराकरण भी कैंसे करेगा, क्योंकि वादी-प्रतिवादी उभय-सिद्ध अनुमान से ही निराकरण सम्भव होता है। एक श्रोर पूर्व-पक्षी श्रपने अनुमान को निर्दुष्ट रखने के लिए दोषरहित पक्ष-हेतु-दृष्टान्तो का प्रयोग करेगा। किन्तु दूसरी श्रोर माध्यमिक उनमे दोषो का श्रमिधान करेगा नही, इस प्रकार वादी के दोपो का परिहार नहीं होगा, फलत माध्यमिक परपक्ष का निराकरण नहीं कर सकेगा।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि जो व्यक्ति जिस ग्रर्थ को जिन उपपत्तियों से निण्चयपूर्वक स्वय जानता है, वह ग्रपना निण्चय दूसरों में भी उत्पन्न करने की इच्छा से उन उपपत्तियों का उपदेश करता है। इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि पर को ही स्वाभ्युपगत प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए हेतु ग्रादि का उपादान करना चाहिए, माध्यमिकों को नहीं। वस्तुत, दूसरे के प्रति हेतु ग्रादि का प्रयोग नहीं होता, बल्कि ग्रपने पक्ष के निण्चय के लिए होता है। ग्रन्यथा, उसका पक्ष स्वय विसवादित हो जायगा, फिर वह दूसरे को स्वप्रतिज्ञा का निण्चय क्या करा मकेगा? इसलिए, युक्तिहीन पक्ष का स्पष्ट दोष यही है कि वह स्वप्रतिज्ञार्थ के साधन में ही ग्रपने को ग्रसमर्थ बना लेता है। ऐसी ग्रवस्था में माध्यमिक को परपक्षीय ग्रनुमान के बाधो-द्भावन से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता।

## माध्यमिक की दोषोद्भावन-प्रणाली

चन्द्रकीर्ति एक विशेष वात की ओर घ्यान दिलाते हैं। यद्यपि माध्यमिक की ग्रपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं है, इसलिए उसे अनुमान के स्वतन्त्र प्रयोग की आवश्यकता नहीं पडती, फिर भी उसे परपक्ष के अनुमान-विरोधी दोषों की उद्भावना करनी चाहिए। इसके समर्थन में वह आचार्य बुद्धपालित की प्रणाली का उल्लेख करते हैं—पदार्थ स्वत ही उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि स्वात्मना विद्यमान की उत्पत्ति मानने में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जैसे किसी को स्वात्मना विद्यमान घटादि के उत्पाद की अपेक्षा नहीं होती, इसी प्रकार स्वात्मना विद्यमान समस्त भावों का पुन उत्पाद मानना व्यर्थ है। इस प्रकार, साख्यों के अनुमान में माध्यमिक आचार्य बुद्धपालित ने साधम्यं, दृष्टान्त और हेतु के उपादान के द्वारा विरोध का उद्भावन किया है।

माध्यमिक के अनुमान में हेतु और दृष्टान्त के अनिभधान का दोप नही दिया जा सकता, क्यों कि स्वत उत्पादवादी साख्य के पक्ष में अभिव्यक्त घट की पुन अभिव्यक्ति अभीष्ट नहीं है। इस सिद्ध रूप को ही माध्यमिक दृष्टान्त के रूप में ग्रहण करेगा। इसी प्रकार, माध्य-सम्मत अनिभव्यक्त शक्ति रूप को ही उत्पाद-प्रतिपेध से विशेषित करके माध्यमिक अपने अनुमान में साध्य स्वीकार करेगा। इस प्रकार, माध्यमिक-पक्ष म मिद्धमाधनता और विनद्धार्यता आदि दोप नहीं लगेगे।

ग्रथवा, स्वत उत्पादवाद के निरास के लिए माध्यमिक मास्य के उन ग्रनुमान में दोपोद्भावन करेगा, जिससे साध्यवादी पुरुष से ग्रतिरिक्त नगस्त पदार्थों का स्वत उत्पाद निद्ध करता है; क्योंकि माध्यमिक साख्य-सम्मत पुरुष के दृष्टान्त में ही 'स्वात्मना विद्यमानत्व' हेतु के वल से स्वत उत्पाद का निषेध सिद्ध कर देगा। साख्यवादी यदि कहें कि उत्पाद के निषेध में मुझ ग्रिभिव्यक्तिवादी का अनुमान वाधित नहीं होगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुपल्ट्य की उपलब्धि—अभिव्यक्ति ग्रीर उत्पाद दोनों में समान है। राजिए, उत्पाद शब्द से ग्रिभिव्यक्ति का ही ग्रिभिधान हैं। उत्पाद शब्द से ग्रिभिव्यक्ति स्वीकार करना यनुपान नहीं है, क्योंकि ग्रिथवानय विपुल ग्रथों के द्योंनक होते हैं। इभीनिए, वे ग्रपेक्षित समस्त भ्रिश्रं का महिह करके विशेष ग्रथं के बोधन में प्रवृत्त होते हैं।

यदि अनुमान के पक्ष, हेतु आदि प्रसग से विपरीत अर्थों का बोधन कर भी, तो उसमें माध्यिमिक का क्या सम्बन्ध ने क्यों कि उसकी कोई स्वप्रतिज्ञा नहीं है, जिसमें उसके सिद्धान्त का विरोध होता हो। ग्रांर फिर, यदि प्रसागविपरीतता की आपित्त से परवादी ने पक्ष में दोप आते हैं, तो वह माध्यिमिक को अभीष्ट ही होगा। नि स्वभाववादी अपने प्रयोग से सस्वभाववादी के अनुमान को जब दोपपूर्ण सिद्ध करता है, तब भी प्रयोग-मान्न से प्रसगविपरीतार्थता (अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाना) का दोप माध्यिमिक पर नहीं लगेगा, क्यों कि शब्द दाण्डपाणिक के समान वक्ता को अस्वतन्त्र नहीं वनाते, प्रत्युत वह वक्ता की विवक्षा का अनुविधान-मान्न करते हैं। वस्तुत, माध्यिमिक पर-प्रतिज्ञा के प्रतिपेध-मान्न से ही सफल है।

श्राचार्य प्रसगापत्ति के द्वारा भी परपक्ष का निराकरण करते हैं। श्राचार्यगण मध्यमक-दर्शन को अगीकार करके भी तर्कश्रास्त्र में अपनी अतिकुष्रलता आविष्कृत करने के लिए स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग करते हैं। इनके ऐसे अनुमान-प्रयोगों से तार्किक पक्ष की ही दोप-राणि उपलक्षित होती है, जैसे माध्यिमिक का वह अनुमान-प्रयोग लीजिए, जिसमें वह माध्य-मम्मत पुरुष के दृष्टान्त में अनुत्पाद के साथ विद्यमानत्व-हेतु की व्याप्ति देखकर सर्वत्र आध्यात्मिक आयतनों का पारस्परिक दृष्टि से अनुत्पाद सिद्ध करता है ('आध्यात्मिकानि आय-तनानि न परमार्थत स्वतः उत्पन्नानि, विद्यमानत्वात्, चैतन्यवत्')।

यहाँ प्रश्न उठता है कि माध्यमिक के इस अनुमान-प्रयोग में किस ग्रर्थ की सिद्धि के लिए 'परमार्थत ' विशेषण है, क्योंकि लोक-सवृत्ति (लोकबुद्धि) से स्वीकृत उत्पाद ग्रप्रतिपेध्य होता है। किन्तु माध्यमिकों के मत में लोक-सवृत्ति से भी भावों का म्वत उत्पाद मिद्ध नहीं होता। माध्यमिक से इतर मतावलिम्वयों की ग्रपेक्षा से भी यह विशेषण सार्थक नहीं है, क्योंकि माध्यमिक परमत की उत्पाद ग्रादि व्यवस्था को सवृत्या भी कहाँ स्वीकार करता है ? यह भी नहीं है कि मामान्य जन स्वत उत्पाद से प्रतिपन्न हो, जिनकी ग्रपेक्षा से यह विशेषण मार्थक वने। वस्तुत, मामान्य जन स्वत, परत ग्रादि के विचार में उत्तरता ही नहीं। हाँ, वह कारण से कार्य की उत्पत्ति की व्यवस्था ग्रवश्य मानता है।

यह हो सकता या कि जो लोग मावृतिक दृष्टि से भावों की उत्पत्ति मानते हैं, उनके निरा-करण के लिए परमार्थ विजेषण नार्थक हो । किन्तु, इस दृष्टि से जो श्रनुमान का प्रयोग होगा, वह अवश्य ही पक्ष-दोष, हेतु-दोष से ग्रस्त होगा। पक्ष-दोष तो इसलिए होगा कि पारमार्थिक रूप से चक्षुरादि आयतनो का स्वतः उत्पाद माना नही जाता। ऐसी अवस्था मे अनुमान का आधार ही असिद्ध है। यदि उत्पत्ति-प्रतिषेध के साथ 'परमार्थ' का योग करे और अर्थ करे कि सावृत चक्षुरादि की परमार्थत उत्पत्ति नहीं है, तो यह युक्त न होगा, क्योंकि परपक्ष चक्षुरादि को वस्तुसत् मानता है। उसे माध्यमिक की प्रज्ञप्ति-सत्ता इन्ट नहीं है। इस प्रकार, आधार असिद्ध होगा और अनुमान पक्ष-दोष से ग्रस्त होगा।

चन्द्रकीर्त्ति यहाँ यह उद्भावन करते हैं कि 'शब्द ग्रनित्य हैं' इत्यादि पक्ष को सिद्ध करने के लिए धर्म-सामान्य (ग्रनित्यता-साधारण) ग्रीर धर्मी-सामान्य (ग्रव्द-माधारण) का ग्रहण करना चाहिए। ग्रन्थथा विशेष. ग्रहण करने से ग्रनुमान-ग्रनुमेथ-व्यवहार मदा के लिए समाप्त हो जायगा। शब्द भौर ग्रनित्यता इस पक्ष ग्रौर साध्य मे वादियों मे यह विप्रतिपत्ति होगी कि यहाँ किस शब्द का ग्रहण करे। बौद्ध-सम्मत चातुर्महाभौतिक शब्द ले, तो वह ग्रन्थ मत मे ग्रसिद्ध होगा। इसी प्रकार 'ग्रनित्यता' से वैशेषिकदि, सम्मत 'सहेतुक विनाश' ग्र्यं ले, तो वह बौद्ध-मत मे ग्रसिद्ध है। बौद्ध-सम्मत 'निहेंतुक विनाश' ग्रथं करे, तो पर को ग्रसिद्ध होगा। ऐसी ग्रवस्था मे ग्रनुमान के लिए धर्म-धर्मी मामान्य-मान्न का ग्रहण करना चाहिए, जिससे वादियों मे तत्त्वकथा चल सके। ग्रत, प्रकृत स्थल मे भी परमार्थ विशेषण का उत्मर्ग करके धर्मीमान्न का ग्रहण करना चाहिए।

किन्तु, विश्रेष ध्यान देने पर यह तर्कसम्मत मध्यमार्ग भी दोषपूर्ण ठहरता है, क्यों कि जब उत्पाद-प्रतिषेध को साध्य बताते हैं, तब उस साध्य-धर्म का धर्मी (ग्राध्यात्मिक ग्रायतन) ग्रपने मिथ्या रूप को प्रकट कर देता है, क्यों कि वह सत्त्व के विपर्यास-मान्न से ग्रामादित है। इस प्रकार, उसका धर्मत्व ही च्युत हो जाता है। इस प्रकार, इस ग्रन्मान में धर्मी की उपलिध सम्भव नहीं होगी, क्यों कि ग्रविपरीत ज्ञानवाले विद्वान् को विपर्यस्त बोध नहीं होगा, ग्रीर इसके विना चक्षुरादि का सावृतधर्मित्व सिद्ध नहीं होगा।

शून्यता-ग्रशून्यतावादियो मे दृष्टान्त-माम्य भी नही होगा, क्योकि उनके मत मे पूर्वोक्त रीति से चक्षुरादि मामान्य न सावृत सिद्ध होगा ग्रीर न पारमार्थिक ।

इसी प्रकार, माध्यमिक, प्रतिवादी के या ग्रपने ग्रनुमान के सगरन पक्ष, हेतु न्नादि की श्रिसिद्ध निश्चित करता है। माध्यमिक ग्रनेक प्रकार से यह मिद्ध कर देना है कि नभी ग्रनुमान पक्ष-दोप, हेतु-दोष, ग्रमिद्धार्थ, विरुद्धार्थ न्नादि दोषों से ग्रस्त हो जाते हैं। जैसे—हीनयानी कहे कि ग्राध्यात्मिक ग्रायतनों के उत्पादक हेनु हैं, क्योंकि तथागन ने उनका निर्देश किया है, जैसे तथागत-निर्दिष्ट शान्त निर्वाण स्वीकृत है। इस ग्रनुमान में माध्यमिक पूछेगा—'तथागन का निर्देश' इस हेतु में तथागत का निर्देश नावृत है या परमार्थ। प्रथम पक्ष के नावृत होने के हेतु की ग्रमिद्धार्थता स्पष्ट है। द्वितीय पक्ष इसिन्ण् ग्रमिद्ध है कि परमार्थ में निर्वर्त्य-निर्वर्त्तक-भाव (कार्यकारणभाव) ग्रसिद्ध है।

# माध्यमिक स्वतन्त्र श्रनुमानवादी नहीं

वादी माध्यमिक पक्ष पर ग्राक्षेप करते हैं कि ग्रापने जैसे परकीय ग्रनुमानों को दोष-मिद्ध किया है, उमी रीति से ग्रापका ग्रनुमान-प्रयोग भी दोप-दुष्ट हो जाता है। ऐसी ग्रवस्था में परपक्षी ही क्यों उन दोपों का उद्घार करें। उमय पक्ष के दोपों के उद्घार का दायित्व उभय पर है। ग्रत, इन दोषों से ग्राप कैसे वचते हैं।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि स्वतन्त्र अनुमानवादी पर ही ये दोष लगते हैं। हम म्वतन्त्र अनुमानवादी नहीं है। हमारे अनुमानों की मफलता तो केवल पर-प्रतिज्ञा के निपेध-मान में है। जैसे स्वतन्त्र अनुमानवादी चक्षु के द्वारा देखना स्वीकार करता है ('चक्षु पश्यित')। माध्यिमक पूछता है कि धाप चक्षु का प्रात्मदर्शन (प्रपने को देखना) तो स्वीकार नहीं करते और उनमें पर-दर्शन की प्रविनाभूतता (चक्षु का दूमरे को ग्रानवार्यतः देखना) स्वीकार करते हैं। हम इसके विपरीत बटादि में स्वात्म-श्रदर्शन के माथ पर-दर्शन के ग्रभाव का नियम पाते हैं। ग्रत, जब चक्षु में स्वात्म-दर्शन नहीं हैं, तो पर-दर्शन भी मिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार, हम देखते हैं कि चक्षुरादि का नीलादि दर्शनवादियों के स्वप्रसिद्ध अनुमान के ही विरुद्ध है। माध्यिमक कहता है कि पूर्वोक्त प्रकार से हमें पर-पक्ष में दोपों का उद्भावन-मान्न कर देना है। ऐसी स्थिति में मेरे पक्ष में उक्त दोप नहीं लग पाते, जिससे समानदोपता का प्रसग उठाया जा सके।

ग्राचार्य चन्द्रकीति कहते हैं कि वादी-प्रतिवादियों में किसी एक पक्ष की प्रसिद्ध मान्यता से भी ग्रनुमान वाधित हो जाता है। जो लोग प्रमाण या दोषों का उभयवदियों से निश्चित होना ग्रावश्यक मानते हैं, उन्हें भी लौकिक व्यवस्था के ग्रनुसार स्ववचन से भी स्वानुमान खण्डित होता है, यह मानना पड़ेगा। इस प्रकार, केवल उभय-प्रसिद्ध ग्रागम से ही ग्रागम-वाधा नहीं दी जाती, प्रत्युत स्वप्रसिद्ध ग्रागम से भी ग्रागम वाधित होता है। विशेषत, स्वार्थानुमान में मर्वत्न स्वप्रसिद्ध का ही महत्त्व है, उभय-प्रसिद्ध ग्रावश्यक नहीं है।

#### परतः उत्पादवाद का खण्डन

ग्राचार्य स्वत उत्पादवाद का खण्डन करके परत. उत्पाद का खण्डन करते हैं।
भावों की परत उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पर का ग्रभाव है। पदार्थों का स्वभाव ,
प्रत्ययादि में (जो पर हैं) नहीं है। मध्यमकावतार में परत उत्पत्तिवाद के खण्डन में चन्द्रकीर्त्ति ने कहा है कि ग्रन्य की ग्रपेक्षा से यदि ग्रन्य उत्पन्न हो, तो ज्वाला से भी ग्रन्धकार
होना चाहिए, ग्रीर सबसे सब वस्तुग्रों का जन्म होना चाहिए; क्योंकि कार्य के प्रति उसके ग्रतिरिक्त ग्रिखल वस्तुग्रों में परत्व ग्रक्षणण है।

स्वत -परत इन दोनों से भी भावों की उत्पत्ति नहीं होगी; क्योंकि उक्त रीति से जव, तक एक-एक में उत्पाद का सामर्थ्य नहीं है, तवतक मिलित में भी कहाँ से आयगा ? भावो का श्रहेतुत उत्पाद भी नहीं होगा । श्रहेतुक उत्पाद माने, तो सर्वदर्शन-सम्मत कार्यकारणभाव के सिद्धान्त का विरोध होगा श्रीर श्रहेतुक गगन-कमल के वर्ण श्रीर गन्ध के समान हेतु-शून्य जगत् भी गृहीत न होगा ।

श्राचार्य चन्द्रकीर्त्त कहते हैं कि पूर्वोक्त स्व, पर श्रौर उभय पक्षों में ईश्वरादि का कर्त्तृ वाद अन्तर्भू त है, श्रत इन पक्षों के खण्डन से ईण्वरोत्पादवाद श्रादि समस्त पक्ष भी निरस्त हो जाते हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि श्राचार्य नागार्जुन सब प्रकार से भावों के उत्पाद-सिद्धान्त का खण्डन करके पूर्वोक्त श्रनुत्पाद श्रादि से विशिष्ट प्रतीत्यसमृत्पाद का सिद्धान्त सुदृढ करते हैं। श्रागे प्रतीत्यसमृत्पाद की सिद्धान्त-सम्मत व्याख्या दी जाती है।

## प्रतीत्यसमुत्पाद

ग्राचार्य चन्द्रकीत्ति 'प्रतीत्यसमुत्पाद' से सापेक्षकारणता की मिद्धि के लिए उससे सम्बद्ध पूर्ववर्त्ती ग्राचार्यों की विरुद्ध व्याख्याग्रों का निपेध करते हैं ग्रीर उसका सिद्धान्त-सम्मत ग्रर्थ करते हैं।

चन्द्रकीर्त्ति के अनुसार 'प्रतीत्य' पद मे प्रति, ई, का अर्थ प्राप्ति, अर्थात् 'अपेक्षा' है और उसका 'ल्यप्' प्रत्यय के साथ योग होने पर 'प्राप्त कर', 'अपेक्षा कर', होने पर' यह अर्थ होता है। 'समुत्पाद' शब्द सम्-उत् पूर्वक पद् धातु से निष्पन्न है, इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है। इस प्रकार, 'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द का मिलितार्थ है—''हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करके भावो का उत्पाद या प्रादुर्भाव।"

चीप्सार्थक व्यूत्पत्ति का खण्डन—कुछ ग्राचार्य 'ई' (इण्) को गत्यर्थक या विनाशार्थक मानते हैं ग्रौर उसका तद्धितीय 'यत्' प्रत्यय से 'इत्य' को व्युत्पन्न करते हैं ग्रौर उसका ग्रर्थ 'विनाशी या 'विनाशशील' करते हैं। पुन वीप्सार्थक 'प्रति' से युक्त 'इत्य' का समुत्पाद के साथ समास करते हैं (प्रति प्रति इत्याना समुत्पाद )। इस पक्ष मे प्रतीत्यसमुत्पाद का समुद्धित ग्रर्थ 'पुनः-पुन विनाशशील भावो का उत्पाद' होता है। चन्द्रकीत्ति इम ग्रर्थ का खण्डन करते हैं।

चन्द्रकीित वादी-सम्मत व्याख्या की प्रालोचना में कहते हैं वि प्रतीत्यममुत्पाद की वीप्सार्थक व्युत्पत्ति भगवान् के कुछ वचनों में अवश्य सगत होगी। जैसे—"हे भिक्षुग्रों। तुम्हें प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना दूँगा, जो प्रतीत्यसमृत्पाद को जानता है, वह धर्म को जानता है" इत्यादि। किन्तु, जहाँ देशना में साक्षात् रूप से ग्रर्थ-विशेष (कोई एक अर्थ) ग्रगोकृत है ग्रीर उस अर्थ का विज्ञान एक इन्द्रिय से होना बताना है, वहां प्रतीत्यसमृत्पाद की वीप्मार्थता असगत होगी। जैसे भगवान् की यह देशना लीजिए—"चक्षु ग्रीर रूप को प्राप्त कर चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है" (चक्षु प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुविज्ञानम्)। यहां चक्षुरिन्द्रियहेतुक ज्ञान है, श्रीर वह एकार्थंक है। ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति में वीप्मार्थं की पौन -

१ "प्रतीत्यसमुत्पाद वो भिक्षवो देशयिष्यामि । य प्रनीत्यसमृत्पाद पश्यित स धर्म प्रमित्र ।

पुन्यता कैंस सम्भव होगी ? (पीन पुन्य के लिए अथों की प्रनेवता यावण्यक है)। इसके विपरीत प्रतीत्यममुत्पाद को यदि प्राप्त्यथक मानते हैं, तो यह दोष न होगा, क्योंकि अथिविशेष अगीकृत हो या न हो, दोनो अवस्थाओं में प्रतीत्य की प्राप्त्यथंता सम्भव है। जहाँ कोई अर्थ-विशेष (कोई एक अर्थ) अगीकृत न हो, उस सामान्य स्थल में प्रतीत्य का अर्थ 'प्राप्त कर' होगा। जहाँ अर्थ-विशेष अगीकृत है, वहाँ भी 'चक्षु प्रतीत्य' 'चक्षु प्रात' कर' 'देखकर' अर्थ होगा।

यदि कोई कहे कि विज्ञान ग्ररूपी है, उसकी चक्षु से प्राप्ति नहीं होगी। यह ठीक नहीं है। क्योंकि, जिस प्रकार "यह निक्षु फल (निर्वाण)-प्राप्त है" ('प्राप्तफलोऽय भिक्षु') इस वाक्य में प्राप्ति ग्रभ्यपगत है, उसी प्रकार यहाँ भी प्राप्ति ग्रभीष्ट है। चन्द्रकीति कहते हैं कि माध्यमिक 'प्राप्य' जब्द का पर्याय 'प्रेथ्य' मानते हैं। इसे ग्राचार्य ग्रपने सूत्र में भी स्वीकार करते हैं (तत्तत् प्राप्य समुत्पन्न नोत्पन्न तत्स्वभावत)।

इदम्प्रत्ययता का सण्डन-कुछ लोग प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ इदम्प्रत्ययता-मान्न करते हैं ग्रीर इसमें "ग्रस्मिन् सित इद भवति, ग्रस्योत्पादाद् इदम् उत्पद्यते" (इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है) इस बचन का प्रमाण उपस्थित करते है। यह ग्रयुक्त है। क्योंकि, इसमें 'प्रतीत्य' ग्रीर 'समृत्पाद' दोनो गव्दों के ग्रर्थ-विभेष का ग्रभिधान नहीं है, जब कि उक्त वचन में वह स्पष्ट विवक्षित है।

चन्द्रकीित कहते हैं कि 'प्रतीत्यसमृत्पाद' को एक रूढि शब्द भी नहीं मान सकते, क्यों कि ग्राचार्य ने पूर्वोक्त वचन में स्पष्ट ही ग्रवयवार्थों को लेकर व्याख्या की है। 'इसके होने पर यह होता है' इस वाक्य में भी सित-मप्तमी या ग्रथं 'प्राप्ति' या 'ग्रपेक्षा' ही है। 'ह्रस्वे मित दीर्घ भवति' में 'ह्रस्वे मित' का ग्रथं 'ह्रस्वता की ग्रपेक्षा' या 'ह्रस्वता प्राप्त कर' यह ग्रथं है।

## बुद्ध-रेजना की नेवार्थता ग्रीर नीतार्थता

ग्रारम्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद को ग्रन्त्यादादि से विशिष्ट कहा गया है। वादी का प्रस्न है कि माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पाद को ग्रन्त्यादादि-विशिष्ट कं से मानेगा, जब कि 'ग्रविद्या पर्यय से सस्कार . ग्रविद्या-निरोध से सस्कार का निरोध', 'तथागत का उत्पाद माने या ग्रनुत्पाद माने, इन धर्मों की धर्मना स्थित है।' 'मत्त्य दिश्वित के लिए एक धर्म है, जो कि चार ग्राहार है' इत्यादि वचनों से भगवान् ने ग्रनेकानेक धर्मों की सत्ता स्वीकार की है। इसके ग्रतिरिक्त परलोक से इहागमन, इहलोक से परनोक-गमन ग्रादि भी सम्मत है।

ग्राचार्य चन्द्रकीत्ति कहते हं कि प्रतीत्यममुत्पाद की निरोधादि विणिष्टता ग्रापातत प्रतीत होती है। इमलिए, मध्यमक-णास्त्र के द्वारा ग्राचार्य ने सूवान्तो के दो विभाग उपदिणत

<sup>? &</sup>quot;श्रविद्याप्रत्यया सस्कारा श्रविद्यानिरोधात् सस्कारनिरोध ।"

 <sup>&</sup>quot;उत्पादाद् वा तथागतानामनुत्पादाद् वा तथागताना स्थितैर्वपा धर्माणा धर्मता ।"

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> ''एको धर्म सत्त्वस्थितये, यदुत चरवार श्राहारा ।''

किया भगवान् के वचनो की नेयार्थता ग्रांर नीतार्थता से ग्रपरिचित लोग उनकी देशना का ग्रिभिप्राय न जानकर पूर्वोक्त प्रकार के सन्देह करते है। वे नहीं जानते कि कौन-सी देशना तत्त्वार्थ है ग्रोर कौन-सी ग्राभिप्रायिकी है। ऊपर के भगवत्-वचनो मे प्रतीत्यसमुत्पाद उत्पाद, निरोध ग्रादि से ग्रवश्य निर्दिट्ट है, किन्तु वह ग्रविद्या-तिमिर से उपहत वृष्टिवालो की ग्रपेक्षा से है, न कि ग्रनास्रव स्वभाव से युक्त ग्रविद्या-तिमिर से ग्रनुपहत ज्ञानवालों की ग्रपेक्षा से। तत्त्वदर्शन की ग्रपेक्षा से ('तत्त्वार्था.') भी भगवान् के वचन है, जंसे 'हे भिक्षुग्रो । ग्रमोषधर्मा निर्वाण परम सत्य है, सर्व सस्कार मोषधर्मा एव मृषा हैं, इत्यादि।

ग्रायं ग्रक्षयमित सूत्र के ग्रनुसार जो सूत्रान्त-मार्ग (मोक्ष-साधन) के ग्रवतार के लिए निर्दिष्ट है, वे नेयार्थ है, ग्रीर जो फल (मोक्ष) के ग्रवतार के लिए निर्दिष्ट है, वे नीतार्थ है। इसलिए, ग्राचार्य ने भी तत्त्वदर्णन की ग्रपेक्षा से ही 'न स्वत नापि परत ' इत्यादि युक्तियों से जगत् की नि स्वभावता सिद्ध की है। वस्तुन, ग्राचार्य ने भगवान् की उत्पादादि देशना की मृषाभिप्रायिक सिद्ध करने के लिए ही समस्त मध्यमक-शास्त्र मे प्रतीत्य-समुत्पाद का विश्लेषण किया है।

एक प्रश्न है कि यदि धर्मों का मृषात्व-प्रतिपादन ही इस समारम्भ का उद्देश्य है, तो जो मृषा होता है, वह सर्वथा ग्रसत् होता है। ऐसी ग्रवस्था में सत्त्व के ग्रकुशल-कर्म नहीं है ग्रीर उसके ग्रभाव में दुर्गतियाँ नहीं होगी। जब कुशल कर्म नहीं है ग्रीर उसके ग्रभाव से सुगतियाँ नहीं है, तो मुगति-दुर्गति के ग्रभाव से ससार का भी ग्रभाव होगा। ऐसी ग्रवस्था में निर्वाण के लिए माध्यमिक का यह समस्त ग्रारम्भ भी व्यर्थ होगा।

चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि माध्यिमक सत्याभिनिवेशी लोक की प्रतिपक्ष भावना के लिए सवृति-सत्य की अपेक्षा से भावों का मृपात्व-प्रतिपादन करता है। किन्तु कृतकार्य आर्य मृपा, अमृपा कुछ भी उपलब्ध नहीं करता, नयों कि जिसे मर्वधमों का मृपात्व परिज्ञात है, उसके लिए न कर्म है और न ससार। वह किसी भी धर्म के अस्तित्व-नास्तित्व की उपलब्धि नहीं करता। जिसे विपर्यस्त धर्मों का मृपात्व अवगत नहीं है, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न भावों में स्वभवाभिनिवेश करता है। धर्मों में सत्याभिनिविष्ट व्यक्ति ही कर्म करता है, और नसरण करता है। विवर्यामावस्थित होने के कारण उसे निर्वाण का अधिगम नहीं होता।

रत्नकूटसूत्र में उक्त है कि हे काश्यप । गवेषणा करने पर चित्त नहीं मिनता, जो मिनता नहीं, वह उपलब्ध नहीं है, जो उपलब्ध न होगा, वह अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न

९ ''एति अक्षितः परम सत्यं यदुत श्रमोपधर्मनिर्वाणम् । सर्वसस्काराञ्च नृषा मोपपर्माण ।''

'भेनिष्ण्डोपमं रूप वेदना पुद्गुदोपमा।

मरीचिसदृशी सङ्गा स स्कारा कदलीनिभा । मायोपम च निञ्चानमुक्तमादित्ययन्युना ॥ "

में भी न होगा, जो ग्रतीत-ग्रनागत-प्रत्युत्पन्न में नही है, उसका कोई स्वभाव नहीं है, जिसकां कोई स्वभाव नहीं है, उसका उत्पाद नहीं, जिसका उत्पाद नहीं, उसका निरोध नहीं।

यहाँ म्राचार्य चन्द्रकीत्ति विभिन्न प्राचीन सूत्रो के प्रमाणों को उद्धृत कर सिद्ध करते हैं कि पदार्थ यद्यपि मृपा-स्वभाव है, किन्तु वे सक्छेण (क्लेम) ग्रीर व्यदान (मोक्ष) के निमित्त होते हैं।

पहले म्रविद्या-संस्कार-नामरूपादि देशना की मावृतिकता दिखाई गई है। म्रव चन्द्रकीत्ति सवृति का स्वरूप-व्यवस्थापन करते हैं।

# संवृति की व्यवस्था

सवृति की सिद्धि इदम्प्रत्ययता-माल ('यह' वृद्धि जैसे—यह घट है, यह पट है इत्यादि) से होती है। इसलिए, माध्यमिक पूर्वोक्त स्वत , परत , उभयत , अहेतुत , इन पक्षो का अभ्युपगम नहीं करते, अन्यथा वह सस्वभाववाद में आपन्न होगे। 'इदम्प्रत्ययता' के अभ्युपगम से हेतु-फल की अन्योन्यापेक्षता सिद्ध होती है। इससे मावृतिक अवस्था में भी स्वभाववाद निरस्त होता है। वस्तुतः, पदार्थों के सम्बन्ध में भगवान् का यह सकेत कि—"इसके होनेपर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है', सावृतिक निःस्वभावता को प्रकट करता है।

वादी प्रश्न करता है कि 'भाव अनुत्पन्न है, श्रापका यह निश्चय प्रमाणों से जन्य है या अप्रमाणज है ? यदि प्रमाणज है, तो प्रमाणों की सख्या और लक्षण बताये, श्रीर यह बताइए कि उनके विषय क्या-क्या है ? पुन वे स्वत उत्पन्न होते हैं, या परत; उभयत अथवा अहेतुत ।

ग्रप्रमाणज पक्ष युक्त नहीं है, क्यों कि प्रमेय का ग्रधिगम प्रमाणाधीन होता है। यदि प्रमाण नहीं है, तो ग्रधिगम नहीं होगा, ग्रौर ग्रधिगम नहीं होगा, तो 'भाव ग्रनुपपन्न है' यह निश्चय नहीं होगा। पुन. ग्रापके समान हम भी सर्व भावों की सस्वभावता के निश्चय पर दृष्ट क्यों न होगे ? ग्रौर, जैसे ग्राप मर्व भावों की ग्रनुत्वन्नता पर दृष्ट है, वैसे हम सर्व भावों की उत्पत्ति के वाद को सुस्थिर क्यों न करेंगे ? ग्रापको एक यह भी कठिनाई होगी कि ग्रापका स्वय ग्रिनिश्चत पक्ष परपक्ष का प्रत्यायन नहीं कर सकता। ऐसी ग्रवस्था में मध्यमक-शास्त्र का ग्रारम्भ करना व्यर्थ होग, ग्रौर हमारा पक्ष (सर्व भावों की सत्ता) ग्रप्रतिपद्ध होगा।

चन्द्रकीर्त्त समाधान करते है कि हमारा कोई निश्चय नहीं है, जिसके प्रमाणज-ग्रप्रमाणज होने का ग्राप प्रवन उठाये। हमारे पक्ष में कोई ग्रनिञ्चय भी नहीं है, जिसकी ग्रपेक्षा से प्रति-पक्ष में निश्चय खड़ा हो। सम्बन्धी से निरपेक्ष होकर निश्चय या ग्रनिश्चय खड़े नहीं हो सकते। माध्यमिक पक्ष में निश्चय का ग्रभाव है, ग्रत उसकी प्रसिद्धि के लिए प्रमाण की सख्या, लक्षण, विषय ग्रादि किसी के भी सम्बन्ध में विप्रतिपत्तियों के निरास का भार माध्यमिक पर नहीं है। हम पक्ष-चतुष्ट्य (स्वत, परत, उभयत ग्रहेतुत उत्पाद)-वाद का जो निश्चय, पूर्वक खण्डन करते हैं, वह भी लोक-प्रसिद्ध उपपत्तियों से ही, ग्रार्य की परमार्थ-दृष्टि से नहीं। इसका ग्रभिप्राय यह नहीं है कि ग्रार्यों के पास उपपत्तियों नहीं है, विल्क यह कि ग्रार्य तूरणीभाव को

परमार्थ समझते हैं। भ्रार्थ लोक को भ्रपने परमार्थ का बोध लोक की ही प्रसिद्ध उपपत्तियों से कराते हैं।

यदि वादी कहें कि हमे पदार्थ की यत्ता का श्रनुभव होता है। यह माध्यमिक मत में भी ठीक है, किन्तु वह श्रनुभव तैमिरिक के दिचन्द्रादि श्रनुभव के ममान श्रवश्य ही मृपा है।

#### प्रमाण द्वयता का खण्डन

वादी स्वलक्षण (पदार्थ का ग्रसाधारण रूप) तथा सामान्य-लक्षण (पदार्थ का साधारण रूप) इन दो प्रमेयो के ग्रनुरोध से दो प्रमाण मानते है। किन्तु, विचार करना है कि जिनके ये दो लक्षण है, जनसे पृथक् लक्ष्य है या नहीं है, तो तृतीय प्रमेय सिद्ध होगा, फिर प्रमाण-द्वय केंसे ? नहीं है, तो वे दोनो लक्षण निराश्रय होगे, फिर भी प्रमाण-द्वयता केंसे ? वादी कहे कि हमारे मत में 'जिसके द्वारा लक्ष्य लक्षित हैं' ('लक्ष्यतेऽनेन'), वह लक्षण नहीं है, प्रत्युत 'जो लक्षित हो' ('लक्ष्यते तिदित लक्षणम्'), वह लक्षण है। इस व्युत्पत्ति में भी जिस करण से यह लक्षित होगा, उससे ग्रथान्तरभूत कर्म मानना पडेगा। फिर, पूर्वोक्त दोप ग्रापतित होगे। यदि कहे कि ज्ञान ग्रवश्य करण-माधन ('ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानम्') है, किन्तु वह स्वलक्षण के ग्रन्तभूत है। यह ठीक नहीं है। ग्रन्य पदार्थों से ग्रसाधारण (ग्रत्यन्त भिन्न) एव भावो का ग्रात्मीय स्वरूप स्वलक्षण कहलाता है, जैसे पृथ्वी का काठिन्य, वेदना का विपयानुभव, विज्ञान की विषय-प्रतिविज्ञण्ति। वादी के ग्रनुसार ज्ञान की करणता ग्रम्युपगत है ही, ग्रव 'लक्ष्यते तत्' इस व्युत्पत्ति के ग्राधार पर कर्मता भी ग्रम्युपगत होगी, जो ग्रवस्य ही विज्ञान-स्वलक्षण से ग्रतिरिक्त होगी। ऐसी ग्रवस्था मे पूर्वोक्त दोषो की पुन प्रसक्ति हो जायगी।

यदि वादी कहे कि पृथिव्यादि का काठिन्यादि विज्ञानगम्य है, ग्रतः वह उमका कर्म है, इस प्रकार स्वलक्षण से कर्म ग्रितिरक्त नहीं होगा। वादी का यह कहना ग्रयुक्त है। क्योंकि, इस प्रकार विज्ञान-स्वलक्षण कर्म नहीं होगा, ग्रौर कर्म के विना स्वलक्षण प्रमेय मिद्ध नहीं होगा। इसके ग्रितिरक्त, वादी को प्रमेय में यह विशेष भेद करना होगा कि एक स्वलक्षण ऐसा है, जो लक्षित होता है, वह प्रमेयभूत है। दूसरा ऐसा है, जिससे लक्षित किया जाता है, वह ग्रमेयभूत है। यदि दूसरे को भी पहले के समान कर्म-साधन ही माने, तो उम कर्मभूत से ग्रन्य कोई करण-भूत मानना ही पड़ेगा। इन दोप के परिहार के लिए यदि ज्ञानान्तर की करणता स्वीकार करें, तो अनवस्था-दोष होगा।

## स्वसंवित्ति का खण्डन

एक पक्ष है कि स्वलक्षण की कर्मता माननी चाहिए, और उसका ग्रहण स्वमवित्त से करना चाहिए। ऐसी अवस्था में कर्मता रहने पर भी एक प्रमेय में उसका ग्रन्तर्भाव होगा। चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि स्वसवित्ति ग्रसिद्ध है। यह मर्वथा श्रयुक्त है कि स्वलक्षण स्वलक्षणान्तर से लक्षित हो, और वह भी स्वसवित्ति से, क्योंकि स्वसवित्ति भी झान है। यदि वह स्वलक्षण से ग्रभिन्न होगी, तो ग्रतिरिक्त लक्ष्य का श्रमाव होगा। ऐसी ग्रवस्था में पूर्व रीति से लक्षण-प्रवृत्ति निराश्रय होगी।

#### लक्ष्य-लक्षण का खण्डन

सिद्धान्ती कहता है कि हमें यह विचार करना होगा कि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है या ग्रिभन्न । यदि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है, तो लक्ष्य से भिन्न ग्रलक्षण भी है । उसके समान लक्षण भी ग्रलक्षण क्यो नही होगा । इसी प्रकार, लक्षण से भिन्न होने के कारण ग्रलक्ष्यवत् लक्ष्य भी लक्ष्य नही रहेगा । एक दोप यह भी होगा कि लक्षण जव लक्ष्य से भिन्न है, तव भ्रवश्य ही लक्षण निरपेक्ष है, किन्तु यदि लक्षण-निरपेक्ष लक्ष्य है, तो खपुष्प के ममान वह लक्ष्य न होगा । इन दोपो से वचने के लिए वादी यदि लक्ष्य-लक्षण की ग्रिभिन्नता माने, फिर भी दोप-मुक्त न होगा । लक्षण जैसे लक्षण से ग्रिभिन्न होने के कारण ग्रपना लक्षणत्व छोड देता है, उसी प्रकार लक्ष्य भी ग्रपनी लक्ष्यनी लक्षण-स्वभावता छोडता है ।

ग्राचार्य कहते है कि जब लव्य-लक्षण एकीभाव ग्रीर नानाभाव दोनो प्रकार से ग्रमिद्ध है, तब उनकी सिद्धि किसी तीयरे प्रकार से नहीं की जा सकती।

जो लोग लक्ष्य-लक्षण की ग्रवाच्यता के ग्राधार पर उसकी सिद्धि चाहते है, वे भ्रान्त है, क्योंकि ग्रवाच्यता के लिए परस्पर विभागों का परिज्ञान न रहना ग्रावश्यक है। किन्तु, यहाँ 'यह लक्षण है', 'यह लक्ष्य है' इसका परिज्ञान सम्भव नहीं है। ऐसी ग्रवस्था में उसके ग्रभाव-ज्ञान की कथा सुतरा ग्रसिद्ध है, क्योंकि ग्रभाव-ज्ञान की सिद्धि के लिए जिसका ग्रभाव विवक्षित हो, उसका ज्ञान ग्रावश्यक होता है।

ज्ञान के द्वारा लक्ष्य-लक्षण का परिच्छेद माने, तो प्रश्न होगा कि परिच्छेद का कर्ता कीन है ? कर्ता के अभाव में ज्ञान का करणत्व भी कैमा ? चित्त कर्ता नहीं हो सकता, क्यों कि प्रयंमाद्व के दर्शन में चित्त का व्यापार है और अर्थविष्णेष का दर्शन चैतसों का व्यापार है। करणत्व की सिद्धि एक प्रधान किया में दूसरी अप्रधान किया के ग्रगभाव की निर्वृत्ति कराने से होती है, किन्तु यहाँ ज्ञान और विज्ञान को मिश्रित कोई एक प्रधान किया नहीं है। विज्ञान की प्रधान किया अर्थमाद्व की परिच्छित्ति है, और ज्ञान अर्थविष्णेष का परिच्छेद करता है। इस प्रकार ज्ञान का करणत्व और चित्त का कर्तृत्व असम्भव है। वादी कहते है कि ग्रागमानुसार सर्व धर्म ग्रनात्मा है, ग्रत यद्यपि कोई कर्ता नहीं है, किन्तु कियादि व्यवहार होता है। ग्राप ग्रागम के सम्यक् ग्रथं से ग्रवगत नहीं है। यदि कहें कि 'राहो शिरः' (राहु का शिर) इस प्रयोग में भी शिर ग्रतिरिक्त विशेषण नहीं है, फिर भी विशेषण-विशेष्य व्यवहार होता है। इसी प्रकार, 'पृथिव्या स्वलक्षणम्' (पृथ्वी का स्वलक्षण) में लक्ष्य-लक्षण का व्यवहार होता है। यदि स्वलक्षण से ग्रतिरिक्त पृथ्वी नहीं है।

मिद्धान्तो कहना है कि 'राहो शिर ' प्रयोग में पाणि म्रादि म्रगो के समान म्रन्य म्रगो की म्रपेक्षा ने (पदार्थान्तर माकाक्ष) शिरादि वृद्धि उत्पन्न हो सकती है, भ्रौर म्रन्य मम्बन्ध के निराकरण के लिए राहु विशेषण भी युक्त हो सकता है, किन्तु काठिन्यादि से म्रतिरिक्त पृथ्वी नहीं है, म्रत यहाँ विशेष्य-विशेषण भाव नहीं होगा। यदि कहे कि म्रन्य वादियों को पृथ्वी का लक्ष्यत्व

अभिमत है, उनके अनुरोध से ही माध्यमिक लक्षणाख्यान क्यों न करे ? यह ठीक नहीं है। तीर्थिकों के युक्ति से रिहत पदार्थों का माध्यमिक अभ्युपगम नहीं करेगे, अन्यथा उन्हें उनके प्रमाणान्तरों को भी मानना पड़गा। वादी कहें कि 'राहों जिर 'दृष्टान्त में जिर से अतिरिक्त राहु अर्थान्तर नहीं है, किन्तु अर्थान्तर प्रयोग होता है, इमलिए आप भी इम दृष्टान्त का अनुसरण कीजिए, तो ठीक नहीं, क्योंकि लौकिक व्यवहार में इम प्रकार विचार नहीं चल सकता। लौकिक पदार्थों का अस्तित्व ही अविचारमूलक है।

जिस प्रकार विचार करने पर रूपादि में ग्रांतिरिक्त ग्रात्मा सिद्ध नहीं होता, किन्तु म्कन्धों के उपादान से लोकसवृत्या (लोक-बुद्धि से) ग्रात्मा का ग्रस्तित्व है, उस ग्रकार भी 'राहों शिर' सिद्ध नहीं होता। ग्रत, वादी का यह निदर्शन ग्रयुक्त है। यद्यपि माध्यमिक काठिन्यादि से ग्रांतिरिक्त पृथिवीरूप लक्ष्य नहीं मानते, इसलिए लक्ष्यातिरिक्त निराश्रय लक्षण भी सिद्ध नहीं होता, तथापि वह लक्ष्य-लक्षण की परस्परापेक्षया सावृतिक नत्ता मानते हे। इस वात को सभी ग्रवस्य माने, ग्रन्यथा सवृति-सत्य उपपत्तियों से वियुक्त न होगा, ग्रांर सवृति भी तत्त्व हो जायगी। उपपत्तियों से विचार करने पर न केवल 'राहों शिर का ग्रस्तित्व ग्रसम्भव है, प्रत्युत उक्त युक्तियों से रूप-वेदनादि की सत्ता भी सिद्ध नहीं होगी। ग्रत, राहो शिरं के ममान व ग्रमत् हो जायगे। किन्तु, इस प्रकार की ग्रमत्ता ग्रयुक्त है।

वादी कहता है कि माध्यमिक की यह सूक्ष्मेक्षिका (सूक्ष्म निरीक्षण) व्यर्थ है, क्योंकि हम लोक समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार को मत्य कहाँ कहते हैं। पूर्वोक्त प्रणाली से केवल लोक-प्रसिद्धि का ही व्यवस्थापन करते हैं।

माध्यमिक कहता है कि ग्रापकी यह सूक्ष्मेक्षिका व्यर्थ है, जिससे ग्राप लौकिक व्यवहार का प्रवतारण करना चाहते हैं। क्योंकि, हमारे पक्ष में जवतक तत्त्वाधिगम नहीं होता, तवतक मुमुक्षु भी मोक्ष के ग्रावाहक कुशल मूलों के उपचय-मान्न के लिए विपर्यास-मान्न से ग्रासादित इस सवृत्ति-सत्य को मानता है। ग्रापकी वृद्धि सवृति-सत्य ग्रीर परमार्थ-सत्य का भेद करने में विदग्ध नहीं है, इसलिए ग्राप लौकिक न्याय का ग्रनुरोध न करके उपपत्तियाँ देकर वस्तुत 'सवृति' का नाश करते हैं।

माध्यमिक में सवृति-सत्य के व्यवस्थापन की विचक्षणता है, इसलिए लौकिक पक्ष का ही अनुरोध कर वह वादी के उस पक्ष का निवर्त्तन ( उसी की मान्यताओं में ) करता है, जो मवृति के एक देण के निराकरण के लिए वह अन्य-अन्य उपपत्तियाँ देता है। इस प्रकार, लोकाचार में भूष्ट लोगों को वृद्धजन जैसे उससे निवर्त्तन करते हैं, उमी प्रकार हम माध्यमिक लोकाचार-परिभ्रष्ट वादियों का निवर्त्तन करते हैं, सवृति का निवर्त्तन नहीं करने। इस प्रकार, यदि लौकिक व्यवहार है, तो अवश्य ही उसमें लक्ष्य-लक्षणभाव भी होगा। किन्नु, यह ध्यान रहे कि वह पूर्वोक्त दोपों से मुक्त नहीं होगा। परमार्थ मत्य की दृष्टि में लक्ष्य-लक्षण दोनों की नत्ता सिद्ध नहीं होगी, फलत प्रमाण-द्रय की सत्ता भी मिद्ध नहीं होगी।

वादी आक्षेप करता है कि माध्यमिक के मन में एक वडा दोप यह है कि वह णन्दों की, किया-कारक सम्बन्ध में युक्त व्युत्पत्ति नहीं गानता । किन्नु, किया-कारकम म्बन्ध से प्रवृत्त णब्दों से व्यवहार करता है। किन्तु, णव्दार्थ तथा किया-करणाटि स्वीकार नहीं करता । माध्यमिक का उत्तर है कि आगम की प्रमाणान्तरता सिद्ध न होगी, क्योंकि हमने दोनो प्रमेयो (स्वलक्षण, सामान्यलक्षण) को भी असिद्ध कर दिया है।

#### प्रमाणो की ग्रपरमार्थता

लोकसम्मत घट का प्रत्यक्ष होना ग्रमम्भव है, क्यों कि नीलादि से पृथक् घट की सत्ता नहीं है ग्रीर पृथ्क्यादि से पृथक् नीलादि की मना नहीं है। ग्राचार्य चन्द्रकीर्ति यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण की विशेष परीक्षा करने हैं। कहते हैं कि 'घट प्रत्यक्ष है,' इस नौकिक व्यवहार का प्रत्यक्ष के लक्षण में सग्रह नहीं होता। वस्तुत, यह ग्रनार्य-व्यवहार है। यदि कहें कि घट के उपादान (कारण) नीलादि का प्रत्यक्ष प्रमाण ने ग्रहण होना है, ग्रत कारण के प्रत्यक्ष से उपचारवण कार्य को भी प्रत्यक्ष कहा जायगा, तो इसके निए घट में ग्रापचारिक प्रत्यक्षता की सिद्धि ग्रावच्यक होगी, ग्रीन उपचार के निए नीलादि से पृथक् घट ग्रमत्यक्ष रूप में उपलब्ध होना चाहिए, क्योंकि यदि उपचर्यमाण (ग्राध्यय) ही न होगा, तो उपचार किसमें होगा।

ग्रपरोक्षार्थवाची प्रत्यक्ष णब्द का ग्रयं है—विषय की माक्षात् ग्रभिमृखता । घट-नीनादि को ग्रक्ष ( इन्द्रिय ) प्रतिगन ( प्राप्न ) करते हैं, ग्रत वे प्रत्यक्ष है । इसलिए, उसके परिच्छेदक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा जाता है, जैम तृणाग्नि, तुपाग्नि । यदि प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति 'जिस ज्ञान का व्यापार प्रत्येक इन्द्रिय ( अक्ष अक्ष प्रति ) के प्रति हो करे, तो ठीक नही है। क्योंकि ज्ञान का विषय इन्द्रिय नहीं होता, प्रत्युत अर्थ होता है। जान का व्यापार यदि उभय (इन्द्रिय और विषय दोनो ) के अधीन माने, और इन्द्रिय की पट्ता और मन्दता के भेद से ज्ञानभेद म्बीकार कर ज्ञान का व्यपटेण इन्द्रिय के प्राधार पर ही करे, जैसे चक्ष्विज्ञानादि, तथा प्रत्येक विषय के प्रति होनेवाला ज्ञान ( ग्रर्थम् ग्रर्थं प्रति वर्त्तते ) यह ब्युत्पत्ति-लभ्य ग्रर्थं माने, फिर भी प्रत्येक इन्द्रिय का आश्रय लेकर होनेवाला अर्थ-विषयक विज्ञान प्रत्यक्ष है, यही अर्थ होगा । क्योकि, अर्थ और इन्द्रिय में इन्द्रिय असाधारण है, इसलिए उसी से ज्ञान व्यपदिष्ट होता है। ज्ञान का व्यपदेश विषय से मानने पर पड्विज्ञानो मे परस्पर भेद नही होगा। जैसे मनोविज्ञान चक्षरादिविज्ञान के साथ किसी एक विषय मे प्रवृत्त होता है । ऐसी स्थिति में यदि विषय मे ज्ञान का व्यपदेश करे, तो नीलादि विज्ञान मानस है या इन्द्रियज है, इसका भेद न होगा। किन्तु, श्राचार्य चन्द्रकीत्ति कहते है कि इस तर्क से भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय-व्यपदेश नही वनता। क्योकि, प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण 'कल्पनापोढता' ( निर्विकल्प ज्ञान ) है, वह विकल्प से नितरा भिन्न है। इमीलिए ,न्वलक्षण, सामान्य-लक्षण दो भिन्न प्रमेय है। उन प्रमेयो के ग्रधीन दो भिन्न प्रमाणो की व्यवस्था है। ऐसी ग्रवस्था मे ज्ञान का डन्द्रिय-व्यपदेण ग्रकिचित्कर है। इमिनए, ज्ञान की विषय में ही व्यवस्था करनी चाहिए।

विशेष ध्यान देने की वात यह है कि निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु उमसे लोक-

व्यवहार नही चलता, जब कि शास्त्री को लौकिक प्रमाण-प्रमेय की ही व्याख्या करनी है। इसलिए, लक्ष्य स्वलक्षण हो या सामान्य-लक्षण, साक्षात् उपलब्ध होने के कारण ग्रपरोक्ष ही है। द्विचन्द्रादि का ज्ञान भी केवल ग्रतैमिरिक ज्ञान की ग्रपेक्षा से भ्रान्त कहा जाता है। तैमिरिक की ग्रपेक्षा से तो वह भी प्रत्यक्ष है। इसलिए, ज्ञान का विषय से ही व्यपदेश करना चाहिए।

ग्रनुमान परोक्ष-विषयक होता है, श्रीर वह ग्रव्यभिचारी साध्य ग्रीर लिंग से उत्पन्न होता है। ग्रतीन्द्रियार्थदर्शी ग्राप्त का वचन ग्रागम प्रमाण हे। ग्रनुभूत ग्रर्थ का सादृण्य से ग्रिधिगम उपमान है। इस प्रकार, लोक इन चार प्रमाणों से ग्रर्थ के ग्रिट्यूगम की व्यवस्था करता है।

किन्तु, ये समस्त प्रमाण-प्रमेय परस्पर की श्रपेक्षा से ही सिद्ध होते है। इनकी स्वाम।विक मिद्धि कथमपि नहीं होती, इसलिए इनकी केवल लौकिक स्थिति ही सिद्ध होती है, परमार्थ स्थिति नहीं है।

हेतुवाद का खण्डन

सर्वास्तिवादी बौद्ध हेतुवादी हैं। वे भावों के 'परत उत्पाद' में प्रतिपन्न हैं। वे कहते हैं कि भगवान् ने हेतु—प्रत्यय, ग्रालम्बन-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय तथा ग्रधिपित-प्रत्यय की देणना की है। इसलिए इन पृथक्-मूत चार हेतुग्रों से भावों की उत्पत्ति होती हैं। ईण्वरादि जगत् के हेतु नहीं हैं। जो निर्वर्त्तक (सम्पन्न करनेवाला) है, वह हेतु हैं। जो बीजभाव से ग्रवस्थित होता है, उसे हेतु-प्रत्यय कहते हैं। जिस ग्रालम्बन में धर्म (पदार्य) उत्पन्न होता है, वह ग्रालम्बन-प्रत्यय है। कारण का ग्रनन्तर-निरोध (ग्रव्ययहित निरोध) कार्य का समनन्तर-प्रत्यय है। जिसकी सत्ता से जिमकी उत्पत्ति होती है, उसे ग्रधिपित-प्रत्यय कहते हैं। इन चार प्रत्ययों से भावों की उत्पत्ति होती है।

ग्राचार्य भावों की 'परत उत्पत्ति ' भी नहीं मानने । वे चारों हेतु ग्रों का खण्डन करते हैं। कहते हैं कि भावों (कार्य) की उत्पत्ति के पहले व्यस्त या नमस्त रूप में यदि हेतु ग्रों की नत्ता हो, तो उनसे भावों का उत्पाद सम्भव हो, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि उत्पाद में पूर्व हेतु होने, तो उनकी उपलब्धि होनी चाहिए। यदि उपलब्ध है, तो फिर उत्पाद ब्यर्थ है। इनलिए, यह निद्व है कि हेतु ग्रों में कार्यों का स्वभाव (स्वसत्ता) नहीं है। जिनमें स्वभाव नहीं है, उनसे दूमरों का उत्पाद कैसे होगा।

ग्रथवा ग्रविकृत वीजादि कारणों में कार्य का न्यभाव नहीं होना। ऐनी ग्रयन्था में काय से कारण की परवित्तता सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि, दो विद्यमान वस्नुपों में ही परनारापेक्ष परत्य होता है, किन्तु वीज ग्रीर ग्रंकुर एककालिक नहीं हो मकते। इमिनण, बीजादि 'पर' नहीं होगे, फिर 'परत उत्पाद' नहीं होगा। उस प्रकार, ग्राचार्य हेनुग्रों से उत्पाद के गिद्धारा का खण्डन करते हैं। सहेतुक क्रिया से उत्पाद माननेवाने निद्धान्त का भी खण्डन करते हैं।

'क्रिया से उत्पाद' का खण्डन

'किया से उत्पाद' का मिद्धान्त माननेवाला वादी करता है कि चक्षु-रूप ग्रादि प्रत्यय (हेतु) विज्ञान को माक्षात् उत्पन्न नहीं करते, किन्तु विज्ञान की जनक किया को निष्पन्न करते हैं। इसलिए, वे 'प्रत्यय' ('कार्य, प्रति ग्रयन्ने गच्छन्ति' कार्योत्पाद के लिए व्यापृत) कहलाते हैं। इस प्रकार, प्रत्यय से युक्त विज्ञान की जनिका किया ही विज्ञान को उत्पन्न करती है, प्रत्यय नहीं।

ग्राचार्य कहते हैं कि पहले किया निद्ध हो, तब उसके प्रत्यय से युक्त होने का तथा उससे विज्ञान के उत्पन्न होने का प्रण्न उपस्थित हो, किन्तु किसी प्रकार किया सिद्ध नहीं होती। पूर्वपक्षी को यह वताना होगा कि किया 'उत्पन्न हुए विज्ञान' (ग्रतीत) में मानी जाय या 'उत्पन्न होनेवाले' (ग्रनागत) में, या उत्पन्न हो रहे (वर्त्तमान) विज्ञान में । जात का जन्म व्यर्थ है, ग्रीर ग्रजात में कर्त्ता के विना जनन-किया नहीं होगी, जात ग्रीर ग्रजात से ग्रतिरिक्त जायमान की सत्ता नहीं है। इस प्रकार, तीनों कालों में जनन-किया ग्रमम्भव है। ग्रत, किया-मात ग्रसिद्ध है। यदि किया प्रत्यय से युक्त न हों, तो निर्हेंतुक होगी। ग्रत, किया पदार्थ-जनक नहीं होगी। यदि किया नहीं है, तो किया से रहित प्रत्यय भी जनक न होगे।

एक प्रश्न है कि चक्षुरादि प्रत्ययों की अपेक्षा करके विज्ञानादि भाव उत्पन्न होते हैं। इमलिए, चक्षुरादि की प्रत्ययता स्पष्ट है। उनसे विज्ञानादि प्रत्यय उत्पन्न होगे। ग्राचार्य कहते हैं कि वात तो यह है कि चक्षुरादि विज्ञान नामक कार्य उत्पन्न करने के पूर्व ग्रप्रत्यय है, ग्रत, ग्रप्रत्ययों में विज्ञान (प्रत्यय) की उत्पत्ति नहीं होगी।

यहाँ वादी को यह भी वताना होगा कि उसके प्रनुसार चक्षुरादि विज्ञान के प्रत्यय है, तो वह सन् विज्ञान के हैं या ग्रमन् के। दोनो प्रकार प्रयुक्त है, क्योंकि ग्रविद्यमान ग्रथं की प्रत्ययता नहीं होती ग्रीर मत् को प्रत्ययता में कोई प्रयोजन नहीं है। वादी कहता है कि ग्राप हेतु का लक्षण निर्वर्त्तकत्व (उत्पादवन्य) करने हैं। किन्तु, ग्रापके मत में जब हेतुग्रों का ग्रभाव है, तो उसका लक्षण कैमें होगा। ग्राचार्य वहते हैं कि उत्पाद्य धर्म यदि उत्पन्न हों, तो उत्पादक हेनु उन्हें उत्पन्न करें। किन्तु, वर्म मत् या ग्रमत है, ग्रन उत्पाद्य नहीं हैं।

श्रालम्बनादि प्रत्ययों का खण्डन—ग्रन्त में, ग्राचार्य ग्रालम्बनादि प्रत्ययों का खण्डन करते हैं। चित्त-चैत्त जिस स्पादि श्रालम्बन में उत्पन्न होते हैं, वह ग्रालम्बन-प्रत्यय है। प्रश्न है कि ग्रालम्बन-प्रत्यय विद्यमान चित्त-चैतों का होता है, या ग्रविद्यमान का विद्यमान का ग्रालम्बन-प्रत्यय में कोई प्रयोजन मिद्ध नहीं होगा, क्योंकि ग्रालम्बन के पूर्व भी वह विद्यमान है। ग्रविद्यमान का ग्रालम्बन में योग नहीं होगा।

इसी प्रकार, कारण के ग्रव्यवहित निरोध से जो कार्योत्पाद-प्रत्यय है, वह समनन्तर-प्रत्यय है। िकन्तु, ग्रकुरादि-कार्य यदि ग्रनुत्पन्न है, तो कारण वीजादि का निरोध भी ग्रनुपपन्न है। ऐसी ग्रवस्था मे जब कारण-निरोध नहीं है, तो ग्रकुर का समनन्तर-प्रत्यय कीन होगा र कार्य ग्रनुत्पन्न हो, िकर भी यदि वीजनिरोध माने, तो ग्रभावीभूत वीज ग्रकुर का हेतु कैसे होगा श्रीर वीज-निरोध का कारण क्या होगा ?

जिस (कारण) के होने पर जो (कार्य) होता है, वह उसका प्रविपित-प्रत्यय है। किन्तु, समस्त भाव प्रतीत्यसमुत्पन्न है, ग्रत स्वभाव से रहित हैं। ऐसी ग्रवस्था में 'यिम्मन् सित' (जिसके होने पर) से बोधित कारणता कहाँ मिलेगी ग्रौर 'यदिद' (जो होता है) से बोधित कार्यता कहाँ से ग्रायगी।

फल की दृष्टि से भी हेतु नहीं है, क्यों कि व्यस्त तन्तु-तुरी-वेमादि में पट उपलब्ध नहीं होता। यदि उपलब्ध होगा, तो तन्तु-तुरी-वेमादि कारणों की बहुलता से कार्य की बहुलता होगी। समुदित तन्त्वादि में भी पट नहीं है, क्यों कि प्रत्येक ग्रवयवों में पट नहीं है। इस प्रकार, फल उपलब्ध नहीं है, ग्रत प्रत्यय भी स्वभावत नहीं है। इस प्रकार, हेतुवाद ग्रयुक्त है।

## गति, गन्ता श्रौर गन्तव्य का निषेध

मध्यमक-शास्त्र का ग्रिभिधेयार्थं ग्रिनिरोधादि ग्राठ विशेषणो से युक्त प्रतीत्यसमृत्पाद की देशना है। उसकी सिद्धि भावों के उत्पाद-प्रतिषेध से की जा चुकी है, किन्तु भावों का ग्रध्वगत (कालिक) ग्रागम-निर्गम लोक में सिद्ध है, जिससे भावों की नि स्वभावता पुन सिन्दग्ध हो जाती है। इस सन्देह की निवृत्ति करना ग्रीर उसके द्वारा ग्रागम-निर्गम से रहित प्रतीत्य-समुत्पाद की सिद्धि करना ग्रपेक्षित है। इसके लिए नागार्जुन एक स्वतन्त्र ग्रध्याय में ग्रनेक उपपत्तियों से गमनागमन-क्रिया का प्रतिपेध करते हैं।

# गत, श्रगत श्रौर गम्यमान श्रध्व में गति का निवेध

गमन-किया की सिद्धि 'गत', 'ग्रगत' या 'गम्यमान' ग्रध्व मे ही मम्भव है, जो परीक्षा से सर्वथा ग्रयुक्त है। 'गत' ग्रध्व का गमन इसिनए ग्रमिद्ध है कि वह गमन-किया मे उपरत ग्रध्व है। ग्रतः, वर्त्तमानकालिक गमन-किया से उमका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इसिनए, गत का गमन ठीक नहीं है ('गत न गम्यते')।

'ग्रगत' ग्रध्व का भी गमन उपपन्न नहीं हे, क्योंकि जिसमें गमन-किया (गमन) श्रनुत्पन्न है, वह 'ग्रगत' ग्रध्व है। 'ग्रगत' ग्रनागत-स्वरूप है, ग्रनागत के माथ वर्त्तमान गमन-किया का ग्रत्यन्त भेद है। ग्रत, ग्रगत का गमन भी युक्त नहीं हे ('ग्रगत नैव गम्यते')। यदि ग्रगत का गमन माने तो वह ग्रवश्य ही ग्रगत नहीं रहेगा।

इसी प्रकार गम्यमान का भी गमन नहीं बनेगा। गन्ता ने जिस देण को श्रतिकान्त किया है, वह 'गन' देश है, श्रीर जिसे श्रतिकान्त नहीं किया, यह 'श्रगत' देश है। उन दा से श्रिनिरान कौन-सा तीसरा देश है, जिसे गम्यमान देश कहा जाय श्रीर उनका गमन-किया ने नम्बन्ध जोडा जाय ?

गमन-किया से युक्त (गच्छत्) चैतादि के चरण मे आकान्त देण की मजा भी 'गम्यमान' नहीं हो सकती। चरण परमाणु से व्यतिरिक्त नहीं है। अगृनि के अग्रमाग का परमाण पव देश है, जो 'गत' अध्व के अन्तर्गत है। पाष्णि-प्रदेण-स्थित चरम परमाणु का तो उनार देश है,

वह ग्रगत ग्रध्व के ग्रन्तगंत है। चरण के पूर्व देश ग्रीर उत्तर देश की तरह प्रत्येक सूक्ष्म परमाणु का भी पूर्व-ग्रवर दिग्-भाग है, जिसका गत-ग्रगत ग्रध्व मे ग्रन्तर्भाव होगा। इस प्रकार, गतागत-विनिर्मु कत गम्यमान ग्रध्व का गमन सर्वथा ग्रसिद्ध है।

'गम्यमान' के गमन के खण्डन के लिए नागार्जुन प्रनेक पूर्वपक्ष उद्धृत कर खण्डन करते हैं-

गम्यमान में ही चेष्टा हो सकती है, ग्रीर जहाँ चेष्टा मम्भव होगी, वहीं गित होगी। चरण का उत्क्षेप-पिरक्षेप चेष्टा है। वह गत, ग्रगत ग्रध्व में सम्भव नहीं है, ग्रत गम्यमान में ही गित हो यकती है, वयोकि जिसकी गित उपलब्ध है, वह गम्यमान है।

नागार्जु न कहते हैं कि वादी गमन-किया के योग से ही गम्यमान का व्यपदेश करते हैं, किन्तु गिम-किया एक है। ऐसी अवस्था में 'गम्यमान के गमन' की मिद्धि के लिए गिम-किया का 'गम्ययान' के साथ पुन सम्बन्ध कैंसे होगा? ('गम्यमानस्य गमन कथ नामोपज्यते'), क्यों कि गम्यमान में एक गिम-किया का समावेश ठीक है, द्वितीय के लिए अवकाण नहीं है। अन्यथा, 'गम्यमान' में गमन-द्वय की आपत्ति होगी।

यदि गम्यमान व्यपदेश मे गिम-किया का सम्बन्ध न मानें ग्रीर 'गम्यते' के द्वारा गम्य-मान ग्रध्व की किया का सम्बन्ध मानें, तो इस पक्ष मे गित के विना ही गम्यमान की सत्ता माननी पडेगी। तव गमन गित-रहित सिद्ध होगा।

यदि गम्यमान ग्रध्व ग्रीर 'गम्यते' किया दोनो में किया का सम्बन्ध माने, फिर भी ग्रिधिकरणभूत ग्रीर ग्राधेयभूत गमनदृय की ग्रापित होगी। नागार्जुन कहते हैं कि गमन-दृय को स्वीकार करने के लिए दो गन्ताग्रों को भी स्वीकार करना पडेगा, क्योंकि गन्ता का तिर-स्कार कर गमन उपपन्न नहीं हो सकते, ग्रीर जिस गमन का देवदत्त कर्ता है, उसमें द्वितीय कर्ता का श्रवकाण नहीं है। इस प्रकार, कर्त्नु -द्वय का ग्रभाव गमन-दृय का ग्रभाव सिद्ध करता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे एक देवदत्त कर्ता में वोलना, देखना ग्रादि ग्रनेक कियाएँ देखी जाती है, उसी तरह एक गन्ता में किया-द्वय क्यों न होगे? नहीं होगा, क्योंकि कारक शक्ति है, द्रव्य नहीं। यद्यपि द्रव्य के एक होने पर भी किया-भेद से शक्ति का भेद होता, किन्तु एक समान दो कियाग्रों का कारक एकदेशिक नहीं देखा जाता। ग्रत, गन्ता का गमन-द्वय नहीं होता।

#### गमनाश्रय गन्ता का निषेध

श्राचार्य नागार्जु न गमनाश्रय गन्ता का भी निपेध करते हैं। तर्क यह है कि जब गन्ता के विना निराश्रय गमन श्रमत् है, तब गमन के श्रमत् होने पर गन्ता की मिद्धि कैसे होगी? गन्ता की स्वरूप-निष्पत्ति ही गमन-किया के करने से है। इमलिए, 'गन्ता का गमन' यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'गन्ता गच्छिति' इम वाक्य में एक ही गमन-किया है, जिसमें 'गच्छिति' व्यपदेण हाता है, उमके श्रतिरियन दूसरी कोई गिम-किया नहीं है। द्वितीय गिम-किया के विना 'गन्ता गर्हा होगा। तब 'गन्ता गच्छिति', यह व्यपदेश कैसे धनेगा? उक्त व्यपदेश की

सिद्धि के लिए यदि उभयत्न 'गति' का योग स्वीकार करे, तो पुन गमन-द्वय ग्रीर गन्नृ-द्वय की प्रसक्ति होगी । इस प्रकार, 'गन्ता गच्छति' यह व्यपदेश नही बनेगा ।

'ग्रगन्ता गच्छिति' भी नही बनेगा, क्योंकि ग्रगन्ता गिम-किया से रिहत है, ग्रीर 'गच्छिति' की प्रवृत्ति गिम-क्रिया के योग से है। गन्ता, ग्रगन्ता मे विनिर्मु क्त कोई तृतीय नहीं है। जो गमन-क्रिया से युक्त हो, इसलिए गमन ग्रमिद्ध है।

#### गमनारम्भ का निरास

नागार्जुन गमनारम्भ का भी निरास करते हैं। वह प्रनिपक्षी से पूछने हैं कि ग्राप गमनारम्भ गत, ग्रगत या गम्यमान किस ग्रध्व में मानते हैं? गत ग्रध्व में गमन का ग्रारम्भ मानना ठीक नहीं है। 'गत' गमन-क्रिया की उपरित है। उसमें गमनारम्भ (जो वर्त्तमान है) मानने से ग्रतीत वर्त्तमान का विरोध होगा। ग्रगत म गमनारम्भ मानने से ग्रनागत वर्त्तमान का विरोध होगा। गम्यमान ग्रध्व में गमनारम्भ मानने से पूर्ववत् क्रिया-द्वयं तथा कर्त्तृ-द्वयं की ग्रापत्ति होगी। जबतक स्थिति है, तबतक गमन का ग्रारम्भ नहीं हुग्रा। गमन ग्रारम्भ करने के पूर्व गत या गम्यमान ग्रध्व नहीं हैं, जिमपर गमन हो। गमनारम्भ के पूर्व ग्रगत ग्रध्व ग्रवश्य है, किन्तु उसपर गमन नहीं होगा, क्योंकि जिमपर गिम-क्रिया का ग्रारम्भ नहीं हुग्रा, वह ग्रगत हे।

### ग्रध्वत्रय का निषेध

नागार्जुन गमनारम्भ का खण्डन करके उसी से गत-ग्रगत-गम्यमान ग्रध्व-त्रय की मत्ता का भी खण्डन करते हैं। जब गमि-क्रिया का प्रारम्भ उपलब्ध नहीं है, तब उमकी उपरित को 'गत' वर्त्तमानता को 'गम्यमान' ग्रौर ग्रनुत्पत्ति को 'ग्रगत' कैसे कहेगे ? इस प्रकार, ग्रध्व-त्रय के मिथ्यात्व से गमन-व्यपदेश की कारणता ग्रसिद्ध होती है। ग्रालोकान्धकार के समान प्रतिपक्ष-भूत स्थिति की सिद्धि से भी गमन की मिद्धि नहीं होगी, क्योंकि स्थिति की सिद्धि गमनापेक्ष है। गन्ता की स्थिति नहीं होगी। स्थिति मानने पर उमका गन्तृत्व-व्यपदेश न होगा।

गमन की सत्ता गमन की निवृत्ति से भी निश्चित नहीं होगी, क्योंकि गमन की निवृत्ति नहीं है। गन्ता गत अध्व से निवृत्त नहीं होगा, क्योंकि गति ही नहीं है। उमीनिए, अगत से भी नहीं होगा। गम्यमान अध्व से निवृत्त इमलिए नहीं होगा कि वह अनुपनव्ध है। उममें गमन-क्रिया का अभाव है।

म्थिति श्रीर गित सन्योन्य-प्रतिद्वन्द्वी है। जब स्थिति है, तब गित का नद्भाव सिद्ध होगा। किन्तु, माध्यमिक गित के समान स्थिति का भी प्रतिपेध करते हैं—गित के ही समान स्थिति का श्रारम्भ या स्थिति की निवृत्ति स्थित, ग्रस्थित श्रीर स्थीयमान में सम्भव नहीं है।

श्राचार्य गमन के प्रतिपेध के लिए एक विचित्न नर्क उपस्थित करने हैं। ये कहते हैं कि गन्ता से गमन भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, स्थोकि यदि गल्ता से गमन-किया अभिन्न है, तो कर्ता और क्रिया का एकत्व गागना परेगा, क्रिया और कर्ता का भेदेन

ग्रिभिधान भी नहीं बनेगा। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्यों कि गन्ता से गमन के पृथक् मानने पर घट-पट के ममान गन्ता गमन-गिरपेक्ष होगा तथा गमन गन्तृ-निरपेक्ष । एकी-भाव या नानाभाव के ग्रितिरक्त ग्रन्य कोई प्रकार नहीं है, जिससे गन्तृत्व ग्रीर गमनत्व की सिद्धि हो। देवदत्त का ग्रामगमनादि मर्वप्रसिद्ध है, किन्तु माध्यमिक तकें से इसे ग्रिसिद्ध करता है। तकें यह है कि गिन से गन्तृत्व ग्रिभिव्यक्त होता है, किन्तु देवदत्त गन्ता होकर गमन-किया नहीं कर मकता। इसके लिए गिन से पूर्व उसका गन्तृत्व सिद्ध होना चाहिए, किन्तु जिस गित से देवदत्त को गन्ता कहतें हैं, उसके पूर्व गिन-निरपेक्ष उसका गन्ता नाम निष्यन्त नहीं होगा। यदि कहें कि वह गित, जिसमे देवदत्त गन्ता है, ग्रन्य है, ग्रीर वह गित ग्रन्य है, जिससे उसका जाना (गच्छित) व्यवहृत होता है, तो यह श्रयुक्त है। क्योंकि, जिस गित से वह गन्ता है, उसमे श्रितिरक्त का गमन माने, तो गित-द्वय की प्रमित्त होगी, एक गित वह, जिसमे वह गन्ता है, दूसरी गित वह, जिससे 'गच्छित' व्यपदेश है।

इस प्रकार, सद्भूत गन्ता जो गमन-किया से युवत है, ग्रसद्भूत गन्ता जो गमन-किया से रहित है, मदसद्भूत गन्ता जिसका उभयपक्षीय रूप है, तीनो मे गन्तृत्व नहीं वनेगा। इसी प्रकार, गमन का भी विप्रकार नहीं वनेगा। इसलिए, ग्राचार्य नागार्जुन उपसहार करते हैं कि गति, गन्ता ग्रौर गन्तव्य कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

#### द्रष्टा, द्रष्टव्य श्रीर दर्शन का निषेध

गित, गन्ता ग्रीर गन्तव्य का खण्डन करने के पश्चात् ग्राचार्य द्रष्टा, द्रष्टव्य ग्रीर दर्शन का खण्डन करते हैं, जिससे भगवान् के प्रवचन को ग्राधार बनाकर भी भावो का ग्रस्तित्व सिद्ध न किया जा सके। सर्वास्तिवादी छ इन्द्रियो (द्रष्टा) ग्रीर उनके विषयो (द्रष्टव्य) का ग्रस्तित्व मानते हैं, जिससे दर्शनादि (चक्षुज्ञिनादि) का व्यपदेश होता है।

### दर्शन की ग्रसिद्धि

श्राचार्य कहते हैं कि दर्शन (चक्षु) रूप को नहीं देखता। तर्क है कि दर्शन (चक्षु) जब ग्रात्मरूप को ग्रपने नहीं देख पाता, तब श्रोत्नादि के ममान नीलादि को भी नहीं देखेगा। ग्राग्न 'पर' को दग्ध करता है, 'स्व' को नहीं, इस दृष्टान्त के ग्राधार पर 'दर्शन' 'पर' को ही देखेगा 'स्व' को नहीं, यदि यह कहें, तो यह ठीक नहीं है; क्यों कि दर्शन के समान ही ग्राग्न के दग्धत्व का भी हम खण्डन करते हैं। क्यों कि, ग्राग्न के द्वारा दग्ध का दहन, ग्रदग्ध का दहन ग्रादि पक्ष ग्रयुक्त है। इसी प्रकार, ग्राचार्य यह भी कहते है कि दृष्ट का दर्शन नहीं किया जा सकता, ग्रदृष्ट का दर्शन नहीं किया जा सकता, ग्रदृष्ट का दर्शन नहीं किया जा सकता, दृष्टादृष्ट से विनिर्मु कत दृश्यमान का दर्शन नहीं किया जा सकता।

१ अभिधर्म में उक्त है -

<sup>&#</sup>x27;'दर्शन श्रवण घ्राण रसन स्पर्शन मन । इन्द्रियाणि षडेतेपां द्रष्टच्यादीनि गोचर ॥''

ग्राचार्य कहते हैं कि दर्णन वह है, जो देखता है (पश्यतीति)। इस स्थिति में प्रश्न है कि दर्णन-िक्रया से दर्शन-स्वभाव चक्षु का सम्बन्ध है, या ग्रदर्शन-स्वभाव चक्षु का र दर्शन-स्वभाव (दर्णन-िक्रया से युक्त) चक्षु का 'पश्यित' के माथ सम्बन्ध उपपन्न नही है, ग्रन्यथा दो दर्शन-िक्रयाएँ तथा दो दर्शन मानने पडेंगे। दर्शन िक्रया-रहित रहने के कारण ग्रदर्शन स्वभाव भी दर्शन नही करता।

#### द्रव्या की ग्रसिद्धि

वादी कहता है कि हम 'जो देखता है' उसे दर्शन नहीं कहेंगे, विलक उसे कहेंगे, 'जिसमें देखा जाता है।' ऐसी अवस्था में करणभूत दर्शन से द्रष्टा का देखना सिद्ध होगा, अरोर पूर्वोक्त दोष नहीं लगेगे। ग्राचार्य कहते हैं कि इस पक्ष में भी दर्णन की ग्रमिद्धि के समान ही द्रप्टा की ग्रसिद्धि है, क्योंकि द्रष्टा जब ग्रपने स्वय का द्रष्टा नहीं है, तो तत्सम्बद्ध ग्रन्य का द्रष्टा क्या होगा ? द्रष्टव्य (विषय) ग्रीर दर्शन (करण) भी नही है; क्योकि वे द्रब्ट्र-सापेक्ष हैं, किन्तु द्रष्टा नही है। यदि द्रष्टा है, तो प्रश्न है कि वह दर्शन-मापेक्ष है या दर्शन-निरपेक्ष ? दर्शन-मापेक्ष है, तो वह अवण्य ही दर्शन का तिरस्कार करके सम्पन्न नहीं होगा। ऐसी अवस्था मे यह विचार करना होगा कि सिद्ध द्रष्टा को दर्शन की अपेक्षा है या असिद्ध द्रष्टा को। सिद्ध द्रष्टा को दर्शन की पुन ग्रपेक्षा व्यर्थ है। ग्रसिद्ध द्रष्टा वन्ध्यापुत्र के समान स्वय ग्रसिद्ध है, वह दर्शन की अपेक्षा ही क्या करेगा ? दर्शन-निरपेक्ष द्रष्टा तो सर्वथा असिद्ध है, अत अविचारणीय है। इस प्रकार, द्रष्टा का ग्रभाव है, ग्रौर उसके ग्रभाव में द्रष्टव्य ग्रौर दर्शन का ग्रभाव है। द्रष्टव्य ग्रीर दर्शन के ग्रभाव से उनकी ग्रपेक्षा से जायमान विज्ञान तथा इन तीनो से जायमान सन्निपातज स्पर्श, स्पर्शज वेदना तथा तृष्णा नहीं है । इसलिए, द्रष्टव्य-दर्शन-हेतूक चार भवाग भी नहीं है। द्रष्टा के ग्रभाव से जब द्रष्टव्य ग्रौर दर्शन नहीं है, तब विज्ञानादि चतुष्टय कैसे होंगे ? इसी प्रकार, विज्ञानादि चतुष्टय के अभाव से उनके कार्यभूत उपादानादि उपादान, भव, जाति, जरा म्रादि) का भी मभाव है।

म्राचार्य दर्शन के समान ही श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्णन, मन तथा श्रोत्र श्रोतच्यादि का निरास करते हैं।

#### रूपादि स्कन्धो का निषेध

पहले चक्षुरादि इन्द्रियों का प्रतिपेध किया गया है। ग्रव स्वन्धों की परीक्षा करते हैं। हप भौतिक होते हैं। चार महाभूत उनके कारण है। घट से पट जैसे गिन्न हैं, वैसे भूनों से पृथक् भौतिक रूप नहीं है। इसी प्रकार, भूत भौतिकों में पृथक् नहीं है। ग्राचार्य कहते हैं कि महाभूतों से ग्रतिरिक्त भौतिक (रूप) हैं, तो ग्रवण्य ही उन भौतिकों के कारण भूत नहीं है। किन्तु, कोई वस्तु ग्रकारण नहीं होती, इमलिए भूतों में वियुक्त भौतिक मानना पड़ेगा। इसी प्रकार, भौतिक से पृथक् भूत नहीं है, यदि कार्य में वियुक्त कारण हैं, तो जैसे घट ने निन्न पट घट का हतु नहीं होता, वैसे ही कार्य से पृथक् कारण मानने पर नारण ग्रायंव होगा। ग्रकार्यक कारण कारण नहीं है।

पुन, ह्यं का कारण माने, तो प्रश्न होगा कि सत् का या ग्रमन् का । उभयथा ग्रमुपपन्न है। रूप की विद्यमानता में उमके कारण का कोई प्रयोजन नहीं है, श्रीर ग्रविद्यमानता में करण मुनरा व्यर्थ हैं। पूर्वीक्त विश्लेषण में जैसे कारण का रूप व्यावृत्त हुग्रा, उसी प्रकार तदपेक्ष कार्यरूप भी व्यावृत्त होगा। उभयरूप की व्यावृत्ति में रूपगत सप्रतिध-ग्रप्रतिध, मनिदर्शन-ग्रनिदर्शन, ग्रतीन, ग्रनागत नीलपीतादि समस्त विकल्प निरस्त होगे।

एक प्रण्न यह भी होगा कि रूप कारण के मदृण-कार्य को उत्पन्न करता है या ग्रसदृश-कार्य को ? उभयथा ग्रनुपपन्न है। भूत किठन, द्रज्य, उष्ण, तरल स्वभाव है, ग्रीर वाह्य तथा ग्राध्यात्मिक भौतिक ग्रायननो का राम्प उसमें भिन्न स्वभाव का है। जैसे मदृण शालिबीजो में परम्पर कार्यकारणभाव नहीं होता, वैसे ही ग्रयदृणों से भी कार्यकारणभाव नहीं होता, जैसे निर्वाण के साथ भूतो का कार्यकारणभाव नहीं है।

रूप-स्कन्ध के ही समान वेटना, चित्त, सज्ञा, सस्कारों का भी ग्रभाव है। ग्राचार्य नागार्जुन कहते हैं कि माध्यिमक जिस प्रणाली से एक धर्म की ग्रून्यता का प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार सर्व धर्मों की ग्रून्यता को प्रतिष्ठित करना है। माध्यिमक सस्य गाववादी परपक्षी के साथ विग्रह में सन्य गावना के सिद्धान्त का जब खण्डन करता है, तब किसी की भी ग्रन्यस्त्रभावता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वे सब साध्यसम ( साध्य के समान ग्रसिद्ध ग्रवस्था-युक्त ) रहते हैं। इसलिए, प्रतिवादी वेदनादि के सद्भाव के दृष्टान्त से रूप का सद्भाव सिद्ध नहीं कर सकता। साध्यसिक इसी प्रणाली से सर्वत प्रतिवादी के दृष्टान्तों को साध्यसम सिद्ध करके उसके परिहार के प्रयत्नों को व्यथ कर देता है।

#### षड् घातुस्रों का निवेध

ग्रव धातुग्री की परीक्षा करते हैं, ग्रीर प्रसगवश लध्य-लक्षण की परीक्षा करेंगे । ग्राचार्य के ग्रनुसार धातुग्रो का कोई लक्षण नहीं वनता।

स्राकाशघातु—ग्राकाण ग्रनावरण-लक्षण माना जाता है, किन्तु, यह तब हो, जब स्रना-वरण लक्षण के पूर्व लक्ष्य हो। किन्तु, ग्राकाश-लक्षण के पूर्व ग्राकाश क्या होगा? यदि ग्राकाश ग्राकाश-लक्षण से पूर्व हो, तो वह अवण्य अलक्षण होगा। किन्तु, कोई भी भाव अलक्षण नहीं होता। पुन जब अलक्षण भाव की मत्ता नहीं है, तब लक्षण की प्रवृत्ति कहाँ होगी? लक्षण म्वीकार करें, नो यह प्रण्न होगा कि लक्षण मलक्षण में प्रवर्तमान होगा या अलक्षण में अलक्षण 'गधे के मीग' के ममान है, इमलिए, उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। सलक्षण भीं लक्षण की प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं है, अन्यथा अतिप्रमग दोव होगा। सलक्षण और अलक्षण से अन्यव लक्षण की प्रवृत्ति ग्रमम्भव है।

लक्षण की प्रवृत्ति न होने पर लक्ष्य की सत्ता सिद्ध नहीं होती, क्यों कि लक्षण की प्रवृत्ति न होने पर लक्ष्य की सम्भावना मुतरा निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार, लक्ष्य की ग्रन्प्रपत्ति से लक्ष्य ग्रम्पमव है। लक्षण की ग्रसम्प्रवृत्ति से लक्ष्य ग्रमुपपन्न होता है। इसलिए, लक्ष्य-लक्षण दोनों का सर्वथा ग्रमाव है।

वादी कहता है कि लक्ष्य-लक्षण नहीं है, परन्तु ग्राकाश है। यह ग्रयुक्त है; क्यों कि लक्ष्य-लक्षण-विनिर्मु क्त कोई भाव नहीं होगा। जब लक्ष्य-लक्षण निर्मु क्त-भाव नहीं होता, तब भाव की ग्रविद्यमानता के ग्राधार पर ग्राकाश ग्रभाव पदार्थ भी कैंसे होगा। भावाभाव से ग्रातिरिक्त कोई तृतीय पदार्थ नहीं है, जो ग्राकाश हो। जब लक्ष्य-लक्षण का ग्रभाव हं, तभी लक्ष्य-लक्षण-रहित ग्राकाश की सत्ता ग्राकाश-कुसुम के समान ग्रसिद्ध होती है। इसी प्रकार, पृथिव्यादि पाँच धातुग्रों का भी ग्रभाव है।

#### रागादि क्लेशो का निषेध

वादी कहता है कि माध्यमिक को स्कन्ध, ग्रायतन ग्रांर धातु की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी, ग्रन्थथा उसके ग्राश्रित क्लेगो की उपलब्धि नही हागी। रागादि क्लेग सक्लेग-निबन्धन हैं। भगवान् ने कहा है—हे भिक्षुग्रो वाल ग्रश्रुतवान् पृथग्जन प्रज्ञप्ति में ग्रनु-पितत हो, चक्षु से रूप को देखकर उसमें सीमनस्य का ग्रिभिनवेश करता हे, ग्रिभिनविष्ट होकर राग उत्पन्न करता है, राग से रक्त होकर रागज, द्वेपज, मोहज कर्मों का काय, वाक् ग्रीर मन से ग्रिभिसस्कार करता है।

माध्यमिक कहते है कि हमारे मत मे रागादि क्लेश नहीं हे, इसलिए स्कन्ध, ग्रायतन ग्रीर धातु भी नहीं हैं। मैं पूछता हूँ कि पृथग्जना के द्वारा जिस राग की कल्पना होती हे, वह रक्त नर में या ग्ररक्त नर में ? उभय युक्त नहीं है।

रक्त रागाश्रय है। राग के पूर्व भी यदि रक्त है, तो वह ग्रवश्य राग-रहित होगा। जब राग-रहितता है, तभी जसका प्रतिपक्ष राग सिद्ध होता ह, किन्तु राग-रहित का होना सम्भव नहीं है, ग्रन्यथा ग्ररक्त अर्हत् को राग होगा। रक्त की ग्रमत्ता में राग नहीं होगा, ग्रन्यथा राग निराश्रय होगा।

यदि वादी को रक्त की सत्ता ग्रभीष्ट है, तो उसे वताना होगा कि रक्त की कल्पना राग में है या ग्रराग में ? उभय ग्रनुपपन्न हैं।

राग में रवत की करपना तो इसलिए नहीं वनेगी कि एक में रागानुत्पत्ति होगी, क्यों कि पूर्व के समान कहेंगे कि रवत से पूर्व यदि राग है, तो वह अवश्य रवत-तिरम्कृत है।

वादी कहता है कि ये दोप राग-रक्त का पौर्वापर्य मानने से हैं। उमितिए, मैं इनका महो-द्भव मानता हूँ। चित्त-सहभूत राग में चित्त रिजत होना है, वही उसकी रक्तता है। माध्यिमक कहते है कि इस स्थिति में राग-रक्त परत्पर निर्पेक्ष होगे। पुनष्क, राग और रक्त का महभाव इनके एकत्व में है या पृथक्तव में ? एकत्व में महभाव नहीं होगा, क्योंकि राग में ग्रव्यानिरिक्त का, उसीसे सहभाव का क्या ग्रथं होगा? पृथक पदार्थों का भी महभाव मर्वण ग्रिक्ट है। पुन. एकत्व में सहभाव हो, तो विना महत्व के ही नहभाव होगा। उसी प्रकार, पृणक्त्व में महभाव मानने पर भी विना महत्व के मर्वथा पृथक् गो-ग्रक्वादि वा महभाव मानना पटेगा। प्रस्टवम्बक् महभाव की मिद्धि के लिए राग-रक्त का पृथक्त्व सिद्ध होना चारिए, जो ग्रिक्ट है। फिर, यि उनका पृथक्त्व ही सिद्ध करना है, तो फिर उनके सहभाव की कल्पना क्यों करते हैं पृथक्-पृथक् होने के कारण राग और रक्त की स्वरूप-सिद्धि होगी, इसिलए यदि आप सहभाव चाहते हैं, तो पुन सहभाव के लिए उनका पृथक्त्व मानना पढ़ेगा और इस प्रकार इतरेतराश्रय दोप होगा।

ग्राचार्य कहते है कि राग-रक्त की मिद्धि न पौर्वापर्येण होगी ग्रीर न महभावेन। इसी प्रकार, द्वेप-द्विष्ट, मोह-मूढादि की भी सिद्धि नहीं है।

### सस्कृत धर्मों का निषेध

हीनयानी कहते है कि सस्कृत-स्वभाव पदार्थी, (स्कन्ध, ग्रायतन, धातु) का मद्भाव मानना पड़ेगा, वयोकि भगवान् ने कहा है—"भिक्षुग्रो। सस्कृत के ये तीन सस्कृत-लक्षण है। भिक्षुग्रो। सस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात है, व्यय ग्रौर स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञात है। ग्रविद्यमान का जात्यादि-लक्षण सम्भव नहीं है, ग्रत सम्कृत धर्मों की मत्ता है।"

माध्यमिक कहते हैं कि स्कन्ध, ग्रायतन, धानु ग्रवश्य सस्कृत-स्वभाव के होंगे, यिद उनका सस्कृत-लक्षण (जाति, व्यय, स्थित्यन्यथात्व) हो। प्रश्न है कि मस्कृत-लक्षण का उत्पाद स्वय सस्कृत है या ग्रसस्कृत विसम्कृत है, तो उसे विलक्षणी होना चाहिए। विलक्षणी—उत्पाद, स्थिति ग्रीर भग का ममाहार है, उससे सर्व सस्कृत धर्मों का ग्रव्यभिचार (निश्चित साहचर्य) है। यदि उत्पाद सस्कृत है, तो उसे भी विलक्षणी होना चाहिए। किन्तु, ऐसी स्थिति में वह सस्कृत-लक्षण नही रहेगा, ग्रिप तु रूपादि के समान लक्ष्य होगा। इस दोष से वचने के लिए यदि उत्पाद को विलक्षणी नही माने, तव वह ग्राकाशवत् ग्रसम्कृत होगा। फिर, ग्रसस्कृत सम्कृत-लक्षण कैसे होगा?

त्रिप च, उत्पादादि व्यस्त (पृथक्-पृथक् )-सस्कृत-लक्षण है या सहभूत-समस्त ? उभय पक्ष उपपन्न नहीं है।

व्यस्त लक्षण-वादी व्यस्तो से सम्कृत पदार्थों का लक्षण नहीं बना सकते, क्यों कि यदि उत्पाद-काल में स्थिति ग्रीर भग न होगे, तो स्थिति ग्रीर भग से रिहत ग्राकाश के समान उत्पाद भी सम्कृत-लक्षगों से युक्त न होगा। इमी प्रकार, म्थिति-काल में उत्पाद ग्रीर भग न होगे, तो उनसे रिहत पदार्थ की स्थिति भी नहीं होगी। क्यों कि, उत्पाद ग्रीर भग से रिहत कोई पदार्थ नहीं होता, ग्रत ग्रविद्यमान वम्नु की किसी प्रकार स्थिति नहीं होगी। ऐसे पदार्थ की स्थिति माने भी, तो ग्रवित्यता से उमका योग नहीं होगा, क्यों कि वह ग्रवित्यता-विरोधी धर्म (स्थिति) से स्वय ग्राकान्त है। यदि पदार्थ को पहले गायवत माने, वाद में उसका ग्रवित्यता से योग मानें, तो एक पदार्थ को ही गायवत, ग्रावायवत, दोनो मतना पडेगा। पूर्वोक्त प्रणाली से भग काल में स्थिति ग्रीर उत्पाद न होगे, तो वह ग्रवत्पन्न एव स्थिति-रिहत होगा। वह खपुष्प के समान होगा, ग्रीर उसका विनाश होगा।

समस्त लक्षण--उत्पादादि ममस्त होकर भी पदार्थ के लक्षण न होगे, क्योंकि एक क्षण में ही पदाय का जन्म, स्थिति ग्रीर विनाश ग्रमस्भव है।

### संस्कृत-लक्षण के लक्षण का निषेध

उत्पाद, स्थिति ग्रीर भग की ग्रन्य उत्पादादि से सम्कृत-लक्षणता सिद्ध करे, तो ग्रपर्यवसान दोष होगा। कौन पूर्व हो ग्रीर कौन पश्चात्, इसकी व्यवस्था न होगी। इस प्रकार, उत्पादादि सर्वथा ग्रसम्भव है।

हीनयानी कहते हैं कि अपर्यवसान दोष न लगेगा, क्योंकि मेरे मत मे उत्पाद द्विविध है। एक 'मूल उत्पाद', दूसरा 'उत्पादोत्पाद' (उत्पाद का उत्पाद )। उत्पादोत्प'द-सज्ञक उत्पाद केवल मूल उत्पाद का उत्पादक होता है। मील उत्पाद उत्पादोत्पादक उत्पाद को उत्पन्न करता है। इस प्रकार, परस्पर के सम्पादन से उत्पादादि की ज्ञिलक्षणी वनेगी और अनवस्था न होगी।

ग्राचार्य कहते हैं कि ग्रापके मत में जब उत्पादोत्पाद मूलोत्पाद का जनक है, तब मीलोत्पाद से ग्रनुत्पादित उत्पादोत्पाद मौल उत्पाद को कैसे उत्पन्न करेगा? यदि मौल उत्पाद से उत्पादित उत्पादोत्पाद को मौल का उत्पादक माने, तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वय ग्रविद्यमान ग्रन्य का उत्पाद कैसे करेगा?

# उत्पाद की उत्पाद-स्वभावता का खण्डन

वादी कहे कि ग्राप उत्पाद का ग्रपर उत्पाद न मानिए, किन्तु जैसे प्रदीप प्रकाश-स्वभाव होने के कारण ग्रपने ग्रीर घटादि को प्रकाशित करता हे, उसी प्रकार उत्पाद उत्पाद-स्वभाव होने के कारण ग्रपने ग्रीर पर को उत्पन्न करेगा।

सिद्धान्ती कहता है कि श्रापका यह कहना तब ठीक हो, जब कि प्रदीप स्व श्रीर पर का प्रकाश करता हो, किन्तु ऐसा नहीं होता। तम का नाश, प्रकाश है, ग्रत विरोधी होने के कारण तम प्रदीपात्मा में नहीं है, जिसे नष्ट करके प्रदीप श्रपनी प्रकाशरूपता सम्पन्न करे। प्रदीप के देश में भी तम नहीं रहता, जिसे नष्ट कर प्रदीप में पर-प्रकाशता सिद्ध हो। उत्पद्यमान प्रदीप से भी तम हत नहीं होगा। उत्पद्यमान प्रदीप तम को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि ग्रालोक ग्रौर ग्रन्धकार एककालिक नहीं है। यदि प्रदीप तम को विना प्राप्त किये उसे नष्ट करने लगे, तो एकस्य प्रदीप सर्वलोकस्थ तम को नष्ट न करेगा? ग्रीर, यदि प्रदीप को स्व ग्रौर पर का प्रकाशक मानेगे, तो दूसरा तम को स्व ग्रौर पर का ग्राच्छादक क्यों न मानेगा? इस प्रकार, प्रदीप के दृष्टान्त से उत्पाद की स्व-परोत्यादकता सिद्ध नहीं होगी।

प्रश्न है कि उत्पाद स्वय उत्पन्न होकर ग्रपना उत्पाद करता हे या ग्रनुत्पन्न रहकर ?

उत्पन्न के उत्पादन का क्या प्रयोजन ? इमलिए गिद्ध है कि उत्पाद ग्रपना उत्पाद नहीं करना । यदि स्वय ग्रनुत्पन्न भी उत्पाद ग्रपना उत्पाद करे, नो ममस्त ग्रनुत्पन्न चन्तुएँ ग्रपना-ग्रपना उत्पाद करने लगे । माध्यमिक के अनुमार काल-त्रय में कुछ भी उत्पन्न नही होता। सामान्यत, उत्पद्यमान (उत्पन्न होती हुई वस्तु) की उत्पत्ति की प्रतीतिगोचर होती है, किन्तु विचार करने पर वह असिद्ध है। उत्पत्ति की अपेक्षा में उत्पद्यमान होता है, इसलिए यह विशेष वताना पड़ेगा कि किस उत्पत्ति की अपेक्षा से वह उत्पद्यमान है। इसे वादी नहीं वता सकता, क्योंकि वह अनुत्पन्न है, और उत्पन्न होने का कोई निमित्त नहीं दिखाई पडता।

## श्रनुत्पाद से प्रतीत्यसमुत्पाद का श्रविरोध

मर्वास्तिवादी माध्यमिक पर एक गर्मभार श्रारोप करता है। कहता है कि श्रापका यह सर्व-नास्तित्वाद श्रत्यन्त भयकर है। श्राप तथागत के वचनों की व्याख्या के व्याज से केवल दोप निकालने का श्रपना कौशल दिखात है, किन्तु इससे तथागत के परमार्थ सत्य प्रतीत्यसमुत्पाद का वध होता है। भगवान् ने श्रस्मिन्सित इद भवित श्रस्योत्पादादिदमुत्पद्यते इस न्याय से प्रकृति-ईश्वर-स्वभाव-काल-श्रणु-नारागणादि के जगत्-कर्त्तृत्व का निरास किया, किन्तु श्रापने उत्पद्यमान-उत्पन्न-श्रनुत्पन्न श्रादि विकत्प करके उत्पाद का ही वाध कर दिया। श्रापने यह नहीं देखा कि ग्रापके द्वारा तथागत-ज्ञान की जननी प्रतीत्य-समृत्पत्ति का ही वध हो रहा है।

ग्राचार्य चन्द्रकीत्तिं कहते हैं कि मैं दशवल-जननी माता प्रतीत्य-ममृत्पत्ति का वध नहीं करता हूँ। प्रत्युत, यह पाप ग्रापके ही मिर है। भगवान् ने प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना से मर्वधर्मीं की नि मारता वताई है। विद्यमान पदार्थ सम्बभाव होते हैं, क्योंकि स्व की ग्रनपायिता (ग्रविनाश) ही स्व-भाव है। स्व की विद्यमानता के कारण ही स्वभाव किमी की ग्रपेक्षा नहीं करता, श्रौर न उत्पन्न ही होता है। इस प्रकार, सम्बभाववादी के ही मत में भावों का प्रतीत्य-ममृत्पन्तत्व वाधित होता है, ग्रौर उमसे धर्म ग्रौर वृद्ध का दर्णन भी वाधित होता है। माध्यमिक कार्य ग्रौर कारण दोनों को प्रतीत्य-समृत्पन्न मानता है, इमलिए उसके मत में पदार्थ गानत ग्रौर स्वभाव-रहित हैं। इस व्याख्या से माध्यमिक तथागतों की माता प्रतीत्य-समृत्पत्ति का स्वरूप स्पष्ट करने हैं।

#### उत्पद्यमान के उत्पाद का निषेध

वादी कहना है कि जो कुछ हो, उत्पाद उत्पद्यमान की उत्पत्ति करता है, क्यों कि घटोत्पत्ति किया की अपेक्षा से घट की उत्पद्यमानता प्रतीत होती है। किन्तु, उत्पाद के पूर्व जब कोई अन्त्यन्न घट नहीं है, तब उसकी उत्पत्ति-किया की अपेक्षा करके उत्पाद कहना ठीक नहीं। वादी कहें कि यद्यपि उत्पाद के पूर्व यह नहीं है, तथापि उत्पन्न होकर तो घट सज्ञा का लाभ करेगा? यह भी ठीक नहीं है। क्यों कि, जब उत्पत्ति-किया प्रवृत्त होती है, तब उस ममय का वर्त्तमान पटार्थ घट मज्ञा प्राप्त करता है, किन्तु जब भाव अनागत है, तो उससे सम्बन्ध न होने के कारण किया की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, फिर घट की वर्त्तमानता कैंमे ? किया

प्रतीत्य यद्यदेभवति तत्तन्छान्त स्वभावत ।

को अघट के आश्रित होने के लिए निश्चित करना होगा कि क्या ग्रसत् घट हो सकता है? क्या वह पट हो सकता है या कुछ नही होता? यदि पट उत्पद्यमान है, नो उत्पन्न होकर वह घट नहीं हो जायगा। यदि कुछ नहीं होगा, नो क्रिया निराध्यय होगी, फिर तो घट होने की कल्पना दूर रहें, किसी की भी उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए, वादी का यह कहना कि उत्पाद उत्पद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति करता है, व्यर्थ है।

श्राचार्य कहते हैं कि श्रापके मत से उत्पाद उत्पद्यमान पदार्थ का उत्पाद करता है। यह बताइए कि उत्पाद किस दूसरे उत्पाद को उत्पाद करता है? यदि श्रपर उत्पाद पूर्व उत्पाद का उत्पादक है, तो श्रनवस्था होगी। यदि उत्पाद स्व श्रीर पर का उत्पादन करेगा, तो इस पक्ष का पहले ही निरास किया जा चुका है।

#### स्थिति का निषेध

वादी पदार्थों का उत्पाद प्रकारान्तर से मिद्ध करना चाहता है। वह कहता है कि जब पदार्थों की स्थिति है, तब उनका उत्पाद भी मानना होगा, क्योंकि अनुत्पन्न पदार्थों की स्थिति नहीं होती। आचार्य कहते हैं कि पदार्थों की स्थिति भी नहीं है। स्थित पदार्थ की स्थिति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ स्थिति-क्रिया निम्द्ध है। अस्थित की स्थिति नहीं होगी, क्योंकि वह स्थिति किया-रहित है। तिष्ठमान की स्थिति मानने से गम्यमान की गति के समान स्थिति-द्वयं की प्रसनित होगी।

श्राचार्य कहते है कि जब जरा-मरण क्षण-मात्र के लिए भी पदार्थों को नहीं छोडते, तब स्थिति के लिए यहाँ श्रवकाश ही कहाँ है ? इसके श्रतिरिक्त जैसे उत्पाद श्रपना उत्पाद नहीं करता है, वैसे स्थिति भी श्रपनी स्थिति नहीं करेगी ।

प्रश्न है कि स्थिति निरुध्यमान पदार्थ की होती है, या अनिरुध्यमान । निरुध्यमान की स्थिति नहीं होती, क्योंकि विरोधाभिमुख पदार्थ की विरोधी स्थिति है। अनिरुध्यमान कोई पदार्थ नहीं होता, अतः उसका कोई प्रश्न नहीं है।

### निरोध का निषेध

वादी कहता है कि यदि सस्कृत धर्मों की ग्रनित्यता है, तो उसके दो महचारी स्थिनि ग्रीर उत्पाद भी मानने होगे। ग्राचार्य ग्रनित्यता नही मानते। कहते हैं कि ग्रनित्यता निरुद्ध की, ग्रनिरुद्ध की या निरुध्यमान की र ग्रतित निरुद्ध का वर्त्तमान निरोध से विरोध है। ग्रनिरुद्ध का निरोध उसके निरोध-विरह के कारण सम्भव नहीं है। निरुध्यमान के निरोध ने निरोध-द्वय की प्रसक्ति होगी। ग्राचार्य कहते हैं कि जिन कारणों से धर्मों का उत्पाद निद्ध नहीं होता, उन्हों से निरोध भी सिद्ध नहीं होता। इमलिए, जैंसे उत्पाद का न्यात्मना या परात्मना उत्पाद निद्ध नहीं होता। की होता, वैसे ही निरोध का निरोध भी स्वात्मना या परात्मना मिद्ध नहीं होता।

वादी कहता है कि निरोध का निरोध नहीं होता, तो उसकी मस्कृत-लक्षणना कैसे निद्ध होगी ? इसके अतिरिक्त परसम्मत विनाश को नो आप भी मानने ही है। इस स्विति में उभयसम्मत दोष का मैं ही परिहार क्यों करूँ ? सिद्धान्ती कहता है कि पदार्थ प्रवश्य नि रवभाव है, किन्तु वाल पृथग्जन उसमे सत्याभिनिवेश करते हैं, ग्रीर उससे व्यवहार चलाते हैं। हमलोग भी इस ग्रविचारत. प्रसिद्ध व्यवहार को मान छेते हैं। वस्तुत, गन्धर्वनगरादि के समान लीकिक पदार्थ निरुपपत्तिक हैं, क्योंकि ग्रविद्यान्धकार से उपहत दृष्टि के लोग समस्त पदार्थों की ग्रापेक्षिक मत्ता खडी किये हैं। उत्पाद की ग्रपेक्षा उत्पाद ग्रीर उत्पाद की ग्रपेक्षा उत्पाद, निरोध की ग्रपेक्षा निरोध्य ग्रीर निरोध्य की ग्रपेक्षा निरोध्य ग्रीर विरोध्य की ग्रपेक्षा निरोध इस प्रकार लीकिक व्यवहार ग्रम्युपगत होते हैं। ऐसी ग्रवस्था में दोपों का समप्रसग उचित नहीं है।

## निरोध की निहें तुकता का निपेध

सम्कारों की क्षणिकता के लिए सर्वास्तिवादियों ने विनाश को ग्रहेतुक माना है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि निहेंतुकता को स्वीकार करने से विनाश नहीं वनेगा, जैसे निहेंतुक खपुष्प का विनाश कहना व्यर्थ है। इसलिए, पदार्थों की क्षणिकता भी निद्ध नहीं होती। फिर, जब विनाश निहेंतुक है, तो नहीं है, तब पदार्थों का सस्कृतत्व भी कहाँ सिद्ध होगा? भगवान् ने सम्कृत-लक्षणों को सम्कार-स्वन्ध में ग्रन्तमूंत करने के ग्रभिप्राय से ही पदार्थों की जाति, जरा-मरणादि का वर्णन किया है। इससे विनाश का सहेतुकत्व स्पष्ट निद्ध होता है। निद्धान्त-सम्मत पदार्थों की क्षणभगता तो जातिमात्न की ग्रपेक्षा में भी निद्ध हो सकती है।

वादी कहना है कि विनाश निहेंतुक है, क्योंकि विनाश ग्रभाव है। ग्रभाव को हेतुता से क्या लेना है? मिद्धान्ती उत्तर देता है कि इस न्याय से भाव भी निहेंनुक होगे, क्योंकि भाव विद्यमान है। विद्यमान को हेतु से क्या प्रयोजन? यदि उत्पाद पूर्व मे नही था ग्रौर पश्चात् हुग्रा, इमिलए वह महेतुक है, तो विनाश भी पहले नही होता, पश्चात् होता है। ग्रापका यह कहना है कि ग्रभाव के लिए हेतु निष्प्रयोजन है, ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु से विनाश का कुछ ग्रौर नहीं होता, विनाश ही होता है। यदि कहों कि विनाश को क्रियमाण मानने पर वह भाव हो जायगा, तो यह युक्त ही है। विनाश ग्रवण्य ही स्वरूप की ग्रपेक्षा से भाव है। रूपादि निवृत्ति की ग्रपेक्षा ग्रभाव है।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि वास्तिविक वात तो यह है कि सर्वास्तिवादी जब शून्यता को भाव-ग्रभाव-लक्षण मानते हैं, तब उसकी भावरूपता भी मान ही लेते हैं, क्योंकि ऐसी मान्यता में ग्रभाव भी स्पष्ट ही भावरूप है। इस भावरूपता से सर्वास्तिवाद में शून्यता ग्रसस्कृत नहीं रह जाती।

वादी कहता है कि पृथिव्यादि का काठिन्यादि-लक्षण जव उपदिष्य है, तव सस्कृत है, ग्रौर उनके सद्भाव से सस्कृत-लक्षण भी है। सिद्धान्ती का उत्तर है कि उत्पाद-स्थिति-भग लक्षण ही जव ग्रसिद्ध है, तव मस्कृतो की मिद्धि कैंसे होगी? ग्रौर, सस्कृतो की ग्रसिद्धि से तदपेक्ष ग्रमम्कृत भी ग्रमिद्ध होगे।

भगवान् ने सस्कृत-धर्मी के उत्पाद, व्यय ग्रीर स्थित्यन्यथात्व के प्रज्ञात होने की जो वात

कही है, वह तथाविध विनेय जन पर अनुग्रह करने के लिए है। वस्तुत , पदार्थ स्वभावत. अनु-त्पन्न एव अविद्यमान है, जैसे माया, स्वप्न, गन्धर्वनगर आदि।

#### कर्म-कारक प्रादि का निषेध

वादी विज्ञानादि सस्कृत धर्मों की सत्ता पर जोर देते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् ने अविद्यानुगत पुद्गल के द्वारा पुण्य, अपुण्य, आर्निज्य सस्कारों का अभिसस्कार वताया है, और कर्मों का कारक, उन कर्मों का फल, तिद्वज्ञान उपिदष्ट किये हैं। अवण्य ही ये कारकादि व्यवस्थाएँ सत् पदार्थों की ही माननी होगी। कूर्म-रोमादि के समान असत् की कर्म-कारकादि व्यवस्था नहीं होती।

सिद्धान्ती कर्म-कारकादि का निषेध करता है। क्रिया-व्यापार मे सलग्न ही कारक रूप से व्यपिदण्ट होता है। इसिलए, वादी को यह वताना होगा कि इस व्यापार का कर्ता सद्भूत है या ग्रसद्भूत या सदसद्भूत ? जो किया जाता है, वह कर्म है। यह कर्ता का ईिप्सततम (तीन्न इच्छा का विषय) होता है, इसिलए ग्रापको वताना होगा कि वह कर्म भी सत्, ग्रसत् या सदसत् में क्या है? क्रियायुक्त (सद्भूत) कारक में क्रियायुक्त सद्भूत कर्म का कर्त्त तही वन सकता, ग्रौर किया से रिहत ग्रसद्भूत कारक किया-रिहत कर्म का कर्त्त तही होता, जब कि कारक-व्यपदेश के लिए उसका किया से युक्त होना ग्रावच्यक है। किन्तु, जिस किया से उसका कारकत्व व्यपदिष्ट है, उससे ग्रतिरिक्त दूसरी किया नहीं है, जिससे वह कर्म करे। इस प्रकार, क्रिया के ग्रभाव में जब कारक कर्म न करेगा, तब कर्म कारक-निरपेक्ष होगा, जो ग्रसम्भव है। ग्रत, सिद्ध हुग्रा कि सद्भूत कारक कर्म नहीं करता। सद्भूत कर्म को भी कारक नहीं करेगा, क्योंकि कर्म किया से युक्त है ग्रौर जिस किया से उसका कर्मत्व व्यपदिष्ट है, उससे ग्रति-रिक्त कोई द्वितीय किया नहीं है, जिससे वह कर्म हो। दूसरी किया के ग्रभाव में कारक ग्रकमंक होगा, जो ग्रसम्भव है।

इसी प्रकार, असद्भूत कर्म को असद्भूत कारक नहीं कर सकता; क्योंकि किया से रिहत कारक (असद्भूत) और कर्म (असद्भूत) निहेंतुक होगे। यदि अहेतुकवाद का अभ्युपगम करेगे, तो समस्त कार्यकारणभाव अपोहित हो जायगा, साथ ही किया, कर्ता और करण समस्त अपोहित होगे। कियादि के अभाव में धर्म-अधर्मादि का अभाव होगा और धर्माधर्मादि के अभाव से इब्ट, अनिष्ट, सुगति, दुर्गति फलो का अभाव होगा। इन फलो के अभाव में स्वर्ग या मोक्ष के लिए मार्ग-भावना विफल होगी और उसके लिए कोई प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार, लौकिक-अलौकिक समस्त कियाएँ निरर्थक हो जायेंगी। अत, असद्भूत कारक असद्भूत कर्म को करता है, यह पक्ष, त्याज्य है।

उभय रूप कारक उभय रूप कर्म को कथमिप नहीं कर सकता है, क्यों कि वे परस्पर विरद्ध है। एक पदार्थ एक ही काल में त्रिया और अत्रिया से युक्त नहीं होते। इसी प्रकार, विषम पदा (सद्भूत कर्ता से असत् कर्म, असत् कर्ता से मन् कर्म का होना आदि) भी निपिट होते हैं। वादी माध्यमिक से पूछता है कि भगवान् ने यह कहाँ श्रवधारित किया है कि 'भाव (पदार्थ) नहीं हैं'। सिद्धान्ती कहता है कि श्राप सस्वभाववादी हैं, इसलिए श्रापक पक्ष में सर्वभावों का श्रपवाद सम्भावित है, किन्तु हम लोग समस्त भावों को प्रतीत्यसमुत्पन्न मानने के कारण उनका स्वभाव ही नहीं मानते, फिर श्रपवाद किसका करें ने जब सर्वभाव नि स्वभाव है, तो पूर्वोक्त प्रकार से उनकी सिद्धि कथमिंप नहीं हो सकती।

मिद्धान्त में समस्त पदार्थ मरु-मरीचिका के तुल्य है। लीकिक विपर्यास का अभ्युपगम करके ही इन मावृत पदार्थों की 'इटम्प्रत्ययता' ( यह घट हे, यह पट है इत्यादि) प्रसिद्ध होती है। हमने अभी देखा है कि कर्म-निरपेक्ष कारक नहीं हो नकता और कारक-निरपेक्ष कर्म नहीं हो सकता, इसलिए ये परम्परापेक्ष है। जैसे कर्म और कारक की परस्परापेक्ष सिद्धि है, वैसे ही कियादि अन्य भावों की भी है।

भावो की नि स्वभावता की सिद्धि में वे ही हेतु होते हैं, जो उनकी सस्वभावता को सिद्ध करते हैं। भावो की सत्ता ग्रापेक्षिक है, ग्रत निरपेक्ष उनकी सत्ता नहीं है। माध्यमिक भावों की इस सापेक्ष सिद्धि से ही समस्त पदार्थों के स्वभाव का निषेध करते हैं।

## पुद्गल के श्रस्तित्व का खण्डन

मामितीय कहते हैं कि दर्णन, श्रवण, श्राणादि वेदनाश्रो के उपादाता का ग्रस्तित्व उपादानों के पूर्व ग्रवश्य है, क्योंकि श्रविद्यमान कारक की दर्शनादि किया कदापि सम्भव नहीं हो सकती।

सामितीय वौद्धेकदेशी है, वह पुद्गलास्तित्ववाद मे प्रतिपन्न है। सिद्धान्ती उनका खण्डन करता है। कहता है कि दर्शनादि से पूर्व यदि पुद्गल की मत्ता है, तो वह किससे ज्ञापित होगी। पुद्गल की प्रज्ञप्ति दर्शनादि से ही होती है। यदि दर्शनादि से पूर्व भी पुद्गल की मत्ता मानी जाय, तो वह दर्शनादि मे निरपेक्ष होगी। इस प्रकार, यदि दर्शनादि के विना पुद्गल की मत्ता मानेगे, तो विना पुद्गल के भी दर्शनादि की सत्ता मानेगी पड़ेगी। ग्रतः, उपादान ग्रीर उपादाता की सिद्धि परस्परापेक्ष है। उपादाता के विना दर्शनादिक उपादान पृथक् सिद्ध हो, तो वे निराश्य ग्रीर ग्रमत् होगे। इसलिए, उपादाता से उपादान की पृथक् ग्रवस्थित नहीं है। सिद्धान्ती दर्शनादि एक-एक के पूर्व या सकल के पूर्व ग्रात्मा की सत्ता का खण्डन करता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि ग्राप ग्रात्मा का प्रतिपेध करें, परन्तु दर्शनादि का प्रतिपेध तो नहीं कर सकते, ग्रीर दर्शनादि का ग्रनात्म-स्वभाव घटादि से सम्बन्ध भी नहीं कर सकते। ग्रत

प्रतीत्य कारक' कर्म न प्रतीत्य च कारकम्।
 कर्म प्रवर्त्तं नान्यत्पश्याम सिद्धिकारखम्॥ (८।१२)

दर्शनादि का सम्वन्धी ग्रात्मा ग्रापको भी स्वीकार करना पडेगा। सिद्धान्ती कहता है कि जिस ग्रात्मा के लिए दर्शनादि की कल्पना है, जब वहीं नहीं है, तो दर्शनादि कैसे होगे।

चन्द्रकीर्त्ति चोदक के द्वारा ग्राशका उठाते है, ग्रीर उसका उत्तर देते है। क्या ग्रापने यह निश्चित कर लिया है कि ग्रात्मा नहीं है?

यह किसने कहा ?

श्रभी श्रापने कहा है कि दर्शनादि का श्रभाव है, इसलिए श्रात्मा नहीं है।

हाँ, मैंने यह कहा है। किन्तु, आपने उसका ठीक श्रिभप्राय नहीं समझा। मैंने कहा है कि भावरूप आत्मा की सत्ता सस्वभाव नहीं है। आत्मा में स्वभावाभिनिवेण की निवृत्ति के लिए मैंने ऐसा कहा है, किन्तु इससे उसका अभाव किल्पत नहीं किया। वस्तुत, भाव और अभाव दोनों के अभिनिवेश का परित्याग करना चाहिए।

दर्शनादि से पूर्व श्रात्मा नहीं है। श्रात्मा दर्शनादि से सहभूत भी नहीं है, क्योंकि शशशृंग के समान पृथक्-पृथक् श्रसिद्ध वस्तुश्रों का सहभाव नहीं देखा जाता। श्रात्मा श्रोर उपादान निरपेक्ष हैं, श्रीर पृथक्-पृथक् श्रसिद्ध हैं। इसलिए, श्रात्मा वर्त्तमान भी नहीं है। ऊर्घ्व भी नहीं है, क्योंकि जब पूर्वकाल में दर्शनादि हो, तो उत्तर काल में श्रात्मा हो। इस प्रकार, श्रात्मा की परीक्षा करने पर जब वह दर्शनादि से प्राक्, पश्चात् श्रीर युगपत् सिद्ध नहीं होता, तब उसके श्रस्तिस्व या नास्तित्व की कल्पना कीन बुद्धिमान् करेगा?

## उपादाता श्रीर उपादान के श्रभाव से पुद्गल का श्रभाव

पूर्वपक्षी कहता है कि ग्रापका यह कथन कि कर्म ग्रीर कारक के ममान उपादान ग्रीर उपादाता की स्वाभाविक सिद्धि नहीं हो मकती, ठीक नहीं है। क्योंकि, नापेक्ष पदार्थों की भी सस्वभावता सिद्ध होती है। जैसे ग्राग्न ईन्धन की ग्रापेक्षा करता है, किन्तु, यह नि म्यभाव नहीं है। प्रत्युत, उसके उप्णत्व, दाहकत्व ग्रादि स्वाभाविक कार्यों की उपनिद्ध होनी है। उमी प्रकार, ईन्धन भी ग्राग्न की ग्रपेक्षा करता है, किन्तु वह नि म्वभाव नहीं हे, क्योंकि उनकी महामूत-चतुष्ट्यस्वभावता उपलब्ध होती है। इस दृष्टान्त से उपादान-नापेक्ष उपादाता तथा उपादात्सापेक्ष उपादाता की सत्ता सिद्ध होगी, ग्रीर ग्रापको उपादान ग्रीर उपादाता की स्वभाव-मन्ता माननी पडेगी।

# ग्रग्नि-ईन्घन-दृष्टान्तकी परीक्षा

सिद्धान्ती कहता है कि ग्रापका कथन तब ठीक हो जय ग्रानि-ईन्धन का दृष्टान्त निइ हो। दृष्टान्त की सिद्धि के लिए ग्रापको यह बताना पड़ेगा कि ग्रानि ग्रीर ईन्धन की नना उनके परस्पर ग्राभिन्न होने से है या भिन्न होने में ? दोनो पक्ष नहीं बनेगे।

जो जलाया जाता है (ईघ्यते यत् तद् ईन्धनम्), वह दाह्य काण्ठादि है, उसका दग्धा ग्रान्ति है। यदि ग्राप दोनों की ग्राभिन्तता स्वीकार करते हैं, तो कर्त्ता ग्रीर कर्म की एकता स्वीकार करनी पड़ेगी। यह ग्रान्चित होगा, क्योंकि घट ग्रीर कुम्भकार, छेता ग्रीर छेत्तव्य का एकत्व नहीं है। इस दोप से वचने के लिए यदि ग्राग्त को ईन्धन से भिन्त मानें, तब ईन्धन-निरपेक्ष ग्राग्त की उपलब्धि माननी पड़ेगी, क्योंकि घट से पट ग्रन्य है, ग्रत उनकी निरपेक्षता है, किन्तु, ग्राग्त ईन्धन से निरपेक्ष नहीं है, इसलिए ग्रापका यह कथन युक्त नहीं है। यदि ईन्धन से ग्राग्त को भिन्न माने, तो उसे नित्य प्रदीप्त मानना पड़ेगा ग्रीर ईन्धन के विना भी ग्राग्त की प्रदीप्ति माननी पड़ेगी। किर, श्रापके पक्ष में ग्राग्त की प्रदीप्ति के लिए समस्त व्यापार व्यथं होगें ग्रीर ग्राग्त में कर्त्तृत्व कर्म-निरपेक्ष स्वीकार करना होगा।

माध्यमिक ग्रपनी उपर्युक्त प्रतिज्ञाग्रो का समर्थन प्रवल युक्तियो से करता है। सिद्धान्ती कहता है कि ग्रग्नि यदि प्रदीपन (ईन्धन) से ग्रन्य है, तो ग्रवश्य वह उससे निरपेक्ष होगा, क्योंकि जो वस्तु जिससे ग्रन्य होती है, वह उसमें निरपेक्ष होती है। जैसे घट से निरपेक्ष पट। यदि ग्रग्नि (ईन्धन) प्रदीपन-निरपेक्ष है, तो वह प्रदीपन-हेतु से जायमान भी नहीं है। दूसरी ग्रापत्ति यह होगी कि प्रदीपन-सापेक्ष ग्रग्नि का प्रदीपन के ग्रभाव में निर्वाण माना जाता है। ग्रव जब कि वह प्रदीपन-निरपेक्ष है, तब उसका निर्वाण-प्रत्यय भी सम्भव न होगा। ऐसी ग्रवस्था में ग्रग्नि नित्य प्रदीप्त होगा। इतना ही नहीं, ग्रग्नि को नित्य प्रदीप्त स्वीकार करने पर उसके लिए उपादान, मन्धुक्षणादि कार्य भी व्यर्थ होगे। इस प्रकार, ग्रापके मत में ग्रग्नि एक ऐसा कर्त्ता होगा, जो ग्रकर्मक होगा। फिर, जिसका कर्म विद्यमान होगा, उसमें कर्त्तृ त्व भी वन्ध्यापुत्र के समान होगा। इसलिए, ईन्धन से ग्रग्नि के ग्रन्यत्व का पक्ष युक्त नहीं है।

पूर्वपक्षी ग्राक्षेप करता है कि ग्रापका यह कथन कि ग्राग्न ईन्धन से ग्रन्य है, तो ईन्धन के विना भी उसका ग्रस्तित्व स्वीकार करना होगा। यह युक्त नहीं है। ग्राग्न का ग्रस्तित्व ईन्धन से भिन्न होने पर भी ईन्धन के विना सिद्ध नहीं किया जा सकता। ज्वाला से परिगत ग्रंथ ईन्धन है, वह दाह्य-लक्षण हे। ईन्धन के ग्राथ्य से ही ग्राग्न की उपलिब्ध होती है। ग्राग्न के सम्बन्ध में ही ईन्धन का ईन्धनत्व-ब्यपदेण माना जाता है। इसलिए, ग्राग्न की उपलिब्ध ईन्धन के ग्राध्यत है, पृथक् नहीं। ऐसी ग्रवस्था में माध्यिमक को ग्रन्य पक्ष में दोष देने का ग्रवसर नहीं है।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की नई युक्ति का परीक्षण करता है। कहता है कि श्राप दाह्य-लक्षण से युक्त ज्वाला से परिगत ग्रथं को ईन्धन मानते हैं, ग्रौर उसके ग्राश्रित ग्रग्नि मानते हैं। ग्रापकी इस कल्पना से भी 'ग्रग्नि ईन्धन को जलाता है' यह प्रतीति उपपन्न नहीं होगी। क्योंकि, जब ज्वाला से परिगत दाह्य ईन्धन है, ग्रौर उससे ग्रतिरिक्त ग्रग्नि नहीं देखा जाता, जिमसे ईन्धन दग्व हो, तब बताइए ईन्धन किमसे दग्ध होगा? इसलिए, ग्रग्नि ईन्धन का दाह करता है, यह सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि ग्राप ईन्धन के ग्रतिरिक्त ग्रग्नि मिद्ध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था मे ज्वाला-परिणति किसी की नही वन सकती। फिर, वादी पर पूर्वोक्त समस्त दोष अनिवारित ही रहते हैं।

पूर्वपक्षी ग्रग्नि ग्रौर ईन्धन का भेद स्वीकार करते हुए भी दोनो की प्राप्ति मिद्ध करता है। उसका कहना है कि स्त्री-पुरुष परस्पर ग्रन्य है, ग्रौर उनकी प्राप्ति होती है। मिद्धान्ती इसका उत्तर देता है कि प्रकृत में स्त्री-पुरुष का दृष्टान्त तब लागू हो, जब न्त्री-पुरुष के समान ग्रग्नि-ईन्धन की परस्परानपेक्ष सिद्धि ग्राप वता सके, किन्तु यह ग्रसम्भव ह। यदि ग्राप ग्रन्योन्यापेक्ष जन्मवाली वस्तुग्रो में ग्रन्यत्व सिद्ध करे, ग्रौर फिर उनकी प्राप्ति सिद्ध करे, तब ग्रापका दृष्टान्त न्याय्य होगा।

पूर्वपक्षी कहता है कि यद्यपि ग्राग्न-ईन्धन की परस्पर निरपेक्ष सिद्धि नहीं है, तथापि परस्पर ग्रपेक्षावण उनकी स्वरूप-सिद्धि तो है। क्योंकि ग्रविद्यमान वन्ध्यापुत्त ग्रांर वन्ध्यादुहिला की परस्पर ग्रपेक्षा नहीं होती। सिद्धान्ती पूछता है कि ग्राप ग्राग्न को दहन का कर्त्ता ग्रीर ईन्धन को दहन का कर्म मानकर उसका कर्म-कर्त्तृ भाव स्वीकार करते हैं। में पूछता हूँ कि ईन्धन ग्रीर ग्राग्न में कौन पूर्वनिष्पन्न है? यदि ईन्धन पूर्वनिष्पन्न हो, तो ग्राग्न-निरपेक्ष होने के कारण उसमें ईध्यमानता न होगी। फलत, उसमें ईन्धनत्व न होगा। ग्रन्थथा, समस्त तृणादि ईन्धन होगे। यदि ग्राग्न को पूर्व मानें ग्रीर ईन्धन को पश्चात्, तो यह ग्रसम्भव होगा कि ईन्धन से पूर्व ही ग्राग्न सिद्ध हो जाय ग्रीर ग्राग्न निहेंतुक भी होगा। इसलिए, पूर्व-सिद्ध की ग्रपेक्षा से इतर की सिद्धि होती है, ग्रापका यह पक्ष ग्रसम्भव है। यदि हम ईन्धन को पूर्व ग्रीर ग्राग्न को पश्चात् मान भी लें ग्रीर कहे कि ईन्धन की ग्रपेक्षा करके ग्राग्न होता है, तो सिद्ध-साधनता दोष ग्रापतित होगा, क्योंकि सिद्ध रूप (विद्यमान पदार्थ) की ग्रन्य की ग्रपेक्षावश पुन सिद्धि माननी पडेगी। स्पष्ट है कि सिद्ध ग्राग्न को ईन्धन से यदि कुछ लेना होता, तभी उसकी ईन्धनापेक्षता सफल होती है। इसलिए, ईन्धन की ग्रपेक्षा कर ग्राग्न सम्पन्न होता है, यह वात ठीक नहीं है।

पूर्वपक्षी ईन्धन ग्रीर ग्रग्नि का यौगपद्य मानता है। वह यौगपद्यवश ईन्धन की सिद्धि से ग्रग्नि की सिद्धि ग्रीर ग्रग्नि की सिद्धि से ईन्धन की सिद्धि मानकर कहता है कि ऐसी ग्रवस्था में ग्रापकी यह शका व्यर्थ है कि कौन पूर्वनिष्पन्न है ?

सिद्धान्ती उत्तर देता है कि ऐसी अवस्था मे अग्नि और ईन्धन दोनो की ही मिद्धि नही होगी, क्योंकि यदि अग्नि पदार्थ ईन्धन पदार्थ की अपेक्षा से मिद्ध होता है, और उन्धन पदार्थ को आत्मसिद्धि के लिए अग्नि की अपेक्षा है, तो आप ही बताइए कि कौन किमकी अपेक्षा करके सिद्ध हो ?

इस प्रकार, ग्रन्ति ग्रीर ईन्धन की परम्परापेक्षा मानने पर उनकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सिद्ध ग्रीर ग्रसिद्ध में ग्रपेक्षा नहीं होती।

पूर्वपक्षी कहता है कि हमें ग्रापके तर्कों की इस सूदमेक्षिका से क्या प्रयोजन ? हम लोग स्पष्ट ही ग्राप्त से जलना हुग्रा ईन्बन देखते हैं। यह प्रतीति ग्राप्त ईन्धन हो निष् पर्याप्त है।

सिद्धान्ती उत्तर देता है कि ग्राग्नि ईन्धन को नहीं जलाता है। ईन्धन में यदि ग्राग्नि हो, तो वह ईन्धन को जलावे, किन्तु यह ग्रत्यन्त ग्रमम्भव है। ईन्धन के ग्रतिरिक्त कहीं ग्रन्यव से ग्राग्नि का ग्राग्मिन नहीं देखा जाता, क्योंकि निरीन्धन ग्राग्नि ग्रहेतुक होगा। इसलिए, उसका ग्राग्मिन क्या होगा? ग्रीर सेन्धन ग्राग्नि के ग्राग्मिन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार, ग्राग्नि-ईन्धन का ग्रभेद, भेद तथा भेदाभेद-पक्ष सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार, ग्राधार-ग्राधेय ग्रादि पक्ष भी सिद्ध नहीं होते।

पूर्वोक्त ग्रग्नि-ईन्धन न्याय के ग्राधार पर उपादाता ग्रात्मा ग्रांर उपादान से पचस्कन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ग्रात्मा ग्रीर उपादान का कम सिद्ध नहीं हो सकता। ग्रग्नि-ईन्धन के समान ही हम देखते हैं कि उपादान ग्रात्मा नहीं हो सकता, ग्रन्यया कत्ती-कर्म का एकत्व-प्रसग होगा। उपादाता ग्रीर उपादान भिन्न-भिन्न है, यह पक्ष भी ग्रयुक्त है, क्योंकि स्कन्ध के ग्रतिरिक्त ग्रात्मा की उपलब्धि नहीं हो मकती। एकत्व ग्रीर ग्रन्यत्व-पक्ष के प्रतिपेध से ही ग्रात्मा स्कन्धवान् है, यह पक्ष भी ग्रयुक्त होता है। पूर्वोक्त प्रकार से विचार करने पर ग्रात्मा की निरपेक्ष सिद्धि नहीं होती। इमलिए, कर्म-कारक के तुल्य ग्रात्मा ग्रीर उपादान की परस्परापेक्ष मिद्धि माननी चाहिए।

यहाँ ग्राचार्यं नागार्जु न कहते हैं कि कर्म कारक की तरह ग्रात्मा ग्रौर उपादान का तथा घटादि की परस्परापेक्ष सिद्धि होती है। किन्तु, कुछ सतीर्थ्यं तथागत के णासन का ग्रन्यार्थं करते हैं, ग्रौर ग्राह्मा की स्कन्ध से ग्रभिन्नता प्रतिपादित करते हैं। उसे णासन के विशेषज्ञ नहीं मानते। नागार्जु न के ग्रनुमार ये लोग परम गम्भीर प्रतीत्यसमृत्याद से ग्रनभिन्न हैं। ये उमके णाञ्चन ग्रौर उच्छेद-राहित्य के रहस्य को नहीं जानते। वे यह नहीं जानते कि णासन में उपादाय-प्रज्ञप्ति क्या है।

### पदार्थों की पूर्वापर-कोटिश्न्यता

वादी मसार की सत्ता से ग्रात्मा की सत्ता सिद्ध करता है। यदि ग्रात्मा नही है, तो जन्म-मरण-परम्परा से मसरण किमका होगा भगवान् ने ग्रनवराग्र (ग्रादि-ग्रन्त कोटिशून्य) जाति-जरा-मरण की मना स्वीकार की हैं। समार की मत्ता से नसरण-कर्त्ता ग्रात्मा की मिद्धि होती है।

माध्यमिक कहता है कि भगवान् ने समार की ग्रनवराग्रता कहकर उसकी ग्रसत्ता का उपदेश किया है, क्योंकि ग्रनात-चक्र के ममान पूर्वापर-कोटिशू-य होने से मसार नहीं है। ग्रवनराग्र ससार की प्रतिपत्ति ग्रविद्या निवरण युक्त सत्त्वों की दृष्टि से है, जिससे वे उसके क्षय में प्रवृत्त हो। उसके लिए यह शिक्षा नहीं है, जिसने लोकोत्तर ज्ञान से ग्रपनी ग्रशेप क्लेश-वामनाग्रों को नि शेप कर दिया है।

श्रनवराम्रो हि मिक्षवो जातिजगमरणसमार इति ।

प्रश्न उठता है कि स्रादिरहित ससार का अन्त कैसे माना जाय? चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि लोक में आदिरहित त्रीह्यादि का दहनादि से अन्त देखा जाता है। भगवान् ने स्रवबद्ध सत्त्वों के उत्साह-प्रदान के लिए लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही ममार का अन्तोपदेश किया। वस्तुत, ससार नहीं है, और न उसके क्षय होने का ही कोई प्रश्न उठता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि भगवान् ने लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही सही ससार का आदित्व भी क्यों नहीं कहा ? चन्द्रकीर्त्त कहते हैं कि ससार का आदिभाव लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से भी मिद्ध नहीं होता। आदि मानने पर ससार अहेतुक होगा।

पूर्वपक्षी कहता है कि ससार की ग्रादि ग्रीर ग्रन्त कोटि न भी हो, फिर भी मध्य के सदभाव से समार की सत्ता सिद्ध होगी। ग्राचार्य नागार्जु न कहने हैं कि जिसका ग्रादि ग्रीर ग्रन्त न होगा, उसका मध्य क्या होगा ? विपर्यस्त सत्त्वो की दृष्टि में ही ससार है। वस्तुत, वह सज्ञामात्र है, ससार नहीं है ग्रीर ससर्ता ग्रात्मा भी नहीं है।

स्राचार्य ससार का स्रभाव सिद्ध कर जाति-जरा-मरण स्रादि के प्वापर कम या सहक्रम का निषेध करते हैं। जाति-जरा-मरण मे यदि जाति पूर्व है, तो वह स्रसस्कृत धर्मों के ममान जरा-मरण से रहित होगी।

इम प्रकार, जरा-मरण से रहित पदार्थ की जाति स्वीकार करने पर ग्रमरणधर्मा देवदत्त की जाति माननी होगी। ऐसी अवस्था मे ससार आदिमान् होगा और ग्रहेतुक होगा। यदि जाति से पूर्व जरा-मरण माने, तो अजात का जरा-मरण मानना पडेगा। यदि जाति और जरा-मरण का महभाव माने, तो जायमान का मरण मानना पडेगा, जो कथमिप युक्त न होगा, क्योंकि जाति और मरण आलोकान्धकार के समान परस्पर ग्रत्यन्त विरुद्ध है। उनकी एककालिकता नहीं बनेगी।

ग्राचार्यं कहते हैं कि जैसे ससार की पूर्व कोटि नहीं है, उसी प्रकार किसी भाव की पूर्व कोटि नहीं होती, क्योंकि यदि कार्य को पूर्व ग्रीर कारण को पश्चात् माने, तो कार्य निहेंतुक होगा। यदि कारण को पूर्व ग्रीर कार्य को पश्चात् मानें, तो कारण ग्रकार्य होगा। कार्य-कारण होगा। यदि कारण को पूर्व ग्रीर कार्य को पश्चात् मानें, तो कारण ग्रकार्य होगा। कार्य-कारण के इस प्रत्याख्यान से ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाण-प्रमेय, साधन-माध्य, ग्रवयव-ग्रवयवी, गुण-गुणी ग्रादि सभी पदार्थों की पूर्व कोटि सिद्ध नहीं होती।

# दुःख की ग्रसत्ता

पूर्वपक्षी ग्रात्मा की सिद्धि के लिए एक ग्रन्य पक्ष उठाता है। पाँच उपादान-म्कन्ध दु ख है। उस दु ख का ग्राश्रय होना चाहिए। वह ग्रात्मा है। माध्यमिक कहता है कि दु खा-श्रय ग्रात्मा ग्रवश्य सिद्ध होता, यदि दु ख होता। किन्तु, दु ख की सत्ता के लिए उनका म्वय-श्रय ग्रात्मा ग्रवश्य सिद्ध होता, यदि दु ख होता। किन्तु, दु ख की सत्ता के लिए उनका म्वय-श्रतत्व, परकृतत्व, उभयकृतत्व या ग्रहेतुकत्व वताना होगा। इन पक्षो मे किमी के स्वीकार मे उसकी सत्ता सिद्ध नही होती। यदि मरणान्तिक म्कन्धो की ग्रपेक्षा करके ग्रोपपित्तक म्वन्धो का उत्पाद माने, तो दु ख स्वयकृत सिद्ध नही होगा। मरणान्तिक न्वन्धो ने ग्रोपपित्तक म्वन्धो को उत्पाद माने, तो दु ख स्वयकृत सिद्ध नही होगा। मरणान्तिक न्वन्धो ने ग्रोपपित्तक म्वन्धो को उत्पाद माने पर उसका परकृतत्व मिद्र होता, किन्तु यह ग्रमम्भव है; क्योबि दु:ख के निए ग्रितिरिक्त मानने पर उसका परकृतत्व मिद्र होता, किन्तु यह ग्रमम्भव है; क्योबि दु:ख के निए हेतु-फल-सम्बन्ध की व्यवस्था ग्रावश्यक है।

वादी यदि यह कहें कि दुख के स्वयकृतत्व से मेरा श्रिभिश्राय दुख से ही दुःख के उत्पन्न होने का नही है, श्रिप तु यह है कि पुद्गल के द्वारा वह स्वयमेव कृत है, दूमरे ने करके उसे नही दे दिया है। इमपर मिद्वान्ती कहता है मनुष्यों का दुख पचोपादानलक्षण है। उसे यदि पुद्गल ने स्वय किया है, तो उम पुद्गल को वताइए, जिमसे उस दुख का स्वयकृतत्व सिद्ध हो। यदि जिम दुख से पुद्गल स्वय प्रज्ञप्न होता है, वह दुख उम पुद्गल के द्वारा कृत है, तो भेदेन यह वताइए कि 'यह वह दुख है' श्रीर 'उमका यह कर्त्ता है'। श्रिप च, यह मानें कि मनुष्य के दुख का उपादान पुद्गल है, श्रीर उमने उस दुख को उत्पन्न किया है, तो यह निश्चित नहीं होगा कि जो स्वपुद्गल-कृत है, वह परपुद्गल-कृत भी श्रवण्य होता है। उपादान का भेद रहने पर भी पुद्गल का श्रभेद नहीं दिखाया जा मकता, क्योंकि उपादान के श्रितिरक्त पुद्गल को दिखा सकना श्रत्यन्त श्राक्य है।

दूसरी वात है कि यह दु ख स्वकृत है, तो वृत्ति-विरोध होगा; क्यों कि स्वात्मा में ही करणत्व तथा कर्तृत्व मानना पड़ेगा। परवृत दु ख भी नहीं मान सकते, क्यों कि पर स्व से निष्पन्न नहीं है। जो स्व से निष्पन्न नहीं है, वह प्रविद्यमान स्वभाव है। स्वय प्रविद्यमान स्वभाव दूसरे को क्या सम्पन्न करेगा? दु ख जव एक का कृत नहीं है, तब उभय-कृत भी सिद्ध नहीं होगा। उक्त न्याय से यदि दु ख का स्वयकृतत्व, परकृतत्व सिद्ध नहीं हुग्रा तो दु ख की निर्हेतुकता का प्रश्न भी नहीं उठेगा, जैसे ग्राकाश-कुसुम की सुगन्धि के लिए निर्हेतुकता का प्रश्न नहीं उठा सकते। ग्राचार्य चन्द्रकीत्ति कहते हैं कि उपर्युक्त न्याय से जब दु ख सिद्ध नहीं होता, तब उसके ग्राश्रयभूत ग्रात्मा की सिद्ध का प्रश्न ही क्या है?

#### संस्कारो की निःस्वभावता

ग्रव ग्राचार्य पदार्थों की नि स्वभावता प्रकट करने के लिए सस्कारो की परीक्षा करते हैं। कहते हैं कि भगवान् ने सर्वसस्कारो को मृपा ग्रीर मोपधर्मा कहा है। ग्रलातचक्रवत् समस्त सस्कारो का ग्राख्यान वितथ है। केवल निर्वाण मोपधर्मा नही है, सत्य है। इसके ग्रतिरिक्त सब धर्म नि स्वभाव होने से शून्य है।

यहाँ वादी शका करता है कि मोपधर्मा होने से यदि सब सस्कार मृषा है तो श्रापका यह कहना भी कि 'कोई पदार्थ नही है', मृषा-दृष्टि होगी। श्राचार्य कहते हैं कि सर्व सस्कारों की मोपधर्मता श्रवश्य है, किन्तु हमारा यह वचन कि 'मोपधर्मा सभी मृषा है', क्या मोपण (वचना) किया ? श्रवण्य ही, यदि कोई सन्-पदार्थ होता श्रीर उसका हम श्रपवाद करते, तो हमारी दृष्टि श्रमाव-दृष्टि होती, श्रीर उसे श्राप मिथ्या-दृष्टि कह सकते।

<sup>9</sup> णतिह खलु भिक्षव परम सत्य यादेदममोपार्म निर्वाणम्, सर्वसस्काराश्च मृथा मोपधर्माण इति । ( मा० का० वृ०, पृ० २३७ )

## माघ्यमिक श्रभाववादी नहीं

वादी कहता है कि उपर्युक्त आगम ने यदि अभाव-दृष्टि का भी प्रतिपादन नहीं किया, तो क्या करता है श्रीचार्य कहते हैं कि भगवान् के ये वचन शून्यता (स्वभाव का अनुत्पाद) के प्रकाशक है। चन्द्रकीर्त्ति यहाँ अनवतप्ताह्रदापसक्रमणसूत्र का एक सूत्र उद्घृत कर कहते हैं——जो प्रत्ययों से उत्पन्न होता है, वह वस्तुत अनुत्पन्न ही है, क्योंकि उमकी स्वाभाविक उत्पत्ति नहीं है। प्रत्ययाधीन उत्पत्ति से ही शून्यता उक्त हो जाती है। ऐसी शून्यता को जाननेवाला प्रमाद नहीं करता।

वादी कहता है कि यह ग्रागम भावों का ग्रनवस्थायित्वमान वतलाता है, भावों के स्वभाव का ग्रनुत्पाद नहीं। भावों का स्वभाव है, क्योंकि उनका परिणाम देखा जाता है। इसके ग्रतिरिक्त एक ग्रोर तो माध्यमिक भावों को ग्रस्वभाव मानते हैं, दूसरी ग्रोर उसमें शून्यता-धर्म भी मानते हैं। किन्तु, यदि धर्मी नहीं है, तो तदाश्रित धर्म कैसे उपपन्न होंगे? ग्रत, विपरि-णामादि की सिद्धि के लिए उन्हें भाव-स्वभावता माननी होंगी।

श्राचार्य कहते हैं कि यदि भावों के स्वभाव स्थित है, तो अन्ययामाव किमका होगा? जो धर्म जिस पदार्थ को किसी प्रकार नहीं छोडता, वह उमका स्वभाव कहा जाता है, जैसे अगिन की उष्णता। यदि भावों का स्व-भाव माने, तो उनका अन्ययाद्य (रूपान्तरता) नहीं बनेंगा। यदि भाव अपनी प्राकृत अवस्था में ही वर्त्तमान रहेंगे, तो उनका अन्ययाद्य कैंसे उपपन्न होगा। युवक जब युवावस्था में ही वर्त्तमान है, तव उमका अन्यथाद्य नहीं होगा। वादी के गिद्धान्त में अवस्थान्तर-प्राप्ति से भी अन्यथाद्य नहीं होगा, व्योक्ति युवक का अन्यथाद्य उमकी जीर्णता है। यदि युवक पूर्ववत् है, तो उससे अन्य की ही जीर्णता माननी होगी। अन्य युवा की जीर्णता से भी उसकी जीर्णता है, तो उसका जरा से मम्बन्ध निष्प्रयोजन होगा। यदि कहें कि युवा का ही अन्यथाभाव होगा, तो यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि जो जरावस्था-प्राप्त नहीं है, वह युवा है। उसे कोई जीर्ण भी माने, तो एक में परस्पर दो विक्ष अवस्थाएँ माननी पर्डेगी।

यदि ग्राप कहे कि क्षीरावस्था के परित्याग से दिध-ग्रवस्था ग्राती है, ग्रत. क्षीर दिध नहीं होता, तो हम कहते हैं कि क्या उदक का दिधभाव होगा ? इस प्रकार तो सस्वभाववाद में ग्राप किसी तरह परिणमन नहीं सिद्ध कर सकते।

ग्रापका यह श्राक्षेप कि शून्यता के ग्राध्य के लिए माध्यमिक को भावां को सम्बनात मानना पड़ेगा, ठीक नहीं है। ग्रवश्य ही गून्यता का कोई धर्म होना, नो उनके ग्राध्य

१ य प्रत्ययैर्जायित स ह्यजातो न नम्य छत्पादु सभावतोऽस्ति । यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो य श्न्यता जानित मोऽप्रमत्त ॥ (पृ० =3६)

के लिए भावों की सस्त्रभावता भी होती। किन्तु, ऐसा नहीं है। हमारे मत में शून्यता सब धर्मों का सामान्य-लक्षण है। इमलिए कोई अशून्य धर्म नहीं है। जब अशून्य पदार्थ नहीं है, और अशून्यता नहीं है, तब प्रतिपक्ष (अशून्यना) में निरपेश होने के कारण शून्यता भी नहीं होगी। जब शून्यता नहीं है, तब उसके आश्रित पदार्थ की भी सत्ता नहीं है। हमारा यह पक्ष मुसगत है।

पूर्वपक्षी कहता है कि भगवान् ने विमोक्ष के लिए शून्यता, ग्रानिमित्तता, श्रप्रणिहितता का निर्देश किया है। यह मौगत वचन की अन्य सबसे असाधारणता है। अन्य नीर्थिकों के वादमोह से अभिभूत इस जगत् को शिक्षा देने के लिए भगवान् बुद्ध ने जगत् में नैरात्म्योपदेश के प्रदीप को जलाया था। किन्तु, आपने तथागत के प्रवचन का व्याख्यान करने के व्याज में शून्यता का ही प्रतिक्षेप कर दिया।

मिद्धान्ती कहता है कि ग्राप ग्रत्यन्त विषयीं में कारण निर्वाणपुरगामी णिव एवं सरल मार्ग को छोडकर ससार-कान्तारगामी मार्ग का ग्रनुसरण कर रहे हैं। ग्रापको जानना चाहिए कि निरवणेप क्लेण-व्याधि के चिकित्सक महावैद्यराज वृद्ध ने कहा है कि "मिथ्या-दृष्टियों से ग्रामिनिविष्ट लोगों का निस्परण (ग्रप्रवृत्ति) ही शून्यता है। किन्तु, जो शून्यता में भी भावाभिनिवेण (गृन्यता एक तत्त्व है, ऐसा ग्राभिनिवेण) करेगे, वे ग्रमाध्य है", क्योंकि हमारे उपदेण से उन्हें (ग्रामिनवेणी को) सकल करपना से व्यावृत्त मोक्ष कैसे होगा? जैसे कोई किसी से कहे कि में तुम्हें पैसा दूँगा, तो दूसरा कहे कि 'ग्राप मुझे वही दे, कि 'पण्य नहीं दूँगा'। ऐसे व्यक्ति को पण्याभाव का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। इसी प्रकार, जिन्हें शून्यता में भी भावाभिनिवेण हो जाय, उसे ग्राभिनवेण से कौन निपेध कर सकता है ऐसे दोप-सजी का परम चिकित्यक तथागन ने प्रत्याख्यान किया है।

### संसर्गवाद का खण्डन

ग्राचार्य भावों की नि स्वभावता सिद्ध करने के लिए पदार्थों के समर्गवाद का खण्डन करते हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि भावों की सस्वभावता है, क्यों कि उनका समर्ग होता है। मस्कारों का भी परस्पर समर्ग होता है। जब यह कहा जाता है कि चक्षुर्विज्ञान चक्षु ग्रीर रूप की ग्रपेक्षा करके (प्रतीत्य) उत्पन्न होता है, तो उससे तीनों का गनिपात या स्पर्भ ग्रिभिप्रेत हैं। स्पर्भ से वेदना ग्रादि होते हैं। इसी प्रकार मजा ग्रीर वेदना समृष्ट हैं। इन्हें ग्रसमृष्ट धर्म नहीं कहते। ग्रत, समर्ग भावों की सस्वभावता को सिद्ध करते हैं।

ग्राचार्य समाधान करते हैं कि इनका ससर्ग सिद्ध नहीं होता, क्योंकि द्रष्टव्य (रूप), दर्णन (चक्षु) ग्रीर द्रष्टा (विज्ञान) में किन्हीं दो या तीन में (सर्वण) ससर्ग नहीं

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता नि सरण जिने ।
 थेपां तु शून्यतादृष्टस्तानसाध्यान् मभाषिरं ॥ (१३।८)

होता । इसी प्रकार, राग-रक्त-रजनीय, द्वेष-द्विष्ट-द्वेपणीय तथा श्रोत-श्रोता-श्रोतव्य का भी ससर्ग नहीं होता। ससर्ग के लिए द्रष्टव्यादि में परस्पर श्रन्यता होनी चाहिए। तभी क्षीरोदक के समान वे श्रन्योन्य-ससृष्ट होगे। किन्तु, इनमें श्रन्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए इनमें ससर्ग भी नहीं होगा। इतना ही नहीं कि कार्य-कारण-रूप में श्रवस्थित द्रष्टव्यता श्रादि में परस्पर श्रन्यता श्रसम्भव है, प्रत्युत श्रत्यन्त भिन्न घटपटादि में भी परस्पर श्रन्यता सिद्ध नहीं होती।

## वस्तु-भेद की ग्रपारमार्थिकता

ग्रन्य पट की ग्रपेक्षा से ही घट को पट से ग्रन्य कहा जाता है। ग्राचार्य कहते हैं कि पट में घट की ग्रपेक्षा से ग्रन्यता है, यही यह सिद्ध करता है कि पट से घट ग्रन्य नहीं है, क्यों कि नियम है कि जिसकी ग्रपेक्षा से जो वस्तु होती है, वह उससे ग्रन्य नहीं होती। जैसे बीजाकुर। यदि घट-पट की ग्रन्यता की ग्रपेक्षा ग्रन्य है, तो वह पटातिरिक्त ग्रन्य वस्तुग्रों से भी ग्रन्य है। ऐसी दशा में पट-निरपेक्ष एक-एक घट ग्रन्य होगे, क्यों कि जो जिससे ग्रन्य है, वह उसके विना भी सिद्ध होगा—जैसे कोई भी घट ग्रपने स्वरूप की निष्पत्ति में पट की ग्रपेक्षा नहीं करता। इसी प्रकार, जब पट के विना भी घट का ग्रन्यत्व सिद्ध होता है, तब उस पट-निरपेक्ष घट का परत्व भी सिद्ध होगा। किन्तु, पट-निरपेक्ष एक-एक घट का ग्रन्यत्व वृष्ट नहीं है। इसलिए, घट की ग्रन्यता स्वीकार करनेवाले पक्ष में जिसकी ग्रपेक्षा से ग्रन्यता ग्राभीष्ट है, उसी से यह भी स्पष्ट होता है कि उसकी ग्रपेक्षा से ग्रन्यता नहीं है।

पूर्वपक्षी एक तर्क करता है कि ग्रापके मत में किसी की अपेक्षा में किसी में ग्रन्यता नहीं है, तो ग्रापका यह कहना भी सम्भव न होगा कि ''ग्रन्य की प्रतीति से ही किसी में ग्रन्यता ग्राती है, इसलिए, वह उससे ग्रन्य नहीं है।'' सिद्धान्ती कहता है कि पदार्थों की ग्रन्यता-सिद्धि परस्परापेक्ष है। इसलिए, हम लोक-व्यवहार में किसी की ग्रन्यता कहते हैं। वस्तुत, परीक्षा करने पर किसी की ग्रन्यता सिद्ध नहीं होती।

पूर्वपक्षी कहता है, लोक-सवृति से स्राप घट-पट की भौति वीजाकुर में भी ग्रन्यता-घ्यप-देश क्यों नहीं करते ? चन्द्रकीर्त्त इसका उत्तर देते हैं कि लोक घट-पट के नमान वीजाकुर की ग्रन्यता में प्रतिपन्न नहीं है। ऐसा मानने पर घट-पट के समान वीजाकुर में भी जन्य-जनकभाव नहीं होगा, ग्रौर वीजाकुर में यौगपद्य (एककालिकता) भी मानना पडेगा।

# सामान्य-विशेष की अन्यता नहीं

यहाँ वैशेषिक अपना पक्ष उठाता ह कि हम किमी पदार्थ में पदार्थान्तर की अपेका करके परवृद्धि नहीं मानते । सामान्य विशेष ही अन्यत्य है, वह जिसमें नमवेत (नम्बद्ध) होता है, वह वस्तु पदार्थान्तर-निरपेक्ष होकर भी पर होनी है। इसलिए, आपो उपन समस्त दोष गरे पक्ष में नहीं लगते ।

मिद्धान्ती समाधान करना है कि ग्रापका पक्ष तब ठीक हा, जब ग्रन्यता सिद्ध हो, किन्तु यह सर्वथा ग्रमिद्ध है। यह बताइए कि ग्रन्यत्व ग्रन्य में कित्पत है या ग्रनन्य में १ प्रथम पक्ष में ग्रन्यत्व-परिकल्पन व्यर्थ है, क्योंकि ग्रनायास ही ग्रन्यत्वेन व्यपदिष्ट पदार्थ में ग्राप ग्रन्यत्व की कल्पना करते हैं। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रनन्य एक होता है, जो ग्रन्य का विरोधी है। ग्रत, ग्रनन्य में विरोधी ग्रन्यत्व कैसे रहेगा।

पूर्वपक्षी ससर्गवाद को प्रकारान्तर से पुष्ट करता है। कहता है कि दर्णनादि का विक-सन्तिपात (तीन का स्पर्ण) है, क्यों कि दर्णनादि स्पष्टत उपलब्ध है। सिद्धान्ती कहता है कि आपके मत में दर्णनादि का ससर्ग एकत्वेन परिकल्पित है, या अन्यत्वेन। एकत्व-पक्ष में समर्ग नहीं वनेगा, क्यों कि उदक-निरपेक्ष क्षीर का उदक में ममर्ग नहीं होता। अन्यत्व-पक्ष भी असिद्ध है, क्यों कि उदक से पृथक् रहकर क्षीर उदक से ममृष्ट नहीं होता। यदि पूर्वपक्षी कहें कि ससर्ग न हो, किन्तु समृष्यमान-समृष्ट-सम्बद्धा नो है, जो जो ससर्ग के बिना अमम्भव होगे? आचार्य कहते हैं कि जब मसर्ग ही नहीं है, तब ममृष्यमानादि की सत्ता कहाँ से मिद्ध होगी।

चन्द्रकीर्त्ति इस समगंवाद का निषेध केवल तर्कों के ग्राधार पर नहीं करते, भगवद्वचन भी उद्धृत करते हैं कि चक्षु वस्तुत नहीं देखता है। यह सयोग-वियोग विकल्पमान है। १

#### नि स्वभावता की सिद्धि

माध्यमिककारिका के पचदश प्रकरण में आचार्य नि स्वभावता के सिद्धान्त का समारम्भ के साथ समर्थन करते हैं, और आचार्य चन्द्रकीर्त्त उसकी पृष्टि के लिए सर्वास्तिवाद विज्ञानवाद आदि का खण्डन करते हुए सस्वभाववाद की निकट परीक्षा करके उसे ध्वस्त करते है।

वौद्धों में एकदेणी कहता है कि भावों का स्वभाव है, क्योंकि उसकी निष्पत्ति के लिए हेतु-प्रत्ययों का उपादान होता है। उपादान खपुष्प के लिए नहीं होता, श्रकुर की निष्पत्ति के लिए बीज का तथा मस्कार के लिए अविद्या का उपादान होता है।

सिद्धान्ती कहता है कि यदि सस्कार ग्रौर ग्रकुरादि मस्वभाव है, ग्रौर वर्तमान है, तो इनके लिए हेनु-प्रत्यय व्यर्थ है। जिस प्रकार वर्त्तमान सस्कारादि की भूयो निष्पत्ति के लिए ग्रविद्यादि का उपादान व्यर्थ हे, उसी प्रकार समस्न भावो की विद्यमानता हेनु-प्रत्यय के उपादान को व्यर्थ सिद्ध करती है। ग्रत, हेनु-प्रत्ययों के द्वारा भावों का स्वभाव सिद्ध नहीं होता। यदि कहों कि उत्पाद से पूर्व स्वभाव ग्रविद्यमान हे, हेनु-प्रत्ययों की ग्रपेक्षा से पश्चात् उसका उत्पाद होता है, तो ऐसी स्थित में स्वभाव कृतक होगा। किन्तु, जो स्वभाव

१ सर्वसयोगि तु पश्यित चक्षस्तत्र न पश्यित प्रत्ययहीनम्।
नेव च चक्षु प्रपश्यित रूप तेन मयोगिवयोगितिकरप ।
 प्रालोकसमाश्रित पश्यित चक्षु रूपमनोरमिवत्रशिष्टम्।
 पेन च योगसमाश्रितचक्षुस्तेन च पश्यित चक्षु कदाचि॥ (पृ० २५६)

है, वह कृतक कैंसे होगा ? उसका स्वत्व ही जब उसकी सत्ता है (स्वो भाव), तव उसे नियमत ग्रकृतक होना चाहिए। जैसे श्रग्नि की उष्णता या श्रन्य पद्मरागादि का पद्मरागादि-स्वभाव।

ग्राचार्य चन्द्रकीत्तिकहते हैं कि स्वभाव की ग्रकृतकता लोक-व्यवहार से व्यवस्थित है। उसके ग्राधार पर हमने भी ग्राग्न की उष्णता को ग्राग्न का स्वभाव मान लिया है। वस्तुत, ग्रोष्ण्य भी ग्राग्न का स्वभाव नहीं हो सकता, क्यों कि ग्राग्न की उत्पत्ति मिण-ईन्धन-ग्रादित्य के समागम से तथा ग्रर्रण के निर्घषणादि के कारण हेतु-प्रत्ययापेक्ष है। ग्राग्न के ग्रातिरक्न उसकी उष्णता सम्भव नहीं है, ग्रत जल की उष्णता के ममान ग्राग्न की उष्णता भी उसका स्वभाव नहीं होगी, प्रत्युन उसका ग्रोष्ण्य हेतु-प्रत्यय-जनित होने से कृतिम है।

पूर्वपक्षी कहता है कि 'उष्णता ग्रग्नि का स्वभाव है', यह सर्वजनप्रसिद्ध है। चन्द्रकीतिं कहते हैं कि हमने कब कहा कि यह वाद प्रसिद्ध नहीं है। हम लोग तो इतना ही कहते हैं कि उष्णता स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह स्वभाव-लक्षण से वियुक्त है। लोक ग्रविद्या-विपर्यास से नि.स्वभाव को ही स्वभावत्वेन प्रतिपन्न करता है, ग्रौर उसके ग्रनुसार ग्राख्यान करता है कि 'उष्णता ग्रग्नि का स्वलक्षण है'। बालजन की प्रसिद्धि के ग्रनसार ही भगवान् ने ग्रिमिध्म में भावों का सावृत स्वरूप व्यवस्थापित किया है। किन्तु जिनका, ग्रविद्या-तिमिर नष्ट हो चुका है, ऐसे प्रज्ञाचक्षुवाले ग्रायं लोगों की दृष्टि से विचार करे, तब वालचन की किल्पत सस्वभावता उपलब्ध नहीं होगी। फलत , ग्रायं परिहत की दृष्टि से कहता है कि 'भावों का स्वभाव नहीं हैं'।

## स्वभाव का लक्षण

, यहाँ ग्राचार्य स्वभाव का ग्रपना लक्षण वताते हैं कि 'स्वभाव पर-निरपेक्ष नथा ग्रकृतिम होता है'। चन्द्रकीत्ति उसकी व्याख्या में कहते हैं कि 'स्वो भाव ' इस व्युत्पत्ति से पदार्थ का ग्रात्मीय रूप स्वभाव है। ग्रात्मीय रूप वहीं होगा, जो ग्रकृतिम होगा। जो जिसका ग्रायत्त है, वह भी उसका ग्रात्मीय है, जैसे स्वमृत्य, स्वजन। इस प्रकार, परमापेक्ष ग्रोंग कृतिमपदार्थ स्वभाव नहीं होगे। ग्रतएव, ग्राग्न की उप्णता हेतु-प्रत्यय से प्रतिबद्ध होने के कारण, पूर्व में न होकर पश्चात् होने के कारण, कृतक है, ग्रांर ग्राग्न का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार ग्राग्न का निजरूप ग्रकृतिम है, जो कालत्रय में ग्रव्यभिचारी है।

स्रव प्रश्न यह है कि स्वभाव के इस लक्षण के सनुमार ग्राग्न का स्वभाव नया है? इसके उत्तर में माध्यमिक परमार्थ का सकेन करता है कि स्वरूपत (म्बलक्षणत) न्वभाव 'नहीं है', किन्तु, 'नहीं है' भी नहीं है (न तद् प्रस्ति न चापि नास्ति न्वरूपत)। उस रहस्य में श्रोताग्रों को उत्त्रास न हो, इसिनए सावृतिक स्रारोपण से कहा जाता है कि 'स्वभाव है।'

भगवान् का वचन ै है कि अपरमार्थ धर्मो की देणना ग्रींग श्रवण हीगा। वह केवल समारोपित कर्मों से ही देशित या श्रुत होता है। जो पदार्थ उपलब्ध है, उन्हें श्रविद्या-विरहित ग्रार्थ जिस रूप में ग्रपने दर्शन का विषय वनाता है, वही उसका स्वभाव है।

प्रथन उठता है कि भ्रध्यारोप के कारण यदि स्व मावातिरिक्तवाद सिद्ध होता है, तो वस्तु की ग्रस्तिता का स्वरूप क्या है ? चन्द्रकीनि उत्तर में कहते हैं कि जो धर्मों की धर्मता है, वहीं उसका स्वरूप है ('या मा धर्माणा धर्मता मैंव तत्स्वरूपम्')। धर्मों की धर्मता क्या है ? धर्मों का स्वभाव। स्वभाव क्या है ? प्रकृति। प्रकृति क्या है ? शून्यता। णून्यता क्या है ? विस्वभावता। नि स्वभावता क्या है ? तथता। तथता क्या है ? तथाभाव, ग्रविकारिता, सदैव स्थायिता। परिनरपेक्ष तथा श्रकृतिम होने के कारण ग्रग्न्यादि का ग्रनृत्पाद ही उसका स्वभाव है।

ग्राचार्य चन्द्रकीत्ति कहते हैं, इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ग्राचार्य ने ग्रविद्या-तिमिर के प्रभाव से उसी का परिनरपेक्षता, ग्रकृतिमता ग्रादि लक्षण किया है। भावो की यही ग्रनुत्पादात्मकता स्वभाव है, जो ग्रकिञ्चित् होने से ग्रभावमात्र एव ग्रस्वभाव है। ग्रत, किसी प्रकार भावो का स्त्रभाव मिद्ध नहीं होता।

वादी कहता है कि ग्रापके मन में भावों का स्वभाव न हो, परभाव तो है, क्यों कि उसका ग्राप प्रतिपेध नहीं करते । परभाव स्वभाव के विना ग्रसम्भव है, ग्रत स्वभाव भी मानना पड़ेगा। मिद्धान्ती कहता है कि स्वभाव के ग्रभाव में परभाव भी कहाँ होगा? इतना ही नहीं, स्वमाव ग्रीर परभाव के ग्रभाव में भावमात नहीं होगा। इस प्रकार, भाव के प्रनिपेध से ग्रभाव भी प्रतिपिद्ध होता है। यदि भाव नाम से कुछ होता, तो उसका ग्रन्यथाभाव ग्रभाव होता। जब घटादि भावरूप में ग्रसिद्ध है, तब उम ग्रविद्यमान स्वभाव के ग्रन्यथात्व (ग्रभाव) का प्रश्न ही कहाँ है याचार्य कहते हैं कि स्वभाव, परभाव, ग्रभाव, भाव ये सर्वथा ग्रनुपपन्न है। जो ग्रविद्या-तिमिर में उपहत लोग इसकी मत्ता स्वीकार करते हैं, वे बुद्ध-शासन के नत्त्व को नहीं जानते।

यहाँ ग्राचार्य चन्द्रकीत्ति सर्वास्तिवाद ग्रीर विज्ञानवाद का खण्डन कर वृद्ध-वचनो का विनियोग माध्यमिक पक्ष में करते हैं।

चन्द्रकीित्त कहते हैं कि कुछ लोग तथागत के प्रवचन का ग्रपने को ग्रविपरीत व्याख्याता समझते हैं, ग्रीर कहते हैं कि पृथिवी का स्वभाव काठिन्य है, वेदना का स्वभाव विपयानुभव है ग्रादि । विज्ञान ग्रन्य है, रूप ग्रन्य है, वेदना ग्रन्य है। इस प्रकार, इनकी परभावता है। वर्त्तमानावस्था का विज्ञानादि भाव है, वह ग्रतीतावस्थापन्न होकर ग्रभाव होता है।

रे, श्रनक्षरम्य धर्भस्य श्रुति का देशना च का । श्रूयते देश्यते चापि समारोपाटनक्षर ।। (पृ० २६४)

२. येनारमना पण्यति शुद्धदृष्टि-स्तत्तत्त्विमत्येवमिहाप्यवैहि ॥ ( मध्यमकावतार, ६।२६ )

श्राचार्यं के कथनानुसार इन मान्यताश्रो को माननेवाले प्रतीत्यममृत्पाद के परम गम्भीर तत्त्व को नही जानते, क्योंकि स्वभाव-परभावादि का ग्रस्तित्व उपपत्ति-विरुद्ध है। किन्तु, तथागत उपपत्ति-विरुद्ध पदार्थों के स्वभाव का वर्णन नहीं करते। सोपपत्तिक ग्रीर ग्रवि-सवादक होने से बुद्ध-वचन का प्रामाण्य है। बुद्ध-वचन का ग्रागमत्व सिद्ध है, क्योंकि वह प्रक्षीणदोष ग्राप्त के द्वारा ग्रागत है। तत्त्वों का ग्रागमन कराता है, ग्रथवा तत्त्व के प्रति ग्रभिमुख है या उसका प्रतिगमन करता है, ग्रीर उसका ग्राश्रय लेकर लोक निर्वाणगामी होता है। ग्रन्य मत उपपत्ति-वियुक्त है, ग्रागमाभास है। उनका प्रामाण्य व्यवस्थित नहीं है। स्वभाव-परभावादि का दर्शन युक्ति-विधुर है, ग्रत तत्त्व नहीं है। इमिलए, ग्राचार्य नागार्जुं न कहते हैं कि मुमुक्षुग्रों के लिए भगवान् ने ग्रायंकात्यायनाववादसूत में ग्रस्तिवाद, नास्तिवाद दोनों का प्रतिषेध किया है; क्योंकि भगवान् को भावाभाव के ग्रविपरीत स्वभाव का यथावस्थित ज्ञान है। उन्होंने भावाभाव उभय का प्रतिषेध किया है, ग्रत पदार्थों का भाव या ग्रभाव-दर्शन तत्त्व नहीं हो सकता।

श्राचार्य कहते हैं कि यदि श्रग्न्यादि का स्वभाव है, तो उस विद्यमान मद्वस्तु का श्राच्याथाभाव कैसे होगा ? क्योंकि जिसका प्रकृतित श्रस्तित्व है, उसका नास्तित्व कैसे सम्भव होगा। प्रकृति का श्रन्यथाभाव किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु, वादी 'प्रवन्धो-परम' (प्रवाह का विच्छेद) विनाश का लक्षण मानता है। उसके मत में मभी वस्तुएँ जन की उप्णता के समान विपरिणामधर्मी हैं, श्रत सिद्ध है कि पदार्थों में कही स्वभावता नहीं है। श्राचार्य कहते हैं कि श्रन्यथात्व उपलभ्यमान नहीं है, क्योंकि खपुष्प के समान जो प्रकृत्या श्रविद्यमान है, उसका श्रन्यथात्व कैसा? तथा प्रकृत्या (स्वभावेन) जो विद्यमान है, उसका भी श्रन्यथात्व कैसा?

## ज्ञून्यवाद उच्छेद या ज्ञाज्यतवाद नहीं

ग्राचार्य कहते हैं कि सिद्धान्त में ग्रन्ययात्व-दर्शन से पदार्थों की जो नि स्वभावता सिद्ध की गई है, वह परमत में प्रसिद्ध ग्रन्ययात्व-दर्शन की दृष्टि से है, क्योंकि स्वमत में कभी किसी का

१ यद्भूयसा कात्यायनाय लोकोऽस्तिता वाभिनिविण्टो नास्तिता च। न वेन परिमुन्यते। जातिजराव्याधिमरणशोकपरिदेवदु खदौर्मनस्योपायासेभ्यो न परिमुन्यते। पाञ्चगिऽ-कात्संसारचारकागारम्थनात्र परिमुन्यते इत्यादि। (पु० २६६)

२. श्रस्तीति काश्यप ! श्रयमेकोऽन्तो नास्तीति काश्यप ! श्रयमेकोऽन्त । यदेनयोरन्त्रयोर्मस्यं तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमनिकेतमविद्यप्तिकमियमुच्यते काश्यप ! मध्यमा प्रतिपद्धमन्दा भृतप्रत्यवेक्षेति । तथा—

श्रस्तीति नास्तीति उमेऽपि श्रन्ता शुद्धी श्रशुद्धीति इमेऽपि श्रन्ता । तस्मादुमे श्रन्तविवर्जीयत्वा मध्येऽपि स्थान न करोति परिस्त ॥ (पृ० २७०)

ग्रन्यथात्व ग्रभिप्रेत नही है। ग्राचार्य निष्कृष्टार्थ करते है कि प्रकृति तथा धर्म ग्रत्यन्त ग्रविद्यमान एव ग्रस्वभाव है। इनमे जो भावो के ग्रस्तित्व-नाम्तित्व की परिकल्पना करते है, वे शाश्वतग्राही ग्रस्तिवादी है या उच्छेदद्रष्टा नास्तिवादी है। इसलिए, तत्त्वग्राही विचक्षण को ग्रम्ति-नास्तिवाद का ग्राथयण नहीं करना चाहिए । जिसके मत मे भावो का स्वभाव ही ग्रभ्युपगत नहीं है, उसके मत में शाश्वत या उच्छेदवाद कैसे वनेगा?

वादी कहता है कि ग्राप नि स्वभाववादी है, भावदर्णन नहीं मानते। ग्रन, भावों का गाश्वत-दर्शन न माने, यह ठीक हो मकता है, किन्तु उच्छेद-दर्णन मानना होगा। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि भाव-स्वभाव का ग्रभ्युपगम कर पण्चात् उसका ग्रपवाद करे, तो ग्रभाव-दर्णन प्रसनत होगा। जैसे तैमिरिक का उपलब्ध केण वितैमिरिक को किञ्चिद् उपलब्ध नहीं होता श्रीर वह नास्ति कहता है। इससे यह नहीं मिद्ध होता कि वितैमिरिक का प्रतिपेध्य कोई मत् है। इस प्रकार, माध्यमिक विपर्यम्न लोगों के मिथ्याभिनिवेण की निवृत्ति के लिए भावों के ग्रस्तित्व का प्रतिपेध करता है। यह कहने मान्न में उमपर उच्छेदद्रप्टा होने का ग्रारोप नहीं लगाया जा मकता।

## विज्ञानवाद में उच्छेद श्रीर शास्त्रतवाद का परिहार नहीं

चन्द्रकीत्तिं विज्ञानवाद पर आक्षेप करते हैं और सिद्ध करते हैं कि उनके सिद्धान्त से अन्तद्वय का परिहार नहीं होता । विज्ञानवादी चित्त-चैत्त की परतन्त्व सत्ता स्वीकार करते हैं, श्रीर उनकी परिकल्पित स्वभावता नहीं मानते, इसलिए श्रस्तित्व-दर्शन का परिहार करते हैं । इस प्रकार, वस्तु की परतन्त्र सत्ता को सक्लेश श्रीर व्यवदान का निमित्त मानते हैं, श्रीर उसके सद्भाव में नास्तित्व-दर्शन का खण्डन करते हैं । किन्तु, उनके मत में परिकल्पित श्रविद्यमान है, श्रीर परतन्त्र विद्यमान है। इमलिए दर्शन-द्वय का उपनिपात है। श्रत, विज्ञानवाद में श्रन्तद्वय का परिहार नहीं सिद्ध होता । वस्तुतः, हेतु-प्रत्यय-जनित होने के कारण किसी की सस्वभावता मानना सर्वथा श्रयुक्त है। इमलिए, मध्यमक-दशन में ही श्रास्तिव-नास्तित्व-दर्शन का परिहार होता है, मर्वास्तिवादी या विज्ञानवादी दर्शनों में नहीं । विज्ञानवाद माध्यमिक-सम्मत परमार्थ-दर्शन का उपाय है, श्रत सामितीयों की तरह वह नेयार्थ है। भगवान ने महाकरुणा के श्रधीन होकर निम्न भूमि के विनेयों के श्रनुरोध से विज्ञानवाद की देशना की है।

१ 'प्रस्तीति शाश्वतप्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्। तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण् ॥ (१५॥१०)

समाधिराजसूत्र में उक्त है—
 नीतार्थसूत्रान्तिविशेषजानित यथोपिदण्टा सुगतेन शृन्यता ।
 यिसमन् पुन पुद्गलसत्त्वपूर्षो नेयार्थतो जानित सर्वधर्मान् ॥ (मा० का०, पृ० २७६)

#### ससार की सना का निपेध

वादी कहता है कि ससार का सद्भाव है, इसलिए भावो का स्वभाव मानना होगा। ससार या ससृति 'एक गति से गत्यन्तर का गमन है।' भावो का स्वभाव न हो, तो किसका गत्यन्तर में गमन होगा?

सिद्धान्ती कहता है—भावों का स्वभाव तव होगा, जब ससार हो, किन्तु वह प्रसिद्ध है। प्रश्न है कि सस्कारों का ससरण होता है या सत्त्वों का ? ग्रीर, जिन मस्कारों का ससरण होता है, वे नित्य है या ग्रनित्य ? नित्य निष्क्रिय होते हैं, ग्रीर विनष्ट ग्रविद्यमान होने के कारण वन्ध्यासुत के सस्कारों के ममान कही गमन नहीं कर मकते, ग्रत उनका भी ससरण ग्रसिद्ध है। सस्कार ग्रनित्य है, फिर भी वे हेतु-फल की सम्बन्ध-परम्परा में ग्रविच्छिन्न रहते हैं, ग्रीर मन्तान से प्रवित्तित होकर ससरण करते है, यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि, कार्य-कारण में कार्य कहीं से ग्रागमन नहीं करता, ग्रीर कहीं गमन नहीं करता । वस्तुत , सस्कार के ग्रतिरिक्त ग्रनीत ग्रीर ग्रनागत की कल्पना ग्रसिद्ध है; क्योंकि उसके नष्ट ग्रीर ग्रजात रूप ग्रविद्यमान होते हैं।

यदि कोई कहे कि उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्व का समरण होता है, तो गह तब सम्भव है, जब पूर्वोत्तर क्षण एक हो। किन्तु, उनका एकत्व सम्भव नहीं है, वयों कि उसमें कार्य-कारणभाव इष्ट है। एक मानने पर पूर्व-उत्तर क्षण का व्यपदेश भी नहीं होगा, ग्रीर 'पूर्व क्षण नष्ट हुम्रा' इसके कहने का कोई ग्रर्थ नहीं होगा, क्यों कि वह उत्तर क्षण में म्रव्यतिरिक्त होगा। इसी प्रकार, पूर्व क्षण के म्रिभन्न होने के कारण उत्तर क्षण उत्पन्न हुम्रा' इस वाक्य का कोई ग्रर्थ नहीं होगा। पूर्व ग्रीर उत्तर क्षणों की भिन्नता मानें, ग्रीर उनका ससरण माने, तो ग्रर्हतों का भी ससरण होगा, क्यों कि पृथग्जन की ससार में उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, विक्त प्रदीपान्तर के प्रज्वित्त होने पर निर्वात प्रदीप की भी जवलन-प्रतीति माननी होगी।

फिर, प्रश्न होगा कि क्या नष्ट, ग्रनष्ट ग्रथवा नश्यमान पूर्व क्षण से उत्तर क्षण का उदय होता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, ग्रन्यथा विद्व-दग्ध बीज से श्रकुरोदय होगा । दितीय पक्ष में बीज के श्रविकृत रहने पर भी श्रकुरोदय मानना होगा, जो ग्रहेतुक होगा । तृतीय पक्ष श्रिसद है, क्योंकि नष्टानष्ट के श्रितिरिक्त नश्यमान की सत्ता नहीं है। उक्त प्रकार से पूर्वोत्तर क्षण-व्यवस्था ग्रौर कार्यकारण-व्यवस्था नहीं होगी, ग्रौर नन्तान नहीं बनेगा। टन दोनों के श्रभाव में 'ग्रनित्य सस्कारों का सनार है', यह पक्ष नहीं बनेगा। जैसे मन्नारों के समार का निषेध है, उसी प्रकार 'सत्त्वों का समार है', यह पक्ष भी निषिद्ध होता है।

श्राचार्य यहाँ उम पक्ष का निराक ण करते हैं, जो श्राह्या को नन्यारी के समान नित्य-श्रनित्य न मानकर उसकी अवक्तव्यता में प्रतिपन्न हैं, श्रीर पुर्वाल का समरण मानता है। ग्राचार्य कहते है कि ग्रात्मा स्कन्धायतन-धातु-स्वभाव नही है, ग्रीर न उससे ग्रितिरिक्त ही है। ग्रात्मा स्कन्धायतन-धातुमान् नही है, ग्रीर स्कन्धायनन धातुग्रो मे भी नही है। इमी प्रकार, ग्रात्मा मे भी स्कन्धायतन धातु नहीं हैं।

श्राचार्य ससार का एक विशेष प्रकार से खण्डन करते हैं। वे वादी से पूछते हैं कि हम मनुष्योपादान (मानव-जीवन के लिए इन्द्रियादि समस्त उपकरण) से देवोपादान में जब जाते हैं, तब मनुष्योपादान का त्याग करके श्रयवा विना त्याग किये देवोपादान ग्रहण करते हैं प्रथम पक्ष में पूर्वोपादान के परित्याग श्रीर उत्तर के श्रनुपादान के अन्तराल को पच उपादान-स्कन्धों में रहित भानना होगा। जो श्रनुपादान श्रीर स्कन्धरित होगा, वह श्रवश्य ही निर्हेतुक होगा श्रीर उसकी सत्ता न होगी। द्वितीय पक्ष भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि पूर्व के परित्याग श्रीर उत्तर का ग्रहण स्वीकार करने पर एक श्राहमा की द्वचात्मकता (दो श्राहमाएँ) माननी होगी।

यदि वादी कहे कि पूर्व ग्रीर उत्तर भव के बीच ग्रन्तराभविक स्कन्ध है, उससे मोपादानता सम्भव होगी, उसके ग्राधार से समरण होगा, किन्नु यह ठीक नहीं है, क्यों कि ग्रन्तराभविक स्कन्ध में भी पूर्व भव के परित्याग-ग्रपरित्याग की गका उठेगी, जिसका समाधान नहीं है। वादी यदि त्याग ग्रीर उपादान को युगपत् माने, तो हम प्रश्न करेगे कि क्या पूर्वोपादान का त्याग एकदेशेन होता है श्रीर, वह एकदेशेन ग्रन्तराभवोपान में सचरित होता है, ग्रथवा सर्वात्मना श्रथम पक्ष में पूर्वोक्त हचात्मकता दोष का प्रसग होगा। मर्वात्मना पक्ष भी पूर्वोक्त विभवता (समाराभाव) के दोष से ग्रापन्न होगा। इस प्रकार, सम्कार या ग्रात्मा का ससरण सिद्ध नहीं हुग्रा। ग्रत, ससार का सर्वथा ग्रभाव है।

यहाँ चन्द्रकीर्त्ता ग्रंपनी वृत्ति में एक नये प्रकार से प्रदन उठाते हैं ग्रीर ग्राचार्य के वचनों से उसका समाधान करते हैं। पूर्वपक्ष है कि ससार है; क्योंकि उसका प्रतिद्वन्द्वी निर्वाण है।

समाधान में चन्द्रकीर्त्तं कहते है कि निर्वाण नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा कि निर्वाण नित्य सत्त्व के लिए है या ग्रनित्य मत्त्व के लिए दे तोनो पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि नित्य ग्रविकारी होता है ग्रीर ग्रनित्य ग्रविद्यमान होता है, ग्रत निर्वाण नहीं होगा। यदि कहें कि नित्यत्वेन ग्रवित्यत्वेन ग्रवाच्य का निर्वाण होता है, तो ससार के ममान निर्वाण में भी ग्रात्मा का ग्रम्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। ग्राचार्य चन्द्रकीर्त्तं यहाँ निर्वाण के खण्डन के लिए ग्रष्ट-माहिंग्रका तथा समाधिराजसूत ग्रादि के उद्धरणो से मायोपमता एव स्वप्नोपमता सिद्ध करते हैं। निर्वाण के ग्रभाव में ससार का भी ग्रभाव है।

ग्राचार्य नि स्वभावता के खण्डन के लिए वन्ध-मोक्ष का पुन प्रकारान्तर से खण्डन करते हैं। कहते हैं कि रागादि क्लेश सत्त्वों को ग्रस्वतन्त्र कहते हैं, इसलिए उन्हें बन्धन कहा

१. निर्वाणमप्यायुष्मन् सुभूते । मायोपम स्वप्नोपमम् । बुद्धधर्मा ग्रायुष्मन् सुभूते मायोपमाः स्वप्नोपमा इत्यादि ।

जाता है और इनसे बद्ध पृथग्जन तैं धातुक का ग्रितिक्रमण नहीं कर पाते । किन्तु, यह उदय-व्ययणील क्षणिक तथा उत्पाद के परस्पर नष्ट सस्कारों को तो बद्ध नहीं कर सकते । इसी प्रकार, उनका रागादि बन्धन से विच्छेद भी क्या होगा, जब कि वह ग्रसत् एव ग्रविद्यमान है । वस्तुतः, बन्धनभूत रागादि उपादानों की भी सत्ता नहीं है, क्योंकि जो सोपादान है, वह बद्ध है, उसका फिर बन्धन क्या ? ग्रनुपादान बन्धन-रहित है, ग्रत तथागत के समान वह बद्ध न होगा। दूसरी बात यह है कि लोक में निगडादि बन्धन बन्ध्य देवदत्तादि के ग्रतिरिक्त ग्रीर उससे पूर्व सिद्ध रहते हैं, इस प्रकार बन्ध्य सस्कार हो या पुद्गल हो, उनसे पूर्व रागादि को सिद्ध होना चाहिए, जो सर्वदा ग्रसम्भव है, क्योंकि रागादि निराश्य होकर सिद्ध नहीं होगे।

यहाँ वादी कहता है कि ग्रापने ससार ग्रीर निर्वाण तथा वन्ध ग्रीर मोक्ष का प्रतिपेध कर दिया। मुमुक्षुग्रो की शान्ति के लिए तृष्णा-नदी से उत्तीर्ण होने के लिए ग्रीर ससार महाटवी के कान्तार से निस्तीर्ण होने के लिए तथागत का परम ग्राश्वासन देनेवाला महाधर्मच्छन्द व्यर्थ होगा, ग्रीर निर्वाण-प्राप्ति के लिए श्रुत-चिन्ता-भावनादि का उपायना- कम भी व्यर्थ होगा।

सिद्धान्ती कहता है कि हमारे मत मे सर्वभाव नि स्वभाव है। प्रतिविम्य, मरीचिका-जल, ग्रलातचक्र के समान ग्रात्मा-ग्रात्मीय स्वभावों से रहित है। केवल विपर्याम से ग्रहमात्र का परिग्रह है, इसीलिए सत्त्व सोचता है कि में सर्वोपादान-रहित होकर निर्वाण प्राप्त करूँ, ग्रांर मैं धर्म-प्रतिपन्न होकर निर्वाण ग्रवश्य लाभ करूँगा। सत्त्व का यह ग्रहकार-ममकार ही मत्कायदृष्टि का उपादान है, वस्तुत उसका यह महाग्राह है। इस महाग्राहाभिनिवेशी के लिए शान्ति नहीं है, इसलिए मुमुक्ष के लिए ये सब परित्याज्य है।

ग्रन्त में, ग्राचार्य कहते हैं कि परमार्थ मत्य में निर्वाण का ग्रध्यारोप ग्रनुपलक्ष्य होने के कारण निर्वाण ग्रमम्भव है, इनीलिए ससार-परिक्षय भी ग्रमम्भव है, ययोकि जब निर्वाण नहीं है, तथा उसकी प्राप्ति नहीं है, तब समार भी कहाँ विकल्पित होगा, जिसने धर के लिए उद्योग हो।

#### कर्म फल और उसके सम्बन्ध का निवेध

ग्राचार्य ग्रव कर्म-फल-सम्बन्ध की परीक्षा करते है। कर्मवाद के सम्बन्ध मे तीथिको के विभिन्न सिद्धान्तो को पूर्वपक्ष के रूप मे उपस्थित कर कर्म की नि स्वभावता से उसका खण्टन करते है।

वादी कहता है कि सन्तान की अविच्छिन्नता के कारण जन्म-मरण-परम्परा तथा उन्में हेतु-फल-भाव की प्रवृत्ति होती है। उमी से मस्कार या आत्मा नसरण करते हैं। इस प्रकार, कर्म-फल-सम्बन्ध सिद्ध होता है। माध्यिमक के मन में समार नहीं है, और चिन भी उपस्य-नन्तर विनाणी है। ऐसी अवस्था में कर्माक्षेप-काल में विपाक (फल) का सद्भाव नहीं होगा। अत, इस मत में कर्म-फल का सम्बन्ध नहीं बनेगा। मनार मानेंगे, तभी मत्त्व प्रकारनर में प्रपो

पूर्वकृत कर्म के विपाय-फल से मम्बद्ध होगा। श्रत, कर्म-फल-सम्बन्ध के लिए उसका श्राश्रय ससार मानना होगा।

#### कमों के भेद

श्रात्मसयमक कुशल-चित्त पुद्गल को विषय में श्ररवतन्त्र वनाता है, यानी कुणल-चित्त रागादि वलेशो की प्रवृत्ति का निवारक होता है, ग्रौर मत्त्व को दुर्गति-गमन से रोककर धारण करता है। इसके श्रतिरिक्त यह परानुग्राहक-चित्त ग्रौर मैंत्र-चित्त भी है। यह चित्त धर्म इस ग्रर्थ में है कि कुगति-गमन से रोकते हैं, विधारण करते हैं। यह चित्त फल की ग्रिमिनवृति मे ग्रमाधारण कारण हैं। इस जन्म ग्रौर परजन्म में इनसे फल-निष्पत्ति होती है। इस चित्तात्मक धर्म के ग्रतिरिक्त भगवान् ने दो ग्रौर धर्मों (कर्मों) की ध्यवस्था की है— चेतना-कर्म ग्रौर चेतियत्वा-कर्म। उन दो कर्मों के ग्रनेक भेंद होते हैं। मनोविज्ञान-सम्प्रयुक्त चेतना मानम-कर्म है। चेतना से चिन्तित ग्रौर काय-वाक् से प्रवर्त्तित कर्म चेतियत्वा-कर्म है। इन कायिक-वाचिक-मानसिक कर्मों के प्रधानत सात भेद होते है—कुशल-श्रकुशल वाक्-कर्म, कुशल-श्रकुशल काय-कर्म, कुशल ग्रविज्ञान्तिकर्म, श्रकुशल ग्रविज्ञान्तिकर्म, परिभोगान्वय पुण्य, परिभोगान्वय श्रपुण्य, चेतना।

यहाँ प्रश्न उठता है कि उक्त कमें क्या विपाक-काल तक स्थित होते हैं, ग्रथवा नष्ट हो जाते हैं। यदि उत्पन्न कमें विपाक-काल तक स्वरूपेण ग्रवस्थित होते हैं, तो इतने काल तक ग्रविनष्ट होने के कारण इन्हें नित्य मानना होगा। पश्चात् भी उनका विनाश नहीं होगा, क्योंकि विनाश-रिह्त त्राकाशादि का पश्चात् विनाश नहीं होता। कमें यदि उत्पादान्तर विनाशी है, तो वह ग्रपनी ग्रविद्यमान-स्वभावता के कारण ही फलोत्पादन नहीं करेंगे।

#### क्षणिकवाद में कर्मफल की व्यवस्था

निकायान्तरीय स्वमत से इनका पिरहार करता है कि गम्कार उत्पत्त्यनन्तर विनाणी है, फिर भी हमारे गत में दोप उपपन्न न होगे। यह कहना कि निरद्ध कमें फलोत्पाद नहीं करेंगे, ठीक नहीं है। वीज अणिक है, किन्तु उसमें अकुर-काण्ड-नाल-पत्न स्वजातीय फल-विणेप की निप्पत्ति का मामध्य हे। अत , वीज अकुरादि का कारण बन स्वय निरुद्ध हो जाता है। हाँ, वीज यदि अंकुरादि मन्तान का प्रमव न करे और अपिन प्रादि विरोधी प्रत्ययों से पहले ही नप्य हो जायें, तो उसका उच्छेद माना जायगा। वीज निरुद्ध न हो और अकुरादि सन्तान का प्रवर्त्तन करे, तव उमका शायवत्त्व माना जायगा। किन्तु, वीजाकुर-दृष्टान्त में दोनों का अभाव है, अत वीज में शायवतीच्छेद दोप नहीं लगेगे। निकायान्तरीय पूर्वोक्त वीजाकुर दृष्टान्त के समान ही कुशल या अकुशल चेतना-विशेष को चित्त-सन्तान का हेतु मानता है। कुशल चित्त अर्हत् के चरम चित्त के गमान भावि चित्त-गन्तान का हेतु न होकर निरुद्ध हो जाय, तब कर्म को उच्छित्र कह सकते हैं, और भावि गन्तान को उत्पन्न करके भी स्वरूप से प्रच्युत न हो, तो कर्म को शायवत कहेंगे। किन्तु, यहाँ दोनों नहीं हैं, अत कर्म की क्षणिकता के सिद्धान्त में पर-उच्छेद या शाइवतत्व का आरोप नहीं लगेगा।

#### 'स्रविप्रणाञ्च' से कर्मफल-व्यवस्था

कोई ग्रन्य नैयायिक पूर्वोक्त समाधान में दोपोद्भावन कर स्वमत से पूर्वोक्त ग्राक्षेपो का परिहार करता है। कहता है कि ग्राप यदि वीजाकुर-वृष्टान्त से चित्त-सन्तान के पूर्वोक्त दोपो का परिहार करेंगे, तो ग्रवश्य ही ग्रापके पक्ष मे बहुत बड़े-बड़े ग्रपरिहार्य दोष लगेगे। जैसे ग्रापके मत मे शालि-बीज से सजातीय शाल्यकुर की ही सन्तान प्रवृत्त होगी, विजातीय की नही। इसी प्रकार, कुशल-चित्त से समानजातीय कुशल चित्त-सन्तान उत्पन्न होगी। काम, रूप या ग्रारूप्य के ग्रनास्रव चित्त से तत्तत् लोको के ग्रनास्रव चित्त ही उत्पन्न होगे। मनुष्य-चित्त से मनुष्यचित्त, देवचित्त से देवचित्त, नारकचित्त से नारकचित्त उत्पन्न होगे। इसी प्रकार, देव-मनुष्य ग्रकुशल कर्म भी करे, फिर भी गित, योनि वर्ण, बुद्धि, इन्द्रिय, वल, रूप, भोग ग्रादि की विचित्रता न होगी। ग्रतः, यह परिहार पूर्ण नहीं है।

वस्तुत, जब कर्म उत्पन्न होता है, तब उसके साथ सन्तान मे एक 'ग्रविप्रणाश' नामक धर्म भी उत्पन्न होता है। यह विप्रयुक्त धर्म है। जैसे: ऋणपत्र लिख लेने से धनिक के धन का नाश नहीं होता, बल्कि कालान्तर में ब्याज के साथ मिलता है, उसी प्रकार कर्ता-कर्म के विनष्ट होने पर भी इस 'ग्रविप्रणाश' धर्म के ग्रवस्थान से फल ग्रभिसवृद्ध होता है। जैसे ऋणपत्रदाता का धन लौटाकर निर्भु क्त है, ग्रत वह विद्यमान हो या ग्रविद्यमान, पुन धना-भ्यागम नहीं कर सकेगा, उसी प्रकार 'ग्रविप्रणाश' विपाक प्रदान कर निर्भु क्त ऋणपत्र के समान कर्त्ता का विपाक से पुन सम्बन्ध नहीं करायगा।

'ग्रविप्रणाश' काम, रूप, ग्रारूप्यावचर, ग्रनास्रव के भेद से चतुर्विध है, तथा प्रकृतित ग्राव्याकृत है। 'ग्रविप्रणाश' दर्शन-प्रहेय नहीं है, किन्तु भावना-प्रहेय है। यह 'ग्रविप्रणाश' कर्म-विनाश से विनष्ट नहीं होता ग्रीर कर्म-प्रहाण से प्रहीण नहीं होता। इसलिए, ग्रविप्रणाश से कर्म-फल सम्पन्न होते हैं। इस मत में पृथग्जन के कर्म के ममान यदि दर्शन-मार्ग से 'ग्रवि-प्रणाश' का प्रहाण हो, तो कर्मों का विनाश मानना पड़ेगा ग्रीर उससे ग्रायों का इष्टानिष्ट कर्म-फल पूर्वकर्मों के फल न होगे। सभाग ग्रीर विसभाग समस्त कर्मों के काम, रूप ग्रीर ग्रारूप्य समस्त धातुग्रों के प्रतिसन्धियों में सर्व कर्मों का ग्रपमर्दन 'ग्रविप्रणाश' धर्म उत्पन्न होता है।

चेतना-स्वभाव या चेतियत्वा-स्वभाव, मास्रव या अनास्रव, सभी कर्मों का एक-एक 'अवि-प्रणाश' उत्पन्न होता है। यहाँ 'अविप्रणाश' विपाकों के विपक्व होने पर मी अवश्य ही निरुद्ध नहीं हो जाता, किन्तु निर्भु कत ऋणपत्न के समान विद्यमान होते हुए भी पुन. विपाक नहीं करता। फल-व्यितिकम या मरण से 'अविप्रणाश' निरुद्ध होता है और वह नान्नवों का सास्रव-फल, अनास्रवों का अनास्रव-फल देता है। 'अविप्रणाश' का इसलिए भी महत्त्व है कि कृत कर्म निरुद्ध हो जाता है, क्यों कि उमकी स्वभाव-स्थित नहीं है। कर्म की नि स्वभावता में ही शून्यता उपपन्न होती है, किन्तु कर्म के इस अनवस्थान-मान्नसे उच्छेद नहीं हो जाता, ग्यों कि 'अविप्रणाश' के परिग्रह से ही कर्मविपाक का सद्भाव मिद्ध होगा। शाश्वतवाद का भी असग नहीं होगा, क्यों कि कर्म का स्वरूपेण अवस्थान नहीं है। अविप्रणाशवादों फटना है कि

मेरे इस सिद्धान्त में कर्म पाक-काल तक रहता, तो नित्यता की श्रापत्ति होती, निरुद्ध होता, तो वह फल नहीं करता इत्यादि दोप लगते। श्रतः, पूर्वोक्त श्राक्षेपो का मेरा ही समाधान उपयुक्त है।

#### सिद्धान्त में कर्मफल की नि स्वभावता

सिद्धान्ती वादियों के दोनों समाधानों को नहीं मानता, श्रीर सिद्धान्त-सम्मत समाधान करता है।

सिद्धान्त में कर्म उत्पन्न नही होता, क्योंकि वह नि स्वभाव है। कर्म स्वभावतः होता, तो वह शाश्वत भी होता, क्योंकि स्वभाव का ग्रन्यथाभाव नही होता। कर्म स्वभावत होता, तो ग्रकृत होता, क्योंकि शाश्वत किसी से किया नही जाता। शाश्वत विद्यमान होता है, श्रत उसके लिए किसी की करणता अनुपपन्न है। वह करण की श्रपेक्षा नहीं करेगा। इतना ही नहीं, प्रत्युत कर्म श्रकृत होगा, तो श्रकृताभ्यागम (नहीं किये फल की प्राप्ति) दोप भी होगा। जिसने प्राणातिपातादि कर्म नहीं किया, उसका भी श्रकृत कर्म है ही। उससे उसका सम्बन्ध मानना पडेगा। कृषि-वाणिज्यादि कियाशों का ग्रारम्भ धन-धान्यार्थ किया जाता है, किन्तु श्रापके मत में उनके श्रकृत कर्म विद्यमान है, ग्रतः उसका ग्रारम्भ क्यों किया जाय है ऐसी श्रवस्था में पुण्य-कर्म श्रीर पापकर्म का भी विभाग नहीं होगा, क्योंकि सबके श्रकृत पुण्य-पाप विद्यमान रहेंगे। विपक्व विपाक-कर्म भी पुनः विपाक-दान करेगे, क्योंकि श्रविपक्व विपाकावस्था से विपक्व विपाकावस्था में कोई श्रन्तर नहीं होगा। सिद्धान्त में कर्म नि.स्वभाव है, इसलिए शाध्वत-दर्भन वा उच्छेद-दर्भन के दोष नहीं लगते।

कर्म नि स्वभाव इसलिए हैं कि उसका हेतु क्लेश नि स्वभाव है। कुशल-अकुशल के विपर्यास की अपेक्षा से जो होते है, वह नि स्वभाव है, अत क्लेश नि स्वभाव है। जब क्लेश नि स्वभाव है, तो उसका कार्य कर्म सस्वभाव कैसे होगा? पीछे इसकी विस्तृत परीक्षा से हम निश्चित कर चुके हैं कि कर्म नहीं है, फिर कर्त्ता और कर्मज फल सस्वभाव कैसे होगे।

वादी पुन एक प्रश्न उठाता है कि ग्रापके मत में भाव नि स्वभाव है, तो भगवान् का यह वचन कैसे लागू होगा कि मवको कृत कर्म का विपाक स्वयमेव ग्रनुभव करना पडता है। ग्रपनी इस मान्यता से ग्राप प्रधान नास्तिक सिद्ध होगे। सिद्धान्ती कहता है कि हम लोग नास्तिक नहीं है, प्रत्युत ग्रस्तित्ववाद ग्रोर नास्तित्ववाद का निरास करके निर्वाण के ग्रह्तैत-पथ के प्रकाशक है। हम यह नहीं कहते कि कर्म कर्ता ग्रीर फल नहीं है, किन्तु वह नि स्वभाव है, केवल इसकी व्यवस्था करते हैं। यदि कहों कि नि स्वभाव पदार्थों का व्यापार नहीं वनेगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सस्वभाव पदार्थों में ही व्यापार नहीं होता, नि स्वभाव में भी व्यापार होता है। क्या ग्राप निःस्वभाववादी को ग्रपना कार्य करते हुए नहीं देखते। भगवान् ने ग्रपनी ऋद्धि के प्रभाव से एक निर्मितिक को उत्पन्न किया। उत्पन्न निर्मितिक ने पुन एक दूसरे निर्मितिक का निर्माण किया। वह तथागत स्वभाव से रहित है, ग्रत. शून्य एवं नि स्वभाव है। दूसरा निर्मितिक जो पहले से

निर्मित है, वह भी नि:स्वभाव है। इस दृष्टान्त में नि स्वभाव पदार्थों का नि स्वभाव ही कार्य-कर्त्तृत्व तथा कर्म-कर्त्तृत्व-व्यपदेश सिद्ध होता है, ग्रतः ग्रह्मयवादी माध्यमिक मिथ्यादर्शी नहीं है।

#### ग्रनात्मवाद

वादी सिद्धान्ती की कठिन परीक्षा करता है। कहता है कि ग्रापके मत में क्लेंग, कमं, कर्ता, फलादि कोई तत्त्व नहीं है। मूढों को गन्धर्वनगरादि के समान ग्रतत्त्व ही तत्त्वाकारेण प्रतिभासित होते हैं, तो फिर बताइए तत्त्व क्या है ? ग्रीर उसका भवतरण कैसे होता है ?

सिद्धान्ती कहता है कि ग्राध्यात्मिक या बाह्य कोई भी वस्तु उपलब्ध नही होती, ग्रत ग्रहकार-ममकार का सर्वथा परिक्षय करना ही तत्त्व है। मत्त्व की सत्कायदृष्टि से ही ग्रशेप क्लेश उत्पन्न होते हैं, ग्रत उन क्लेशो ग्रीर दोषो का योगी ग्रात्मा ग्रीर विषयो को ग्रपनी योगज बुद्धि से देखकर निपेध करता है। ससार का मूल सत्कायदृष्टि है। मत्कायदृष्टि का ग्रालम्बन ग्रात्मा है, ग्रत ग्रात्मा की ग्रनुपलब्धि से सत्कायदृष्टि का प्रहाण होगा ग्रीर उसके प्रहाण से सर्वक्लेश की व्यावृत्ति होगी। इसलिए माध्यमिक ग्रात्मा की विशद परीक्षा करते हैं कि यह ग्रात्मा क्या है, जो ग्रहकार का विषय है। ग्रहकार का विषय ग्रात्मा (जो कित्पन किया गया है) स्कन्धस्वभाव है या स्कन्ध-व्यतिरिक्त है ?

## श्रात्मा स्कन्घ से भिन्न या ग्रभिन्न नहीं

यदि स्कन्ध ही ग्रात्मा है, तो उसका उदय-व्यय. उत्पाद ग्रौर विनाग मानना होगा. ग्रौर फिर ग्रात्मा की ग्रनेकता भी माननी होगी। यदि ग्रात्मा स्कन्ध-व्यतिरिक्त हो, तो उसका लक्षण स्कन्ध नही होगा। यदि ग्रात्मा स्कन्ध-लक्षण नही है, तो ग्रापके मत में उमका उत्पाद-स्थित-भग लक्षण भी नही होगा। ऐसी ग्रवस्था में वह प्रविद्यमान या ग्रमस्कृत होगा, ग्रौर खपुष्प या निर्वाण के समान ग्रात्म-व्यपदेश का लाभ नही करेगा। वादी ग्रात्मा का स्कन्ध-व्यतिरिक्त लक्षण करते हैं। वे उसका रूप नित्य,कर्त्ता,भोक्ता,निर्गण, निष्क्रिय ग्रादि विविध कहते हैं। ग्रात्मा के स्वरूप के विषय में वादियों में परस्पर किचित् भेद है. किन्तु वे नभी ग्रात्मा की स्वरूपतः उपलब्धि करके उसके लक्षण का ग्राख्यान नहीं करते। वन्तुत, उन्हे ग्रात्मा की उपादाय-प्रक्राप्त (जिन स्कन्धादि उपादानों से ग्रात्मा ज्ञापित है) का भी यथावत् वोध नहीं होता। इस प्रकार, नामधारी ग्रात्मा के मावृतिक ज्ञान से भी वादी परिशय है। ग्रात्मा के मम्बन्ध में वादी ग्रपती मिथ्या कल्पना से ग्रीर ग्रनुमानाभासों से विप्रलब्ध है। वे मोह में ही ग्रात्मा की कल्पना करते हैं, ग्रौर उमके विभिन्न लक्षण करते हैं। कर्म-कारक परीक्षा में ग्रात्मा ग्रीर उपादानों की परस्परापेक्षिक सिद्धि दिखाते हुए उनका मावृतिक ग्रनिपेध किया गया है।

मुमुक्षुत्रों का त्रात्मा का विचार वह हैं, जो उपादाय-प्रज्ञप्ति का विषय है, वरोति उसमें ग्रविद्या-विपर्याम से ग्रात्मा का ग्रिभिनिवेश होता हैं ? उसके सम्बन्ध में यह विजन्म होगा कि स्कन्ध-पचक जो उपादानत्वेन पितमामित हैं. वह स्कन्ध-त्राण है या नती हैं विचार करने पर उसकी भाव-स्वभावता उपलब्ध नहीं होती। जब ग्रात्मा की उपलब्ध नहीं होते। दग्ध रग के होती, तब ग्रात्म-प्रज्ञप्ति के उपादान पच-स्कन्ध मुतरा उपलब्ध नहीं होगे। दग्ध रग के

त्रग ग्रदग्ध कैसे होगे? योगी जैमे ग्रात्म-नैरात्म्य मे प्रतिपन्न होता है, वैमे ही ग्रात्मीय स्कन्ध-वस्तुग्रो मे भी नैरात्म्य-प्रतिपन्न होता है। किन्तु, इसका ग्रर्थ यह नही है कि नैरात्म्य-प्रतिपत्ता योगी की सत्ता है, जिमसे ग्रात्मवाद मिद्ध हो; क्योंकि ग्रात्मा ग्रीर स्कन्ध के प्रतिपिद्ध होने पर कीन दूमरा परमार्थत ग्रेप वचेगा, जो निर्मम ग्रीर निरहंकार होगा। ग्रात्मा-ग्रात्मीय की ग्रनुपलिध में सत्कायदृष्टि प्रहीण होती है, ग्रीर सत्कायदृष्टि के प्रहाण से—काम, दृष्टि, ग्रीलवत, ग्रात्मवाद—चतुष्ट्य का क्षय होता है। उसके क्षय से पुनर्भव का क्षय होता है। भव के निरुद्ध होने पर जाति-जरामरणादि समस्त निरुद्ध होते है। इस प्रकार, कर्म ग्रीर क्लेश के क्षय से मोक्ष होता है। कर्म-क्लेश विकल्प में प्रवर्त्तित है। विकल्प ग्रनादि ससार के ग्रनादि काल से ग्रम्यस्त ज्ञान-ज्ञेय, वाच्य-वाचक, कर्त्ता-कर्म, करण-किया ग्रादि विचित्र प्रपच से उपजात है। ये समस्त लोकिक प्रपच सर्व भाव-स्वभावों के ग्रन्यता-दर्शन से निरवशेष निरुद्ध होते है।

यहाँ चन्द्रकीर्त्ति शून्यता के निर्वाण-स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। कहते हैं कि वस्तुग्रों की उपलिध होने पर ही समस्त प्रपच-जाल खड़ा होता है, क्यों कि रागी पुरुष वन्ध्या-दृहिता के प्रति उसके रूप-लावण्य-यावन से ग्राकृष्ट होकर कैं में राग-प्रपच का ग्रवतारण नहीं करता! यदि राग नहों, नो तद्विपयक विकरप नहों, ग्रीर कल्पना-जाल न विछें। फिर, मत्कायदृष्टिमूलक क्लेश उत्पन्न नहों, ग्रीर गुभ-प्रगुभ-ग्रानिज्य कर्म न किये जायें, तो जाति,जरा-मरण, शोक, परिदेव, दु ख, दीर्मनस्यादि का जाल-रूप इस समार-कान्तार का ग्रनुभव ही नहों।

योगी णून्यता की दर्शनावस्था में स्कन्ध, धग्तु ग्रीर ग्रायतनो को स्वरूपत उपलब्ध नहीं करता। वस्तु के स्वरूप की ग्रनुपलब्धि में तद्विषयक प्रपच का ग्रांर विकल्प का ग्रवतारण नहीं होता। जब विकल्प उत्थित न होगे, तय 'ग्रहं, मम' के ग्रिभिनिवेश से सत्कायदृष्टिमूलक क्लेशगण भी उत्पन्न नहीं होगे, ग्रीर उससे प्रेरित कर्म न होगे। कर्म के ग्रभाव से जाति-जराका मरणाख्य ससार का ग्रभाव होगा। इस प्रकार, ग्रशेप प्रपचों के उपशम-स्वरूप एवं शिवलक्षण शून्यता का वोध प्राप्त करने पर ग्रशेप कल्पना-जाल का विगम होता है, प्रपच के विगम से विकल्प की निवृत्ति होती है, कर्म-क्लेश की निवृत्ति से जन्म की निवृत्ति होती है। इस उपर्युक्त कम को दिखलाते हुए ग्रन्त में ग्राचार्य चद्रकीर्त्ति कहते हैं कि शून्यता का लक्षण सर्व-प्रपच-निवृत्ति है। इसलिए, वही निर्वाण है।

श्राचार्य कहते हैं कि भावविवेक के ग्रनुसार श्रावक ग्रीर प्रत्येकवुद्ध को उपर्युक्त शून्यता के वोध की प्रतिपत्ति नहीं होती, किन्तु प्रतिक्षण, उत्पन्न-विनम्बर सस्कार-कलाप की ग्रनात्मता तथा ग्रनात्मीयता का बोध होता है। इस प्रकार, ग्रायं श्रावक को ग्रात्म-ग्रात्मीय के ग्रभाव-बोध के कारण धर्म-मात्र की उत्पति ग्रीर सहार का दर्शन होता है। इस कम से ग्रायं श्रावक, निर्मम ग्रीर निरहकार होता है। श्रावक की यह ग्रवस्था निर्विकल्पक प्रज्ञाचारविहारी महावोधिमत्त्व के मर्व सस्कारों की ग्रजातता-दृष्टि से पूर्व की है। ग्राचार्य चन्द्रकीर्त्ति भावविवेक के इस मत को ग्राचार्यपाद के ग्रीर ग्रागमों के मत के विरुद्ध वताते हुए उसका खण्डन करते हैं।

## श्रनात्मसिद्धि मे श्रागम वाधक नहीं

श्राचार्य वादी की इस श्राणका का परिहार करते हैं कि यदि ग्रध्यात्म श्रीर वाह्य सर्वथा किल्पत है, तो भगवान् का यह वचन माध्यमिक मत के विरुद्ध होगा कि—"श्रात्मा का नाथ श्रात्मा ही है. . . .कृत-अपकृत का साक्षी श्रीर श्रात्मा का साक्षी श्रात्मा क

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि क्या भगवान् ने यह नहीं कहा है कि "सत्त्व या श्रात्मा नहीं है, श्रीर धर्म सहेतुक हैं।" वस्तुत, श्रात्मा रूप या रूपवान नहीं है, रूप में श्रात्मा या ग्रात्मा में रूप नहीं है। इस प्रकार, विज्ञानादि के साथ श्रात्मा का व्यतिरेक करना चाहिए। इस प्रकार, सर्व धर्म श्रनोत्म हैं। किन्तु, श्रव प्रश्न होता है कि भगवान् के पूर्ववचन से परवचन का विरोध कैसे दूर हो वन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि भगवान् वृद्ध के शासन की नेयार्थता तथा नीतार्थता में सामान्यतः भेद करना चाहिए। श्राचार्य नागार्जुन कहते हैं कि "भगवान् ने श्रात्मा का प्रज्ञापन किया ग्रीर श्रनात्मा की भी देशना की। किन्तु, वस्तुत वृद्ध ने श्रात्मा-श्रनात्मा की कुछ भी देशना नहीं की।"

श्राचार्य के इस उपर्युंक्त वचन का श्रभिश्राय स्पष्ट करते हुए चन्द्रकीर्त्त ने कहा है कि श्रारमभाव के विपर्यास से घनितिमिर से श्राच्छादित नयन के समान जिन लोगों की वृद्धि सर्वथा श्राच्छादित है, वे यद्यपि व्यवहार-सत्य में स्थित है श्रीर लौकिक विपयों के ग्राही भी है, तथापि वे पदार्थ की वास्तविकता का दर्शन नहीं करते। वे वृद्धि को श्रोदन-उदक-किण्वादि द्रव्य-विशेष के समान कललादि महाभूतों के परिपाक-मात्र से सम्भूत मानते हैं। ये वादी पूर्वान्त श्रीर श्रपरान्त का श्रपवाद करते हैं श्रीर श्रात्मा तथा परलोक का निषेध करते हैं। उनके मत में इहलोक-परलोक नहीं हैं, सत्त्व सुकृत-दुष्कृत कर्मों का विपाक नहीं है। उस निद्धान्त से सत्त्व स्वर्गादि इष्ट-फल विशेष की प्राप्ति के उद्योग से पराइ मुख होगे श्रीर श्रकुरादि कर्मों के श्रिमसस्कार में प्रवृत्त होकर नरकादि के महाप्रपात में पतित होगे। इन वादियों को इस श्रमन् दृष्टि से निवृत्त करने के लिए भगवान् ने सत्त्वों के चौरासी हजार चित्त-चरितों का भेद किया। हीन-मध्य श्रीर उत्कृष्ट विनेय जनों पर श्रनुग्रह करके भिन्न-भिन्न वासनाग्रों का श्रनुवर्त्तन कर सबको भव से उद्धार करने की दृढ प्रतिज्ञा में तत्पर होकर तथागन ने कही-नहीं श्रपने प्रवचनों द्वारा लोक में श्रात्मा की भी व्यवस्था की है।

पूर्वोक्ति से अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वे लोग है, जो अनुशन कर्म-पथ ने ब्यावृत्त है, किन्तु आत्मदृष्टि के कारण आत्मा-आत्मीय भाव के स्नेह-सूव से उतने आवढ़ हैं कि वैधानुन भव को अतिकान्त करके शिव अजर, अमर, निर्वाणपुर का अभिगमन नहीं कर नकते। ये विनेय जन मध्य प्रकार के हैं। इनके सत्काय-दर्शन-सम्बन्धी अभिनिवेश को शिथिन करने के निए पौर निर्वाण की अभिनाषा को उत्पन्न करने के लिए भगवान ने अनात्मा की देशना थी है।

किन्तु, जिनका पूर्व-पूर्व अभ्यासो से अधिमोक्ष-त्रीज परिपक्य है, त्रीर निर्वाण प्रत्यागय है, वे उत्कृष्ट कोटि के विनेय जन हैं। ऐसे आत्मस्नेह-रहिन विनेय मीनीन्द्र तथागत के परम गम्भीर प्रवचनार्थ के तत्त्वावगाहन में समर्थ है। उनकी विणेष श्रिष्टमृक्ति के लिए भगवान् वृद्ध ने न ग्रात्मा का उपदेश किया, न ग्रनात्मा का हो , क्यों कि जैसे श्रात्मदर्शन ग्रतत्त्व है, वैसे ही उसका प्रतिपक्ष ग्रनात्मदर्शन भी ग्रतत्त्व है। रत्नक्ट्सूत्र में उक्त है कि हे काश्यप ग्रात्मा एक ग्रन्त है, नैरात्म्य दूसरा ग्रन्त है, जो इन दो ग्रन्तों के मध्य में है, वह ग्ररूप्य, ग्रनिदर्शन, ग्रप्रतिष्ठ, ग्रनाभास, ग्रविज्ञप्तिक ग्रीर ग्रनिकेत कहा जाता है। यही मध्यमा प्रतिपत् है ग्रीर धर्मी के सम्बन्ध की यथार्थ दृष्टि है।

## तथागत के प्रवचन काप्रकार

एक प्रश्न है कि भगवान् वुद्ध ने जब ग्रात्मा ग्रीर ग्रनात्मा की देशना नहीं की, तब उनकी देशना क्या है ?

ग्राचार्य कहते हैं कि चित्त का कोई ग्रालम्बन (विषय) नहीं है। चित्त का कोई विषय होता, तो किसी निमित्त का ग्रारोपण करके वाणी की प्रवृत्ति होती। जब चित्त का विषय ही अनुपपन्न है, तब निमित्त का ग्रध्यारोप ग्रीर वाणी की प्रवृत्ति का प्रक्षन ही कहाँ उठता है। पदार्थ का स्वभाव निर्वाण के समान ग्रनुत्पन्न ग्रीर ग्रनिक्द है ग्रत चित्त की प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए, भगवान् बुद्ध ने कोई देशना नहीं दी। तथागतगुद्धासूत्र में उक्त हैं कि हें ग्रान्तमिति। जिस रात्ति में तथागत ने मर्वश्रेष्ठ सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त की ग्रीर जिम रात्ति में परिनिर्वाण हुग्रा, इनके मध्य तथागत ने एक ग्रक्षर भी उदाद्धार-व्याहार नहीं किया। किन्तु, प्रथन है कि भगवान् ने सकल मुरासुर, नर, किन्नर, विद्याधरादि विनेय जन को विविध प्रकार की धर्म-देशनाएँ कैंसे दी? भगवान् ने एक क्षण के लिए वाणी का उदाहार किया था, जो विविध जन के मनस्तम का हरण करनेवाली ग्रीर विविध प्रकार का बुद्धिवालों को विबुद्ध करनेवाली थी। वस्तुत, जैमें यन्तीकृत तूरी वायु के झोको से वजती है, उसका कोई वादक नहीं होता, किन्तु शब्द निकलते हैं, उसी प्रकार सत्त्वों की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की विकलहीन वाणी नि सृत होती है। जैसे प्रतिध्विन के शब्द वाह्य ग्रीर ग्रन्त स्थित नहीं है, उसी प्रकार वृद्ध की वाणी वाह्य ग्रीर ग्रन्त. स्थित नहीं है।

## माध्यमिक नास्तिक नहीं है

एक वादी माध्यमिक को नास्तिक कहता है, क्योंकि माध्यमिक कुशल-ग्रकुणल कर्म, कर्ता ग्रीर फल सबको स्वभाव-शून्य कहता है । नास्तिक भी इन सबको ग्रस्वीकार करते हैं, इसलिए माध्यमिक नास्तिको में भिन्न नहीं हैं।

षुद्धे रात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम् ।

२ श्रात्मेति कारथप ! प्रयमेकोऽन्त । नैरात्म्यमित्ययं द्वितीयोऽन्त । यदेतयोरन्तयोर्मध्यं तदरूष्यमित्दर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमिवग्रिसिकमिनकेतिमियगुच्यते कारथप ! मध्यमा प्रतिपद वर्माणां भृत प्रत्यवेक्षेति । ( म० का०, पृ० ३५८ )

श्राचार्यं चन्द्रकीर्त्तं कहते हैं कि माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पादवादी हैं। वह हेतु-प्रत्यय की श्रपेक्षा करके जगत् का उत्पाद मानते हैं। इसलिए, वह इहलोक-परलोक समस्त को नि स्वमाव कहते हैं। केवल वस्तु के रूप की श्रविद्यमानता मानने के कारण माध्यमिक उसके नास्तित्व में प्रतिपन्न हैं, इतने से नास्तिकों से इनकी समानता नहीं हैं, क्योंकि माध्यमिक जगत् की सावृतिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। यद्यपि वस्तु की श्रस्वीकृति दोनों में तुल्य हैं, तथापि प्रतिपत्ता का मेंद हैं। जैसे किसी चोर ने चोरी की। उस चोर के किसी श्रवु ने किसी को प्रेरित किया कि इसने चौर्यं किया है। प्रेरित पुरुष सत्य नहीं जानता, किन्तु चोर को कहता है कि इसने चोरी की हैं। एक श्रतिरिक्त व्यक्ति हैं, जिसने चोर को चोरी करते देखा था, वह भी कहता है कि इसने चोरी की हैं। इन दोनों में चोर के चौर्यं को लेकर कहने में कोई भेद नहीं हैं, किन्तु परिज्ञातृत्व (जानकारी) के भेद से भेद हैं। उनमें पहला मृषावादी हैं, दूसरा सत्यवादी है। सम्यक् परीक्षा करने पर पहला श्रयश श्रौर श्रपुण्य का भागी होगा, दूसरा नहीं। इसी प्रकार यहाँ भी माध्यमिक तो वस्तु के स्वरूप से यथावत् विदित्त हैं, श्रौर उसी के श्रनुसार वह कहता भी हैं, दूसरें नहीं। ऐसी श्रवस्था में वस्तु के वाह्यस्वरूप के श्रभेदमात से श्रविदित वस्तुवादी नास्तिकों के साथ विदित वस्तुवादी माध्यमिक की ज्ञान तथा श्रभिधान में समानता कैसे हो सकती है। तस्तामृतावतार देशना

पहले कहा है कि धर्म अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है। इसलिए, उसकी देशना में वाक् और चित्त की प्रवृत्ति नहीं होगी, किन्तु देशना के अभाव में इस तत्त्व का ज्ञान लोगों को नहीं होगा। इस विनेय को उस तत्त्व में अवतरित करने के लिए सवृतिसत्य की अपेक्षा से ही देशना की आनुपूर्वी (कम) होनी चाहिए। भगवान् की इस देशना को 'तत्त्वामृतावतार देशना'

कहते हैं, जिसकी एक सावृत श्रानुपूर्वी भी होती है। किन्तु, यह सब कुछ विनेयो के स्वप्रसिद्ध श्रयं का श्रनुरोध करके ही है। सूत्र में कहा है—जैसे म्लेच्छ को श्रन्य भाषा का ज्ञान नहीं

कराया जा सकता, वैसे ही लोक को भी लौकिक भाषा के विना ज्ञान नही कराया जा सकता।

भगवान् ने 'सव तथ्यम्' का उपदेश दिया। यह उपदेश उन विनेय जनो की दृष्टि से है, जिन्होने स्कन्ध-धातु-ग्रायतन श्रादि की सत्य कल्पना की है, ग्रीर उसके ग्रनुसार उपलब्धि करते हैं। इससे विनेय का यह निश्चय दृढ होता है कि भगवान् सर्वज्ञ एव मर्वदर्शी है, क्योंकि उन्होने भवाग्र (भवचक का श्रन्त) पर्यन्त के भाजनलोक ग्रीर मत्त्वलोक की स्थित, उत्पाद, प्रलयादि का ठीक-ठीक उपदेश किया है।

भगवान् के प्रति विनेय जन की सर्वज्ञ-बुद्धि जब निश्चित हो गई, तब ऐसे विनेय की दृष्टि से भगवान् ने 'न तथ्य' का उपदेश किया। पूर्वोक्त सर्व तथ्य नहीं है, क्यों कि नथ्य वह है, जिसका अन्यथाभाव नहीं होता। किन्तु, सस्कारों का अन्यथाभाव है, क्यों कि वे प्रनिक्षण विनाशीं है। इस प्रकार, भावों का अन्यथाभाव है, वे तथ्य नहीं है।

पुनः भगवान् ने 'तथ्यम् अतथ्यम्' दोनो का उपदेश दिया है। बालजन की अपेका ने 'सर्व तथ्यम्' और आर्यज्ञान की अपेका से 'सर्वम् अतथ्यम्' उपदेश है, क्योंकि आर्यज्ञ की अपेका से 'सर्वम् अतथ्यम्' उपदेश है, क्योंकि आर्यज्ञ की अपेका से उनकी उपलब्धि नहीं होती।

जो तत्त्वदर्शन का चिरकाल से श्रभ्यास कर रहे हैं, श्रीर जिनका श्रावरण थोडे में ही छिन्न होनेवाला है, उन विनेयो की दृष्टि से भगवान् ने 'नैव श्रतथ्य नैव तथ्यम्' का उपदेश दिया। भगवान् का यह प्रतिपेध-वचन 'वन्ध्यासुत न गीर है, न कृष्ण हैं' इस प्रतिपेध-वचन के समान है।

वृद्ध का इस प्रकार का ग्रनुशासन इसलिए यथार्थ ग्रनुशासन है कि वह उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग मे प्रतिष्ठित करता है। उनका यह विनेय जन के ग्रनुरूप शासन है। भगवान् की यह देशना तत्त्वामृत के ग्रवतारण का उपाय है। भगवान् ऐसा एक वाक्य भी नहीं कहते, जो तत्त्वामृत के ग्रवतार का उपाय न हो। ग्रायंदेव ने चतु शतक में कहा है कि भगवान् ने मत्, ग्रसत्, सदसत्, न सत्, न ग्रसत् का जो उपदेश किया है, वह समस्त विविध व्याधियों की ग्रनुरूप ग्रीपिध है।

#### तत्व का लक्षण

यद्यपि माध्यमिक सिद्धान्त में तत्त्व का परमार्थ लक्षण नहीं हो सकता, तथापि व्यवहार-सत्य के अनुरोध से जैसे वह अनेक लौकिक तथ्यों का अभ्युपगम करता है, वैसे ही तत्त्व का भी आरोपित लक्षण करता है। पहले कृतकार्य आर्य की दृष्टि से तत्त्व का लक्षण करेंगे, पश्चात् लौकिक कार्य-कारण-भाव की दृष्टि से।

श्रपरप्रत्ययम्—तत्त्व परोपदेश से गम्य नही है, प्रत्युत स्वय श्रिधगन्तव्य (स्वसवेद्य) है, जैसे तिमिर रोग से श्राकान्त व्यक्ति ग्रसत्य केश-मशक-मिक्षकादि रूपो को देखता है। उस रोग से ग्रनाकान्त व्यक्ति उस रोगी को केश का यथावस्थित रूप दिखाना चाहे, तो व्यर्थ होगा। हाँ, उसके उपदेश से रोगी को केवल ग्रपने ज्ञान का मिथ्यात्व-मात्र ज्ञात होगा। तिमिर-नाश के ग्रनन्तर उसे वस्तु का साक्षात्कार होगा। इसी प्रकार, जब परामार्थभूत शून्यता-दर्शन के ग्रजन से वृद्धिरूपी नयन ग्रजित होगा, तब तत्त्वज्ञान उत्पन्न होगा, ग्रौर तत्त्व स्वय ग्रिधगत होगा।

**ज्ञान्तम्**—तत्त्व शान्तस्वभाव है, क्योकि स्वभाव-रहित है।

प्रपञ्चेरप्रपञ्चितम्—प्रपञ्च वाणी है, क्योंकि वाणी द्वारा ग्रर्थ प्रपञ्चित होता है। तत्त्व प्रपच मे ग्रप्रपचित है, ग्रर्थात् वाणी का विषय नहीं है।

निर्विकल्पम्-विकल्प चित्त का प्रचार है। तत्त्व उससे रहित है।

श्रनानार्थम्—तत्त्व में भिन्नार्थता नही है। वह श्रभिन्नार्थ तत्त्वशून्यता से एकरस है, इसिलए श्रनानार्थता उसका लक्षण है।

तत्त्व का लोकिक लक्षण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का व्यावर्त्तन कर सिद्धान्त-सम्मत कार्यकारणभाव के द्वारा तत्त्व का श्रधिगम कराता है।

जिस कारण की अपेक्षा करके जो कार्य उत्पन्न होता है, वह अपने कारण से अभिन्न नहीं है। वीज और अकुर एक नहीं हैं। अन्यया, अकुरावस्था में अकुर के समान वीज भी गृहीत होना चाहिए। गृहीत होने पर बीज नित्य होगा, क्योंकि वह ग्रविनष्ट होगा। ऐसी ग्रवस्था में शाश्वतवाद की प्रसिवत होगी, जिससे कर्मफल का ग्रभाव सिद्ध होगा। कर्मफल के ग्रभाव से समस्त दोष-राशि ग्रापन्न होगी। इसिलए जो वीच है, वही ग्रकुर है, यह युवत नहीं है। किन्तु, इससे बीज से ग्रकुर की भिन्नता भी सिद्ध नहीं होती, ग्रन्यया बीज के विना भी ग्रकुर का उदय मानना पडेगा। ऐसी दशा में ग्रकुर के ग्रवस्थान-काल में बीज ग्रनुच्छिन्न ही रहेगा। इससे सत्कार्यवाद के समस्त दोप ग्रापितत होगे।

इस प्रकार, कार्य कारण-रूप नहीं है, श्रौर उससे भिन्न भी नहीं है। इसलिए, कारण न उच्छिन्न है श्रौर न शास्त्रत। १

#### काल का निषेध

कालवादी काल-त्रय की विज्ञप्ति मानता है। उत्पन्न होकर निरुद्ध होनेवाले भाव अतीत है. उत्पन्न होकर निरुद्ध न होनेवाला वर्त्तमान तथा जिसका स्वरूप लब्ध नहीं हुन्रा, वह ग्रनागत है।

माध्यमिक कालत्रय-वाद का खण्डन करता है, क्योंकि प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रनागत की सिद्धि यदि ग्रतीत की ग्रपेक्षा से है, तो वे दोनो अवश्य ही ग्रतीत होगे। जिसकी जहाँ ग्रमना होती है, वह उसकी ग्रपेक्षा नहीं करता। जैसे: तैल को सिकता की, पुत्र को वन्ध्या की ग्रपेक्षा नहीं है। ग्रत, वर्त्तमान ग्रौर ग्रनागत को यदि ग्रतीत की ग्रपेक्षा है, तो वे ग्रतीत काल में ग्रनीत के समान ही विद्यमान होगे, ग्रौर उनमें वस्तुतः ग्रतीतता होगी। प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रनागत यदि ग्रतीत में नहीं है, तो उनकी ग्रपेक्षा करके उनकी स्थित नहीं होगी। ग्रतीत से ग्रनपेक्ष प्रत्युत्पन्न ग्रीत में नहीं है, तो उनकी ग्रपेक्षा करके उनकी स्थित नहीं होगी। ग्रतीत की ग्रपेक्षा करें या न करे, की ग्रसत्ता स्पष्ट सिद्ध है। जिस प्रकार प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रनागत प्रत्युत्पन्न की ग्रपेक्षा करें या न करें, उनकी सत्ता मिद्ध नहीं होती, वैसे ही ग्रतीत ग्रौर ग्रनागत प्रत्युत्पन्न की ग्रपेक्षा करें या न करें, उनकी सत्ता मिद्ध नहीं होगी, तथा प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रतीत ग्रनागत की ग्रपेक्षा करें या न करें, उनकी सत्ता मिद्ध नहीं होगी, तथा प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रतीत ग्रनागत की ग्रपेक्षा करें या न करें, उनकी सत्ता मिद्ध नहीं होगी, तथा प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रतीत ग्रनागत की ग्रपेक्षा करें या न करें, उनकी सत्ता मिद्ध नहीं होगी, तथा प्रत्युत्पन्न ग्रौर ग्रतीत ग्रनागत की ग्रपेक्षा करें या न करें, उनकी सत्ता मिद्ध नहीं होगी। इस प्रकार, माध्यमिक कालत्रय का खण्डन करके भावों की सत्ता का खण्डन करते हैं।

कालवादी क्षण, लव, मुहत्तं, दिवस, रात्रि, अहोरात्र आदि से काल का परिमाण मानता है। किन्तु, माध्यमिक जब काल का ही खण्डन करता है, तब उसकी परिमाणवत्ता ना प्रश्न कहाँ है ने माध्यमिक कहता है कि क्षणादि से अतिरिक्त कूटस्य काल सिद्ध हो, तो वह क्षणादि से महीत हो, किन्तु ऐसा नहीं होता। यदि वादी कहें कि यद्यपि नित्य काल नहीं है, किन्तु रूपादि गृहीत हो, किन्तु ऐसा नहीं होता। यदि वादी कहें कि यद्यपि नित्य काल नहीं है, किन्तु रूपादि गृहीत हो, किन्तु ऐसा नहीं होता। यदि वादी कहें कि यद्यपि नित्य काल नहीं है, किन्तु रूपादि से अतिरिक्त और रूपादि संस्कारों से प्रज्ञप्त होनेवाला काल है, जो क्षण आदि में अभिहित से अतिरिक्त और रूपादि संस्कारों से काल नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि किमी भी प्रकार भावों की होता है। किन्तु, भावों की अपेक्षा से काल नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि किमी भी प्रकार भावों की सिद्ध नहीं होती। इसका उपपादन पहले किया गया है।

१ प्रतीत्य यद्यद् भवति निंह तावत्तदेव तत् । न चान्यदपि नत्तस्मारोन्दिन्नं नापि गारवाम् ॥ (१=१०)

## हेतु-सामग्रीवाद का निषेध

श्राचार्य 'हेतु-प्रत्यय-सामग्री से कार्य उत्पन्न होता है', इस वाद का भी खण्डन करते हैं। श्राचार्य कहते हैं कि बीजादि हेतु-प्रत्यय-सामग्री ( बीज, अविन, सिलल, ज्वलन पवन, गगन, ऋतु ग्रादि) से यदि फल (कार्य) उत्पन्न होता है, तो यह बताना होगा, कि उस सामग्री से व्यवस्थित फल का उत्पाद होता है या ग्रव्यवस्थित?

प्रथम पक्ष मानने पर फल का उत्पाद नहीं होगा, क्यों कि जब हेतु-प्रत्यय-सामग्री में फल ग्रवस्थित है ही, तब उससे फल उत्पन्न कैसे होगा। इसलिए यदि कहें कि हेतु-सामग्री में फल व्यवस्थित नहीं है, तो यह बताना होगा कि ऐसी अवस्था में मामग्री से फल कैसे उत्पन्न होता है। हेतु-सामग्री में यदि फल है, तो वह गृहीत होना चाहिए, किन्तु गृहीत नहीं होता। ग्रत, सामग्री से फल उत्पन्न नहीं होता। हेतु-प्रत्यय-सामग्री में यदि फल नहीं है, तो वे हेतु-प्रत्यय नहीं है, क्यों कि ज्वाला-ग्रंगार में अकुर नहीं है, ग्रत वह अकुर का हेतु-प्रत्यय नहीं होता।

एक ग्रन्य वाद है कि हेतु-मामग्री में फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है, हेतु में है। सामग्री फलोत्पादन में हेतु का श्रनुग्रह-मात्र करती है। फल की उत्पत्ति में हेतु श्रपना हेतुत्व विसर्ग करके निरुद्ध हो जाता है (हेतु फलस्योत्पत्त्यर्थ हेतु दत्वा निरुध्यते)। फल की उत्पत्ति में हेतु का यही श्रनुग्रह है।

ग्राचार्य कहते हैं कि यदि फलोत्पत्ति के लिए हेतु ग्रपना हेतुत्व देता है, ग्रौर निरुद्ध होता है, तो उनके द्वारा जो दिया जाता है, ग्रौर जो निरुद्ध होता है, वे दो होगे। इन प्रकार, हेतु की दो ग्रात्माएँ (स्वरूप) होगी। यह युक्त नहीं है। इससे ग्रर्द्ध-शाश्वतवाद (हेतु का एक रूप कार्यान्वयी होने के कारण शाश्वत होगा, दूसरा निरुद्ध होने के कारण विनाशी होगा) सिद्ध होगा। एव च, परस्पर विरुद्ध दो स्वरूपो का एक हेतु मे योग भी कैसे होगा? इस विरुद्ध-द्वय की ग्रापत्ति से वचने के लिए यदि यह कल्पना करें कि हेतु फल को कुछ भी ग्रपनी नार-सत्ता न देकर सर्वात्मना निरुद्ध हो जाता है, तव कार्य को ग्रवश्य ही ग्रहेतुक मानना पडेगा। इन दोप से वचने के लिए कल्पना करें कि कार्य के साथ ही कारग-सामग्री उत्पन्न होती है, ग्रौर वह फल की उत्पादक होती है, तो एक काल में ही कार्य ग्रौर कारण की सत्ता माननी पडेगी।

एक अन्य वाद है। उसके अनुसार कार्य हेतु-प्रत्यय-सामग्री के पहले अनागत स्वरूप में अनागतावस्था में विद्यमान है। हेतु-सामग्री के द्वारा केवल उसकी वर्त्तमानावस्था उपपन्न की जाती है, वस्तुत द्रव्य यथावस्थित ही रहता है।

ग्राचार्यं का उत्तर है कि यदि कार्य हेतु-मामग्री से पूर्व स्वरूपतः विद्यमान है, तो वह हेतु-प्रत्यय में निरपेक्ष होगा ग्रीर ग्रहेतुक होगा। किन्तु, ग्रहेतुक पदार्थी का ग्रस्तित्व युक्त नहीं है।

एक सिद्धान्ती केवल हेतुवादी है । उनके मत मे हेतु ही निरुद्ध होकर कायं-रूप में व्यवस्थित हो जाता है। श्राचार्य कहते हैं कि फल यदि हेतु-रूप होगा, तो हेतु का सम्मण मानना पडेगा, जैसे नट एक वेष का त्याग कर वेषान्तर का ग्रहण करता है। इस प्रकार, हेतू के सक्रमण-मान्न से अपूर्व फल का उत्पाद भी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त हेत्-सक्रमण मानने से हेतु की नित्यता सिद्ध होगी, फलत उसका ग्रस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, वयोकि नित्य वस्तुत्रो का अस्तित्व नही होता।

म्राचार्यं कहते है कि वास्तविकता तो यह है कि जिस प्रकार निरुद्ध या मनिरुद्ध काई हेतु फल को उत्पन्न नही कर सकता, उसी प्रकार उत्पन्न या ग्रनुत्पन्न फल का उत्पाद नही वताया जा सकता । हेतु में किसी प्रकार का विकार न ग्राये ग्रीर वह फल से मम्बद्ध हो जाय, यहं असम्भव है, क्योंकि जो विकृत नहीं होता, वह हेतु नहीं होता। अय च, फल से वह सम्बद्ध भी कैसे होगा, क्योंकि वादियों के अनुसार हेतु में फल विद्यमान है। हेतु फल से असम्बद्ध होकर भी फल को उत्पन्न नहीं करता, क्यों कि ग्रसम्बद्ध हेतु किस फल को उत्पन्न करेगा? यदि करे, तो समस्त फलो को उत्पन्न करेगा या किसी को नहीं करेगा।

भ्राचार्य कहते हैं कि हेतु-फल की परस्पर मगति ( योग ) भी नहीं होगी। ग्रतीत फल का अतीत हेतु के साथ सगित नहीं होगी, क्योंकि दोनों अविद्यमान है। अनागत हेतु से अतीत फल की सगित नही होगी, क्योंकि एक नष्ट श्रीर दूसरा अजात है। इस प्रकार, दोनो म्रविद्यमान है, भ्रौर भिन्नकालिक है। जैसे वर्त्तमान हेतु से म्रतीत फल की तथा म्रतीत फल की अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान हेतु आर् के माथ सगित श्रसम्भव है, उसी प्रकार वर्त्तमान फल की वैकालिक हेतुओं से सगित भी श्रसम्भव है। पूर्वोक्त रीति से श्रनागत फल भी श्रतीत, भ्रनागत तथा प्रत्युत्पन्न हेतु भ्रो से सगत नहीं होगा। भ्राचार्य कहते हैं कि हेतु-फल की सगति नहीं है, इसलिए हेतु फल को उत्पन्न नहीं कर सकता, अरीर मगति कालवय में मम्भव नहीं है, अत हेतु से फलोत्पाद का सिद्धान्त सर्वथा असगत है।

इस प्रकार, हेतु से फल की एकता माने, अथवा अनेकता, हेतु मे फल का सद्भाव माने या ग्रसद्भाव, किसी प्रकार हेतु से फल की उत्पत्ति नही होगी।

## उत्पाद-विनाश का निषेध

पहले कालत्रय का खण्डन किया गया है, किन्तु कालत्रय का ममूल निषेध तबतव नहीं होगा, जबतक बस्तुग्रो की सम्भव-विभव प्रतीति ग्रतान्विक मिद्र न की जाय। मत, प्राचार्य उसका खण्डन करते है।

सम्भव-विभव एक दूसरे के माथ-साथ होते हैं, या दूसरे में विरहिन ? सम्भव (उत्पाद) के विना विभव (विनाश) नहीं हो मकता। यदि विना नम्भव के विभव हो, तो जन्म के विना मरण भी हो । सम्भव के साथ भी विभव नही होगा, ग्रन्यथा जन्म-मरण एक काल में हों। विभव के विना सम्भव नहीं होता, ग्रन्यथा कोई पदार्थ कभी ग्रनित्य न हो। विभव के माप मम्भव नहीं होगा, अन्यथा मरण-जन्म एक काल में होगा । नहमाव और श्नारभाव में भिन्न कोई तीसरा प्रकार नहीं है, जिसमें नम्भव-विभव की मिद्धि हो।

पुन सम्भव-विभव क्षयधर्मी भावो का होता है या श्रक्षय-धर्मी? दोनो ही प्रकार श्रमिद्ध है।

क्षयशील पदार्थों का सम्भव नहीं होगा, क्योंकि क्षय का विरोधी सम्भव है। श्रक्षय पदार्थों का भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि ग्रक्षय धर्म भाव से विलक्षण है, उनका सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार क्षय या ग्रक्षय पदार्थ का विभव भी नहीं हो सकता।

सम्भव-विभव केवल इसिलए नहीं हैं कि उनके श्राश्रयभूत पदार्थ प्रतीत होते हैं। वस्तुत, भाव कहाँ हैं विना भाव के सम्भव-विभव नहीं होगे, श्रीर विना सम्भव-विभव के भाव नहीं होगे।

वादी कहता है कि ग्रापकी सूक्ष्मेक्षिका व्यर्थ है, क्यों कि ग्रावाल-गोपाल पदार्थों के सम्भव-विभव में प्रतिपन्न है। ग्राचार्य कहते हैं कि लोक जिस-जिसकी उपलब्धि करता है, उन सबका ग्रस्तित्व नहीं सिद्ध हो जाता, ग्रन्यथा स्वप्नादि-दृष्टि भी सत्य होती। सम्भव-विभव का कोई स्वरूप नहीं है, किन्तु लोक उसमें मोह से प्रतिपन्न है।

यदि कोई भाव हो, तो वताना होगा कि वह भाव से उत्पन्न है या ग्रातव से ? दोनों पक्षों में भाव की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी । पहले भावों की स्वत -परत ग्रादि की उत्पत्ति का निपेध किया जा चुका है।

श्राचार्य भाववादी मर्वास्तिवादियो पर एक गम्भीर श्रारोप लगाते हैं। कहते हैं कि जो सुगतानुगामी भावो का सद्भाव मानते हैं, वे उच्छेदवाद या शाश्वतवाद में श्रापितत होते हैं, क्योंकि भाववादी का भाव नित्य होगा या श्रनित्य है नित्य होगा, तो शाश्वतवाद निश्चित है, श्रानित्य होगा, तो उच्छेदवाद।

सर्वास्तिवादी इन ग्रारोपो से बचने के लिए कहता है कि हम हेतु-फल के उत्पाद-विनाश के प्रवाह को ससार कहते हैं। यदि हेतु निरुद्ध ृहो, किन्तु उससे फल न उत्पन्न हो, तो उच्छेदवाद होगा। हेतु निरुद्ध न हो, प्रत्युत स्वरूपेण ग्रवस्थित हो, तो शाश्वतवाद होगा। किन्तु, हमारे मत में उत्पाद-विनाश का वह प्रवाह सम्मत है, जिसमें हेतु-फल ग्रविच्छिन्न कम से हैं। ग्रत, हम पर ये दोप नहीं लगते।

श्राचार्य कहते हैं कि वादियों पर ये दोष स्पष्ट ही लगते हैं, क्योंकि वादी के मत में फल की उत्पत्ति हेतु-क्षण हेतु होकर निरुद्ध हो जाता है। किन्तु, उसका पुन उत्पाद नहीं होता, यह उच्छेदवाद है। श्रीर, हेतु का स्वभावतः सद्भाव है, तो उसका श्रसद्भाव न होगा। श्रत, शाश्वतवाद होगा।

न भावाज्नायते भावो भावोऽभावात्र जायते ।
 नाभावाज्जायतेऽभावोऽभावो भावात्र जायते ॥

श्राचार्य इस सम्बन्ध में श्रीर भी गम्भीर विचार करते हैं। कहते हैं कि वादी यदि हेतु-फल के उत्पाद-विनाश-सन्तान को स्वीकार कर शाश्वतवाद श्रीर उच्छेदवाद के दोषों से श्रपने को किसी प्रकर बचा ले, फिर भी वहाँ इस सन्तान की प्रवृत्ति सदा के लिए समाप्त हो जाती है। उस निर्वाण में उच्छेद-दर्शन निश्चित है।

वादी ने हेतु-फल के उत्पाद-विनाश के सन्तान को भव कहा है। चरम भव निवृत्ति-रूप है, और प्रथम प्रतिसन्धि-(मृत्यु और उत्पत्ति के बीच का क्षण) रूप है। चरम भव निरुद्ध होकर हेतु-रूपेण अवस्थित होता है, प्रथम भव उपपत्ति-रूप होने से फल-रूप मे व्यवस्थित होता है। इन्हीं दो के बीच ससार है।

आचार्य कहते हैं कि यदि चरम भव के निरुद्ध हो जाने पर प्रथम भव होता है, तो वह निर्हें तुक होगा। यदि चरम भव निरुद्ध न हो और प्रथम भव हो, तो भी वह निर्हें तुक होगा, और एक सत्त्व दोनों में रहकर द्विरूप होगा। चरम भव के निरुद्ध होते समय भी प्रथम भव उत्पन्न नहीं होगा, क्यों कि 'निरुद्ध हमते हैं, यह कहने से एक काल में दो भव होगे। इस प्रकार, तीनों काल में भव की मिद्धि नहीं होगी।

पूर्वोक्त विवेचन से भाववादियों का शाश्वतवाद या उच्छेदवाद में ग्रापन्न होना निश्चित है।

#### तथागत के श्रस्तित्व का निषेध

ग्रब एक बहें ही गम्भीर एव रोचक विषय पर श्राचार्य का मत दिया जा रहा है। बहुत पुराने काल से बौद्धों में यह विवाद था कि तथागत हैं या नहीं है रूपान्तर में यह प्रश्न भगवान् बुद्ध (तथागत) के समक्ष भी रखा गया था। उन्होंने इस प्रश्न को ग्रव्याकरणीय कहकर मौन श्रवलम्बन कर लिया। उनकी श्रव्याकरणीयता का यह उत्तर बुद्ध के बाद रहरू वन गया, श्रीर उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में श्रनेक बाद खड़े हो गये। महायानियों में विशेषत. माध्यमिक उनके व्यक्तित्व की सत्ता को सर्वथा श्रस्वीकृत करता है।

किन्तु वादी कहता है कि तथागत हैं, श्रीर इसलिए भव-सन्ति भी है। उन्होंने महाकरुणा श्रीर प्रज्ञा धारण कर बैधातुक के सकल सत्त्वों के दुरा-न्युपणम के निण्चय में असख्य कल्पों में उद्भूत होकर श्रपने को क्षिति, सिलल, श्रीषिध श्रीर वृक्ष के समान सत्त्वों का उपभोग्य बनाया, श्रीर सर्वज्ञता का लाभ कर पदार्थों का श्रेशप सत्त्व परिज्ञात किया। जैसा धर्म है, तथैंव (तथा) श्रवगत (गत) करने के कारण वह 'तथागत' है। ऐने तथागनत्त्व की पाणि किसी एक जन्म में सम्भव नहीं है। उसके लिए भव-सन्तित श्रावण्यक है।

श्राचार्य कहते हैं कि तथागत नाम का कोई भाव स्वभावत उपलब्ध नहीं होना। तथागत नाम से कोई श्रमल एवं निष्प्रपंच पदार्थ होगा, तो वह पच-स्कन्ध-स्वमाव (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञानरूप) होगा या उसमें भिन्न होगा। तथागत स्कन्धरूप नहीं है, श्रत्यथा कर्त्ता कर्म एक होगा। एक मानने पर तथागन का उत्पाद-विनाश भी मानना तेना। तथागत स्कन्ध से श्रन्य भी नहीं है, श्रन्यथा वह स्कन्ध के विना भी होग। इनित्रए, तथागन

में स्कन्ध नहीं है, ग्रीर स्कन्धों में तथागत नहीं है। तथागत स्कन्धवान् भी नहीं है; क्योंकि वह स्कन्ध से भिन्न नहीं है। 1

एक ग्रन्य मत है कि ग्रनास्रव-स्कन्धो (शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्तिज्ञान दर्शन) से तथागत उपात्त है। वह भ्रवाच्य है, ग्रत उन्हें स्कन्धरूप या स्कन्ध से व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकता।

ग्राचार्य कहते हैं कि यदि बुद्ध ग्रमल स्कन्धों का उत्पादन करके प्रज्ञप्त होते हैं, ग्रीर ग्रवाच्य है, तो स्पष्ट है कि स्वभावत नहीं है, केवल प्रतिविम्ब के समान प्रज्ञप्त होते हैं। जो स्वभावत नहीं, वह परभावत भी नहीं होता, इसे ग्रनेकधा स्पष्ट किया गया है।

यदि वादी कहें कि प्रतिविम्ब स्वभावतः नहीं होता, किन्तु मुख ग्राँर ग्रादर्ण की ग्रपेक्षा करके होता है। इसी प्रकार, तथागत भी स्वमावत अविद्यमान है, किन्तु ग्रनास्रव पचस्कन्धों का उत्पादन कर परभावत होगे।

इसके उत्तर में ग्राचार्यं कहते हैं कि ऐसी स्थित में प्रतिविम्व के समान तथागत भी ग्रनात्मा होगे। किन्तु, जो प्रतिविम्व के तुल्य ग्रनात्मा ग्रीर नि स्वभाव होगा, वह ग्रविपरीत मार्गगामी भावरूप तथागत कैसे होगा? स्वभाव-परभाव के ग्रतिरिक्त तथागत की तृतीय कोटि क्या होगी? यदि तथागत स्कन्धों से ग्रन्य या ग्रनन्य नहीं हैं ग्रीर केवल स्कन्धों के उपादान से प्रज्ञापित होते हैं, तो स्कन्धों को ग्रहण करने से पूर्व तथागत को होना चाहिए, जिससे पद्मात् स्कन्धों का उपादान करें। किन्तु, स्कन्धों का उपादान न करके तथागत की सिद्धि नहीं होगी। तथागत स्कन्धों से ग्रभिन्न, भिन्न तथा भिन्न-ग्रभिन्न नहीं है। ग्राधार या ग्राधेय भी नहीं हैं, ग्रत वह ग्रविद्यमान है।

वादी माध्यमिक के इम मिद्धान्त से उत्त्रस्त है। वे कहते हैं, कि हम लोग कणाद, जैमिनि, गौतम, दिगम्बर ग्रादि के उपदेशों की स्पृहा को छोडकर सकल जगत् के एकमात्र शरण्य, श्रज्ञानान्धकार के एकमात्र निवारक तथागत की शरण में ग्राये, किन्तु ग्रापने उनकी सत्ता का निपेध करके हमारी सारी श्राशा समाप्त कर दी।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि वस्तुत ग्राप जैसो की तरफ से हमलोगो की ग्राणा मारी गई। ग्राप मोक्ष के लिए समस्त वादियों के मत को छोडकर परम शास्ता तथागत की शरण में प्रतिपन्न हुए थे, किन्तु उनके नैरात्म्यवाद के सिंहनाद को सह नहीं सके। पुन. विविध कुदृष्टि-व्यालों से ग्राकुलित मार्ग के ग्रनुगमन के लिए तत्पर हो गये। क्या ग्रापको ग्रवतक नहीं मालूम हुग्रा कि तथागत ग्रपना या स्कन्धों का ग्रास्तित्व कभी ज्ञापित नहीं करतें। हमलोग तथागत का ग्रभाव केवल इम ग्राधार पर नहीं कहते कि वह निष्प्रपच है, विल्क इस ग्राधार

९ स्कन्धो न नान्य स्कन्धेम्यो नास्मिन् स्कन्धा न तेषु स । तथागत स्कन्धवान्न कतमोऽत्र तथागत ॥ (२२।१)

पर कि वह वस्तुत नि स्वभाव है। उनकी नि स्वभावता की व्याख्या करके हम ग्रविपरीत ग्रयं को प्रकट करते है। ग्राचार्य नागार्जु न के ग्रनुसार तथागत के व्यक्तित्व का यह रहस्य है कि उसे शून्य नहीं कहा जा सकता ग्रीर ग्रशून्य भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, उभय ( शून्य-ग्रशून्य ), ग्रनुभय ( न शून्य, न ग्रशून्य ) भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु, व्यवहार-सत्य की दृष्टि से शून्यता ग्रादि का ग्रारोपण कर प्रज्ञापित किया जाता है। ग्राचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार तथागत में उपयुंक्त शून्यता ग्रादि का चतुष्टय ग्रप्रसिद्ध है, वेम ही शाश्वत ग्रादि का चतुष्टय ( लोक शाश्वत है या ग्रशाश्वत, उभय है या ग्रनुभय ) तथा लोक की ग्रन्तता-ग्रनन्तता ग्रादि ( लोक ग्रन्तवान् है या ग्रनन्त, उभय है या ग्रनुभय तथागत मरण के बाद उत्पन्न होते हैं या नहीं, उनका उभय है, या ग्रनुभय ) ग्रादि के प्रश्न मर्वथा ग्रप्रसिद्ध हैं।

श्राचार्य कहते हैं कि तथागत प्रकृतित शान्त नि स्वभाव, एव प्रपचातीत हैं, किन्तु लांग श्रपने वृद्धिमान्य के कारण उनके सम्बन्ध में शाश्वत-ग्रशाश्वत, नित्य-ग्रनित्य, ग्रस्तिता-नास्तिता, शून्यता-ग्रशून्यता, सर्वज्ञता-ग्रसर्वज्ञता ग्रादि की कल्पनाएँ करते हैं। किन्तु, वे यह नहीं समझते कि ये सभी प्रपच वस्त्मूलक होते हैं, किन्तु तथागत ग्रवस्तु हैं। ग्रतः, प्रपचातीत एव ग्रव्यय हैं। ऐसे भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में जो लोग ग्रपनी उत्प्रेक्षा से मिथ्या कल्पनाएं रच लेते हैं, वे ग्रपने ही प्रपचों के कारण तथागत-ज्ञान से विचत होते ह, ग्रीर ग्रपना नाश कर लेते हैं।

## तथागत एव भाजन-लोक की नि स्वभावता

जैसे सत्त्व-लोक नि स्वभाव है, वैसे भाजन-लोक (जगत्) भी नि रवभाव हे, वयाकि जिस स्वभाव का तथागत होता है, उसी स्वभाव का यह जगत् भी होता है। यत , तथागत नि स्वभाव है, ग्रत जगत् भी नि स्वभाव है। ।

ग्राचार्य चन्द्रकीर्त्तां तथागत ग्रीर लोक दोनो की नि स्वभावता को मूत्रो से भी प्रमाणित करते है--

तथागतो हि प्रतिविम्बभूत कुशलस्य धर्मस्य ग्रनास्रवस्य । नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति विम्ब च सवृत्यित सर्वलोके ।।

( म॰ का॰, पृ० ४४६ )

शन्यमिति न वक्तव्यमरान्यमिति वा भवेत् ।
 उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्तयर्घ तु कथ्यते ।। (२२।१९)

२ प्रपञ्चयन्ति ये बुद्धं प्रपञ्चानीतमन्ययम्। ते प्रपञ्चहता सर्वे न पश्यन्ति तथागतम्॥ , २२।९४ )

३ तथागतो यत्स्वभावस्तत् स्वभाविमदं जगत्। तथागतो नि स्वभावो नि स्वभाविमदं जगत्॥ ( २२।६ ;

## विवर्यास का निषेध

श्राचार्य क्लेणो (राग, द्वेप, मोह) की भी श्रयता निद्ध करते हैं। कहते हैं कि राग, द्वेप, मोह सकल्प से उत्पन्न होते हैं। गुभ श्राकार की श्रपेक्षा से राग, श्रगुभ की श्रपेक्षा से द्वेप, विपर्यास की श्रपेक्षा में मोह उत्पन्न होता है। इन तीनों की उत्पत्ति में साधारण कारण सकल्प है। इन गुभ, श्रगुभ श्रीर विपर्यासों की श्रपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण रागादि श्रकृत्रिम एवं निरपेक्ष सिद्ध नहीं होगे।

ग्रात्मा के मम्बन्ध में जब ग्रस्ति-नास्ति कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, तब उसके विना उसके ग्राधित ग्रन्य धर्मों का ग्रस्तित्व-नास्तित्व कैसे सिद्ध किया जा मकता है, क्यों कि क्लेश किमी का ग्राध्य लेकर मिद्ध होते हैं, वह ग्राध्य ग्रात्मा ही हो मकता था, जिमका पहले ही निपेध कर दिया गया है। ऐसी ग्रवस्था भे विना ग्राध्य के क्लेश कैमे होगे ? क्लेशों के हेतु ग्राभ, ग्राभ, ग्रीर विपर्यांस भी निरपेक्ष, नि स्वभाव नहीं हैं।

रूप, शब्द, गन्द्यादि का ग्रालम्बन करके क्लेश-तय होते है, किन्तु रूप, शब्दादि कल्पनामात्न, स्वप्नतुल्य है। मायापुरुष में या प्रतिविम्ब में गुभ-ग्रगुभादि क्या होगे। गुभ-ग्रगुभ ग्रादि मभी क्लेश-हेतु तथा क्लेश ग्रन्योन्य की ग्रपेक्षा से प्रज्ञापित होते हैं, ग्रत सभी नि स्वभाव है। 'ग्रनित्य में नित्य-त्रुद्धि होना' मोह है, किन्तु शून्य में ग्रनित्यता क्या होगी जिसमें नित्य-वृद्धि हो। ग्रनित्य में नित्य-वृद्धि यदि विपर्यास है, तो शून्य में ग्रनित्य-बृद्धि भी क्या विपर्यास नही है वस्तुत ग्रहीता जिन नित्यत्व ग्रादि विशेषो से रूप, शब्द ग्रादि वस्तुग्रो का ग्रहण करता है, वे समस्त स्वभावत शान्त है, ग्रत उनका ग्रहण मिद्ध नही होता। जब ग्रहण ही मिद्ध नही है, तब उसके मिथ्या या सम्यक् होने का प्रश्न ही कहाँ है ? पहले यह दिखाया गया है कि भावो की स्वत -परत ग्रादि कारणो से उत्पत्ति नही है। ऐसी ग्रवस्था मे विपर्यय की मिद्धि कैसे होगी ?

इस प्रकार, योगी जब विपर्यामों को उपलब्ध नहीं करता, तब उससे उत्पन्न ग्रविद्या भी निरुद्ध हो जाती है। ग्रविद्या के निरोध से ग्रविद्या से उत्पन्न होनेवाले सस्कारादि निरुद्ध होते हैं।

#### चार ग्रार्य-सत्यों का निषेध

#### वादी का श्राक्षेप

वादी कहता है कि यदि जून्यवाद में वाह्य-ग्राध्यात्मिक सब जून्य है, श्रीर किसी पदार्थ का उदय-व्यय नहीं है, तो जून्यवाद में चार ग्रार्यसत्यों का भी श्रभाव होगा। दु ख की सत्यता श्रार्यों को ही ज्ञात होती है। सूत्र में उक्त है कि ऊर्णा को करतल पर रखते हैं, तो वेदना नहीं होती, किन्तु जब उमें ग्रक्षिगत करते हैं, तब वह द्वेप एव पीडा की जनक होती है।

थेन गृह्णाति यो ब्राहो ब्रहीता यच्च गृह्यते ।
 उपशान्तानि सर्वाणि तस्माद् ब्राहो न विद्यते ॥ (२३।१५)

ग्रनार्य वाल करतल के सदृश है, वह सस्कार-दु.खता का ग्रनुभव नही करता, ग्रायं विद्वान् ग्रिक्ष के सदृश है, वह उससे ग्रत्यन्त उद्विग्न हो जाता है। यह दुख ग्रायं-मत्य तव युक्त होगा, जब सस्कारो का उदय-व्यय सम्भव होगा, किन्तु जब शून्यवाद है, तो किमी के उदय-व्यय का प्रश्न ही नही उठता। फलत, शून्यवाद में दु:ख ग्रायं-सत्य न होगा। जब दुख ही नही होगा, तब उसके समुदय का ग्रवकाश नही है, ग्रत समुदय-सत्य भी न होगा। जो दुख का हेतु है, वह समुदय है। वह समुदय, तृष्णा, कर्म, क्लेश है। दुख का पुन उत्पन्न न होना निरोध-सत्य है, किन्तु जब दु.ख ग्रीर समुदय नही है, तव निरोध कहाँ है यदि दुख-निरोध नही है, तो मार्ग-सत्य भी नही है।

शून्यवाद में जब चतुरार्य-सत्यों का ग्रभाव है, तब उनकी परिज्ञा (ग्रनित्यादि ग्राकारों में दुख-सत्य का ज्ञान) दुख-समुदय का प्रहाण, दुखनिरोधगामिनी प्रतिपत्तियों की भावना ग्रीर दुख-निरोध का साक्षात्कार नहीं होगा। इन चार ग्रार्य-सत्यों के ग्रभाव में तथा उनकी परिज्ञा ग्रादि के ग्रभाव में चार ग्रार्य-फल (स्रोतापत्ति, सकृदागामी, ग्रनागामी, ग्रह्न्) भी नहीं होगे ग्रीर फलाभाव से फलस्थ ग्राठ महापुरुष-पुद्गलों का ग्रभाव होगा। ग्रप्ट पुरुष-पुद्गल के ग्रभाव में सघ नहीं होगा। ग्रायं-मत्यों के ग्रभाव में सद्धमं (निरोध-सत्य फलधमं है, मार्ग-सत्य फलावतार धर्म है। यह ग्रधिगम-धर्म भी है, मार्ग की प्रकाशिका देशना ग्रागम-धर्म है) नहीं है। धर्म ग्रीर सघ के ग्रभाव में वुद्ध भी नहीं होगे। इस प्रकार, इन दुर्लभ त्रिरत्नों से भी ग्रून्यवादी विचत होगा।

## सिद्धान्ती का परिहार

म्राचार्य कहते हैं, वादी ने अपनी कपोल-कल्पना से ही शून्यता का अर्थ अभाव कर लिया, और भावो का उत्पाद-विनाश नहीं बनेगा, इसका शून्यवादी पर उपालम्म भी दे लिया, और उनके प्रति खिन्न भी हो लिया। वस्तुत, वादी अपने ही विविध विकल्पों ने गारा जा रहा है। माध्यमिक ने शून्यता का वादी-कल्पित अर्थ नहीं किया है, अत वादी को शून्यता के रहा है। माध्यमिक ने शून्यता का वादी-कल्पित अर्थ नहीं किया है, अत वादी को शून्यता के प्रभिद्यान का प्रयोजन भी ज्ञात नहीं हुआ। शून्यता के उपदेश का प्रयोजन अशेप प्रपच का अभिधान का प्रयोजन भी ज्ञात नहीं हुआ। शून्यता के उपपचजाल का विस्तार करता उपशम है। जो शून्यता का अभाव अर्थ करता है, वह प्रपचजाल का विस्तार करता जा रहा है।

प्रतीत्यसमृत्पाद गव्द का जो अर्थ है, वही शून्यता शब्द का अर्थ है। अभाव गब्द का अर्थ है, वह शून्यता शब्द का अर्थ नहीं है। चन्द्रकीित आचार्य के वचन में इमें, का जो अर्थ है, वह शून्यता शब्द का अर्थ नहीं है। चन्द्रकीित का को है कि माध्यमिक सिद्धान्त पर पूर्वोक्त आक्षेप वे लोग नरते हैं पुष्ट करते हैं। चन्द्रकीित कहते हैं कि माध्यमिक सिद्धान्त पर पूर्वोक्त आक्षेप वे लोग नरते हैं जो भगवद्वचन के अभिप्रेत सत्य-इय का विभाग नहीं जानते। आचार्य नागार्जुंन ने परम जो भगवद्वचन के अभिप्रेत सत्य-इय की व्यवस्था की है। मध्यमकावतार में चन्द्र-करणा से प्ररित होकर भगवद्वचन के मत्य-इय की व्यवस्था की है। मध्यमकावतार में चन्द्र-

य' प्रतीत्यसमुत्पाद' शून्यतां तां प्रचक्षते ।
 सा प्रश्रिष्ठपादाय प्रतिपरसैव मध्यमा ॥ (विप्रट्यावर्त्तं नी)

कीर्त्ति कहते है कि जो सत्य-द्वय के विज्ञान से रहित है, उसे कथमिप मोक्ष-सिद्धि नहीं होगी। ग्राचार्यपाद के ज्ञानमार्ग से जो वहिर्गत है, उनके कल्याण के लिए कोई उपाय नहीं है।

बुद्ध की धर्म-देशना दो सत्यो का ग्राश्रयण करती है---लोक-सवृति-सत्य ग्रौर परमार्थ सत्य। र

पदार्थ-तत्त्व का समन्तत अवच्छदान करने में (समन्ताद् वरणम्), श्रथवा श्रन्योन्य का ग्राथ्रय लेकर उत्पन्न होने से (परस्परसम्भवनम्), सवृति व्युत्पन्न है। सवृति लोक-व्यवहार को भी कहते है, क्योंकि लोकव्यवहार ज्ञान-ज्ञेय का सकेत है।

चन्द्रकीर्त्तं ने मध्यकावतार में विस्तार में सत्य-द्वयं की विवेचना की है। समस्त वाह्य-ग्राध्यात्मिक पदार्थों के दो स्वरूप है। वस्तुग्रों का पारमार्थिक रूप वह है, जो सम्यक् द्रष्टा ग्रार्थ के ज्ञान का विषय है, किन्तु उसकी स्वरूप-सत्ता नहीं है (न तु स्वात्मतया मिद्धम्)। वस्तुग्रों का सावृतिक रूप वह है, जो पृथग्जन की मिथ्यादृष्टि का विषय है, किन्तु इसका भी स्वरूप ग्रसिद्ध है। समस्त पदार्थ इन दो रूपों को धारण करते हैं। इन दो स्वरूपों में सम्यक् द्रष्टा का जो विषय है, वह तत्त्व है। वही पारमार्थिक सत्य है। मिथ्या-दृष्टि का जो विषय है, वह संवृति-सत्य है, वह परमार्थ नहीं है।

मिथ्यादृष्टि भी सम्यक् श्रीर मिथ्या भेद से दो हैं। इसलिए, पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टि (मवृति-सत्य) के दो ज्ञान श्रीर उनके दो विषय हैं। १० शुद्ध तथा रोगरहित इन्द्रियोवाले व्यक्ति का वाह्यविषयक ज्ञान, २ दोष-ग्रस्त इन्द्रियोवाले व्यक्ति का ज्ञान। स्वस्थ इन्द्रियोवाले व्यक्ति को ज्ञान की श्रपेक्षा दुष्टेन्द्रिय व्यक्तियो का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। सावृतिक सत्यता श्रीर मिथ्यात्व का निर्णय केवल लोक की श्रपेक्षा से ही होता है, श्रायंज्ञान की श्रपेक्षा से नहीं।

१ आचार्यनागार्जु नपादमार्गाद्बहिर्गताना न शिवेऽस्त्युपाय ।
अग्टा हि ते सवृतितत्वसत्यात् तद्भ्र शतश्चास्ति न मोक्षसिद्धिः ॥

उपायभूत व्यवहारसत्यमुपेयभूत परमार्थसत्यम् ।

तयोर्षिभाग न परैति यो वै मिथ्याविकल्पैः स कुमार्गयातः ॥

(मध्यमकावतार, ६।७६-८०)

२ हे सत्ये समुपाशित्य बुद्धाना धर्मदेशना । लोकसम्तिसत्य च सत्य च परमार्थत ॥ (म० का०, २४।८)

सम्यङ्मृषादर्शनलन्धमान क्रिपद्वय विश्वति सर्वभावा ।
 सम्यग्द्रशा यो विषय स तत्त्व मृषादृशा सवृतिसत्यमुक्तम् ॥ (म० का०, ६।२३)

४. मृषादृशोऽिष द्विविधास्त इष्टा दीप्ते न्द्रिया इन्द्रियदोषवन्तः । दुष्टेन्द्रियाणां विल्ल बोध इष्टः सुस्बेन्द्रियज्ञानमपेक्ष्य मिथ्या ॥

## लोक-संवृति-सत्य

वस्तुत , मोह संवृति है; क्योकि वह वस्तु के यथार्थ स्वभाव को ग्रावृत करता है । सवृति एक ग्रोर वस्तु के स्वभाव-दर्शन के लिए ग्रावरण खडा करती है, दूसरी ग्रोर पदार्थों में ग्रमत्-स्वरूप का ग्रारोपण करती है। सवृति नि स्वभाव एव सत्यभामित पदार्थों को स्वभावेन तथा सत्यरूपेण प्रतिभासित करती है। किन्तु, यह ग्रत्यन्त मिथ्या है। लोकदृष्टि से ही इसकी सत्यता है, ग्रत इसे लोक-सवृति-सत्य कहने हैं। यह प्रनीत्यसमत्पन्न हैं, इसलिए कृत्रिम है। र अविद्वान् को कभी अकृतिम (स्वभव ) नहीं भासता। प्रतिविम्ब, प्रतिश्रुत्क ग्रादि मिध्या है, फिर भी उसे भासित होते हैं। नीलादि रूप तथा चित्त-वेदनादि, भी सत्य भामित होते हैं। ये दोनो प्रकार के दृष्टान्त प्रतीत्यसमुत्पन्न है, इसलिए मवृति-मत्य की कोटि मे ग्राने है। किन्तु, जो सवृति से भी मृपा है, वह यवृ -सत्य नहीं है (सवृत्यापि यन्मृषा तत्सवृतिसत्यं न भवति)। भवाग (ग्रविद्या, सस्कार, नामरूप ग्रादि) सवृति-सत्य है, किन्तु सविलय्ट ग्रविद्या से ग्रस्त व्यक्ति के ही लिए। श्रावक, प्रत्येकवुद्ध तथा वोधिमत्त्व के लिए वह सवृति-मान्न है, सत्य नहीं है, क्यों कि वे सिनलष्ट ग्रविद्या को नष्ट कर चुके है, ग्रौर ममस्त सस्कारों को प्रति बम्ब के तुल्य देखते हैं। इनमें वस्तु के प्रति मत्याभिमान नहीं है। जिस वस्त्र से बाल-पथग्जन ठगा जाता है, उसे ग्रार्य सवृतिमात मानता है। ग्रार्य को क्लेशावरण नही है, केवल जेयावरण है, अत उसे विषय माभामगोचर है, अनार्य को निराभासगोचरता है। वृद्ध को सर्वधर्म का सर्वाकार ज्ञान है, अत वह सवृति-सत्य को सवृतिमात्र कहते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि पृथग्जन के लिए जो परमार्थ है, वह ग्रायों के लिए सवृति है। सवृति की जो स्वभाव-भून्यता है, वही परमार्थ है। बुद्धों का स्वभाव परमार्थ है, वह परमार्थ है, क्यों कि उससे किसी का प्रमोष नहीं है, परमार्थ सत्य है। यह परमार्थ मत्य प्रत्यात्मवेद्य है। सवृति-सत्य प्रमोषक है, ग्रतः वह परमार्थ सत्य नहीं है।

#### परमार्थसत्य

परमार्थसत्य ग्रवाच्य है एव ज्ञान का विषय नहीं है। वह न्व-सवेद्य है उसका स्वभाव नक्षणादि से व्यक्त नहीं किया जा सकता। परमार्थसत्य की विवक्षा में केवल इतना ही कहा जा मकता है कि जैसे तिमिर रोग से ग्राक्रान्त व्यक्ति ग्रपने हाथ में पकडे धान्यादि पुज को केशरूप में देखता है, किन्तु उसे शुद्ध दृष्टिवाला जिस रूप में देखता है, वही तत्त्व होना है, वैसे ही ग्रविद्या-तिमिर से उपहत ग्रतत्त्वद्रष्टा स्कन्ध, धातु, ग्रायतन का जो न्यरूप (नावृनिक) उपलब्ध करता है, उसे ही ग्रविद्या-वामना-रहित बुद्ध जिम दृष्टि में देखते हैं, वही परमार्थ सत्य है।

१. मोह स्वभावावरणादि सवृति सत्य नयाख्यानि यदव क्रिनम् । जगाद तत्सवृतिसत्यमित्यसी मुनि पदार्घ कृतक च सवृतिम् ॥ (मध्यमङावनार ६।२४,२=)

प्रश्न उठता है कि परमार्थ सत्य भ्रवाच्य भ्रदृष्य है, तो उसे भ्रविद्या-रहित भी कैसे देखेंगे।

चन्द्रकीत्तिं कहते हैं कि ग्रदर्शन-न्याय (न देखा जा सकना) से ही उसका देखना सम्भव है। परमार्थ सत्य की किसी प्रकार देशना नहीं हो सकती; क्योंकि जिसके द्वारा देशित होना है, जिसके लिए देशना करनी है ग्रीर जिसकी देशना करनी है, ये सभी परमार्थन ग्रनुत्पन्न है। इसलिए ग्रनुत्पन्न धर्मों से ही ग्रनुत्पन्न धर्मों को बताया जा सकता है। तत्त्व में भाव-ग्रभाव, स्वभाव-परभाव, सत्य-ग्रसत्य, शाश्वत-उच्छेद, नित्य-ग्रनित्य, सुख-दु ख, शुचि-ग्रश्चि, ग्रात्मा-ग्रनात्मा, शून्य-ग्रश्चन्य, लक्षण-लक्ष्य, एकत्व-ग्रनेकत्व, उत्पाद-निरोधादि नहीं होते। तत्त्व के ज्ञान में ग्रार्य ही प्रमाण है, ग्रनार्य वाल नहीं।

एक प्रज्ञ है कि माध्यमिक यदि लोक का भी प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, तो लोक अवश्य तत्त्वदर्शी होगा, क्योंकि जड प्रमाण नहीं होता। चक्षुरादि से ही तत्त्वनिर्णय होना है, अत आर्यमार्ग के अवतरण के लिए शील, श्रुति, चिन्ता, भावना आदि का प्रयास अवश्य निष्फल होगा।

चन्द्रकीत्तिं कहते हैं कि लोक सर्वथा प्रमाण नहीं हो सकता, लोक-प्रमाण से तत्त्वदशा में वाद्या भी नहीं होती। हाँ, लोक-प्रसिद्धि से लोकिक अर्थ अवश्य वाधित होगा। दें

ग्राचार्य नागार्जुन कहते हैं कि जो लोग इस मत्यद्वय का विभाग नही जानते वह गम्भीर बुद्धशासन के तत्त्व को नही जानते ।

#### सत्य-ह्रय का प्रयोजन

वादी प्रश्न करता है कि माध्यमिक-सिद्धान्त में जब परमार्थं निष्प्रपञ्च स्वभाव है, तब भगवान् ने अपरमार्थभूत स्कन्ध, धातु, श्रायतन, चार श्रायं सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद ग्रादि की देशना क्यों की। श्रतत्त्व परित्याज्य होता है, श्रीर परित्याज्य का उपदेश करना व्ययं है।

ग्राचार्य कहते हैं कि व्यवहार (ग्रिभिधान-ग्रिभिधेय, ज्ञान-ज्ञेय ग्रादि) के भ्रभ्युपगम के विना परमार्थ की देशना ग्रत्यन्त ग्रशक्य है। ग्रीर, परमार्थ के भ्रधिगम के विना निर्वाण का ग्रिधिगम श्रशक्य है। जो लोग सत्य-द्वय की व्यवस्था को नहीं जानते, किन्तु शून्यता का वर्णन करते हैं, उन मन्दप्रज्ञ लोगों को दुर्द ष्ट्र शून्यता वैमें ही नाश कर देती है, जैसे ठीक से न पकडा गया सर्प तथा ग्रविधि से प्रसाधित कोई विद्या किसी साधक का। चन्द्रकीर्त्त कहते हैं

श लोक प्रमाण निह सर्वयाऽतो लोकस्य नो तत्त्वदशासु शाधा ।
 लोकप्रसिद्ध्या यदि लीकिकोऽयों बाध्येत लोकेन मनेढि शाधा ॥ (६।३१)

२ व्यवहारमनाश्रित्य परमार्यो न देश्यते । परमार्थमनागम्य निर्माण नाधिगम्यते ॥

विनाशयित दुदृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्। सर्पो वा दुगृ होतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता ।। (म० का॰, २४ ।१०।१)

कि जो योगी श्रज्ञानमात्र से समुत्थापित सवृति-सत्य को नि स्वभाव जानकर शून्यता की परमार्थता को जानता है, वह अन्त-द्वय (उच्छेद, शाश्वत) में पतित नहीं होता। किसी भी पदार्थ का पहले श्रस्तित्व नहीं था, जिसके नास्तित्व को योगी ने वाद में जाना हो; क्योंकि उसने पहले भी (सदा ही) भाव-स्वभाव की अनुपलिब्ध की है, अत, बाद में उसके नास्तित्व-ज्ञान का प्रसग ही नहीं है। योगी लोकसवृति को प्रतिविम्ब के श्राकार में ग्रहण करता है, उसे नष्ट नहीं करता। इसलिए, वह कर्मफल, धर्म-श्रधमं श्रादि की व्यवस्था को बाधा नहीं पहुँचाता, किन्तु इसका यह श्रर्थ नहीं है कि वह परमार्थ तत्त्व में सस्वभावता का श्रारोपण करता है। उसे इसकी आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि कर्म-फल श्रादि की व्यवस्था पदार्थों की नि:स्वभावता के सिद्धान्त में ही सम्भव है, सस्वभाववाद में नहीं।

यह निश्चित है कि शून्यता भाव या अभाव दृष्टि नहीं है। इसलिए, श्राचार्य 'विनाशयित दुर्द् ष्टा शून्यता' पर अत्यधिक जोर देते हैं। चन्द्रकीित कहते हैं कि शून्यता एक महती विद्या है, भाव-अभाव दृष्टियों का तिरस्कार कर यदि उसे मध्यमा-प्रतिपत्ति से ग्रहण किया जाय, तो वह अवश्य ही साधक को निरुपिधशेष निर्वाण के सुख से युवत करती है। अन्यथा-प्रहण से ग्रहीता का नाश कर देती है। नागार्जु न कहते हैं कि शून्यता की इस दु खगाहता को देखकर ही भगवान् बुद्ध ने अपने को धर्मोपदेश से निवृत्त करना चाहा था, जो ब्रह्मा सहम्पति के अनुरोध से सम्भव नहीं हुआ।

श्राचार्यं कहते हैं कि शून्यता के सिद्धान्त पर वादियों के जितने श्राक्षेप हैं, वह सत्यद्वयं की श्रनिभज्ञता के कारण है। शून्यता को अभावार्यंक समझकर समस्त दोष दिये जाते हैं, किन्तु वादी शून्यता की श्रभावारमक व्याख्या नहीं करता, प्रत्युत शून्यता का श्रथं प्रतीत्य-समुत्पाद करता है, श्रत, उसकी शून्यता-दृष्टि नहीं है।

शून्यवाद में यथोक्त दोष नहीं होते, इसे सिद्ध कर ग्राचार्य ग्रव इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करते हैं कि सर्वभाव-स्वभाव-शून्यता का ग्रर्थ प्रतीत्यसमृत्पाद करने से शून्यवाद में चार ग्रायं सत्य, परिज्ञा, प्रहाण, साक्षात्कार, भावना तथा फलादि की व्यवस्था बनती है, प्रतीत्यसमृत्पाद की ग्रन्य व्याख्यात्रों में ये सम्भव नहीं हैं। ग्राचार्य ग्रपने सतीय्यों की उस ग्रश्वारूढ व्यक्ति से तुलना करते हैं, जो ग्रथवारूढ रहते हुए भी ग्रत्यन्त विक्षेप के कारण ग्रन्व के भुला देने का उपालम्भ दूसरो पर देते हैं।

श्राचार्यं कहते हैं कि यदि भाव स्वभावत विद्यमान है, तो व हेतु-प्रत्यय-निरपेक्ष होगे। ऐसी स्थिति में कार्यं-कारण, करण-कर्त्ता श्रीर क्रिया, उत्पाद-निरोध श्रीर फलादि समन्त वाधित होगे, क्योंकि यदि घट स्वभावत है, तो उसे मृदादि हेतु-प्रत्ययों से क्या प्रयोजन ? फलन, घट का श्रभाव होगा, क्योंकि निर्हेतुक घट नहीं होता। ऐसी श्रवस्था म चक्र-चीवरादि करण, कर्त्ता कुम्भकार तथा घट बनाने की किया का श्रभाव होगा। फिर, घट का क्या उत्पाद श्रीर क्या निरोध ? उत्पाद-निरोध के श्रभाव में फलादि श्रत्यन्त श्रसम्भव है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि सस्वभाववाद मानते ही ये समस्त दोष श्रापितत होते हैं।

मवंशून्यतावादी के पक्ष में उपयुक्त दोप ग्रमम्भव है, क्योंकि उसके पक्ष में प्रतीत्य-समुत्पाद हेतु-प्रत्ययों की ग्रपेक्षा करके श्रकुरादि या विज्ञानादि के प्रादुर्भाव का सिद्धान्त है, जो पदार्थों को स्वभावतः श्रनुत्पन्न सिद्ध करता है। पदार्थों का स्वभावतः श्रनुत्पाद ही शून्यता है।

इस शून्यता को ही उपादाय प्रज्ञप्ति कहते हैं। जैसे चक्रादि (रथ के श्रग) का उपादान कर (उपादाय) रथ की प्रज्ञप्ति होती है। जो श्रपने श्रगो का उपादान करने पर प्रज्ञप्त होता है, वह अवश्य ही स्वभावेन अनुत्पन्न होता है। जो स्वभावेन अनुत्पन्न है, वही शून्यता है।

शून्यता ही मध्यमा-प्रतिपत् है। जिसकी स्वभावेन श्रनुत्पत्ति है, उसका ग्रस्तित्व नहीं है। जो स्वभावेन ग्रनुत्पन्न है, उसका नाण क्या होगा? ग्रतः, उसका नास्तित्व भी नहीं है। इस प्रकार, जो भाव ग्रीर ग्रभाव इन दो ग्रन्तों से रहित है, ग्रीर ग्रनुत्पत्ति-लक्षण है, वह मध्यमा-प्रतिपत् (मध्यम मार्ग) है, वह शून्यता है। फलतः, प्रतीत्यसमुत्पाद की ही ये विशेष सजाएँ है—-शून्यता, उपादाय-प्रज्ञप्ति, मध्यमा प्रतिपत्। भ

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्चित हुआ कि जो प्रतित्य-समुस्पन्न है, वह णून्य है। अन् न, कोई भी पदार्थ प्रणून्य नहीं हैं। अणून्यवाद (मस्वभाववाद) में जब सब अणून्य है, तब उसका उदय और व्यय नहीं होगा, और आर्य सत्य भी नहीं होगो, क्योंकि जो प्रतीत्य-ममुत्पन्न नहीं होगा, वह अनित्य नहीं होगा। किन्तु, दु ख का लक्षण अनित्यता है। सस्वभाववाद में भावों की दु ख-स्वभावता नहीं होगी। इसलिए उसका ममुदाय भी नहीं होगा, क्योंकि ममुदय दु ख का हेतु है (समुदेति अस्माद् दु खिमित)। दु.ख के अभाव में उसकी उत्पत्ति के लिए हेतु की कल्पना व्यर्थ है। इसी प्रकार, सस्वभाववाद में निरोध तथा समस्त आर्य-मार्ग वाधित होते हैं, क्योंकि स्वभावत सत् दु ख का निरोध नहीं होगा, और मार्ग की भावना भी नहीं होगी। यदि वह भावता से भाव्य होगा, तो उसका स्वाभाव्य नष्ट होगा। इस प्रकार, सस्वभाववाद में चार आर्य-मत्य नहीं होगे। इनके अभाव में परिज्ञा, प्रहाण आदि किसके होगे? इस प्रकार, फल, फलस्य प्रतिपन्नक तथा जिरत्न कुछ नहीं होगे। स्वभाववाद में धर्म- अर्थमं की व्यवस्था भी नहीं होगी, क्योंकि जो अणून्य होगा, वह कर्त्तव्य-कोटि में नहीं आयगा, और विद्यमान होने के कारण उमका कोई कारण नहीं होगा। इस प्रकार, धर्माधर्म- मूलक फल भी नहीं होगा।

यदि पदार्थ सस्वभाव होगे, तो ग्रकृत्रिम होने से किसी से व्यावृत्त नहीं होगे, ग्रत ममार ग्रजात ग्रीर ग्रनिरुद्ध होगा। जगत् कूटस्थ नित्य होगा। इसलिए, जो स्वभाव-शून्यता-रूप प्रतीत्यसमुत्पाद को सम्यक् जानता है, वहीं ग्रार्थ-सत्य ग्रादि को तत्त्वत जानता है।

१ य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता तां प्रचक्षते । सा प्रशन्तिरुपादाय प्रतिपत्सैन मध्यमा ॥ (म० का०, २४।१८)

#### निर्वाण

ग्रब शून्यवाद की दृष्टि से निर्वाण के स्वरूप का विवेचन किया जाता है। इस सम्बन्ध मे पहले पूर्वपक्षी बौद्धो का मत दिया जाता है, पश्चात् शून्यवाद का।

## निर्वाण की स्कन्ध-निवृत्तिता

निर्वाण द्विविध है-सोपधिशेष, निरुपधिशेष।

सोपधिशेष—इस निर्वाण में अविद्या, राग आदि क्लेशो का निरवशेष प्रहाणहोता है। आत्मस्नेह जिसमें आहित होता है, वह उपिध है। उपिध शब्द से पच उपादान-स्मन्ध अभिप्रेत है, क्योंकि वह आत्मप्रज्ञित का निमित्त है। उपिधशेष एक है। इस उपिधशेष के साथ जो निर्वाण है, वह सोपिधशेष निर्वाण है। यह स्कन्धमात्र है, जो सत्कायदृष्टि आदि क्लेशो से रहित है।

निरुपिश्चोष-जिस निर्वाण में स्कन्ध भी न हो, उसे निरुपिश्चोप निर्वाण कहते हैं।

वादी कहता है कि उपर्युक्त द्विविध निर्वाण शून्यवाद में सम्भव नहीं है, क्यों कि शून्यवाद में जब किसी का उत्पाद या निरोध नहीं होता तथा क्लेश और स्कन्ध नहीं होते, तब, किसका निरोध करने से निर्वाण होगा। अत, निर्वाण की मिद्धि के लिए भावों का सस्वभाव होना आवश्यक है।

ग्राचार्य नागार्जुन कहते हैं कि स्कन्धों को सस्वभाव मानने पर उनका उदय-व्यय नहीं होगा, क्योंकि स्वभाव ग्रविनाशी होता है, ग्रत स्कन्धों के निवृत्त होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा, फिर निर्वाण कैसा ? वस्तुत, स्कन्धों का निवृत्ति-लक्षण निर्वाण ग्रयुक्त है।

## निर्वाण की कल्पना-क्षयता

श्रप्रहीणम् — जो रागादि के समान प्रहीण नहीं होता।
श्रसम्प्राप्तम् — जो श्रामण्य फल के समान प्राप्त नहीं होता।
श्रमुच्छिन्नम् — जो स्कन्धादि के समान उच्छिन्न नहीं होता।
श्रशास्त्रतम् — जो श्रणून्य (सस्वभाव) पदार्थों के समान नित्य नहीं होता।
श्रिनरुद्धम् श्रमुत्पन्नम् — जो स्वभावत श्रनिरुद्ध श्रीर श्रन्त्पन्न हो।

अलप्टर् निर्मा से लक्षित निर्वाण है। ऐसी निष्प्रपञ्चता में बलेंगों वी कल्पना करना इन लक्षणों से लक्षित निर्वाण है। ऐसी निष्प्रपञ्चता में बलेंगों वी कल्पना करना तथा उनके प्रहाण से निर्वाण कहना—ये सब ग्रिसिंड हैं। निर्वाण के पहले भी बलेंग नहीं हैं, तथा उनके परिक्षय से निर्वाण सिद्ध, होगा, वयोकि स्वभावतः विद्यमान का परिधय नहीं हो जिनके परिक्षय से निर्वाण सिद्ध, होगा, वयोकि स्वभावतः विद्यमान का परिधय नहीं हो सिद्धान्त-मम्मत निर्वाण सकेगा। मतः, निरवणेष कल्पनाग्रो का क्षय ही निर्वाण है। यही मिद्धान्त-मम्मत निर्वाण का लक्षण है।

चन्द्रकीति निर्वाण की सर्वेकल्पना-क्षयता के पक्ष में भगवान् का एक वचन उद्धृत करते है ग्रौर उसका भ्रभिप्राय उक्तार्थं में पर्यवसित करते हैं—

> निवृत्तिधर्माण न ग्रस्ति धर्मा ये नेह ग्रस्ती न ते जातु ग्रस्ति। ग्रस्तीति नास्तीति च कल्पनावताम् एवं चरन्तान न दुःख शाम्यति।।

तिरुपिधशेप निर्वाण धातु में क्लेश-कर्मादि का या स्कन्धों का सर्वथा श्रम्तित्व नहीं है, यह सभी वादियों को श्रभिमत है। जैसे श्रन्धकार में रज्जु में सर्प उपलब्ध है, किन्तु प्रकाश के उदय के साथ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार निर्वाण में समस्त धर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे श्रन्धकारावस्था में भी रज्जु रज्जु ही था, सर्प नहीं था, उमी प्रकार, क्लेश-कर्मादि समस्त पदार्थ ससारावस्था में भी तत्त्वन. नहीं है। जैसे तिमिर रोगाकान्त को सर्वथा श्रमत् केश का प्रतिभास होता है, वैसे ही श्रसत् श्रात्मा श्रीर श्रसत् श्रात्मीयों के ग्रह से ग्रस्त पृथग्जन को श्रसत् भावों का भी सत्यत प्रतिभास होता है, यही ससार है।

जैमिनि, कणाद, किपलादि से लेकर वैभाषिक पर्यन्त सभी भावों के सम्बन्ध में ग्रस्ति-वादी (सस्वभाववादी )हैं। नास्तिवादियों में उच्छेदवादी नास्तिक हैं, ग्रीर उनके ग्रतिरिक्त वे हैं, जो ग्रतीत-ग्रनागत ग्रवस्था की विज्ञिष्ति तथा विष्रयुक्त सस्कारों की सत्ता तो नहीं मानते, किन्तु तदितिरक्त की सत्ता मानते हैं। नास्तिवादी वे भी हैं, जो परिकल्पित-स्वभाव नहीं मानते किन्तु परतन्त्र तथा परिनिष्पन्न स्वभावों को मानते हैं। ग्रन्तिम दो (मौत्रान्तिक ग्रीर विज्ञान-वादी) वस्तुत ग्रस्ति-नास्तिवादी हैं, जो उक्त गाथा में नास्ति-कोटि में सगृहीत है। उपर्युक्त उभय कोटि के लोगों का ससार-दु ख-शान्त नहीं हो सकता। इस प्रकार, निर्वाण में न किसी का प्रहाण ही सम्भव है ग्रीर न निरोध ही, ग्रत वह सर्वकल्पना-क्षय रूप है।

श्राचार्य नागार्जुन निर्वाण के सम्बन्ध में अन्य वादियों के मत का खण्डन करते हैं।

भावस्तावन्त निर्वाणम्—निर्वाण भाव नहीं है, ग्रन्यथा उसका जरा-मरण होगा । भाव का लक्षण जरा-मरण है । जरा-मरण रहित खपुष्प होता है ।

पुनश्च, यदि निर्वाण भाव है, तो वह सस्कृत होगा, ग्रसस्कृत नही, क्योंकि ग्रसंस्कृत किसी देश काल या सिद्धान्त में भाव नहीं होता।

निर्वाण भाव होगा, तो ग्रपनी कारण-सामग्री से उत्पन्न होगा, किन्तु निर्वाण किसी से उत्पन्न नही होता । कोई भाव हेतु-प्रत्यय-सामग्री का विना उपादान किये नहीं होता ।

यद्यभावश्च निर्वाणमनुपादाय तत्कथम्—निर्वाण ग्रभाव भी नही होगा, ग्रन्यथा निर्वाण ग्रनित्य होगा, क्योकि क्लेश-जन्मादि का ग्रभाव निर्वाण है, तो वह क्लेश-जन्म की ग्रनित्यता है। किन्तु, निर्वाण की ग्रनित्यता इष्ट नहीं है। ग्रन्यथा सबका विना प्रयत्न मोक्ष होगा।

यदि निर्वाण ग्रभाव होगा, तो हेतु-प्रत्यय के विना उत्पादान किये न होगा। कोई भी विनाण किसी ना उपादान करके ही होता है। जैसे: लक्ष्य का श्राश्रयण करके लक्षण

स्रोर लक्षण का स्राश्रयण करके लक्ष्य। स्रिनित्यता के लिए भावो की स्रिपेक्षा स्रावण्यक है। वन्ध्या-पुत्र स्रादि किसी का उपादान करके नहीं हैं, इसीलिए वह स्रभाव भी नहीं है, क्योंकि भाव का स्रन्यथाभाव स्रभाव है। वन्ध्यापुत्रादि तुच्छ है।

तस्मास भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते—निर्वाण भाव ग्रौर ग्रभाव दोनो नहीं हैं। भगवान् ने भव-तृष्णा ग्रौर विभव-तृष्णा दोनो के प्रहाण के लिए कहा है। निर्वाण यदि भाव या ग्रभाव है, तो वह भी प्रहातव्य होता।

यदि निर्वाण भाव और अभाव दोनो है, तो सस्कारो का भ्रात्मलाभ और उनका नाण दोनो ही निर्वाण होते । किन्तु, सस्कारो को मोक्ष कोई स्वीकार नही करता ।

सिद्धान्त-सम्मत निर्वाण—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जन्म-मरण-परम्परा हेतु-प्रत्यय-सामग्री का अश्वयण करके चलती है। जैसे प्रदीप-प्रभा या बीजाकुर। ग्रत, निर्वाण एक ऐसी ग्रप्रवृत्ति है, जो जन्म-मरण-परम्परा के प्रवन्ध का उपादान नहीं करती। वह अप्रवृत्ति-मात्र है, उसे ग्राप भाव या ग्रभाव नहीं कह सकते। जिसके मत में संस्कारों का ससरण होता है, उसके मत में भी उत्पाद ग्रौर निरोध ग्रपेक्षावण सिद्ध होते हैं, किन्तु निर्वाण ग्रपेक्षा न करके (ग्रप्रतीत्य) ग्रप्रवर्त्तमान होता है। जिसके मत में पुद्गल का संसरण ग्रभिप्रेत है, ग्रौर पुद्गल नित्यत्वेन-ग्रिनत्यत्वेन ग्रवाच्य है, उसके मत में भी जन्म-मरण-परम्परा उपादानों की ग्रपेक्षा करके होती है, ग्रौर निर्वाण उपादान न कर ग्रप्रवृत्ति-मात्र है। इस प्रकार, संस्कारों का संसरण मानें या पुद्गल का, निर्वाण भाव या ग्रभाव या उभय नहीं है।

एक प्रश्न है कि निर्वाण भाव, अभाव या उभय रूप नहीं है, इसका किसने प्रत्यक्ष किया है वया निर्वाण में कोई प्रतिपत्ता है यदि है, तो निर्वाण में भी आत्मा होगा, किन्तु निरुपादान आत्मा उस समय रहेगा कैसे यदि कोई प्रतिपत्ता नहीं है, तो उपर्यु वत सिद्धान्त का निश्चय किसने किया विसास सिर्वास्थित ने किया, तो उसने विज्ञान से निश्चय किया या ज्ञान से विज्ञान से सम्भव नहीं है, क्योंकि विज्ञान निमित्त का आलम्बन करता है, किन्तु निर्वाण में कोई निमित्त नहीं है। ज्ञान से भी ज्ञात नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान शून्यता का आलम्बा हं, ग्रौर शून्यता अनुत्पाद-रूप है। ऐसी अवस्था में ज्ञान अविद्यमान एव मर्वप्रपचातीत हुआ, उससे निर्वाण के भावाभाव का निश्चय कैसे होगा ? इसलिए, माध्यमिक-सिद्धान्त में निर्वाण किसी से प्रकाश्यमान, श्रीर गृह्यमाण नहीं है।

## निर्वाण से संसार का स्रभेव

निर्वाण के ही समान निर्वाण के अधिगन्ता तथागत में भी उक्त चार कल्पनाएँ (निरोध के पूर्व तथागत है, या नही, उभय या नोभय ) नहीं की जा सकती । तथागत की स्थित में या निर्वाण में उनकी सत्ता मिद्ध नहीं होती । अतः, विचार करने पर समार और निर्वाण में भेद सिद्ध नहीं होता । ससार निर्वाण के अभेद से ही ससार की अनादि-अनन्तता भी उपपन्न होती है । आचार्य कहते हैं कि निर्वाण की कोटि (सीमा) और समार की कोटि के मध्य किसी प्रकार का कोई सूक्ष्म भी भेद नहीं है।

ससार तथा निर्वाण प्रकृतितः शान्त, एकरस हैं, इससे उन समस्त दृष्टियों का समाधान होता है, जिन्हें भगवान् ने अव्याकरणीय कहा था ।

## तथागत के प्रवचन का रहस्य

वादी कहता है कि ग्रापने उपर्युक्त विवेचन से निर्वाण का भी प्रतिषेध कर दिया। ऐसी स्थित में निर्वाण के ग्रिधिंगम के लिए सत्त्वों के ग्रमन्त चिरतों का ग्रमुरोध कर भगवान् ने जो धर्म की देशना की है, वह सब व्यर्थ होगी।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि यदि धर्म स्वभावत हो, श्रीर कुछ सत्त्व उसके श्रोता हो, भगवान् बुद्ध नाम का कोई देशिता हो, तो अवश्य आपका कहना ठीक हो, किन्तु रहस्य यह है कि इन समस्त निमित्तो का उपलम्भ नहीं होता, जिससे यह ज्ञात हो सके कि देव-मनुष्यों को किसी भगवान् ने साक्लेशिक, व्यावदानिक धर्मों का उपदेश किया था। आचार्य कहते हैं कि निर्वाण प्रपचोपशम तथा शिव है, क्योंकि उसमें—

सर्वप्रपञ्चोपशम:--समस्त निमित्त-प्रपचो की श्रप्रवृत्ति है।

शिव —िशव है, क्यों कि निर्वाण का यह उपशम प्रकृति से ही शान्त है, अथवा वाणी की अप्रवृत्ति से प्रपचोपशम है, और चित्त की अप्रवृत्ति से शिव है, अथवा क्लेशो की अप्रवृत्ति से प्रपचोपशम है, तथा जन्म की अप्रवृत्ति से शिव है, अथवा क्लेश के प्रहाण से प्रपचोपशम है, और निरवशेष वासनाओं के प्रहाण से शिव है; अथवा ज्ञेय की अनुपलिध से प्रपचोपशम है, और ज्ञान की अनुपलिध से शिव है।

यत, भगवान्, बुद्ध उपर्युं कत सर्वप्रपचोपशम एव शान्तरूप निर्वाण में, श्राकाश में राजहस के समान स्थित हैं, यत किसी निमित्त का उपलम्भ नहीं है, ग्रत कहीं किसी के लिए कोई धर्म बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट नहीं हुग्रा। चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि बुद्ध ग्रपने पुण्य ग्रौर ज्ञान के सम्भार से निराल व में स्थित हैं। उन्होंने जिस रात्रि में बोधि प्राप्त की ग्रौर जिस रात्रि में निर्वाण लाभ किया, इस बीच एक ग्रक्षर का भी व्याहार नहीं किया।

प्रश्न है कि वृद्ध ने जब कुछ देशना नहीं की, तब ये विचित्र विविध प्रवचन क्या हैं ?

चन्द्रकीर्त्तिं कहते हैं कि ये प्रवचन ग्रविद्या-निद्रा में लीन तथा स्वप्न देखते हुए मनुष्यों के ग्रपने ही विभिन्न विकल्पों के उदय है। तथागत-परीक्षा में तथागत की प्रतिविम्बभूतता दिखाई गई है, ग्रतः तथागत ने कोई धर्म-देशना नहीं की। धर्म-देशना के ग्रभाव में निर्वाण भी सिद्ध नहीं होता। भगवान् ने गाथा में कहा है कि लोकनाथ ने निर्वाण के रूप में ग्रनिर्वाण की ही देशना दी। वस्तुत, भगवान् का यह कार्य ग्राकाश के द्वारा डाली गई गाँठ का माकाश के द्वारा मोचन करने के समान है।

श्रनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम् । श्राकाशेन कृतो प्रन्थिराकाशेनैव मोचित ॥ (म०का०वृ०,पृ० ५४०)

# पंचम खण्ड

[ बौद्ध-न्याय ]



## विंश ऋष्यव

#### विषय-प्रवेश

भारतीय सभ्यता का स्वर्णयुग पाँचवी से सातवीं शताब्दी तक है। इस युग में वौद्धदर्शन में मौलिक परिवर्त्तन हुआ। त्याय तथा ज्ञान-मीमासा उसकी गवेषणा के मुख्य विषय हो गये। इस परिवर्त्तन का बौद्धधर्म पर सामान्यत बड़ा प्रभाव पड़ा। इस युग के तीन सूर्य, जिन्होंने प्रपनी प्रतिभा और प्रकाण्ड विद्वत्ता से संसार को देदीप्यमान किया, वसुवन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीत्ति थे। वसुबन्धु ने न्याय पर कुछ अधिक नहीं लिखा। उनके शिष्य दिइनाग 'प्रमाणसमुच्चयवृत्ति' में कहते है कि इस विषय में वसुबन्धु की अभिक्षित्र नहीं थी। उन्होंने 'वादविधान' नाम के एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें सक्षेप में न्याय के कुछ प्रश्नों का उल्लेख मिलता है। दिइनाग के सिद्धान्त के बीज 'अभिधर्मकोश' में यद्ध-तद्ध पाये जाते है। किन्तु, दिइताग ने सबसे पहले इनको एकव कर एक सिद्धान्त में ग्रथित किया, और धमकीत्ति ने उसको एक निश्चित रूप प्रदान किया। दिइनाग ने न्याय के विभिन्न प्रश्नों पर छोटे-छोटे कई ग्रन्थ लिखे थे, जिनको उन्होंने 'प्रमाणसमुच्चय' में संगृहीत किया। धर्मकीत्ति ने न्याय पर सात ग्रन्थ लिखे प्रे, जिनको उन्होंने 'प्रमाणसमुच्चय' में संगृहीत किया। धर्मकीत्ति ने न्याय पर सात ग्रन्थ लिखे—एक मूल और छह पाद। इनके नाम इस प्रकार हैं—प्रमाणवात्तिक, प्रमाण-विनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, चोदनानामप्रकरण और सन्तानान्तरसिद्ध।

नागार्जुन ने ग्रपने ग्रन्थे 'विग्रह्व्यावर्त्तनी' में प्रमाण-प्रमेय, लक्ष्य-लक्षण ग्रादि का खण्डन किया है, ग्रीर उन्होंने 'माध्यमिक कारिका' में जिस प्रौढ पद्धित से वादियों के पक्ष का खण्डन किया है, उससे भी इसका ग्रनुमान होता है, कि उनको तर्क की किसी ग्रास्त्रीय पद्धित से परिचय था। वसुबन्धु का 'वादिविधि' या 'वादिविधान' नाम का कोई प्रमाण ग्रन्थ ग्रवश्य था, जो ग्रभी ग्रनुपलब्ध है। 'न्यायवात्तिक' ग्रीर 'तात्पर्यटीका' ग्रादि में पूर्वपक्ष के रप में वसुबन्धु के प्रमाण-लक्षणों को उद्धृत किया गया है। किन्तु, उपलब्ध सामग्री के ग्राधार पर यही कहा जा सकता है कि न्याय के क्षेत्र में वौद्धों ने कुछ पीछे प्रवेश किया। जब दिङ्नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' की रचना की, तब प्रमुख भारतीय दर्शन पहले ही न्याय के मीलिक प्रश्नो पर ग्रपना मत प्रतिपादित कर चुके थे।

प्रत्येक दर्शन को अपनी पुष्टि के लिए न्याय तथा ज्ञानमीमासा ( नाँजिक ऐण्ड एपिस्टेमोलाँजी ) की आवश्यकता प्रतीत हुई । इसलिए, प्रत्येक दर्शन की प्रपनी ज्ञानमीमासा और तदनुकूल अपना न्याय है। चार मौलिक दृष्टिया आरम्भ ने ही भारतीय दर्शन में विद्यमान रही हैं—आरम्भवाद, सघातवाद, परिणामवाद और विवत्तंवाद। इनमें से सघातवाद बौद्धों का पक्ष है। केवल धर्मों (एलीमेण्ट्स) का वाह्य अस्तित्व है, नस्मृत

या सघात का नही । इस पक्ष में प्रतीत्यसमृत्पाद (= हेतु-फल-परम्परा ) का सिद्धान्त काम करता है। हेतू-प्रत्यय-वश धर्मों की उत्पत्ति होती है। हेतु-फल की केवल परम्परा है, ग्रथीत् इसके होने पर यह होता है। जब वर्ण-संज्ञा की उत्पत्ति होती है, तब उस वस्तुमाद्र से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु तीन धर्म, ग्रथीत् विज्ञान, वर्ण-धर्म ग्रीर चक्षु-धर्म एक साथ उत्पन्न होते हैं। यह तीन भिन्न धर्म समान महत्त्व के हैं।

सर्वास्तिवादी वौद्धो का वाद वहुधमंवाद है। न्याय-वैशेषिक भी वहुवाह्यवस्तुवादी है। ये दोनो वाह्य वस्तुत्रों के ग्रस्तित्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु, न्याय-वैशेषिक के ग्रनुसार ग्रवयव ग्रौर संघात दोनों की स्वतन्त्र सत्ता हैं।

वैभाषिक तथा सौदान्तिक प्रकरण में धर्मों का हम विशद विवेचन कर चुके हैं, किन्तु यहाँ न्याय के उद्गम को स्पष्ट करने के लिए धर्मों का ग्रति सक्षिप्त परिचय देते हैं।

प्रमाणों के उद्गम की प्रमेय(धर्म)-भूमि वीद्धों का पचस्कन्ध दो भागों में विभक्त होता है—१. चित्त-चैत्त ग्रीर २. रूप। रूप-धर्म चार महाभूत या भौतिक रूप के परमाणु हैं। यह चार महाभूत सर्वत्न, ग्रर्थात् सब ग्रप्रतिघ भौतिक रूपों में सममाना में पाये जाते हैं। ये चार महाभूत इस प्रकार हैं—

पृथिवी-वातु ( घृति-कर्म ), ग्रव्धातु ( सग्रह-कर्म ), तेजोवातु ( पिन्त-कर्म ), वायु-धातु ( ब्यूहन-कर्म )। पृथिवी-धातु का खर स्वभाव है, श्रव्धातु का स्नेह, तेजोधातु का उष्णता श्रीर वायु-धातु का ईरण है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि यह चार महाभूत या चार धातु-सस्कार (फोर्स) हैं। जल में पृथिवी-धातु भी अपनी वृत्ति को उद्भावित करता है, क्यों कि वह नौका का सन्धारण करता है। भौतिक धर्म उन पाँच विज्ञानों के समकक्ष हैं, जिनका आश्रय पचेन्द्रिय हैं। यह रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पण्टें हैं। भौतिक धर्म को अपनी धृति के लिए चार महाभूतों में से प्रत्येक के एक-एक धर्म की आवश्यकता है। अत, वौद्ध-दर्णन में किसी द्रव्य के स्थान में महाभूत-चतुष्क और भौतिक द्रव्य हैं। यह सव स्वतन्त्र तथा मम हैं। किन्तु, हेंतु-प्रत्ययवण अन्योन्य सम्बद्ध हैं, जिनके कारण सदा एक साथ इनकी उत्पत्ति होती है। महाभूत धर्म स्वय स्प्रष्टव्य में परिगणित हैं। स्प्रष्टव्य महाभूत तथा भौतिक दोनों को दृढ करता है। सधात-परमाणु कम-से-कम अष्ट-द्रव्यक होता है। इनमें से चार मुख्यवृत्या द्रव्य, अर्थात् चार महाभूत हैं, जो भौतिक रूप (रूप, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य) के आश्रयभूत हैं, और चार आयतन हैं, जो महाभूतों के आश्रयभूत हैं। यदि द्रव्य में जब्द की अभिनिष्पत्ति होती है, तो शब्द का एक परमाणु अधिक होता है। भाजन और सत्वलोंक में संघात-रूप अधिक जित्त हो जाता है; क्यों कि रूप-धर्म सूक्ष्म संस्कार-मात्र निश्चित किये गये हैं, अत चित्त-चैत्त को रूप से पृथक् करनेवाली रेखा यब अनुल्लघनीय न रही। बौद्ध-धर्म मुप्तरम्भ से ही यह दो प्रकृत नहीं पूछे गये हैं—चित्त-चैत्त क्या है, और

रूप क्या है ? किन्तु, उसकी जिज्ञासा इस बात की रही है कि चाहे नाम हो या रूप, पदार्थों के विवेचन से अन्तिम तत्त्व कौन-से ठहरते हैं ?

चित्त-चैत्त को भी उन्होने कित्यय धर्मों में विभक्त किया है। यह धर्म साथ-साथ रहते हैं; एक दूसरे में मिलते नहीं, किन्तु हेतु-प्रत्ययवश अन्योन्य सम्बद्ध है। इन नियमों के अनुसार इनका कभी सहोत्पाद होता है, कभी इनकी निरन्तर उत्पत्ति होती है। ग्रत, किसी आत्मा की सत्ता यह स्वीकार नहीं करते। जिसे दूसरे आत्मा कहते हैं, वह इनके अनुसार वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान धर्मों का समुदायमात्र है, जिनका कारित्त हेतु-प्रत्यय के नियमों के अधीन हैं। बौद्ध सघात-द्रव्य को प्रज्ञप्ति मानते हैं, और केवल धर्मों का ग्रस्तित्व स्वीकार करते है। इस सिद्धान्त को वह सर्वत्र, अर्थात् चित्त-चैत्त तथा रूप-धर्मों में लागू करते हैं। उनके अनुसार द्रव्य-गुण का सम्बन्ध नहीं है। वेदना (अनुकूल या प्रतिकूल), सस्कार (चेतना), सज्ञा और स्वय विज्ञान यह सब पृथक् धर्में हैं। इनकी सहिकया हममें आत्मा का श्रम उत्पन्न करती है, जो वस्तुत:, इन धर्मों के बाहर नहीं है। जैसा सधात-रूप के लिए है, वैसा ही चित्त-चैत्त के सघात के लिए कम-से-कम एक नियत सख्या के धर्मों का होना आवश्यक है। चित्त-चैत्त में कुछ मीलिक या सामान्य धर्म होते है, जो चित्त के प्रत्येक क्षण में सदा वर्त्तमान होते हैं, और कुछ ऐसे धर्म है, जो श्रनियत हैं, जो कुशल-अकुशल है श्रीर जो उस क्षण के स्वभाव के कारण हैं।

सामान्य धर्म दस हैं। गौण धर्म की सख्या अनियत है, श्रीर यह कभी कुशल कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते है। सामान्य धर्म महाभूमिक कहलाते है, क्यों वित्त में सदा होते हैं। इनका पुन विभाग व्यवदान और सक्लेश के आधार पर किया जाता है। महाभूमिक धर्म इस प्रकार हैं—9 वेदना (सौमनस्य या दौर्मनस्य), २. चेतना, ३ सज्ञा, ४. छन्द, ५. स्पर्श, ६. मित, ७ स्मृति, इ. मनस्कार ६. अधिमोक्ष और १०. समाधि। यह दस महाभूमिक धर्म चित्त को आवृत करते है। विज्ञान के अभाव में यह दस धर्म विज्ञान्त होगे। इनके अतिरिक्त दो और धर्म है, जो सब चित्तो में सामान्य है, किन्तु जो कामधातु से उद्यं के धातुश्रो में तिरोहित हो जाते हैं, जब कि वज्ञान समाधि की अवस्था में उन धातुश्रो में प्रविष्ट होता है। वह वितर्क और विचार है।

वितर्क श्रालम्बन में चित्त का प्रथम प्रवेश है। श्रालम्बन में चित्त की श्रविच्छित्र प्रवृत्ति विचार है। इसलिए, कहते हैं कि विर्तक श्रौदारिक है, श्रीर विचार सूक्ष्म हैं। यह वितर्क श्रौर विचार प्रत्येक चित्त के साथ होते हैं, किन्तु जब योगी ध्यानावस्था में समाधि-बल से रूप-धातु श्रौर श्ररूप-धातु में प्रविष्ट होता है, तब इनका तिरोभाव होता है, द्वितीय ध्यान से उठ्वं यह नहीं होते। इन दो को लेकर चित्त-संघात के बाहर परमाणु होने हैं।

गौण-धर्म, जैसा हमने ऊपर कहा है, कुशल या अकुशल है। कुशल-महाभूमिक धर्म दस हैं—श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा, ही, श्रपत्नपा, अप्रमाद, मूलद्वय, अविहिसा और प्रश्नव्धि। रम प्रकार कुशल वित्त में २२ धर्म होते है। सम्प्रयोग-हेतुवश यह सदा एक ताथ उत्पन्न होते है।

यह सहभू-हेतु से भिन्न हैं। श्रकुशल चित्त में १२ धर्मों के श्रतिरिवत कुछ श्रांग् धर्म होते हैं। प्रत्येक श्रकुशल कर्म के मुल में श्रह्णो श्रीर श्रनपत्रपा पाये जाते हैं। श्रह्णो श्रगुम्ता है, लज्जा का श्रभाव है। श्रवद्य-करण में श्रह्णो का श्रात्मापेक्षया लज्जा का श्रभाव है, श्रनपत्राप्य परा-पेक्षया लज्जा का श्रभाव है। यह वह धर्म है, जिसके योग से पुद्गल दूसरे के श्रवद्य का श्रनिष्ट फल नहीं देखता। ही वह धर्म है, जिसका पालन करना भिक्षु के लिए श्रति श्रावश्यक है। श्रिनिष्ट का एक कारण श्रह्णी वताया गया है। बौद्धो का विचार है कि प्रत्येक पापकर्म के पूर्व-वर्त्ती चित्त में इन दो धर्मों के प्रभाव पाये जाते हैं।

किन्तु, इस विवेचन में अनेक किठनाइयाँ पाई जाती हैं। कुछ धर्म पररपर विरोधी हैं। वह एक ही चित्त-क्षण में साथ नहीं रह सकते। यथा एक ही अर्थ के प्रति प्रेम और विदेप साथ नहीं रह सकते। अन्य का अवश्य सम्प्रयोग हो सकता है, यथा वेदना और मज्ञा का। इसके विपरीत न्यायदर्शन में एक चित्त-क्षण में एक ही धर्म का अस्तित्व माना जाता है। वौद्धों के अनुसार, यद्यपि चित्त-क्षण में कम-से-कम २२ धर्म माने गये हैं, तथापि उनकी तीव्रता सदा एक-सी नहीं होती। प्रत्येक चित्त-अवस्था में एक धर्म की प्रधानता होती है, और यह धर्म अन्य धर्मों को कम अधिक अभिभूत करता है।

इसी प्रकार का एक वाद रूप-धर्मी की विविधता को समझाता है। यद्यपि महाभूतचतुष्क सर्वेत्र सममाता में समान रूप से होते है, तथापि इनमें से किसी एक महाभूत का प्राधान्य ग्रीर उत्कर्ष हो सकता है, जिसके कारण मीतिक कभी मूर्त रूप, कभी तरल द्रव्य, कभी वायु ग्रीर कभी ग्रीन के ग्राकार में प्रादुर्भूत होता है। ग्रत, इन्हीं धर्मों का ग्रस्तित्व है; कोई सधात द्रव्य नहीं है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि पृथिवी गन्धवती है, त्योंकि पृथिवी स्वय एक गन्ध है। द्रव्य प्रज्ञप्तिमात्र है, यथा ग्रात्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। यह धर्म सस्कार है। इसकी इमसे भी पुष्टि होती है कि धर्मों का उदय-व्यय क्षणिक है। जिसका ग्रस्तित्व है, वह क्षणिक है। क्षणों की प्रत्येक सन्तित, स्थित परिकल्प है। दो क्षण जिनका नैरन्तर्य है, दो भिन्न धर्म हैं।

वस्तुत , गित सम्भव नही है । धर्मों के प्रत्येक क्षण का उदय-व्यय होता है । पाणि-पाद का ग्रादान-विहरण उसका द्वितीय क्षण में भ्रन्यत्न भ्रभिनव सस्थान के साथ उत्पन्न होना है ।

इस प्रकार, धर्म गणितणास्त्र के विन्दु के समान हैं। यह भिन्न सस्कारों के केन्द्र हैं, जिनका प्रति क्षण उत्पाद-विनाश होता रहता है। यही चिन्न दो भूमियों में प्रकट होता है। ग्रधोभूमि में विन्दु ग्रीर क्षण हैं। न कोई द्रव्य है, न वर्ण-सस्थान है, न स्थिति है ग्रीर न कोई ग्राकार है। ऊर्ध्वभूमि में एक दूसरा लोक है, जो परिकल्प से निर्मित है। ग्रत., दो भिन्न वस्तु है—१. तत्त्व, जहाँ इन्द्रिय विज्ञान ग्रीर गणित के विन्दु के समान क्षण है, २ व्यावहारिक तत्त्व, जो पर-परिकल्प द्वारा पहले पर ग्रारोपित होता है। दिङ्नाग ने ज्ञान की जो मीमासा की है, उसका आरम्भ इसी विचार से होता है। प्रमाण दो है; केवल दो हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान, क्यों कि विशेष और सामान्य यही विषय के दो प्रकार है। 'विशेष' का समकक्ष 'क्षण' है, जो सर्व का आधार है। 'सामान्य' हमारी कल्पना के निर्माण के तुल्य हैं। 'विशेष' से वह विशेष समझना चाहिए, जो विवेचन से मिट्ट होता है, वह विशेष, जो सर्व सामान्य लक्षणों से रहित है। 'विशेष' से अभिप्राय किसी अर्थ-विशेष से नहीं है, जिसमें सामान्यं गुण पाये जाते हैं। दिङ्नाग और धर्मकीत्ति का विज्ञानवाद इसमें है कि वह तत्त्व की दो भूमियाँ सिद्ध करते हैं—एक परमार्थं द्रव्य, जिसका कोई रूप नहीं है, जो परिकल्प-निर्माण का आधारमात्र नहीं है। दूसरी भूमि यह परिकल्प है। यह दूसरे प्रकार का तत्त्व शुद्ध कल्पना या आभास नहीं है। यह मृगमरीचिका, आकाशकुसुम, शशक्ष ग के समान कल्पनामाव्न नहीं है।

दिङ्नाग ग्रीर धर्मकीत्ति का सिद्धान्त उस वाद का प्रत्यक्ष फल है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान ग्रीर ग्रनुमानाश्रित ज्ञान में मौलिक भेद करता है।

#### कालवाद

वौद्धों के ज्ञान-सिद्धान्त का विवेचन करने के पूर्व हम काल और दिक् पर विभिन्न समय में निरूपित वादो पर विचार करेंगे।

शकर, माधव और अन्य दार्शनिक अपने विवेचन में कालवाद और दिग्वाद को शीर्ष स्थान देते हैं, और वौद्धों के वाद का खण्डन करते हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्त्त और धर्मोत्तर ने इसका सिवस्तर वर्णन नहीं दिया है, किन्तु उन्होंने ऐसा इसलिए किया, क्योंकि वह समझते थे कि सब उनसे परिचित हैं, और सब जानते हैं कि उनके शास्त्र की यह पीठमूमि है। दिग्वाद पर सामग्री स्वल्प है, अधूरी और अस्पष्ट है। विज्ञानवादियों के लिए भी इसका महत्त्व न था।

वाह्य जगत् की अविद्यमानता के प्रमाण से दिक् की अविद्यमानता अनिवार्य रूप से सिद्ध होती है। अन्य दर्शनो में काल को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना है, जिसका सम्बन्ध द्रव्यों से हो सकता है, अथवा उसे द्रव्यों का एक गुण माना है। शाश्वत काल का वाद भी मिलता है, जो सकल भव का प्रथम कारण है। अन्त में, बौद्धों का वाद काल की मत्ता का प्रत्याख्यान करता है। दिक् एक और शाश्वत है, यह भी वाद मिलता है। बौद्ध इमका भी प्रत्याख्यान करते हैं। किन्तु, दिग्वाद के प्राचीन रूप का समझना पारिभापिक शब्दों के कारण कठिन हो गया है।

दिक् के ग्रतिरिक्त 'आकाश' शब्द का भी व्यवहार होता है। इन शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। कभी इसे अनन्त का प्रतीक माना गया है, और इन रप में यह काल और दिक् दोनों को व्याप्त करता है। कभी इसका ग्रथं अन्यथात्व होता है। ये दो शब्द दिक् और आकाण साथ-साथ दो भिन्न द्रव्यों को ज्ञापित करते है, किन्तु उनका मम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। कभी ग्राकाण एक द्रव्यविशेष वताया जाता है; जिसका गुण णव्द है। शब्द गुण है, न कि द्रव्य। यह ग्राकाण का लिंग हे, क्योंकि शब्द से ग्राकाण का ग्रनुमान होता है।

दिक् श्रीर काल के सिद्धान्त एक दूसरे के समकक्ष है, पड्दर्शनों में में कोई भी दर्शन इससे श्रारम्भ नहीं होता, यद्यपि मब इन प्रश्नों का उल्लेख करते हैं। बैंगोपिक में इस पर विशेष ध्यान दिया गया है। उसमें इन दोनों को नौ द्रव्यों में परिगणित किया है। दिक् के श्रतिरिक्त श्राकाश-द्रव्य भी नौ में गिनाया गया है। पहले हम कालवाद की समीक्षा करेंगे।

### काल का उद्गम

भारतीय दर्शन के विकास का इतिहास उस कथा मे ग्रारम्भ होता है, जिसके ग्रनुसार विराट् पुरुप ने ससार की सृष्टि की । इस कथा के ग्रनुसार पुरुप ने, जिसको वेद मे प्रजापित कहा है, ग्रनेक विकल्पो द्वारा ग्रपने में से दृश्य भाजन-लोक ग्रीर सत्त्व-लोक को प्रकट किया। इसी प्रजापित को ब्रह्मन्, ग्रात्मन् कहते हैं। कदाचित् वौद्धधमं मे यह महापुरुप तथागत हैं, ब्राह्मण-धर्म में यह गुण विष्णु ग्रीर शिव का बताया गया है।

जिन द्रव्यों को पुरुप ने अपने में से प्रकट किया, उनमें से एक काल है, जिम प्राचीन सवत्सर कहते थे। उस समय काल शब्द का प्रयोग एक दूसरे ही अर्थ में होता था। ऋग्वेद (१०।१६०।२) के अनुसार 'सवत्सर' की उत्पत्ति अर्णव से सबसे पहले हुई। वृहदारण्यक (१।२।४) के अनुसार पुरुप ने सबसे पहले 'वाच्' को प्रकट किया और पश्चात् स्वय मनम् द्वारा उसके साथ मृत्यु और बुभुक्षा के रूप में सम्भोग किया। जो गुक स्खलित हुआ, वहीं सवत्मर था। इसके पूर्व सवत्सर न था। मृत्यु का अपत्य सवत्मर स्वय मृत्यु है। अत, विश्व का जो भाग इससे व्याप्त है, वह नाशशील और अनित्य है। काल को सहार और नियति का देवता मानना, काल का यम के साथ तादात्म्य, दैव-विधि में जो विश्वास है, उसके माथ काल का सम्बन्ध होना, इन मव विचारों का उद्गम-स्थान यहीं कथा है।

मृष्ट काल के परे अमृत पदार्थ है, जिसका अन्त नहीं है, जिसकी इयत्ता नहीं है, और जो अकल, अनवयवी है। विश्व के ऊर्घ्वभाग को यह व्याप्त करता है। किन्तु, इसके अतिरिक्त अनन्त और सभाग होने के कारण यह भूतकोटि को पार कर परमार्थ के आयतन तक भी पहुँचता है। पुरुष के स्वभाग से इसका तादात्म्य है। जम अवस्था में इसका तादात्म्य है, जो सृष्टि-किया के पूर्व वर्त्तमान थी। पीछे के कुछ वाक्यों में शाश्वत के इम पदार्थ को काल भी वताया गया है। किन्तु, यह विरोध भासतामात्र है। जो काल विभाज्य है, सकल ह, परिवर्त्तनशील है, और प्रवाहित होता रहता है, वह शाश्वत काल का उपाधिमात है। अन्ययात्व, अनित्यता और मृत्यु शाश्वत के गर्भ में केवल क्षोभमात है। वही देवता जो वभुक्षा और मृत्यु के रूप में 'वाच्' में शुक्र-स्खलन करता है, वही साथ-साथ अपने वास्तविक स्वभाववश मृत्यु के परे है। वह शाश्वत है, अमितायु है। उसके लिए मृत्यु नहीं है। एक शब्द में वह शाश्वत काल है।

इस अर्थ मे जैसा कि ब्राह्मणो में कहा गया है, प्रजापति सवत्सर है। इसका सादृश्य बौद्धों के अमितायु से है । वैदिक हिन्दुओं का यही काल है, जिसका तादातम्य शिव (महाकाल) स्रीर विष्णु से किया जाता है। इस कोटि के देवता काल - मृत्यु से उतना ही भिन्न है, जितना कि शाश्वतकाल सृष्टकाल से भिन्न है। जैसा कि उस पुरुष के लिए उचित है, जो सब द्वन्द्वों का ग्रन्तिम प्रभव है ग्रीर जो स्वय उनसे ऊर्घ्व ग्रीर बहुत दूर रहता है। यह ईश्वर-काल सर्वधा उदासीन है। वह किसी के साथ पक्षपात नहीं करता।

दोनो कालो--शाश्वत और भौपाधिक-के सम्बन्ध मे कल्पना है कि यह एक प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य है, जो दिक् को व्याप्त करता है। सृष्ट ग्रौर शाश्वत काल मे मुख्य भेद यह है कि पूर्व विभाज्य और मित है, और अपर सभाग (पूर्व-सदृश) अनवयवी और अनन्त है। श्रौपाधिक काल विश्व के उस श्रधरभाग को व्याप्त करता है, जिसका निर्माण भौतिक रूप से हुआ है, श्रीर जो सूर्य के श्रधस्तात् है। शाश्वत काल दूसरी श्रीर के श्रभौतिक श्रायतनो को व्याप्त करता है। उदाहरण के लिए हम तीन उद्धरण देते हैं--

- जैमिनीय ब्राह्मण (१ ब्रा०)---''सूर्य के दूसरी ग्रोर यर्तिकचित् है, वह ग्रमृत है, किन्तु जो इस स्रोर है, वह दिवा-रात्र ( स्रोपाधिक काल, मृत्यु ) से निरन्तर विनष्ट होता रहता है। सूर्य के दूसरी फ्रोर अनेक लोक है।"
- वृहदारण्यक (४।४।१६) "जिसके नीचे सवत्मर की गति होती है, उस ग्रमृत ( प्रकाशो के प्रकाश ) पर देवता उपासना करते हैं।"
- ३. मैत्रायणी उपनिषद् (६।१५) "ब्रह्मन् के दो रूप है-काल-ग्रकाल। जो सूर्य के प्राक् है, वह अकल काल है, जो सूर्य से प्रारम्भ होता है, वह सकल काल है। दूसरे शब्दो मे शाश्वत-स्रभौतिक तथा स्रिनत्य-भौतिक के बीच की सीमा देवतास्रो की उच्चकोटि है, जिमपर सुर्य चक्कर काटता है।"

काल एक सूक्ष्म द्रव्य है। यह विचार पीछे के अधिकाश दर्शनो मे पाया जाता है। वैशेषिक के अनुसार काल नौ द्रव्यो में परिगणित है। मीमासक भी उसे द्रव्य की सूची मे गिनाते है। जैनागम के अनुसार काल अस्तिकाय नहीं है, क्यों कि इसमें प्रदेश नहीं है, तथापि यह द्रव्य है।

### कालवाद का भ्राधार

इन सब कालवादो का श्राधार लगभग एक ही है। उसके लिए मुख्यत युवतियाँ है---

भाषा में काल-सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए कई शब्द हैं-युगपन्, पूर्व, ग्रपर स्रादि । पुन. प्रत्ययो की सहायता से भाषा किया के काल-भेद को व्यक्त करती है--कियते-कृतम्, करिष्यति ।

हम ग्रपने नित्य के व्यवहार में इन सब णव्दो का प्रयोग करते हैं। ग्रतः, इनका व्यहारत्व सिद्ध होता है, जो सम्भव न होता, यदि इनका ग्राधार काल्पनिक होता; ग्रयीत् यदि काल-सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाले सब णव्दो के समकक्ष ग्रीर इनसे सम्बद्ध सब भावों के समकक्ष कोई एक भिन्न वस्तु, एक विशेष द्रव्य न होता। दूसरे शब्दो में यह ग्रावश्यक है कि हम काल शब्द ग्रीर काल-संज्ञाग्रो को किसी वास्तविक काल से सम्बद्ध करें।

वैशेषिकसूत्र (२।२।६) का यही अर्थ है——''पूर्व, अपर, युगपत्, श्रयुगपत्, चिर श्रीर क्षिप्र काल के लिंग है।'' वलदेव विद्याभूषण भी, जो गोविन्द-भाष्य के ग्रन्यकार हैं, यही कहते हैं—कालक्ष्य भूतभविष्यव्वर्त्तमानयुगपिच्चरिक्षप्रादिव्यवहारहेतुः।

२ दूमरी युक्ति का सम्बन्ध इहलोक ( = दृष्टधर्म) की सकल वस्तुग्रो की श्रनित्यता ग्रीर ग्रन्यथात्व से है। श्रसाधारण कारणो से कार्यों की उत्पत्ति होती है, किन्तु इनके श्रतिरिक्त एक माधारण कारण भी है, जिस हेतु में कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति ग्रीर विनाश होता रहता है। दृश्य जगत् के प्रत्येक वस्तु की यह तीन ग्रवस्थाएँ सर्वसाधारण हैं। श्रसाधारण कारण इनके लिए पर्याप्त नहीं है। दूमरी ग्रीर काल इसका साधारण कारण माना जा सकता है। इसीलिए, प्रशस्तपाद में काल का लक्षण इस प्रकार वर्णित है—"सव कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति ग्रीर विनाश का हेतु काल है।

काल-द्रव्य स्वभावत इन्द्रियगोचर नहीं है। उसकी सत्ता का अनुमान अप्रत्यक्ष रूप से उसके सामर्थ्य से ही हो मकता है, जिस प्रकार मनस्, आत्मा और आकाश के विद्यमान होने का हम अनुमान करते है। प्रभाकर का यह मत अवश्य है कि काल पिंडिन्द्रिय-प्राह्म है, और उसका अनुमान युगपद् भाव आदि से न करना चाहिए। केवल प्रभाकर ही एक ऐसे है, जो अन्य कालवादियों से भिन्न मत रखते हैं।

## काल श्रीर श्राकाश की समानता, उसके लक्षण

मीमासक, वैशेषिक श्रीर कुछ श्रश में वेदान्ती सर्वसम्मति से काल-द्रव्य के निम्नािकत चार लक्षण वताते है—

9. सूक्ष्मत्व, २ विभुत्व, ३ नित्यत्व ग्रीर ४ एकत्व (ग्रनवयवत्व)। ग्राकाश के भी यही लक्षण हैं। इस प्रकार, भारतीय दर्शन में काल ग्रीर ग्राकाश ग्रभीतिक तथा भीतिक द्रव्यों के वीच में है। ग्रभीतिक के समान इनमें सूक्ष्मत्व, एकत्व ग्रीर नित्यत्व है, तथा भौतिक द्रव्यों के समान इनमें ग्रचेतनत्व ग्रीर जाड्य है। फलस्वरूप, भारतीय दृष्टि में काल ग्रीर ग्रकाश के वीच कुछ साम्य है। यह दो द्रव्य हैं, जिनमें सव संस्कृत धर्म (भाव) ह्वे हैं।

पुन यह दो द्रव्य ऐसे हैं, जो पृथिवी, ग्रप्, तेज ग्रीर वायु से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इनका सूक्ष्मत्व ग्रधिक मात्रा में है। यही कारण है कि यह स्यूल वस्तुग्रो को विना प्रतिघात के व्याप्त कर सकते हैं।

सूक्ष्म-नित्य काल का अनवयवत्व, सभागत्व और अनन्तत्व वहु सम्प्रदायों को इष्ट है। इसी को हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि काल एक और असम है। इसकी जाति नहीं है, तथापि हम क्षणादि के विभागों का उल्लेख करते है।

इन दो को हम कैसे समझें ? इस किठनाई का यह ममाद्यान है—उपाधिवण ऐसा होता है। जैसे एक आकाश घटादिवश अनेक विभागों में विभक्त दीखता है, वैसे ही काल एक होते हुए भी क्षण से आरम्भ कर परार्द्ध तक वृहत् और लघु काल-विभागों में विभक्त हुआ भासमान होता है। अतः, काल के यह सब विभाग औपचारिक हैं; क्योंकि वस्तुत हम काल का मान नहीं लेने, किन्तु केवल उन भौतिक द्रव्यों का मान लते है, जिनका काल में अवस्थान है—कालस्थापि विभुत्वेऽपि उपाधिवशादीपाधिकों भेदव्यवहारोऽस्ति (मानमेयो-दय, पृ० १६१)।

मीमांसक निम्नािकत दृष्टान्त भी देते हैं। जैसे नित्य, सर्वगत वर्ण दीर्घादि रूप में घ्वनि की उपाधि के कारण विभक्त भासित होते हैं, वैसे ही काल भी स्वय ग्रभिन्न होते हुए सूर्य की गति-कियावश भिन्न भासित होता है। (यथा हि वर्णो नित्य सर्वगतोऽपि दीर्घादि-रूपेण विभक्तो भासते ध्वन्युपाविवशात्, तथा कालोऽपि स्वयमभिन्नोऽपि ग्रादित्यस्य गित-कियोपाधिवशाद् भिन्नो भासते।)

ग्रत , विभु-सूक्ष्म काल की विविधता स्थूल द्रव्य, उसकी गति ग्रौर उसकी उपाधि के कारण है ।

काल के विभक्त होने के प्रश्न से एक दूसरा जिटल प्रश्न सम्बद्ध है, जिसका सम्बन्ध ग्रिनित्यता के प्रश्न से है। काल-प्रवाह में जो पितत होता है, वह ग्रिनित्य है ग्रीर उसका प्रन्यथात्व होता है। काल विकल्प-भावों को जन्म देता है, उसका पाक करता है (पचयित) ग्रीर ग्रन्त में उनका भक्षण करता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि काल भावों की उत्पत्ति, स्थिति ग्रीर विनाश का साधारण कारण है, भव के यह तीन ग्राकार है। इनके समकक्ष काल तीन विभागों में विभक्त किया जाता है। इन तीनों विभागों का तादात्म्य भविष्यत्, वर्त्तमान ग्रीर भूत इन तीन कालों से हैं—कालस्तूत्पत्तिस्थितिविनाञ्चलक्षणस्त्रिविद्य (सप्तपदार्थी, १४)।

मिनभाषिणी में है-कालस्योपाधिकं विभागमाह उत्पत्तीति। पदार्थानामामुत्पत्तिस्थिति-विनाशैर्लक्ष्यत इत्युत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षण उत्पत्त्या भविष्यत्, स्थित्या वर्तमानः, विनाशेन भूतकालो लक्ष्यत इति त्रिविधः।

यह विभाग केवल श्रीपाधिक है। (काल एक, श्रनवयवी, श्रकलद्रव्य है) दूनरे मध्यों में काल में स्वयं गति नहीं है, किन्तु व्यवहार में जो भाव इसके प्रवाह में पितत है, उनकी उत्पत्ति, स्थिति श्रीर विनाश होता है, श्रीर इस अन्यथात्व का प्रतिविम्ब काल के पट पर पड़ता है, श्रीर ऐसा भासित होता है, मानो काल के तीन विभाग हो गये हो।

### विभाषा में फालवाद

ग्रव हम उन दर्णनों को लेंगे, जो काल को द्रव्य के रूप में नहीं ग्वीकार करते हैं। सारय—पहले हम माल्य को लेंगे हैं। वाचग्पतिमिश्र (साय्यतत्त्वकोमुदी, ३३) कहते हैं कि जिस काल को वैशेषिक द्रव्य के क्य में ग्रहण करने हैं, वह श्रकेलें भविष्यत् श्रादि शब्द-भेदों का उत्पन्न नहीं कर मकेगा। काल केवल उपाधि है, जिसके भेद के कारण भविष्यत् ग्रादि भेद उत्पन्न होते हैं। ग्रन, साल्य काल को श्रावश्यक समजते हैं ग्रीर यही कारण है कि वह काल को तत्त्वान्तर के रूप में ग्रहण नहीं करने (न कालएपतत्त्वान्तराम्युप-गम इति)।

इसके होते हुए भी माख्य वस्तुत वैणेषिक ग्रादि में ग्रागे न वढ़ सका। शाश्वत ग्रोर मृष्ट काल का भेद इस रूप में मुरक्षित है कि शाश्वत प्रकृति का गुणविणेष है, ग्रीर मृष्ट काल को ग्राकाश मान लिया है, जो सूर्य ग्रीर गहो की गतिकिया है।

साख्यवादी भी काल को साधारण कारण मानने हैं-

नन् प्रात्मा स्वभावतो न वद्ध , किन्तु कालवशाद्वह्रो शिवष्पतीत्याह-'न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् । भवत्वयम्, यदि तस्य गदापि कालयोग स्यात्, न स्याद् वा । नित्यस्य व्यापिन सर्वकालसम्बन्धोपाधित्वात् ।'

इसका प्रत्याख्यान नहीं है कि काल (यथा ग्राकाण, कर्म ग्रादि) का 'परकारणत्वं मामान्यक्ष्पेण' होता है। केवल इसका प्रत्याख्यान है कि यह एक ग्रमाधारण कारण है। वास्तव में, साख्य ने कालवाद पर कोई ग्रन्वेषण करन की उत्सुकता नहीं दिखाई है। उसने केवल काल को एक पृथक् तत्त्व नहीं माना है, किन्तु इसन कालवाद-सम्बन्धी ग्रन्थ विचारों का ग्रनुकरण किया है।

वस्तुत, कालवाट का विवेचनात्मक विश्लेपण करने का श्रेय बौद्धधमं को है। सामग्री की कमी से विषय का मिवस्तर वर्णन सम्भव नहीं है, किन्तु कुछ तथ्य निश्चित हो सकते हैं। कोई ऐसा कालवाद नहीं है, जो मव निकायों को ममान रूप से मान्य हो। इसलिए, यदि हम कहें कि वौद्ध कालवाट का खण्डन करते हैं, तो यह वर्णन केवल कुछ मुख्य निकायों में ही लागू होगा।

तिपिटक पूर्व —ितिपिटको की रचना के पूर्व ही वौद्धधमें का प्रभव हुआ था, और उसी समय वौद्धधमें का वह रूप, जो हीनयान के विकास के पूर्व का है, प्रचलित था। योगाचार के 900 धर्मों की सूची में दिक् के साथ काल भी विष्ठयुक्त सस्कार के अन्तर्गत परिगणित है। इसका उल्लेख अपेक्षया पीछे के अन्यों में मिलता है, इस युक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। हीनयान की अपेक्षा महायान के वौद्धधमें के प्राचीन अग कही अधिक सुरक्षित पाये जाते हैं। खोज करने पर हीनयान के माहित्य में भी इसके प्रमाण पाये जायेगे। जवतक ऐसा नहीं होता, तवतक हम केवल इसका अनुमान ही कर सकते हैं कि हीनयान के पूर्वकाल में वौद्धों की काल के सम्बन्ध में क्या कल्पना थी?

प्राचीन बौद्धधर्म में — कुछ विद्वानों का ऐसा भ्रनुमान है, उपनिषदों के समान इसमें केवल रूप को ही अनित्य माना जाता था, और अन्य सूक्ष्म धर्म जैसे चित्त, विज्ञान ग्रादि अनित्यता के परे थे। यह सम्भव है कि बौद्धधर्म में भी इस कल्पना का सम्बन्ध काल के दो भेद से भी रहा हो—एक अनवयवी और नित्य तथा अमृत से अभिन्न और दूसरा औपाधिक अवयवी-सकल और अनित्य वस्तुओं की उत्पत्ति को निर्ध्चित करनेवाला। यह भी हो सकता है कि शाश्वत काल आकाश या विज्ञान के तुल्य एक भिन्न आयतन न रहा हो, किन्तु वह केवल एक प्रवाह था, जो सूक्ष्म और स्थूल रूपी द्रव्यों को व्याप्त करता था। इतना तो कहा ही जा सकता है कि काल से औपाधिक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, इस कल्पना का समर्थन बौद्ध साहित्य में भी है।

महाविभाषा (पृ० ३६३ ए) में निम्नांकित मिथ्यादृष्टि का उल्लेख है—काल का स्वभाव नित्य है, किन्तु सस्कृत धर्मों का स्वभाव ग्रनित्य है। सस्कृत धर्में काल के भीतर वैसे ही भ्रमण करते है, जैसे एक फल एक भाण्ड से दूसरे भाण्ड में ग्रथवा जैसे एक पुरुप एक गृह से दूसरे गृह में। इसी प्रकार सस्कृत धर्म भविष्यत् से निकलकर वर्त्तमान में श्राते हैं, ग्रीर वर्त्तमान से निकलकर भूत में प्रविष्ट होते है। हम यह मान सकते है कि जहाँ पूर्व में काल की कल्पना एक ही विभु भाण्ड के रूप में थी, जिसमें भविष्यत्, वर्त्तमान ग्रीर भूत ये तीनो एक दूसरे के ऊपर तह-में-तह लगाये हुए हैं, वहाँ पीछे तीनो भाण्डो की कल्पना हो गई।

इस सम्बन्ध में एक ग्रीर बात कही जा सकती है। ग्रिमधर्मकोश (तीन कोशस्थान, पृ० ६३) में है काल्यवाद का एक ऐसा स्वरूप मिलता है, जिसमें भविष्यत् में उत्पन्न होने-वाले कार्य का वर्तमानीकरण देशान्तर-कर्षण से होता है। सौद्रान्तिको का यह ग्राक्षेप यथार्थ है कि इस कल्पना के ग्राधार पर हम ग्ररूपी धर्मों (चित्त-चैत्त ) की उत्पत्ति नहीं समझा सकते, क्योंकि वह ग्रदेशस्थ है। किन्तु, यह ग्रापत्ति पीछे के उन्हीं विद्वानों पर लागू होती है, जो ग्ररूपी धर्मों को भी ग्रानित्य मानते हैं। परन्तु, पूर्व हीनयान में केवल रूपी धर्म ही ग्रानित्य हैं, ग्रीर इसलिए देशान्तर-कर्पण का सिद्धान्त वहाँ पूर्णत सफल होता है, ग्रीर इस प्रकार उनकी प्राचीनता की पुष्टि भी होती है।

काल के इस सिद्धान्त के साथ कि वह एक भाण्ड है, जिसमें भविष्यत्, वर्त्तमान त्रीर भूत अवस्थान करते हैं, एक और प्रश्न जुड़ा है। यदि प्रवृत्ति, अर्थात् जीवन की प्रक्रिया यही है कि भविष्यत् वर्त्तमान से होकर भूतकाल में पतित होता है, तो कभी-न-कभी एक क्षण ऐसा अवश्य आना चाहिए, जब कि सकल भविष्यत् नितान्त रूप से समाप्त हो जायगा; त्रीर सकल विश्व केवल भूत हो जायगा। यह विवाद किसी ग्रन्थ में नही मिलता, किन्नु विभाषा (पृ० ३६५ ए) में एक विवाद है, जिससे यह अनुमान होता है कि उसका आधार ऐसा ही कोई विचार है—"सर्व भविष्यत् धर्म वहिर्गमन से सम्बन्ध रखते हैं (अर्थात्, धर्म भविष्यत् में निकलकर भूत में प्रविष्ट होता है)। यह क्यों कहा जाता है कि भविष्यत् में कोई हानि प्रज्ञप्त (प्रज्ञप्यन्ते) मूत में प्रविष्ट होता है)। यह क्यों कहा जाता है कि भविष्यत् में कोई हानि प्रज्ञप्त (प्रज्ञप्तन्ते) नहीं होती।" भदन्त वमुमित्र इसका यह उत्तर देने हैं—"भविष्यत् धर्मों की गर्भों गणना नहीं होती।" भदन्त वमुमित्र इसका यह उत्तर देने हैं— "भविष्यत् धर्मों की गर्भों गणना नहीं होती।" भदन्त वमुमित्र इसका यह उत्तर देने हैं— "भविष्यत् धर्मों की गर्भों गणना नहीं होती।" भदन्त वमुमित्र इसका यह उत्तर देने हैं— "भविष्यत् धर्मों की रहित हैं। नहीं हो सकती, और भूतों की गणना ग्रव सम्भव नहीं है। दोनों अमित गौर इयता से रहित हैं।

जिस प्रकार महासमुद्र में कोई कमी नहीं होती, चाहे जल के १,००,००० घटे उसमें कोई निकाले; ग्रीर कोई वृद्धि नहीं होती, चाहे १,००,००० घडे उसमें कोई ढाले।"

इस दृष्टान्त का क्या अर्थ है ? अनन्त में कोई भी मित सख्या का योग हो, या उससे कोई भी मित सख्या निकाली जाय, तो परिणाम सदा अनन्त निकलेगा। किन्तु सत्य तो यह है कि कोई महा-समुद्र अनन्त नहीं है। हम केवल उसके जल-कणों को गिन नहीं सकते। जैसे गगा की वालुका के कणों का गिनना सम्भव नहीं है, यद्यपि उनकी सख्या मित है। अत, वस्तुत वसुमित्र इसका प्रत्याख्यान नहीं करते कि भूत धर्मों की वृद्धि होती है, श्रीर भविष्यत् धर्मों का हास होता है। उसका आणय इतना ही है कि भविष्यत् श्रीर भूत की विपुलता को देखते हुए यह कहना कि धर्मों की वृद्धि या हानि होती है, व्यवहार में कोई महत्त्व नहीं रखता।

इस दृष्टि का उद्देश्य अनुमित हो सकता है। कदाचित् इच्छा यह थी कि पुराने वीद्ध विचार को सुरक्षित रखा जाय कि भविष्यत् भूत में प्रविष्ट होता है, श्रीर साथ-ही-साथ वह इस परिणाम से भी वचना चाहते थे कि सकल विश्व स्वतः निरोध के लिए प्रयत्नशील है। यह विचार महायान श्रीर कदाचित् पूर्व वौद्धधर्म का था, किन्तु हीनयानियो को यह स्वीकार न था; वयोकि इसके मानने से निर्वाण के लिए व्यक्ति का प्रयत्न निर्यंक हो जाता, कम-से-कम उनका महत्त्व घट जाता।

ग्रव हम मध्मद्र के 'न्यायानुसारशास्त्र' (पृ० ६३६ ए १४) मे एक उद्धरण देते हैं, जिममें एक विरोधी का विवाद दिया है, जो तैकाल्यवाद को नही मानता। मूत ग्रीर भविष्यत् वस्तुत धर्म नही है, क्योंकि यदि उनका ग्रस्तित्व होता, तो वह पस्पर प्रतिघात करते। वस्तुतः, रूपी धर्म को देशस्य होना चाहिए। यदि वह धर्म, जो विनष्ट हो चुके हैं, ग्रीर जो ग्रभी उत्पन्न नही हुए हैं, वस्तुत होते, तो वे ग्राधात-प्रतिघात करते। सब रूप धर्मों में जिनका ग्रस्तित्व है, ग्रप्रतिघत्व होता है, ग्रीर जिसमें यह नहीं है, वह रूप नहीं है। इस युक्ति में यह मान लिया गया है कि भूत ग्रीर भविष्यत् दो सान्त भाण्ड है। इनकां परिहार शास्त्र में इस प्रकार किया गया है कि ग्रप्रतिघत्व केवल वर्त्तमान रूप धर्मों का होता है। महाविभाषा (पृ० ३६५ ए) में प्रश्न है—यदि एक धर्म रूप है, तो क्या वह देशस्थ है रिजतर—यदि धर्म देशस्थ है, तो वह ग्रवश्य रूप है। ऐसे भी धर्म हैं, जो रूपी हैं, ग्रीर देशस्थ नहीं हैं, ग्रथांत् भूत ग्रीर भविष्यत् धर्म, वर्त्तमान परमाणु ग्रीर ग्रविज्ञप्ति।

ग्रत , यही वर्त्तमान रूप धर्म देशस्य हैं, ग्रीर भूत तथा भविष्यत् धर्म देशस्य नहीं हैं। यह उस पुराने सिद्धान्त का परिष्कृत रूप है, जिसके ग्रनुसार भविष्यत्, वर्त्तमान ग्रीर भूत धर्मों के भेद का कारण क्रिकाल में से एक ग्रवस्था-भेद था।

## वैभाषिक-नय में कालवाद

पूर्ववर्ती वैभाषिक मत--ग्रव हम वैभाषिक नय को लेंगे। पहले हम उन परिवर्त्तनो का उल्लेख करेंगे, जिनका चौद्धधर्म में प्रवेश होनयानवादी ग्रिभधर्म के द्वारा हुन्ना।

- १. बौद्धधर्म के पूर्वरूप मे अनित्य स्थूलरूप और नित्य सूक्ष्म-चित्त यह दो माने गये थे। हीनयान मे हम हुअनित्यता के उस नये सिद्धान्त का प्राधान्य पाते हैं, जिसके अनुसार रूप और चित्त दोनो अनित्य हैं।
- २. ससार मे अब कोई गन्धर्व-पुद्गल ससरण नही करता, श्रौर जिसे व्यक्तित्व कहते हैं, वह अब उदय-व्ययशील नाम-रूप धर्मों के प्रवाह में परिवर्त्तित हो गया है।
- ३ इन्हें 'धर्म' कहते है। इस ग्राख्या का प्रयोग पूर्व बौद्धधर्म में नित्य ग्रभौतिक ग्रीर ग्रतीन्द्रिय वस्तु के ग्रर्थ में होता था। 'धर्म' के इस नये ग्रर्थ को (सदा वहुवचन में ) हम एक विभू धर्म के (जो तथागत का स्वभाव है) भेद के रूप में ग्रहण कर सकते है, जैसे विभिन्न रूप-धर्म एक विभु-रूप के विभेद हैं।

हीनयान के अनुसार 'धर्म' की व्याख्या इस प्रकार है—स्वलक्षणधारणात् या स्वभावधारणात् इति धर्म ।' इस प्रकार, धर्म का अर्थ भाव (फेनामेना) का धारक हो गया, जो सन्तान में अपने को प्रकट करते हैं।

- ४. हीनयान के पूर्व निर्वाण ग्रादि शुद्ध, प्रभास्वर चित्त का स्थूल रूप के कारण उत्पन्न क्लेश-ग्रास्रवों से विमुक्त होना था। यह व्यवदान के साथ-ही-साथ मरणशील भौतिक जगत् में निर्यात कर सूर्य की दूसरी ग्रोर श्रारूप्य-धातु में (जो ग्रमृत-धातु है) जाना भी था। यह ग्रारूप्य-धातु भूतकोटि है। भिक्षु वहाँ पहुँच गया, वह ग्रच्युत-पद को प्राप्त हो गया, जहाँ से च्युति नहीं है। वह ग्रनागामी हो गया। कदाचित् चर्या का यह चरम उद्देश्य था। किन्तु, जव चित्त भी ग्रान्तिय हो गया, तब इस विचार का कोई दूसरा ग्रथं करना पडा। यह कहना पडा कि विमुक्ति को प्राप्त करने के लिए चित्त-चैत्त धर्म के परे जाना चाहिए। वास्तविक नित्यता ग्रोर ग्रमृतत्व लोकोत्तर धर्म हो गये, जिसमे व्यवहार सर्वथा विनष्ट हो गया। ग्रब ग्रनागामी वह ग्रार्य हो गया, जो भौतिक लोको मे जन्म नही लेता, ग्रौर उसके ऊपर ग्रह्त् है, जो मन के सब प्रकारों से सर्वथा विमुक्त है।
- ४. इन नये विचारों के कारण काल-सम्बन्धी पुराना विचार भी बदला होगा। नित्य और सृष्ट काल के बीच की सीमा इतनी खिसका दी गई कि उसके अन्तर्गत सकल विश्व आ गया और मृत्यु के अधीन हो गया। सूर्य अब अमृत का द्वार नहीं रहा, और बहुत-से लोक, जो सूर्य के उस ओर थे, अब मार के वैसे ही अधीन हो गये, जैसे कि नीचे के भौतिक लोक।

नये अभिधर्म में पहला प्रश्न यह है कि काल धर्म है या नही ?

वैभाषिको के अनुसार केवल ऐसे ही धर्म नहीं हैं, जो सन्तान में पितत हैं, किन्तु ऐसे भी है, जो सस्कृत हैं; जिनका दृष्ट धर्म में आविर्भाव नहीं होता। अतः, उनकी कोई निश्चित व्याख्या नहीं हो सकती। असस्कृत तीन हैं—दो निरोध और आकाश। असस्कृत आकाश का लिंग अनावरणत्व है। इससे अतिरिक्त, एक आकाश धातु भी है, जो सान्त और विभाज्य है, किन्तु जो असस्कृत आकाश की उपाधि

यद्ध्वं दिवो यदवाक् पृथिन्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवन्च भविष्य-च्चेत्याचक्षते, श्राकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति।

किन्तु, इससे एक दूसरी कठिनाई दूर न होती। कठिनाई यह थी कि एक विश्व के भीतर भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत इन तीन कालो को कैसे स्थान दें। काल की तहें मानने में यह कठिनाई थी कि इसका विरोध लोको के एक तुल्य देशान्तर-कर्षण से होता था। इसलिए, इसके अतिरिक्त कि वह भविष्यत् और भूत धर्म को अदेशस्थ मानें, वह कुछ और कर नहीं सकते थे। किन्तु, कठिनाई का यह हल केवल आशिक था, और मुख्य प्रश्न, अर्थात् भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत धर्मों के भेद के प्रश्न का उत्तर देना अभी बाकी था।

वैभाषिको की दृष्टि की सीधी-सादी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—प्रत्येक धर्म स्वलक्षण का धारक है, और यही उसकी स्विक्रया (वृत्ति, कारित्त, स्वभाग) भी है। इस सम्बन्ध पर अभिधर्म की व्याख्याएँ आश्रित हैं। धर्म के स्वभाव (=लक्ष्य) की व्याख्या उसके कारित्त (स्विक्रया, स्वलक्षण) से होती है।

### कारित्र का सिद्धान्त

यद्यपि प्रत्येक धर्म का सदा अपना कारित होता है, तथापि उसका कारित एक विशेष क्षण में ही प्रकट होता है, और जब वह अपना कारित समाप्त कर लेता है, तव सदा के लिए वन्ध्य हो जाता है। यही क्षण वर्त्तमान कहलाता है, और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भविष्यत् धर्म वह हैं, जिन्होंने अभी अपने कारित्र को व्यक्त नहीं किया है, और भूत धर्म वह है, जो अपना कारित व्यक्त कर चुके हैं। इसी प्रकार का विचार 'महाविभाषा' (पृ० ३६३ सी) में पाया जाता है—

प्रश्न-कालाघ्व का भेद किसपर ग्राश्रित है ?

उत्तर—कारित पर। जिन सस्कृत धर्मों का कारित्र ग्रभी नही है, वह भविष्यत् है, जो सस्कृत धर्म इस क्षण में कारित्र से समन्वागत है, वह वर्त्तमान कहलाते हैं, भीर जिनका कारित्र विनष्ट हो चुका है, वह भूत कहलाते हैं। भ्रथवा जब रूप का प्रतिघत्व नही होता, तय वह भविष्यत् है; जब वह इस क्षण में प्रतिघात करता है, वह वर्त्तमान है; ग्रीर जब इसका प्रतिघत्व समाप्त हो चुका है, तब इसे भूत कहते हैं।

यह सिद्धान्त देखने में तो बड़ा सरल मालूम होता है, किन्तु इससे वास्तव में वड़ी उलझन पड़ गई। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि केवल वही धर्म वर्त्तमान है, जो इस क्षण में स्विक्रया को व्यक्त कर रहे हैं, तो उस चक्षु के लिए हम क्या कहेंगे, जो निद्रा में है, अयवा जिसका प्रतिबन्ध अन्धकार है। यह वर्त्तमान है, किन्तु यह अपना कारित्र नहीं करते, वह प्रकाश नहीं देते। इसलिए, कारित्र की कोई दूसरी व्याख्या चाहिए। वास्तव में, हम एक दूसरी दृष्टि ले सकते हैं, जिसके अनुसार किसी धर्म-विशेष की स्विक्रया की अभिव्यक्ति उसी धर्म की किया नहीं है, किन्तु दूसरे पूर्ववर्ती धर्मों की है, जिससे उस धर्म का कारित्र हेतुमाव से निश्चत होता है। अतः, किसी धर्म का वास्तिवक कारित्र इसमें है कि वह भविष्यत् धर्मा को

कारित की यही व्याख्या संघभद्र देते हैं — कारित = फलाक्षेप-शक्ति। ग्रतीत कर्म यद्यपि अभी उनकी फलोत्पत्ति नहीं हुई है, वर्त्तमान नहीं है, क्योंकि उन्होंने श्राक्षेप कर्म पहले ही कर लिया है। (न्यायानुसार, ६३२ बी०)

ग्रव एक ग्रन्तिम विवाद-ग्रस्त विषय पर विचार करना है, फलाक्षेप-शक्ति (कारित्र) ग्रीर धर्म-स्वभाव या स्वरूप में क्या सम्बन्ध है ?

जितने वाद विकाल सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, वह सब एकमत से इसपर जोर देते हैं कि जब धर्म कालाध्व से गुजरता है, तब वह अपना स्वभाव नहीं बदलता, उसके केवल भाव (व्यवहार-आकार, धर्मतात) या अवस्था (वसुमित्र) का परिवर्त्तन होता है। इन दो आख्याओं की विस्तार से व्याख्या नहीं मिलती। इसलिए, इनके प्रयोगमात्र से इनका आश्य समझ में नहीं आता। केवल दृष्टान्तों द्वारा इनका अर्थ समझाया गया है।

वसुमित्र गुटिका का उदाहरण देते हैं, जहाँ एक ही गोली अवस्थाभेद से भिन्न सख्या हो जाती है (१,१०० या १०००)। इस उदाहरण में स्थान की अवस्था का ही भेद है। किन्तु, वसुमित्र के लिए धर्म की काल-अवस्था देशस्थ नहीं है, और इसलिए अवस्था शब्द का व्यवहार उपचारेण है।

धर्मलात 'भाव' के सम्बन्ध में कुछ ग्रधिक निश्चित रूप से कहना कठिन है। यह कोई गुण है या सत्ता का ग्राकार है ? डॉक्टर जान्स्टन का विचार है कि कदाचित् यह साख्यों के गुण के सदृश है। (ग्रलीं साख्य, पु० ३१)।

वैशेषिक दर्शन ने कदाचित् इन सब कठिनाइयो को ग्रनुभव किया था, ग्रौर इसीलिए, उन्होने कारित की ग्रनिर्वचनीयता को यथार्थ माना था।

'महाविभाषा' (पृ० ३६४ सी) में निम्नाकित विवाद मिलता है --

प्रश्त--कारित ग्रीर स्वभाव एक है या भिन्न ।

उत्तर—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह भिन्न है या एक । जिम प्रकार प्रत्येक सास्रव धर्म का स्वभाव अनेक लक्षणों से समन्वागत होता है, यथा अनित्यादि, और वह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह लक्षण भिन्न हैं या अभिन्न, वहीं वात यहाँ भी है। अत, (कारित्र और स्वभाव का सम्बन्ध) अनिर्वचनीय है।

सघभद्र (न्यायानुसार, ६३३ ए) एक दूसरा उदाहरण देते है—कारित ग्रीर स्वभाव का सम्बन्ध उसी प्रकार निश्चित नहीं हो सकता जिस प्रकार धर्म ग्रीर मन्तान का सम्बन्ध । एक शब्द में कारित ग्रीर स्वभाव ग्रीभन्न भी है, ग्रीर भिन्न भी हैं । वैभापिकों की यह उक्ति कि जब धर्म तिकाल में भ्रमण करता है, तब केवल कारित, न कि स्वभाव वदलता है, ग्रीर तिसपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कारित स्वभाव है, ग्रीर न यहीं कहा जा सकता है कि कारित्र का श्रस्तित्व स्वभाव से स्वतन्त्र है, सौत्रान्तिको द्वारा उपहानास्पद बना दी गई है।

सौत्रान्तिक 'देवविचेष्टित' कहकर इसका उपहास करते हैं — कारित्रं सर्वदा चास्ति, सदा घर्मेश्च वर्ण्यते। धर्मान्नान्यच्च कारित्रं व्यक्त देवविचेष्टिस् ॥ (ग्रिभिधर्मकोश, ४।५७)

किन्तु, मघभद्र (न्यायानुमार, ६३३ मी) इसका कडा प्रतिवाद करते है। 'यह उपहास ग्रमुचित है, क्योंकि वृद्ध भगवान् स्वयं भी शिक्षा देते हैं—तथागत लोकोत्तर है ग्रौर नहीं हैं; प्रतीत्यममुत्पाद की धर्मता है, ग्रौर यह नित्य नहीं हैं।' क्या इसके लिए वृद्ध भगवान् का भी उपहाम किया जायगा ? हम मानते हैं कि धर्मों का मदा ग्रस्तित्व है, ग्रौर साथ-ही-माथ हम यह भी मानते हैं कि धर्म नित्य नहीं हैं।

इस सिद्धान्त की ग्रापकी ग्रालोचना निराधार है, क्यों कि 'नित्य' ग्रीर 'ग्रनित्य' इन दो का व्यवहार दो भिन्न ग्रयों में हुग्रा है। इमलिए, बुद्ध का उपहास नहीं करना चाहिए। क्या इसमें भी ऐसा ही नहीं है? धर्म नित्य वर्त्तमान है, किन्तु धर्म-भाव वदलता है। जब संस्कृत धर्म त्रिकाल में मंक्रमण करते हैं, तब वह ग्रपना स्वभाव नही खोते ग्रीर जो कारित्र होता हैं, वह प्रत्ययो पर निर्भर करता है। उसकी उत्पत्ति के ममनन्तर ही कारित्र ग्रवकृद हो जाता है। ग्रत, हमारा सिद्धान्त है कि धर्म नित्य हैं किन्तु, धर्मभाव ग्रनित्य हैं। यह क्यों ग्रापका उपहास है कि यह देवविचेष्टित हैं?

सवभद्र न्यायानुसार (६३३वी) मे वैभाषिक सिद्धान्त का यह मामासिक वर्णन देते है—फलाक्षेप की अवस्था में सब सस्कृत धर्म 'वर्त्तमान' कहलाते हैं, फलाक्षेप की इस अवस्था का पूर्व और उत्तर दोनो में प्रभाव हैं। इस पूर्व और उत्तर अभाव के अनुमार विकाल का भेद व्यवस्थित होता हैं। भूत और भविष्यत् का अस्तित्व वर्त्तमान के समान ही हैं। संक्षेप में, यद्यपि मर्व सस्कृत धर्मों का स्वमाव सदा एक-सा रहता है, तथापि नामर्थ्य भिन्न हैं। इस प्रकार, यद्यपि विकाल का स्वभाव मदा एक है, तथापि उनके कारित में भेद होता हैं।

कपर जो प्रमाण एकत्र किये गये है, उनसे स्पष्ट है कि वैभाषिक धर्म के दो ग्राकार की शिक्षा देते हैं। यह भेद दो भिन्न ग्रायतन या दो भिन्न धर्मों का-सा नहीं है। कारित्र स्त्रभाव का परिणिष्ट नहीं है, यह दिनीय धर्म नहीं है, ग्रीर न धर्म का दितीय स्त्रभाव ही है। यह धर्म, ग्रर्थात् स्त्रलक्षण भी नहीं है। जैसा 'तत्त्वमग्रह' से मालूम होता है, इम दृष्टि का स्पष्ट प्रत्याख्यान सघमद्र ने किया था। कारित्र = फलाक्षेप-णक्ति ग्रीर स्त्रकारित = स्त्रलक्षण का भेद मौलिक है—मप्रतिघत्व ग्रादि के रूप में स्त्रलक्षण धर्म का सम्पूर्ण स्त्रभाव को घ्यक्त करते है, ग्रीर इसलिए मप्रतिघत्व से नमन्त्रागत धर्म कभी ग्रप्रतिघ नहीं हो सकता। इसके विपरीत, फलाक्षेप-प्रक्ति कादाचित्क है। दूसरे णव्दो में वैभाषिक सिद्धान्त एक प्रकार के भेदाभेदवाद की शिक्षा देता है, जिसके ग्रनुसार स्त्रभाव ग्रीर कारित्र का सम्बन्ध भेदाभेद का है।

## दिग्-ग्राकाशवाद

कालवाद की ममीक्षा करते हुए हमने ऊपर कहा है कि कालवाद और दिग्वाद दोनों में समानता पाई जाती है। जो काल को द्रव्य-विशेष मानता है, वह दिक् को भी द्रव्य-विशेष

मानेगा, श्रीर जो बाह्य जगत् के काल-प्रवाह का वहन श्राभ्यन्तरिक जगत् में करेगा, वह बाह्य जगत् में श्रथों का देशस्थ होना स्वीकार नहीं करेगा। दिक् से यह दो भाव भारतीय दर्शन के इतिहास में पाये जाते हैं। बहुत प्राचीन काल में दिक् का भाव वस्तुन्यापी श्रीर श्रपेक्षया स्थूल था। पीछे से दिक् को एक द्रव्य-विशेष, जो श्रतीन्द्रिय श्रीर श्रनन्त है, मानने लगे।

शब्द के स्वभाव को न समझ सकने के कारण भारतीयों ने आकाश-द्रव्य की कल्पना की। यह सर्वगत और नित्य है; इसका अन्यथात्व नहीं होता और यह शब्द का आश्रय है। यह कल्पना उपनिषदों में भी पाई जाती है। उस समय भी दो आख्याओं का व्यवहार होता था—दिक् और आकाश। आकाश का लिंग शब्द है। यह शब्द का समवायिकारण है। आकाश वह द्रव्य है, जिससे शब्द की अभिनिष्पत्ति होती है। दिक् वह शब्द-विशेष है, जो प्रदेश का निमित्तकारण है।

दिक्-सम्बन्धी यह दोहरा विचार शब्द पर श्राश्रित है। मीमासको के श्रनुसार शब्द एक, नित्य द्रव्य-विशेष है, जिसकी अभिव्यक्ति उस वाक् में होती है, जो हम सुनते है; किन्तु जिसका सदा और सर्वत्न श्रस्तित्व है। मीमासको का उद्देश्य वेदो का नित्यत्व सिद्ध करना था, जो इनके श्रनुसार न सृष्ट हुए, न ईश्वर द्वारा श्रिभव्यक्त हुए, जो श्रपौरुषेय है, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व से जो स्वत प्रमाण हैं।

कणाद इस मत का खण्डन करते है, श्रौर सिद्ध करते हैं कि शब्द एक गुण है, श्राकाश का गुण है।

कुमारिल उत्तर देते हैं कि यदि पूर्वपक्ष की प्रतिज्ञा है कि शब्द श्राकाश का गुण है, तो इसके न कहने का कोई कारण नही है कि यह दिक् का गुण है। कुमारिल कहते हैं कि—"दो नित्य, व्यापी और सर्वगत द्रव्यो का अस्तित्व मानना निष्प्रयोजनीय है, और जो श्राकाश के लिए कहा जा सकता है, वह दिक् के लिए भी कहा जा सकता है। वह कहते हैं कि दिक् एक और व्यापी है, और श्राकाश को भी व्याप्त करता है। जो दिग्भाग श्रोत-शब्कुली को घरता है, वह श्रोतेन्द्रिय है, यथा वैशेषिको के श्रनुसार श्रोतेन्द्रिय नभोदेश है। वैशेपिको के घरता है, वह श्रोतेन्द्रिय है। हमारे श्रनुसार श्रोतेन्द्रिय दिग्भाग है। श्रन्तर इतना ही सब प्रमाण हमारे वाद में घटते है। हमारे श्रनुसार श्रोतेन्द्रिय दिग्भाग है। श्रन्तर इतना ही है कि हमारे वाद का श्राधार श्रुति है। वह दिग्-द्रव्य, जो कम या श्रधिक श्रोत्र-विवर में श्रावद्ध है, हमको श्रोतेन्द्रिय के रूप में व्यक्त होता है।"

दूसरो के अनुसार दिक् और आकाश दो पृथक् द्रव्य है। इनमें अन्तर केवल इतना है कि कई प्रस्थानो के अनुसार शब्द का आश्रय इनमें से एक ही है।

उपनिषदों में भी यह दोनों श्राख्याएँ पाई जाती हैं। उनके अनुसार आकाश एक अनन्त द्रव्य है। कभी यह द्रव्य पाँच महाभूतों में परिगणित होता है, जिनसे सृष्टि की उत्पत्ति होती है। कभी इसे सृष्टि का प्रथम तत्त्व निर्धारित किया गया है, जिससे शेष तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ग्रोपिंघयाँ, ग्रोपिंघयों से ग्रन्न, ग्रन्न से ग्रन्न, ग्रुन्न से पुरुष उत्पन्न होता है। प्राय भूताकाश को ग्रनन्त दिक् वताया गया है, जिसमे द्यावापृथिवी, ग्रन्नि-विद्युत्, वायु, चन्द्र, सूर्य ग्रीर नक्षत्र समाहित है। इस ग्रर्थ में यह नभम् ग्रम्त्रर का पर्याप्त है। नभस् से ग्रनन्त दिव्य लोक समझे जाते हैं।

दिग्वाद ग्रौर ग्राकाशवाद के माथ ब्रह्मतत्व सम्बद्ध है, जो जब्द की निष्पत्ति करता है। इस वाद का स्पष्ट उल्लेख उपनिषदों में नहीं है।

शब्द का एक ग्रस्पष्ट सम्बन्ध दिक् से हैं। इसका ग्रायतन ग्राकाण है। छान्दोग्य में यह विचार ग्रिधिक न्पष्ट है—दिक् के कारण मुनते हैं, वुलाते हैं, उत्तर देंते हैं। यहाँ उस ग्रयं का प्रभव मिलता है, जिसमें ग्रागे चलकर ग्राकाण का ग्रयं णव्द का उपादान हो गया। भारतीयों का विचार या कि विज्ञानेन्द्रियों की किया केवल प्राप्यकारि ग्रयों के न्पर्भ से सम्पन्न होती है। शब्द-तत्त्व ग्रीर श्रोतेन्द्रिय के बीच वह स्वभावत एक ग्रावाण-श्रवकाण की कल्पना करते थे। ग्रतः, यह कल्पना उनके लिए स्वामाविक थी कि दिक् इन दोनों के बीच एक द्रव्य है। पीछे से यह कल्पना जोड़ी गई कि यह ग्रवकाण एक द्रव्य-विशेष से ग्रावृत है, जो शब्द का उपादान है। ग्राकाण ग्रवकाण है, नूयं ग्रार चन्द्र के बीच का ग्रवकाण है। गर्भोपनिपत् (१११) में कहा है कि इस पचात्मक गरीर में जो मुप्पिर है, वह ग्राकाण है। ग्रन्त में ग्राकाण बहा का प्रतीक है। कुछ स्थलों में ग्राकाण का तादात्म्य बहा से वताया है।

इस प्रकार, उपनिषदों की शिक्षा के अनुसार आकाश मृष्टि का प्रथम तत्त्व, अवकाश, शब्द का उपादान, विश्वव्यापी दिक्, ब्रह्म है। यह न देखा गया कि यह विविध भाव भिन्न हैं। दर्शनों में हम इन सब भावों को पाते है। कोई एक अर्थ चुनता है, कोई दूसरा। न्याय-वैशेषिक आकाश को शब्द का आअय मानते हैं। वौद्ध उसे अनावृत कहते हैं, और वेदान्त उसे सृष्टि का प्रथम तत्त्व मानता है।

उपनिपदों में आकाण के अतिरिक्त दिक् गट्ट मी मिलता है, जो मुख्यतः दिशाओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। किन्तु, जिसका अर्थ अनन्त दिग्-द्रव्य भी है। उसका अन्त नहीं मिलता; क्योंकि दिशाएँ अनन्त है। यही श्रोत्र है, आयतन है, आकाण है, प्रतिष्ठा है, अनन्त है; यही द्रव्य है (वृहदारण्यक, ६१९१४)।

पीछे के दर्शनो में इसका उपयोग वहाँ किया गया है, जहाँ कुछ कारणो से दो भिन्न द्रव्य स्वीकार करने पड़ते हैं, जो भिन्न प्रकार के दिक् को निरूपित करते हैं। उपनिपदों में दिक् का ऐमा ग्रर्थ नहीं है।

जैन साहित्य में किसी भौतिकवाद का उल्लेख है ( श्रीडर, पृ० ५३ ), जो नित्य तत्त्वों में दिक् या आकाश को भी परिगणित करने थे। इस वाद का नाम भूतवाद और पाचभौतिक है। इसके अनुसार भौतिक द्रव्य नित्य हैं, और उनसे सत्यलोक और भाजनलोक दोनों का समुदाय सृष्ट होता है। इस वाद के नाम से ही स्पष्ट है कि यह पचभूत की सत्ता मानता था, अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज और वायु के अतिरिक्त यह आकाश या दिक् भी मानते थे। इसी आधार पर यह अन्य वादों से भिन्न था। अत, आकाश को तत्त्वों में गिनें या न गिने, यह शास्त्रार्थं का विषय हो गया।

कुछ ऐसे वाद हैं, जो केवल चार भूत मानते हैं।

वेदान्त के अनुसार आकाश की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई। यह ब्रह्म का प्रतीक है; क्यों कि यह अनन्त, नित्य, अपरिवर्त्तनशील तत्त्व है। किन्तु, इसका ब्रह्म से तादात्म्य नहीं है, क्यों कि ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति होती है। पुन आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी की सृष्टि हुई है। इन अतिसूक्ष्म द्रव्यों के स्थूल द्रव्यों में परिवर्त्तन होने से लोक की सृष्टि होती है। इसके विपरीत, स्थूल द्रव्यों के सूक्ष्म द्रव्यों में परिवर्त्तित होने से प्रलय मिद्ध होता है। यहाँ आकाश एक द्रव्य है, एक अनन्त द्रव्य है; भूतों में से एक है।

नीमासकों के अनुसार भी दिक् एक द्रव्य है, सर्वगत है, उन अर्थों से स्वतन्त्र है, जो उसमें निवास करते हैं, किन्तु यह सर्वदेशों में दिखाई देता है। मीमासकों के अनुसार दिगवकाश वस्तुभूत है, जो भौतिक अर्थों के तिरोशाव के पश्चात् भी रहता है।

सांख्य के अनुसार आकाश पाँच महाभूतो में एक है। शब्दतन्मान से आकाश की उत्पत्ति होती है, और आकाश का गुण शब्द है। अन्य महाभूतो के साथ यह महाभूत भी सर्ग की प्रवृत्ति में लगता है। यह मुख्यत इसी भूत के कारण है कि प्रत्येक वस्तु का अवकाश होता है। किन्तु, साख्य-साहित्य में भी दोनों आख्याएँ पाई हैं—१. आकाश = अनन्त दिक्; २. दिक् = अर्थों का देशस्य होना। माध्य कहते हैं कि साख्य उन वादों से सहमत है, जो सामान्य दिक्, अर्थात् अनन्त दिक्, और उस दिक् में विशेष करते हैं, जो उपाधि-वश सान्त है। सान्त दिक् काल से आबद्ध है। हमने ऊपर कहा है कि काल और दिक् भूतों के दो नित्य गुण है। काल और सान्त दिग्-द्रव्य (आकाश = अवकाश) अनन्त आकाश के उपाधिमान है।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तो में दिक् ( श्राकाश ) ग्रौर काल का साधम्यं वताया गया है। दोनो सर्व उत्पत्तिमान् के निमित्त है। न्यायसूत्रो में श्राकाश (दिक् ) की व्याख्या नहीं पाई जाती, ग्रौर न कही श्रन्यत्र काल का लक्षण बताया गया है। कणाद के सूतो में (२।२।१०) दिक् वह द्रव्य है, जिसके कारण एक मूर्त द्रव्य दूसरे के समीप या दूर है। इस द्रव्य का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसके लिंग से उसका श्रनुमान हो सकता है। देशिक श्रयों की सन्तित का कोई कारण होना चाहिए, जो कालवर्त्ती भावों की परम्परा के मदृश हो। यह कारण एक नित्य द्रव्य है, यह उसी प्रकार सिद्ध होता है; जैसे काल श्रौर वायु का द्रव्यत्व ग्रौर नित्यत्व सिद्ध होता है। दिक् से स्वतन्त्व एक ग्राकाश है, वह भी नित्य ग्रौर विभु द्रव्य है। श्राकाश दिक् से भिन्न है, क्योंकि यह शब्द का उपादान है। ग्राकाश सवको व्याप्त करता है। श्राकाश दिक् से भिन्न है, क्योंकि यह शब्द का उपादान है। श्राकाश सवको व्याप्त करता है, ग्रौर उसके श्रस्तित्व का श्रनुमान केवल श्रपने गुण से होता है। प्रशस्तपाद वैशेषिक

दर्शन के पीछे के ग्रन्थकार, न्याय तथा न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थकार सभी की दृष्टि वहीं है, जो कणाद के सूत्रों की है।

प्रशस्तपाद ने शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार वताई है — "शब्द द्विविध है. वर्ण-लक्षण ग्रीर ध्विन-लक्षण। ग्रकारादि वर्ण-लक्षण है, ग्रीर शखादि निमित्त ध्विन-लक्षण है। वर्ण-लक्षण शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार है — ग्रात्मा ग्रीर मन के सयोग से, म्मृति की ग्रपेक्षा से, वर्णोच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है। तदनन्तर, प्रयत्न होता है, जिससे ग्रात्मा ग्रीर वायु का सयोग होता है। इससे वायु में क्रिया उत्पन्न होती है, वह ऊर्ध्वगमन कर कण्ठादि को ग्रिमहत करती है। इससे स्थान ग्रीर वायु के सयोग से स्थान ग्रीर ग्राकाश का सयोग होता है। इससे वर्ण की उत्पत्ति होती है। ध्विन-लक्षण शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार होती है — भेरी-दण्ड के सयोग से भेरी ग्रीर ग्राकाश का सयोग होता है। इससे ध्वन्यात्मक गब्द की उत्पत्ति होती है" (प्रशस्तपाद, पृ० ६४५)।

"इस प्रकार, द्रव्यविशेष के रूप में ग्राकाण वह द्रव्य है, जिससे शब्द की ग्रिभिनिष्पत्ति होती है, ग्रर्थात् यह उसका समवायिकारण है। नैयायिको के ग्रनुसार कारण तीन है—समवायि, ग्रसमवायि ग्रीर निमित्त। शब्द की उत्पत्ति में ग्राकाश समवायिकारण है, स्थान ग्रीर ग्राकाश का स्योग ग्रसमवायिकारण है, ग्रीर ग्राभ्यन्तर वायु ग्रीर स्थान का स्योग निमित्त-कारण है। ध्वन्यात्मक शब्द में भेरी पर दण्ड का प्रहार निमित्तकारण है, भेरी ग्रीर ग्राकाश का स्योग ग्रसमवायिकारण है, ग्रीर ग्राकाश ममवायिकारण है।" (प्रशस्तपाद)

इस वाक्य से यह प्रदर्शित होता है कि यद्यपि ग्राकाश एक ग्रदृश्य, ग्रह्पी ग्रीर ग्रन्त द्रव्य है, तथापि वह वायु के समान ग्रन्य मूर्त रूपो से संयुक्त हो सकता है। इस द्रव्य का एक देश जो श्रवणविवर-सज़क है, श्रोतेन्द्रिय कहलाता है। ग्राकाश का शब्दगुणत्व प्राचीन काल से स्वीकार किया गया है। माख्य, न्याय ग्रीर वैशेपिक इन दो में विशेष करते हैं। एक ग्राकाश है, जिमका शब्द गुण है, जिमके कारण शब्द की निष्पत्ति होती है। दूसरा दिक् द्रव्य है, जो वाह्य जगत् को देशम्थ करता है। दूसरी ग्रीर कणाद के सूत्रो में (२१२११३) यद्यपि यह दो स्वतन्त्र द्रव्य है, तथापि कितपय लिंग प्रदर्शित करते हैं कि इन दोनों का एक द्रव्य माना जाता था, जो परस्पर भिन्न न थ, किन्तु कार्य-विशेष में जिनका नानात्व था। जिस प्रकार एक हो पुरुष ग्रध्यापक ग्रीर पुरोहित दोनों हो मकता है, उसी प्रकार कार्यविशेष से द्रव्य को ग्राकाश ग्रीर दिक् कहते हैं। यदि वह शब्द की निष्पत्ति करता है, तो वह ग्राकाश कहलाता है। यदि वह वाह्य जगत् से ग्रयों के देशस्थ होने का कारण है, तो इसे दिक् कहते हैं।

इन्हें पीछे के नैयायिक और वैशेषिक दो स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। पूर्व और पीछे के वीद्धों में अन्तर है, इसी प्रकार बहुधर्मवाद और विज्ञानवाद में भी अन्तर है।

पालि-श्राम्साय में श्राकाण-श्रवकाण (श्राकामो श्रीर श्रोकासो ) की गणना महाभूत या पानु में नही की गई है। यहाँ महाभूत चार ही है। सूल्रो में ऐसे वाक्य मिलते है, जिनसे

श्रनुमान हो सकता है कि श्राकाश पाँचवाँ महाभूत माना जाता है। किन्तु, श्रिभधम्म में त्राकाश महाभूत नहीं है, यद्यपि यह धातु है। धम्मसगणी में ग्राकाश को देवताग्रो का लोक कहा है। यह ग्रनावृत है, ग्रीर यह स्पष्ट किया गया है कि इसका कोई सम्वन्ध महाभूतो से नहीं है। बुद्धघोष 'ग्राकास-धातु' की वही व्याख्या करते हैं, जो वैशेषिक (२।२।१०) में 'दिश्य' की की गई है---'ग्राकास-धातु' का लक्षण रूप-परिच्छेद है। इसके कारण परिच्छन्न रूपो मे यह प्रतीति होती है कि यह इससे ऊर्घ्व है ग्रध है या तिर्यक् है ( इदिमतो उद्धमधो तिरियं च होति )। अत , थेरवाद में हम दिग्-आकाश यह द्विविध भाव नहीं पाते। शब्द को न एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है, ग्रौर न द्रव्य-विशेष का गुण। शब्द चार महाभूतो का कार्य है। यह अदृश्य है, किन्तु श्रोत्र-विज्ञान का विषय है। धम्मसंगणी मे यह विचार कही नही पाया जाता कि ग्राकाश ग्रीर श्रोत्र के वीच एक विशेष स्थान है, ग्रीर न यही पाया जाता है कि प्रत्येक इन्द्रिय का महाभूत-विशेष से विशेष सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए, साख्य ग्रीर वैशेषिक दर्शन में रूप का तेज से, रस का जल से, गन्ध का पृथिवी से ग्रीर वायु का स्पर्श से सम्बन्ध है। कदाचित् इसी स्राधार पर स्राकाण का ऐसा ही सम्बन्ध श्रोत्र से है। श्रोत्नेन्द्रिय को नभोदेश कहा है, जो श्रोत्रविवर-सज्ञक है। धम्मसगणी मे रूप, गन्ध, रस ग्रौर इनके साथ शब्द चार महाभूतो के कार्य कहलाते है। जिस काल में धम्मसगणी की रचना हुई थी, उम काल में स्राकाश एक द्रव्यविशेष था, और इसके कारण मूर्त द्रव्य देशस्य होते थे। दूसरी श्रोर हमको यह न भूलना चाहिए कि सकल बाह्य जगत् के तुल्य दिक् एक स्कन्ध है, जिसे रूप-स्कन्ध कहते हैं। स्कन्धवाद की एक वात तो स्पष्ट है कि यह द्रव्य का प्रत्याख्यान है। धर्मी की ग्रनन्त परम्परा है; कोई द्रव्य नहीं है। ग्राकाण-धातु इस धर्म का एक रूप है। इसलिए, इसका ग्रिभधम्म की सूची में स्थान है। अत , आकाश-धातु की कल्पना एक धर्म की है, जो विपरिणामी धर्मों के ग्रनन्त प्रवाह में डूबे हैं। विभाषा में ग्राकाश-धातु को ग्रघसामन्तकरूप कहा है, ग्रयति वह जो ग्रत्यन्त ग्रभिवात करनेवाले (यथा वृक्षादि ) का सामनक रूप है।

नागार्जुन के समय मे बौद्ध षड्धातु मानते थे—चार महाभूत, ग्राकाश ग्रौर विज्ञान (मध्यमकवृत्ति, पृ० १२६)। यदि ग्राकाश-धातु के स्थान में वैशेपिको के तीन द्रव्य—ग्राकाश, दिक् ग्रौर काल—का ग्रादेश करे, ग्रौर यदि बौद्धों के विज्ञान के स्थान में ग्रात्मा ग्रीर मनस् का ग्रादेश करें, तो वैशेपिकों के नौ द्रव्य हो जाते हैं। नागार्जुन के व्याख्यान में स्प्रीर मनस् का ग्रादेश करें, तो वैशेपिकों के नौ द्रव्य हो जाते हैं। नागार्जुन के व्याख्यान में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ग्राकाश-धातु का ग्रन्य द्रव्यों में प्राधान्य था, वयोकि ग्राकाश-धातु विचार करके ग्रौर यह दिखला करके कि उसका स्वभाव विरुद्ध है, वह वहते ग्राकाश-धातु के वारे में जो कहा गया है, वह ग्रन्य सब द्रव्यों में लागू होता है। हैं कि ग्राकाश-धातु के वारे में जो कहा गया है, वह ग्रन्य सब द्रव्यों में लागू होता है। उपनिषदों में भी दिक् का ऐसा ही प्राधान्य है। चन्द्रकीर्त्ति (मध्यकवृत्ति, ११९) कहने हैं उपनिषदों में भी दिक् का ऐसा ही प्राधान्य है। चहुधमेंवादी बौद्ध ग्राकाण को ग्रभाव कि ग्राकाश ग्रनन्त है, यह ग्रनावरण-मात्र स्वभाव है। वहुधमेंवादी बौद्ध ग्राकाण को ग्रभाव मानते हैं (वेदान्तसार, २,२ पर शकर)।

नगण ए। जिसार का है—१. वृद्धिपूर्वक, यथा किसी वस्तु के वृद्धिपूर्वक विनाश अभाव दो प्रकार का है—१. वृद्धिपूर्वक किसी वस्तु का निरन्तर विनाश, जा चक्षु से नहीं से उस वस्तु का अभाव, २. अबुद्धिपूर्वक किसी वस्तु का निरन्तर विनाश, जा चक्षु से नहीं

देखा जाता । इन दो के अतिरिक्त आकाश तृतीय प्रकार का अभाव है । वीद्व इमीलिए आकाश को द्रव्यविशेष नहीं, किन्तु अभावमात्र मानते थे । आस्तिक-दर्शन उसे वस्तुभूत मानते थे । आकाश-परीक्षा में नागार्जुं न आकाश को भाव मानकर उसको असम्भव मिद्व करते हैं । उमी प्रकार वह आकाश को अभावमात्र भी असिद्व करते हैं । नागार्जुं न भाव-श्रभाव दोनो का प्रत्या-ख्यान करते हैं । केवल आकाश ही नहीं, विल्क अन्य सब द्रव्यो का भी । सामान्यत., वह प्रत्येक ज्ञान की शून्यता सिद्ध करते हैं । वाह्य और आभ्यन्तर दोनो लोको के सब भावो का विवेचन कर वह अनवस्या दोष दिखाकर उनकी विमद्धता दिखाते हैं, तथा ज्ञेय लोक के समुदाय की शून्यता सिद्ध करते हैं ।

यद्यपि नागार्जुं न ग्राकाण की समस्या हल नहीं करते हैं, तथापि उनका विचार विज्ञान-वादी विचार की पूर्वावस्था है। इस प्रश्न को उठाकर कि हमारे भावों का वस्तुत कोई ग्रालम्बन है या नहीं, नागार्जुं न कहते हैं कि यह भावधर्म हैं, जो ग्रनालम्बन हैं।

विज्ञानवादी दृष्टि को ग्रार्यासग, वमुवन्यु ग्रौर दिइनाग ने विक्रिमत किया। धर्मकीर्ति ने इसमे वृद्धि की। इनका विचार वमुबन्धु के विचार से कुछ भिन्न है। इनके ग्रनुसार भी भाजन-लोक प्रवृत्ति-विज्ञान से बना है। ग्राकाण इन प्रवृत्ति-विज्ञानों का एक ग्राकार-विजेप है।

धर्मकीर्त्तं प्रत्येक विज्ञान में तथा प्रत्येक वस्तु में तीन प्रकार के गुण मानते हैं—देश, काल ग्रीर स्वमान । धर्मकीर्त्तं ग्राकाण ग्रीर काल ग्रीर काल ग्रीर स्वमान । धर्मकीर्त्तं ग्राकाण ग्रीर ग्राकाण दोनो शब्दो का व्यवहार करते हैं । ग्र्यं के देश-थ होने को वह सदा 'देण' कहते हैं, ग्रीर ग्राकाण को ग्रनादि, ग्रनन्त, ग्रविपरिणामी वताते हैं । ग्रपने ग्रन्थ में उन्होंने कहीं ग्राकाण का विचार नहीं किया है किन्तु इन दोनो गब्दो का प्रयोग उसी ग्रथं में करते हैं, जिम ग्रथं में इनका प्रयोग ग्रास्तिक दर्शनों में होता है । दिक् का ग्रथं केंवल ग्रयं का देशस्य होना है । यह बाद विज्ञानवादी विचार ने पूरी तरह मिलता है, किन्तु दिद्यना ग्रीर धर्मकीर्त्तं ग्रनन्त ग्राकाण का वार-चार उल्लेख करते हैं । साथ-ही-साथ परायानुमान का उल्लेख है, जिमके द्वारा वाक् की ग्रनित्यता मिद्ध हो मकती है। जिसका ग्रस्तित्व है, वह ग्रनित्य है । वाक् का ग्रस्तित्व है, ग्रतः वह ग्रनित्य है । वाह्य जगत् ग्रनित्य है । ग्रत्येक क्षण का विनाश होता है । ग्राकाण नित्य है । इसलिए उसका ग्रभाव है ।

#### प्रमाण

वौद्धधर्म में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। वहुधर्मवाद, विज्ञानवाद श्रौ शून्यवाद की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। शून्यवाद ऐसी प्रवृति है, जो वाह्य जगत् की शून्यता श्रीर ज्ञान को नितान्त ग्रनिश्चितता मानता है।

इन मौलिक मिद्धान्तो ने वौद्ध-दर्शन के स्वभाव को पूर्व ही विनिष्टिचत कर दिया। वह सांच्य ग्रीर वेदान्त के समान विश्व को समझाने के लिए किसी परम तत्त्व का निर्माण न कर सका। वह भावों को नित्य और अनित्य द्रव्यों में विभवत न कर सका, और न न्याय-वैशेषिक के समान ससार की उत्पत्ति का हेतु इन द्रव्यों के अन्योन्य प्रभाव को निर्दिष्ट कर सका। यह किसी ग्रन्थ का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करता था। इसके लिए ज्ञान स्वय एकमान्न प्रमाण है। अतः, पाँचवी-सातवी शताब्दी में उसका उद्देश्य प्रमाणों को निश्चित करना तथा आन की इयत्ता को निर्धारित करना था। इन्होंने इसकी स्वतन्त्र परीक्षा की कि विज्ञान का विषय क्या है, और क्या नहीं है ? इन्होने प्रमाणों की व्यवस्था की।

### प्रमाण-शास्त्र का प्रयोजन

सर्वपुरुषार्थं की सिद्धि सम्यग्-ज्ञानपूर्वक होती है। ग्रतः, उसकी प्रतिपत्ति के लिए न्यायशास्त्र की रचना हुई है। मानवीय प्रयोजन हैय या उपादेय हैं, वाछनीय या अवाछनीय हैं। प्रवृत्ति या अर्थिकिया अर्थ की प्राप्ति और अनर्थ के परिहार के लिए होती है। सम्यग्-ज्ञान या प्रमाण वह ज्ञान है, जिसके अनन्तर अध्यवसाय (निश्चय) होता है, जिससे पुरुषार्थं की सिद्धि होती है। जो ज्ञान मिथ्या है, उससे अर्थिसिद्ध नही होती। सशय और विपर्यय सम्यग्-ज्ञान के प्रतिपक्ष हैं। ध्रमींतर कहते है कि सम्यग्-ज्ञान द्विविध है।

- १ प्राग्-भवीय भावनाश्रित ज्ञान, जो ग्रापातत पुरुषार्थ-सिद्धि कराता है;
- २. प्रमाणभूत भावना, जो केवल ज्ञापक है।

बौद्ध-न्याय में इस दूसरे प्रकार के सम्यग्-ज्ञान की समाक्षा की गई है, क्योंकि जिसकी खोज साधारण जन करते है, उसी का विचार शास्त्र में होता है। लोग ग्रर्थिकया के अर्थी होते है, ग्रतः वह अर्थ-प्राप्ति के निमित्त अर्थिकिया-समर्थ वस्तु के ज्ञान की खोज करते है। इसलिए सम्यग्-ज्ञान अर्थिकिया-समर्थ वस्तु का प्रदर्शक है।

अतः, बौद्ध-न्याय मे प्रमाणभूत भावना का ही विवेचन किया गया है। जहाँ अर्थिकिया की सिद्धि आपाततः अविचारतः होती है, वहाँ ज्ञान की समीक्षा नही हो सकती। जिस ज्ञान की समीक्षा हो सकती है, उसे तीन विषयो मे विभक्त करते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और परार्थानुमान (सिलॉलिज्म, शब्दात्मक)। बाह्य वस्तु के ज्ञान का मुख्य प्रभव इन्द्रिय-विज्ञान है। इस ज्ञान के आकार को कल्पना निश्चित करती है, और इस प्रक्रिया की पूर्ण शाब्दिक अभिन्यक्ति परार्थानुमान से होती है। अतः, इन तीन के अन्तर्गत ज्ञान-मीमासा और न्याय दोनो हैं।

### प्रमाण-फल तथा प्रमाण का लक्षण

प्रमाण या सम्यग्-ज्ञान ग्रविसवादक ज्ञान है। लोक में उस पुरुष को सवादक कहते हैं, जो सत्यभाषी है, ग्रीर जो पूर्व उपदिशत अर्थ का प्रापक है। इसी प्रकार, वह ज्ञान भी संवादक कहा जाता है, जो प्रदर्शित ग्रर्थ का प्रापक है, ग्रर्थात् जो प्रदर्शित ग्रर्थ में प्रक्तन करता है। सम्यग्-ज्ञान पुरुषार्थ-सिद्धि का कारण है। सम्यग्-ज्ञान प्रवृत्ति के विषय का प्रदर्शक है, ग्रर्थ में पुरुष का प्रवर्त्तन करता है। ग्रिधगत ग्रर्थ में पुरुष प्रवर्त्तित होता है, ग्रीर ग्रर्थप्रापित होता है, ग्रतः ग्रथिधिगति ही प्रमाण-फल है। इसका ग्रथ यह है कि ग्रथिधिगम से प्रमाण का व्यापार

समाप्त हो जाता है। यह वह विन्दु है, जहाँ पुरुष का कारित्र होता है। इसे ग्रयंकिया-क्षम वस्तु कहते हैं, ग्रीर जो क्रिया इस वस्तु का ग्रधिगम करती है, वह सफल पुरुपार्थ है। सम्यग्-ज्ञान प्रापक (एफिकेशियस) ज्ञान है। इस प्रकार, हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता ग्रीर उसकी व्यवहार-क्षमता के वीच एक सम्बन्ध स्थापित है।

पुरुष को विज्ञान हठात् प्रवित्तत नहीं कर सकता, श्रतः ज्ञान कारक-कारण नहीं है; केवल ज्ञापक है।

लोग श्रर्यप्राप्ति के निमित्त ग्रर्थिकिया-समर्थ वस्तु के प्रदर्णक ज्ञान की खोज करते हैं, इसलिए सम्यग्-ज्ञान श्रर्थिकिया-समर्थ वस्तु का प्रदर्णक है।

जिस ज्ञान से पहले ग्रर्थ ग्रिधिंगत होता है, जमी से पुरुप प्रवित्तित होता है, ग्रीर भ्रयं-प्रापित होता है। उस ग्रर्थ के विषय में दूसरे ज्ञान का क्या काम है ? इसलिए, ग्रनिधंगत विषय प्रमाण है। जब ग्रर्थ प्रथम ग्रिधंगत होता है, तब ज्ञान होता है।

एक ज्ञान की पुनरावृत्ति प्रत्यिभज्ञा है। इसे ज्ञान का स्वतन्त्र ज्ञापक नहीं मानेंगे। किसी ग्रिधिगत विषय का अनुस्मरण राग या द्वेष का कारण होता है, किन्तु राग-द्वेप या स्मृति को ज्ञान का कारण नहीं मानते। जब हम सर्वप्रथम ग्रर्थ का ग्रिधिगम करते हैं, तब उसी क्षण में ज्ञान होता है। इसके पश्चात् कल्पना (या विकल्प) के द्वारा वस्तु के ग्राकार का निर्माण होता है। यह ज्ञान का कारण नहीं है। यह प्रत्यिभज्ञा है, यह सविकल्पक ग्रप्रमाण है।

मीमासको की भी यही व्याख्या है, अर्थात् प्रमाण अनिधगत अर्थ का अधिगन्ता है। किन्तु, उनके मत में अर्थ और प्रमाण दोनो कुछ काल के लिए अवस्थान करते है।

नैयायिको के श्रनुसार प्रमाण ज्ञान का साधकतम कारण है । यह कारण इन्द्रिय-विज्ञान श्रनुमानादि हैं । इनका प्रत्यक्ष सविकल्पक है ।

वौद्धों के अनुमार अर्थ क्षणिक हैं, और वह इन्द्रिय तथा कल्पना दोनों में विशेष करते हैं। उनके अनुमार यह दो ज्ञान के उपकरण हैं। इन्द्रिय अधिगत करता है, कल्पना निर्माण करती है, इसलिए ज्ञान का प्रथम क्षण मदा इन्द्रिय-विज्ञान का क्षण है। यह अविकल्प है, किन्तु विकल्पोत्पत्ति की शक्ति रखता है। अर्थ का अधिगम होने पर प्रथम क्षण के पश्चात् अर्थ की आभा स्फूट होती है। यदि लिग द्वारा वह अनुमित होता है, तो लिग अधिगम के प्रथम क्षण को उत्पन्न करता है, जिमके पश्चात् लिंग के स्फूटाभ और तत्सम्प्रयुक्त अर्थ के अस्फुट आकार की उत्पन्न करता है, जिमके पश्चात् लिंग के स्फूटाभ और तत्सम्प्रयुक्त अर्थ के अस्फुट आकार की उत्पत्ति होती है। किन्तु, दोनो अवस्थाओं में अधिगम का केवल प्रथम क्षण सम्यग्-ज्ञान का कारण होता है। अत , प्रमाण एक क्षण है और यही क्षण सम्यग्-ज्ञान का वस्तुत कारण है।

### प्रमाणों की सत्यता की परीक्षा

जव मत्य की परीक्षा केवल श्रनुभव से होती है, तव यह प्रश्न स्वभावत. उठता है कि ज्ञान के जो कारण हैं, वह उसके सम्यक् होने के भी कारण हैं, श्रथवा ज्ञान का कारण एक है श्रीर उसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए चित्त को दूसरी क्रिया करनी होती है ? इस प्रश्न पर भी मीमासको ने विचार किया है, क्योंकि उनको वेद-प्रामाण्य प्रतिष्ठित करना था। मीमासको के श्रनुसार ज्ञान स्वतः सम्यग्-ज्ञान है, प्रामाण्य-युक्त है; क्योंकि यह ज्ञान है, विसंवादक नहीं है। दो ही अवस्थाओं में ज्ञान श्रपवाद के रूप में मिथ्या हो सकता है— १ जब उसका बाधक ज्ञान है, या २. जब करण-दोष है। सिद्धान्त स्वतः प्रामाण्य का है; दोष परतः सिद्ध होता है।

वौद्धों के अनुसार स्वत प्रामाण्य नहीं है, परत प्रामाण्य है, क्योंकि प्रापक ज्ञान प्रमाण है। वौद्धों के अनुसार व्यभिचार सम्भव है। कारण-गुण के ज्ञान से, सवाद ज्ञान से, अर्थिकया ज्ञान से हम कह सकते हैं कि यह अविसवादक ज्ञान है।

यद्यपि मीमासक, वैशेषिक और नैयायिको की तथा बौद्धो की दृष्टि में साम्य है, तथापि इनमें सूक्ष्म भेद है। पहले दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान-िक्रया कर्ता, अर्थ उपकरण तथा िक्रया-विशेष से सम्बद्ध होती है। जब वर्ण-ज्ञान होता है, तब आत्मा कर्ता है, वर्ण अर्थ है, चक्षुरिन्द्रिय उपकरण है और क्रियाविशेष प्रकाश-रिक्म का चक्षु से विनिर्गत हो अर्थ की और जाता, उसका ग्रहण कर आत्मा को अकित करने के लिए लौटता है। इनमें चक्षुरिन्द्रिय साधकतम करण है। यही प्रमाण है।

किन्तु, बौद्ध किया ग्रौर ज्ञान से साम्य के ग्राधार पर रचित इस प्रणाली का प्रत्याख्यान करते है; क्योंकि वह प्रतीत्यसमृत्पाद का सिद्धान्त मानते है। इन्द्रिय है, इन्द्रियार्थ-सिन्नकर्ष है, इन्द्रिय-विज्ञान है। ग्रात्मा नहीं है, इन्द्रिय का उपकरणत्व नहीं है, ग्रर्थग्रहण नहीं है। विज्ञान ग्रौर विकल्प में सारूप्य है। वही प्रमाण है, वही प्रमाण-फल है। श्रर्थ का ग्राकार के साथ सारूप्य ग्रौर ग्राकार दो भिन्न वस्तु नहीं है।

## वस्तु-सत्ता का द्वैविध्य

विड्नाग श्रीर धर्मकीत्तिं के सिद्धान्त मे ज्ञान की व्याख्या के तुल्य वस्तु, परमार्थ-सत् की व्याख्या भी अपूर्व है। वस्तु, परमार्थ-सत् श्रयंक्रिया-समर्थ है। जिसमें यह सामर्थ्य नही है, वह स्रवस्तु है। जो श्रीन प्रज्वलित श्रीर शान्त होती है, वह श्रीन स्वलक्षण है। श्रीन-सिन्धान में स्फुट श्रीर श्रसिनिधान में श्रम्फुट प्रतिभासित होती है। यह पारमार्थ-सत् है। जवतक वर्त्तमान श्रीर चक्षुरिन्द्रय-ग्राह्य है, तबतक श्रीन का प्रकाश-कण भी स्फुट है। जो विह्न विकल्प का विषय है, जो न प्रज्वलित होती है श्रीर न पाचन-क्रिया करती है, श्रीर न प्रकाश देती है, वह श्रवस्तुक है। यद्यपि विकल्प-विषय दृश्य के तुल्य हो, तथापि वह श्रयंक्रियाभाव के कारण दृश्य नहीं है। श्रतीत, भविष्य श्रवस्तुक है, केवल प्रत्युत्पन्न वस्तु है। विकल्प-विषय, श्रभाव, वृद्धि-विर्माण, जाति, सामान्य प्रज्ञप्तिमात्र है, केवल प्रत्युत्पन्न वस्तु है। श्रन्य केवल विकल्प है, शब्दमात्र है। इनके पीछे किचिन्मात्र भी वस्तुत्व नहीं है। वस्तु-सत् में विकल्प नहीं होता, श्रत यह निर्विकल्पक है। किन्तु, इन दो के बीच एक लोक है, जो परिकल्प से वता है, किन्तु जिसका श्राधार वस्तु-सत् है। इसे सवृति-सत्य कहते है। परिकल्प दो प्रकार के हे—शुद्ध श्रीर वस्तु-मिश्रित। वस्तु के भी दो प्रकार है—शुद्ध श्रीर परिकल्प-मिश्रित। एक वस्तु-सत् क्षण वस्तु-मिश्रित। वस्तु के भी दो प्रकार है—शुद्ध श्रीर परिकल्प-मिश्रित। एक वस्तु-सत् क्षण

स्वलक्षण है। यह परमार्थ-सत् है। दूसरा स्वलक्षण के अनन्तर विकल्प-निर्मित आकार है। जब वस्तु-प्रतिवन्ध पारम्पर्येण होता है, तब अर्थ-सवाद होता है, यद्यपि यह अनुमव परमार्थ-सत् की दृष्ट से भ्रान्त है। पारम्पर्येण सत् है, प्रत्यक्षेण नहीं।

### प्रमाण का द्वेविध्य

जिस प्रकार वस्तु-सत् द्विविध है, उसी प्रकार प्रमाण भी द्विविध है। प्रमाण प्रत्यक्ष या ग्रप्रत्यक्ष है। यह परमार्थ-मत् के ज्ञान का कारण है, या सवृति-मत् के ज्ञान का कारण है। प्रत्यक्ष-प्रमाण इन्द्रिय-च्यापार से उत्पन्न होता है, ग्रप्रत्यक्ष विकल्प से। प्रथम प्रतिमास है, टूनरा कल्पना है। प्रथम ग्रयं का ग्रहण करना है, टूनरा उमी की कल्पना करना है (विकल्पयित)। वास्तव में, 'ग्रहण' नहीं होता, किन्तु इन शब्द का व्यवहार ज्ञान के प्रथम क्षण को गृहीत ग्रयं के विकल्प से विशिष्ट करने के लिए होता है। यह क्षण ग्रमाधारण तत्त्व है, ग्रतः यह ग्रनिमलाप्य है। नाम, ग्रभिज्ञा किमी एकत्व की होती है, जिसमें देश, काल ग्रीर गुण का सयोग होता है। यह एकत्व एक विकल्प है ग्रीर बुद्धि की जिस प्रक्रिया से इसका निर्माण होता है, वह प्रतिभास नहीं है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि प्रमाण के द्विविध विषय हैं—ग्राह्य ग्रीर ग्रध्यवसेय (पृ० ११-१६)। ग्राह्य ग्रीर ग्रध्यवसेय भिन्न-भिन्न है। प्रत्यक्ष का क्षण एक है। यह ग्राह्य है। दूसरा ग्रध्यवसेय प्रत्यक्ष-वल मे उत्पन्न निश्चय है। यह क्षण सन्तान है। सन्तान ही प्रत्यक्ष का प्रापणीय है। क्षण की प्राप्ति ग्रशक्य है।

वीद्धों के अनुसार दो प्रमाण है—प्रत्यक्ष ग्रीर अनुमान । वैशेषिक भी दो ही प्रमाण मानते हैं, यद्यपि उनके लक्षण ग्रीर उनकी व्याख्या भिन्न है। वौद्ध ग्राप्तवचन को प्रमाण में नहीं गिनते। नैयायिकों का उपमान ग्रीर ग्रर्यापत्ति वौद्धों के अनुमान के ग्रन्तर्गत है। ज्ञान इन्द्रिय-व्यापार से होता है, ग्रीर विकल्प-वल से ग्राकार का उत्पाद होता है। प्रत्यक्ष में ग्रयं का ग्राकार विशदाभ होता है, ग्रनुमान में लिंग द्वारा ग्रयं का ग्रस्फुट ज्ञान होता है। ग्रांन के संनिधान में ग्रांन का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ग्रीर यदि ग्रांन दूर है, ग्रीर धूर्मालंग के दर्शन से ज्ञान होता है, तो यह ग्रनुमान है। एक में प्रत्यक्ष प्रकृष्ट है, दूसरे में विकल्प का प्रकर्ष है।

वीद्धों का वाद 'प्रमाण-व्यवस्था' कहलाता है, जब कि दूसरों का वाद 'प्रमाण-सम्प्लव' कहलाता है। प्रमाण-सम्प्लव के अनुसार प्रत्येक अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से हो सकता है। वीद्धवाद में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की इयत्ता की व्यवस्था है। एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि वौद्ध-दर्शन की दृष्टि ग्रालोचनात्मक है। वौद्ध-दर्शन में प्रमाण दो ही हैं। दोनो ही इन्द्रिय-जन्य ग्रनुभव का समितिक्रमण नहीं कर सकते। जो ग्रतीन्द्रिय हैं, वह ज्ञान का विषय नहीं है। सब ग्रतीन्द्रिय ग्र्यं, जो देश, काल, स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं, ग्रनिष्चित है। ग्रतीन्द्रिय क्षेत्र में विकल्प से विविध निर्मित होगा, जो विरुद्ध होगा।

बौद्धधर्म मे बुद्ध को सर्वज्ञ कहा है, किन्तु श्रतीन्द्रिय-सर्वज्ञत्व का होना या न होना सन्दिग्ध है, श्रतः यह अनैकान्तिक है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि जिस अनुमान का लिंग-लैंक्प्य आगमसिद्ध है, उसका आश्रय म्रागम है। ये युक्तियाँ म्रवस्तु-दर्शन के बल से प्रवृत्त होती है, म्रर्थात् विकल्पमात के सामर्थ्य से प्रवृत्त होती है । ग्रागम के जो ग्रर्थ ग्रतीन्द्रिय है, ग्रर्थात् जो प्रत्यक्ष ग्रनुमान के विषय नहीं है, यथा सामान्यादि, उनके विचार में श्रागमाश्रित ग्रनुमान की सम्भावना है। विपर्यस्त शास्त्रकार सत्-ग्रसत् स्वभाव का भ्रारोप करते हैं । जब शास्त्रकार ही भ्रान्त होते है, तव दूसरो का क्या भरोसा, किन्तु यथावस्थित वस्तुस्थिति मे इसकी सम्भावना नहीं है।

#### प्रत्यक्ष

ज्ञान के स्वरूप को हम कभी नही जानेंगे, किन्तु हम उसे साक्षात् और परोक्ष में विभवत कर सकते है। इसी विभाग के ग्राधार पर ज्ञानमीमासा का शास्त्र ग्राश्रित है। साक्षात् को हम इन्द्रिय-व्यापार ग्रौर परोक्ष को विकल्प कह सकते है। श्रर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, सविकल्प नही है। यह वस्तु के स्वलक्षण का ग्रहण करता है। यह नामजात्यादि (जाति, द्रव्य, गुण, कर्म, नाम) का ग्रहण नही करता। जात्यादि विकल्प है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष जात्यादि से ग्रसयुत है। यह कल्पना से श्रपोढ है। सविकल्प प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि वह मन-इन्द्रिय द्वारा जात्यादि का विवेचन करके विषय का ग्रहण करता है। यह इन्द्रिय से वस्तु का ग्रालोचन-मान्न नही है। वस्तुमान्न का जो प्रथम समुग्ध ग्रहण होता है, वही निविकल्प प्रत्यक्ष है। यही शुद्ध प्रत्यक्ष है। पश्चात् मन द्वारा (नामस्मृति से) वस्तु के नाम का ज्ञान होता है। इसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। यह इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जन्य नहीं है। यह इन्द्रिय-व्यापार से उत्पन्न नहीं होता। ग्रन्य मतो के श्रनुसार सिवकल्प भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि यह इन्द्रिय-व्यापार से जन्य है, ग्रौर इन्द्रिय-व्यापार उस समय भी उपरत नहीं होता, जब सिवकल्प का उत्पाद होता है, क्योंकि इसका श्रपरोक्ष-भास होता है। किन्तु, वौद्ध कहते हैं कि यह कहना कि सविकल्प प्रत्यक्ष है, श्रीर साथ-ही-साथ यह अपरोक्षावभास है, परस्पर विरोधी है । वस्तुसज्ञा का श्रवभास इन्द्रिय को नही होता । सज्ञाकरण श्रीर प्रत्यभिज्ञा की किया वर्त्तमान अनुभव और अतीतानुभव के विषयों के एकीकरण से होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान को ग्रभ्रान्त होना चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञान तभी प्रमाण हो सकता है, जब कि वह विपर्यस्त न हो। भ्रान्ति भी दो प्रकार की है-- १ मुख्य विभ्रम, जिसके भ्रनुसार सभी व्यावहारिक ज्ञान एक प्रकार का विश्रम है और २ प्रातिभासिकी श्रान्ति । प्रत्यक्ष ग्राह्य रूप (परमार्थ-सत् में) ग्रविपर्यस्त होता है।

## मानस-प्रत्यक्ष

इन्द्रियाश्रित ज्ञान प्रत्यक्ष का केवल एक प्रकार है। एक दूसरा प्रत्यक्ष है, जिसे मानस-प्रत्यक्ष कहने हैं। प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में इसका एक क्षण होता है, यह इन्द्रिय-ज्ञान के विषय- क्षण से उत्तर क्षण है। इन्द्रिय ग्रौर विकल्प का मौलिक भेद स्थापित कर प्रमाणवाद को इनके सहकारित्व को समझाने की ग्रावश्यकता पड़ी। इन दोनों को पृथक् कर उन्हें पुनः मिलाने के लिए विवश होना पड़ा। पूर्व वौद्धर्म में एक वर्णधर्म एक चक्षधर्म ग्रीर एक मनोधर्म के हेतु-प्रत्ययवण वर्ण का ज्ञान होता है। इन्द्रिय ग्रौर विकल्प का भेद स्थापित कर दिद्दनाग ने मन का लोप कर चक्षुरिन्द्रिय के स्थान में गुद्ध इन्द्रिय-विज्ञान को रखा। इस प्रकार, वर्ण-ज्ञान को शुद्ध इन्द्रिय-विज्ञान के क्षण से समझाया, जिसके ग्रनन्तर विकल्प-निर्माण होता है। इन्द्रिय-विज्ञान के लिए देण का नियत करना विकल्प का काम हो गया। यह क्षण प्रत्यक्ष ग्रौर ग्रविकल्प हैं। पहला क्षण शुद्ध इन्द्रिय-विज्ञान है, दूसरा क्षण मानस-प्रत्यक्ष है। चक्षु का जब व्यापार होता है, तब रूपज्ञान चक्षुराश्चित होता है। जब चक्षु का व्यापार उपरत हो जाता है, तब मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

### योगिप्रत्यक

इन्द्रिय-विज्ञान के प्रथम क्षण में जैमा म्फुटाभ ज्ञान होता है, वैसा उत्तर क्षण में विकल्प-निर्माण से नही होता । सविकल्पक ज्ञान अस्फुटाभ होना है । योगिप्रत्यक्ष से भान्य-मान अर्थ का दर्शन योगी को होगा है। वह अतीत भविष्यत् को उमी प्रकार जान सकता है, जिस प्रकार वर्त्तमान को । यह प्रत्यक्ष अलौकिक योगज मन्निकर्प से जन्य है। इतर प्रत्यक्ष के तुल्य यह भी प्रत्यक्ष है। स्फुटाम होने से निविकल्पक है। प्रमाण शुद्ध और अर्थग्राही होने से सवादक है।

### स्वसंवेदन

सौत्रान्तिक योगाचार का मत है कि मर्वज्ञान स्वप्नकाश है। जिस प्रकार दीपक समीप की वस्तुग्रो को प्रकाणिन करता है भीर साथ-ही-साथ अपने को भी प्रकाशित करता है, प्रदीप स्वप्रकाश के लिए विसी दूसरे प्रकाश पर निर्मर नहीं रहता उसी प्रकार ज्ञान स्वप्रकाश है।

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान का स्वतः प्रत्यक्ष होता है। कुमारिल के अनुसार ज्ञानिकया का प्रत्यक्ष नहीं होता। यह ज्ञातता या प्राकटच से अनुमित होती है।

न्याय-वैशेषिक के अनुमार ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु इतका स्वत प्रत्यक्ष नहीं होता, अन्त करण अर्थात् मन द्वारा अन्य ज्ञान से होता है। ज्ञान का अनुमान ज्ञातता से नहीं होता। एक ज्ञान का प्रत्यक्ष दूमरे ज्ञान से होता है, जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। ज्ञान पर-प्रकाशक है, स्वप्रकाशक नहीं है। ज्ञान ज्ञानान्तर से वेद्य है।

नांख्य-योग का मत है कि जान का प्रत्यक्ष ग्रात्मा द्वारा होता है, ग्रन्य जान से नहीं होता, क्योंकि जान श्रचेतन है। चित्त स्वप्रकाश नहीं है, क्योंकि चित्त ग्रात्मा का दृश्य है। जिस प्रकार इतर इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियार्थं स्वप्रकाश नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है, उसी प्रकार चित्त (=मन) भी स्त्रप्रकाश नहीं है। तब यह ग्रयं का प्रकाश कैसे करता है? माख्य-योग पुरुष की सता को स्वीकार करता है। यह इसे ज्ञाता ग्रीर भोक्ता मानता है। पुरुष प्रकाश-स्वभाव है। प्रकाश पुरुष का गुण नहीं है। स्वाभास पुरुष का ग्रतिविम्व श्रचेतन वृद्धि पर पड़ता है

श्रीर यह पुरुष वृद्धि की अवस्था को स्वावस्था के रूप में विपर्यासवश गृहीत करता है। पुरुष न अत्यन्त बृद्धि-सरूप है, श्रीर न अत्यन्त विरूप है। यह बृद्धि से भिन्न है। किन्तु, यदि पुरुष अत्यन्त सरूप नहीं है, तो यह अत्यन्त विरूप भी नहीं है, क्योंकि पुरुष यद्यपि शुद्ध है, तथापि बृद्धि में पुरुष के प्रतिसक्तान्त होने से चैतन्यापन्न बृद्धि की वृत्ति को यह जानता है, श्रीर अतदात्म होते हुए भी उसे तदात्मक के समान गृहीत करता है। बृद्धि जड स्वभाव है, तथापि स्वाभास पुरुष के प्रतिबिम्बत होने से यह चैतन्य को प्राप्त करती है।

## शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है।

हीनयान में आत्मा और उसके गुणो का प्रत्याख्यान है। किन्तु, वहाँ भी विज्ञान, इन्यि आरे विषय का त्रिक है। मन-इन्द्रिय या आयतन को भी यह मानता है, जिसके चैतसिक-धर्म विषय है। मन विज्ञान-सन्तित है, यह चैतसिक धर्मों की उपलब्धि स्वत करता है, और वाह्य विषयों का प्रत्यक्ष पचेन्द्रियों द्वारा करता है।

दिक्षताग इस वाद का प्रत्याख्यान करते हैं। मन नाम का कोई इन्द्रियान्तर नहीं है, ग्रीर सुखादि प्रमेय नहीं है। हीनयान के अन्तर्गत मन के सम्बन्ध में सर्व-सम्मत कोई विचार नहीं है। सर्वास्तिवादी मन-इन्द्रिय का बुद्धि से तादाम्य मानता है। इसके अनुसार चित्त, मन ग्रीर विज्ञान का एक ही अर्थ है। किन्तु, थेरवादी विज्ञान के साथ हृदय-धातु भी मानते है।

दिङ्नाग नैयायिको के मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि न्यायसूत्र (१।१।१२) मे भी केवल पाँच इन्द्रियाँ गिनाई गई है। किन्तु, वात्स्यायन कहते हैं कि मन रिद्रिय है। ज्ञाता इन्द्रिय द्वारा व्यवसाय करता है, क्योंकि यदि इन्द्रिय-विशेष विनष्ट हो जाय, तो अनुव्यवसाय (मैं इस घट के ज्ञान से सयक्त हूँ) की उत्पत्ति नहीं होती।

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है, कि ग्राप बतलाइए कि ग्रात्मा ग्रौर ग्रात्मीय वेदना ग्रौर संज्ञा की उपलब्धि कैसे होती है। भाष्यकार उत्तर देते हैं कि यह ग्रन्त करण (मन) द्वारा होती है। मन इन्द्रिय है, यद्यपि सूत्र में मन का पृथक् उल्लेख है। इसका कारण यह है कि मन इन्द्रिय पचेन्द्रिय से कुछ बातो में भिन्न है। इस सूत्र में भी षष्ठेन्द्रिय मन का निपेध नहीं किया गया है। दिखनाग उत्तर देते हैं कि यदि ग्रनिषेध से ग्रहण समझा जाय, तो ग्रन्य इन्द्रियों का उल्लेख वृथा है, क्योंकि उनका ग्रस्तित्व सभी मानते हैं। दिखनाग ग्रन्तरिन्द्रिय का श्रत्यास्त्रान करते हैं, ग्रौर उसके स्थान में मानस-प्रत्यक्ष मानते हैं।

सर्वज्ञान ग्राह्म ग्रीर ग्राहक मे विभक्त है, किन्तु ग्राहक ग्रश को इसी प्रकार पुन विभवत नहीं कर सकते, क्योंकि विज्ञान के दो भाग नहीं होते। ग्रतः, स्वसवेदन को वाह्य प्रत्यक्ष के तुल्य समझना श्रयुक्त है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया में प्रथम क्षण के अनन्तर विकल्प अनुगमन करता है। निसन्देह आत्मा का ज्ञान रूपवेदन होता है, किन्तु उसके अनन्तर विकल्प नहीं होता । चित्त की कोई अवस्था नहीं है, जिसमें यह मवेदन प्रत्यक्ष न होता हो । यदि हम नीलादि देखते हैं, और साथ-साथ मुखादि आकार का मवेदन होता है, तो यह नहीं कह मकते कि यह मुखादि रूप नीलादि से उत्पन्न इन्द्रिय-विज्ञान के तुल्य आकार है । किन्तु, जब किसी बाह्य अर्थ यथा नीलादि का दर्शन होता है, तव तुल्य काल में मुखादि आकार में किमी अन्य का संवेदन होता है। यह स्वात्मा की अवस्था का मंबेदन है। वस्तुत, जिम रूप में आत्मा का वेदन होता है, वह रूप प्रत्यक्ष का आत्म-सवेदन है। अत, रूपदर्शन के माथ-साथ हम किसी एक अन्य वस्तु का अनुभव करते है, जो दृष्ट अर्थ में अन्य है, जो प्रत्येक चित्तावस्था के साथ होता है और जिसके विना कोई चित्तावस्था नहीं होती। यह वन्नु स्वात्मा है। यह ज्ञान ही है। इसी ज्ञान का अनुभव होता है। यह ज्ञान ह्या क्ष्यवेदन आत्मा का नाक्षात्कार है; यह निर्विकल्प और अन्नान्त है, अत: प्रत्यक्ष है।

तुलना—इन प्रकार, हम देखते हैं कि ग्रन्य दर्शनों का ग्रात्मा उपनिषदों में ब्रह्म का स्यान पाकर साख्य में एक द्रव्य के रूप में माना जाता है। हीनयान में हम इसे विज्ञान-सन्तान के रूप में पाने हैं, जिसका कारित्र पण्ठेन्द्रिय का है। बौद्ध-न्याय में इनका यह स्थान भी विलुप्त हो जाता है, ग्रीर यह प्रत्येक चित्तावस्था का माहचर्य करता है।

## प्रत्यक्ष पर ग्रन्य भारतीय दर्शनो के विचार

सांख्य

प्रत्यक्ष वह विज्ञान है, 'जो जिम वस्तु के सम्बन्ध में सिद्ध होता है, उसी वस्तु के ग्राकार को ग्रहण करता है' [मान्यमूत्र (१।८६) यत् सम्बन्धिस हं तदाकारोल्लेखि विज्ञान तत्प्रत्यक्षम्]। विज्ञानिमञ्ज इस लक्षण का स्थप्टीकरण करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष वह वृद्धिवृत्ति है, जो वस्तु को प्राप्त होकर उस वस्तु के ग्राकार में परिणत होती है। वस्तु के सान्निध्य से ही वृद्धि-वृत्ति नहीं उत्पन्न होती, किन्तु केवल उमका विशेष ग्राकार उससे उत्पन्न होता है। यह ग्राकार वृद्धिवृत्ति में निहित है। प्रत्यक्ष होने के लिए एक वाह्य वस्तु का सन्निकर्ष वृद्धि को चाहिए श्रीर वाह्य वस्तु के ज्ञान के लिए इन्द्रिय-सन्निकर्ष चाहिए। सान्यों के अनुनार वृद्धि का तम उमकी वृति में ग्रन्तराय है। जब उपात्त विषय में इन्द्रियों की वृत्ति के होने से यह तम ग्राक्तित्त होता है, तब ग्रध्यवसाय (ज्ञान) होता है। ईश्वरकृष्ण प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार देते हैं—

# प्रतिविषयाच्यवसायो दृष्टम् । (सांस्यतस्वकौमुबी, ५)

वाचम्पतिमिश्रइस लक्षण का भाष्य इम प्रकार करते हैं —प्रथम प्रत्यक्ष का एक वास्तविक विषय होना चाहिए । यह मंश्य का व्यवच्छेद करता है । विषय वृद्धिवृत्ति को अपने आकार में परिणत करना है । प्रत्यक्ष के विषय वाह्य और आम्यन्तर दोनो हैं, पृथिव्यादि स्यूल पदार्थ

पुनः विषय-विशेष के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय-विशेष की वृत्ति की ग्रावश्यकता होती है। यह वृत्ति इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के रूप में होती है। इससे अनुमान, स्मृत्यादि पराकृत होते है। पुन इसके अतिरिक्त बुद्धिवृत्ति भी चाहिए। वुद्धि-व्यापार से विषय का निश्चित ज्ञान होता है। परिणामस्वरूप, अध्यवसाय, अर्थात् निश्चित ज्ञान उत्पन्न होता है।

वाचस्पतिमिश्र कहते है कि वाह्येन्द्रिय वस्तु का ग्रालोचन कर मन को समर्पण करता है, मन सकल्प कर ग्रहकार को समर्पण करना है, ग्रहकार ग्रिभमित देकर वृद्धि को समर्पण करता है। वाह्येन्द्रिय मन और अहकार यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि भोग अपवर्ग-रूप प्रवार्थ के लिए इनकी एकवाक्यता सिद्ध होती है।

बाह्येन्द्रियो की वृत्ति वस्तु का श्रालोचन-मात्र है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। सविकल्पक मन की उत्पत्ति है। जब वस्तु का ग्रालोचन इन्द्रिय से होता है, तब मन का सकल्प-रूप व्यापार होता है। मन विशेषण-विशेष्यभाव से विवेचन करता है। 'यह यह है, वह नही है' (इदमेवम्, नैवम्)। पहले निर्विकल्पक ज्ञान होता है। यह वालमूक के ज्ञान के समान होता है। पश्चात् जात्यादि धर्मों से वस्तु का विवेचन होता है, समान-ग्रसमान जातीय का व्यवच्छेद होता है। यह मन का व्यापार है। यह सविकल्पक है। जब वाह्योन्द्रिय से वस्तु का ग्रालोचन कर मन द्वारा विशेषण-विशेष्यभाव का विवेचन होता है, तव ग्रहकार उस जान को स्वीकृत करता है। यहाँ में अधिकृत हूँ, मेरे लिए यह विषय है, मुझसे अन्य कोई यहाँ अधिकृत नही हैं, अतः में हूँ। यह जो अभिमान होता है, उसे अहकार कहते हैं। असाधारण व्यापार होने से इसे अहकार कहते हैं। इस प्रकार, जो पहले विषय का अवैयक्तिक ग्रहण था, वह ग्रहकार से वासित होकर व्यक्तिगत ग्रनुभव हो जाता है 1

जब मन से विवेचित होकर सविकल्पक ज्ञान श्रहकार द्वारा श्रभिमत होता है, तव वृद्धि की अध्यवसायात्मक वृत्ति होती है। ज्ञात वस्तु के प्रति क्या कर्त्तव्य है, क्या प्रवृत्ति होनी चाहिए इस प्रकार का विनिश्चय, ग्राध्यवसाय-बुद्धि का ग्रसाधारण व्यापार है।

साख्य के अनुसार वाह्य प्रत्यक्ष के लिए अन्तः करण और वाह्येन्द्रिय का सयोग चाहिए। भ्रन्त करण-बृद्धि, भ्रहकार भ्रौर मन-एक स्वभाव के हैं, यह एक दूसरे से पृथक् द्रव्य नहीं हैं। इन तीनों को मिलाकर एक अन्त करण होता है। वृत्ति के तारतम्य के भ्रनुसार यह तीन हैं।

न्याय

गौतम के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सिन्नकर्ष से उत्पन्न जो अन्यभिचारी ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। यह दो प्रकार का है--अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक। वास्तव में, इन्द्रिय का अर्थ से, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से सयोग होता है। किन्तु, अन्तिम दो मयोग प्रत्यक्ष त, राज्य की विशेषता नहीं हैं। वह अनुमानादि प्रमाणों को भी मामान्य है। अत, प्रत्यक्ष के लक्षणों में इन सयोगो का उल्लेख नही है।

वात्स्यायन कहते हैं कि मन भी इन्द्रिय है। इसलिए, मुख-दु खादि का सवेदन भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है।

विश्वनाथ कहते हैं कि प्रत्यक्ष वह जान है, जिसका ग्रपर ज्ञानकरण नहीं है। यह ग्रनु-मान, उपमान, स्मृति, शब्दज्ञान का निरसन करता है, क्यों कि उन ज्ञानों, का करण ग्रपर ज्ञान है। निविकल्पक ज्ञान नाम से ग्रमयत है। सविकल्पक वस्तु के नाम का भी ग्रहण करता है। नैयायिकों का मत है कि निविकल्पक प्रत्यक्ष विशेष्य ग्रीर विशेषण का ग्रहण करता है, किन्तु उनके सम्बन्ध का ग्रहण नहीं करता।

### मीमांसा

जैमिनि लगभग वही लक्षण वताते हैं, जो नैयायिक वताते हैं। जैमिनि कहते हैं कि प्रत्यक्ष से ग्रतीन्द्रिय धर्म का ग्रहण नहीं होता। वह केवल इतना कहते हैं कि इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह ज्ञान पुरुष में होता है।

प्रभाकर के ग्रनुसार साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रत्येक किया में विपुटी सिवत् होती हैं—ग्रात्मा जो ज्ञाना है, उसकी सिवित्ति, ज्ञेयवस्तु की सिवित्ति ग्रौर ज्ञान की सिवित्ति। प्रत्यक्ष किया दो प्रकार की हैं —िर्निवकल्पक, सिवकल्पक। प्रत्यक्ष का ज्ञान ग्रन्य प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता। यह स्वसवेद्य हैं।

### वैशेषिक

प्रशस्तपाद का मत है कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्प के अनन्तर ही वस्तु के स्वरूपमान का प्रत्यक्ष होता है। यह निर्विकल्प है। यह सामान्य विशेष-सिहत वस्तु का आलोचनमान है। किन्तु, इस ज्ञान में सामान्य-विशेष ज्ञान अभिन्यक्त होते हैं। यह ज्ञान की पूर्वावस्था है। इसमें पूर्व प्रमाणान्तर नही है। इमका फल रूपत्व नही है। मिवकल्प विशेष वस्तु का ग्रहण है।

### भ्रनुमान

## स्वार्थानुमान

यनुमान दो प्रकार का है—परार्थानुमान ग्रीर स्वार्थानुमान । परार्थानुमान शब्दात्मक है (मिलॉजिज्म), स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है। दोनों में ग्रत्यन्त भेद होने से इसका लक्षण एक नहीं है। परार्थानुमान वह है, जिसमें दूसरे को ज्ञान प्रतिपादित कराते हैं। स्वार्थानुमान ग्रपनी प्रतिपत्ति के लिए है। पहले हम स्वार्थानुमान का लक्षण विणत करेंगे। जो ज्ञान विरूप लिंग से उत्पन्त होता है ग्रौर जिसका ग्रालम्बन ग्रनुमेय है, वह स्वार्थानुमान है। ग्रनुमान में भी प्रत्यक्ष के तुल्य प्रमाणफल की व्यवस्था है। यथा नीलसरूप प्रत्यक्ष का ग्रनुभव होने पर नीलवोधरूप ग्रवस्थापित होता है। यही नीलसरूप जो ग्रवस्थापन का हेतु है, प्रमाण है ग्रौर नीलवोधरूप प्रमाणफल है। इसी प्रकार, ग्रनुमान के नीलाकार उत्पन्त होने पर नीलवोधरूप श्रवस्थापित होता है। नीलसारूप्य इसका प्रमाण है ग्रौर नीलविकल्पन रूप इसका प्रमाण-फल है। सारूप्यवग्न ही नील प्रतीतिरूप सिद्ध होता है, ग्रन्थया नही।

### लिंग की त्रिरूपता

लिंग हेतु को कहते है। इसके तीन रूप है।

लिंग का अनुमेय में होना (सत्त्व) प्रथम रूप है। इसका होना निश्चित है, क्योंकि लिंग योग्यता के कारण नहीं, किन्तु इसलिए हैं कि आवश्यक रूप से परोक्ष ज्ञान का निमित्त है। अदृष्ट बीज भी अकुर के उत्पादन की योग्यता रखता है, किन्तु अदृष्ट धूम से अग्नि की प्रतिपत्ति नहीं होती। यह प्रतिपत्ति भी नहीं होती कि अमुक स्थान में अग्नि है। लिंग की तुलना उस दीप के प्रकाश से भी नहीं हो सकती, जो घटादि को प्रकाशित करता है। यह परोक्षार्थ का प्रकाशन किसी वस्तु के ज्ञान के उत्पादन का हेतु है, जो उपस्थित है। दीप और घट में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि धूम का दर्शन है, तथापि अग्नि की प्रतिपत्ति नहीं होगी, जबतक हमको अग्नि के साथ उसके निश्चित अविनाभाव का ज्ञान न हो। अतः, लिंग का व्यापार परोक्षार्थ (यथा अग्नि) और दृष्टिलिंग (यथा धूम) की नान्तरीयकता (अविनाभाव) का निश्चयन ही है।

इस सत्त्ववचन (लिंग के अनुमेय में होने से) से असिद्ध लिंग का निरसन होता है। लिंग को पक्ष के एक देश में प्रसिद्ध न होना चाहिए। यथा वृक्ष चेतन है, क्योंकि वह सोते है। किन्तु, सब वृक्ष नहीं सोते, क्योंकि उनका स्वाप केवल एक देश में सिद्ध है। अत अनुमान नहीं है।

लिंग का द्वितीय रूप उसका सपक्ष में ही निश्चित सत्त्व है।

इस सत्त्व-ग्रहण से विरुद्ध का निरसन होता है, क्योंकि वह सपक्ष में नहीं है। साधारण ग्रनैकान्तिक का भी निरसन है। वह सपक्ष में ही नहीं, किन्तु उभयत्र वर्त्तमान है। सपक्ष में ही लिंग का सत्त्व है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सब सपक्ष में इसे होना चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ है कि ग्रसपक्ष में न होना चाहिए।

लिंग का तृतीय रूप लिंग का असपक्ष में निश्चित असत्त्व हैं।

ग्रसत्त्व-ग्रहण से विरुद्ध का निरास होता है, क्यों कि विरुद्ध विपक्ष में होता है। साधारण का भी निरास है; क्यों कि वह सब सपक्षों में होता है ग्रीर ग्रसपक्ष के एक देण में भी होता है। यथा शब्द विना प्रयत्न के होते हैं। हेनु—क्यों कि वह ग्रनित्य है। इस उदाहरण में ग्रनित्यत्व यथा शब्द विपक्ष के एक देश में है। यथा विद्युत् ग्रादि में (जो विना प्रयत्न के होते हैं लिंग है। यह विपक्ष के एक देश में यथा ग्राकाशादि में नहीं हैं, जो विना प्रयत्न के नहीं ग्रीर ग्रनित्य है। ग्रीर दूसरे देश में यथा ग्राकाशादि में नहीं हैं, जो विना प्रयत्न के नहीं होता, किन्तु नित्य है। यहाँ ग्रनुमेय जिज्ञासित धर्मी है।

सपक्ष वह है, जिसका पक्ष समान है। यह समान अर्थ है, यह अनुमेय के सदृश है। यह सामान्य क्या है, जो पक्ष और सपक्ष को मिलाता है। यह साघ्य धर्म की ममानता के कारण है।

ग्रसपक्ष सपक्ष से ग्रन्य या उसके विरुद्ध ग्रथवा मपक्ष का ग्रभाव है। जवतक सपक्ष के स्वभाव का ग्रभाव नहीं जाना जाता, तवतक सपक्ष से ग्रन्य ग्रीर उसके विरुद्ध की प्रतीति नहीं हो मकती। ग्रतः, नपक्षाभाव श्रन्य दो के ग्रन्तर्गत है।

### त्रिरूप लिंग के तीन प्रकार

विरूप लिंग के नीन प्रकार है - अनुपलिख, स्वभाव और कार्य।

अनुपलिट्य हेतु—अनुपलिट्य का प्रयोग इम प्रकार है—उम देश-विशेष में घट नहीं है। हेतु—उनका ज्ञान प्रतिपत्ता को नहीं होता, यद्यपि ज्ञान का लक्षण, अर्थान् हेतु-प्रत्यय-सामग्री प्राप्त है। ज्ञान का जनक घट भी है, और अन्य चक्षुरादि भी जनक है। दृश्य घट के अतिरिक्त प्रत्ययान्तर हैं और उनकी सिन्निधि है। जिसे हम अनुपलिट्य कहते हैं, वह ज्ञान का अभाव नहीं है, किन्तु वस्तु है और उनका ज्ञान है। टर्शनिनवृत्तिमात्र स्वय अनिश्चित होने से गमक नहीं है। किन्तु जब हम अनुपलिट्य की वात करते हैं, जिसका रूप दृश्य का अनुपलम्भ है, तो वचन-सामर्थ्य से ही दृश्य घट-रिहत प्रदेश और उनके ज्ञान का आश्चय होता है। अनुपलिट्य का अर्थ विविध प्रदेश और उनके ज्ञान का होना है।

स्वभाव हेतु—जिस साध्य की विद्यमानता हेतु की ग्रपनी सत्ता की ही ग्रपेक्षा करती है, हेतुसत्ता-व्यतिरिक्त किमी हेतु की ग्रपेक्षा नहीं करती, उस साध्य में जो हेतु है, वह स्वभाव है।

प्रयोग—यह वृक्ष है (माध्य)। हेतु—क्यों यह शिशापा है। इसका ग्रयं यह है कि इसके लिए वृक्ष शब्द का व्यवहार हो सकता है; क्यों कि इसके लिए शिशापा का व्यवहार हो नकता है। ग्रव यदि किसी मूढ पुरूप को जो शिशापा का व्यवहार नहीं जानता ग्रीर ऐसे देश में रहता है जहाँ प्रचुर शिशापा है, उसे कोई व्यक्ति एक ऊँचा शिशापा दिखलाकर वताये कि यह वृक्ष है, तो यह जह पृष्प समझेगा कि शिशापा का उच्चत्व वृक्ष-व्यवहार में निमित्त हैं। इसलिए, एक छोटा शिशापा देखकर वह समझेगा कि यह वृक्ष नहीं हैं। इस मूढ को वताना चाहिए कि प्रत्येक शिशापा के लिए वृक्ष का व्यवहार होता है। उच्चत्वादि वृक्ष-व्यवहार के निमित्त नहीं है, किन्तु केवल शिशापात्व-मात्र निमित्त हैं।

कार्यहेतु-यह हेतु कार्य है।

प्रयोग—यहाँ अग्नि है। हेतु—क्योंकि यहाँ घूम है। 'अग्नि' माध्य है; 'यहाँ' धर्मों है, क्योंकि 'धूम हैं' हेतु है। कार्यकारणभाव की प्रतीति लोक में हैं। जहाँ कार्य हैं, वहाँ कारण हैं और जहाँ कारण की विकलता है, वहाँ कार्य के अभाव की प्रतीति होती है। अत., कार्य का लक्षण उक्त नहीं है।

### हेतुमेद का कारण

यह कहा जा सकता है कि जब रूप तीन है, तब एक लिंग का होना अयुक्त है। यह भी कहा जा सकता है कि यदि यह तीन प्रकार-भेद है, तो प्रकार अनन्त हैं।

हमारा उत्तर यह है। इन तीन हेतुग्रो में दो हेतु वस्तुसाधन हैं। यह विधि के गमक हैं। एक प्रतिषेध का हेतु है। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रतिपेध से आशय अभाव ग्रौर अभाव-व्यवहार का है। इसका अर्थ यह है कि हेतु साध्य को सिद्ध करता है, इसलिए वह साध्य का भ्रग है। साध्य प्रधान है। ग्रत, (साध्य के उपकरण) हेतु के भेद साध्य के भेद से होते हैं, न कि स्वरूप-भेद से। साध्य कभी विधि हे, कभी प्रतिपेध, क्योंकि विधि और प्रतिषेध एक दूसरे का परिहार है, इसलिए इनके हेतु एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई विधि हेतु से भिन्न है, कोई अभिन्न है (स एव वृक्ष, सैव शिशपा)। भेद भीर भ्रभेद एक दूसरे का त्याग करते है, इसलिए उनकी श्रात्मस्थिति के हेतु भी भिन्न नहीं है।

पुन ऐसा क्यो है कि इन्ही तीन का हेतुत्व है। अन्य का हेतुत्व क्यो नही है?

क्योंकि एक दूसरे का तभी जनक होता है, जब वह दूसरे से स्वभावेन प्रतिबद्ध हो (यथा घूम का अग्नि से स्वभाव-प्रतिबन्ध है) । स्वभाव-प्रतिवन्ध होने पर ही साधनार्थ साध्यार्थ का ज्ञान कराता है। इसलिए तीन ही गमक हैं, ग्रन्य नही।

इसका क्या कारण है कि स्वभाव-प्रतिवन्ध होने पर ही गम्यगमकभाव होता है, म्रत्यथा नही ?

क्योंकि जो स्वभाव से अप्रतिवद्ध हैं, उनके लिए अव्यक्षिचार-नियम का अभाव है। साध्य श्रौर साधन में कौन किसका प्रतिबन्ध है ?

साध्य में लिंग का स्वभाव-प्रतिबन्ध है। लिंग परायत्त है, इसलिए वह प्रतिबद्ध है। साध्य अर्थ अपरायत्त है, इसलिए वह प्रतिवद्ध नहीं है। जो प्रतिवद्ध है, वह गमक है; जो प्रतिवन्ध्र का विषय है, वह गम्य है।

लिंग का स्वभाव-प्रतिबन्ध क्यो है ?

क्योंकि वस्तुतः साधन साध्यस्वभाव है, अथवा साध्य अर्थ से लिंग की उत्पत्ति होती है। यदि साध्यस्वभाव साधन है, यदि उनका तादातम्य है, तो साध्य-साधन का अभेद होगा। इसीलिए, कहा है कि वस्तुत., ग्रयीत् परमार्थ-सत् रूप में इनका अभेद है।

इसका क्या कारण है कि इन दो निमित्तो (स्वभाव श्रीर कार्य) से ही लिंग का स्वभाव-

प्रतिबन्ध होता है, अन्य से नहीं। क्योंकि जब तादातम्य नहीं होता या इसकी उत्पत्ति उससे नहीं होती, तव स्वभाव-प्रतिवन्ध नहीं होता । इसलिए, कार्य और स्वभाव से ही वस्तु की विधि की सिद्धि होती है।

ऐसा क्यो है कि जब प्रतिपेधवश पुरुपार्थ की सिद्धि होती है, तब हम ग्रदृश्य की प्रतिषेध की सिद्धि

ग्रनुपलिध को सिद्धि का हेतु नही मानते ?

प्रतिपेध-व्यवहार की सिद्धि पूर्वोक्त दृश्यानुपलिध्य होती है, ग्रन्य से नहीं होती। प्रम्न है कि उसी से क्यो होती है ? क्योंकि यदि प्रतिपेध्य वस्तु विद्यमान होती, तो दृश्य की ग्रन्युपलिध्य सम्भव न होती। इसके ग्रसम्भव होने से प्रतिपेध की मिद्धि होती है। ग्रमाव-व्यवहार की सिद्धि तब होती है, जब प्रतिपत्ता के ग्रनीत या वर्तमान प्रत्यक्ष की निवृत्ति होती है, यदि इसका स्मृतिसस्कार भ्रष्ट न हो गया हो। ग्रतीत ग्रीर वर्त्तमान कान की ग्रन्युपलिध्य ही ग्रमाव का निश्चय करती है। ग्रनागत ग्रन्युपलिध्य स्वय सन्दिग्ध स्वभाव की है। क्योंकि वह ग्रसिद्ध है, इसलिए ग्रमाव का निश्चय नहीं करती।

## ग्रनुपलव्यि के प्रकार-भेद

ग्रव ग्रनुपलिट्ध के प्रकार-भेद वताते हैं। इसके ११ भेद हैं। यह प्रयोगवा होते हैं। शब्द के ग्रिभधान-व्यापार को प्रयोग कहते हैं। शब्द कभी साक्षात् ग्रयन्तिर को सूचित कर ग्रनुपलिट्ध को सूचित करता है, कभी प्रतिपेधान्तर का ग्रिभधायी होता है। दृश्यानुपलिट्ध सर्वेद्व जानी जायगी, चाहे वह शब्द से सूचित न भी हो। श्रतः, वाचक के व्यापार-भेद से ग्रनुपलिट्ध का प्रकार-भेद होता है। स्वरूप-भेद नहीं है।

ग्रव प्रकार-भेद वताते हैं---

१. प्रतिपेध्य के स्वभाव की ग्रनुपलव्धि ।

यथा : यहाँ (धर्मी) धुग्राँ नही है (साध्य)।

हेतु—क्योकि उपलिब्ध के लक्षण प्राप्त होने पर भी अनुपलिब्ध है।

२. प्रतिपेध्य के कार्य की अनुपलव्यि।

यथा . यहाँ ( धर्मी ) धूमोत्पत्ति का ग्रनुपहत सामर्थ्य रखनेवाले कारण नहीं हैं (साध्य)।

हेतु-नयोकि घूम का ग्रभाव है।

३. व्याप्य (प्रतिपेध्य) का जो व्यापक धर्म है, उसकी अनुपलव्धि ।

यया : यहाँ (धर्मों) भिगपा नहीं है (साध्य)।

हेतु—वयोकि व्यापक, ग्रयीत् वृक्ष का ग्रभाव है। समान विषय में ग्रभावसाधन का यह प्रयोग है।

४. प्रतिषेध्य के स्वभाव के विरुद्ध की उपलब्धि ।

यया • यहाँ (धर्मी) जीत का स्पर्ज नही है (साध्य)।

हेतु-वयोकि यहाँ ग्रग्नि है।

५. प्रतिपेष्ट्य के जो विरुद्ध है, उसके कार्य की उपलब्छि।

यथा यहाँ (धर्मी) शीत का स्पर्ण नहीं है (साध्य)।

हेतु नयोकि यहाँ धूम है।

६. प्रतिपेध्य के जो विरुद्ध है, उससे व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि।

यथा: जात वस्तु का (भूत का) भी विनश्वर स्वभाव (धर्मी) ध्रुवभावी नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि उनका विनाश हेत्वन्तर की अपेक्षा करता है।
७. प्रतिषेध्य का जो कार्य है, उसके जो विरुद्ध है, उसकी उपलब्धि।
यथा यहाँ (धर्मी) शीतजनन के अनुपहत सामर्थ्य के कारण नही है (साध्य)।
हेतु—क्योंकि यहाँ अग्नि है।

जहाँ शीतकारण ग्रदृश्य है ग्रीर शीतस्पर्श ग्रदृश्य है, वहाँ इस हेतु का प्रयोग होता है। जहाँ शीतस्पर्श होता है, वहाँ द्वितीय हेतु का प्रयोग करते है। जहाँ शीत के कारण दृष्ट होते है, वहाँ प्रथम हेतु का प्रयोग होता है।

द. प्रतिषेध्य का जो व्यापक है, उसके जो विरुद्ध है, उसकी उपलब्धि ।

यथा ' यहाँ (धर्मी) तुषारस्पर्शं नही है (साध्य)

हेतु-क्योकि यहाँ ग्रग्नि है।

यहाँ तुषारस्पर्श व्याप्य है श्रीर शीतस्पर्श व्यापक है। शीतस्पर्श दृश्य नहीं है।

प्रतिषेध्य का जो कारण है, उसकी भ्रनुपलिध ।

यथा: यहाँ (धर्मी) धुम्राँ नहीं है (साध्य)।

हेतु —क्योकि ग्रग्नि नही है।

प्रतिषेध का जो कारण है, उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलिध ।
 यथा उसके (धर्मी) रोमहर्षादि विशेष नहीं है । (साध्य) ।

हेतु—क्योकि दहनविशेष उसके सिन्नहित हैं। कोई-कोई दहन शीतिनवर्त्तन में समर्थ नहीं होता, जैसे प्रदीप, इसलिए 'दहन-विशेष' उक्त हैं।

११. प्रतिषेध का जो कारण है, उसके जो विरुद्ध है, उसका जो कार्य है, उसकी उपलब्धि।

यथा इस देश (धर्मी) में रोमहर्षादिविशेषयुक्त पुरुष नही हैं (साध्य) । हेतु—क्यों कि यहाँ धूम हैं।

जब रोमहर्षादिविशेष का प्रत्यक्ष होता है, तब प्रथम हेतु का प्रयोग होता है। जव अगरण, प्रर्थात् शीतस्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, तव नवें हेतु का प्रयोग होता है। जव अगिन का प्रत्यक्ष होता है, तब दसवे हेतु का प्रयोग होता है। जब इन तीनो का प्रयोग नही होता, तब प्रत्यक्ष होता है, तब दसवे हेतु का प्रयोग होता है। ग्यारहवें हेतु का प्रयोग होता है।

यदि प्रतिषेध-हेतु एक हैं, तो अभाव के ग्यारह हेतु क्यो विणत हैं ? प्रथम को छोडकर शेष दस प्रयोगो का एक प्रकार से प्रथम में अन्तर्भाव हैं।

**ग्रवृ**इयानुपलव्घि

दृश्यानुपलिध का हमने विवेचन किया है। यह ग्रभाव ग्रीर ग्रभाव-त्र्यवहार में प्रमाण है। ग्रदृश्यानुपलिध का क्या स्वभाव है ग्रीर उमका क्या व्यापार है?

ग्रर्थ, देश, काल ग्रीर स्वभाव में से किसी से या सबसे विप्रकृष्ट हो सकते हैं। इनका प्रतिपेध सश्य हेत है। इसका स्वभाव क्या है? प्रत्यक्ष ग्रीर ग्रनुमान दोनों की निवृत्ति इसका लक्षण है। प्रमान से प्रमेयसत्ता की व्यवस्था होती है। ग्रतः, प्रमाण के ग्रभाव में प्रमेय के ग्रभाव की प्रतिपत्ति युक्त है। इसका उत्तर यह है। प्रमाण की निवृत्ति से दृश्यानुपलिध की सिद्धि नहीं होती, जब कारण की निवृत्ति होती है, तब कार्य निवृत्त होता है। जब व्यापक की निवृत्ति होती है, तब व्याप्य निवृत्त होता है। जिन्तु, प्रमाण प्रमेय का कारण नहीं है ग्रीर न व्यापक है। ग्रत, जब दोनो प्रमाणों की निवृत्ति होती है, तब प्रमेय ग्रयं की निवृत्ति सिद्ध नहीं होती ग्रीर क्योंकि प्रमाण का ग्रभाव कुछ सिद्ध नहीं करता, इसलिए ग्रदृश्य की ग्रनुपलिध सणय का हेतु है, निश्चय-हेतु नहीं है।

किन्तु, यह भी यृक्त है कि प्रमाणमत्ता से प्रमेयमत्ता निद्ध होती है। प्रमाण प्रमेय का कार्य है। कारण के विना कार्य नहीं होता। किन्तु, ऐसा नहीं है कि कारण का ग्रर्थ ग्रवश्य-मेव हो। ग्रत, प्रमाण ने प्रमेयमत्ता की व्यवस्था होती है, प्रमाणाभाव में प्रमेयाभाव की व्यवस्था नहीं होती।

## परार्थानुसान

परायानुमान वह है, जिससे दूसरे को ज्ञान प्रतिपादित कराते हैं। यह विरूप लिंग का प्रकाशन है। यहाँ भी लिंग या हेतु या साधन के तीन रूप है। यह इस प्रकार है—

१. ग्रन्वय

यया 'जहाँ धूम है, वहाँ विह्न है' ग्रथवा, जो जात है, वह ग्रनित्य है।'

२. व्यतिरेक

यथा 'जहाँ विह्न नहीं है, वहाँ यूम भी नहीं है।'

३. पक्षधर्मत्व

यया 'यहाँ वही धूम है, जिसका विह्न के साथ अविनाभाव है।'

परार्थानुमान शब्दात्मक है। वचन द्वारा त्रिरूप लिंग का श्राख्यान होता है। अनुमान को हमने पहले सम्यग् ज्ञानात्मक वताया है। इसका क्या कारण है कि अब हम उसे वचनात्मक कहते है।

हमारा उत्तर है कि कारण में कार्य का उपचार है। जब त्रिरूप लिंग का बचनात्मक ग्राख्यान होता है, तब उम पुरुप में त्रिरूप लिंग की स्मृति उत्पन्न होती है ग्रौर स्मृति से ग्रनुमान होता है। उस ग्रनुमान का त्रिरूप लिंगाभिधान परम्परया कारण है। बचन उपचार-वण श्रनुमान है, मूख्यत. नहीं। लिंग के स्वरूप तथा उसके प्रतिपादक शब्द दोनों का व्याख्यान होना चाहिए। स्वार्थानुमान में लिंग के स्वरूप का व्याख्यान हो चुका है। प्रतिपादक शब्द का व्याख्यान करना है।

ग्रब हम परार्थानुमान के प्रकार-भेद दिखायेगे। यह दो प्रकार का है। प्रयोग के भेद से यह द्विविध है। प्रयोग-भेद शब्द के अर्थाभिधान-भेद से होता है—साधर्म्यवत्, वैधर्म्यवत्। दृष्टान्तधर्मी के साथ साध्यधर्मी का हेतुकृत सादृश्य साधर्म्य कहलाता है । हेतुकृत श्रसादृश्य वैधर्म्य है।

साधम्यं-यथा जो कृतक ( = संस्कृत = संस्कार ) है, वह भ्रानित्य है; जैसे घटादि । पक्षधर्मत्व - शब्द ऐसे ही कृतक हैं।

साध्य-वह ग्रनित्य हैं।

वैधर्म्य -- जो नित्य है, वह अकृतक है, यथा आकाश। किन्तु, शब्द कृतक है। म्रनित्य है।

यदि इन दोनों प्रयोगो का अर्थ भिन्न है, तो त्रिरूप लिंग अभिन्न क्यो है?

प्रयोजन की दृष्टि से इन दोनो ग्रयों मे भेद नहीं है। दोनो से त्रिरूप लिंग प्रकाशित होता है। केवल प्रयोग का भेद है। अभिधेय की अपेक्षा कर वचन-भेद है, प्रकाश्य अभिन्न है। यथा 'पीन देवदत्त दिन में नही खाता। पीन देवदत्त राति में खाता है। इन दो वाक्यो में अभिधेय-भेद होते हुए भी गम्यमान वस्तु एक ही है।

प्रब हम साधर्म्यवत् ग्रनुमान के उदाहरण देते हैं।

# श्रनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग

( भ्रन्वय ) जहाँ कही उपलब्धि-लक्षण प्राप्त दृश्य की उपलब्धि नहीं होती, वहाँ हम उसके लिए ग्रसत् का व्यवहार करते हैं।

( दृष्टान्त ) यथा : जब भगविषाणादि को जिस दृश्य के लिए हम भ्रसत् व्यवहार करते हैं, हम चक्षु का विषय नही करते।

(पक्षधर्मत्व) एक प्रदेशविशेष में हम दृश्य घट की उपलब्धि नहीं करते। ( साध्य ) ग्रतः, हम उसे ग्रसद् व्यवहार-योग्य कहते हैं।

# स्वभाव-हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

( भ्रन्वय ) जो सत् है, वह ग्रनित्य है। (दृष्टान्त ) यथा घटादि । (पक्षधर्मत्व) शब्द सत् है। (साध्य ) यह क्षणसन्तान है।

```
यह निर्विशेषण स्वभाव का प्रयोग है।
ग्रव हम सविशेषण स्वभाव का प्रयोग वताते हैं।
(ग्रन्वय) जो उत्पत्तिमत् है, वह ग्रनित्य है।
(दृष्टान्त) यथा घटादि।
(पक्षधर्मत्व) शब्द उत्पत्तिमत् है।
(साध्य) शब्द ग्रनित्य है।
```

ग्रनुत्पन्न से इमकी व्यावृत्ति है। यहाँ वस्तु उत्पत्ति मे विशिष्ट है। यह स्वभावभूत धर्म है।

ग्रव किल्पत भेद से विशिष्ट स्वभाव का प्रयोग वताते हैं। (ग्रन्वय) जो कृतक है, वह ग्रनित्य है। (दृष्टान्त) यथा घटादि। (पक्षध्रमत्व) जब्द कृतक है। (माध्य) जब्द ग्रनित्य है।

जो स्वभाव की निष्पत्ति के लिए ग्रन्य कारणों के व्यापार की ग्रपेक्षा करता है, वह 'कृतक' कहलाता है। इसलिए, कृतक का स्वभाव व्यतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट है।

### कार्यहेतु का साघर्म्यवान् प्रयोग

यह वह है, जहाँ हेतु कार्य है।
(भ्रन्वय) जहाँ घूम है, वहाँ विह्न है।
(दृष्टान्त) यथा महानसादि में।
(पक्षधर्मत्व) यहाँ घूम है।
(साध्य) यहाँ ग्रग्नि है।
यह भी माधर्म्यवान् प्रयोग है।

### वैवर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय ) जो नत् है, उनकी अवश्य उपलब्धि होतीं है, यदि वह उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त है।

(दृष्टान्त ) यथा नीलादि विशेष ।

(पक्षधर्मत्व ) किन्तु, इस प्रदेशविशेष में हम किसी दृश्य-घट को नहीं देखते, यद्यपि उपलिख-लक्षण प्राप्त है।

(साध्य ) अत , यहाँ घट नही है ।

ग्रव उम वैधर्म्य-प्रयोग को कहेंगे, जो स्वभाव-हेतु हैं। जो नित्य हैं, वह न सत् है, न उत्पत्तिमान् है ग्रीर न कृतक है।

(दृष्टान्त) यथा आकाशादि। (पक्षधर्मत्व) किन्तु शब्द सत् है, उत्पत्तिमान् है, कृतक है। (साध्य) ग्रतः, शब्द ग्रनित्य है। श्रब कार्यहेतु का वैधर्म्य-प्रयोग बताते हैं। (व्यतिरेक) जहाँ भ्रग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है। (दृष्टान्त) यथा पुष्करिणी मे। (पक्षधर्मत्व) किन्तु, यहाँ धूम है। (साध्य) अत , यहाँ अग्नि है ।

यहाँ भी विह्न का स्रभाव धूमाभाव से व्याप्त वताया गया है। किन्तु, 'यहाँ धूम है', इससे व्यापक, ग्रर्थात् धूम के ग्रभाव का ग्रभाव उक्त है, ग्रत व्याप्य (ग्रग्नि का ग्रभाव) का भी ग्रभाव है। ग्रीर, जब विह्न के ग्रभाव का निषेध है, जो साध्यगित होती है।

### ग्रनमान-प्रयोग के श्रंग

नैयायिकों के प्रयोग के पाँच ग्रग है, क्योंकि प्रतिज्ञा = पक्ष ग्रीर निगमन = साध्य यद्यपि एक ही हैं, तथापि भिन्न वचन दिखाये गये हैं और पक्षधर्मत्व दो बार स्राता है।

पर्वत पर विह्न है। क्योकि वहाँ घूम है। यथा महानस मे। यह धूम पर्वत पर है। पर्वत पर विह्न है।

दिक्कनाग ने प्रतिज्ञा = पक्ष, निगमन = साध्य को निकाल दिया है तथा पक्षधर्मत्व को एक ही बार रखा है। भ्रत, बौद्धन्याय के प्रयोग के दो ही भ्रग होते है, क्यों कि अन्वय भ्रीर व्यतिरेक से एक ही बात उक्त होती है।

## बौद्धन्याय का श्रनुमान-प्रयोग

- १. जहाँ धूम है, वहाँ विह्न है, यथा महानस में, जहाँ दोनो हैं, अथवा जल में, जहाँ धूम नहीं है, क्यों कि वहाँ म्राग्नि नहीं है।
- २. यहाँ धूम है, जो श्रग्नि का लिंग है। जब हम उक्त दो प्रकार के प्रयोग का उप-योग करते हैं (साधर्म्य ग्रौर वैधर्म्य), तब पक्ष या साध्य को निर्दिष्ट करने की ग्रावण्यकता नहीं है; क्योंकि साधन (लिंग या हेतु) साध्यधर्म में प्रतिवद्ध े ग्रीर साधन की प्रतिपत्ति तादात्म्य ्, ..... प्राप्तिस्य या तदुत्पत्ति से होती है। हम जिसप्रकार का भी प्रयोग क्यो न करें, दोनो अवस्थाओं में साध्य एक ही है। ग्रतएव, पक्षनिर्देश ग्रवश्यमेव होना चाहिए, ऐसा नही है। यदि यह प्रतीति हो कि साधन साध्यनियत है, तो हमको अन्वयवाक्य मालूम है। यदि हम किमी प्रदेशविशेष में

उस साधन की उपलिब्ध करे, तो हमको साध्य-प्रनीति ग्राप-ही-ग्राप हो जाती है। साध्य-निर्देश की पुन क्या ग्रावश्यकता है?

यही सिद्धान्त अनुपनिध्ध-प्रयोग मे भी लागू होता है। नाधम्यंवान् प्रयोग में भी साध्यवाक्य उसी तरह अनावश्यक है।

यथा : उपलिब्ध-लक्षण प्राप्त होने पर भी जिसका अनुपलम्भ होता है, वह
असद्ब्यवहार का विषय है।

इस प्रदेशविणेप में घट की उपलिध्ध नहीं होती, यद्यपि उपलिध्ध-लक्षण प्राप्त है ।

'यहाँ घट नहीं है', यह सामर्थ्य से ही श्रवगत होता है। वैवर्म्यवत् प्रयोग में भी ऐसा ही है।

यथा जो विद्यमान है ग्रीर उपलिध-लक्षणप्राप्त है, उमकी ग्रवश्य उपलिध होती है।

किन्तु, इस प्रदेशविशेष में घट की उपलब्धि नहीं है। सामर्थ्य से ही सिद्ध होता है कि सद्व्यवहार का विषय घट यहाँ नहीं है। इसी प्रकार, स्वभावहेतु और कार्यहतु दोनों में सामर्थ्य से पक्ष का समकालीन प्रत्यय होता है।

म्रतः, पक्षनिर्देश की मावष्यकता नही है।

पक्ष क्या है ? पक्ष वह ग्रर्थ है, जो वादी को साध्यत्वेन इष्ट है ग्रीर जो प्रत्यक्षादि से निराकृत नहीं है। साध्य ग्रीर ग्रसाध्य की विप्रतिपत्ति का निराकरण करना पक्ष का नक्षण है। ग्रतः, साध्यवत्त्व ही इसका स्वरूप है। इसका ग्रपर रूप नहीं है। जब प्रतिवादी साधन को ग्रसिद्ध मानता है, तब उसको साधनत्वेन निर्दिष्ट माध्यत्वेन इष्ट नहीं होता। मान लीजिए कि शब्द का ग्रनित्यत्व साध्य है ग्रीर हेतु चाक्षुपत्व है। क्योंकि, शब्द का चाक्षुपत्व ग्रसिद्ध है, इसे हम साध्य मान सकते है। किन्तु, यह साधन उक्त है। ग्रत, यहाँ उसका साधनत्व इष्ट नहीं है।

वादकाल में वादी जिस धर्म को स्वय साधना चाहता है, वही साध्य है। दूसरा धर्म साध्य नहीं है।

श्रर्थ तभी पक्ष है, जब वह प्रत्यक्षादि से निराकृत नहीं है। इसका ग्रिभप्राय यह है कि यद्यपि एक श्रर्थ में पक्ष के लक्षण विद्यमान हो, तथापि यदि प्रत्यक्ष, प्रनुमान, प्रतीति श्रयवा स्ववचन से वह निराकृत होता है, श्रर्थात् विपरीत मिद्ध होता है, तो वह पक्ष नहीं है।

- यथा · १. शब्द श्रोत-प्राह्म नहीं है। यह प्रत्यक्ष से निराकृत होता है। शब्द का श्रोत्रग्राह्मत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है।
  - २. शब्द नित्य है। यह अनुमान से निराकृत है।
  - ३ 'शिश' चन्द्र शब्द वाच्य नहीं है। यह प्रतीति से निराकृत है।
  - ४. श्रनुमान प्रमाण नहीं है। यह स्ववचन से निराकृत है।

## हेत्वाभास

त्रिंह्प में से यदि एक भी अनुक्त हो, तो साधन का आभास होगा। यह साधन के सदृश हैं, किन्तु साधन नहीं है। त्रिरूप की न्यूनता ही साधन का दोष है। प्रतिवादी या वादी को केवल अनुक्त होने पर ही नही, किन्तु उक्त के असिद्ध होने पर या सन्देह होने पर भी हेत्वाभास होता है।

साधन की ग्रसिद्धि या सन्देह होने पर हेत्वाभास की क्या सज्ञा होती है ?

यदि प्रथम रूप, यदि हेतु का धर्मी में सत्त्व ग्रसिद्ध है या सन्दिग्ध है, तो हेत्वाभास की सज्ञा असिद्ध की होती है।

#### प्रसिद्ध

यथा जब साध्य यह है कि शब्द ग्रनित्य है, तब चाक्षुषत्ववादी प्रतिवादी दोनो के लिए असिद है।

वृक्षो का चैतन्य साध्य है; क्योंकि जब सारी त्वचा का श्रपहरण होता है, तब उनका मरण होता है ( दिगम्बर )। प्रतिवादी ( बौद्ध ) के लिए यह श्रसिद्ध है। वह विज्ञान, इन्द्रिय ग्रीर आयु के निरोध को मरण मानता है। वृक्षो में यह मरण ग्रसम्भव है, उनमे विज्ञान नहीं होता। इसलिए, उनके निरोध का प्रश्न ही नहीं है।

साध्य है कि सुखादि श्रचेतन है (साख्य)। साख्यवादी उत्पत्तिमस्व या श्रनित्यत्व को लिंग उपन्यस्त करते हैं, यथा रूपादि। चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। पुरुष में वेदना नही होती । सांख्य के मत में उत्पत्तिमत्त्व ग्रौर ग्रनित्यत्व दोनो ग्रसिद्ध हैं।

### सन्दिग्धासिङ

श्रब सन्दिग्धासिद्ध का उदाहरण देते है।

यदि हेतु के सम्बन्ध में सन्देह है, अथवा हेतु के आश्रयभूत साध्यधर्मी के विषय में सन्देह है, तो सन्दिग्धासिद्ध है।

यथा धूम बाष्पादि से सन्दिग्ध होता है।

यर्थी इस निकुज (धर्मी) में मयूर है, क्योंकि हम उसकी व्वनि सुनते हैं। यह ग्राश्रयासिद्ध है। यह भी सम्भव है, वहाँ वहुत-से पास-पास निकुज हो। यह भ्रम हो सकता है कि व्विन इस निकुज से भ्राती है या किसी दूसरे से।

जब धर्मी ग्रसिद्ध है, तब हेतु श्रसिद्ध है।

यथा . श्रात्मा का सर्वगतत्व साध्य है।

हेतु --- आत्मा के सुखदु खादि गुण सर्वत्र उपलभ्यमान हैं। यह हेतु. ग्रसिद्ध है। बौद्ध श्रात्मा को नही मानते, तो सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व कैसे

सिंद हो ?

#### श्रनैकान्तिक

जव किसी लिंग का वह रूप, जिनमें उसका असपक्ष में निश्चित असल्य असिद है, तो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।

यथा साध्य है कि शब्द नित्य है।

क्योंकि, वह दृश्य है।

जो दृश्य है, वह नित्य है।

यथा आकाश (दृश्य और नित्य )।

घटवत् नही (अनित्य किन्तु अदृण्य नहीं)।

शब्द का अप्रयत्नानन्तरीयकत्व है।

क्योंकि, वह अनित्य है।

जो अनित्य है, वह प्रयत्नानन्तरीयक नहीं है।

यथा विद्युत् और आकाश (एक अनित्य दूसरा नित्य, किन्तु दोनो अप्रयत्नानन्तरीयक)।

घटादिवत् नहीं (जो प्रयत्नानन्तरीयक हैं और जिन्हें नित्य होना चाहिए, किन्तु अनित्य हैं)।

गब्द प्रयत्नानन्तरीयक है।

नयोकि, वह अनित्य है।

जो ग्रनित्य है, वह प्रयत्नानन्तरीयक है।

यथा घट ( जो प्रयत्नानन्तरीयक है )।

विद्युत्-ग्राकाशवत् नहीं (जो ऐमें नहीं हैं किन्तु एक ग्रनित्य है, दूसरा नित्य है)। शब्द नित्य है।

क्योकि, वह ग्रमूर्त है।

जो ग्रमूत्तं है, वह ग्रनित्य है।

यथा श्राकाश-परमाणु (जो दोनो नित्य हैं)।

घटवत् नहीं (दीनों ग्रनित्य, किन्तु पहला ग्रमूर्त्त )।

इन चार दृष्टान्तो में पक्षधर्म का ग्रसत्त्व विपक्ष में ग्रसिद्ध है। इससे श्रनेकान्तिकता है।

इसी प्रकार, जब यह रूप सिन्दिग्ध है, तब भी अनैकान्तिक है। यथा साध्य है कि अमुक असर्वन है अथवा रागादिमान् है। यदि प्रकृत साध्य में वक्तृत्वादि धर्म हेतु कहे जायें, तो विपक्ष ( सर्वन ) में इसका असत्त्व मन्दिग्ध है। सर्वन में वक्तृत्वादिक धर्म होते हैं, अथवा नहीं। अत, अनैकान्तिक है।

किन्तु, यह कहा जा मकता है कि सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं है, तो उसके वक्तृत्व के विषय में मन्देह क्यों ? "सर्वज्ञ वक्ता का अनुपलम्भ है", यह संशय का हेतु है। जब कोई अदृश्य

विषय हो, तो अनुपलम्भ निश्चयहेतु नहीं है, किन्तु सशयहेतु है। ग्रत, सर्वज्ञ में वक्तृत्व का ग्रसत्त्व सन्दिग्ध है। प्रतिवादी कह सकता है कि यह अनुपलब्धि नहीं है, जिसके कारण वह कहता है कि सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अभाव है, किन्तु वह ऐसा इसलिए कहता है, क्योंकि सर्वज्ञता का वक्तृत्व से विरोध है। हमारा उत्तर है कि विरोध नहीं है। इसलिए, वह सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सन्देह है, विरोध का ग्रभाव है, इसलिए सन्देह है। सन्देह के कारण व्यतिरेक की असिद्धि है। विरोध का ग्रभाव कैसे है विरोध द्विविध है, ग्रन्य प्रकार का नहीं है।

#### विरोध

विरोध क्या है ? यदि कारण-वैकल्य से किसी का ग्रमाव होता है, तो उसका किसी से विरोध नहीं होता। किन्तु, जबतक समग्र कारण श्रविकल रहते है, तबतक उस वस्तु की निवृत्ति कोई नहीं कर सकता। इसलिए, उसका कोई विरोध कैसे कर सकता है ?

किन्तु, निम्नाकित प्रकार से यह सम्भव है। अविकल कारण के होने पर भी जिसके द्वारा कारण-वैकल्य होकर अभाव होता है, उससे विरोध है। ऐसा होने पर जो जिसके विरद्ध है, वह उसको क्षति पहुँचाता है। यदि कोई शीतस्पर्श का जनक होकर अन्य शीतस्पर्श की जननशक्ति में प्रतिबन्ध होता है, तो वह शीतस्पर्श का निवर्त्तक होता है, और इस अर्थ में विरद्ध है। अत, हेतु-वैकल्य का करनेवाला जो निवर्त्तक है, वह विरुद्ध है।

एक ही क्षण में विरुद्धों का सहावस्थान सम्भव नहीं है। दूरस्थ होने से विरोध नहीं होता। भ्रत, निकटस्थ का ही निवर्त्य-निवर्त्तकभाव होता है। इसलिए, जो जिसका निवर्त्तक है, वह उसको तृतीय क्षण से कम में नहीं हटा सकता। प्रथम क्षण में सिन्नपात होता है, द्वितीय में वह विरुद्ध को ग्रसमर्थ करता है, तृतीय में असमर्थ निवृत्त होता है ग्रीर वह उस देश को आकान्त करता है। उर्णस्पर्थ से शीतस्पर्थ की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार श्रालोक, जो गतिधर्मा है, क्रमेण जलतरगवत् देश को आकान्त कर अन्धकार में निरन्तर आलोक-क्षण उत्पन्न करता है। तब आलोक का समीपवर्त्ती अन्धकार असमर्थ हो जाता है। तदनन्तर, उसकी निवृत्ति होती है और अन्धकार क्रमेण आलोक से अपनीत होता है। जव आलोक उस अन्धकार-देश में उत्पन्न होता है, तब जिस क्षण से आलोक का जनक धण उत्पन्न होता है, उसी क्षण से अन्धकार अन्धकारान्तर के जनन में असमर्थ हो जाता है। श्रत, जिस क्षण में जनक होता है, उससे तीसरे क्षण में ग्रन्धकार निवृत्त होता है, यदि णीघ्र निवृत्त हो। यह दो सन्तानो का विरोध है, न कि दो क्षणों का। यद्यपि सन्तान नाम की कोई वस्तु नहीं है, तथापि सन्तानी वस्तुभूत हैं। ग्रत, परमार्थ यह है कि दो क्षणों का विरोध नहीं है, किन्तु बहुक्षणों का। जबतक दहन के क्षण रहते हैं, तवतक शीतक्षण प्रवृत्त होते हुए भी निवृत्त होते हैं।

भ्रब हम दूसरे प्रकार का विरोध दिखलाते है। जिन दो का लक्षण परस्पर पिरहार का है, उनका भी विरोध होता है। नील के परिच्छिद्यमान (नील का ज्ञान) होने पर तादात्म्य-ग्रभाव (ग्रनील) का ग्रवच्छेद होता है। यदि इसका ग्रवच्छेद न होता, तो नील के ग्रपरिच्छेद का (ग्रज्ञान) प्रसंग होता। इसलिए, वस्तु का भाव ग्रीर ग्रभाव परस्पर परिहार के रूप में स्थित हैं। जो नील से ग्रन्य रूप है, वह नीलाभाव में ग्रवम्य ग्रन्तभू त है। जब हम पीतादि की उपलब्धि करते हैं तव नील का ग्रनुपलम्भ होता है ग्रीर उसके ग्रभाव का निम्चय होता है; क्योंकि जैसे नील ग्रपने ग्रभाव का परिहार करता है, उसी तरह पीतादिक भी ग्रपने ग्रभाव का परिहार करता है, उसी तरह पीतादिक भी ग्रपने ग्रभाव का परिहार करते हैं। ग्रतः, भावाभाव का (नील ग्रीर ग्रनील का) साक्षात विरोध है ग्रीर दो वस्तुग्रों का (नील ग्रीर पीत का) विरोध है; क्योंकि वे ग्रन्योन्य ग्रभाव को ग्रन्तभू त करने में व्यभिचार नहीं करते।

किन्तु, वह क्या है, जिसे हम ग्रन्यत ग्रभाव मानते हैं ?

यह उसका नियताकार अर्थ है। यह अनियताकार अर्थ नहीं है, यथा क्षणिकत्व। क्योंकि, सभी नीलादि का स्वरूप क्षणिकत्व है, इसलिए नियताकार नहीं है। यदि हम क्षणिकत्व का परिहार करें, तो कुछ भी नहीं दिखाई देगा।

यदि ऐसा है, तो ग्रभाव भी नियताकार नहीं है। क्यो ? यह ग्रनियताकार क्यों हों ? क्योंकि, इस ग्रभाव का वस्नुरूप किल्पत विविक्ताकार है, इसलिए यह ग्रनियताकार नहीं है। इसलिए, जब हम ग्रन्थव किसी वस्नु के ग्रभाव को उपलब्ध करते हैं, तब हम उसे ग्रनियताकार में नहीं, किन्तु नियत रूप में, चाहे वह दृष्ट हो या किल्पत, उपलब्ध करते हैं। इसलिए, जब हम नित्यत्व का निषेध करने हैं, ग्रथका जब हम पिणाचादि की उपलब्धि का प्रत्याख्यान करते हैं, तब हमको जानना चाहिए कि इनको नियताकार होना चाहिए।

यह विरोध एकात्मकत्व का विरोध है। जिन दो का परस्पर परिहार है, उनका एकत्व नहीं होता। इस विरोध को इसलिए 'लाक्षणिक विरोध' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस विरोध से वस्तुतत्त्व का विभक्तत्व व्यवस्थापित होता है। अतएव, यदि किसी दृश्यमान रूप में हम किसी दूसरे का निपेध करते हैं, तो हम उस दृश्य का अभ्युपगम करके ही उसका निषेध करते हैं। जब पीत में हम उमके अभाव का निपेध करते हैं, अथवा यह पिशाच है, इसका निपेध करते हैं, तब हम दृश्यात्मतया ही निपेध करते हैं। यदि ऐसा है, तो रूप के ज्ञात होने पर उसके अभाव का दृश्यात्मतया व्यच्छेद होता है। जो उसके अभाव के तुल्य नियताकार रूप है, वह दृश्य भी व्यवच्छिन्न होता है।

जव नील की उपलब्धि के साथ-साथ पीत का निषेध होता है, तब क्या इस अभूत पीत में भी अपीत का निषेध अन्तर्भूत है ? हाँ, उसके अभाव के तुल्य जो नियताकार रूप है, वह भी दृश्यात्मत्तया व्यवच्छिन्न होता है। अतः, जो रूप परस्पर परिहारेण स्थित हैं, वह सब अन्त-भूत सब निषेधों के साथ व्यवच्छिन्न हैं।

इस विरोध में सहावस्थान हो नकता है। अतः, इन दो विरोधो के भिन्न व्यापार हैं। एक से भीतोष्ण स्पर्श के एकत्व का निवारण होता है, दूसरे से उनका सहावस्थान होता है। इनकी प्रवृत्ति के विषय भी भिन्न है। वस्तु ग्रीर ग्रवस्तु में परस्पर परिहार से विरोध होता है, किन्तु सहानवस्थान-विरोध कितपय वस्तु में ही होता है। इसलिए, इनके भिन्न व्यापार ग्रीर भिन्न विषय है। इनका ग्रन्योन्यान्तर भाव नहीं है।

यक्तृत्व ग्रौर सर्वज्ञत्व के बीच दो में से कोई विरोध भी सम्भव नही है। यह नही कहा जा सकता कि वक्तृत्व के होने से सर्वज्ञत्व का ग्रभाव होता है। सर्वज्ञत्व ग्रदृष्य है ग्रौर ग्रदृष्ट के ग्रभाव का ग्रध्यवसाय नही होता। इस कारण से ही इसके साथ विरोध नही है। यहाँ दूसरे प्रकार का विरोध भी नही है; क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वज्ञत्व-वक्तृत्व परिहार से होता है। इस ग्रवस्था में काष्ठादि भी सर्वज्ञ होगे, क्योंकि उनमे वक्तृत्व नहीं है ग्रौर सर्वज्ञत्व के परिहार से भी वक्तृत्व नहीं है। क्योंकि, यदि ऐसा होता, तो काष्ठ में भी वक्तृत्व का प्रसंग होगा। ग्रत, किसी विरोध के न होने से वक्तृत्व के विधान में हम सर्वज्ञत्व का निषेध नहीं कर सकते।

ऐसा हो तो हो ! किन्तु, यदि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में कोई भी विरोध न होता, तो घट-पट के समान उनकी सहावस्थिति दिखलाई पड़ती। क्या सहावस्थिति के अदर्शन से विरोध-गित नहीं होती और इस विरोध से अभावगित नहीं होती है इस आशका का यो निराकरण करते हैं। यद्यपि वक्ता में सर्वज्ञत्व की उपलब्धि न हो, तथापि वक्तृत्व के भाव को सर्वज्ञत्व की विरुद्ध-विधि नहीं कह सकते। यद्यपि दोनों के सहावस्थान का अनुपलम्भ है, तथापि इन दोनों का विरोध नहीं है, क्योंकि सहानुपलम्भ-माल से विरोध सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत, अध्यवसाय से सिद्ध होता है कि दो उपलम्भमान में निवर्त्य-निवर्त्तकभाव होता है। अत, यद्यपि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व के सहावस्थान का अनुपलम्भ है, तथापि वक्तृत्व का सहभाव यह सिद्ध नहीं करता कि सर्वज्ञत्व विरुद्ध की विधि ( = सत्त्व ) है। अत, पूर्व के सद्भाव का अर्थ अपर का अभाव नहीं है।

इसी प्रकार, वक्तृत्व रागादिमत्त्व का गमक नही है, क्यों कि यदि वक्तृत्व रागादि का कार्य होता, तो वक्तृत्व की रागादि गित होती और रागादि की निवृत्ति होने पर वचनादि की निवृत्ति होती। किन्तु, वक्तृत्व कार्य नही है; क्यों कि रागादि और वचनादि का कार्यकारणभाव असिद्ध है। अत, वक्तृत्व-विधि से रागादि गित नहीं होती। थोडी देर के लिए हम मान लें कि वचन रागादि का कार्य नहीं है, तथापि इन दोनों का सहावस्थान तो हो सकता है। तब रागादि की निवृत्ति होने पर वचन भी निवृत्त हो सकता है। इस आशका का हमारा यह उत्तर है —जो अर्थान्तर वचन का कारण नहीं है, यदि उसकी निवृत्ति होती है, तो सहचारित्व से ही वचनादि की निवृत्ति नहीं होती। अत, वक्तृत्व के साथ रागादि भी हो सकता है। इसलिए, वक्तृत्व सन्दिग्ध व्यतिरेक है, क्योंकि विपर्यय में उसका अभाव सन्दिग्ध है। सर्वज्ञत्व का विपर्यय है और अरागादिमत्त्व रागादिमत्त्व का विपर्यय है।

#### विरुद्ध

उन हेतुदोयों को समझाकर जो एक रूप (प्रथम या तृतीय ) के ग्रसिद्ध या सन्दिग्ध होनेपर होते हैं, श्रव हम उन हेतुदोयों को कहते हैं, जो दो रूप के श्रसिद्ध या सन्दिग्ध होने पर होते हैं। जब दो रूप का विपर्यंग मिद्ध होना है, तब हेतुदोप को 'विरुद्ध' कहते हैं।

यह दो रूप कौन है ? सपक्ष में सत्त्व ग्रीर ग्रसपक्ष में ग्रयत्त्व । यथा . कृतकत्व विरुद्ध हेत्वाभास होता है, यदि नित्यत्व साध्य है । यथा : प्रयत्नानन्तरीयकर्त्व (प्रयत्न के विना जन्म या ज्ञान ) विरुद्ध हत्वाभास होता है, यदि नित्यत्व साध्य है ।

यह दो विरुद्ध क्यो है ? क्यों कि सपक्ष में असत्त्व और असपक्ष में सत्त्व है। यह निश्चित है कि न कृतकत्व और न प्रयत्नानन्तरीयकत्व सपक्ष में, अर्थात् नित्य में होते हैं। दूसरी ओर उनकी विद्यमानता विपक्ष में ही, अर्थात् अनित्य में निश्चित है। अत , विपर्यय की सिद्धि होती है। पुन ऐसा क्यों है कि जब विपर्यय की मिद्धि है, तब हेतु विरुद्ध होते हैं?

यह विरुद्ध है, क्यों कि उनसे विषयंय की सिद्धि होती है। वह नित्यत्व (नाध्य) के विषयंय (अनित्यत्व) को सिद्ध करते हैं। क्यों कि, वह साध्य के विषयंय का साधन है, इसलिए विरुद्ध कहलाते है। यदि यह दो हेतु विरुद्ध हेत्वाभाम है, क्यों कि वह विषयंय को सिद्ध करते हैं, तो परार्थानुमान में साध्य उक्त होना चाहिए। यह अनुक्त नही रह सकता, किन्तु भनुक्त भी कभी-कभी इष्ट है। अत, वह हेतु, जो इष्ट का विघात करता है, इन दो से अन्य होगा। इसलिए, एक तृतीय प्रकार का विरुद्ध हैं। दो विषयंय के साधन हैं, तीमरा अनुक्त इष्ट-विघात करता है।

उदाहरण—चक्षुरादि ( धर्मी )।
परार्थ का उपकार करते हैं ( साघ्य )।
हेतु—क्योंकि यह मिनत रूप है।
यथा शयन, ग्रामनादि पुरुष के लिए, उपभोग्य वस्तु है।
यह हेतु इष्ट-निधात कैसे करता है?

यह विरुद्ध हैत्वाभाम है, क्यों कि यह वादी के इप्ट का विपर्यय मिद्ध करता है। यह साख्यवादी है। ग्रमहत के लिए सघात रूप का ग्रास्तित्व इसको इप्ट है। इसका विपर्यय सहत के लिए श्रस्तित्व है। क्यों कि, यह विपर्यय को सिद्ध करता है, इमलिए हेतु साधन से विरुद्ध है। साख्यमतवादी कहता है कि ग्रात्मा है। वौद्ध पूछता है कि क्यों ने वादी प्रमाण देता है। इस प्रकार माध्य है कि ग्रसहत ग्रात्मा के चक्रुरादि उपकारक हैं। किन्तु, यह हेतु विपर्यय से व्याप्त है, क्यों कि जो जिसका उपकारक होता है, वह उसका जनक होता है ग्रीर कार्य (जन्यमान) युगपत् या कम से महन होता है। इमलिए, 'चक्रुरादि पदार्थ हैं' का ग्रथं है कि वह संहत परार्थ है, न कि ग्रमहन परार्थ।

याचार्य दिहनाग ने इस प्रकार के विरुद्ध को सिद्ध किया है। किन्तु, धर्मकीति ने इसका वर्णन नहीं किया। इसका कारण यह है कि इसका अन्य दो में अन्तर्भाव है। यह उनसे भिन्न नहीं हैं। उक्त और अनुक्त साध्य में भेद नहीं है। जब एक रूप असिद्ध है, और दूसरा रूप सन्दिग्ध है, तब अनैकान्तिक होता है। जब इन दोनो रूपो का विपर्यय निश्चित होता है, तब हेनु विरुद्ध होता है। इसका क्या आकार है ?

यथा एक वीतराग या सर्वज्ञ है (साध्य)।
हेतु—क्योकि उसमें वक्तृत्व है।
जिस पुरुष में वक्तृत्व है, वह वीतराग या सर्वज्ञ है।
यहाँ व्यतिरेक ग्रसिद्ध है और अन्वय सन्दिग्ध है।

हमारा अनुभव सिद्ध करता है कि एक पुरुष जो रागवान् है श्रीर सर्वज्ञ नही है, वह वक्तृत्व-शक्ति से रहित नही होता। अत, यह नहीं जाना जाता कि वक्तृत्व से सर्वज्ञ होता है या नहीं। यह श्रनैकान्तिक है।

क्योकि, सर्वं ज्ञत्व श्रीर वीतरागत्व श्रतीन्द्रिय है, श्रतः यह सि दग्ध है कि वक्तृत्व जो इन्द्रियगम्य है, इनके साथ रहता है या नहीं।

जब दोनों रूप सन्दिग्ध है, तब भी अनैकान्तिक है। अन्वय-व्यतिरेक रूप के सन्दिग्ध होने पर संशय हेतु होता है।

जीवच्छरीर सात्मक है (साध्य)।
क्योकि, इसके प्राणादि आश्वासादि हैं (हेतु)।

इस वादी को मृत की ग्रात्मा इष्ट नहीं है। यह ग्रसाधारण सशयहेनु है। इसमें दो हेनु दिखाते है। सात्मक ग्रीर निरात्मक। इन दो को छोड़कर कोई तीसरी राशि नहीं है, जहाँ प्राणादि वर्त्तमान है। जो ग्रात्मा के साथ वर्त्तमान है, वह सात्मक है। जिससे ग्रात्मा निष्कान्त हो। ग्रतः, यह सशयहेनु है। इन दो से ग्रन्य कोई राशि नहीं है, जहाँ प्राणादि वस्तुधमं वर्त्तमान हो। ग्रतः, यह सशयहेनु है। ग्रन्य राशि का ग्रभाव कयों है वि इन दो राशियों में से किसी एक है। यही सशयहेनु का कारण है। दूसरा सशयहेनु यह है कि इन दो राशियों में से किसी एक में भी वृत्ति का सद्भाव निश्चित नहीं है। इन दो राशियों को छोड़कर भी कोई राशि नहीं है, जहाँ प्राणादि वस्तुधमं पाया जाय। ग्रतः, इतना ही ज्ञात है कि इन्हों दो राशियों में से किसी जहाँ प्राणादि वस्तुधमं पाया जाय। ग्रतः, इतना ही ज्ञात है कि इन्हों दो राशियों में से किसी जहाँ प्राणादि वस्तुधमं पाया जाय। ग्रतः, इतना ही ज्ञात है कि इन्हों दो राशियों में से किसी जिसमें सात्मकत्व या ग्रनात्मकत्व निश्चित ग्रीर प्रसिद्ध हो ग्रीर जिसमें माथ-ही-माथ प्राणादि जिसमें सात्मकत्व या ग्रनात्मकत्व निश्चित ग्रीर प्रसिद्ध हो ग्रीर जिसमें माथ-ही-माथ प्राणादि धर्म का ग्रभाव सिद्ध हो। ग्रतः, ग्रनौकान्तिक है। हमने ग्रसाधारण धर्म के ग्रनैकान्तिकत्व में दो कारण बताये है। क्योंकि, यह सिद्ध नहीं है कि जीवच्छरीर-सम्बन्धी प्राणादि मात्मक राशि दो कारण बताये है। क्योंकि, यह सिद्ध नहीं है कि जीवच्छरीर-सम्बन्धी प्राणादि मात्मक राशि या ग्रनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए, यह निश्चय करना कि किस राशि में या ग्रनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए, यह निश्चय करना कि किस राशि में या ग्रनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए, यह निश्चय करना कि किस राशि में या ग्रनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए, यह निश्चय करना कि किस राशि में या ग्रनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए, यह निश्चय करना कि किस राशि में या ग्रनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए, यह निश्चय करना कि किस राशि में या ग्रनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए, यह निश्चय करना कि किस राशि से या ग्रनात्मक राशि से उसको स्वावित्त से स्वावित्त से स्ववित्त से से किस से स्वावित्त से से सिंद से से से किस से से किस से से किस से से किस से सिं

उसका निश्चित ग्रभाव है, सम्भव नहीं है। प्राणादि का होना कुछ सिद्धनहीं करता; न यही सिद्ध करता है कि ग्रात्मा है, न यही निद्ध करता है कि ग्रात्मा का ग्रमाव है। ग्रतः, जीवच्छरीर में ग्रात्मा का भाव है या नहीं, प्राणादि लिंग द्वारा निश्चित नहीं हो सकता।

इस प्रकार, तीन हेत्वाभास हैं—ग्रसिद्ध, विरुद्ध ग्रौर ग्रनैकान्तिक। यह तव होते हैं, जव तीन रूपो में से किसी एक या दो-दो रूप ग्रसिद्ध या मन्दिग्ध है। ग्राचार्य दिङ्नाग ने एक ग्रौर सशयहेतु वताया है। उसे विरुद्धाव्यभिचारि कहते हैं। किन्तु, धर्मकीर्ति ने उसका उल्लेख नहीं किया है; क्योंकि वह ग्रनुमान का विषय नहीं है।

# परिशिष्ट : १

# शब्दातुक्रमणी

अ

ग्रग-३, २८, ४२, १३४, २२४, २३०, ४५२ ग्रग (जनपद)-३ ग्रंगपरम्परा-२३० ग्रंगुत्तरिकाय-३०, ३२-३४, ३६, ४१, ७६, ८२, १०८, १२७, १४६, २२८, २५६, २७४, २८३ २८७-२६०, २६४-२६६, ३८७, ४४२

त्रगुलिपर्व-३३० प्रगुलिमाल-३१, ११०, १७६ प्रगेरेजी-१३१, १४०, १७२ प्रजलिकरणीय-७८ प्रकित्रकर्मण्यता-३३८ प्रकल काल-४७१ प्रकालभोजनिवरति-१६ प्रकालिक-७८ प्रकृतोभया-१६७ प्रकुशल-६३, २५७, २५८, ३३१, ३३३,

ग्रकुशल-चैतसिक-३३८ ग्रकुशल-मूल-१७, २५७, २५८ ग्रकुशल-वितर्क-१७ ७८

**अकुशल-महाभूमिक-३३४, ३३**६ ग्रकृत-२१४ स्रकृतक-३०३ भ्रकृता**ण्यागम**–५३८ ग्रक्लिब्ट-मनस्-४७२ अक्षण-१५४ ग्रक्षणावस्था-२४, १५४ ग्रक्षपाद-१६२ ग्रक्षया मुद्रा-२१८ ग्रक्षिवर्ष-३३० ग्रक्षोभ्य-१५० ग्रक्षोभ्यव्यूह-१५०, १५५ ग्रगत-५०५ ग्रग्निवच्छगोत्तसुत्त - । ४ ग्रग्नि-विद्युत्-५५४ अग्रधर्म-२२, २६४ अग्रप्रासाद-२९४ अग्रयान-१०६, १३५ ग्रग्रश्रावक-६, ११ ग्रचल-५६ ग्रचल-मण्डल-५६ ग्रचलसेन-१७३ ग्रचला-४१३ ग्रचित्तक-४३३ ग्रचेलक-४ भ्रच्युत-२७६

ग्रच्यूत-पद-५७७ म्रजन्ता-१४० ग्रजर-८०, २६५ ग्रजातशत्रू-१४२ ग्रजित-१८६ ग्रजितकेशकम्बल-२, ३ ग्रजीव-२८५ ग्रज्ञातसूत्र-८ ग्रटक्या-३४, २८८ ग्रट्ठकवग्ग-३२ ग्रट्ठिक-५४ ग्रणिमा-१७७ ग्रण्-१२७, ३२४, ३४१, ३४३ ग्रतद्रुप परावृत्त-२४० ग्रतप्य-६६ ग्रतिद्यावन-१६ ग्रतीत-५०४ ग्रतीश-१७१, १७३ ग्रत्यसालिनी-२८८, ३२२, ४५२ ग्रित्यधम्म-२६०, २६६ ग्रत्यन्त-निरोध-६३ ग्रत्यन्त-विराग-६३ ग्रत्रपा-१६, ३३६ ग्रयर्ववेद-१७६ ग्रदत्तादान-४, २५६ ग्रदत्तादान-विरति-१६, २४ ग्र :ख-वेदना-५५ ग्रदृष्यानुपलव्यि-६०४ ग्रदुष्ट-३२५, ३५३, ३५४ ग्रद्भुत-२९५ ग्रह्य-११५, ३०३ ग्रद्धय-ज्ञान-१६१ ग्रह्मवाद-२३८, ३०३, ३०६, ३८४, ३६०, ३६२, ३६६,४००,४०३, 88E, 800

ग्रदृयविज्ञानवाद-४७८, ४८० ग्रद्वयमिद्धि-१७७ ग्रद्वया-४७४ ग्रहेप-४७, २५८, ३३७ ग्रद्वैतदर्भन-१७६, १७७ ग्रदैतवाद-३६६, ३६७ ग्रधिगन्तव्य-२२१ ग्रधिगमार्थ-३८६ ग्रधिचित्त-१८ ग्रधिपति-३२८ ग्रधिपति-ग्राश्रय-४६६ ग्रधिपति-कारण-५५० ग्रधिपति-प्रत्यय-३५४, ३५६,३५७, ४३८, その父 ग्रिधपतिप्रत्यय-ग्राश्रय-४६५ अधिपति-फल-२६४, २६५, ३६५, ४८१ ग्रधिप्रज्ञा-१८ अधिमाद-२२ ग्रधिमात्र-क्षान्ति–३७० ग्रधिमुक्ति-चर्या-४१२ ग्रधिमुक्ति-भेद-३८७ ग्रिविमोक्स-२५६, ३३४, ३३५, ३३८, ४४७ ग्रधिवचनसस्पर्श-२३४ ग्रिधवासना-२५५ ग्रधिशील-१८ ग्रिविष्ठान-७०, ४६३ ग्रविष्ठान-पारमिता-१८१ म्रिधप्ठान-विशता-७१. ११३ अवोभूमि-५६८ ग्रध्यवमाय-२५६, ५८६, ५६६ ग्रध्यवसेय-२४०, ५९२ ग्रध्यात्म-ग्रालम्बन-४०१ ग्रध्यात्म-सम्प्रसाद-३८२ ग्रध्यात्मोपनिपत्-१२१

अध्याशय-४७ अध्याशय-प्रतिपत्ति-१५६ श्रध्येषणा-१८६ ग्रध्व-३१४, ४०४ अध्वगत-३५६ ग्रध्वत्रय-५०७ श्रनन्त-ग्राकाश-२९६ श्रनन्तनिर्देश प्रतिष्ठान-१४२ अनन्तर-प्रत्यय-३५७ म्रनन्तरूपनिश्रय-३५८ ग्रनन्त विज्ञान-२६६ अनन्तमगग-सयुत्त-३१ अनपत्रपा-५६= म्रनपत्राप्य- ३३८, ३३६, ५६८ श्रनभिरति-सज्ञा-७७ अनिभलाप्य-४०१ श्रनवराग्र-४२२ म्रनवस्थादोष-२४०, ४६६ ग्रनागत-५०४ श्रनागत बुद्ध - १०४ म्रनागत भव-२३० **अनागम-४**५६ ग्रनागामि-मार्ग-१०० अनागामी-२३,४४,४६, १२०, ४५३ भ्रनागारिक-9 ग्रनाजातमाज्ञास्यामीन्द्रय-३२८, ३३१ श्रनात्मता-२२४

ग्रनात्मवाद-३४, १४६, २२३, २४१, २४३, ५३६

ग्रनात्मवादी-२२३ ग्रनानार्थ-४८६

ग्रनात्मदृष्टि-३६०

ग्रनात्मभाव-५५

श्रनार्थ-३६ श्रनास्य-२६५ श्रनास्यय-२३, २५७, २६४, ३७० श्रनास्यय ज्ञान-४७७ श्रनास्यय-दर्शन-२२, २३ श्रनाश्यय-पचस्कन्ध-१९२ श्रनास्यय-स्कन्ध-५५० श्रनास्यय-स्कन्ध-५५० श्रनास्ययेन्द्रय-३३० श्रनित्य-६३ श्रनित्यता-६३, २२४, ३२३, ३५०, ३७५,

ग्रनित्य-भाव-५५ श्रनित्यानुपश्यना-६३ म्रनिदर्शन -२६५ ग्रनिमित्त-विहार-७३ ग्रनिमित्त-समाधि-४०५ श्रनियत-३३४ ग्रनियत गोत्र-३८८ श्रनियत-चैतसिक-३४० म्रनियत-विपाक--२६७, २६८, २७५ ग्रनिरुद्ध-६, ३४, ३ ३ ग्रनिरोध-४८८ ग्रनिरोधानुत्पाद-१६२ ग्रनिर्गम-४५६ ग्रनिर्वचनीय-प ग्रनिवर्त्तन-चर्या-१२६, १३० म्रनिवृताव्याकृत-३४२, ४४८ ग्रनिसाकी-१४१ ग्रनीश्वरवाद-२२३, २४१ श्रनीश्वरवादी-१२३ **ग्रन-ग्रप्राप्ति-३४७** 

भ्रनुक्रमणिका-२७, ३०

म्रनुगम~**८**८ ग्रनुच्छेद-४८६ अनुत्तर-१३३ त्रनुत्तर धर्म-७८ भनुतर पद-४**०**८ ग्रनुत्तर पूजा-१८६ ग्रनुत्तर मार्ग-७= त्रनुत्तर योगक्षेम−**८,** २६४ ग्रनत्तर योगतन्त्र-१७७ १७८ ग्रनुत्तर शरीर-११४ ग्रनुत्तरा सम्यक्सम्बोधि-१४४, १५३, १६५ श्रनुत्यन्न-२६४ त्रन्त्पाद-२६४, ४८८, ४**१**४ त्रनुत्पाद ज्ञान-२३, १**१२, ३७**१ **अनुधम्मता–४०**६ **अनुनय-न्यर्श—**२३४ **अनुपधिशेय-१०**६ त्रनुपलव्धि-६००, ६०२, ६०३, ६०५ ञ्रनुपमा-११७ अनुपलव्यि-हेतु—६० **०** अनुपश्यना-=५ अनुपात्त-३१६ अनुपिटक-३o **ञ्रन्प्राप्ति~३४७** अनुबन्धना-८८, ६० अनुमया-४७४ त्रनुमान–२२३, २४**१, ५०३, ५६**६, ५**८६,** ५६२, ५६३, ५६५-६०५ अनुमानवादी-४६४ त्रनुमानाथित ज्ञान-५**६**६ **अनुराषपुर--२६, ३४** अनुलक्षण-३५१ अनुलोम-६५, ६६ ग्रनुलोम चर्या-१२६

ग्रनुलोम देशना-२३७ ग्रनव्यवसाय-५६४, ५६५ ग्रनुजम-३८८ म्रानूष्य-२२, २३४, २७०, ३६६, ३८३ ग्रन्जामनी-४०६ **अनु**गाननी प्रातिहार्य-२४ ग्रन्समृति-५३, ५४, ७७, ८०, १०३ श्रनुम्मृति-स्यान-५३ ग्रनेकार्य-४८६ अनैकान्तिक-५६३ ६१० ग्रन्त-२६४ ग्रन्त.कल्प-२६५, २६६ अन्तग्राह*्*ष्टि–३४२ म्रतराभव-२३१, २३६ ग्रनण्चरतीर्धिक-२८४ ग्रनेवासिक-४४ अन्वक-१०४ अन्धकार-३९५ ग्रन्ययात्व-२४७ ग्रन्ययान्ययिक-३१३ ग्रन्ययान-मनसिकारमल-४१३ ग्रन्यापाद्य-५० ग्रन्योन्य-प्रत्यय-३५८ श्रन्योन्याश्रय-२४१ ग्रन्वय-६०४ अन्वय-क्षान्ति-३७· ग्रन्वय-ज्ञान-२६६, ३७० ग्रन्वय-व्यतिरेक-२३६ अन्वय-व्याप्ति-२४० ग्रपत्रपा-३३६ ग्रपत्राप्य-२६६, ३३६, ३३७ ग्रपदान-२६, १४० ग्रपनीत-१५

श्रपभ्रंश-२४, २६, १७४ अपर-३५१, ५७१ श्रपरत्व-३४१, ३५२ अपरपर्याय-वेदनीय-२६७,२६८, ३४६ अपर-भव-२२५ अपर-शैल-२६ श्रपर-सामान्य-३४८ श्रपरान्त-२१, २२४, ३४४ अपरान्तक-३७, ३११ श्रपरान्त-कोटिनिष्ठ-४५२ ध्रपरिच्छिन्न-४६ श्रपरिपक्वता-६६ श्रपवर्ग-२२१, ३०५ श्रपवादान्त-४७६ अपवादिका दुष्टि-२६० ध्रपान-८१ ग्रपाय-४० भ्रपायगति-२४, २६० भ्रपायभूमि-६५, ६६, ३६५ म्रपीरुषेय-५५३ भ्रप्कसिण-५४ ग्रप्पना-५४ अप्रणिहित समाधि-४०५ ग्रप्रतिघ-४३२ ग्रप्रतिभाग-५ ग्रप्रतिष्ठित निर्वाण-३६७ अप्रतिसंख्या-निरोध-३२१, ३७३, ४३४ ग्रप्रतिसंयुक्त-३५५ ग्रप्रपचात्मक-४०१ ग्रप्रमाण-६४, ३३७ अप्रमाणश्भ-६६ ग्रप्रमाणाय-६६ श्रप्रमाद-३३६

**अप्रहाण-२३०** 

श्रप्रहीण-२३० श्रप्राप्तकारित -३७५ श्रप्राप्ति-३४४-३४७, ४३२ श्रप्राप्यकारित्न-३२७ ग्रप्रमाण्य-१४ श्रबुद्धिपूर्वक-४८७ भ्रब्धात्-५६६ श्रब्भतद्यम्म-२८ श्रब्मण्डल-२६५ म्रवहाचर्य-विरति-१६ श्रभाव-२६४, २६४, ४५७ श्रभाववादी-५२५ श्रभावशून्यता-४०७, ४०८ श्रभिज्ञा-६२, ३७१, ३६२ श्रभिज्ञाबल-४ अभिधम्म-२७८,५८७ ग्रिभधम्मत्यसगहटीका-३६ ग्रिभिधम्मत्यसगहो-३४, ३६, ६०, ६१, ६४, २२४, ३२३, ३३४, ३३८, ३४६ ग्रिभिधम्मपिटक-३३, ३४, १२६ ग्रिभिधर्मे-८, ६, २६, २७, ४५, ११८, १२७, १६६, २२७, २२६, २३२, २८३, ३३८, ३७२, ४०८, ४७६, ४७७, ४७६, ४८०

ग्रिभिधर्मकथा-99

ग्रिभिधर्मकोग्र-३०, ४२, ६२, ६६, ७९,
७४, ७४, ६२, ६६, ७९,
१०७, १२७, १२६, १३६,
१६६, १६६, २२४, २३३,
२३६, २४१, २४०, २४२
२६०, २६१, ३६६, ३००, ३९९,
३१२, ३९५,३६६,३००,

३७४, ३७६, ३८३, ४१६, ४३१, ४३२, ४४७, ४४८, ४५२, ४५६, ५६५, ५७५, ५७८, ५८०, ५८२

अभिधर्मकोशव्याच्या-६६, १२७, १६६ ग्रिमिधर्मन्यायानुसार-१२७ ग्रिभिधर्मिपटक-२७, २६, ३०, ३४ ग्रिमधर्मप्रकरण-३० म्रिभिधर्मशास्त्र-१६६, २८४, ३७२ ग्रिभिधर्मसमयप्रदीपिका-१२७ ग्रिभिधर्मसम्बय-४४५, ४४६ ग्रिभिष्या-२५६ ग्रिभिनिर्मित-१०७, ११२ ग्रिभिनिर्वत्त-२०, २१ ग्रिभिनिर्होर-४१४ ग्रिभिनिवेश-१६, ४७, १६३, ५३६ ग्रिभिनिष्क्रमण-२, १३५ ग्रिभिनिष्क्रमणसूत्र-१३१ म्रिभनीहार-१८१ ग्रिभिमवार्थ-३८६ ग्रिममुखी-४१३ ग्रिभव्यवितवादी-४६२ ग्रिभवगाश्चित-२३५ ग्रिभिपेक-१३० ग्रिभिष्वग-१८ ग्रिमसम्बोध-४११ ग्रिभिसम्बोधन-१३५ ग्रभिसस्करण-३१८ ग्रिभसस्कृत-२२४ अभिममय-२२, २६०, २६६ ग्रभिसमयालकार-३**०**= श्रमिसमयालंकारकारिका-१६८ ग्रिमसमयालकारालोक-२६५, ३०७ यभूत-४३५

ग्रभूत-परिकल्प-४०२, ४७७, ४८३ ग्रभौतिक-५७२ ग्रम्यवकासवास-२ ग्रभ्यवहरण-३३० ग्रभ्युपगमार्थ-३८६ ग्रज्ञ-३१५ ग्रमनसिकार-६७ ग्रमरवती-१५० ग्रमलाप्रज्ञा-२६८ ग्रमितप्रभ-१९९ ग्रमिताम-६, १०५, १११, ११६, १२२ १४०, ३०७ ग्रमितायु–१०५, १११, १५०, 949, ५७०, ५७१ ग्रमितायुष्यीनसूत्र-१५१ अमिद-१५१ अमृत-८०, २७८, २८६, २८७, २६५ ३००, ५७० ग्रमतकिएका-११४ अमृत-धातु-५७७, ५७८ ग्रम्त-पद-८, ६ ग्रम्ता धातु-२६५ ग्रम्तानन्द-१२३ अमृत्युपद-३०५ अमोह~४७ ग्रम्बद्वसूत्त-३१ ग्रम्बर-४८४ अयोध्या-१७०, ४१५ ग्रयोनिशोमनसिकार-२२८, २५७, २७०, श्ररणा-३७१ ग्ररणा-समाधि-२५३

ग्रराडकालाम-३, ५

ग्ररियचक्खू-२८६

अरिष्टनेमि-१६२

श्ररूप-६०

अरुप-ग्रायतन-१७ त्रलीं साख्य-५८१ श्ररूप-कर्मस्थान-६७ त्रर्हत्-७, १२, १३, २४, ३२, ४४, १०३, अरूप-धातु-१२०, २९६ ४४६, ४५०, ५५३ श्ररूप-ध्यान-१७ अर्हत्पद-४३, ४५ ग्ररूप-भव-७३, २३५ ग्रर्हत्त्व-४४६ श्ररूप-भूमि-६६ ग्रर्हन्मार्ग-१०० ग्ररूप-लोक-२६६ अलकार-४७३ अलोभ-४७, २५६, ३३७ श्ररूपावचर-३३३ ग्ररूपावचर-भूमि-६५, ६६ त्रलीकिक समाधि-४०५ अर्चिष्मती-४१३ अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता-१५७, १७६ अर्णव-५७० ग्रवन्ती-३, २४, २७, ३४ अर्थ-२६, ३१५ अवक्रमण-३७० अर्थकथा-२६, ८६ श्रवकान्तिका प्रीति-६७, ६८ ग्रर्थकथाचार्य-४६ अवचर-४०, ३३३ अर्थिकिया-२३६, ५८६ ग्रवतसक-१०७, १५१, १७८ श्रर्थंकिया-कारिका-२३८, २३६ अवतसकस्त्र-१४१, १४४ अर्थिकया-क्षम-५६० ग्रवदात-३१४ अवदात कसिण-५४, ७६ अर्थकिया-गुण-३८८ ग्रवदान-३२, १४० श्रर्थित्रया-समर्थ-५५६ ग्रवदान-कथा-१४० श्चर्यक्रिया-सामर्थ्य-४६१ ग्रवदानकल्पलता-१४१ ग्रर्थख्यान-४०१ ग्रवदान-शतक-१४०, १४१ ग्रर्थचर्या-३६५ ग्रवदान-साहित्य-१४०, १६४ श्चर्यजात-२२२ श्रवनत-३१४ ग्रर्थपद-२२१ अवभास-२२३ ग्रर्थसहित-१४, १६ ग्रवयव-२८६, ३३४ ग्रथपित्त-५६२ ग्रवयवी--२५६, ३३४ ग्रर्थोपसंहित-२७८ म्रर्द्धमागधी-१२६ ग्रवरगोदानीय-३६८ ऋर्पणा-४२, ५४, ६२, ६६, ६७, ७०, ५० ग्रवलोकितेश्वर-१११, ११६, १४६, १४० 50 श्रपंणा-चित्त-६६ ग्रववाद-१७६, ४०६ ग्रर्पणा-ध्यान-५० ग्रववाद-चित्तस्थिति-३८६ ग्रपंजा-प्राप्त-६६ ग्रवस्तुक-३२१ त्र्रपंणा-समाधि-४४, ६२, ६४, ६८, ८०, ग्रवस्थान्यथिक-३१३ 58, 84

ग्रवाच्य-३०३ ग्रविगत प्रत्यय-३५६ ग्रविज्ञप्ति-२५२, २५४, ३१५, ३१७, 368.833

ग्रवितर्क विचार-५५ ग्रविद्रे निदान-१३२ ग्रविद्या-२०, २२, ४५, २२१, २२५, २३२, ३३८, ३६६, ४६६

ग्रविनाभाव-५६६ ग्रविनिर्भाग-३२३ ग्रविपाक-२३१ ग्रविप्रणाम-२७४, ५३७ ग्रविरज-३२५ ग्रविरति-४१ ग्रविवेक-२२१ ग्रविषाद-२०५ ग्रविसवादक-५5६ ग्रविह-६६ ग्रविहिंसा-१७, ३३७ ग्रविहेठना-३३७ ग्रवीचि-१३४, १५०, ३६५ ग्रवेस्ता-१२२ ग्रवैवर्त्तिक-४५० ग्रव्यपदेश्य-५६७ ग्रव्यभिचारी-५०३ ग्रव्याकृत-३३३, ३४२, ३८३, ४४८ ग्रव्यापाद-१७ अवज-३२५ ग्रशाश्वत-४५६ ग्रश्चिभाव-५५ ग्रशुभ-१६, ५४—५६ ग्रश्म-सज्ञा-४६ ग्राग्रील-२३ ग्रशैक्षमार्ग-३३०, ३३१

ग्रमोक-४, ७, २५, २६, ३६, ३८, १०३, १२५ ग्रशोक-विरजपद-प ग्रगोकावदान-७, १३, १४१ ग्रशोकावदानमाला-१४१ ग्रश्वघोप-१३६-१४०, १६७, १७३,

३०२

ग्रश्वजित्-६ ग्रव्टद्रव्यक-५६६ ग्रष्टम विज्ञान-४६७ ग्रप्टमी-त्रतिववान-१७७ ग्रप्टसाहस्रिका प्रजापारमिता-११३, १२४, १४१, १५७, १६१, १६४-१६६, १८३, २१३

ग्रप्टागिक मार्ग-१६, २२, १८०, २८३ ग्रष्टाक्षणविनिम् क्त-२०५

ग्रप्टादश निकाय-३६

ग्रसग-१२४, १६४, १६६, १६८-१७०, ३०२, ३०३, ३०७ ३७६, ३५९, ३८४, ३८८-३६२, ३६४-४००, ४०२-४१०, ४१२, ४१४, ४२२, ४२४, ५५५

ग्रसज्ञाभव-२३५ ग्रसज्ञिदेव-४३३, ४५२, ४६१ ग्रसज्ञिसमापत्ति-२५४, ३१७, ₹**४**€, ४३३, ४५२, ४६१

ग्रसज्ञिसत्त्व-६६ ग्रसम्प्रख्यान-२३२ ग्रसम्प्रजन्य-३३८-३४० ग्रसंवर-२५५ ग्रसस्कृत-३३, २२४, २२६, २६४, २६६, ३१४, ३५०, ३७३, ४७७ ग्रमस्कृत धर्म-३२१, ३२२, ४३४, ४८५ ग्रसत्त्वाख्य-३१६

ग्रसपक्ष-५६६ ग्रसमवायिकारण-५८६ ग्रसमसमस्कन्ध-११२ ग्रसित-६६ ग्रसितकथा-१३६ ग्रसिद्ध-६०६ ग्रसिपत्रवन-१६५ ग्रसुखादु खवेदनीय-२३४ श्रस्र-१५१ ग्रसुरकाय-६६, ३६८ श्रस्यः-६४, ३३५ ग्रस्तगम-६७ ग्रस्तिकाय-५७१ ग्रस्तिप्रत्यय-३५६ ग्रस्तिवादी-४६० ग्रस्थिमज्ज-७६ ग्रस्सलायनसुत्त-३१ **ग्रहंकार-२२१, ३३**८,४२८ ग्रहिंसा-६ म्रहेतुवाद-४५६ म्रहेय-३३१ ग्रहोगग-३५ ग्रहोरात्न-५४५ ग्रही-३३६,५६८

आ

ग्राकर-धातु-३१६ ग्राकार-४४० ग्राकार-समता-३६४ ग्राकाश-५४, ३२१, ३७३, ३७४, ४२६, ४३४, ५६६, ५७०, ५७२, ५८३-५८८ ग्राकाश-कसिण-५४, ६७

30

श्राकाश-गमन-११३ ग्राकाश-धातु-१८०, ५१०, ५८७ श्राकाश-परीक्षा-५८८ श्राकाश-मण्डल--७७ म्राकाशवाद-५८२, ५८६-५८८ ग्राकाश-सम-३६६ त्राकाशानन्त्यायनम्-५४, ५५ ६७, ३६**८** म्राकाशानन्त्यायतनभूमि-६६ म्राकासो-५८६ ग्राकिचन्य-२६६ म्राकिचन्यायतन-४४, ५६, ६७, ६८, ३६८ भ्राकिचन्यायतनभूमि-६६ ग्राक्षेप-५८० ग्रागत-३३४ ग्रागम-२७-२६, ३७, १०७, १२३, १२६, १४०, १६४, २६०, २५३, २५६, २६३,४१७,४७७,४५३, 480, XE3 ग्रागम-ग्रन्थ-१५७,१६४

श्रागम-ग्रन्थ-१५७,१६४ श्राचार्य-४४ श्राजानेय-२७१ श्राजीव-१६, २८३ श्राजीवक-४, ७ श्राजीव-परिशुद्धि-१७ श्राजीवक-४३० श्राजीवकवाद-३७८ श्राजीवकवाद-३७८ श्राजात-कौण्डिन्य-१२, १४३ श्राज्ञातावीन्द्रिय-३२८, ३३१ श्राज्ञातावीन्द्रिय-३२८, ३३१ श्राज्ञातप-३१५ श्रात्तापन-परितापन-४ श्रात्मकर्म-२२२ ग्रात्मग्राह−४२२, ४२४, ४२६, ४७३, ४७४

ग्रात्मतः-४०५

ग्रात्मद्प्टि-१५६, ४०८, ४७०

ग्रात्मधर्म-४२३

ग्रात्मधर्मोपचार-४३५

ग्रात्मनिर्भास-४२३

ग्रात्मपरिपाक-३६२

ग्रात्मप्रतिपत्ति -२६०

ग्रात्ममान-४७०

ग्रात्ममोह-४७०

ग्रात्मवशवर्त्तिता-२०५

ग्रात्मवाद-३१, २३२, २४५, ३६६, ४००,

४२७,४३४,४७०,४८०

ग्रात्मवादी-२५४, ४२७

ग्रात्मवादोपादान-२३१, २३४

ग्रात्मसस्कार-२२२

ग्रात्मस्नेह-४७१

ग्रात्मा—६, ६, ३३, १६६, २२२, २२३, २३६, २४३, २४४, २७४, २८४,

२८४, २८७, २१३, ४०२, ४२४,

४२५, ४२७, ४३६, ४४८, ४७५,

४२३, ५३४, ५३६, ५६६

ग्रात्मोच्छेद-२२२

ग्रात्मोपचार-२२३, ४२३

ग्रात्मोपनिपत्-१२१

ग्रात्यन्तिक-हान-२२१

ग्रादर्श-ज्ञान-४००

ग्रादान-३२६

ग्रादिकर्मप्रदीप-१७७

ग्रादिकर्मिक-बोधिमत्त्व-१७७

ग्रादिकल्याण-१०, १८, ४०

ग्रादिनाथ-१११, १५०

ग्रादिनारायण-१२२

ग्रादिबुद्ध-१०४, १११, ११७, १२२, १४६,१५०

ग्रादिम्मि-४०५

ग्रादीनव-२३२, ३३८

ग्राधारहेनू-३५७

ग्राध्यात्मिक-४२७

ग्रानन्तर्य-४०७

ग्रानन्तर्य-कर्म-२५३

ग्रानन्तर्य-मार्ग-२३

ग्रानन्तर्यं-सभाग-२६८

ग्रानन्तर्य-समाधि-४०७

म्रानन्द-६, ७, ६-१३, १६, ३६, १०४,

१०८, १०६, १११, ११२, ११६,

१३३, १३४, १४७, १४७, १७६,

२८१, २८३, २८६

ग्रान-५१

श्रानापान-५६

ग्रानापान-स्मृति-१६, ५४-५६, ५०-५२,

50, 89, 88

ग्रानापान-स्मृतिसमाधि-८२, ६४

ग्रापायिक-२६१

ग्रापो-कसिण-७५

ग्रापोधातु–६६

ग्राप्त-५०३

ग्राप्तवचन-५६२

मावाब-४३,४४

ग्रामाम-४०४

ग्राभिघार्मिक–३०, २८८, २८२,

रहेर, ३११, ३३६, ३७२

ग्राभिप्रायिक-४१७

ग्राभिमानिक-१४३

ग्राभोग-मल-४१३

म्राभ्यन्तर-वृत्तिक प्राणायाम-८१

श्रामस्वरय-६६

श्रामाशय-३३०

श्राम्नाय-२६, ३६, ३७, १३६, २८२ ग्रायतन-६५, २४४, ३१६, ३१६

ग्रायु-३४२, ३७४

ग्राय्वे द-णास्त-६, १६७

ग्रारम्भवाद-५६५

म्रारण्यक-११, १३, ३५

स्राराम-स्रारोपण--२६

ग्रारूप-१४-१७, ६२, ७३

आरूप्यतृष्णा-२३१

श्रारूप्य-धातु-२३, ३२०, ३४३, ३६८,

श्रारूप्य-समापत्ति-४३३

भ्रारूपावचर-२२५

ग्रारेल-स्टाइन-१२४

ग्रारोग्य-२६१

श्रार्य-१४, २३, २८७

ग्रार्य-ग्रष्टागिक मार्ग-४५

श्रार्यगण्डव्यु हसूत्र-१८६

म्रार्यगयाशीर्ष-१५२

ग्रायंचक्तु-२८६

ग्रार्यज्ञान-२१३, ४८६

म्रार्यतारास्रग्धरास्तोत्र-१७६

ग्रायंदेव-६, १६७, १६८, १७३, ४६०,

ग्रार्यधर्म–६४

ग्रार्यधर्मप्रतिपन्न-७८

श्रार्यफल-४४३

ग्रार्य-बुद्धावतंसक-१५१

श्रार्य-महासाधिक-३६

ग्रार्य-महीशासक-२२६

श्रार्थमार्ग-द२

ग्रार्यमूलसर्वास्तिवाद-१२५

ग्रार्यमूलसर्वास्तिवादी-३६, ३७

<del>ग्रार्यशतसाहस्रीप्रज्ञापारमिता–२</del>१२

श्रार्यशालिस्तम्बसूत्र-११३

ग्रार्यशूर-१४०

ग्रार्यश्रावक-६०

त्रार्यसत्य-१७, १८, २२, ३१, ३२<sub>,</sub>

५४, २६४, ४४२

श्रार्य-समितीय-३६

श्रार्य-समापत्ति-२८७

श्रार्य-स्थविर-३६

श्रार्या-२८, २६

ग्रार्यागीति-२८

म्रालम्बन-४४०, ४४४

ग्रालम्बनपरीक्षा-१७०

म्रालम्बन-प्रत्यय-३५४, ३५५, ३५७,

X03

श्रालम्बन-प्रत्ययवाद-४८१

श्रालम्बनवाद-४४२

श्रालम्बन-समता-३६४

भ्रालम्बनोपनिश्रय-३५५

म्रालय-४३८, ४४०, ४४४, ४६४

म्रालयविज्ञान-११६, १६२, १६६, ३०२,

३०६, ४३७, ४३८, ४४०, ४४७,

४७३, ४७४, ४८१

आलोक-३१४

श्रालोक-कसिण-५४, ७६

ग्रालोक-मण्डल-७६, ५७

ग्रालोक-मज्ञा-६४

ग्राल्टरमरी-३६६

ग्रावरण-२१६

ग्रावर्जन-७०, २४७

ग्रावर्जनवशिता-७०

ग्रावस्थिक-२२६, २२७, २३८

ग्रावाम-४३

ग्रावृत्त-गमन-१**१**३

ग्रावेणिक-३४२, ३७१

ग्रावध-३५२, ३६७ ग्राशय-६६, ३५५ ग्राधाय-णद्धि-२७६ ग्रागतोष म्खर्जी-२६ ग्राण्चर्य-२६५ ग्राष्ट्रय-३३८, ३३६ आश्रय-२५०, ४६५ ग्राध्य-परावृत्ति-४०२, ४०४ ग्राश्रय-परिवृत्ति-३६४ श्रश्रय-समता-३६४ ग्राश्रयामिद्ध-६०६ श्राद्वलायन-१४, १५, १६२ श्राम्बलायनम् स-१४ ग्रांडगर्-८१ ग्रश्वाम-काय-५६ ग्राज्वाम-प्रक्वास-५१, ५४, ५६ ग्रासज्ञिक-३४४, ३४६, ४३३, ४५२ ग्रासन-५३, २२२ श्रासन्नविमुक्ति-२२१ ग्रासव-४५ ग्रामेचनक-कार्य-१६५ श्रासेवन-प्रत्यय-३५५ ग्रास्तिक-१, २ ग्रास्तिक-दर्शन-५८८ ग्रासव-४४, २३३, ३१४ ग्राहार-६८, ४५८ ग्राहार-प्रत्यय-३५८ ग्रह्मीक्य-३३८, ३३६

통

इस्त्राकृवण-१३७ इण्डिया ऑफिस लाइवेरी-१२३ इन्द्र-३१, १६२ इन्द्रजाल-१७७ इन्द्रभूति-१७७ इन्द्रिय-६१, ६२, ६१, २२२- २३३, ३२०, ३२७, ३२८-३३३ इन्द्रिय-प्रत्यय-३५५ इन्द्रिय-विकलता-१५४ इन्द्रिय-विज्ञान-५६१ इन्द्रिय-स्वभाव-३३१ इन्द्रियार्थसन्निकर्प-५६१ इतिवत्तक-२०, २८, २६, ३२, १०८, १०६, २८४, २६४, २६४ इत्सिंग-३६, ३७, १०६, १२५, १२६, १३७, १३८, १४०, १६३, १६७ इटन्ता-३०४ इदम्प्रन्ययता-३०४, ४६६, ४६= इरियाण्य-५० डलियट-१२२ इप्टि-४ इहलोक-२८८, ४६६, ५७२ ईति-२४२, २६६, २७३, ३२२

ईति-२४२, २६६, २७३, ३२२ ईयिपय-४०, ४२, ६२, २४४ ईप्यि-१४, २४६, ३३८-३४० ईप्यर-६, १३१, १६२, २२२, २२३, २४१, २४०, ३२२, ३४४, ५८३ ईव्यरकृष्ण-५६६ ईप्यरवाद-२३८ ईप्यरवादी-२४२, २४६, २७३, ३२२ ईसाई-वर्म-१२२ ईसाई-वर्म-१२२

उ उग्गाहनिमित्त–६०, ६१ उच्चार-प्रस्नाव–१०४ उच्चार-प्रस्नावमण्ड-१३३ उच्चासनशयनविरति-१६

उच्छेद-१६

उच्छेददृष्टि-१६, २६४, २९४

जच्छेदवाद-२३१, २४४, ५३१, ५३२,

४४८

उच्छेदवादी-५६०

उज्जयिनी-३८, १२६

उज्जैन-११, २५

उञ्छवृत्ति**–**४

उडीसा-१७७

उह्डियान-१७७

उत्कुटिक-४

उत्तम-मगल-१७

उत्तर कुरु-३६८

उत्तर भारत-१२६

उत्तरावथक-१०४

उत्पत्ति-नि स्वभावता-४८६

उत्पाद-४०५, ५१३

उत्पाद-विनाश-५४७

उत्पादोत्पाद-४१३

उत्सन्नता-४८

उदक-चन्द्रविम्व-४०३

उदयन--३, १६७

उदयनवत्सराजपरिपृच्छा-१४६

उदान-४, २७-२६, ३२, १२७, १४०,

२६२ २८१, २६४, ३७२

उदानवर्ग-१२४, १२७, २८७ उदायी-२८१, २८७, २८६

उदीरणत्व-४२८

उद्ग्रह-८७, ४०४

उद्ग्रह-निमित्त-६१, ७४-७७, ८४

उद्देशाचार्य-४४

उद्घुमातक-५४, ७७

उद्यान--१२६

उद्योतकर-२२१, २८५

उद्रक-रामपुत्र-३, ४

उद्वेगा-प्रीति–६७, ६८

उन्नत-३१५

उन्मेष-निमेष-३३०

उपक्लेश-३३९, ३४०, ३४४

उपगप्त-१४१

उपचय-३२३

उपचार-४२, ४४, ६४, ६६, ७०, ८७,

Xex

उपचार-क्षण--५७

उपचार-ध्यान-५०

उपचार-भूमि-४२, ५४

उपचार-समाधि-४४, ४४, ६१, ६२, ७८,

98,50

उपचित कर्म-२५०, २७५

उपच्छेद-४४

उपदेश-३८५

उपनन्द-११८, १३२

उपनाह-३३६, ३४०

उपनिघ्यान-२५७

उपनिश्रय-प्रत्यय-३५८

उपनिषत्-२, १४, १२१, २७६, २८४,

२८७, ३६२, ३६६, ४००, ४२४,

४६३, ४७४, ४८३, ४८४, ४८७,

५८६

उपपत्ति-१४

उपपत्तिप्रतिलम्भिक-धर्म-३६३

उपपत्ति-भव-२३५, २३६

उपपत्तिभवक्षण -२२५

उपपद्य-वेदनीय-२६७, २६=, ३४६

उपपादुक-१३०, ४१७

उपबृहण-हतु-३५७

उपभोग-३२६ उपमान-४७८, ४६२, ४६८ उपमितभवप्रपचकथा-१२२ त्रपरत-कारित्र-३७५ उपराम-5 उपवसय-२५४ जपविचार-२३५ उपसमानूस्मृति-५४, ८० उपसम्पदा-५, ६, ४४, १२६, १७६ उपसम्पदाचार्य-४४ उपस्कार-२२२ उपस्तम्म-३५५ उपस्तम्म-हेत्-३५७ उपस्य-३२६ उपस्थान-५७ उपस्थापक-६ उपात्त-३१६ उपादाता-५१६ उपादान-२०, २१, २२४, २२६, २३४,

उपादान-वर्ग-२३७
उपादान-स्कन्ध-२३४, ३१४
उपादाय-प्रक्रप्त-४२२
उपादाय-रूप-३४४
उपादाय-रूप-३४४
उपाद्य-४८०, ४४२
उपादेय-४८६
उपाध्याय-४४
उपाय-कोशल्य-१४३, १४८
उपाल-११, ३६
उपाल-पर्पृच्छा-१४६
उपासक-६, २३, २४४
उपासका-६, २५४
उपेक्ख्पिवचार-२३४
उपेक्क-७२

३१५, ३६६, ४५६, ५१६

उपेक्षा-१६, ५४, ६३, ७२-७४, ६४-६६, ६८, ३३६ उपेक्षा-पारमिता-१८२ उपेक्षा-वेदना-७४, २३४ उपेक्षेन्द्रिय-३२८ उपोमय-७ उम्र-४२० उरग-परिपृच्छा-१५६ उर-शरीर-३२ उच्वेल-काय्यप-६ उच्वेला-३, ६ उण्णीप-विवर-१३१, १४२ उपम-२२, ४५७ उप्मयत-२२ उस्मद-कित्तन-४६

ळणींकोण—११० ऊर्घ्वमूमि—५६८

双

玉

ऋग्वेट-५७०
ऋजुप्रतिपन्न-७८
ऋणपरिणोधन-न्याय-१६७
ऋद्धि-४,४३,४४
ऋद्धिपाद-२८३
ऋद्धि-प्रातिहार्य-२४,११८
ऋपम-१६२
ऋपि-२,११,१६२,४२०
ऋपिपत्तन-५

Ų

एकत्व-५७२ एकयानवाद-३०८ एकयानवादी-३०७ एकल्लवीरचण्डमहारोषणतन्त्र-१७८ एकव्यवकारभव-२३५ एकव्यवहारिक-२८६
एकहितुवाद-४८६
एकान्तवाद-४२२
एकाक्षरी प्रज्ञापारिमता-१४७
एकाग्रता-७१, ७२, ७४, ३३४
एकोत्तरिनकाय-२८
एकोत्तरागम-२६, १२५, १२७, ४५२
एकोदिभाव-७१, ७२
एजर्टन-१२८, १२६
एवंजातीयकधर्म-३४४, ३४५
एशियाटिक सोसाइटी-१२३, १२४, १७३
एहिपस्सिक-७८
एहिभिक्ष्काय-उपसम्पदा-१२६

ओ

स्रोकासो-५८६
स्रोघ-३६, २८७, ३६६, ४५१
स्रोडारिक-७१
स्रोडियान-३६
स्रोमिगा-१७३
स्रोरियण्टेलिया-२६
स्रोल्डेनबर्ग-८, २७८

औ

ग्रौदारिक-१६५, २५७, ५६७ ग्रौद्धत्य-३३८, ३३६ ग्रौद्धत्य-कीकृत्य-४१, ६७ ग्रौपनेय्यिक-७८ ग्रौपपादुक-११७, २६१ ग्रौपाधिक काल-५७१

क

कण्ट-१७५ कण्टकापाश्रय-४ कण्ठ-३३० कणाद-१६२, ५५०, ५६०, ५<sup>८३</sup>, ५८५, ५८६ कथा-१३०

कथावत्थु–३३, ३८, १०४, ११२, १२४, २८१, २८८, २६८

कथावस्तु-२६, ११८, ३१४ कनिष्क-१२६, १३७, १४४, १६७

कन्नौज-१२६

कपिल-१६२, ५६०

कपिलवस्तु-३, ६, २४, १३२

कमलपुष्प-१० ३ कमलबुद्धि-१७० कमलशील-१७५

कम्बोज-१४, २७

करजरूप-६७

करजरूप-काय-६७

करण्डव्यूह-१११

करुणा-१६, ५४, ६४-६६, ३३७

करुणापुण्डरीक-१५०

कर्कशत्व-३१६

कर्न (एच्०)-१४१, १७२, २७६

कर्म-३१, ३२, ३४, ४३, २२७,२३६, २५०, २७६, २८४, ५३५,५३६

कर्म (न्याय)-३४५, ४२८, ५६३

कर्मकाण्ड-१

कर्म-कारक-४१७

कर्म-क्लेश-२२

कर्मण्यता-३५३

कर्म-प्रत्यय-३५५

कर्म-प्रदीप-१७७

कर्मफल-२, ४, २६४, २७४, ४३४-

४३५

कर्मबीज-४३८

कर्मभव-२१, २३४, ३६६

कर्म-मानिता-२०७

कर्म-वर्तम-२२७, २३७

कमवाद-१०३, २२३, २२४, २५०-२७७, ५३५ कर्मविपाक-१, २६६, २७२, २७३ कर्मसिद्धिप्रकरण-१७० कर्मस्यान-१६, ४४, ४५, ५४-५७, ६२, ७७, ८०, ८२, ८७, ८६

कर्मेन्द्रिय-३२६, ३३० कलकत्ता-१६६ कलल-४६४ कलाप-३२३ कलियुग-१६२

कल्प-१०४

कल्पद्रुमावदानमाला-१४१ कल्पना-५६० कल्पनापोढ-३४६

कल्पनापोढता-५०२

कल्यनामण्डितिका-१३८, १४१ कल्याणमित्र-१६, ४४, ४५, ४७,

१५३, १५४, १८६, २०२

कवडीकार-ग्राहार-४५८ कवलीकार-ग्राहार-६८ कवीन्द्रवचनसमुच्चय-१३८ कशम्बक-१७ कश्मीर-३७, १२४, १२५, १३८,

१६७, ३११

कश्मीरी-१७६ कसिण-५२, ५४-५७, ५६, ७५, ७७

कसिण-दोप-६१, ७५ कसिण-मण्डल-७६

कसिण-रूप-६७

किमया-१०

कस्मपगोत्त-३७

कस्मपिक-३७

काक्षावितरणविशुद्धि-१००

काचीपुर-२७ काजूर-१५१, १५५

काठमाण्डू-१२३, १७३

काणदेव-१६८

काण्ड-२२५

कात्यायन-१६२

कात्यायनीपुत्र-२६, १२६, ३११, ३७२

काम-१७, ४५

कामच्छन्द-४१, ६७

कामतृष्णा-२३१, २३५

कामदेव-१७७

कामधातु-१८, ४०, ६६, १२० २३६,

३२०, ३४२, ३४३, ३६८

कामभव-७३, २३५ काममिथ्याचार-२६६

कामिमध्याचारिवरित-२४

कामराग-२२, ५५, २५६, ३६६

कामलोक-११६

कामवितर्क-२१०

कामसुखानुयोग-१६

कामसुगतिभूमि-६५, ६६

कामाप्त-टु ख-२२

कामावचर-३३३

कामावचर-क्लेश-२३

कामावचर-चित्त-३४२

कामावचर-भूमि-६६

कामावचर-रूप-३४५

कामावचर-सत्त्व-३३३

कामोपादान-२३१, २३५

काय-८४, ८६, ३३७, ३४४, ३५२

काय-ऋजुकता-३३७

काय-कर्म-२४८

काय-कर्मण्यता-३३७

कायगतानुसमृति-५४, ५५, ७६

कायदण्ड-२५१
काय-प्रश्नविध-४२, ३३७
काय-प्रश्नविध-४२, ३३७
काय-प्रगुण्यता-३३७
काय-मृदुता-३३७
काय-लघुता-३३७
काय-विज्ञप्ति-२५४, ३७६
काय-विवेक-६६, २९०
काय-सस्कार-६६, ६९, ६२
कायानुप्रथना-६५
कायानुप्रथना-६५
कायावचरी-२५५
कायावचरी-२५५
कायावचरी-२५५
कायावचरी-२३४
कायिक-१६६, ३२६
कारण्डक-१७

कारण–२४०, ३५३, ५८६ कारण-हेतु–३५४, ३५६ कारण्डव्यूह–१४६, १५०, १५५

कारित्र–५७६ — ५८२

कार्दिये-१७४

कार्यकारणभाव-३३

कार्यहेतु-६००, ६०६

काल-३४१, ३८४, ४२६, ४४४, ४६६,

५७१. ५७२, ५८८

कालकर–१०७ कालत्रय–५४५ कालत्रयवाद–५४५

कालदेवल-३

कालवाद-४६३, ५६६--५८२

कालवादी-५४५, ५७२

कालसमता-३६४

कालसूत्र-३६८

कालाध्व-५७६

कालिदास-१३७

काशगर-१२४, १२६

काशी-३, ५

काष्मीर-वैभाषिक-३११, ३२६, ३२७,

४१८

काश्यप-१४६, ५४२ काश्यप-परिवर्त्त-१५५

काश्यपीय-३६, ३७, १२५

कीकी-३१२

कियोटो-१५१

कुम्भक–८०, ८१

कुम्भीपाक-२०१

कुइ-ची-३१२

कुक्कुटिक-२८८

कुचनी-२६

कुणाल-२७३

कुणालावदान-१४१

कुदुष्टि-३३६

कुमारजीव–१४१, १४२, १४१, १६७, १६८

कुमारलब्ध-१२८, १६७

कुमारलात-१३८, १४१, १६७, २४४, ३७२, ३७३

कुमारलाभ-१२८, ३०१

कुमारिल-४८३, ४६४

कुल-४३

कुशल-६३, २५७, २५८, ३३१, ३३३,४४८

कुशल-चित्त−१६, ६७ कुशल-चैतसिक−३३

ु कुशल-महाभूमिक-३३४, ३३६, ३३७, ४६७

कुशल-मूल-२२, २५७, २५८

कुशल-राशि-२२

क्शल-वितर्क-१७

कुशलोत्साह-६३

कुसिनारा-१० २४

कुहकवैद्य-२४६ कुल (ई०)-२५ क्चा-७, १२४ कटागार-१५१, १५४ कृत्य-५०, ५१ कृत्यान् पठान-ज्ञान-४०० कृष्ण-१२१, १२२ केगोन-१५१ केम्ब्रिज-१२३ कोचीन-चाइना-१२६ कोट्ठास-८० कोलियपुत्त-१०७ कोलियवंश-१३० कोलोपम-१८, २६० कोश-१२६, १३६ कोशल-३, ११, २४, २६ कौकुलिक-१३६ कौकृत्य-३३८ कौटिल्य-१३७, १६२ कोरव-१६२ कोशाम्बी-३, ११, ३५, ३७, ३८, १०३ कौसीद्य-३३७--३४० क्योटो-१६२ क्रमेण-२२ कान्त-ग्राश्रय-४६८ किया-५०४ क्रियातन्त्र-१७७ कोध-३३६, ३४० क्लिप्ट-३८३ क्लिप्ट-मनम्-४६४, ५७५ क्लेण-२२७, २३६, ३३६, ५११ क्लेशकाम-६६ क्लेण-निष्यन्द-३४०

क्लेश-महाभूमिक-३३४, ३३८, ३३६ क्लेगा-त्रतमं-२२७ क्लेगावरण-१६४, ४०६, ४२२ क्षण-३७६, ५४५, ५६६ क्षणभंगता-२३८, ४८८ क्षणभगमर्ग-७६ क्षणमगवाद-३४, २२३, २३८, २४१ क्षणमन्ततिवाद-२३५ क्षणिक-४२, २२३, २२६, २३८ क्षणिकवाद-३७६, ३८३, ३८४, ४१०, प्र३६ क्षणिकवादी-३७६, ३८३, ४१७ क्षणिका प्रीति-६७ क्षय-२६५ क्षय-ज्ञान--२३, ११२, ३७० क्षय-निरोध-६३ क्षय-विराग-६३ क्षान्ति-२२, १६५, २५६, ३६६, ३७० क्षान्तिपारमिता-१७६, १८४, १६०, १६४ 338 क्षीणासव-४६ क्षुद्रकनिकाय–२८ क्षुद्रकागम-३१३ खुद्रिका प्रीति-६७ क्षेम-८०, २६५ क्षेमपद-८ क्षेमेन्द्र-१४१

स्र

खग्गविषाणसृत्त-३२, १३० खड्गविषाण-११, १२ खन्यक-७, २७, ३० खपुष्प-४७५ खरोष्ट्री-१२४, १३५

क्योमा-११४

खायित-६६ खाश-७ खुतन-१०३, १२४ खुद्दकनिकाय-२६, ३०, ३२, ३३ खुद्दकपाठ-३२ ख्री-दे-सू-त्सान १७२

#### 77

गगा-३४, ४६, १४७, १४२, २१२, २७४, ४७६ गगा-यमुना-३७ गण-१, ४३ गणना—८७ गणवाचक-४३ गणाचार्य-३, १०३ गणितशास्त्र-५६८ गणी-३ गण्डव्यूह-१४१. १५५ गण्डव्यूहमहायानस्त्र-१५१ गण्डीस्तोत्र-१३८ गत-५०५ गति-३४७, ४५६, ५०५ गति-क्रिया-५७४ गद्गदस्वर-१४८ गद्यकारण्डव्यूह-१४६, १५० गन्तव्य-५०५ गन्ता-५०५ गन्ध-३१५, ३१६ गन्धकूटी-६ गन्धर्व-नगर-४१६ गन्धर्व-पूद्गल-५७७ गन्धवती-५६८ गमन-५०, ६६, २४६

गमनारम्भ-५०७

गम्भीरनय-११३ गम्यमान-५०५ गया-१४७, २६२ गर्भोपनिषत्-४८४ गान्धार-१२४ गान्धार-रीति-१०४ गाथा-२६, २८, २६, १०७, १२३, १३६, १४१, २३४, ४६२ गाथा-संस्कृत-१२८ गिरनार-लेख-२४ गीति--२८ गुजरात-१७१ गुटिका-४५१ गुण-३४४, ३५२, ४२८, ५६३ गण-कारण्डव्यूह-१४६ गुण-क्षेत्र-२७६ गुणभद्र-१५१, १६२ गुणमति-१६६ गुणालकारव्यूह-११६ गुप्त-१६२ गप्तकाल-१६२ गप्तलेख-१२४ गुरुत्व-३१६ गह्यसमाज-१७७ गृह्यसिद्धि-१७७ गृध्नकूट-१०६, ११०, १४२, १४८ १५५, १५७ गृहकारक-५ गृहपति-११ गृह्यसूत्र-१७७ गेय-२८ गेय्य-२८, २६ गोल-३८७ ४४० गोत्रभू-६६, ६८, ३८७ गोलभेद-३५७

गोपा-१५३, १५४
गोरज-३२५
गोविन्दभाष्य-५७२
गोत्रतिक-४
गोजील-२६२
गोमिग-६
गौतम-२३८, ३३०, ५५०, ५६७
गौतम (बृद्ध)-२, १४, १४, ३२,

ग्रन्य-४३, ४४

ग्रन्थपाद-१२७

ग्रह-५७४

ग्रामोपचार-४२

ग्राहक-ग्रनुकृति-४३५

ग्राहक-माग-४४१

ग्राह्य-२४०, ५६२

ग्राह्य-ग्राहक-४३४

ग्राह्य-भाग-४४९

ग्रुनवेण्ड त-१२४

ग्रेधाश्रित-२३५

ग्रामप्रस्यसमेपज-४३

घ

घनव्यूह-४७७, ४८५ घोषक-३९९, ३९३ घ्राणेन्द्रिय-३२७, ३२८

च

चनु-२६६ चक्र-१०३ चक्रवाल-१६ चलुबर्म-५१४ चलुरायतन-४१७ चलुरिन्द्रिय-३२६-३२६ चलुर्विज्ञान-३२६-३२६

चक्षविंज्ञान-ममगी-३२६ चण्डप्रद्योत-३ चतुःशतक-१६८ चत् शतिका टीका-१७० चनु सत्य-२२ चत् सूत्री-१८ चन्.स्नव-१७६ चत्रार्यमत्य-३१ चतुर्वातु–६६ चनुर्घातु-व्यवस्थान-५६, ५७, ६६ चतुर्विध ज्ञान-३६६ चतुर्व्यवकारभव-२३५ चतुर्व्या ह-२२१ चन्द्र-१५०, ५८४ चन्द्रकान्तभाष्य-३५३ चन्द्रकीर्त्ति-१०७, १२०, १६७, १६८, १७०, १७१, २७४, ३०१, ४८५-- ४६१, ४६३—४६६, ५०२, ५१४, ४१६, ४१६, ४२३---४२४ ४२७. ४३० ५३२, ५३४ ५४०, ५४०, ४४३, ४५०, ४५१, ४४३, ५५४, ४४६, ४४७, ४६०, ४६२, ४८७ चन्द्रगुप्त मौर्य-३, १६२ चन्द्रगोमिन्-१७० चन्द्रपाल-४३६ चन्द्रप्रदीपमूत्र-१६३

चन्द्रगुप्त मौर्य-३, १६२
चन्द्रगोमिन्-१७०
चन्द्रपाल-४३६
चन्द्रप्रदीपसूत्र-१६३
चन्द्र-मण्डल-२१२
चन्द्रमा-१११
चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा-१४६
चम्पा-१२६
चरणपादुका-१०३
चरमभविक-१०४, २७१
चरियापिटक-२६, ३३, १०६
चर्वण-३३०

चर्या-४८, ४६, ५७, १४१, १६४ चर्याचर्यविनिश्चय-१७४ चर्यातन्त्र-१७७ चर्याविनिश्चय-४६ चल-५६ चल-मण्डल-७६ चाइल्डर्स-२७८ चातुर्महाभूतिक-४ चातुर्महाभौतिक-४६३ चातुर्माहाभौतिककाय-१०७ चातुर्महाराजिक–७६, ३६८ चातुर्माहाराजिक–६६ चारिका-६, ७, २७६ वार्वाक-२३८ चिकित्साशास्त्र-२२१ चित्त-२२३, २७८, ३३३, ४१४ चित्त-ऋजुकता-३३७ चित्तकर्मण्यता—३३७ चित्त-चैत्त –३२३, ४४१, ४६६ चित्त-द्रव्य-३४२ चित्त-निर्वाण-प्र चित्त-परिकर्म-१६१, १६२ चित्त-प्रश्नविध-४२, ६८, ३३७ चित्त-प्राग्ण्यता-३३७ चित्त-मृदुता-३३७ चित्त-लघुता-३३७ चित्त-विज्ञान-११६ चित्त-विवेक-२१० चित्तविप्रयुक्त धर्म-३३४, ३४४-३४२, 368 चित्त-विशुद्धि-१०० चित्तविशुद्धिप्रकरण–१६८ चित्त-विस्तार-१३०

चित्त-संस्कार-६२

चित्ताचार-४७ चित्तानुपश्यना-- ५४, ६२ चित्ताभिसस्कार-३५६ चित्तंकाग्रता-६८ चित्तोत्पाद-१५२ चित्तोत्पादविरागिता-१८४ चित्रभानु-४७० चिन्तामय-३६३, ४०१ चीन-७, ३६, ३८, १०३, १२४, १२६, १२७, १४१, १४२, १४०, १४१, चीनी-७, ८, २६, ३६, ११६, १२४-१२७, १३१, १३६-१४२, १४०, १४१, १४४-१४७, १६१-१६३, १६७-१७१, २८४, ३११, ३१२, ४२२, 852 चीवर-२७, ४३ चुल्लवगग-७, ११, १२, २५-२७, ३०, žξ चेतना-६४, ६६, २५०, २४१, २४६, ३३४, ३३५, ३३८, ४४४, ४४५ चेतना-कर्म-२४२, ३७६ चेतयित्वा-२५०, २५१ चेतयित्वा-कर्म-३७६ चेतोविम्क्ति-७४, २८६ चैतसिक-३३४-३४४ चैतसिकी-२३४ चैत-२५६, ३३४-३४४, ४४४ चैत्य-१०३ चैत्यपूजा-२६ चोदनानामप्रकरण-५६५ च्यति-११ छ छत्द-२०६, २४८, २४६, ३३४, ३३४, ३३८, ४४७

छन्दःशास्त्र-२८ छन्दस्-२५, ८४ छान्दोग्य-५८४ छाया-३१५ छिद्वरज-३२५

ल

जंगवहाद्र (राणा)-१२३ जन्तु--२८५ जम्बु-द्वीप-१३२, ३६८ जटिल-६ जनक-२ जनन-हेत्-३५७ जन्मनिर्देश-१३० जन्महत्-३५७ जयन्त-३०५, ३१५, ३५३ जयसेन-१७० जरता-३२३ जरा–३५०, ३७५, ४३३, ५७८ जरामरण-२०, २१, २२४, २२६ जरायु ज-११७ जरायूज-काय-१०७ जल-धातु--५५ जवन-६५ जान्मटन-१३८, १३६, ५८१ जाम्ब्नदप्रभास-१४७ जातक-२, २६, २६, २६, ३२, ३४, १३०, 939, 980, 950 जातकट्ठकथा--२६

जातकमाला-१४०, २५६

£3,K

जातरूपरजतप्रतिग्रह-विरति-१६

जाति-२०, २१, २२५, २२६, ३४५,

३४७, ३५०, ३७५, ४३३, ५७८,

जातिवाद-१५ जात्युपचार-४३६ जापान-१०५, १४१, १४२, १५१, १६२, 339 जापानी-१५०, ३१२ जापेस्की-१७२ जावा-१२६, १३६, १३७ जिघत्सा-३१६ जिन-१८८, २०३ जिन-क्षेत्र-२०२ जिनपुत्र-१८१, ४६५ जिनमित्र-१७२ जिनस्कन्ध-११२ जिह्वेन्द्रिय-३२७, ३२८ जीमृतवाहन-ग्रवदान-१४१ जीव--२८५ जीवलोक-२५० जीवात्मा-३०८ जीवित-३३८,४५७ जीवितेन्द्रिय-३२८, ३२६, ३३४, ३४४, ३४२, ४३३ जुष्क-१६७ जेतवन–४, ११८, १३१, १५१, 945 जैन-२, ५२२, २६६ जैनदर्भन-४४२ जैनधर्म-२, ४ जैनसाहित्य-५८४ जैनागम-२८, २८४, ५७१ जैमिनि-४५०, ५८०, ५६८ जैमिनीय-१३८ जैमिनीयब्राह्मण-५७१ जोडो-शु-१५१ ज्ञातता-५६४

ज्ञाता-५६४
ज्ञाति-४३, ४४
ज्ञान-३६६, ३७०
ज्ञानगुप्त-१४१
ज्ञानदर्शनविशुद्धि-१००

ज्ञानप्रस्थान-२६, १२४-१२७, ३११, ३७२ ज्ञानमीमासा-४६४, ४६३

ज्ञानवाद-२८२ ज्ञानसम्पत्-११३ ज्ञानसम्भार-४८० ज्ञानसिद्धान्त-५६९ ज्ञानसिद्धि-१७७

ज्ञानसेन-१७२ ज्ञेयावरण-१६४, ४०६, ४२२ ज्योतिष-१६७

ट

टामस-१३८, १६८ टोकियो-१७३ डोसेटिज्म-१२२

त

तंजोर-१७१, १७२, १७७
तन्त्र-१०६, १४०, १७४, १७६, १७७
तन्त्र-१०६
तन्त्र-साहित्य-१७७
तक्षशिला-३७२
तत्रहुक-५६
तत्रमध्यत्वोपेक्षा-७२, ७३
तत्रमध्यस्थता-३३७
तत्त्व-३०३, ४०२, ४२६, ५४४, ५६६
तत्त्वक्षान-११३, २२१, २२२
तत्त्वक्षांग्रह-१७५, ४६२
तत्त्वसंग्रह-१७६, ४६२
तत्त्वसंग्रह-१३६

तत्त्वार्थटीका-१६६ तथता-११४, ११६, १६२, १६४, १६५, २१४, ३०४, ४०४, ४१२, ४३४, ४८२, ५३०

तथागत-४, ११७, १४२, १६२, ४७४, ४६६, ४४२, ४४६, ४४१, ४६१, ४६२, ४७०

तथागत-काय-१०८, १४४
तथागत-गर्भ-३०४, ३६७
तथागतगृह्यक-१४१, १७७
तथागतगृह्यकसूत्र-१४२
तथागतपरीक्षा-११४, ४६२
तथागतमूमि-१४२, ४४१
तथाभावशून्यता-४०७, ४०८

तथ्यसवृति-२१४ तदगनिर्वाण-२६६ तपन-३६८ तम-४६६

तमालपत्नचन्दनगन्ध-१४७ तरुण-समाधि-६१ तर्क-५६५ तर्कपद्धति-५६५

तर्कपद्धात-४६२ तर्कज्वाला-४८२ तर्कशास्त्र-४६२ तान्त्रिक ग्रन्थ-११६ ताकाकूसू-१६६, ३७२

तात्पर्यटीका-२२० ३३०, ४६४

तादिभाव-१८ तापस-२, ३, ४ तारा-१७१, १७६, १७७ तारानाथ-१४०, १४४, १६१, १६७, १६९-१७१,१७३

तारासाधना-१७७ तिपिटका ग्रहुकथा-३४ तिव्वत-१२३, १२४, १२७, १५०, १६६, १७४, १७७

तिव्वती-२६, ३६, ११६, १२७, १३१, १३६-१३८, १४१, १४०, १४१, १४४, १४७, १६१, १६७-१७०, १७२, १७३, १७५, १७६, १७५, २८४, ३११, ३७३, ४१४

तिर्यक्–३६८ तिर्यगुपपत्ति-१८४ तिर्यग्योनि-६६ तिल-तण्डुल-५ तिस्स-मोग्गलिपुत्त-३३, १२५ तीर्यंकर-३, ४ तीर्थक-१०४, २४३ तीर्थिक-७, १०६, ११८, २२६, २६०, २६२ २७४, ३८४ ४११, ४२४, ४२६, ४३४, ४५५, ४६६

तीर्थिक-दृष्टि-३६४ तुची (जी०)-४५२ तुनहुग्राग - १२४ तुरफान-१२४ तुर्किस्तान-१२४, ५२७ तुपित-६६, ३६८ तुपितकाय-१०८ तुपितकायिक-१३५ तुपित-लोक-१०३, १०४, १३१, १६८ १८२

तुपित-स्वर्ग-१३० त्तीय ध्यान-३८२ तृतीय संगीति-३८ तृष्णा-२०, २१, ४६, २२४, २२६, २३१, २३५ त्णाचरित-२६१

तुष्णा-जटा-१५ त्पा-संक्लेण-१८ तजकसिण-५४, ७५ तेज-धातु—५५ तेजोधातु-६६, ५६६ तेपिटक-२७ तेविज्जमुत्त-३१ तैमिरिक-४१६, ५०३ तोखारा-१२४ तोखारी-१२५ त्यागान्ममृति-५४, ७८ त्यागान्वय-पुण्य-२५५ वयस्त्रिण-६६, ३६५ त्रमरेणु-३२४, ३२५ व्राण-२६५

त्रिणिका टीका-४१५

त्रिंशिका–३०, १७०, ३०३, ४१५, ४३१, ४४६, ४६४, ४७४, ४८०

त्रिक-४४५ त्रिक-सन्निपात-२३१, २३३, ४४५ विकाण्ड-२१ विकाय-१२०, १२१, १६४, १६६, १७७ विकायवाद-१०७, १४४, १६५, ३६८ विकायस्तव-११६, ११६, १२० विकाल-५८१

विगुणात्मक-४२८ विपादिम्तिमहानारायणोपनिपत्-१२२ विपिटक-२६-२८, ३०, १०६, ११२, १२६, १२६, १४१, २८६, ३७२, ५७४

वििपटकघर-४५ विपुटो-मवित्-५६८ त्रिरत्त-१२, २३, २७६ विरूप-लिंग-५१८-६००

त्रिलक्षणवाद-४५४ विविधकल्याणता-६८ त्रिविधशुन्यता-४०७, ४०८ विशरण-३२ विशरण-गमन-२३ विशिक्षा-१५ त्रिस्वभाव-४५२, ४५६ विस्वभावता-४५५ विस्वभाव-निर्देश-१७०, ४८२ त्रिस्वभाववाद-४८२, ४८५ वैकाल्यवाद-५७५, ५७६ क्रैधातुक-२२३, ४१५ त्रैधातुकचित्त-४७७ त्रमास्य-१५६ नैयध्विक-२३८, ३०१ थ थेरगाथा-१०, ३२, ३४, १५६, २६२

थेरनाथा-१०, ३२, ३४, १४६, २ थेरवाद-४८५ थेरवादी-४८५ थेरीगाथा-३२, ३४, २६४ द

दण्डनर्ण्य-२५१, ४२०
दण्डनारण्य-२५१, ४२०
दन्त-३३०
दक्षिणा-२७७
दक्षिणापथ-२७, ३५, ३६, ३८, १२६, १५३
दक्षिणय-७८
दम-२२२
दर्श-३३७
दर्शन-५१, १६४, १६७, २२१, २२३,२६३, २००, ३०१, ३११, ५०७, ५७१
दर्शन-चित्त-२४६
दर्शन-भाग-४२३, ४७५, ४७६, ४७६

दर्शन-मार्ग-२३, ३३०, ३३१, ४७४
दर्शन-हेय-२२
दश-बल-४७१
दशभूमक-शास्त-१६६
दशभूमकसूत्र-१४६, १६४, १६६, ४७७
दशभूमि-१०७, १३०, १४६, १६४, १६६, ४१२
दशभूमि-शास्त-१३०
दशभूमीश्वर-१४१, १४६

दशभाम-शास्त्र-५२०
दशभूमीश्वर-१४१, १४६
दशरथ-४
दशवर्गेण गणेन उपसम्पदा-१२६
दश-शील-१६
दशसाहस्रिका-१६६
दस-पारमिता-२६
दहरकुमार-२७०
दान-२४४
दान-कथा-१४६
दान-पारमिता-१६६, १६१, १६४, १६६,

दान-प्रीति-४०६
दान-शील-१७२
दानसविभागरत-७६
दार्शनिक-२, १२१, १३८, १६२, १७०,
२८४, २६७, ३०४
दार्शनिक पद्धति-१२६
दार्प्टान्तिक-२६६, २७२, २७३, ३८२,
३८३, ४४२, ४४३, ४६०

दास-१४
दिक्-४२६, ५६६, ५५२—५५६
दिगम्बर-५५०, ६०६
दिग्वाद-५६६, ५५२, ५५६
दिद्याग-१२५, १६६, १७० ३०२, ३४६, ४३१, ५६६, ५५५, ५६६, ५५५, ५६९, ५६५, ५६५, ६१५, ६१६

दिल्ली-२५ दिवस-५४५ दिवारात्र-५७१ दिव्यावदान-२७, ११८, १४०, १४१, १६४, १६५, १७६ दिश्य-५५७ दीघनखसुत्त-१३१ दीघनिकाय-३, २७, २८, ३०, ३४, ५४, ६४, १०७--१०६, ११२, **१२७, १३१, १३४, २३४,** २८१, २८२, २८८, ३८४ दीनार-१४१ दीपकर-१४८, १७३, १८१, १८२ दीपकर श्रीज्ञान-१७१ दीपवंश-७, १२, १३, २६, ३७, १२५ दीर्घ-३१५ दीर्घत्व-३५३ दीर्घनिकाय-२८, ३१ दीर्घरान्नि-४७६ दीर्घागम-२६, १२७, १४० दीर्घायुषटेत्रोपपत्ति-१८४ दुन्द्रभिस्वर-३७ दुख-१००, १६५, २२१, २२२, ३१७, प्रव दु.ख-ज्ञान-३७० दुःख-निरोध-५५३ दु खनिरोधगामिनी प्रतिपत्-४५३ द्.ख-भाव-८५ दु:खवेदनीय-२३४ दु खनमृदय-६२, ५५३ दु.खस्कन्ध-२०, २३२ दु खाधिवामना-क्षान्ति-१६५

द् खायतन-२२२

दुःखेन्द्रिय-३२५ दूरारोहा-१३० दुर्गति-४० दुर्गतिगामिनी-२२५ दुर्जया-१३०, ४१३ दुर्मेध-१५ द्रकर चर्या-१३४ ट्रप्कर चारिका-१६१ द्रकर सजा-१६१ दुरगमा-४१३ दुष्यानुपलब्धि-६०२ दण्टधर्म-५७२ द्प्टधर्म-निर्वाण-२८५ द्प्टधर्म-वेदनीय-२६७, २६८ द्प्टान्त-३७३ द्प्टान्तपक्ति-३७३ दृष्टि-२२, ४५, ४६, २३१, २६०, २६१, ३३८, ३६६ दुष्टिगत-१६ दृष्टि-चरित-२६१ दृष्टि-परामर्श-२६३ दृष्टि-विणुद्धि-१०० द्ष्टि-संक्लेश-१८ दुप्टि-स्थान-३१५ दृष्ट्यास्रव-२३३ दृष्ट्यपादान-२३१, २३५ देव-१६८ देवकूल-१३५ देवगति-३६८ देवता-संयुक्त-३१ देवतानुसमृति-५४, ७६ देवनिकाय-३६८ देवयोनि-३२ देववाद-६

देवविचेष्टित-५८२ देवोपादान-५३४ देश-५८८ देशना-९, १६, २३७ देहाभास-४०४ दैव-२५६ दैव-कर्म-२५६ दोमनस्सूपविचार-२३४ दौर्मनस्य-७४, १९५, २३४ दौर्मनस्येन्द्रिय-३२८ दौष्ठल्य-३३६ द्यावाप्थिवी-५८४ द्यत्यएल-द-रीन-१२४ द्रव्य-३४१, ४१६, ३२८, ४४४, ५६३ द्रव्यत्व-४३०, ४३२ द्रव्य परमाण-३२३ द्वयवाद-४३५ द्रव्य-सत्-१६६, २२३, २६० द्वव्य-समता-३६४ द्रव्योपचार-४३६ द्रष्टव्य-५०५ द्रष्टा-५०५ द्रोण-१०८ द्वयप्रतिभास-४०४ द्वादशागसूत्र-२२६ द्वारपाल-८६ ' द्वाविशत्यवदानमाला-१४१ द्वितीय ध्यान-७० द्वितीय रत्न-२६४ द्वितीय संगीति-३६ द्विपिटकघर-४५ द्वीप-२७८, २६५, ३६८ ह्रेष-६४, ६६, २२४, २५८, ३३८, ३३६ द्वेषचरित-४८---५३, ५७

हेष-चर्या-४८ हेष-दिष्ट-४१२ हेषमोह-चर्या-४= द्वणुक-३२४ ध धन्याकर-१५३ धम्मक्खन्ध-११२ धम्मगुत्त-३७ धम्मपद-१५, १६, १६, २६, ३२, ३४, ३६, १००, १२४ १३१, २६२, 388 धम्मपदद्रकथा-१०० धम्मपाल स्थविर-३४ धम्मरिक्खत-३७ धम्मसगणी-३३, २३२, ४८७ धर्म-१०, २३, २६--२८, १०८, ११३, १२५,२२३, ३१४,४०१,४४८, ५६६-X & 5. X 9 9 धर्मकथिक-११ धर्मकाय-१०७, १०८, १११, ११२, ११४, ११६, ११७, १२०, १२१ १६३, १६४, ३०४, ३०६, ३६४, ३६८ धर्मकीर्त्ति-१३८, १७०, ३४६, ४६४, ४८८, ४६१, ६१४, ६१६ धर्मक्षेम-१६३ धर्मगत-३४६ धर्मगुप्त-२७, १२५, १२७, १४१, १६= धर्मगुप्तक-३६, ३७ धर्मग्राह-४२२, ४२४, ४२=, ४७३, ४७४ धर्मचक्र-४, ११२ धर्मचऋप्रवर्त्तन-१२, १२६, १३६ धर्मचक्रप्रवर्त्तनसूत्र-४ धर्मज्ञान-३७० धर्मज्ञान-क्षान्ति-३७०

धर्मता-२१८, २४१, २४८, ३०४, ३५३, ४३४,४७४,४८२, ५३० धर्मतानिष्यन्दवुद्ध-१६५ धर्मतावाद-४६३ धर्मत्रात-१२७, १२८, ३११, ३१३, ३७२, ५८१ धर्मदाय-६४

सर्मदृष्टि-४७३, ४७४ धर्मशून्यता-१६४, १६५, ४६० धर्मदृष्टि-४७३, ४७४ धर्मश्चाता-१६४, १६५, ४६० धर्मदेशना-१०४, ११२, १३५ धर्मसगीति-७, ६, ११, १२, २६, २७, १२५, १३७ धर्मधातु-११, १५२, १५२, १६२, धर्मसग्रह-४०, ५६, ११२, १६७, १८४, २१४, २१७, ३१६, ४६४

धर्मधातुनयप्रभास-१५३ धर्मधातुविशस्त-४०२ धर्मनय-१५२ धर्मनिध्यान-सान्ति-१६५, १६५ धर्मनिर्भास-४२३ धर्मनैरात्म्य-१६४, २६२, ४१२, ४९७,

४२२, ४७३, ४७४ धर्मपर्योय-१४१, १४२ धर्मपर्येषण-४०१ धर्मपटक-२६३

धर्मपाल-२७, ३४, १७०, ३३७, ४२३, ४३६,४५०,४६५,४६६,४६६, ४७०-४७२,४७६,४८२,४८३

धर्म-प्रविचय-२४, १८४, ३०४, ३१४, ३७२

धर्म-प्रविवेक-३०५ धर्म-प्रविवेक-३०५ धर्म-प्रवृत्ति-५०, ५१ धर्मभाणक-१४६ धर्मभाणक-१४६ धर्मभेधा-४१३ धर्मरक्ष-१४१, १५६ धर्मरक्षित-१३६ धर्मराज-द, ११२ धर्मलक्षण-४८२ धर्मलक्षणसमय-४८२ धर्मनविचय-६३, ६४ धर्म-विचय-७, १२, १०८ धर्म-शरीर-११३ धर्म-श्रारा-१६४, १६४, ४८० धर्मसगीति-७, द, ११, १८, २६, २७,

धर्मसग्रह-४०, ५६, ११२, १६७, १६४, १८६ धर्ममभागता-३४८ धर्मसेनापति-६ धर्मस्कन्धपाद-२६, ३११ धर्मस्कृत्युपस्थान-२२,३७० धर्मस्वामी-१११

धर्माकार भिक्षु-११६ वर्मानुषम्यना-६५ धर्मानुस्मृति-५४, ७६ धर्मायतन-३१६ धर्मोत्तर-५६६, ५६६, ५६२, ५६३, ५६५

धर्मोपचार-२२३, ४२३ धातु-२४४, २६६, ३१६, ३१८--३२०, ३३१, ३४७, ५१०

द्यातुकथा-३३ द्यातुकायपाद-२६, २११ धातुगर्भ-१०३, १०८, ११७ धातु-चतुष्टय-३१६ घातु-तन्त-१३५ घातु-तंन्त-१३५ घातु-संवर्त्तनी-३२५ घातु-पंर्वर्त्तनी-३२५

घारणीपिटक–=	नरकोपपत्ति–१८४
धारिका-पृथिवी–३६२	·
धुतंग२, ६, ११, १२	नवकर्म–४३
धुतगवादी-३५	नवधर्म–१४१
धुत–२	नाजियो–१७३
धुतगुण–१२	नाग–३६, २३६
<b>धु</b> तवाद <b>१</b> ३	नागकन्या–१४७
धुतवादी-१११३	नागयोनि–४६
धूम–३१५	नागराज–११८, १३२, १४७
धृतिकर्म-३१६, ५६६	नागसेन-३३, २६०
ध्यान-३१, ३२, ६६, ७३७४, १७७	नागार्जुन-१०८, १०६, १११, ११४
ध्यान-चतुष्क <b>–७</b> ५	११६, १६१, १६४—-१६८,
ध्यान-पंचक-७५	१७१—-१७३, १७६—-१७८,
ध्यान-पारमिता-१८४, १६०, २०८	२१४, २१७, ३०३, ३०४,
ध्यान-प्रत्यय–३५८	३०५ ३०७, ३८४, ३८६,
ध्यानलाभी–४५	३६१, ३६२, ३६४, ३६६,
घ्यानलोक–२६६	३६८, ३८६, ४०३,४०८,
ध्यान-संयुत्त३१	४१७, ४३३, ४४६, ४६३,
घ्यान-समगी—७ <b>१</b>	४७४, ४७६. ४७८, ४८६,
ध्यानान्तर–७५	४८८ ४८६, ४६४, ५०५
ध्यानीबुद्ध–१२०, १७७	५०७, ५१०, ५२२, ५२३,
ध्यानोपेक्षा–७२, ७३	४३१, ४४१, ४४१, ४४३,
ध्रुव–५०, २६४	४४६, ४४७, ४४६, ४६०,
ध्वनिलक्षण–५५६	५६५, ५६६, ५८७, ५८८
न	नायक-१६२
नन्द-३, ११८, १३२, १३७, १६२,	नाटक-१३७
४२३, ४३६, ४५०, ४६४, ४६६,	नानात्वसज्ञा–६७ नान्तरीयकता– <b>५</b> ६६
४६=, ४६६, ४७६, ४=२	
नन्दनबन-१५०	नाम-३३, २३३, ३४४, ३४२, ४४०,
नक्षत्र—५५४	५६३ नामघोप–१०५
नभस्-५५४	नामजप~१०५
नभोदेश-५५३	नामरूप-२०, २२४, २३३, ४४=
नरक-१५१, ३६५	नामसकीत्तंन-१०५
नरकपाल–४१६	

नारक-४१६
नारायण-१०४, १११, १५०
नार्डर-२६
नार्डर-२६
नाल्दा-११६, १७०, १७३-१७४, ४२२
निमत्त-३८७, ४४२
नास्तिक-१, २, २६१, ५४२
नास्तिकवादी-५६०
नास्तिशरयय-३५६
नास्तिवाद-२६२
निमत्त-भाग-४२३,
निभत्त-भाग-४२३,
निभत्त-भाग-४२३,
निमत्त-भाग-४२३,
निमत्त-भाग-४२३,
निमत्त-भाग-४२३,
निमत्त-भाग-४२३,
निमत्त-भाग-४२३,
निमत्त-भाग-४२३,
निमत-भाग-४२३,

निकाय-मभाग-३४७, ३५३, ३७४ निकाय-मभागता-३४७, ३५३ निकायान्त्ररीय-२२६ निगठ-नातपुत्त-४ निगमन-६०७ निगूर-२६ निग्रह-६४, ६५ नित्यकाय-३६६ नित्यकारणास्तित्ववाद-२२५ नित्यकाल-५७७ नित्यत -४०५ नित्यत्व-५७२ निदान-३५४ निदान-कथा-१३०, १८० निदिध्यायन-२२२ निद्देश-३२ निद्रा-४५२ निद्यान-६६

निपुण-२६४

निपुणता–२०५ निव्वापन-२६६ निभृतभाव-४७५ निमित्त-३८७, ४४० निमित्त-कारण-३६६, ५५३, ५५६ निमित्त-कीशल-६३ निमित्त-ग्रहण-६० निमित्त-भाग-४२३, ४४०, ४४१, ४४४, ४७४, ४७६, ४७६, ४८० नियत-गोत्र-३८८ नियत-चैतसिक-३३८ नियत-विपाक-२६७, २६८, २७४ नियताकार-६१२ नियतिवादी-४, २५६ नियाम-३७० निरमिलाप्य-४२१ निरय-४१, ६६ निरयपाल-२७३ निरुपिषणिप-२६६, ३०७, ५५६ निरोध-६३, २८७, २६५, ३२१, ४०५, ४३३, ४१४ निरोध-ज्ञान-३७० निरोध-धातु-२६६ निरोधवादी-२७६ निरोध-समापत्ति-५७, ६८, २५४, ३१७, ३४६, ४३३, ४५६, ४६० निरोधानुपश्यना-६३ निर्गुण-३९६ निर्यन्य-७, २३१, २४३, ४२५, ४२६

निर्मलावस्या-२१७

निर्माण-११३,४०३

निर्माण-काय-१०४, १०७, ११७, ११८,

१२०--१२२, ३६४

निर्माण-रति-६६, ३६८ निर्मित-काय-११७ निर्याण-३८८ निर्वाण-६, ८, १०, ३१, ३४, ३६, ८०, १६२, १७६, १७७, २२२, २२३, २७८-३०८, ३६७ ४४६, ४६१, ४६८

निर्विकल्पक-३४६, ३६६, ५६१, ५६७-

४६५ निर्विकल्प ज्ञान-५०२ निर्विकलप प्रत्यक्ष-५६३ निर्विकल्पावस्था-२१७ निर्विशेष-३६६, ३६६ निर्वेधगामिनी-२० निवेधभागी-२२ निर्वेद्यभागीय-२३, ४०७ निवर्त्तनी-२६५ निवृताव्याकृत-३४२, ४४८ निश्चय-२५६ निश्चय-प्रत्यय-३४५ निश्रय-हेतू-३५७ निश्रयाचार्य-४४ निषद्या-५० निष्कमभन-१५ निष्क्रमण-११ निष्प्रपच-८०, २६४, ३०३ निष्यन्द-६६

निष्यन्द-फल-२६४, २६४, २६६, ३६६, ४३७, ४८१ निष्यन्द-वीज-४३८ निष्यन्द-बुद्ध-१६४

निष्यन्द-वासना-४३७ नीतार्थ-२६२, ४८७ नीतार्थता-४६६ नील-३१४ नील-कसिण-४४, ७६ नील-नेत्र-१६८ नीवरण-४१, ४२, ४४, ६०, ६७, ६८, ६४, ६६, ६६ नृत्यनीतवादित्तविरति-१६ नेजियो-१३१ नैक्खम्मसित-२३५ नेतिप्पकरण-३४, २६१ नेपाल-१२३, १२४, १४१, १७४--१७६, ४८२

नेपालमाहातम्य-१७६
नेपाली-१४७
नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर-१२३
नेयार्थ-२६२, ५३२
नेयार्थता-४६६
नेरजना-३, ४
नेवारी-१७२, १७३
नैगम-२६१
नैयायक-२३६, २६६, ३४६, ५६६, ५०७

नैरातम्यपरिपृच्छा-१४६ नैरातम्यवाद-२५४, २६६, २६३, ४४०, नैरातम्यवादी-२६४, २६६ नैरात्म्यवादी-२६४, २६६ नैर्माणिक काय-३६६ नैर्माणिकी ऋढि-१०७ नैवसज्ञानासज्ञा-२६६, ३६६ नैवसज्ञानासज्ञाभव-२३४ नैवसंज्ञानासज्ञायतन-४४, ५६, ४७, ६७,

नैवसज्ञानासज्ञायतनभूमि-६६ नैव्क्रम्य-१७, ४७, ६० नैव्क्रम्य-पारमिता-१८१

नैष्क्रम्याश्रित-२३५ नै प्ठिक-पद-३ न्याय-२२१, २२२, ३१२, ५६५, ५६६, प्रदर्, प्रह७ न्यायकन्दली-३०५ न्यायदर्शन-२२२, ५६८ न्यायप्रवेश-१७० न्यायविन्द्-१७०, ५६५ न्यायभाष्य-२२१, ३००, ३१५, ३४४, 348 न्यायमजरी-३०५, ३१४, ३५३ न्यायवार्त्तिक-२८४, ५६४ न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका-२२१ न्याय-वैशेषिक-२२२, २६४, ३०१, ३०५- पक्ति-कर्म-३१६, ५६६ ३०७, ३३०, ३३२, ३३३, पक्ष-६०७, ६०= ३५३, ५६६, ५७८, ५८४---५८६, ५८६, ५६४

न्यायशास्त्र—२२१, ५८६ न्यायसूत्र—३५३, ५८५, ५८५ न्यायानुसार—३०, १६६, २८३, ३१२, ३७४, ५८१, ५८२ न्यायानुसारशास्त्र—५७६ न्हारु—७६

प

पगुल-दह
पचकर्म-१७७
पंचनेकायिक-२८
पचनैकायिक-२८
पच-पारमिता-२१२
पच-माग-११२
पच-रक्षा-१७६
पचवर्गीय भिट्य-६, १२
पचवर्गेन गणेन उपसम्पदा-१२६
पचवार्षिक परिषद्-७

पंचविंगतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता-१५७, 9 8 9 9 8 4 -- 9 8 5 पचव्यवकार-भव--२३५ पचणील-१६, २३, २४ पच-स्कन्ध-३०, ५६६ पचस्कन्ध-प्रकरण-१७० पचस्कन्धिका-२३२ पचाग-११२ पचारित-४ पचेन्द्रिय-२८३ पंचेन्द्रिय-विज्ञान-२५६ पचोपादान-स्कन्ध-८५, ३०५ पक्ध-कच्चायन-४ पक्षधर्मत्व-६०४, ६०७ पञ्चय-४३ पच्चयाकार-२२४ पटना-२५, १६६ पटिच्च-२३०, २३१ पटिच्च-समुप्पाद-२३० पटिसम्भिदा-नश्, ११ पटिसभिदामगग-३२ पट्टान-३२ पढुक्टी-१७४ पत्तिदान-२७७ पद-३४४, ३५२ पदार्थ-२२१, ५२२ पदार्थ-समूह--२२२ पद्मकर्णिका-५६ पद्मपुराण--१२२ पद्मप्रभ-१४४४ पद्मवज्र-१७७

पद्मसम्भव-१७७

पद्मोत्तर-१५० पद्यकारण्डव्यू ह-१४६ पधानसूत्त-१३० पब्बज्जासूत्त-१३० पर-३५१ परचित्त-४७६ परचित्त-ज्ञान-३७० परचित्त-ज्ञानलाभी-४७ परतः उत्पादवाद-४६४ परतः प्रामाण्य-५६१ परतन्त्र-४०१, ४८४ परतन्त्र-स्वभाव-४०८, ४८२, ४८४ परत्व-३५१, ३५२ परनिर्मितवशवर्त्ती-६६, ३६८ ात्यय-१३६ .ब्रह्म-१२१ ५रमक्षेम–२८७ परमतत्त्व-५८८ परमत्थमजुसाटीका-३४, ५४, ६०, ६७ 90, 57 परमाण्-१५३, ३२२-३२६, ३६६, ३७८, ४१८, ४१६, ४३०, ४३२, ५६७ परमाणुवाद-१२७, ३२२-३२६, ४१८, 398 परमाणुवादी-३२५ परमात्मभाव-३९५

३१२, ४१५, ४६२
परमाथ ज्ञान-३६१
परमार्थ-नामसगीति-१७६
परमार्थ-नि स्वभावता-४८६
परमार्थ-सत्-२६०, ५६१, ५६२

परमात्मा-२७६, ३०८, ३६५, ४०२

परमार्थ-३६, १२६, १६३, १६८, १६६,

परमार्थ-सत्य-३, ११४, १२१, १६१, १६७, १५३, २१४, २१६, २१७, ४४४, ४४४ परलोक-१, ६, २२८, ४९६ पर-सामान्य-३४८ परात्मपरिवर्त्तन-२०५ परात्मसमता-२०५ परानुग्रहप्रीति-४०६ परापकारमर्पण-क्षान्ति-१९५, १९७ परायण-२९५ परार्थानुमान-५८८, ५८६ ५६८, ६०४-परिकम्म-६५ परिकर्म-६५-६८, ८०, ६४ परिकल्प-४७६, ५६६, ५६१ परिकल्पित-४०१, ४७६, ४८२ परिकल्पित-स्वाभाव-४८२-४८४ परिक्षीण-७१ परिच्छिन्नाकाश-कसिण-५४, ७७ परिच्छेद-४४४ परिज्ञा-२२२, ३१८, ४४३ परिणाम-११३, ३०२ परिणामवाद-५६५ परिणायक-१६२ परितापन-४ परित्त-१७६ परित्याग-प्रतिनिसर्ग-६४ परिनिर्वाण-१०-१२, १०३ परिनिर्वाणसूत-८, १४०

परिपक्वता-६६

परिनिष्पन्न-४०१, ४०२, ४८४

परिनिष्पन्न-स्वभाव-४०८, ४८२, ४८४,

858

परिपस्सना-६१ परिपुरि-२५१ परिपरिन्-२२५ परिपृच्छा-५७ परिप्रश्न-६३ परिभोग-६६ परिभोगान्वय-पुण्य-२५५ परिमण्डल-३१५, ३२४ परिमाण-३४१-३५३ परिवर्जन-६३ परिवर्त्त-१३४, १३६, १४२ परिवार-१२, ३० परिवार-पाठ-२६ परिव्राजक-२३१ परिशुद्ध-७४ परिशुद्धि-६० परिषत्-६, १०, १२ परिहाणि-२२ परिहारिय-कम्मट्ठान-४६ परीत्त-३३६ परीत्तक्लेशभूमिक-३३४, ३३६ परीत्त-शुभ-६६ परीताम-६६ परीत्तोपक्लेश-३४० पर्यंक-भ्रामन-५३ पर्यवसान-कल्याण-१० पर्यवस्थान-२२६, ३४१, ३८३ पर्याय-द्वय-२३० पर्येषण-४७, ६६ पर्येष्टि-२१, २२६ पर्व-८७ पर्यन्मण्डल-३६८ पलिबोध-४३ पश्चाज्जात-प्रत्यर - ३३८

पाचभौतिक-५५४ पाचाल-कुरु-११ पाशुक्लघारण-२ पाकज-२२४ पाटलिपुत्र-३६, १२६ पाणि-३२६ पाणिनि-२, १६२ पाण्डव-१६२ पातजल-दर्शन-५, २६६ पातजल-योग-२६७ पाद-३२६ पापदेशना-१८६, १८७ पाय-३२६ पार-८०, २६४ पारमार्थिक-२१६, ४६२, ५५४ पारमिता-१०४, १०६, १०७, १८० 959, 958, 955, ३६८ पारमिता-यान-१०६ पारमिता-शास्त्र-१६१ पारमी-१८१ पारसी-१२२ पारिणामिकी ऋद्धि-१०७ पारिदापन-१०७ पारिमाण्डल्यवादी-३२५ पारिश्रदृध्युपेक्षा-७२, ७३ पारिहारिय-कर्मस्यान-४६ पारुष्य-२७१ पार्थमारिय-३४६ पार्श्व~१३६ पार्पद-१२१ पार्पिप्रदेश-१८ पालि-२६-२८, ४६, ८३, ६१, ६८, १२७, १२६, १३०, १४०, २५०

पालि-ग्रागम-१०४ पालि-ग्राम्नाय-५८६ पालि-कथा-१२ पालि-ग्रन्थ-३३, १३०, १३४, १४८, 738 पालि-जातक-१३१, १४० पालि-निकाय-१, ३, ४, २६, २७, १०४, १२३, १३०, १३१, 908, 700 पालि-भाषा--२४, २६ पालि-विनय-१२६ पालि-साहित्य-८३, ३०० पाशुपत-२३१ पाश्चात्य-३११, ३६७ पिण्डपात-२७, ४३, १११, २०६ पिटक-२६, २७, २६, ३३, ३४, ११२, १७३, २८१, २८२ पिटक ग्रन्थ-३४ पिटकधर-४५ पितापुत्रसमागम-१५५ पिपासा-३१६ पिपीलिका-पिक्त-४२६ पिशाच-४२० पिशेल-१२४, २७८ पीठभूमि-५६९ पीत-६६, ३१५ पीतकसिण-५४, ७६ पुण्डरीक-१४१ पुग्गलपञ्जात्ति-३३, ३८७ पुण्य-२५५, २७७ पुण्यक्षेत्र-२५३ पुण्य-परिणामना–२७२, २७७ पुण्यरिम-१५६ पुण्य-विपरिणामना-१०४

पुण्य-सम्भार-१५०, ४८० पुण्यानुमोदन-२६, १८६, १८७ पुथुज्जन-३८७ पुद्गल-१६, ४८, १००, २२६, २३६, २४३, २४८, २८४, २६३,२६७ ३१७, ३२२, ३३२, ३७८, ४१०-४१२, ४२०, ४७४, ४१८, ४२४ पुद्गल-दृष्टि-४७३, ४७४ पुद्गल-देशना-४१२ पुदगल-धर्मग्राह-४८५ पुद्गल-नैरातम्य-१६४, १६६, २६२, ३०६, ३८४, ४०२, ४१०-४१२, ४१७, ४२२, ४७३ पुद्गल-प्रज्ञप्ति-२४३, २४४, ४११ पुद्गलप्रतिषेधवाद-२४३ पुद्गलवाद-२४३, २६३ पुद्गलवादी-२८३, २८४, २८७, २८८, पुद्गल-शून्यता-४२६ पुद्गलास्तिकाय-२८५ पुद्गलास्तित्ववाद-५१८ पुनर्जन्म-६, ३४, २२२, २८४ पुनर्भव-३६६ पुब्बलेसिय-२६३ पुराण-१२१, १४०, १७६ पुरातन-कर्म-२५६ पुरुष-२२१, २२३, २४३, २७६, २८४, ३४४, ४२८, ४६१ पुरुषकार-गुण-३८८ पुरुषकार-फल-२६६, २७२, ३६६, ४८१ पुरुष-पुद्गल-५५३ पुरुषपुर-१६= पुरुवार्थ-२२१, ५८६

पुरुषार्थ-सिद्धि - ५८६ पुरुषेन्द्रिय-३२८, ३२६ पूरोहित-१, ५८६ पुलवक-५४, ५६ पूष्करसारि-१३५ पूष्पमण्डिता-१३० पजना-१८६, १८७ पूजा-१८६, १८७ प्तिकाय-१०७, १७६ पतिकाष्ठ-१७ पुरक-८०, ८१ परणकस्सप-४, ११८ पूर्ण-१३६, १७६ पर्ण-मैत्रायणीपुत्र-१४७, १६० पर्णावदान-१७६ पुर्णाश-१३६ पूर्व-५७१ पूर्वकालभव-२३६ पूर्वजातप्रत्यय-३५८ पूर्व-निकाय-३०१ प्वं-निमित्त-१३५ प्र्व-बुद्ध-१०४ पूर्व-भव--२०, २२५, २३० पूर्वभारत-३५, १२६, १७५ प्वेविदेह-३६८ प्वंगैल-२६ पूर्वहीनयान-३०० प्वन्ति-२१, २२५, २३२ पूर्वान्तापरान्त-२३२, २३३ पूर्ने-१३६, १६६, १७०, १७२, २७६, २८०, २८२, २६१, २६३, २६६, २६७, ३००, ३०६, ३१२, ४२२, ४६४, ४७७ पृथक्-३५१ पृथक्त्व-३५१-३५३ पृयग्-जन-३८७

पृथिवी-१५०, २४७ पृथिवी-धातु-३१६, ५६६ पथ्वी-६० पृथ्वी-कसिण-५४, ५७, ५६, ६०, ७१ ७२, ७४ पृथ्वी-घातु-६०, ६६ पृष्वी-निमित्त-५६, ७१, ७२, ७४ प्थ्वी-मण्डल-५६ पृष्ठ-२४१, २४२, २७४ पेटकोपदेश-३४ पेतवत्यू-२६, ३२ पेरिस-१२३ पेरी (एन्०)-१६६ पेशावर-१६८ पैशाची-२४, २६ पेशुन्य-२५६ पोष-२८४ पौनर्भविक कर्म-२२६, २३२ प्रकरण-२२७, २२६, ३११ प्रकरण-ग्रायंवाचा-१६८ प्रकरणपाद-२६ प्रकरणशास्त्र-३१६ प्रकाश-स्वभाव-५६४ प्रकृति-२१, २२१, २२३, २२८, 325 प्रकृति-चर्या-१२६ प्रकृति-परिनिव् त-४०५ प्रकृतिवादी-२१, २२८ प्रकृति-शून्यता-४०७, ४०८ प्रकृत्युपनिश्रय-३५८ प्रग्रह-६३-६५ प्रजापति-२६२, ५७०, ५७१ प्रजुलुस्की-३७३, ३६० प्रज्ञप्ति-२२७

प्रज्ञप्तिपाद-२६ प्रज्ञिमात्र-२२३ प्रज्ञप्तिशास्त्र-३११ प्रज्ञप्तिसत्-३०१ प्रज्ञप्तिसत्ता-४११ प्रज्ञा-१८, ३१, ३४, ६१, ११२-११४. १४६, २३४, २६८, ४४७ प्रज्ञाकरमित-१७१-१७३, १८६, ३६६ प्रज्ञा-ग्रन्थ-२६ प्रज्ञान-२२२ प्रज्ञापाठ-परिच्छेद-१७३ प्रज्ञापारमिता-१०८, ११४, ११४, १६१, १६४, १८१, १८४,२१२,

२१७, २१८ प्रज्ञापारमिता-नय-४८८ प्रज्ञापारमितामहायानसूत्र-१५७ प्रज्ञापारमितासूत्र-१५६, १५७ प्रज्ञापारमितासूत्रशास्त्र-१६१, १६७ प्रज्ञापारमितास्तोत्न-१०८ प्रज्ञापारमिताहृदयसूत-१५७ प्रज्ञायान-१०६, १०७ प्रज्ञेन्द्रिय-३२८, ३३७ प्रज्ञोपाय-२१= प्रणिधान-२६, १०३ प्रिंगिधान-चर्या-१२६ प्रणिधि-१०३, १८६ प्रणिधि-ज्ञान-३७१ प्रणीत-४, १६, २६४ प्रतापन-३६८

प्रतिकूल-सज्ञा-६म, ६६

प्रतिघ-२२, ३३५, ३६९

प्रतिघ-सज्ञा-६७

प्रतिघ-सस्पर्श-२३४

प्रतिज्ञा-१०४, ६०७

प्रतिनिसर्ग-९४ प्रतिनिसर्गानुपश्यना-१४ प्रतिपत्तिज्ञानदर्शनविशुद्धि-१०० प्रतिपत्ति-भेद-३८७ प्रतिबिम्ब-५१४ प्रतिभाग-निमित्त- ५६, ६१, ६२, ७०, ७४-७७, ८४, ८४, 58, 80 प्रतिभास-४० ३ प्रतिलाभ-भूमि-४२, ५५ ८७ प्रतिलोम-देशना-२३७ प्रतिविरत-१४ प्रतिवेध-२०, ४०२ प्रति-श्रुति-४०३ प्रतिश्रुत्क-४८५ प्रतिष्ठा-फल-३६७ प्रतिसस्या-निरोध-३२१, ३७३, ३७४, ४३४

प्रतिसन्धि-२५७, ३३३ प्रतिसन्धि-क्षण-२०, २२५ प्रतिसन्धि-चित्त-४५७ प्रतिसन्धि-स्कन्ध-२२५ प्रतिसवित्-३७१ प्रतिसरण-१६ प्रतीक-१०३ प्रतीत्यसमुत्पन्न-२० प्रतीत्य समुत्पाद-५, २०, २१, ११३, १७८, २२४-२३८, ४४८ ४८८, ४६४, ५६६

प्रतीत्यसमुत्पादवाद-२०, २२३, २२४-२३८ प्रतीत्यसमुत्पादवाद-३०४, ५४३ प्रतीत्यसमुत्पादहदय-१६७ प्रत्यन्त-७५ प्रत्यन्तक-३६

प्रत्यन्तजनपदोपपत्ति-१६४ प्रत्यन्तिक-जनपद-५, १४ प्रत्यक्ष-२२३, ४१६, ५६६, ५६६, ५६२-

५६५

प्रत्यक्ष-ज्ञान—५६६ प्रत्यगात्मा—४०२ प्रत्यभिज्ञा—५६०

प्रत्यय-४, ४३, ७४, २२४, २३०, ३५४,

३५७, ५०४

प्रत्ययवश-स्रहार्य-३८८ प्रत्ययवश-हार्य-३८८

प्रत्ययाकार-निदान-२२४

प्रत्ययोद्भव-४८६

प्रत्यवेक्षण-७०, ६०

प्रत्यवेक्षण-विशता-७५

प्रत्यवेक्षा-६१

प्रत्यवेक्षा-ज्ञान-४००

प्रत्याख्यान-५६६

प्रत्युपन्न-भव-२२५, २३०

प्रत्येक-बुद्ध-४७, ६०, ८२

प्रत्येकवृद्ध-भूमि-१५८

प्रत्येकबुद्धयान-१०६, १४४, ३०७

प्रत्येकवृद्धयानीय-१४५

प्रत्येक-वोधि-१६५

प्रयम चित्तोत्पाद-४८८

प्रथम धर्ममगीति-१२, १३, २६

प्रथम ध्यान-७०

प्रदाज-३३६

प्रदास-३३६, ३४०

प्रधान-१६२, १६६, २२३, २४३, ३०२,

३२२, ३५४, ४४=, ४८१

प्रधानवाद-२३६

प्रध्वसामाव-५७८

प्रपचातीत-३६६

प्रपचोपणम-५६२

प्रपचोपशमता-४८६

प्रमव-३५४

प्रभाकर-५७२, ५६४, ५६८

प्रभाकरी-४१३

प्रभावसम्पत्-११३

प्रभास-११६

प्रमास्वर-चित्त-२८८, ४५२

प्रमाण-१६, २२१, ४१६, ४४१, ५००,

४६६, ४८५-४६३

प्रमाण-द्वयता-४६६

प्रमाण-प्रमेय-५६५

प्रमाण-फल-४४१, ५८६

प्रमाण-सार्ग-२३

प्रमाणवाद-५६४

प्रमाणवात्तिक-१७०, ५६५

प्रमाणविनिश्चय-५६५

प्रमाण-व्यवस्था-५६२

प्रमाणगास्त्र-५८६

प्रमाण-सप्लव-५६२

प्रमाणममुच्चय-१७०, ४४१, ५६५

प्रमाणसमुच्चयवृत्ति-५६५

प्रमाद-३३८, ३३६

प्रमुख-१३

प्रमुदिता भूमि-३८८

प्रमेय-२२१, ४४१, ४६६

प्रमेय-मूमि-५६६

प्रयतपाणि-७६

प्रयत्नानन्तरीयक-६१०

प्रयाग-३१२

प्रयोग-२४१, २४२, ३८४

प्रयोग-फल-३६७

प्रयोग-मार्ग--२३

प्रयोग-शुद्धि-६७, २७६

प्रयोजन-५८६ प्रवचनकाय-१०५, १६५ प्रवारणा-७, २७५ प्रविवेक-४७ प्रवृत्ति-३७६, ५८६ प्रवृत्ति-विज्ञान-३०२, ४३८, ४७५, ४८९ प्रवृज्या-४४ प्रवज्याचार्य-४४ प्रशस्तपाद-१७२, ५८५, ५८६, ५९८ प्रशस्तपादभाष्य-२८८ प्रश्नविध-४२ ६३, ६८, ६४, ३३६, 352 प्रश्वास- ५१ प्रश्वास-काय-५५ प्रसन्तपदा-१६७, १६८, १७०, ४८८ प्रसाद-१०३ प्रसेनजित्-३, ११८ प्रस्कन्दन-६४ प्रस्कन्दन-प्रतिनिसर्ग-६४ प्रस्थान-५५३ प्रहाण-३१८, ४४३ प्रहाण-घातु-२१६ प्रहाण-मार्ग-२३ प्रहाण-सम्पत्-११३ प्रहीण-२२२ प्राकर्षिक-२२६, २२७, २३८ प्राकृत–२६, २८, १२४, १२६ प्राकृतिक-२१७ प्रागभाव-५७८ प्राच्य-३६ प्राणातिपात-४, १६, २५३, २५६ प्राणातिपात-विरति-१६, २४ प्राणायाम-३२, ८१, ८३, २२२ प्रातिभासिकी भ्रान्ति-५६३

प्रातिमोक्ख-३० प्रातिमोक्ष-३०, १६३, २८३, ४०६ प्रातिमोक्ष-सवर-२५४ प्रातिमोक्षसवर-समादान---प्रातिमोक्ष-सुब-१२७ प्रातिहार्य-१०६, १३३, १४१, १५१ प्रातिहार्यसूत्रावदान-११८ प्राप्तानुपरत-कारित्र-३७५ प्राप्ति-२७४, ३४५-३४७, ३७४, ३५३, ४३२ प्राप्ति-दान-२७७ प्राप्यकारित्व-३२७ प्रामोद्य-४३, ६३, ५४ प्रामोद्यराज-१५५ प्रायोगिक धर्म-३६३ प्रार्थना-१०३ प्रासगिक निकाय-१७० प्रासादिक-५० प्राहाणिक-३६२ प्रीति-४३, ४५, ६३, ६७, ६८, ७१, ६४, ३३४, ३३८, ३८२ प्रीतिवचन-५ प्रेत-१४०-१४२, ३६८ प्रेपयोनि-३२ प्रेतविषय-६६ फ फल-७३, ६६, २२७, ३५४, ३६५-३६७, प्र ३५ फल-दान-५५० फलपरिग्रह-गुण-३८८

फल-परिणाम-४३७

फल-भेद-३८७

फल-विपाक-9

फल-सम्पत्-११२

फलाक्षेप-शक्त-५६०
फारस-१२६
फाहियान-७ ३६, ३७, ११६, १२६,
१५०
फिनो (एल्०)-१५६
फुकुग्राग-३१२
फुको-३१२
फान्सीमी-१२४
फूको-१३१ १३६
फेंच-१२३, १२४, १३१, १३६, १५०,
१६६, १७०, १७२, ३१२, ४१५,

व

वगाल-१२३, १२४, १७५, १७७ वंगाली-१७५ वडोदा-१७५ वद्धमाना-१३० वन्ध्रश्रो-४२३ वर्कले-४७६ वर्य-२७८, २८० वर्षेनेमी-२७५ वर्न फ-१२३, २७६ वर्लिन-१३१ वल-२८३ वलदेव विद्याभूषण-५७२ वलव्यूह-२०५, २०६ वलि-१६२ वहल-७७ वहिर्देशक-३११, ३४२ वहदेववाद-३६६ वहुम्रमवाद-२६६, ३००, ३०३, ३०४, ३०६, ४१६, ५६६, ५६६, ध्रद्गद

वह्धर्मवादी-२२३, ३०१, ३०३, ३२२, ४०७, ४९७, ४९६, ५५७ वह्यात्क-३१६ वहपदार्थवादी-४२८ वहुवाह्यवस्तुवादी-५६६ वहश्रत-३६ बहुश्रुतिक-१३६ वह्मत्तावादी-२३८ बहुम्बभाववादी-२२३ वाउल-१७७ वावर-१२४ वालुका-५७६ वाह्का-२६२ वाह्य ग्रालम्बन-४०१ वाह्यक-२६२ वाह्यवृत्तिक-प्राणायाम-- ५१ वाह्याम्यन्तरविषयाक्षेपी प्राणायाम-५१ वाह्यार्थ-४१४ विन्दु~४३० विव्लिग्रोधिका इण्डिका-१२४, १३१ विक्लिग्रोयिका वृद्धिका-१२५, १२७ विव्लिग्रीयैक नाश्लाल-१२३ विम्ब-४०३ विम्वप्रकोष्ठ-३ विम्बिसार-३, ६ विस्विसारोपसऋमण-१३५, १३६ वीज-३८३, ४४०, ४४२, ४८९ वीजवारक चित्त-४५२ वीज-वासना-४३७ वीज-विज्ञान-४३७ बुद्ध-१-१२, २३, ६०, ८२, १०३, १०४, १०८ १४६, १६२, १७६, ४८०, ४८७, ५६२, ५६३

बुद्धकाय-१९४, १९६, ३६८

बद्धकाश्यप-२३५ बुद्ध-क्षेत्र-१०५, ११६, ३६८ बुद्धघोष-४, २४, २६, ३३, ३४, ४०, ७६, ८१, ८२, २३३, २८८, २६०, २६३, ३२२, ३६८, २४२, बुद्ध-चक्षु-१५३ बुद्धचरित-५, १११, १२२, १३६-१३५ बद्ध-ज्ञान-४८३ बुद्धत्व-१२६, १५२ बद्धदेव-१२८, ३११, ३१३ बद्ध-देशना-२४, ४६६ बुद्ध-धर्म-४५२ बुद्ध-निर्माण-११८ बुद्धपालित-१६७, १७०, ४६१ बुद्ध-पुत्र-१८१, १८४, ३८६ बुद्ध-पूजा-२६ बुद्ध-बीज-१८१ बुद्ध-भक्ति-१०५; १४२ बुद्धभद्र-१४१ बुद्धभाव-१८१ बुद्धभूमि-४१३ बुद्धभूमिस्त्र-४५३ बुद्ध-याचना-१८३, १८८ बुद्ध-यान-१०६, १४३-१४६, १४८, १४६, १५६, ३५४ बुद्धवग-२६, ३२, १०६ बुद्धवचन-३००, ४८७ बुद्धवाद-१०५, १६४ बुद्धशासन-५, ४० बुद्ध-श्रावक-५२ बुद्धस्तोत्र-१३०, ४१२, ४१४ बुद्धांकुर-१८१

बुद्धाध्येषण-१८६, १८८ बुद्धानुभाव-१५७, ३६४ बुद्धानुस्मृति-५४, ७७, ७८, १३० बुद्धि-२२२, २४६, २८४, ४६६ बुद्धि-चरित-४८, ५३, ५७ बद्धि-चर्या-४८ बुद्धिपूर्वक-५८७ बुद्धिवितर्क-चर्या-४८ बनयिड-नंजियो-१४१, १६२ बुभुक्षा-५७० बृहत्फल-६६ बृहदारण्यक-३६६, ५७०, ५७१, ५७८, प्रदर बृहस्पति-१६२ वेंडल (सी० सी०)-१२३, १२४, १७२, १७४, १७५ बोगिहारा-१६६ बोध-५ बोधि-१०४, ११४, २६३ बोधिगया-२४ बोधिचर्या-१७५, १८३, १८४, ३६१, 80€ बोधिचर्यावतार-१०८, १२०, १५७, १७१-१७३, १७५, १८०, १८४-950, 980, 980, 988, २००, २०३, २०४, २४६, २६४, २५४, ४२६ वोधिचर्यावतार-टिप्पणी-१७२ बोधिचर्यावतारपजिका-११३, ११४, १७१, १८२, २९७, ३६६ वोधिचर्यावतारानुशस-१७५ बोधि-चित्त-१८४-१८६, ३८७ वोधिचित्त-रघ-२०६

वोधिचित्तोत्पादम्त्रशास्त्र—२१८ वोधिचित्तोत्पादस्त्रशास्त्र—२१८ वोधि-परिणामना—१८६, १८८ वोधिपाक्षिक-धर्म—४०६ वोधिप्रणिधि-चित्त—१८६ वोधिप्रस्थान-चित्त—१८६ वोधिमण्ड—१४७ वोधिक्षण—३६३ वोधिसम्भारमम्भरणप्रीति—४०६ वोधिसन्व—१०४, १०६, ११७, १२०, १३०, १४१, १४४, १४६, १६१,१६४,१६४,१७६,१८०, २१७,३८६,३६७,४०३,४०४,

वोधिसत्त्व (ग्रन्थकार)-१६८ वोधिसत्त्व-गोत्र-३८७, ३८८ वोधि सत्त्वगोत (लिंग)-३८८ वोधिसत्त्व-चर्या-१०६, १२६ वीधिसत्त्व-नागार्जं न-१६७ वोधिसत्त्व-परिपाक-३६७ वोधिसत्त्व-पिटक--१५५ वोधिसत्त्व-भूमि--१५८, १६६ ४८२ बोधिमत्त्व-महामति-१६२ वोधिमत्त्व-यान-१०६, १५४, १५५, १६४ वोधिसत्त्व-शिक्षा-१=४, १६१, १६२ वोधिसत्त्व-सम्भार-३८६ वोध्यग-६३, ६४, ८४, ६४, २८३ वोध्यगोपेक्षा-७२, ७३ वोरोवदुर-१३६ वौद्ध-२, ४, १६, १८, २६, २८, ३१, ३३, १०३, १०४, १०६, १२६, १३४, १४०, १४१, १७४, १७७, २२२, २३८, २४१, २४८, २६१, २६६,

२७३, २७५-३११, ३५३, ३५६, ३६०, ४२५, ४२७,४८८, ५६८, ५६६, ५७१, ४७४, ५८४, ५८६-४८८, ४६१, ४६२, ६०६, ६१४ वोद्ध-ग्राम्नाय-१३६ बौद्ध-ग्रन्थ-३२, १२१, १२५, २१७ वौद्ध-जगत-१६७, १६६ वौद्ध-तन्त्र-१७७ वौद्ध-तीर्थ-२८० वौद्ध-दर्शन-३४, २२१-२२३, २३८, २७८, प्रद्र्य, प्रद्र्व, प्रद्रद्र, प्रद्र्य, वीद्ध-धर्म-२, ७, ११, २४, २६, २६, ३१-३३, ३४, १०३, १०४, १०६, १२३, १२४, १३७-१३६, १४८, १५०, १५४, १६१, १७०, १७४, १७६, २२२, २४८, २६३, २७२, २७८-२०८, ४६६, ४७०, ५७४-५७६, ५८८, ५६३ वौद्ध-निकाय-२६, १२६, १४१, ३८१ वौद्ध-त्याय-१७०, ५६३-६१६ वौद्ध-प्रस्थान-२२३

वाद-निकाय-१६, ५२६, ५२५, ३८५ वौद्ध-त्याय-१७०, ५६३-६१६ वौद्ध-प्रस्थान-२२३ वौद्ध-पिक्षु-३२, १४० वौद्ध-पिक्षु-३२, १४० वौद्ध-पोग-२६७, २६६ वौद्ध-पोग-२६७, २६६ वौद्ध-पासन-६, ११, १०५, ३०० वौद्ध-संघ-१०५, २६२ वौद्ध-संघ-१०५, २६२ वौद्ध-सहित्य-१२६, १६६ वौद्ध-सिद्धान्त-२२३, २४० वौद्ध-पिद्धान्त-२२३, २४० वौद्ध-पिद्धान्त-२२३, २४० वौद्ध-पिद्धान्त-२२३, २४० वौद्ध-पिद्धान्त-२२३, २४० ब्रह्मकाय-११२ ब्रह्मचिन्तन-२

ब्रह्मजालसुत्त-३, ३१, २३१

ब्रह्मज्ञान-२

ब्रह्मदण्ड-२८७

ब्रह्मपारिषद्य–६६

व्रह्मपुरोहित-६६

ब्रह्मचर्य-२८७

वहालोक-८

ब्रह्मविद्या-२

ब्रह्मविमान-५३

ब्रह्मविहार–१, ७, १६, ५४–५६, ६४– ६७, २४५, २५६, २=७

ब्रह्मविहारोपेक्षा-७२, ७३

ब्रह्म-१०७, १११, ११८, २४१

ब्रह्मासन-१४८

ब्रह्मा-सहपति-४, १८३, ४४७

न्नायन् हाजसन्-१२३

ब्राह्मण-१, ३, ३४, १६२, २३१, २६३,

२८७, ४२८, ४७१

ब्राह्मण-काल-१

ब्राह्मण-धर्म-२, ११, ५७०

ब्राह्मण-श्रमण-१, २४४, २५१

ब्राह्मण्य-२५७

ब्राह्मी-१३४

ब्रिटिश-१२४

भ

भग–६३

भक्ति-१०४, १३०, १४०

भक्तिमार्ग-१४८, १५०

भगवती-१६१, २१७

भगवान्-२१७

भदन्त-३६, ३११, ३७२

भदन्त-श्रीलाभ-२३२

भद्रक-१७६

भद्रक-दृष्टि--२४

भद्रकल्यावदान-१४१

भद्रक-शील-२४

भद्रघट-१८६

भयदर्शिता-३३६

भरहूत-२८

भरुकच्छ-३४

भव-१६, २०, २१, ४४, ७३, २२४,

२२६, २३४, ३१४, ४४२

भवचऋ-२१, २२४, २२७, २३६, २३७

भव-तथता-४३४

भव-तृष्णा-२२८, २३४

भव-त्रय-३३७

भव-पर्यापन्न-७६

भव-राग-२२, २५६, ३६६

भव-सम्पत्ति-५७

भवाग-२१, ४२, ५४, ६६, ४४४

भवाग-विज्ञान-३०२, ४५२

भवाग्र-२३

भवाग्रज-३४६

भवास्रव-२३३

भविता-२४६

भविष्यत्-५७८

भवोपकरण-३३७

भव्य-१७०, २८८, ४८८

भाजन-२६४

भाजन-लोक-२५०, ३६८

भाण्ड-५७५

भान्न-१०३

भारत-३, १०३, १२३, १२६, २२१,

२७६, ४२२

भारतवर्ष-३२, १-६, १४३, २७६

भारतीय-१७१, २८७ भारतीय दर्शेन-३१, १७०, ३१२, ५६५, ५७०, ५७२

भारद्वाज-१५
भारहारसूत्र-४११
भाव-२२३, २४६, ५८१
भावना-६६, ६४, ६७, ४३८
भावना (सस्कार)-२५३
भावना-कम-६१, ६८
भावना-फल-३६७
भावना-माग-२३, ३६३, ४०१
भावना-माग-२३, ३३०, ३३१, ४०७,

भावना-विधान-५७
भावना-संज्ञा-६१
भावना-हेय-२२
भाविविके-१६७, १७०, ४२२, ४५४,
४७७,४८०,५४०

भावान्यथात्व-३७२ भावान्यधिक-३१३ भावाभिनिवेश-२१५ भास-१३७ भास्कर-१६२ भिक्खुणी-सयुत्त-३१ भिक्षादान-२६ मिस्-४, ११, ३०, २५४ मिस्पानि-३०, २५४ भिक्ष-पोषध-२४५ मिन्न-प्रलाप-२७१ मुसुक्-१७३-१७४ म्त-१३२, १५०, २१८, ५७८ मूतकोटि-११४, २१४, ४७७ भूतचतुप्टयवाद-२३८ मूततयता-११६, १८४, ३०४, ४७४ भूतवाद-५६४
भूताव्यं-१६२
भूतार्थंक-१९३
भूतार्थंक-१९३
भूमि-३३४, ३४७
भूमिप्यंवसान-३८८
भूयोवीतराग-३३२
भेदाभेदवाद-४३०, ५८२
भेपज्यराज-१४८
भोक्ता-५६४
भोट-१७७
भोजन-५१
भौतिकवाद-५६४

Ħ

मंगोल-२६, १२४ मंजुवज-१७३ मजुवज-समाधि-१७३ मंजुवर्मा-१७३ मंजुश्रीज्ञान-१७३ मंजुश्रीवुदक्षेत्रगुणव्यूह-१४४ मंजुश्री-वोधिसत्त्व-१४२, १४१---१४३, १४४, १७१, १७७,

मजुश्रीमूलकल्प-१७६

मक्खलि-गोसाल-४

मगद्य-३, ६, ११, २६, ३६, १२६, १३५

मगद्यवती-१३६

मज्जना-४३७

मज्झिम-३७, १०७, १०६

मज्झिमनिकाय-६, १३, २६, ३०, ३१,

३४, ४०, ५४, १२७,

२३३—२३४, २३७, २६२, २६३, २६८, २७०, २७६, २८२, २८३, २८६, २८८, २८६, २६२, २६४

मिज्समिनिकायहुकथा-४५
मिट्टका-३१५
मण्डनिमश्र-२६५
मण्डल-१७६
मित-३३४, ३३५, ३३७
मत्सर-३३६
मत्सरमल-७६
मथुरा-३५
मद-३३६, ३४०
मध्यन्दिन-३७
मध्य-२२
मध्य एशिया-२६, ३६, ३७, १२४, १२६,

मध्य-कल्याण-१० मध्यदेश-४, ११, २६, ३४, ३६, १२८, १७३, १७४

मध्यदेशीय-१२८, १२६

मध्यक-१०७, ४४६ मध्यमक-कारिका-१०७, १७०,४८८,५४२

प्र्व, प्रुष्ठ, प्रुद्द, प्रुद

मध्यमक-कारिकावृत्ति-५६२
मध्यमक-दर्शन-४६२
मध्यमक=मूल-२१५, २१७
मध्यमकवादी-१०७
मध्यमक-वृत्ति-११४, २७४, ५६७
मध्यक-शास्त्र-४८८, ४८६, ४६७,

५०५ मध्यकावतार—१२०, १६८, १७०,२१७, २७४,४६४,५३०,५५३— ५५५ मध्यमकावतारटीका-१२०
मध्यम-निकाय-२८
मध्यम-मार्ग-१२, १६
मध्यमहृदयवृति-तर्कज्वाला-४८८
मध्यमागम-२६, १२५, १२७
मध्यमा प्रतिपत्-४७७, ५३१
मध्यमा प्रतिपत्ति-१६, २४५
मध्यान्तविभाग-३४३, ४४३, ४७५, ४७७,

मध्योपक्लेश-३४० मनःसचेतनाहार-४५८ मनःसस्पर्श-२३४ मन-२२१, २२३, २८४, ३३३, ४३७, ४६४

मन-आयतन-३१८ मन-इन्द्रिय-३२७-३२६ मनन-२२२, ४३७ मननास्य-४३७ मनसिकार-२५६, ३३४, ३३८ मनस्कर्म-४६४, ४६८, ४७०, ४७४ मनस्कर्म-२६६ मनस्कार-३३४, ३३५, ४०१, ४४४,

**አ**ጸጸ

मनुष्य-३६८

मनुष्योपादान-५३४

मनुस्मृति-३३०

मनोवण्ड-२५९

मनोधर्म-५६४

मनोधानु-३२८

मनोपविचार-२३४

मनोमयकाय-१०७

मनोवज्ञान-१६२, २५३, ३२८, ४६४, ४६८,

मनोमचेतनाहार-६५ मन्त्र-१५०, १७६-१७८, २४७ मन्त्रयान-१०६, १७६-१७८ मन्यना-४३७ ममकार-३३८ मरण-चित्त-४५७ मरण-भव-२३६ मरण-स्मृति-४६ मरणानुसमृति-५४, ७६ मरीचिका-४०३ महत्-१५० मर्मप्रदीप-१६६ मल-३१४ महत्-३५१, ३५३, ४२८ महाकच्चान-३४ महाकरुणा-१५६, ३३७, ३७१ महाकल्प-२६५ महाकात्यायन-२७, १४७ महाकाल-५७१ महाकाश-४८७ महाकाश्यप-८, ६, १२, १३, १४५, १४६, १५१, १५५

महाकूट-१५४
महागोविन्दमुत्त-१३१
महागोविन्दमुत्त-१३१
महाजन-२५१
महाजनपद-३६
महात्मदृष्टि-४०७, ४०८
महादेव-३६, १३६, २२३, ३२२
महाधममेघ-१३३
महापिकरण-३३
महापदानमुत्तन्त-१३४
महापद्य-१३२

महापरिनिव्वान-३१ महापरिनिव्वानसुत्त-१०६, ३८५ महापरिनिर्वाण-४५ महापरिनिर्वाणसूत्र-१३४ महापुरुष-१०४, १०८, १३४, ५७० महापुरुष-पुद्गल-५५३ महाप्रजापति गोतमी-६, १० १४७, १४६ महाप्रज्ञा-६६ महाप्रजापारमिताशास्त्र-१६४, १६५ महाप्रज्ञापारमितासूत्र-१५७ महाप्रतिसार-१७६ महाप्रातिहायं-११८ महावाधि-३८८, ४२२ महाब्रह्मा-६६ महाभदन्त-३०१ महाभारत-३१ महाभिक्षाज्ञानाभिभू -१४७ महाभूतचतुष्क-३१६, ५६६, ५६८ महाभूमि-३३४ महाभूमिक-३३४-३३६, ५६७ महामगलसूत्त-१७ महा (रक्षा) मन्द्रानुसारिणी-१७६ महामयूरी-१७६ महामाया-१० महामौद्गल्यायन-१४५, १४७ महायान-२६, १०४, १०५, १०७, ११६, १२३, १२८, १३०, १३१, वृद्द, वृद्ध, वृ४०, वृ४व, वृ४४, १४५, १४८, १५६, १६०-१६४, १६६, १६७, १६६, १७१, १७६, १७७, १७६, १८०, १८३, १८६, २०६, २२४, २३८, ३००, ३०१, ३०३, ३०४, ३०७, ३०८, ३७३,

३८३-३८६, ३८८, ३६०, ३६२,

४१५, ४१७, ४२२, ४५१, ५७४, ५७६

महायात-ग्रन्थ-१३६, १४७, १८४ महायात-दर्शन-१६४, १७८, ३१२, ३८३ महायात-धर्म-१०३, १२४, १६४, १६४, १६६, १७१, १७३, १८३, १८४, १८६, ३८३

महायानधर्मी-१४१
महायानवाद-१०६
महायानवादी-१०६, १०७, ३०१, ३१२
महायानविश्वक-१६७
महायानश्वद्धोत्पादशास्त्र-१९२
महायानसंग्रह-४६६
महायानसंग्रह-४६६
महायान-सवर-१०६
महायान-साहित्य-१५७, १७६
महायानसत्र-१००, १३६, १४१, १४६, १५१, १६७, १७७
महायानसूत्रालकार-१५०, १६४, १६६, ३०७, ३७६, ३८४,

महायानाभिधर्मसगीतिशास्त्र-१६८ महायानाभिधर्मसूत्र-४५१ महायानी-१६४, १६५

महाराष्ट्र—३ महारौरव—३६८ महावंश—७, २६, ३७ महावंग—२७, ३०, १२६, १३४, १८३, २८६, २८७

३६२, ३६६,४२२

२६६, २८७

महावद्यतम-४२०

महावस्तु-३०, १०५, १०७, ११७, १२८, १३०, १३१, १४८, १६४, १६५,

महावस्तु-ग्रवदान-१२४, १२६, १३० महाविभाषा-३०, १२६, १२७, ४७४, ५७४, ५७६, ५७८, ५७६, ५८१

महावीर-४
महावेपुल्यमहायानसूत्र-१७६
महाव्युत्पत्ति-११२, १४१, ३६७
महाव्यूह-१३१, १४१
महाशीतकर्ता-१७६
महाश्रावक-४५, १४२
महासघ-७, ६, ३६
महासतिपट्ठानसुत्त-६६
महासम्द्र-४७६
महासहस्रप्रमदिंनी-१७६
महासाघक-६, २६, ३३, १०५, १९७, १२६, १३४, १३४, १३६, १६४,

महासाघिक-निकाय-४५९
महासाघिकवाद-२६
महासावद्य-२५९
महासुवर्णगोत्र-३८८
महास्थाम-११६
महाहित्थपादोपमसुत्त-६६
महिसक-मण्डल-३७
महिसासक-निकाय-३७
महिष-मण्डल-३७, ३८
महीणासक-३६-३८, १२५, ४३४, ४५२
महन्द्र-२५
महेण्वर-१९१, १३१, १४०, २६२,

महोपक्लेश-३४०, ३४४ मागधिका-२२ मागधी-२५, २६ माणवक-१५ माण्ड्क्योपनिषत्-१२१ मातिका-२७ मातुगामसयुत्त-३१ मातृका-२७ मातुकापिटक-२७ मातचेट-१४०, १७६, १८० मात्सर्य-३३८-३४० माधव-१६६, १५१ माध्यमिक-११४, १६६, १६७, १७०, १७७, २२३, २३८, ३०१-३०५, ३८६, ३६०-३६२, ४०८, ४१८, ४२४, ४४६, ४७४, ४७८,४८०,४८६ माध्यमिककारिका-४८५, ५२५, ५३२, प्रद्र

माध्यमिककारिकावृत्ति-५२४
माध्यमिक-दर्शन-१७०, १७४, ४८८
माध्यमिक-नय-४८८-५६२
माध्यमिक-वाद-१६६
माध्यमिक-वृत्ति-११५
माध्यमिक-कृत्ति-११५
माध्यमिक-सम्प्रदाय-१६७
माध्यमिकसूत-११४, ११७
मान-२२, ४६, २०७, ३३८, ३६६
मानमेयोदय-५७३
मानस-कर्म-२५६
मानस-प्रत्यक्ष-५६३
मानसिक-१६८
मानुषी-तृद्ध-१०५, १२०, १२२

माया-११६, ११८, ३३६, ३४०, ४०३ मायाक्मारी-१०४, १५३ मायादेवी-१३२, १५२ मायाराज-४०३ मायोपम-११५, २१३ मायोपमता-४०२ मारकथा-१४१ मारधर्षण-१३५ मारसयूत्त-३१ मारसवाद-१३६ मार्ग-४३, ७३, ६३, ६४, २८३, ४६७ मार्गगमन-४४ मार्गज्ञान-३७० मार्गप्रत्यय-३५८ मार्गीमार्गज्ञानदर्गनविशुद्धि-१०० माल्यगन्धविलेपनविरति-१६ माहातम्य-१७६ माहिष्मती-३७ मितभाषिणी-५७३ मिथिला-२ मिथ्याग्रह-४८६ मिथ्याग्राह-४७६ मिय्याज्ञान-२२१ मिथ्यादृष्टि-१८४, २५१, २६०, ३३८ मिय्याधिमोक्ष-३३८ मिय्यासंवृति-२१४ मिथ्योपचार-२२३ मिद्ध-४१, ३३८, ३४२ मिनायेव (ग्राई० पी०)-१७२ मिनेण्हर-३३ मिलिन्द-३३ मिलिन्दप्रश्न-१२, ३३,३४, २८०, २६६ मिश्रसंस्कृत-१२८, १३१, १४२ मीमासक-२६६, ५७१-५७३, ५८३, ५८४, ५६०, ५६१

मीमांसा–५६ प मुक्तत्याग–७६ मुक्ताचार–४

मुक्ति–५, १६२, २०६, २६५ मुख्य-विभ्रम–५६३

मुदिता-१६, ५४, ६४-६६, १६५, ३३७, ४१२

मुद्रा-१७७, १७८ मुषित-स्मृतिता-३३८, ३४० मुषिता-स्मृति-३३९ मुष्टिप्रकरण-१६८ मुसलमान-१२३

मुहूर्त्त-४४४ मूच्छा-४४२

मूर्त्तिकला-१०५ मूर्त्तिपूजा-१०३, १७७

मू**धंन्**–२२

मूल-उत्पाद-५१३

मूल-कारण-२२३

मूल-क्लेश-३३६, ३४४

मूलत्रय-२५८

मूल-प्रतिभू-४२६

मूलविज्ञान-३०२, ४२३, ४२७, ४३६ ४५१, ४८१

मूल-समुच्छेद-२४८ मूल-सर्वास्तिवाद-३६, ३६, १२४, १२६, १४०

मूल-सर्वास्तिवाद-३७ मृगदाव-५

मृगमरीचिका-४२४, ५६६

मृगव्रतिक-४ मृत्यु-५७०, ५७१

मृदु–२२

मृदुता–३५३

मृषा-४, २५५

मृषावाद-विरति-१६, २४

मृषावादावद्य-२५५

मेघश्री-१५३

मेघियसुत्त-५७

मेत्तभावसुत्त-१७

मेदिनी-६०

मैक्समूलर-१५०

मैंब-चित्त-१४

मैतायणीबाह्मण-५७१

मैती-३२, ५४, ६४, ६६

मैत्री-पारमिता-१८१

मैन्नी-भावना-१९, ४६

मैत्री-विहारी-१७

मैत्रेय-१०४, ११७, १५४, १७४, १८४,

४३४, ४७७

मैन्नेयनाथ-१५०, १६२, १६८, ३८४

मैत्रेय-बोधिसत्त्व-१४२, १५४, १६८

मैथिल-१७३

मोक्ष-२३, २२१, २४४, २८६

मोक्षशास्त्र-२२१, २२२

मोषधर्मा-५२४

मोह-२२१, २२४, २६०, २७२, ३२०,

३३८, ३३६

मोहचरित-४८-५३, ४७

मोहचर्या-४८

मोहमूढ-५१२

मौगगलिपुत्त-तिस्स-३७, १२४

मीद्गल्यायन-६, ६, ११, १३७, १४८,

१४१, २५६

मौयं-१६२ मौल-उत्पाद-५१३ मौल-कर्म-२५१, २५२, २७५ मौल-कर्मपय-२५२ मौल-ध्यान-६२ मौल-प्रयोग-२५२ मौली-स्थिति-४०७ म्रक्ष-३३६, ३४० म्लेच्छ-१६२

य

यक्ष-१६०, २७४ यक्षबृद्धसवाद-३१ यक्षयुधिष्ठिरसवाद-३१ यज्ञ-याग-१,३१ यज्ञशाला-७७ यति--२ यथावादितथाकारिता-१५६ यन्त्र-१७८ यम-५७० यमक-३३ यमलोकोपपत्ति-१५४ यवदूपी-१७ यवन-१४ यश-५, ३५ यशोधरा-१४७ यशोमित्र-६६, १२७, १२८, १६६, ३४०, ३७२, ५७२

याचना-१८६ याचयोग-७६ याज्ञवल्क्य-१६२ यान-१०५ यानद्वय-४७३, ४७४ याम-६६, ३६८ यामागु ची-४७६

यारकन्द-१२४

युत्रान-च्वाग-१२४, १२६, ३१२

युक्तिपिटका-१६७

युगपत्-५७१

युघिष्ठिर-३१

यूनान-३२५

यूनानी-१०५

यूरोप-१२३, १३७

येवापनक-३३४, ३३६

योग-२१७, २२२, २७६, २६२, २६४, २६६, २६७, २६६, ३६६

योगक्षेम-२७६
योगतन्त्र-१७७
योगदर्शन-४१, ४२, ५४, ८२, १४६
योग-भावना-८०
योगशास्त्र-८०, १०७, २२२, ४४६, ४५०, ४६६, ४६७, ४७३

योगसिद्धि–१७८ योगसूत्र–२०,६१, ८१, ८३, २२१, ३०१,३३०

योगसूत्रव्यासभाष्य-८१, ८३
योगाचार-१०७, १६२, १६३, १६६,
१६८, १७४, २२३, ३०१,
३०२, ३०३, ३०६, ३६२,
४३२, ५७४, ५६४

योगाचारभूमिशास्त्र—१६८ योगाचार-सौतान्तिक—३०१ योगानुयोग—४४, ८० योगाभ्याम—२२२, २६६ योगावचर-भिक्षु—७७ योगिनी—१७८ योगित्रत्यक्ष—५६४

रूपसज्ञा-६७

रूपस्कन्ध-३१४-३१८

योगी-११, ५७, ५८, ८४, ८६, २५७, २२२, २६२, २७६ योनि-२५७, ३४७, ४५६ यौनिशोमनसिकार-२५७ यौगपद्य-५२७ यौवराज-१३०

₹

रज-३१५ रतनसूत्त-१७ रति-२०६ रत्नकूट-१५५ रत्नकूट-धर्मपर्याय-१५५ रत्नमति-१४२ रत्नमेघ-१८२ रत्नव्युह-१३२ रिशमप्रभास-१४६ रस-३१४, ३१४ राइट-१२३ राउज (डब्ल्यू० एच्० डी०)-१७२ राक्षस-१५०, १६२ राग-६४, २२४, २७२, ३३६, ३६६ रागक्षय-२७= रागचर्या-४८ रागचरित-४८-५१, ५७ रागद्वेषचर्या-४८ रागद्वेषमोहचर्या-४८ रागमोहचर्या-४८ रागरक्त-५११, ५१२ रागानुशय-२५७

राजगृह-६, ८, २७, ११८, १२६, १४२,

राजेन्द्रलाल मित्र-१२३, १२४, १३१

१५५, १५७

राजतरगिणी-१६७

रात्रि-५४५ राम-१२१, १२२, १६२, ३७२ रामानुजाचार्य-१२१ रामायण-१३७ रामावर्त्तन्त-१५३ रावण-१६२ राष्ट्र-३ राष्ट्रपाल-१४६ राष्ट्रपालपरिपृच्छा-१५५, १५६ राष्ट्रपिण्ड-१७ राहुल-६, १३० १४७, २६६ राहुल-साकृत्यायन-१६६ राहुलोवादसुत्त-६६ रिक्त-श्रासन-१०३ रीस् डेविड्स-२४, २६, २७८, २७८ रुचि-३२० रुचिरा-१३० रुतार्थ-३८५ रुद्र-३२२ रूप-३३, ६२, ६०, २२६, २७८, ३१४, ३७३, ४३०, ४६६ रूपकाय-१०८, ११२-११४, ११७, १२० १६३, १६४ रूपकायसम्पत्-११३ रूपकार-१३६ रूपतृष्णा-२३१ रूपधातु-६६, १२०, २३६, ३२०, ३४३, ३६५ रूपभव-७३, २३४ रूपलोक-११६, २६६ रूपवती-१३० रूपसग्रहस्त्र-३१७

रूपायतन-३१४, ४१७, ४७८
रूपावचर-२२४, ३३३
रूपावचर-सूमि-६४, ६६
रूपावचर-रूप-३४४
रूपी-रूकन्य-३४४
रूपावचर-रूप-३६२, ३६६, ३६८, ४४९
रेपाकन-कीमुरा-२६
रोवव-३६८

ल

लका-२६, २७, ३८, १२६, १२६, १४०, १६२ लकाद्वीप-२५ लंकावतारसूत-१४१, १६१, १६२, १६३, १६५, १६६, ३०७, ४४२, ४४६, ४५१, ४६७, ४७४, ४७७ लकोक-१२४ लक्खणधम्म-२६० लक्षण-८७, ३४४, ३५०-३५२, ४८३, 200 नक्षणत्रय-४५५ लक्षणधर्म-२६० नक्षण-निःस्वभावता-४८६ लक्षणानुसार-१६९ लक्षणान्ययिक-३५३ लक्मींकरा-१७७ लक्य-५०० लक्य-नक्षण-५००, ५६५ नगुर-णिखीपक-परिवासक-३७७

लिंघमा-१७७
लघुता-३५३
लघुत्व-३१६
लदाख-१२४
लिंतिविस्तर-३०, १९१, १२४, १२४, १२४, १३०, १३१, १३४-१३६, १४१, १४६, १४४,

लव-५४५ लाक्षणिक विरोध-६१२ लाट-३६, १२६ लाम-४३ लामा-सम्प्रदाय-१७७ लिग-५०३, ५६६ लिंग-बैरूप्य-५६३ लिपि-फलक-१३५ लिपिगाला-१३४ लिपि-शास्त्र-१३५ ल्डर्स-१३७, १३५ लुम्बिनी (वन)-११७, १३२ लेटिन-१७२ लेण-२६५ लेफमान (एस्०)-१३१ लोक-३१४, ४०२, ४४०, ४४१ लोकघातु-१५३, २२४, २६५, ३६५, ३६६

लोकनाय-५६२ लोकबाद-६, २४ लोकसंवृति-४६२ लोकसंवृति-ज्ञान-३७० लोकमंवृति-सत्य-५५४, ५५५ लोकायत-१६२, २६६ लोकायतिक-४२६ लोकेश्वरशतक-१७६ लोकोत्तर-६, १०४, १३४, १३५, ३३३ लोकोत्तर काय-१२० लोकोत्तर ज्ञान-४०५ लोकोत्तर धर्म-४०६ लोकोत्तर पुरुष-१०४ लोकोत्तर मनस्-४७३ लोकोत्तर मनस्-४७३ लोकोत्तरवाद-१०५, १०७,१३१,१३४ लीकोत्तरवादी-१२६, १३०,१३४,१३५,

लोकोत्तर समाधि-४१, ६४, १०० लोकोत्तर स्कन्ध-११२ लोचन-१२० लोभ-२५६, ३३८ लोहरज-३२५ लोहित-३१५ लोहितक-५४, ५६ लोहित-कसिण-५४, ७६ लीकिक समाधि-४१, ४३, ४०५

व

वग-१३५ वक्त-७६ वचन-३२६ वज-१७६ वज्र-१७६ वज्र-छेदिका-११३ वज्र-छेदिकाटीका-१६८ वज्र-छेदिकाटीका-१६८ वज्रयान-१०६, १७४-१७७ वज्रयान-१०६, १७४-१७७ वज्रसत्त्व-११७, १७६ वज्रस्ची-१३८ वज्रानग-१७७ वज्रोपम समाधि-२३,४०७,४०८ वट्-२२७

वत्स-३८ वत्सपुत्र–३८ वदतावर-४८६ वन्दना--१८६ वरुग-१५०, १६२ वर्ण-३१४, ३१६ वर्ण-कसिण-५२ वर्णधर्म-५६४ वर्णधर्म-व्यवस्था-३१ वर्णलक्षण-५८६ वर्णव्यवस्था-३१ वर्णसज्ञा-५६६ वर्णाश्रमधर्म-१ वर्त्त-४७, ८० वर्त्तदुःखसमुच्छेद-७९ वर्त्तप्रतिपत्ति-१६ वर्त्तप्रतिवर्त्त-४६ वर्त्तमान-५०४, ५७८, ५८२ वर्त्तमान-भव-२० वर्तम-२२७, २३७ वर्तम-कथा-२२५ वर्त्मच्छेद-२६४ वर्मा-२७, १२६ वर्षावास-७ वसुन्धरा-६० वसुधा-६०

वसुबन्धु-३०, १२७, १२८, १३६, १४२, १६८-१७०, २३८, २४४-२४६, २६३, २६०, ३००, ३११, ३१२, ३१४, ३१८, ३३६, ३३७, ३३६, ३४१, ३४८, ३४७, ३४४, ३६६, ३७३, ४१४-४२, ४४७-४४१, ४६४, ४८८, ४८०-४८२, ४६४, ४८८

वम्बर्मा-३७२ वसुमित्र-३६, ३७, १२६, १२७, १३६, ३०१, ३९१, ३९३, ३९४, ३५०, ४६०, ५७५, ५७६, ५८१ वस्तु-२२७, २३६, ३०१, ४६२ वस्तुकाम-६६ वस्तुमाल-११६ वस्तुशक्ति-३५३ वस्तुसत्-२२३, २४३, ५६२ वस्तुसत्ता-५६१ वस्तुसत्य-२६० वाक्-३२६ वाक्-सस्कार-३४१ वाग्-दण्ड-२५१ वाग्-विज्ञप्ति-२५४, ३१६ वाच्-५७० वाचस्पतिमिश्र-५३, २२१, ३१५, ३३०, ५७४, ५६६, ५६७ वाचिक-२५० वातराशि-५६ वात्सीपुत्तीय-३८, २४१, २४३-२४५, २८८, ३०६, ३८३, ४२५ वात्स्यायन-३०५, ५६५, ५६८ वात्स्यायनभाष्य-३०५ ३१५ वाद-२५४ वादविधान-५६५ वादविधि-५६५ वायू-५५४ वायुकसिण-५४, ७६ वाय्धात्-६५, ६६, ५६६

वायुमण्डल-२६५

वाल्मीकि-१६२

वासना-४३८

वाराणमी-५, १३६, १४४

वार्त्तिककार (उद्योतकर)-२२१

वासिलीफ-२६, १२७, १७५ वासिष्ठ-१५ वास्देव-२२३, ३२२ वासेट्ठपुत्तसुत्त-१५ विंशतिका-१७०, ४१५-४२१, ४४२, ४६६, ४७८, ४८६ विशिका-३० विकल्प-२२३, ४७५, ४८०, ४८४ विकल्पातीत-३०३ विकल्पाभेद्य-४०७ विकल्पित-धर्मग्राह-४३५ विकार-हेतु-३५७ विक्खायितक-५४ विक्खित्तक-५४ विक्रमशिला-१७३ विक्षिप्त चित्त-२५४ विक्षेप-३३८, ३३६ विगतप्रत्यय-३५६ विग्रहव्यावर्त्तनी-१६७, ४६०, ५५३, ५६५ विघ्न-५५, ६३ विचार-४२, ४४, ६७, ३३४, ३३८, ३४९, ३८२, ४६७ विचिकित्सा-२२, ४१, ३३८, ३३६ विचित्रकर्णिकावदान-१४१ विच्छिद्दक-५४ विज्ञ-७5 विज्ञप्ति-२२३, २५२, २५४ विज्ञप्तिमात्रता-४०४, ४१७, ४२२, ४७५-850, 850 विज्ञप्तिमावतावाद-४८० विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-१७०, ४२२-४८७ विज्ञान-२०, ४४, २२३, २२४, २३१, २३३,३३३,४३७, ४५७, ४५८

४६४, ४७४, ४८१

विज्ञान-कसिण-५४ विज्ञानकाय-३१८, ४७४ विज्ञानकायपाद-२१, ३११ विज्ञान-क्षण-२२५ विज्ञान-परिणाम-४३३, ४३७ विज्ञान-परिणामवाद-४३५ विज्ञानभिक्ष्-२२१, ५६६ विज्ञानवाद-१०७, ११६, १६१, १६२, १६८, १७०, २२३ २३८, २७४, २८८, ३०१, ३१२, ३३४, ३३७-३४१, ३४३, ३७३ ३८४-४८७, ४३२, ४६६, ४८६, ४८८

विज्ञानवादी-१०७, ११६, १६६, १७०, २२३, २७४, ३०१, ३०२, ३३४-३३७, ३८४, ३६२, ४१५, ४३१, ४३२, ४६३, ४६४, ४७८, ५६०, ५६६,

विज्ञानषट्क-४१७ विज्ञानसन्तान-५६६ विज्ञानस्कन्ध-३१४, ३१८ विज्ञान-स्वभाव-४२३ विज्ञानानन्त्यायतन-५४-५६, ६७, ६५,

255

३६५

विज्ञानानन्त्यायतनभूमि-६६ विज्ञानायतन-४५५ विज्ञानावकान्ति-२३२ विज्ञानाहार-६८, ४५८ विज्ञानेन्द्रिय-३२६ विज्ञानोदधि-४८७ विण्टरनित्ज-१६८, १६६ 1 वितथ-प्रतिभासिता-४८०

वितर्क-४२, ५५, ६७, २५६, ३३४, ३३८, ३४१, ३८२, ४३७ वितर्क-चरित-४८, ४९, ५२, ५७ वितर्कचर्या-४८ विदिशा-३८ विद्षणा-४३३ विद्याभूषण (एस्० सी०)-१७३ विनय-८, ६, १२, २४, २७, ३४, ३६, ३८, १०६, १०७, १२४, १२७, १३०, १४०, २८२, २८३ विनय-ग्रर्थकथा-८१ विनय-ग्रन्थ-१२६, १६५ विनयधर-११, ३६, २४४, ३११ विनयपिटक-७, ३०, ३४, १२६, १२७, 982 विनयमातृका-२७ विनायक-१६२ विनीतदेव-२६

विनीलक-५४ विपन्न-४७ विपन्न-ग्रध्याशय-४७ विपर्यय-४४२, ४८६ विपर्यास-५५२ विपश्यना-१८, २०, ३६ ५७, ७३, 23, 83, 88, 88

विपश्यना-भूमि-६२ विपश्यना-मार्ग-६१ विपश्यना-यान-४१, ४३-४५ विपश्यनायानिक-१०० विपश्यनोपेक्षा-७२, ७३ विपाक-२२४, २२७, २६४, २६८. ३३१, ३६४, ४३७, ४३८

विपाक-काय-११६ विपाक-कारण-५८०

विमुक्ति-७४, ११२

विमुक्तिज्ञानदर्शन-११२ विपाक-चित्त-४५५ विमृक्तिमार्ग-२३ विपाकज-४३७ विमुक्तिरम-६ विवाक-प्रत्यय-३५5 विपाक-फल-२६४, २६४, २६७, ३६४, विमोक्ष-१५४ विरजपद--विरति-३३७ विपाक-वीज-४३५ विराग-५, २७८, २८७, २६५ विपाक-वर्तम-२२७, २३७ विरागधात्-२६६ विपाक-वासना-४३७ विराट्-१५० विपाक-विज्ञान-४३६ विराट् पुरुप-५७० विपाक-हेतु-३५४, ३६४, ३६४ विराट् प्रज्ञापारिमता-१६१ विपाकाख्य-४३७ विरुद्ध-६१४ विपूट्यक (विपुल्वक)-५४, ५६ विरुद्धार्थता-४६१ विप्रयुक्त-४३२ विरुद्धाव्यभिचारी-६१६ विप्रयुक्त-प्रत्यय-३५६ विरोध-६११ विप्रयुक्त-सस्कार-३१८ विवर्त्त-२६५, ३६६ विभंग-३३, २३४ विवर्त्तना-६० विभक्त-३५१ विवर्त्तनिश्रित-४७ विभज्यवादिन्-२२६, २८८, २६३, ३१२, विवर्त्तवाद-५६५ ४५२ विविक्ताकार-६१२ विभव-१६ विवेकस्याति-२२१ विभवतृष्णा-२३५ विशात-३१५ विभाग-३५१, ३५२ विशुद्ध-८० विभाषा-३०, १२५-१२७, १३७, १३६, विशृद्धि-१०० १६६, २२६, २३४, २६३, विश्वद्धिमार्ग-२२७, २३०, २३२, २३३, ३००, ३११, ३४०, ३४४, २३४ ३७२, ३७३, ४७४, ४७४ विशेष-२४६, ३४८, ५६६ विभाषाकार-११७ विश्वकर्मा-११६ विभाषाशास्त्र-३०० विष्वजित्-७ विभुत्व-५७२ विञ्वदेवैक्यवाद-३६६ विमति-३६६ विश्वनाथ-५६५ विमला-४ १३ विश्वभारती-१७०, ४८२ विमानवत्यु-२६, ३२, ३४ विश्वामिय-१३५

विश्वास-२८४

विषमहेतुवाद-४८६ विषय-२३३, ३१४ विषय-विज्ञप्त्याख्य-४३७ विष्णु-१२१, १२२, १६२, १७०, १७१ विष्णुलोक-१२१ विसंयोग-फल-२७२, ३६६, ४८१ विसम्गाग-७७ विसुद्धिमग्गो (विशुद्धिमार्ग)-१२, २६, ३४, ३६, ४२, १४, ६१, ६६, ७२, ८२, १०७, २२८ २२६, २३४, २३६, ३२२, ३२४, ३३८

विद्वरण-३२६ विहार-१३, ४१४ विहारदान-२६ विहिंसा-६६, ३३६, ३४० वीथि- ५३ वीथि-चित्त-६५ वीरदत्तपरिपृच्छा-१५६ वीर्य-६१, ६३, ६४, ३३४, ३३५ वीर्य-पारमिता-१८१, १८४, १६०, २०४ वीर्य-समृद्धि-२०५ वीर्यारम्भ-६३ बीर्योन्द्रिय-३२५ वीयोपिक्षा-७२, ७३ वृत्त-४६, ३१४ वृत्ति-वैलक्षण्य-३८१ वृद्धि-हेतु-३५७ वषभ-१६२ वृषलसूत्र-१४ वेग-३५३

वेतुल्यक-११७ वेतुल्लक-१०४ वेद-१, २८, १२७, ४७०, ४८३ वेदग्-२८७ वेदना--२०, २१, २२२, २२४, २२६, २३४, ३३४, ३३४, ३३८, ४४४. ४४६ वेदनात्रय-२३१ वेदना-द्रव्य-३४२ वेदनानुपश्यना-५५ वेदनास्कन्ध-३१४. ३१८, ३२० वेदनेन्द्रिय-३२६ वेदनोपेक्षा-७२, ७३ वेदप्रामाण्य-५६१ वेदस्ल-२८, २६ वेदाग-१२७ वेदान्त-१२१, १६६, २२२, २७६, २८७, ३०८, ३२६, ३३०, ३६४, ३६६, ४६३, ४८६, ४८४, ४८४, ४८८

वेदान्तसार-५६७ वेदान्ती-५७२ वेध-२३ वेध्याकरण-२६ वेस्टरगार्ड-२५ वेस्सम्तर-जातक-१६० वैखानश-२ वैखानश-इत-१९ वैखानश-सूत्र-२ वैतालीय-२६, २६ वैदिक-७, २४, ३०, १७६, ३०० ५७१ वैदिक धर्म-१, ३, ११, ३१

वेतालीय-२५

वैदिक भाषा-१२६ वैदिकशब्दराशिनित्यतावाद-२३८ वैदिकी हिंसा-१ वैधर्म्य-२२२, ३१४ वैधर्म्यवत्-६०५ वैपुल्य-२६ वैपुल्यसूत्र-११०, १३१, १४१, १५६,

वैपुल्यसूत्रराज-१४२ वैभाषिक-३०, १२४, १२६, १६६, २२३, २२७, २३२, २३८, २६७, २७३, २८६, २६०, २६३, ३००, ३०१, ३०४, ३०४, ३११-३७१, ३७३, ३७६, ३८२, ४१६, ४३०, ४३१, ४६०, ४६६, ५७३-५७६, ५८१, ४८२

वैभाषिक नय-३०४, ३११-३७१, ३८३, ४१५, ५७६

वैभाषिक प्रस्थान-१०७ व्याप्त-२३६ वैभाषिक सिद्धान्त-२३६, २७४ व्यामिश्र-२ व्यामाश्र-२ व्यामाश्र-२ व्यामाश्र-२ व्यामाश्र-१ व्यामाश्र-१ व्यामाश्र-१ व्यामाश्र-१०३ व्यावहारिक-४२६ वैरोचनव्यहालंकार-१४४ व्यावहारिक-४२६ व्यावहारिक-तत्त्व-१ व्यावहारिक-२४३, २४६, ३४, १२५ व्यावहारिक-४२२ व्यावहारिक-४२२ व्यावहारिक-४२२ व्यावहारिक-४२२ व्यावहारिक-४२२, ३४२, ३४६, ३४५, ३४५, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ३४६, ३४५, ३४५, व्यावहारिक-४२२, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ३४६, ३४४, ४२४, व्यावहारिक-४२२, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ३४६, ३४४, ४४२, व्यावहारिक-४२२, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ३४६३, ४६३, ४४२, ४४३, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ३४६३, ४४३, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ४४२, ४४३, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ४४२, ४४३, व्यावहारिक-४२२, ४४२, व्यावहारिक-४२२, ४४२, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ४४२, व्यावहारिक-४२२, ३४४, ४४२, व्यावहारिक-४२२, ३४३, ४४२, व्यावहारिक-४२२, ३४४, ४४२, व्यावहारिक-४२२, व्यावहारिक-४२२, ३४४, ४४२, व्यावहारिक-४२२, ३४४, व्यावहारिक-४२२, ३४४, व्यावहारिक-४२२, व्यावहारिक-४२२, व्यावहारिक-४२२, ३४४, व्यावहारिक-४२२, व्यावहारिक-४२, व्यावहारिक-४

वैशेषिक दर्शन-५८१, ५८५-५८७ वैशेषिकशास्त्र-२२२. ३५२ वैशेषिकसूत्र-३४८, ३५३, ५७२ वैसिलीफ-११६ वोकार-२३५ व्यंजन-३४४. ३४७. ३५२ व्यतिरेक-६०४ व्यतिरेकव्याप्ति-२४० व्यवकार-२३५ व्यवदान-६४, ४६२, ५७७ व्यवदान-सम्भरण-३२६ व्यवसायात्मक-५६७ व्यवस्थान-५४. ६६ व्यवहार-सत्य-१६१, २१७ व्याकरण-१५, १२६, १४० व्याख्यायुक्ति-१७० व्यापाद-१७, ४१, ६७, २७१ व्यापाद-स्पर्श-२३४ व्याप्ति-२३६ व्यामिश्र-२ व्यायाम-६४, २५६ व्यावदानिक-४०३, ४६२ व्यावहारिक-४२८ व्यावहारिक-तत्त्व-५६८ व्यावृत्त-धर्म-२२२ व्यास-१६२ व्यासभाष्य-४२, ३०१ व्युत्यानवशिता-७१ व्युत्पत्ति-४५२, ४८२ व्युत्सर्गरत-६६ व्यूपशम-३३७ व्यूहन-कर्म-३१६, ५६६

श

शकर-३९६, ४७९, ४८६, ५६९, ५८७,

**464** 

शकरमिश्र-२२२

शकुक-३६२

शक-११६

शकाशन-१४८

शतकशास्त्र-१६८

शतसाहिस्रका-प्रज्ञापारिमता-१५७, १६१,

१६५–१६७

शब्द-३१४, ३१६, ४८३, ४८६

शब्दज्ञान-५६८

शब्दतन्मात-५५५

शब्द-प्रमाण-१

शम-१६१, २२२

शमथ-४२, ६४, १६१, २१२

शमय-निमित्त-६८, ६९

शमथ-मार्ग-६१

शमथ-यान-३६,४१

शमथयानिक–६३

शमाभिराम-३६४

शयन-५०

शयनासन-२७, ४३

शरण-२७८, २९४

शरणगमन-१८६, ३८६

शरवात्स्की-६, २६६, २६७, ३००, ३०२,

३०५, ३०६

शरीर-२२१

शलाकावृत्ति-२६६

शशरज-३२५

शशशृ ग-५६६

शशि-६०५

शशिकेतु-१४७

शाक्त-१७७

शाक्य-१३५, १३७

शाक्यपुत्रीय-५

शाक्यमित्र-१७८

माक्यमुनि-१०४, १०७, ११७, १२०,

१४७, १६४, १७५-१८०,

१८२, २३४, २८६

षााक्यवंश-२, ३, १३०, १६२

शाक्यसिह-२०७

शाठ्य-३३६, ३४०

शात-३१५

शातवाहन-१६७

शान्त-३०३

शान्तमति-५४२

शान्तरिक्षत-१७५

शान्तिदेव-१०६, १०८, १५७, १६७,

१७१-१७४, १८४-१८६, १६०,

83P

शारिपुत्त−६, ६, १०, ११२, १३७, १४३–

१४४, १४८, १४६, १४१,

१४२, १४७-१६१, २८६, २८७

980

शारिपुत्त-अ़ष्टक-१७२

शारिपुत्र-प्रकरण-१३७, १३८

शाद् ल-कर्णावदान-१४१

शालवन-६, १०

शाश्वतकाल-४६६, ४७१, ४७४

शाश्वतद्ष्टि-१६

शाश्वतवाद-२३१, २४४, ५३१, ५३२,

४३७, ४४८

शास्ता-१, ३, ८, ६३, १०३

शास्तृपद-२३४

शास्त्रदीपिका-३४६

णिश्रपा—६००

शिक्षमाण—२५४

शिक्षात्रय—१=

शिक्षात्रय—१८

शिक्षापद—३०, ३२, २५६

शिक्षासमुच्चय—१२४, १५६, १७१, १८४, १८६, १८६, १८६, १८६, १८२, १८४, २१२

शिन्-शु—१५१

शिल्पयोग—१३५

शिल्पयोग-१३५ शिव-८०, २६५, ४८६, ५६२, ५७० ५७१ शीवता-३१३ शी-तोकु-ताय-शि-१४२ शील-१८, १६, २३, ३१, ३४, ११२,

शीलकथा-१४८
शीलपारिमता-१८१, १८४, १८६, १६०
शीलभद्र-१७०, ४२२
शीलिवशुद्धि-१००
शीलद्रतपरामर्ग-१६, २६०, २६२
शीलद्रतपरामर्ग-१६, २६४
शीलानुस्मृति-५४, ७८
शुंगवंग-१४१
शुंगवंग-१४१
शुंग्रान-च्वांग (युवान-च्वाग, ह्वेनत्सांग)१२८, १५१, १५७, १६७-१७०,
४२२-४२५, ४२७-४३५, ४३७,
४३६-४४२, ४४६, ४४८-४५३
४५५, ४६३-४६६ ४७५-४७८,
४८०-४८२, ४८४-४८६

गुक-१६२, ५७० गुनित:-४०५ मुनित्रय-१६ शुद्धनाय-११४ शुद्धावास-६६ शुद्धाव्टक-३२३ गुद्धि-२६४ शुद्धोदन-२, १३१, १३५ शुभ-३८३ शुभ-३८३ शुभक्त्स-६६ शुभक्त्स-६६ शुभक्टूह-१४८ शुभक्टूह-१४८ शुभाग-१३५ शूम्यता-११४-११६, १५४, १५६, १६२, १६४, १९४, १५४, १४६, १८४, ४७४,

शून्यता-भावना-१४६
शून्यताभिनिवेश-२१५
शून्यतावाद-४१८, ४७६, ४७८
शून्यतावादी-१९५
शून्यताविहार-७३
शून्यतासप्तित-१६७
शून्यतासमाधि-४०५
शून्यवाद-१४४, १६१, १६७, २२३,

शूत्यवादी-२२३

शूरंगमसूत्र-१८६

शेष-१२१

शेषागन-१२१

शैक्ष-७, २७१

शैक्षमूम-१४४

शोभन-वैतसिक-३३४, ३३७, ३३८

शोभन-साधारण-३३७

स्याम-२७

श्रद्धा-६१, ३३६, ३३७, ३६२

श्रद्धाचरित-४८, ५०, ५१, ५७

श्रद्धाचर्या-४८ श्रद्धाबृद्धिचर्या-४८ श्रद्धाबृद्धिवितर्कचर्या-४८ श्रद्धावितर्कचर्या-४८ श्रद्धेन्द्रिय-३२८ श्रमण-१ श्रमण-धर्म-४३,४४ श्रवण-२२२

श्रामणेर-११, ५८, १६, २५४
श्रामणेरिका-२५४
श्रामण्य-२३, २७८, २८७
श्रावक-१२०
श्रावक-बोधि-१६५
श्रावक-भूमि-१५८
श्रावकयान-१०६, १४४, १४६, १६४,

३०७, ३८४–३८६ श्रावकयानाभिसमय–३८७ श्रावकसघ–७८, १९१ श्रावस्ती–३, २४, १९८, **१**४१, १४६,

२७६

श्रीगुह्यसमाजमहायोगतन्त्रबलिविधि–१७४ श्रीचक्रसम्भारतन्त्र–१७६ श्रीडर–५६४ श्रीलब्ध–१२६ श्रीलात–३७२

श्रीलाभ–२३२, ३०१, ३२४ श्रीवैकुण्ठगद्य–१२१ श्रीहर्ष–१७१

श्रुतधर-१०। श्रुतधर-१०

श्रुतमय-३६३

श्रुति–५५३

श्रोणापरान्तक-१७ ६

श्रोव्रिय-२५७

श्रोत्नेन्द्रिय—३२७, ३२८ श्लक्ष्णत्व—३१६

श्वानशील-२६२

श्वेतास्थि-२६६

षट्पारमिता-१४२, १५४, १८४, २१२,

२१८

षडगोपेक्षा-७२, ७३

षडशता–४१८

षडक्षरमन्त्र-१५०

षडभिज्ञ-८०

षडायतन-२०, ४४, २२४, २३१

षडिन्द्रिय-२३१

षड्दर्शन-५७०

षड्घातु-५८७ षड्विज्ञान-३४४, ४३८, ४७४, ४७६,

४७७, ५०२

षड्विज्ञानकाय-२३१

स

सकोच-विकास-३३०

सकान्ति-२८६

सक्लेश-४६१

सक्लेश-व्यवदान-४६१

सख्या-३४१, ३४३

सगीति-१०, १२, ३३, ३६, ३७,

२५३

सगीतिपर्याय-२७

सगीतिपर्यायपाद-२६, ३११

सगीतिसुत्तन्त-२७

सग्रह-४७३, ४८३
सग्रह-कर्म-३१६, ५६६
सघ-१, ५,२३, १०३
सघपाल-२६
सघभद्र-३०, १२७, १६६, २५५, २८०,
२८३, २८८, २६४, ३१२, ३१६,
३३५, ३३६, ३७४, ४४६, ५७६,
५८१, ५८२

सघभारहारक-४४ सम्भाष्य-१४३ सघभेद-३८ सघ-सामग्री-२५६ सघ-स्यविर-७७ संघाटी-२६३, २७६ सघात-३६८ सघातपरमाणू-३२३, ४१६, ५६६ सघातवाद-५६५ सघानस्मृति-५४, ७८ सघाराम-१३, ३०, १७४ सघी-३ संचार-२८६ सजय-६, २८६ सजय-वेलट्टिपूत्त-४ सजीव-३६८ सज्ञा-५४, ३३४, ३३५, ३३८, ४४४, ४४६

संज्ञा-द्रव्य-३४२ संज्ञा-भव-२३५ मंज्ञावेदितनिरोध-२८७, २८६, ३५० सज्ञा-स्कन्ध-३१५, ३१८, ३२० सयुक्त-३५१ मयुक्तनिकाय-२८ संयुक्तपटक-८ सयुक्तागम-२६, ३१३ सयुक्तिनकाय-३०, ३१, ३४, ३६, ४०, ४५, ६३, १०७, १०६, ११७, १३४, १७६, २२६, २३२, २३३, २३६, २६४, २६४, २६६, २६१-२६४

सयोग-३५१, ३५२ सयोजन-१५, ८५, ३६९ सरण-३१५ संलक्षण-६० सवत्सर-५७०, ५७१ सवर-१६, २५४, २५५ सवर्त्त-२६५, ३६६ संवर्त्तनी-२६४, २६६, ३६६ सवर्त्तनीय-१५ मंवादक-५८६ सवित-२१७ सवित्ति-४२३, ५६८ सवित्तिभाग-४२३, ४४१, ४४४, ४७६ सवृत-१६, ३७० सवृति-२१४, २१६, ४६८ सवृतिसत्-२४५, २६० संवृति-सत्य-११४, १६७, २१४, २१६, २१७, ४७5

सवेग-६४, ६५
सवेगवस्तु-६५
सश्य-५८६
संसर्गवाद-५२६, ५२८
ससार-५३३
ससारकोटिनिष्ठस्कन्ध-४५२
ससारनिश्रित-४७
ससार-शृद्धि-४
सस्कार-२०, २२५, ३३८

सस्कार (न्याय)-३५२, ३५३, ५६६ सस्कार-स्कन्ध-३१४, ३१८ सस्कारोपेक्षा-७२, ७३, ३३६ सस्कृत-११, २४, २६, ३३, १२६, २२४, २२६, २३८, २४७, २६६, ३१४, ३१४ सस्कृत-धर्म-३१५-३२१, ३५०, ३७५,

सस्कृत-बौद्धधर्म-१२३ सस्थान-३१४, ३१६ सहारिम-५६ सकल-काल-५७१ सकाय-निरुत्तिया-२५ सक्रदागामिमार्ग-१००

492

सकुदागामी-२३, ४४, ४४३ सक्कसयुत्त-३१ सगौरवता-३३६ सच्चिकिरिया-२७३ सच्चसयुत्त-३१

सतिपट्टानसुत्त-५५ सतीर्ध्य-५२२

सत्-२६५

सत्कायदृष्टि-३१, २४५, ३४२, ३६४, **¥**२६

सत्तपदा-२३५ सत्ता-३५१ सत्पुर-१२२ सत्य-१६२, २१८, २६४ सत्यित्रया-२७३ सत्यद्वय-२१७, ५५४, ५५६ सत्यपारमिता-१८१

सत्यव्रतसामश्रमी-१४६

सत्यसिद्धि-१३६

सत्यानुलोमिक-२५७

सत्याभिसमय-२३, २९९

सत्त्व-३, २८४, ३३७, ४९६

सत्त्वक्षेत्र-२०२ सत्त्वलोक-५५१

सत्त्वसज्ञा-६६

सत्त्वसभागता-३४७

सत्त्वसख्यात-३४७

सत्त्वाख्य-२२७, ३१६

सत्त्वार्थिकया-३८८

सत्त्वासत्त्वाख्य-२२७

सद्धर्म-४४३

सद्धर्मपुण्डरीक-१०४, १०६, ११०, ११७,

995, 923, 989, 982.

988-988, 944, 948

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रशास्त्र-१४२

सनि सार-३१४

सन्तति-३२३

सन्ततिवाद-२६३

सन्ततिवादी-३७६

सन्तान-१००

सन्तानान्तरसिद्धि-५६५

सन्तीरण-२५७

सन्दिग्धासिद्ध-६०६

सन्दिद्रिक-२८६

सन्दिष्टिक-७५

सन्धि-५७

सन्धिनर्मोचनसूत्र-४३५, ४५१, ४७७,

308

सपक्ष-४६६

सप्तदशभूमिशास्त्र-१६८

सप्तपदार्थी-५७३

सप्तपदी-933

सप्तरत्न-२१२

मप्तशितका-प्रज्ञापारिमता-१५७
सप्तिसिद्ध-१३६
मप्रतिघ-४३०
मप्रतीशता-३३६
मव्वत्यक-कम्मट्ठान-४६
मव्वत्यवाद-३७, १२५
सभ्यवशवित्तंता-३३६
सभाग-७७, ३२६
सभाग-७७, ३२६
सभाग-अर, ३४४, ३४७-३४६, ३७४,

सभागसन्तान-४७८ सभागहेत्-२६५, ३५४, ३६२, ३६३, ३६६ समंगी-६० समन्तपासादिका-३७ समन्तभद्र-१४८, १५१, १५२ समन्तमद्र-चर्यामण्डल-१५३, १५५ समन्तभद्र-वोधिसत्त्वचर्या-१५१ सम-७० समताज्ञान-४००, ४७३, ४७४ समतिऋम-१७ समनन्तर-कारण-५८० समन्तर-प्रत्यय-३५४, ३५७, ५०३ समनन्तरप्रत्यय-ग्राश्रय-४६५, ४६८ समन्वागम-३३२ समन्वाहार-२५७ ममयभेद-२२६ समलावस्था-२१७ समविशता-७०, ७१ समवाय-३४५, ३४८ समवायिकारण-३६६, ४८३, ५८६ समादान-२, २३१, ३८८

ममादापना-३द€

समाधि-४, १८, ३१, ३४, ४१, ५४, ६१, ६३, ७१-७३, ८२, ६४, ११२, १५१, १५४, १६३, २१७, २२२, २५६, २६७, ३३४-३३६, ३३८, ३८२, ४०५, ४४७

समाधिकाय-११४
समाधि-मागं-६६
ममाधिराज-१११, १४१, १६३, ४३२
समाधि-लाभी-६१
समाधिसवर्त्तनिक-७६
समाधीन्द्रय-३२६
समानोपाध्यायक-४४
समानोपाध्यायक-४४
समापत्ति-१६, २५६, २६७, ३४४, ३४६,

समापत्ति-लोक-२६६ समाप्ति-५४ समारोपान्त-४७६ समारोपिका दृष्टि-२६१ समुत्यान-२५० समुदय-३१० समुदये-ज्ञान-३७० समुदाचार-२२५, २५७ समुद्रकच्छ-१५४ समुप्पाद-२२०, २३१ सम्पन्न-४७ सम्पन्न-ग्रध्याशय-४७ सम्पसादनीयसुत्तन्त-६४ सम्प्रजन्य-१७, ७१, ७२, ११७, १६० 989 सम्प्रज्ञान-७२

सम्प्रयुक्त-हेतु-२७२, ३५४, ३६३, ३६४

सम्प्रयुक्त-३४१

सम्प्रयुक्त-प्रत्यय-३५६
सम्प्रयुक्त-संस्कार-३१८
सम्प्रसादन-७१,७२
सम्प्रहर्षण-६५
सम्बन्ध-३४४
सम्बन्धपरीक्षा-५६५
सम्भव-३५४
सम्भव-विज्ञान-४६७
सम्भ्य-विज्ञान-४६७
सम्भ्रागकाय-१०४, ११६-१२२, १६५,

सम्मितीय-२६, ३६ सम्यक्कर्मान्त-२२, ३७१, ३३७ सम्यक्त्वनियमावकान्ति-२३ सम्यक्त्व-प्रतिपन्न-७५ सम्यक्-प्रतिपति--६४ सम्यक्-प्रधान-२८२ सम्यक्-संकल्प-२२ सम्यक्-सम्बद्ध-४७, १०६ सम्यक्-समाधि-२२ सम्यक-स्मृति-२२ सम्यगाजीव-२२, ३१७, ३३७ सम्यग्ज्ञान-५८६ सम्यग्-दृष्टि-२२, २६०, २६५ सम्यग्-वाक्-२२, ३१७, ३३७ सम्यग्-व्यायाम--२२ सम्रक्षण-६६ सरस्वती-१५० सर्व-३०३, ३०६, ३४३

ध्सर्वगतत्व−३६४ सर्वज्ञ−५६३

सर्वक्लेश-२२५, २६६

सर्वज्ञता-१७७ सर्वज्ञमित्र-१७६ सर्वत्रग-११९, ३६४ सर्वत्रग-कारण-५८० सर्वत्रग-हेतु-२६४, ३५४, ३६४, ३६६ सर्वेत्रगार्थं-३८६ सर्वधर्ममुद्राक्षय-२१८ सर्वधर्मशून्यता-२१७ सर्वधर्मसुखाकान्त-१९५ सर्वनास्तित्व-४७७ सर्वेवीज-४८१ सर्वभव-१८ सर्वसम्बसमित्तता-१४६ सर्वसाधारण-३३४ सर्वार्यंक-कर्मस्थान-४६ सर्वास्तित्व-४७७

सर्वास्तिवाद-२७, १२३-१२७, १३६, १४०, १६४, १६६, १६८, १६६, २२३, २२४, ३००, ३०४, ३०६, ३११-३७१ ३७२, ३७४, ३७४, ३७८, ३८३, ३१६, ४२८, ५३०

सर्वोपिधण्न्य-२९७
सवस्तुक-३९४
मिवकल्पक-३४६, ५६०, ६६७, ५६५
मिवकल्प प्रत्यक्ष-५६३
सिवकल्पावस्था-२९७
सिवतर्क विचार-५५
सस्वभाववाद-५२६, ५५७, ५५६
सस्वभाववादी-२२३, ३२२, ५९४, ५९६,

४६०

सहज-धर्मग्राह्-४३५
सहजयान-१७७
सहजयोगिनी-चिन्ता-१७७
सहजात प्रत्यय-३५७
सहजिया-सम्प्रदाय-१७५
सहभू-ग्राह्मय-४३६
सहभू-कारण-५८०

सहमू-हेतु-२३४, २७२, ३४४, ३६०-

महस्सवगा–¶३१ सहेतुक–२२४ साकाक्यनगर–११६ साक्लेशिक-धर्म–४६१

सास्य-१२६, १६६, २३८, २४३, २४४, २४७, २६२ २७६, ३०१, ३०२, ३१४, ३२६, ३३०,४२४,४२८, ४२६,४४८,४६३,४८१,४६०-४६२, ५७४,५८१,५८६, ५६६, ५६७, ६०६

सास्यतत्त्वकोमुदी-५७४, ५१६ सांस्यप्रवचनभाष्य-२२१ सांस्य-योग-३, ५९४ सांस्यवादी-४२५, ५७४, ६०६, ६१४

साख्यशास्त्र-२२१ सास्यसाहित्य-५५५ साख्यसूत्र-५६६ साँची-२८, ३७ सावृत्तिक-२१६, ४६२, ४६८, ५५४ साकार-३४१ साकेतक-१३७ साक्षात्प्रतीति-५६८ सागर-१४७ सागरमेध-१५३ साधन-६०७ साधनमाला-१७७ साधनसमुच्चय-१७७ साधना-१७७-१७६ साधम्य-२२२, ३१४ साधर्म्यवत्-६०५ साधमती-४१३ साध्य-५०३, ६०७ सामन्तक-६२, ३५३ सामग्रीफल-३६७ सामञ्जाफलसूत्त-३१ सामान्य-३४८, ५६९ सामान्यलक्षण-४६६, ५०२ सामान्य-विशेष-४५३ सामीचि-४०६ सामीची-४०६ सामुक्कसिका-धम्मदेसना-१४४, १४८ सामूत्कर्षिकी-धर्मदेशना-१४४, १४८ साम्परायिक-६६ साम्बन्धिक-२२६, २२७, २३८ साम्भोगिक काय-३६८ साम्मितीय-५१८, ५३२ सायित-६६ सारनाथ-५, २४, १०३.

सार्द्धद्वसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता–१५७ सालम्बन-३४१ सावद्य-१४, २५१ साश्रय-३४१ सास्रव-२५७, ३७० सास्रव-चित्त-४७७ सास्रव-धर्म-२२ सिन्धु-३६, १२६ सिहल-२६, ३०, ३७, १६८, १७६ सिंहली-२६ सिंहविजृम्भित-१५१ सिगौली-१२३ सिद्धसाधनता-४६१ सिद्धार्थ-२. ३, ४ सिद्धि-१७७ सिद्धि (निशिकाटीका)-४१५, ४२२-४८७ सिलवाँ लवी-१२४, १२७, १३७, १६८, १६६, ३६४, ३६७, ४०१, ४०२, ४०६, ४१४

सिलोन-३३, ३४
सुन्दरिक-भारद्वाजसूत-१४
सुख-४४, ७१, ७२, २२२, ३८२
सुखकाय-१७७
सुखत:-४०४
सुखत्रय-४००
सुखविहारी-४७
सुखवेदना-८४
सुखवेदनीय-२३४
सुखावती-१४०, १४१
सुखावतीनेक-६, ११६, १२१, १२२, १४०
सुखावती-व्यूह-१०४, १११, ११४

सुखावेदना-२३१
सुखोन्द्रय-३२८
सुगत-५
सुगतास्मज-१०८
सुगतास्मज-१०८
सुगतिगामी-२२८
सुग्रीव-१५३
सुज्ञन्नमण्डल-७७
सुजूकी-१५१, १६२
सुत्त-२८, १७६
सुत्तनिपात-१४, १७, ३२, १३०, १३६,

सुत्तन्त-२८ सुत्तपिटक (सूत्रपिटक)-२६, २७, ३० सुत्तविभग-३० सुदर्श-६६ सुदर्शी-६६ सुदुर्दर्श-८०, २६४ सुदूरक्षिप्रगमन-११३ सुधन-१४३, १४४ सुनेत्न–२८५ सुप्रतिपन्न-७८ सुप्रतिवेध-१० सुप्रभातस्तव-१७६ सुभद्र-१२ सुभाषित-सग्रह-१७५ सुभूति-१४४, १४७, १४७-१६१, २१२ सुमाना-१२६, १३७ सुमेध-१८०-१८२ सुमेरु-२६५ सुरामद्यमें रेयविरति-१६ सुराम रेयप्रमादस्थानविरति-२४ सुवर्णप्रभाससूत्र-१११, ११७, १४१, १६३ सुवर्णाक्षी-१३७

सुषिर-५५४ सुषुप्ति-४६४ सुहुल्लेख-१६७ सूक्म-५६७ सूक्ष्मत्त्व-५७२ सूत्र-८, २६-२६, ४४, १३० सूत्रक-३६२ सूत्रनिकायाचार्य-३७२ सूत्रपिटक-२८, २६ सूत्रसमुच्चय-१७१, १७२ सूत्रान्त-२, ४, २७, १३४, २७८, २८६, २६२, ३०६ सूत्रालंकार-१०४, १२४, १३८, १६४, १६६ सूर्य-७६, १११, १५०, ५७१, ५७४, ५७७, ५५४ सर्यमण्डल-२१२ सुव्टकाल-५७१, ५७४, ५७७ सुष्टि-५५३ सेण्ट हिलेरी-२७५ सेना (ई०)-१२६ सेनार्ट-१२४, २७६, २६२ सेन्द्रियकाय-४४३ सोग्डियन-२६ सोनरी-३७ सोपधिषोप-२९६, ३०७, ४४६ सोमनस्स-२३५ सोमनस्सूपविचार-२३४ सोमेन्द्र-१४१ सीगत-५ सीगतम्मस्य-२५५ सौत्रान्तिक-३०, १०७, ११७, ११६, १२७, १६४, १६४, २२३,

२३२, २३३, २३८, २४२, २६७, २७४, २७४, २७४, २७४, २७४, २६८, २६८, २६८, ३०४-३०६, ३०४-३०६, ३०४-३०६, ३०४-३०६, ३०४, ३२४, ३२७, ३२४, ३२७, ३२४, ३४४-३४६ ३४८-३४२, ३४४, ३६२, ३७२-३८३, ३८४, ४६०, ४६०, ४६६, ४७४, ४६०, ४६२, ४६४ सौतान्तिकवाद-१२८, २३८, ३९१, ४९०

सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय-१२८ सौत्रान्तिक-साहित्य-१२८ सौन्दरनन्द-१३७-१३६ सौमनस्य-७४, २३४ सौमनस्येन्द्रिय-३२८ सौराष्ट्र-१७१, १७३ स्कन्ध-२३५, ३१५, ३१६, ५०६, ५१० स्कन्ध-२८ स्कन्ध पचक-१००, २४४ स्कन्धवाद-५८७ स्कन्धसन्तित-२२५ स्तम्भवृत्तिक-प्राणायाम-८१

स्तूप-७, १०३

स्तोत्र-१७०, १७६

स्तूपपूजा-२६, १०४, १४२

स्त्यान-६७, ३३८-३४०

स्त्यानमि**द्ध-**४१ स्थविर-१३, ३६-३८, १०४, १०४, १४६, १५२, २८१, २८३, २६०, २६३, २६४,४५२,४५४, ४५७

स्थिवरगाथा-१४०
स्थिवरितकाय-३४, ३७,
स्थिवर-भिक्षु-७७
स्थिवरवाद-२६, २७, ३६, ३७, १०५,
१२५, १२७, २२४, २३८,
२८२, ३२२, ३२३, ३३३,
३३४, ३३७, ३६८, ३४४,

स्थविरवादी-२६, १०५, १६१, २२४, २३८, २७७, ३२३, ३३३-३२५, ३३८, ३४१, ४४४

स्थाण-५६ स्थान-५०, ८८, ४३८, ४४० स्थापना-८८ स्थापनीय-२७८, ३०० स्थाम-२०६ स्थिति-७२, ३२६, ३५०, ३७४, ४३३,

स्थित-हेतु-३५७
स्थितस्थापक-३५३
स्थित्यन्यथात्व-२४७, ३५०
स्थिरमित-१६६, १७०, ३०३, ४२३,
४३७-४३६, ४४५, ४४६,
४६१, ४६२, ४६३-४७०,
४७२, ४७३, ४७५, ४७६,

स्नातक-२५७

स्पर्श-२०, ६६, २२४, २३३, २३४, ३३४, ३३४, ३३६, ४४४, ४४५ स्पर्श-स्थान-६८० स्पर्शाहार-६६, ४४६ स्पृष्ट-स्थान-६६ स्प्रष्टव्य-२६३, ३१५, ३१६ स्पुरणा-प्रीति-६७, ६६, स्पुटाभ-५६४ स्पुटार्था-१६६, २३५ स्मरण-चित्त-२४६ स्मृति-१७, ६१, ६३, ७२, ६४, १६०, ३३४, ३३४, ३३७, ४४७, ५६६

स्मृति (धर्म॰)-३६
स्मृति-सम्प्रजन्य-७१, ८३
स्मृति-सम्मोप-५७, ६२
स्मृतीन्द्रिय-३२८
स्मृत्युपस्थान-२२, ८४, २८३, ३७०,
३७१

स्रग्धरा-११६, १३८ स्रोत-१६६, ४४८ स्रोतापत्ति-५१३ स्रोतापत्ति-५०० स्रोतापत्ति-मार्ग-१०० स्रोतापन्त-४५ स्रोतापन्त-४५ स्रोतापन्त फल-२३ स्त्रीन्द्रिय-३२८, ३२६ स्वकायदृष्टि-१४६ स्वकारित-५८२ स्वतःप्रमाण-५८२ स्वत प्रामाण्य-५६१ स्वप्त-४०३ स्वभावकाय-११४ स्वभाव-त्रय-४८२-४८५ स्वभाव-वैलक्षण्य-३८१ स्वभाव-शून्यतावादी–११४ स्वभाव-हेतु-६००, ६०५ स्वयम्मू-१९१, १५०, १६२ स्वयम्मूपुराण-१२४, १७६ स्वर्ग-नरक-२४ स्वलक्षण-३४६, ४६६, ५०२, ५६२ स्वसवित्ति-४४१, ४६६ स्वसंवित्तिभाग-४४१ स्वसवेदन-५६४ स्वसंवेद्य-५६५ स्वार्ख्यात-७५ स्वातन्त्रिक-योगाचार-१७५ स्वातन्व्य-निकाय-१७० स्वात-१२६ स्वाम-उपसम्पदा-१२६ स्वाभाविक काय-१६५, ३३८ स्वाभास-५६४ स्वार्यानुमान-४६४, ५६५-६०४

## Ę

हनविक्खित्तक–५४ हरप्रमादशास्त्री–१२४, १७२, १७३, १७५

हरिवर्मा-१३६
हर्प-६५
हर्पचरित-१७६
हलायुध-२८
हाजमन्-१२३
हान-२२१

हानोपाय-६२, २२१ हिन्दू-५७१ हिन्दू-धर्म-१२१ हिंसा-9 हिमवत्-प्रदेश-३७ हिमालय-१८१ हीनयान-१०५-१०७, १२३, १२८, १२६-**१३१, १३६, १३६, १४०,** १४३, १४८, १४६, १६१, **१६२, १६४, १६५, १७**६, १८३, २०६, २८२, २८८, २६१, २६६, ३००, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०७, ३०८, ३१२, ३७३, ३८३, ३६७, ४१६, ४२५, ४२६, ४३०, ४३४, ४४१, ४५१, ४६५, ४७७, ५७४, ५७५, ५७७, ५८०, ५६५, ५६६ हीनयानवादी-१६७, १५४, २३८, ३०४, ४३०, ४३३, ४३४, ५७६ हीनयानी-१६४, १८०, २३८, ४२५, प्रव, प्रव, प्रवह

हुय-१२४
हुविष्क-१३७
हुप्क-१६७
हुप्क-१६७
हूप-१३०
हृदय=३३०
हृदयमातु-५६५
हेतु-२२४, २२७, ३५४, ३५६, ५०३
हेतुपरिणाम-४३७
हेतुप्रत्यय-२१, ३५४, ३५७, ५०३
हेतुप्रत्यय-न्नाश्रय-४६५
हेतुप्रत्यय-जनित-२२४

## द्यानुष्मणी

हेतुप्रत्ययवाद-२२४, ३५४
हेतुप्रत्ययसामग्री-२१४
हेतुप्रत्ययसामग्री-२१४
हेतुफलपरम्परा-२२४
हेतुबिन्दु-१७०, ५६५
हेतुवाद-५०३
हेतुवादी-५४७
हेतुश्रीर्ष-२३०
हेतुसामग्रीवाद-५४६
हेत्वाभास-६०६-६१६
हेय-६२, २२१, ३३१, ५८६

हेयहेतु-६२, २२१ हैमवत-२७, ३७ हैमवताचार्य-३७ होग्रर्नले-१२४ होम-१ ह्यूवर (ई०)-१३६ ह्रस्व-३१५ ह्रस्वत्व-३५३ ह्री-१६, २५७ ३३७, ५६६ ह्रोनत्साग-७, ३६, १०६, १२६

## परिशिष्ट: २

## सहायक प्रन्थसूची

ग्रगुत्तरनिकायट्टकया—वृद्धघोपकृत ।

ग्रिमिन्नम्मत्यमंगहटीका (नवनीत)—धर्मानन्द कौमाम्बी-कृत ।

ग्रमिधम्मत्यसंगहो —ग्रनिरुद्धाचार्यं-कृत ।

ग्रमि मंकोण - ग्राचार्यं वसुवन्य-कृत । पूर्मे-कृत फेंच-ग्रनुवाद के साथ ।

अभिद्यमकोशकारिका—आचार्य वसुवन्धू-कृत, मूलमात्र, जी० वी० गोखले द्वारा सम्पादित । जै० के० ए० एस्० वस्वई, जिल्द २२, १९२६।

स्रमिद्यमंकोशव्याच्या (स्फुटार्था) —यशोमित्र-कृत । वोगिहारा द्वारा तोकियो से प्रकाशित । स्रप्टमाहिसका प्रज्ञापारिमता—डॉ॰ राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा विव्लिग्रोधिका डिण्डका में प्रकाशित ।

इण्डियन एण्टिक्वेरी---म॰ म॰ हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखित 'शान्तिदेव' नामक लेख, सन् १९१३, पृ० ४५।

ए रिकार्ड ग्रॉव दि वृद्धिस्ट रिलीजन—चीनी-यात्री इत्सिंग का यात्रा-विवरण।

ग्रोरियण्टेलिया-भाग ३ में 'हिस्ट्री ग्रॉव ग्रलीं बुद्धिस्ट स्कूल्स' नामक रैयूकन कीमुरा का लेख । कन्सेप्शन ग्रॉव बुद्धिस्ट निर्वाण--शेरवात्स्की-कृत ।

कारण्डव्यूह—सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सन् १८७३ ई० में प्रकाशित ।

क्षणभगसिद्धि—रत्नकीर्त्ति-कृत।

चतु शतक—ग्रायंदेव-कृत । सस्कृत-रूपान्तर श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य-कृत । विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, १९३१ ।

तत्त्वसग्रह—शान्तिरक्षित-कृत, एम्वर कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित, दो जिल्दो में सेण्ट्रल लाङबेरी, वहीदा से प्रकाणित।

र्तिशिका—स्थिरमति के भाष्य के साथ सिलवौँ लेवी द्वारा सम्पादित ग्रीर ग्रनूदित।

दो गमटिक ए फिलौजौफी वृद्धिक--पूर्ने-कृत, सन् १६३० ई० ।

धम्मपदट्टकया--वृद्धघोष-कृत ।

धमैसंग्रह-नागाज् न-कृत ।

```
निर्वाण---लुइ द वाले पूर्से-कृत, सन् १९२४ ई० ।
 नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर—डाँ० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित ।
 न्यायबिन्दु-धर्मकीत्ति-कृत, धर्मोत्तर-कृत टीका के साथ ।
 परमत्थमंज्साटीका — धर्मपाल स्थविर-कृत।
 बुद्धचरित - दो जिल्दो में, जॉनस्टन द्वारा सम्पादित तथा अनुदित ।
 बुद्धिजम -- वासिलीफ-कृत।
 बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन-वारन-कृत।
 बुद्धिस्ट कास्मोलॉजी-मैंक गवर्न-कृत।
 बुद्धिस्ट लॉजिक-दो जिल्दो मे, शेरवात्स्की-कृत।
बुद्धिज्म स्तदी एन्त मटीरिया-पूर्से-कृत ।
बोधिचर्यावतारपजिका-विब्लिग्रोथिका इण्डिका में प्रकाशित ।
मज्झिमनिकायट्टकथा — बुद्धघोष-कृत।
मध्यकावतार-चन्द्रकीत्ति-कृत।
मध्यान्त विभाग-दो जिल्दो मे जापान से प्रकाशित ।
महायानसूत्रालकार-मूल ग्रन्थ सन् १६०७ ई० में सिलवाँ लेवी द्वारा सम्पादित । ग्रनुवाद-
                     सिलवाँ लेवी द्वारा, सन् १९११ ई०।
माध्यमिककारिका--नागार्जुन-कृत, विन्लिग्नोथिका वुद्धिका मे पूसे द्वारा सम्पादित ।
माध्यमिककारिकावृत्ति (प्रसन्नपदा) --चन्द्रकीत्ति-कृत, विव्लिग्रोथिका वृद्धिका में प्रकाशित ।
मैन्यु अल श्राव बुद्धिस्ट फिलासफी - मैक गवर्न-कृत।
मोराल बुद्धिक - लुइ द वाले पूसे-कृत, सन् १६२७ ई०।
योगसूत (पातजल) - ज्यासभाष्य के साथ।
लंकावतारसूत-पो० बुनियड निजयो द्वारा सन् १६२६ ई० मे क्योटो (जापान) से प्रकाशित।
ल कौंसिल द राजगृह--जाँ प्रजुलुस्की-कृत, सन् १६२६--२८ ई०।
ललितविस्तर - डॉ० एस्० लेफमान द्वारा सम्पादित।
लाइफ ग्रॉव बुद्ध —ग्रोल्डेनवर्ग-कृत ।
ला थेग्रोरी द ला कालेसाँस एला लोजिक शेले बुद्धिस्ट तार्दिफ-स्तेरवात्स्की-कृत ( रूसी ने
           फोंच मे अनूदित ) पेरिस, सन् १६२६ ई०।
ला ले जाद द लाँ इपरर अशोक - जाँ प्रजुलुस्की-कृत, सन् १६२३ ई०।
लेफिलीजोफी एँदिऐन्न-दो जिल्दो मे, ने ग्रुस्से-कृत।
```

विश्वतिका — वसुबन्धु की वृत्ति के माथ सिलवाँ लेवी द्वारा प्रकाशित, सन् १६२५ ईं० । विज्ञिष्तिमालतामिद्धि यान् शुग्रान-चाँग की मिद्धि (चीनी-भाषा में) — फेंच-ग्रनुवाद पूसें-कृत ३ भागों मे। सन् १६२८, २६, ४८ ईं०।

विसुद्धिमग्गो चुद्धघोष-कृत । द्यर्भानन्द कौमाम्बी द्वारा सम्पादित । भाग १, विद्याभवन, वम्बई से प्रकाशित । भाग २, मारनाथ से प्रकाशित ।

शिक्षाममुच्चय -शान्तिदेव-कृत, विव्लिग्रोथिका वृद्धिका में वेण्डल द्वारा सम्पादित । सद्धर्मपुण्डरीक-प्रो० एच्० कर्न ग्रौर प्रो० वृनियड निजयो द्वारा सन् १६१२ ई० में सम्पादित । सुखावतीव्यूह-प्रो० मैक्समूलर द्वारा ग्रौगरेजी-ग्रनुवाद तथा जापानी विद्वानो के फेंच-ग्रनुवाद के साथ प्रकाशित ।

हिन्दुइज्म ऐण्ड वृद्धिज्म—इलियट-कृत ।

हिस्ट्री ग्रॉव डिण्डयन लिटरेचर—विण्टरनित्ज-कृत । कलकत्ता-विश्वविद्यालय से दो जिल्दो में प्रकाशित ।